

२१५१

C.No - 2683

1161

॥ श्रीः ॥

हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला

२१३

वैयाकरण-

मध्यसिद्धान्तकौमुदी

'सुधा' 'इन्दुमती' व्याख्याद्वयोपेता

P15, C21, 1, 6

KO



चैत्रम्बा संस्कृत सीरीज आफि. प्र. वाराणसी-२

P15, Cx1, 1, 6 2683
KOR

Varadaraj acharya
Madhya siddhanta-
kawmudi.

2683



● ● ● ● ●

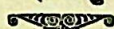
[illegible]

१०११०६११११

॥ श्रीः ॥

हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला

२१३



श्रीवरदराजाचार्यविरचिता

मध्यसिद्धान्तकौमुदी

‘सुधा’ ‘इन्दुमतो’ संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेता

संस्कृतव्याख्याकारः

व्याकरणाचार्य-साहित्योपाध्याय-

पण्डित श्रीसदाशिवशास्त्री जोशी

हिन्दीव्याख्याकारः

पण्डित श्रीरामचन्द्रशा व्याकरणाचार्यः



चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

वि. सं. २०१७]

[ई. १९६०

प्रकाशक—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

मुद्रक—विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

द्वितीय संस्करण, संवत् २०१७

मूल्य ६-००

P15. Ch. 1. 6

KO 8

1161

(पुनर्मुद्रणादिकाः सर्वेऽधिकाराः प्रकाशकाधीनाः)

The Chowkhamba Sanskrit Series Office.

P. O. Box 8, Varanasi. (India)

1960

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR
LIBRARY.

Jangamwadi Math, VARANASI.

Acc. No.

2683

प्रस्तावना

‘संस्कृतं नाम देवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः’ (काव्यादर्श)

संस्कृत भाषाका ही दूसरा नाम देववाणी है। विश्वकी विविध भाषाओंमें एक भाषा है जो वस्तुतः स्वर्गसे अवतर्ण हुई है। क्योंकि विश्ववाङ्मयका पुराना अनादि ग्रन्थ वेदका सृजन भगवान् ने सर्वप्रथम इसी भाषा में किया है—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।

आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥

(कृ० द्वै० भाष्य)

तत् आर्ययुगके साक्षात्कृतधर्मा महर्षियोंके अपरोक्ष अनुभवसे लेकर एक कालके बड़े-बड़े भारतीय मनीषियोंके सद्विचारोंसे ओत-प्रोत होनेके संस्कृतवाङ्मयका महत्त्व लोकोत्तर हो गया है। भारतीय पुरातत्त्वके पूर्ण और यथार्थ ज्ञानके लिए संस्कृत ही एकमात्र अनन्यसाधारण साधन है। स्वतन्त्र भारतकी विधानसभा यदि विवेकसे विचार करती तो भारतका कुछ भगवती सुरभारतीको ही पहनाना चाहिये था। क्योंकि इस देशकी संस्कृति, सारा इतिहास और समस्त ज्ञान-विज्ञान सब संस्कृतमें ही भरे हैं। किंवहुना, ऋग्वेद जैसे विज्ञान-कोशका रत्नाकर ग्रन्थ भी संस्कृतवाङ्मय का ही कारण है कि अन्यान्य देशोंके विमर्शक विद्वान् संस्कृतवाङ्मयके प्रत्येक अध्ययन और अनुसन्धान बड़े मनोयोगसे करते हैं। पर यहाँके लोग के शासनकालमें इसे मृत भाषा कहने लगे थे और आज भी अँगरेजी रङ्गसे रंगे जाने वाले उसी दृष्टिसे इसे देखते हैं। यह तो सोचते हैं कि भारतकी शासन-संस्कृत राष्ट्रभाषा होनेसे नहीं चल सकती। किन्तु इस बातपर विचार करें कि विदेशियोंने अपने-अपने शासनकालमें उर्दू और अँगरेजीको बलात् राष्ट्रभाषा घोषित करके ही शासनको सँभाला और आज भी पाकिस्तान में चले हुए हैं। नातपर्य यह कि संस्कृतकी संस्कृतिमें पले भारतका संस्कृतके राष्ट्रभाषा होनेसे जितना अभ्युन्नत बना रह सकता है उतना अन्य भाषाके राष्ट्रभाषा होनेसे नहीं।

भारतमें आज अपनी अपनी प्रान्तीय भाषाओंको राजभाषा बनानेमें जो लोग व्यस्त हो रहे हैं, उसका एकमात्र निदान हिन्दीका राष्ट्रभाषा होना ही है। निष्पक्षभावसे विचार किया जाय तो उत्तर प्रदेश या पश्चिम बिहारके कुछ ही अंशको छोड़कर बङ्गाल, मिथिला, गुजरात, महाराष्ट्र, आदि प्रदेशोंको राष्ट्रभाषा हिन्दीसे जितनी कठिनाईकी संभावना है उतनी संस्कृतसे नहीं, क्योंकि बङ्गला, मैथिली, मराठी, गुजराती आदि भाषाओंमें प्रतिशत नव्वे संस्कृत शब्दोंका ही प्रयोग होता है तथा हिन्दीको भी धन-धाम और सौन्दर्य संस्कृतसे ही मिल रहा है। ऐसी स्थितिमें भारतकी राष्ट्रभाषा यदि संस्कृत होती तो भारतमाताकी तरह गीर्वाणवाणी भगवती सुरभारतीके मुखमें शताब्दियोंसे लगा हुआ ताला दूट जाता और एक स्वरसे सम्पूर्ण भारत उस राष्ट्रभाषाका अभिनन्दन करने लगता।

किसी भी देशकी राष्ट्रभाषा तभी जीवित रह सकती है जब कि वह उस देशकी मातृभाषामें परिणत न हो जाय।

आचार्य वरदराजविरचित प्रस्तुत ग्रन्थ संस्कृत भाषाका भास्कर है। यह ग्रन्थ यदि भारतकी प्रत्येक शिक्षा-संस्थाओंमें अनिवार्यरूपसे पढ़ाया जाय तो अल्प समयमें ही इस ग्रन्थके आलोकमें नवनिर्मित स्वतन्त्र भारतमें पुनः महाराज भोजका युग उदित हो जायगा।

कथानक इस प्रकार है—किसी समय एक ब्राह्मणको इन्धनके भारसे अति-श्रान्त होते हुए देख महाराज भोजने पूछा—

‘भूरिभारभराक्रान्तस्तव स्कन्धो न बाधति ?’

ब्राह्मणने उत्तर दिया—

‘न तथा बाधते राजन् ! यथा ‘बाधति’ बाधते ॥’

व्याकरण

व्याक्रियन्ते = व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति—शब्दज्ञानजनकं ‘व्याकरणम्’। जिससे साधु शब्दका ज्ञान हो उसीका नाम व्याकरण है। व्याकरणका ही दूसरा नाम महाभाष्यकारने ‘शब्दानुशासन’ रखा है (अनुशिष्यन्ते=अपशब्देभ्यो विविच्य कथ्यन्ते साधु शब्दा अनेनेत्यनुशासनं नाम—सूत्रवार्तिक भाष्यव्याख्यानादिरूपं शास्त्रम्)। संस्कृतवाङ्मयमें व्याकरण शास्त्रका स्थान सबसे ऊंचा है। क्योंकि व्याकरण शास्त्रके ज्ञानके बिना वेदार्थ या स्मृति,

पुराण, इतिहास, काव्य कोश आदि किसी भी शास्त्रान्तरका ज्ञान हो ही नहीं सकता । कहा भी है—

यो वेद वेदवदनं सदनं हि सम्यग्
ब्राह्मण्याः स वेदमपि वेद किमन्यशास्त्रम् ।
यस्मादतः प्रथममेतदधीत्य विद्वान्
शास्त्रान्तरस्य भवति श्रवणेऽधिकारी ॥ (भास्कराचार्य)

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष इन षडङ्गोंमें व्याकरण वेदका मुखरूप प्रधान अङ्ग है । जैसा कि कहा है—

मुखं व्याकरणं तस्य ज्यौतिषं नेत्रमुच्यते ।
निरुक्तं श्रोत्रमुद्दिष्टं छन्दसां विचितिः पदे ॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य हस्तौ कल्पान् प्रवक्षते ।

किं बहुना 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इस आगमोक्त वचनका उद्धरण देते हुए भगवान् पतञ्जलिने कहा है—
'षट्स्वङ्गेषु प्रधानं व्याकरणं, प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति' ।
इत्यादि उक्तिसे भी सिद्ध होता है कि संस्कृतसाहित्य मात्रके लिये मुख्यतः व्याकरणशास्त्रका ज्ञान सर्वप्रथम नितान्त आवश्यक है ।

व्याकरणका प्रथम प्रवक्ता

व्याकरणवाङ्मयमें ऐन्द्र तन्त्र सबसे पुराना है । बृहस्पतिने सर्वप्रथम एक हजार वर्ष निरन्तर भगवान् इन्द्रको प्रतिपदपाठद्वारा शब्दोपदेश किया था, जैसा कि महाभाष्यमें लिखा है—

'बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्द-
पारायणं प्रोवाच'

वोपदेवने भी निम्नोक्त आठ शाब्दिकोंमें सबसे पहले इन्द्रका ही नाम लिया है—

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः ।
पाणिन्यमरजैनेन्द्राः जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः ॥

पाणिनीय व्याकरण

संस्कृतवाङ्मयके व्याकरणोंमें सम्प्रति पाणिनीय व्याकरण ही एकमात्र सांगो-पांग उपलब्ध होता है। इसकी सुन्दर और सुबद्ध रचनाकी प्रशंसा विश्वका प्रत्येक विद्वान् मुक्तकण्ठसे करता है। अभीतक किसी भी भाषाका व्याकरण इतना सरल और सुपरिष्कृत नहीं बनसका है। यह व्याकरण 'त्रिमुनिव्याकरण' नामसे प्रसिद्ध है और इन त्रिमुनियोंमें पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि यथाक्रमसे हुए हैं।

(१) महामुनि पाणिनि

पाणिनिकी अष्टाध्यायीमें 'श्रवण' और 'यवन' शब्दको देखकर पाणिनिको कोई बुद्धसे और कोई यवनसे उत्तरवर्ती मानते हैं। इसका समुचित समाधान युधिष्ठिर मीमांसकने अपने इतिहास (पृ० १३६) में किया है। मीमांसकजीने पाणिनिको विक्रमसे लगभग २८०० सौ वर्ष प्राचीन सिद्ध किया है। गण-तन्त्रमहोदधिमें 'शालातुरो नाम ग्रामः सोऽभिजनोऽस्यास्तीति शाला-तुरीयः, तत्र भवान् पाणिनिः' इस व्युत्पत्तिसे शालातुर नामक ग्राम पाणिनिका जन्मस्थान लिखा है—जो अधुना पाकिस्तानमें 'लाहौर' नामसे प्रसिद्ध है। पाणिनिके पिताका नाम महर्षि पाणि और माताका नाम दाक्षी था। भगवान् पतञ्जलिने भी लिखा है—'दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः' पाणिनिके गुरुका नाम उपवर्षा-चार्य था जो नन्दराजके राज्यकालमें नालन्दा विश्वविद्यालय (बिहारराज्य) के सुप्रसिद्ध आचार्य कहे जाते थे। पाणिनिने अध्ययनावस्थामें ही अपनी घोर तपस्यासे आशुतोष भगवान् शङ्करको प्रसन्नकर उनके उपदेश और आदेशसे गुरुके आश्रम (पाटलिपुत्र) में ही अष्टाध्यायी, सूत्रपाठ, धातुपाठ, गणपाठ, लिङ्गानुशासन आदिकी रचना की थी। आचार्योंने कहा भी है—

येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात् ।

कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः ॥

(२) महामुनि कात्यायन

कात्यायन और पाणिनि दोनों समकालिक सतीर्थ्य थे। पूर्वाचार्योंने कात्यायन-को महर्षि याज्ञवल्क्यका आत्मज माना है। उनके मतसे स्मृतिकार और वार्तिककार दोनों एक ही कात्यायन हैं। 'प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः' इस महाभाष्यसे सिद्ध

होता है कि कात्यायन दाक्षिणात्य थे । पर उसकी पुष्टि निम्न लिखित रीति से स्कन्दपुराणके वचनका समन्वय करनेपर ही हो सकती है ।

स्कन्दपुराणमें लिखा है—‘मिथिलाके ब्रह्मर्षि याज्ञवल्क्यका एक आश्रम (पीठ) आनर्त (गुजरात) प्रदेशमें भी था’ संभव है उसीप्रकार महामुनि कात्यायनका भी कोई आश्रम महाराष्ट्र प्रदेशमें रहा होगा और वहीँ पर उनका अधिक समय व्यतीत होनेसे लोकमें वे दाक्षिणात्येन व्यवहृत हो गये होंगे ।

वार्तिककारोंमें महामुनि कात्यायन सबसे श्रेष्ठ हुए । उनके वार्तिक निम्न वार्तिक लक्षणोंसे सर्वथा पूर्ण है—

उक्ताऽनुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते ।

तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः ॥

कात्यायनका वार्तिकपाठ पाणिनिव्याकरणका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है । इसके बिना पाणिनीय व्याकरण अपूर्ण ही रह जाता और यही कारण है कि अब पाणिनीय व्याकरणके आलोकमें अन्य कोई भी व्याकरण पनप नहीं सका है । महामुनि कात्यायनका ही दूसरा नाम ‘वररुचि’ है । ये स्मृतिकार और वार्तिककार ही नहीं, अपितु महाकवि भी थे । इनके ‘स्वर्गारोहण’ नामक काव्यकी प्रशंसा अनेक ग्रन्थोंमें की गयी है । जैसा कि लिखा है—

यः स्वर्गारोहणं कृत्वा स्वर्गमानीतवान् भुवि ।

काव्येन रुचिरेणैव ख्यातो वररुचिः कविः ॥

न केवलं व्याकरणं पुषोष दाक्षीण्युतस्येरितवार्तिकैर्यः ।

काव्येऽपि भूयोऽनुचकार तं वै कात्यायनोऽसौ कविकर्मदक्षः ॥

(३) शेषावतार भगवान् पतञ्जलि

शेषावतार भगवान् पतञ्जलिका महाभाष्य व्याकरणका सबसे प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है । सभी वैयाकरण इसके सामने नतमस्तक हो जाते हैं । वस्तुतः यह ग्रन्थ न केवल व्याकरण शास्त्रका ही प्रामाणिक ग्रन्थ है, अपितु समस्त संस्कृतवाङ्मयका आकर ग्रन्थ है । भर्तृहरिने अपने वाक्यपदीयमें लिखा है—

कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना ।

सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने ॥

आरंभ कर दिया और उनके शिष्यगण लिखने लगे। 'कृदतिङ्' सूत्रका महाभाष्य पूर्ण हो ही रहा था कि एक शिष्य कौतुहलसे भगवान् पतञ्जलिको यवनिकाके अन्दर भाँकनेका दुःसाहस करने लगा और त्वरित ही सहस्र-फणामण्डल-मण्डित भगवान् शेषके अत्युग्र विषकी ज्वलासे सभी शिष्यगण एक ही साथ भस्मसात् हो गये।

दैववश उस विप्लवके समयसे कुछ ही पूर्व एक शिष्य अत्यन्त तृपार्त होकर जल पानेके लिए आश्रमसे बाहर नदी तटपर चला गया था, अतः विप्लवके पश्चात् वह पुनः उपस्थित हुआ। उसे देख पतञ्जलिने अपूर्ण पाठके मध्यसे उठ जानेके अपराधमें उसे ब्रह्मपिशाच होनेका शाप दे दिया। पतञ्जलिके शापसे वह शिष्य अत्यन्त घबड़ाया और गुरुके चरणोंपर गिरकर क्षमाप्रार्थना करने लगा। अन्तमें पतञ्जलिने कहा—'घबड़ाओ मत' देखो, इस वट-वृक्षके ऊपर तुम निवास करना और इस वृक्षके नीचेसे जो चले उससे 'वचेर्निष्ठायां किं रूपम्'? ऐसा प्रश्न करना। इसके उत्तर में जो व्यक्ति 'पक्वम्' ऐसा कहे, उसको मेरा महाभाष्य पढ़ा देना। बस उसी दिन तुम इस शापसे मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लोगे। इतना कहकर भगवान् पतञ्जलि वहाँसे प्रस्थान कर गये और वह ब्रह्मपिशाच वहाँ रहने लगा।

एकाएक भगवान् पतञ्जलिके अन्तर्हित हो जानेसे पाणिनीय व्याकरण शास्त्र पुनः ऐसा लुप्त होगया कि सभी लोग उस ब्रह्मपिशाचके प्रश्नके उत्तरमें 'पक्वम्' (अशुद्ध) कहने लगे।

बहुत दिनोंके पश्चात् पा० व्याकरणका एकमात्र जिज्ञासु चन्द्रगुप्त नामका पण्डित इतस्ततः भगवान् पतञ्जलिका अन्वेषण करता हुआ उस वट-वृक्षके नीचे आ पहुँचा और उसने ब्रह्मपिशाचके प्रश्नका सटीक उत्तर (पक्वम्) दे दिया। उसका उत्तर सुनते ही ब्रह्मपिशाच अपने गुरु भगवान् पतञ्जलिका वचन स्मरणकर बोल उठा—अहो। तुम पा० वैयाकरण मालूम पड़ते हो, क्या तुम्हे पातञ्जलमहाभाष्य पढ़ने की इच्छा है? यह सुन पण्डित चन्द्रगुप्त अतिप्रसन्न हुआ और आसन लगाकर उस वृक्षके नीचे बैठ गया। तदनन्तर वह ब्रह्मपिशाच वट-पत्रके ऊपर अपने नखाग्रसे महाभाष्य लिख-लिखकर गिराने लगा और चन्द्रगुप्त उसे बटोरने लगा, इतनेमें एक बकरी आकर इधर-उधर बिखरे हुए कुछ वट-पत्रोंको खा गयी। इसीलिए महाभाष्यमें यत्र-तत्र 'अजाभक्षितमेतत्' ऐसा लिखा है। महाकवि श्रीहर्षने भी महाभाष्यके विषयमें निम्न पद्य गाया है—

परिखावल्यच्छलेन या न परेषां ग्रहणस्य गोचरा ।
'फणिभाषितभाष्यफक्किका' विषमा कुण्डलनामवापिता ॥

अष्टाध्यायीके टीकाकार

पाणिनीय अष्टाध्यायीके ऊपर आचार्य कुणि, आचार्य व्याडि आदि कतिपय प्राचीनाचार्योंने भिन्न-भिन्न प्रकारकी टीका की रचना की है, परन्तु 'त्रिमुनि-व्याकरणम्' सिद्ध हो जानेके पश्चात् सर्वप्रथम महापण्डित जयादित्य और वामनने वि० स० ६५०-७०० के मध्य 'काशिकावृत्ति' लिखी । परन्तु उससे बालकोंको व्याकरणका परिज्ञान सरलतया नहीं हो पाता था, अतः वि० स० १४०० में आठों व्याकरणके ज्ञाता प० रामचन्द्राचार्यने 'प्रक्रियाकौमुदी' की रचना की । किन्तु उसमें भी अष्टाध्यायीके समस्त सूत्रोंका सन्निवेश नहीं था । इस न्यूनताको पूर्ण करनेके लिये वि० स० १५१०-१५७५ के मध्यवर्ती भट्टोजिदीक्षितने सम्पूर्ण अष्टाध्यायीके सहित उणादिसूत्र, फिट्सूत्र, लिङ्गानुशासन, गणपाठ और धातुपाठसे सर्वाङ्गपूर्ण 'सिद्धान्तकौमुदी' नामक ग्रन्थ रचा । इसकी सुललित और सुबद्ध रचनाशैलीको देखकर समस्त आर्यावर्त मुग्ध हो उठा और कुछ लोग इस ग्रन्थकी स्तुति निम्नरीतिसे करने लगे—

कौमुदी यदि नायाति वृथा भाष्ये परिश्रमः ।

कौमुदी यदि चायाति वृथा भाष्ये परिश्रमः ॥

आचार्य वरदराज

आचार्य वरदराज दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे । उनके पूज्य पिता दुर्गातनय और गुरु श्री भट्टोजिदीक्षित थे । आचार्य वरदराजने अध्ययन के पश्चात् अपने गुरुकी आज्ञासे सिद्धान्तकौमुदीका पथप्रदर्शक 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' नामक मनोनीत ग्रन्थकी रचना की । वरदराजका यह प्रथम प्रयास प्रारंभिक छात्रोंके लिये संस्कृतका सबसे उत्तम सोपानसिद्ध हुआ । इसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी होगी ।

मध्यसिद्धान्तकौमुदी

लघुकौमुदीकी रचनाके पश्चात् वि० स० १६५० में आचार्य वरदराज अपने गुरुकी 'सिद्धान्तकौमुदी'को लघुरूपमें संकलितकर 'मध्यकौमुदी'का सफल ग्रन्थकार हुए । मध्यकौमुदीके अन्तमें वरदराजने निम्न पद्य लिखा है—

कृतिर्वरदराजस्य मध्यसिद्धान्तकौमुदी ।

तस्याः संख्या तु विज्ञेया खवाणकरवह्निभिः ॥ (३२५०)

आचार्य वरदराजकी 'मध्यकौमुदी' की रचनाको देखकर श्री भट्टोजिदीक्षित जी क्षुब्ध हो उठे । उन्होंने वरदराजकी इस कृतिसे अपनी सिद्धान्तकौमुदीका हास होना अवश्यम्भावी समझकर मध्यकौमुदीके विकाशपर शाप दे दिया, जिससे सि० कौमुदीकी अपेक्षा अत्यन्त सरल, सुबोध और उपादेय होनेपर भी उस समय मध्यकौमुदी ग्रन्थ खद्योतके समान अप्रतिभ होगया—लोकप्रिय न हो सका ।

कुछ भी हो आजका युग अब पहलेका युग न रहा, यदि स्वतन्त्र राष्ट्र संस्कृतका स्तर ऊँचा करना चाहे तो उसे वरदराजकी स्तुति करनी ही होगी । संस्कृतव्याकरणका त्वरित और पूर्ण ज्ञान करानेमें वरदराजकी मध्यकौमुदीके समान कोई भी अन्य ग्रन्थ वर्तमान संस्कृत-संसारमें उपलब्ध नहीं होता और न हो सकता है । यह सूर्यके समान प्रत्यक्ष है ।

मध्यकौमुदीका प्रचलित रूप

मध्यकौमुदीका संपादन करते समय मैंने प्राचीन-नवीन हस्तलिखित व प्रकाशित अनेक संस्करणोंका एकीकरण किया पर मेरी समीक्षामें यह स्थिर न हो सका कि वस्तुतः वरदराजकी वास्तविक रचना कौनसी है । लेखक व संपादकके भेदसे कोई भी संस्करण एक दूसरेसे मिल न सका । काशिका, सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा, तत्त्वबोधिनी आदिसे वृत्ति पद ले-लेकर जहाँ तक बन पड़ा है मध्यकौमुदीके आकार-प्रकारको लोग सुविस्तृत करते गये हैं । जिससे मध्यकौमुदी दिनप्रतिदिन सरल तो अवश्य होती जा रही है, पर सम्भव है युगधर्मसे श्री भट्टोजिदीक्षित की शङ्का भी साकार होजायगी—सिद्धान्तकौमुदीका हास होजायगा ।

इस संस्करणमें मैंने आचार्य पं० श्री सीताराम जी शास्त्रीका सुसंपादित और सुपरिष्कृत संस्करणकी विशेष सहायता ली है, तदर्थ मैं आचार्यजीका अतिशय आभारी हूँ ।

प्रस्तुत संस्करणकी टीकाके विषयमें गुण-दोषोंका विवेचन करना मैं पाठकके ऊपर ही छोड़ता हूँ । टीका पाठकके समक्ष है, क्षीर-नीरविवेकी पाठक स्वयं इसका अनुभव करेंगे । इत्यलमधिकेन ।

प्रथम संस्करण
रामनवमी, सं० २००८ }

विनीत—
श्री रामचन्द्र भा

प्रकरणादिसूची

विषयाः	पृष्ठाङ्काः	विषयाः	पृष्ठाङ्काः
संज्ञाप्रकरणम्	१	नामधातु—प्रकरणम्	३४७
अचसन्धि-प्रकरणम्	१२	कण्ठ्वादि	३५४
प्रकृतिभाव	२७	आत्मनेपद	३५५
हल्सन्धि	३१	परस्मैपद	३६६
विसर्गसन्धि	४६	भावकर्म	३६९
स्वादिसन्धि	४७	कर्मकर्तृ	३७५
अजन्तपुंलिङ्ग	५४	लकारार्थ	३७८
अजन्तस्त्रीलिङ्ग	८४	पूर्वकृदन्त	३८५
अजन्तनपुंसक०	९१	उणादि	४३५
हलन्तपुंलिङ्ग	९७	उत्तरकृदन्त	४५०
हलन्तस्त्रीलिङ्ग	१२९	कारक	४६०
हलन्तनपुंसक०	१३२	समास	४७८
अव्यय	१३७	समासान्त	५३५
भ्वादि	१४१	समासाश्रय	५४३
अदादि	२२७	तद्धित	५५४
जुहोत्यादि	२७२	स्त्रीप्रत्यय	६३८
दिवादि	२८३	वैदिक	६५८
स्वादि	२९७	स्वर	६६६
तुदादि	३०२	लिङ्गानुशासन	६६९
रुधादि	३१२	परिशिष्ट	६८२
तनादि	३१७	गणपाठः	”
क्रधादि	३०५	अष्टाध्यायीसूत्रसूची	६९४
चुरादि	३१०	उणादिसूत्रसूची	७१३
ण्यन्त	३२०	वार्तिकादिसूची	७१४
सनन्त	३२८	धातुसूची	७१९
यङन्त	३३७	प्रश्नोत्तरलेखनप्रकार	७२७
यङ्लुगन्त	३४३	प्रश्नपत्राणि	७३९

शिवसूत्र-प्रत्याहाराणि

स्यादेको डञ्जणवटैः, षेण द्वौ, त्रय इह कणमैश्च ।

चत्वारश्च चमाभ्यां, पञ्च रेफेण, शलाभ्यां षट् ॥

अक्—अ, इ, उ, ऋ, ल ।
 अच्—अ, इ, उ, ऋ, ल, ए, ओ, ऐ, औ ।
 अण्—अ, इ, उ ।
 अट्—अ, इ, उ, ऋ, ल, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र ।
 अण्—अ, इ, उ, ऋ, ल, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल ।
 अम्—अ, इ, उ, ऋ, ल, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, न ।
 अल्—अ, इ, उ, ऋ, ल, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ङ, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह ।
 अश्—अ, इ, उ, ऋ, ल, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ङ, द ।
 इक्—इ, उ, ऋ, ल ।
 इच्—इ, उ, ऋ, ल, ए, ओ, ऐ, औ ।
 इण्—इ, उ, ऋ, ल, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल ।
 उक्—उ, ऋ, ल ।
 एङ्—ए, ओ ।

एच्—ए, ओ, ऐ, औ ।
 ऐच्—ऐ, औ ।
 खय्—ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प ।
 खर्—ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स ।
 डम्—ड, ण, न ।
 चय्—च, ट, त, क, प ।
 चर्—च, ट, त, क, प, श, ष, स ।
 छव्—छ, ठ, थ, च, ट, त ।
 जश्—ज, ब, ग, ङ, द ।
 भय्—झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ङ, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प ।
 भर्—झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ङ, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स ।
 भल्—झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ङ, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह ।
 भश्—झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ङ, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह ।
 भष्—झ, भ, घ, ढ, ध ।
 बश्—ब, ग, ङ, द ।
 भष्—भ, घ, ढ, ध ।

मय्—म, ड, ण, न, म्, भ, घ, ढ, ध,
ज, व, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ,
थ, च, ट, त, क, प ।

यज्—य, व, र, ल, ज, म, ड, ण, न,
म्, भ ।

यण्—य, व, र, ल ।

यम्—य, व, र, ल, ज, न, ड, ण, न ।

यय्—य, व, र, ल, ज, म, ड, ण, न,
म्, भ, घ, ढ, ध, ज, व, ग, ड, द,
ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प ।

यर्—य, व, र, ल, ज, म, ड, ण, न,
म्, भ, घ, ढ, ध, ज, व, ग, ड,
द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त,
क, प, श, ष, स ।

रल्—र, ल, ज, म, ड, ण, न, म्, भ,
घ, ढ, ध, ज, व, ग, ड, द, ख,

फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प,
श, ष, स, ह ।

वल्—व, र, ल, ज, म, ड, ण, न, म्,
भ, घ, ढ, ध, ज, व, ग, ड, द,
ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क,
प, श, ष, स, ह ।

वश्—व, र, ल, ज, म, ड, ण, न, म्,
भ, घ, ढ, ध, ज, व, ग, ड, द ।

शर्—श, ष, स ।

शल्ल—श, ष, स, ह ।

हल्—ह, य, व, र, ल, ज, म, ड, ण,
न, म्, भ, घ, ढ, ध, ज, व, ग,
ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट,
त, क, प, श, ष, स, ह ।

हश्—ह, य, व, र, ल, ज, म, ड, ण, न,
म्, भ, घ, ढ, ध, ज, व, ग, ड, द ।

स्वरों का अष्टादश भेदज्ञापक चक्र

अ इ उ ऋ लृ	अ इ उ ऋ ए ओ ऐ औ	अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ
ह्रस्वभेद	दीर्घभेद	प्लुतभेद
१ ह्रस्व उदात्तानुनासिक	७ दीर्घ उदात्तानुनासिक	१३ प्लुत उदात्तानुनासिक
२ " उदात्तानुनासिक	८ " उदात्तानुनासिक	१४ " उदात्तानुनासिक
३ " अनुदात्तानुनासिक	९ " अनुदात्तानुनासिक	१५ " अनुदात्तानुनासिक
४ " अनुदात्तानुनासिक	१० " अनुदात्तानुनासिक	१६ " अनुदात्तानुनासिक
५ " स्वरितानुनासिक	११ " स्वरितानुनासिक	१७ " स्वरितानुनासिक
६ " स्वरितानुनासिक	१२ " स्वरितानुनासिक	१८ " स्वरितानुनासिक

आभ्यन्तर और बाह्यप्रयत्न ज्ञापक चक्र

आभ्यन्तर- प्रयत्न	सृष्ट					ईषत्सृष्ट	ईषद्विभूत	विवृत	संवृत
संज्ञा	स्पर्श					अन्तःस्थ	ऊष्मा	स्वर उदात्त, अनु- दात्त, स्वर्गित	
व्यञ्जन, स्वर	क प च ट त	ख फ छ ठ थ	ग व ज ड द	ङ म अं ण न	घ भ म् ढ ध	य व र ल	श ष स ह	अ इ ए उ ओ ऋ ऐ लृ औ	ऋऌ स्वऌ मऌ प्रयोगऌ
बाह्यप्रयत्न	अ.प्रा.म.प्रा. विवार श्वास अघोष	अल्प.प्रा. संवार नाद घोष	म. प्रा. संवार नाद घोष	अल्प. संवार नाद घोष	म. प्रा. विवार श्वास अघोष	म. प्रा. सं. ना. घो.	अल्पप्राण संवार नाद घोष	अल्प. संवार नाद घोष	

वर्णोद्भवस्थान ज्ञापक चक्र

कंठ	तालु	मूर्धा	दन्त	ओष्ठ	नासिका	कं. ता.	कं. ओ.	दं. ओ.	जि. मू.	नासिका
अ क ख ग घ ङ ह ः	इ च छ ज झ ञ य श	ऋ ट ठ ड ढ ण र ष	लृ त थ द ध न ल स	उ प फ ब भ म प फ	अ म ङ ण न	ए ऐ	ओ औ	व	ऋ ख	अनुस्वार

॥ श्रीः ॥

मध्यसिद्धान्तकौमुदी

सुधा-इन्दुमती-संस्कृत-हिन्दीटीकोपेता



अथ संज्ञाप्रकरणम्

नत्वा वरदराजः श्रीगुरुन् भट्टोजिदीक्षितान् ।

करोति पाणिनीयानां मध्यसिद्धान्तकौमुदीम् ॥

अइउण् । १ । ऋलृक् । २ । एओङ् । ३ । ऐऔच् । ४ । हयवरट् । ५ ।

नत्वेति । अञ्जलिशिरःसंयोगादिव्यापारेण तोपयित्वेत्यर्थः । वरदराजः—प्रकृत-ग्रन्थकर्ता । ‘नास्ति तत्त्वं गुरोः परम्’ इत्याद्युक्त्या गुरोरेव परमपदार्थत्वादाह—गुरु-निति । भट्टोजिदीक्षितान्—शब्दकौस्तुभमनोरमादिग्रन्थकर्तृन् । पाणिनीयानाम्—पाणि-निना प्रोक्तं पाणिनीयं, तदधीते विदन्ति वा पाणिनीयास्तेषाम् । मध्यसिद्धान्तकौमुदी-मिति । अत्यल्पाऽशेषाभ्यामन्ये मध्यभूताः सिद्धान्तास्तेषां प्रकाशिकामिति यावत् । करोतीति । डुकृञ् करणे अस्मात्कर्तरि लटि रूपम् । उत्पत्त्यनुकूलव्यापारो हि कृधात्वर्थः । वरदराजनिष्ठमध्यसिद्धान्तकौमुदीविषयकोत्पत्त्यनुकूलव्यापार इति बोधः ।

अ इ उ ण् इति । संहिताया अविवक्षया नात्र सन्धिकार्यम् । सौत्रत्वाच्चैतेभ्यो विभक्त्युत्पत्तिः । कारप्रत्ययोऽपि न ‘वर्णात्कार’ इत्यत्र बहुलमित्यनुवर्तनात् । हयव-रडिति । अट् अश् हश् इण् प्रत्याहारेषु हकारग्रहणार्थोऽत्र हकारोपदेश आवश्यकः । अटि हकारोपदेशप्रयोजनं तु—अर्हेण इत्यत्र अड्व्यवायेऽपिणत्वार्थम् । अशि हकार-

रामचन्द्रं नमस्कृत्य रामचन्द्रेण धीमता ।

मनसीन्दुमतीं ध्यात्वा रचितेन्दुमती मुदा ॥

नत्वा—मै वरदराज भट्टाचार्य अपने श्री गुरु भट्टोजिदीक्षितको प्रणाम करके पाणिनि मुनि विरचित ग्रन्थमें प्रवेशके लिये ‘मध्यसिद्धान्तकौमुदी’ नामक ग्रन्थको बनाता हूँ ॥

अइउण्—महेश्वर (भगवान् गंगाधर) की कृपासे प्राप्त ये चतुर्दश (१४) सूत्र अण् अक् आदि संज्ञा (प्रत्याहार) सिद्धिके लिये हैं ।

नोटः—महर्षि पाणिनिकी तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान् शङ्करने संस्कृतव्याकरण बनानेके लिये इन्हीं १४ सूत्रोंका उपदेश किया था । इन्हीं सूत्रोंके आधार पर पाणिनिने

लण् ।६। अमङ्गणनम् ।७। झभञ् ।८। घढधष् ।९। जवगडदश् ।१०। खफछठथचटतव् ।११। कपय् ।१२। शषसर् ।१३। हल् ।१४। इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसंज्ञार्थानि ॥ एषामन्त्या इतः ।

हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः । लण्मध्ये त्वित्संज्ञकः ॥ हकारो द्विरूपा-

प्रयोजनम्—देवा हसन्ति इत्यत्र ‘भो भगो’ इति अश्वनिमित्तकं रोयत्त्वार्थम् । हशि हकारप्रयोजनम्—देवो हसति इत्यत्र ‘हशि च’ इत्युत्त्वार्थम् । इणि हकारप्रयोजनम्—लिलिहिध्वे-लिलिहिद्वे इत्यत्र ‘विभापेटः’ इत्यनेन वैकल्पिकद्वत्त्वार्थम् ॥ लणिति । ननु ‘अइउण्’ इत्यत्र णकारानुबन्धेनैवाणादिप्रत्याहारसिद्धौ पुनरिह णकारानुबन्धग्रहणं व्यर्थमिति चेद्; न । ‘व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्’ इति परिभाषाज्ञापकत्वेन तस्य साफल्यत्वात् ॥ हलिति । ‘हयवरट्’ इत्यत्र हकारोपदेशेनैव सिद्धौ पुनरिह हकारोपदेशो व्यर्थ इति न च शङ्क्यम् । वल्, रल्, झल्, शल्, प्रत्याहारेषु हकारग्रहणाय तत्र हकारोपदेशस्य सार्थक्यत्वात् । तथाहि—वलि हकारोपदेशप्रयोजनम्—रुदिहि स्वपिहि अत्र ‘रुदादिभ्यः सार्वधातुके’ इति वलादिलक्षणेडागमार्थम् । रलि हकारोपदेशप्रयोजनम्—स्निहित्वा-स्नेहित्वा इत्यत्र ‘रलो व्युपधात्’ इति कित्त्वार्थम् । झलि-अदाधाम् इत्यत्र घस्यासिद्धत्वेन हकारस्य झलत्वात् ‘झलो झलि’ इति सकारलोपार्थम् । शलि-अलिच्चदित्यत्र ‘शल इगुपधादनिटः कसः’ इति च्लेः कसादेशार्थम् । ननु इमानि सूत्राणि मुनित्रयग्रन्थबहिर्भूतत्वाद्ग्रमाणमित्यत आह—इति माहेश्वराणि सूत्राणीति । महेश्वरादागतानि माहेश्वराणि ‘तत् आगतः’ इत्यण् । महेश्वरात्प्राप्तानीति यावत् । ननु महेश्वरप्रणीतसूत्राणामेषां वैयाकरणसिद्धान्तप्रकाशने उपयोगाभावादिह तदुपन्यासो व्यर्थ इत्यत आह—अणादिसंज्ञार्थानीति । अण् आदिर्यासां ताः अणादयः, अणादयश्च ताः संज्ञाश्च अणादिसंज्ञाः ताः अर्थः प्रयोजनं येषां तानि अणादिसंज्ञार्थानि । एषां सूत्राणामणादिसंज्ञाद्वारा व्याकरणशास्त्रे उपयोगान्नानर्थक्यमिति भावः । हकारादिष्विति । हकारादीनां सुखोच्चारणार्थं पुनःपुनरकारपाठ इत्यर्थः । अन्यथा ‘ह् य् व् र्’ इत्येवं छिष्टोच्चारणापत्तेरिति भावः । लण्मध्ये त्विति । लण्सूत्रघटकोऽकार इत्संज्ञकः, रप्रत्याहारसिद्धयर्थमिति भावः ॥ तेन ‘उरण् रपरः’

समस्त व्याकरणकी सभी बातें सरलरूपेण संक्षेपमें—कही हैं । अतः सबसे पहले उपर्युक्त सूत्रोंसे बने हुए प्रत्याहारोंको कण्ठस्थ करलेना विद्यार्थियोंके लिये परम हितकर है ।

एषाम्—यह प्रतिज्ञा वाक्य है । इन चतुर्दश सूत्रोंके अन्तिम वर्ण (ण्, क् आदि) इत्संज्ञावाले हैं—वक्ष्यमाण ‘हलन्त्यम्’ सूत्रसे इनकी इत्संज्ञा हो जाती है ।

हकारादि—हकारादि वर्णोंमें संमिलित जो अकार हैं वे केवल वर्णोच्चारण करनेके लिये हैं—इत्संज्ञाके लिये नहीं ।

लण्मध्ये—‘लण्’ सूत्रके मध्यमें (लकारोत्तरवर्ती) जो अकार है वह इत्संज्ञक है—

त्तोयमटि शल्यपि वाञ्छता । अहंणाधुक्षदित्यत्र द्वयं सिद्धं भविष्यति ॥
हलन्त्यम् । १ । ३ । ३ । उपदेशेऽन्त्यं हलिस्त्यात् । उपदेश आद्योच्चारणम् ।
सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र ॥ अदर्शनं लोपः । १ । १ । ६० ।
प्रसक्तस्यादर्शनं लोपसंज्ञं स्यात् ॥ तस्य लोपः । १ । ३ । ९ । तस्येतो लोपः
स्यात् । णादयोऽणाद्यर्थाः ॥ आदिरन्त्येन सहेता । १ । १ । ७१ । अन्त्येनेता

इति सूत्रस्थरप्रत्याहारेण रलयोर्ग्रहणमिति यावत् । अटि शल्यपीति । अट्प्रत्याहारे
हकारग्रहणार्थम् , शल्प्रत्याहारेऽपि हकारस्य ग्रहणार्थं हकारः द्विवारं पठितः । अटि
हकारस्य प्रयोजनमाह—अहंणेति । ‘अट्कुप्वाड्’इति अङ्गव्याये णत्वम् । शलि
पाठस्य प्रयोजनमाह—अधुक्षदिति । ‘शल इगुपधात्’ इत्यनेन च्लेः क्सादेशः । उपदेशे-
ऽन्त्यमिति । आद्योच्चारणविषयीभूतो यः शब्दस्तस्यान्त्यं हल् इत्संज्ञकः स्यादिति फलि-
तोऽर्थः । आद्योच्चारणमिति । आद्यानां शिवपाणिनिप्रभृतीनामाद्यमुच्चारणमुपदेशः ।
यद्वा आद्यञ्च तदुच्चारणञ्चेत्याद्योच्चारणम्, प्रथममुच्चारणमित्यर्थः । शिवपाणिनिप्रभृ-
तीनामाद्यमुच्चारणमुपदेशः । केचित्तु—‘धातुसूत्रगणोणादिवाक्यलिङ्गानुशासनम् ।
आगमप्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्तिताः’ ॥ इत्याहुः । प्रसक्तस्येति । शास्त्रतोऽर्थतत्तंश्च
प्रसक्तस्य प्राप्तोच्चारणस्येत्यर्थः । दृशेर्ज्ञानसामान्यार्थकत्वात्तस्य च निषेधाऽसम्भवाद्दु-
च्चारणसत्ताया एव निषेध इति भावः ॥ णादयोऽणाद्यर्था इति । अण् आदिर्येषां तेऽणा-
द्यस्तेऽर्थाः प्रयोजनं येषान्तेऽणाद्यर्थाः । णादयः—णक् ङ् च् प्रभृतयः इत्संज्ञा वर्णाः
अणादिप्रत्याहारप्रयोजनकाः इति यावत् ॥ आदिरन्त्येन सहतेति । अन्ते भवः अन्त्यः ।
तेन इता सहोच्चार्यमाण आदिः अण् अच् इत्यादिरूपः संज्ञेत्यर्थः । यस्मात्पूर्वं नास्ति

उच्चारण मात्रके लिये नहीं । क्योंकि उससे ‘र’ प्रत्याहारकी सिद्धि होती है ।

हलन्त्यम्—उपदेश अवस्थामें जो अन्त्य हल् (व्यञ्जन वर्ण) उनकी इत्संज्ञा हो ।

उपदेश आद्योच्चारणम्—आद्य (प्रथम) उच्चारणको ‘उपदेश’ कहते हैं ।

नोटः—व्याकरणशास्त्रके प्रवर्तक पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि मुनिका जो आद्योच्चा-
रण है उसीका नाम ‘उपदेश’ है । कहा भी है—

धातु-सूत्र-गणोणादि-वाक्य-लिङ्गानुशासनम् । आगमप्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्तिताः ॥

सूत्रेष्वदृष्टम्—सूत्रोंमें जो पद नहीं दिखलाई पड़े उसे दूसरे सूत्रोंसे अनुवर्तन (अध्या-
हार) करलेना चाहिये ।

अदर्शनम्—प्रसक्त (शास्त्रतः, अर्थतः विद्यमान—प्राप्तोच्चारण) का जो अदर्शन
(श्रवणभाव) वह लोप संज्ञक होता है—उस अभावको लोप कहते हैं ।

तस्य लोपः—जिसकी इत्संज्ञा होती है उसका लोप हो जाता है ।

आदिरन्त्येन—अन्त्य इत्संज्ञक वर्णके साथ उच्चारित आदिवर्ण अपने तथा मध्यवर्ती
वर्णोंका भी बोधक हो ।

सहित आदिर्मध्यगानां स्वस्य च संज्ञा स्यात् । यथा अण् इति अइउवर्णानां संज्ञा । एवमच्, हल्, अल्, इत्यादयः ॥ उकालोऽङ्गस्वदीर्घप्लुतः । १ । २ । २७ । उश्च ऊश्च ऊरेश्च वः । वां काल इव कालो यस्य सोऽच् क्रमाद्भ्रस्वदीर्घप्लुतः संज्ञा स्यात् । स प्रत्येकमुदात्तादिभेदेन त्रिधा । उच्चैरुदात्तः । १ । २ । २९ ।

परञ्चास्ति स आदिः । यस्मात्परं नास्ति पूर्वञ्चास्ति सोऽन्तः । इहाद्यन्ताभ्यामवयवत्वेन बोधकाभ्यां शब्दाभ्यां मध्यगा आक्षिप्यन्ते । अतस्तेषां संज्ञेति लभ्यते । स्वं रूपमिति पूर्वसूत्रात्स्वमित्यनुवर्तते । तच्च पठ्यन्ततया विपरिणम्यते तदेतदाह—अन्येनेतेत्यादि । स्वस्य चेति । अत्र च स्वशब्देन संज्ञाकोटिप्रविष्ट आदिरेव परामृश्यते इति भावः । उकाल इति । ह्रस्वदीर्घप्लुतः इति समाहारद्वन्द्वः सौत्रं पुंस्त्वम् । एकद्वित्रिमात्रिकोकाराणामुच्चारणकालसदृशोच्चारणकालविशिष्टोऽच् क्रमशो ह्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञको भवतीति सूत्रार्थः । प्राथम्यादकारोच्चारणमेव युक्तमिति न च शङ्क्यम् । कुक्कुरस्ते उकारे एकद्विमात्रत्वप्रसिद्धेरकारस्यानुक्तेः । वां काल इति । वः इति उशब्दस्य प्रथमावहुवचनम् । वामिति षष्ठीबहुवचनम् । वां काल इव कालो यस्येति फलितार्थकथनमिति यावत् । एकमात्रात्मकोकारोच्चारणकालसदृशोच्चारणकालिको योऽच् स ह्रस्वसंज्ञको भवति । एवं द्विमात्रात्मकोकारोच्चारणकालसदृशः उच्चारणकालो यस्याचः स दीर्घसंज्ञको भवति । एवं त्रिमात्रात्मकोकारोच्चारणकालसदृशोच्चारणकालिको योऽच् सः प्लुतसंज्ञको भवति । स प्रत्ये-

उदाहरण—‘अ इ उ ण्’ सूत्रघटक ‘अण्’ प्रत्याहारमें अन्त्य इत् ‘ण्’ के सहित उच्चारित आदिवर्ण ‘अण्’ हुआ । इसके बीचमें जो इ, उ है, इनकी तथा अपनी भी अर्थात् ‘अ’ की भी संज्ञा ‘अण्’ हुई (एवम् अन्यत्रापि) ।

अण् इति—यथा ‘अण्’ प्रत्याहार अ, इ, उ वर्णोंका संज्ञाबोधक है, तथा अच्, हल् आदि प्रत्याहारोंको भी जानना चाहिये ।

उकालो—उकाल, उकाल, ऊरकाल (एकमात्रिक, द्विमात्रिक, त्रिमात्रिक) के समान उच्चारण कालके बराबर उच्चारण काल हो जिसका वह ‘अच्’ क्रमसे ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत संज्ञावाला हो ।

नोटः—‘मात्रा’ कालको कहते हैं । मुर्गाका शब्द ‘कु-कू-कू ३’ में एक, दो, तीन मात्राओंका उपचय क्रमिक स्पष्ट प्रतीत होता है, अतः उकारही दृष्टान्त रूपमें दिया गया है ।

ह्रस्वादि का लक्षण—एकमात्रो भवेद्भ्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते ।

त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यञ्जनं चार्धमात्रिकम् ॥

स प्रत्येक—वह (ह्रस्व, दीर्घ, प्लुतसंज्ञक) प्रत्येक ‘अच्’ उदात्त, अनुदात्त, स्वरित धर्मविशेष से तीन २ प्रकारका होता है ।

उच्चैरुदात्तः—तालु आदि स्थानोंके ऊर्ध्व भागमें उच्चारित जो ‘अच्’ वह ‘उदात्त’

तात्वादिषु सभागेषु स्थानेषूर्ध्वभागे निष्पन्नोऽनुदात्तसंज्ञः स्यात् ॥ नीचैरनुदात्तः । १।२।३०। तात्वादिषु सभागेषु स्थानेष्वधोभागे निष्पन्नोऽनुदात्तसंज्ञः स्यात् ॥ समाहारः स्वरितः । १।२।३१। उदात्तानुदात्तत्वे वर्णधर्मौ समाह्रियेते यस्मिन् सोऽच् स्वरितसंज्ञः स्यात् । स नवविधोऽपि प्रत्येकमनुनासिकाननुनासिकत्वाभ्यां द्विधा ॥ मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः । १।१।८। मुखसहितनासिकयोच्चार्य-

कमिति । सः (लब्धह्रस्वादिसंज्ञकः) ह्रस्वः, दीर्घः, प्लुतश्च अच् प्रत्येकमुदात्तादिभेदेन उदात्तत्वेन, अनुदात्तत्वेन, स्वरितत्वेन च धर्मविशेषेण त्रिधा त्रिभिः प्रकारैर्वर्तत इत्यर्थः । उदात्तसंज्ञासाह—उच्चैरुदात्त इति । नादधर्मविशेषः, उच्चैस्त्वन्निवह न विवक्षितम् । उपांशूच्चार्यमाणे अव्याप्तेः । किन्तु उच्चैःशब्दः अधिकरणशक्तिप्रधानः ऊर्ध्वभागे इत्यर्थे वर्तते । ‘ऊकालोऽच्’ इत्यत अच् इत्यनुवर्तते, तदेतदाह—तात्वादिष्वित्यादिना । सभागेष्विति । तात्वादीनां सावयवत्वकथनं ऊर्ध्वभागे इत्यस्योपपादनार्थम् । तेषामखण्डत्वे ऊर्ध्वभागे इत्यनुपपत्तेः ॥ नीचैःशब्दः अधिकरणशक्तिप्रधानः, अधोभागे इत्यर्थे वर्तते, तदाह—नीचैरिति । समाहारः स्वरित इति । पूर्वसूत्राभ्यां उदात्तानुदात्तपदे अनुवृत्ते व्याख्यानात् धर्मप्रधाने पृथगन्ततया च विपरिणम्येते । यस्मिन् समाहरणं स समाहारः । अधिकरणे घञ् । ततश्च उदात्तत्वानुदात्तत्वयोर्धर्मयोर्यस्मिन्नचि मेलनं सोऽच् स्वरितसंज्ञक इत्यर्थः । तदेतत्फलितमाह—उदात्तत्वानुदात्तत्वे इति । स नवविधोऽपीति । १ उदात्तह्रस्वः, २ अनुदात्तह्रस्वः, ३ स्वरितह्रस्वः, ४ उदात्तदीर्घः, ५ अनुदात्तदीर्घः, ६ स्वरितदीर्घः, ७ उदात्तप्लुतः, ८ अनुदात्तप्लुतः, ९ स्वरितप्लुतः, इति रीत्या य एकैकः अच् नवविधः स्थितः स प्रत्येकमनुनासिकत्वेन अननुनासिकत्वेन च द्विधा द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां वर्तत इत्यर्थः । मुखनासिकेति । मुखद्वितीया नासिका मुखनासिकेति शाकपार्थिवादिवादुत्तरपदलोपः । उच्यतेऽसौ वचनः ‘कर्मणि ल्युट्’ । मुखनासिकया वचनः मुखनासिकावचन इति । ननु अष्टादशभेदाः किं सर्वेषामचामविकहलाता है ।

नीचैरनुदात्तः—ताल आदि स्थानोंके अधोभागमें उच्चारित जो ‘अच्’ वह ‘अनुदात्त’ कहलाता है ।

नोटः—उच्चैः, नीचैः शब्द अधिकरण शक्ति प्रधानक अव्यय हैं । अतः ऊर्ध्वभाग और अधोभागमें ऐसा अर्थ हुआ ।

समाहारः—उदात्त और अनुदात्त जिस स्वरमें संमिलित हों उसे ‘स्वरित’ कहते हैं । स नवविधोऽपि—वह (उदात्त-अनुदात्त-स्वरितभेदेन) नौ प्रकारका ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत संज्ञक ‘अच्’ पुनः अनुनासिक और अननुनासिक भेदसे दो २ प्रकारका होता है ।

मुखनासिका—मुख और नासिका (उभय) से जिस वर्णका उच्चारण हो वह अनुनासिक संज्ञक वर्ण कहलाता है ।

माणो वर्णोऽनुनासिकसंज्ञः स्यात् । तदित्थम्—अ इ उ ऋ एषां वर्णानां प्रत्येकं मष्टादश भेदाः । लृवर्णस्य द्वादश । तस्य दीर्घाभावात् । एचामपि द्वादश । तेषां ह्रस्वाभावात् ॥ तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् । १।१।१९। तात्वादिस्थानमाभ्यन्तर-प्रयत्नश्चेत्येतदुद्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथः सवर्णसंज्ञं स्यात् । (ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्) अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः । इचुयशानां तालु । ऋदुरषाणां

शिष्टाः, नेत्याह—तदित्थमिति । अष्टादशभेदा इति । अष्टादशप्रकारा इत्यर्थः । दीर्घाभावादिति । तथा च उदात्तलृकारदीर्घः, अनुदात्तलृकारदीर्घः, स्वरितलृकारदीर्घः । ते च अनुनासिकास्त्रयः अनुनासिकास्त्रय इति षड्भेदानामभावे सति ह्रस्वप्रपञ्चः षड्विधः प्लुत-प्रपञ्चश्च षड्विध इति लृकारस्य द्वादशविधत्वमेवेति भावः । लृकारस्य दीर्घाभावे-होतु लृकार इत्यत्र सवर्णदीर्घे कृते होतृकारः इति ऋकारस्यैव 'तुल्यास्य' सूत्रे 'अकः सवर्णे' इति सूत्रे च भाष्योदाहरणमेव प्रमाणम् । ह्रस्वाभावादिति । यदि एचो ह्रस्वाः स्युस्तर्हि वर्णसमाप्ताये त एव लाघवात् अ इ उ इत्यादिवत् पठ्येरन् । न तु दीर्घाः गौरवात् । अतः एचो ह्रस्वाः न सन्तीति विज्ञायते । एवञ्च ह्रस्वप्रपञ्चषड्भेदाभावात् द्वादशविधत्वमेवैवाम् इति भावः । तुल्यास्येति । आस्ये—मुखे भवम् आस्यं तात्वादि-स्थानम् 'शरीरावयवाद्यत्' इति भवार्थे यत्प्रत्ययः । प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नः । आस्यं च प्रयत्नश्च आस्यप्रयत्नौ, तुल्यौ आस्यप्रयत्नौ यस्य वर्णजालस्य तत् तुल्यास्यप्रयत्नं परस्परं सवर्णसंज्ञकं स्यादिति भावस्तदाह—तात्वादीति । मिथ इति । परस्परमित्यर्थः । कस्य किं स्थानमित्याकाङ्क्षायां तद्वधवस्थापकानि पाणिन्यादिशिष्टावचनानि अर्थतः सङ्गृह्णाति—अकुहेत्यादिना । 'अ' इत्यष्टादशभेदा गृह्यन्ते । 'कु' इति कादिपञ्चकात्मकः कवर्गः ।

तदित्थम्—तस्मात् इस प्रकारसे 'अ, इ, उ, ऋ' इन वर्णोंमें प्रत्येकके १८ भेद होते हैं ।

लृवर्णस्य—(दीर्घ न होनेके कारण) 'लृ' वर्णके (१८ भेद न होकर) १२ भेद होते हैं ।

एचामपि—एवं (ह्रस्व न होनेके कारण) 'एच्' वर्णोंके प्रत्येकके भी (अठारह २ भेद न होकर) १२ भेद होते हैं ।

तुल्यास्य—जिस वर्णका तालु आदि स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न एक हो वह परस्पर सवर्ण संज्ञावाला होता है ।

ऋलृ—ऋ-लृ वर्णकी (भिन्न स्थान होनेपर भी) परस्पर सवर्णसंज्ञा होती है—ऐसा कहना चाहिये ।

अकुह—अ-अकार, कु-कवर्ग, 'ह' और विसर्ग (:) का उच्चारणस्थान कंठ है—अतः इनको कण्ठ्य वर्ण कहते हैं ।

इचु—इ इकार, चु-चवर्ग, 'य' और 'श' का उच्चारणस्थान 'तालु' है—अतः इनको

मूर्धा । लुलसानां दन्ताः । उपपध्मानीयानामोष्ठौ । जमङ्गनानां नासिका च ।
एदैतोः कण्ठतालु । ओदौतोः कण्ठोष्ठम् । वकारस्य दन्तोष्ठम् । जिह्वामूलीयस्य

अश्च कुश्च हश्च विसर्जनीयश्चेति विग्रहः । विसर्जनीयशब्दोऽपि विसर्गपर्यायः ।
इचुयशेति । 'इ' इत्यष्टादश भेदाः । 'तु' इति चवर्गः । इश्च चुश्च यश्च शश्चेति विग्रहः ।
ऋदुरपेति । 'ऋ' इत्यष्टादश भेदाः । 'दु' इति टवर्गः । आ च दुश्च रश्च पश्चेति विग्रहः ।
'ऋ' शब्दस्य आ इति प्रथमैकवचनान्तम्, धाता इतिवत् । ललुलसेति । 'लृ'
इत्यस्य द्वादश भेदाः । 'तु' इति तवर्गः । आ च तुश्च लश्च सश्चेति विग्रहः । लृश-
ब्दस्यापि आ इत्येव प्रथमैकवचनान्तम् । आ, अलौ अलः इति । दन्तशब्देन
दन्तमूलप्रदेशो विवक्षितः । अन्यथा भग्नदन्तस्य तदुच्चारणानुपपत्तेः । उपपेति ।
'उ' इत्यष्टादश भेदाः । 'पु' इति पवर्गः । उश्च पुश्च उपध्मानीयश्चेति विग्रहः । उपध्मा-
नीयशब्दस्य व्याख्यानमनुपदमेव मूले स्पष्टं भविष्यति । जमङ्गणेति । अश्च मश्च
ङश्च णश्च नश्चेति विग्रहः । चकारेण स्वस्ववर्गीयस्थानसमुच्चयः । एदैतोरिति ।
पञ्च ऐच्च एदैतौ । तपरकरणमसन्देहार्थम् । ओदौतोरिति । ओच्च औच्च ओदौतौ ।
तपरकरणं पूर्ववदसन्देहार्थमेव । जिह्वामूलीयस्येति । \times क \times ख इति कखाभ्यां

तालव्य वर्ण कहते हैं ।

ऋदु—ऋ-ऋकार, दु-टवर्ग, 'र' और 'प' का उच्चारण स्थान 'मूर्धा' है—अतः
इनको मूर्धन्य वर्ण कहते हैं ।

लृतु—लृ-लृकार, तु-तवर्ग, 'ल' और 'स' का उच्चारण स्थान 'दन्त' है—अतः
इनको दन्त्य वर्ण कहते हैं ।

उपु—उ-उकार, पु-पवर्ग और उपध्मानीय (\sim प \sim फ) का उच्चारण स्थान
'ओष्ठ' है—अतः इनको ओष्ठ्य वर्ण कहते हैं ।

जमङ्ग—'ज-म-ङ्ग-ण-न' का उच्चारण स्थान 'नासिका' तथा 'कंठ-तालु-मूर्धा-
दन्त-ओष्ठ' भी हैं—अतः इनको नासिक तथा कंठ्य, तालव्य, मूर्धन्य, दन्त्य, और ओष्ठ्य
वर्ण भी कहते हैं ।

एदैतोः—एकार-ऐकारका उच्चारण स्थान कंठ तालु है—अतः इनको कण्ठ्य, तालव्य
दोनों कहते हैं ।

ओदौतोः—ओकार-औकारका उच्चारण स्थान कंठ और ओष्ठ है—अतः इनको
'कण्ठयोष्ठ्य' वर्ण कहते हैं ।

वकारस्य—वकार का उच्चारणस्थान दन्त तथा ओष्ठ है—अतः इसको 'दन्त्योष्ठ्य'
वर्ण कहते हैं ।

जिह्वामूलीयस्य—जिह्वामूलीय (\sim क \sim ख) का उच्चारणस्थान जीभका मूल
(जड़भाग) है—अतः इनको जिह्वामूलीय कहते हैं ।

जिह्वामूलम् । नासिकाऽनुस्वारस्य । इति स्थानानि ॥ यत्नो द्विधा । आभ्यन्तरो
बाह्यश्च । आद्यः पञ्चधा । स्पृष्टेषत्स्पृष्टेषद्विवृतविवृतसंवृतमेदात् । तत्र स्पृष्टं प्रयत्नं
स्पर्शानाम् । ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम् । ईषद्विवृतमूष्मणाम् । विवृतं स्वराणाम् ।
ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम् । प्रक्रियादशायां तु विवृतमेव । बाह्यप्रयत्नस्त्वेका-

प्रागर्धविसर्गसदृशो जिह्वामूलीय इति अग्रे मूले एव उक्तम् । अनुस्वारस्येति । स्थानमिति
शेषः । अनुस्वारस्य नासिकास्थानमस्तीति भावः । यत्नो द्विधेति । यत्नानामाभ्यन्तरत्वं
बाह्यत्वं च वर्णोत्पत्तेः प्रागूर्ध्वभावित्वमिति पाणिन्यादिशिचासु स्पष्टम् । यत्न इति ।
यत्नशब्दोऽत्र प्रयत्नपरः । आद्य इति । आभ्यन्तरप्रयत्न इत्यर्थः । कथं पञ्चधा इत्यत
आह—स्पृष्टेत्यादिना । तत्रेति । स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, ईषद्विवृत, विवृत, संवृतेषु मध्ये
इत्यर्थः । प्रयत्नमिति । प्रयत्न इत्यर्थः । स्पर्शानामिति । स्पर्शवर्णानामित्यर्थः । के ते
वर्णाः इति मूले स्फुटीभविव्यति । तथापि निर्दिश्यते अत्रापि—क ख ग घ ङ, च छ
ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म, कवर्णादारभ्य मवर्णपर्यन्तम् ।
अन्तःस्थानामिति । यरलवानामित्यर्थः । ऊष्मणामिति । श प स ह इत्येतेषामित्यर्थः ।
स्वराणामिति । अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ इत्येतेषामित्यर्थः । प्रयोगे इति । शास्त्रीय-

नासिका—अनुस्वार (') का उच्चारणस्थान नासिका है ।

यत्नो द्विधा—यत्न (प्रयत्न) दो प्रकारका होता है—आभ्यन्तर और बाह्य ।

नोटः—‘प्रकृतो यत्नः प्रयत्नः’ अर्थात् वर्णोच्चारणके पूर्व हृदयमें जो यत्न करना
पड़ता है, उसी प्रयत्नको ‘आभ्यन्तर प्रयत्न’ कहते हैं । इसका अनुभव उच्चारण करने
वाले को ही होता है ।

दूसरा प्रयत्न मुखसे वर्ण निकलते समय होता है । इसका अनुभव सुनने वालेको भी
होता है, अतः वह ‘बाह्यप्रयत्न’ कहा जाता है । इसका उपयोग सवर्णसंज्ञामें नहीं होता,
किन्तु आन्तरतम्यपरीक्षा अर्थात् कई वर्णोंमें परस्पर अत्यन्त समानताका अन्वेषण करनेके
समयमें इसकी आवश्यकता पड़ती है ।

आद्यः पञ्चधा—पहला—आभ्यन्तर प्रयत्न, पांच प्रकारका है—१. स्पृष्ट, २. ईषत्स्पृष्ट,
३. ईषद्विवृत, ४. विवृत, ५. संवृत—इस मेदसे ।

तत्र स्पृष्टं—तत्र (इन पांचोंमें) स्पृष्ट प्रयत्न स्पर्शका—‘क’ से ‘म’ पर्यन्त वर्णों का है ।

ईषत्स्पृष्ट—प्रयत्न अन्तःस्थोका—य व र ल वर्णोंका, है ।

ईषद्विवृत—प्रयत्न ऊष्माका—शल् वर्णोंका है ।

विवृत—प्रयत्न स्वराका—अच्का है ।

संवृत—प्रयत्न ह्रस्व अकारका प्रयोगावस्थामें—परिनिष्ठित सिद्धरूपमें, होता है ।
किन्तु प्रक्रियादशा—साधनिकावस्थामें, विवृत ही रहता है ।

बाह्यप्रयत्नस्तु—बाह्य प्रयत्न तो ग्यारह प्रकारके होते हैं—१. विवार, २. संवार,

दशधा । विवारः संवारः श्वासो नादो घोषोऽघोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनु-
दात्तः स्वरितश्चेति । खरो विवाराः श्वासा अघोषाश्च । हशः संवारा नादा घोषाश्च ।
वर्गाणां प्रथमतृतीयपञ्चमा षण्श्चाल्पप्राणाः । वर्गाणां द्वितीयचतुर्थौ शलश्च महा-
प्राणाः । कादयो मावसानाः रूपर्क्षाः । यणोऽन्तःस्थाः । शपसहा ऊष्माणः । अचः

प्रक्रियाभिः परिनिष्ठितानां रासः कृष्णः इत्यादिशब्दानां प्रयोगे क्रियमाणे एव हस्व-
स्यावर्णस्य संचुतत्वमित्यर्थः । प्रक्रियेति । शास्त्रीयकार्यप्रवृत्तिसमये दण्ड-आढक-
मित्यादौ सवर्णदीर्घादिकर्तव्ये तु विवृतत्वमेव । तेन सन्धिकार्यं निर्वाधमेव । एतत्सर्वं
‘पूर्वत्रासिद्धम्’ इत्यनेन ज्ञापितमिति सिद्धान्तकौमुद्यां स्पष्टम् ॥ बाह्येति । वर्णोत्प-
त्त्यनन्तरजातो यत्नो बाह्यप्रयत्न इत्युच्यते । खर इति । ख फ छ ठ थ च ट त क प
श ष स इति वर्णाः । विवारा इति । विवारादिप्रयत्नवन्त इत्यर्थः । हश इति । ह य
व र ल ज म ङ ण न झ भ ष ढ ध ज व ग ड द इति वर्णा इत्यर्थः । संवारा इति ।
संवारादिप्रयत्नवन्त इत्यर्थः । अल्पप्राणा इति । कगड, चजज, टडण, तदन, पयम,
यरलव इत्येतेषां वर्णानाम् अल्पप्राण इति भावः । खघ, छझ, ठढ, थध, फभ, शपसह
इत्येतेषां महाप्राण इत्यपि ज्ञेयम् । कादय इति । कख इत्यादिमपर्यन्तमिति पूर्व-
मुक्ता वर्णा इत्यर्थः । क आदियेषां ते कादयः, स अवसाने येपान्ते मावसाना इति ।

३. श्वास, ४. नाद, ५. घोष, ६. अघोष, ७. अल्पप्राण, ८. महाप्राण, ९. उदात्त,
१०. अनुदात्त, ११. स्वरित—इस भेदसे ।

नोटः—जिन वर्णोंका उच्चारण करते समय कंठका विकाश हो, उनको ‘विवार’
तदतिरिक्तको ‘संवार’ एवं जिन वर्णोंका उच्चारण करते समय श्वास चलता हो उनको
‘श्वास’ जिनका उच्चारण नादसे हो उनको ‘नाद’ तथा जिन वर्णोंका उच्चारण करनेपर
गूँज होता हो उनको ‘घोष’ तदतिरिक्तको ‘अघोष’ एवं जिनके उच्चारण करनेमें प्राणवायु-
का अल्प उपयोग हो उन्हें ‘अल्पप्राण’ और अधिक उपयोग हो उन्हें महाप्राण कहते हैं ।

खर् —प्रत्याहारका विवार, श्वास और अघोष प्रयत्न है ।

हश् —प्रत्याहारका संवार, नाद और घोष प्रयत्न है ।

वर्गाणां—वर्णोंके प्रथम (क च ट त प), तृतीय (ग ज ङ द व), पञ्चम (ङ ण
न म) तथा षण् (य व र ल) का अल्पप्राण प्रयत्न है ।

एवं वर्णोंके द्वितीय (ख छ ठ थ फ), चतुर्थ (घ झ ढ ध भ) तथा ‘शल’ प्रत्याहार-
का महाप्राण प्रयत्न है ।

कादयो—‘क’से ‘म’पर्यन्त (कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग) वर्ण स्पर्श कहलाते हैं ।

नोटः—जीभके अग्र (चोटी), उपाग्र (अग्रके समीपस्थ प्रदेश), मध्य (बीच) और
मूल (आदि) भाग द्वारा कंठ, तालु प्रभृति स्थानोंको स्पर्श करके कवर्गादि वर्णोंका उच्चा-
रण होता है अतः इनका नाम स्पर्श वर्ण है ।

यण्—(य व र ल) अन्तःस्थ कहलाते हैं ।

स्वराः। ५क५ख इति कखाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशो जिह्वामूलीयः। ५प५फ इति पफाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृश उपध्मानीयः। अं अः इत्यचः परावनुस्वारविसर्गौ॥ अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः। १।१।६९। अविधीयमानोऽण् उदिच्च सवर्णस्य संज्ञा स्यात्। अत्रैवाण् परेण णकारेण। कुचुडुतुपु एते उदितः। तदेवम् अ इत्यष्टा-

यण इति। यण्प्रत्याहारान्तर्गतवर्णाः 'यरलवाः' इत्यर्थः। शषसहा इति। शल्लप्रत्याहारान्तर्गतवर्णाः। स्वरा इति। स्वेन राजन्त इति स्वराः 'अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ' इति वर्णा इत्यर्थः। अणुदिदिति। अण् अविधीयमानः सवर्णबोधकः, उदित् विधीयमानोऽपि सवर्णबोधको भवतीत्यर्थः। तेन 'ऋत उत्' इत्यादौ विधीयमाने उति न सवर्णग्रहणम्। 'कुहोश्चुः' 'चोः कुः' इत्यादौ विधीयमानेऽपि सवर्णग्रहणमिति भावः। अत्रैवेति। अस्मिन्नेव सूत्रे इत्यर्थः। अन्यत्र तु 'अणोऽप्रगृह्य' इत्यादौ पूर्वणकारेण सह प्रत्याहारः। अत्र व्याख्यानमेव शरणम्। 'पूर्वेणैवाण्ग्रहाः सर्वे परेणैवेण्ग्रहा मताः। ऋतेऽणुदित्सवर्णस्येत्येतदेकं परेण तु॥' इति भाष्यकारेणोक्तम्। उदित इति। उदित्वेन रूपेण बोधकाः। तदेवमिति। तत् 'अणुदित्' सूत्रम्, एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण फलतीत्यर्थः। अष्टादशानामिति। (१) ह्रस्वोदात्तानुनासिकः। (२) ह्रस्व उदा० अननु०।

नोटः—अन्तःस्थका मतलब है बीचवाला। 'य व र ल' वर्ण स्वर और व्यञ्जनके बीचके हैं अतः ये अन्तःस्थ कहलाते हैं।

शल्ल—(श ष स ह) ऊष्मा कहलाते हैं—जिन वर्णोंके उच्चारणमें गर्म वायुका प्राधान्य हो उन्हें ऊष्म वर्ण कहते हैं।

अच्—(अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ) स्वर कहलाते हैं।

५क५ख—यहां पर ककार, खकारसे पूर्व विसर्गार्ध (५) के समान जो ध्वनि है वह जिह्वामूलीय है।

५प५फ—यहाँ पर पकार, फकारसे पूर्व विसर्गार्धके समान जो ध्वनि है वह उपध्मानीय है।

अं अः—यहाँ पर अकारसे परमें जो ध्वनि है वह क्रमसे अनुस्वार, विसर्ग वाचक है।

नोटः—'न्' और 'म्' के स्थानमें अनुस्वार तथा 'रेफ' और 'स्' के स्थानमें विसर्ग होता है अतः अनुस्वार—विसर्ग पृथक् वर्णों में नहीं गिने जाते।

अणुदित्सवर्णस्य—(जो विधान किया जाय वह प्रत्यय और तद्धित अप्रत्यय कहा जाता है। एवंच सूत्रार्थ यह हुआ कि)—

जिसका विधान किया गया हो ऐसा 'अण्' (प्रत्याहार) और उदित (कु चु ड तु पु) अपने सवर्णके बोधक हों।

अत्राण्—केवल इसी (अणुदित्) सूत्रमें 'अण्' प्रत्याहार पर ('लण्' सूत्रस्थ) णकारसे समझना चाहिये।

दशानां संज्ञा । तथेकारोकारौ । ऋकारत्रिंशतः । एवं लृकारोऽपि । एचो द्वादशानाम् । अनुनासिकाननुनासिकभेदेन यवला द्विधा । तेनाननुनासिकास्ते द्वयोर्द्वयोः संज्ञा ॥ परः सन्निकर्षः संहिता । १ । ४ । १०९ । वर्णानामतिशयितः सन्निधिः संहितासंज्ञः स्यात् ॥ हलोऽनन्तराः संयोगः । १ । १ । ७ । अजिभरव्यवहिता हलः

(३) ह० अनुदा० अनु० । (४) ह० अनु० अननु० (५) ह० स्व० अ० । (६) ह० स्व० अननु० । (७) दीर्घ उ० अ० । (८) दी० उ० अननु० । (९) दी० अ० अनु० । (१०) दी० अ० अन० । (११) दी० स्व० अ० । (१२) दी० स्व० अन० । (१३) प्लुत उ० अ० । (१४) प्लु० उ० अन० । (१५) प्लु० अ० अ० । (१६) प्लु० अ० अन० । (१७) प्लु० स्व० अ० । (१८) प्लु० स्व० अननु० । इत्येतेषामित्यर्थः ॥ तथेति । अनया रीत्या इकार-उकारयोरपि बोध्यम् । ऋकार इति । अनेन प्रकारेण ऋकारस्य अष्टादश । लृकारस्य दीर्घाभावात्, लृकारदीर्घ-पटुक् विहाय द्वादश । ऋकारलृकारयोः सावर्ण्यात् मिलित्वा त्रिंशत् इति भावः ॥ एव-मिति । पूर्वोक्तप्रकारेणैव ॥ एच इति । द्वादशानां बोधकाः । तदेवम्-ए, ओ, ऐ, औ, इति प्रत्येकं द्वादश इति भावः । ननु स्थानप्रयत्नयोस्तुल्यत्वात् सावर्ण्येन ए ऐकारस्य, ओ औकारस्य बोधकस्तेन चतुर्विंशतेः संज्ञकः एकारः, एवमोकारः स्यादिति चेद्, न । 'एऔच्' इति पृथक्सूत्रत्वेन तयोः सावर्ण्याभावज्ञापकत्वात् । तेनेति । यवलानां प्रकारद्वयेन । परः सन्निकर्ष इति । परः अतिशयितः, सन्निकर्षः सामीप्यमर्धमात्राधिककालव्यवधानाभावः । अर्धमात्राकालव्यवधानस्य अवर्जनीयत्वात् । तदेतदभि-प्रेत्याह-अतिशयित इत्यादिना । संहितेति स्वभावसिद्धार्धमात्रातिरिक्तकालव्यवायशून्यः संहिता इति भावः । संयोग इति । स्वरसंज्ञकवर्णैर्व्यवधानशून्या हल्वर्णाः संयोगसंज्ञका इत्यर्थः । सुप्तिङिति । 'स्वौजसमौट्' इति सूत्रे सु इत्यारभ्य सुपः पकारेण प्रत्याहारः । न तु सप्तमीबहुवचनस्यैवात्र ग्रहणम्, व्याख्यानात् ॥ 'तिसस्त्रिं' इति सूत्रे

हरिकारिका—परेणैवेणग्रहाः सर्वे पूर्वैणैवाणग्रहा मताः ।

ऋतेऽणुदित्सवर्णस्येत्येतदेकं परेण तु ॥

कुचु—'कु चु उ तु पु' ये उदित कहलाते हैं ।

तदेवं—तस्मात् इस प्रकारसे यथा 'अ' अष्टादश (१८) का संज्ञाबोधक है तथा इकार, उकार भी अष्टादशका संज्ञाबोधक है । ऋकार (लृकार के सवर्ण होनेसे) तीसका संज्ञा बोधक है । एवं लृकार भी (ऋके सवर्ण होनेसे) तीसका संज्ञाबोधक है और एच् ('ए ओ ऐ औ') ह्रस्व न होनेसे बारहका संज्ञाबोधक है ।

अनुनासिक—अनुनासिक और अननुनासिक भेदसे 'य व ल' दो २ प्रकार के होते हैं । इसलिये अनुनासिक 'य व ल' अनुनासिक, निरनुनासिक दोनोंका संज्ञाबोधक है ।

परः सन्निकर्षः—वर्णोंकी अत्यन्त सन्निधिकी संहितासंज्ञा हो ।

हलोऽनन्तराः—'अच्' वर्णके व्यवधानसे रहित व्यंजन वर्णोंकी संयोगसंज्ञा हो ।

संयोगसंज्ञाः स्युः ॥ सुसिङन्तं पदम् । १।४।१४। सुवन्तं तिङन्तं च पदसंज्ञं स्यात् ॥
इति सन्ध्युपयोगि संज्ञाप्रकरणम् ॥ १ ॥

अथ अचसन्धिः

इको यणचि । ६। १। ७७। इकः स्थाने यण् स्यादचि संहितायां विषये ।
सुधी उपास्य इति स्थिते ॥ तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य । १।१।६६। सप्तमी-
ति इत्यारभ्य महिङो ङकारेण प्रत्याहारः । सुप् च तिङ् च सुसिङौ, तावन्ते यस्य
तत् सुसिङन्तं शब्दस्वरूपम् इति शब्दशास्त्रप्रस्तावाह्यते । अन्तशब्दश्च प्रत्येकं
सम्बध्यते तदेतदभिप्रेत्याह—सुवन्तामत्यादिना । इति संज्ञाप्रकरणम् ।

इकः स्थान इति । इक इति षष्ठी, 'षष्ठी स्थाने योगा' इति सूत्रेण स्थान इति
लभ्यते । स्थानञ्च प्रसङ्गः । तथाहि—इकामुच्चारणप्रसङ्गे यणामुच्चारणं कर्तव्य-
मित्यर्थः ॥ सुधी इति । ध्यै चिन्तायामिति धातोः 'ध्यायतेः सम्प्रसारणञ्च' इति क्पि
यकारस्य सम्प्रसारणे इकारे पूर्वरूपे 'हलश्च' इति दीर्घे धीशब्दो निष्पन्नः । शोभना
धीर्येपान्ते सुधियः । सुधीभिः उपास्यः सुध्युपास्यः ॥ अत्र सुधी उपास्य इति स्थिते ।
तस्मिन्निति निर्दिष्टे । तस्मिन्निति सूत्रगतसप्तम्यन्तस्यानुकरणम् । निर् इत्यस्य नैरन्तर्य-
मर्थः । दिशिरत्रोच्चारणार्थकः । तेनायमर्थः—अचि यण् भवतीत्युक्ते व्यवहितेऽव्यवहिते-

सुसिङन्तम्—सुवन्त और तिङन्तकी पदसंज्ञा हो ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें संज्ञाप्रकरण समाप्त हुआ ।

इको यणचि—'इक्' के स्थानमें 'यण्' आदेश हो 'अच्' परे रहने पर—संहिताके
विषयमें ।

नोटः—(क) 'इ' के बाद इभिन्न स्वर वर्ण रहने पर इके स्थानमें 'य्' होता है ।

(ख) 'उ' के बाद उभिन्न स्वर वर्ण रहने पर उके स्थानमें 'व्' होता है ।

(ग) 'ऋ' के बाद ऋभिन्न स्वर वर्ण रहने पर ऋके स्थानमें रेफ होता है
और वह पर वर्णसे युक्त हो जाता है ।

(घ) 'लृ' के बाद लृभिन्न स्वर वर्ण परे रहने पर लृके स्थानमें 'ल्' हो जाता है ।

संहिता विषय—संहिता संज्ञाविधायक सूत्र कह चुके हैं । वह संहिता सर्वत्र नित्य
होती है । केवल वाक्यमें वक्ताकी इच्छा पर रहती है । कहा भी है—

संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः । नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥
तस्मिन्निति—सप्तम्यन्त पदका उच्चारण करके विधीयमान जो कार्य वह वर्णान्तरसे
अव्यवहित पूर्वके स्थानमें हो ।

निर्देशेन विधीयमानं कार्यं वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य पूर्वस्य ज्ञेयम् ॥ स्थानेऽन्तर-
तमः । ११।५०। प्रसङ्गे सति सदृशतम आदेशः स्यात् । सुधूय उपास्य इति जाते ॥
अनचि च । ८।४।४७। अचः परस्य यरो द्वे वा स्तो न त्वचि । इति धस्य
द्वित्वम् ॥ झलां जश् झशि । ८।४।५३। झलां जश् स्यात् झशि परे । इति पूर्वध-
स्य दः ॥ संयोगान्तस्य लोपः । ८।२।२३। संयोगान्तं यत्पदं तस्य लोपः स्यात् ॥
अलोऽन्त्यस्य । ११।५२। षष्ठीनिर्दिष्टोऽन्त्यस्याल आदेशः स्यात् । इति यलोपे
प्राप्ते । (यणः प्रतिषेधो वाच्यः) । मुद्गुपास्यः । मद्भ्वरिः । धात्रंशः । लाकृतिः ॥

ऽप्यचि प्राप्तेऽव्यवहित एवेति नियम्यते । स्थानेऽन्तरतमः । स्थानं प्रसङ्ग इत्युक्तम् ।
अन्तरशब्दोऽत्र सदृशपर्यायः । अतिशयोऽन्तरः अन्तरतमः तदाह—प्रसङ्गे सतीत्या-
दिना । प्रसङ्गः शास्त्रप्रसक्तिः । अनचि च । ‘यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा’ इत्यतो
यरः इति वा इति चानुवर्तते । ‘अचो रहाभ्यां द्वे’ इत्यत अच इति द्वे इति चानुवर्तते ।
अनचि इति न पर्युदासः, तथासति अजिभन्ने हलीत्यर्थः स्यात् तदाह—अचः परस्येत्या-
दिना । संयोगान्तस्य । ‘पदस्य’ इत्यधिकृतम् । संयोगः अन्तो यस्येति विग्रहः । संयोगा-
न्तस्य पदस्य लोप इत्यन्वयः । अलोऽन्त्यस्य । अलिति प्रत्याहारः । अल इति षष्ठ्यन्त-
म् । ‘षष्ठी स्थाने योगा’ इत्यतः षष्ठी स्थाने इत्यनुवर्तते । तच्च षष्ठीति प्रथमान्ततृती-
यान्ततया विपरिणम्यते । निर्दिष्टस्येति शेषः । स्थाने इत्यनन्तरं विधीयमान इति
शेषः । स्थाने विधीयमान आदेशः षष्ठीनिर्दिष्टस्य यः अन्त्यः अल् तस्य स्यादित्यर्थः ।
तदाह—षष्ठीत्यादिना । यणः प्रतिषेध इति । यणः संयोगान्तलोपप्रतिषेधो वक्तव्य इत्यर्थः ।
‘इको यणचि’ इति सूत्रेण अजव्यवहितपूर्वं इक्-धकारोत्तरवर्ती ईः तस्य स्थाने ‘स्था-
नेऽन्तरतमः’ इति सूत्रेण ‘य्’ न तु ‘वरलाः’ आन्तरतम्याभावात् । ‘सुधूय उपास्य’ इति
जाते ‘अनचि च’ इति सूत्रेण धकारस्य द्वित्वे ‘झलां जश् झशि’ इति सूत्रेण प्रथमध-

स्थाने—प्रसङ्ग रहनेपर सदृशतम आदेश हो—अर्थात् एक स्थानीके स्थान पर एक ही
साथ कई आदेशोंकी प्राप्ति होनेसे उनमें जो सबसे अधिक स्थानीके सदृश हो वही आदेश हो ।

अनचि च—अच्से परे यर्को विकल्पसे द्वित्व हो । परन्तु उसी यर्के परे यदि अच्
भी रहे तो द्वित्व नहीं हो ।

झलां जश्—झलोंके स्थानमें जश् आदेश हो झश् परे रहने पर ।

संयोगान्तस्य—जिस पदके अन्तमें संयोग (संयुक्त अक्षर) हो उसके अन्त्य अक्षरका
लोप हो ।

अलोऽन्त्यस्य—षष्ठीनिर्देशसे विधीयमान जो कार्य वह अन्त्य ‘अल्’ के स्थानमें हो—
अर्थात् षष्ठ्यन्तका निर्देश कर जहाँ (जिस उदाहरणमें) आदेशका विधान किया गया हो
वहाँ अन्त्य वर्णको आदेश हो ।

एचोऽयवायावः । ६।१।७८। एचः क्रमात् अय्, अव्, आय्, आव्, एते स्युरचि ॥ यथासंख्यमनुदेशः समानाम् । १।३।१०। समसम्बन्धी विधिर्यथा-संख्यं स्यात् । हरये । विष्णवे । नायकः । पावकः ॥ वान्तो यि प्रत्यये । ६।१।७९।

कारस्य दकारे सुद्धय् उपास्य इत्यवस्थायां 'संयोगान्तस्य लोपः' इति सूत्रेण यकारस्य लोपे प्राप्ते 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' इति वार्तिकेन यलोपनिषेधे सति सुद्धयुपास्यः इति रूपं सिद्धम् ॥ मद्ध्वरिः इति ॥ मधोः अरिः मध्वरिः । मधुनामकदैत्यस्य अरिः शत्रुः श्रीकृष्ण इत्यर्थः ॥ अत्र साध्यते-मधु-अरिः इति स्थिते 'इको यणचि' इति सूत्रेण अजव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट इक् धकारोत्तरवर्ती 'उः' तस्य स्थाने 'स्थानेऽन्तरतमः' इति परिभाषया (वकारस्य दन्त्योष्ठ्यम्-उपपध्मानीयानामोष्ठौ उभयोः उकारवकारयोः स्थानसाम्यात्) 'व्' जाते 'मध् व् अरिः' इत्यवस्थायाम् 'अनचि च' इत्यनेन द्वित्वे 'झलां जश् झशि' इत्यनेन धकारस्य दकारे 'संयोगान्तस्य लोपः' इति सूत्रेण लोपे प्राप्ते 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' इत्यनेन निषिद्धे सति मद्ध्वरिः इति रूपं सिद्धम् । धात्त्रंशः इति । धातुः अंशः धात्त्रंशः । धातु अंशः इति स्थिते 'इको यणचि' इत्यनेन ऋ स्थाने स्थानेऽन्तरतमपरिभाषया र् कृतः । अत्रापि 'संयोगान्तस्य लोपः' इति लोपे प्राप्ते 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' इत्यनेन निषिद्धे 'धात्त्रंशः' इति सिद्धम्भवति ॥ लाकृतिरिति । लुरिव आकृतिः यस्य स इति विग्रह इति भावः । लृ-आकृतिः इत्यत्र 'इको यणचि' इत्यनेन स्थानत आन्तर्यात् लृ इत्यस्य स्थाने ल् इति, अत्रापि लोपे प्राप्ते निषिद्धे सति अज्झीनं परेण संयोज्यं लाकृतिः इति रूपं सिद्धम् ॥ एचोऽयवायावः । अय् च अव् च आय् च आव् चेति विग्रहः । 'इको यणचि' इत्यतोऽचीत्यनुवर्तते । यथासंख्यपरिभाषया एकारस्य अय् ओकारस्य अव् ऐकारस्य आय् औकारस्य आव् इति लभ्यते । तदाह-रचः क्रमादिति । समसम्बन्धीति ॥ समानामिति यदि कर्मणि षष्ठी तर्हि स्थान्यादिभिः समसंख्यानां यत्र विधानं तत्रैव यथासंख्यमित्यस्य प्रवृत्तिः, यथा-एचोऽयवायावः' इत्यत्र; न तु 'समूलाकृतजीवेषु हन्-कृज्-ग्रहः' इत्यत्र । तत्र विधेयस्य 'णमुल्' इत्यस्य एकत्वात् । अतः समानामिति सम्बन्धे षष्ठी इति भावः ॥ हरये इति ॥ हरे-ए इति स्थिते 'एचोऽयवायावः' इत्यनेन

यणः—'संयोगान्तस्य लोपः' इति सूत्रकां यह वार्तिक ई, अतः इसका अर्थ यह होता है कि-संयोगान्त पदके अन्तिम वर्ण यणके लोपका प्रतिषेध कहना चाहिये—अर्थात् उसका लोप नहीं हो ।

एचो—एच्के परे अच् रहे तो एच्के स्थानमें क्रमसे अय्, अव्, आय्, आव् आदेश हो ।

यथासंख्य—समसंबन्धी विधि संख्यानुसार हो ।

नोटः—स्थानी और आदेशकी समान संख्या होने पर आदेशकी प्रवृत्ति क्रमसे अर्थात् प्रथमको प्रथम, द्वितीयको द्वितीय, तृतीयको तृतीय इस प्रकारसे होती है ।
वान्तो—यकारादि प्रत्ययके परे 'ओत्-औत्' को वान्त (अव्-आव्) आदेश हो ।

यादौ प्रत्यये परे ओदौतोरचावौ स्तः । गव्यम् । नाव्यम् । (अध्वपरिमाणे च) । गव्यूतिः ॥ धातोस्तन्निमित्तस्यैव । ६।१।८०। यादौ प्रत्यये परे धातोरेचश्चेद्वान्ता-देशस्तर्हि तन्निमित्तस्यैव नान्यस्य । लव्यम् । अवश्यलाव्यम् । तन्निमित्तस्य किम् ।

एचप्रत्याहारघटको हरे इत्यत्र रेफोत्तरवर्त्ती एकारः तस्य स्थाने अय् आदेशो जातः अचप्रत्याहारघटक एकारे परे । तेन 'हरय् ए' इति जाते अज्झीनं परेण संयोज्यम् , हरये इति सिद्धम् ॥ विष्णवे इति । विष्णो ए इति स्थिते 'एचोऽयवायावः' इत्यनेन अचि एकारे परे 'विष्णो' अत्रस्थो य ओकारः तस्य स्थाने अव् आदेशः कृतः ॥ विष्णव् ए इति जाते मिलित्वा विष्णवे इति रूपं सिद्धम् ॥ नायक इति । नै-अकः अत्र आय् आदेशः, पौ-अकः अत्र आव् आदेशः 'एचोऽयवायावः' इत्यनेन इति भावः ॥ यकारादिविति । 'यस्मिन्विधित्तदादावल्ग्रहणे' इति परिभाषया तदादिलाभेन यकारादौ इत्यर्थस्य लाभ इति भावः ॥ गव्यमिति । गोशब्दात् 'गोपयसोर्यत्' इत्यनेन विकारार्थं यति प्रत्यये रूपम् ॥ अत्र गो-यम् इति स्थितौ ओकारस्य अचपरकत्वाभावात् 'एचोऽयवायावः' इत्यनेन अवादेशाग्राप्तौ 'वान्तो यि प्रत्यये' इत्यनेन यादि-प्रत्ययः-य इति, तस्मिन् परे 'अव्' आदेशे कृते गव्यम् इति रूपं सिद्धम् ॥ नाव्यमिति । 'नौ-यम्' इति स्थिते 'वान्तो यि प्रत्यये' इत्यनेन यकारादौ प्रत्यये परे आव् आदेशे कृते 'नाव्यम्' इति भवति । नावा तार्थं नाव्यमित्यर्थः ॥ अध्वपरिमाणे चेति ॥ मार्गपरिमाणे अर्थे गम्यमाने ओकारस्य स्थाने अव् आदेशो भवति यूतिशब्दे परे । यथा-गो-यूतिः इत्यत्र 'अध्वपरिमाणे च' इत्यनेन अवादेशेन गव्यूतिः इति रूपं सिद्धम् ॥ 'गव्यूतिः स्त्री क्रोशयुगम्' इत्यमरः । क्रोशयुगस्य संज्ञैवेति भावः । ननु ओयते औयत इत्यत्रापि ओकारस्य औकारस्य च 'वान्तो यि' इति वान्तादेशः स्यादित्याशङ्क्य 'वान्तो यि' इति सूत्रं नियमयति-धातोस्तन्निमित्तस्यैवेति । एच इति, वान्तो यि प्रत्यय, इति चानुवर्तते । सः यादिप्रत्ययः निमित्तं यस्य सः तन्निमित्तः । यादिप्रत्यये परे धातोरेचो भवन् वान्तादेशः यादिप्रत्ययनिमित्तकस्यैव एचो भवति नान्यस्येत्यर्थः । तदाह-यादौ प्रत्यय इत्यादिना । लव्यमिति । लृञ् छेदने । 'अचो यत्' इति यति 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इत्युकारस्य गुणः ओकारः, तस्य धात्ववयवत्वात् यादिप्रत्ययनिमित्तकत्वाच्च वान्तादेशः । अवश्यलाव्यमिति । 'ओरावश्यकै' इति लृञो ण्यत् । 'अचो ङिति' इति इत्युकारस्य वृद्धिः औकारः । अत्र औकारस्य धात्ववयवत्वात् यादिप्रत्ययनिमित्तकत्वाच्च वान्तादेशः । तन्निमित्तस्यैवेति किमिति ।

अध्व-अध्व-मार्ग, उसका परिमाण (नाप) वाच्य हो तो गोशब्दको यूति शब्दके परे वान्त आदेश हो ।

धातोः-यकारादि प्रत्ययके परे धातुसम्बन्धी एचको यदि वान्त आदेश हो तो यकारादि प्रत्ययनिमित्तक एचको ही हो-दूसरे को नहीं ।

श्रूयते । श्रूयत ॥ क्षय्यज्ययौ शक्यार्थे । ६।१।८१। यान्तोदेशनिपातनार्थमिदम् ।
क्षय्यम् । ज्ययम् । शक्यार्थे किम् । जेतुं जेतुं योग्यं जेत्यं पापं जेत्यं मनः ॥ क्रय्य-
स्तदर्थे । ६।१।८२। तस्मै प्रकृत्यर्थायेदं तदर्थम् । क्रेतारः क्रीणीयुरिति बुद्ध्या आपणो
प्रसारितं क्रय्यम् । क्रयमन्यत् । क्रयणार्हमित्यर्थः ॥ अदेङ्गुणः । १।१।२। अदेङ् च गुणसंज्ञः
स्यात् ॥ तपरस्तत्कालस्य । १।१।७०। तः परो यस्मात् तात्परो वा उच्चार्यमाणो
वर्णः समकालस्यैव संज्ञा स्यात् ॥ आद्गुणः । ६।१।८७। अवर्णादचि परे पूर्वपरयो-
रेको गुणादेशः स्यात् । उपेन्द्रः । रमेशः । गङ्गोदकम् ॥ उपदेशोऽजनुनासिक-

नियमस्य किं प्रयोजनमित्यर्थः । ओयत इति । आद्पूर्वाद् वेजः कर्मणि लट् ; यगात्मने-
पदे यजादित्वात्सम्प्रसारणे पूर्वरूपे 'अकृत्' इति दीर्घः । आद्गुणस्य परादिवद्भावेन
धातोरेच्चेऽपि यादिप्रत्ययनिमित्तकत्वं नास्तीति भावः । औयत इति । वेजः कर्मणि लङ्,
यगादि प्राग्वत् । 'आडजादीनाम्' इत्यादि 'आटश्च' इति वृद्धिः । क्षय्यमिति । 'शकि लिङ्
च' इति यत् चाकृत्याः । क्षेयमिति । 'अर्हे कृत्यतृचश्च' इति यत् । प्रकृत्यर्थायेति । प्रकृ-
त्यर्थो द्रव्यविनिमयः । क्रयमन्यदिति । गृहादौ भोजनाद्यर्थं संगृहीतं धान्यादीत्यर्थः ।
अदेङ् गुणः । संज्ञाप्रस्तावात् संज्ञेति लभ्यते । अच्च एङ् चेति समाहारद्वन्द्वः । तदाह-
अदेङ् चेत्यादिना । तः परः इति । तपरपदे बहुव्रीहितत्पुरुषसमासद्वयं व्याख्यानादतो
वृत्तावाह-यः परो यस्मात्तात्परश्चेति । आद्गुणः इति । 'इको यणचि' इत्यतो अचि इति
'एकः पूर्वपरयोः' इति सम्पूर्णसूत्रमनुवर्तते अत आह-यचि परे पूर्वपरयोरिति ॥ उपेन्द्र
इति । उप-इन्द्रः इति स्थिते अत्र 'आद्गुणः' इति सूत्रेण पूर्वपरयोः अकार-इकारयोः
स्थाने गुणसंज्ञकः कण्ठतालुस्थानकः एकारो जातः । तेन 'उपेन्द्रः' इति रूपं सिद्धम् ।
गङ्गोदकमिति ॥ गङ्गा-उदकम् इति स्थिते 'आद्गुणः' इत्यनेन सूत्रेण पूर्वपरयोः

क्षय्य—शक्यार्थमे क्षय्य—ज्यय निपातन हो ।

क्रय्य—ग्राहक खरीदे इस बुद्धिसे जो वस्तु बाजारमें फैलाकर रखी जाय, वह यदि
वाच्य हो तो 'क्रय्य' निपातन हो ।

अदेङ्—ह्रस्व अकार और ए-ओकी गुणसंज्ञा हो ।

तपरः—त रहे परमें अथवा तकार से पूर्व उच्चार्यमाण जो स्वर वर्ण वह अपने सम-
कालका संज्ञाबोधक हो ।

नोटः—इस व्युत्पत्तिसे 'तः परो यस्मात्' तपरः और 'तात्परः' तपरः दो अर्थ निकलते, हैं
अतः वृत्तिमें 'वा' कहा गया है । दोनोंका उदाहरण इसी सूत्रमें 'अत्-एङ्' है । यहाँ अकारसे
परे तकार है अतः ह्रस्व 'अ' की तथा तकारसे परे 'एङ्' है अतः एङ्से 'ए ओ' मात्रकी गुण
संज्ञा होती है—न कि आ और ऐ औ की ।

आद्गुणः—अवर्ण से परे अच् हो तो पूर्व-परके स्थानमें एक गुण आदेश हो ।

उपदेशे—उपदेशावस्थामें अनुनासिकविशिष्ट जो अच् वह इत्संज्ञक हो ।

इत् । १।३।२। उपदेशेऽनुनासिकोऽजित्संज्ञः स्यात् । प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः ।
लण्सूत्रस्थावर्णेन सहोच्चार्यमाणो रेफो रलयोः संज्ञाः ॥ उरण् रपरः । १।१।५।१।
ऋ इति त्रिंशतः संज्ञेत्युक्तं तत्स्थाने योऽण् स रपरः सन्नेव प्रवर्तते । कृष्णद्धिः ।

आकार-उकारयोः स्थाने ओकारे कृते गङ्गोदकमिति सिद्धम् । उपदेशेऽजित् । उपशब्द
आद्यर्थकः । दिशिरुच्चारणक्रियायाम् । भावे व्रजिति भावः । एतच्च 'आदेच उप-
देशे' इत्यादिसूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । 'धातुसूत्रगणोणादिवाक्यलिङ्गानुशासनम् । आग-
मप्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्तिताः ॥' इति प्राचीनकारिका तु प्रौढमनोरमायां बहुधा
दूषिता । सूत्रे अजिति कुत्वाभावः आपः । अजित्संज्ञः स्यादिति विवरणे कुत्वाभावो-
ऽसंदेहार्थः । प्रतिज्ञेति । प्रतिज्ञायते इति प्रतिज्ञा । अनुनासिकस्य भावः आनुनासिक्यम् ।
प्रतिज्ञा आनुनासिक्यं येषान्ते प्रतिज्ञानुनासिक्याः । लण्सूत्रस्थेति । 'लण्' सूत्रे
तिष्ठतीति लण्सूत्रस्थः स चाऽसौ अवर्णश्च लण्सूत्रस्थावर्णः तत्र सहोच्चार्यमाणो
रेफः 'र' इत्येवंरूपः रेफलकारयोस्संज्ञेत्यर्थः । उरणिति । उः इति 'ऋ' इत्यस्य षष्ठ्ये-
कवचनम् । त्रिंशत इति । 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' इत्यनेनेति भावः । तत्स्थाने
इति । 'स्थानेऽन्तरतमः' इत्यतः स्थानेग्रहणमनुवर्तते । 'विधौ परिभाषोपतिष्ठते
नानुवादे' इति परिभाषया 'उरण् रपरः' इत्यत्र 'पृष्ठीस्थाने योगा' इति परिभाषा
नोपतिष्ठते इति भावः । रपरः सन्नेवेति । अत्र 'र' इति प्रत्याहारो ग्राह्यः । तेन रेफशि-
रस्कः लकारपरकश्च प्रवर्तते । कृष्णद्धिरिति । कृष्ण-ऋद्धिः इति स्थिते अत्र 'आद्-
गुणः' इति सूत्रेण कृष्ण इत्यस्य णकारोत्तरवर्त्ती अकारः तस्मात् अचि परे—
ऋकारे परे पूर्वपरयोः-अकारऋकारयोः स्थाने गुणे प्राप्ते-गुणसंज्ञकाश्च 'अदेङ्गुणः'

प्रतिज्ञा—पाणिनिके कहे हुये वर्णोंका अनुनासिक होना उनकी प्रतिज्ञा (सूत्रनिर्देश)
से जानना चाहिये ।

नोटः—('सु'का उकार और 'सुप्'का पकार अनुनासिक है, इसका निश्चय 'प्रत्ययः
परश्च' 'बहुषु बहुवचनन्', इत्यादि स्थलोंमें प्रथमैकवचनान्त और सप्तम्येकवचनान्त पद-
निर्देश से होता है ।

लण्सूत्रस्थ—'लण्' सूत्रस्थ जो अवर्ण, तत्सहित उच्चार्यमाण जो रेफ वह र-लका
संज्ञाबोधक हो ।

नोटः—हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः, लण्मध्ये त्वित्संज्ञकः, ऐसा कहा जा चुका है ।
अतः हयवरट् सूत्रके 'र' तथा 'लण्' सूत्रके लकारोत्तर 'अ' को लेकर र् + अ = 'र' प्रत्याहार
बनता है । यह भी अणादि प्रत्याहारके समान ही अपने मध्य वर्ण लकारका तथा अपना
भी बोधक है । इसीलिये आगेके सूत्रमें रपरसे लपर भी लिया जायगा ।

उरण्—(तीस प्रकारके संज्ञाप्रकरणोक्त) ऋ ल के स्थानमें जायमान जो अण्
(आदेश) वह यथासंख्य रपर और लपर होकर ही प्रवृत्त हो ।

२ म० कौ०

तवल्कारः ॥ लोपः शाकल्यस्य । ८ । ३ । १९ । अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोर्यवयोर्वा लोपोऽशि परे ॥ पूर्वत्रासिद्धम् । ८ । २ । १ । अधिकारोऽयम् । तेन सपादसप्ताध्यायी प्रति त्रिपाद्यसिद्धा त्रिपाद्यामपि पूर्वं प्रति परं शास्त्रमसिद्धम् । हर इह । विष्ण इह ।

इति सूत्रेण अ ए ओ इति । एपां त्रयाणां मध्ये कः कर्तव्यः ? एकारस्य तु कण्ठतालु-स्थानमोकारस्य कण्ठ-ओष्ठस्थानं एतौ ए ओ इति न भवतः आन्तरतम्याभावात् । किन्तु परिशेषात् अ एव भवति । स च 'उरण् रपरः' इति सूत्रेण रपरः (रेफशिर-स्कः) सन् भवति । तेन कृष्णर्द्धिः इति रूपम् ॥ तवल्कार इति । 'तव-लृकारः' इति स्थिते अत्र 'आद्गुणः' इति सूत्रेण वकारोत्तरवर्ती अकारः, तस्य लृकारस्य च उभयोः स्थाने अरूपगुणे 'उरण् रपरः' इति सूत्रेण लपरे च कृते तवल्कारः इति रूपम् भवति ॥ लोपः शाकल्यस्येति । 'भो भगो' इत्यतः अपूर्वस्येति अशीति चानुवर्तते । 'व्योर्लघुप्रयत्न' इत्यतः व्योरित्यनुवर्तते अत आह-अवर्णोति । पूर्वत्रासिद्धमिति । पाणिनिप्रणीता अष्टाध्यायी तत्र अष्टमाध्याये द्वितीयपादस्येदमादिमं सूत्रम् । इतः प्राक्तनं कृत्स्नं सूत्रजालं सपादसप्ताध्यायीति व्यवहियते । उपरितनन्तु कृत्स्नं सूत्रजालं त्रिपादीति व्यवहियते इति भावः ॥ हर इह इति । हरे इह इति स्थिते 'एचोऽयवा-यावः' इत्यनेन अयादेशे कृते 'हरय् इह' इति दशायाम् 'लोपः शाकल्यस्य' इत्यनेन अवर्णपूर्वकपदान्ते वर्तमानस्य 'य्' इत्यस्य विकल्पेन लोपः अचि 'इ' इति परे । तेन हर इह इति जाते । अत्र शङ्कते-लोपानन्तरम् 'हर इह' इत्यत्र 'आद्गुणः' इत्यनेन गुणः कथं न भवति ? उत्तरम्-'पूर्वत्रासिद्धम्' इत्यनेन सूत्रेण सपादसप्ताध्या-यीस्थ 'आद्गुणः' इति सूत्रदृष्ट्या त्रैपादिको 'लोपः शाकल्यस्य' इति लोपोऽसिद्धः । तत्र यलोपे जातेऽपि यलोपोऽस्तीति भावनया 'आद्गुणः' इति सूत्रार्थो न घटते इति भावः । लोपाभावपक्षे-'हरयिह' इति । एवमेव 'विष्ण इह,

लोपः—अवर्ण पूर्वक पदान्त यकार-वकार का लोप हो, विकल्पसे, अश्के परे ।

नोटः—अकारभिन्न स्वर वर्ण परे रहनेपर पदके अन्तमें विद्यमान 'एङ्'के स्थानमें और सामान्यतया स्वर वर्ण परे रहनेपर 'एच्'के स्थानमें कमसे अय्, अव्, आय्, आव्, होने पर यकार-वकार का विकल्पसे लोप होता है और लोप होनेपर पुनः स्वरसन्धि नहीं होती ।

पूर्वत्रा—सपादसप्ताध्यायीस्थ सूत्र (शास्त्र) के प्रति त्रिपादीस्थ सूत्र असिद्ध हो और त्रिपादीमें भी पूर्वके प्रति पर सूत्र असिद्ध हो ।

नोटः—प्रथमसे अष्टम अध्यायके प्रथम पाद तक सपादसप्ताध्यायी और अष्टम अध्यायके द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ पाद मात्र त्रिपादी हैं ।

हरयिह । विष्णुविह ॥ वृद्धिरादैच् । १।१।१। आदैच् वृद्धिसंज्ञः स्यात् । वृद्धि-
रेचि । ६।१।८८। आदेचि परे वृद्धिरेकादेशः । गुणापवादः । कृष्णैकत्वम् । गङ्गौघः ।
देवैश्वर्यम् । कृष्णौत्कण्ठ्यम् ॥ एत्येधत्यूठ्सु । ६।१।८९। अवर्णादेजाद्योरेत्येधत्यो-

विष्णुविह' इत्यत्रापि बोध्यम् । वृद्धिरादैच् । आच्च ऐच्चेति इतरेतरयोगद्वन्द्वः ।
'सुपां सुलुक्' इति औङः सुलुङ्वा । यद्वा समाहारद्वन्द्वः । वृद्धिरेचि । 'आद्गुणः'
इत्यतः आदिति पञ्चम्यन्तमनुवर्तते । 'एकः पूर्वपरयोः' इत्यधिकृतम् । तदाह—
आदेचीत्यादिना । गुणापवाद इति । 'आद्गुणः' इति प्रासवेतदारम्भादिति भावः ।
कृष्णैकत्वमिति । 'कृष्ण-एकत्वम्' इति स्थिते अत्र 'वृद्धिरेचि' इत्यनेन अवर्णात्-कृष्ण-
घटकणकारोत्तरवर्त्ति-अवर्णात्, एचि—एचप्रत्याहारघटक-एकारे—'एकत्वम्' इति
रूपस्थाद्यैकारे परे पूर्वपरयोः—'अ-ए' इत्यत्र वृद्धिसंज्ञकः—'वृद्धिरादैच्' इति सूत्रेण
वृद्धिसंज्ञकेषु 'आ ऐ औ' इत्येतेषु 'स्थानेऽन्तरतमः' इत्यनेन कण्ठस्थानिकाकारस्य
कण्ठतालुस्थानीयैकारस्य च स्थाने कण्ठतालुसंज्ञकः आन्तरतम्य ऐ आदेशो जातः,
तेन कृष्णैकत्वमिति सिद्धम् । अनेनैव प्रकारेण गङ्गौघः, देवैश्वर्यम्, कृष्णौत्कण्ठ्यम्
इति बोध्यम् । सङ्क्षेपस्तु गङ्गा-ओघः इति स्थिते अत्र 'वृद्धिरादैच्' इति सूत्रेण पूर्व-
परयोः आकारस्य ओकारस्य च स्थाने वृद्धिसंज्ञकः आन्तरतम्य औ आदेशः । तेन
गङ्गौघः इति जायते । 'देव-ऐश्वर्यम्' इत्यत्र पूर्वपरयोः स्थाने ऐ आदेशो 'देवैश्वर्यम्'
इति । कृष्ण-औत्कण्ठ्यम् इति स्थिते अत्र पूर्वपरयोः स्थाने औ आदेशो 'कृष्णौत्कण्ठ्य-
म्' इति सिद्धम्भवति ॥ एत्येधत्यूठ्सु । एतिश्च एधतिश्च ऊठ् चेति विग्रहः । एतीति
एधतीति च 'इक्षितपौ धातुनिर्देशः' इति शितपा निर्देशः । इण् गताविति, एध
वृद्धाविति च धातू विवक्षितौ । एचीत्यनुवर्तते । 'यस्मिन्विधिः' इति तदादिग्रहणम् ।
एजादाविति लभ्यते । तच्च एत्येधत्योरेव विशेषणम् । न तु ऊठः असंभवात् । 'एकः
पूर्वपरयोः' इत्यधिकृतम् । 'आद्गुणः' इत्यतः आदिति पञ्चम्यन्तमनुवर्तते । तदाह—

वृद्धिरादैच्—आत् (आ), ऐच् (ऐ औ) की वृद्धिसंज्ञा हो ।

वृद्धिरेचि—अवर्णसे परे 'एच्' हो तो पूर्व-परके स्थानमें वृद्धिरूप एक आदेश हो ।

गुणापवादः—यह सूत्र गुणका अपवादक है ।

नोटः—जहां २ वृद्धि की प्राप्ति होती है वहाँ २ 'आद्गुणः' की भी प्राप्ति होती है ऐसी
स्थिति में यदि गुण हो जाय तो वृद्धिविधान व्यर्थ हो जायगा । गुणविधान 'उपेन्द्रः' में
चरितार्थ है, इसलिये गुणका अपवाद 'वृद्धिरेचि' सूत्र हुआ । 'निरवकाशो विधि-
रपवादः' ।

एत्ये—अवर्णसे एजादि इण् धातु (एति), एध धातु (एधति) और ऊठ् परे हो तो
पूर्व-परके स्थानमें वृद्धिरूप एक आदेश हो ।

रुठि च परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । पररूपगुणापवादः । उपैति । उपैधते । प्रष्टौहः । एजाद्योः किम् । उपेतः । मा भवान्प्रेदिधत् । (स्वादीरेरिणोः) स्वैरम् । स्वैरी । स्वैरिणी । (अक्षादूहिन्यामुपसंख्यानम्) । अक्षौहिणी सेना । (प्रादूहोढोढये-वैष्येषु) प्रौहः । प्रौढः । प्रौढिः । प्रैषः । प्रैष्यः । (ऋते च तृतीयासमासे) ।

अवर्णादित्यादिना । उपैतीति । उप-एति इति स्थिते अत्र 'एत्येधत्यूठ्सु' इत्यनेन अवर्णादेजादि इण् धातु-एध धातु-ऊठ्सु परेषु पूर्वपरयोः स्थाने वृद्धिरूपैकादेशो भवतीत्यर्थकेन, अवर्णात्-उप इत्यत्र पकारोत्तरवर्त्ति-अवर्णात्, एजादिः इण् धातुः—एति इति, तत्र परे पूर्वपरयोः—'अ-ए' इत्यत्र वृद्धिसंज्ञक आन्तरतम्य ऐ आदेशो जातः, तेन उपैति इति भवति । अत्र 'एङि पररूपम्' इत्यनेन पररूपस्य प्राप्तिसिद्धत्वात्, पं तत्सूत्रमपवादत्वात् 'एत्येधत्यूठ्सु' इत्यनेन बाध्यते । एवम्—'उप एधते' इति स्थितौ 'एत्येधत्यूठ्सु' इत्यनेन वृद्धौ सत्याम् 'उपैधते' इति रूपम् । 'प्रष्ट-ऊह' इति स्थिते अत्र 'आद्गुणः' इत्यनेन गुणे प्राप्ते 'एत्येधत्यूठ्सु' इत्यनेन तं प्रबाध्य वृद्धौ सत्यां रूपम् । 'उप-इतः, मा भवान् प्र इदिधत्' इत्यत्र एजादिपरत्वाभावाच्च वृद्धिः, किन्तु 'आद्गुणः' इत्यनेन गुणे रूपम्—'उपेतः' इति, 'प्रेदिधत्' इति च । अक्षौहिणीति अत्र अक्ष-ऊहिनीति दशायाम् 'आद्गुणः' इत्यनेन गुणे प्राप्ते 'अक्ष-दूहिन्यामुपसंख्यानम्' 'अक्षशब्दादूहिनीशब्दे परे वृद्धिः स्यात्' इत्यर्थकवार्तिकेन वृद्धौ—'अक्षौहिणी' इति । प्रादूहोढेति । प्रशब्दात् ऊह-ऊढ-ऊढि-एष-एष्यशब्दे परे पूर्वपरयोः स्थाने वृद्धिरूपैकादेशो भवति । तथाहि—प्र-ऊहः, प्र-ऊढः, प्र-ऊढिः, इत्यत्र पूर्वपरयोः स्थाने आन्तरतमो वृद्धिसंज्ञक औकारो जातस्तेन प्रौहः, प्रौढः, प्रौढिः, इति । प्र-एषः, प्र-एष्यः, इत्यत्र वृद्धिसंज्ञक आन्तरतम्य ऐ आदेशः । तेन प्रैषः, प्रैष्यः इति रूपम् । अत्र पूर्वोक्तप्रत्यये 'आद्गुणः' इत्यस्य; प्र-एषः, प्र-एष्यः इत्यत्र च 'एङि पररूपम्' इत्यस्य प्राप्तिसिद्धत्वात्, तस्य बाधनाय 'प्रादूहोढः' इति वार्तिकमिति भावः । ऋते चेति । तृतीयासमासघटकावर्णात् ऋतशब्दे परे पूर्वपरयोः स्थाने

पररूप—यह सूत्र 'एङि पररूपम्' और 'आद्गुणः' का अपवादक है ।

स्वादी—स्वशब्दावयव अवर्णसे पर ईर और ईरिन् शब्दावयव अच् हो तो पूर्व-पर के स्थानमें वृद्धिरूप एकादेश हो ।

अक्षा—अक्षशब्दावयव अवर्णसे पर ऊहिनीशब्दावयव 'अच्' हो तो पूर्व-परके स्थानमें वृद्धिरूप एकादेश हो । (यह सूत्र गुणका अपवादक है)

प्रादू—प्रशब्दावयव अवर्णसे पर ऊह, ऊढ, ऊढि, एष, एष्य-शब्दावयव अच् परमें हो तो पूर्व-परके स्थानमें वृद्धिरूप एकादेश हो । (यह सूत्र गुण और पररूपका बाधक है)

ऋते च—अवर्णसे ऋतशब्दावयव अच् परमें हो तो पूर्व-परके स्थानमें वृद्धिरूप एक आदेश हो—तृतीया समासमें । (यह गुणका बाधक है)

मुखेन ऋतः सुखार्तः । तृतीयेति क्रिम् । परमर्तः । (प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णद-
शानामृणे) । प्रार्णमित्यादि ॥ उपसर्गाः क्रियायोगे । १।४।५९। प्रादयः क्रियायोगे
उपसर्गसंज्ञाः स्युः । प्र । परा । अप । सम् । अनु । अव । निस् । निर् । दुस् । दुर् ।
वि । आङ् । नि । अधि । अपि । अति । सु । उत् । अभि । प्रति । परि । उप ।
एते प्रादयः ॥ भूवादयो धातवः । १।३।१। क्रियावाचिनो भवादयो धातुसंज्ञाः
स्युः ॥ उपसर्गादिति धातौ । ६।१।९१। अवर्णान्तादुपसर्गाद्विकारादौ धातौ परे
वृद्धिरेकादेशः स्यात् । प्राच्छति ॥ वा सुप्यापिशलेः । ६।१।९२। आदुपसर्गा-

वृद्धिरित्यर्थः । 'सुख-ऋतः' इति स्थिते अवर्णात्-सुख इत्यत्र खकारोत्तरवर्ति-अवर्णात्
ऋतशब्दे परे पूर्वपरयोः 'अ ऋ' इत्यत्र वृद्धिसंज्ञके आकारे 'उरण् रपरः' इत्यनेन
रपरे सति प्रवृत्ते 'सुखार्तः' इति सिद्धम् । परमर्त इति । 'परम ऋतः' इति स्थितेऽत्र
तृतीयासमासाभावात् न वृद्धिः किन्तु 'आद्गुणः' इति गुणे रपरे च रूपम् । प्रवत्सतरेति ।
प्र-वत्सतर-कम्बल-वसन-ऋण-दश-शब्दघटकाकाराद् ऋणशब्दे परे पूर्वपरयोः स्थाने
वृद्धिरूपैकादेशो भवतीत्यर्थः । प्र-ऋणं, वत्सतर-ऋणं, कम्बल-ऋणं, वसन-ऋणम्,
ऋण-ऋणं, दश-ऋणमिति स्थिते पूर्वपरयोः स्थाने आकाररूपवृद्धौ रपरे च प्रार्णम्,
वत्सतरार्णम्, कम्बलार्णम्, वसनार्णम्, ऋणार्णम्, दशार्णम् इति भवन्तीत्यर्थः । उप-
सर्गाः इति । क्रियाया अन्वये सतीत्यर्थः । भूवादय इति । भूश्च वाश्च भूवौ । आदिश्च आदिश्च
आदी । भूवौ आदी येषान्त इति विग्रहः । भूप्रभृतयो वासदृशा ये, ते धातवः इत्यर्थः ।
उपसर्गादिति धातौ । 'आद्गुणः' इत्यतः पञ्चम्यन्तस्याऽऽतोऽनुवर्तनात्तस्य च विशेषणत्वे-
न तदन्तविधौ अकारान्तात् इत्युपलब्धिः । ऋतीति तु यस्मिन्विधिरिति धातोर्विशेषणं
तेन च 'ऋकारात्' इत्युपस्थितिः । 'वृद्धिरेचि' इत्यतो वृद्धिरिति अनुवृत्तिः । 'एकः
पूर्वपरयोः' इत्यधिकारस्याऽधिकृतत्वादेकादेश इत्यस्य लाभः । तेन अवर्णान्तादुपस-
र्गाद्विकारादौ धातौ परे वृद्धिरेकादेश इति फलितोऽर्थः । प्राच्छतीति । 'प्र ऋच्छति' इति
स्थितेऽत्र ऋच्छतीत्यस्य क्रियावाचकत्वाद् 'भूवादयो धातवः' इत्यनेन धातुसंज्ञायाम्

प्रवत्सत—प्रशब्दावयव, वत्सतरशब्दावयव, कम्बलशब्दावयव, वसनशब्दावयव, ऋण-
शब्दावयव, दशशब्दावयव-अवर्णसे परे ऋणशब्दावयव अच् हो तो पूर्व-परके स्थानमें वृद्धि-
रूप एकादेश हो । (यह गुणका वाचक है)

उपसर्गाः—क्रियाके योगमें प्रादिकी उपसर्गसंज्ञा हो । (प्रादि २२ हैं)

भूवादयो—क्रियावाचक भू आदिकी धातुसंज्ञा हो ।

उपसर्गा—अवर्णान्त उपसर्गसे ऋकारादि धात्ववयव अच् पर में हो तो पूर्व-परके स्थान
में वृद्धिरूप एकादेश हो ।

वा सुप्या—अवर्णान्त उपसर्गसे ऋकारादि सुब्धातु (नामधातु) पर में हो तो वृद्धि-
रूप एकादेश हो—विकल्पसे ।

हकारादौ सुब्धातौ परे वृद्धिर्वा । आपिशलिग्रहणं पूजार्थम् ॥ अचो रहाभ्यां द्वे । ८।४।४६। अचः पराभ्यां रेफहकाराभ्यां परस्य यरो द्वे वा स्तः । इति प्राप्ते ॥ शरोऽचि । ८।४।४९। द्वे न । प्रार्षभीयति । प्रर्षभीयति ॥ एङि पररूपम् । ६।१।९४। आदुपसर्गादेङादौ धातौ परे पररूपमेकादेशः । प्रेजते । उपोषति ॥ अचोऽन्त्यादि टि । १।१।६४। अचां मध्ये योऽन्त्यः स आदिर्यस्य तद्विसंज्ञं स्यात् ।

‘प्र’ इत्यस्य क्रियायोगात् ‘उपसर्गाः क्रियायोगे’ इत्यनेन उपसर्गसंज्ञायाम् ‘उपसर्गादिति धातौ’ इत्यनेन पूर्वपरयोः स्थाने आरूपवृद्धौ रपरे च प्राच्छतीति सिद्ध्यति । वा सुपीति ! ‘उपसर्गादिति धाता’ विति पूर्वसूत्रं सर्वमनुवर्तते । ‘आद्गुणः’ इत्यत आदिति ‘वृद्धिरेचि’ इत्यतो वृद्धिरिति चानुवर्तते । आदित्यस्योपसर्गस्य विशेषणत्वेन तदन्तविधिः । प्रत्ययग्रहणेन तदन्तानां ग्रहणात् सुवित्यनेन सुबन्तप्रकृतिको धातुरिति विवक्ष्यते । अचो रहाभ्यामिति । ‘यरोऽनुनासिक’ इत्यतो यर् इत्यनुवर्तते । अच इति दिग्योरो पञ्चमी । अन्यतरत् स्पष्टमेव । शरोऽचि । अचि परे शरो न द्वित्वमित्यर्थः । प्रार्षभीयति । ऋषभमात्मन इच्छतीत्यर्थे ‘सुप आत्मनः क्यच्’ इति क्यचि ‘क्यचि च’ इति सूत्रेणोत्वे लटि टिपि शपि पररूपे ‘ऋषभीयति’ इति रूपम् । तदनु ‘प्र+ऋषभीयति’ अत्रावस्थायां पूर्वसूत्रेण वृद्धौ प्राप्तायां ‘वा सुप्या’ इत्यादिना वैकल्पिकवृद्धौ ‘उरण् रपरः’ इति रपरत्वे ‘प्रार्षभीयति’ इत्यस्य सिद्धिः । वृद्धयभावे गुणे रपरत्वे ‘प्रर्षभीयति’ इत्यपि साधु । अत्राचः परो रकारः तत्परो यर् षकारस्तस्य द्वित्वे प्राप्ते ‘शरोऽचि’ इति निषेधान्न भवतीति समाधानम् । एङि पररूपम् । ‘उपसर्गात्’ इति ‘धातौ’ इति चानुवर्तते । आदित्यस्य, उपसर्गादित्यनेन विशेषणत्वात्तदन्तविधिः । यस्मिन्विधिरिति परिभाषाबलात्तदादिलाभः । ‘एकः पूर्वपरयोः’ इत्यधिकारादेकादेशलाभः । एवं चावर्णान्तादुपसर्गादेङादौ धातौ परे पूर्वपरयोः पररूपैकादेश इति निर्णीतोऽर्थः । प्रेजते इति । ‘प्र-प्रेजते’ इति स्थिते अत्र ‘वृद्धिरादैच्’ इत्यनेन वृद्धौ प्राप्तायां तां प्रवाच्य ‘एङि पररूपम्’ इत्यनेन पूर्वपरयोः स्थाने पररूपैकादेशे ‘ए’ इत्याकारे कृते ‘प्रेजते’ इति रूपम् । एवम् ‘उप-उपोषति’ इत्यत्रापि पूर्वपरयोः स्थाने पररूपे सति ‘उपोषति’ इति रूपं सिद्धमभवति । अचोऽन्त्यादीति । अच इति निर्धारणे षष्ठी । अन्ते भव अन्त्यः ।

अचो रहा—अच्से पर जो रेफ—हकार उससे पर जो यर् उसको द्वित्व हो—विकल्पसे ।

शरोऽचि—अच्के परे शर्को द्वित्व नहीं हो ।

एङि—अवर्णान्त उपसर्गसे एङादि धात्ववयव अच् परमें हो तो पूर्व—परके स्थानमें पररूप एकादेश हो ।

नोटः—पररूप होनेपर पूर्व वर्णका पर वर्णके समान रूप हो, याने पूर्व वर्ण (अ) का दर्शनाभाव होजाय ।

अचो—अचोंके मध्यमें जो अन्त्य अच् वह है आदिमें जिसके उस समुदायकी टिसंज्ञा हो ।

(शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्) तच्च टेः । शकन्धुः । कर्कन्धुः । कुलटा ।
सीमन्तः केशवेशे । सीमान्तोऽन्यः । मनीषा । हलीषा । लाङ्गलीषा । पतञ्जलिः ।
सारङ्गः पशुपक्षिणोः । साराङ्गोऽन्यः । आकृतिगणोऽयम् । (एवे चानियोगे) । केव

अन्य आदिर्यस्य तदन्त्यादीति विग्रहः । 'शकन्ध्वादिष्विति' । शकन्ध्वादिषु विषये
तत्सिद्ध्यर्थं पूर्वपरयोः पररूपमित्यर्थः । तच्च टेः । तत्पररूपं टेर्भवतीत्यर्थः ।
शकन्धुरिति । 'शक-अन्धुः' इति स्थिते अत्र 'अकः सवर्णे दीर्घः' इत्यनेन दीर्घे
प्राप्ते तं बाधित्वा 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' इत्यनेन पररूपे प्राप्ते तच्च
पररूपं टेः—टिसंज्ञकस्य भवति । टिसंज्ञा च 'अचोऽन्त्यादि टि' इत्यनेन ककारोत्तर-
वर्त्ति—अकारस्य भवति । एवञ्च 'शक-अन्धुः' इत्यत्र पूर्वपरयोः स्थाने पररूपे
सति 'शकन्धुः' इति भवतीति भावः । एवमेव 'कर्क-अन्धुः' इत्यत्र 'अचोऽन्त्यादि
टि' इत्यनेन टिसंज्ञायाम् 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' इत्यनेन पररूपे 'कर्कन्धुः'
इति भवति । 'मनस्-ईषा' इति स्थितेऽत्र 'अचोऽन्त्यादि टि' इत्यनेन सूत्रेण
'अस्' इत्यस्य टिसंज्ञायाम् पररूपे च 'मनीषा' इति सिद्ध्यति । 'मार्त-अण्डः'
इति स्थिते प्रकृतवार्तिकेन पररूपे 'मार्तण्डः' इति जायते । कुलटेति । कुलानाम्
अटेति विग्रहः । 'कुल+अटा' इति स्थिते 'शकन्ध्वादिषु' पाठात्पररूपे कुलटेति
सिद्धिः । कुलानि अटतीति तु न विग्रहः । तथा सति कर्मणि अण् भवेत्तेन च
'टिड्ढाणञ्' डीवापत्तिः । सीमन्त इति । केशवेशार्थे गम्ये 'सीमन्+अन्त' अत्रान्तः
पररूपं भवतीत्यर्थः । अन्यथा तु सीमान्त इति । हलीषा । हलस्येपेति विग्रहः । लाङ्ग-
लीषा । लाङ्गलस्येपेति विग्रहे पररूपम् । पतञ्जलिः । पतत्+अञ्जलिः इत्यवस्थायां
पररूपे रूपसिद्धिः । सारङ्ग इति । 'सार-अङ्ग' इत्यवस्थायां पशुपक्ष्यर्थे गम्ये पररूपं
भवतीति वार्तिकार्थः । एवे चेति । नियोगोऽवधारणम् । अवधारणत्वं चाऽन्ययोगव्य-
वस्थितित्वम् । केवेति । अत्रेति न निश्चिनुमः । 'क्व+एव' इति वृद्धौ ग्राह्यायां वार्तिक-

नोटः—'शक+अन्धुः' यहाँ पर 'शक' में जो ककारोत्तरवर्ती अकार है वह किसीके
आदिमें नहीं है । इसलिये व्यपदेशिवद्भावसे यहाँ 'अ'की टिसंज्ञा होगी । परन्तु 'मनस्+
ईषा' यहाँ पर मनस् में जो नकारोत्तरवर्ती 'अ' है, वह 'स्'के आदिमें है । अतः वहाँ 'अस्'
की टिसंज्ञा होगी ।

शकन्ध्वादिषु—शकन्ध्वादि गणपठित शब्दोंकी सिद्धिके लिए पूर्व-परके स्थानमें पर-
रूप एकादेश हो और वह पररूप टिको हो—ऐसा कहना चाहिये ।

सीमन्तः—केशका सन्निवेशविशेष वाच्य हो तो 'सीमन्तः' यह पररूपघटित निपातन हो ।

सारङ्गः—पशु-पक्षी वाच्य हो तो 'सारङ्गः' यह पररूपघटित निपातन हो ।

एवे—अवर्णसे पर 'एव' शब्द रहे तो पूर्व-परके स्थानमें पररूप एक आदेश हो,
अनिश्चय अर्थमें ।

भोक्ष्यसे । अनियोगे किम् । तवैव । (ओत्वोष्ठयोः समासे वा) । स्थूलोतुः ।
 स्थूलौतुः । बिम्बोष्ठः । बिम्बौष्ठः । समासे किम् । तवौष्ठः ॥ ओमाडोश्च । ६।१।
 ९५। ओमि आडि चात् परे पररूपमेकादेशः स्यात् । शिवायोञमः । शिव आ इहि
 इति स्थिते । शिव एहि । शिवेहि ॥ अकः सवर्णे दीर्घः । ६।१।१०१। अकः
 सवर्णेऽचि परे दीर्घ एकादेशः स्यात् । दैत्यारिः । श्रीशः । विष्णुदयः । (ऋति

बलात् तां बाधित्वा पररूपम् । 'ओत्वोष्ठयोरिति' । ओत्वोष्ठयोः शब्दयोः परतः
 समास एव पररूपं भवति । तच्च वैकल्पिकमेव । स्थूलोतुरिति । स्थूलश्चासौ
 ओतुश्चेति विग्रहः । वृद्धिं बाधित्वा परत्वाद्दिशेषविहितत्वाच्च वैभाषिके पररूपे कृते
 उक्तरूपसिद्धिः । तदभावे वृद्धौ कृतायां स्थूलौतुरिति सिध्यति । बिम्बोष्ठः । बिम्ब-
 मिव ओष्ठो यस्येति विग्रहे 'बिम्ब+ओष्ठ' इति स्थितौ वृद्धिं प्रवाध्य 'ओत्वोष्ठयोः'
 रित्यनेन पररूपे सति स्पष्टं रूपसिद्धिः । तस्य वैकल्पिकत्वेन पररूपाभावे वृद्धौ
 सत्यां बिम्बौष्ठ इत्यपि संसिध्यति । शिवायौ नम इति । 'शिवाय-ओं नमः' अत्र
 'ओमाडोश्च' इत्यनेन अवर्णात् ओमि परे पूर्वपरयोः स्थाने पररूपे 'शिवायौ
 नमः' इति भवति । शिवेहीति । 'शिव-आ-इहि'-इति स्थिते अत्र 'धातूप-
 सर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम्' इति परिभाषया पूर्वम् 'आ-इहि' इत्यत्र 'आद्गुणः'
 इत्यनेन गुणे एहीति जाते तत्र 'अन्तादिवच्च' इत्यनेन सूत्रेण अन्तवद्भावमादाय
 'ओमाडोश्च' इत्यनेन पररूपे कृते सति 'शिवेहि' इति रूपसिद्धिर्वोद्ध्या । 'अकः सवर्णे'
 इति । अक इति पञ्चमी । 'इको यणचि' इत्यतोऽचीत्यनुवर्तते । 'एकः पूर्वपरयोः'
 रित्यधिकारः । सावर्ण्यं च स्थानतः प्रयत्नतश्च । 'अकोऽकि दीर्घ' इत्येव सुवचम् ।
 दैत्यारिरिति । दैत्यानामसुराणाम्, अरिः-शत्रुरिति विग्रहः । सिद्धिप्रकारस्तु-'दैत्य-
 अरिः' इति स्थिते अत्र 'अकः सवर्णे दीर्घः' इत्यनेन सूत्रेण सवर्णेऽचि-अकारे परे
 पूर्वपरयोः स्थाने सवर्णदीर्घादेशे कृते सति 'दैत्यारिः' इति भवति । 'श्री-ईशः'
 अत्रापि 'अकः सवर्णे दीर्घः' इत्यनेन पूर्वपरयोः-'ई-ई' इति स्थाने सवर्णदीर्घादेशे
 'श्रीशः' इति भवति । एवमेव 'विष्णु-उदयः' इति स्थिते प्रकृतसूत्रेण सवर्णदीर्घादेशे
 'विष्णुदयः' इति रूपम् । ऋति सवर्ण इति । 'अकः' इत्यनुवर्तते । एकः पूर्वपरयोः

ओत्वो—अवर्णसे पर 'ओतु' या 'ओष्ठ' शब्दावयव 'अच्' परमें हो तो पूर्व-परके
 स्थानमें विकल्पसे पररूप एक आदेश हो—समासमें ।

ओमा—अवर्णसे पर ओम् या 'आड्' हो तो पूर्व परके स्थानमें पररूप एक आदेश हो ।

अकः—'अक्'से पर सवर्ण 'अच्' रहे तो पूर्व-परके स्थानमें सवर्ण दीर्घ एक आदेश हो ।

ऋति—'ऋट्' से पर सवर्ण 'ऋट्' रहे तो पूर्वपरके स्थानमें (अञ्मक्तिमान् विलक्षण
 ह्रस्व) ऋ आदेश हो—विकल्पसे ।

सवर्णे ऋ वा) । होतृकारः । होतृकारः ॥ एङः पदान्तादति । ६।१।१०९। पदान्तादेङोऽति परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात् । हरेऽव । विष्णोऽव ॥ सर्वत्र विभाषा गोः । ६।१।१२२। लोके वेदे चैङन्तस्य गोरति वा प्रकृतिभावः पदान्ते । गो अग्रम् । गोऽग्रम् । एङन्तस्य किम् । चित्रग्वग्रम् । पदान्ते किम् । गोः ॥ अनेकाल् शित्

रिति च । अकः सवर्णे ऋति परे पूर्वपरयोः ऋ इत्येकादेशः स्यादित्यर्थः । होतृकारः । होतृ + ऋकार इति स्थितिः । सवर्णदीर्घं वाधित्वा वार्तिकबलात् पूर्वपरयोः 'ऋ' इत्यादेशे प्रोक्तं रूपं भवति । अयं च पररूपादेशः पाक्षिकः । तेन तदभावे सवर्णदीर्घे कृते 'होतृकारः' इति सिद्धमेव । एङः पदान्तादतीति । 'अमि पूर्वः' इत्यतः पूर्व इत्यनुपज्यते । एकः पूर्वपरयोरित्यधिकृतम् । पदान्तादेङोऽतिपरे पररूपमित्यर्थः । तच्च पूर्वपरयोरित्येवेति भावः । हरेऽवेति । 'हरे-अव' इति स्थिते अत्र 'एङः पदान्तादति' को वात्र पदान्ते एङ् ? रेफान्तःपात्येकारः पदान्ते एङ्, ततः परः को वा अत् ? अवेत्यस्याकारः, अत्र पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूपादेशः प्राप्तः । को वा पूर्वः ? एकारः, तस्मिन् जाते सति 'हरेऽव' इति रूपम्भवति । एवमेव 'विष्णो-अव' इति स्थिते अत्र 'एङः पदान्तादति' इत्यनेन सूत्रेण पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूपैकादेशे सति 'विष्णोऽव' इति रूपम् । सर्वत्र विभाषाते । पदान्तादित्यनुवर्तते । 'प्रकृत्यान्तःपाद'मित्यतः प्रकृत्येत्यनुवर्तते । प्रकृत्या स्वभावेन निर्विकारस्वरूपेणाऽवतिष्ठत इत्यर्थः । 'यजु-प्युरः' इत्यतो यजुपीति निवृत्तं तत्सूचनाय सर्वत्रेत्युपात्तम् । तेन लोके वेदे चेत्यस्य लाभःफलितः । स च प्रकृतिभावः पदान्तविषयकः । गो अग्रमिति । 'गो-अग्रम्' इति स्थिते अत्र 'सर्वत्र विभाषा गोः' इत्यनेन पदान्ते विद्यमानस्य एङन्तस्य गोशब्दस्य अति परे विकल्पेन प्रकृतिभावे सति 'गोअग्रम्' इति रूपम् । विभाषाग्रहणात्पक्षे 'एङः पदान्तादति' इत्यनेन पूर्वरूपैकादेशे कृते 'गोऽग्रम्' इति रूपम् । चित्रग्वग्रमिति । 'चित्रगु-अग्रम्' इति दशायां तत्र एङन्तत्वाभावात् न पूर्वरूपम् । नापि प्रकृतिभावः; किन्तु 'इको यणचि' इत्यनेन यणि रूपम् । पदान्ते किमिति । गोशब्दात् ङसि प्रत्यये कृते ङकारेकारयोर्लोपे 'गो-अस्' इति दशायां पदान्तत्वाभावात् न प्रकृतिभाव इति भावः । सूत्रे पदान्तत्वानाश्रयणे तु प्रकृते प्रकृतिभाव आपद्येतेति भावः । प्रकृते 'गो अस्' इत्यत्र 'ङसिङसोश्च' इत्यनेन पूर्वरूपादेशे सति 'गोः' इति रूपम् । अनेकालिति । न एकः, अनेकः, श इद्यस्य स शित् । अनेकालिति शिदिति च भिन्नपदा-

एङः—पदान्त 'एङ्' से पर अत् रहे तो पूर्वरूप एक आदेश हो ।

सर्वत्र—लोक या वेदमें (सर्वत्र) 'गो' शब्दको 'अत्' के परे विकल्पसे प्रकृतिभाव हो ।

अनेकाल्—अनेकाल् आदेश और शित् आदेश सम्पूर्ण स्थानीके स्थानमें हो ।

सर्वस्य । १।१।५५। इति प्राप्ते ॥ डिच्च । १।१।५३। डिदनेकालप्यन्त्यस्यैव स्यात् ॥
 अवङ् स्फोटायनस्य । ६।१।१२३। पदान्ते एङन्तस्य गोरवङ् वा स्यादचि ।
 गवाग्रम् । पदान्ते किम् । गवि ॥ इन्द्रे च । ६।१।१२४। गोरवङिन्द्रे । गवेन्द्रः ।
 व्यवस्थितविभाषया । गवाक्षः ॥ दूराद्धूते च । ८।२।८४। दूरात्सम्बोधने वाक्यस्य
 टेः प्लुतो वा ॥

ङीकारो न तु समाहारद्वन्द्वाश्रयणम् । भिन्नपदेनैव निर्वाहे सिद्धे तस्य समाहारद्वन्द्वा-
 श्रयणे गौरवात् । 'डिच्च' । ङकार इद्यस्य स डित् । अलोन्यस्येत्यनुवर्तते । अयं
 डिदपि अन्त्यस्यैवादेश इति भावः । न च अलोन्यस्येत्यनेनैव सिद्धेरिदं सूत्रं त्यक्तुं
 शक्यमिति शङ्क्यम् अवङ् तातडादीनामनेकालत्वेन 'अनेकाल्शित्' इति सर्वादेश-
 वाधनार्थं तस्य आवश्यकत्वात् । 'अवङ् स्फोटायनस्य' । अत्र पदान्तादिति गोरिति, अचीति
 चानुवर्तते स्फोटायनमहर्षेर्मतेनाऽवङादेश इत्यर्थः । अन्यमते तु न । तेनाऽस्यावङ्
 पात्तिकत्वं सिद्धम् । अतिपदन्तु नानुषज्यते, व्याख्यानात् । स्फोटायनमतेन पदान्ते
 गोः परतोचि सति भवत्यवङादेश इति भावः । गवाग्रमिति । 'गो-अग्रम्' इति
 दशायाम् 'अवङ् स्फोटायनस्य' इति पदान्ते विद्यमानस्य एङन्तस्य 'गो' इत्यस्य
 अवङादेशः प्राप्तः अचि-अग्रमेतद्वटकाकारे परे । स अवङादेशः कुत्र स्यात् ? अवङि
 अनेकाल्त्वात् 'अनेकाल्शित् सर्वस्य' इत्यनेन सर्वादेशे प्राप्ते 'डिच्च' इत्यनेन
 डिदादेशस्याऽनेकाल्त्वेऽपि अन्त्यादेश इति गोशब्दस्य गकारोत्तरवर्ति-ओकारस्य
 अनुबन्धलोपपूर्वके अवङादेशो 'गव-अग्रम्' इति जाते 'अकः सवर्णे दीर्घः' इत्यनेन
 दीर्घे 'गवाग्रम्' इत्यपि रूपम्भवति । अत्रायं विचारः—'सर्वत्र विभाषा गोः' इत्यनेन
 प्रकृतिभावो विकल्पेन भवति । तदभावे अवङादेशो विकल्पेन । तदभावे च पूर्वरूप-
 मिति गो अग्रम्, गवाग्रम्, गोग्रम् इति रूपत्रयम् । व्यवस्थितविभाषेति । क्वचिद्-
 वतीत्यंशः प्रवर्तते । क्वचित्तु न भवतीत्यंश एव । क्वचिच्चोभयमेवं लक्ष्यानुसारेण व्यव-
 स्थायां प्रवृत्ताविभाषा व्यवस्थितविभाषा कथ्यते । सा च 'गवाक्षः' इत्यत्र आश्रीयते ।
 तेन गोः परतः अक्षपदे सति नित्यमवङ् भवति, भवति च गवाक्षरूपसिद्धिः । इन्द्रे च ।
 गोशब्दादिन्द्रशब्दे परतो नित्यमवङ्, इति तदर्थः । गवेन्द्र इति । 'गो-इन्द्र' इति
 स्थितेऽत्र 'इन्द्रे च' इत्यनेन गोशब्दस्य गकारोत्तरवर्त्यकारस्य अवङादेशो गुणे च
 सति रूपम् । 'दूराद्धूते च' । यत्र प्रदेशे स्थितस्य प्रयत्नोच्चारितं शब्दं बोध्यमानो न

डिच्च—डित् आदेश यदि अनेकाल् भी हो तो अन्त्यके स्थानमें ही हो ।

अवङ्—पदान्तमें एङन्त गोशब्दको अच्के परे विकल्पसे अवङ् आदेश हो ।

इन्द्रे—गो शब्दको अवङ् आदेश हो इन्द्र शब्दके परे ।

दूरात्—दूरसे सम्बोधनविषयक जो वाक्य, तद्वाक्यावयव जो 'टि' वह विकल्पसे
 प्लुतसंज्ञक हो ।

अथ प्रकृतिभावः । प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् । ६।१।१२५। एतेऽचि प्रकृत्या स्युः । आगच्छ कृष्ण ३ अत्र गौश्वरति ॥ ह्रस्वं लघु । १।४।१०। संयोगे गुरु । १।४।११। संयोगे परे ह्रस्वं गुरुसंज्ञं स्यात् ॥ दीर्घं च । १ । ४। १२ । गुरु स्यात् ॥ गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम् । ८।२।८६। प्लुतो वा । देऽचदत्त ३ । गुरोः किम् । वकारादकारस्य मा भूत् । अनृतः किम् । कृष्ण ३ । एकैकग्रहणं पर्यायार्थम् ॥ ईदूदेद्विवचनं प्रगृह्यम् १ । १ । ११ । ईदूदेदन्तं

गृह्णाति (शृणोति) किन्तु, अधिकं प्रयत्नमपेक्षते तद्दूरम् । हृतमाह्वानं भावे क्तः । तच्च सम्बोधनं तदेवेह विवक्षितम् । सम्बोधनत्वं च, अन्यत्र विषये लग्नचित्तस्य स्वप्रतिपाद्ये विषये चित्तवृत्तेराकर्षणम् । 'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः, इति अधि-कृतम्' अत एवाह—वाक्यस्य टेः इति ।

प्लुतप्रगृह्याः । 'प्रकृत्यान्तः पादम्' इत्यतः प्रकृत्येत्यनुवृत्तेरिति भावः । कृष्ण ३ अत्रेति । 'दूराद्धूते च' इति णकारादकारः प्लुतः । तस्य अकारे न सर्वर्णदीर्घः । ह्रस्वं लघु । ह्रस्वं लघुसंज्ञं स्यात् । संयोगे गुरु । ह्रस्वमित्यनुवर्तते । तदाह—संयोगे पर इत्यादिना । दीर्घं च । संयोग इति नानुवर्तते । दीर्घमपि गुरुसंज्ञकमित्यर्थः । आगच्छ कृष्ण इति । 'आगच्छ कृष्ण ३ अत्र गौश्वरति' इति वाक्ये 'कृष्ण ३-अत्र' इत्यत्र 'दूराद्धूते च' इत्यनेन सूत्रेण टिसंज्ञकस्य णकारोत्तरवर्त्यकारस्य प्लुतत्वं विधाय 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' इत्यनेन प्रकृतिभावे 'आगच्छ कृष्ण ३ अत्र गौश्वरति' इति सिद्धयति । गुरोरनृतोऽनन्त्यस्येति । 'दूराद्धूते चे'त्यनुवर्तते । 'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः' इत्यधिकृतम् । दूरात्सम्बोधने यद्वाक्यं तत्र सम्बोध्यमानं यत् पदं तदवयवस्य ऋकारभिन्नस्य अनन्त्यस्य गुरोः प्लुतः स्यात् । अनन्त्यस्य तु गुरोरगुरोश्च स्यादित्यर्थः, टेः अपिना समुच्चयात् । पर्यायार्थमिति । अन्यथा सर्वेषां गुरुणां युगपत् प्लुतः स्यादिति भावः । ईदूदेद्विवचनन । ईच्च ऊच्च एच्चेति समाहारद्वन्द्वः । ईदूदेदिति द्विवचनविशेषणत्वात्तदन्तविधिः । द्विवचनमित्यनेन तु प्रत्ययत्वेऽपि न तदन्तं गृह्यते संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्तीति तन्निषेधात् । तदाह—ईदूदेदन्तमित्यादिना । हरी एता-

प्लुत—प्लुतसंज्ञक और प्रगृह्यसंज्ञकको प्रकृतिभाव हो, अच् के परे ।

ह्रस्वं—ह्रस्व 'अच्' की लघु संज्ञा हो । संयोगे—संयोगके परे ह्रस्वकी गुरुसंज्ञा हो ।

दीर्घं—दीर्घ अच् की भी गुरु संज्ञा हो ।

गुरो—दूरसे संबोधनविषयक जो वाक्य, तद्वाक्यावयव जो सम्बोध्यमान वाचक पद, तदवयव जो ऋकारभिन्न अनन्त्य गुरु वह पर्यायसे प्लुतसंज्ञक हो—विकल्प करके तथा अन्य जो ऋद्धिन्न गुरु या अगुरु वह भी विकल्पसे प्लुतसंज्ञक हो ।

ईदू—ईदन्त, ऊदन्त और एदन्त द्विवचनकी प्रगृह्य संज्ञा हो ।

द्विवचने प्रगृह्यं स्यात् । हरी एतौ । विष्णू इमौ । गङ्गे अमू । मणीवोद्वस्येति तु
 इवार्थे वशब्दो वाशब्दो वा बोध्यः ॥ अदसो मात् । १।१।१२। अस्मात्परावीदूतौ
 प्रगृह्यौ स्तः । अमी ईशाः । रामकृष्णावमू आसाते । मात्किम् । अमुकेऽत्र । असति
 माद्ग्रहण एकारोप्यनुवर्तते ॥ चादयोऽसत्त्वे । १।४।५७। अद्रव्यार्थाश्चादयो निपात-
 संज्ञाः स्युः ॥ प्रादयः । १।४।५८। एतेऽपि तथा । वस्तूपलक्षणं यत्र सर्वनाम
 प्रयुज्यते । द्रव्यमित्युच्यते सोऽर्थो भेद्यत्वेन विवक्षितः ॥ लिङ्गसंख्यान्व-
 ययोग्यद्रव्यम् ॥ निपात एकाजनाङ् । १।१।१४। एकोऽञ् निपात आङ्वर्जः प्रगृह्य-
 संज्ञः स्यात् । इ इन्द्रः । उ उमेशः ॥ ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाऽभिविधौ च

विति । 'हरी-एतौ' इत्यत्र 'ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्' इत्यनेन सूत्रेण प्रगृह्यसंज्ञायाम्
 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' इत्यनेन प्रकृतिभावे 'हरी एतौ' इति निष्पन्नम् । एवमेव
 'विष्णू-इमौ' 'गङ्गे-अमू' इत्यत्र क्रमेण ऊकारान्तैकारान्तद्विवचनत्वाद् 'ईदूदेद् द्विव-
 चनम्' इत्यनेन प्रगृह्यसंज्ञायां प्रकृतिभावे च 'विष्णू इमौ' 'गङ्गे अमू' इति भवति ।
 ननु 'मणीवोद्वस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम' इति भारतश्लोके मणी इवेति ईकारस्य
 प्रगृह्यत्वे सति प्रकृतिभावे सर्वर्णदीर्घो न स्यादित्यत आह—मणीवोद्वस्येत्यादिना ।
 'व वा यथा तथैवैवं साम्य' इत्यमरः । अदसो मादिति । अदसः इत्यवयवपष्टी, तेन
 अदश्शब्दावयवमकारात्परावीदूतौ प्रगृह्यसंज्ञौ स्तः । 'अमी-ईशाः' इत्यत्र अदश्शब्दा-
 वयवमकारात्परस्येकारस्य सत्त्वात्प्रगृह्यसंज्ञायाम् 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' इत्य-
 नेन प्रकृतिभावे 'अमी ईशाः' इति रूपम् । एवमेव 'रामकृष्णावमू-आसाते' इत्यत्रापि
 प्रगृह्यसंज्ञां कृत्वा प्रकृतिभावो विधेयः । मात् किमिति । असति माद्ग्रहणे एकारोऽप्य-
 नुवर्तते । तेन च 'अमुकेऽत्र' अत्र प्रगृह्यसंज्ञापूर्वकप्रकृतिभाव आपद्येत इति भावः ।
 वस्तूपलक्षणमिति । अत्रोपलक्षणशब्दार्थः वक्तव्यांशैकदेशोच्चारणम्, न तु अविद्यमानं
 सत् व्यावर्तकमिति । 'भू सत्तायाम्' सत्ताद्यर्थनिर्देशस्तूपलक्षणमित्यादावप्येवमेवा-
 र्थो बोध्यः । निपात एकाच । प्रगृह्यमित्यनुवर्तते पुल्लिङ्गतया च विपरिणम्यते ।
 एकश्चासावच्चेति कर्मधारयः । तदाह—एकोऽजित्यादिना । इ इन्द्र इति । 'इ इन्द्र'

अदसो—अदस् शब्द सम्बन्धी मकारसे परे इत्-ऊत्की प्रगृह्यसंज्ञा हो ।

चादयो—अद्रव्यार्थवाची ('लिङ्गसंख्यान्वयित्वं द्रव्यत्वं, तद्विन्नवाची' अर्थात् अव्यय
 वाची) चादि (च वा इ आदि) की निपात संज्ञा हो ।

प्रादयः—अद्रव्यार्थक प्रादिकी भी निपातसंज्ञा हो ।

निपात—'आङ्' वर्जित एकाच् निपातकी प्रगृह्यसंज्ञा हो । अर्थात् आङ् रहित एक
 स्वरमात्र अव्ययकी सन्धि नहीं हो ।

ईष—ईषत् अर्थमें, क्रियाके योगमें, मर्यादामें और अभिविधि अर्थमें जो 'आ' उसे छिद

यः । एतस्मात्तं डितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित् । आ एवं नु मन्यसे ।
आ एवं किल तत् । आ एवं सर्ववेदार्थः । आ एवं सद्ब्रह्मो हरेः । पूर्वं नैवं संस्था इदा-
नीन्त्वेवं मन्यसे इत्यर्थः । अन्यत्र डित् । ईषदुष्णम् । ओष्णम् ॥ ओत् ॥ १।१।१५।
ओदन्तो निपातः प्रगृह्यः स्यात् । अहो ईशाः ॥ संबुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्थे
॥ १।१।१६। संबुद्धिनिमित्तक ओकारो वा प्रगृह्योऽवैदिके इतौ परे । विष्णो इति ।

इत्यत्र इकारस्य 'चादयोऽसत्त्वे' इत्यनेन निपातसंज्ञायाम् 'निपात एकाजनाङ्'
इत्यनेन प्रगृह्यसंज्ञायाम् 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' इत्यनेन प्रकृतिभावे 'इ इन्द्र'
इति भवति । स एव प्रकारो 'उ-उमेशः' इत्यत्र विज्ञेयः । आ एवमिति । 'ईषदर्थे'
क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः । एतस्मात्तं डितं विद्याद्वाक्यस्मरणयोरङित् ॥ इति ।
प्रकृते 'आ एवं नु मन्यसे' इत्यस्य वाक्यार्थत्वात् 'आ एवं किल तत्' इत्यस्य स्मरणा-
र्थकत्वाच्च अङित्वेन 'निपात एकाजनाङ्' इति आ इत्यस्य प्रगृह्यत्वे 'प्लुतप्रगृह्या अचि
नित्यम्' इति प्रकृतिभावे सति रूपम् । अन्यत्रेति—वाक्यस्मरणार्थकभिन्ने इत्यर्थः ।
तेन ईषदर्थक-‘आ’ इत्यस्य डित्वात् प्रगृह्यसंज्ञाभावे प्रकृतिभावाभावेन ‘आद्गुणः’
इति गुणे ‘आ-ईषद्, उष्णम्’ ओष्णमिति जायते । ओत् । निपात इत्यनुवर्तते । ओदिति
तस्य विशेषणम् । अतस्तदन्तविधिः । प्रगृह्यमित्यनुवर्तते । पुँल्लिङ्गत्वात् च विपरिण-
म्यते । तदाह—ओदन्त इत्यादिना । अहो ईशा इति । अत्र ‘ओत्’ इति सूत्रेण प्रगृह्य-
संज्ञायां ‘प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्’ इत्यनेन प्रकृतिभावे च सति ‘अहो ईशा’
इति भवति । संबुद्धौ शाकल्यस्य । संबुद्धाविति निमित्तसप्तमी ओदित्यनुवृत्तेन
अन्वेति । प्रगृह्यमित्यनुवर्तते, पुँल्लिङ्गत्वात् च विपरिणम्यते । ऋषिर्वेदः, तदुक्तमृषिणे-
त्यादौ तथा दर्शनात् । ऋषौ भवः आर्षः, न आर्षः, अनार्षः, अवैदिके इति शब्दे
परत इत्यर्थः । शाकल्यग्रहणाद्विकल्पः । तदाह—संबुद्धिनिमित्तक इत्यादिना ।
विष्णो इतीति । ‘विष्णो-इति’ इति स्थितावत्र ‘संबुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्थे’ इत्यनेन
संबुद्धिनिमित्तकस्य ओकारस्य अवैदिके इतौ परे प्रगृह्यसंज्ञायां ‘प्लुतप्रगृह्या अचि

(आङ्घटक-आ) जानना और वाक्य तथा स्मरण अर्थमें जो ‘आ’ उसे अङित् (केवल आ)
जानना चाहिये ।

नोटः—ईषत् (अत्यल्प) अर्थमें—आ + उष्णम् = ओष्णम् (किञ्चित् गर्म) । क्रिया
के योगमें—आ + इहि = एहि (यहाँ आओ) । मर्यादा (सीमा) अर्थमें—आ + अम्बुधेः =
आम्बुधेः (समुद्रपर्यन्त) । अभिविधि (मर्यादाका प्रभेद = व्याप्ति) अर्थमें—आ + एकदेशात् =
एकदेशात् (एकदेशव्यापकर) ।

ओत्—ओदन्त निपातकी प्रगृह्यसंज्ञा हो ।

संबुद्धौ—संबुद्धिनिमित्तक ओकारकी विकल्पसे प्रगृह्यसंज्ञा हो, अवैदिक ‘इति’ शब्दके परे ।

विष्ण इति । विष्णविति । अनाषे इति किं ब्रह्मबन्धवित्यब्रवीत् । मय उजो वो वा । ८।३।३३। मयः परस्य उजो वो वा स्यादचि । किमु उक्तम् । किम्बुक्तम् । इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च । ६।१।१२७। पदान्ता इको ह्रस्वाः प्रकृत्या च वा स्युरसवर्णेऽचि । ह्रस्वविधिसामर्थ्यान्न स्वरसन्धिः । चक्रि अत्र । चक्रयत्र । पदान्ताः किम् ? गौर्यौ । (न समासे) । वाप्यश्वः ॥ ऋत्यकः । ६।१।१२८।

‘नित्यम्’ इत्यनेन प्रकृतिभावे च सति ‘विष्णो इति’ इति रूपं सिद्ध्यति । स च प्रकृतिभावो विकल्पेन भवति । तदभावे ‘एचोऽयवायावः’ इत्यनेन अवादेशे ‘लोपः शाकल्यस्य’ इत्यनेन विकल्पेन लोपे ‘विष्ण इति’ इति रूपम् । वलोपाभावे च ‘विष्णविति’ इति रूपम् । मय उजो वो वा । मय इति पञ्चमी उज इति षष्ठी ‘इमो ह्रस्वादचि’ इत्यत अचीत्यनुवर्तते । तदाह—मयः परस्येत्यादिना । किम्बुक्तमिति । ‘किम् उ उक्तम्’ इत्यवस्थायाम् ‘मय उजो वो वा’ इत्यनेन सूत्रेण मयः परस्य उजः—‘उ’ इत्यस्य ‘व्’ आदेशो भवति, अचि—‘उक्तम्’ घटकोकारे परे; तेन ‘किम् उ उक्तम्’ इति जाते ‘अज्झीनं परेण संयोज्यम्’ ‘किम्बुक्तम्’ इति निष्पन्नम् । व् आदेशो विकल्पेन भवति तदभावे च ‘निपात एकाजनाङ्’ इत्यनेन प्रगृह्यसंज्ञायां प्रकृतिभावे च ‘किमु उक्तम्’ इति जायते । इकोऽसवर्णे । इक इति षष्ठी । ‘एङः पदान्ताद’ इत्यतः पदान्तादित्यनुवर्तते । तच्च षष्ठ्यन्ततया विपरिणम्यते । अचीति चानुवर्तते । ततश्च पदान्तस्येकः असवर्णेऽचि परे ह्रस्वः स्यादित्येकं वाक्यम् । चकारात् ‘प्रकृत्यान्तःपादम्’ इत्यतः प्रकृत्येत्यनुकृष्यते । ह्रस्व इति तत्रापि सम्बध्यते । ततश्च उक्ते ह्रस्वः प्रकृत्या—स्वभावेन अवतिष्ठत इति वाक्यान्तरं सम्पद्यते । फलितमाह—पदान्ता इक इत्यादिना । चक्रि अत्रेति । ‘चक्रि-अत्र’ इत्यत्र ‘इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च’ इत्यनेन विकल्पेन ह्रस्वे कृते ‘चक्रि अत्र’ इति भवति । तदभावे च ‘इको यणचि’ इत्यनेन यणि ‘चक्रयत्र’ इति जायते । पदान्ता इति किमिति । पदान्ता इति यदाचार्या नापठिष्यन् तदा ‘गौरी-औ’ इत्यत्रापि ‘इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च’ इत्यनेन ह्रस्वसमुचितप्रकृतिभावोऽभविष्यत्, तन्निवारणाय ‘पदान्ता’ इत्युक्तम् । अत्र पदान्ताभावात् न ह्रस्वत्वं; किन्तु ‘इको यणचि’ इत्यनेन यणि ‘अचो रहाभ्यां द्वे’ इत्यनेन विकल्पेन यद्वित्वे ‘गौर्यौ’ इति । पक्षे—द्वित्वाभावे ‘गौर्यौ’ इति । न समासे इति । वार्तिकमेतत् । समासे उक्तशाकल्यविधिर्न भवतीत्यर्थः । वाप्यश्व इति ।

मय—‘मय’ से पर ‘उज्’ के उकारको ‘व’ आदेश हो-अच् के परे ।

इको—पदान्त ‘इक्’ को अच् के परे युगपत् ह्रस्व और प्रकृतिभाव हो, विकल्पसे ।

न समा—समासमें पदान्त इक्को ह्रस्व और प्रकृतिभाव कुछ भी नहीं हो ।

ऋत्य—‘ऋत्’ परमें हो तो पदान्त ‘अक्’ को ह्रस्व और प्रकृतिभाव विकल्पसे हो ।

ऋति परे पदान्ता अकः प्राप्नोत् । ब्रह्म ऋषिः । ब्रह्मर्षिः । पदान्ताः किम् ?
आच्छत् ॥ इति स्वरसन्धिः ॥

अथ हल्सन्धिः

स्तोः श्चुना श्चुः । ८।४।४०। सकारतवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योगे शका-

वाप्यामश्वः वाप्यश्वः, 'वापी-अश्व' इति दशायां 'इकोऽसवर्णे' शाकल्यस्य ह्रस्वश्च
इत्यनेन ह्रस्वे प्राप्ते 'न समासे' इति वार्तिकेन निषिध्यते । अतोऽत्र न प्रकृतिभावः,
किन्तु 'इको यणचि' इत्यनेन यणि 'वाप्यश्वः' इति रूपम् । ऋत्यकः । अक इति
पठ्यते । शाकल्यस्य ह्रस्वश्चेत्यनुवर्तते । असवर्ण इति निवृत्तम् । 'एङः पदान्तादित्य-
तः पदान्तादित्यनुवर्तते । तच्च पठ्यन्ततया विपरिणम्यते । ततश्च वाक्यद्वयं निष्पद्य-
ते । पदान्तस्याक ऋति ह्रस्वो वेत्येकम् । प्रतिपादितो ह्रस्व प्रकृतिभावमातिष्ठत इति
द्वितीयम् । ब्रह्म ऋषिरिति । 'ब्रह्मा ऋषिः' इति स्थितौ 'ऋत्यकः' इत्यनेन पदान्तस्य
अकप्रत्याहारान्तर्गतमकारोत्तरवर्तिन आकारस्य ह्रस्वत्वे कृते ब्रह्म ऋषिरिति जायते ।
पक्षे 'आद्गुणः' इति पूर्वपरयोः स्थाने गुणे रपरे च कृते 'ब्रह्मर्षि'रिति रूपम्भवति ।
पदान्ताः किमिति । अत्र 'पदान्ताः' इत्यस्याग्रहणे तु 'आ ऋच्छत्' इत्यत्र ह्रस्वत्वमा-
पद्येत । तस्मा भूदेतदर्थं 'पदान्ताः' इति । तेनात्र 'आटश्च' इत्यनेन वृद्धौ सत्याम्
'आच्छत्' इति सिद्धयतीति दिक् । इत्यचसन्धिः ॥

सकारतवर्गयोरिति । अत्र स्थान्यादेशयोर्थथासंख्यम्, निमित्तकार्यिणोस्तु न,

सन्धि करो — पितृ + ऋणन् । शुभ्र + ऋपः । सुखस्य + औपयिकन् । अव + एति ।
उप + ऋच्छत् । प्र + ओषति । राम + रहि । इन्दुमती + उवाच । मृदु + ओदनः । मातृ +
इच्छा । ल + आनय । ने + अनन् । कस्मै + इदम् । भो + अनम् । भो + इष्यति । ते +
आगताः । रामः + अस्मि । गो + अक्षः । आगच्छ सखे + अत्र क्रीडेम । वटू + उच्छलतः ।
अमू + अङ्गीतौ । अहो + इदम् । उ + उद्धवः ।

विच्छेद करो — गुरुहः । महर्कारः । महौचित्यम् । अवैधते । उपागोति । प्रेषयति ।
अवेहि । अत्यौदरिकः । तन्वङ्गी । प्रशास्त्रध्वन् । लानय ।

इस प्रकार इन्दुमती टीकामें अचसन्धि प्रकरण समाप्त हुआ ।

स्तोः—सकार-तवर्गके स्थानमें शकार अथवा चवर्गका (पूर्व या परमें) योग रहनेपर
सकारके स्थानमें शकार और तवर्गके स्थानमें चवर्ग हो ।

नोटः—यहाँ स्थानी और आदेशमें यथासंख्य अपेक्षित नहीं है—ऐसा होने पर आगे-
का 'शात्' सूत्र ही व्यर्थ हो जायगा । (षट्त्वमें भी ऐसा समझना चाहिये)

रचवर्गो स्तः । हरिशेते । रामश्चिनोति । सच्चित् । शार्ङ्गिजय ॥ शात् । ८।४।
 ४४। शात्परस्योक्तं न स्यात् । विश्नः । प्रश्नः ॥ ष्टुना ष्टुः । ८।४।४१। स्तोः
 ष्टुना योगे ष्टुः स्यात् । रामष्पष्टः । रामष्टीकते । पेष्टा । तट्टीका । चक्रिण्डौकसे ॥
 न पदान्तादोरनाम् । ८।४।४२। 'अना'मिति लुप्तषष्ठीकम्पदम् । पदान्ताद्वर्गात्

'शात्' इति ज्ञापकात् । रामश्चेत इति । 'रामस् शेते' इति स्थितौ 'स्तोः श्चुना श्चुः'
 इत्यनेन सूत्रेण सकारस्य शकारेण सहात्र योगे सति सकारस्य शकारादेशे 'राम-
 श्चेते' इति रूपम्भवति । एवं 'रामस्-चिनोति' इत्यत्र चयोगे सकारस्य शकारादेशे
 'रामश्चिनोति' इति जायते । 'सत्-चित्' इत्यवस्थायां प्रकृतसूत्रेण 'त्' इत्यस्य 'च्'
 इत्यादेशे 'सच्चित्' इति रूपम् । 'शार्ङ्गिन् जय' इत्यत्र 'स्तोः श्चुना श्चुः' इत्यनेन
 'न्' इत्यस्य स्थाने 'ज्' इत्यादेशे 'शार्ङ्गिजय' इति रूपम् । शादिति । शकारात्परस्य
 तवर्गीयवर्णस्य श्चुत्वं न भवति । शादिति दिग्योगे पञ्चमी । 'न पदान्तात्' इत्यतो
 नेत्यनुवर्तते । स्तोः श्चुना श्चुरित्यतो श्चुरिति लभ्यते । न तु सकारशकारौ शादिति
 न्यासकरणात् । विश्न इति । 'विश्-न' 'प्रश्-न' इत्यत्र पूर्वसूत्रेण नकारस्य चुत्वं
 प्राप्ते 'शात्' इत्यनेन शात्परस्य तवर्गस्य-'न' इत्यस्य चुत्वं निषिध्यते । तेनात्र
 'न' इत्यस्य न 'ज्' इत्यादेश इति भावः । प्रश्न इति । प्रच्छ ज्ञीप्सायाम् । अस्मात्
 'यजयाचयत्' इत्यादिना नङि 'ह्योः श्डनुनासिके च' इत्यनेन सतुक्छकारे शादेशे
 'प्रश्-न' इति स्थिते 'स्तोः' इत्यनेन श्चुत्वं प्राप्तं तं बाधित्वा 'शात्' इति निषेधे
 परेण संयोगे रूपम् । न चात्र ग्रहिज्या इति सम्प्रसारणं स्यादिति शङ्क्यम् । 'प्रश्ने
 चासकाले' इत्यादिनिर्देशबलात् । ष्टुना ष्टुरिति । अत्र 'स्तोः' इत्यनुवर्तते । पूर्ववद-
 त्रापि कार्थिनिमित्तयोर्यथासंख्यं न भवति । 'तोः पि' इति ज्ञापकात् । 'रामस्-
 पष्टः' अत्र 'ष्टुना ष्टुः' इति सकारस्य षकारयोगेन सकारस्य षकारादेशे 'रामष्पष्टः'
 इति । एवं 'रामस् टीकते' इत्यत्र टकारेण योगे सकारस्य षकारादेशे 'रामष्टीकते'
 इति रूपम् । 'पेष्-ता' इत्यत्र 'ष्टुना ष्टुः' इत्यनेन तकारस्य ष्टुत्वे 'पेष्टा' इति
 जायते । 'तत्-टीका' इति दशायां प्रकृतसूत्रेण 'त्' इत्यस्य 'ट्' इत्यादेशे 'तट्टीका' इति
 रूपम् । 'चक्रिन्-डौकसे' इत्यत्र 'ष्टुना ष्टुः' इत्यनेन 'न्' इत्यस्य 'ण्' इत्यादेशे
 'चक्रिण्डौकसे' इति रूपम्भवति । न पदान्तादिति । 'षट्-सन्तः' 'षट्-ते' इत्यत्र

शात्—शकारसे परे तवर्गके स्थानमें श्चुत्वं (चवर्ग) नहीं हो ।

ष्टुना—सकार-तवर्गके स्थानमें षकार-टवर्गका (पूर्व या परमें) योग रहने पर सकारके
 स्थानमें षकार और तवर्गके स्थानमें टवर्ग आदेश हो ।

न पदान्ता—पदान्त टवर्गसे पर नाम् (अवयव) भिन्न सकार और तवर्गके स्थानमें
 ष्टुत्वं (षकार-तवर्ग) नहीं हो ।

परस्याऽनामः स्तोः ष्टुर्न स्यात् । षट् सन्तः । षट् ते । पदान्तात्किम् ? ईद्वे ।
 टोः किम् ? सर्पिष्टमम् । अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम् । षण्णाम् । षण्ण-
 वतिः । षण्णगर्ग्यः ॥ तोः षि । ८।४।४३। तवर्गस्य पकारे परे न ष्टुत्वम् । सन्-
 षष्ठः ॥ झलां जशोऽन्ते । ८।२।३९। पदान्ते झलां जशः स्युः । वागीशः ।
 चिद्रूपम् ॥ यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा । ८।४।४५। यरः पदान्तस्योऽनुना-
 सिके परेऽनुनासिको वा स्यात् । एतन्मुरारिः । स्थानप्रयत्नाभ्यामन्तरतमे स्पर्शे चरि-

टवर्गस्य पदान्ते वर्तमानत्वान्न ष्टुत्वम् । पदान्तादित्यस्यास्वीकारे 'ईट्-ते' इत्यत्रापि
 निषेध आपद्येत । अतः सूत्रे तन्निवेश आवश्यकः । टोः किमिति । ननु 'सर्पिष्-तमम्'
 इत्यत्र 'स्वादिष्वत्सर्वनामस्थाने' इत्यनेन पदसंज्ञायामत्र 'झलां जशोऽन्ते' इत्यनेन
 जश्त्वं स्यादिति चेत् ? न । 'ह्रस्वात्तादौ तद्धिते' इत्यनेन कृतस्य पत्वस्य जश्त्व-
 दृष्ट्याऽसिद्धत्वात् । टोर्ग्रहणाभावे पकारोऽप्यनुवर्तते । तेन प्रकृतेऽपि निषेधः स्यात्त-
 न्मा भूदिति टोर्ग्रहणम् । 'अनामेति' । ष्टुत्वप्रतिषेधे नाम एव न पर्युदस्यते । किन्तु
 नवतिनगरीशब्दवदितनकारावयवस्याऽपि पर्युदासो वक्तव्य इत्यर्थः । षण्णामिति ।
 'पप्-नाम्' इत्यवस्थायां 'झलां जशोऽन्ते' इत्यनेन जश्त्वे 'पङ्-नाम' इति स्थितौ
 'अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्' इत्यनेन पर्युदासात् (निषेधस्य निषेधात्)
 ष्टुत्वे 'पङ्-गाम्' इति जाते 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' इति वार्तिकेन 'ङ्' इत्यस्य
 नित्यानुनासिके सति 'षण्णाम्' इति रूपम्बोध्यम् । षण्णवतिरिति । पङ्धिका नवति-
 रिति विग्रहः । 'पङ्-नवतिः' इत्यत्र 'न पदान्तात्' इति निषेधे प्राप्ते 'अनाम्नवति-
 नगरीणामिति वाच्यम्' इत्यनेन पर्युदासात् ष्टुत्वे जाते 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको
 वा' इत्यनेन पूर्वस्य 'ङ्' इत्यस्यानुनासिके 'षण्णवतिः' इति रूपम् । एवमेव 'षण्णगर्ग्यः'
 इत्यत्रापि बोध्यम् । तोः षांति । तवर्गस्य पकारे परे न ष्टुत्वम् । तेन 'सन्-षष्ठः' इत्यत्र
 तवर्गान्तःपातिनो नकारस्य पकारे परे न ष्टुत्वम् । झलामिति । पदस्येत्यधिकृतम् ।
 तच्चान्त इत्यस्य विशेषणम् । पदस्यान्ते झल्प्रत्याहारिकाणां स्थाने जश्प्रत्याहारिका
 इति फलितोऽर्थः । वागीश इति । 'वाक्-ईशः' अत्र 'झलां जशोऽन्ते' इति 'क्' स्थाने
 'स्थानेऽन्तरतमः' इति कण्ठस्थानीयो गकारादेशो जायते; तेन 'वागीशः' इति ।
 स्थानप्रयत्नाभ्यामिति । एतन्मुरारिरित्यादौ प्रयत्नतश्चान्तरतमे स्पर्शे चरितार्थे लब्ध-

अनाम्न—पदान्त टवर्गसे पर नान्, नवति, नगरी-भिन्न सकार-तवर्ग को ष्टुत्व नहीं
 हो—ऐसा कहना चाहिये ।

तोः षि—तवर्गको पकारके परे ष्टुत्व नहीं हो । (उदाहरण—वसन्तात् षट्पदाः
 उप्यन्ति)

झलां—पदान्त झल्के स्थानमें जश् आदेश हो ।

यरो—पदान्त यर्को अनुनासिक परे रहते अनुनासिक आदेश हो; विकल्पसे ।

३ म० कौ०

तार्थो विधिरयं रेफे न प्रवर्तते । चतुर्मुखः । प्रत्यये भाषायां नित्यम् । तन्मात्रम् । चिन्मयम् ॥ तोलिं । ८।४।६०। तवर्गस्य लकारे परे परसवर्णः स्यात् । तल्लयः । विद्वाँल्लिखति । नस्याऽनुनासिको लः ॥ उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य । ८।४।६१। उदः परयोः स्थास्तम्भोः पूर्वसवर्णः स्यात् ॥ तस्मादित्युत्तरस्य । १।१।६७। पञ्चमीनिर्देशेन क्रियमाणं कार्यं वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य परस्य ज्ञेयम् ॥ आदेः परस्य । १।१।५४। परस्य यद्विहितं तत्तस्या-

प्रयोजनोऽयमनुनासिकविधिः स्थानमात्रेणाऽऽन्तर्यमादाय रेफे प्रवृत्तिं न लभत इत्यर्थः । 'यूनि लब्धे तु युवतिर्जरठे रमते कथमि'ति न्यायात् । चतुर्मुख इति । चत्वारि मुखानि यस्येति व्यासवाक्यम् । 'चतुर्-मुख' इति स्थिते 'यरोनु' इत्यादिना वैकल्पिकेऽनुनासिकेप्राप्ते रेफे स्थानमात्रमन्तर्यमादायानुनासिकविधिर्न प्रवर्तत इति स्पष्टीकरणादनुनासिकाभावे 'चतुर्मुख' इत्यस्य सिद्धिः । प्रत्यये भाषायामिति । प्रत्यये अनुनासिकात्मके परे लोके नित्यमनुनासिकः स्यादित्यर्थः । तन्मात्रमिति । तत्प्रमाणमस्येति तन्मात्रम्; 'प्रमाणे द्वयसज्जन्मात्रम्' इत्यनेन मात्रच्प्रत्ययः । 'तद्-मात्रम्' इत्यवस्थायाम् 'प्रत्ययेभाषायां नित्यम्' इत्यनेन स्थानत आन्तर्यमाश्रित्य दकारस्य स्थाने नकारे जाते 'तन्मात्रम्' इति निष्पन्नम् । चिन्मयमिति । चिदेव 'चिन्मात्रम्' अत्र 'नित्यं वृद्धशरादिभ्यः' इत्यत्र नित्यमिति योगविभागात्तादृष्ये मयट् । प्रक्रिया तु पूर्ववद् बोध्या । तोलिंति । 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' इत्यतः परसवर्ण इत्यनुवर्तते तदाह—परसवर्ण इति । 'तद्-लयः' इत्यत्र 'तोलिं' इत्यनेन तवर्गान्तःपातिनो दस्य स्थाने परसवर्णः—परनिमित्तभूतलकारसवर्णो ल एव जातः । तेन 'तल्लयः' इति सिद्धम् । तस्य लयः तल्लय इति विग्रहोऽत्र बोध्यः । विद्वाँल्लिखतीति । 'विद्वान्-लिखति' इति स्थिते नकारस्य स्थानिनोऽनुनासिकस्य परसवर्णो लकारो भवन् आन्तर्यादनुनासिक एव लकारो जातस्तेन 'विद्वाँल्लिखति' इति सिद्धम् ।

प्रत्यये—अनुनासिकादि प्रत्यय परमें रहनेपर भाषा (लोक प्रयोग) में पदान्त यर्के स्थानमें नित्य अनुनासिक आदेश हो ।

तोलिं—तवर्गको लकार के परे परसवर्ण हो ।

नोटः—परसवर्ण करने से विशेषता यही होती है कि नकारके स्थान में तत्सवर्णी अनुनासिक विशिष्ट लकार आदेश होता है । यथा—विद्वान् + लिखति = विद्वाँल्लिखति ।

उदः—'उद्' से पर स्था और स्तम्भके स्थानमें पूर्वसवर्ण आदेश हो ।

तस्मा—पञ्चम्यन्त पदनिर्दिष्ट विधीयमान जो कार्य वह वर्णान्तरसे अव्यवहित परवर्णके स्थानमें हो—ऐसा समझना चाहिये ।

आदेः—परके स्थानमें विधीयमान (कहा गया) जो कार्य वह परके आदि वर्णके स्थानमें हो—ऐसा समझना चाहिये ।

ऽऽदेर्बोध्यम् । अत्राऽघोषस्य महाप्राणस्य विवारस्य श्वासस्य सस्य तादृश एव थः,
इति सस्य थः ॥ झरो झरि सवर्णे । ८।४।६५। हलः परस्य झरो लोपो वा
स्यात्सवर्णे झरि ॥ खरि च । ८।४।५५। खरि परे झलां चरः स्युः । इत्युदो दस्य
तः । उत्थानम् । उत्तम्भनम् ॥ झयो होऽन्यतरस्याम् । ८।४।६२। झयः परस्य
हस्य वा पूर्वसवर्णः स्यात् । नादस्य घोषस्य संवारस्य महाप्राणस्य हस्य तादृशो
वर्गचतुर्थ एवादेशः । वाग्घरिः । वाग्हरिः ॥ शश्छोऽटि । ८।४।६३। पदान्ताज्झयः
परस्य शस्य छो वा स्यादटि । तच्छिवः । तच्छिवः । पदान्तात्किम् । विरप्शम् ।

‘उद् स्थानम्’ ‘उद्-स्तम्भनम्’ इति स्थिते । अत्र उद्ः परयोः ‘स्था’ इत्यस्य ‘स्तम्भ’
इत्यस्य च पूर्वसवर्णः-दकारसवर्णः प्राप्ताः । तत्र ‘आदेः परस्य’ इति परिभाषया
स्थास्तम्भोरद्यावयवस्य सकारस्यैव भवति । तत्र पूर्वदकारसवर्णाश्च-त थ द ध नाः
पञ्चैव । दन्तस्थानसाम्यात्, स्पृष्टप्रयत्नसाम्याच्च । न तु लकारः सकारश्च । तयोः
स्थानसाम्येऽपि विवृतप्रयत्नत्वात् । नापि लकारः ईषस्पृष्टत्वात् । एतदतिरिक्ताश्च
सर्वे वर्णाः भिन्नस्थानकत्वान्न दकारसवर्णाः । एवञ्च पूर्वनिमित्तभूतदकारसवर्णाः ‘त
थ द ध नाः’ पञ्चापि सकारस्य प्राप्ताः । तत्र सकारस्य विवारश्चासाघोषमहाप्राणवतः
सादृश्यात् तत्स्थाने तादृक् विवारश्चासाघोषमहाप्राणवान् ‘थ्’ एव लभ्यते । तेन
सस्य थकारादेशे ‘उद् थ् थानम्’ ‘उद् थ् तम्भनमि’ति जाते ‘झरो झरि सवर्णे’
इत्यनेन दकारोत्तरवर्तिनः थकारस्य विकल्पेन लोपे ‘खरि च’ इत्यनेन दकारस्य
चत्वे ‘उत्थानम्’ ‘उत्तम्भनम्’ इति भवतः । पक्षे ‘उत्थ्थानम्’ ‘उत्थ्थतम्भनम्’ इत्येव
न तु थकारस्य चत्वंम् । चत्वं प्रति थकारस्यासिद्धत्वात् । वाग्घरिरिति । ‘वाक् हरिः’
इति स्थिते । अत्र ‘झलां जशोऽन्ते’ इत्यनेन जश्त्वे गकारे कृते झञ्प्रत्याहारान्तःपातिनो
गकारात्परस्य हकारस्य पूर्वसवर्णः-गकारसवर्णाः, क ख ग घ ङ इति प्राप्ताः । तत्र-
हकारेण संवारनादघोषमहाप्राणवता तुल्यः-संवारनादघोषमहाप्राणवान् घकारो
विकल्पेन हकारस्य स्थाने जातः । तेन वाग्घरिरिति रूपं जायते । पक्षे वाग्हरिरिति
भवति । ‘तद् शिवः’ इति स्थितेऽत्र दकारस्य ‘स्तोः श्चुना श्चुः’ इत्यनेन
सूत्रेण श्चुत्वे-जकारे कृते तस्य जकारस्य ‘खरि च’ इत्यनेन चकारे कृते ‘तच्-
शिवः’ इति जाते तदनन्तरम् ‘शश्छोटि’ इत्यनेन झञन्तःपातिनश्चकारात्परस्य

झरो झरि—हल्से पर झर्का विकल्पसे लोप हो, सवर्ण झर्के परे ।

खरि च—खर् परमें हो तो झल्के स्थानमें चर् आदेश हो ।

झयो हो—झ से पर जो हकार उसको पूर्वसवर्ण हो, विकल्पसे ।

नोटः—नाद, घोष, संवार और महाप्राण-प्रयत्नवान् जो हकार उसके स्थानमें तादृश
प्रयत्नवान् चतुर्थ वर्ण आदेश हो ।

छत्वममीति वाच्यम् । तच्छ्लोकेन । तच् श्लोकेन । अमि किं वाक्श्रोतति ।
 मोऽनुस्वारः । ८।३।२३। मान्तस्य पदस्याऽनुस्वारः स्याद्वलि । हरिं वन्दे ।
 पदस्य किम् ? गम्यते ॥ नश्चापदान्तस्य झलि । ८।३।२४। नस्य मस्य चाऽप-
 दान्तस्य मल्यनुस्वारः स्यात् । यशांसि । आक्रंस्यते । मलि किम् ? मन्यते ॥
 अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः । ८।४।५८। अङ्कितः । अङ्घ्रितः । शान्तः ।
 गुम्फितः । वा पदान्तस्य । ८।४।५९। पदान्तस्याऽनुस्वारस्य ययि (परे) परसवर्णे

शस्य अट्प्रत्याहारान्तःपातिनि शकारोत्तरवर्त्तिनीकारे परे छत्वे च विहिते-
 च्छिवः' इति निष्पन्नम् । छत्वाभावे 'तच्शिवः' इति भवति । पदान्तात्किमिति
 'शश्छोटीति' सूत्रे पदान्तादित्यननुवृत्तौ 'विरपशम्' अत्र शकारे छत्वापत्ति
 प्रसङ्गः । पकारस्य झय्प्रत्याहारगतत्वेन तस्य झय्त्वात्तत्परश्च शकारोपस्थितेः स-
 त्वात् । पदान्तादित्यनुवृत्तौ तु विरपशम् इत्यस्यैकपदत्वेन पकारस्य पदान्तेऽसत्त्वे
 छत्वाप्राप्तौ दोषप्रसङ्गनिरासः । छत्वममीति । 'शश्छोटी' इति सूत्रे अटीति विहात
 अमिति वक्तव्यमित्यर्थः । 'शश्छोऽमि' इति सूत्रं पठनीयमिति यावत् । तच्छ्लो-
 केनेति । 'तद्-श्लोकेन' इत्यत्र 'स्तोः श्चुना श्चुः' इत्यनेन दकारस्य जकारे कृते
 'खरि च' इत्यनेन चकारे 'तच्-श्लोकेन' इत्यवस्थायां 'छत्वममीति वाच्यम्
 इति वार्तिकेन शस्य छत्वे च कृते 'तच्छ्लोकेन' इति सिद्ध्यति । पक्षे—'तच्छ्लोकेन'
 इति । यशांसीति । 'यशान्-सि' इत्यत्र 'नश्चापदान्तस्य झलि' इत्यनेन, पद-
 न्तरहितस्य नकारस्य झलप्रत्याहारान्तःपातिनि सकारे परे नस्यानुस्वारे कृते 'य-
 शांसि' इति । 'आक्रम स्यते' इत्यवस्थायां मकारस्य अपदान्तत्वात् 'नश्चापदान्तस्य
 झलि' इत्यनेनैव झलि परे मस्यानुस्वारे विहिते—'आक्रंस्यते' इति 'त्वम् करोपि' इति
 स्थिते 'मोऽनुस्वारः' इत्यनेन पदान्तस्य मस्यानुस्वारे विहिते सति तस्य स्थाने
 'वा पदान्तस्य' इत्यनेन विकल्पेन परस्य ककारस्य सवर्णे क ख ग घ ङ इति

शश्छोटी-पदान्त झय्से पर शकारके स्थानमें छकार आदेश हो, विकल्पसे, अट्के परे
 नोटः—शकारके पूर्व तवर्ग होनेपर पहले तवर्गको श्चुत्व होकर ही शकारको छकार हो
 छत्वममीति—पदान्त झय्से पर शकारके स्थानमें छकार हो, विकल्पसे, अम्के परे ।
 मोनु—मान्त पदके स्थानमें अनुस्वार हो, हल्के परे ।

नश्चा—अपदान्त नकार-मकारके स्थानमें अनुस्वार हो, झल्के परे ।

अनुस्वारस्य—अपदान्त अनुस्वारके स्थानमें परसवर्ण आदेश हो, यय्के परे ।

नोटः—पदके मध्यमें स्थित अनुस्वारके बाद जिस वर्गका वर्ण रहता है, अनुस्वार
 स्थानमें उसी वर्गका पञ्चम वर्ण हो जाता है ।

वा पदा—पदान्त अनुस्वारके स्थानमें विकल्पसे परसवर्ण आदेश हो, यय्के परे ।

वा स्यात् । त्वङ्करोषि । त्वं करोषि ॥ त्वन्तनोषि । त्वं तनोषि । सँवत्सरः । संवत्सरः । यँल्लोकम् । यं लोकम् । अनुस्वारस्य पक्षे अनुनासिका यवलाः । **मो राजि समः कौ ।** ८।३।२५। क्तिवन्ते राजतौ परे समो मस्य म एव स्यात् । सम्राट् ॥ हे मपरे वा । ८।३।२६। मपरे हकारे मस्य मो वा स्यात् । किम् हललयति । किं हललयति । यवलपरे यवला वेति वक्तव्यम् । किँय ह्यः । किँ ह्यः । किँ हललयति ।

सर्वस्मिन् प्राप्ते 'स्थानेऽन्तरतमः' इत्यनेन अनुस्वारस्य नासिकास्थानत्वात् तत्स्थानतुल्यो ङकारो जातः । तेन 'त्वङ्करोषि' इति भवति । पक्षे—अनुस्वारात्मकम्—'त्वं करोषि' इति रूपम् । मो राजीति । म इति प्रथमान्तम् । 'मोऽनुस्वारः' इत्यतो म इति स्थानपष्ठ्यन्तमनुवर्तते । समः इत्यवयवपष्टी । प्रत्ययग्रहणपरिभाषया किग्रहणेन किप्रत्ययान्तलाभः । तदाह—क्तिवन्त इत्यादिना । 'सम्-राट्' इति स्थितेऽत्र 'मोऽनुस्वारः' इत्यनेन मकारस्य स्थाने अनुस्वारे प्राप्ते तं बाधित्वा 'मो राजि समः कौ' इत्यनेन मकारस्य स्थाने म एव विधीयते । तेन 'सम्राट्' इति भवति । मकारस्य स्थाने मकारविधानमनुस्वारनिवृत्त्यर्थमिति भावः । हे मपर इति । 'मोऽनुस्वारः' इत्यतः म इति पष्ठ्यन्तमनुवर्तते । 'मो राजि समः कौ' इत्यतः म इति प्रथमान्तमनुवर्तते । मः परो यस्मादिति विग्रहस्तदाह—मपरे इत्यादिना । 'किम्-हललयति' इत्यत्र 'मोऽनुस्वारः' इत्यनेनानुस्वारे प्राप्ते तं प्रबाध्य 'हे मपरे वा' इत्यनेन मस्य मत्वे कृते । 'किम् हललयति' इति भवति । पक्षे—'मोऽनुस्वारः' इत्यनेनानुस्वारे 'किं हललयति' इति भवति । यवलपरे इति । यवलाः परे यस्मादिति विग्रहः । यवलपरके हकारे परे मस्य क्रमेण यवला एव वा स्युरित्यर्थः । किँय ह्य इति । 'किम्-ह्यः' इत्यत्र 'यवलपरे यवला वा' इत्यनेन वार्तिकेन यपरके हकारे परे 'मोऽनुस्वारः' इति प्राप्तमनुस्वारं बाधित्वा मकारस्यानुनासिके यकारे विकल्पेन विहिते 'किँय ह्यः' इति भवति । पक्षे—अनुस्वारे 'किँह्यः' इति । एवमेव—'किम्-हललयति' 'किम्-ह्लादयति' इत्यत्र वपरके वँ इति लपरके लँ इति चानुनासिके कृते 'किँव हललयति' इति 'किँल ह्लादयति' इति; च भवतः । पक्षे—'मोऽनुस्वारः' इत्यनेनानुस्वारे 'किं हललयति' 'किं ह्लादयति' च जायेते ।

मो राजि—क्तिवन्त राज् धातुके परे समके मकारके स्थानमें मकार ही आदेश हो—अनुस्वार नहीं हो ।

हे मपरे—मकारपरक हकारके परे मकारके स्थानमें मकार ही हो, विकल्पसे ।

यवलपरे—य-व-ल परक हकारके परे मकारके स्थानमें यथाक्रमसे अनुनासिक विशिष्ट यँ वँ लँ आदेश हो, विकल्पसे, (पक्षे अनुस्वारः) ।

किं हल्यति । किं ह्वाद्यति । किं ह्वाद्यति ॥ नपरे नः । ८।३।२७। नपरे ह्कां
मस्य नो वा । किन् ह्नुते । किं ह्नुते ॥ डः सि धुट् । ८।३।२९। डात्परस्य सत्
धुट् वा ॥ आद्यन्तौ टकितौ । १।१।४६। टिकितौ यस्योक्तौ तस्य क्रमादाद्यन्ताऽज-
यवौ स्तः । षट्सन्तः । षट्सन्तः ॥ ङ्णोः कुक् टुक् शरि । ८।३।२८। ङकारण-
कारयोः कुक् टुकावागमौ वा स्तः शरि । कुक् टुकोरसिद्धत्वाच्च जश्त्वम् । चयौ
द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम् । प्राङ्ख्षष्ठः । प्राङ्क्षष्ठः । प्रा

नपरे न इति । हे इति वेति म इति चानुवर्तते । नः परो यस्मादिति विग्रहस्त-
दाह—नपरे हकार इत्यादिना । किन्हुते इति । ‘किम् ह्नुते’ इत्यत्र ‘नपरे नः’
इत्यनेन सूत्रेण नपरे हकारे परे मस्य नत्वे कृते ‘किन्हुते’ इति रूपम् । पक्षे-
मस्यानुस्वारे ‘किं ह्नुते’ इति । षट्सन्त इति । ‘पङ्-सन्तः’ इत्यत्र ‘डः सि
धुट्’ इत्यनेन डात् परस्य धुट् प्राप्तिः, स क स्यादित्याशङ्क्यामाह—‘आद्यन्तौ टकितौ’
इति टित्वात्सस्यादौ धुटि जाते ‘पङ् धुट् सन्तः’ इति जातम् । अत्र टस्य ‘हल्-
न्त्यम्’ इत्यनेनेत्संज्ञायां धकारोत्तरवर्तिन उकारस्य च ‘उपदेशेऽजनुनासिक इत्’
इत्यनेनेत्संज्ञायां ‘तस्य लोपः’ इत्यनेन लोपे च कृते ‘पङ् ध् सन्तः’ इति भूतम् ।
अत्र ‘खरि च’ इत्यनेन धस्य तकारे ङकारस्य टकारे च कृते ‘षट्सन्तः’ इति जातम् ।
धुडभावपक्षे—‘खरि च’ इति ङस्य चत्वे टत्वे कृते ‘षट्सन्तः’ इति जायते । अ-
‘ण्डुना ण्डुः’ इत्यनेन ण्डुत्वं न शङ्क्यम् । ‘न पदान्तादोरनाम्’ इति निषेधात् ।
ङ्णोः कुगिति । ‘हे मपरे वा’ इत्यतो वेत्यनुवर्तते । कुक् च टुक् चेति समाहार-
द्वन्द्वः । ङकारणकारयोः कुक् टुकावागमौ वा स्तः शरि इत्यर्थः । उभयत्र कका
इत्संज्ञकः । उकार उच्चारणार्थः । ‘प्राङ् षष्ठः’ इति स्थिते, अत्र ‘ङ्णोः कुक्
शरि’ इत्यनेन ङकारस्य कुगागमे ‘आद्यन्तौ टकितौ’ इत्यनेन ङकारस्यान्ते जाते
‘प्राङ् कुक् षष्ठः’ इति निष्पन्ने सति ‘क्’ इत्यस्य ‘हल्न्त्यम्’ इत्यनेनेत्संज्ञायां
‘तस्य लोपः’ इत्यनेन लोपे च ‘प्राङ्क्षष्ठः’ इति जाते तत्र विकल्पेन ‘चयौ
द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्’ इति वार्तिकेन खत्वे विहिते ‘प्राङ्ख्षष्ठः’

नपरे नः—नकारपरक हकारके परे मकारके स्थानमें नकार आदेश हो, विकल्पसे
(पक्षे अनुस्वारः) डः सि—ङकारसे पर सकारके स्थानमें धुट्का आगम हो, विकल्पसे ।
आद्यन्तौ—जिसके स्थानमें टित् आगम कहा गया हो वह टित् उसके आद्यावयव (पूर्व)
में और कित् अन्त्यावयव (पर) में हो ।

ङ्णोः—ङकार-णकारको कुक्-टुक्का आगम हो, विकल्पसे, शरि के परे ।

चयो—चय (वर्गके प्रथम अक्षर) के स्थानमें द्वितीय अक्षर हो ‘पौष्करसादि’
आचार्यके मतसे—अर्थात् विकल्पसे ।

पष्ठः । सुगण्ठ्पष्ठः । सुगण्ठ्पष्ठः । सुगण्पष्ठः ॥ नश्च । ८।३।३०। नान्तात्परस्य
सस्य धुङ् वा । सन्त्सः । सन्सः ॥ शि तुक् ८।३।३१। पदान्तस्य नस्य शे परे तुग्
वा । सञ्छम्भुः । सञ्छम्भुः । सञ्चशम्भुः । सञ्शम्भुः । जञ्छौ अचछा अचशा

इत्यभवत् । द्वितीयाक्षराभावे कृप्संयोगे 'प्राङ्त्तष्ठः' इति भवति । कुगागमाभ वे
'प्राङ्पष्ठः' इति । एवम् 'सुगण्-पष्ठः' इति दशायां 'ङ्णोः कुक्कुक्षरि' इत्यनेन
णकारस्य दुगागमे 'आद्यन्तौ टकितौ' इत्यनेन अन्तावयवे जाते 'सुगण्-टुक्
पष्ठः' इति जाते उकारे निवृत्ते ककारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'सुगण् ट् पष्ठः' इति ।
तत्र 'चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्' इत्यनेन द्वितीयाक्षरे ठकारे
विकल्पेन जाते 'सुगण् ट् पष्ठः' इत्यभवत् । द्वितीयाक्षराभावे 'सुगण् ट् पष्ठः' इति
भवति । दुगागमाभावे 'सुगण् पष्ठः' इति । सन्त्स इति । 'सन्-स'
इत्यवस्थायाम् 'नश्च' इति सूत्रेण ध्रुटि विहिते क भवति इति शङ्कायाम् 'आ-
द्यन्तौ टकितौ' इत्यनेन सस्याद्यावयवे 'सन् ध्रुट् स' इति जाते । तत्र उकारस्य
निवृत्तिः । टकारस्य 'हलन्त्यम्' इत्यनेनेत्संज्ञायाम् 'तस्य लोपः' इत्यनेन लोपे च
'सन् ध् स' इति जाते । तत्र 'खरि च' इत्यनेन धकारस्य चत्वेन तकारे कृते सति
'सन्सः' इति जायते । ध्रुडागमाभावे 'सन्सः' इति भवति । शि तुगिति । पूर्वसूत्रात्
न इति पञ्चम्यन्तमनुवृत्तमिह पष्ठयन्तमाश्रीयते; शब्दाधिकाराश्रयणात् । 'पदस्य'
इत्यधिकृतम् अवयवपष्ठयन्तमाश्रीयते । 'हे मपरे वा' इत्यतो वेत्यनुवर्तते तदाह-
पदान्तस्य नस्येत्यादिना । 'सन्-शम्भुः' इत्यत्र कस्य सूत्रस्य प्राप्तिः ? 'शि तुक्' इत्य-
स्य, तेन पदान्तनस्य तुकि कृते 'आद्यन्तौ टकितौ' इत्यनेन नस्यान्तावयवे कृते 'सन्
तुक् शम्भुः' इति जाते अत्र 'हलन्त्यम्' इत्यनेन कस्येत्संज्ञायाम् 'तस्य लोपः' इत्य-
नेन लोपे उकारनिवृत्तौ सत्याम् 'सन् त् शंभुः' इति जाते 'शश्छोऽटि' इत्यनेन शंभु-
रित्यस्य शस्य छत्वे कृते 'सन् त् छम्भुः' इति जाते 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति तस्य
चत्वे पुनः 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति नस्य अत्वे च विहिते 'सञ्छम्भुः' इति जायते ।
यत्र 'झरो झरि सवर्णे' इति वैकल्पिकचलोपः, तत्र 'सञ्छम्भुः' इति । चलोपाभावे
च 'सञ्छम्भुः' इति । 'शश्छोऽटि' इति छत्वाभावे 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति तस्य
चत्वे पुनः 'स्तोः श्चुना श्चुः' इत्यनेन नस्य अत्वे च विहिते 'सञ्च शम्भुः' इति

नश्च—नान्त पदसे पर सकारको धुट्का आगम (सकार से पूर्व) हो, विकल्पसे ।

शि तुक्—पदान्त नकारको शकारके परे तुक् का आगम (नकारसे आगे) हो, विकल्पसे ।

नोटः—सन् + शम्भुः इस स्थितिमें नको तुक् होनेपर 'सन् त् शम्भुः' ऐसी स्थितिमें
तकारको श्चुत्व 'च्' और नकारको श्चुत्व 'ञ्' होता है । तदुपरान्त शकारको विकल्पसे
छत्व होनेपर 'झरो झरि' से चकारका विकल्पसे लोप हो जाता है । इसीको मूलकारने कहा
है—'अञ्चौ' इत्यादि ।

अशाविति चतुष्टयम् । रूपाणामिह तुक्छत्वचलोपानां विकल्पनात् ॥
 डमो ह्रस्वादचि डमुणित्यम् । ८।३।३२। ह्रस्वात्परो यो डम्, तदन्तं यत्पदं,
 तस्मात्परस्याऽचो नित्यं डमुडागमः स्यात् । प्रत्यङ्ङात्मा । सुगणीशः । सन्नच्युतः ॥
 समः सुटि । ८।३।५। समो रुः स्यात्सुटि ॥ अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा
 । ८।३।२। अत्र रुप्रकरणे रोः पूर्वस्यानुनासिको वा स्यात् । अनुनासिकात्परोऽ-
 नुस्वारः । ८।३।४। अनुनासिकं विहाय रोः पूर्वस्मात्परोऽनुस्वारागमः स्यात् । खर-

तुक्श्चाभावे नस्य श्चुत्वे च कृते 'सन्शम्भुः' इति रूपचतुष्टयमत्र बोध्यम् । तथाहि
 सङ्ग्रहः—'अङ्गौ अचङ्गा अचशा अशाविति चतुष्टयम् । रूपाणामिह तुक्छत्वचलो-
 पानां विकल्पात्' । इति । डमो ह्रस्वादिति । डम् प्रत्याहारः । डमः इति पञ्चम-
 न्तम् । तद्विशेषणत्वात्पदस्येत्यधिकृतं पञ्चम्यन्ततया विपरिणम्यते । डम् इति च
 ह्रस्वादिति विशेषणसम्बन्धमनुभूय पदविशेषणत्वं भजत् तदन्तपरम् । डम् इति च
 पञ्चमीबलात् अचीति सप्तमी षष्ठ्यर्थे । तदाह—ह्रस्वात्पर इत्यादिना । प्रत्यङ्ङात्मेति ।
 'प्रत्यङ्-आत्मा' इत्यत्र 'डमो ह्रस्वादचि डमुण् नित्यम्' इत्यनेन ह्रस्वात्परस्य
 डम्प्रत्याहारान्तःपातिनो ङकारात्परस्याच्प्रत्याहारान्तर्वर्तिन आकारस्य टित्वादायै
 डमुटि जाते प्रत्यङ् डुट् आत्मेति जातम्, उकारस्योच्चारणार्थत्वात्तन्निवृत्तौ टकारस्ये-
 त्संज्ञायां लोपे च 'प्रत्यङ् ड् आत्मा' इति तत्र सर्वस्मिन् संयुक्ते 'प्रत्यङ्ङात्मा' इति
 रूपम्भवति । एवं 'सुगण्-ईशः' इत्यत्र 'डमो ह्रस्वादचि डमुणित्यम्' इत्यनेन 'ई'
 इत्यस्य णुडागमे उकारस्यानुबन्धस्य च निवृत्तौ संयोगे च सति 'सुगणीशः'
 इति भवति । एवमेव 'सन्-अच्युतः' इति दशायां 'डमो ह्रस्वादचि०' इत्यनेन

डमो—ह्रस्व जो डम्, तदन्त जो पद, उससे पर जो अच् उसको नित्य डमुट्का
 आगम (अच्के बाद) हो ।

नोटः—दीर्घ स्वरके बाद 'महानात्मा' इत्यादि स्थलमें कहीं भी डमुट् का आगम नहीं
 होता, पर ह्रस्व स्वरके बाद भी कचित् डमुडाभाव देखा जाता (वह गलत) है जैसे—
 सन् + आदि = सनादि, सन् + इष्यते सनिष्यते इत्यादि । सुप्तिङ् + अन्तम् = सुप्तिङन्तम् ।
 इको यण् + अचि = इको यणचि' यहां तो आर्षत्वात् डमुडाभाव समझना चाहिये ।

समः—सम्के मकारके स्थानमें रु आदेश हो सुट्के परे ।

अत्रानु—इस रुप्रकरणमें (ससजुषो रुः से विहित 'रु' को छोड़कर) 'रु' से पूर्व वर्ण
 को अनुनासिक आदेश हो, विकल्पसे ।

अनुना—अनुनासिकको छोड़कर रुसे पूर्व वर्णके परे अनुस्वारका आगम हो ।

खर—अवसानमें रेफ हो अथवा पदान्त रेफके बाद खर् (वर्गके प्रथम-द्वितीय अक्षर
 तथा श ष स का) कोई भी वर्ण हो तो रेफके स्थानमें विसर्ग हो ।

खरवसानयोर्विसर्जनीयः । ८।३।१५। खरि अवसाने च पदान्तस्य रेफस्य विसर्गः स्यात् । इति प्राप्ते । संपुंकानां सो वक्तव्यः । सँस्कृता । संस्कृता ॥ पुमः खय्यम्परे । ८।३।६। अम्परे खयि पुमो रुः स्यात् । पुँस्कोकिलः ॥ पुंस्कोकिलः । पुँस्पुत्रः । पुँस्पुत्रः । अम्परे किं ? पुंक्षीरम् । खयि किं ? पुँदासः । पुंसः संयोगान्त-

पूर्ववत् नुटि 'सन्नच्युतः' इति सिद्धयति । सँस्कृतेति । 'सम्-कर्ता' इत्यत्र 'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' इति सूत्रेण सुडागमेऽनुबन्धलोपे सति, 'सम् स्-कर्ता' इति जाते अत्र 'समः सुटि' इति सुट्-सम्बन्धिनि सकारे परे सर्वस्य 'स' रत्वे प्राप्ते 'अलोऽन्त्यस्य' इति योगेनान्त्यस्य मस्य रत्वे उकारलोपे च विहिते 'स र् स् कर्ता' इति भूते 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' इत्यनेन रोः पूर्वमनुनासिके जाते 'सँ र् स् कर्ता' इति जाते, यस्मिन् पक्षे वाग्रहणादनुनासिको नाभूत् तस्मिन् पक्षे 'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' इति योगेनानुस्वारे कृते 'सं र् स् कर्ता' इति जाते अत्र 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इत्यनेन खरग्रत्याहारान्तःपातिनि सकारे परे रेफस्य विसर्गे विहिते सँस्कृता, संस्कृता, इति जाते अत्र 'विसर्जनीयस्य सः' इति विसर्जनीयस्य सत्वे प्राप्ते 'वा शरि' इति विसर्जनीयस्य विसर्जनीयत्वे च लब्धे इहोभयमपि प्रवाध्य 'सम्पुंकानां सो वक्तव्यः' इति वार्तिकेन विसर्गस्य सत्वे कृते 'सँस्कृता' इति 'संस्कृता' इति च रूपद्वयं सिद्धयति । पमः खय्यम्पर इति । 'मनुवसो रुः सम्नुद्वौ' इत्यतो रुग्रहणमनुवर्तते । अम् परो यस्मादिति विग्रहस्तदाह-अम्परे खयीति । पुँस्कोकिल इति । पुमांश्चासौ कोकिलश्चेति कर्मधारयसमासः । 'पुम्-कोकिलः' इत्यत्र 'पुमः खय्यम्परे' इत्यनेन पुमो मस्य रत्वे रेफोत्तरवर्त्युकारलोपे 'पुर् कोकिल' इति जाते 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' इत्यनुनासिके पुँर्कोकिलः, पक्षे—'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' इत्यनेनानुस्वारे 'पुर् कोकिल' इति भूते अत्र 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति रेफस्य विसर्गत्वे 'कुप्वोऽकःपौ च' इत्यनेन जिह्वामूलीये प्राप्ते तं बाधित्वा 'सम्पुंकानां सो वक्तव्यः' इति विसर्गस्य सत्वे कृते 'पुँस्कोकिलः' 'पुंस्को-

संपुङ्कानां—सन्-पुम्-कान्, इनके विसर्गके स्थानमें सकार ही हो-ऐसा कहना चाहिये ।
नोटः—सँस्कृता-संस्कृता-रूपातुके पद परमें होनेसे 'सम्' उपसर्गके बाद 'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' इस सूत्रसे सुट् होकर 'सम् स्कर्ता' ऐसा बनता है; तदुपरान्त उस सुट्के परे सन्के मकारको रत्त्व और सकारको अनुनासिक अथवा अनुस्वार तथा रत्त्वके रेफ को विसर्ग होकर सत्त्व हो जाता है ।

पुमः—अम् परक खय् परमें होनेसे पुम्के स्थानमें र आदेश हो ।

नोटः—सम्भावना रहने पर कहीं इचुत्व और कहीं एचुत्व भी होता है । यथा—
पुम् + चरित्रम् = पुँश्चरित्रम् । पुम् + टीका = पुंष्टीका ।

लोपेऽवशिष्टभागस्येदमनुकरणम् । ख्याजादेशे न । पुंल्यानम् ॥ न शृङ्गव्यप्रशान् । ८।३।७। अम्परे छवि नान्तस्य पदस्य रुः ॥ विसर्जनीयस्य सः । ८।३।३४। खरि परे विसर्जनीयस्य सः स्यात् । चक्रिँस्त्रायस्व । चक्रिँस्त्रायस्व । अप्रशान् किम् ? प्रशान्तनोति । पदस्य किम् ? हन्ति । अम्परे किम् ? सन्त्सरुः खड्गमुष्टिः ॥ नृन्पे । ८।३।१०। नृनित्यस्य रुर्वा पे ॥ कुप्वोः \times क \times पौ च ८।३।३७। कवर्गे, पवर्गे च परे विसर्गस्य \times क \times पौ स्तः । चाद्विसर्गः । नृँ \times पाहि । नृँ \times पाहि । नृँ \times पाहि । नृँ \times पाहि । नृन्पाहि ॥ सोऽपदादौ । ८।३।३८। विसर्गस्य सः स्यादपदाद्योः कुप्वोः ।

किलः' इति । चक्रिँस्त्रायस्वेति । 'चक्रिन्-त्रायस्व' इति स्थिते 'नशृङ्गव्यप्रशान्' इति नान्तस्य पदस्य चक्रिन् इत्यस्य रुत्वे प्राप्ते 'अलोऽन्त्यस्य' इति 'नृ' इत्यस्य स्थाने कृते अम्परकछ्वप्रत्याहारान्तःपातिनि ककारे परे । तदा 'चक्रि रुँत्रायस्व' इति जाते रेफोत्तरवत्युंकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'चक्रि र्त्रायस्व' इति जाते । अत्र 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' इति अनुनासिके, पक्षे—'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' इत्यनुस्वारे च 'चक्रि र्त्रायस्व' 'चक्रि र्त्रायस्व' इति जाते 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति उभयत्र रेफस्य विसर्गे 'विसर्जनीयस्य सः' इति विसर्गस्य सत्वे 'चक्रिँस्त्रायस्व' 'चक्रिँस्त्रायस्व' इति । नृँ \times पाहीति । 'नृन्-पाहि' इत्यत्र 'नृन् पे' इत्यनेन नस्य रुत्वे उकारलोपे 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' इत्यनुनासिके, पक्षे—'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' इत्यनुस्वारे 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति विसर्गे—'कुप्वोः \times क \times पौ च' इत्युपध्मानीये च नृँ \times पाहि, नृँ \times पाहि, इति । उपध्मानीयाभावे सति विसर्गे नृँ \times पाहि 'नृँ \times पाहि' । पक्षे—'नृन्पाहि' इति पञ्च रूपाणि । सूत्रे पे इत्यत्राकार उच्चारणार्थः । तेन 'नृन् पुनाति' इत्यादावपि पञ्च रूपाणि बोध्यानि । सोपदादाविति । कुप्वोरित्यनुवर्तते । तस्याऽपदादाविति विशेषणम् । द्वित्वे एकवचनमार्षं प्रत्येकाऽभिप्रायं वैकवचनम् । विसर्जनीयस्येत्यप्यनुवर्तते । कुप्वोरित्यस्याऽपवादः । पयस्पाशमिति कुत्सितं पय इत्यर्थे 'याप्ये पाशप्' इत्यनेन पयस्शब्दात्पाशप्रत्यये । 'पयस्-पाशम्' इति स्थिते ससञ्जुषोरित्यनेन रुत्वे उकारस्येत्संज्ञायां लोपे 'खरवसानयोः' इत्यादिना रस्य विसर्गे 'पयः पाशम्' इति जाते कुप्वोः \times क \times पौ चेत्यनेनोपध्मानीये प्राप्ते तं

नशृङ्ग—अम् परक छव् परमें होने पर प्रशान् भिन्न नान्त पदके स्थानमें रु आदेश हो ।

विसर्ज—खर् परमें होने पर विसर्गके स्थानमें स् आदेश हो ।

नृन्पे—नृन्के नकारके स्थानमें रु हो पकारके परे, विकल्पसे ।

कुप्वोः—कवर्ग-पवर्गके परे विसर्गके स्थानमें क्रमसे जिह्वामूलीय, उपध्मानीय अथवा

चकारात् विसर्ग ही हो । (कवर्ग परका उदाहरण विसर्गसन्धिमें देखो) ।

सोऽप—विसर्गके स्थानमें 'स्' आदेश हो, अपदादि कवर्ग-पवर्गके परे ।

पयस्पाशम् । पयस्कल्पम् । यशस्कम् । यशस्काम्यति । अनव्ययस्येति वाच्यम् । प्रातःकल्पम् । काम्ये रोरेवेति वाच्यम् । नेह-गीः काम्यति ॥ इणः षः । ८।३।३९। इणः परस्य विसर्गस्य षः स्यात् पूर्वविषये । सर्पिष्कल्पम् । सर्पिष्पाशम् । सर्पिष्कम् । सर्पिष्काम्यति ॥ कस्कादिषु च । ८।३।४८। एष्णि उत्तरस्य विसर्गस्य षः स्यादन्यस्य तु सः । कस्कः । कौतस्कुतः । सर्पिष्कुण्डिका । धनुष्कपालमित्यादि । आकृति-

वाधित्वा 'सोऽपदादौ' इत्यनेन विसर्गस्य सकारे प्रोक्तरूपसिद्धिः । यशस्कल्पमिति । ईषदसमाप्तं यश इत्यर्थे । यशस्शब्दात् 'ईषदसमाप्तौ कल्पपदेश्यदेशीयरौ' इति कल्पपृ प्रत्यये रुत्वे विसर्गे जिह्वामूलीयं प्रवार्यं 'सोऽपदादौ' इति नित्यं सकारे सति रूपसिद्धिः । यशस्काम्यतीति । यश आत्मन इच्छतीत्यर्थे 'काम्यच्च' इति यशस्शब्दात् काम्यच् प्रत्यये रुत्वे विसर्गे 'सोऽपदादौ' इति नित्यं सत्वे सत्युक्तरूपसिद्धिः । अनव्ययस्येति सोऽपदादाविति विधिरनव्यस्य न भवतीत्यर्थः । प्रातःकल्पमिति । ईषदसमाप्तं प्रातः प्रातःकल्पम् । प्रातःशब्दात् 'ईषदसमाप्तौ कल्पपदेश्यदेशीयरौ' इत्यनेन कल्पपि 'प्रातः-कल्पम्' इति जाते रस्य 'खरवसानयोरिति' विसर्गे 'सोऽपदादौ' इति नित्यं विसर्गस्य सत्वे प्राप्ते तं वाधित्वा 'अनव्ययस्येति वाच्यमिति' वार्तिकेन विसर्गे सकाराभावे च जायते प्रातःकल्पमित्यस्य सिद्धिः । काम्येरोरिति । काम्यप्रत्यये परतो रुस्थानिकस्यैव विसर्गस्य स्थाने 'सोपदादौ' इत्यनेन सकारो भवतीत्यर्थः । गीः काम्यतीति गिरमात्मन इच्छतीत्यर्थे 'काम्यच्च' इति काम्यचि । 'गीर् काम्यति' इति जाते रेफस्य विसर्गे 'सोऽपदादौ' इत्यनेन नित्यं सत्वे प्राप्ते 'काम्येरोरेवेति' वार्तिकबलात् विसर्गे गीः काम्यतीति । इणः ष इति । अत्र कुप्वोरिति, अपदादाविति, अनव्ययस्येति, काम्येरोरेवेति च सम्बध्यते । परस्येत्यध्याहार्यम् । विसर्जनीयस्येत्यनुवर्तते । सर्पिष्कमिति । 'सर्पिस्-कम्' इत्यवस्थायां सस्य रुत्वे विसर्गे 'सर्पिः कम्' 'कुप्वोः-क-पौ च' इत्यनेन प्राप्तं जिह्वामूलीयं प्रवार्यं 'इणः षः' इत्यनेन पत्वे सति 'सर्पिष्कम्' इत्यस्य साधुत्वम् । सर्पिष्पाशमिति । कुत्सितं सर्पिरिति विग्रहे 'याप्ये पाशप्' इति पाशप्प्रत्यये । सर्पिस्+पाशम् इति स्थितौ सस्य रुत्वे विसर्गे 'कुप्वोः' इति प्राप्तमुपध्मानीयं वैकल्पिकं विसर्गं च वाधित्वा 'इणः षः' इति विसर्गस्य पत्वे 'सर्पिष्कम्' इति । कस्कादिष्विति 'इणः षः' इत्यत इण इति । विसर्जनीयस्य सः इत्यतो विसर्जनीयस्येति । सोऽपदादावित्यतः स इति प्रथमान्तमनुवर्तते । इण इति पञ्चम्यन्तम् । कस्कादिष्विति विषयसप्तमी । तेन कस्कादिगणे इणः परस्य विसर्गस्य

अनव्य—अव्यय भिन्न विसर्गके स्थानमें (सोऽपदादौ से) सकार हो—ऐसा कहे ।
काम्ये—काम्यच् प्रत्ययके परे रुस्थानिक विसर्गको ही (सोऽपदादौ से) सत्व हो ऐसा कहें ।
इणः—इण्से पर जो विसर्ग उसके स्थानमें 'ष' आदेश हो, अपदादि कवर्ग पवर्गके परे ।
कस्कादि—कस्कादिगण पठित जो शब्द उनमें इण्से उत्तर जो विसर्ग उसके स्थानमें 'ष' आदेश हो और अन्यत्र (इण्से अनुत्तर विसर्गके स्थानमें) 'स' आदेश हो ।

गणोऽयम् ॥ इदुदुपधस्य चाऽप्रत्ययस्य । ८।३।४१। इकारोकारोपधस्याऽप्रत्ययस्य
 विसर्गस्य षः स्यात्कुप्चोः परयोः । निष्प्रत्यूहम् । आविष्कृतम् । दुष्कृतम् । अप्रत्ययस्य
 किम् ? अग्निः करोति । एकादेशशास्त्रनिमित्तकस्य न पत्वम्, कस्कादिषु भ्रातृषुत्र-
 शब्दपाठात् । तेनेह न—मातुः कृपा । तस्य परमाग्नेडितम् । ८।१।२। द्विरुक्तस्य
 परमाग्नेडितं स्यात् ॥ कानाग्नेडिते । ८।३।१२। काञ्कारस्य रुः स्यादाग्नेडिते ।
 काँस्कान् । कांस्कान् । छे च । ६।१।७३। ह्रस्वस्य छे तुक् । स्वच्छाया । शिव.

सः स्यादित्यर्थः फलितः । 'सोऽपदादावित्यतः स इति प्रथमान्तस्याऽनुकर्षणात् ।
 कस्कादिषु अनिणः परस्य विसर्जनीयस्य सत्त्वं स्यादित्यर्थः । तदेवं वाक्यद्वयस्य
 निष्पत्तित्वं सम्पद्यते । कस्कादिषु तादृशानामेव कृतपत्वसत्त्वानां निर्देशेनाऽयं
 वैषयिकविभाग इति भावः । 'कः क' इति वीप्सायां द्वित्वे सति पूर्वखण्डेऽकारात्परस्य
 विसर्जनीयस्य 'कस्कादिषु च' इत्यनेन सकारे सत्युक्तरूपस्य 'कस्क' इत्यस्य साधु-
 त्वम् । कौतस्कृत इति । वीप्सायां द्विर्वचने कुतः कुत आगम्यते इत्यर्थे 'तत आगत'
 इत्यण् प्रत्यये 'तद्धितेष्वचामादेः' इत्यादिवृद्धौ टिलोपे 'कस्कादिषु चेति पूर्वाकारवर्तिनो
 विसर्गस्य सत्त्वे । 'कौतस्कृत' इति साधु । कानाग्नेडित इति । कानिति
 द्वितीयान्तं शब्दस्वरूपपरं पष्ठयन्तम् । पष्ठयाश्च सौत्रो लुक् । नलोपाभावोऽपि सौत्र
 एव । 'अलोऽन्त्यस्य' इति परिभाषया कान्शब्दान्तस्येति लभ्यते । रु इत्यनु-
 वर्तते । तदाह—'नकारस्येत्यादिना । कान् इत्यस्य वीप्सायां द्विर्वचने 'कान्-
 कान्' इति स्थिते प्रथमनकारस्य 'कानाग्नेडिते' इत्यनेन रुत्वे उकारलोपे
 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' इत्यनुनासिके 'काँर् कान्' इति जाते पक्षे—'अनुना-
 सिकात्परोऽनुस्वारः' इत्यनुस्वारे 'काँर् कान्' इति भूते अत्र 'खरवसानयोर्विसर्ज-
 नीयः' इति रेफस्यविसर्गे 'कुप्चोऽकःपौ च' इत्यनेन जिह्वामूलीये प्राप्ते तं प्रवाच्य
 'सस्पृंकानां सो वक्तव्यः' इति वार्तिकेन सत्त्वे च कृते 'काँस्कान्' 'कांस्कान्' इति ।
 छे चेति । 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इत्यतो ह्रस्वस्येति तुगिति चानुवर्तते । संहिता-
 यामित्यधिकृतम् । तदाह—'ह्रस्वस्येत्यादिना । स्वच्छायेति । स्वस्य छायेति षष्ठीसमासे

इदुदु—इकार-उकार है उपधामें जिसके ऐसा जो अप्रत्ययावयव विसर्ग उसके स्थानमें
 पत्व हो, कवर्ण-पवर्णके परे ।

तस्य—जो दो बार कहा गया हो उसके द्वितीय भागोक्तकी आग्नेडित संज्ञा हो ।

काना—कान्के नकारके स्थानमें रु आदेश हो, आग्नेडितसंज्ञके परे ।

छे—ह्रस्व वर्णको तुकागम (ह्रस्व वर्णके बाद) हो, छकारके परे ।

नोटः—तुक होनेपर तकारका जश्त्व होकर दकार और दकारका इत्त्व होकर जकार
 होनेपर चत्व चकार हो जाता है ।

च्छाया ॥ आङ्माङोश्च । ६।१।७४। तुक् छे । आच्छादयति । माच्छिदत् ॥
दीर्घात् । ६।१।७५। तुक् छे । म्लेच्छति ॥ पदान्ताद्वा । ६।१।७६। दीर्घात्पदा-
न्ताच्छे तुग्वा स्यात् । लक्ष्मीच्छाया । लक्ष्मीछाया ॥ इति ह्रस्वसन्धिः ॥ ३ ॥



सुबलुकि 'स्व-छाया इति स्थितौ 'छे च' इति तुगागमे तस्य कित्वेन स्वेत्यस्याऽन्त्या-
वयवे स्वत् छायेति जाते 'झलां जश् झशि' इति जश्त्वदृष्ट्या 'स्तोः' इति चुत्वस्या-
ऽसिद्धत्वेन पूर्व जश्त्वेन तस्य दत्वे तदनु 'स्तोः' इति श्चुत्वापेक्षया च 'खरिचेति'
चर्त्तस्यासिद्धतया ततः पूर्व 'स्तोः' इत्यनेन दकारस्य जकारे ततः परं 'खरि च' इति
चर्त्तवेन चकारे च कृते 'स्वच्छाया' इति सिद्धं भवति । न च 'स्वच् छाया' इति दशा-
यामन्तवर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य चकारस्य पदान्तत्वं प्रकल्प्य 'चोः कुः' इति कुत्वं
शङ्क्यम् । कुत्वदृष्ट्या श्रुत्वस्याऽसिद्धत्वाद् इति भावः । शिवच्छायेति 'शिव-छाया'
इत्यवस्थायां 'छे च' इति सूत्रेण ह्रस्वस्य 'शिव' इत्यत्रस्थवकारोत्तरवर्त्यकारस्य
तुक् प्राप्तः छे परे सति । स च कित्वाद् 'आद्यन्तौ टकितौ' इत्यनेन अन्तावयवो
जातः । तत्र 'हलन्त्यम्' इत्यनेन ककारस्येत्संज्ञायाम् 'तस्य लोपः' इत्यनेन लोपे
उकारस्य निवृत्तौ 'शिव त् छाया' इति जाते । इह 'स्तोः श्चुना श्चुः' इत्यनेन
तकारस्य चत्वे विहिते 'शिवच्छाया' इति सिद्धम् । एवमेव स्वच्छायेत्यत्र बोध्यम् ।
म्लेच्छतीति । म्ले इति दीर्घात्परस्य छकारस्य सत्त्वात्तुगागमप्राप्तौ जश्त्वे श्चुत्वे,
चर्त्तवे च कृते 'म्लेच्छति' इत्यस्य सिद्धिः फलति । न च 'दीर्घादित्यत्र दीर्घादि-
त्यस्य पञ्चम्यन्तत्वेन 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो वलीयान्' इति छकारस्यान्तावयवो-
ऽयं तुक् न तु दीर्घस्येति चेन्न । तथासति चेच्छिद्यते इत्यादौ छकारात्तुगागमापत्तेः ।
'सेनासुराच्छाया' इत्यादिसूत्रे दीर्घस्यैव तुगागमस्य ज्ञापितत्वेन दीर्घस्यैव तुग्भव-
तीति व्याख्यानात् । तेन म्लेच्छतीत्यत्रापि दीर्घस्यैव तुग्विधानं न तु छकारस्येति
सुस्पष्टमेवेति दिक् । पदान्ताद्वेति । तुक्, छे, दीर्घात्, इत्यनुवर्तते तदाह—दीर्घात्पदा-
न्तादित्यादिना । अत्र दीर्घस्यैवायं तुक् बोध्यः । न च 'उभय निर्देशे पञ्चमीनिर्देशो
वलीयान्' इति परिभाषया छकारस्यान्तावयवस्तुक् स्यादिति वाच्यम् । 'सेनासुरा-

आङ्—आङ्-माङ्को तुक्का आगम हो, धकारके परे ।

दीर्घात्—दीर्घको तुकागम हो, धकारके परे ।

पदा—पदान्त दीर्घको तुकागम हो, धकारके परे, विकल्पसे ।

सन्धिकरोः—तपस् + चिनोति । त्रयस् + षट्पदाः । षट् + दर्शनम् । सम्पत् + हर्षः ।
उद् + स्थापयति । ऐतद् + लीला । अप + नामकः । दिव्यम् + सरः । वृन् + हितम् । कथं +
कृतम् । इदं + चित्रम् । केशान् + छिनत्ति । धनवान् + स्वपिति । अप्रज्ञावान् + शत्रुः । नृन् +
पालय । सम् + स्मृतम् । पुम् + छविः । हसन् + आगतः । त्वत् + श्वशुरः । आ + छाद्यम् ।

विच्छेदकरोः—प्रयदशीतम् । महाण्डामरः । अम्भाजनम् । तद्धेयम् । उत्तम्भते ।

अथ विसर्गसन्धिः

विसर्जनीयस्य सः । ८।३।३४। खरि परे विसर्जनीयस्य सः । शर्परे विसर्जनीयः । ८।३।३५। शर्परे खरि विसर्गस्य विसर्गो, न त्वन्यत् । कः त्सरुः । 'घनाघनः क्षोभणः' ॥ वा शरि । ८।३।३६। शरि परे विसर्गस्य विसर्गो वा स्यात् ।

च्छाया' इति पाणिनीयसूत्रनिर्देशेन तस्याः प्रबाधनात् । लक्ष्मीच्छायेति । 'लक्ष्मी छाया' इत्यवस्थायाम् 'पदान्ताद्वा' इत्यनेन तुकि उको लोपे 'स्तोः श्चुना श्चुः' इत्यनेन तस्य चत्वे 'लक्ष्मीच्छाया' इति निष्पन्नम् । तुगभावे च 'लक्ष्मीच्छाया' इति ॥

इति ह्रस्वसन्धिप्रकरणम् ।

विसर्जनीयस्येति । खरवसानयोरित्यतो मण्डूकप्लुत्या खरीत्यनुपज्यते । एकदेशे स्वरितत्वस्य प्रतिज्ञानात् । तदाह—विसर्जनीयस्य खरि स इति । विसर्गविधानञ्च तस्य सत्वपरिसंख्यानार्थम् । वाग्रहणाच्च सत्वपरिसंख्यानं पाक्षिकम् तदाह—शरि ग्रन्थाल् लोपति । ककुम्नायकः । मा पाहि । ध्वंस्यते । क्षन्तव्यम् । मधुरज्ञायति । भार्थश्चन्द्रः । विद्वान्सहते । शिशुच्छाययति । नूः प्रतिकरोति । संस्करोति । पुंश्चमत्कारः । एकस्मिन्नहनि । यावच्छक्यम् । वृक्षच्छाया ।

इसप्रकार इन्दुमती टीकामें ह्रस्वसन्धिप्रकरण समाप्त हुआ ।

विस—विसर्गके स्थानमें सकार आदेश हो, खरके परे ।

नोटः—विसर्ग दो प्रकारका होता है—सजात और रजात ।

(क) शब्द, विभक्ति (सुप्-तिङ्) अथवा प्रत्यय सम्बन्धी सकारके स्थानमें रेफ होकर जो विसर्ग होता है उसे 'सजात' विसर्ग कहते हैं । यथा—(१) शब्द-निस् = निः । दुस् = दुः । शनैस् = शनैः । उच्चैस् = उच्चैः । नीचैस् = नीचैः । (२) विभक्ति—रामस् = रामः । हविस् = हविः । पठावस् = पठावः । (३) प्रत्यय—एकसस् = एकसः । बहुसस् = बहुसः ।

(कहीं मूर्धन्य षकारके स्थानमें भी रेफ होकर विसर्ग होता है । यथा—सजुष = सजूः) ।

(ख) स्वाभाविक अथवा ऋकारस्थानिक रेफके स्थानमें जो विसर्ग होता है । उसे रजात विसर्ग कहते हैं । यथा—(१) स्वाभाविक—स्वर् = स्वः । अन्तर् = अन्तः । प्रातर् = प्रातः । पुनर् = पुनः । निर् = निः । दुर् = दुः । गिर् = गीः । पूर् = पूः । धूर् = धूः । (२) ऋकार-स्थानिक—मातर् = मातः । पितर् = पितः । आतर् = आतः । दुहितर् = दुहितः । जामातर् = जामातः । ज्ञातर् = ज्ञातः ।

(कहीं नकारके स्थानमें भी रेफ होकर विसर्ग होता है । यथा—अहन् = अहः) ।

शर्परे—'शर्' परक 'खर्' परमें रहनेपर विसर्गके स्थानमें विसर्ग ही हो ।

वा शरि—'शर्', के परे विसर्गके स्थानमें विसर्ग आदेश हो, विकल्पसे ।

हरिः शेते । हरिश्शेते । खर्परं शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः ॥ हरि स्फुरति ।
हरिः स्फुरति ॥ इति विसर्गसन्धिः ॥ ४ ॥

अथ स्वादिसन्धिः

ससजुषो रुः । ८।२।६६। पदान्तस्य सस्य, सजुषशब्दस्य च रुः स्यात् ॥ अतो
रोरप्लुतादप्लुते । ६।१।११३। अप्लुतादतः परस्य रोः स्यादप्लुतेऽति । शिवोऽ-
परे इत्यादिना । हरिः शेते इति । 'हरिः-शेते' इत्यत्र 'वाशरि' इति सूत्रेण शरप्रत्या-
हारान्तःपातिनि शकारे परे सति विसर्गस्य विसर्गे विहिते 'हरिः शेते' इति रूपम् ।
पक्षे- 'विसर्जनीयस्य सः' इत्यनेन विसर्गस्य संत्वे विहिते हरिस् शेते इति जाते,
तत्र 'स्तोः श्रुना श्रुः' इत्यनेन सकारस्य शकारे च कृते 'हरिश्शेते' इति रूपम् ।
खर्परं शरीति । खर् परो यस्मादिति बहुव्रीहिः । शर् विशेष्यम् । खर्परके शरि परे
विसर्गस्य लोपविकल्पो वक्तव्य इत्यर्थः । लोपाभावे वा शरीत्यस्य प्रवृत्तिः । हारेः
स्फुतीति । अत्र विसर्गस्य खरपरकशरपरत्वात् विसर्गस्य पाक्षिके लोपेऽविसर्गरूप-
मेकम् । तथा चाऽसति विसर्गलोपे 'वा शरि' इति प्रवृत्त्या सविसर्ग द्वितीयं रूपम् ।
असति च विसर्गे विसर्जनीयस्य सकारेण द्विसकारात्मकं तृतीयं रूपमिति त्रीणि
रूपाणि विसर्गलोपाऽलोपसकार-संकलितानि भवन्तीति निर्णयः । इति विसर्गसन्धिः ।

ससजुष इति । पदस्येत्यधिकृतं सकारेण सजुषशब्देन च विशेष्यते ।
अतस्तदन्तविधिः । सकारान्तं सजुषशब्दान्तं च यत्पदं तस्य रुः स्यादिति ।
स च 'अलोऽन्त्यस्य' इति परिभाषया अन्त्यस्य भवति । ततश्च फलितमाह— 'दा
न्त्यस्य सस्येत्यादिना । अतो रोरिति । 'ऋत उत्' इत्यतः उदित्यनुवर्तते । अत इति
पञ्चमी । 'एङः पदान्तादति' इत्यतोऽस्तीत्यनुवर्तते तदाह अप्लुतादित्यादिना ।
शिवोऽर्च्य इति । 'शिवस्-अर्च्यः' इत्यवस्थायां 'ससजुषो रुः' इति सस्य रूत्वे 'अतो
रोरप्लुतादप्लुते' इति सूत्रेण रोरूत्वे 'शिव उ अर्च्यः' इति जाते तत्र 'आद्गुणः'
इति सूत्रेण पूर्वपरयोः स्थाने गुणे विहिते 'शिवो अर्च्यः' इति जाते 'एङः पदान्ता-
दति' इति सूत्रेणार्च्य इत्यस्याकारस्य पूर्वरूपादेशे च विहिते 'शिवोऽर्च्यः' इति

खर्परं—'खर्' परक 'शर्' परमें रहनेपर विसर्गका लोप हो, विकल्पसे ।

इसप्रकार इन्दुमती टीकामें विसर्गसन्धि प्रकरण समाप्त हुआ ।

ससजुषो—पदान्त सकार और सजुष शब्दके षकारके स्थानमें 'रु' आदेश हो ।

अतो—अप्लुत 'अत' से पर रुसम्बन्धी रेफके स्थानमें 'उत्' हो, अप्लुत अतके परे ।

नोटः—रूत्वं-उत्वं होनेपर पूर्व अकार और उकार मिलके गुण 'ओ' हो जाता है।
और तदनन्तर 'एङः पदान्तादति' से पर अकारका पूर्वरूप हो जाता है ।

च्यः । अतः किं ? देवा अत्र । अति किं ? श्व आगन्ता । अप्लुतात्किम् ? एहि सुस्रोत ३ अत्र स्नाहि । प्लुतस्याऽसिद्धत्वादतः परोऽयम् । अप्लुतादिति विशेषणे तु तत्सामर्थ्याच्चाऽसिद्धत्वम् । तपरकरणस्य तु न सामर्थ्यं, दीर्घनिवृत्त्या चरितार्थत्वात् । अप्लुते इति किं ? तिष्ठतु पय अ३ग्निदत्त ॥ हशि च । ६।१।११४। अप्लु-

सिद्धम् । अतः किमिति । 'अतो रोः' इति सूत्रेऽत इति तपरकरणात् 'देवास् अत्र' इत्यत्र सकारस्य रुत्वे सति रुत्वस्य उकारादेशापत्त्या देवा अत्र इति रूपं न सिद्धं भविष्यति अतः सूत्रे 'अतः' इति तपरकरणं करणीयमन्यथा दीर्घाकारात्परस्याऽपि रोः स्थान उकारापत्तिः संभवेत् । सति चात इति च तपरकरणे 'देवा रु अ' इत्यवस्थायां 'रोः' ह्रस्वाकारपरत्वाभावेन नोकारस्य प्राप्तिः, किन्तु 'भो भगो'रित्यादिना रोयत्वे यलोपे 'देवा अत्र' इति प्रयोगस्य सिद्धिः । अतीति किमिति । 'अतो रो'रिति सूत्रे अतीति तपरकरणाभावे दीर्घेऽप्याकारे परतो रोर्ह्रस्वापत्तिर्भवेत्, तेन 'श्वस् आगन्ता' अत्र सस्य रुत्वे कृते रोर्ह्रस्वाकारात्परत्वेन रोः स्थान उत्वापत्तिः स्पष्टैवातः सूत्रेऽतीति पदस्य नितान्तमावश्यकता । सति चातीतिग्रहणे तस्य तपरत्वे ह्रस्वस्यैवाकारस्य रोः परत्वेन स्थितावुत्पत्तिः स्यात् । तथा सति श्व आगन्ता, अत्र रोः परमाकारस्य सत्त्वेनोत्वप्राप्तेर्नाशङ्केति भावः । अप्लुतादिति किमिति । अतो रोरिति सूत्रे अप्लुतात् इति अतः इत्यस्य विशेषणीभूतस्य पदाभावे प्लुतत्वयुक्तादप्यतः परस्य रोः स्थान उत्वं स्यात् तत्परेऽकारे सति । तथा सति एहि सुस्रोत ३ अत्र स्नाहीत्यत्र 'सुस्रोतस् + अत्र' इत्यवस्थायां सस्य रुत्वे सति तत्पूर्वं परे च ह्रस्वाकारस्य सत्त्वेनोत्वापत्तिः स्पष्टैवेति तद्वाधनार्थम् अप्लुतादित्यस्यावश्यकता । तेन प्लुतसंज्ञाभाजः परस्य रोर्नोत्वम् इति भावः । न च रोः पूर्वमत इति तपरकरणाद्भविष्यत्येव प्लुतनिरासेत्यप्लुतग्रहणं व्यर्थमिति चेन्न । उत्वे कर्तव्ये प्लुतस्याऽसिद्धत्वात् रोः पूर्वं ह्रस्वाकारस्य सत्त्वेनोत्वप्राप्तेर्दुर्वारत्वात् । ननु कृतेऽप्लुतादिति ग्रहणे उत्त्वदृष्ट्या प्लुतस्याऽसिद्धतयोत्वस्य दुर्वारत्वेन दोषस्य तादवस्थ्यमेवेति चेन्न । अप्लुतादिति विशेषणग्रहणे तु ग्रहणसामर्थ्यादेव प्लुतस्योत्वदृष्ट्या नासिद्धत्वमिति भावः । यदि उत्वे कर्तव्ये प्लुतस्यासिद्धत्वम्, तर्हि अप्लुतादिति विशेषणस्य वैयर्थ्यमेव, दत्तेऽपि विशेषणे प्लुतस्यासिद्धतयाऽप्लुतात्परस्य रोर्ह्रस्वप्राप्तिदोषतादवस्थ्यात् । अतोऽप्लुतादिति विशेषणसामर्थ्यात् प्लुतस्य नासिद्धत्वमित्यर्थः । तपरकरणस्य तु देवा अत्र इत्यादौ दीर्घनिवृत्त्या चरितार्थत्वेन पुनस्तस्य प्लुतवारणेऽसामर्थ्येनाप्लुतादिति ग्रहणस्य आवश्यकत्वमेवेति भावः । अप्लुते इति किमिति । सूत्रेऽप्लुते इति पदाभावे प्लुतसंज्ञकेऽकारे परतोऽपि उत्वाऽपत्तिः स्यात् । उत्त्वदृष्ट्या

हशि च—अप्लुत् 'अत्' से पर रुसम्बन्धी रेफको स्थानमें 'उत्वं' हो, हश् (वर्गका तृतीय, चतुर्थ, पंचम वर्ण और 'य व र ल') परमें रहने से ।

तादतः परस्य रोरुः स्याद्वशि । शिवो वन्धः ॥ भोभगोअघो अपूर्वस्य योऽशि । ८।३।१७ एतत्पूर्वस्य रोर्यादेशः स्याद्वशि । देवा इह । देवायिह । 'भोस्' 'भगोस्' 'अघोस्' इति सान्ता निपाताः । तेषां रुत्वे, यत्वे च कृते—व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य ८।३।१८ पदान्तयोर्यकारवकारयोर्लघूच्चारणौ वयौ वा स्तोऽशि परे । यस्योच्चारणे जिह्वाप्रोपाग्रमध्यमूलानां शैथिल्यं जायते स लघूच्चारणः ॥ ओतो

प्लुतस्य असिद्धत्वात् । न च कृतेऽपि अप्लुते इति ग्रहणे उत्त्वस्याऽपेक्षया प्लुतस्यासिद्धत्वेनोत्वस्य दुर्वारत्वमेवेति शङ्क्यम् अप्लुत इति ग्रहणसामर्थ्यात् उत्त्वप्रासिद्ध्या प्लुतस्य असिद्धत्वाभावात् । तेन च 'तिष्ठतु पय अग्निदत्त' इत्यत्र रोः परस्याऽकारस्य 'गुरोरनु' इत्यादिना प्लुतत्वेन नोत्वमिति भावः । इति चेति । अतो रोरप्लुतादिति पदत्रयमनुवर्तते । ऋतउदित्यत उदिति चानुवर्तते । 'अप्लुतादतः' परस्य रोरुः स्याद्वशि इति तदर्थः । शिवो वन्ध इति । 'शिवस्-वन्धः' इत्यत्र 'ससजुपो रुः' इत्यनेन सस्य रुत्वे 'हशि च' इत्यनेन हश्प्रत्याहारान्तःपातिनि वन्धघटकवकारे परे रोरुत्वे 'आद्गुणः' इत्यनेन पूर्वपरयोः स्थाने गुणे च कृते 'शिवो वन्धः' इति रूपम् । भो भगो इति । 'रोः सुपि' इत्यतो रोरित्यनुवर्तते । भो भगो अघो अ इत्येतेषां द्वन्द्वः । एते पूर्वे यस्मादिति बहुव्रीहिः । पूर्वशब्दश्च प्रत्येकं सम्बध्यते 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इति नियमात् । तेन भोपूर्वकस्य, भगोपूर्वकस्य, अघोपूर्वकस्य, अवर्णपूर्वकस्य च रोर्यादेशः स्याद्वशि इति सूत्रार्थः । देवा इहेति । 'देवास् इह' इति दशायां 'ससजुपो रुः' इति सूत्रेण सस्य रुत्वे 'भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' इति सूत्रेण रोर्यादेशे 'देवाय् इह' इति जाते, तत्र 'लोपः शाकल्यस्य' इत्यनेन यलोपे 'देवा इह' इति जायते । शाकल्यग्रहणात्पक्षे 'देवायिह' इति । व्योर्लघुप्रयत्नेति । व् च य् च व्यौ तयोरिति विग्रहः । पदस्येत्यधिकृतम् । तच्च वकारयकाराभ्यां विशेष्यते तदन्तविधिना च वान्तस्य यान्तस्येति च लभ्यते । 'अलोऽन्त्यस्य' इत्यनेनैतस्याऽन्ते प्रवृत्तिः । तेन पदान्तयोर्यवयोरिति लब्धम् । लघुः प्रयत्नो यस्योच्चारणे स लघुप्रयत्नः । अतिशयितः लघुप्रयत्नः लघुप्रयत्नतरः । अन्यपदार्थस्य च वर्तिपदार्थप्रकर्षापेक्षः प्रकर्षः । लघुतरप्रयत्नक इत्यर्थः । अवयवार्थातिशये तरव्यक्तव्यः । सूक्ष्मवस्त्रतराद्यर्थ इति वार्तिकेन लघुत्वरूपस्याऽवयवार्थस्याऽतिशये लघुप्रयत्न इति समुदायात्तरप् । आन्तर्यात् यस्य यः वस्य च वः । शाकटायनमुनिवचनाद्विकल्पसिद्धिः । ओतो गार्थ-

भोभगो—भो, भगो, अघो और अवर्णपूर्वक रुसम्बन्धी रेफके स्थानमें यत्व हो, अशुके परे । व्योर्लघु—पदान्त यकार-वकारके स्थानमें लघूच्चारण 'य' और 'व' आदेश हो, अशुके परे ।

ओतो—ओकारसे पर जो पदान्त अलघुप्रयत्न यकार उसका नित्यलोप ही हो ।

४ म० कौ०

गार्ग्यस्य । ८।३।२०। ओकारात्परस्य पदान्तस्याऽलघुप्रयत्नस्य यस्य नित्यं लोपः स्यात् । गार्ग्यग्रहणम्पूजार्थम् । भो अच्युत । लघुप्रयत्नपक्षे—भोयच्युत । पदान्तस्य किम् ? तोयम् ॥ हलि सर्वेषाम् । ८।३।२२। भोभगोअघोअपूर्वस्य लघ्वलघूच्चारणस्य यस्य नित्यं लोपः स्याद्धलि । भो देवाः । भगो नमस्ते । अघो याहि । देवा यान्ति ॥ रोऽसुपि । ८।२।६१। अहो रेफादेशो, न तु सुपि । अहरहः । अह-

स्येति । ओत इति पञ्चमी व्योरित्यतो यग्रहणस्यानुवृत्तिः ननु वकारस्य, ओतः परस्य तस्याऽसम्भवात् । पदस्येत्यधिकृतम् । तच्च यकारेण विशेष्यते । तदन्तविधिना ओकारात्परो यो यकारस्तदन्तस्येति लभ्यते । अलोन्त्यपरिभाषया च पदान्तस्य यकारस्येति फलितम् । भोभगोरित्यतोऽशीत्यनुवर्तते । लोपः शाकल्यस्येत्यतः लोप इत्यनुवर्तते । स च पूर्वविहितलघुप्रयत्नकस्य न भवति, विधानसामर्थ्यात् । गार्ग्यग्रहणस्य पूजार्थत्वेन लोपस्य नित्यत्वं बोध्यम् । भो अच्युतेति । भोस् इत्यस्य सकारस्य रुत्वे भोभगोरित्यादिना रोर्गत्वे यकारस्य 'ओतो गार्ग्यस्य' इति नित्यं लोपे सति प्रोक्तरूपस्य सिद्धिः । यकारलोपस्याऽसिद्धत्वात् नावादेशलोपौ । लघुप्रयत्नपक्षे तु यकारलोपाभावे सति भोयच्युतेति द्वितीयं रूपं भवति । पदान्तस्य किमात । सूत्रे पदान्तस्य यकारस्य लोपो भवतीत्यर्थाभावे 'तोयम्' अत्राऽपदान्तस्य यकारस्य लोपः प्रसज्येत । तद्वारणाय पदान्तस्येति देयम् । हलि सर्वेषामिति । भोभगोअघोअपूर्वस्येत्यनुवर्तते व्योर्लघुप्रयत्नेत्यतः यकारग्रहणमनुवर्तते । सर्वाचार्य सम्मततया अयं नित्यो लोप इति भावः । भो देवा इति । अत्र भोस इति सकारस्य 'ससञ्जुषो रु' इति रुत्वे 'भोभगो' इति रोर्गत्वे 'हलि सर्वेषाम्' इति यकारस्य हल्परत्वात् ओकारपरकत्वाच्च लोपे 'भो देवा' इति सिध्यति । तथैव भगो नमस्ते अघो याहि देवा यान्ति । इत्यादिषु योगेषु यकारस्य 'हलि सर्वेषाम्' इति लोप इति भावः । रोऽसुपीति । रः असुपीति छेदः । 'अहन्' इति सूत्रमनुवर्तते । तच्च लुप्तषष्ठीकं पदम् । तदाह—'अहो रेफादेश इत्यादिना । अहरह इति । 'नित्यवीप्सयोः' इति द्विवचनम् । 'अहन् अहन्' इति स्थिते 'रोऽसुपि' इत्यनेन सर्वस्याहन्शब्दस्य रेफादेशे प्राप्ते 'अलोऽन्त्यस्य' इति परिभाषया उभयत्राऽन्त्यस्य नस्य जाते अहर् अहर् इति जाते तत्र 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इत्यन्त्यस्य विसर्गे, कृते च संयोगे 'अहरहः' इति

हलि—भो, भगो, अघो और अवणं पूर्वक यकारका लोप हो, हल्के परे—समीके मतसे अर्थात् नित्य ही ।

नोटः—'हश्' के परे अवर्ण पूर्वक यकारका लोप होने पर पुनः दूसरी सन्धि नहीं होती ।

रोऽसुपि—अहन् शब्दके नकारके स्थानमें रेफ आदेश हो, किन्तु सुप् (सप्तमीवड वचन) के परे नहीं हो ।

गणः । अयुपि किम् ? अहोभ्याम् । अत्र 'अहन्' इति रत्वम् । (रूपरात्रिरथन्तरेषु
रत्वं वाच्यम्) । अहो रूपम् । गतमहो रात्रिरेषा । एकदेशविंकृतन्यायेन-अहो
रात्रः । अहो रथन्तरम् । (अहरादीनां पत्यादिषु वा रेफो, विसर्गापवादः) ।
अहःपतिः । अहःपतिः । अहर्षतिः ॥ गीर्षतिः । धूर्षतिः । पक्षे-विसर्गो-
पध्मानीयौ ॥ रो रि । ८।३।१४। रेफस्य रेफे परे लोपः स्यात् ॥ ढूलोपे
पूर्वस्य दीर्घोऽणः । ६।३।११। ढरेफयोर्लोपनिमित्तयोः पूर्वस्याऽणो दीर्घः
स्यात् । पुना रमते । हरी रम्यः । शम्भू राजते । ढोढे लोपः ८।३।१३। लीडः ।

भवति । 'अहन्-गणः' अत्र 'रोऽसुपि' इति सर्वस्य रेफादेशे प्राप्ते 'अलोऽन्त्यस्य' इति
परिभाषया अन्त्यस्य विहिते संयुक्ते च कृते 'अहर्गणः' इति रूपम् । रूपरात्रीति ।
अहन् शब्दस्येति शेषः । रोऽसुपीति रत्वस्यापवादः । रूपरात्रिरथन्तरेषु शब्देषु परेषु
सत्सु अहन्नकारस्य रत्वं वाच्यमिति फलितोऽर्थः । पुना रमते इति । 'पुनर्-रमते' इति
स्थिते 'रो रि' इत्यनेन रेफस्य लोपे 'पुन रमते' इति जाते, अत्र 'ढूलोपे पूर्वस्य दीर्घो-
ऽणः' इति सूत्रेणात्र लोपनिमित्ते रेफे परे पूर्वारूपस्य नकारोत्तरवर्तिनोऽकारस्य
दीर्घे च विहिते 'पुना रमते' इति सिद्धम् । 'हरिस्-रम्यः' इत्यत्र 'ससजुपो रुः'
इत्यनेन सस्य रत्वे अनुबन्धलोपे 'हरिर् रम्यः' इति जाते तत्र 'रो रि' इत्यनेन
रेफस्य लोपे 'ढूलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इत्यनेन दीर्घे च कृते 'हरी रम्यः' इति
सिद्धम् । 'शम्भुस्-राजते' अत्र 'ससजुपो रुः' इत्यनेन रत्वे उकारस्येत्संज्ञायां लोपे
च 'शम्भुर् राजते' इति जाते तत्र 'रो रि' इत्यनेन रेफस्य लोपे 'ढूलोपे पूर्वस्य
दीर्घोऽणः' इत्यनेनोकारस्य दीर्घे 'शम्भू राजते' इति भवति । ढोढे लोप इति ढो, इति
ढ् शब्दस्य षष्ठीतेन ढकारस्येति लब्धम् । ढकारे परे ढस्य लोपः इत्यर्थः फलितः । तेन
पूर्वढकारस्य लोपस्य बोधः । तेन प्रक्रियायां ढकारद्वयस्य सिद्धिः । तद् हिसायाम्,
वृह उद्यमने; आभ्यां क्तप्रत्यये 'हो ढः' इति ढत्वे 'क्षपस्तथोः' इति तकास्य धत्वे
तस्य ण्वेन ढकारे 'वृढ् ढ' 'वृढ् ढ' इति जाते अत्र 'ढो ढे लोपः' इत्यनेन पूर्वढस्य
लोपे सति 'ढूलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इत्यस्मिन् सूत्रे अणग्रहणाभावे ढलोपनिमित्ते
ढकारे परे पूर्वस्य ऋकारस्य दीर्घे प्राप्ते तन्मा भूत् इति 'अण्' ग्रहणमत्र कृतम् ।

रूपरात्रि—रूप, रात्रि ओर रथन्तर शब्दके परे अहन् शब्दके नकारके स्थानमें रेफ
आदेश हो ।

अहरा—पत्यादि शब्दके परे अहरादिका विसर्गापवाद रेफ आदेश हो, विकल्पसे ।

रो रि—रेफका लोप हो रेफके परे ।

ढूलोपे—ढकारलोप और रेफलोप निमित्तक जो ढकार, रेफ उनके परे पूर्व अणको
दीर्घ हो ।

ढोढे—ढकार के परे ढकारका लोप हो ।

SHI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASANA JNANAMANDIR
LIBRARY

अणः किम् ? तृढः । वृढः । 'मनस्-रथ' इत्यत्र रुत्वे कृते, 'हशि च'त्युत्वे 'रोरी'ति लोपे च प्राप्ते । विप्रतिषेधे परं कार्यम् । १।४।२। तुल्यबलविरोधे परं कार्यं स्यात् । इति लोपे प्राप्ते । 'पूर्वत्रासिद्ध'मिति 'रो री'त्यस्याऽसिद्धत्वादुत्त्वमेव—मनोरथः ॥ एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि । ६।१।३२। अककारयोरेतत्तदोर्यः सुस्तस्य लोपो हलि, नतु नञ् समासे । एष विष्णुः । स शम्भुः । अकोः किम् ?

तेनात्र न दीर्घस्तदेवाह—अणः किम् ? तृढः वृढ इति । विप्रतिषेध इति । मनोरथ इति । 'मनस्-रथः' इति स्थितेऽत्र 'ससञ्जुषो रुः' इत्यनेन पदान्तस्य सस्य रुत्वे विहिते 'हशि च' इत्यनेन रोरुत्वे प्राप्ते 'रो रि' इत्यनेन रेफस्य लोपे च प्राप्ते तर्हि प्राक् केन भाव्यमिति शङ्कायाम् 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' इति सूत्रेण परं कर्त्तव्यम् । तत्र 'हशि च' इति सूत्रं षष्ठाध्यायस्थं 'रोरि' इति चाष्टमाध्यायस्थम् इति 'हशि च' इत्यपेक्षया 'रो रि' इत्यस्य परत्वम्, इति 'रो रि' इत्यनेन रेफस्य लोपे प्राप्ते, तत्र 'पूर्वत्रासिद्धम्' इत्यधिकारसूत्रेण सपादसप्ताध्यायीस्थसूत्रदृष्ट्या त्रैपात्रिकस्य 'रो रि' इत्यस्यासिद्धत्वप्रतिपादनात् न 'रो रि' इत्यनेन रेफस्य लोपः, किन्तु 'हशि च' इत्यनेन रोरुत्वे 'मन उ रथः' इति जाते 'आद्गुणः' इत्यनेन पूर्वपरयोः स्थाने ओकाररूपे गुणे कृते 'मनोरथः' इति सिद्धमिति । एतत्तदोरिति । एतत्तच्छब्दयोरनुकरणत्वेन शब्दपरत्वम् । अतः सूत्रे नैकशेषः । सु इति लुप्तपष्टीकं पदम् एतत्तदोरित्यनेनान्वेति—एतत्तदोः सकारस्येति । अत एव 'सोलोपः सुलोप' इति न पष्टी समासः, असामर्थ्यात् । अविद्यमानः ककारः ययोस्तौ अकौ तयोः अकोरिति बहुव्रीहिस्तदाह—अककारयोरित्यादिना । एष विष्णुरिति । 'एतद्-सु विष्णुः' इति दशायां 'त्यदादीनामः' इत्यनेन अकारान्तादेशे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' इत्यनेन तस्य सत्वे सस्य च पत्वे 'एष सु विष्णुः' इति जाते, अत्र 'एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि' इति सूत्रेण सोलोपे विहिते सति 'एष विष्णुः' इति सम्पद्यते । अकोः किमिति । न च अकचि सति शब्दान्तरत्वात् प्रकृते प्राप्तिरेव नास्तीति वाच्यम् । 'तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते' इति परिभाषयात्र प्राप्तेः सत्त्वात् । प्रकृतपरिभाषायामिदमेव ज्ञापकं बोध्यम् । 'एषकस्-रुद्रः' अत्र एतच्छब्दस्य सककारत्वान्न सुलोपः, किन्तु 'ससञ्जुषो रुः' इत्यनेन रुत्वे 'हशि च'

विप्रतिषेध—विप्रतिषेध (तुल्यबलविरोध) होनेपर परकार्य हो ।

नोटः—परस्परलब्धावकाशयोरैकत्र लक्ष्ये समावेशस्तुल्यबलविरोधः । अर्थात् अपने २ लक्ष्योंमें चरितार्थ दो सूत्रोंका (क्वचित्) एक लक्ष्यमें समावेश होनेको 'तुल्यबलविरोध' कहते हैं ।
एतत्तदोः—ककार रहित जो एतत् और तत् शब्दसम्बन्धी 'सु' उसका लोप हो, हल्के परे । किन्तु 'नञ्' समासमें नहीं हो ।

एषको रुद्रः । अनञ्समासे किम् ? असः शिवः । हलि किम् ? एषोऽत्र ॥ सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम् । ६।१।१३४। 'स' इत्यस्य सोर्लोपः स्यादचि, पादश्चेत्लोपे सत्येव पूर्येत । 'सेमामविड्ढि प्रभृतिम्' । 'सैष दाशरथी रामः' ॥ इति स्वादिसन्धिः ।

॥ इति पञ्चसन्धिः ॥



इत्युत्वे 'आद्गुणः' इति गुणे 'एषको रुद्रः' इति रूपम् । अत्र 'सको रुद्रः' इत्यपि अनञ्समासे किमात । अनञ्समासे इति न पर्युदासः, किन्तु प्रसज्यप्रतिषेधः । प्रकृते 'अस सु शिव' इत्यत्र नञ्समासत्वात् 'एतत्तदोः' इति सूत्रस्याप्राप्तौ 'ससजुपो रुः' इति सस्य रुत्वे 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति रेफस्य विसर्गात्वे 'असः शिवः' प्रत्युदाहरणम्बोध्यम् । एषोऽत्रेति । 'एष सु अत्र' इत्यत्र हल्परत्वाभावात् 'एतत्तदोः' सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि' इत्यस्याप्राप्तौ सस्य 'ससजुपो रुः' इत्यनेन रुत्वे 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' इत्यनेन उत्त्वे 'आद्गुणः' इत्यनेन गुणे 'एङः पदान्तादति' इत्यनेन पूर्वरूपे च कृते 'एषोऽत्र' इति जायते । सोचि लोप इति । स इति प्रथमैकवचनान्तं स्वरूपपरम् । ततः पष्ठथा लुक् । सस् शब्दस्येति लभ्यते । सुलोप इत्यनुवर्तते; तदाह—प इत्यस्येत्यादिना । 'सस् इमामविड्ढिप्रभृतिम्' इत्यत्र 'सोचि लोपे चेत्पादपूरणम्' इति सकारलोपाभावे पादोऽत्र न पूर्यते अतोऽनेन सकारलोपे 'आद्गुणः' इत्यनेन गुणे सति 'सेमामविड्ढिप्रभृतिम्' इति सिद्धम् । एवम्—'सस्-एष दाशरथी रामः' इत्यत्र 'सोचि लोपे चेत्पादपूरणम्' इत्यनेन पादपूरणार्थं

सोऽचि—लोप होनेसे यदि पादकी पूर्ति होती हो तो अच्के परे स (तत् शब्द) सम्बन्धी सुका लोप हो । सैष—सम्पूर्ण श्लोक इस प्रकारका हैः—

'सैष दाशरथी रामः, सैष राजा युधिष्ठिरः । सैष कर्णो महात्यागी, सैष भीमो महाबलः ॥' यह श्लोक 'अनुष्टुप्' छन्दमें है । इसके प्रतिपादमें आठ २ अक्षर होते हैं । यहाँ पर यदि सुलोप नहीं होता तो 'सस्+एष' ऐसी स्थितिमें रुत्व-यत्व-यलोप होकर 'स एषः' ऐसा हो जाता और प्रत्येक पादमें एक अक्षर बढ़जानेसे पादकी पूर्ति नहीं होती ।

(सुलोप होनेपर 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' लगता नहीं, अतः वृद्धि होकर 'सैषः' बनता है) ।

शुद्ध करोः—जलोर्मयः । केशवोर्ध्वम् । तवैदम् । स्वेरः । दिवोक्तसः । उपेति । प्रैषयति । रामैहि । उपरोक्तः । गवौद्यानम् । सखैहागच्छ । कव्यागच्छतः । अम्बततः । रामश्चेते । तत्तद्विः । अधिस्थाता । देवो षष्ठः । दिगेशः । ददत्तसति । महान्नात्मा । विषयान्नाह जगत्नायकः । संचितः । यम्लोकम् । गच्छंचकोरः । मतिमाच्छन्तः । पुङ्खनित्रम् । वाच्छूरः । वाक्मात्रेण । वृक्षछाया । रामोक्नुष्यति । मनोकामना । अहोगतः । सो रामः । एषो बालः । बालो चलति । प्रातो गमनम् । अञ्जो इन्द्रः । एषो विष्णुः । सूर्यो सदैव । हतो शत्रुः । मनो

अथाऽजन्ताः पुंलिङ्गाः

अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् । १।२।४५। धातुं, प्रत्ययं, प्रत्ययान्तं च वर्जयित्वाऽर्थवच्छब्दस्वरूपं प्रातिपदिकसंज्ञं स्यात् ॥ कृत्तद्धितसमासाश्च । १।२।४६। कृत्तद्धितान्तौ, समासाश्च तथा स्युः ॥ स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्

सलोपे विहिते 'वृद्धिरेचि' इत्यनेन वृद्धौ 'सैष दाशरथी रामः' इति पादपूरणसिद्धिः ।
इति स्वादिसन्धिप्रकरणम् ।

'स्वौजस्' इत्यादिना स्वादिप्रत्ययान्वच्यति । तत्र 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' इत्यधिकृतम् । किं तत्प्रातिपदिकमिति जिज्ञासायामाह—अर्थवदिति । अर्थोऽस्यास्तीति अर्थवत् । नपुंसकलिङ्गनिर्देशानुसारात् शब्दस्वरूपमिति विशेष्यमध्याहार्यम् । अधातुरिति, अप्रत्यय इति च तद्विशेषणम् । न धातुरधातुरिति नञ्त्तत्पुरुषः । 'परवलिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' इति पुंस्त्वम् । अप्रत्ययः इत्यावर्तते । प्रत्ययभिन्नं प्रत्ययान्तभिन्नं च विवक्षितम् न चात्र 'संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति' इति परिभाषया तदन्तविध्यभाव इति शङ्क्यम् । प्रत्ययस्य यत्र संज्ञा तत्रैव तद्विषयात् । तदाह—धातु प्रत्ययमित्यादिना । कृत्तद्धितेति । कृच्च तद्धितश्च समासश्चेति विग्रहः । पूर्वसूत्रात् प्रातिपदिकमित्यनुवर्तते, बहुवचनान्ततया विपरिणम्यते । 'प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः' इति परिभाषया कृत्तद्धितेति तदन्तग्रहणन्तदाह—कृत्तद्धितान्ताविन्यादिना । स्वौजसमौडिति । सु, औ, जस्-अम्, औट्, शस्-टा, भ्याम्, मिस्र-ङे, भ्यां, भ्यस्-

मुखम् । देवाः हसन्ति । अन्तराष्ट्रियः । आतो रमयं ।

इस प्रकार इन्दुमती टीकामें स्वादिसन्धि प्रकरण समाप्त हुआ ।



अर्थ—धातु, प्रत्यय और प्रत्ययान्त भिन्न अर्थवान् शब्दस्वरूप प्रातिपदिक संज्ञक हो ।
नोटः—धातुभिन्न कहनेसे 'अहन्' की प्रातिपदिक संज्ञा होकर नलोप नहीं हुआ । प्रत्यय भिन्न कहनेसे 'रामेपु' और 'तनोषि' में 'सुप्, सिप्' की प्रातिपदिक संज्ञा होकर 'सात्पदाद्योः' से षत्वका निषेध नहीं हुआ । प्रत्ययान्तभिन्न कहनेसे 'रामेपु' इस समुदायको प्रातिपदिक संज्ञा होकर 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से सुका लोप नहीं हुआ ।

कृत्तद्धि—कृदन्त, तद्धितान्त और समासकी भी प्रातिपदिक संज्ञा हो ।

स्वौजस्—इस सूत्रका अर्थ 'ङ्याप्' सूत्रके साथ आगे देखो ।)

नोटः—'विभक्तिश्च' से सुप्-तिङ्की विभक्ति संज्ञा होती है । 'सुपसे प्रत्याहार लिया जावेगा और वह प्रत्याहार इसी सूत्रके आदि वर्ण—'सु'से लेकर अन्तिम 'सुप्'के 'प्' तकसे बनता है । 'सुप्' से सु, औ, जस् आदि इक्कीस विभक्तियाँ ली जाती हैं ।

सुमें उकारका 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से, जस्में जकार और टामें टकारका 'चुट्' से,

डसिभ्यांभ्यस्डसोसाम्यड्योस्सुप् । ४।१।२। सु औजस् इति प्रथमा । अम् औट् शस्-द्वितीया । टा भ्यां भिस्-तृतीया । डे भ्यां भ्यस्-चतुर्थी । डसि भ्यां भ्यस्-पञ्चमी । डस् ओस् आम्-षष्ठी । डि ओस् सुप्-सप्तमी । प्रत्ययः । ३।१।१। आ पञ्चमसमाप्तेरधिकारोऽयम् । परश्च । ३।१।२। अयमपि तथा । ड्याप्प्रातिपदिकात् । ४।१।१। ड्यन्तादावन्तात्प्रातिपदिकाच्च परे स्वादयः प्रत्ययाः स्युः ॥ सुपः । १।४।१०३। सुपस्त्रीणि त्रीणि वचनान्येकश एकवचन-द्विवचन-बहुवचन-संज्ञानि स्युः ॥ द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने । १।४।२२। द्वित्वैकत्वयोरेते स्तः ॥ विरामोऽवसानम् । १।४।११०। वर्णानामभावोऽवसानसंज्ञः स्यात् । रुत्व-विसर्गौ ।

डसि, भ्यां, भ्यस्-डस्, ओस्, आम्—डि, ओस्, सुप्, इत्येकविंशतिः स्वादयः । समाहारद्वन्द्वो वा इतरेतरयोगद्वन्द्वस्तेन सौत्रमेकवचनम् । ड्याप्प्रातिपदिकादित्यधिकृतं प्रत्ययः, परश्चेति च । यथायथं च विपरिणम्यते । ड्याप्प्रातिपदिकादिति । डो च आप् च प्रातिपदिकञ्चेति समाहारद्वन्द्वः । डी इत्यनेन डीप्-डीष्-डीनां सामान्येन ग्रहणम् । आप् इत्यनेन टाप्-डाप्-चापां च सामान्येन ग्रहणम् । प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तदन्तग्रहणम् । तदेतद्वाह—ड्यन्तादित्यादिना । सुप इति । सुप्प्रत्याहारः, पष्ठ्येकवचनम् । 'तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः' इति सूत्रं तानीति वर्जमनुवर्तते । 'तिङ्स्त्रीणि त्रीणि' इत्यतः त्रीणीत्यनुवर्तते तदाह—सुपस्त्रीणीत्यादिना । द्व्येकयोरिति । द्व्येकयोरिति भावप्रधाननिर्देशः । अन्यथा द्व्येकेष्विति स्यादित्यभिप्रेत्याह—द्वित्वैकत्वयोरिति । विरामोऽवसानमिति । विरम्यते अस्मिन्निति विरामः सामी-

औट् में टकार और सुप् में पकारका 'हलन्त्यम्' से, 'शस्' में शकार तथा डे, डसि, डस् और डि में डकारका 'लशक्तद्धिते' से इत्संज्ञा होकर 'तस्य लोपः' से लोप (श्रवणाभाव) हो जाता है । याद रहे कि विभक्तियों के अन्तिम सकार-मकारकी इत्संज्ञा इसलिये नहीं होती कि 'न विभक्तौ तुस्माः' (आगे पृ० देखो) निषेध कर देगा ।

प्रत्ययः—परश्च-ड्याप्—ये तीनों सूत्र अधिकार सूत्र हैं इन तीनोंका 'स्वौजस्०' सूत्रमें अधिकार होकर 'स्वौजस्०' सूत्रका विशिष्ट अर्थ निम्नलिखित होता हैः—

ड्यन्त-आवन्त-प्रातिपदिकसे पर स्वादि प्रत्यय हो ।

नोटः—अधिकार सूत्रका लक्षण—'स्वदेशे वाक्यार्थशून्यत्वे सति परदेशे वाक्यार्थबोधजनकत्वम्' अर्थात् अपनी जगह पर स्वार्थबोध नहीं होकर अन्य सूत्रोंके साथ अर्थबोध होना ।

सुपः—सुप्के जो तीन वचन बहु प्रत्येक क्रमशः एकवचन-द्विवचन-बहुवचन संज्ञक हो ।

द्व्येकयोः—द्वित्वकी विवक्षामें द्विवचन और एकत्वकी विवक्षामें एकवचन हो ।

विरामो—वर्णोंका अभाव अवसान संज्ञक हो ।

नोटः—जिस वर्णके आगे कोई दूसरा वर्ण नहीं हो वह अवसान वर्ण कहलाता है ।

रामः । (अयोगवाहानामकारस्योपरि, शर्षु चेति वाच्यम् ।) यमाऽ-
नुस्वार-विसर्ग-जिह्वामूलीयो-पध्मानीया अयोगवाहाः । तेनेह विसर्गस्य यत्त्वादनञि
चेति द्वित्वपक्षे-रामः ॥ सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ । १।२।६४। एकविभक्तौ
यानि सरूपाण्येव दृष्टानि तेषामेक एव शिष्यते, अन्ये तु लुप्यन्ते । यः शिष्यते स
पिकेऽधिकरणे घञ् । विरमणम्—क्रियाया अभावः । स च शब्दशास्त्रप्रस्तावात् वर्णा-
नामुच्चारणाभावात्मक इति लभ्यते । तदेतदाह—वर्णानामभाव इत्यादिना । राम
इति । 'रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि । इति रामपदेनासौ परं ब्रह्मा-
भिधीयते ॥' इति श्रुतिः । अत्रैव यदि यौगिको रामशब्द आश्रीयते; तदा 'कृत्तद्धित-
समासाश्च' इत्यनेन प्रातिपदिकसंज्ञा । यदि च रूढो दशरथात्मजो रामशब्दस्तदा
'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' इत्यनेन प्रातिपदिकसंज्ञा । तस्यां कृतायां
'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' इति सूत्रेण प्रातिपदिकसंज्ञकरामशब्दात् 'खले कपोतन्यायेन'
सर्वे स्वादयः प्राप्ताः, तत्र 'सुपः' इत्यनेन प्रथमादिसप्तम्यन्तत्रिके प्रत्येकम् एकद्वि-
वहुवचनसंज्ञाः विहिताः । तेषु प्रथमायाः एकवचनविवक्षायां रामशब्दात् सुप्रत्यये
'राम सु' इति जाते सकारोत्तरवर्त्युकारस्य 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इतीत्संज्ञा-
याम् 'तस्य लोपः' इति लोपे 'राम स्' अत्र 'ससञ्चो रुः' इत्यनेन रुत्वे रेफोत्तर-
वर्तिन उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति विसर्गे रामः
इति रूपम् । रामशब्दात् द्विवचनविवक्षायां प्रथमाया द्विवचने औ इति समागते 'राम
राम औ' अत्र 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' इति एकरामस्य शेषे सति 'प्रथमयोः
पूर्वसवर्णः' इति पूर्वसवर्णदीर्घे प्राप्ते 'नादिचि' इत्यनेन तस्य निषेधे 'वृद्धिरेचि'
इति वृद्धौ—'गमौ' इति । सरूपाणामिति । एकविभक्ताविति सरूपाणामित्यत्रान्वेति ।
समानं रूपं येषां तानि सरूपाणि । ज्योतिर्जनपदेत्यादिना समानस्य सभावः ।
वृद्धोयूनेत्युत्तरसूत्रादेवेत्यपकृत्यते । शिष्यत इति शेषः । कर्मणि घञ् । एकश्चासौ
शेषश्चेति पूर्वकालैकेति समासः । एकस्यां विभक्तौ परतः सरूपाणामेव दृष्टानां मध्ये

अयोगवाहानाम्—अयोगवाहोंका अक्षर समान्नायमें अकारके आगे तथा शर प्रत्याहार-
में भी उपसंख्यान करना (पाठ समझना) चाहिये ।

नोटः—अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय और यमोंको अयोगवाह कहते हैं ।

सरूपाणाम्—एक (साधारण याने यावत्) विभक्तिमें जहाँ समान ही रूप देखे गये
हों वहाँ उनमेंसे एक ही शेष हो (वचे) और अन्यका लोप हो जाय ।

नोटः—इस सूत्रसे यह नियम सिद्ध होता है कि दो या बहुत अर्थ-बोध करानेमें भी
शब्दका एक ही बार उच्चारण होना चाहिये । 'एक' शब्दका आठ अर्थ होता है ।
यहाँ एकका साधारण (यावत्) अर्थ किया गया है । कहा भी हैः—
एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा । साधारणे समानेऽल्पे संख्यायाञ्च प्रयुज्यते ॥

लुप्यमानार्थाऽभिधायी । प्रथमयोः पूर्वसवर्णः । ६।१।१०२। अकः प्रथमाद्वितीययो-
रचि परे पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेशः स्यात् । इति प्राप्ते । नादिचि । ६।१।१०४।
आदिचि न पूर्वसवर्णदीर्घः । वृद्धिरेचि । रामौ । बहुषु बहुवचनम् । १।४।२१।
बहुत्वविवक्षायां बहुवचनं स्यात् ॥ चुटू । १।३।७। प्रत्ययाद्यौ चुटू इतौ स्तः ॥
विभक्तिश्च । १।४।१०४। सुप्तिङौ विभक्तिसंज्ञौ स्तः ॥ न विभक्तौ तुस्माः
। १।३।४। विभक्तिस्त्यास्तुस्मा नेतः । इति सस्य नेत्वम् । रामाः ॥ एकवचनं
सम्बुद्धिः । २।३।४९। सम्बोधने प्रथमाया एकवचनं 'सम्बुद्धि'संज्ञं स्यात् ॥ यस्मा-
त्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् । १।४।१३। यः प्रत्ययो यस्मात्क्रियते तदादि

एकः शिष्यत इति फलितोऽर्थः । प्रथमयोरिति । 'अकः सवर्णे' इत्यतोऽकः इति । प्रथ-
मयोरिति अवयवपट्टी । प्रथमाद्वितीये सुप्-विभक्ती विवक्षिते । अचि, इति इको
यणचि इत्यतोऽनुवर्तते । एकः पूर्वपरयोरित्यधिक्रियते । नादिचीति । न, आत्, इति
रामा इति । रामशब्दात् प्रथमाबहुवचने जसि कृते 'राम राम राम जस्' इति जाते
तत्र 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' इति एकराम अवशिष्टे 'राम जस्' अत्र
'चुटू' इत्यनेन प्रत्ययस्यादिभूतस्य जकारस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इत्यनेन
लोपे 'राम अस्' इति दशायाम् अकारोत्तरवर्तिसकारस्य 'हलन्त्यम्' इत्यनेनेत्संज्ञा
प्राप्ता, सा 'विभक्तिश्च' इति विभक्तिसंज्ञायां 'न विभक्तौ तुस्माः' इत्यनेन निषि-
द्धा । अथ च 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति पूर्वपरयोः पूर्वसवर्णदीर्घादेशे कृते
'रामास्' इति भूते 'ससजुषो रुः' इति सस्य रुत्वे अनुबन्धलोपे 'खरवसान-

प्रथमयोः—'अक्' से प्रथमा और द्वितीया सम्बन्धी अच् परमें हो तो पूर्व-परके स्थानमें
पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश हो । नादिचि—अवर्णसे पर 'इच्' हो तो पूर्वसवर्णदीर्घ नहीं हो ।

बहुषु—बहुत्वकी विवक्षामें बहुवचन हो ।

चुटू—प्रत्ययके आदि चवर्ग और टवर्गकी इत्संज्ञा हो । विभक्तिश्च—सुप्-तिङ्की
विभक्ति संज्ञा हो ।

नोटः—'सुप्' से सुप् प्रत्याहार लिया जाता है । (पृ० २४ देखो) । 'तिङ्' से—'तिप्
तस् सि सिप् थस् थ मिप् वस् मस् त आताम् श थास् आथाम् ध्वम् इङ् वहि महि' ये
अठारह लिए जाते हैं (तिङन्तप्रकरणमें देखो) ।

न विभक्तौ—विभक्तिस्थित तवर्ग, सकार और मकारकी इत्संज्ञा नहीं हो ।

एकवच—सम्बोधनमें प्रथमाका एकवचन (सु) की सम्बुद्धि संज्ञा हो ।

यस्मात्—जो प्रत्यय जिस (शब्द) से विधान किया जाय तदादि (वह है आदिमें
जिस समुदायके वह) शब्दस्वरूप उस प्रत्ययके परे अङ्गसंज्ञक हो ।

शब्दस्वरूपं तस्मिन्प्रत्यये परेऽङ्गसञ्ज्ञं स्यात् ॥ एङ्हस्वात्सम्बुद्धेः । ६।१।६९।
 एङन्ताद्घ्रस्वान्ताच्चाऽङ्गादल्लुप्यते सम्बुद्धेः । हे राम । हे रामौ । हे रामाः ॥
 अमि पूर्वः । ६।१।१०७। अकोऽम्यचि पूर्वरूपमेकादेशः स्यात् । रामम् । रामौ ॥
 लशक्तद्धिते । १।३।८। तद्धितवर्जप्रत्ययाद्या लशकवर्गा इतः स्युः ॥ तस्माच्छसो
 नः पुंसि । ६।१।१०३। पूर्वसवर्णदीर्घात्परो यः शसः सस्तस्य नः स्यात्पुंसि ॥
 अट्कुप्वाङ्नुम्वयवेऽपि । ८।४।२। अट्, कवर्गः, पवर्गः, आङ्, नुम्—एतैर्व्य-
 स्तैर्यथासम्भवं मिलितैश्च व्यवधानेऽपि रषाभ्यां परस्य नस्य णः स्यात् समानपदे ।

योविसर्जनीयः' इति रेफस्य विसर्गे 'रामाः' इति रूपं सिद्धम् । हे राम इति ।
 रामशब्दात्सम्बोधनार्थकप्रथमैकवचनविवक्षायां सौ कृते 'राम सु' इति जाते
 'एकवचनं सम्बुद्धिः' इति सोः सम्बुद्धिसंज्ञायामनुबन्धलोपे सति 'यस्मात्प्र-
 त्ययविधिस्तदादिप्रत्ययेऽङ्गम्' इत्यनेन रामशब्दस्याङ्गत्वे 'एङ्हस्वात्सम्बुद्धेः' इत्यनेन
 सम्बुद्धिसम्बन्धिनि हल्रूपे सकारे लुप्ते सम्बोधनद्योतक हे इत्यस्य पूर्वयोगे कृते 'हे
 राम' इति । अमि पूर्व इति । 'अकः सवर्णे दीर्घः' इत्यतो अक इति पञ्चम्यन्तमनु-
 वर्तते । 'एकः पूर्वपरयोः' इत्यधिकारः । 'इको यणचि' इत्यतोऽचि इत्यनुवर्तते
 तदाह—अकोऽम्यचीत्यादिना । रामाविति । रामशब्दात् द्वितीयाया द्विवचनविवक्षा-
 याम् 'औटि' कृते 'राम राम औ' अत्र 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' इति एकराम
 अवशिष्टे सति 'रेफस्येत्संज्ञायां लोपे च 'वृद्धिरेचि' इत्यनेन वृद्धौ प्राप्तायां ताम्बा-
 धित्वा 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इत्यनेन पूर्वसवर्णदीर्घे प्राप्ते तस्य 'नादिचि' इत्यनेन
 निषेधे कृते 'वृद्धिरेचि' इत्यनेन वृद्धौ कृतायाम् 'रामौ' इति सिद्धयति । अट्कुप्वाङ्
 इति । 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' इति सम्पूर्ण सूत्रमनुवर्तते । रषाभ्यामिति पञ्च-
 मीनिर्द्देशाद्व्यवहितस्याप्राप्तौ वचनमिदम् । तत्र सर्वैर्व्यवायोऽसम्भवी । एकैकमात्र-
 व्यवाय इत्यपि नार्थः, चुभ्नादिषु चुभ्नाशब्दपाठसामर्थ्यात्सरूपाणामित्यादिनिर्द्देशाच्चे-
 त्यभिप्रेत्याह—न्यस्तैर्यथासम्भवमित्यादिना । रामानिति । रामशब्दाद् द्वितीयावहुवचन-
 विवक्षायां शसि समागते 'लशक्तद्धिते' इति शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'राम अस्' इत्य-

एङ्ह—एङन्त और ह्रस्वान्त अङ्गसे पर सम्बुध्यवयव हल्का लोप हो ।

अमि—अकृते अम्सम्बन्धी अच् परमें रहनेसे पूर्व-परके स्थानमें पूर्वरूप एकादेश हो ।

लश—तद्धितको छोड़कर प्रत्ययके आदि लकार, शकार और कवर्गकी इत्संज्ञा हो ।

तस्मा—पूर्वसवर्णदीर्घसेपर शस् सम्बन्धीसकारके स्थानमें नकार आदेश हो, पुँल्लिङ्गमें ।

अट्कु—अट्-कवर्ग-पवर्ग-आङ्-नुम् (नुमस्थानिक अनुस्वार)—इनके व्यस्त (पृथक् पृथक्) व्यवधान रहनेपर अथवा यथासम्भव मिलित (एकसे अधिक या सबका भी) व्यवधान रहनेपर रेफ-षकारसे पर नकारको गत्व हो, समान (एक) पदमें ।

इति प्राप्ते । पदान्तस्य । ८।४।३७। नस्य णो न । रामान् ॥ टाडसिङ्गसामि-
नात्स्याः । ७।१।१२। अदन्ताद्यादीनामिनादयः क्रमात् स्युः । णत्वम् । रामेण ॥
सुपि च । ७।३।१०२। यजादौ सुप्यतोऽङ्गस्य दीर्घः स्यात् । रामाभ्याम् ॥ अतो
भिस ऐस् । ७।१।१५। अतोऽङ्गात्परस्य भिस ऐम् स्यात् । 'अनेकाल्शिस्त्वस्य' ।
रामैः ॥ डेर्यः । ७।१।१३। अतोऽङ्गात्परस्य डेर्यदेशः स्यात् ॥ स्थानिचदादेशो-

वशिष्टे, अत्र 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति पूर्वसवर्णदीर्घादेशे विहिते 'रामास्' इति
जाते 'तस्माच्छसो नः पुंसि' इति सस्य नत्वे कृते 'रामान्' इति रूपम् । अत्र 'अट्-
कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति नस्य णत्वे प्राप्ते 'पदान्तस्य' इति निषिद्धे सति णत्वा-
भावेन 'रामान्' इति जायते । रामेणेति । रामशब्दात् तृतीयैकवचनविवक्षायां टा-
समागते 'राम टा' अत्र 'टाडसिङ्गसामिनात्स्याः' इति टास्थाने इनादेशे कृते
'आद्गुणः' इति गुणे च विहिते 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति नस्य णत्वे 'रामेण'
इति । रामाभ्यामिति । रामशब्दात् तृतीयाद्विवचनविवक्षायां भ्यामि प्रत्यये 'राम
भ्याम्' इति दशायां 'सुपि च' इति यजादिसुबन्तःपातिनि भ्यामि परे अदन्ताङ्गस्य
राम इत्यस्य दीर्घे प्राप्ते 'अलोऽन्त्यस्य' इत्यनेनाकारस्य दीर्घे 'रामाभ्याम्' इति ।
रामैरिति । रामशब्दात् तृतीयावहुवचनविवक्षायां भिसि प्रत्यये 'राम भिस्' इति जाते
अत्र 'अतो भिस ऐस्' इति भिस ऐसादेशे प्राप्ते क्व स्यादिति जिज्ञासायाम् 'अने-
काल्शिस्त्वस्य' इति परिभाषया अनेकाल्त्वात्सर्वादेशे 'राम ऐस्' इति भूते अत्र
'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ सस्य रुत्वे विसर्गे च 'रामैः' इति । स्थानिवदिति । गुरुस्थाना-
पन्ने गुरुपुत्रादौ स्थानापत्त्या तद्धर्मलाभो लोकतः सिद्धः । कुशादिस्थानापन्नेषु शरा-
दिषु च वैदिकन्यायसिद्धः । इह तु शास्त्रे स्वं रूपं शब्दस्येति वचनात् स्थानिधर्माः

पदान्त—पदान्त नकारको णकार नहीं हो ।

नोटः—णत्वविधायक और तन्निषेधक अनेक सूत्र हैं । पर उन सर्वोंके निष्कर्ष 'चुड-
तुलशर्व्यवाये न' यह भाष्यवार्तिक स्मरण रखने योग्य है ।

फलित यह हुआ कि एक पदमें ऋकार, एकार और रेफसे पर चवर्ग टवर्ग, तवर्ग
और ल तथा शर् (श ष स) वर्णसे भिन्न एक, दो या अनेक वर्ण व्यवधान रहने-
पर भी पदान्त भिन्न नकारके स्थानमें णत्व हो । इतना याद रहनेपर 'वार्तिकेन'
आदिमें णत्व-प्राप्तिकी शङ्का ही नहीं उठती ।

टाडसि—अदन्त अङ्गसे पर टा-डसि-ङ्स्के स्थानमें कमसे इन्-आत्-स्य आदेश हो ।

सुपि—यजादि सुप्के परे अदन्त अङ्गको दीर्घ हो । अतो—अदन्त अङ्गसे पर भिस्के
स्थानमें ऐस् आदेश हो । डेर्यः—अदन्त अङ्गसे पर डेके स्थानमें 'य' आदेश हो ।

स्थानि—आदेश स्थानिवत् (स्थानिधर्मवत्) हो, परन्तु स्थानिवृत्ति जो अल् तदाश्रय
विधि कर्तव्यमें नहीं हो, (अर्थात् अलाश्रय विधि कर्तव्यमें स्थानिवद्भाव नहीं हो) ।

ऽनल्विधौ । १।१।५६। आदेशः स्थानिवत्स्यान्न तु स्थान्यलाश्रयविधौ । वर्णमाश्रितो विधिरल्विधिः । आदेशोऽलाश्रयविधौ तु स्यादेव । इति स्थानिवत्त्वात्सुपि चेति दीर्घः । रामाय । रामाभ्याम् ॥ बहुवचने झल्येत् । ७।३।१०३। फलादौ बहुवचने सुप्यतोऽङ्गस्यैकारः । रामेभ्यः । सुपि किं ? पचध्वम् । वाऽवसाने । ८।४।५६। अवसाने फलां चरो वा स्युः । रामात् । रामाद् । रामाभ्याम् । रामेभ्यः । रामस्य ॥ ओसि

आदेशेषु न प्राप्नुयुरिति तत्प्राप्त्यर्थं स्थानिवदिति सूत्रारम्भः । स्थानं च प्रसङ्गइत्युक्तम् । यस्य स्थानेऽन्यद् विधीयते तत् स्थानि । येन विधीयमानेन अन्यतः प्रसक्तं निवर्तते स आदेशः । स्थानिना तुल्यः स्थानिवत् । 'तेन तुल्यम्' इति वतिप्रत्ययः । आदेशः स्थानिना तुल्यो भवति स्थानिधर्मको भवतीति यावत् । अलिति वर्णपर्यायः । विधीयत इति विधिः कार्यम् । अलाश्रयो विधिः अल्विधिः । न अल्विधिः अनल्विधिः । अलाश्रयभिन्ने कार्ये कर्तव्ये इति प्रतीयमानोऽर्थः । अलाश्रयभिन्ने कार्ये कर्तव्ये स्थानिवन्न भवतीति फलितम् । 'अनल्विधौ', इत्यस्य निकृष्टार्थस्तु स्थान्यवयवाल्बृत्तिः अल्मात्रवृत्तियों धर्मः तद्वटितधर्मनिमित्तके कार्ये कर्तव्ये न स्थानिवदिति । रामायेति । रामशब्दात् चतुर्थ्यैकवचनविवक्षायां छे विहिते 'राम छे' इति जाते तत्र 'छेर्यः' इत्यनेन छे इत्यस्य स्थाने यकारादेशे कृते 'राम य' इति । अत्र यकारे 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' इति स्थानिवद्भावेन सुप्त्वमानीय 'सुपि च' इत्यनेनादन्ताङ्गस्य दीर्घे 'अलोऽन्त्यस्य' इत्यनेन अन्त्यस्यालो जाते 'रामाय' इति रूपं सिद्धम् । रामेभ्य इति । रामशब्दात् चतुर्थ्यैकवचनविवक्षायां भ्यसि प्रत्यये विहिते 'राम भ्यस्' इति जाते, तत्र यञादित्वात्सुप्त्वाच्च 'सुपि च' इत्यनेन दीर्घे प्राप्ते तम्बाधित्वा 'बहुवचने झल्येत्' इत्यनेन एकारे विहिते 'अलोऽन्त्यस्य' इत्यनेनान्त्यस्य मकारोत्तरवर्तिनोऽकारस्यैत्वे सस्य रुत्वे अनुबन्धलोपे रेफस्य विसर्गे च कृते 'रामेभ्यः' इति रूपम् । सुपि किमिति । 'बहुवचने झल्येत्' अस्मिन् सूत्रे पूर्वसूत्रतो यदि सुपीति नान्ववर्तिष्यत तदा 'पचध्वम्' इत्यत्र झलादिवहुवचने ध्वमि परे अदन्ताङ्गस्य दीर्घोऽभविष्यत् । तन्माभूदिति सुपीत्यनुवर्तनमावश्यकम् । रामादिति । रामशब्दात् पञ्चम्येकवचनविवक्षायां ङसौ समागते 'राम ङसि' इत्यत्र 'टाङ्सिङ्सामिनात्स्याः' इति ङसेरदादेशे कृते 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घे 'झलां जशोऽन्ते' इति तस्य दत्वे 'वाऽवसाने' इति दस्य विकल्पेन तत्वे 'रामात्' इति । पच्चे—'रामाद्' इति । रामस्येति । रामशब्दात् षष्ठ्येकवचनविवक्षायां ङसि 'राम ङस्' अत्र 'टाङ्सिङ्सामिनात्स्याः' इति ङसः

बहु—झलादि बहुवचन सुप्के परे अदन्त अङ्गके स्थानमें एत्व हो ।

वाऽव—अवसानमें विद्यमान झल्के स्थानमें चर् आदेश हो, विकल्पसे ।

ओसि—अदन्त अङ्गको एत्व हो, ओसुके परे ।

च । ७।३।१०४। अतोऽङ्गस्यैकारः स्यात् । रामयोः ॥ ह्रस्वनद्यापो नुट् । ७।१।५४।
ह्रस्वान्तान्नद्यन्तादावन्ताच्चाङ्गात्परस्याऽऽभो नुडागमः ॥ नामि । ६।४।३। नामि परे
अजन्ताङ्गस्य दीर्घः । रामाणाम् ! रामे । रामयोः । सुपि एत्वे कृते ॥ अपदान्तस्य
मूर्धन्यः । ८।३।५५। आ पादपरिसमाप्तेरधिकारोऽयम् । इण्कोः । ८।३।५७। इत्य-
धिकृत्य । आदेशप्रत्यययोः । ८।३।५९। इण्कुभ्यां परस्याऽपदान्तस्याऽऽदेशः प्रत्य-
यावयवश्च यः सस्तस्य मूर्धन्यादेशः । ईषद्विवृतस्य सस्य तादृश एव षः । रामेषु । एवं
कृष्णादयोऽप्यदन्ताः । सर्वादीनि सर्वनामानि । १।१।२७। सर्वादीनि शब्दरूपाणि

स्यादेशे 'रामस्य' इति रूपम् । रामयोरिति । रामशब्दात् पृष्ठीद्विवचनविवक्षायां
ओसि 'राम ओस्' अत्र 'ओसि च' इत्यनेन अदन्ताङ्गस्यैकारे प्राप्ते 'अलोऽन्त्यस्य'
इत्यनेनाकारस्य जाते 'रामे ओस्' अत्र 'एचोऽयवायाव' इत्यनेन अयादेशे संयुक्ते
भूते 'रामयोस्' इति तत्र सस्य ऋत्वे विसर्गे च 'रामयोः' इति रूपम् । रामाणा-
मिति रामशब्दात् पृष्ठीवहुवचनविवक्षायां आमि 'राम आम्' अत्र 'ह्रस्वनद्यापो
नुट्' इति नुटि टित्वादाद्यावयवे उकारटकारयोरित्संज्ञायां लोपे च 'राम नाम्'
इति जाते 'नामि' इति दीर्घे 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति णत्वे 'रामाणाम्'
इति । रामेष्विति रामशब्दात् सुपि 'राम सुप्' इति । तत्र पकारस्य 'हलन्त्यम्'
इतीत्संज्ञायाम् 'तस्य लोपः' इति लोपे 'वहुवचने झल्येत्' इत्येकारे 'रामेसु' इति
जाते तत्र 'आदेशप्रत्यययोः' इति सस्य षत्वे विहिते 'रामेषु' इति सिद्धम् । अथ
सर्वादिशब्देषु सर्वनामकार्यं विधास्यन् सर्वनामसंज्ञामाह—सर्वादीनीति । सर्वः
आदिः प्रथमावयवो येषां तानि सर्वादीनि । नपुंसकवशात् शब्दरूपाणीति विशेष्य-

ह्रस्व—ह्रस्वान्त, नद्यन्त और आवन्त अङ्गसे पर जो आम् उसको नुट्का आगम हो ।
नामि—अजन्त अङ्गको दीर्घ हो, नाम्के परे ।

अपदा—अष्टम अध्यायके तृतीय पादकी समाप्ति पर्यन्त 'अपदान्त'का अधिकार है ।

इण्कोः—यह भी उसी प्रकार अधिकार सूत्र है ।

आदेश—इण् और कवर्गसे पर जो अपदान्त आदेश स्वरूप सकार और प्रत्ययावयव
सकार उसके स्थानमें मूर्धन्य (पकार) आदेश हो ।

सर्वा—सर्वादि गणपठित शब्द सर्वनामसंज्ञक हों ।

नोटः—सर्वादयश्च पञ्चत्रिंशत् (३५)—सर्व, विश्व, उभ, उभय, डतर (प्रत्ययान्त),
डतम (प्रत्ययान्त), अन्य, अन्यतर, इतर, त्वत्, त्व, नेम (आधा), सम (सभी), सिम
(सभी), पूर्व, पर, अवर (पश्चिम), दक्षिण, उत्तर, अपर (पश्चिम, आगे), अधर,
(नीचे), स्व, (आत्मा, आत्मीय), अन्तर (बाह्य, परिधानीय), त्यद्, तद्, यद्,
एतद्, इदम्, अदस्, एक, द्वि, भवतु, किम् ।

सर्वनामसंज्ञानि स्युः । सर्व । विश्व । उभ । उभय । इतर । इतम । अन्य । अन्य-
तर । इतर । त्वत् । त्व । नेम । सम । सिम । पूर्वपराऽवरदक्षिणोत्तराऽप-
राऽधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम् । स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् । अन्तरं
बहिर्योगोपसंख्यानयोः । त्यद् । तद् । यद् । एतद् । इदम् । अदस् । एक । द्वि
युष्मद् । अस्मद् । भवतु । किम् ॥ ३५ ॥ एते पञ्चत्रिंशच्छब्दाः सर्वादयः ॥
जशः शी । ७।१।१७ अदन्तात्सर्वनाम्नो जसः शी स्यात् । अनेकाल्त्वात्सर्वादेशः ॥
सर्वे ॥ सर्वनाम्नः स्मै । ७।१।१४ अतः सर्वनाम्नो डेः स्मै । सर्वस्मै । डसिङ्योः
स्मात्स्मिनौ । ७।१।१५ अतः सर्वनाम्न एतयोरेतौ स्तः । सर्वस्मात् । सर्वस्माद् ।

मध्याहार्यम् । तेन सर्वादीनि शब्दस्वरूपाणि सर्वनामसंज्ञानि स्युरित्यर्थः । सर्वे
इति । अत्र प्रथमाया एकवचनेद्विवचनम् रामशब्दवत् 'सर्वः, सर्वौ' इति ज्ञेयम् ।
सर्वशब्दात् प्रथमाबहुवचनविवक्षायां जसि समागते 'सर्वादीनि सर्वनामानि'
इति सर्वशब्दस्य सर्वनामसंज्ञायां 'जसः शी' इति जसः स्थाने 'अनेकाल्शित्स-
र्वस्य' इत्यनेकाल्त्वात्सर्वादेशे 'सर्व शी' इति जाते 'लशक्तद्धित' इतीत्संज्ञायां
लोपे च 'आद्गुणः' इति गुणे 'सर्वे' इति रूपम् । सर्वस्मै इति । सर्वशब्दात्
चतुर्थ्येकवचनविवक्षायां डे समागते 'सर्वादीनि सर्वनामानि' इति सर्वनामसं-
ज्ञायां 'डेर्यः' इति यादेशे प्राप्ते तम्बाधित्वा 'सर्वनाम्नः स्मै' इत्यनेन 'डे'
इत्यस्य स्थाने स्मै आदेशे 'सर्वस्मै' इति रूपम् । रामशब्दवत् चतुर्थीद्विवचनं
बहुवचनञ्च 'सर्वाभ्यां सर्वेभ्यः' इति बोध्यम् । सर्वस्मादिति । सर्वशब्दात्पञ्चम्येक-
वचनविवक्षायां डसौ विहिते 'सर्व-डसि' अत्र 'डसिङ्योः स्मात्स्मिनौ' इति डसेः
स्थाने 'स्मात्' आदेशे कृते 'सर्वस्मात्' इति रूपम् । द्विवचनबहुवचनन्तु रामशब्द-
वत् 'सर्वाभ्याम्, सर्वेभ्यः' इति बोध्यम् । षष्ठ्याः एकवचनं द्विवचनमपि रामश-

पूर्वपरा—पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर—इन सातोंकी व्यवस्था (निय-
मसे अवधि आकांक्षा) में और असंज्ञामें सर्वनाम संज्ञा हो ।

स्वम—ज्ञाति (वान्धव) और धनवाचीसे भिन्न जो—आत्मा-आत्मीय वाची अर्थ
इनमें 'स्व' शब्दकी सर्वनाम संज्ञा हो । अन्तरं—बहिर्योग (बाह्य) और उपसंख्यान
(परिधानीय) अर्थमें 'अन्तर' शब्दकी सर्वनामसंज्ञा हो । जशः—अदन्त सर्वनामासे पर
जशके स्थानमें शी आदेश हो ।

नोटः—'शी' में शकार, ईकार ये दो अल् हैं अतः अनेकाल्० सूत्रसे (पृ० ३३ देखो)
शी आदेश जशके सम्पूर्ण स्थानमें होता है ।

सर्वना—अदन्त सर्वनामसे पर 'डे' के स्थानमें स्मै आदेश हो । डसिङ्योः—अदन्त
सर्वनामसे पर 'डसि' और 'डि'के स्थानमें यथाप्राप्त क्रमसे स्मात्, स्मिन् आदेश हो ।

आमि सर्वमाग्नः सुट् । ७।१।५२। अवर्णान्तात्परस्य, सर्वनाम्नो विहितस्याऽऽमः सुडागमः स्यात् । एत्वपत्वे । सर्वेषाम् । सर्वस्मिन् । शेषं रामवत् । एवं विश्वाद्योऽप्यदन्ताः । उभशब्दो नित्यं द्विवचनान्तः । उभौ २ । उभाभ्याम् ३ । उभयोः २ । तस्येह पाठोऽकजर्थः । डतरडतमौ—प्रत्ययौ । ‘प्रत्ययग्रहणे’ तदन्तग्रहणमिति तदन्ता ग्राह्याः । नेम-इत्यर्थः । समः-सर्व-

वदवत्-‘सर्वस्य, सर्वयोः’ इति । सर्वेषामिति । सर्वशब्दात् षष्ठीबहुवचनविवक्षायां आमि ‘सर्व-आम्’ इति स्थिते ‘आमि सर्वनाम्नः सुट्’ इति सुटि उटो लोपे, टित्वादाद्यावयवे ‘सर्व स् आम्’ इति जाते ‘बहुवचने झल्येत्’ इत्यनेन वकारोत्तरवर्तिनोऽकारस्यैत्वे ‘आदेशप्रत्यययोः’ इति पत्वे च ‘सर्वेषाम्’ इति रूपम् । सर्वस्मिन्निति । सर्वशब्दात् सप्तम्येकवचनविवक्षायां डौ सति तस्य स्थाने ‘डसिङ्योः स्मास्मिनौ’ इति स्मिन्नादेशे कृते सर्वस्मिन् इति रूपम् । तस्येह पाठोऽकजर्थ इति । उभशब्दो द्वित्वविशिष्टस्य वाचकः, अत एव नित्यं द्विवचनान्तः । ननु एवं सति ‘जसः शी’ ‘सर्वनाम्नः स्मै’ ‘डसिङ्योः स्मास्मिनौ’ ‘आमि सर्वनाम्नः सुट्’ इत्युक्तानां सर्वनामप्रयुक्तकार्याणां द्विवचने अभावादुभशब्दस्य सर्वादिगणे पाठो व्यर्थ इति चेद्, न । ‘अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राकृटेः’ इति अकजर्थ सर्वादिगणे तस्य पाठस्यावश्यकत्वात् । यद्यत्र पाठो न क्रियेत; तर्हि सर्वनामसंज्ञा न स्यात्, सर्वनामसंज्ञाभावे तु नाकच् । तेन ‘उभकौ’ इति न सिद्ध्येदिति भावः । डतरडतमाविति । अत्र ‘प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः’ इति परिभाषया डतरान्तडतमान्तौ ग्राह्यौ । केवल्योः तयोः संज्ञायाः प्रयोजनाभावात् । प्रत्ययाविति । ‘किं यत्तदो-निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच्’ ‘वा बहूनां जातिपरिग्रहे डतमच्’ ‘एकाच्च प्राचाम्’ इति विहितौ । तदन्ता ग्राह्या इति । डतरग्रहणेन कतरादिशब्दानाम्, डतमग्रहणेन कतमादिशब्दानाञ्च ग्रहणमिति भावः । नेम इत्यर्थः इति । ‘प्र नेमस्मिन् दृष्टो सोमो

आमि—अवर्णान्त अङ्गसे पर सर्वनामासे विहित जो ‘आम्’ उसको सुडागम हो ।

उभशब्दो—‘उभ’ शब्द दोका वाचक है इसलिये नित्य द्विवचनान्त है (एकवचन-बहुवचनमें इसका प्रयोग नहीं होता । तस्येह—‘उभ’ शब्दका सर्वादिगणमें पाठ सिर्फ अकच् प्रत्यय सिद्धिके लिये है सर्वनाम होनेसे ‘उभकौ’ में ‘अव्ययसर्वनाम्ना०’ से (प्राग्वीय प्रकरण देखो) अकच् होगा ।

डतर—सर्वादि गणमें डतर-डतम प्रत्यय हैं—‘प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्’ (प्रत्ययके ग्रहणमें तदन्तका ग्रहण हो) इस परिभाषासे तदन्तविधि होकर डतरान्त और डतमान्त लिये जाते हैं । नेम—सर्वादि गणमें अर्धपर्यायवाची ‘नेम’ शब्द है । समः—सर्वादि गणमें सर्वपर्यायवाची ‘सम’ शब्द है—तुल्यपर्यायवाची नहीं है । अत एव ‘यथासंख्य’ सूत्रमें तुल्यपर्यायवाची ‘समानाम्’ पदमें सुट् होकर ‘समेषाम्’ नहीं हुआ ।

पर्यायः । तुल्यपर्यायस्तु नेह—‘यथासङ्ख्यमनुदेशः’ ‘समानामिति’ ज्ञापकात् ॥
 पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम् । १।१।३४।
 एषां व्यवस्थायामसंज्ञायां सर्वनामसंज्ञा गणपाठात्सर्वत्र या प्राप्ता सा जसि वा स्यात् ।
 पूर्वे । पूर्वाः । स्वाभिधेयाऽपेक्षाऽवधिनियमो व्यवस्था । व्यवस्थायां किम् ? दक्षिणा
 गायकाः । कुशला इत्यर्थः । असंज्ञायां किम् ? उत्तराः कुरवः ॥ स्वमज्ञातिधना-

अन्तः’ इत्यृचि तथा दर्शनादिति भावः । समः सर्वपर्याय इति । सर्वशब्दसमानार्थकः
 समशब्दः सर्वादिगणे पठित इत्यर्थः । तुल्यपर्यायस्त्विति । तुल्यशब्दसमानार्थक इत्यर्थः ।
 ज्ञापकादिति । अन्यथा तत्र समेषामिति निर्दिशेदिति भावः । पूर्वे पूर्वा इति । पूर्वशब्दा-
 त्प्रथमावहुवचने जसि समागते ‘सर्वादीनि सर्वनामानि’ इति सर्वनामसंज्ञा नित्या
 प्राप्ता; तां प्रवाध्य ‘पूर्वपरावर’ इति सूत्रेण जसि विकल्पेन तां विधाय ‘जशः शी’
 इति जसः स्थाने श्यादेशे शस्येत्संज्ञायां लोपे च ‘पूर्व ई’ इति जाते ‘आद्गुणः’ इत्य-
 नेन पूर्वपरयोः स्थाने गुणे कृते ‘पूर्वे’ इति रूपम् । सर्वनामसंज्ञाऽभावे तु पूर्वसर्वर्णदी-
 र्घादेशे रुवे विसर्गे च ‘पूर्वाः’ इति रूपम् । असंज्ञायां किमिति । ‘संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु
 न सर्वादयः’ इति वक्ष्यमाणतया संज्ञायां सर्वनामत्वस्याप्रसक्तेरिति प्रश्नः । उत्तराः
 कुरव इति । कुरुशब्दो देशविशेषे नित्यं बहुवचनान्तः । सुमेरुमवधीकृत्य तत्रोत्तरशब्दो
 वर्तते इत्यस्तीह व्यवस्था, किन्तु संज्ञाशब्दत्वान्नास्य सर्वनामता । पूर्वादिशब्दानां तु
 दिक्षु अनादिस्संकेत इति न ते संज्ञाशब्दाः । कुरुषु त्त्तरशब्दस्याधुनिकस्सङ्केत इति
 भवत्ययं संज्ञाशब्द इति । स्वाभिधेयेति । अपेक्षयत इत्यपेक्षः । स्वस्य-पूर्वादिशब्दस्या-
 विधेयम्-वाच्यम्, तेन अपेक्ष्यस्य-अपेक्ष्यमाणस्य अवधेर्नियमः, व्यवस्थाशब्देन

पूर्वपरा—पूर्वादि सातोंके पूर्वनिर्दिष्ट इसी प्रकारके गणसूत्रसे सर्वत्र (सभी विभ-
 क्तियोंमें) प्राप्त जो सर्वनामसंज्ञा वह व्यवस्था और असंज्ञा अर्थमें जसके परे विकल्पसे हो ।

नोटः—‘पूर्वपरा०’ सूत्रका निष्कृष्ट अर्थ यह है कि—‘नियमेन अवधिसापेक्षार्थं
 संज्ञाभिन्नार्थं च वर्तमानानां पूर्वादीनां (सप्तानां) जसि सर्वनामसंज्ञा विकल्पो
 नत्वन्यत्र’ अर्थात् जहां पर वह इससे पूर्व है, पर है, अवर है, दक्षिण है, उत्तर है, अपर
 है या अधर है, इस अवधिके नियम (व्यवस्था) की आकांक्षा हो वहां पर और संज्ञासे
 भिन्न अर्थमें प्रयुक्त इन पूर्वादि शब्दोंकी जसके परे सर्वनामसंज्ञा होती है । इसीलिये—
 ‘दक्षिणा गायकाः’ (गायकाः = गानेवाले, दक्षिणाः = कुशलाः—चतुर हैं) यहां पर दक्षिण
 शब्दका कुशल अर्थ है अतः अवधिकी आकांक्षा नहीं होनेसे सर्वनामसंज्ञा नहीं हुई ।
 असंज्ञायाम्’ का प्रत्युदाहरण—‘उत्तराः कुरवः’ है । यहां उत्तर शब्द ‘उत्तर कुरुदेश’ की
 संज्ञा है । इसलिये सर्वनामसंज्ञा नहीं हुई ।

स्वमज्ञा—ज्ञाति-धन वाचीसे भिन्न जो आत्मा-आत्मीयवाची ‘स्व’ शब्द उनकी गण-

ख्यायाम् । ११।१३५। ज्ञातिधनान्यवाचिनः स्वशब्दस्य प्राप्ता संज्ञा जसि वा ।
स्वे । स्वाः । आत्मीयाः, आत्मान इति वा । ज्ञातिधनवाचिनस्तु स्वाः । ज्ञातयोऽर्था
वा ॥ अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः । ११।१३६। बाह्ये, परिधानीये चार्थेऽन्तर-
शब्दस्य प्राप्ता संज्ञा जसि वा । अन्तरे अन्तरा वा गृहाः । बाह्या इत्यर्थः ।
अन्तरे अन्तरा वा शाटकाः । परिधानीया इत्यर्थः ॥ पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा
। ७।१।१६। एभ्यो ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ वा स्तः । पूर्वस्मात्—पूर्वात् । पूर्वस्मिन्—
पूर्वे । एवं परादीनामपि । शेषं सर्ववत् । एकशब्दः संख्यायां नित्यैकवचनान्तः ।

विवक्षित इत्यर्थः । ततश्च नियमेनावधिसापेक्षार्थं वर्तमानानां पूर्वादिशब्दानां जसि
सर्वनामसंज्ञाविकल्प इति फलति । व्यवस्थायां कामेति । पूर्वादिशब्दानां नियमेनाव-
धिसापेक्ष एवार्थे विद्यमानत्वादिति प्रश्नः । दक्षिणा गाथका इति । अत्र दक्षिणशब्दो
नावध्यपेक्ष इति भावः । स्वं स्वाः इति । स्वशब्दाजसि 'स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्'
इत्यनेन स्वशब्दस्य विकल्पेन सर्वनामसंज्ञायां 'जसः शी' इति श्यादेशेऽनुबन्धलोपे
गुणे च 'स्वे' इति । पक्षे पूर्वसर्वणदीर्घादेशे 'स्वाः' इति । आत्मीया आत्मान इति वेति ।
आत्मा, आत्मीयं, ज्ञातिः, धनञ्चेति स्वशब्दस्य चत्वारोऽर्थाः । 'स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं
त्रिष्वात्मीये स्वोऽस्त्रियां धने' इत्यमरः 'स्वः स्यात् पुंस्यात्मनि ज्ञातौ, त्रिष्वात्मीये
धनेऽस्त्रियां' इति मेदिनीकोशः । तत्र ज्ञातिधनयोः पर्युदासात् आत्मनि, आत्मीये
च सर्वनामत्वं जसि विकल्प्यत इति भावः । ज्ञातिधनपर्युदासस्य प्रयोजनमाह—
ज्ञातिधनवाचिनास्त्विति । ज्ञातिवाचिनः धनवाचिनश्च सर्वनामत्वपर्युदासात् जसि 'स्वाः'
इत्येव रूपमित्यर्थः । अन्तरमिति । अत्रापि सर्वनामानीति विभाषा जसीति चानुवर्तते ।
बहिः—अनावृतप्रदेशः, तेन योगः—सम्बन्धो यस्य स बहिर्योगः, बहिर्विद्यमानोऽर्थः इति
यावत् । उपसंवीर्यते—परिधीयते इति उपसंख्यानम् अन्तरीयं वस्त्रम् । तदाह—
बाह्य इत्यादिना । अन्तरे अन्तरा वेति । अन्तरशब्दाजसि 'अन्तरं बहिर्योगोपसंव्या-
नयोः' इत्यनेन सर्वनामसंज्ञायां 'जसः शी' इति जसः स्थाने श्यादेशे 'लशक्त-
द्धिते' इतीत्संज्ञायां लोपे च 'अन्तर ई' इति स्थिते 'आद्गुणः' इति गुणे 'अन्तरे'
इति । सर्वनामत्वाभावे 'अन्तरा' इति । पूर्वस्मादात् । पूर्वशब्दात्पञ्चम्येकवचनविव-
क्षायां ङसौ समागते 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' इति वैकल्पिके ङस्तेः स्थाने स्मादि-
त्यादेशे 'पूर्वस्मात्' इति, पक्षे 'पूर्वात्' इति । पूर्वास्मिन्, पूर्वे इति । पूर्वशब्दात् सप्तम्ये-
कवचनविवक्षायां ङौ समागते तस्य स्थाने 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' इति स्मिन्ना-
देशे कृते 'पूर्वस्मिन्' इति, पक्षे—'पूर्वे' इति । सद्योपसर्जनीति । आधुनिकसंकेतः संज्ञा ।

सूत्रसे प्राप्त जो सर्वनामसंज्ञा वह जसके परे विकल्पसे हो । अन्तरं—बाह्य और परिधानीय
अर्थमें गणसूत्रसे प्राप्त जो सर्वनामसंज्ञा वह जसके परे विकल्पसे हो । पूर्वादिभ्यो—पूर्वादि

संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः । सर्वो नाम कश्चित्स्मै सर्वाय देहि । अतिक्रान्तः सर्वमति सर्वस्तस्मै—अतिसर्वाय । तदन्तस्यापीयं संज्ञा, 'द्वन्द्वे चे'ति ज्ञापकात् । 'अन्तरं बहिर्योगे'ति गणसूत्रे—अपुरीति वक्तव्यम् । अन्तरायां पुरि । तृतीयासमासे । १।१।३०। अत्र सर्वनामता न । मासपूर्वाय । तृतीयासमासार्थवाक्येऽपि न—मासेन पूर्वाय ॥ द्वन्द्वे च । १।१।३१। द्वन्द्वे उक्ता संज्ञा न । वर्णाश्रमेतराणाम् ॥ विभाषा

अन्यविशेषणत्वेन स्वार्थोपस्थापकमुपसर्जनम् । न सर्वादय इति । सर्वादिगणे तेषां नान्तर्भाव इति भावः । टिद्युभादिवदेकाक्षरसंज्ञाऽकरणबलात्, सर्वेषां नामानीत्यन्वर्थसंज्ञाकरणबलाच्च प्राधान्येनोपस्थितस्वीयसर्वार्थवाचकत्वस्य सर्वनामशब्दप्रवृत्ति निमित्तत्वमिति अवगततया तथाविधानामेव सर्वादिगणे पाठकरणात् । सर्वनामेति महासंज्ञाकरणबलात् तदनुगुणानामेव गणे संश्लेषेण संज्ञोपसर्जनानां न संज्ञा । अतः संज्ञाकार्यमन्तर्गणकार्यं च तेषां न भवतीत्यर्थः । सर्वो नामेति । सर्व इति कस्यचिन्नामधेयं चेत् । तादृशावस्थायामत्रस्थसर्वशब्दस्य सर्वार्थभिन्नत्वेन संज्ञात्वाच्च 'तस्मै' चतुर्थ्यैकवचने सर्वनाम्नः स्मै इति स्मै आदेशो न स्यात्, संज्ञाकार्यत्वात् । तथा सति 'हेर्यः' यकारे सुपि चेति दीर्घे सर्वाय इति । तद्वत् 'अतिसर्वः' तस्मै इत्यर्थेऽपि न संज्ञा । सर्वशब्दस्य समासे उपसर्जनीभूतत्वात् । अन्तरमिति सूत्रे इति । वार्तिकमेतत् । 'अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोरिति सूत्रेऽपुरि इति वक्तव्यमित्यर्थः । तेन पुरिशब्देन सम्बन्धे सति अन्तरशब्दस्य सर्वनामत्वं नेति फलितोऽर्थः । तेन 'अन्तरायां पुरि' अत्र प्रयोगे स्याडागमो नेति भावः । तृतीयासमास इति । सर्वादीनीत्यतो सर्वनामग्रहणम्, न बहुव्रीहावित्यतो नेत्यनुवर्तते । तेन सर्वादिगणपठितानां तृतीयान्तपदैः साकं समासे सति तेषां सर्वनामत्वालम्बिकार्यं न भवति । तेन मासेन पूर्वस्तस्मै 'मासपूर्वाय' अत्र डेः स्थाने यकारादेशेनैव भाव्यं न तु स्मायादेशेनेति भावः । तृतीयासमासार्थवाक्येति । 'विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ' इत्यतः एव तृतीयासमासेऽत्र सूत्रेऽनुवृत्तेः सम्भवात्पुनश्च समासग्रहणं ज्ञापयति । तृतीयासमासार्थवाक्येऽपि सर्वादिगणपठितानां शब्दानां सर्वनामता नेति । तेन मासेन पूर्वाय इति तृतीयासमासार्थवाक्येऽपि पूर्वशब्दस्य सर्वनामताऽभावात् स्मायादेशो नेति भावः । द्वन्द्वे चेति । द्वंद्वसमासेऽपि सर्वादिगणपठितानां सर्वनामता नेति भावः । वर्णाश्रमेतराणामिति । अत्र वर्णाश्च आश्रमाश्च इतरे चेति इतरेतरद्वन्द्वः । अत्र

नव शब्दोऽपि पर 'डसि' और 'डि' के स्थानमें यथाक्रमसे स्मात्-स्मिन् अदेश हो । तृतीया-तृतीया समासमें तथा तृतीया समासार्थ वाक्यमें भी सर्वादिकी सर्वनामसंज्ञा नहीं हो ।

द्वन्द्वे च—द्वन्द्वमें सर्वनामसंज्ञा नहीं हो ।

विभाषा—जसूस्थानिक शीभाव कर्तव्य हो तो द्वन्द्वमें सर्वनामसंज्ञा विकल्पसे हो ।

जसि । १।१।३२। जसाधारं शीभावाख्यं यत्कार्यं तत्र कर्तव्ये द्वन्द्वे उक्ता सञ्ज्ञा वा स्यात् । वर्णाश्रमेतरे—वर्णाश्रमेतराः ॥ प्रथमचरमतयाऽल्पाधिकतिपयनेमाश्च । १।१।३३। एते जस्युक्तसंज्ञा वा स्युः । प्रथमे—प्रथमाः । तयः—प्रत्ययः । द्वितये—द्वितयाः । शेषं रामवत् । नेमे—नेमाः । शेषं सर्ववत् । (तीयस्य छित्सु वा चाच्या ।) तीयप्रत्ययान्तस्य द्विचनेषु सर्वनामसञ्ज्ञा वा स्यात् । द्वितीयस्मै—द्वितीयायेत्यादि । एवं तृतीयः । निर्जरः ॥ जराया जरसन्यतरस्याम्

समासे इतरशब्दस्य सर्वनामत्वाभावात् ‘आमि सर्वनाम्नः सुडि’ति सुडागमो नेति भावः । तेन जुटः सिद्धिः फलिता । विभाषाजसि इति । द्वन्द्वेऽप्राप्ता सर्वनामता जसि वा स्यादिति तदर्थः । तेन ‘वर्णाश्रमेतरे’ इत्यत्र श्यादेशेन रूपसिद्धिः । तदभावे तु जसि वर्णाश्रमेतरा इत्येव रूपमिति निष्कर्षः । शेषं रामवदिति । तथाहि—नेमशब्दस्य जसि सर्वनामसंज्ञा गणे पठितत्त्वान्निस्था प्राप्ता, तद्विकल्पोऽत्र विधीयते । नेमशब्दव्यतिरिक्तानां प्रथमादिशब्दानान्तु गणे पाठाभावादप्राप्तैव सर्वनामसंज्ञा जसि विकल्पेन विधीयते । अतो नेमशब्दव्यतिरिक्तानां प्रथमादिशब्दानां जसोऽन्यत्र न सर्वनामकार्यमित्याह—शेषं रामवदिति । नेमे, नेमा इति । नेमशब्दात् जसि ‘सर्वादीनि’ इति प्राप्तां सर्वनामसंज्ञां विकल्पेन प्रवाध्य ‘प्रथमचरमतय’ इति विकल्पेन जातायां तस्यां ‘जसश्शी’ इति श्यादेशेऽनुबन्धलोपे गुणे च ‘नेमे’ इति । पक्षे—नेमाः इति । शेषं सर्ववदिति । नेमशब्दस्य सर्वादिगणे पठितत्वादिति भावः । निर्जर इति । जरायाः निष्क्रान्तो निर्जरः । ‘निरादयः क्रान्ताद्यर्थे’ इति समासः ।

प्रथम—प्रथम, चरम, तयप्रत्ययान्त, अल्प, अर्थ, कतिपय और नेम शब्दोंकी सर्वनामसंज्ञा हो, जस्के परे विकल्पसे ।

तीयस्य—तीय—प्रत्ययान्तकी सर्वनामसंज्ञा हो, छित् प्रत्ययके परे विकल्पसे, ।

जराया—‘जरा’ शब्दके स्थानमें ‘जरस्’ आदेश हो, अजादि विभक्तिके परे विकल्पसे ।

नोटः—सु, भ्याम्, भिस्, भ्यस् और सुप् विभक्तिको छोड़कर निर्जर शब्दको सर्वत्र जरसादेश विकल्पसे होता है तथा च—

जरसादेश पक्षमें—

निर्जरः	निर्जरसौ	निर्जरसः
निर्जरसम्	”	”
निर्जरसा	निर्जराभ्याम्	निर्जरैः
निर्जरसे	”	निर्जरेभ्यः
निर्जरसः	”	”
”	निर्जरसोः	निर्जरसाम्
निर्जरसि	”	निर्जरेषु

अभाव पक्षमें (रामवत्)—

निर्जरः	निर्जरौ	निर्जराः
निर्जरम्	”	निर्जरान्
निर्जरेण	निर्जराभ्याम्	निर्जरैः
निर्जराय	”	निर्जरेभ्यः
निर्जरात्-द्	”	”
निर्जरस्य	निर्जरयोः	निर्जराणाम्
निर्जरे	”	निर्जरेषु

।७।२।१११। जराया जरस् वा स्यादजादौ विभक्तौ । पदाङ्गाधिकारे तस्य च, तदन्तस्य च । निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति । अनेकाल्त्वात्सर्वादेशे प्राप्ते । एकदेशविकृतस्याऽनन्यत्वाब्जराशब्दस्य जरस् । निर्जरसौ । निर्जरौ । निर्जरसः— इत्यादि । उपजीव्यविरोधाच्च जरस् । निर्जरैः—इत्यादि । पक्षे हलादौ च रामवत् ।

‘गोस्त्रियोः’ इति ह्रस्वत्वम् । निर्गता जरा यस्मादिति बहुव्रीहिर्वा । निर्जरशब्दस्य ‘कृतद्धितसमासाश्च’ इति समासत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां प्रथमैकवचने सौ अनुबन्धलोपे सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गत्वे च रूपम् । निर्दिश्यमानस्येति । प्रत्यक्षनिर्दिश्यमानस्यैवेत्यर्थः । अनया परिभाषया जराशब्दस्यैव जरस् । जराशब्द एव ह्यत्र स्थानी प्रत्यक्षनिर्दिष्टः । जराशब्दान्तस्य तु निर्देशस्तदन्तविधिलभ्यत्वात् आनुमानिक इति भावः । ननु निर्जरशब्दस्य जराशब्दान्तत्वाभावात् कथमिह जरसादेश इत्यत आह—एकदेशेति । ‘छिन्नेऽपि पुच्छे आ श्वैव, न चाश्वो, न च गर्दभः’ इति लौकिकन्यायादित्यर्थः । निर्जरसाविति । निर्जरशब्दात् प्रथमाद्विवचने औ समागते ‘जराया जरसन्यतरस्याम्’ इति जरसादेशे लब्धे, सूत्रे जराशब्दस्य जरसादेशः प्रोक्तो न तु निर्जरशब्दस्य, इति कथमत्र जरसादेश इति शङ्कायां ‘पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च’ इति; अत्राङ्गाधिकारात् तदन्तस्यापि स्यादिति प्राप्ते ‘निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति’ इत्यनया परिभाषया जराशब्दस्यैव जरसादेशः स्यात् इति कथमत्र जरशब्दस्य ‘जरस्’ इति शङ्कायाम् ‘एकदेशविकृतमनन्यवत्’ इति जरसादेशे परेणाच्चा युक्ते ‘निर्जरसौ’ इति । निर्जरैरिति । निर्जरशब्दात् भिसि निर्जरशब्दस्याकारान्तत्वात् ‘अतो भिस् ऐस्’ इत्यकारान्तमङ्गं निमित्तीकृत्य भिस ऐसादेशे वृद्धौ सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते निर्जरैरिति सिध्यति । न चात्रैसः परत्वेन जरसादेशः शङ्क्य उपजीव्यविरोधात्, अकारान्तमङ्गं निमित्तीकृत्य जायमान ऐसादेशः स जरसादेशद्वारा तस्य नाशाय संनिपातपरिभाषया न प्रभवतीति भावः । पक्षे हलादौ च रामवदिति । अजादिविभक्तौ परे विकल्पेन जरसादेशे सति रूपाण्युक्तानि । जरसादेशाभावे रामशब्दवत् रूपाणि । हलादौ तु जरसादेशाभाव इति हलादौ विभक्तौ

पदाधि—पदाधिकार और अङ्गाधिकारसे जिसको जो आदेश विधान किया गया है, वह आदेश उसको तथा तदन्त (वह है अन्तमें जिसको उस) को भी हो ।

नोटः—जरसादेश अङ्गाधिकारमें विहित है अतः यह जरसादेश ‘जरा’ शब्दको और तदन्त (‘निर्जर’ शब्द) को भी होता है ।

निर्दिश्य—निर्दिश्यमान (सूत्रोच्चार्यमाण) को आदेश हो (षष्ठीप्रकृतिजन्यप्राथमिकोपस्थितिषयताश्रयत्वं निर्दिश्यमानत्वम्) । एकदेश—‘एकदेशविकृतमनन्यवत्’ (परिभाषा)—अवयवके एकदेश विकृति होने पर भी अवयवी अन्य नहीं कहाता । अतः

पदञ्चोमास्हन्निशसन्यूषन्दोषन्यकञ्छकञ्चुदञ्चासञ्छस्प्रभृतिषु ६।१।६३।
पाद दन्त नासिका मांस हृदय निशा असृज् यूष दोष यकृत् शकृत् उदक आस्य-
एषां पदादय आदेशाः स्युः शसादौ वा । यत्तु 'आसनशब्दस्यासनादेश, इति
काशिकायामुक्तं तत्प्रामादिकमेव । पादः । पादौ । पादाः । पादम् । पादौ । पदः-
पादान् । पदा-पादेन । इत्यादि । विश्वपाः ॥ दीर्घाज्जसि च । ६।१।१०५।

परे रामशब्दवत् रूपाणीति भावः । पदञ्चो इति । पद्-दत्-नस्-मास्-हृत्-
निश्-असन्-यूषन्-दोषन्-यकन्-शकन्-उदन्-आसन्-इत्येतेषां समाहारद्वन्द्वः ।
शस् द्वितीयावहुवचनं प्रभृतिः आदिर्येषामिति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । 'अनु-
दात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्' इत्यतोऽन्यतरस्यामित्यनुवर्तते । शसादिषु परेषु
पदादय आदेशा वा स्युरित्यर्थः । पदाद्यादेशैश्च स्वानुरूपा स्थानिनः आक्षिप्यन्ते ।
यथासंख्यपरिभाषया पादादीनां पदादय आदेशाः प्रत्येतन्याः । यत्त्वासनशब्दस्येति ।
ग्रामादिकं प्रमादादागतं जातं वा ग्रामादिकम् । 'हृन्वा जुह्वान आसनि, इति मन्त्रे
आसन्यं प्राणमूचुः' इत्यादौ च आस्यार्थकत्वस्यैव दर्शनात् आसनशब्दस्य स्थाने
आसनादेश इति काशिकोक्तं भ्रममूलकमेव आसनादेशस्य आस्यशब्दे एव दृश्यमान-
त्वात् । पादः पादाविति । पादः इति प्रथमैकवचनमारभ्य पादाविति द्वितीयाद्विवच-
नान्तं यावत् । रामशब्दवदेव रूपाणि । पादशब्दस्याऽकारान्तत्वेन शसः प्रागविशे-
षाच्च । पद इति । पादशब्दाच्छसि पादस्थाने 'पदन्नो' इत्यादिना पदादेशे 'लश-
क्वेति' शकारस्येत्संज्ञायां लोपे पद अस् इति जाते परेण संयोगे सस्य रूपे विसर्गे
पद इति सिध्यति, तदभावे पादानिति रामान् इतिवत् द्वितीयं रूपं भवति । षदेति ।
पादशब्दात्तृतीयैकवचने टाप्रत्यये टकारस्येत्संज्ञायां लोपे परत्वाप्राप्तमपि इनादेशं
बाधित्वा अपवादत्वात्पूर्वं 'पदन्नो' इति पदादेशे परेण संयोगे पदा इति सिध्यति,
असति च पदादेशे पादेन इति रामेण इतिवत् सिध्यतीति तत्साधनकलेशो व्यर्थः ।
विश्वपा इति । विश्वं पाति रक्षतीत्यर्थे 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति प्राप्ते वास-
रूपन्यायेन 'आतो मनिन्कनिव्वनिपश्च' इति चकारात् विच् तस्य सर्वापहारे
कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां प्रथमैकवचनविवक्षायां सुप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'ससजुषो
रुः' इति रूपे उकारस्येत्संज्ञायाम् 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति विसर्गे च
कृते 'विश्वपाः' इति रूपम् । विश्वपाः इति । विश्वपाशब्दाज्जसि 'चुद्' इति
जसो जकारस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे च 'विश्वपा अस्'

प्रकृतिर्मे 'निर्जर' शब्दघटक 'जर' शब्दको भी जरसादेश हुआ । पदञ्चो—पाद, दन्त,
नासिका, मांस, हृदय, निशा, असृज्; यूष, दोष, यकृत्, शकृत्, उदक, आस्य—इनके
स्थानमें यथाक्रमसे पद्, दत्, नस्, मास्, हृद्, निश्, असन्, यूषन् दोषन्, यकन्,
शकन्, उदन्, आसन् आदेश हों, शसादि विभक्तिके परे, विकल्पसे । दीर्घा—दीर्घसे पर

दीर्घाज्जसि, इति च न पूर्वसवर्णदीर्घः । वृद्धिः । विश्वपौ । विश्वपाः । हे विश्वपाः । हे विश्वपौ । हे विश्वपाः । सुडनपुंसकस्य । १।१।४३। स्वादिपञ्चवचनानि सर्वनामस्थानसंज्ञानि स्युरक्लीवस्य ॥ सुडिति प्रत्याहारः । स्वादिष्वसर्वनामस्थाने । १।४।१७। कप्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु परतः पूर्वं पदं स्यात् ॥ यचि भम् । १।४।१८। यादिष्वजादिषु च कप्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु पूर्वं मं स्यात् ॥ आ कडारादेका संज्ञा । १।४।१। इत ऊर्ध्वं 'कडाराः कर्मधारये' २।२।३८ इत्यतः प्रागेकस्यैकैव संज्ञा ज्ञेया । या पराऽनवकाशा च । तेन शसादावचि भसंज्ञैव, न पदत्वम् ॥ आतो धातोः । ६।४।१४०। आकारान्तो यो धातुस्तदन्तस्य भस्याज्जस्य लोपः स्यात् । अलोऽन्त्यस्य । विश्वपः विश्वपा । विश्वपाभ्यामित्यादि ॥

इति दशायां 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति पूर्वसवर्णदीर्घादेशे प्राप्ते 'दीर्घाज्जसि च' इति सूत्रेण पूर्वसवर्णदीर्घनिषेधे जाते 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति पूर्वपरयोः स्थाने दीर्घादेशे सति सस्य रुत्वे रस्य विसर्गे च कृते 'विश्वपाः' इति रूपम् । अलोऽन्त्यस्येति । अन्तस्याकारस्य लोप इति शेषः । विश्वपः । विश्वपाशब्दात् शसि 'लशक्तद्धिते' इति शसः शकारस्येतसंज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे च कृते 'विश्वपा-अस्' इति स्थितेऽत्र 'सुडनपुंसकस्य' इत्यनेन 'सु औ-जस्, अम्-औट्' इत्येतेषां सर्वनामस्थानसंज्ञाविहितत्वात् शसो न सर्वनामस्थानसंज्ञा, तेन 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इत्यनेन सर्वनामस्थानभिन्नस्वादिषु शसादिषु परेषु पूर्वस्य विश्वपाशब्दस्य पदसंज्ञायां प्राप्तायां 'यचि भम्' इत्यनेन च सर्वनामस्थानभिन्नयजादिषु स्वादिषु परेषु भसंज्ञायां प्राप्तायां किमत्र विधेयम् ? इति शङ्कायाम् 'आकडारादेका संज्ञा' इत्यनेन एकैव संज्ञा भवतीति नियमात् परत्वादनवकाशत्वाच्च अत्र भसंज्ञैव जाता तस्यां जातयाम् 'आतो धातोः' इति सूत्रेण पाशब्दस्य लोपे प्राप्ते 'अलोऽन्त्यस्य' इत्यनेन पकारोत्तरवर्त्याकारस्य लोपे कृते पकारस्याकारेण सह संयोगे स इत्यस्य

'जस्' अथवा 'इच्' रहे तो पूर्वसवर्ण दीर्घ नहीं हो । सुडन—स्वादि पञ्चवचन (सु-औ-जस्-अम्-औट्) की सर्वनामस्थानसंज्ञा हो, नपुंसकलिङ्गको छोड़कर ।

नोटः—याद रहे कि नपुंसकलिङ्गमें जस् और शस् स्थानिक 'शि' मात्रकी सर्वनामस्थानसंज्ञा होती है ('शि सर्वनामस्थानम्' अजन्तनपुंसक लिङ्ग देखें)

स्वादिष्व—'सु' प्रत्ययसे लेकर 'कप्' प्रत्यय पर्यन्त सर्वनामस्थानभिन्न प्रत्यय, परमें रहनेसे पूर्वकी पदसंज्ञा हो । यचि भम्—यादि 'कप्' प्रत्ययावधि प्रत्यय और अजादि जो स्वादि असर्वनामस्थान उनके परे पूर्वकी मसंज्ञा हो । आकडारा—यहांसे (प्रथम अध्यायके चतुर्थ पादसे लेकर आगे) 'कडाराः कर्मधारये' । २।२।३८। सूत्रसे पूर्व तक एककी एक हो संज्ञा हो (जो अष्टाध्यायीके क्रमसे पर हो या अनवकाश हो) । आतो—अकारान्त जो

एवं शङ्खध्मादयः । धातोः किम् ? हाहान् । 'आत' इति योगविभागादधातोर्प्या-
कारलोपः क्वचित् । क्त्वः । शनः । हरिः । हरी ॥ जसि च । ७।३।१०२। ह्रस्वान्त-
स्याङ्स्य गुणः स्याज्जसि परे । हरयः ॥ ह्रस्वस्य गुणः । ७।३।१०८। ह्रस्वस्य
गुणः स्यात् सम्बुद्धौ । हे हरे । हरिम् । हरी । हरीन् ॥ शेषो घ्यसखि । १।४।७।
'शेष' इति स्पष्टार्थम् । अनदीसंज्ञौ ह्रस्वौ याविदुतौ तदन्तं सखिवर्जं घिसंज्ञं स्यात् ॥
आङो नाऽस्त्रियाम् । ७।३।१२०। घेः परस्याऽऽङो ना स्यादस्त्रियाम् । 'आ'ङिति

रुत्वे अनुबन्धलोपे रेफस्य विसर्गे च 'विश्वपः' इति रूपम् । एवं शङ्खध्मादय इति ।
शङ्खं धमतीति शङ्खध्मा । 'ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः' इति धातोः 'किप् च' इति किप् ।
आदिना सोमं पिबतीति सोमपाः, मधु पिबतीति मधुपाः इत्यादयो ग्राह्याः ।
हाहानिति । हाहा इति गन्धर्वविशेषवाचकमन्युत्पन्नप्रातिपदिकमेतत् । 'हाहा हृहृश्चै-
वमाद्या गन्धर्वास्त्रिदिवौकसः' इत्यमरः । सुटि विश्वपावत् । हाहाशब्दात् शसि,
अनुबन्धलोपे 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति पूर्वसवर्णदीर्घादेशे कृते 'तस्माच्छसो
नः पुंसि' इति सकारस्य नकारादेशे 'हाहान्' इति । आत इति योगविभागादिति—
'आतो धातोः' इति धातोरेवाकारलोपनियमनेन क्त्वः, शनः, इत्यादीनां सूत्रोक्तानां
प्रयोगाणां सिद्धिर्न स्यात्तेषामधातुत्वेनाऽऽकारलोपोऽनापत्तेः । अतः 'आतो धातोः'
इत्यत्र 'आतः' इति योगविभागः क्रियते । तेन धातुभिन्नस्याप्याकारान्तस्य क्वचिन्नोप
सिध्यतीति प्रोक्तरूपाणां सिद्धिर्निर्वाधेति भावः । हरिः । हरिशब्दात् प्रथमैकवचन
विवक्षायां सुप्रत्यये उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'हरि स्' इति जाते सस्य रुत्वे रेफस्य
विसर्गे च 'हरिः' इति रूपम् । हरय इति । हरिशब्दाज्जसि समागतेऽनुबन्धलोपे 'हरि-
अस्' इति स्थिते पूर्वसवर्णदीर्घे प्राप्ते तं प्रबाध्य 'जसि च' इति गुणे प्राप्ते 'अलो-
ऽन्त्यस्य' इति परिभाषयाऽन्त्यस्य जाते 'हरे-अस्' इति भूते 'एचोऽयवायावः' इति
अयादेशे सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'हरयः' इति रूपम् । हे हरे इति । हरिशब्दा-
त्सम्बोधनप्रथमैकवचनविवक्षायां सुसमागते अनुबन्धलोपे, तस्य 'एकवचनं सम्बुद्धिः'
इति सम्बुद्धिसंज्ञायां 'ह्रस्वस्य गुणः' इति गुणे 'हरे-स्' इति जाते 'एङ् ह्रस्वात्सम्बुद्धेः'
इति सलोपे 'हे हरे' इति रूपम् । हरीन् इति । हरिशब्दात् शसि शसः शकारस्येत्संज्ञायां
लोपे च 'हरि-अस्' इति स्थितेऽत्र 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति पूर्वसवर्णदीर्घादेशे
कृते 'तस्माच्छसो नः पुंसि' इति स् इत्यस्य नकारादेशे सति 'हरीन्' इति रूपम् ।

धातु, तदन्त जो भसंज्ञक अङ्ग उसका लोप हो । जसि च—ह्रस्वान्त अङ्गको गुण हो, जस्के
परे । ह्रस्वस्य—ह्रस्वान्त अङ्गको गुण हो सम्बुद्धि 'सु' के परे । शेषो—नदीसंज्ञकसे भिन्न जो
ह्रस्व शकार-उकार तदन्त जो सखि-भिन्न अङ्ग, वह घिसंज्ञक हो (सूत्रमें शेषग्रहण स्पष्टार्थ
है) । आङो—घिसंज्ञकसे पर 'आङ्' (टा विभक्ति) को 'ना' आदेश हो, लीलिङ्गको छोड़-

टासंज्ञा प्राचाम् । हरिणा । हरिभ्याम् ३ । हरिभिः । वेडिति । ७।३।१११। घिसंज्ञस्य
 ङिति सुपि गुणः स्यात् । हरये । हरिभ्यः २ । गुणे कृते ॥ डसिङ्सोश्च
 । ६।१।११०। एङो डसिङ्सोरति परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात् । हरेः २ । हर्ह्योः २ ।
 हरीणाम् ॥ अच्च घेः । ७।३।११९। इदुद्भ्यामुत्तरस्य डेरौत् घेरत् स्यात् । हरौ ।
 हर्ह्योः । हरिषु । एवं कव्यादयः ॥ अनङ्सौ । ७।१।९३। सव्युरङ्गस्याऽनङादे-
 शोऽसम्बुद्धौ सौ ॥ अलोऽन्त्यात्पूर्वं उपधा । १।१।६५। अन्त्यादलः पूर्वो वर्ण
 उपधासंज्ञः स्यात् ॥ सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ । ६।४।८। नान्तस्योपधाय
 दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने । अपृक्त एकाल् प्रत्ययः । १।२।४१। एकाल्प्रत्ययो
 यः सोऽपृक्तसंज्ञः स्यात् । हलङ्ग्याभ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् । ६।१।६८।

हरिणा । हरिशब्दात् तृतीयैकवचनविवक्षायां टासमागते 'शेषो घ्यसखि' इत्यनेन
 हरिशब्दात् घिसंज्ञायाम् 'आङो नाऽस्त्रियाम्' इत्यनेन घिसंज्ञकात् हरिशब्दात्
 परस्य आङः टाडित्यस्य नादेशे कृते 'हरिना' इति जाते 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि'
 इत्यनेन णत्वे 'हरिणा' इति रूपम् । हरये । हरिशब्दात् डेकृते 'लशक्वतद्धिते' इति
 डस्येत्संज्ञायां लोपे च 'शेषो घ्यसखि' इति घिसंज्ञायां 'वेडिति' इति गुणे 'एचो-
 ऽयवायावः' इति अयादेशे 'हरये' इति । हरेः । हरिशब्दात्पञ्चम्येकवचनविवक्षायां
 डसौ समागते डकारस्येकारस्य चेत्संज्ञायां लोपे च 'हरि-अस्' इति जाते 'शेषो
 घ्यसखि' इति घिसंज्ञायां 'वेडिति' इति गुणे कृते 'डसिङ्सोश्च' इति पूर्वरूपे रुत्वे
 विसर्गे च 'हरेः' इति । ङीणाम् । 'हरि-आम्' इति स्थिते 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति
 नुटि 'नामि' इति दीर्घादेशे 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति णत्वे 'हरीणाम्' इति ।
 हरौ । हरिशब्दात् सप्तम्येकवचने डिसमागते डस्येत्संज्ञायां लोपे च 'हरि-इ' इति
 स्थिते 'शेषो घ्यसखि' इति घिसंज्ञायाम् 'अच्च घेः' इत्यनेन डेः स्थाने 'औकारे;
 घिसंज्ञकस्य—'हरि' इत्यस्य स्थाने अकारे प्राप्ते 'अलोऽन्त्यस्य' इत्यनेन रेफोत्तरव-
 र्तिन इकारस्य स्थानेऽकारे च विहिते 'हर-औ' इति जाते 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ
 'हरौ' इति रूपम् । अपृक्नेति । एकालिति कर्मधारयः । अत्रैकशब्दोऽसहायवाची । 'एके
 कर । वेडित्—घिसंज्ञकको गुण हो, डित्-सुप् विभक्तिके परे । डसि—एङ्से पर डसि-ङ्सं
 सम्बन्धी अकारको पूर्वरूप एक आदेश हो । अच्च—ह्रस्व इकार-उकारसे पर 'डि' को औट
 आदेश हो । और घिसंज्ञकको अकारान्त आदेश हो । अनङ्सौ—सखिरूपी अङ्गको अनङ्
 आदेश हो, सम्बुद्धिभिन्न सुके परे । अलोऽन्त्यात्—अन्त्य अल्से पूर्व वर्णकी उपधासंज्ञा हो ।
 सर्वनाम—नान्तकी उपधाको दीर्घ हो, सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थानके परे । अपृक्त—एक
 'अल्' मात्रवृत्ति जो प्रत्यय वह अपृक्त संज्ञक हो । हलङ्ग्या—हलन्तसे पर जो 'सु-ति-सि'
 सम्बन्धी अपृक्त संज्ञक हल् और दीर्घरूपी डी-आप् तदन्तसे पर जो 'सु' सम्बन्धी अपृक्त

हलन्तात्परं दीर्घौ यौ ङ्यापौ तदन्ताच्च परं—‘सुतिसौ’त्येतदपृक्तं हल्लुप्यते ।
 प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् । १।१।६२। प्रत्यये लुप्तेऽपि तदाश्रितं कार्यं स्यात् ॥
 न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य । ८।२।७। प्रातिपदिकसंज्ञं यत्पदं तदन्तस्य नस्य
 लोपः । सखा ॥ सख्युरसम्बुद्धौ । ७।१।९२। सख्युरङ्गात्परं सम्बुद्धिचर्जं सर्वनाम-
 स्थानं णिद्वत्स्यात् ॥ अचोऽङ्गिति । ७।२।११५। अजन्ताङ्गस्य वृद्धिर्भिति णिति
 च । सखायौ । सखायः । हे सखे । सखायम् । सखायौ । सखीन् । सख्या । सखि-
 भ्याम् । सखिभिः । सख्ये ॥ ख्यत्यात्परस्य । ६।१।११२। खितिशब्दाभ्यां, खीती-
 शब्दाभ्यां कृतयणादेशाभ्यां परस्य ङसिङ्सोरत उः । सख्युः २ ॥ औत् ७।३।११८।
 इतः परस्य ङेरात् । सख्यौ । शेषं हरिवत् ॥ पतिः समास एव । १।४।८। पतिः

मुख्यान्यकेवलाः’ इत्यमरोक्तत्वात् । सखा । सखिशब्दात् सौ उकारस्येत्संज्ञायां लोपे
 च ‘सखि स्’ इति स्थिते ‘अनङ् सौ’ इति अनङादेशे प्राप्ते क स्यात् इति शङ्कायाम्
 ‘अनेकाल्शित्सर्वस्य’ इति परिभाषया सर्वस्य स्थाने प्राप्ते परम् ‘ङित्च’ इत्यनेन
 तं प्रबाध्य अन्यस्य-खकारोत्तरवर्तिन इकारस्य स्थानेऽनङादेशे जाते ङकारस्येत्सं-
 ज्ञायां लोपे च ‘सखन् स्’ इति जाते ‘अलोऽन्त्यापूर्व उपधा’ इति उपधासंज्ञात्वे
 ‘सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ’ इति नान्तस्य पदस्योपधाया दीर्घे विहिते सखान् स् इत्य-
 वस्थायाम् ‘अपृक्त एकाल् प्रत्ययः’ इति सस्यापृक्तसंज्ञायां कृतायाम् ‘हल्ङ्यावभ्यो
 दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्’ इति सस्य लोपे ‘सखान्’ इत्यवशिष्टे ‘नलोपः प्रातिपदि-
 कान्तस्य’ इति नलोपे ‘सखा’ इति रूपम् । सखीन् । ‘सखि-शस्’ अत्र शसः शकार-
 स्येत्संज्ञायां लोपे च कृते ‘प्रथमयोः पूर्वसवर्णः’ इति पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वसवर्णदीर्घादेशे
 कृते ‘तस्माच्छसो नः पुंसि’ इति शसः सकारस्य नकारादेशे ‘सखीन्’ इति । मख्या ।
 ‘सखि आ’ अत्र ‘असखि’ इति पर्युदासात् घिसंज्ञा नः किन्तु ‘इको यणचि’ इति
 यणि ‘सख्या’ इति । सख्युः । सखिशब्दात् पञ्चम्येकवचनविवक्षायां ङसौ समागते
 ङकारस्येत्संज्ञायां लोपे च ‘सखि अस्’ इति स्थिते ‘इको यणचि’ इति यणादेशे
 सख् य् अस् इति जाते तत्र ‘ख्यत्यात्परस्य’ इत्यनेन असोऽङ्कारस्य उत्त्वे ‘सख्युस्’
 इति, तत्र सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते ‘सख्युः’ इति रूपम् । मख्यौ । सखिशब्दात्

संज्ञक हल् उसका लोप हो । प्रत्यय—प्रत्ययका लोप होनेपर भी प्रत्ययाश्रित कार्य हो । न
 लोपः—प्रातिपदिकसंज्ञक जो पद, तदन्त जो नकार उसका लोप हो । सख्यु—सखिरूप अङ्गसे
 पर जो संबुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान, वह णिद्वत् हो (अर्थात् ‘णित्’ के परे जो वृद्ध्यादि कार्य
 होता है, वह उसके परे भी हो) । अचो—अजन्त अङ्गको वृद्धि हो, ‘णित्-णित्’ प्रत्ययके
 परे । ख्यत्यात्—कृत यणादेशक जो ह्रस्व ‘खि’ शब्द, ‘ति’ शब्द और दीर्घ ‘खी’ शब्द-‘ती’
 शब्द उससे पर जो ङसि-ङस् सम्बन्धी अकार उसके स्थानमें उकार आदेश हो । औत्—
 ह्रस्व इकार-वकारसे पर ‘ङि’ को औत् आदेश हो । पतिसमास—पति शब्द समासमें ही

समास एव विसंज्ञः । पत्ये । पत्युः २ । पत्यौ । शेषं हरिवत् । समासे तु-भूपतये । कतिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः ॥ बहुगणवतुडति संख्या । १।१।२३। एते सङ्ख्यासंज्ञाः स्युः । डति च । १।१।२५। डत्यन्ता संख्या षट्संज्ञा स्यात् ॥ षड्भ्यो लुक् । ७।१।२२। जश्शसोः । प्रत्ययलोपे 'जसि चे'ति गुणे प्राप्ते । प्रत्ययस्य लुक् श्लुलुपः । १।१।६१। लुक् श्लुलुपशब्दैः कृतं प्रत्ययाऽदर्थनं क्रमात्तत्तत्संज्ञं स्यात् ॥ न लुमताङ्गस्य । १।१।६३। लुक् श्लु लुप् एते—लमन्तः । लुमता शब्देन लुप्ते तन्निमित्तमङ्गकार्यं न स्यात् । कतिभिः । कतिभ्यः । कतिभ्यः । कती-

ससम्येकवचनविवक्षायां डिसमागते डकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'सखि-इ' इति जाते तत्र डेरिकारस्य स्थाने 'औत्' इति 'औ' आदेशे 'इको यणचि' इति यणि संख्यौ इति रूपम् । पत्या । पतिशब्दात् टासमागते 'चुटू' इति टकारस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे 'इको यणचि' इति यणि 'पत्या' इति रूपम् । पत्ये । पतिशब्दाच्चतुर्थ्येकवचनविवक्षायां डेविभक्तौ समागतायां डकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'पति-ए' इति जाते 'इको यणचि' इति यणि 'पत्ये' इति रूपम् । द्विवचनबहुवचने-पतिभ्यां पतिभ्य इति । पत्युः । पतिशब्दात्पञ्चम्येकवचनविवक्षायां 'डसौ' कृतेऽनुबन्धलोपे 'पति-अस्' इति स्थिते 'इको यणचि' इति यणि 'ख्यत्यात्परस्य' इति डसोऽकारस्योत्वे 'पत्युः' इति रूपम् । समासे तु भूपतये इत्यादिरूपाणि हरिशब्दवद्बोधानि । कति । कतिशब्दस्य बहुत्वविशिष्टवाचकत्वात् प्रथमाबहुवचने जसि कृते 'बहुगणवतुडतिसंख्या' इत्यनेन डत्यन्तत्वात् कतिशब्दस्य संख्यासंज्ञायां सत्याम् 'डति च' इति षट्संज्ञा जाता । 'कति जस्' इत्यवस्थायां 'षड्भ्यो लुक्' इति जसो लुकि सति 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' इत्यनेन प्रत्ययलक्षणं मत्वा 'जसि च' इति कतिशब्दस्येकारस्य गुणे प्राप्ते 'न लुमताङ्गस्य' इत्यनेन अङ्गकार्यस्य गुणस्य निषेधे विहिते सति 'कति' इति रूपम् ।

विसंज्ञक हो । (अर्थात् केवल पति शब्दको विसंज्ञा नहीं हो)

बहुगण—बहु शब्द, गण शब्द तथा वतुप्रत्ययान्त, डतिप्रत्ययान्तकी संख्यासंज्ञा हो ।

नोटः—वतुप्रत्ययान्तसे 'यत्तदेभ्यः परिमाणे वतुप्' इस सूत्रसे निष्पन्न 'यावत्' आदि और डतिप्रत्ययान्तसे 'किमः संख्यापरिमाणे डति च' इस सूत्रसे निष्पन्न 'कति' शब्द लिखे जाते हैं । (कति शब्दका प्रयोग बहुवचन में ही होता है)

डति च—(षान्त-नान्त शब्दके समान) डत्यन्त संख्यावाचक शब्द भी षट्संज्ञक हो ।

षड्भ्यो—षट्संज्ञकसे पर जस्-शस्का लुक् (अदर्शन) हो । प्रत्ययस्य—'लुक् श्लुलुप' शब्दसे किया हुआ जो प्रत्ययका अदर्शन वह 'लुक्-श्लुलुप' संज्ञक हो । न लुमता—'लुक् श्लुलुप' शब्दसे प्रत्ययका लोप (अदर्शन) होने पर (प्रत्यय लक्षणसे) तदाश्रित अङ्गकार्य

नाम् । कतिषु । युष्मदस्मत्षट्संज्ञकास्त्रिषु सरूपाः । त्रिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः ।
त्रयः । त्रीन् । त्रिभिः । त्रिभ्यः २ । त्रेस्त्रयः । ७।१।५३। आमि । त्रयाणाम् । त्रिषु ।
गौणत्वेऽपि—प्रियत्रयाणाम् ॥ द्विशब्दो नित्यं द्विवचनान्तः ॥ त्यदादीनामः
। ७।२।१०२। एषामकारो विभक्तौ । (द्विपर्यन्तानामेवेष्टिः) द्वौ २ । द्वाभ्याम् ३ ।
द्वयोः २ । द्विपर्यन्तानां किम् ? भवान् । भवन्तौ । पाति लोकमिति पपीः—सूर्यः ।

सरूपा इति । समानानि रूपाणि येषामित्यर्थः । त्रयः । त्रिशब्दस्य बहुत्ववाचकत्वात्
प्रथमाबहुवचने जसि कृते 'चुट्' इति जसो जकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'त्रि'
जस्' इति स्थिते 'जसि च' इति गुणे 'एचोऽयवायावः' इत्ययादेशे स्त्वे विसर्गे
च 'त्रयः' इति रूपम् । त्रयाणाम् । त्रिशब्दात् पृथ्विवहुवचनविवक्षायां आमि कृते
सति 'त्रि-आम्' इति स्थिते 'त्रेस्त्रयः' इति त्रिशब्दस्य त्रयादेशे कृते 'ह्रस्वनद्यापो
नुट्' इति नुटि 'नामि' इति दीर्घे 'अटकुप्वाङ्नुम्वयायेऽपि' इति गत्वे
'त्रयाणाम्' इति रूपम् । गौणत्वेऽपि प्रियत्रयाणामिति । ननु अत्र 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये
कार्यसम्प्रत्ययः' इति न्यायात् त्रिशब्दस्याऽन्यपदार्थं विशेषणत्वेन गौणत्वात् प्रियत्र-
याणामित्यत्र 'त्रेस्त्रयः' इति त्रयादेशो न स्यादिति चेद्, न । तस्य पदकार्ये एव
प्रवृत्तेः । अत एव 'उपसर्जनानां सर्वनामत्वप्रतिषेध आरब्धो वार्तिककृतेति सङ्ग-
च्छत इति दिक् । द्विपर्यन्तानामिति । सर्वादिगणे ये त्यदादयः पठिताः तेषामिह द्विप-
र्यन्तानामेव ग्रहणे भाष्यकारस्येच्छेत्यर्थः । द्वौ । द्विशब्दस्य द्वित्वनियतत्वात् 'द्वि'
शब्दो नित्यं द्विवचनान्तः । अतो द्विशब्दात् प्रथमाद्विवचने औ समागते 'द्वि औ'
इति स्थिते 'त्यदादीनामः' इत्यकारान्तादेशे 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति पूर्वसव-
र्णदीर्घादेशे प्राप्ते 'नादिचि' इति निपिद्धे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ कृतायां सत्यां
'द्वौ' इति रूपम् । पपीः । पा रक्षणे इति धातोः औणादिक 'यापोः किद् द्वे च' इति
सूत्रेण ईप्रत्यये द्वित्वे अभ्यासकार्ये ईप्रत्ययस्य क्त्वात् 'आतो लोप इटि च' इत्या-

नहीं हो । युष्मदस्मद्—युष्मत-अस्मद् और षट्संज्ञक शब्दोंके तीनों लिङ्गोंमें समानरूप
हो । त्रिशब्दो—त्रिशब्द बहुत्व संख्याका वाचक है, अतः नित्य बहुवचनान्त है ।

त्रेस्त्रयः—त्रिशब्दको त्रय आदेश हो, आम्के परे ।

गौणत्वेऽपि—अयं भावः, 'प्रियास्त्रयो यस्य' इस विग्रह में—'इतरपदार्थनिष्ठविशेष्यता-
निरूपितप्रकारताश्रयत्वं-गौणत्वम्' अथवा 'स्वान्तसमुदायपर्याप्तशक्तिनिरूपकार्थनिष्ठविशे-
ष्यतानिरूपितप्रकारतावच्छेदकताप्रयोजकत्वम्' इस लक्षण से प्रियत्रिघटक 'त्रि' को गौण होने
पर भी 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः' इस न्यायसे 'प्रियत्रयाणाम्' यहां पर निषेध नहीं
हुआ, क्यों कि इस न्यायकी प्रवृत्ति पदकार्यमें ही होती है—ऐसा आचार्योंका सिद्धान्त है ।

त्यदा—त्यदादिको अकारान्त आदेश हो, विभक्तिके परे ।

द्विप—सर्वादिगणपठित जो त्यदादि हैं उनमें 'त्यद्' से लेकर 'द्वि' शब्दपर्यन्त

पप्यौ । प्रप्यः । हे पपीः । पपीम् । पप्यौ । पपीन् । पप्या । पपीभ्याम् ३ ।
 पपीभिः । पप्ये । पपीभ्यः २ । प्रप्यः । पप्योः २ । पप्याम् । डौ च—पपी ।
 पपीषु । एवं वातप्रम्यादयः । बहुवचनं श्रेयस्यो यस्य स बहुश्रेयसी दीर्घङ्यन्तत्वाद्-
 लङ्वाविति सुलोपः ॥ यूः स्त्र्याख्यौ नदी । १।४।३। ईदूदन्तौ नित्यस्त्रीलिङ्गौ नदीसंज्ञौ
 स्तः । (प्रथमलिङ्गग्रहणं च) पूर्व स्त्र्याख्यस्योपसर्जनत्वेऽपि नदीत्वं वक्तव्यमि-
 त्यर्थः ॥ अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः । ७।३।१०७। अम्बार्थानां, नद्यन्तानां च ह्रस्वः
 स्यात्सम्बुद्धौ । हे बहुश्रेयसि । आण् नद्याः । ७।३।११२। नद्यन्तात्परेषां ङितामा-
 डागमः ॥ आटश्च । ६।१।९०। आटोऽचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । बहुश्रेयस्यै ।

कारलोपे निष्पन्नपपीशब्दस्य कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां प्रथमैकवचनसुप्रत्यये
 समागते 'पपी-सु' अत्र उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'ससञ्जयो रुः' इति सस्य
 रूत्वे अनुबन्धलोपे रेफस्य 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति विसर्गो सति रूपम् ।
 वातप्रम्यादय इति । वातप्रमीः निःशृङ्गो मृगाकृतिः पशुरिति 'ईदूतौ च ससम्यर्थे' इति
 सूत्रे कौस्तुभे । आदिना यान्त्यनेनेति ययी मार्गः इति ग्राह्यम् । बहुश्रेयसो । 'ई-
 यसो बहुव्रीहेर्न' इति निषेधादुपसर्जनह्रस्वो न । समासत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां
 प्रथमैकवचने सौ समागते उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'बहुश्रेयसी स' इति स्थिते
 ङ्यन्तत्वात् 'हलङ्वाढ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' इति सुसम्बन्धिअपृक्तसंज्ञक-
 स इत्यस्य लोपे 'बहुश्रेयसी' इति रूपम् । पूर्वमित्यादि । समासादिवृत्तिप्रवृत्तेः पूर्व-
 स्त्रीलिङ्गस्य सतः वृत्तिदशायामुपसर्जनतया स्त्रीलिङ्गत्वाभावेऽपि नदीत्वं वक्तव्यमिति
 वार्तिकार्थः । अम्बार्थेति । 'सम्बुद्धौ च' इत्यतः सम्बुद्धावित्यनुवर्तते । अम्बार्थानां
 नद्यन्तानां च ह्रस्वः स्यात्सम्बुद्धौ इत्यर्थः । हे बहुश्रेयसि । बहुश्रेयसीशब्दात् सम्बो-
 धनप्रथमैकवचनविवक्षायां सुप्रत्यये उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'यूः स्त्र्याख्यौ नदी'
 इति नदीसंज्ञायां 'बहुश्रेयसी स' इति स्थिते 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' इति ह्रस्वे
 'एकवचनं सम्बुद्धिः' इति सम्बुद्धिसंज्ञायां 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' इति सलोपे सति
 'हे बहुश्रेयसि' इति रूपम् । द्विवचनबहुवचने बहुश्रेयस्यौ, बहुश्रेयस्यः । द्वितीया-
 बहुश्रेयसीम्, बहुश्रेयस्यौ, बहुश्रेयस्यः । तृतीया—बहुश्रेयस्या, बहुश्रेयसीभ्यां,
 बहुश्रेयसीभिः । बहुश्रेयस्यै । बहुश्रेयसीशब्दाच्चतुर्थैकवचनविवक्षायां ङेसमागते

'त्यदादि' से भाष्यकारको इष्ट है । यूः—ईदन्त, ऊदन्त जो नित्यस्त्रीलिङ्ग वह नदीसंज्ञक
 हो । प्रथम—जो शब्द पहले नित्यस्त्रीलिङ्ग हो और बादमें समास आदि वृत्ति होने पर
 नित्यस्त्रीलिङ्ग नहीं भी रहे तो उसकी नदीसंज्ञा हो—ऐसा कहना चाहिये । अम्बा—अम्बा
 (माता) अर्थक शब्द और नद्यन्त शब्दको ह्रस्व हो, संबुद्धिके परे । आण्—नद्यन्तसे पर
 वृद्धिचन (ङिप्रत्यय) को 'आट्' का आगम हो । आटश्च—'आट्' से पर अच् हो तो पूर्व-पर

बहुश्रेयस्याः २ । बहुश्रेयसीनाम् ॥ डेराम्नद्याम्नीभ्यः । ७।३।११६। नद्यन्तादाव-
न्तान्नीशब्दाच्च परस्य डेराम् स्यात् । इह परत्वादाटा नुट् बाध्यते । 'सकृद्गतौ
विप्रतिषेधे यद्वाधितं तद्वाधितमेव' । बहुश्रेयस्याम् । शेषं-पपीवत् ॥ अङ्घ्र्यन्तत्वाच्च
सुलोपः । अतिलक्ष्मीः । शेषं बहुश्रेयसीवत् ॥ प्रधीः ॥ अचि श्नुधातुभ्रुवां
य्वोरियङ्बुवडौ । ६।४।७७। श्नुप्रत्ययान्तस्येवर्णोवर्णान्तस्य धातोर्भू इत्येतस्य चाङ्ग-
स्येयङ्बुवडौ स्तोऽजादौ प्रत्यये परे । इति प्राप्ते ॥ परनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य

'प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च' इति बहुश्रेयसीशब्दस्य नदीसंज्ञायाम् 'आणनद्याः' इति डेः
आडागमे टकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'आद्यन्तौ टकितौ' इत्याद्यावयवे भूते डकारस्ये-
त्संज्ञायां लोपे च 'बहुश्रेयसी आ ए' इति स्थिते 'आटश्च' इति पूर्वपरयोः स्थाने
वृद्धौ कृतायां 'इको यणचि' इति यणि 'बहुश्रेयस्यै' इति रूपम् । बहुश्रेयसीभ्यां, बहु-
श्रेयसीभ्यः चतुर्थी । बहुश्रेयस्याः । बहुश्रेयसीशब्दात् पञ्चम्येकवचनविवक्षायां डसौ
समागते डकारस्येकारस्य चेत्संज्ञायां लोपे च 'प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च' इति नदीसंज्ञायां
'आणनद्याः' इत्याडागमे 'आटश्च' इति वृद्धौ यणि रूवे विसर्गे च 'बहुश्रेयस्याः' इति
रूपम् । 'बहुश्रेयसीभ्याम्, बहुश्रेयसीभ्यः, पञ्चमी । 'बहुश्रेयसी-आम्' इति स्थिते नदी-
संज्ञायाम् 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नदीसंज्ञकात्परस्यामो नुडागमे टित्वादाद्यावयवे
जाते उकारटकारयोरित्संज्ञायां लोपे च कृते परेण संयोज्य—'बहुश्रेयसीनाम् । इति
रूपम् । बहुश्रेयस्याम् । बहुश्रेयसीशब्दात् सप्तम्येकवचने डौ समागते 'डेराम्नद्या-
म्नीभ्यः' इति डेरामि कृते नदीसंज्ञायां सत्यां स्थानिवद्भावेन डित्वसामान्य 'आ-
णनद्याः' इत्याडागमे टित्वादाद्यावयवे 'बहुश्रेयसी-आ आम्' इति जाते 'आटश्च' इति
वृद्धौ 'इको यणचि' इति यणि 'बहुश्रेयस्याम्' इति रूपम् । अङ्घ्र्यन्तत्वादिति ।
औणादिकप्रत्ययान्तत्वादिति भावः । तथाह्यत्र सङ्ग्रहः—'अवी तन्त्री तरी लक्ष्मी
धी ही श्रीणामुणादिषु । सप्तस्त्रीलिङ्गशब्दानां सुलोपो न कदाचन' । अतिलक्ष्मीः ।
लक्ष्मीमतिक्रान्त इति विग्रहे 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे' इति समासः । अस्त्रीप्रत्य-
यान्तत्वान्नोपसर्जनह्रस्वः । 'अतिलक्ष्मी-सु' अत्रानुबन्धलोपे सस्य रूवे विसर्गत्वे
च रूपम् । प्रधीः । प्रध्यायतीति प्रधीः । 'ध्यायतेः सम्प्रसारणञ्च' इति क्तिप् ।
यकारस्य सम्प्रसारणमिकारः । 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपम् । 'हलः' इति
दीर्घः । कृदन्तत्वेन प्रातिपदिकत्वात् सुब्रुत्पत्तिः । अङ्घ्र्यन्तत्वान्न सुलोपः । रूव-
विसर्गौ 'प्रधीः' इति रूपम् । इति प्राप्ते इति । 'प्रधी-औ' इत्यादाविति शेषः ।

के स्थानमें वृद्धिरूप एक आदेश हो । डेरा—नद्यन्त, आबन्त और 'नी' शब्दसे पर जो 'डि'
उसको आम् आदेश हो । अचिश्नु—'श्नु' प्रत्ययान्त और इवर्णान्त—उवर्णान्त जो धातु
तथा 'भ्रू' रूप जो अङ्ग—उनको इयङ्, उवङ् आदेश हो, अजादि प्रत्ययके परे । परने—धात्व-

।६।४।८२। धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य इवर्णस्तदन्तो यो धातुस्तदन्तस्यानेका-
चोऽङ्गस्य यण् स्यादजादौ प्रत्यये परे । प्रध्यौ । प्रध्यः । प्रध्यम् । प्रध्यौ । प्रध्यः ।
प्रध्यः । शेषं पपीवत् ॥ एवं—ग्रामणीः । डौ तु—ग्रामण्याम् ॥ गतिश्च ।१।४।६०
प्रादयः क्रियायोगे गतिसंज्ञाः स्युः । (गतिकारकेतरपूर्वपदस्य यण्नेष्यते) ।
शुद्धधियौ । शुद्धधियः । न भू सुधियोः ।६।४।८५। एतयोरचि सुपि यण् ।
सुधीः । सुधियौ । सुधियः—इत्यादि ॥ सुखमिच्छतीति—सुखीः । सुतीः ।
सुख्युः२ । सुत्युः२ । शेषं प्रधीवत् । शम्भुर्हरिवत् । एवं भान्वादयः ॥ तृज्वत्क्रोष्टुः

एरनेकाच इति । 'इको यण्' इत्यतो यण् इति 'अचि श्नुधातु' इत्यतो धातु-
रित्यनुवर्तते, तच्चावर्तते । तस्मादेव सूत्रात् अचीति चानुवर्तते । अङ्गस्येत्यभि-
कृतम् । ततश्च प्रत्यये परत इति लभ्यते । अचीति तद्विशेषणम् । तदादिविधिः ।
तदाह—धात्ववयवेत्यादिना । प्रध्यौ । 'प्रधी-औ' इति स्थिते, अत्र 'प्रथमयोः
पूर्वसवर्णः' इति प्राप्ते 'दीर्घाज्जसि च' इति निषिद्धे 'इको यणचि' इति यणि
प्राप्ते तं प्रवाध्य 'अचि श्नुधातुभ्रुवां खोरियडुवडौ' इति प्राप्ते तं बाधित्वा 'ए-
रनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' इति यणि कृते 'प्रध् य औ' इति जाते अज्झीने परेण संयुक्ते
'प्रध्यौ' इति रूपम् । 'प्रधी-जस्' इति स्थिते, अत्र 'चुटु' इत्यनेन जकारस्येत्सं-
ज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे कृते सति 'इको यणचि' इति यणि प्राप्ते तं
बाधित्वा 'अचि श्नुधातु' इतीयङि प्राप्ते तं प्रवाध्य 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य'
इति यणि कृते सकारस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गे च 'प्रध्यः' इति रूपम् । 'सम्बोधने-
हे प्रधीः, हे प्रध्यौ, प्रध्यः, इति । अत्र प्रक्रिया प्रथमाविभक्तिवज्ज्ञेया । एवं ग्राम-
णीरेति । ग्रामं नयति—नियच्छतीति ग्रामणीः । 'अग्रग्रामाभ्यां नयतेर्णो वाच्यः'
इति णत्वम् । सप्तम्येकवचनं विहाय एवमेव प्रधीशब्दवत् ग्रामणीशब्दस्य
रूपाण्यूहनीयानि । प्रथमैकवचने—अङ्ग्यन्तत्वाच्च सुलोपः । अजादौ सर्वत्र
'एरनेकाचः' इति यणेव । अस्त्रीत्वान्नदीकार्यं न । शुद्धधियौ । शुद्धा धीर्यस्येति
विग्रहः । अत्र शुद्धशब्दस्य गतिकारकेतरत्वात् तत्पूर्वकस्य न यणिति भावः । शुद्धधी-
शब्दस्य रूपाणि सुश्रीशब्दवद्बोध्यानि । सुधियाविति । 'सुधी औ' इत्यत्र 'गतिश्च' इति
गतिसंज्ञां कृत्वा 'एरनेकाचो' इति यणि प्राप्ते 'न भू सुधियोः' इति यणादेशाभावे
'अचि श्नु' इतीयङि विहिते 'सुधियौ' । एवं 'सुधियः' इत्यादि बोध्यम् । सुख्य-

वयवसंयोग पूर्वमे न हो, ऐसा जो इवर्ण, तदन्त जो धातु, तदन्त जो अनेकाच् अङ्ग, उससे
यण् हो, अजादि प्रत्ययके परे । गति—प्रादि (प्र, परा आदि) की क्रियाके योगमें गति
संज्ञा हो । गति—गति एवं कारकासे इतर (भिन्न) पूर्वपदको यण् इष्ट नहीं—ऐसा सूत्र
कारका मत है । न भू—भू शब्द और सुधी शब्दको यण् नहीं हो—अजादि 'सुप्' के परे ।
तृज्वत्—असंबुद्धि सर्वनामस्थानके परे क्रोष्टु शब्दको तृजन्तवत् रूप हो, अर्थात् क्रोष्टु शब्दके

।७।१।९५। असम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने 'क्रोष्टु' इत्यस्य स्थाने 'क्रोष्टु प्रयोक्तव्यमित्यर्थः । ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः ।७।३।११०। ऋतोऽङ्गस्य गुणः स्यान्ङौ, सर्वनामस्थाने च । इति प्राप्ते । ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च ।७।१।९४। ऋदन्तानामुशनसादीनां चाऽनङ् स्यादसम्बुद्धौ सौ ॥ अप्तुन्तृच्स्वसृनप्तुनेष्टृ-त्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्तृणाम् ।६।४।११। अवादीनामुपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने । क्रोष्टा । क्रोष्टारौ । क्रोष्टारः । क्रोष्टारम् । क्रौष्टारौ । क्रोष्टून् ॥ विभाषा तृतीयादिष्वचि ।७।१।९७। तृतीयादिष्वजादिषु क्रोष्टुर्वा तृज्वत् ।

सुत्युरिति । सुखीशब्दात् सुतीशब्दाच्च पञ्चम्येकवचनविवक्षायां ङसि अनुबन्धकार्ये लोपे च 'सुखी + अस्' 'सुती + अस्' इति स्थिते 'पुरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' इति यणि 'ख्यत्याप्तरस्य' इति ङसिसम्बन्धिनोऽकारस्योकारादेशे कृते सस्य रूपे विसर्गे च 'सुख्युः, सुत्युः' इति रूपे स्तः । शम्भुर्हरिवदिति । तत्र पूर्वसवर्णदीर्घः—ऊकारः, गुणस्तु—ओकारः, अव् इत्यादयो विशेषाः, आन्तरतम्यात् बोध्या इति यावत् । क्रोष्टा । क्रोष्टुशब्दात्प्रथमैकवचने सावागते तस्य सर्वनामस्थानत्वात् 'तृज्वत्क्रोष्टुः' इति तृज्वद्भावे विहिते 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' इति सर्वनामस्थानपरत्वात् गुणे प्राप्ते परन्त्वत्र 'विप्रतिपेधे परं कार्यम्' इत्यस्मिन् सूत्रे 'इष्टवाची परशब्द' इति भाष्ये ध्वनितत्वात्पूर्वविप्रतिपेधं मत्वा 'ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च' इत्यनङि प्राप्ते 'ङिच्च' इत्यन्तादेशे विहिते ङकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'क्रोष्टुन् + सु' इति जाते 'हल्ङ्यावभ्यो दीर्घात्' इति सस्य लोपे 'अप्तुन्तृच्' इति सम्बुद्धिभिन्नसर्वनामस्थानपरत्वादुपधादीर्घत्वे 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नस्य लोपे च कृते 'क्रोष्टा' इति रूपम् । क्रोष्टारौ २ । 'क्रोष्टु + औ' इत्यत्र 'तृज्वत्क्रोष्टुः' इति तृज्वद्भावे कृते 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' इति गुणेन अकारे, तस्य 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे च कृते 'क्रोष्टर् औ' इति जाते 'अप्तुन्तृच्' इत्यनेनोपधाया दीर्घत्वे संयोगे च विहिते 'क्रोष्टारौ' इति रूपम् । एवमेव क्रोष्टारः इति । क्रोष्टून् इति । क्रोष्टुशब्दाच्छसि समागते शसोऽसर्वनामस्थानत्वात् क्रोष्टुशब्दस्य तृज्वद्भावभावे शसः सस्येत्संज्ञायां लोपे च 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति पूर्वसवर्णदीर्घादेशे 'तस्माच्छसो नः पुंसि' इति सस्य

स्थानमें 'क्रोष्टु' आदेश हो । ऋतो—ऋदन्त अङ्गको गुण हो, ङि और सर्वनामस्थान विभक्तिके परे । ऋदुश—ऋदन्त तथा उशनस्, पुरुदंसस् और अनेहस् शब्दोंको अनङ् आदेश हो, सम्बुद्धि-भिन्न 'सु' के परे । अप्तुन्—'अप्' शब्द तथा तृन्-तृच् प्रत्ययान्त और स्वसृ-नप्तु नेष्टृ-त्वष्टृ-क्षत्-होतृ-पोतृ-प्रशास्तृ-शब्दोंकी उपधाको दीर्घ हो, असम्बुद्धि सर्वनामस्थानके परे । विभाषा—क्रोष्टु शब्दको तृज्वद्भाव (क्रोष्टु आदेश) हो, विकल्पसे, अजादि तृतीयादि

क्रोष्ट्रा-क्रोष्टुना । क्रोष्ट्रे-क्रोष्टवे ॥ ऋत उत् । ६।१।११। ऋतो ङसिङ्सोरिति परे
पूर्वपरयोर्द्वैकादेशः स्यात् । रपरः ॥ रात्सस्य । ८।२।२४। रेफात्संयोगान्तस्य सस्य
लोपो नान्यस्य । रस्य विसर्गः । क्रोष्टुः २ । क्रोष्ट्रोः २ । क्रोष्ट्रोः-क्रोष्ट्रोः । (नुमचिर-

‘नत्वे ‘क्रोष्टून्’ इति रूपं सम्पन्नम् । क्रोष्ट्रा । ‘क्रोष्टु+टा’ इत्यत्र ‘उट्’ इति
टस्येत्संज्ञायां लोपे च ‘विभाषा तृतीयादिष्वचि’ इति तृज्वद्भावे ‘इको यणचि’
इति यणि विहिते ‘क्रोष्ट्रा’ इति रूपम् । क्रोष्टुना । तृज्वद्भावाभावे ‘क्रोष्टु+टा’
इत्यत्र ‘शेषोऽध्यसखि’ इति घिसंज्ञायाम् ‘आङो नाखियाम्’ इति टा इत्यस्य
स्थाने नादेशे कृते ‘क्रोष्टुना’ इति रूपम् । क्रोष्टवे । क्रोष्टुशब्दाच्चतुर्थ्येकवचनवि-
क्षायां डेसमागते ‘क्रोष्टु+ङे’ इति स्थिते, ङकारस्येत्संज्ञायां लोपे च ‘क्रोष्टु+ए’
इति जाते ‘विभाषा तृतीयादिष्वचि’ इति तृज्वद्भावे ‘इको यणचि’ इति यणि
‘क्रोष्ट्रे’ इति रूपम् । पक्षे घिसंज्ञायां ‘घेर्ङिति’ इति गुणे विहिते ‘एचोऽयवायाव’
इत्यवादेशे ‘क्रोष्टवे’ इति रूपम् । क्रोष्टुरिति । क्रोष्टुशब्दात् ङसि; अत्र सकारोक्त-
वर्तिन इकारस्य तथा ङस्येत्संज्ञायां लोपे च ‘विभाषा तृतीयादिष्वचि’ इति
तृज्वद्भावे कृते ‘क्रोष्टु+अस्’ इत्यवस्थायाम् ‘ऋत उत्’ इति पूर्वपरयोरुत्वे
रपरत्वे च क्रोष्टुर् स् इति भूते ‘रात्सस्य’ इति सस्य लोपे ‘खरवसान-
योर्विसर्जनीयः’ इति रस्य विसर्गत्वे च कृते ‘क्रोष्टुः’ इति रूपम् । तृज्वद्भा-
वाभावपक्षे घिसंज्ञायां ‘घेर्ङिति’ इति गुणे क्रोष्ट्रो+अस्’ इति जाते
‘ङसिङ्सोश्च’ इति पूर्वरूपे सस्य रुत्वे विसर्गे च ‘क्रोष्ट्रोः’ इति रूपम् ।
पञ्चमीद्विवचनबहुवचने तु—‘क्रोष्टुभ्यां, क्रोष्टुभ्यः । षष्ठ्येकवचनं पञ्चम्येकवच-
नवद् बोध्यम् । क्रोष्ट्रोः २ । क्रोष्टुशब्दादोसि ‘विभाषा तृतीयादिष्वचि’ इति
तृज्वद्भावे ‘इको यणचि’ इति यणि रुत्वे विसर्गे च ‘क्रोष्ट्रोः’ इति रूपम् । तृज्व-
द्भावाभावपक्षे—‘क्रोष्टु+ओस्’ इति दशायाम् ‘इको यणचि’ इति यणि सस्य रुत्वे
विसर्गे च ‘क्रोष्ट्रोः’ इति रूपम् । नुमचिरांत । अचिरेत्यनुकरणम् । तेन ‘अचिर-

(टा-ङे-ङसि-ङस्-ओस्-आम्-ङि) विभक्तिके परे । ऋत्—ऋदन्त अङ्गसे ङसि-ङस्
सम्बन्धी अकारके परे रहते पूर्व-परके स्थानमें ‘उत्’ एकादेश हो । रात्सस्य—रेफसे पर
यदि संयोगान्तका लोप हो तो सकारका ही हो-अन्यका नहीं ।

नुम—नुम्, अच्के परे रभाव और तृज्वद्भावसे पहले पूर्वविप्रतिषेधेन आम्को नुट् ही हो ।
नोटः—‘क्रोष्टूनाम्’ यहां पर नुट् होनेसे अच्परत्वका नाश हो जाता है अतः तृज्व-
द्भावकी पुनः प्राप्ति नहीं होती । एवं ‘तिसृणाम्’ और ‘वारीणाम्’ यहांपर भी नुट् होनेसे
अच्परत्वका नाश होजाता है अतः ‘तिसृणाम्’ में ‘अचि र ऋतः’ से रभाव और ‘वारी-
णाम्’ में ‘इकोऽचि विभक्तौ’ से नुम नहीं होते ।

तृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन) । क्रोष्टूनाम् । क्रोष्टरि । पक्षे हलादौ च शम्भुवत् ॥ ह्रूह्रः । ह्रूह्रौ । ह्रूह्रम् । ह्रूह्रन् । इत्यादि ॥ अतिचमू—शब्दे तु नदी-कार्य विशेषः । हे अतिचमु । अतिचम्वै । अतिचम्व्वाः २ । अतिचमूनाम् । अति-

ऋतः' इति विहितो रेफो विवक्षितः । क्रोष्टूनामिति । क्रोष्टुशब्दात् पष्ठीबहुवचन-विवक्षायां आमि कृते 'क्रोष्टु+आम्' इति स्थिते अत्र 'विभाषा तृतीयादिष्वचि' इति तृज्वद्भावे प्राप्ते तं वाधित्वा 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति उकारटकारयोरित्संज्ञायां लोपे च टित्वादाद्यावयवे जाते 'क्रोष्टु+नाम्' इति भूते 'नामि' इति अजन्ताङ्गस्य दीर्घे क्रोष्टूनाम् इति रूपम् । क्रोष्टरि । क्रोष्टुशब्दात् सप्तम्येकवचनविवक्षायां ह्रौ समागते डस्येत्संज्ञायां लोपे च 'विभाषा तृतीयादिष्वचि' इति तृज्वद्भावे विहिते 'ऋतो डिसर्वनामस्थानयोः' इत्यनेन अकाररूपे गुणे विहिते 'उरण् रपरः' इति रपरं च कृते सर्वस्मिन् संयुक्ते सति 'क्रोष्टरि' इति रूपम् । तृज्वद्भावाभावपक्षे—'क्रोष्टु+ङि' इत्यवस्थायां विसंज्ञायाम् 'अच्च वेः' इत्यनेन डेः स्थाने औकारे विसंज्ञ-कस्य च स्थानेऽकारे जाते 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'क्रोष्टौ' इति रूपम् । ओसि पूर्व-वद्—'क्रोष्ट्रोः', 'क्रोष्ट्रोः' इति । पक्षे इति । तृतीयादिष्वजादिषु तृज्वत्त्वाभावपक्षे इत्यर्थः । हलादाविति । हलादिषु विभक्तिषु परेष्वित्यर्थः । ह्रूहरिति । गन्धर्वविशेषवाचि अन्यु-त्पन्नं प्रातिपदिकमेतत् । ह्रूह्रशब्दात्प्रथमैकवचने सावागते उकारनिवृत्तौ सत्यां सस्य रुत्वे विसर्गे च 'ह्रूह्रः' इति रूपम् । ह्रूह्राविति । ह्रूह्रशब्दात्प्रथमाद्विवचने औ समागते 'इको यणचि' इति यणि विहिते 'ह्रूह्रौ' इति रूपम् । एवमेव ह्रूह्रशब्दस्याजादौ विभक्तौ कार्यं विज्ञेयम् । ह्रूह्रम् इति । अत्र 'इको यणचि' इति यणं वाधित्वा 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपे 'ह्रूह्र'मिति रूपम् । अतिचमूशब्दे त्विति । चमूमतिक्रान्तः, अतिचमूः । 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति समासः । स्त्रीप्रत्ययान्तत्वाभावात् 'गोस्त्रियोः' इति ह्रस्वो न भवति । नदीकार्यमिति । 'प्रथमलिङ्गग्रहणं च' इति वच-नादिति भावः । हे अतिचमु इति । अतिचमूशब्दाद् सम्बोधनैकवचने सौ; उगते 'प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च' इति नदीसंज्ञायाम् 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' इति ह्रस्वत्वे 'एङ्-ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' इति सस्य लोपे च कृते 'हे अतिचमु' इति रूपम् । अतिचम्वै इति । अतिचमूशब्दात् चतुर्थ्येकवचने डेकृते डकारस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते नदीसंज्ञायाम् 'आणनद्याः' इत्यनेन डकारेत्संज्ञकस्यैकारस्याडागमे टित्वादाद्यावयवे टकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'अतिचमू+आ ए' इति जाते अत्र 'आटश्च' इत्यनेन वृद्धौ कृतायाम् 'इको यणचि' इति यणि सति 'अतिचम्वै' इति रूपम् । अतिचमूनामिति । अति-चमूशब्दात्पष्ठीबहुवचनविवक्षायां आमि समागते नदीसंज्ञायाम् 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नुडागमे टित्वादाद्यावयवे च जाते 'अतिचमूनाम्' इति रूपम् । खलूपरिति । खलं पुनातीति किप् । कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सावागते उकारस्य लोपे सस्य रुत्वे

चम्बाम् । खलपूः ॥ ओः सुपि । ६।४।८३। धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य उवर्ण-
स्तदन्तो यो धातुस्तदन्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य यण् स्यादचि सुपि खलप्वौ । खलप्वः ।
एवं । सुत्वादयः ॥ स्वयम्भूः । स्वयम्भुवौ । स्वयम्भुवः । एवं—स्वभूः ।
वर्षाभूः ॥ वर्षाभ्वश्च । ६।४।८४। अस्य यण् स्यादचि सुपि । वर्षाभ्वावित्यादि ।
दन्मूः ॥ (दन्करपुनःपूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः) । दन्भवौ । दन्भवः । खलपूवत् ।
एवं—करभूः । पुनर्मूः । दन्मू—कारभूशब्दौ स्वयम्भूवत् ॥ धाता । हे धातः ।

विसर्गे च 'खलपूः' इति । एवं सुत्वादय इति सुष्टु लुनातीति सुलः । गतिपूर्वकत्वा-
दिहापि यण् । आदिना केदारलृट्त्वादिसंग्रहः । स्वभूरिति । स्वस्मान्भवति क्तिप् ।
कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सावागतेऽनुबन्धलोपे सस्य रुत्वे विसर्गे च 'स्वभूः' इति
रूपम् । 'स्वभुवौ' 'स्वभुवः' इति । स्वभूशब्दात् प्रथमाद्विवचने औसमागते 'प्रथमयोः
पूर्वसवर्णः' इति पूर्वसवर्णदीर्घे प्राप्ते तं बाधित्वा 'अचिश्नुधातु०' इत्युवङि प्राप्ते
तं प्रबाध्य 'ओः सुपि' इति यणि प्राप्ते 'न भूसुधियोः' इत्यनेन निषिद्धे 'अचि
श्नुधातु०' इत्युवङि विहिते 'ङिच्च' इत्यन्तादेशे जाते डकारस्येत्संज्ञायां लोपे च
'स्वभुवौ' इति । वर्षाभूरिति । वर्षाभू भवतीति वर्षाभूः । 'वर्षाभूदुर्दुरे पुमान्' इति
यादवः । वर्षाभवौ । वर्षाभूशब्दात् प्रथमाद्विवचने औ समागते 'प्रथमयोः
पूर्वसवर्णः' इति पूर्वसवर्णदीर्घे प्राप्ते तं बाधित्वा 'अचिश्नुधातु०' इति उवङि
प्राप्ते तं बाधित्वा 'ओः सुपि' इति यणि प्राप्ते 'न भूसुधियोः' इति निषिद्धे
'वर्षाभ्वश्च' इति यणि कृते सति 'वर्षाभवौ' इति रूपमबोध्यम् । एवमेव सर्वत्राजादौ
विभक्तौ परे बोध्यम् । दन्भूरिति । दन्निति नान्तमव्ययं हिंसायां वर्तते । तस्मिन्नुपपदे
भूधातोः क्तिविति भावः । दन्—हिंसां, भवते प्राप्नोतीति विग्रहः । तरुविशेषः, सर्पवि-
शेषो वेत्यन्ये । स्वाभाविक एवात्र नकारः । तस्य पदान्तत्वात् 'नश्चापदान्तस्य'
इति नानुस्वारः । अतएव न परसवर्णः । एवम्भूतात् दन्भूशब्दात्सावागते उकारस्ये-
त्संज्ञायां लोपे च सस्य रुत्वे विसर्गे च 'दन्मूः' इति रूपम् । दन्भ्वाविति । दन्भूश-
ब्दात् औ समागते 'ओः सुपि' इति यणि प्राप्ते 'न भूसुधियोः' इति तस्य
निषेधे कृते 'दन्करपुनःपूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः' इति यणि कृते 'दन्भवौ' इति ।
करभूरिति । करात् करे वा भवतीति 'करभूः' शब्दो बोध्य इति शेषः । धातेति ।
धातुशब्दात्प्रथमैकवचने सावागते 'ऋदुशानस्पुरदंसोऽनेहसाञ्च' इत्यनङि विहिते
'ङिच्च' इत्यनेनान्तावयवे कृते डकारस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते 'धातन्+उ'

ओः सुपि—धात्ववयवसंयोग पूर्वमें नहीं है ऐसा जो उवर्ण, तदन्त जो धातु, तदन्त
जो अनेकाच् अंग, उसको यण् हो, अजादि सुप् विभक्तिके परे । वर्षा—वर्षाभू शब्दको
यण् हो, अजादि सुप् विभक्तिके परे । दन्—दन्—कर—पुनर्—पूर्वक 'भू' को यण् हो अजादि

धातारौ । धातारः ॥ ऋवर्णाक्षस्य णत्वं वाच्यम् । धातृणाम् ॥ एवं नप्त्रादयः ॥
 'अप्तृ'भिति सूत्रे नप्त्रादिग्रहणं व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम् । तेनेह न-पिता । पितरौ ।
 पितरः । पितरम् । शेषं धातृवत् । एवं जामात्रादयः । ना । नरौ । नरः ॥ नृ
 च । ६।१६। अस्य नामि वा दीर्घः । नृणाम्-नृणाम् ॥ गोतो णित् । ७।१।९०।
 ओकाराद्विहितं सर्वनामस्थानं णिद्वत् । ओतो णिदिति वाच्यम् । गौः । गावौ ।
 गावः ॥ ओतोऽम्शसोः । ६।१।९३। 'आ-ओत' इतिच्छेदः । ओतोऽम्शसोरचि

इत्यवस्थायाम् 'अप्तृन्तृच्' इत्यादिनोपधाया दीर्घत्वे कृते सकारोत्तरवर्तिन उकार-
 स्येत्संज्ञत्वे लोपे च 'हल्ङ्याभ्यो दीर्घात्' इति सस्य लोपे 'नलोपः प्रातिपदिका-
 न्तस्य' इति नस्य लोपे च 'धाता' इति । हे धातः इति । धातृशब्दात्सम्बोधनस्यै-
 कवचनविवक्षायां सावागते सकारोत्तरवर्तिन उकारस्येत्संज्ञत्वे लोपे च कृते
 'धातृ + स्' इत्यवस्थायाम् 'एकवचनं सम्बुद्धिः' इति सम्बुद्धिसंज्ञायां 'ह्रस्वस्य
 गुणः' इति ऋकारस्य गुणे 'उरण् रपरः' इति रपरे च 'धातृस्' इति भूते
 'हल्ङ्याभ्यं' इति सलोपे रेफस्य विसर्गे च 'हे धातः' इति । एव नप्त्रादय इति ।
 नप्तृ-नेष्टृ-स्वष्टृ-क्षृ-होतृ-पोतृ-प्रशास्त्वृशब्दाः धातृशब्दवदित्यर्थः । नप्त्रादिग्रहण-
 मिति । व्युत्पत्तिपक्षे तृन्तृजन्तत्वादेव सिद्धे नप्त्रादिग्रहणं 'सिद्धे सत्यारभ्यमाणो
 विधिर्नियमार्थम्' तृन्तृजन्तानां चेत्तर्हि नप्त्रादीनामेव । तेन पितृभ्रातृप्रभृतीनां
 नेति बोध्यम् । पितेति । पितृशब्दात्सौ 'ऋदुशनस्पुरदंसो' इत्यनङ्गि विहिते
 ङित्वादाद्यावयवे अनुबन्धलोपे 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति दीर्घे सकारस्य
 'हल्ङ्याभ्यं' इति लोपे 'पिता' इति रूपम् । पितराविति । पितृशब्दात् औ समा-
 गते सर्वनामस्थानसंज्ञायाम् 'ऋतो ङि' इति गुणे-रपरे च कृते 'पितरौ' इति
 रूपम् । अत्र व्युत्पत्तिपक्षे—नप्त्रादिग्रहणस्य नियमार्थवान्न दीर्घः । अव्युत्पत्ति-
 पक्षे तु 'अप्तृन्तृजादिष्वनन्तर्भावात् दीर्घशङ्कैव नास्ति । ना । नृशब्दो मनुष्यवाची ।
 तस्मात् सुः । 'ऋदुशनस्' इत्यनङ् । 'अप्तृन्' इति सूत्रे अनन्तर्भावात् 'सर्वना-
 मस्थाने च' इति नान्तर्वप्रयुक्तो दीर्घः । हल्ङ्यादिलोपः । नलोपः । 'ना' इति
 रूपम् । नणामिति । नृशब्दादामि, नुट्, 'नामि' इति नित्यं दीर्घे प्राप्ते 'नृ च'
 इति नामि वा दीर्घे 'नृणाम्, नृणाम्' इति भवतः । गौरिति । गोशब्दात्सावागते
 'गोतो णित्' इति णिद्वद्भावे 'अचो ङिति' इति वृद्धौ औकारे रूढे विसर्गे च

सुप् विभक्तिके परे—ऐसा सूत्रकारको कहना चाहिये । ऋवर्णा—ऋवर्णसे पर नकारको
 णत्वं हो—ऐसा कहना चाहिये । नृ च—'नृ' शब्दको दीर्घ हो, नाम्के परे, विकल्पसे ।
 गोतो—ओकारसे विहित जो सर्वनामस्थान, वह णिद्वत् हो । औतो—ओकारसे पर अम्-
 शस् सम्बन्धी अच् रहे तो पूर्व-परके स्थानमें आकार एक आदेश हो ।

आकार एकादेशः । गाम् । गावौ । गाः । गवा । गवे । गोः २ ॥ रायो
हलि । ७।२।८५। रैशब्दस्याऽऽकारादेशो हलि विभक्तौ । राः । रायौ । रायः ।
राभ्यामित्यादि ॥ ग्लौः । ग्लावौ । ग्लावः । ग्लौभ्यामित्यादि ॥

इत्यजन्ताः पुंलिङ्गाः ॥

अथ अजन्तस्त्रीलिङ्गाः

रमा । औङ आपः । ७।१।१८। आवन्तादङ्गात्परस्यौङः शी स्यात् ।
'औङ्' इत्यौकारविभक्तेः संज्ञा । रमे । रमाः ॥ सम्बुद्धौ च । ७।३।१०६। आप
एकारः स्यात्सम्बुद्धौ । हे रमे । हे रमे । हे रमाः । रमाम् । रमे । रमाः ॥
आङि चाऽऽपः । ७।३।१०५। आङि, ओसि चाऽऽप एकारः । रमया । रमा-
भ्याम् । रमाभिः ॥ याडापः । ७।३।११३। आपः परस्य द्विवचनस्य याडागमः ।

'गौः' इति । गामिति । गोशब्दादमि समागते 'औतोऽभ्यसोः' इत्यनेन पूर्वपरयोः
स्थाने आकारादेशे कृते 'गाम्' इति । गावाविति । गोशब्दादौटि कृते 'गोतो णित्'
इति णिद्वर्द्धभावे वृद्धावावादेशे च कृते 'गावौ' इति । राः इति । रैशब्दात्प्रथमैक-
वचने सावागते 'रायो हलि' इति रैशब्दस्य सर्वस्य स्थाने अकारादेशे प्राप्ते
'अलोऽन्त्यस्य' इत्यन्त्यस्यैकारस्याकारादेशे सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'राः' इति
रूपम् । ग्लौरिति । ग्लौशब्दश्चन्द्रवाची । 'ग्लौर्मुगाङ्कः कलानिधिः' इत्यमरः । तस्य
हलादौ न कश्चिद्विकारः । अचि तु आवादेशः । इति मत्वाह—ग्लौः ग्लावौ ग्लाव इति ।

इत्यजन्ताः पुंलिङ्गाः ।

रमेति । रमाशब्दोऽत्र वर्तते 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' इत्यनेन सर्वेऽपि स्वादयः
प्राप्ताः । एषां मध्यादत्र प्रथमैकवचने सावागते 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इति
सकारोत्तरवर्त्युकारस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे 'हल्ङ्याबभ्यो' इत्यनेन
सस्य लोपे च कृते 'रमा' इति रूपं सिद्ध्यति । औङ्शब्दस्याप्रसिद्धार्थत्वादाह—औङि-
तीति । संज्ञेति । प्राचां शास्त्रे स्थितेति शेषः । रमे इति । 'रमा + औ' इति स्थिते औकारस्य
स्थाने 'औङः आपः' इति 'शी' आदेशे कृते 'लशक्तद्धिते' इति शकारस्येत्संज्ञायां
लोपे च 'रमा + ई' इति जाते 'आद्गुणः' इति पूर्वपरयोः स्थाने गुणादेशे च विहिते

रायो—'रै' शब्दको आकारान्त आदेश हो, हलादि विभक्तिके परे ।

इस प्रकार इन्दुमती टीकामें अजन्तपुंलिङ्ग प्रकरण समाप्त हुआ ।

औङ्—आवन्त अङ्गसे पर औङ् (औकार विभक्ति) के स्थानमें 'शी' आदेश हो ।
सम्बु—आवन्त अङ्गको एकार आदेश हो, सम्बुद्धिके परे । आङि—आङ् और ओस्के परे
'आप्' को एकार हो । याडापः—आवन्त अङ्ग से पर द्विवचनको याट्का आगम हो ।

वृद्धिरेचि । रमायै । रमाभ्याम् । रमाभ्यः । रमायाः । २ रमयोः २ । रमाणाम् । रमायाम् । रमासु । एवं दुर्गादयः ॥ सर्वनाम्नः स्याड्ढस्वश्च । ७।३।११४।
 आवन्तात्सर्वनाम्नो ङितः स्याड्, आपश्च ह्रस्वः । याटोऽपवादः । सर्वस्यै । सर्वस्याः २ । प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणादामि सर्वनाम्न इति सुट् ।
 सर्वासाम् । सर्वस्याम् । शेषं रमावत् । एवं विश्वाद्य आवन्ताः ॥ विभाषा
 दिक्समासे बहुव्रीहौ । १।१।२८। अत्र सर्वनामता वा । उत्तरपूर्वस्यै । उत्तर-
 पूर्वयै । इत्यादि । 'दिङ्नामान्यन्तराले' इति प्रतिपदोक्तस्यैव समासस्य ग्रहणा-
 न्नेह—योत्तरा सा पूर्वा यस्या उन्मुग्धायास्तस्यै उत्तरपूर्वयै । बहुव्रीहिग्रहणं स्पष्टा-

'रमे इति रूपम् । रमायै इति । 'रमा डे' इत्यत्र डस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते 'रमा +
 ए' इति जाते 'याडापः' इत्यनेन ङित एकारस्य याडागमे कृते टित्वादाद्यावयवे जाते
 टकारस्येत्संज्ञायां लोपे च विहिते 'रमा या ए' अत्र 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'रमायै'
 इति रूपम् । रमायामिति । 'रमा ङि' इत्यत्र 'ङेराग्न्याग्नीभ्यः' इति ङेरामि कृते
 'रमा + आम्' इति जाते अत्र 'याडापः' इति याटि टिलोपे 'अकः सवर्णे दीर्घः'
 इति दीर्घादेशे च कृते 'रमायाम्' इति रूपम् । मर्वस्यै । सर्वशब्दाद्यापि सर्वाशब्दः ।
 सोऽपि प्रायेण रमावत् । 'सर्वा + डे' इत्यत्र डस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते 'याडापः'
 इति प्राप्ते तं बाधित्वा 'सर्वनाम्नः स्याड्ढस्वश्च' इति स्याटि आवन्तस्य च ह्रस्वे
 कृते 'सर्व स्याट् ए' इति जाते टस्येत्संज्ञत्वे लोपे च 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ कृतायां
 'सर्वस्यै' इति रूपम् । सर्वस्याः । 'सर्वा ङसि' इत्यत्र ङकारस्येकारस्य चेत्संज्ञायां
 लोपे च 'सर्वनाम्नः स्याड्ढस्वश्च' इति स्याटि आवन्तस्य ह्रस्वत्वे च 'सर्व + स्याट्
 + अस्' इति जाते टस्य लोपे 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घादेशे च कृते सस्य रुत्वे
 विसर्गे च 'सर्वस्याः' इति रूपम् । सर्वाङामिति । 'सर्वा + आम्' इत्यत्र 'आमि सर्व-
 नाम्नः सुट्' इति सुटि उटि गते सकारेण सह संयोगे च कृते 'सर्वासाम्' इति
 रूपम् । एवामिति । सर्वादिगणपठितविश्वाद्यः आवन्तत्वं प्राप्ताः सर्वाशब्दवदित्यर्थः ।
 उत्तरस्याः पूर्वस्याश्च दिशोर्यदन्तरालम्—सा उत्तरपूर्वा । 'दिङ्नामान्यन्तराले' इति
 बहुव्रीहिविशेषोऽयम् । तत्र विशेषं दर्शयितुमाह—विभाषा दिक्समासे इति । उत्तरपूर्व-
 स्यै । 'उत्तरपूर्वा + डे' इत्यत्र 'विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ' इति सर्वनामत्वे
 'सर्वनाम्नः स्याड्ढस्वश्च' इति स्याटि आवन्तस्य च ह्रस्वत्वे 'वृद्धिरेचि' इति
 वृद्धौ 'उत्तरपूर्वस्यै' इति । पक्षे—सर्वनामसंज्ञाभावे 'याडापः' इति याटि 'वृद्धिरे-

सर्वनाम्नः स्याड्ढस्वश्च—आवन्त सर्वनामसे पर ङिङ्गचनको याटका आगम हो और
 'आप्' को ह्रस्व हो । विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहि—बहुव्रीहि समासमें दिग्वाचक शब्दों

र्थम् । अन्तरस्यै शालायै । बाह्यायै इत्यर्थः । अपुरीत्युक्तेर्नेह—अन्तरायै नगयै । तीयस्येति डित्सु वा । द्वितीयस्यै । द्वितीयायै । एवं तृतीया । अम्बार्थनद्यो-
र्ह्रस्वः । हे अम्ब । हे अक्क । हे अल्ल । (असंयुक्ता ये डलकास्तद्वतां
ह्रस्वो न) । अम्बाडे । हे अम्बाले । हे अम्बिके । जरा । जरसौ—जरे ।
इत्यादि । पक्षे, हलादौ च रमावत् । गोपा—विश्वपावत् । मतीः । मत्या ॥
डिति ह्रस्वश्च । १।४।६। इयङ्वङ्स्थानौ स्त्रीशब्दभिन्नौ नित्यस्त्रीलिङ्गावीदूतौ, ह्रस्वौ

चि' इति वृद्धौ कृतायाम् 'उत्तरपूर्वायै इति । अन्तरस्यै शालायै इति । अन्तरशब्दादपि
डे विभक्तौ अन्तरशब्दस्य सर्वनामत्वात्स्यादेशे रूपम् । अन्तरायै नगयै इत्यत्र तु
न अन्तराशब्दस्य सर्वनामता 'अन्तरं वहिर्योग' इत्यादिसूत्रे 'अपुरि' इति पाठात् पुर्यथं
गम्ये न सर्वनामतेति तदर्थस्वाच्चगरीशब्दपरकत्वेन नान्तराशब्दस्य सर्वनामत्वम् ।
तेन 'याडापः' इति याडागमेनैव भाव्यमिति भावः । द्वितीयस्यै इति । 'द्वितीया + डे'
इत्यत्र 'तीयस्य डित्सु वा' इति वैकल्पिके सर्वनामत्वे 'सर्वनाम्नः स्याड्डूस्वश्च'
इति स्याटि ह्रस्वत्वे च विहिते वृद्धौ कृतायां 'द्वितीयस्यै' इति । सर्वनामत्वाभावे तु
'याडापः' इति याटि वृद्धौ विहितायां 'द्वितीयायै' इति । हे अम्बेत्यादि । हे अम्बा सु
इत्यत्र सकारोत्तरवर्तिन उकारस्येत्संज्ञत्वे लोपे च 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' इति ह्रस्वत्वे
'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' इति सलोपे 'हे अम्ब' इति । एवमेव हे अक्क, हे अल्ल, इत्यादि ।
असंयुक्ता इति । संयोगरहिता ये डलकादयोऽम्बार्थकास्तेषां 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्व' इति
ह्रस्वो नेति भावः । अम्बाडे, अम्बाले, अम्बिके, इति रूपे 'अम्बाडा + सु' 'अम्बाला +
सु, अम्बिका + सु, इत्यवस्थायामापो ह्रस्वत्वाभावेन 'सम्बुद्धौ चे'ति आप एत्वे सोऽकार-
स्येत्संज्ञायां लोपे सति सस्य लोपे सति च अम्बाडे, अम्बाले, अम्बिके, इत्यादीनां सिद्धिः
प्रत्येतव्या । पक्षे हलादौ च रमावदिति । जरसादेशाभावपक्षे, हलादावपि च रमावदि-
त्यर्थः । मत्येति । 'मति टा' इत्यत्र 'शेषोऽध्यसखि' इति विसंज्ञायां सत्यामपि 'आहो
ना स्त्रियाम्' इत्यत्र 'अस्त्रियाम्' इति पर्युदासान्नात्वम् ; किन्तु 'इको यणचि' इति

की सर्वनाम संज्ञा हो, विकल्पसे । तीयस्य—तीयप्रत्ययान्त (६७ पृ० देखो) शब्दोंकी सर्वनाम
संज्ञा हो, विकल्पसे । असंयु—असंयुक्त जो 'ड-ल-क', तद्वान् जो (अम्बार्थक) शब्द, उनको
ह्रस्व नहीं हो । डिति—इयङ्-उवङ्के स्थानी रहे, 'स्त्री' शब्दसे भिन्न रहे तथा नित्यस्त्री-
लिङ्ग रहे, ऐसा जो दीर्घ ईकार और ऊकार, उनकी नदीसंज्ञा हो, डित्के परे विकल्पसे ।
और ह्रस्व इवर्ण-उवर्णकी नदीसंज्ञा हो, डित्के परे स्त्रीलिङ्गमें विकल्पसे ।

नोटः—'डिति ह्रस्वश्च' इस सूत्रमें 'च' का उपादान है, इसलिये चकारसे—'इयङ्व-
ङ्स्थानौ नित्यस्त्रीलिङ्गावीदूतौ नदीसंज्ञौ वा स्तो डिति परे' इत्यर्थक 'डिति' यह एक पृथक्

च इउवर्णौ स्त्रियां वा नदीसंज्ञौ स्तो ङिति । मत्थै—मतये । मत्याः २—मतेः २ । नदीत्वपक्षे परत्वात् 'अौत्' इति ङेरौत्त्वे प्राप्ते । इदुद्ग्याम् । ७।३।११७। नदी-संज्ञकाभ्यामिदुद्ग्यां परस्य ङेराम् स्यात् । पक्षे-अच्च घेः । मत्याम्—मतौ । शेषं हरिवत् । एवं बुद्ध्यादयः ॥ त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ । ७।२।९९। स्त्रीलिङ्गयोरेतयोरेतौ स्तो विभक्तौ ॥ अचि र ऋतः । ७।२।१००। तिसृचतस्रो ऋतो रादेशोऽचि । गुणदीर्घोत्वानामपवादः । तिस्रः २ । तिसृभिः । तिसृभ्यः २ । आभि

यणि कृते 'मत्या' इति रूपम् । मत्थै । 'मति+ए' अत्र 'ङिति ह्रस्वश्च' इति नदी-संज्ञायाम् 'आण्णद्याः' इत्याडागमे टित्वादाद्यावयवे 'मति-आ ए' इति जाते 'आटश्च' इति वृद्धौ सत्याम् 'ऐ' इति भूते 'इको यणचि' इति यणि कृते 'मत्थै' इति रूपम् । नदीसंज्ञाभावे 'शेषो ध्यसखि' इति घिसंज्ञायां 'वेङिति' इति गुणे कृते 'एचोऽयवायावः' इत्ययादेशे 'मतये' इति । मत्याः । 'मति ङसि' इत्यत्र इका-रस्य ङस्य चेत्संज्ञायां लोपे च 'ङिति ह्रस्वश्च' इति नदीसंज्ञायाम् 'आण्णद्याः' इत्यादि 'आटश्च' इति वृद्धौ 'इको यणचि' इति यणि च कृते सस्य रुवे विसर्गे च कृते 'मत्याः' इति रूपम् । घिसंज्ञायां हरिवत् । मत्यामिति । 'मति+ङि' इत्यत्र 'ङिति ह्रस्वश्च' इति नदीसंज्ञायां 'इदुद्ग्याम्' इति ङेरामि विहिते सति तत्र स्थादिवद्भावेन ङित्वमानीय 'आण्णद्याः' इत्याडागमे 'आटश्च' इति वृद्धौ 'इको यणचि' इति यणि 'मत्याम्' इति । नदीसंज्ञाभावे 'शेषोऽध्यसखि' इति घिसंज्ञायाम् 'अच्च घेः' इति ङेरौत्वे घेरकारादेशे च कृते 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ च विहितायां 'मतौ' इति रूपम् । गुणदीर्घोत्वानामिति । 'ऋतो ङि' इति गुणस्य 'प्रथमयोः' इति पूर्वसवर्णदीर्घस्य 'ऋत उत्' इत्युत्त्वस्य च रत्वमपवाद इत्यर्थः । तिस्र इति । 'त्रि जस्' इत्यत्र 'त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ' इति तिसृ इत्यादेशे जस्येत्संज्ञत्वे लोपे च 'तिसृ+अस्' इति जाते 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' इति गुणे प्राप्ते तं प्रवाच्य

वाक्य है और 'स्त्रीलिङ्गौ ह्रस्वौ चेवर्णौवर्णौ नदीसंज्ञौ वा स्तो ङिति परे' इत्यर्थक । 'ह्रस्वः' यह अपर वाक्य है । एवञ्च पर वाक्यसे 'मति' शब्दकी नदीसंज्ञा ङितिके परे विकल्पसे होती है । यहाँ 'अस्त्री' पर्युदास नहीं लगता, क्योंकि 'इयङुवङस्थानौ' इसका जहाँ अन्वय होता है वहीं पर तत्सम्बन्धी 'अस्त्री' पदकी अनुवृत्ति होती है ।

इदुद्—नदीसंज्ञक ह्रस्व इकार-उकारसे पर 'ङि' को 'आम्' आदेश हो । त्रिचतुरोः—स्त्रीलिङ्गमें वर्तमान 'त्रि' और 'चतुर्' शब्दके स्थानमें यथाक्रमसे तिसृ, चतसृ आदेश हो, विभक्तिके परे । अचि र—तिसृ और चतसृ शब्दके ऋकारके स्थानमें रेफ आदेश हो, अच् के परे । गुणदी—'ङि' विभक्तिमें 'ऋतो ङि' से प्राप्त गुण और 'शस्' विभक्तिमें 'अकः सवर्णे' से प्राप्त दीर्घ एवं, 'ङसि-ङस्' विभक्तिमें 'ऋत उत्' से प्राप्त उत्का रेफादेश

नुट् । न तिसृचतसृ । ६।४।४। एतयोर्नामि दीर्घो न । तिसृणाम् । तिसृषु ॥
द्वेरत्वे सत्याप् । द्वे २ । द्वाभ्याम् ३ । द्वयोः २ ॥ गौरी । गौर्यौ । गौर्यः ।
हे गौरि । गौर्यै—इत्यादि । शेषं बहुभ्र्यसीवत् । एवं नद्यादयः ॥ लक्ष्मीः । शेषं

‘अचि र ऋतः’ इति रेफादेशे संयोगे सस्य रुत्वे रस्य विसर्गत्वे च ‘तिस्रः’ इति रूपम् । शसि तु ‘प्रथमयोः’ इति प्रवाध्य ‘अचि र ऋतः’ इति रेफादेशे संयोगे सस्य रुत्वे रस्य विसर्गत्वे च कृते ‘तिस्रः’ इति रूपम् । तिसृणामिति । ‘तिसृ + आम्’ इति स्थिते नुटं च बाधित्वा ‘अचि र ऋतः’ इति रत्वे प्राप्ते ‘नुमचिरतृज्वद्भावगुणेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन’ इति रत्वं बाधित्वा नुटि कृते ‘तिसृ + नाम्’ इति स्थिते ‘नामि’ इत्यनेन दीर्घे प्राप्ते ‘न तिसृचतसृ’ इति निपिद्धे ‘ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्’ इति वार्तिकेन णत्वे विहिते ‘तिसृणाम्’ इति रूपम् । सुपि ‘आदेशप्रत्यययोः’ इति पत्वे ‘तिसृषु’ इति रूपम् । गौरीति । गौरशब्दात् गौरादिलक्षणङीपि ‘यस्येति च’ इत्यकारलोपे गौरीशब्दः । तस्मात्सुः, तस्य हल्ङ्यादिना लोपे ‘गौरी’ इति रूपम् । गौर्यौ । ‘गौरी + औ’ अत्र ‘प्रथमयोः पूर्वसवर्णः’ इति पूर्वसवर्णदीर्घत्वे प्राप्ते ‘दीर्घाज्जसि च’ इति पूर्वसवर्णदीर्घनिषेधे ‘इको यणचि’ इति यणि ‘अचोरहाभ्यां द्वे’ इति द्वित्वे संयोगे च कृते ‘गौर्यौ’ इति रूपम् । हे गौरि । ‘गौरी + सु’ अत्र ‘यूस्व्याख्यौ नदी’ इति नदीसंज्ञायाम् ‘अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः’ इति ह्रस्वत्वे ‘एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः’ इति सुलोपे ‘हे गौरि’ इति रूपम् । लक्ष्मीः । ‘लक्ष्मेर्मुट् च’ इति लक्षधातोरीप्रत्यये मुडागमे लक्ष्मीशब्दः । तस्मात् सौ समागते उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च ‘अड्यन्तत्वान्न सुलोपः, किन्तु सस्य रुत्वे विसर्गे च ‘लक्ष्मीः’ इति रूपम् । गौरीव दिति । अम्बार्थेत्यादिनदीकार्यमित्यर्थः । स्त्री । स्थायतः सङ्गते भवतः शुक्रशोणितेऽस्यामिति स्त्री, तस्मात्सौ हल्ङ्यादिलोपे ‘स्त्री’ इति रूपम् । हे स्त्री । अत्र नदीसंज्ञायाम् ‘अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः’ इति ह्रस्वे ‘एङ्ह्रस्वात्’ इति सुलोपे ‘हे स्त्री’ इति । स्त्रिया शते । ‘अचि रनुधातु’ इत्यतोऽच्चीति इयङिति चानुवर्तते, तदाह—अस्येयङित्यादिना । स्त्रियै । ‘स्त्री + डे’ इत्यत्र डस्येत्संज्ञकत्वे लोपे च नदीसंज्ञायाम् बाधक है । न तिसृ—तिसृ—चतसृ शब्दको नाम्के परे दीर्घ नहीं हो ।

नोटः—त्रित्व संख्यावाचकं ‘त्रि’ शब्द और चतुर्थ संख्यावाचक ‘चतुर्’ शब्द नित्य बहुवचनान्त हैं ।

‘त्रि’ शब्दका रूप, स्त्रीलिङ्गमें—तिस्रः २, तिसृभिः, तिसृभ्यः २, तिसृणाम्, तिसृषु । पुँलिङ्गमें—त्रयः, त्रीन्, त्रिभिः, त्रिभ्यः २, त्रयाणाम्, त्रिषु । नपुंसकमें—त्रीणि २, शेषं पुंवत् । ‘चतुर्’ शब्दका रूप, स्त्रीलिङ्गमें—चतस्रः २, चतसृभिः, चतसृभ्यः २, चतसृणाम्, चतसृषु । पुँलिङ्गमें—चत्वारः, चतुरः, चतुभिः, चतुर्भ्यः २, चतुर्णाम्, चतुर्षु । नपुंसकमें—चत्वारि २, शेषं पुंवत् ।

गौरीवत् । एवं तरीतन्त्र्यादयः । स्त्री । हे स्त्री ॥ स्त्रियाः । ६।४।७९। अस्येयङ्-
जादौ प्रत्यये । स्त्रियौ । स्त्रियः ॥ वाऽऽशसोः । ६।४।८०। अमि, शसि च स्त्रिया
इयङ् वा । स्त्रियम्-स्त्रीम् । स्त्रियः-स्त्रीः । स्त्रिया । स्त्रियै । स्त्रियाः २ । स्त्रियोः २ ।
परत्वान्नुट्-स्त्रीणाम् । स्त्रियाम् । स्त्रीषु ॥ श्रीः । श्रियौ । श्रियः । श्रियम् ।
श्रियौ । श्रियः । श्रिया । श्रीभ्याम् । श्रीभिः ॥ नेयङ्कुवङ्स्थानावस्त्री । १।४।४।
इयङ्कुवङ्कोः स्थितिर्योस्तावीदूतौ नदीसंज्ञौ न स्तो, न तु स्त्री । हे श्रीः । ङिति
ह्रस्वश्चेति वा नदीत्वम् । श्रियै—श्रिये । श्रियाः २—श्रियः २ ॥ वाऽऽमि । १।४।५।
इयङ्कुवङ्स्थानौ स्त्र्याख्यौ यू आमि वा नदीसंज्ञौ स्तो, न तु स्त्री । श्रीणाम्—श्रियाम् ।

‘आणनद्याः’ इत्यादि ‘आटश्च’ इति वृद्धौ ‘स्त्रियाः’ इत्यनेन इयङि च विहिते ‘स्त्रियै’
इति । स्त्रीणामिति । स्त्रीशब्दादामि ‘स्त्री+आम्’ इति स्थिते अत्र ‘स्त्रियाः’
इतीयङं परत्वात् वाधित्वा ‘ह्रस्वनद्यापो नुट्’ इति नुडागमे पर्जन्यवल्गुचणप्रवृत्त्या
दीर्घं कृते ‘अट्कुप्वाङ्नुम्वयवायेऽपि’ इति णत्वे विहिते ‘स्त्रीणाम्’ इति । श्रीरिति ।
श्रयन्त्येतामिति श्रीः । श्रिज्-सेवायामितिधातोः ‘क्विप्चिप्रच्छिश्चिद्गुप्त्वां दीर्घो-
ऽसम्प्रसारणञ्च’ इति क्तिप्, प्रकृतेर्दीर्घश्चेति निष्पन्नात् श्रीशब्दात् सुः । अङ्थन्त-
त्वान्न सुलोपः । श्रियाविति । श्रीशब्दात् औ समागते ‘प्रथमयोः पूर्वसवर्णः’ इति
वाधित्वा ‘अचिशनुधातुः’ इतीयङि कृते मिलित्वा ‘श्रियौ’ इति । हे श्रीरिति । श्रीश-
ब्दात्सम्बोधने सावागते ‘नेयङ्कुवङ्स्थानावस्त्री’ इति नदीत्वाभावे ‘अम्बार्थनद्यो-
ह्रस्वः’ इति ह्रस्वाभावे सस्य स्त्वे रस्य विसर्गत्वे च ‘हे श्रीः’ इति । श्रियै, श्रिये इति ।
‘श्री+ङे’ इत्यत्र ‘यू स्याख्यौ नदी’ इति नदीसंज्ञायां प्राप्तायां ‘नेयङ्कुवङ्स्थाना-
वस्त्री’ इति निषेधे ‘ङिति ह्रस्वश्च’ इति ङिति विकल्पेन नदीसंज्ञायां कृतायाम्
‘आणनद्याः’ इत्यादि ‘आटश्च’ इति पूर्वपरयोः स्थाने वृद्धौ कृतायाम् ‘अचिशनु-
धातुः’ इतीयङि मिलित्वा ‘श्रियै’ इति । पचे—‘ङिति ह्रस्वश्च’ इति नदीसंज्ञाभावे
इयङि ‘श्रिये’ इति रूपम् । श्रीणामिति । ‘श्री आम्’ इति स्थिते अत्र ‘यूस्याख्यौ
नदी’ इति नदीसंज्ञायां प्राप्तायां ‘नेयङ्कुवङ्स्थानावस्त्री’ इति निषिद्धे ‘वामि’ इति

तरीतन्त्र्यादयः—‘अवी-तन्त्री-तरा-लक्ष्मी-धी-ह्री-श्रीणामुणादिषु ।

सप्त स्त्रीलिङ्गशब्दानां न सुलोपः कदाचन ॥’

स्त्रियाः—‘स्त्री’ शब्दको इयङ् हो, अजादि प्रत्ययके परे । वाऽम्—अम् और शस्
विभक्तिके परे ‘स्त्री’ शब्दको इयङ् आदेश हो, विकल्पसे ।

नेयङ्—इयङ्-उवङ्के स्थानी जो दीर्घ ईत्-ऊत् उनकी नदी संज्ञा नहीं हो, ‘स्त्री’
शब्दको छोड़कर । अर्थात् ‘स्त्री’ शब्दको निषेध नहीं हो । वाऽऽमि—इयङ्-उवङ्
स्थानी तथा नित्य स्त्रीलिङ्ग जो दीर्घ ईत्-ऊत् उनकी नदीसंज्ञा हो, ‘आम्’ विभक्तिके

डौ—श्रियाम्-श्रियि ॥ धेनुर्मतिवत् ॥ स्त्रियाञ्च । ७।१।२६। स्त्रीवाची क्रोष्टु-
शब्दस्तृजन्तवद्भूषं लभते ॥ ऋन्नेभ्यो ङीप् । ४।१।५। ऋदन्तेभ्यो, नान्तेभ्यश्च
स्त्रियां ङीप् । क्रोष्ट्री—गौरीवत् । बभूः । शेषं नदीवत् । भ्रूः—श्रीवत् ।
स्वयम्भूः—पुंवत् ॥ न षट्स्वस्त्रादिभ्यः । ४।१।१०। एभ्यो ङीप् टापो न स्तः ॥

स्वसा तिस्रश्चतस्रश्च ननान्दा दुहिता तथा ।

याता मातेति सप्तैते स्वस्त्रादय उदाहृताः ॥ १ ॥

स्वसा । स्वसारौ । स्वसारः । माता—पितृवत् । शसि—मातृ । यौगौवत् ।
राः—पुंवत् । नौगलौवत् ॥ इत्यजन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ।

वा नदीसंज्ञायां 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नुटि पर्जन्यवल्ग्वणन्यायेन दीर्घे 'अटकुप्वा-
ङ्नुम्यवायेऽपि' इति णत्वे 'श्रीणाम्' इति । नदीत्वाभावपक्षे इयङि 'श्रियाम्'
इति । 'श्री ङि' इत्यत्र 'ङिति ह्रस्वश्च' इति नदीत्वे 'डेराम्नद्याम्नीभ्यः' इति डेरामि
'आणनद्याः' इत्यादि 'आटश्च' इति वृद्धौ 'अचिरनुधातु०' इतीयङि 'श्रियाम्'
इति । नदीत्वाभावपक्षे इयङि 'श्रियि' इति रूपम् । क्रोष्ट्रीति । क्रोष्टुशब्दात्स्त्रीत्वे
द्योत्ये 'स्त्रियाञ्च' इति तृज्वन्भावे 'क्रोष्टृ' इति जाते ऋदन्तत्वात् 'ऋन्नेभ्यो
ङीप्' इति ङीपि डकारपकारयोरित्संज्ञकत्वे लोपे च 'क्रोष्टृ + ई' इति स्थिते यणि
निष्पन्नः 'क्रोष्ट्री' शब्दः । तस्मात्सौ समागते हल्ङ्यादिना लोपे कृते सति 'क्रोष्ट्री'
इति रूपम् । भूरिति । भ्रू सु इत्यत्र सस्य रुत्वे रस्य विसर्गत्वे च 'भ्रूः' इति रूपम् ।
स्वयम्भूः पुंवदिति । स्वयम्भूशब्दस्य चतुरानने रूढत्वात् नित्यस्त्रीत्वाभावेन न नदीत्व-
मिति भावः । स्वसेति । 'स्वसृ + सु' अत्र 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' इति ङीपि प्राप्ते 'न षट्स्व-
स्त्रादिभ्यः' इति ङीपो निषेधे 'ऋदुशनसूपुरुदंसोऽनेहसां च' इत्यनङि ङित्वादन्त्या-
वयवे जाते अनुबन्धलोपे 'स्वसन् + स्' इति स्थिते 'अप्नुन्तृच्' इति दीर्घे 'हल्ङ्या-
दभ्यो' इति सलोपे 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नस्य लोपे 'स्वसा' इति ।
इत्यजन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ।

परे, विकल्पसे—'स्त्री' शब्दको छोड़कर । स्त्रियां च—स्त्रीवाची 'क्रोष्टु' शब्द तृजन्त
(क्रोष्ट शब्द) के सदृश रूपको प्राप्त करे । अर्थात् पुंलिङ्गके समान स्त्रीलिङ्गमें भी
ऋकारान्त बन जावे । ऋन्ने—ऋदन्त और नान्त शब्दोंसे 'ङीप्' प्रत्यय हो, स्त्रीलिङ्गमें ।
न षट्—षट्संज्ञक और स्वस्त्रादि (स्वसृ-तिसृ-चतसृ-ननान्द-दुहितृ-यातृ-मातृ)
शब्दोंसे ङीप् और टाप् प्रत्यय नहीं हों ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें अजन्तस्त्रीलिङ्ग प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ अजन्तनपुंसकलिङ्गाः

अतोऽम् । ७।१।२४। अतोऽङ्गात्क्लीवात् स्वमोरम् । ज्ञानम् । 'एङ्हस्वाद'-
इति सम्बुद्धिलोपः—हे ज्ञान । नपुंसकाच्च । ७।१।१९। क्लीवाद्दौः शी स्यात् ।
भसञ्ज्ञायाम् । यस्येति च । ६।४।१४८। ईकारे, तद्धिते च परे भस्येवर्णावर्णयो-
र्लोपः ।—इत्यकारलोपे प्राप्ते । (औङः श्यां प्रतिषेधो वाच्यः) । ज्ञाने । जश्श-
सोः शिः । ७।१।२०। क्लीवात्परयोर्जश्शसोः शिः स्यात् ॥ शि सर्वनाम-
स्थानम् । १।१।४२। 'शि' इत्येत्सर्वनामस्थानसंज्ञं स्यात् । नपुंसकस्य झलचः
। ७।१।७२। झलन्तस्याऽजन्तस्य च क्लीवस्य नुमागमः स्यात्सर्वनामस्थाने ।
मिदचोऽन्त्यात्परः । १।१।४७। अचां मध्ये योऽन्त्यस्तस्मात्परस्तस्यैवान्तावयवो
मित्त्यात् । उपधादीर्घः । ज्ञानानि । पुनस्तद्वत् । शेषं पुंवत् । एवं धन-वन-फला-

ज्ञानमिति । ज्ञानशब्दात्सावागते 'अतोऽम्' इति सोरमि कृते 'अमि पूर्वः'
इति पूर्वरूपैकादेशे 'ज्ञानम्' इति रूपम् । हे ज्ञान इति । 'ज्ञान + सु' अत्र 'अतोऽम्'
इत्यमि 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपैकादेशे ज्ञानम् इति जाते 'एङ्हस्वात्सम्बुद्धेः' इति
मलोपे 'हे ज्ञान' इति । ज्ञाने इति । 'ज्ञान औ' इत्यत्र 'नपुंसकाच्च' इत्यौकारस्य
शीत्वे शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'ज्ञान ई' इति जाते 'यचि भम्' इति भसञ्ज्ञायां
'यस्येति च' इति अकारलोपे प्राप्ते 'औङः श्यां प्रतिषेधो वाच्यः' इति निषिद्धे
'आद्गुणः' इति गुणे च कृते 'ज्ञाने' इति । ज्ञानानि । 'ज्ञान + जस्' इत्यत्र 'जश्श-
सोः शिः' इत्यनेकाल्त्वाज्जसः स्थाने शित्वे कृते 'शि सर्वनामस्थानम्' इति 'शि'
इत्यस्य सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुमि 'मिदचोऽन्त्यात्परः'
इति योगेनान्त्याज् रूपस्य नस्यान्त्यावयवीभूते उकारमकारयोरित्संज्ञायां लोपे च
'ज्ञानन् शि' इति जाते शकारस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ'
इति नान्तोपधाया दीर्घत्वे 'ज्ञानानि' इति । पुनस्तद्वदिति । अम्-औट्-शस्सु-ज्ञानम् ;

अतोऽम्—अदन्त क्लीव (नपुंसक) अङ्गसे पर 'सु' और 'अम्' को 'अम्' आदेश हो ।

नपुं—क्लीवन्त अङ्गसे पर 'औट्' के स्थानमें 'शी' आदेश हो ।

यस्येति—भसञ्ज्ञक इवर्ण और अवर्णका लोप हो, ईकार और तद्धितके परे ।

औङः—'औट्' स्थानिक 'शी' के परे भसञ्ज्ञक इवर्ण-अवर्णका लोप नहीं हो ।

जश्श—क्लीवन्त अङ्गसे पर जस्-शस्के स्थानमें 'शि' आदेश हो ।

शि सर्व—'शि' की सर्वनामस्थानसंज्ञा हो ।

नपुं—झलन्त और अजन्त क्लीवको नुमागम हो, सर्वनामस्थानके परे ।

मिद—अचोंके मध्यमें अन्त्य जो 'अच्' उससे पर और उसीके अन्त्यावयवमित्त
(नुमादि) कार्य हो ।

दयः ॥ अद्ङुडतरादिभ्यः पञ्चभ्यः । ७।१।२५। एभ्यः क्लीबेभ्यः स्वमोर-
दडादेशः स्यात् ॥ टेः । ६।४।१४३। डिति परे भस्य टेलोपः । कतरत्—क-
रद् । कतरे । कतराणि । हे कतरत् । शेषं पुंवत् । एवं कतमत् । इतरत् ।
अन्यत् । अन्यतरत् ॥ ‘अन्यतम’ शब्दस्य तु ‘अन्यतमम्’ इत्येव । (एकतरात्प्रति-
षेधो वाच्यः) । एकतरम् । ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य । १।२।४७। अज-
न्तस्येत्येव । श्रीपं—ज्ञानवत् । स्वमोर्नपुंसकात् । ७।१।२३। क्लीवाद्ङात्स्व-
मोर्लुक् स्यात् । वारि । इकोऽचि विभक्तौ । ७।१।७३। इगन्तस्य क्लीबस्य नुमचि

ज्ञाने, ज्ञानानि, इति क्रमेण रूपाणीत्यर्थः । कतरत् । ‘कतर + सु’ अत्र ‘अद्ङुडतरादिभ्यः
पञ्चभ्यः’ इति ‘सु’ इत्यस्य स्थाने अद्ङि कृते ‘कतर + अद्ङ्’ इति जाते ‘हलन्त्यम्’
इति डस्येत्सञ्ज्ञायां ‘तस्य लोपः’ इति लोपे च ‘कतर + अद्’ इति भूते ‘यचि भम्’
इति भसञ्ज्ञायां ‘टेः’ इति टिसञ्ज्ञकस्य रेफोत्तरवर्त्यकारस्य लोपे मिलित्वा ‘कतरद्’
इति अत्र ‘वावसाने’ इति विकल्पेन चत्वे ‘कतरत्’ इति च रूपम् । हे कतरत् इति ।
‘कतर + सु’ इति स्थिते ‘एकवचनं सम्बुद्धिः’ इति सम्बुद्धिसंज्ञायाम् ‘अद्ङुडतरादि-
भ्यः पञ्चभ्यः’ इति सु—इत्यस्य स्थाने अद्ङादेशे कृते ङकारस्येत्सञ्ज्ञायाम्लोपे च भसं-
ज्ञायाम् टिलोपे च कृते ‘कतर + अत्’ अत्र यद् ह्रस्वान्तं तदङ्गं न, यच्चाङ्गं—‘कतर’ इति
तद् ह्रस्वान्तं न । इति न ‘एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः’ इति तलोप इति भावः । तदाह—
‘हे कतरद् इति’ । श्रीपमिति । ‘श्रीपा सु’ अत्र ‘ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य’
इति ह्रस्वत्वे ‘अतोऽम्’ इति सोरमि ‘अमि पूर्वः’ इति पूर्वरूपैकादेशे
‘श्रीपम्’ इति । ज्ञानवदिति । ह्रस्वविधानात् दीर्घान्तत्वप्रयुक्तो न कश्चिद्विशेष
इति भावः । वारिणी । ‘वारि + औ’ इत्यत्र ‘नपुंसकाच्च’ इत्यौकारस्य
शीत्वे शस्य लोपे च कृते ‘वारि ई’ इति जाते ‘इकोऽचि विभक्तौ’ इति नुमि
कृते उमि गते ‘वारिन् ई’ इति जाते ‘अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि’ इति नस्य
णत्वे ‘वारिणी’ इति रूपम् । वारिणि । ‘वारि + जस्’ इत्यत्र ‘जश्शसोः शिः’ इति
जसः स्थाने शित्वे ‘शि सर्वनामस्थानम्’ इति शीत्यस्य सर्वनामस्थानत्वे ‘लशक्व-

अद्—डतरादि पांचों क्लीबसे पर जो ‘सु’ और ‘अम्’ उसको ‘अद्ङ्’ आदेश हो ।
नोटः—डतरादिमें डतर, डतम प्रत्ययान्त और अन्य, अन्यतर, इतर ये पाँच हैं ।
टेः—भसञ्ज्ञक ‘टि’ का लोप हो, ‘डित्’ के परे । एकत—क्लीब में वर्तमान ‘एकत’
शब्दसे पर ‘सु’ और अम् को ‘अद्ङ्’ आदेश नहीं हो—ऐसा कहना चाहिये ।
ह्रस्वो—नपुंसकलिङ्गमें वर्तमान अजन्त प्रातिपदिकको ह्रस्व हो ।
स्वमो—क्लीबन्त अङ्गसे पर ‘सु’ और ‘अम्’ का लुक् हो ।
इको—इगन्त क्लीबको नुमागम हो, अजादि विभक्तिके परे ।

विभक्तौ । वारिणी । वारीणि । 'न 'लुमते'त्यस्याऽनित्यत्वात्पक्षे सम्बुद्धिनिमित्तो गुणः । हे वारे—हे वारि । 'वेडिंती'ति गुणे प्राप्ते (वृद्धयौत्वतृज्वद्भावगुणेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषेधेन) । वारिणे । वारिणः २ । वारिणोः २ । 'नुमचिरे'ति नुट् । वारीणाम् । वारिणि । हलादौ हरिवत् ॥ तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य । ७।१।७४। प्रवृत्तिनिमित्तैक्ये भाषितपुंस्कमिगन्तं क्लीबं पुंवद्वा टादावचि । अनादये—अनादिने इत्यादि । शेषं वारिवत् ॥

तद्धिते' इति शस्येत्संज्ञकत्वे 'तस्य लोपः' इति लोपे 'इकोऽचि विभक्तौ' इति-नुमि इकारमकारयोरित्संज्ञकत्वे लोपे च 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति नान्तोपधाया दीर्घत्वे अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति णत्वे च कृते 'वारीणि' इति रूपम् । न लुमते-त्यस्यानित्यत्वादिति । तथाहि—'इकोऽचि विभक्तौ' इत्यत्राज्ग्रहणं ज्ञापकम् । तथाहि—हलादिषु भ्यामादिषु सत्यपि नुमि 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति तस्य लोप-सम्भवात्, सम्बुद्धौ तु लुका लुप्ततया प्रत्ययलक्षणाभावेन तत्र नुमः प्राप्तेरभावाच्च अचीति व्यर्थं सत् 'न लुमताङ्गस्य' इत्यस्यानित्यतां ज्ञापयतीति भावः । वृद्धयौत्वेति । अतिसखिनीत्यत्र 'सख्युरसंबुद्धौ' इति णिद्वद्भावाद् वृद्धिः प्राप्ता, वारिणीत्यत्र तु 'अच्च घेः' इत्यौत्त्वम् । प्रियक्रोष्टुनीत्यादौ तृज्वद्भावः प्राप्तः । वारिण इत्यत्र वेडिंति' इति गुणः प्राप्तः । तान् सर्वान् पूर्वविप्रतिषेधेन बाधित्वा नुमित्यर्थः । वारिणे । 'वारि + डे' अत्र अनुबन्धलोपे धित्वात् 'वेडिंति' इति गुणे प्राप्ते 'वृद्धयौत्वतृज्वद्भावगुणेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषेधेन' इति पूर्वविप्रतिषेधस्य प्रबलत्वात् 'इकोऽचि विभक्तौ' इति नुमि णत्वे च कृत्वे 'वारिणे' इति रूपम् । वारीणामिति । 'वारि + आम' अत्र परत्वानुटं बाधित्वा नुमि प्राप्ते 'नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन' इति पूर्वविप्रतिषेधेन नुटि 'नामि' इति दीर्घे णत्वे च कृते 'वारीणाम्' इति । अनादये—अनादिने इति । पुंवत्त्वे नुमोऽप्रवृत्तेः घिसंज्ञायां 'वेडिंति' इति

वृद्धयौ—वृद्धि, औत्व, तृज्वद्भाव और गुणकी अपेक्षासे पूर्वविप्रतिषेधेन (पूर्वकी प्रबलतासे) 'नुम्' ही होता है ।

नोटः—'अतिसखिनि' में 'सख्युरसम्बुद्धौ' से णिद्वद्भावात् प्राप्त वृद्धिको, 'वारिणि' में धित्वात् 'अच्च घेः' से प्राप्त औत्वको, 'प्रियक्रोष्टुनी' में प्राप्त तृज्वद्भावको और 'वारिणे—वारिणः' में 'वेडिंति' से प्राप्त गुणको बाधकर नुम् होता है । यही इस वार्तिकका उदाहरण समझना चाहिये ।

तृती—प्रवृत्तिनिमित्त एक होने पर जो भाषितपुंस्क इगन्त क्लीब, उसको पुंवद्भाव (पुंलिङ्ग के समान कार्य) हो, टादि—अजादि विभक्ति के परे ।

यन्निमित्तमुपादाय पुंसि शब्दः प्रवर्तते ।

क्लीबवृत्ति तदेव स्यादुक्तपुंस्कं तदुच्यते ॥ १ ॥

पीलुर्वृक्षः, फलं पीलु, पीलुने, न तु पीलवे ।

वृक्षे निमित्तं पीलुत्वं, तज्जत्वं तत्फले पुनः ॥ २ ॥

पीलुर्वृक्षः, तत्फलं पीलु । तस्मै-पीलुने । अत्र न पुंवत् । प्रवृत्ति-

गुणः । पुंवद्भावस्य वैभाषिकत्वेन तदभावे नपुंसकत्वे नुमि 'अनादिने' इति रूपं साधु । इत्यादीति । अनादिनः-अनादेः । अनाद्योः-अनादिनोः । आमि तु अनादी-नामित्येव । तत्र सत्यसति च पुंवद्भावे रूपस्वरूपाविशेषात् । प्रथमाद्वितीययोभ्यामादौ च वारिशब्दवद्रूपाणीति शेषः । यन्निमित्तमिति । यन्निमित्तं, यत्कारणं च हेतुमुपादायोद्दिश्य पुंसि-पुमर्थे शब्दः प्रवर्तते, शब्दः पुंस्त्वप्रयुक्तकार्याणि लभते । पुल्लिङ्गे यः शब्दः यमर्थं भजमानः प्रवृत्तिं गच्छन्नवलोक्यते इति लोकस्य पूर्वार्थ-स्यार्थः । क्लीबावृत्तौ तस्य शब्दस्य नपुंसके विद्यमाने सति तदेव, तदेव कारणं स एव हेतुः स एवार्थश्चेत् । तत् शब्दस्वरूपं भाषितपुंस्कं कथितपुंवत्त्वम् उच्यते कथ्यते शब्दशास्त्रविद्धिः । शब्दः पुंस्त्वे यमर्थं भजते यत् च शब्दस्वरूपं भजते तमेवार्थं प्रधानीकृत्य शब्दस्वरूपमपि पुंवदेव भवेच्चेत् स शब्दः भाषितपुंस्कसंज्ञां लभते इति तात्पर्यार्थः । तेन शब्दसारूप्यं भजमानोऽपि पुंस्त्वे विद्यमानोऽपि 'पीलु' शब्दः नपुंसकत्वे फलार्थवाचके भाषितपुंस्कसंज्ञां न समादत्ते प्रवृत्तिनिमित्तभेदात् । पीलुशब्दस्य पुंस्त्वे या प्रवृत्तिस्तत्र यन्निमित्तं वृत्तार्थरूपं तस्य भेदात् इति भावः । यं वृत्तरूपार्थं निमित्तीकृत्य पीलुशब्दः पुंस्त्वं लभते, तदर्थस्य नपुंसकेऽसत्त्वात् फलार्थत्वेन प्रवृत्तिभेदेन स्वरूपसादृश्येऽपि भाषितपुंस्कतां न लभत इति स्पष्टार्थः । तेन तस्य फलार्थकस्य पीलुशब्दस्य नपुंसके पीलुने इत्येव चतुर्थ्या रूपं न तु पीलवे इति । अस्य शब्दस्य भाषितपुंस्कसंज्ञाभावेन पुंस्कत्वाप्रवृत्तौ घिसंज्ञादिकार्याभावेन पीलव इति असंभवात् । वृक्षे निमित्तमिति । वृत्तत्वव्याप्यजातिविशेषात्मकं पीलुत्वं प्रवृत्तिनिमित्तमिति । फलविशेषे तु वाच्ये फलत्वव्याप्यजातिविशेषात्मकं पीलुत्वं

'यन्निमित्तमुपादाय पुंसि शब्दः प्रवर्तते । क्लीबवृत्ति तदेव स्यादुक्तपुंस्कं तदुच्यते ॥

अयं भावः—भाषितः पुमान् येन प्रवृत्तिनिमित्तेन तद् 'भाषितपुंस्कम्' । अर्थात् नपुंसके लिङ्गान्तरे च यस्य एकमेव वाच्यतावच्छेदकं तच्छब्दस्वरूपं भाषितपुंस्कशब्देन विवक्षितम् ।

सुष्ठु ध्यायतीति सुधीः तस्य टादावचि 'सुधिया' । अत्र सुध्यातृत्वस्य, शोभनज्ञानत्वस्य वा प्रवृत्तिनिमित्तस्य पुत्रपुंसकयोरेकतैवेति भाषितपुंस्कत्वात् 'तृतीयादिभिव'ति पुंवत्पक्षे नुमभावादियद् । तदुक्तम्—'पीलुर्वृक्षः' इत्यादि ।

निमित्तभेदात् ॥ अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनडुदात्तः । ७।१।७५। टादावचि ।
अल्लोपोऽनः । ६।४।१३४। अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थानयजादिस्वादिप्रत्ययपरो
योऽन् तस्याकारस्य लोपः । दध्ना । दध्ने । दध्नः २ । दध्नोः २ ।
विभाषा ङिश्योः । ६।४।१३६। अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थानयजादिस्वादिप्रत्ययपरो
योऽन तस्याकारस्य लोपो वा, ङिश्योः । दध्नि—दधनि । शेषं वारिचत् । एव-
मस्थिसक्थ्यक्षि ॥ सुधि । सुधिनी । सुधीनि । हे सुधे । हे सुधि । सुधिया-
सुधिना । सुधिये—सुधिने इत्यादि ॥ मधु । मधुनी । मधूनि । मधुना । हे मधो ।
हे मधु । एवमम्बवादयः ॥ सुलु । सुलुनी । सुलूनि । सुल्वा—सुलुना । इत्यादि ॥
धातु । धातुणी । धातूणि ॥ हे धातः । हे धातु । धात्रा । धातृणा । धातृणाम् ।

प्रवृत्तिनिमित्तमिति प्रवृत्तिनिमित्तभेदादित्यर्थः । दध्नेति । दधि टा इत्यवस्थायां
‘इकोऽचि विभक्त्या’ इति नुमि प्राप्तेऽपवादत्वाद्वाधित्वा ‘अस्थिदधि’ इत्यनङादेशे-
ऽन्तादेशे इकारे अनङादेशेन दधन्+आ इति स्थितौ ‘अल्लोपोऽनः’ इत्यकारलोपे
सति दधन् आ’ इति जाते परेण संयोगे दध्ना इति भवति रूपम् । दध्ने, दध्नः,
दध्नोः, दध्नाम् इत्यादौ दधिशब्दाद् जातिप्रत्ययपरकत्वेन ‘अस्थिदधि’ इत्यादिना-
नङिप्रोक्तरूपाणां सिद्धिरूह्या । दध्नि—दधनाति । सप्तम्यां ङौ ‘विभाषा ङिश्योः’ इति ङौ
अकारलोपस्य वैकल्पिकेनाकारलोपाभावे ‘दधनि’ इति रूपं साधु । सति चाकारलोपे
दध्नि’ इति तु भवत्येव यथाशास्त्रम् । सुधिया, सुधिनेति । सुध्यातृत्वस्य शोभनज्ञानव-
त्त्वस्य वा प्रवृत्तिनिमित्तस्य पुंसि नपुंसके च एकत्वात् पुंवत्त्वविकल्पः । तेन पुंवद्भावपक्षे
अजादौ विभक्तौ परे ‘अचि शनुधातु’ इतीयङि ‘सुधिया’ इति पुंवद्भावपक्षे—नुमि-
‘सुधिना’ इति । सुल्वा, सुलुनेत्यादि । शोभनलवनकतृत्वं प्रवृत्तिनिमित्तमेकमिति पुंव-
त्त्वविकल्पः । पुंवत्त्वे हस्वाभावेनाधित्वात् नाभावो न, नुमभावश्च । ‘ओः सुपि’ इति
यण् सुल्वा । पुंवत्त्वाभावपक्षे तु यणं वाधित्वा नुम् ‘सुलुना’ इति । धातुणि । ‘धातु+’

अस्थि—अस्थि, दधि, सक्थि और अक्षि शब्दको उदात्त अनङ् आदेश हो, टादि अजादि
विभक्तिके परे । अल्लो—अङ्गावयव, असर्वनामस्थान यादि तथा अजादि—स्वादि प्रत्यय परक
‘अन्’ के अकारका लोप हो । विभा—अङ्गावयव, असर्वनामस्थान यादि तथा अजादि—
स्वादि प्रत्यय परक ‘अन्’ के अकारका लोप हो, ‘ङि’ और ‘शि’ के परे विकल्पसे ।

नोटः—यजादिमें ‘य्+’ अजादि’ ऐसा है । अर्थात् यादि और अजादि । (‘यज् × आदि-
यजादि स्वादि’ ऐसा अर्थ करना गलत है) ।

मधुना—‘मधु मधे पुष्परसे’—‘मधुर्वसन्ते चैत्रे च’ इति कोशात् ‘मधु’ शब्दस्य
भाषितपुंस्कार्त्वेऽपि पुत्रपुंसकयोः मधुत्व-वसन्तत्वादिरूपप्रवृत्तिनिमित्तभेदात् ‘नृतीयादिष्विति
न पुंवत्त्वम् ।

एवं ज्ञातृकर्त्रादयः ॥ एच इग्रस्वादेशे । १।१।४८। आदिश्यमानेषु हस्वेषु मध्ये
एच झोव स्यात् । प्रद्यु । प्रद्युनी । प्रद्यूनि । प्रद्युना—इत्यादि ॥ प्ररि । प्ररिणी ।
प्ररीणि । प्ररिणा । ‘एकदेशविकृतमनन्यवत्’ । प्रराभ्याम् । प्ररीणाम् ॥ सुनु ।
सुनुनी । सुनूनि । सुनुना—इत्यादि ॥

इत्यजन्ता नपुंसकलिङ्गाः ॥

जस् अत्र ‘जश्शसोः शिः’ इति जसः शित्वे ‘शिः सर्वनामस्थानम्’ इति शोः
सर्वनामस्थानत्वे शकारस्येत्संज्ञायां लोपे च ‘नपुंसकस्य झलचः’ इति नुमि उमि
गते सति ‘सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ’ इति नान्तस्योपधाया दीर्घत्वे ‘ऋवर्णाञ्स्य
णत्वं वाच्यम्’ इति णत्वे ‘धातृणि’ इति रूपम् । हे धातः, हे धातृ । हे ‘धातृ + सु’
अत्र ‘स्वमोर्नपुंसकात्’ इति सोर्लोपे ‘न लुमताऽङ्गस्य’ इत्यस्यानित्यत्वात्प्रत्ययलक्षणे
सम्बुद्धिनिमित्तकगुणे अकारे रपरि च जाते रेफस्य विसर्गे ‘हे धातः’ इति । पच्चे-हि
धातृ’ इति । धारणकतृत्वरूपप्रवृत्तिनिमित्तक्यात् टादावचि पुंवस्वविकल्पः । प्रद्यु ।
प्रकृष्टा द्यौः यस्येति बहुव्रीहौ प्रद्योशब्दस्य ‘ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य’ इति
ह्रस्वे-‘एच इग्रस्वादेशे’ इति एग्रूपस्यौकारस्योकारे कृते ‘प्रद्यु सु’ इति स्थिते
‘स्वमोर्नपुंसकात्’ इति सोर्लोपे ‘प्रद्यु’ इति रूपम् । प्रद्युनेत्यादि । प्रद्युशब्दस्तु उदन्तो
नपुंसके । तथा च पुंसि प्रद्योशब्दस्य भाषितपुंस्कत्वेऽपि नपुंसके प्रद्युशब्दस्य तदपेक्षया
भिन्नत्वेन भाषितपुंस्कत्वाभावान्न पुंवस्वमिति बोध्यम् । शोपं मधुवत् । प्ररि इति ।
प्रकृष्टः राः धनं यस्य इति बहुव्रीहौ प्ररैशब्दः । तस्य नपुंसकह्रस्वत्वेन इकारः । सुटि
हलादौ विभक्तौ च वारिवत् । सोर्लुप्तत्वात् । ‘रायो हलि’ इत्यात्वं न । हलादौ तु
‘एकदेशविकृतमनन्यवत्’ इति यथा छिन्नपुच्छे शुनि नाश्वो न गर्दभः इति तथैव
प्ररैशब्दस्य इग्रूपेण विकृतत्वेऽपि ‘रायो हलि’ इत्याकारादेशे विहिते—प्रराभ्याम्,
प्रराभिरित्यादि । प्ररीणामिनि । ‘प्ररि आम्’ इति स्थितौ ‘इकोऽचि विभक्तावि’ति नुम
आमि नुट् च प्राप्तस्तयोर्नुटा नुम् बाध्यते संनिपातपरिभाषया नुटि प्राप्तेऽपि दीर्घा-
ऽभावे नामि इति आरम्भसामर्थ्यात्तेन परिभाषा बाध्यत इति भावः । तेनामि प्ररीणा-
मित्येव साधु । प्रराणाम् इति माधवोक्तं तु अप्रमाणम् ऋषिवचनाभावात् ।
इत्यजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम् ।

एच—ह्रस्वता विधान होने पर ‘एच’ के स्थानमें ‘इक्’ ही ह्रस्व हो । अर्थात् ‘ए-ये’ के
स्थान में ‘इ’ और ‘ओ-औ’ के स्थानमें ‘उ’ ही ह्रस्व हो ।

इस प्रकार ‘इन्दुमती’ टीकामें अजन्तनपुंसकलिङ्ग प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ हलन्तपुल्लिङ्गाः

हो ढः । ८।२।३१। हस्य ढः स्याज्झलि पदान्ते च । 'हल्ङ्घाविति' सु-
लोपः । पदान्तत्वाद्धस्य ढः । जश्त्वचत्वे । लिट्, लिङ् । लिहौ २ । लिहः ।
लिङ्भ्याम् । लिट्सु, लिट्सु ॥ दादेर्धातोर्धः । ८।२।३२। झलि, पदान्ते चोप-
देशे दादेर्धातोर्हस्य घः । एकाचो वशो भष् झषन्तस्य स्थ्वोः । ८।२।३७।
धात्ववयवस्यैकाचो झषन्तस्य वशो भष्, से ध्वे पदान्ते च । इह व्यपदेशिवद्भा-
वेन धात्ववयवत्वाद्भावः । जश्त्वचत्वे । धुक्, धुग् । दुहौ । दुहः । दुहा ।
धुग्भ्याम् । धुक्षु ॥ वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम् । ८।२।३३। एषां हस्य वा घो

लिट् लिङ् । 'लिह—आस्वादने' क्तिप् । कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायाम् 'लिह + सु'
इति स्थिते उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'हल्ङ्घावभ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' इति
सलोपे 'हो ढः' इति हस्य ढत्वे 'वाऽवसाने' इति चत्वे च कृते 'लिट्' इति । चत्वा-
भावपक्षे 'लिङ्' इति । लिङ्भ्यामिति । 'लिह् + भ्याम्' अत्र 'हो ढः' इति हस्य ढत्वे
'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इति पदत्वात् 'झलां जशोऽन्ते' इति ढस्य ढत्वे 'लिङ्-
भ्याम्' इति । लिट्सु । 'लिह + सुप्' अत्र पकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'हो ढः' इति
हस्य ढत्वे 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इति पदसंज्ञायां 'झलां जशोऽन्ते' इति ढस्य
ढत्वे 'ढः सि धुट्' इति सस्य धुडागमे टित्वादाद्यावयवे उकारटकारयोर्निवृत्तौ
'खरि च' इति चत्वे, पुनश्च डकारस्य 'खरि च' इति चत्वे च 'लिट्सु' इति रूपम् ।
धुडागमाभावे 'लिट्सु' इति । दादेर्धातोर्धः । धातोरित्यावर्तते । तत्रैकमतिरिच्यमान-
मुपदेशकालं लक्ष्यतीत्याशयेनाह—उपदेश इति । इह व्यपदेशिवद्भावेनेति विशिष्टः
अपदेशः व्यपदेशः मुख्यव्यवहारः । सोऽस्याऽस्तीति व्यपदेशी । तेन तुल्यं व्यपदे-
शिवत् । धातावेव धात्ववयवव्यवहारो गौणः, राहोः शिर इत्यादिवदिति भावः ।
धुक्, धुग् । 'दुह् + प्रपूरणे' क्तिप् । क्तिवन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सत्यां सावागते
उकारलोपे 'दुह् + स' अत्र 'हल्ङ्घावभ्यो' इति सलोपे हस्य 'हो ढः' इति ढत्वे प्राप्ते
तं बाधित्वा 'दादेर्धातोर्धः' इति घत्वे 'एकाचो वशो भष् झषन्तस्य स्थ्वोः' इति
दस्य घत्वे 'धुघ्' इति जाते तत्र 'झलां जशोऽन्ते' इति जश्त्वेन गकारे 'वाऽवसाने'
इति विकल्पेन चत्वे 'धुक्, धुग्' इति भवतः । धुग्भ्यामिति । 'दुह् + भ्याम्' अत्र

होढः—हकारके स्थानमें ढकार आदेश हो, 'झल्' के परे, पदान्तमें । दादे—उपदेश
अवस्थामें दादिधातु-सम्बन्धी हकारके स्थानमें धकार आदेश हो, 'झल्' के परे, पदान्तमें ।
एकाचो—धात्ववयव जो झषन्त एकाच्, तदवयव जो 'वश्' उसको भष्भाव हो, सकार
और 'ध्व' शब्दके परे, पदान्तमें । वा द्रु—द्रुह्, मुह्, णुह् और णिह् धातुके हकारको

मलि, पदान्ते च । ध्रुक्, ध्रुग्, ध्रुट्, ध्रुङ् । द्रुहौ । द्रुहः । ध्रुग्भ्याम्, ध्रुङ्भ्याम् । ध्रुक्षु, ध्रुट्सु ध्रुट्सु, । एवं मुहः ॥ धात्वादेः षः सः । ६।१।६५ उपदेशे धातोरादेः षस्य सः स्यात् । स्नुक्, स्नुग् । स्नुट्, स्नुङ् । एवं णिहः ॥ इग्यणः संप्रसारणम् । १।१।४५। यणः स्थाने प्रयुज्यमानो य इक् स संप्रसारणसंज्ञः स्यात् ॥ बाह ऊट् । ६।४।१३२। भस्य बाहः संप्रसारणमूट् । संप्रसार-

‘दादेर्धातोर्धः’ इति हस्य घत्वे ‘एकाचो वशो भष्’ इति भष्भावेन दकारस्य धकारे ‘धुष् + भ्याम्’ इति जाते ‘झलां जशोऽन्ते’ इति धकारस्य गकारे ‘धुग्भ्याम्’ इति । ध्रुक्षु । ‘द्रुह् + सुप्’ अत्र पकारस्येत्संज्ञायां लोपे च ‘दादेर्धातोर्धः’ इति घत्वे भष्भावे जश्त्वे च कृते ‘धुग् + सु’ इति जाते तत्र ‘खरि च’ इति चत्वे ‘आदेशप्रत्यययोः’ इति सोः सस्य षत्वे कृष्संयोगेन ‘च’ इति जाते ‘धुक्षु’ इति रूपम् । ध्रक्-ध्रुग्, ध्रुट्-ध्रुङ् । ‘द्रुह जिवांसायाम्’ अस्मात् क्षिपि । तस्य सर्वापहारलोपे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सावागते उकारलोपे ‘द्रुह् + स्’ इति स्थिते ‘हल्-ङ्याढभ्यं’ इति सलोपे ‘हो ङः’ इति ङत्वे प्राप्ते तं बाधित्वा ‘दादेर्धातोर्धः’ इति घत्वे प्राप्ते तं बाधित्वा ‘वा द्रुहमुहणुहण्णिहाम्’ इत्यनेन विकल्पेन हस्य घत्वे ‘एकाचो वशो भष्’ इति भष्भावेन दकारस्य धकारे जाते धस्य च ‘झलां जशोऽन्ते’ इति गत्वे ‘वावसाने’ इति विकल्पेन चत्वे ध्रुक् इति । चत्वाभावपक्षे ‘ध्रुग्’ इति रूपम् । घत्वाभावपक्षे—‘हो ङः’ इति ङत्वे भष्भावे ङस्य जश्त्वेन ङत्वे तस्य विकल्पेन चत्वे ‘ध्रुट्’ इति, चत्वाभावपक्षे—‘ध्रुङ्’ इति रूपम् । ध्रुग्भ्याम्, ध्रुङ्भ्याम् । ‘द्रुह् + भ्याम्’ अत्र ‘वा द्रुहमुहणुहण्णिहाम्’ इति घत्वे भष्भावे घस्य जश्त्वे च कृते ‘ध्रुग्भ्याम्’ इति । घत्वाभावे ‘हो ङः’ इति हस्य ङत्वे भष्भावे ङस्य जश्त्वे च कृते ‘ध्रुङ्भ्याम्’ इति । ध्रुक्षु । ‘द्रुह् + सु’ अत्र ‘वा द्रुहमुहं’ इति घत्वे भष्भावे ‘आदेशप्रत्यययोः’ इति षत्वे ‘खरि च’ इति चत्वे ‘ध्रुक्षु’ इति । घत्वाभावपक्षे ‘हो ङः’ इति ङत्वे भष्भावे ङस्य जश्त्वे ‘ङः सि ध्रुट्’ इति ध्रुटि चत्वे ङस्य चत्वे च ध्रुट्सु’ इति रूपम् । ध्रुङ्भावपक्षे—हस्य ङः, भष्भावः, ङस्य जश्त्वेन ङः, तस्य चत्वेन टः ‘ध्रुट्सु’ इति रूपम् । स्नुट्, स्नुङ् । णुह + उद्गिरणे, अस्मात्क्षिप् । कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सावागते ‘धात्वादेः षः सः’ इति षस्य सत्वे ‘हल्-ङ्याढभ्यं’ इति सलोपे ‘वा द्रुहमुहं’ इत्यादिना घत्वे तस्य जश्त्वे ‘वावसाने’ इति वा चत्वे ‘स्नुक्’ इति । चत्वाभावे ‘स्नुग्’ इति । ‘वा द्रुहं’ इति विकल्पाभावे ‘हो

षकार आदेश हो, विकल्पसे, ‘झल्’ के परे, पदान्तमें । धात्वा—उपदेश अवस्थामें धातुके आदि षकारको सकार आदेश हो । इग्यणः—‘यण्’ के स्थानमें प्रयुज्यमान् जो ‘इक्’ वह सम्प्रसारणसंज्ञक हो । बाह ऊट्—भसंज्ञक ‘बाह्’ को सम्प्रसारणसंज्ञक ‘ऊट्’ आदेश हो ।

णाच्च ६।१।१०८। संप्रसारणादधि परे पूर्वरूपमेकादेशः । वृद्धिः । विश्वौहः ।
 इत्यादि ॥ चतुरनडुहोरामुदात्तः । ७।१।९८। सर्वनामस्थाने ॥ सावनडुहः
 ७।१।८२। अस्य नुम् स्यात्सौ परे । 'आच्छीनयोरि'ति सूत्रादादित्यधिकाराद-
 वर्णात्परोऽयं नुम् । अतो विशेषविहितेनाऽपि नुमा आम् न बाध्यते । आमा च
 नुम्न बाध्यते । सुलोपः । संयोगान्तस्य लोपः । नुम्बधिसामर्थ्याद्बुद्धौस्विति
 दत्तं न । संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वान्नलोपो न । अनड्वान् । अम्सम्बुद्धौ
 ७।१।९९। चतुरनडुहोः अस्यात्सम्बुद्धौ परतः । हे अनड्वान् । अनड्वान् ।

डः' इति ङत्वे तस्य जश्त्वे विकल्पेन चत्वे 'स्तुट्' इति । चत्वाभावपक्षे—'स्तुड्' इति ।
 शेषं पूर्ववत् । विश्वौहः इति । विश्वं वहतीत्यर्थे 'भजो णिवः' इत्यतो णिवरित्यनुवृत्तौ
 'वहश्च' इति णिवः । णकार इत् । वेलोपः । 'अत उपधायाः' इति वृद्धिः । उपपद-
 समासः—'विश्ववाह्' इति रूपम् । ततः 'विश्ववाह्' शब्दाच्छसि शस्येत्संज्ञायां लोपे च
 'यचि भम्' इति भसंज्ञायाम् 'वाह ऊट्' इति सम्प्रसारणे प्राप्ते किं नाम सम्प्र-
 सारणम् ? 'इयगः सम्प्रसारणम्' इत्यनेन वरूपस्य यणः स्थाने उकाररूपे सम्प्र-
 सारणे कृते 'विश्व-ऊ आह् अस्' इति जाते 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपैकादेशे
 विहिते 'विश्व-ऊह् अस्' इत्यवशिष्टे 'एत्येधत्यूट्सु' इति पूर्वपरयोः स्थाने वृद्धौ
 संयोगे सस्य रुत्वे रस्य विसर्गे च कृते 'विश्वौहः' इति रूपम् । अनड्वान् । 'अन-
 डुह् + सु' इत्यत्र 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' इत्याम् प्राप्तः स क स्यादित्याशङ्क्याम्
 'मिदचोऽन्यात्परः' इति मित्वात् उकारोत्तरवर्त्युकारात् परो जातः । एवं सति
 'अनडु आम् ह् सु' इति जाते मकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'अनडु आह् सु' इति भूते
 'सावनडुहः' इति नुमि उमि गते 'अनडु आ न् ह् सु' इति जाते सोरुकारे गते सस्य
 'हृड्यावभ्यो०' इति लोपे 'संयोगान्तस्य लोपः' इति ह्रलोपे 'नलोपः प्रातिपदि-
 कान्तस्य' इति नलोपे प्राप्ते 'पूर्वत्रासिद्धम्' इत्यनेन संयोगान्तस्य लोपस्य असिद्ध-
 त्वात् लोपे न जाते सति उकारोत्तरवर्त्तिन उकारस्य यणि मिलित्वा 'अनड्वान्' इति
 भवति । हे अनड्वान् । हे 'अनडुह् + सु' अत्र 'अम्सम्बुद्धौ' इत्यमि मित्वादन्त्यादचः
 परे कृते मस्येत्संज्ञायां लोपे च 'सावनडुहः' इति नुमि मित्वादन्त्यादचः परे जाते
 उमि गते सोरुकारे गते सस्य 'हृड्याव०' इत्यादिना लोपे हस्य 'संयोगान्तस्य लोपः'
 इति लोपे उकारोत्तरवर्त्तिन उकारस्य यणि कृते 'अनड्वान्' इति । अनड्वान् । अन-
 डुह् + औ' इत्यत्र 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' इत्यामि मलोपे मित्वादन्त्यादचः परे 'इको

सम्प्र—सम्प्रसारणसे 'अच्' परमे रहनेसे पूर्व-परके त्यानमें पूर्वरूप एकादेश हो । चतु—
 'चतुर्' और 'अनडुह्' शब्दको 'आम्' का आगम हो, 'सु' के परे । साव- 'अनडुह्' शब्दको
 'नुम्' का आगम हो—'सु' के परे । अम्स—'चतुर्' और 'अनडुह्' शब्दको 'अम्' का

अनड्वाहः । अनडुहः । वसुसंसुध्वंस्वनडुहां दः । ८।२।७२। सान्तवस्वन्तस्र
 संसादेश्व दः स्यात्पदान्ते । अनडुद्भ्यामित्यादि । सान्तेति किम् ? विद्वान् । पदान्ते
 किम् ? स्रस्तम् । ध्वस्तम् ॥ सहेः साडः सः । ८।३।५६। साड्रूपस्य सहेः सस्र
 मूर्धन्यादेशः स्यात् । तुराषाट्, तुराषाड् । तुरासाहौ । तुराषाड्भ्यामित्यादि ॥ दिव
 औत् । ७।१।८४। 'दि'विति प्रातिपदिकस्यौत्स्यात्सौ । सुद्यौः । सुदिवौ ॥ दिव
 उत् । ६।१।१३१। दिवोऽन्तादेश उकारः स्यात् पदान्ते । सुद्युभ्यामित्यादि ॥

यणचि' इति यणि संयोगे च कृते 'अनड्वाहौ' इति रूपम् । अनडुद्भ्यामित्यादि ।
 'अनडुह् + भ्याम्' अत्र 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इति 'पदसंज्ञायां 'वसुसंसुध्वं
 स्वनडुहां दः' इति हस्य दत्वे 'अनडुद्भ्याम्' इति । इत्यादीति । आदिना—'अन
 डुत्सु' एवं बोध्यम् । तथाहि—'अनडुह् + सुप्' अत्र पकारस्येत्संज्ञायां लोपे च
 'स्वादिषु०' इति पदसंज्ञायां 'वसुसंसुध्वंस्वनडुहां दः' इति हस्य दत्वे 'खरि च'
 इति चत्वे 'अनडुत्सु' इति रूपम् । साड इति कृतढत्वढत्ववृद्धेरनुकरणम् । तदाह—
 साड्रूपस्येति । तुराषाट् । 'तुरासाह् + स्' अत्र 'हल्ङ्याढभ्यो०' इति सलोपे 'हो
 ढः' इति हस्य ढत्वे तस्य पदान्तत्वात् जश्त्वेन ढत्वे कृते 'सहेः साडः सः' इति
 साड्रूपस्य सकारस्य पत्वे ढस्य च 'वावसाने' इत्यनेन वा चत्वे 'तुराषाट्' इति ।
 चत्वाभावपत्ते 'तुराषाड्' इति रूपम् । तुरासाहौ । अपदान्तत्वान्न मूर्धन्य इति
 भावः । सुद्यौरिति । 'सुदिव् + सु' इत्यत्र 'दिव औत्' इति वकारस्यौत्वे 'इको
 यणचि' इति यणि सस्य रुत्वे रस्य विसर्गत्वे च कृते 'सुद्यौः' इति रूपम् । भ्यामा-
 दौ हलि विशेषमाह—दिव उत् । अन्तादेश इति । अलोऽन्त्यसूत्रलभ्यम् । पदान्त इति
 पदान्तादित्यनुवृत्तं सप्तम्या विपरिणम्यत इति भावः । उतस्तपरत्वं तु 'भाव्यमाव
 उकारः सवर्णग्राहकः' इति ज्ञापनार्थमिति भावः । सुद्युभ्यामिति । 'सुदिव् + भ्याम्'
 अत्र 'दिव उत्' इति वकारस्योकारादेशे 'इको यणचि' इति यणि 'सुद्युभ्याम्'
 इति रूपम् । चत्वारः । 'चतुर् + जस्' अत्र 'सुडनपुंसकस्य' इति सर्वनामस्थान
 संज्ञायां 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' इत्यामि मस्येत्संज्ञायां लोपे च मित्वादन्यादव-
 परे 'इको यणचि' इति यणि 'चत्वार् + जस्' इति जाते जस्य 'चुटू' इतीत्सं-
 ज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गत्वे च 'चत्वारः' इति

आगम हो, सम्बुद्धिके परे । वसुसं—सान्त जो वस्वन्त और संसादि (संस्-ध्वंस्-अनडुह्)
 उनको दकार आदेश हो, पदान्तमें । सहेः—'साड्' रूप (वनजाने पर) सड्के सकारके
 स्थानमें मूर्धन्य पकार आदेश हो । दिव—'दिव्' प्रातिपदिकको 'औत्' आदेश हो, 'वु'
 के परे । दिव उत्—'दिव्' प्रातिपदिकको उकारान्त आदेश हो, पदान्तमें ।

चत्वारः । चतुरः । चतुर्भिः । चतुर्भ्यः २ ॥ षट्चतुर्भ्यश्च । ७।१।५५। एभ्य आमो
 जुडागमः स्यात् ॥ रषाभ्यां नो णः समानपदे । ८।४।१। चतुर्णाम् ॥ रोः
 सुपि । ८।३।१६। रोरेव विसर्जनीयः सुपि, नान्यरेफस्य । चतुर्षु ॥ मो नो धातोः
 । ८।२।६४। पदान्ते । प्रशान् । प्रशामौ ॥ किमः कः । ७।२।१०३। विभक्तौ ।
 कः । कौ । के । इत्यादि ॥ इदमो मः । ७।२।१०८। इदमो मस्य मः स्यात्
 सौ परे । त्यदाद्यत्वापवादः ॥ इदोऽय् पुंसि । ७।२।१११। इदम इदोऽय् सौ
 पुंसि । अयम् । त्यदाद्यत्वे ॥ अतो गुणे । ६।१।९७। अपदान्तादतो गुणे

रूपम् । चतुरः । शसादौ सर्वनामस्थानत्वाभावान्नाम् । रषाभ्यामिति । समानपदे
 रकारपकाराभ्यां परस्य नकारस्य णत्वं स्यादिति सूत्रार्थः । तेन चतुर्णामित्यादिषु
 णत्वम् । चतुर्णामिति । 'चतुर् + आम्' इत्यत्र 'षट्चतुर्भ्यश्च' इत्यामो जुडागमे
 द्वित्वादाद्यावयवे उटि गते 'चतुर् न् आम्' इति जाते 'रषाभ्यां नो णः समानपदे'
 इति णत्वे 'अचो रहाभ्यां द्वे' इति णस्य च द्वित्वे विहिते 'चतुर्णाम्' इति रूपम् ।
 चतुर्षु । 'चतुर् + सुप्' इत्यत्र 'खरवसानयोः' इति रस्य विसर्गत्वे प्राप्ते 'रोः
 सुपि' इति निषेधे 'चतुर् + सुप्' इति जाते 'आदेशप्रत्यययोः' इति सस्य पत्वे
 'अचो रहाभ्यां द्वे' इति शस्य द्वित्वे प्राप्ते 'शरोऽचि' इति षस्य द्वित्वाभावे पत्ये-
 त्संज्ञायां लोपे च 'चतुर्षु' इति रूपम् । प्रशान् । 'प्रशाम् + सु' इत्यत्र सोरुकारलोपे
 'हल्ङ्यादभ्यः' इत्यादिना सलोपे 'सुसिद्धन्तं पदम्' इति पदसंज्ञायां 'मो नो धा-
 तोः' इति मस्य नत्वे कृते 'प्रशान्' इति रूपम् । कः । 'किम् + सु' इत्यत्र 'किमः कः'
 इति किमः कादेशे सोरुकारे गते सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गे च 'कः' इति रूपम् ।
 इदम् । 'इदम् + स्' इति स्थिते 'त्यदादीनामः' इत्यकारे प्राप्ते तं बाधित्वा 'इदमो
 मः' इत्यपवादभूते मकारे कृते 'इदोऽय् पुंसि' इतीदम् इदभागस्य अयादेशे कृते
 यकारस्याऽकारेण सह संयोगे सस्य 'हल्ङ्यादभ्यः' इति लोपे 'अयम्' इति रूपम् ।
 इमौ । 'इदम् + औ' इति स्थिते अत्र 'त्यदादीनामः' इति मस्य अत्वे 'इद अ औ'

'षट्—'षट्' संज्ञक और 'चतुर्' शब्द से पर 'आम्' को 'नुट्' हो । रषा—रेफ और षकारसे
 परे नकारको णत्व (णकार) हो, समान पद में । रोः सुपि—सप्तमी बहुवचन 'सुप्'
 विभक्तिके परे 'रु' सम्बन्धी रेफके स्थानमें ही विसर्ग हो—अन्य रेफको नहीं । चतुर्षु—'शरोऽ-
 चि' इस सूत्रसे यहां द्वित्वका निषेध होता है । मो नो—मान्त धातुके मकारको नकार आदेश
 हो, पदान्तमें । किमः—'किम्' के स्थानमें 'क' आदेश हो, विभक्तिके परे । इदमो—
 'इदम्' शब्द सम्बन्धी मकारके स्थानमें, मकार ही आदेश हो, 'सु' के परे । इदोऽय्—
 'इदम्' सम्बन्धी 'इद्' के स्थानमें 'अय्' आदेश हो, 'सु' के परे पुंलिङ्ग में । अतो—
 अपदान्त 'अत्' (ह्रस्व अकार) से परे गुण (अ-ए-ओ) के परे पूर्व-परके स्थानमें पररूप

Jangamwadi Math, VARANASI,

पररूपमेकादेशः स्यात् ॥ दृश्च । ७।२।१०९। इदमो दस्य मः स्याद्विभक्तौ । इमौ । इमे । त्यदादेः सम्बोधनं नास्तीत्युत्सर्गः ॥ अनाप्यकः । ७।२।११२। अककारस्य इदम् इदोऽन्, आपि विभक्तौ । 'आवि'ति प्रत्याहारः । अनेन ॥ हलि लोपः ७।२।११३। अककारस्य इदम् इदो लोप अपि हलादौ । नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरनभ्यासविकारे ॥ आद्यन्तवदेकस्मिन् । १।१।२१। एकस्मिन् क्रियमाणं कार्यमादाविवान्त इव स्यात् । 'सुपि चे'ति दीर्घः । आभ्याम् ॥ नेद-

इति जाते 'अतो गुणे' इत्यनेन पररूपे 'इद+औ' इति भूते 'दृश्च' इत्यनेन दकारस्य मकारे विहिते वृद्धौ कृतायाम् 'इमौ' इति रूपं सिद्धम् । इमे । 'इदम्+जस्' इत्यत्र 'त्यदादीनामः' इत्यकारान्तादेशे 'इद+अ+जस्' इति स्थिते 'अतो गुणे' इति पररूपे 'जसः शी' इति शीत्वे शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'आद् गुणः' इति गुणे 'दृश्च' इति दकारस्य मकारे 'इमे' इति रूपम् । त्यदादेः सम्बोधनं नास्तीति । प्रचुरप्रयोगादर्शनादिति भावः । अनेन । 'इदम्+आ' इत्यत्र 'त्यदादीनामः' इत्यकारान्तादेशे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'इद+आ' इति जाते 'अनाप्यकः' इति इदोऽनादेशे कृते 'अन्+आ' इति भूते 'टाडसिडसामिनात्स्याः' इति इनादेशे 'आद् गुणः' इति गुणे 'अनेन' इति रूपम् । नानर्थक इति । परिभाषेयमुपधासंज्ञासूत्रे भाष्ये स्थिता । इदम्शब्दे इद् इत्यस्यानर्थकत्वात् तदन्तस्येति न लभ्यते । ततश्च इद् इत्यस्य कृत्स्नस्यैव लोप इति भावः । आद्यन्तवदिनि । 'सत्यन्यस्मिन् यस्य पूर्वं नास्ति स आदिः', 'सत्यन्यस्मिन् यस्य परो नास्ति सोऽन्तः' इति लोके प्रसिद्धं, तदुभयमेकस्मिन्नसहाये न सम्भवतीति तत्राद्यन्तव्यपदिष्टानि कार्याणि न स्युरतोऽयमतिदेश आरभ्यते । आदाविवान्त इव स्यादिति । तदादितदन्तयोः क्रियमाणं कार्यं तदादौ तदन्त इव च असहायेऽपि स्यादित्यर्थः । आभ्यामिति । 'इदम्+

एकादेश हो । दृश्च—'इदम्' शब्द सम्बन्धी दकारके स्थानमें मकार आदेश हो (सुभित्र) विभक्तिके परे । अनाप्य—ककार रहित जो 'इदम्' शब्द सम्बन्धी 'इद्' उसको 'अप्' आदेश हो, आप् (तृतीयादि) विभक्तिके परे । हलि—ककार रहित 'इदम्' शब्द सम्बन्धी 'इद्' का लोप हो, हलादि तृतीयादि विभक्ति के परे । नानर्थके—अभ्यासविकारको छोड़कर अनर्थकमें 'अलोन्त्य' परिभाषाकी प्रवृत्ति नहीं हो । आद्यन्त—एकस्मिन् अर्थात् असहायमें क्रियमाण जो कार्य वह आदि तथा अन्त की तरह हो ।

नोटः—तदादि और तदन्तको क्रियमाण जो कार्य वह तदादि और तदन्तकी तरह असहाय (एक) को भी हो (यथा—'देवदत्तस्यैक एव पुत्रः, स एव ज्येष्ठः, स एव कनिष्ठः' स एव मध्यमः ।)

नेद—ककार रहित 'इदम्' और 'अदस्' शब्द सम्बन्धी 'मिस्' को 'पेस्' नहीं हो ।

मदसोरकोः । ७।१११। अकारयोरिदमदसोर्भिस ऐस् न स्यात् । एभिः ।
अस्मै । एभ्यः २ । अस्मात् । अस्य । अनयोः । एषाम् । अस्मिन् । एषु ॥

भ्याम्' इत्यत्र 'त्यदादीनामः' इत्यकारान्तादेशे 'अतो गुणे' इति पररूपैकादेशे 'इद् + भ्याम्' इति जाते 'हलि लोपः' इति इद्भागस्य लोपे प्राप्ते 'अलोऽन्त्यस्य' इत्यनेनान्त्यस्य लोपे प्राप्ते 'नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे' इति परिभाषया अलोऽन्त्यविध्यभावे इद्भागस्यैव लोपे 'अ + भ्याम्' इत्यवशिष्टे अत्र 'सुपि च' इति दीर्घत्वे प्राप्ते परमत्र विद्यमानस्याकारस्यादन्तत्वं वर्तते नवेति शङ्कायाम् 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' इति एकस्मिन्नेवाकारे अन्तवद्भावेन अदन्तत्वं मत्वा दीर्घं कृते 'आभ्याम्' इति । एभिः । 'इदस् + सिस्' इत्यत्र 'त्यदादीनामः' इत्यकारान्तादेशे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'हलि लोपः' इति इद्भागस्य लोपे 'अतो भिस ऐस्' इत्यैस्त्वे प्राप्ते 'नेदमदसोरकोः' इत्यनेन निषिध्य 'बहुवचने झल्येत्' इति एत्वे सस्य रूपे रस्य विसर्गे च 'एभिः' इति रूपम् । अनयोः 'इदस् + ओस्' इत्यत्र 'त्यदादीनामः' इत्यकारान्तादेशे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'अनाप्यकः' इति इद्भागस्यानादेशे कृते 'अन + ओस्' इति जाते 'ओसि च' इति अनघटकनकारोत्तरवर्तिनः अकारस्यैकारे 'एचोऽयचायाव' इति अयादेशे रूपे विसर्गे च मिलित्वा 'अनयोः' इति रूपम् । एषाम् । 'इदस् + आम्' अत्र 'त्यदादीनामः' इत्यकारान्तादेशे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' इति सुडागमे टित्वाद्याद्यावयेऽटि गते 'इद् + साम्' इति जाते 'हलि लोपः' इति इद्भागस्य लोपे 'असाम्' इति जाते 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' इति एकस्मिन् अकारे अदन्तत्वमानीय 'बहुवचने झल्येत्' इति एत्वे 'आदेशप्रत्ययोः' इति पत्वे 'एषाम्' इति

इदम् शब्द पुंलिङ्गमें—अयम्, इमौ, इमे । इमस्, इमौ, इमान् । अनेन, आभ्याम्, एभिः । अस्मै, आभ्याम्, एभ्यः । अस्मात्, आभ्याम्, एभ्यः । अस्य, अनयोः, एषाम् । अस्मिन्, अनयोः, एषु । नपुंसकमें इदम्, इमे, इमानि पुनस्तद्वत् (शेषं पुंवत् ।)

स्त्रीलिङ्गमें—इयम्, इमे, इमाः । इमाम्, इमे, इमाः । अनया, आभ्याम्, आभिः । अस्यै, आभ्याम्, आभ्यः । अस्याः, आभ्याम्, आभ्यः । अस्याः, अनयोः, आसान् । अस्याम्, अनयोः, आसु ।

नोटः—'इदम्' शब्द पासमें स्थित किसी मनुष्य या वस्तुके लिये तथा 'एतत्' शब्द अत्यन्त समीपवर्ती मनुष्य या वस्तुके लिये प्रयुक्त होता है । इसी प्रकार दूरस्थित प्रत्यक्षके लिये 'अदस्' शब्द और अप्रत्यक्षके लिये 'तत्' शब्दका प्रयोग होता है । कहा भी है—

'इदमस्तु सन्निकृष्टे समीपतरवर्ति चैतदो रूपम् ।

अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात् ॥'

द्वितीयाटौस्त्वेनः । २।४।३४। द्वितीयायां टौसोश्च परत इदमेतदोरेनादेशः स्या-
दन्वादेशे । किञ्चित्कार्यं विधातुमुपात्तस्य कार्यान्तरं विधातुं पुनरुपादानम्—
अन्वादेशः । यथा—‘अनेन व्याकरणमधीतम्, एनं छन्दोऽध्यापये’ति । ‘अनयोः
पवित्रं कुलम्, एनयोः प्रभूतं स्वमि’ति । एनम् । एनौ । एनान् । एनेन । एन-
योः २ ॥ राजा । न ङिसम्बुद्धयोः । ८।२।८। नस्य लोपो न स्यात् ङौ
सम्बुद्धौ च । हे राजन् । ङावुत्तरपदे प्रतिषेधः । ङौ तुच्छन्दस्युदाहरणम् । परमे
व्योमन् सर्वा भूतानि । ब्रह्मनिष्ठः । राजानौ । राजानः । राजानम् । राजानौ ।

रूपम् । राजा । ‘राजन् + सु’ इत्यत्र सोरुकारस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते ‘सुडनपुंस-
कम्’ इति सर्वनामस्थानसंज्ञायाम् ‘सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ’ इति नान्तस्योप-
धाया दीर्घत्वे ‘हल्ङ्याढभ्यो दीर्घात्सुतिस्त्वपृक्तं हल्’ इति स्लोपे ‘नलोपः प्राति-
पदिकान्तस्य’ इति नलोपे ‘राजा’ इति रूपम् । हे राजन् । ‘हे राजन् + सु’ इत्यत्र सोरु-
कारस्येत्संज्ञायां लोपे च सः सर्वनामस्थानसंज्ञात्वाद् दीर्घे प्राप्ते ‘असम्बुद्धौ’ इ-
त्युक्तत्वान्न भवति । तदनन्तरम् ‘हल्ङ्याढभ्यः’ इति स्लोपे ‘नलोपः प्रातिपदि-
कान्तस्य’ इति नलोपे प्राप्ते परमत्र ‘न ङिसम्बुद्धयोः’ इति निषेधे, ‘हे राजन्’
इति रूपम् । ङावुत्तरपदे इति । उत्तरपदे परतो यः ङिः तस्मिन् परे ‘न ङिसम्बु-
द्धयोः’ इति निषेधस्य प्रतिषेधो वक्तव्य इत्यर्थः । एवं च चर्मतिलः इत्यत्र उत्तर-
पदे परतः ‘न ङिसम्बुद्धयोः’ इति प्रतिषेधाभावात् नकारस्य लोपो निर्वाध इति
भावः । ब्रह्मनिष्ठः । ब्रह्मणि निष्ठा यस्य सः ‘ब्रह्मनिष्ठः’ इति ब्रह्मनिष्ठ इत्यत्र अन्त-
र्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य ब्रह्मन् शब्दात् ङौ परत्वेन ‘न ङिसम्बुद्धयोः’ इत्यनेन नका-

द्विती—‘द्वितीया’ विभक्तिके परे तथा ‘टा’ और ‘ओस्’ विभक्तिके परे ‘इदम्’
शब्दको ‘एन्’ आदेश हो, अन्वादेशमें ।

किञ्चित्—किसी कार्यके विधानके लिये जिसका उपादान किया गया हो, उसीका
कार्यान्तर विधानके लिये पुनः उपादान करना ‘अन्वादेश’ कहा जाता है । यथा—

(१) अनेन व्याकरणमधीतम्, (२) एनं छन्दोऽध्यापय । अर्थात् इसने व्याकरण पढ़-
लिया, इसे वेद पढ़ाइये । यहां पहले व्याकरणाध्ययन रूप कार्यका विधान किया गया था
और पुनः उसीके विषयमें वेद पढ़ाना रूप अन्य कार्यका उपादान किया जा रहा है । अतः
दूसरे वाक्यमें ‘अन्वादेश’ है । इसलिये यहां ‘एनम्’ का प्रयोग किया गया है ।

इसी प्रकार (१) ‘अनयोः पवित्रं कुलम् (२) एनयोः प्रभूतं स्वम्’ यहां पहले वाक्यमें
कुलकी पवित्रताका विधान करनेके हेतु ग्रहण किये हुए का दूसरे वाक्यमें धनकी अधिकताका
विधानके लिये फिर उपादान होनेके कारण ‘अन्वादेश’ हो जानेसे ‘एन्’ आदेश हुआ ।

न ङि—नकारका लोप नहीं हो ‘ङि’ और सम्बुद्धिके परे । ङावु—उत्तरपदपरक ‘ङि’के

जजोर्ज्ञः । अल्लोपोऽनः । तुत्वं । राज्ञः ॥ नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिसु
कृति । ८।१।२। सुविविधौ, स्वरविधौ, संज्ञाविधौ, कृति—तुग्विधौ च नलोपोऽसिद्धो,
नान्यत्र—‘राजाश्च’ इत्यादौ । इत्यसिद्धत्वादात्वमेत्वमैस्त्वं च न । राजभ्याम् ।
राजभिः । राजभ्यः । राज्ञि, राजनि ॥ यज्वा । यज्वानौ । यज्वानः ॥
न संयोगाद्वमन्तात् । ६।४।१३७। वमान्तसंयोगादनोऽकारस्य लोपो न । यज्वनः ।
यज्वना । यज्वभ्याम् । ब्रह्मणः । ब्रह्मणा ॥ इन्हन्पूचार्यम्णां शौ । ६।४।१२

रस्य लोपप्राप्तौ ‘ङावुत्तरपदे प्रतिषेधो वक्तव्यः’ इति वार्तिकेन ब्रह्मन् इति डिपर-
कत्वात् उत्तरपदसत्त्वेन लोपप्रतिषेधान्न भवतीति ब्रह्मनिष्ठ इति साधु एवेति ।
राज्ञः । ‘राजन्+शस्’ इति स्थिते शस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते ‘यचि भम्’
इति भसंज्ञायां ‘अल्लोपोऽनः’ इति अनोऽकारस्य लोपे ‘स्तोः श्नुना श्नुः’ इति
नस्य अत्वे ‘जजोर्ज्ञः’ इति ङरूपसंयुक्ते ‘राज्ञः’ इति रूपम् । नलोपः सुविति । नस्य
लोपो नलोपः । विधिशब्दो भावसाधनः । विधानं विधिः । सुप् च स्वरश्च संज्ञा
च तुक् च तेषां विधय इति सम्बन्धसामान्यपष्ठथा समासः । कृतीति तु तुकैव
सम्बध्यते, अन्यत्रासम्भवात् । तदाह—सुाव्धावित्यादिना । राजाश्च इत्यादाविति ।
अत्र सर्वर्णदीर्घयणादिविधीनां सुविविध्याद्यनन्तर्भावात् तेषु कर्तव्येषु नलोपस्यासिद्ध-
त्वाभावे सति नकारलोपस्य सत्त्वात् सर्वर्णदीर्घादिकं निर्वाधमिति भावः । यज्वा ।
‘यज्वन्+सु’ अत्र सोरुकारस्येत्संज्ञायाम् लोपे च कृते ‘सुडनपुंसकस्य’ इति सर्व-
नामस्थानसंज्ञायां ‘सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ’ इति नान्तस्योपधाया दीर्घत्वे
‘हल्ङ्धावभ्यो’ इति सलोपे ‘नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य’ इति नलोपे ‘यज्वा’ इति
रूपम् । यज्वनः । ‘यज्वन्+शस्’ इत्यत्र शकारस्येत्संज्ञायां लोपे च ‘यचि भम्’
इति भसंज्ञायाम् ‘अल्लोपोऽनः’ इत्यनोऽकारस्य लोपे प्राप्ते ‘न संयोगाद्वमन्तात्’
इति निषिद्धे सकारस्य रुत्वे विसर्गे च कृते ‘यज्वनः’ इति रूपम् । ब्रह्मणः । ‘ब्र-
ह्मन्+शस्’ इत्यत्र शकारस्येत्संज्ञायां लोपे च ‘यचि भम्’ इति भसंज्ञायाम्
‘अल्लोपोऽनः’ इत्यनोऽकारस्य लोपे प्राप्ते ‘न संयोगाद्वमन्तात्’ इति मान्तसंयोग-
त्वात् अल्लोपनिषेधे सति ‘अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि’ इति णत्वे सस्य रुत्वे तस्य

परे नलोपका प्रतिषेध हो । अर्थात् ‘न डिस्मृद्बुद्धयोः’ यह निषेध नहीं लगे । न लोप—
सुविविधि, स्वरविधि, संज्ञाविधि और कृतप्रत्ययके परे तुग्विधि कर्तव्यमें नलोप हो—
अन्यत्र (राजाश्च इत्यादि स्थलमें) नहीं । न संयो—वकारान्त और मकारान्त संयोगसे
परे ‘अन्’ के अकारका लोप नहीं हो । इन्हन्—इन्, हन्, पूषन् और अर्यमन् को
उपधाको दीर्घ हो ‘शि’ के परे ही, अन्यत्र (‘दण्डिनौ—वृत्रहणौ’ इत्यादि स्थलमें) नहीं ।

एषां शावेवोपधाया दीर्घः ॥ सौ च । ६।४।१३। इन्नादीनामुपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सौ । वृत्रहा । हे वृत्रहन् ॥ एकाजुत्तरपदे णः । ८।४।१२। एकाजुत्तरपदं यस्य तस्मिन्समासे पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य प्रातिपदिकान्त-नुम्-विभक्तिस्यस्य नस्य णत्वं स्यात् । वृत्रहणौ । वृत्रहणः ॥ हो हन्तेर्ङिणन्नेषु । ७।३।५४। ङिति, णिति प्रत्यये, ने च परे हन्तेर्हस्य कुत्वं स्यात् ॥ हन्तेः । ८।४।२२। उपसर्गस्थान्निमित्ताद्धन्तेर्नस्य णः । प्रहण्यात् ॥ अत्पूर्वस्य । ८।४।२२। हन्तेरत्पूर्वस्यैव नस्य णो नान्यस्य । प्रघ्नन्ति । योगविभागसामर्थ्यादनन्तरस्य विधिर्वा भवति, प्रतिषेधो

विसर्गे च 'ब्रह्मणः' इति रूपम् । वृत्रहा । वृत्रो नाम असुरः तं हतवानित्यर्थे 'ब्रह्म-
भ्रूणवृत्रेषु क्तिप्' इति क्तिप् । कपावितौ । अपृक्तलोपः । उपपदसमासः । इतिनिष्पन्नो
वृत्रहन् शब्दः । तस्मात्सावागते सोरुकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'वृत्रहन् + सु'
इति स्थिते 'हल्ङ्यावभ्य' इति सलोपे 'इन्हन्पूर्वार्थम्णां शौ' इति नियमादुप-
धाया दीर्घत्वाभावे प्राप्ते 'सौ च' इत्युपधाया दीर्घत्वे 'नलोपः प्रातिपदिका-
न्तस्य' इति नलोपे 'वृत्रहा' इति रूपम् । एकाजुत्तरपदे ण इति । समासस्य
चरमावयवे रुढेन उत्तरपदशब्देन समास इति लभ्यते । एकः अच् यस्मिन् तत्
एकाच् । तत् उत्तरपदं यस्य स एकाजुत्तरपदः । तस्मिन् समासे इति बहुव्रीहिः ।
'रषाभ्यां नो णः' इत्यनुवर्तते । 'पूर्वपदात्संज्ञायाम्' इत्यतः पूर्वपदादित्यनुवर्तते ।
'प्रातिपदिकान्तनुम्बिभक्तिषु च' इत्यनुवर्तते । तदाह—एकाजुत्तरपदाभित्यादिना ।
हन्तेरिति । 'हन्तेरत्पूर्वस्ये'ति सूत्रं योगविभागेन व्याचष्टे—'रषाभ्यां नो णः
समानपदे' इत्यतो रषाभ्यां नो णः इत्यनुपज्यते । 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदे-
शस्य' इत्यत उपसर्गादित्यनुवर्तते । तात्स्थ्यात्ताच्छब्दं, तेनोपसर्गस्थादिति
लभ्यते । तच्च रषयोः प्रत्येकमन्वेति । निमित्तशब्देन रेफषकारौ विवक्षितौ ।
प्रघ्नन्तीति । हन्तेर्लटि झौ 'झोऽन्त' इत्यन्तादेशे, शपि, लुकि, 'गमहन' इत्युपधा-
लोपे 'हो हन्तेः' इति कुत्वे रूपसिद्धिः । अत्रोपसर्गस्थरेफात् परत्वात् 'हन्तेः' इत्य-
नेन प्राप्तं णत्वम् । 'अत्पूर्वस्य' इति नियमान्न भवति । 'वृत्रघ्न' इत्यत्र 'प्रातिपदि-
कान्त' इति प्राप्तं णत्वं निवर्तते । योगविभागसामर्थ्यादिति । ननु 'प्रातिपदिकान्त-

सौ च—इनादिक उपधाको दीर्घ हो, असबुद्धि 'सु' के परे ।

एकाजु—एक 'अच्' है उत्तरपदमें जिस समासके, ऐसा जो समास, उस समासमें पूर्व-
पदस्थ निमित्त (रेफ-षकार) से परे जो प्रातिपदिकान्त नकार, नुम्घटक नकार और
विभक्तिस्थ नकार उसको णकार हो । हो हन्ते—बिच्-णित् प्रत्ययके परे और नकारके परे
'हन्' धातुके हकारको कुत्व हो । हन्ते—उपसर्गस्थ निमित्तसे परे 'हन्' धातुके नकारको
णकार हो । अत्-अत् पूर्वक 'हन्' धातुके नकारको ही णकार हो—अन्यको नहीं ।

वेति न्यायं बाधित्वा 'कुमति चे'ति णोऽपि निवर्त्यते । वृत्रघ्नः इत्यादि ॥ एवं शार्ङ्गिन् । यशस्विन् । अर्यमन् । पूषन् ॥ मघवा बहुलम् । ६।४।१२८। 'मघ-वन'शब्दस्य वा 'तृ' इत्यन्तादेशः । ऋ इत् ॥ उगिदचां सर्वनामस्थानेऽ-धातोः । ७।१।७०। अधातोः गितो नलोपिनोऽञ्चतेश्च नुम् स्यात्सर्वनामस्थाने । मघवान् । इह उपधादीर्घे कर्तव्ये संयोगान्तलोपस्याऽसिद्धत्वं न भवति, बहुल-ग्रहणात् । मघवन्तौ । मघवन्तः । मघवन्तम् । मघवन्तौ । मघवतः । मघवता । मघवद्भ्याम् । तृत्वाभावे सुटि-राजवत् ॥ श्वयुवमघोनामतद्धिते । ६।४।१३३।

नुम्-विभक्तिषु च, 'एकाजुत्तरपदे णः', 'कुमति च', हन्तेरत्पूर्वस्येति पाठक्रमः । ततश्च 'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वे'ति न्यायेन 'अत्पूर्वस्य' इति नियमेन प्रघ्नन्तीत्यत्र हन्तेरित्यव्ययहितणत्वमेव निवर्तते । नत्वन्त्यदित्याह—योगेति । यदि अत्पूर्वस्य इत्यनेन 'हन्तेः' इति णत्वमेव व्यावर्तते, तर्हि हन्तेरत्पूर्वस्येति एकमेव सूत्रं स्यात् । उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य हन्तेरत्पूर्वस्य नस्य णत्वमित्येतावतैव प्रघ्नन्तीत्यत्र णत्व-निवृत्तिसंभवात् । अतो योगविभागसामर्थ्यात् णत्वमात्रस्यायं नियम इति विज्ञा-यते । वृत्रघ्नः । 'वृत्रहन्+शस्' अत्र शस्येत्सञ्ज्ञायां लोपे च 'यचि भम्' इति भसंज्ञायाम् 'अल्लोपोऽनः' इत्यनोऽकारस्य लोपे 'वृत्रहन् अस्' इति स्थिते 'हो हन्ते-ष्णिन्नेषु' इत्यनेन नकारे परे हकारस्य कुत्वेन घकारे सस्य रुत्वे रेफस्य घिसर्गत्वे च कृते मिलित्वा 'वृत्रघ्नः' इति रूपम् । मघवान् 'मघवन्+सु' इत्यत्र 'मघवा बहु-लम्' इति तृ इत्यन्तादेशे कृते 'मघवत्+सु' इति जाते ऋकारस्येत्संज्ञात्वे लोपे च विहिते 'मघवत्+सु' इति जाते 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' इति नुमि मित्वा-

मघवा—'मघवन्' शब्दको 'तृ' अन्तादेश हो विकल्पसे । उगि—धातुभिन्न जो 'उगित्' और नलोपी जो 'अञ्' धातु उसको नुम्का आगम हो, सर्वनामस्थानके परे । श्वयुव—अन्नन्त-भसंज्ञक 'श्वन्-युवन्-मघवन्' रूप अङ्गको संप्रसारण हो, तद्धितभिन्न प्रत्ययके परे ।

तृत्वादेशपक्षे—

तृत्वाभावपक्षे—

मघवान्,	मघवन्तौ,	मघवन्तः ।	मघवा,	मघवानौ,	मघवानः
मघवन्तम्,	"	मघवतः ।	मघवानम्,	"	मघोनः ।
मघवता,	मघवद्भ्याम्,	मघवद्भिः ।	मघोना,	मघवभ्याम्,	मघवद्भिः ।
मघवते,	"	मघवद्भ्यः ।	मघोने,	"	मघवभ्यः ।
मघवतः,	"	"	मघोनेः,	"	"
"	मघवतोः,	मघवताम् ।	"	मघोनोः,	मघोनाम् ।
मघवति,	"	मघवत्सु ।	मघोनि,	"	मघवसु ।
हे मघवन्,	हे मघवन्तौ,	हे मघवन्तः ।	हे मघवा	हे मघवानौ	हे मघवानः ।

अन्नन्तानां भानामेषामतद्धिते परे संप्रसारणं स्यात् । मघोनः । मघवभ्यामित्यादि ॥
 एवं श्वन् । युवन् । न संप्रसारणे संप्रसारणम् । ६।१।३७ । सम्प्रसारणे परतः
 पूर्वस्य यणः सम्प्रसारणं न स्यात् ।—इति यकारस्य न सम्प्रसारणम् । यूनः ।
 युवभ्यामित्यादि ॥ अर्वा । हे अर्वन् ! । अर्वणस्त्रसावनजः । ६।४।१२७ ।
 नञा रहितस्यार्वाञ्चित्यस्य 'त्' इत्यन्तादेशो न तु सौ । अर्वन्तौ । अर्वन्तः ।
 अर्वतः । अर्वद्भ्याम् । पथिमथ्यभुक्षामात् । ७।१।८५ । एषामकारोऽन्तादेशः
 स्यात् सौ परे ॥ इतोऽत् सर्वनामस्थाने । ७।१।८६ । पथ्यादेरिकारस्या-
 कारः स्यात्सर्वनामस्थाने ॥ थो न्थः । ७।१।८७ । पथिमथोत्थस्य न्यादेशः
 सर्वनामस्थाने । पन्थाः । हे पन्थाः । पन्थानौ । पन्थानः ॥ भस्य टेलोपः

दन्त्यादयः परे भूते कमि गते 'मघवन्त् सु' इति स्थिते सोरुकारस्येत्संज्ञायां लोपे च
 'हल्ङ्यावभ्यो' इति स्रलोपे तकारस्य 'संयोगान्तस्य लोपः' इति लोपे 'मघवा
 बहुलम्' इति बहुलग्रहणात्संयोगान्तस्य लोपस्यासिद्धत्वाभावेन 'सर्वनामस्थाने
 चासम्बुद्धौ' इति नान्तस्योपधाया दीर्घत्वे च कृते 'मघवान्' इति रूपम् । मघानः ।
 'मघवन् + अस् अत्र 'यचि भम्' इति भसञ्ज्ञायाम् 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' इति
 सम्प्रसारणे यणो—वकारस्य, इक्—उकारे जाते 'मघ उ अ न् अस्' इति स्थिते
 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूपैकादेशे 'आद्गुणः' इति गुणे सस्य
 रूत्वे तस्य विसर्गत्वे च 'मघोनः' इति रूपम् । टायाम्—मघोना इति । न संप्रसारण
 इति । संप्रसारणे परतः पूर्वस्य यणः संप्रसारणं न भवतीति सूत्रार्थः । इदमेव ज्ञापयति
 युवन् इत्यादि शब्दे पूर्वस्य यणः प्रथममनन्तरं वा संप्रसारणं न भवतीति । यूनः ।
 युवन् + शस् अत्र शकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'यचि भम्' इति भसञ्ज्ञायां 'श्वयु-
 वमघोनाम्' इति वकारस्य सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपैकादेशे
 'यु + उन्' अस् इति जाते यकारस्यापि 'श्वयुवमघोनाम्' इति सम्प्रसारणे प्राप्ते
 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' इति निषेधे सर्वर्णदीर्घे च कृते रूत्वविसर्गयोश्च सतोः
 'यूनः' इति रूपम् । एवं यूना इत्यादावपि बोध्यम् । अर्वा । 'अर्वन् + सु' अत्र सोरुकारे
 गते 'हल्ङ्यावभ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' इति स्रलोपे 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ'
 इति नान्तोपधायाः दीर्घत्वे 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपे 'अर्वा' इति
 रूपम् । पन्थाः । 'पथिन् + सु' इत्यत्र 'पथिमथ्यभुक्षामात्' इत्याकारान्तादेशो विहिते

न सं—संप्रसारणके परे पूवे 'यण्' को सम्प्रसारण नहीं हो । अर्वणः—'नञ्' रहित
 'अर्वन्' शब्दको 'त्' अन्तादेश हो, 'सु' भिन्न विभक्तिके परे । पथि—पथ्यादि (पथिन्-
 मथिन्-ऋभुक्षिन्) शब्दोंको आकारान्त आदेश हो, 'सु' के परे । 'इतोऽत्—पथ्यादिके
 दकारको अकार आदेश हो, सर्वनामस्थानके परे । थो न्थः—पथिन्-मथिन् शब्दोंके
 थकारको 'न्थ' आदेश हो, सर्वनामस्थानके परे । भस्य—भसञ्ज्ञक पथ्यादिके 'टि' का लोप

।७।१।८८। अस्य पथ्यादेष्टेलोपः स्यात् । पथः । पथिभ्याम् । पथिभ्यः । एवं-
मन्याः । ऋभुक्षाः ॥ णान्ताः षट् । १।१।२४। णान्ता, नान्ता च संख्या षट्संज्ञा
स्यात् । पञ्च २ । पञ्चभिः । पञ्चभ्यः २ । 'षट्चतुर्भ्यश्चे'ति नुट् । नोपधायाः
।६।४।७। नान्तस्योपधाया दीर्घा, नामि । पञ्चानाम् । पञ्चसु ॥ अष्टन आ विभक्तौ
।७।२।८४। 'अष्टन्' शब्दस्याऽऽत्वं वा हलादौ ॥ अष्टाभ्य औश् । ७।१।२१। कृता-
ऽऽकारादष्टनो जश्शसोरौश् । 'अष्टभ्य' इति वक्तव्ये कृताऽऽत्वनिर्देशो जश्शसोर्विषये
आत्वं ज्ञापयति । वैकल्पिकश्चेदमष्टन आत्वम्, 'अष्टनो दीर्घा'दिति ज्ञापकात् ।
अष्टौ २ । अष्टाभिः । अष्टाभ्यः २ । अष्टानाम् । अष्टासु । आत्वाभावे अष्ट ।
पञ्चवत् ॥ ऋत्विग्दधृक्खग्दिगुणिगञ्चुयुजिक्ञ्चौ च । ३।२।५९। एभ्यः

'पथि आ सु' इति जाते 'इतोऽस्सर्वनामस्थाने' इति थकारान्तःपातिन इकारस्या-
कारादेशे विहिते 'पथ् आ सु' इति जाते 'थो न्यः' इति थस्य न्यादेशे विहिते
'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घत्वे सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गत्वे च 'पन्थाः' इति रूपम्
पथः 'पथिन् + शस्' अत्र शकारस्येत्सञ्ज्ञायां लोपे च 'यचि भम्' इति भसञ्ज्ञा-
याम् 'अचोऽन्यादि टि' इति इन् इत्यस्य टिसञ्ज्ञायां 'भस्य टेलोपः' इत्यनेन टिस-
ञ्ज्ञकस्य इन् इत्यस्य लोपे सइत्यस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गत्वे च 'पथः' इति रूपम् ।
पञ्च । 'पञ्चन् + जस्' अत्र 'णान्ताः षट्' इति पञ्चन्शब्दस्य षट्सञ्ज्ञायां विहितायां
'पङ्भ्यो लुक्' इति जसो लुकि 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नस्य लोपे च
'पञ्च' इति रूपम् । एवमेव शसि पञ्च । पञ्चानाम् । 'पञ्चन् + आम्' इत्यत्र 'षट्चतु-
र्भ्यश्च' इति आमो नुटि टित्वादाद्यावयवे जाते उटि गते 'पञ्चन् न् आम्' इति जाते
नस्याकारेण सह संयोगे 'नोपधायाः' इति नान्तोपधाया दीर्घत्वे 'नलोपः प्रातिपदि-
कान्तस्य' इति नस्य लोपे च 'पञ्चानाम्' इति रूपम् । अष्टभ्य इति वक्तव्ये इति ।
भ्यसि अष्टभ्यः, अष्टाभ्यः इति रूपद्वये सत्यपि औशिवधौ लाघवात् अष्टभ्य
इत्येव निर्देश उचितः, आकारनिर्देशाच्च जश्शसोरचि परतोऽप्यात्वं विज्ञायत
इत्यर्थः । अष्टौ । 'अष्टन् + जस्' इत्यत्र 'अष्टन आ विभक्तौ' इत्यनेनाका-
रान्तादेशे विहिते 'अष्ट आ जस्' इति जाते 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घ-
त्वे 'अष्टाभ्य औश्' इति जस औशि 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'अष्टौ' इति ।

हो । णान्ता—पान्त-नान्त संख्यावाचक शब्द षट्संज्ञक हो । नोप—नान्तकी उपधाको
दीर्घ हो, 'नाम्' के परे । अष्टन—अष्टन् शब्दको आत्व हो, हलादि विभक्तिके
परे, विकल्पसे । अष्टा—कृताकारक 'अष्टन्' शब्दसे परे 'जस्-शस्' को 'औश्' आदेश हो ।
ऋत्विग्—'ऋतु' शब्द पूर्वक 'यज्-धातु' धृष्-धातु, सज्-धातु, दिश्-धातु उत्पूर्वक स्निह-

क्विन् । अञ्चः सुप्युपपदे । युजिक्कुञ्चोः—केवलयोः । कुञ्चेर्नलोपाभावश्च निपात्यते । क्तावितौ । कृदतिङ् । ३।१।९३। अत्र धात्वधिकारे तिङ्भिन्नः प्रत्ययः कृत्सञ्ज्ञः स्यात् ॥ वेरपृक्तस्य । ६।१।६७। लोपः । किन्प्रत्ययस्य कुः । ८।२।६२। किन्प्रत्ययो यस्मात्तस्य कवर्गोऽन्तादेशः स्यात् पदान्ते । ऋत्विक्, ऋत्विग् । ऋत्विजौ । ऋत्विग्भ्याम् ॥ युजेरसमासे । ७।१।७१। युजेः सर्वनामस्थाने नुम् । सुलोपः । संयोगान्तस्य लोपः । कुत्वेन नस्य ङः । युङ् । युजौ । युञ्जः । युग्भ्याम् ३ । अस-

ऋत्विक् । ऋतौ उपपदे यज्धातोः 'ऋत्विग्दधृक्स्त्रिगिगुणिगञ्चुयुजिक्कुञ्चां च' इति किनि 'वचिस्वपियजादीनाम्' इति सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूपैकादेशे 'ऋतु इज्' इति जाते 'इको यणचि' इति यणि 'ऋत्विज् किन्' अत्र 'लशक्वतद्धिते' इति ककारस्येत्सञ्ज्ञायां लोपे च 'हलन्त्यम्' इति नस्येत्सञ्ज्ञायां लोपे च इकारस्योच्चारणार्थत्वेन तस्मिन् गते वकारस्य 'अपृक्त एकाल् प्रत्ययः' इति अपृक्तसञ्ज्ञायां 'वेरपृक्तस्य' इत्यपृक्तसञ्ज्ञकस्य वस्य लोपे 'कृदतिङ्' इति किनः कृत्सञ्ज्ञायां कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सावागते सोरुकारे गते 'ऋत्विज् + स्' इति स्थिते 'हल्ङ्वाभ्यो०' इति सलोपे 'किन्प्रत्ययस्य कुः' इति कवर्गान्तादेशे आन्तरतम्यात् जकारस्य गकारे जाते 'वावसाने' इति चत्वेन वा वकारे 'ऋत्विक्' इति । युङ् । 'युज् + सु' इत्यत्र सुबुत्पत्तेः प्राक् 'ऋत्विग्दधृक्' इति किनि, किवनो लोपे किनः कृत्सञ्ज्ञायां कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां

धातु, अञ्-धातु, युज्, धातु और कुञ्च-धातुओंसे 'किन्' प्रत्यय हो । अञ्चः—'अञ्च् धातुसे सुबन्त उपपद रहने पर ही 'किन्' प्रत्यय होना है, 'युज्' और कुञ्च् धातुओंसे केवल अर्थात् उपपद रहित होने पर ही 'किन्' प्रत्यय होता और 'कुञ्च्' धातुमें 'किन्' प्रत्यय-विधानके साथ २ सूत्रोक्त प्रकारसे 'अनदितान्०' से प्राप्त नलोपाभाव भी निपातन होता है ।

नोटः—'लक्षणं विनैव निपतति = प्रवर्तते' यत्तन्निपातनम्—जो कार्य विना सूत्र नियमका होता है वह 'निपातन' कहा जाता है ।

कृदतिङ्—इस (सन्निहित) धात्वधिकारमें तिङ्-भिन्न जो प्रत्यय वह कृत्संज्ञक हो ।

नोटः—'धातोः' इस सूत्रके अधिकारमें धातुसे परे प्रत्ययोंका विधान है । उनमें 'तिङ्' प्रत्ययों को छोड़कर शेष की कृत्संज्ञा होती है । फल यह हुआ कि 'किन्' प्रत्यय 'धातोः' के अधिकारमें है । इसलिए इसको कृत्संज्ञा हुई और कृत्संज्ञा होने पर कृदन्त होनेसे प्रातिपदिकसंज्ञा होकर सु-आदि विभक्तिकी उत्पत्ति हुई ।

वेरपृ—अपृक्तसंज्ञक वकारका लोप हो । किन्प्रत्यय—किन् प्रत्यय जिससे विधान किया जाय उसको कवर्गान्तादेश हो, पदान्तमें । युजेर—'युज्' धातु को नुमका आगम हो, सर्व-

मासे किम् ? । चोः कुः । ८।२।३०। चवर्गस्य कवर्गः स्याज्झलि, पदान्ते च ।
 सुयुक् सुयुग् । सुयुजौ । सुयुजः । सुयुजा । सुयुग्भ्याम् । खन् । खजौ । खजः ।
 खन्भ्याम् ॥ ब्रश्चभ्रस्जस्जस्मृजयजराजभाजच्छशां षः । ८।२।३६। ब्रश्चादीनां
 सप्तानां, छशान्तयोश्च षः स्यात् झलि, पदान्ते च । जश्त्वचत्वे । राट् , राड् ।
 राजौ । राजः । राड्भ्याम् ॥ एवं—विभ्राट् । देवेट् । विश्वसट् । परिमट् ।
 (परौ ब्रजेः षः पदान्ते) परावुपपदे ब्रजेः क्तिप् दीर्घश्च, पदान्ते षत्वमपि ।
 परित्यज्य सर्वं ब्रजतीति—परिव्राट् । परिव्राजौ ॥ विश्वस्य वसुराटोः । ६।३।१२८।
 विश्वस्य दीर्घः स्याद्वसौ, राट्शब्दे च परे । ‘रा’ङिति पदान्तोपलक्षणार्थम् । विश्वा-
 राट् । विश्वराजौ । विश्वाराड्भ्याम् ॥ स्कोः संयोगाद्योरन्ते च । ८।२।२६।
 पदान्ते, झलि च परे यः संयोगस्तदाद्योः सकारककारयोलोपः । भृट् , भृड् । सस्य
 श्नुत्वेन शः । ‘झलां जशोऽन्ते’ति शस्य जः । भृजौ । भृजः । भृड्भ्याम् ॥

सावागते सोढकारे गते ‘युजेरसमासे’ इति जुमि उमि गते मित्रवादन्त्यादयः परे
 ‘युन्ज्स्’ इति जाते ‘हल्ङ्वाढ्यो’ इति सलोपे ‘संयोगान्तस्य लोपः’ इति
 जलोपे ‘क्तिन्प्रत्ययस्य कुः’ इति नकारस्य कृत्वेन ङत्वे ‘युङ्’ इति रूपम् । ‘राट् ।
 ‘राज् + सु’ इत्यत्र सोर्लोपे ‘ब्रश्चभ्रस्जराजस्मृजयजराजभाजच्छशां षः’ इति षकारा-
 न्तादेशे ‘झलां जशोऽन्ते’ इति पस्य ङत्वे ‘वावसाने’ इति ङस्य ङत्वे कृते ‘राट्’ इति
 रूपम् । पक्षे—‘राड्’ इति । परिव्राट् । परिपूर्वकब्रजधातुतः ‘परौ ब्रजेः षः
 पदान्ते’ इति क्तिपि ब्रजेश्च दीर्घत्वे कृते च षत्वे क्तिपो लोपे सावागते सोर्लोपे
 ‘झलां जशोऽन्ते’ इति पस्य ङत्वे ‘वावसाने’ इति ङस्य ङत्वे ‘परिव्राट्’ ।
 पक्षे—‘परिव्राड्’ । विश्वाराट् । ‘विश्वराज् + सु’ इत्यत्र सोर्लोपे ‘ब्रश्चभ्रस्ज’
 इति जस्य षत्वे ‘झलां जशोऽन्ते’ इति पस्य ङत्वे ‘वावसाने’ इति ङस्य ङत्वे
 ‘विश्वस्य वसुराटोः’ इति दीर्घत्वे च विहिते ‘विश्वाराट्’ इति । पक्षे—विश्वाराड्
 इति । भृट् । ‘भ्रस्ज पाके’ क्तिप् । ‘ग्रहिज्या’ इति सम्प्रसारणरेफस्य ऋकारः ।
 ‘सम्प्रसारणाच्च’ इति पूर्वरूपम् । तस्मात्सौ ‘भृस्ज् सु’ इत्यत्र सोर्लोपे ‘स्कोः सं-
 योगाद्योरन्ते च’ इति संयोगाद्यस्य ‘स्’ इत्यस्य लोपे ‘ब्रश्चभ्रस्ज’ इत्यादिना

नामस्थानके परे, असमासमें । चोः कुः—चवर्गको कवर्ग आदेश हो, ‘झल्’ के परे,
 पदान्तमें । ब्रश्च—ब्रश्च्, भ्रस्ज्, स्मृज्, यज्, राज् और भाज्, धातुओंको तथा छकारान्त
 और शकारान्तको षकारान्त आदेश हो, ‘झल्’ के परे पदान्तमें । परौ—‘परि’ उपसर्गक
 ‘ब्रज्’ धातुसे क्तिप् प्रत्यय हो और (उपधा अकार को) दीर्घ हो तथा पदान्तमें षत्व भी
 हो । विश्वस्य—‘विश्व’ शब्दको दीर्घ हो, ‘वसु’ और ‘राट्’ शब्दके परे । स्कोः—पदान्त

त्यदाद्यत्वं । पररूपत्वम् । तदोः सः सावनन्त्ययोः । ७।२।१०६। त्यदादीनां तकार-
रदकारयोरनन्त्ययोः सः स्यात्सौ । स्यः । त्यौ । त्ये ॥ सः । तौ । ते ॥ यः । यौ ।
ये ॥ एषः । एतौ । एते । एनम् । एनौ । एनान् । एनेन । एनयोः २ ॥ छे प्रथ-
मयोरम् । ७।१।२८। युष्मदस्मद्भ्यां परस्य 'छे' इत्येतस्य प्रथमाद्वितीययोश्चामा-
देशः ॥ मपर्यन्तस्य ७।२।९१। इत्यधिकृत्य । त्वाहौ सौ ७।२।९४। अन-
योर्मपर्यन्तस्य त्वाहौ स्तः सौ ॥ शेषे लोपः ७।२।९०। आत्वयत्वनिमित्तेतर-
विभक्तौ परतोऽनयोऽल्लोपः । त्वम् । अहम् । युवावौ द्विवचने ७।२।९२।
द्वयोऽक्तावनयोर्मपर्यन्तस्य युवावौ स्तौ विभक्तौ । प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्

जस्य षत्वे, पस्य ङत्वे 'वावसाने' इति टत्वे 'भृट्' इति । पच्चे—भृङ्' इति । स्यः ।
'त्यद् + सु' इत्यत्र 'त्यदादीनामः' इति 'द्' इत्यस्य स्थाने अकारादेशे 'अतो गुणे'
इति पररूपे कृते 'त्य सु' इति जाते 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' इति अनन्त्यस्य
तकारस्य सत्वे सोरुकारे गते रेफस्य विसर्गत्वे च 'स्यः' इति । त्यौ । 'त्यद् + औ'
इत्यत्र त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे च कृते 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'त्यौ' इति रूपम् । सः ।
'तद् + सु' अत्र त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे च कृते 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' इति तस्य
सत्वे सोरुकारे गते रेफस्य विसर्गत्वे च 'सः' इति रूपम् । एषः । 'एतद् + सु' इत्यत्र
त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे च कृते 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' इति तकारस्य सकारे कृते
'आदेशप्रत्यययोः' इति सस्य षत्वे च कृते 'एष + सु' इति जाते सोरुकारे गते
रेफस्य विसर्गत्वे च 'एषः' इति रूपम् । त्वम्, अहम् । 'युष्मद् + सु' इत्यत्र 'छेप्रथ-
मयोरम्' इति सोरमादेशे विहिते 'युष्मद् + अम्' इति जाते 'त्वाहौ सौ' इति
युष्मदो मपर्यन्तस्य त्वादेशे विहिते 'त्व अद् अम्' इति जाते 'अतो गुणे' इति
पररूपत्वे 'शेषे लोपः' इति दस्य लोपे 'त्व अम्' इत्यवशिष्टे 'अमि पूर्वः' इति
पूर्वरूपत्वे कृते 'त्वम्' इति रूपम् । 'अस्मद् + सु' इत्यत्र 'छेप्रथमयोरम्' इति सोर-
मादेशे 'त्वाहौ सौ' इत्यस्मदी मपर्यन्तस्य अहादेशे 'अतो गुणे' इति पूर्वरूपे कृते 'अहद्
अम्' इति जाते 'शेषे लोपः' इति दस्य लोपे 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपे 'अहम्' इति ।

झल् परक संयोगादि सकार और ककारका लोप हो । तदोः—त्यदादिके अनन्त्य तकार-दकारको
सकार हो, 'सु' के परे । छे प्रथ—युष्मद्-अस्मद् शब्दसे परे 'ङ' और प्रथमा-द्वितीया
विभक्तिको 'अम्' आदेश हो । मपर्यन्त—यह अधिकार सूत्र है । त्वाहौ—युष्मद्-अस्मद्के
मपर्यन्त भागको 'त्व' और 'अह' आदेश हो, 'सु' के परे । शेषे—आत्व-यत्वके निमित्तेतर
विभक्तिके परे युष्मद् अस्मद् शब्दोंकी 'टि'का लोप हो । युवावौ—द्वित्वार्थ प्रतिपादक
युष्मद्-अस्मद्के मपर्यन्त भागको 'यु' और 'आव' आदेश हो, विभक्तिके परे । प्रथमायाश्च-

[७।२।८। औङ्येतयोरात्वं लोके । युवाम् । आवाम् । यूयवयौ जसि । ७।२।९३।
अनयोर्मपर्यन्तस्य यूयवयौ स्तो, जसि । यूयम् । वयम् ॥ त्वमावेकवचने । ७।२।९७।
एकस्योक्तावनयोर्मपर्यन्तस्य त्वमौ स्तो विभक्तौ ॥ द्वितीयायां च । ७।२।८७।
अनयोरात् स्यात् । त्वाम् । माम् ॥ शसो नः । ७।१।२९। आभ्यां शसो नः स्यात् ।
अमोऽपवादः । आदेः परस्य । संयोगान्तस्य लोपः । युष्मान् । अस्मान् ॥

युवाम् , आवाम् । 'युष्मद् + औ' 'अस्मद् + औ' इत्यत्र 'डेप्रथमयोरम्' इति औका-
रस्य स्थाने अमि 'युवावौ द्विवचने' इति युष्मदो मपर्यन्तस्य युव आदेशे अस्मदो
मपर्यन्तस्य आवादेशे च विहिते 'युव अद् अम्' 'अव अद् अम्' इति च जाते 'अतो
गुणे' इति पररूपत्वे 'प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्' इति आकारान्तादेशे 'युव
आ अम्' इति, 'अव आ अम्' इति भूते 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति पूर्वपरयोः स्थाने
दीर्घं 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपैकादेशे च कृते 'युवाम्' इति, 'आवाम्' इति च ।
यूयवयौ जसि इति । जस्प्रत्यये परतो युष्मदस्मदोर्यूयवयौ आदेशौ भवत इति सूत्रार्थः ।
यथासंख्येन युष्मदो यूयमिति, अस्मदश्च वयमित्यादेशो बोध्यः । यूयम्, वयम् ।
'युष्मद् + जस्' 'अस्मद् + जस्' इत्यत्र 'डेप्रथमयोरम्' इति जस्ः स्थाने अमि
कृते 'यूयवयौ जसि' इति युष्मदो मपर्यन्तस्य यूयादेशे अस्मदो मपर्यन्तस्य वया-
देशे च विहिते 'यूय अद् अम्' 'वय + अद् अम्' इति जाते 'अतो गुणे' इति
पररूपत्वे 'शेपे लोपः' इति दकारस्य लोपे 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपैकादेशे
'यूयम्' इति, 'वयम्' इति । त्वाम्, माम् । 'युष्मद् + अम्' 'अस्मद् + अम्' इत्यत्र
'त्वमावेकवचने' इति युष्मदो मपर्यन्तस्य त्वादेशे अस्मदो मपर्यन्तस्य च मादेशे
विहिते 'त्व अद् अम्' 'म अद् अम्' इति जाते 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे 'द्वि-
तीयायाञ्च' इत्यन्त्यस्य दस्यात्वे 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति सवर्णदीर्घत्वे 'अमि पूर्वः'
इति पूर्वरूपैकादेशे च कृते 'त्वाम्' इति 'माम्' इति । युष्मान् अस्मान् । 'युष्म-
द् + शस्' 'अस्मद् + शस्' इत्यत्र 'लशक्वतद्धिते' इति शस्येत्संज्ञायां लोपे च
'शसो न' इति नादेशे 'तस्मादिद्युत्तरस्य' इत्यनेनोत्तरस्य सर्वस्य प्राप्ते 'आदेः
परस्य' इति आद्याकारस्य जाते 'युष्मद् + न् स्' 'अस्मद् + न् स्' इति भूते 'सं-
योगान्तस्य लोपः' इति सलोपे 'द्वितीयायाञ्च' इत्यन्तस्य द्मात्रस्य आकारे 'अकः
सवर्णे दीर्घः' इति पूर्वपरयोः स्थाने दीर्घादेशे 'युष्मान्' 'अस्मान्' इति रूपम् ।

प्रथमाद्विवचनके परे युष्मद्-अस्मद् शब्दको आत्व हो, लोकमें । यूय-युष्मद् अस्मद्
शब्दके मपर्यन्तभागको 'यूय' 'वय' आदेश हो, 'जस्'के परे । त्वमा-एकत्वार्थ-
प्रतिपादक युष्मद्-अस्मद् शब्दके मपर्यन्त भागको 'त्व' 'म' आदेश हो, विभक्तिके परे ।
द्वितीया-युष्मद्-अस्मद्को आकारान्त आदेश हो, द्वितीया विभक्तिके परे । शसो न-

योऽचि । ७।२।८५। अनयोर्वादेशोऽजादौ विभक्तौ । त्वया । मया ॥ युष्म-
दस्मदोरनादेशे । ७।२।८६। अनयोरात्स्यादनादेशे हलादौ विभक्तौ । युवाभ्याम् ।
आवाभ्याम् । युष्माभिः । अस्माभिः ॥ तुभ्यमह्यौ ङयि । ७।२।९५। अनयोर्मपर्य-
न्तस्य तुभ्यमह्यौ स्तो ङयि । टिलोपः । तुभ्यम् । मह्यम् ॥ भ्यसोऽभ्यम् । ७।२।३०।
आभ्यां परस्य भ्यसोऽभ्यम् स्यात् । युष्मभ्यम् । अस्मभ्यम् ॥ एकवचनस्य च
। ७।२।३२। आभ्यां पञ्चम्येकवचनस्याऽत्स्यात् । त्वत् । मत् ॥ पञ्चम्या अत्

त्वया, मया । 'युष्मद् + टा' 'अस्मद् + टा' इत्यत्र 'त्वमावेकवचने' इति मपर्य-
न्तस्य युष्मदः त्वादेशे अस्मदश्च सादेशे सति 'त्वं अद् टा' 'म अद् टा' इति जाते
'अतो गुणे' इति पररूपे टागतटकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'योऽचि' इति योनेन
सर्वस्य यकारादेशे प्राप्ते अलोऽन्त्यस्य इत्यन्तस्य दस्य जाते सति 'त्वं य् आ'
'म य् आ' इति भूते संयोगे च कृते 'त्वया' 'मया' इति । युवाभ्याम्, आवाभ्याम् ।
'युष्मद् + भ्याम्' 'अस्मद् + भ्याम्' इत्यत्र 'युवाचौ द्विवचने' इति मपर्यन्तस्य
युवादेशे अवादेशे च विहिते 'युव अद् भ्याम्' 'अव अद् भ्याम्' इति जाते 'अतो
गुणे' इति पररूपत्वे 'युष्मदस्मदोरनादेशे' इति दकारस्य 'आ' आदेशे विहिते
'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घादेशे 'युवाभ्याम्' 'आवाभ्याम्' इति स्तः । युष्माभिः,
अस्माभिः । 'युष्मद् + भिस्' 'अस्मद् + भिस्' इत्यत्र 'युष्मदस्मदोरनादेशे' इति
दस्य स्थाने आकारे विहिते 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घत्वे सस्य स्त्वे रेफस्य
विसर्गत्वे च कृते 'युष्माभिः' 'अस्माभिः' इति रूपम् । तुभ्यम्, मह्यम् । 'युष्मद् +
ङे' 'अस्मद् + ङे' इत्यत्र 'तुभ्यमह्यौ ङयि' इति मपर्यन्तस्य युष्मदः तुभ्यादेशे,
अस्मदो महादेशे च कृते 'तुभ्य अद् ङे' 'मह्य अद् ङे' इति जाते 'अतो गुण'
इति पररूपे 'शेषे लोपः' इत्यन्त्यस्य दकारस्य लोपे 'ङेप्रथमयोरम्' इति ङेरमा-
देशे 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपैकादेशे 'तुभ्यम्' इति, 'मह्यम्' इति च जायेते । भ्या-
मि-युवाभ्याम्, आवाभ्याम्, इति तृतीयाद्विवचनवदिति भावः । युष्मभ्यम्, अस्म-
भ्यम् । 'युष्मद् + भ्यस्' 'अस्मद् + भ्यस्' इत्यत्र 'भ्यसो भ्यम्' इति भ्यसः स्थाने
भ्यसादेशे कृते 'शेषे लोपः' इति दलोपे कृते सति 'युष्मभ्यम्' 'अस्मभ्यम्' इति ।
त्वत्, मत् । 'युष्मद् + ङसि, अस्मद् + ङसि' इत्यत्र 'त्वमावेकवचने' इति युष्मदे

युष्मद्-अस्मद् शब्दसे पर 'शस्'के आदिको नकार आदेश हो । योऽचि—युष्मद्-अस्मद्
शब्दको यकार आदेश हो, अनादेश (विना आदेश हुआ) अजादि विभक्तिके परे ।
युष्मद्—युष्मद्-अस्मद् शब्दके अङ्गको अकार आदेश हो, अनादेश हलादि विभक्तिके परे ।
तुभ्य—युष्मद्-अस्मद् शब्दके मपर्यन्तभागको 'तुभ्य' और 'मह्य' आदेश हो, 'ङे' विभक्तिके
परे । भ्यसो—युष्मद्-अस्मद् शब्दसे पर 'भ्यस'को 'अभ्यम्' आदेश हो । एकवचन—
युष्मद्-अस्मदसे पर पञ्चमी-एकवचन (ङसि) को 'अत्' आदेश हो । पञ्चम्या—युष्मद्-

।७।१।३१। आभ्यां पञ्चम्या भ्यसोऽत् । युष्मत् । अस्मत् ॥ तवममौ ङसि ।
।७।२।९६। अनयोर्मपर्यन्तस्य तवममौ स्तो ङसि । युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश् ।
।७।१।२७। तव । मम । युवयोः २ । आवयोः २ ॥ साम आकम् ।७।१।३३।
आभ्यां परस्य 'साम' आकम् स्यात् । युष्माकम् । अस्माकम् । त्वयि । मयि ।
युष्मासु । अस्मासु ॥ युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वाच्चावौ । ८।१।२०

मपर्यन्तस्य त्वादेशे अस्मदो मपर्यन्तस्य च मादेशे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'एक-
वचनस्य च' इति ङसेरिति विहिते 'शेषे लोपः' इति द्मात्रलोपे 'त्व+अत्'
'म+अत्' इति जाते 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे च 'त्वत्' इति 'मत्' इति च
भवतः । भ्यामि—पूर्ववत्—'युवाभ्याम्' 'आवाभ्याम्' इति स्तः । युष्मत्, अस्मत् ।
'युष्मद्+भ्यस्' 'अस्मद्+भ्यस्' इत्यत्र 'पञ्चम्या अत्' इति भ्यसोऽति 'शेषे लोपः'
इति दस्य लोपे 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे च कृते 'युष्मत्' इति 'अस्मत्' इति
च भवतः । युष्मदस्मद्भ्यामिति । युष्मदस्मदोः परतो ङसः स्थाने अशादेशः स्यात् ।
शित्करणत्सर्वादेशः फलम् । तव, मम । 'युष्मद्+ङस्' 'अस्मद्+ङस्' इत्यत्र 'तव-
ममौ ङसि' इति युष्मदो मपर्यन्तस्य त्वादेशे अस्मदो मपर्यन्तस्य ममादेशे 'अतो
गुणे' इति पररूपत्वे 'युष्मदस्मद्भ्याम्' इति ङसोऽति विहिते शस्येत्संज्ञायां लोपे
च भूयोऽपि 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे च कृते 'तव, मम' इति रूपे स्तः । युवयोः,
आवयोः । 'युष्मद्+ओस्' 'अस्मद्+ओस्' इति स्थिते 'युवावौ द्विवचने' इति
युष्मदो मपर्यन्तस्य युवादेशे अस्मदो मपर्यन्तस्य च आवादेशे 'अतो गुणे' इति
पररूपत्वे 'योऽचि' इति दकारस्य यकारे विहिते संयोगे च कृते सस्य रुत्वे रेफस्य
विसर्गात्वे च कृते 'युवयोः' 'आवयोः' इति । युष्माकम्, अस्माकम् । 'युष्मद्+आम्'
'अस्मद्+आम्' इत्यत्र 'साम आकम्' इति आमि सान्त्वमारोप्य आकमादेशे
विहिते 'युष्मद्+आकम्' 'अस्मद्+आकम्' इति जाते 'शेषे लोपः' इति दलोपे
'अकः सवर्णे दीर्घः' इति सवर्णदीर्घत्वे 'युष्माकम्' 'अस्माकम्' इति । त्वयि, मयि ।
'युष्मद्+ङि' 'अस्मद्+ङि' इत्यत्र 'त्वमावेकवचने' इति युष्मदो मपर्यन्तस्य
त्वादेशे 'अस्मदो मपर्यन्तस्य च मादेशे कृते 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे च कृते
'त्वद्+ङि' 'मद्+ङि' इति जाते ङकारस्थेत्संज्ञायां लोपे च 'योऽचि' इति
दकारस्य यकारादेशे मिलित्वा 'त्वयि' इति 'मयि' इति च भवतः । युष्मासु,

अस्मदस्ते पर पञ्चमीके 'भ्यस्'को 'अत्' आदेश हो । तवममौ—युष्मद्-अस्मद् शब्दके
मपर्यन्त भागको 'तव' और 'मम' आदेश हो ङस्के परे । युष्मद्—युष्मद्-अस्मदस्ते पर
'ङस्'को 'अश्' आदेश हो । साम—युष्मद्-अस्मदस्ते पर 'साम्' (सुट् सहित आम्) को
'आकम्' आदेश हो । युष्मदस्मदोः—पदस्ते पर अपादादिमें (श्लोक या ऋचाके चरणके

पदात्परयोरपादादौ स्थितयोः षष्ठ्यादिविशिष्टयोर्वाचौ इत्यादेशौ स्तस्तौ चानुदात्तौ ॥
 बहुवचनस्य वस्नसौ । ८।१।२१। उक्तविधयोरनयोः षष्ठ्यादिवहुवचनान्तयोर्वस्न-
 सौ स्तः । वां—नावोरपवादः । तेमयावेकवचनस्य । ८।१।२२। उक्तविधयोर-
 नयोः षष्ठीचतुर्थ्येकवचनान्तयोस्ते—मे एतौ स्तः ॥ त्वामौ द्वितीयायाः
 । ८।१।२३। उक्तविधयोरनयोर्द्वितीयैकवचनान्तयोस्त्वामा एतौ स्तः ॥

श्रीश'स्त्वा'ऽवतु 'मा'ऽपीह, दत्तात् 'ते' 'मे'ऽपि शर्म सः ।

स्वामी'ते' 'मे'ऽपि स हरिः, पातु 'वाम'पि 'नौ' विभुः ॥ १ ॥

अस्मासु । 'युष्मद् + सुप्' 'अस्मद् + सुप्' इत्यत्र पकारस्येत्संज्ञायाम् लोपे च
 कृते 'युष्मदस्मदोरनादेशे' इति 'द्' इत्यस्यात्वे 'अकः सवर्णे' इति दीर्घत्वे
 च जाते 'युष्मासु' 'अस्मासु' इति रूपे स्तः । युष्मदस्मदोः षष्ठीति । षष्ठीच-
 तुर्थीद्वितीयाभिः सह तिष्ठत इति षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थौ तयोरिति विग्रहः । षष्ठ्यादि-
 विशिष्टयोरिति यावत् । उक्तविधयोरिति । षष्ठ्यादिविशिष्टयोर्युष्मदस्मदोरित्यर्थः ।
 बहुवचनस्येति । युष्मदस्मदोः बहुवचनविभक्तौ परतः वस्नसावादेशौ यथासंख्यं स्त
 इति भावः । तेमयेति । तेश्च मेश्चेति विग्रहः । अयं वांनावोरपवादः । अत्र द्वितीया-

आदिमें नहीं) स्थित जो षष्ठी-चतुर्थी-द्वितीयास्थ युष्मद्-अस्मद् शब्द उनको क्रमसे 'वाम'
 और 'नौ' आदेश हो ।

नोटः—अग्रिम तीन सूत्रोंसे वाध होनेके कारण केवल सभी विभक्तियोंके द्विवचनमें
 ही इस सूत्रकी प्रवृत्ति होती है ।

बहुवच—पदसे पर अपादादिमें स्थित षष्ठ्यादि बहुवचनान्त युष्मद्-अस्मद् शब्दको
 क्रमसे 'वस्' 'नस्' आदेश हो ।

नोटः—सभी विभक्तियोंके द्विवचनमें 'वाम्' और 'नौ' तथा बहुवचनमें 'वस्' और
 'नस्' आदेश होते हैं ।

तेमया—पदसे पर अपादादिमें स्थित षष्ठी-चतुर्थ्येकवचनान्त युष्मद्-अस्मद् शब्दको
 'ते' और 'मे' आदेश हो । त्वामौ—पदसे पर अपादादिमें स्थित युष्मद्-अस्मद् शब्द जब
 द्वितीयाका एकवचनान्त हो तब क्रमसे उनको 'त्वा' 'मा' आदेश हो ।

श्रीशस्त्वा—इह = संसारे, श्रीशः = लक्ष्मीपतिः—नारायणः, त्वा = त्वाम्, मा =
 माम्, अपि = च, अवतु = पातु । पूर्वोक्तः—सः—हरिः = नारायणः, ते = तुभ्यम्, मे =
 मम, अपि = च, शर्म=सुखम्, दत्तात्=ददातु । स—हरिः=पूर्वोक्तः—नारायणः, ते=तव,
 मे = मम, अपि = च, स्वामी = प्रभुः, अस्तीति शेषः । (सः) विभुः=व्यापको नारायणः,
 वाम् = युवाम्, नौ = आवाम्, पातु = रक्षतु । (सः) ईशः = प्रभुः, वाम् = युवाभ्याम्,

सुखं 'वां' 'नौ' ददात्वीशः, पतिर्वामपि 'नौ' हरिः ।

सोऽव्याद् 'वो' 'नः' शिवं 'वो' 'नो' दद्यात्सेव्योऽत्र 'वः' स 'नः' ॥२॥

एकवाक्ये निघातयुष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः । एकतिङ् वाक्यम् ।
तेनेह न-श्रोदनं पच, तव भविष्यति । इह तु स्यादेव-शालीना ते श्रोदनं दास्यामि ।
एते वांनावादय आदेशा अनन्वादेशे वा वक्तव्याः । अन्वादेशे तु नित्यं
स्युः । धाता ते भक्तोऽस्ति, तव भक्तोऽस्तीति वा । तस्मै ते नम इत्येव । न चवा-

ग्रहणं नानुवर्तते, तत्र त्वामादेशयोर्वच्यमाणत्वात् । एकवाक्ये इति । निमित्तनिमित्त-
नोरेकवाक्यस्थत्वे इत्यर्थः । एकतिङिति । तिङित्यनेन तिङन्तं विवक्षितम् । एकः
तिङ् यस्येति विग्रहः । धाता ते भक्तोऽस्तीति । अत्र 'एकवाक्ये युष्मदस्मदादेशा
वक्तव्याः' इत्यनेन तव स्थाने ते आदेशो विहितः । यत्र ते आदेशो न भवति तत्र
धाता तव भक्तोऽस्तीति भवत्येव । तस्मै ते नमः इत्येवेति । अत्र अन्वादेशत्वान्नित्य
आदेशो जायते । न चवाहेति । चेति अव्ययं समुच्चये । वा इति विकल्पे, हा इति
अद्भुते । 'अह' इति खेदे । 'एव' इत्यवधारणे, एतेषां द्वन्द्वः । युक्त इति भावे क्तः ।

नौ = आवाभ्याम्, सुखं = कल्याणम्, ददातु = दत्तात्, (सः) हरिः = नारायणः, वां =
युवयोः, नौ = आवयोः, पतिः = प्रभुः अस्तीति शेषः । सः = हरिः, वः = युष्मान् नः =
अस्मान्, अव्यात् = रक्षेत् । सः = हरिः, वः = युष्मभ्यम्, नः = अस्मभ्यम्, शिवं =
कल्याणं, दद्यात् । अत्र = इह लोके, सः = हरिः, वः = युष्माकम्, नः = अस्माकम्,
सेव्यः = आराध्यः, अस्तीति शेषः ।

एकवाक्ये—युष्मद्, अस्मद् शब्दको एकवाक्यमें ही अनुदात्त और पूर्वोक्त 'वाम्-नौ'
आदि आदेश होते हैं । एकतिङ्—एक तिङ् धटित ही वाक्य होता है ।

एते—ये जो वाम्, नौ, वस्, नस्, आदि आदेश कहे गये हैं, वे अनन्वादेशमें विक-
ल्पसे और अन्वादेशमें नित्य ही हों ।

युष्मद् शब्दके रूप—त्वम्, युवाम्, यूयम् । त्वाम् (त्वा), युवाम् (वाम्),
युष्मान् (वः) । त्वया, युवाभ्याम्, युष्माभिः । तुभ्यम् (ते), युवाभ्याम् (वाम्),
युष्मभ्यम् (वः) । त्वत्, युवाभ्याम्, युष्मत् । तव (ते), युवयोः (वाम्), युष्माकम्
(वः) । त्वयि, युवयोः, युष्मासु ॥

अस्मद् शब्दके रूप—अहम्, आवाम्, वयम् । माम् (मा), आवाम् (नौ),
अस्मान् (नः) । मया, आवाभ्याम्, अस्माभिः । मह्यम् (मे), आवाभ्याम् (नौ),
अस्मभ्यम् (नः) । मत्, आवाभ्याम्, अस्मत् । मम (मे), आवयोः (नौ), अस्माकम्
(नः) । मयि, आवयोः, अस्मासु ।

न च वा—च, वा, इ, अह, एव, इन पाँचके योगमें पूर्वोक्त 'वाम्' नौ आदि आदेश

हाहैवयुक्ते । ८।१।२४। चादिपञ्चकयोगे नैते आदेशाः । स्युः । 'हरिस्त्वां मां च रक्षतु ।' 'कथं त्वां मां वा न रक्षेदि'त्यादि ॥ पश्यायैश्चानालोचने । ८।१।२५। अचाक्षुषज्ञानार्थैर्धातुभियोगे नैते आदेशाः स्युः । चेतसा त्वां समीक्षते । आलोचने तु—भक्तस्त्वा पश्यति चक्षुषा ॥ सपूर्वायाः प्रथमाया विभाषा । ८।१।२६। विद्यमानपूर्वात्प्रथमान्तादन्वादेशोऽप्येते आदेशा वा स्युः । 'भक्तस्त्वमप्यहं तेन हरिस्त्वां त्रायते स माम्' । त्वा, मेति वा ॥

चादिपञ्चकयोगे इति । पञ्चानामन्यतमेन योगे सतीत्यर्थः । एते आदेशा इति । एते वांनावाद्य आदेशा इत्यर्थः 'युष्मदस्मदोः षष्ठी' इत्यादिसूत्रेभ्यस्तदनुवृत्तेः । 'न चवा-हाहैवै' इति न्यासेनैव कार्ये सिद्धे युक्तग्रहणं नचैवादीनां साक्षाद्योगे सत्येव निषेधति । सति परंपरासंबन्धे वांनावादायः स्युरेव । हरिस्त्वां मां च रक्षतु । 'कथं त्वां मां वा न रक्षेदिति । अत्र 'त्वामौ द्वितीयायाः' इति न त्वामादेशौ चवयोः साक्षाद्योगात् । पश्यायैरिति दर्शनं पश्यः । दृशिर् प्रेक्षणे इत्यस्मादत् एव निपातनात् भावे शत्रु-त्ययः । 'पात्रा' इति पश्यादेशः पश्यो नाम दर्शनम् अर्थो येषां ते पश्यार्थास्तैरिति विग्रहः । आलोचनं चाक्षुषं ज्ञानम् । तद्विज्ञमनालोचनं ज्ञानम् तत्र विद्यमानैः दर्श-नार्थकैरित्यर्थः । अत एव ज्ञायते । पश्य इति दृशिना ज्ञानसामान्यं विवक्षितं अनालो-चने इति चाक्षुषपर्युदासात् । आलोचनेति । 'चाक्षुषज्ञानविषये तु भक्तस्त्वा पश्यति चक्षुषा । अत्र दृशिना योगेऽपि न त्वादेशनिषेधः । अनालोचने चाक्षुषज्ञानभिन्नज्ञाने सत्येवादेशानां निषेधादिति दिक् । सपूर्वाया इति । वांनावादयोऽनन्वादेशे पाक्षिकाः । अन्वादेशे तु नित्या इत्युक्तम् । अन्वादेशेऽपि क्वचिद्विकल्पार्थमिदम् । सहशब्दोत्र सलो-मक इतिवत् विद्यमानवाची । विद्यमानं पूर्वं यस्याः । 'तेन सहेति वा विग्रहः । तुल्य-योगवचनस्य प्रायिकत्वात् । प्रथमेत्यनेन तदन्तं गृह्यते । परयोरित्यनन्तरं युष्मदस्म-दोरिति शेषः । भक्तस्त्वमपीति । देवदत्तेति अध्याहार्यम् । हे देवदत्त ! त्वमपि भक्तः अहमपि भक्तः इत्यन्वयः । तेनेति । भक्तत्वेनेत्यर्थः । त्रायते पालयतीत्यर्थः । अत्र पूर्व-वाक्योपात्तयुष्मदस्मदर्थयोरिह पुनरुपादानादन्वादेशोऽयम् । अत्र तेनेत्येतत् पूर्वं विद्यमानं पदं, ततः परं हरिरिति प्रथमान्तं, ततः परस्य युष्मच्छब्दस्यान्वादेशोऽपि त्वादेशविकल्पः । तथा 'त्रायते' इति पूर्वं विद्यमानं पदं, ततः परं स इति प्रथमान्तं ततः परस्याऽस्मच्छब्दस्यान्वादेशोऽपि मादेशविकल्पः । 'त्रायते' इत्येतत् मणिमध्य-न्यायेनोभयत्र सम्बध्यते । ते निमित्तनिमित्तिनोः समानवाक्यस्थत्वं, स इत्यस्य विद्य-

नहीं हैं । पश्या—अचाक्षुषज्ञानार्थक धातुओंके योगमें पूर्वोक्त 'वाम्' 'नौ' आदि आदेश नहीं हैं । सपूर्वायाः—विद्यमान पूर्वक प्रथमान्तसे पर जो षष्ठ्यादि विशिष्ट युष्मद्-अस्मद् शब्द

सामन्त्रितम् । २।३।४८। सम्बोधने या प्रथमा तदन्तमामन्त्रितसंज्ञं स्यात् ॥ आ-
मन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् । ८।१।७२। अग्ने तव । देवाऽस्मान्पाहि ॥ नाऽऽ-
मन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम् । ८।१।७३। विशेष्यं समानाधिक-
रणे विशेषणं आमन्त्रिते परे नाऽविद्यमानवत् । हरे दयालो नः पाहि ॥ सुपात् ।
सुपाद् । सुपादौ । पादः पत् । ६।४।१३०। पाच्छब्दान्तं यदङ्गं भं तदवयवस्य
पाच्छब्दस्य पदादेशः । सुपदः । सुपदा । सुपाङ्ग्याम् ॥ अग्निमत् । अग्निमद् ।
अग्निमथौ । अग्निमथः । अग्निमङ्ग्याम् ॥ अनिदितां हल उपधायाः
क्विति । ६।४।२४। हलन्तानामनिदितामङ्गानामुपधाया नस्य लोपः किति, ङिति

मानपूर्वत्वं चोद्भूयम् । सामन्त्रितमिति । प्रातिपदिकार्थसूत्रोपात्ता प्रथमा 'सा' इत्यनेन प-
रामृश्यते संबोधनं च, तदुक्तं सम्बोधने या प्रथमेति । प्रथमाशब्देन च । तदन्तलाभः ।
विभक्तिश्चात् । अग्ने तवेत्यादि । 'अग्ने तव श्रवो दयः' इत्यृचि 'अग्ने' इत्यविद्यमानवत् ।
देवास्मानित्यत्र च देवशब्दोऽविद्यमानवत् । 'अग्ने नय' इत्यृचि अग्ने इत्यविद्यमानवत् ।
'अग्न इन्द्र वरुण' इत्यृचि अग्ने इत्यविद्यमानवदिति भावः । अत्र अग्ने तव देवास्मा-
नित्यत्र च युष्मदस्मदोः तेनसावादेशौ न भवतः । तवास्मानित्यनयोः पदात्परत्वाभा-
वात् । पादादौ स्थितत्वाच्च । नामन्त्रित इति । आमन्त्रितमविद्यमानवदित्यनुवर्तते, सा-
मान्यवचनमित्यनेन विशेष्यसमर्पकः शब्दो विवक्षितः । विशेष्यस्य विशेषणापेक्षया
सामान्यरूपत्वात् । तेन च विशेषणमाक्षिप्यते । समानाधिकरणे, इति तत्रान्वेति ।
समानमधिकरणं यस्येति विग्रहवाक्यम् । समानशब्दः एकत्वपरः । विशेष्यबोधक-
शब्देन अभेदसंसर्गेण एकार्थवृत्तित्वं विवक्षितम् । हरे दयालो इति । अत्र 'दयालो'
इति समानाधिकरणविशेषणे परे हरिशब्दो नाऽविद्यमानवत् । ततश्च दयालो इत्यस्या-
विद्यमानवत्त्वेऽपि हरे इति पदात् परत्वान्नसादेश इति भावः । सुपात्, सुपाद् । शोभनौ
पादौ यस्य इति विग्रहः । 'सुपाद् + सु' इत्यत्र अनुबन्धलोपे 'हृत्ङ्याभ्यो दीर्घात्सु-
तिस्यपृक्तं हल्' इति सस्य लोपे 'वावसाने' इति दस्य तत्त्वे च कृते 'सुपात्' इति ।
चर्त्वाभावपक्षे—'सुपाद्' इति । अनिदितामिति । इद्-ह्रस्वेकार इत्संज्ञको येषां तानि

उनको अन्वादेशमें भी पूर्वोक्त आदेश विकल्पसे हो । साम—सम्बोधनमें जो प्रथमा, तदन्त
जो प्रादिपदिक वह आमन्त्रितसंज्ञक हो । आम—पूर्वमें स्थित जो आमन्त्रित वह अविद्य-
मानवत् हो । नामन्त्रि—विशेष्यवाचक जो आमन्त्रित पद, वह समानाधिकरण विशेषणवाचक
के परे अविद्यमानवत् नहीं हो । पाद्—'पाद्'शब्दान्त जो भसंज्ञक अंग तदवयव जो 'पाद्'
शब्द उसको 'पद्' आदेश हो । अनि—हलन्त अनिदित अङ्गके उपधानकारका लोप हो

च । 'उगिदचा'मिति नुम् । संयोगान्तस्य लोपः । नस्य कुत्वेन ङः । प्राङ् ।
 प्राञ्चौ । प्राञ्चः ॥ अचः । ६।४।१३८। लुप्तनकारस्याऽञ्चतेर्भस्याऽकारस्य लोपः ।
 चौ । ६।३।१३८। लुप्ताऽकारनकारेऽञ्चतौ परे पूर्वस्याऽणो दीर्घः । प्राचः । प्राचा ।
 प्राग्भ्याम् ॥ प्रत्यङ् । प्रत्यञ्चौ । प्रत्यञ्चः । प्रतीचः । प्रत्यग्भ्याम् ॥ उदङ् ।
 उदञ्चौ । उदञ्चः । उद् ईत् ६।४।१३९। उच्छब्दात्परस्य लुप्ताऽकारस्याऽञ्चते-
 र्भस्याकारस्य ईत् । उदीचः । उदीचा । उदग्भ्याम् ॥ समः समि ६।३।९३।

इदिन्ति न इदिन्ति—अनिदिन्ति, तेषामनिदिताम् । प्राङ् । 'प्र+अन्च्' इत्यवस्थायाम् 'ऋत्विग्दधृक्स्निदिगुणिगञ्जुयुजिक्कुञ्चां च' इति किनि तस्य सर्वापहारे—
 (सर्वस्य लोपे) प्रत्ययलक्षणेन 'अनिदितां हल उपधायाः क्लिति' इति उपधानकारलोपे 'प्र अच्' इति स्थिते 'कृदतिङ्' इति किनः कृत्संज्ञकत्वात् 'प्र अच्' इत्यस्य 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इति कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ समागते तस्य 'सुडन-
 पुंसकस्य' इति सर्वनामस्थानसंज्ञायाम् 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' इति नुमि उमि गते मिच्चादन्यादचः परे 'प्र अन् च् सु' इति जाते सकारोत्तरवर्तिन उकारस्ये-
 त्संज्ञायां लोपे च 'हल्ङ्थादभ्यो दीर्घात्०' इति सुलोपे 'संयोगान्तस्य लोपः' इति चलोपे 'क्विप्रत्ययस्य कुः' इति नस्य नासिकास्थानसाभ्यात् कुत्वेन ङकारे 'अकः सवर्णे' इति दीर्घे प्राङ् इति रूपम् । प्राचः । 'प्र अच् शस्' इति स्थिते अत्र शस्येत्स-
 न्ज्ञायां लोपे च 'यचि भम्' इति भसन्ज्ञायाम् 'अचः' इति अच अकारस्य लोपे 'चौ' इति प्र-अकारस्य दीर्घत्वे संयोगे सस्य रुत्वे रस्य विसर्गत्वे च 'प्राचः' इति रूपम् । प्रत्यङ् । प्रति अन् च् इत्यवस्थायाम् 'ऋत्विग्दधृक्' इति किनि तस्य सर्वस्य लोपे 'इको यणचि' इति यणि 'अनिदितां हल उपधायाः क्लिति' इति नस्य लोपे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सावागते 'उगिदचाम्' इति नुमि उमि गते मिच्चा-
 दन्यादचः परे हल्ङ्थादिना सुलोपे चकारस्य संयोगान्तलोपे नुमो नकारस्य 'क्विप्र-
 त्ययस्य कुः' इति कुत्वेन ङकारे 'प्रत्यङ्' इति रूपम् । प्रतीचः । 'प्रति अन् च् शस्' इत्यवस्थायाम् 'अनिदिताम्' इति नलोपे कृते शकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'यचि भम्' इति भसन्ज्ञायाम् 'अचः' इत्यकारलोपे 'चौ' इति पूर्वस्याणो दीर्घत्वे सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गत्वे च 'प्रतीचः' इति रूपम् । उदङ् । 'उद् अन् च् सु' इति स्थिते, 'अनिदिताम्' इति नलोपे 'उगिदचाम्' इति नुमि, हल्ङ्थादिना सुलोपे संयोगान्त-

किं ङित् प्रत्ययके परे । अचः—लुप्तनकारक 'अञ्च्' धातुके भसंज्ञक अकारका लोप हो ।
 चौ—लुप्ताकार-नकारक 'अञ्च्' धातुके परे पूर्व 'अण्'को दीर्घ हो । उद्—उद् शब्दसे पर
 लुप्तनकारक 'अञ्च्' धातु सम्बन्धी भसंज्ञक अकारको 'ईत्' आदेश हो । समः—'व' प्रत्ययान्त

वप्रत्ययान्तेऽच्चतौ परे समः सम्यादेशः स्यात् । सम्यङ् । सम्यच्चौ । समीचः । सम्यग्भ्याम् । सहस्य सध्रिः । ६।३।९५। तथा । सध्रयङ् । सध्रयच्चौ । सध्रीचः । सध्रयग्भ्याम् । तिरसस्तिर्यलोपे । ६।३।९४। अलुप्ताकारेऽच्चतौ वप्रत्ययान्ते तिरसस्तिर्यादेशः । तिर्यङ् । तिर्यच्चौ । तिरश्चः । तिरश्चा । तिर्यग्भ्याम् ॥ नाऽञ्चैः पूजायाम् । ६।४।३०। पूजार्थस्याऽच्चतेरुपधाया नस्य लोपो न । प्राङ् । प्राञ्चौ । नलोपाऽभावादल्लोपो न । प्राञ्चः । प्राङ्भ्याम् । प्राङ्भु । प्राङ्भु ॥ एवं

लोपे कुत्वे च 'उदङ्' इति रूपम् । सम्यङ् । 'सम् अन् च्' किन् इत्यत्र 'समः समि' इति समः स्थाने सम्यादेशे विहिते, 'इको यणचि' इति यणि 'सम्यन् च् किन्' इति स्थिते किनः सर्वस्यापहारे 'अनिदिताम्' इति नलोपे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायास् सावागते नुमि हल्ङ्यादिना सुलोपे संयोगान्तलोपे कुत्वे च 'सम्यङ्' इति । समीचः 'सम् अन् च् शस्' इति दशायां शस्येऽसञ्ज्ञायां लोपे च 'अनिदिताम्' इति नलोपे 'समः समि' इति सम्यादेशे 'समि अच् अस्' इति जाते भसञ्ज्ञायाम् 'अचः' इत्यकारलोपे 'चौ' इति पूर्वस्याणो दीर्घे संयोगे च कृते, रुत्वविसर्गयोः 'समीचः' इति । -ध्रयङ् । 'सह अन् च्' इत्यत्र 'ऋत्विग्दधक्' इति किनि 'अनिदिताम्' इति नलोपे किनः सर्वस्यापहारे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सावागते 'सहस्य सध्रिः' इति सध्रयादेशे यणि, 'उगिदचाम्' इति नुमि; हल्ङ्यादिना सुलोपे चकारस्य संयोगान्तलोपे नकारस्य 'किन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वेन ङकारे 'सध्रयङ्' इति । तिर्यङ् । 'तिरस् अन् च्' इत्यत्र 'ऋत्विग्दधक्' इत्यादिना निवनि; तस्य सर्वस्यापहारे, 'अनिदिताम्' इति नलोपे 'तिरसस्तिर्यलोपे' इति तिरसस्तिर्यादेशे 'इको यणचि' इति यणि कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सावागते नुमि, हल्ङ्यादिना सुलोपे 'सध्रयन् च्' इति जाते चकारस्य संयोगान्तलोपे नकारस्य 'किन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वेन ङकारे 'तिर्यङ्' इति रूपम् । प्राङ् । 'प्र अन् च्' इति स्थिते 'ऋत्विग्दधक्' इति किनि; किनः सर्वापहारिलोपे 'अनिदिताम्' इति नलोपे प्राप्ते 'नाञ्चैः पूजायाम्' इति निषिद्धे, कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सावागते तस्य हल्ङ्यादिना लोपे चकारस्य संयोगान्तलोपे 'किन्प्रत्ययस्य कुः' इति नकारस्य ङकारे सवर्णदीर्घे 'प्राङ्' इति रूपम् । प्राङ्भु । 'प्राङ्भु' इति पूर्ववत्प्रसाध्य 'ङ्णोः कुक्कुक् शरि' इति वा कुकि 'आद्यन्तौ टकितौ' इति

(भिबन् प्रत्ययान्त) 'अञ्च' धातुके परे 'सम' को 'समि' आदेश हो । सह—'व' प्रत्ययान्त 'अञ्च' धातुके परे 'सह' को 'सध्रि' आदेश हो । तिर—अलुप्ताकारक 'व' प्रत्ययान्त 'अञ्च' धातुके परे 'तिरस्' को तिरि आदेश हो । नाञ्चैः—'पूजार्थक' 'अञ्च' धातुके उपधासंबन्धी

पूजार्थे—प्रत्यङ्ङादयः ॥ क्रुङ् । क्रुञ्चौ । क्रुञ्चः । क्रुङ्भ्याम् ॥ पयोमुक् । पयो-
मुग् । पयोमुचौ । पयोमुचः । पयोमुग्भ्याम् ॥ मह पूजायाम् । वर्तमाने पृष-
न्महद्वृहजगच्छतृवच्च । एते निपात्यन्ते, शतृवच्चैषां कार्यं स्यात् । उगित्वा-
न्नुम् । सान्तमहतः संयोगस्य । ६।४।१०। सान्तसंयोगस्य, महतश्च यो तका-
रस्तस्योपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने । महान् । महान्तौ । महान्तः ।
हे महन् । महतः । महद्भ्याम् । अत्वसन्तस्य चाऽधातोः । ६।४।१४।
अत्वन्तस्योपधाया दीर्घो, धातुभिन्नासन्तस्य चासम्बुद्धौ सौ । धीमान् । धीम-
न्तौ । धीमन्तः । हे धीमन् । शसादौ महद्वत् ॥ भातेर्डवतुः । डित्वसामर्थ्या-

किंत्वादन्त्यावयवे जाते 'क् ष्' संयोगेन चकारे 'प्राङ्ङु' इति । क्रुङ् 'क्रुञ्च-कौटि-
ल्याल्पीभावयोः' अस्मात् धातोः 'ऋत्विग्दष्टक्' इत्यादिना विचित्रि तस्य सर्वस्य
लोपे 'अनिदिताम्' इति नलोपे प्राप्ते 'ऋत्विग्दष्टक्' इत्यादिना निपातनान्नलोपा-
भावे कृते कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सौ प्रत्यये तस्य हल्ङ्यादिना लोपे चका-
रस्य संयोगान्तलोपे 'क्लिन्प्रत्ययस्य कुः' इति नकारस्य कुत्वेन ङकारे 'क्रुङ्' इति ।
पयोमुक् 'पयोमुक् + सु' इत्यत्र सोर्लोपे 'चोः कुः' इति चस्य कत्वे 'शलां जशोऽ-
न्ते' इति कस्य गावे 'वावसाने' इति गस्य कत्वे पयोमुक् । पक्षे—पयोमुग् ।
महान् । 'महत् + सु' इत्यत्र सकारोत्तरवर्त्युकारस्येत्सञ्ज्ञायां लोपे च 'हल्ङ्यादभ्यो०'
इति सस्य लोपे 'उगिदचाम्०' इति नुमि उमो लोपे मित्रत्वात् 'मिदचोऽन्त्यात्परः'
इत्यन्त्यादचः परे जाते 'महन् त्' इति स्थिते 'सान्तमहतः संयोगस्य' इत्युपधाया
दीर्घत्वे 'संयोगान्तस्य लोपः' इति तलोपे 'महान्' इति । धीमान् । 'धीमत् + सु'
अत्र 'सुडनपुंसकस्य' इति सर्वनामस्थानसञ्ज्ञायाम् 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽ-
धातोः' इति नुमि, उमि गते मित्रत्वादन्त्यादचः परे 'अत्वसन्तस्य' इत्युपधादीर्घत्वे-
हल्ङ्यादिना सोर्लोपे तकारस्य संयोगान्तलोपे 'धीमान्' इति । शत्रन्तस्य तु भवन्निति
भूधातोः 'वर्तमाने लट्' इति लटि, तस्य स्थाने 'लटः शतृशानचौ' इति शत्रादेशे
शकारस्येत्सञ्ज्ञायां लोपे च तथा ऋकारस्येत्सञ्ज्ञायां लोपे च 'भू + अत्' इति जाते
'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकसंज्ञायां 'कर्तरि शप्' इति शपि शकार-
पकारयोरित्सञ्ज्ञायां लोपे च 'भू अ अत्' इति स्थिते तत्र 'भू' इत्यस्य 'सार्वधातु-
कार्धधातुकयोः' इति ओकाररूपे गुणे कृते 'एचोऽयवायावः' इति अवादेशे 'भव् अ
नकारका लोप नहीं हो । वर्त—वर्तमान कालमें 'अति' प्रत्ययान्त पृषत्, वृहत् और जगत्
शब्द निपातित हो और 'शतृ' प्रत्ययवत् इनको कार्य हो । सान्त—सान्त संयोगका और
'महत्' शब्दका जो नकार उसकी उपधाको दीर्घ हो, असम्बुद्धि सर्वनामस्थानके परे । अत्व-
अत्वन्तकी उपधाको और धातुभिन्न जो असन्त उसकी भी उपधाको दीर्घ हो, सम्बुद्धिभिन्न

दभस्यापि टेलोपः । भवान् । भवन्तौ । शत्रन्तस्य तु भवन् ॥ उभे अभ्यस्तम् ।
 [६।१।५] षाष्ठद्वित्वप्रकरणे ये द्वे विहिते ते उभे समुदिते अभ्यस्तसंज्ञे स्तः ।
 नाभ्यस्ताच्छतुः । [७।१।७] अभ्यस्तात्परस्य शतुर्मु न । ददत् । ददतौ ॥
 जक्षित्यादयः षट् । [६।१।६] षट् धातवोऽन्ये, जक्षितिश्च सप्तम एतेऽभ्यस्तसंज्ञाः
 स्युः । जक्षत् । जक्षतौ । जक्षतः ॥ एवं-जाग्रत् । दरिद्रत् । शासत् । चका-
 सत् । 'दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः' । 'वेवीङ् वेतिना तुल्ये' । -एतौ छान्दसौ ।
 दीध्यत् । वेव्यत् ॥

जक्षि जागृ दरिद्रा शास् दीधीङ् वेवीङ् चकास्तथा ।

अभ्यस्तसंज्ञा विज्ञेया धातवो मुनिभाषिताः ॥ १ ॥

गुप् । गुब् । गुपौ । गुपः । गुब्भ्याम् ॥ त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कश्च
 [३।२।६०] त्यदादिषूपपदेषु अज्ञानार्थाद् दृशोर्धातोः कञ् स्यात्, चात्किन् ॥ आ
 सर्वनाम्नः । [६।३।९१] सर्वनाम्न आकारोऽन्तादेशः स्यात् दृग्दृश्वत्षु । ताट्क् ।

अत्' इति भूते 'अतो गुणे' इति अकारद्वयस्य स्थाने पररूपे संयोगे च कृते 'भवत्'
 इति निष्पन्नम् । तस्य कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सावागते तस्य हल्ङ्थादिना
 लोपे 'उगिदचाम्' इति नुमि, उमि गते मित्त्वादन्त्यादचः परे अत्वन्तत्वाभावात्
 दीर्घाभावे तकारस्य संयोगान्तलोपे 'भवन्' इति । ददत् । 'ददत् + सु' इत्यत्र 'उभे
 अभ्यस्तम्' इति अभ्यस्तसंज्ञायाम् 'उगिदचाम्' इति नुमि प्राप्ते 'नाभ्यस्ता-
 च्छतुः' इति नुमो निषेधे हल्ङ्थादिना सुलोपे 'सुसिङ्गन्तं पदम्' इति पदसंज्ञायां
 'झलां जशोऽन्ते' इति तकारस्य दकारे 'वावसाने' इति दकारस्य तकारे 'ददत्'
 इति । चत्वाभावपक्षे—'ददद्' इति रूपम् । जक्षित्यादय इति । जक्षिति पृथक् पदम् ।
 इति शब्देन जक्षिरेव परामृश्यते । तत्र जक्षितिः आदिर्येषामिति तद्गुणसंविज्ञान-
 वदुद्गृहीतदेतदाह-षट् धातवोऽन्ये इति । जक्षत् । 'जक्षत् + सु' अत्र 'उगिदचाम्'
 इति नुमागमे प्राप्ते 'जक्षित्यादयः षट्' इति अभ्यस्तसंज्ञायाम् 'नाभ्यस्ताच्छतुः'
 इति नुमो निषेधे हल्ङ्थादिना सुलोपे पदसंज्ञायाम् 'झलां जशोऽन्ते' इति
 जश्त्वेन तकारस्य दकारे तस्य 'वावसाने' इति चत्वे 'जक्षत्' इति । पक्षे—
 'जक्षद्' इति । ताट्क्, ताट्ग । 'ताट्श' इति स्थिते 'त्यदादिषु दृशोऽनालोचने

'सु'के परे । उभे-षष्ठाध्यायके द्वित्वप्रकरणमें जो द्वित्व विधान किये गये हैं, वे (दोनों) द्वित्व
 समुदित (संमिलित) अभ्यस्तसंज्ञक हो । नाभ्य—अभ्यस्तसंज्ञकसे पर 'शतृ'को नुम् नहीं
 हो । जक्षि—'जागृ' आदि (वक्ष्यमाण) छै धातु और सातवां 'जक्ष' धातु अभ्यस्तसंज्ञक
 हो । त्यदा—त्यदादि उपपद रहने पर अज्ञानार्थक 'दृश्' धातुसे 'कञ्' प्रत्यय हो और
 चकारात् 'किन्' प्रत्यय भी हो । आसर्व—सर्वनामसंज्ञक शब्दको आकारान्त आदेश हो

ताह्ग् । ताह्शौ । ताह्शः । ताह्ग्भ्याम् ॥ 'ब्रश्चे'ति षः । जश्त्वचत्वे । विट् । विड् ।
 विशौ । विशः । विड्भ्याम् । नशेर्वा । ८।२।६३। नशेः कवर्गोऽन्तादेशो वा पदान्ते । नक् । नग् । नट् । नड् । नशौ । नशः । नग्भ्याम् । नड्भ्याम् ॥ स्पृशो-
 ऽनुदके क्विन् । ३।२।५८। अनुदके सुप्युपपदे स्पृशेः क्तिन् । घृतस्पृक् । घृत-
 स्पृग् । घृतस्पृशौ । घृतस्पृशः ॥ दधृक् । दधृग् । दधृषौ । दधृषः । दधृग्भ्याम् ॥
 रत्नमुट् । रत्नमुड् । रत्नमुषौ । रत्नमुषः । रत्नमुड्भ्याम् ॥ षट् । षड् । षड्भिः ।

कञ्च' इति क्तिनि तस्य सर्वस्य लोपे कृते 'आ सर्वनाम्नः' इति तद्शब्दस्याका-
 रान्तादेशे सवर्णदीर्घे च 'ताह्श्' इति रूपम्, तस्य 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इति
 प्रातिपदिकसंज्ञायां सावागते तस्य हल्ङ्थादिना लोपे 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इत्य-
 स्यासिद्धत्वात् 'ब्रश्चभ्रस्जसृजमृ०' इत्यादिना षत्वे तस्य 'झलां जशोऽन्ते' इति
 ङत्वे, 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वेन गकारे 'वावसाने' इति चत्वेन पक्षे ककारे
 'ताह्क्' इति । तदभावे 'ताह्ग्' इति । षिट् । 'विश्-प्रवेशने' धातोः क्तिपि, कृदन्त-
 त्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ हल्ङ्थादिना लोपे 'ब्रश्चभ्रस्ज०' इत्यादिना षत्वे 'झलां
 जशोऽन्ते' इति जश्त्वेन ङत्वे 'वावसाने' इति चत्वेन पक्षे टत्वे 'विट्' इति;
 चत्वाभावे—'विड्' इति । नक् । 'गश्-अदर्शने' क्तिप् । नश् इति रूपम् । ततः सौ,
 हल्ङ्थादिना सोलौपे 'ब्रश्च' इति षत्वे 'झलां जशोऽन्ते' इति ङत्वे तस्य 'नशेर्वा'
 इति कुत्वेन गत्वे चत्वेन कत्वे 'नक्' इति । पक्षे 'नग्' इति । कुत्वाभावपक्षे—'नट्',
 'नड्' इति । घृतस्पृक् । घृतं स्पृशतीति विग्रहे 'स्पृशोऽनुदके क्तिन्' इति क्विनि,
 तस्य सर्वस्य लोपे 'उपपदमतिङ्' इति उपपदसमासे सुब्लुकि । समासत्वात्प्राति-
 पदिकसंज्ञायां सौ कृते 'घृतस्पृश्+सु' इति स्थिते सोर्हल्ङ्थादिना लोपे 'क्वि-
 न्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वस्यासिद्धत्वात् पूर्व 'ब्रश्च०' इति षः । तस्य जश्त्वेन ङः ।
 तस्य 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति गत्वे 'वावसाने' इति चत्वेन कत्वे 'घृतस्पृक्'
 इति । पक्षे 'घृतस्पृग्' इति । दधृक् । 'ऋत्विग्दधृक्' इति क्विनि, तस्य सर्वस्य
 लोपे निपातनाद्वित्वे अभ्यासकार्ये निष्पन्नकृदन्तदधृष्शब्दात् सावागते, तस्य
 हल्ङ्थादिना लोपे जश्त्वं । प्रति कुत्वस्यासिद्धत्वात्प्रथमं 'झलां जशोऽन्ते' इति
 जश्त्वेन ङकारे तस्य 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वेन गकारे 'वावसाने' इति वा
 चत्वेन ककारे 'दधृक्' इति । चत्वाभावपक्षे 'दधृग्' इति । रत्नमुट् । 'रत्नमुष्+सु'
 अत्र सोलौपे 'झलां जशोऽन्ते' इति ङत्वे 'वावसाने' इति टकारे 'रत्नमुट्' इति ।
 पक्षे—'रत्नमुड्' इति । अत्र क्तिन्प्रत्ययाभावान्न कुत्वम् । षट् । षट् शब्दो नित्यं

दृग् 'दृश्'के परे । और 'वतु' प्रत्ययके परे । नशेर्वा—'नश्' धातु को कवर्गान्त आदेश हो
 विकल्पसे, पदान्तमें । स्पृशो—'उदक्' शब्द भिन्न' सुबन्त उपपद रहने पर 'स्पृश्' धातुसे,

षड्भ्यः २ । षण्णाम् । षट्सु । षट्सु । यत्तु प्राचा षण्णां षड्णामित्युदाहृतं, तत्प्रा-
मादिकमेव, प्रत्यये नित्यवचनात् ॥ रुत्वं प्रति षत्वस्यासिद्धत्वात्ससञ्जुषोरिति रुत्वम् ।
वोरुपधाया दीर्घ इक्कः । ८।२।७६। रेफवान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घः पदा-
न्ते । पिपठीः । पिपठिषौ । पिपठिषः । पिपठीभ्याम् ॥ नुम्विसर्जनीयशब्दवा-
येऽपि । ८।३।५८। एतैः प्रत्येकं व्यवधानेऽपीण्कुभ्यां परस्य सस्य मूर्धन्यादेशः

दहुवचनान्तः । तेन पष्शब्दाज्जसि, पप् + जस् इति स्थिते 'ष्णान्ताः षट्' इति
पट्संज्ञायाम् 'पडभ्यो लुक्' इति जसो लुकि, 'झलां जशोऽन्ते' इति षकारस्य
डकारे तस्य चत्वे च 'पट्' इति, पच्चे—'पड्' इति । एवं शसि परेऽपि बोध्यम् ।
षण्णाम् 'पप् + आम्' अत्र 'ष्णान्ताः पट्' इति पट्संज्ञायां 'पट्चतुर्भ्यश्च' इति
नुटि टित्वाद् आम आद्यावयवे जाते उटो लोपे पदसंज्ञायां 'झलां जशोऽन्ते' इति
षकारस्य डकारे 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' इति डकारस्यानुनासिके णकारे 'पुना
पुट्' इति नामो नकारस्य पुट्त्वे 'षण्णाम्' इति । न च 'न पदान्ताद्दोः' इति
पुट्वनिषेध इति वाच्यम् । 'अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्' इति तत्र पर्युदा-
सात् । पट्सु, षट्सु 'पप् सुप्' अत्र षकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'स्वादिभ्वसर्वनाम-
स्थाने' इति पदसंज्ञायां 'झलां जशोऽन्ते' इति जश्त्वेन षकारस्य डकारे
'पड् + सु' इति जाते 'डः सि धुट्' इति सकारस्य धुडागमे टित्वात् 'आद्यन्तौ
टकितौ' इति आद्यावयवे जाते उटो लोपे 'खरि च' इति धकारस्य तकारे पुनश्च
'खरि च' इति डकारस्य टकारे 'षट्सु' इति । धुटोऽभावे 'पट्सु' इति । यत्तु प्राचेति ।
'पप् + आम्' इत्यवस्थायां पट्संज्ञायां 'पट्चतुर्भ्यश्चे'ति नुडागमे 'झलां जशोऽन्ते' इति
पस्य डत्वे 'पड् नाम्' इति जाते 'यरोऽनुनासिके' इत्यादिना 'षण्णाम्' 'षड्णाम्'
इति रूपद्वयं भवतीति प्राचीनैरुक्तं ग्रामादिकं भ्रमासक्तम् इति भावः । आमः
प्रत्ययत्वेन 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' इति वार्तिकेनानुनासिकस्य नित्यप्रवृत्तित्वेन
'पड्णाम्' इत्यस्यासिद्धत्वात् । न चामः प्रत्ययत्वेऽपि नुटा व्यवधानादनुनासिकवि-
कल्पस्यैव प्राप्तिः व्यवहितप्रत्ययपरकत्वेन वार्तिकाप्रवृत्तौ अनुनासिकनित्यताया अश-
क्यत्वादिति चेन्न । यदागमन्यायेन नुटोऽपि प्रत्ययत्वावच्छिन्नत्वेन प्रत्ययत्वावच्छि-
न्नप्रत्ययपरकत्वेन नित्यानुनासिकस्याबाधत्वमिति भावः । पिपठीः । 'पिपठिप् + सु'
इत्यत्र सोर्लोपे, रुत्वे कर्तव्ये 'पूर्वत्रासिद्धम्' इति षत्वस्यासिद्धत्वाद् 'ससञ्जुषो रुः'
इति रुत्वे उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'पिपठिर्' इति जाते 'वोरुपधाया दीर्घ इक्कः'
इति उपधाया इकारस्य दीर्घे 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति रेफस्य विसर्गत्वे

क्विन् प्रत्यय हो । वोरु—रेफान्त और वान्त धातुकी उपधाके 'इक्' को दीर्घ हो, पदान्तमें ।
नुम्-नुम्, विसर्जनीय और 'शर्' इनमें प्रत्येकके व्यवधान होने पर भी इण् और कवर्गसे

स्यात् । ध्रुत्वेन पूर्वस्य षः । पिपठीष्णु । वा शरि । पिपठीःषु ॥ चिक्रीः । चिक्री-
षौ । चिक्रीर्षः । चिक्रीर्षु ॥ विद्वान् । विद्वांसौ । हे विद्वन् । वसोः सम्प्रसार-
णम् । ६।४।१३१। वस्वन्तस्य भस्य सम्प्रसारणम् । विदुषः । 'वसुक्षेस्वि'ति दत्वम् ।
विद्वद्भ्याम् ॥ पुंसोऽसुङ् । ७।१।८९। पुंसोऽसुङ् स्यात् सर्वनामस्थाने । पुमान् ।
हे पुमन् । पुमांसौ । पुंसः । पुंभ्याम् । पुंसु ॥ 'ऋदुशनै'त्यनङ् । उशना । उश-

'पिपठीः' इति रूपम् । पिपठीष्णु । 'पिपठिस् + सुप्' अत्र 'हलन्त्यम्' इति पकारस्ये-
त्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इति पदसंज्ञायां 'सस-
ञ्जुषो रुः' इति सस्य रुत्वे उकारलोपे 'वोरूपधाया दीर्घ इकः' इत्युपधाया दीर्घत्वे
'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति रेफस्य विसर्गत्वे 'पिपठीः सु' इति जाते 'विसर्जनी-
यस्य सः' इति विसर्गस्य सत्वे 'नुम्विसर्जनीयशब्दवायेऽपि' इति शब्दवायेऽपि
सुप्प्रत्ययस्य पत्वे 'ष्टुना ष्टुः' इति पूर्वस्य सकारस्य पत्वे 'पिपठीष्णु' इति । पच्चे-
'वा शरि' इति विसर्गस्य विसर्गे 'नुम्विसर्जनीय' इति विसर्गव्यवधानेऽपि पत्वे
'पिपठीःषु' इति । चिक्रीः । 'चिक्रीर्ष + सु' अत्र सोर्लोपे पकारस्य असिद्धत्वात्सकार-
बुद्ध्या 'रात्सस्य' इति सलोपे रेफस्य विसर्गत्वे च रूपम् । विद्वान् । 'विद्वस् + सु'
अत्र सोर्लोपे 'प्रत्ययलोपे' इति प्रत्ययलक्षणे 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः'
इति उपधाया दीर्घत्वे 'संयोगान्तस्य लोपः' इति सलोपे 'विद्वान्' इति रूपम् ।
विदुषः । 'विद्वस् + शस्' अत्र 'लशक्तद्धिते' इति शकारस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः'
इति लोपे 'यचि भम्' इति भसंज्ञायाम् 'वसोः सम्प्रसारणम्' इति वस्य स्थाने
उकाररूपे सम्प्रसारणे कृते 'विद् उ अस् अस्' इति जाते 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्व-
रूपैकादेशे 'विदुस् + अस्' इति जाते 'आदेशप्रत्यययोः' इति प्रत्ययावयवात् सस्य
पत्वे संयोगे च कृते 'विदुषस्' इति भूते अन्त्यसकारस्य 'ससञ्जुषो रुः' इति रुत्वे
उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति रेफस्य विसर्गत्वे 'विदुषः'
इति रूपम् । पुमान् । 'पुंस् + सु' इत्यत्र 'पुंसोऽसुङ्' इत्यसुङि विहिते 'ङिच्च'
इति अन्तिमसकारस्य स्थाने जाते 'पुमसुङ् + सु' इति भूते 'हलन्त्यम्' इति ङका-
रस्य 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इति उकारस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति उभयो-
र्ङकारोकारयोर्लोपे 'पुमस् + सु' इति स्थिते सोर्हल्ङादिना लोपे प्रत्ययलक्षणे 'उगि-
दचाम्' इति नुमि-उमि गते मिच्चादन्त्यादचः परे 'सान्तमहतः संयोगस्य' इति
उपधादीर्घे संयोगान्तलोपे 'पुमान्' इति । उशना । 'उशनस् + सु' अत्र ऋदुशनस्पुरुदंसो-
ऽनेहसाच्च' इति अनङि 'ङिच्च' इत्यन्तस्य सः स्थाने कृते ङकारस्येत्संज्ञायां लोपे च

पर सकारको मूर्धन्य (पकार) आदेश हो । वसोः—वस्वन्त भसंज्ञकको संप्रसारण हो ।
पुंसो—'पुंस्'को असुङ् आदेश हो, सर्वनामस्थानके परे ।

नसौ । अस्य सम्बुद्धौ वाऽनङ्, नलोपश्च वा वाच्यः । हे उशन ! ।
हे उशनन् ! । हे उशनः ! । उशनोभ्याम् ॥ अनेहा । अनेहसौ । अनेहसः ।
हे अनेहः ॥ वेधाः । वेधसौ । वेधसः । वेधोभ्याम् ॥ अदस औ सुलोपश्च
[७।२।१०७] अदस औकारोऽन्तादेशः स्यात् सौ परे सुलोपश्च । 'तदो'रिति सः ।
असौ ॥ औत्वप्रतिषेधः साकृच्छकस्य वा वक्तव्यः । प्रतिषेधपक्षे—सादुत्वं
च । असकौ । असुकः । त्यदाद्यत्वं । पररूपत्वम् । वृद्धिः ॥ अदसोसेर्दादु दो

अकारस्योच्चारणार्थत्वात्तस्मिन् गते 'उशनन् सु' इति स्थिते 'सुडनपुंसकस्य' इति
सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' इति नान्तोपधायाः दीर्घत्वे 'हल्-
ङ्यादभ्यो दीर्घात्' इति सोलौपे 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपे 'उशना'
इति । हे उशन । हे उशनस् + सु' अत्र सोलौपे 'अस्य सम्बुद्धौ वाऽनङ् नलो-
पश्च वा वाच्यः' इति वार्तिकेन अनङि कृते नलोपे च कृते 'हे उशन' इति । वाग्रह-
णान्नलोपाऽभावे 'हे उशनन्' इति । अनङादेशाभावे सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गत्वे च
कृते 'हे उशनः' इति । उशनोभ्याम् । 'उशनस् + भ्याम्' अत्र 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने'
इति पदसंज्ञायां 'ससञ्जपो रुः' इति सकारस्य रुत्वे 'हशि च' इत्युत्वे 'आद्गुणः'
इति गुणे च कृते 'उशनोभ्याम्' इति । अनेहा । 'अनेहस् + सु' अत्र 'ऋदुशनस्पुरु-
दंसोऽनेहसाञ्च' इत्यनङि द्वित्वादन्त्यस्य स्थाने कृते अनुबन्धलोपे हल्ङ्यादिना
सोलौपे 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' इत्युपधाया दीर्घत्वे 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य'
इति नलोपे 'अनेहा' इति रूपम् । वेधाः । 'वेधस् + सु' अत्र 'अत्वसन्तस्य चाधातोः'
इत्यसन्तत्वाद्दीर्घे सोलौपे च कृते रुत्वविसर्गौ 'वेधाः' । हे वेधः । अत्र 'असम्बुद्धौ'
इत्युक्तेर्न दीर्घः । असौ । 'अद् + सु' इत्यत्र 'अदस् औ सुलोपश्च' इति सस्य स्थाने
औत्वे सलोपे च विहिते, अद् औ इति जाते 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' इति दस्य
सत्वे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ च कृतायाम् 'असौ' इति सिद्धयति । औत्वप्रतिषेध इति ।
'अदस औ सुलोपश्च' इत्यत्र अदस् शब्देन तन्मध्यपतितन्यायेन 'अदकस्' शब्दस्या-
ऽपि ग्रहणादौत्वे प्राप्ते विकल्पेन तत्प्रतिषेधो वक्तव्यः । 'तदोः सः सौ' इति दकारस्य
सकारे कृते तस्मात्सकारात्परस्य अकारस्य उकारश्च वा वक्तव्य इति वार्तिकार्थः ।
ततश्च 'अदकस् + स' इति स्थिते औत्वाभावे दस्य सत्वे सति सकारात्परस्य
अकारस्य उत्वे सति त्यदाद्यत्वे, पररूपत्वे, रुत्वे विसर्गे च कृते 'असुकः' इति
रूपस्य सिद्धिः । औत्वप्रतिषेधाभावे 'अदकस् + स्' इति स्थिते सकारस्यौत्वे,

अस्य—उशनस् शब्दको संबुद्धिके परे विकल्पसे अनङ् आदेश हो, और नका लोप
भी विकल्पसे हो । अदस—'अदस्' शब्दको सुके परे औकारान्त आदेश हो और सुलोप भी
हो । औत्व—भक्तृ विशिष्ट अदस् शब्दको औत्वका प्रतिषेध हो—तथा सकारोत्तर—अकारको
उत्त्व भी हो विकल्पसे । अदस—असान्त अदस शब्दसम्बन्धी दकारसे पर उत्-ऊत् हो

मः । ८।२।८०। अदसोऽसान्तस्य दात्परस्य उदूतौ स्तो, दस्य मश्च । आन्तरतम्याद् ह्रस्वस्य उः । दीर्घस्य ऊः । अमू । 'जसः शी' । एत ईद् बहुवचने । ८।२।८१। अदसोऽसान्तस्य दात् परस्यैत ईत् , दस्य च मो, बहुर्थोक्तौ । अमी । 'पूर्वत्रासिद्ध-मि'ति विभक्तिकार्यं प्राक् , पश्चादुत्वमत्वे । अमुम् । अमू । अमून् । मुत्वे कृते विसं-ज्ञायां 'ना'भावः । न मु ने । ८।२।३। 'ना'भावे कर्तव्ये, कृते च नाभावे नाऽसिद्धः । अमुना । अमूभ्याम् । अमीभिः । अमुष्मै । अमीभ्यः । अमुष्मात् । अमुष्य । अमुयोः । अमीषाम् । अमुष्मिन् । अमुयोः । अमीषु ॥
इति हलन्ताः पुंलिङ्गाः ।

सुलोपे, दस्य सत्वे 'असुकौ' इति रूपं भवति । अम् । 'अदस् + औ' अत्र 'त्यदादीनामः' इत्यकारान्तादेशे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'अद + औ' इति जाते 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ कृतायां 'अदौ' इति भूते 'अदसोऽसेर्दादुदो मः' इति औकारस्य उकारे दस्य मत्वे च 'अमू' इति रूपं सिद्ध्यति । अमी 'अदस् + जस्' अत्र 'त्यदादीनामः' इत्यकारान्तादेशे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'अद + जस्' इति स्थिते 'जसः शी' इति जसः स्थाने श्यादेशे शकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'आद्गुणः' इति गुणे 'अदे' इति जाते 'एत ईद् बहुवचने' इति एकारस्य ईकारे दस्य च सत्वे 'अमी' इति । अमुना । 'अदस् + टा' अत्र त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे च 'अदसोऽसेर्दादुदो मः' इति अकारस्य उत्वे दस्य च मत्वे 'अमु + टा' इति जाते नाभावे कर्तव्ये 'न मु ने' इत्यनेन मुत्वस्यासिद्धत्वाभावबोधनात् 'शेषोऽध्यसखि' इति विसंज्ञायाम् 'आडो नाऽ-स्त्रियाम्' इति टा इत्यस्य नादेशे 'अमुना' इति रूपं सिद्धम् । न च मुत्वस्यासिद्ध-त्वात् 'सुपि च' इति दीर्घः स्यादिति वाच्यम् । 'न मु ने' इत्यनेन कृते च नाभावे नासिद्धत्वमित्यस्यापि बोधनात् । इति हलन्तपुंलिङ्गप्रकरणम् ।

(ह्रस्वको ह्रस्व, दीर्घको दीर्घ) तथा दकारको मकार आदेश हो । एत — असान्त अदस् शब्दसम्बन्धी दकारसे पर एकारको ईत् हो तथा दकारको मकार आदेश हो, बहुर्थ में । न मु ने — 'ना' भाव कर्तव्य हो या कर भी लिया गया हो तो भी 'मु' भाव असिद्ध नहीं हो ।

अदस शब्द पु० — असौ, अमू, अमी । अमुम्, अमू, अमून् । अमुना, अमूभ्याम्, अमीभिः । अमुष्मै, अमूभ्याम्, अमीभ्यः । अमुष्मात्, अमूभ्याम्, अमीभ्यः । अमुष्य, अमुयोः, अमीषाम् । अमुष्मिन्, अमुयोः, अमीषु । नपुंसकमे — अदः, अमू अमूनि । पुनस्तद्वत् । शेषं पुंवत् । अदस् शब्द स्त्रीलिङ्गमे — असौ, अमू, अमूः । अमूम्, अमू, अमूः । अमुया, अमूभ्याम् अमूभिः । अमुष्यै, अमूभ्याम्, अमूभ्यः । अमुष्याः, अमूभ्याम्, अमूभ्यः । अमुष्याः, अमुयोः, अमूषाम् । अमुष्याम्, अमुयोः, अमूषु ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें हलन्तपुंलिङ्ग समाप्त हुआ ।

अथ हलन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ।

नहो धः । ८।२।३४। नहो हस्य धः स्यात् ऋलि, पदान्ते च । नहिवृत्तिवृ-
धिव्यधिरुचिसहितनिषु कौ । ६।३।११६। क्तिवन्तेष्वेषु पूर्वपदस्य दीर्घः । उपा-
नत् । उपानद् । उपानहौ । उपानहः । उपानद्भ्याम् । उपानत्सु । निपातनाइलोप-
पत्वे । क्तिन्नन्तत्वात्कुत्वेन हस्य धः । जश्त्वचत्वे उष्णिक् । उष्णिग् । उष्णिहौ ।
उष्णिग्भ्याम् । द्यौः । दिवौ । दिवः । द्युभ्याम् ॥ गीः । गिरौ । गिरः । एवं-पूः ॥
चतस्रः २ । चतसृभिः । चतसृभ्यः २ । चतसृणाम् । चतसृषु ॥ का । के । काः ।

उपानत् । 'उपानह् + सु' इति स्थिते स्रोतकारे गते 'स्' इत्यस्य 'हल्ङ्यधाभ्यो
दीर्घात्०' इति लोपे 'नहो धः' इति हकारस्य धत्वे 'झलां जशोऽन्ते' इति धका-
रस्य दत्वे 'वावसाने' इति चत्वे 'उपानत्' इति । पक्षे—'उपानद्' इति । उष्णिक् ।
उत्पूर्वात् णिह् धातोः 'ऋत्विग्दृक्०' इत्यादिना किनि तस्य सर्वस्य लोपे निपात-
नाद् दलोपे पत्वे च निष्पन्नः—उष्णिह् शब्दः । कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सावागते
तस्य हल्ङ्यधादिना लोपे 'क्तिन्नन्तस्यस्य कुः' इति कुत्वेन हकारस्य धत्वे 'झलां जशो-
ऽन्ते' इति जश्त्वेन दत्वे 'वावसाने' इति चत्वेन वा कत्वे 'उष्णिक्' इति । पक्षे—
'उष्णिग्' इति । द्यौः । 'दिव् + सु' इत्यत्र 'दिव औत्' इति वकारस्य औकारे 'इको
यणचि' इति यणि सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गात्वे च 'द्यौः' इति सिद्धम् । द्युभ्याम् ।
'दिव्—भ्याम्' इत्यत्र 'दिव उत्' इति वस्योत्त्वे 'इको यणचि' इति यणि 'द्युभ्याम्'
इति रूपं सिद्धम् । गीः । 'गृ—निगरणे' क्तिप् 'ऋत् इद्धातोः' इति इत्त्वम् , 'उरण्
रपरः' इति रपरम् । गिरशब्दात्सुब्रुत्पत्तिः, सोल्लोपः, 'बोरूपधाया दीर्घ इकः' इति
दीर्घे, रेफस्य विसर्गः, इति भावः । चतस्रः । 'चतुर् + जस्' इत्यत्र 'त्रिचतुरोः स्त्रियां
तिसृचतसृ' इति चतुर्शब्दस्य चतस्रादेशे विहिते जसो जकारस्य 'चुटू' इतीत्संज्ञा-
ज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे च 'अचि र ऋतः' इति ऋकारस्य रेफत्वे, सस्य
रुत्वे रेफस्य विसर्गात्वे च कृते 'चतस्रः' इति सिद्धम् । एवं शस्यपि—'चतस्रः' इति ।
चतसृणाम् । 'चतुर् + आम्' इति स्थिते 'त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ' इति चतस्रा-
देशे 'चतसृ + आम्' इति जाते अत्र 'अचि र ऋतः' इति ऋकारस्य रेफादेशे प्राप्ते
'नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन' इति पूर्वविप्रतिषेधेन तं बाधित्वा 'ह्रस्व-
नद्यापो नुट्' इति नुटि, उटि गते टित्वादाद्यावयवे जाते 'चतसृ + नाम्' इति स्थिते
'नामि' इति दीर्घे प्राप्ते 'न तिसृचतसृ' इति निषिद्धे 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्'

न हो—'नह्' धातुके हकारको धकार हो, झल्के परे पदान्तमें । नहि—किबन्त नह्, वृत्,

सर्वावत् ॥ यः सौ । ७।२।११०। इदमो दस्य यः स्यात्सौ । इदमो मः । इयम् ।
 त्यदाद्यत्वम् । टाप् । 'दश्चेति' मः । इमे । इमाः । इमाम् । इमे । इमाः । अनया ।
 हलि लोपः । आभ्याम् । आभिः । अस्यै । अस्याः २ । अनयोः २ । आसाम् ।
 अस्याम् । आसु । अन्वादेशे तु-एनाम् । एने । एनाः । एनया । एनयोः २ ॥
 'ऋत्विगा'दिना सृजेः किन्, अमागमश्च निपात्यते 'स्रक्' । स्रजौ । स्रजः । स्रग्भ्याम् ॥
 त्यदाद्यत्वे-टाप् । स्या । त्ये । त्याः । एवम्—तद् । यद् । एतद् ॥ वाक् । वाग् ।
 वाचौ । वाचः । वाग्भ्याम् ३ ॥ अप्शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः । 'अपृत्ति'ति दीर्घः ।

इति णत्वे 'चतसृणाम्' इति रूपं सिद्धम् । इयम् । 'इदम् + स्' इति स्थिते 'यः सौ' इति दस्य स्थाने यकारादेशे कृते 'इयम् + स्' इति जाते । 'त्यदादीनामः' इत्य-
 कारादेशे प्राप्ते तं बाधित्वा 'इदमो मः' इति मकारस्य मकारादेशे कृते 'हल्ङ्यथाभ्यो दीर्घात्' इति सलोपे 'इयम्' इति सिद्धम् । अनया । 'इदम् + टा' इत्यत्र त्यदाद्यत्वे, पररूपत्वे टापि, 'इदा + टा' इति जाते 'सुट्' इति टकारस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे सवर्णदीर्घे 'इदा + आ' इति जाते 'अनाप्यकः' इतीदम् इद्भागस्य अना-
 देशे 'अना आ' इति जाते 'आङि चापः' इत्यावन्ताङ्गस्यैकारे कृते 'एचोऽयवायावः' इत्यादेशे संयोगे च कृते 'अनया' इति रूपम् । आभ्याम् । 'इदम् + भ्याम्' अत्र त्यदाद्यत्वे, पररूपत्वे, टापि अनुबन्धलोपे सवर्णदीर्घे 'इदा + भ्याम्' इति जाते 'हलि लोपः' इति इद्भागस्य लोपे कृते 'आभ्याम्' इति । आसाम् । 'इदम् + आम्' इत्यत्र त्यदाद्यत्वे, पररूपत्वे च कृते टापि, सवर्णदीर्घे 'इदा + आम्' इति जाते, तत्र 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' इति सुटि, उटि गते, टित्वादाद्यावयवे जाते 'हलि लोपः' इति इद्भा-
 गस्य लोपे 'आसाम्' इति रूपम् । स्रगिति । 'स्रक्' शब्दात् विवन्नन्तात् सौ उकारस्ये-
 त्संज्ञायां लोपे 'अपृक्त एकाल् प्रत्ययः' इति सकारस्याऽपृक्तसंज्ञायां 'हल्ङ्यथाभ्यो' इति सलोपे 'झलां जशोऽन्ते' 'वावसाने' इति वा प्रवृत्तौ स्रक् स्रग् इति रूपद्वयं साधु । स्रग्भ्यामिति । 'स्रक् + भ्याम्' इत्यवस्थायां 'झलां जश् झशि' इति कस्य गत्वे स्रग्भ्यामिति सिद्धम् । स्या । 'त्यद् + सु' इत्यत्र त्यदाद्यत्वे, पररूपत्वे च कृते टापि, टकारपकारयोरित्संज्ञायां लोपे च सवर्णदीर्घे, 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' इति तस्य सत्वे 'हल्ङ्यथादिना' सोर्लोपे 'स्या' इति । त्याः । 'त्यद् + जस्' इत्यत्र त्यदा-
 द्यत्वे, पररूपत्वे च टापि, टकारपकारयोरित्संज्ञायां लोपे च 'त्या + जस्' इति स्थिते 'सुट्' इति जकारस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति पूर्वसवर्णदीर्घादेशे प्राप्ते 'नादिचि' इति निषिद्धे 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घादेशे

वृष्, व्यध्, रुच्, सह् और तन् धातुके परे पूर्व 'अण्' को दीर्घ हो । यः सौ-इदम् शब्द-
 के दकारको यकार आदेश हो, 'सु' के परे लौलिङ्गमें ।

आपः । अपः ॥ अपो भि । ७।४।४८। अपस्तकारो भादौ प्रत्यये । अङ्गिः ।
अङ्गयः २ । अपाम् । अप्सु ॥ दिक् । दिग् । दिशौ । दिशः । दिग्भ्याम् । त्यदा-
दिष्विति दृशेः क्तिन्विधानादन्यत्रापि कुत्वम् । दृक् । दृशौ । दृशः । दृग्भ्याम् ॥
त्विट् । त्विषौ । त्विषः । त्विड्भ्याम् । त्विट्त्सु । त्विट्सु ॥ 'ससजुषोरि'ति
रुत्वम् । सजुः । सजुषौ । सजूर्भ्याम् ॥ आशीः । आशिषौ । आशीर्भ्याम् ॥
असौ । त्यदाद्यत्वम् । टाप् । औः शी । उत्त्वमत्वे । अमू । अमूः । अमुया । अमू-
भ्याम् । अमूभिः । अमुष्यै । अमूभ्यः । अमुष्याः २ । अमुयोः २ । अमूषाम् ।
अमुष्याम् । अमूषु । इति हलन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ॥

कृते सस्य 'ससजुषो रुः' इति रुत्वे उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च रेफस्य विसर्गत्वे च
'त्याः' इति रूपम् । वाग् । 'वाच्+सु' इत्यत्र सकारोत्तरवर्तिन उकारस्येत्संज्ञायां
लोपे च कृते स् इत्यस्य 'हल्ङ्यादिना' लोपे चकारस्य 'चोः कुः' इति कुत्वेन कत्वे
तस्य 'झलां जशोऽन्ते' इति गत्वे 'वावसाने' इति विकल्पेन कत्वे 'वाक्' इति ।
विकल्पाभावपक्षे 'वाग्' इति । आपः । 'अप्+जस्' इत्यत्र 'अप्तृन्तृच्स्वसृन्तृ०'
इत्यादिना उपधादीर्घे कृते 'जुटू' इति जकारस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे
च कृते, कृते च संयोगे सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गत्वे च 'आपः' इति । अङ्गिः ।
'अप्+भिस्' इत्यत्र 'अपो भि' इति पस्य तकारे 'झलां जशोऽन्ते' इति तस्य
दत्वे सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गत्वे च कृते 'अङ्गिः' इति । दिक् । 'दिश्-अतिसर्जने'
'ऋत्विक्' इत्यादिना क्तिन् तस्य सर्वस्यापहारे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां
सावागते, तस्यानुबन्धस्य लोपे कृते 'हल्ङ्यादिना' सलोपे कृते 'दिश्' इति जाते
तत्र 'ब्रश्चभ्रस्जसृजमृज०' इति पत्वे 'झलां जशोऽन्ते' इति डत्वे 'क्विन्प्रत्ययस्य
कुः' इति डस्य कुत्वेन गत्वे 'वावसाने' इति विकल्पेन कत्वे 'दिक्' इति ।
पक्षे-दिग् इति । दृक् । 'दृश्+सु' अत्र उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'हल्ङ्याभ्यो
दीर्घात्' इति सलोपे 'ब्रश्चभ्रस्जसृजमृज०' इति षत्वे षस्य 'झलां जशोऽन्ते'
इति डत्वे 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति (क्विन्प्रत्ययो यस्माद्विहित इति बहुव्रीह्याश्रय-
णात्) कुत्वेन गकारे 'वावसाने' इति गस्य कत्वे 'दृक्' इति, पक्षे 'दृग्' इति ।
सजुः । 'सजुष्+सु' अत्र सकारोत्तरवर्तिन उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च स् इत्यस्य
'हल्ङ्याभ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' इति लोपे 'ससजुषो रुः' इति सस्य रुत्वे
उकारलोपे 'वोरुपधाया दीर्घ इकः' इति जकारोत्तरवर्त्युकारस्य दीर्घत्वे रेफस्य
विसर्गत्वे च 'सजुः' इति रूपम् । इति हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम् ।

अपो—'अप्' शब्दको तकारान्त आदेशो भू भकारादि प्रत्ययके परे ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें हलन्त स्त्रीलिङ्ग प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ हलन्ता नपुंसकलिङ्गाः ।

स्वमोर्लुक् । दत्वम् । स्वनडुत् । स्वनडुही । 'चतुरनडुहोरि'त्याम् । स्वनड्वां-
हि । पुनस्तद्वत् । शेषं पुंवत् ॥ वाः । वारी । वारि । वारा । वाभ्याम् ॥ चत्वारि ॥
किम् । के । कानि ॥ इदम् । इमे । इमानि ॥ (अन्वादेशे नपुंसके एनद्वक्तव्यः) ।
एनत् । एने । एनानि । एनेन । एनयोः २ ॥ व्योम । व्योम्नी—व्योमनी । व्योमानि ।

स्वनडुत् । सु-शोभनाः अनड्वाहः यस्य कुलस्येति बहुव्रीहौ, स्वनडुह् शब्दात्
नपुंसकलिङ्गात् सावागते 'स्वनडुह् + सु' इति स्थिते अत्र 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति
सुलोपे 'वसुसंसुध्वंस्वनडुहां दः' इति हस्य दत्वे 'वावसाने' इति दस्य तत्वे
'स्वनडुत्' इति । पच्चे—'स्वनडुद्' इति । स्वनडुही । 'स्वनडुह् + औ' इत्यत्र 'नपुं-
सकाच्च' इति औस्थाने श्यादेशे शकारस्य 'लशक्वतद्धिते' इतीत्संज्ञायां 'तस्य
लोपः' इति लोपे संयोगे च कृते 'स्वनडुही' इति । वाः । 'वार् + सु' इत्यत्र 'स्व-
मोर्नपुंसकात्' इति सुलोपे पदान्तत्वात् 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति रेफस्य
विसर्गे 'वाः' इति रूपम् । वारी । 'वार् + औ' इत्यत्र 'औ' इत्यस्य स्थाने 'नपुंस-
काच्च' इति श्यादेशे शस्येत्संज्ञायां लोपे संयोगे च कृते 'वारी' इति । वारि ।
'वार् + जस्' इत्यत्र 'जश्शसोः शिः' इति जसः स्थाने श्यादेशे शस्येत्संज्ञायां
लोपे च, कृते संयोगे 'वारि' इति । चत्वारि । 'चतुर् + जस्' इति स्थिते अत्र 'जश्श-
सोः शिः' इति जसः स्थाने श्यादेशे कृते शस्येत्संज्ञायां लोपे च विहिते 'शि सर्व-
नामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' इत्यामि, मकार-
स्येत्संज्ञायां लोपे च मित्त्वादन्त्यादचः परे जाते 'इको यणचि' इति यणि
संयोगे च कृते 'चत्वारि' इति रूपम् । इमे । 'इदम् + औ' इत्यत्र 'त्यदादीनामः'
इत्यत्वे 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे 'नपुंसकाच्च' इति 'शी' आदेशे शस्येत्संज्ञायां
लोपे च 'आद्गुणः' इति गुणे 'इदे' [इति जाते 'दश्च' इति दस्य मत्वे 'इमे' इति ।
एनत् । 'इदम् अम्' इति स्थिते 'स्वमोर्नपुंसकात्' इत्यमो लुकि, 'अन्वादेशे नपुंसके
एनद् वक्तव्यः' इतीदम् एनदादेशे 'वावसाने' इति विकल्पेन चत्वे 'एनत्' इति ।
पच्चे—'एनद्' इति । एनेन । 'इदम् + टा' अन्वादेशे सति एनदादेशे त्यदाद्यत्वे पररू-
पत्वे च कृते 'टाडसिडसामिनात्स्याः' इति टास्थाने इनादेशे 'आद्गुणः' इति गुणे
'एनेन' इति । व्योम्नीति । 'व्योमन् + औ' इत्यवस्थायां 'नपुंसकाच्चे'त्यादिना
श्यादेशे शस्येत्संज्ञायां लोपे 'विभाषा डिश्रोरि'ति उपधाया अकारस्य लोपे परेण
संयोगे 'व्योम्नी' इति, लोपाभावे च व्योमनी इति रूपे भवतः । व्योमानि इति ।
व्योमन् शब्दाज्जसि 'जश्शसोः शिः' इति श्यादेशे शलोपे सर्वनामस्थानसंज्ञायां

अन्वा—अन्वादेशके विषय रहने पर नपुंसक लिङ्गमें 'इदम्' और 'एतद्' शब्दको

ब्रह्म । (संवुद्धौ नपुंसकानां नलोपो वा वाच्यः) । हे ब्रह्म । हे ब्रह्मन् ।
ब्रह्मणी । ब्रह्माणि ॥ रोऽसुपि । अहः । विभाषा छिश्योः । अह्नी-अहनी ।
अहानि ॥ अहन् । ८।२।६८ । अहन्नित्यस्य रुः पदान्ते । अहोभ्याम् ॥ दण्डि ।
दण्डिनी । दण्डीनि ॥ सुपथि । टिलोपः-सुपथी । सुपन्थानि ॥ ऊर्क् । ऊर्जी ।
ऊर्जि । नरजानां संयोगः ॥ त्यद् । त्ये । त्यानि । तत् । ते । तानि । यत् । ये ।

दीर्घे च कृते रूपं भवतीति । ब्रह्मेति । ब्रह्मन् इहि नान्तं प्रातिपदिकम् । अस्य न्योमन्
शब्दवद्रूपाणि । हे ब्रह्म हे ब्रह्मन् इति । अस्य सति नलोपे हे ब्रह्म इति रूपम् ।
असति च लोपे हे ब्रह्मन् इति रूपं स्पष्टमेवेति भावः । अहः । 'अहन् सु'
'स्वमोर्नपुंसकात्' इति सोर्लुकि 'रोऽसुपि' इति नस्य रेफादेशे 'खरवसानयोर्विस-
र्जनीयः' इति विसर्गे च 'अहः' इति । अह्नी । 'अहन् + औ' अत्र 'नपुंसकाच्च' इति
'शी' आदेशे शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'यचि भम्' इति भसंज्ञायां 'विभाषा छिश्योः'
इति अनोऽकारस्य विकल्पेन लोपे 'अह्नी' इति । विकल्पाभावपक्षे—'अहनी' इति ।
भ्यामादौ हलि विशेषमाह—अहन्निति । 'ससञ्जुषो रुः' इत्यतो रुरित्यनुवर्तते, 'स्कोः
संयोगाद्योः' इत्यतः अन्त इति च, पदस्य इत्यधिकृतम्, 'अहन्' इति लुप्तपट्टीकम् ।
तदाह—अहन्नित्यस्येत्यादिना । अहोभ्याम् । 'अहन् + भ्याम्' इत्यत्र 'त्वादिभ्वसर्वनाम-
स्थाने' इतिपदसंज्ञायाम् 'अहन्' इति नस्य रुत्वे 'हशि च' इत्युक्त्वे 'आदुगुणः'
इति गुणे 'अहोभ्याम्' इति । सुपन्थानि । 'सुपथिन् + जस्' अत्र 'जश्शसोः शिः'
इति जसः स्थाने शौ कृते शस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते 'शि सर्वनामस्थानम्' इति
सर्वनामस्थानसंज्ञायाम् 'इतोऽस्सर्वनामस्थाने' इति थकारान्तःपातिन इकारस्या-
कारे कृते 'सुपथिन् + इ' इति जाते 'थोन्थः' इति थस्य न्थादेशे 'सर्वनामस्थाने
चाऽसम्बुद्धौ' इति नान्तोपधायाः दीर्घत्वे 'सुपन्थानि' इति । ऊर्क् । 'ऊर्ज् + सु'
अत्र 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति सोर्लुकि 'चोः कुः' इति जस्य कृत्वेन गत्वे 'वाऽवसाने'
इति विकल्पेन कत्वे 'ऊर्क्' इति । पक्षे—'ऊर्ग' इति । ऊर्जि । 'ऊर्ज् + जस्'
अत्र 'जश्शसोः शिः' इति जसः स्थाने श्यादेशे 'शि सर्वनामस्थानम्' इति सर्वना-
मस्थानसंज्ञायाम्, शसः शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुमि उमि
गते मिस्वादन्यादचः परे 'नश्चापदान्तस्य झलि' इत्यनुस्वारे 'अनुस्वारस्य ययि
परसवर्णः' इति परसवर्णे च कृते 'ऊर्जि' इति रूपम् । तानि । 'तद् + औ' अत्र
त्यदाद्यत्वे, पररूपत्वे, जसः शौ, अनुबन्धलोपे, सर्वनामस्थानसंज्ञायाम्, 'नपुंसकस्य
झलचः' इति नुमि, उमि गते मिस्वादन्यादचः परे 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ'

'एतत्' आदेश हो । सम्बु—सम्बुद्धिके परे नपुंसकलिङ्गं नकारका लोप हो, विकल्पसे ।
अहन्—'अहन्' शब्द (के नकार) को 'रु' हो, पदान्तमें ।

यानि ॥ एतत् । एते । एतानि ॥ ॥ 'अवङ् स्फोटायनस्ये'ति अवङ् ।

गवाक्शब्दस्य रूपाणि क्लीबेऽर्चागतिभेदतः ।

असन्ध्यवङ्पूर्वरूपैर्नवाधिकशतं मतम् ॥ १ ॥

स्वम्सुप्सु नव, षड् भादौ षट्के स्युस्त्रीणि जश्शसोः ।

चत्वारि शेषे दशके रूपाणीति विभावय ॥ २ ॥

गवाक्-गवाग् । गोची । गवाञ्चि । पुनस्तद्वत् । गोचा । गवाग्भ्याम् ॥ यकृत ॥

इति नान्तोपधाया दीर्घत्वे संयोगे च कृते 'तानि' इति रूपम् । एतानि । 'एतद् + जस्' अत्र त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे 'जश्शसोः शिः' इति जसः शौ 'शि सर्वनामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानसंज्ञायाम् शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'नपुंसकस्य झलचः' इति जुमि उमि गते मित्वादन्यादचः परे 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति नान्तोपधाया दीर्घत्वे संयोगे च कृते 'एतानि' इति । गवाक् । गामञ्चतीति विग्रहे किनि उपपदसमासे सुब्लुकि, 'गो अन्च्' इति स्थिते कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सावागते, गो अन्च् सु' इत्यत्र 'अनिदितां हल उपधायाः विडति' इति नलोपे 'गो अच् सु' इत्यवशिष्टे 'अवङ् स्फोटायनस्य' इत्यवङि ङस्येत्संज्ञायां लोपे च 'ङिञ्च' इत्यन्तादेशे 'अकः सर्वणं दीर्घः' इति दीर्घे 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति सोर्लुकि 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति चस्य कत्वे 'झलां जशोऽन्ते' इति गत्वे 'वाऽवसाने' इति वा कत्वे 'गवाक्' इति । चत्वाभावपक्षे—'गवाग्' इति । गोची । 'गो अन्च् औ' इत्यत्र 'अनिदितां हल उपधायाः विडति' इति नलोपे 'नपुंसकाच्च' इति औस्थाने श्यादेशे शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'यचि भम्' इति भसंज्ञायाम् 'अच' इति अचोऽकारस्य लोपे संयोगे च

गवाक् शब्द—गवाक्-गवाग्, गोअक्-गोअग्, गोऽक्-गोऽग्, गवाङ्, गोअङ्, गोऽङ् (९) गोची, गवाञ्ची, गोअञ्ची-गोऽञ्ची (४) गवाञ्चि, गोअञ्चि-गोऽञ्चि (३) गोच। गवाञ्चा, गोअञ्चा-गोऽञ्चा (४), गवाग्भ्याम्, गोअग्भ्याम्-गोऽग्भ्याम्, गवाङ्भ्याम्, गोअङ्भ्याम्-गोऽङ्भ्याम् (६), गवाग्भिः, गोअग्भिः-गोऽग्भिः, गवाङ्भिः, गोअङ्भिः-गोऽङ्भिः (६), गोचे, गवाञ्चे, गोअञ्चे-गोऽञ्चे (४), गवाग्भ्याम्, गोअग्भ्याम्-गोऽग्भ्याम्, गवाङ्भ्याम्, गोअङ्भ्याम्-गोऽङ्भ्याम् (६), गवाग्भ्यः, गोअग्भ्यः, गोऽग्भ्यः, गवाङ्भ्यः, गोअङ्भ्यः-गोऽङ्भ्यः (६), गोचः, गवाञ्चः, गोअञ्चः-गोऽञ्चः (४), गवाग्भ्याम्, गोअग्भ्याम्-गोऽग्भ्याम्, गवाङ्भ्याम्, गोअङ्भ्याम्-गोऽङ्भ्याम् (६), गवाग्भ्यः, गोअग्भ्यः-गोऽग्भ्यः, गवाङ्भ्यः, गोअङ्भ्यः-गोऽङ्भ्यः (६), गोचः, गवाञ्चः, गोअञ्चः-गोऽञ्चः (४), गोचोः, गवाञ्चोः, गोअञ्चोः-गोऽञ्चोः (४), गोचाम्, गवाञ्चाम्, गोअञ्चाम्-गोऽञ्चाम् (४) गोचि, गवाञ्चि, गोअञ्चि-गोऽञ्चि (४), गोचोः, गवाञ्चोः, गोअञ्चोः-गोऽञ्चोः (४), गवाङ्क्षु, गोअङ्क्षु-गोऽङ्क्षु, गवाङ्क्षु, गोअङ्क्षु-गोऽङ्क्षु (९) (मिलित्वा १०९)

शकृत् । शकृती । शकृन्ति । शकृद्भयाम् ॥ ददत् । ददती । वा नपुंसकस्य । ७।१।७२। अभ्यस्तात्परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्य क्लीबस्य नुम्वा स्यात्सर्वनाम-
स्थाने । ददन्ति-ददति ॥ तुदत् । आच्छीनद्योर्नुम् । ७।१।८०। अवर्णान्ता
दङ्गात्परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्य नुम्वा, शीनद्योः । तुदन्ती-तुदती । तुदन्ति ॥
भात् । भाती । भान्ति ॥ पचत् । शप्श्यनोर्नित्यम् । ७।१।८१। शप्श्यनोरात्परो
यः शतुरवयवस्तदन्तस्य नुम्, शीनद्योः । पचन्ती । पचन्ति ॥ दीव्यत् । दीव्य-
न्ती । दीव्यन्ति ॥ धनुः । धनुषी । 'सान्ते'ति । दीर्घः । नुम्बिसर्जनीयेति षः ।

कृते 'गोची' इति रूपम् । गवाञ्चि । 'गोअन् च् + जस्' इति स्थिते 'अनिदितां हल
उपधायाः विङिति' इति नलोपे 'जश्शसोः शिः' इति जसः शौ कृते 'शि सर्वनाम-
स्थानम्' इति सर्वनामस्थानसंज्ञायां शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'नपुंसकस्य झलचः'
इति नुमि, उमि गते मिच्चादन्यादचः परे 'गो अन् च् इ' इति जाते 'अवङ्स्फोटाय-
नस्य' इत्यवङि ङस्येत्संज्ञायां लोपे च 'ङिच्च' इत्यन्तादेशे 'अकः सवर्णे दीर्घः'
इति दीर्घे 'गवान् च् इ' इति जाते 'नश्चापदान्तस्य झलि' इत्यनुस्वारे 'अनुस्वारस्य
ययि परसवर्णः' इति परसवर्णे संयोगे च कृते 'गवाञ्चि' इति भवति । शकृन्ति । अत्र
जसः 'जश्शसोः शिः' इति श्यादेशो अङ्गस्य च 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुमागमश्च
बोध्यः । ददन्ति । 'ददत् + जस्' अत्र 'जश्शसोः शिः' इति जसः स्थाने सौ कृते
शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'शि सर्वनामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'नपुंस-
कस्य झलचः' इति नुमि प्राप्ते 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति निषिद्धे 'वा नपुंसकस्य' इति
विकल्पेन नुमि उमि गते मिच्चादन्यादचः परे 'नश्चापदान्तस्य झलि' इति अनुस्वा-
रे, 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' इति परसवर्णे 'ददन्ति' इति । नुमभावे—'ददति'
इति । पचन्ती । 'पचत् + औ' इत्यत्र 'नपुंसकाच्च' इति औस्थाने श्यादेशे शस्येत्सं-
ज्ञायां लोपे च 'शप्श्यनोर्नित्यम्' इति नुमि उमि गते मिच्चादन्यादचः परे अनुस्वारे
परसवर्णे च कृते; कृते च संयोगे 'पचन्ती' इति । दीव्यत् । दिव्यधातोः लटः शतरि,
श्यन् 'हलि च' इति दीर्घः । दीव्यच्छब्दात् स्वमोर्लुगिति भावः । दीव्यन्ती । औङः
श्याम्, शप्श्यनोर्नित्यम्' इति नुमि रूपम् । धनुः । 'धनुष् + सु' अत्र 'स्वमोर्नपुंस-
कात्' इति सोर्लुकि, पस्य असिद्धत्वात् 'ससञ्जोरोः' इति रुत्वे अनुबन्धलोपे

वा न—अभ्यस्त संज्ञकसे पर जो शतृप्रत्ययान्त क्लीब अंग उसको नुमागम हो,
विकल्पसे, सर्वनामस्थानके परे ।

आच्छी—अवर्णान्तसे पर जो शतृप्रत्ययावयव, तदन्त जो अंग, उसको नुमागम हो,
'शो' और 'नदी'के परे विकल्पसे ।

शप्—शप्—श्यन् संबन्धी अकारसे पर जो शतृप्रत्ययावयव, तदन्त जो अंग, उसको

धनूषि । धनुषा । धनुभ्याम् ॥ एवं चक्षुर्हविरादयः ॥ पयः । पयसी । पयांसि ।
पयोभ्याम् ॥ सुपुम् । सुपुंसी । सुपुमांसि ॥ अदः । विभक्तिकार्यम् । उत्त्वमत्वे ।
अमू । अमूनि । शेषं पुंवत् ॥

इति हलन्ता नपुंसकलिङ्गाः ।



‘खरवसानयोर्विसर्जनीयः’ इति रेफस्य विसर्गत्वे च कृते ‘धनुः’ इति रूपम् । धनूषि ।
‘धनुस्+जस्’ अत्र ‘जश्शसोः शिः’ इति जसः शौ कृते शस्येत्संज्ञायां लोपे च ‘शि
सर्वनामस्थानम्’ इति सर्वनामस्थानसंज्ञायाम् ‘नपुंसकस्य झलचः’ इति नुमि,
उमि गते मित्वादन्यादचः परे जाते ‘सान्तमहतः संयोगस्य’ इति सान्तसंयोगस्यो-
पधायाः दीर्घत्वे ‘नश्चापदान्तस्य झलि’ इत्यनुस्वारे ‘नुम्बिसर्जनीयशब्दवायेऽपि’
इति सस्य षत्वे संयोगे च कृते ‘धनूषि’ इति रूपम् । पयः । ‘पयस्+सु’ अत्र ‘स्व-
मोर्नपुंसकात्’ इति सोर्लुकि, सस्य ‘ससजुपो रुः’ इति रुत्वे उकारस्येत्संज्ञायां लोपे
च कृते रेफस्य ‘खरवसानयोर्विसर्जनीयः’ इति विसर्गे ‘पयः’ इति । पयांसि । ‘पयस्+
जस्’ अत्र ‘जश्शसोः शिः’ इति जशः स्थाने शौ कृते शस्येत्संज्ञायां लोपे च ‘शि
सर्वनामस्थानम्’ इति सर्वनामस्थानसंज्ञायां ‘नपुंसकस्य झलचः’ इति नुमि उमि
गते मित्वादन्यादचः परे ‘सान्तमहतः संयोगस्य’ इति सान्तसंयोगस्योपधायाः
दीर्घत्वे अनुस्वारे परसवर्णे च जाते संयोगे च कृते ‘पयांसि’ इति । सुपुमांसि ।
‘सुपुस्+जस्’ अत्र ‘जश्शसोः शिः’ इति जसः स्थाने शौ कृते शस्येत्संज्ञायाम्, लोपे
च ‘शि सर्वनामस्थानम्’ इति सर्वनामस्थानसंज्ञायां ‘पुंसोऽसुङ्’ इति असुङि,
ङस्येत्संज्ञायां लोपे च उकारे गते ‘अनेकाल्शित्सर्वस्य’ इति सर्वस्यादेशे प्राप्ते
‘ङित्च’ इत्यन्तादेशे सुपुम्स्+ङ् इति जाते ‘नपुंसकस्य झलचः’ इति नुमि,
उमि गते, मित्वादन्यादचः परे ‘सान्तमहतः संयोगस्य’ इति सान्तसंयोगगतस्य
नान्तस्योपधाया दीर्घत्वे नस्यानुस्वारे च कृते ‘सुपुमांसि’ इति रूपम् । अमूनि ।
‘अदस्+जस्’ अत्र त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे ‘जश्शसोः शिः’ इति श्यादेशे शस्येत्संज्ञायां
लोपे च ‘शि सर्वनामस्थानम्’ इति सर्वनामस्थानसंज्ञायां ‘नपुंसकस्य झलचः’
इति नुमि, उमि गते मित्वादन्यादचः परे ‘सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ’ इति नान्तो-
पधाया दीर्घत्वे ‘अदानि’ इति जाते ‘अदसोसेर्दानुदोमः’ इति दात्परस्याकारस्योत्वे
दस्य च मत्वे ‘अमूनि’ इति रूपम् । इति हलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम् ।



नित्य नुमागम हो, ‘शी’ और ‘नदी’के परे ।

इस प्रकार इन्दुमती टीकामें हलन्त नपुंसकलिङ्ग समाप्त हुआ ।



अथाव्ययानि

स्वरादिनिपातमव्ययम् । १।१।३७। स्वरादयो, निपाताश्चाऽव्ययसंज्ञाः स्युः ।
स्वर् । अन्तर् । प्रातर् । पुनर् । अनुतर् । उच्चैस् । नीचैस् । शनैस् । ऋधक् ।
ऋते । युगपत् । आरात् । पृथक् । ह्यस् । श्वस् । दिवा । रात्रौ । सायम् ।
चिरम् । मनाक् । ईषत् । जोषम् । तूष्णीम् । वहिस् । अवस् । समया । निकषा ।
स्वयम् । वृथा । नक्तम् । नञ् । हेतौ । इद्धा । अद्धा । सामि । वत् । ब्राह्मण-
वत् । क्षत्रियवत् । सना । सनत् । सनात् । तिरस् । उपधा । अन्तरा । अन्त-
रेण । ज्योक् । कम् । शम् । सहसा । विना । नाना । स्वस्ति । स्वाहा । स्वधा ।
अलम् । वषट् । श्रौषट् । वौषट् । अन्यत् । अस्ति । उपांशु । क्षमा । विहायसा ।
दोषा । मृषा । मिथ्या । मुधा । पुरा । मिथो । मिथस् । प्रायस् । मुहुस् ।

स्वरादिनिपातमव्ययमिति । स्वर् आदिर्येषान्ते स्वरादयः, ते च ते निपाताश्चेति
समाहारद्वन्द्वः । फलितमाह—स्वरादय इति । स्वरादीन् पठति—स्वरित्यादिना ।
स्वरादीनां चादीनां च पृथक्पाठस्तु 'निपाता आद्युदात्ताः' इति स्वरभेदार्थः, चादी-

स्वरा—स्वरादि ओर निपात अव्यय संज्ञक हो ।

स्वर् (स्वः)—स्वर्ग, । अन्तर् (अन्तः)—मध्य । प्रातर् (प्रातः)—रातःकाल ।
पुनः—फिर । अनुतर् (अनुतः)—अन्तर्धान । उच्चैस् (उच्चैः)—ऋध्वभागमें । नीचैस्
(नीचैः)—अधोभागमें । शनैस् (शनैः)—धीरे धीरे । ऋधक्—तचमुत्र । ऋते—विना ।
युगपत्—एकसाथ । आरात्—दूर या समीप में । पृथक्—भिन्न । (ह्यः)—ह्यस् पूर्व दिनमें ।
श्वः—पर दिन में । दिवा—दिन । रात्रौ—रातमें । सायम्—सन्ध्यामें । चिरम्—विलम्ब ।
मनाक्—थोड़ा । ईषत्—बहुत थोड़ा, किञ्चित् । जोषम्—काना-फूसी । तूष्णीम्—चुप ।
वहिस् (वहिः), अवस् (अवः) बाहर । अधस् (अधः)—नीचे । समया, निकषा—
समीप । स्वयम्—अपने ही । वृथा—व्यर्थ । नक्तम्—रात । न, नञ्—नहीं । हेतौ—कारण ।
इद्धा—प्रकाश्य । अद्धा—स्फुट । सामि—भाषा । ब्राह्मणवत्—ब्राह्मण के समान । क्षत्रियवत्—
क्षत्रिय के समान । सना, सनत्, सनात्—नित्य । उपधा—वृत्त, नजराना । तिरस् (तिरः)—
टढ़ा, पराभव । अन्तरा—मध्य, विना । अन्तरेण—विना । ज्योक्—शीघ्र, सम्प्रति । कम्—
अनेक । निन्दा, सुख । शम्—सुख, कल्याण । सहसा—अकस्मात् । विना—अभाव । नाना—
अनेक । स्वस्ति—मङ्गल, शुभ । स्वाहा—देवहविर्दान में । स्वधा—पितृहविर्दान में । अलम्—
भूषण, पर्याप्त (बस), व्यर्थ । वषट्, श्रौषट्, वौषट्—देवहविर्दान में । अन्यत्—और, दूसरा ।
अस्ति—सत्ता, विद्यमान । उपांशु—गुप्त । क्षमा—माफ । विहायसा—आकाश । दोषा—

प्रवाहुकम् । प्रवाहिका । आर्य-हलम् । अभीक्ष्णम् । साकम् । सार्धम् । नमस् ।
 हिरूक् । धिक् । अथ । अम् । आम् । प्रताम् । प्रशाम् । प्रतान् । मा । माङ् ।
 आकृतिगणोऽयम् । च । वा । ह । अह । एव । एवम् । नूनम् । शश्वत् । युग-
 पत् । भूयस् । कूपत् । सूपत् । कुवित् । नेत् । चेत् । चण । यत्र । कच्चित् ।
 नह । हन्त । माकिः । माकिम् । नकिः । नकिम् । आकीम् । माङ् । नञ् ।
 यावत् । त्वै । न्वै । द्वै । रै । श्रौषट् । वौषट् । स्वाहा । स्वधा । अलम् ।
 वषट् । तुम् । तथाहि । खलु । किल । अथ । सुष्टु । स्म । आदह ॥ उपसर्ग-
 विभक्तिस्वरप्रतिरूपकाश्च । अवदत्तम् । अहंयुः । अस्तिक्षीरा । अ । आ । इ ।
 ई । उ । ऊ । ए । ऐ । ओ । औ । पशु । शुक्म् । यथा । कथाच । पाट् ।

नामसत्त्ववाचिनामेवाऽव्ययत्वम्, स्वरादीनां तु सत्त्ववाचिनामसत्त्ववाचिनां च तदिति

रात्रि । सृषा, मिथ्या-असत्य, झूठ । सुधा-व्यर्थ ही, निष्प्रयोजन । पुरा-पहले । मिथो,
 मिथस् (मिथः)-परस्पर, एकान्त । प्रायस् (प्रायः)-सम्भव, हो सकता है । सुहुस्
 (सुहुः)-बार-बार । प्रवाहुकम्-एक साथ, समान काल । आर्यहलम्-गलात्कार, जवर-
 दस्ती । अभीक्ष्णम्-पुनः २, बार २ । साकम्, सार्धम्-साथ २ । नमस् (नमः)-
 नमस्कार, प्रणाम । हिरूक्-विना । धिक्-धक्कार, छो-छो । अथ-अनन्तर । और । (अथ
 किम्-और नहीं तो क्या ?) । अम्-शीघ्र, थोड़ा, किंचित । आम्-हाँ, स्वीकार, मञ्जूर ।
 प्रताम्-गलानि । प्रशाम्-न-समान । प्रतान्-विस्तार । मा, माङ्-नहीं, अस्वीकार । च-
 पुनः, अथवा, और । वा-अथवा । ह-प्रसिद्ध । अह-अद्भुत, खेद । एव-अवश्य, ही ।
 एवम्-इस प्रकार । नूनम्-निश्चय, तर्क । शश्वत्-सदा, साथ २, पुनः २ । युगपत्-एक
 साथ । भूयस् (भूयः)-पुनः, प्रचुर, ढेरसा । कूपत्, सूपत्-प्रश्न, प्रशंसा । कुवित्-
 बहुत, प्रशंसा । नेत्-शङ्का । चेत् चण्-यदि । कच्चित्-प्रश्न, कोई । यत्र-जहाँ ।
 नह-प्रत्यारम्भ । हन्त-हर्ष, विषाद । माकिः, माकिम्, नकिः-विना, वर्जन ।
 नञ्-नहीं । यावत्-जब तक । त्वै, द्वै, न्वै-वितर्क । रै-दान, हीन सम्बोधन । श्रौषट्,
 वौषट्, स्वाहा-देवहविर्दान । अलम्-पर्याप्त । स्वधा, वषट्-पितृहविर्दान । तुम्-तुम ।
 तथाहि-जैसे, इस प्रकार । खलु, किल-निश्चय । अथ-अनन्तर । सुष्टु-अच्छा । स्म-भूत-
 काल । आदह-निन्दा ।

उपसर्ग-उपसर्ग प्रतिरूपक, विभक्त्यन्त प्रतिरूपक और स्वर प्रतिरूपक शब्दों का
 भी चादिगणमें पाठ समझना चाहिये । (प्रतिरूपकका अर्थ है 'सदृश')

अवदत्तम्-दिया । अहंयुः-अहंकारी । अस्तिक्षीरा-दूधवाली । अ-सम्बोधन । आ-
 वाक्य, स्मरण । इ-संबोधन, जुगुप्सा, विस्मय । ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ-संबोधन । पशु-
 सम्यक् । शुक्म्-शीघ्र । यथाकथाच-जब कभी । पाट्, प्याट्, अङ्ग, हे, है, ओः, अये-

प्यात् । अङ्ग । है । हे । भोः । अये । व । विषु । एकपदे । युत् । आतः ।
चादिरप्याकृतिगणः । तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः । १।१।३८। यस्मात्सर्वा विभक्ति-
नोत्पद्यते स तद्धितान्तोऽप्यव्ययं स्यात् । परिगणनं कर्तव्यम् । तसिलादयः प्राक्
पाशपः । शस्प्रभृतयः प्राक् समासान्तेभ्यः । अम् । आम् । कृत्वोऽर्थाः ।
तसिवती । नानाजौ—इति । एतदन्तमप्यव्ययम् । अत इत्यादि ॥ कृन्मेजन्तः ।

व्यवस्थार्थश्च । तद्धितेति । असर्वविभक्तिरिति बहुव्रीहिः । तत्र सर्वाविभक्तयो यस्मान्न
भवन्तीति बहुवचनान्तविग्रहो नैव संभवति । अव्ययेभ्यः सप्तानामपि विभक्तीनां उत्प-
त्युभ्युपगमात् । तथाहि 'तद्धितश्च' इति सूत्रे भाष्ये 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' 'बहु-
षु बहुवचनम्' इति सूत्रविन्यास भङ्त्वा 'एकवचनम्' 'द्वयोर्द्विवचनम्' 'बहुषु बहुव-
चनम्' इति सूत्रविन्यास कृत्वा एकवचनमुत्सर्गतः करिष्यते । द्विवह्वर्थयोस्तस्य द्विवच-
नबहुवचने बाधके इत्यादि प्रपञ्चितम् । ततश्च एकवचनमित्यनेन व्याप्रातिपदिकात्
एकवचनं भवतीति सामान्यविधिना द्वित्वबहुत्वाभावे एकवचनमिति फलति ।
एवं च द्वित्वबहुत्वाभावे सति एकत्वे तदभावे च एकवचनं भवतीति फलितोऽर्थः ।
तत्र द्वित्वबहुत्वयोः द्विवचनबहुवचनोक्त्यैव ततोऽन्यत्र एकवचनस्य सिद्धत्वात् ।
'एकवचनम्' इति सूत्रं कर्मत्वाद्यभावेऽपि प्रापणार्थं संपद्यते । तथाच अलिङ्गसंख्ये-
भ्योऽव्ययेभ्यः एकवचनं प्रवर्तमानं विनिगमनाविरहात् सर्वविभक्त्येकवचनं भवति ।
अत एव 'अव्ययादाप्सुप' इत्यत्र प्रत्याहारग्रहणमर्थवत् । तस्मात् सर्वा विभक्तयो
यस्मादिति न विग्रहः । किन्तु सर्वशब्दोऽत्र 'सर्वः पटो दग्धः' इतिवत् अव्यय-
कास्त्यै वर्तते । एवं च सर्वा वचनत्रयात्मिका विभक्तिः यस्मान्नोत्पद्यते, किन्तु एक-
वचनान्येवोत्पन्नन्ते स तद्धितान्तोऽव्ययसंज्ञः स्यादित्यर्थः । परिगणनमिति । वार्तिक-
मेतत् । तसिलादय इति । 'पञ्चम्यास्तसिल्' इत्यारभ्य 'द्वित्र्योश्च धमुञ्' इति
यावदित्यर्थः । शस्प्रभृतय इति । 'बह्वृत्पार्थात्' इत्यारभ्य 'अव्यक्तानुकरणात्' इति
डाजन्ता इत्यर्थः । अम् आमिति । 'अमु च छन्दसि' इत्यम् 'किमेतिङव्यय' इत्याम्
गृह्यते । कृत्वोर्था इति । 'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' द्वित्रिचतुर्भ्यः
सुच् 'विभाषा बहोर्धा' इति त्रय इत्यर्थः । तसिवती । 'तेनैकदिकृतसिश्च' इति
तसिः 'तेन तुल्यम्' इत्यादिविहितः वतिश्च गृह्यते । 'प्रतियोगेपञ्चम्यास्तसिः' इति
शसादित्वादेव ग्रहणं सिद्धम् । नानाजाविति । 'विनञ्भ्यान्नानाजौ न सह' इति

संशोधन । अ-हिंसा । विषु-अनेक । एकपदे-सहसा । युत्-निन्दा । आतः, अतः-इसलिये ।

तद्धि—जिससे सभी विभक्तियाँ उत्पन्न नहीं होती हैं ऐसा जो तद्धितान्त वह भी
अव्यय संज्ञक हो । अम्, आम्-स्वीकार ।

कृन्मे—कृत् जो मान्त और एजन्त तदन्तकी भी अव्ययसंज्ञा हो ।

११।१।३९। कृद्यो मान्त, एजन्तश्च तदन्तमप्यव्ययम् । स्मारं स्मारम् । जीवसे । पिबध्यै ॥ क्त्वातोऽसुन्कसुनः । ११।१।४०। एतदन्तमप्यव्ययम् । कृत्वा । उदेतोः । विसृपः । अव्ययीभावश्च । ११।१।४१। अव्ययं स्यात् । अधिहरि ॥ अव्ययाप्सुपः । १२।४।८२। अव्ययाद्विहितस्याऽऽपः, सुपश्च लुक् । तत्र शालायाम् । अथ । विहितविशेषणान्नेह—अत्युच्चैसौ । अव्ययसंज्ञायां यद्यपि तदन्त-विधिरस्ति तथापि न गौणे । अवग्रहणं व्यर्थम्, अव्ययस्याऽलिङ्गत्वात् । तथा च श्रुतिः—

‘सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।

वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥ १ ॥

वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः ।

विहितौ नानाजौ गृह्येते इति भावः । क्त्वा तो सुन्कसुनः । ननु अव्ययानां लिङ्गाभावे ‘सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु’ इत्याथर्वणश्रुतिविरोध इत्याशङ्क्य परिहृति—प्रदृशमिति । त्रिषु लिङ्गेषु, सर्वासु च विभक्तिषु, सर्वेषु वचनेषु च यत् न व्येति विकारं न प्राप्नोति किन्तु सदृशम् एकप्रकारमेव भवति तदव्ययम् इति आथर्वणश्रुतियोजना । अथ प्रस-ज्ञादाह—एतौति । अव अपि इत्युपसर्गयोः अकारस्य लोपम्, हलन्तानाम् आपं

स्मारं स्मारम्—स्मरण कर करके । जीवसे—जीने के लिए । पिबध्यै—पीने के लिये । क्त्वातो—क्त्वा प्रत्ययान्त, तोसुन् प्रत्ययान्त और कसुन् प्रत्ययान्तकी भी अव्ययसंज्ञा हो ।

कृत्वा—करके । उदेतोः—उदय होकर । विसृपः—फैलकर ।

अव्य—अव्ययीभाव समासकी अव्ययसंज्ञा होती है ।

अधिहरि—हरिमें ।

अव्य—अव्यय से विहित ‘आप्’ और ‘सुप्’ का लुक् हो ।

तत्र शालायाम्—उस घरमें ।

वगाहः, अवगाहः—स्नान । वाचा—वाणी । निशा—रात्रि । दिशा—दिशा । पिधानम्, अपिधानम्—ढक्कन ।

सदृशं—जिस शब्दका तीनों लिङ्गोंमें, सब विभक्तियोंमें, सब वचनों में समान रूप हों कुछ भी ‘न व्येति’—विकारको प्राप्त न करे, वह अव्यय कहलाता है ।

वष्टि—भागुरि आचार्य ‘अव’ ‘अपि’ उपसर्गके आदि अकारका लोप करते हैं । यथा—अव + गाहः = वगाहः । अपि + धानम् = पिधानम् । आचार्य जो हलन्त शब्दोंसे खीलिङ्गमें ‘आप्’ (टाप्) भी करते हैं । यथा—वाच् + आ = वाचा । निश् + आ = निशा । दिश् + आ = दिशा । पाणिनि मुनिके मतसे अकारका लोप विधायक कोई सूत्र नहीं है, अतः अवगाह और अपिधानम् ये भी रूप होते हैं ।

आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा ॥ २ ॥

अवगाहः । वगाहः । अपिधानम् । पिधानम् ॥ इत्यव्ययानि ॥

इति सुबन्तप्रकरणम् ।

अथ तिङन्ते भवादयः

धातोः । ३।१।११। अधिकारोऽयम् । वक्ष्यमाणाः प्रत्यया धातोर्ज्ञेयाः । लट् । लिट् । लुट् । लृट् । लेट् । लोट् । लङ् । लिङ् । लुङ् । लृङ् । एषु पञ्चमो लकार-
श्छन्दोमात्रगोचरः । लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः । ३।४।६२। लकाराः

च, भागुरिनामक आचार्यः, वष्टि-इच्छतीत्यर्थः । एवशब्दस्तु पादपूरणः । अवेत्युपसर्गे
आदेरेवाकारस्य लोपः नान्त्यस्य, अपिना साहचर्यात् । वाचा निशा दिशेति । एतत्परिग-
णनमित्येके । अत एव हरिग्रन्थेषु न टाप् । अन्ये तु उदाहरणमात्रमिति वदन्ति ।
अत एव-‘दिशा वाचा क्षुधा गिरा’ इति वर्धमानः, शरदेति श्रीपतिदत्तश्चोदाजहार ।
वगाह इति । एतदप्युदाहरणमात्रं न तु परिगणनम् । अत एव ‘वल्लो धवल्लोऽर्जुनः’
इत्यादिसिद्धमिति दिक् । इति अव्ययप्रकरणम् ।



नोटः—(१) जातिवाचक शब्द, समूहाथक शब्द और समष्टिवोधक शब्दोंकी यदि विभिन्नता दिखानी नहीं हो तो एकवचनमें ही प्रयोग होता है । यथा—वर्णानां ब्राह्मणः श्रेष्ठः, बलवती सेना, विद्वद्गणः आदि । एवं समाहार द्वन्द्व और द्विगु समाससे परिनिष्ठित शब्दोंका भी एकवचनमें ही प्रयोग होता है । यथा—पाणिपादम्, त्रिभुवनम् आदि । (२) अश्विनी-कुमार तथा दम्पति, जम्पति शब्दोंका द्विवचनमें ही प्रयोग होता है । (३) दार, अक्षत, लाज, अमु और प्राण शब्द नित्य पुल्लिङ्ग और बहुवचनान्त प्रयुक्त होते हैं । एवं अप्, वर्षा तथा सिकता शब्द नित्य स्त्रीलिङ्ग और बहुवचनान्त ही प्रयुक्त होते हैं । अस्मद् शब्द तथा आदर अर्थमें अन्य शब्द भी विकल्पसे बहुवचनान्त प्रयुक्त होते हैं ।

इस प्रकार इन्दुमती टीकामें अव्ययप्रकरण समाप्त हुआ ।



नोटः—प्रयोगकालमें धातुके उत्तर जो ‘तिङ्’ विभक्ति होती है; उस तिङ्विभक्तिसे जो पद निष्पन्न होता है वह ‘तिङन्त’ कहलाता है ।

धातोः—यह अधिकार सूत्र है ।

लट्—कालज्ञान एवं विधि आदिका अर्थज्ञान कराने के लिए धातुके बाद लडादि तिङ् विभक्तियां दश प्रकार की होती हैं । इनमें ‘लेट्’ का प्रयोग केवल वेदमें ही देखा जाता है ।

लः—सकर्मक धातुसे कर्म-कर्तामें तथा अकर्मक धातुसे भाव और कर्तामें लकार हो ।

नोटः—१ कर्तृवाच्यमें कर्ता प्रथमान्त और कर्म द्वितीयान्त तथा क्रियाके पुरुष-वचन कर्ताके अनुसार प्रयुक्त होते हैं । यथा—‘इन्दुमती पुष्पं चिनोति’ । एवं कर्मवाच्यमें कर्ता

सकर्मकेभ्यः कर्मणि, कर्तरि च स्युरकर्मकेभ्यो भावे, कर्तरि च । वर्तमाने लट् । ३।२।१२३। वर्तमानक्रियावृत्तेर्धातोर्लट् स्यात् ॥ अट्वावितौ । लच्चारणसामर्थ्यान्न ल-
स्येत्त्वम् । भू सत्तायाम् । कर्तृविबक्षायां 'भू-ल्' इति स्थिते । लस्य । ३।४।७७।

वर्तमाने लङिति । 'धातोः' इति सूत्रमावृत्तीयाध्यायसमासेरधिकृतम् । वर्तमाने
इति तत्रान्वेति । वर्तमानेऽर्थे विद्यमानाद्धातोः लङिति लभ्यते । फलितमाह—वर्त-

तृतीयान्त और कर्म प्रथमान्त तथा क्रिया के पुरुष-वचन कर्मके अनुसार होते हैं । यथा—
देवदत्तेन वेदाः पठन्ते । एवं भाववाच्यमें कर्ता कर्मवाच्यवत् तृतीयान्त होता है पर कर्म-
नहीं होता तथा क्रिया सदैव प्रथमपुरुषकी एकवचनान्त ही होती है । यथा—'अस्माभिः
स्थीयते । तथाहि हरिकारिकाः—

'प्रयोगे कर्तृवाच्यस्य कर्तरि प्रथमा भवेत् । द्वितीया कर्मणि, तथा क्रिया कर्तृपदान्विता ॥'

'प्रयोगे कर्मवाच्यस्य तृतीया स्यात् कर्तरि । कर्मणि प्रथमा चैव क्रिया कर्मानुसारिणी ॥'
'कर्माभावः सदा भावे तृतीया चैव कर्तरि । प्रथमः पुरुषश्चैकवचनं च क्रियापदे ॥'

फल और व्यापार धातुके अर्थ होते हैं—'फलव्यापारयोर्धात्वर्थः' व्यापारका आश्रय
कर्ता और फलका आश्रय कर्म होता है । जिसका फल और व्यापार भिन्न २ हो उसे सकर्मक
कहते हैं—'फलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वं सकर्मकत्वम्' । यथा—'देवदत्तः तण्डुलं
पचति' यहाँ विक्रिलि रूप फल तण्डुलमें और पाकरूप व्यापार देवदत्तमें है । अतः 'पच्'
धातुको सकर्मक समझना चाहिये ।

जिसका फल और व्यापार एक ही आश्रयमें हो उसे अकर्मक कहते हैं—'फलसमाना-
धिकरणव्यापारवाचकत्वमकर्मकत्वम्' । यथा—'देवदत्तः शेते' यहाँ विश्राम रूप फल
और चक्षुनिमीलनादि रूप व्यापार भी देवदत्तमें है अतः 'शीङ्' धातु अकर्मक है ।

सामान्य नियमः—साकांक्षित क्रिया 'सकर्मक', यथा—पठति, खादति आदि २; क्या
पढ़ता है ? क्या खाता है ? एवं निराकांक्षित क्रिया 'अकर्मक', यथा—जागता है, हंसता है,
यहाँ, क्या जागता है, क्या हंसता है, इत्यादि आकांक्षा ही नहीं उठती ।

वर्त—वर्तमान क्रियावृत्ति धातुसे लट् लकार हो ।

नोटः—जिसमें क्रियाका प्रारम्भ हो उसे 'वर्तमान' कहते हैं । वर्तमानके सामीप्य रहने
पर भूत और भविष्यत् कालमें भी 'लट्' होता है । यथा—'इदानीमेव आगच्छामि (अभी
आया हूँ) । 'अयमहं गच्छामि' (मैं अभी जाऊँगा) । 'स्म' के योगसे भूतकालमें भी 'लट्'
का प्रयोग होता है । यथा—'स पठतिस्म' (उसने पढ़ा) । 'यावत्' के योगसे भविष्यत्
कालमें भी 'लट्' का प्रयोग होता है । यथा—'स यावत् नागच्छति' (वह जब तक
नहीं आवेगा)

लस्य—यह अधिकार सूत्र है । तिप्—लकार के स्थानमें तिवादि १८ आदेश हों ।

इत्यधिकृत्य । तिप्त्स्ञि-सिप्थस्थ-मिब्वस्मस्-तातांझथासाथांघ्व-मि-
 ड्वहिमहिङ् । १।४।७८। एतेऽष्टादश लादेशाः स्युः । लः परस्मैपदम् । १।४।९९।
 लादेशाः परस्मैपदसंज्ञाः स्युः । तङानावात्मनेपदम् । १।४।१००। तङ्प्रत्याहारः,
 शानच्-कानचौ चैतत्संज्ञाः स्युः । पूर्वसञ्ज्ञाऽपवादः । अनुदात्तङित आत्मनेपदम्
 १।३।१२। अनुदात्तेत, उपदेशे यो ङितदन्ताच्च धातोर्लस्य स्थाने आत्मनेपदं स्यात् ।
 स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले । १।३।७२। स्वरितेतो, ङितश्च धातोरात्म-
 नेपदं स्यात् कर्तृगामिनि क्रियाफले । शेषात्कर्तरि परस्मैपदम् । १।३।७८।
 आत्मनेपदनिमित्तहीनाद्धातोः कर्तरि लस्य परस्मैपदं स्यात् । तिङ्छीणि त्रीणि
 प्रथममध्यमोत्तमाः । १।४।१०१। तिङ् उभयोः पदयोर्न्यस्त्रिकाः क्रमादेतत्संज्ञाः
 स्युः । तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः । १।४।१०२। लब्धप्रथमादिसं-
 ज्ञानि तिङ्छीणि त्रीणि वचनानि प्रत्येकमेकवचनादिसञ्ज्ञानि स्युः । युष्मद्युपपदे
 समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः । १।४।१०५। तिङ्वाच्यकारकवाचिनि

मानक्रियावृत्तेरिति । स्थानिन्यपि । स्थानम्-प्रसङ्गः । सोऽस्यास्तीति स्थानी, तस्मि-

नोटः—इन १८ हों को 'तिङ्' कहते हैं । आरम्भके 'ति' सं लेकर अन्तिम 'ङ्' तक
 'तिङ्' प्रत्याहार बनता है ।

लः—लकारके स्थानमें तिवादि आदेशकी 'परस्मैपद' संज्ञा हो ।

तङा—'तङ्' प्रत्याहार और शानच्-कानच् (प्रत्ययों) की आत्मनेपदसंज्ञा हो ।

नोटः—'ताताम्' के आदि तकारसे मदिङ्के लकार पर्यन्त ९ बोंको 'तङ्' कहते हैं ।
 'तङ्' भी प्रत्याहार कहा जाता है ।

अनुदात्त—अनुदात्तेत जो धातु और उपदेशावस्थामें जो ङित्, तदन्त जो धातु,
 उससे पर लकारके स्थानमें आत्मनेपद हो ।

स्वरित—स्वरितेत और ङित् धातुसे आत्मनेपद हो—कर्तृगामी क्रियाफलमें ।

नोटः—जहां फलाकांक्षा रहती है वहां यदि कर्ता फलभागी हो तो उभयपदी धातुसे
 आत्मनेपद होता है और यदि फलभागी कोई दूसरा (यजमान) हो तो परस्मैपदका प्रयोग
 होता है । अतः सङ्कल्प वाक्यमें अपने लिये 'करिष्ये' और यजमानके लिये 'करिष्यामि' का
 प्रयोग किया जाता है ।

शेषा—आत्मनेपदके निमित्तसे हीन जो धातु, उससे कर्ता में परस्मैपद हो । तिङ्—
 'तिङ्' संबन्धी आत्मनेपद और परस्मैपदके जो तीन २ वे यथा क्रमसे प्रथम, मध्यम, उत्तम
 संज्ञक हो । तान्ये—लब्ध (प्राप्त) प्रथमादिसंज्ञक जो 'तिङ्' के तीन २ वचन वे प्रत्येक
 एकवचन, द्विवचन, बहुवचन संज्ञक हों । युष्म—तिङ्वाच्य कारकवाची जो युष्मद् शब्द

युष्मद्यप्रयुज्यमाने, प्रयुज्यमाने च मध्यमः । अस्मद्युत्तमः । १।४।१०७। तथाभूतेऽस्मद्युत्तमः । शेषे प्रथमः । १।४।१०८। मध्यमोत्तमयोरविषये प्रथमः स्यात् । भू-ति इति जाते । तिङ्शित्सार्वधातुकम् । ३।४।११३। तिङ्, शितश्च धात्वधिकारोक्ता एतत्संज्ञाः स्युः । कर्तरि शप् । ३।१।६८। कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे धातोः शप् स्यात् । सार्वधातुकार्द्धधातुकयोः । ७।३।८४। अनयोः परयोरिगन्ताङ्गस्य गुणः स्यात् । 'एचोऽयवायव' इति अवादेशः । भवति । भवतः । झोऽन्तः । ७।१।३। प्रत्ययावयव-

न्निति विग्रहः । स्थानिपदस्य अप्रयुज्यमाने वैयाकरणनिकाये रूढिः । अपिना प्रयुज्यमान इति लभ्यते । तथाच तिङ्वाच्यम्—तिङ्र्थः, यत् कारकम्—कर्ता, कर्म च, तद्वाचके युष्मच्छब्देऽप्रयुज्यमाने प्रयुज्यमाने च मध्यमः पुरुष इति निवृष्टोऽर्थः । भवति । भू सत्तायां धातुः । अयमकर्मकः । तस्मात् 'लः कर्मणि चाभावे चाकर्मकेभ्यः' इति कर्तरि 'खले कपोतकन्यायेन' दशापि लकाराः प्राप्ताः, एषां मध्यात्केनान्न भाव्यम् । 'वर्तमाने लट्' इत्यनेनान्न भूधातोर्वर्तमानक्रियावृत्तित्वाल्लटि सञ्जाते, 'भू लट्' इति स्थिते 'हलन्त्यम्' इति टस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इति लकारोत्तरवर्तिन अकारस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे 'भू ल्' इति जाते 'लस्य' इत्यधिकृत्य 'तिसस्त्रिसिप्थस्थमिच्चस्मस्तातांश्चथासाथांध्वमिड्वहिमहिङ्' इत्येतेऽष्टादश लादेशाः प्राप्ताः । 'लः परस्मैपदम्' इत्यष्टादशानामप्येषां परस्मैपदसंज्ञा संजाता, 'तङानावात्मनेपदम्' इति तङ्प्रत्याहारान्तःपातिनां नवानामात्मनेपदसंज्ञा संजाता, एवंतिवादयः परस्मैपदसंज्ञाः, तादयश्चात्मनेपदसंज्ञाः, एषां मध्यादत्र परस्मैपदसंज्ञिनः प्रत्ययाः स्युः, किमुतात्मनेपदसंज्ञिनः? इत्या-

वह प्रयुज्यमान हो अथवा अप्रयुज्यमान हो, तो भी धातुसे मध्यम पुरुष हो । अस्म—तिङ्वाच्य कारकवाची जो अस्मद् शब्द वह प्रयुज्यमान हो अथवा अप्रयुज्यमान हो, तो भी धातुसे उत्तम पुरुष हो । शेषे—मध्यम और उत्तम पुरुषके अविषयमें प्रथम पुरुष हो ।

नोटः—विभक्तियोंमें ३ पुरुष होते हैं—प्रथम, मध्यम और उत्तम । क्रियाके साथ युष्मद् या अस्मद् शब्दसे भिन्न शब्दोंके प्रयोग रहने पर प्रथम पुरुष, युष्मद् शब्दके प्रयोग रहने पर मध्यम पुरुष और अस्मद् शब्दके प्रयोग रहने पर उत्तम पुरुष होता है । तथा कर्ताका जो वचन रहे वही क्रियाका भी वचन होता है । यथा—

(१) बालकः पठति । बालकौ पठतः । बालकाः पठन्ति । (२) त्वं पठसि । युवां पठथः । यूयं पठथ । (२) अहं पठामि । आवां पठावः । वयं पठामः ।

तिङ्—धात्वधिकारमें उक्त तिङ्-शित प्रत्ययोंकी सार्वधातुक संज्ञा हो ।

कर्त—कर्त्रर्थक सार्वधातुकके परे धातुसे 'शप्' प्रत्यय हो ।

सार्व—इगन्त अंगको गुण हो सार्वधातुक, आर्द्धधातुकके परे । झोऽन्तः—प्रत्ययावयव

स्य भस्यान्तादेशः स्यात् । अतो गुणे । भवन्ति । भवसि । भवथः । भवथ । अतो दीर्घो यञि । ७।३।१०१। अतोऽङ्गस्य दीर्घो, यञादौ सार्वधातुके परे । भवामि । भवावः । भवामः । स भवति । तौ भवतः । ते भवन्ति । त्वं भवसि । युवां भवथः । यूयं भवथ । अहं भवामि । आवां भवावः । वयं भवामः । शेषे विभाषाऽकखादावपान्त उपदेशे । १।४।१८। उपदेशे कादिखादिषान्तवर्जे गदनदादेरन्यस्मिन्धातौ परे उपसर्गस्थानिमित्तात्परस्य नेर्णत्वं वा स्यात् । प्रणिभवति । प्रनिभवति ॥ परोक्षे

काङ्क्षायां 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' इत्यनेनास्य भूधातोरात्मनेपदनिमित्तहीनत्वात्कर्तरि परस्मैपदं प्राप्तम्, परस्मैपदसंज्ञिनां नवानां मध्यात्कृतमेन भाव्यमित्याकाङ्क्षायाम् 'तिङ्क्षीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः' इत्यनेन क्रमात् त्रयाणां त्रिकाणां प्रथममध्यमोत्तमसंज्ञासु जातासु च लब्धप्रथमादिसंज्ञानां तिङ्क्षयाणां वचनानां प्रत्येकमेकवचनद्विवचनवहुवचनसंज्ञासु अत्र प्रथमेन भाव्यम्, उत मध्यमेन, उत उत्तमेन, इति शङ्कायाम् 'शेषे प्रथमः' इति प्रथमपुरुषो भवितु युक्तस्तथापि त्रीणि वचनानि, एषां मध्यात् कृतमेन भाव्यमित्याकाङ्क्षायां 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' इत्यनेनात्रैकवचनस्य विवक्षायां प्रथमपुरुषे तिपि जाते पकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'तिङ्क्षित्सार्वधातुकम्' इति तिपः सार्वधातुकसंज्ञायां 'भू ति' इति दशायां 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे प्राप्ते 'भूसुवोस्तिङि' इति गुणनिषेधे 'कर्तरि शप्' इति शपि शकारपकारयोरित्संज्ञायां लोपे च शित्वात् 'तिङ्क्षित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकसंज्ञायां 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति भूवो उकारस्य गुणे—ओकारे जाते 'एचोऽयवायावः' इति अवादेशे संयोगे च कृते 'भवति' इति रूपम् । भवामि । भूधातोर्लटि, तत्स्थाने मिपि, पकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'तिङ्क्षित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकसंज्ञायां 'कर्तरि शप्' इति शपि, शकारपकारयोरित्संज्ञायां लोपे च, शित्वात् शपोऽकारस्यापि सार्वधातुकसंज्ञायां 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे अवादेशे च कृते 'भव + मि' इति जाते तत्र 'अतो दीर्घो यञि' इत्यदन्ताङ्गस्य दीर्घे 'भवामि' इति सिद्धम् । अत्रोक्तां प्रथममध्यमोत्तमपुरुषव्यवस्थां स्मारयितुमाह—स भवतीत्यादि । शेषे विभाषेति । अकखादाविति छेदः । 'नेर्गदनदे'ति पूर्वोक्तधातुभ्यः अन्यः शेषः । तदाह—गदनदादेरन्यस्मिन्निति । प्रणिभवति, प्रपूर्वकनिपूर्व-

'झ' के स्थानमें 'अन्त' आदेश हो । अतो—अदन्त अङ्गको दीर्घ हो यञादि सार्वधातुकके परे । शेषे—उपदेशमें कादि, खादि पकारान्त जो धातु, उनसे अन्य जो गद-नदादि धातुओंसे भिन्न धातु, उनके परे उपसर्गस्थ (रैफ-षकार) निमित्तसे पर 'नि' के नकारको गत्व हो, विकल्पसे । परोक्षे—भूत अनद्यतन और परोक्षार्थ वृत्ति जो धातु उससे 'लिट्' लकार हो ।

नोटः—अनद्यतन कालके दो भेद हैं—भूत और भविष्य । पूर्व दिन की आधी रात (१२ बजे) तक जो क्रिया हुई हो वह भूत अनद्यतन और आगामी (आज) रातके बारह

लिट् । ३।२।११५। भूताऽनद्यतनपरोक्षार्थवृत्तेर्धातोर्लिट् स्यात् । लस्य तिवादयः । परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः । ३।४।८२। लिट्स्तिवादीनां णलादयः स्युः । भू अ इति स्थिते । भुवो वुग्लुङ्लिटोः । ६।४।८८। भुवो वुगागमः स्यात् लुङ्लिटोरचि । एकाचो द्वे प्रथमस्य । ६।१।१। अजादेर्द्वितीयस्य । ६।१।२। इत्यधिकृत्य । लिटि धातोरनभ्यासस्य । ६।१।८। लिटि परेऽनभ्यासधात्ववयवस्यैकाचः प्रथमस्य द्वे स्तः, आदिभूतादचः परस्य तु द्वितीयस्य । भूव्भूव् अ इति स्थिते । पूर्वोऽभ्यासः । ६।१।४। अत्र ये द्वे तयोः पूर्वोऽभ्याससंज्ञः स्यात् । हलादिः शेषः । ७।४।६०। अभ्यासस्याऽऽदिर्हल् शिष्यतेऽन्ये हलो लुप्यन्ते । इति वलोपः । ह्रस्वः । ७।४।५९। अभ्यासस्याऽचो ह्रस्वः स्यात् । भवतेरः । ७।४।७३। भवतेरभ्यासोकारस्य अः स्याद्विहितः । अभ्यासे चर्च । ८।४।५४। अभ्यासे झलं चरः स्युर्जशश्च । 'झशां जशः, खयां चर' इति विवेकः । वभूव । वभूवतुः । वभूवुः ।

काच्च भू सत्तायां धातोः लटि तिपि शर्पि गुणेऽवादेशे भवति जाते 'शेषे विभापाऽके'ति वैभाषिके णत्वे प्रणिभवतीति सिध्यति । णत्वाभावे च प्रनिभवति इति द्वितीयं रूपं भवतीति व्यवस्था । वभूव । भूधातोः 'परोचे लिट्' इति लिटि, इकारटकारयोरि-

वजेके वाद जो क्रिया होने वाली हो वह भविष्यत् अनद्यतन (लुट्) की क्रिया कही जाती है । तथाहि—'अतीताया रात्रेः पश्चाद्धेन पूर्वोर्धेन च सहितो दिवसोऽद्यतनः, तद्भिन्नोऽनद्यतनः । 'परोक्ष' उसको कहते हैं जिसमें वत्ताका प्रत्यक्ष नहीं हो । एवंच सिद्ध यह हुआ कि परोक्ष और 'अनद्यतन' भूत कालमें 'लिट्' का प्रयोग हो । यथा—'रामो वालिनं जघान । स्मरण रहे कि चित्तविक्षेपमें तथा किसी भी हालतमें स्वीकार नहीं करने पर प्रत्यक्ष (उत्तम पुरुष) में भी 'लिट्' का प्रयोग होता है । यथा—

(१) 'भुसोऽहं किल विललाप' (२) 'नाऽहं कलिङ्गां जगाम । (लकारार्थं देखो)

परस्मै—'लिट्' संबन्धी तिवादि नौ के स्थानमें णलादि नौ आदेश हो । भुवो—'भू' धातुको 'बुक्' का आगम हो, लुङ् और लिट् सम्बन्धी अच्के परे । एका—'एकाचो द्वे प्रथमस्य' 'अजादेर्द्वितीयस्य' ये दोनों अधिकार सूत्र हैं । लिटि—लिट्के परे अनभ्यास (द्वित्ववर्जित) धात्ववयव प्रथम एकाचको द्वित्व हो और (अजादि धातु रहे तो) आदिभूत अच्से पर द्वितीय एकाचको द्वित्व हो । पूर्वो—षाष्ठद्वित्व प्रकरणमें जो दो (द्वित्व) विधान किये गये हैं, उनमें पूर्वकी अभ्याससंज्ञा हो । हलादिः—अभ्यासका आदि हल् शेष रहे (वच जाय) और अन्य हल्का लोप हो । ह्रस्वः—अभ्यासके अच्को ह्रस्व हो । भव—भू धातुके अभ्यासके उकारको अकार आदेश हो, लिट्के परे । अभ्या—अभ्यासमें झल्के स्थानमें 'चर्' आदेश हो और 'जश्' आदेश भी हो । अर्थात् 'झल्' के स्थानमें 'जश्' और

लिट् च । ३।४।११५। लिङादेशस्तिङार्धधातुकसंज्ञः स्यात् । आर्द्धधातुकस्ये-
ड्वलादेः । ७।२।३५। वलादेरार्धधातुकस्येडागमः स्यात् । वभूविथ । वभूवथुः ।
वभूव । वभूव । वभूविथ । वभूविम ॥ अनद्यतने लुट् । ३।३।१५। भविष्यत्यनद्यत-
नेऽर्थे धातोर्लुट् । स्यतासी लृलुटोः । ३।१।३३। धातोरेतौ स्तो, लृलुटोः परतः ।
शवाद्यपवादः । 'लृ' इति लृङ्लुटोर्ग्रहणम् ॥ आर्द्धधातुकं शेषः । ३।४।११४।
तिङ्शिङ्गयोऽन्यो 'धातो'रिति विहितः प्रत्यय एतत्संज्ञः स्यात् । इट् । लुटः प्रथम-
स्य डारौरसः । २।४।८५। एते क्रमादादेशाः स्युः । डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि
टेलोपः । भविता ॥ तासस्त्योल्लोपः । ७।४।५०। सादौ प्रत्यये परे ॥

त्संज्ञायां लोपे च लः स्थाने 'तिसस्त्रिंशो' इत्यादिना प्रथमपुरुषैकवचनविवक्षायां
तिपि, तत्स्थाने 'परस्मैपदानां णलुतुसुस्थलथुसणत्वमाः' इति णलि, णकारस्य
'लुट्' इतीत्संज्ञायां, लस्य च 'हलन्त्यम्' इतीत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति तयो-
ल्लोपे, नित्यत्वाद् गुणवृद्धी वाधित्वा 'भुवो वुग्लुङ्लिटोः' इति भूधातोः वुगागमेऽनु-
बन्धलोपे कित्वात् अन्त्यावयवे 'भूव् + अ' इति जाते तत्र 'लिटि धातोरनभ्यासस्य'
इति द्वित्वे 'भूव् भूव् अ' इति जाते 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यनेन पूर्वस्य 'भूव्' इत्यस्या-
भ्याससंज्ञायां 'हलादिः शेषः' इति व्लोपे 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'भवतेरः' इति
अभ्यासोकारस्य अकारे 'अभ्यासे चर्च' इति अभ्याससंज्ञकस्य भस्य वकारे 'वभूव'
इति रूपम् । वभूविथ । भूधातोः 'परोच्चे लिट्' इति लिटि अनुबन्धलोपे तत्स्थाने
मध्यमपुरुषैकवचनविवक्षायां सिपि, तस्य 'लिट् च' इत्यार्धधातुकसंज्ञायां 'परस्मै-
पदानां णलुतुसुस्थलथुसणत्वमाः' इति सिपः स्थाने थलादेशे लस्येत्संज्ञायां लोपे च
'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति थस्य इडागमेऽनुबन्धलोपे 'भुवो वुग् लुङ्लिटोः' इति
वुगागमे कस्येत्संज्ञायां लोपे च कित्वादन्त्यावयवे जाते 'लिटि धातोरनभ्यासस्य'
इति भूव् इत्यस्य द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्याससंज्ञायां 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'भवतेरः'
इत्यभ्यासोकारस्याकारे 'अभ्यासे चर्च' इति जश्त्वेन वकारे 'वभूविथ' इति रूपम् ।
भविता । भूधातोः 'अनद्यतने लुट्' इति लुटि तस्य स्थाने प्रथमपुरुषस्यैक-

'लृ' के स्थानमें 'चर्' हो । लिट् — लिङादेश 'तिङ्' की आर्धधातुकसंज्ञा हो । आर्ध—
वलादि आर्धधातुकको 'इट्' का आगम हो । अन—भविष्यत् अनद्यतन अर्थमें धातुसे
'लुट्' लकार हो । (यथा—स्वो गन्ताऽस्मि) । स्यता—धातुसे 'स्य' प्रत्यय और 'तासि' प्रत्यय
हो—'लृ' (लृट्-लृङ्) और 'लुट्' के परे (यथाक्रमसे) । आर्ध—'तिङ्'-शित् से मित्र
(शेष) जो 'धातोः' इस अधिकारमें विहित प्रत्यय उसकी आर्धधातुकसंज्ञा हो । लुटः—'लुट्'
लकार सम्बन्धी प्रथमपुरुषके स्थानमें क्रमसे डा, रौ, रस् आदेश हों । तास्—तास् और

रि च । ७।४।५१। रादौ प्रत्यये तथा । भवितारौ । भवितारः । भवितासि । भविता-
स्थः । भवितास्थ । भवितास्मि । भवितास्वः । भवितास्मः ॥ लृट् शेषे च । ३।३।१३।
भविष्यदर्थाद्घातोर्लृट् क्रियार्थायां क्रियायामसत्यां, सत्यां च । स्यः । इट् । भविष्यति ।
भविष्यतः । भविष्यन्ति । भविष्यसि । भविष्यथः । भविष्यथ । भविष्यामि । भविष्या-
वः । भविष्यामः ॥ लोट् च । ३।३।१६२। विध्यादिष्वर्थेषु धातोर्लोट् । आशिषि
लिङ्लोटौ । ३।३।१७३। एरुः । ३।४।८६। लोट इकारस्य उः । भवतु । तुह्योस्ता-
तङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम् । ७।१।३५। आशिषि तुह्योस्तातङ् वा । परत्वात्सर्वादेशः ।

वचनविवक्षायां तिप्प्रत्यये पकारस्येत्सञ्ज्ञायां लोपे च 'तिङ्शित्सार्वाधातुकम्' इति
सार्वधातुकसञ्ज्ञायां 'कर्तरि शप्' इति शपि प्राप्ते तं प्रवाध्य 'स्यतासी लुलुटोः'
इति तासप्रत्यये कृते 'आर्धधातुकं शेषः' इति तास आर्धधातुकसञ्ज्ञायाम् 'आर्ध-
धातुकस्येड्वलादेः' इति इडागमे अनुबन्धलोपे टित्वात्तास आद्यावयवे जाते 'भू इ'
तास् ति' इति स्थिते 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे अवादेशे 'लुटः प्रथमस्य
डारौरसः' इति तिपो ङादेशेऽनुबन्धलोपे डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेलोपे 'भविता'
इति रूपम् । भविष्यति । भूधातोः 'लृट् शेषे च' इति लृटि ऋकारटकारयोरित्स-
ञ्ज्ञायां लोपे च लस्थाने 'तिससृक्षि०' इत्यादिना प्रथमपुरुषैकवचनविवक्षायां
तिपि, पकारस्येत्सञ्ज्ञायां लोपे च 'तिङ्शित्सार्वाधातुकम्' इति सार्वधातुकसञ्ज्ञायां
'कर्तरि शप्' इति प्राप्तं शप् वाधित्वा 'स्यतासी लुलुटोः' इति स्यप्रत्यये तस्य
'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकसञ्ज्ञायाम् 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इतीडाग-
मेऽनुबन्धलोपे टित्वादाद्यावयवे जाते 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इतीगन्ताङ्गस्य 'भू'
इत्यस्य गुणे 'एचोऽयवायावः' इत्यवादेशे 'भव इ स्य ति' इति जाते संयोगे च कृते
'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे 'भविष्यति' इति रूपम् । भवतु । सत्तार्थकभूधातोः
'लोट् च' इति 'आशिषि लिङ्लोटौ' इति वा लोटि, ओकारटकारयोरित्सञ्ज्ञायां
लोपे च लस्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तिपि, पकारस्येत्सञ्ज्ञायां लोपे च 'तिङ्शित्सार्वा-
धातुकम्' इति सार्वधातुकसञ्ज्ञायां 'कर्तरि शप्' इति शपि, शकारपकारयोरित्सं-

अस्तिके सकारका लोप हो सादि प्रत्ययके परे ।

रि च—तास् और अस्तिके सकारका लोप हो सादि प्रत्ययके परे ।

लृट्—भविष्यत् अर्थमें धातुसे 'लृट्' लकार हो, चाहे क्रियार्थक क्रिया रहे या न रहे ।

नोटः—एक क्रिया यदि दूसरी क्रियाके लिये हो रही हो तो उस क्रियाको 'क्रियार्थक
क्रिया' कहते हैं । यथा—'पठितुं गच्छति' इति—'पठिष्यति' ।

लोट्—विध्यादि अर्थमें धातुसे लोट् लकार हो । आशि—आशीर्वाद अर्थमें धातुसे
लिङ् और लोट् लकार हो । एरुः—लोट् सम्बन्धी इकारको उकार हो । तुह्यो—आशीर्वाद

ननु 'डिच्चे'त्यस्य क्वावकाश इति चेच्छृणु, अनन्यार्थङ्कारयुक्ताऽनङादिविति गृहाण । भवतात् । लोटो लङ्वत् । ३।४।८५। लोटस्तामादयः, सलोपश्च । तस्थस्थमिपां तान्तन्ताऽमः ३।४।१०१। डितश्चतुर्णां तसादीनां तामादयः स्युः । भवताम् । भवन्तु । सेह्यपिच्च । ३।४।८७। लोटः सेहिः, सोऽपिच्च ॥ अतो हेः । ६।४।१०५। लुक् । भव । भवतात् । भवतम् । भवत ॥ मेर्निः । ३।४।८९। लोटः ॥ आङुत्तमस्य पिच्च । ३।४।९२। लोडुत्तमस्याऽऽट् स पिच्च । हिन्योरुत्वं न, इकारोच्चारणसामर्थ्यात् । भवानि । ते प्राग्धातोः । १।४।८०। ते = गत्युपसर्गसंज्ञका धातोः प्रांगेव प्रयोक्तव्याः । आनि लोट् । ८।४।१६। उपसर्गस्याङिमितात्परस्य लोडादेशस्याऽऽनीत्यस्य नस्य णः स्यात् । प्रभवाणि । (दुरः षत्वणत्वयोरुपसर्गत्वप्रतिषेधो

ज्ञायां लोपे च, शित्वात् 'तिङ्शित् सार्वधातुकम्' इति शपोऽकारस्यापि सार्वधातुकसन्ज्ञायां 'सार्वधातुकयोः' इति गुणे 'एचोऽयवायावः' इत्यवादेशे 'भवति' इति जाते 'एरुः' इति तिप इकारस्य उत्वे 'भवतु' इति सिद्धम् । आशिपितु 'तुह्योस्तातङ्ङाशिप्यन्यतरस्याम्' इति तु इत्यस्य सर्वस्य स्थाने पाक्षिकेऽनेकात्स्वतात्तडादेशेऽनुबन्धलोपे 'भवतात्' इति भवति, तदभावे 'भवतु' इति च सिद्ध्यति । भवानि । भूधातोः 'लोट् च' इति लोटि तत्स्थाने 'तिससृक्षि०' इत्यादिना उत्तमपुरुषैकवचने मिपि, अनुबन्धलोपे तस्य सार्वधातुकत्वे शपि, अनुबन्धलोपे शित्वात्सार्वधातुकत्वे गुणेऽवादेशे 'भव + मि' इति जाते 'लोटो लङ्वत्' इति लङ्कार्यातिदेशेन 'तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः' इति मिपोऽमादेशे प्राप्ते तं बाधित्वा 'मेर्निः' इति मेन्यादेशे, इकारोच्चारणसामर्थ्यात् नेरिकारस्योत्वाभावे 'आङुत्तमस्य पिच्च' इत्याडागमेऽनुबन्धलोपे 'भव आ नि' इति जाते 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति पूर्वपरयोः स्थाने दीर्घे 'भवानि' इति रूपम् । प्रभवाणि । भूधातोर्लोटि, तत्स्थाने मिपि शपि गुणेऽवादेशे मेन्यादेशे आडागमे दीर्घे 'ते प्राग्धातोः' इति सूत्रबलात्प इत्युपसर्गस्य पूर्वमेव प्रयोगे 'आनि लोट्' इति णत्वे च कृते तत्साधु । दुरः षत्वेति । षत्वण-

अर्थमें 'तु' और 'हि' के स्थानमें विकल्पसे तातङ् आदेश हो । लोटो-लोट् के स्थानमें लङ्के समान कार्य (तामादि आदेश और वस्-मस्के सकारका लोप) हो । तस्थ-डित् लकार सन्बन्धी तसादि (तस्-थस्-थ-मिप्) के स्थानमें तामादि (ताम्-तम्-त-अम्) आदेश हों । सेह्य-लोट् सन्बन्धी 'सि' के स्थानमें 'हि' आदेश हो और वह 'अपित्' हो । अतो-अदन्त अङ्गसे पर 'हि' का लुक् हो । मेर्निः-लोट् सन्बन्धी 'मि' के स्थानमें 'नि' आदेश हो । आङु-लोट् लकार सन्बन्धी उत्तम पुरुषको 'आट्' का आगम हो और वह आट् पित् हो । ते प्रा-गति संज्ञक और उपसर्ग संज्ञक पूर्वोक्त प्रादिका धातुसे पहले प्रयोग करना चाहिये । आनि-उपसर्गस्थ निमित्त (रेफ-षकार) से पर लोट् के स्थानमें हुआ 'आनि' के नकार को नकार हो । दुरः-षत्व और णत्वके विषयमें 'दुर्' को उपसर्ग का

वक्तव्यः) । दुःस्थितिः । दुर्भवानि । (अन्तःशब्दस्याऽङ्गिविधिणत्वेषूपसर्गत्वं वाच्यम्) । अन्तर्भवाणि । नित्यं ङितः । ३।४।९९। सकारान्तस्य ङितुत्तमस्य नित्यं लोपः स्यात् । 'अलोऽन्त्यस्येति' सलोपः । भवाव । भवाम् । अनद्यतने लङ् । ३।२।१११। अनद्यतनभूतार्थवृत्तेर्धातोर्लङ् । लुङ्लङ्लङ्क्ष्वडुदात्तः । ६।४।७१। एच्चङ्स्याऽट् । इतश्च । ३।४।१०। ङितो लस्य परस्मैपदमिकारान्तं यत्तस्य लोपः । अभवत् । अभवताम् । अभवन् । अभवः । अभवतम् । अभवत । अभवम् । अभवाव । अभवाम् ॥ विधिनिमन्त्रणाऽऽमन्त्रणाऽधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु

त्वयोः कर्तव्ययोः दुर उपसर्गत्वप्रतिषेध इत्यर्थः । दुःस्थितिः । अत्र 'उपसर्गात्सु-
नोति' इति षत्वं न भवति । दुर्भवानि । अत्र 'आनि लोट्' इति णत्वं न भवति ।
अन्तःशब्दस्येति । अङ्गविधौ किविधौ णत्वे च कर्तव्ये अन्तर इत्यस्य उपसर्गत्व-
मित्यर्थः । प्रादित्वाभावादप्राप्ते वचनम् । अङ्ग उदाहरणम्—'अन्तर्धा' इति । 'आ-
तश्चोपसर्गो' इत्यङ् टाप् । किविधेरुदाहरणम्—'अन्तर्धिः' इति । 'उपसर्गो धोः
किः' । अन्तर्भवाणि । अन्तरूपपदाद् भूधातोर्लोपि, तत्स्थाने मिपि, शपि, गुणेऽवा-
देशे आटि दीर्घे 'मेनिः' इति मेन्यादेशे 'अन्तःशब्दस्याङ्गिविधिणत्वेषूपसर्गत्वं
वाच्यम्' इति अन्तरित्यस्योपसर्गत्वे 'आनि लोट्' इति णत्वे 'अन्तर्भवाणि' इति
रूपम् । अभवत् । भूधातोः 'अनद्यतने लङ्' इति लङि, ङस्य 'हलन्त्यम्' इति,
लकारोत्तरवर्तिनोऽकारस्य च 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इतीत्संज्ञायां 'तस्य लोपः'
इति लोपे, लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचनविवक्षायां 'तिसस् झि०' इति तिपि, पस्ये-
त्संज्ञायां लोपे च 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति तिपः सार्वधातुकसंज्ञायां 'कर्तरि
शप्' इति शपि, शकारपकारयोरित्संज्ञायां लोपे च तस्य शित्वात् 'तिङ्शित्सार्व-
धातुकम्' इति सार्वधातुकसंज्ञायां 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति भूधातोर्लका-
रस्य गुणे ओकारे जाते 'एचोऽयवायावः' इत्यवादेशे 'भवति' इति जाते 'लुङ्-
लङ्लङ्क्ष्वडुदात्तः' इत्यङ्गस्याडागमे टस्येत्संज्ञायां लोपे च 'आद्यन्तौ टकितौ'
इति टित्वादाद्यावयवे जाते 'इतश्च' इति तिप् इकारस्य लोपे 'अभवत्' इति
रूपं सिद्धम् । विधिनिमन्त्रणेत्यादि । 'धातोः' इत्यधिक्रियते । विधिः—प्रेरणम्,

प्रतिषेध कहना चाहिये (उपसर्गसंज्ञा नहीं हो) । अन्तः—'अङ्' विधि, 'कि' विधि और
'णत्व' विधिके विषयमें अन्तर शब्दको भी उपसर्ग कहना चाहिये । नित्यं—ङित लकार
सम्बन्धी सकारान्त उत्तम पुरुषके सकारका नित्य लोप हो । अन—अनद्यतन भूतार्थवृत्ति
धातुसे 'लङ्' लकार हो । लुङ्-लुङ्, लङ्, लङ्, के परे अङ्ग को 'अट्' का आगम हो
तथा वह उदात्त हो । इतश्च—ङित् लकार सम्बन्धी जो इकारान्त परस्मैपद, उसके अन्त
(इकार) का लोप हो ।

विधि—विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, संप्रश्न और प्रार्थना अर्थोंमें धातुसे

लिङ् । ३।३।१६१। एव्येषु धातोलिङ् । यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च । ३।४।१०३। लिङः परस्मैपदानां यासुडागमो, ङिच्च । ङित्वोक्तैर्ज्ञायते—‘कचिदनु-
बन्धकार्येऽप्यनल्विधाविति प्रतिषेध’ इति, ते न ‘वक्ष्यमाणे’त्यत्र टित्वादुगित्वाच्च
ङिच्न । लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य । ७।२।७९। सार्वधातुकलिङोऽनन्त्यस्य सस्य
लोपः । इति प्राप्ते । अतो येयः ७।२।८०। अतः परस्य सार्वधातुकावयवस्य
‘यास्’ इत्यस्य इय् । गुणः । ‘लोपो व्योर्वलि’ । भवेत् । भवेताम् । झेर्जुस्
। ३।४।१०८। लिङो ऋर्जुस् । उस्यपदान्तात् । ६।१।९६। अपदान्तादवर्णादुसि
परे पररूपमेकादेशः स्यात् । इति प्राप्ते । परत्वान्नित्यत्वाच्चाऽतो येय इति प्राञ्चः ।
यद्यप्यन्तरङ्गत्वात्पररूपं न्याय्यं, तथापि ‘यास्’ इत्यस्य ‘इय्’ इति व्याख्येयम् ।

भृत्यादेर्निकृष्टस्य प्रवर्तनम् । निमन्त्रणम्—नियोगकरणम्, आवश्यकं श्राद्धभोज-
नादौ दौहित्रादेः प्रवर्तनम् । आमन्त्रणम्—कामचारानुज्ञा । अधीष्टः—सत्कारपूर्वको
व्यापारः । इत्यादि । भवेत् । भूधातोः ‘विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु
लिङ्’ इति लिङि इकारङ्कारयोरित्संज्ञायां लोपे च लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने
तिपि, परस्येत्संज्ञायां लोपे च ‘तिङ्शित्सार्वधातुकम्’ इति सार्वधातुकसंज्ञायां
‘कर्तरि शप्’ इति शपि, अनुबन्धलोपे ‘तिङ्शित्सार्वधातुकम्’ इति शित्वात् सार्व-
धातुकसंज्ञायां ‘सार्वधातुकार्धधातुकयोः’ इति गुणे ‘एचोऽयवायावः’ इत्यवादेशे
‘इतश्च’ इतीकारलोपे ‘यासुट्परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च’ इति यासुटि, अनुबन्धलोपे
‘लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य’ इति यासः सस्य लोपे प्राप्ते ‘अतो येयः’ इति
यासः स्थाने इयादेशे ‘आद्गुणः’ इति गुणे ‘भवेय् त्’ इति जाते ‘लोपो व्यो-

‘लिङ्’ लकार हो ।

नोटः—विध्यादि अर्थोंमें ‘लोट्’ का भी विधान हो चुका है । अब यहां दोनोंका स्पष्टी-
करण इस प्रकार है—विधिः = प्रेरणम्, भृत्यादेर्निकृष्टस्य प्रवर्तनम् । जैसे—भवान् वस्त्रं
‘क्षालयतु क्षालयेद्वा । निमन्त्रणं = नियोगकरणम्, आवश्यकं श्राद्धभोजनादौ दौहित्रादेः प्रव-
र्तनम् । जैसे—इह मातामहश्राद्धे दौहित्रादयो भवन्तः भुञ्जन्ताम् वा भुञ्जीरन् । आमन्त्रणं =
कामचारानुज्ञा । जैसे—मत्पुत्रोत्सवे भवान् आगच्छतु, आगच्छेद्वा । अधीष्टः = सत्कारपूर्वको
व्यापारः । जैसे—मदारमजं चन्द्रशेखरं भवान् अध्यापयतु अध्यापयेद्वा । सम्प्रश्नः = सम्प्र-
धारणम् । जैसे—किं भोः व्याकरणं भवान् अधीयीत । प्रार्थनं = याचना । यथा—भवान्
फलं मे ददातु दद्याद्वा ।

‘यासु’—लिङ् लकार सम्बन्धी परस्मैपद को ‘यासुट्’ का आगम हो और वह ङित् हो ।
लिङः—‘सार्वधातुक लिङ् (विधिलिङ्) सम्बन्धी अनन्त सकारका लोप हो । अतो—‘अत्’
से पर सार्वधातुकावयव ‘यास्’ को ‘इय्’ आदेश हो । झेर्जु—लिङ् लकार सम्बन्धी ‘झि’ के
स्थानमें ‘जुस्’ हो । उस्य—अपदान्त अवर्णसे ‘उस्’ परे रहते पूर्व-परके स्थानमें पररूप

एवञ्च सलोपस्याऽपवाद इय् । 'अतो येय' इत्यत्र तु सन्धिरार्षः । भवेयुः । भवेः । भवेतम् । भवेत । भवेयम् । भवेव । भवेम ॥ लिङाशिषि । ३।४।११६। आशिषि लिङ्स्तिङाद्धधातुकसंज्ञः स्यात् । किदाशिषि । ३।४।१०४। आशिषि लिङो यासुट् कित्स्यात् । 'स्को'रिति सलोपः । क्ङिति च । १।१।५। गित्किङ्ङि-
न्निमित्ते इग्लक्षणे गुणवृद्धी न स्तः । भूयात् । भूयास्ताम् । भूयासुः । भूयाः । भूयास्तम् । भूयास्त । भूयासम् । भूयास्व । भूयास्म । लुङ् । ३।२।११०। भूतायै धातोर्लुङ् । माङि लुङ् । ३।३।१७५। माङ्युपपदे धातोर्लुङ् स्यात् । सर्वलकाराऽ-
पवादः । स्मोत्तरे लङ् च । ३।३।१७६। स्मोत्तरे माङि लङ् स्याल्लुङ् च । च्लि लुङि । ३।१।४३। शबाद्यपवादः । च्लेः सिच् । ३।१।४४। इचावितौ । गाति-
स्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु । २।४।७७। एभ्यः परस्य सिचो लुक् स्यात् परस्मैपदेषु । गापाविहेणादेशपिवती गृह्यते । भूसुवोस्तिङि । ७।३।८८। 'भू' 'सू' एतयोः सार्वधातुके तिङि परे गुणो न । अभूत् । अभूताम् । अभूवन् । अभूः । अभूतम् ।

वलि' इति य्लोपे 'भवेत्' इति रूपं सिद्धयति । भूयात् । भूधातोः 'आशिषि लिङ्लोटौ' इति लिङि, तत्स्थाने 'तिस्रसृञि०' इत्यादिना तिपि 'लिङाशिषि' इति तिपि आर्धधातुकत्वात् शपोऽभावे 'इत्श्च' इतीकारलोपे यासुटि 'सुट्तिथोः' इति सुटि, अनुबन्धलोपे 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति सलोपे 'ङ्ङिति च' इति गुणनिषेधे, भूयात्' इति सिद्धम् । गापाविहेति । 'गापोर्ग्रहणे इण्पिद्वयोर्ग्रहणम्' इति भाष्यादित्यर्थः । भूसुवोस्तिङि । अत्र 'मिदेर्गुणः' इत्यतो गुण इति 'नाभ्य-
स्तस्याचि पिति सार्वधातुके' इत्यतो नेति सार्वधातुक इति चानुवर्तते । सू इत्य-
नेन पूङ् प्राणिगर्भविमोचने इत्यस्यैव ग्रहणन्तदाह—भूसू एतयोरित्यादना । अभूत् । भूधातुतः 'लुङ्' इति लुङि 'लुङ्लङ्लुङ्चवहुदात्तः' इत्यङागमे लुङ्स्तिपि 'च्लि लुङि' इति च्लौ 'च्लेः सिच्' इति सिचि इचावित्सञ्ज्ञकौ विधाय

एक आदेश हो । लिङा—आशीर्वाद अर्थमें लिङादेश 'तिङ्' को आर्धधातुकसंज्ञा हो । किदा—आशीर्वाद अर्थमें लिङ् सम्बन्धी यासुट् 'कित्' हो । क्ङि—गित्, कित् और क्ङि निमित्तक इग्लक्षणं गुण-वृद्धि नहीं हो । लुङ्—भूतार्थवृत्ति धातुसे लुङ् लकार हो । माङि—'माङ्' उपपद रहने पर धातुसे लुङ् लकार हो । स्मो—'स्म' उत्तर (परक) 'माङ्' उपपद रहते धातुसे 'लङ्' तथा चकारात् लुङ् लकार हो । च्लि—धातुसे 'च्लि' प्रत्यय हो, लुङ्के परे । च्लेः—च्लिके स्थानमें 'सिच्' आदेश हो । गाति—इणादेश 'गा' धातु तथा 'लघु-
संज्ञक' धातु एवं 'पा' और 'भू' धातुओं से पर जो सिच् उसका लुक् हो, परस्मैपदके परे ।

भूसू—'भू' तथा 'सू' धातुओंको गुण नहीं हो, सार्वधातुक तिङ्के परे । न मा—

अभूत् । अभूवम् । अभूव । अभूम् । न माङ्योगे । ६।४।७४। माङ्योगे अडाटौ न स्तः । मा भवान्भूत् । मा स्म भवत् । मा स्म भूत् ॥ लिङ्निमित्ते लृङ् क्रिया-
तिपत्तौ । ३।३।१२९। हेतुहेतुमद्भावादि लिङ्निमित्तं, तत्र भविष्यदर्थाद्भातोर्लृङ्,
क्रियाया अनिष्पत्तौ गम्यमानायाम् । अभविष्यत् । अभविष्यताम् । अभविष्यन् ।
अभविष्यः । अभविष्यतम् । अभविष्यत । अभविष्यम् । अभविष्याव । अभवि-
ष्याम । 'सुवृष्टिश्चेदभविष्यत्तदा सुभिक्षमभविष्यत्' इत्यादि ज्ञेयम् । 'प्रणिभवति'
इत्यादौ उपसर्गणामसमस्तत्वेऽपि संहिता नित्या । तदुक्तम्—

‘संहितैकपदे नित्या, नित्या धातूपसर्गयोः ।

नित्या समासे, वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥ १ ॥

धात्वर्थं बाधते कश्चित्कश्चित्तमनुवर्त्तते ।

विशिनष्टि तमेवाऽर्थमुपसर्गगतिस्त्रिधा ॥ २ ॥ इति ।

तयोर्लोपे 'अभू स् ति' इति जाते 'गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु' इति
सलोपे 'इतश्च' इतीकारलोपे 'भूसुबोस्तिङि' इति गुणाभावे च 'अभूत्' इति ।
अभविष्यत् । भूधातुतः 'लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ' इति लृङि तत्स्थाने
तिपि अनुबन्धलोपे 'इतश्च' इतीकारलोपे शपं बाधित्वा 'स्यतासी लृलुटोः'
इति स्यप्रत्यये 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वला-
देः' इतीडागमे गुणेऽवादेशे अडागमे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे 'अभ-
विष्यत्' इति रूपम् । सुवृष्टिश्चेदिति । सुवृष्टिर्भवेच्चेत् सुभिक्षमपि भवष्य-
तीति लिङर्थे लृङ्लकार इति भावः । प्रभवति, प्रनिभवति, इत्यत्रोपसर्गणामस-
मस्तत्वेऽपि संहितायाः नित्यत्वम् । अन्यथा प्रनिभवति इत्यादौ संहिताऽविवक्षाया-
मेव णत्वविकल्पे सिद्धे 'शेषे विभाषेत्यादौ विभाषाग्रहणस्य वैयर्थ्यापत्तेः । अत
एवोक्तम्—संहितैकपदं नित्येति । एकपदमित्यनेन अखण्डं पदं विवक्षितम् । 'नित्या
समासे' इति लिङ्गात् । अखण्डत्वं च पदभिन्नोत्तरखण्डकत्वम् । धातूपसर्गयोरपि सं-
हिताया नित्यत्वात् । प्रणिभवतीत्यादौ वैभाषिकणत्वार्थं विभाषाग्रहणं सार्थकम् ।

'माङ्' के योगमें अङ्गको 'अट्' या 'आट्' का आगम नहीं हो । लिङ्नि—भविष्यत् अर्थमें
विद्यमान् धातुसे हेतुहेतुमद्भावादि अर्थमें 'लृङ्' लकार हो क्रियाकी अनिष्पत्ति यदि गम्यमान रहे
संहितैक—एक पदमें, धातु और उपसर्गकी तथा समासमें संहिता नित्य होती है ।

केवल वाक्यमें वक्ताकी इच्छापर रहती है । ('यथा-इन्दुमती उवाच' अथवा 'इन्दुमत्युवाच')

धात्वर्थ—कोई उपसर्ग धातुके मुख्यार्थको बाधकर नवीन अर्थका बोध करता है, कोई
धात्वर्थका ही अनुवर्तन करता है और कोई विशेषण होकर उसी धात्वर्थको और भी स्फुटित
कर देता है । इस प्रकार उपसर्गकी गति तीन प्रकारकी होती है ।

सत्ताद्यर्थनिर्देशश्चोपलक्षणं, 'यागात्स्वर्गो भवती'त्यादौ 'उत्पद्यते' इत्याद्यर्थात् ।
 उपसर्गास्त्वर्थविशेषस्य द्योतकाः । प्रभवति । पराभवति । सम्भवति । अनुभवति ।
 अभिभवति । उद्भवति । परिभवति—इत्यादौ विलक्षणायावगतेः । उक्तञ्च—

उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते ।

प्रहाराऽऽहारसंहार-विहार-परिहारवत् ॥ १ ॥ इति ।

अत सातत्यगमने । अतति । अततः । अतन्ति । अतसि । अतथः ।
 अतथ । अतामि । अतावः । अतामः । अत आदेः । ७।४।७०। अभ्यासस्याऽऽदेरतो
 दीर्घः स्यात् । पररूपाऽपवादः । आत । आततुः । आतुः । आतिथ । आतथुः ।

संहिता समासे नित्यत्वं भजते । वाक्ये तु सा विवक्षाश्रया भवति । सत्ताद्यर्थेति ।
 'भू सत्तायाम्' इति केवलं सत्तार्थः भूधातोश्चेत् 'हिमवतो गङ्गा प्रभवति' इति उत्प-
 त्यर्थ असंगतो भवेत् । अत एव धातूनां सत्ताद्यर्थनिर्देशः केवलम् उपलक्षणं
 मन्वते वैयाकरणाः । अर्थप्रदर्शनार्थं तस्यावश्यकत्वात् । उपसर्गेणेति । उपसर्गेण
 धातोः सम्बन्धे सति अर्थवैशिष्ट्यप्रतीयमानत्वाद् धातूनामनेकार्था इति सिद्धा-
 न्तितम् । साऽन्यार्थप्रतीतिस्तु उपसर्गवशादेव । अतः उपसर्गाः अर्थद्योतकाः
 न तु वाचकाः । तत्र वाचकत्वं चेत् स्वतन्त्रतया प्रादीनां तथाविधार्थविमर्शाभावात् ।
 अत एव मृत्तिकायां घटजननशक्तिर्वर्तते न तु जले, अत एव मृत्तिका घटसमवायिका-
 रणम् इतिवत् अर्थस्य स्थितिः धातौ वर्तते, अत एव उपसर्गसंयोगे सति विशिष्टार्थ-
 प्रतीतिरिति अभिधावाच्यत्वं धातोरेव । द्योतकत्वं प्रादीनां सिद्धमेव । सातत्यगम-
 नम्—निरन्तरगमनम् । अतति । अत् धातोः 'वर्तमाने लट्' इति लटि, प्रथमपुरुषै-
 कवचनविवक्षायां 'तिस्रसिद्धि०' इति तिपि, 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातु-
 कसञ्ज्ञायाम् 'कर्तरि शप्' इति शपि 'शप्' इत्यनयोरित्सञ्ज्ञायां लोपे च शित्त्वात्
 शपः सार्वधातुकसञ्ज्ञायां मिलित्वा 'अतति' इति रूपम् । आत । अत्-धातोरिति
 तस्य स्थाने तिपि 'परस्मैपदानाम्' इत्यादिना तिपो णलादेशेऽनुबन्धलोपे 'लिटि
 धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इति अभ्याससञ्ज्ञायाम् 'ह्लादिः
 शेषः' इति लोपे 'अ अत् अ' इति जाते अभ्यासस्य दीर्घे. सवर्णदीर्घे च तत्सिद्धिः ।

उपसर्गेण—विविध उपसर्गके बलसे धात्वर्थ भी विविध अर्थमें परिवर्तित होता है ।
 यथा—हरणार्थक 'हृ' धातुमें 'प्र' लगने पर 'प्रहार' (आघात), 'आ' लगनेपर 'आहार'
 (भोजन), 'सं' लगने पर 'संहार' (सर्वनाश), 'वि' लगनेपर 'विहार' (क्रीड़ा) और
 'परि' लगने पर 'परिहार' (समाधान) आदि ।

अत—अभ्यासके आदि अत् (ह्रस्व अकार) को दीर्घ हो ।

आत । आत । आतिव । आतिम । अतिता । अतिष्यति । अततु । आडजा-
दीनाम् । ६।४।७२। अजादेरङ्गस्याऽऽड् लुङ्-लङ्-लुङ्क्षु । आतत् । अतेत् ।
अत्यात् । अत्यास्ताम् । लुङि सिचि इडागमे कृते । अस्तिसिचोऽपृक्ते । ७।३।
९६। विद्यमानात्सिचोऽस्तेश्च परस्याऽपृक्तस्य हल् ईडागमः । इट ईटि । ८।२।२८।
इटः परस्य सस्य लोपः स्यादीटि । (सिज्जलोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः)
आतीत् । आतिष्ठाम् । सिज्भ्यस्तविदिभ्यश्च । ३।४।१०९। सिचोऽभ्यस्ताद्वि-
देश्च परस्य ङित्सम्बन्धिनां झेर्जुस् । आतिषुः । आतीः । आतिष्ठम् । आतिष्ठ ।

अतिता । अत्धातोः 'अनद्यतने लुट्' इति लुटि, तत्स्थाने तिपि 'स्यतासी लृ-
लुटोः' इति तासि 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकसंज्ञायाम् 'आर्धधातुकस्येड्व-
लादेः' इतीडागमे अनुबन्धलोपे 'लुटः प्रथमस्य डारौरसः' इति तिपो डादेशेऽनुबन्ध-
लोपे डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेलोपे च तत्सिद्धिः । अतिष्यति । अत्धातोर्लुटि लृट-
स्तिपि, 'स्यतासी लृलुटोः' इति स्ये तस्यार्धधातुकसंज्ञायाम् 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः'
इति इडागमे सस्य षत्वे च कृते 'अतिष्यति' इति रूपम् । अतेत् । अत् धातोर्लिङि,
लिङ्स्तिपि, शपि, अनुबन्धलोपे यासुडागमे उटि गते यास् इयादेशे, गुणे, 'लोपो
व्योर्बलि' इति यलोपे तिप इकारस्य 'इतश्च' इति लोपे 'अतेत्' इति । अत्यात् ।
अत्धातोराशिपि लिङि, लिङ्स्तिपि, 'लिङाशिपि' इत्यार्धधातुकत्वे शबभावे
'यासुट् परस्मैपदेषु०' इति यासुटि, उटि गते 'इतश्च' इति तिप इकारस्य लोपे
'सुट्तिथोः' इति तकारस्य सुडागमे उटो लोपे 'अत्यास् स् त्' इति जाते 'स्कोः
संयोगाद्योरन्ते च' इति सकारद्वयस्यापि निवृत्तौ, मिलित्वा 'अत्यात्' इति रूपम् ।
आतीत् । अत्धातोर्लिङि, लुङ्स्तिपि, 'चिल लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति सिचि
इचि गते 'अत्+स्+ति' इति जाते 'आडजादीनाम्' इत्यादि 'आटश्च' इति
वृद्धौ, सिचः स आर्धधातुकसंज्ञायाम् 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इतीडागमे
'आति+स्+ति' इति जाते 'इतश्च' इति तिप इकारस्य लोपे 'तः' इत्यस्य 'अपृक्त
एकाल् प्रत्ययः' इत्यपृक्तसंज्ञायाम् 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईडागमे 'आत् इ स
ई त्' इति जाते 'इट ईटि' इति सलोपे, सलोपस्य त्रैपादिकत्वात् 'पूर्वत्रासिद्धम्'
इत्यसिद्धत्वेन दीर्घत्वाऽभावे प्राप्ते 'सिज्जलोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः' इति सिज्जलोप-
स्यासिद्धत्वाभावेन सवर्णदीर्घे 'आतीत्' इति रूपं सिद्धम् । आतीः । लुङि, लः सिपि,

आडजा—अजादि अङ्गको आट्का आगम हो' लुङ्, लङ्, लृङ् के परे । अस्ति—
विद्यमान् 'सिच्' से पर और 'अस्' धातुसे पर अपृक्त 'हल्' को ईट्का आमग हो । इट—
'ईट्' से पर 'सिच्' सम्बन्धी सकारका लोप हो, 'ईट्' के परे ।

सिज्—'सिच्' से पर, 'अभ्यस्त संबन्धक' से पर तथा 'विद्' धातुसे पर 'ङित्'

आतिषम् । आतिष्व । आतिष्म । आतिष्यत् । एवम्—अच रक्षणगतिकान्तिप्रीतित्-
प्यवगमप्रवेशश्रवणस्वाभ्यर्थ्याचनक्रियेच्छादीप्यवाप्यालिङ्गनर्हिसाऽऽदानभागवृद्धि-
षु । अवतीत्यादि । विध गत्याम् । पुगन्तलघूपधस्य च । ७।३।८६ पुगन्तस्य,
लघूपधस्य चाऽङ्गस्येको गुणः, सार्वधातुकार्धधातुकयोः । 'धात्वादे'रिति सः ।
सेधति । षत्वम् । सिषेध ॥

सेक्स्वप्स्वस्तृस्वस्तृस्त्याऽन्ये दन्त्याऽजन्तसादयः ।

एकाचः षोपदेशाः ष्वष्क्स्विद्स्वद्स्वञ्स्वप्स्मिङ् ॥ १ ॥

दन्त्यः केवलदन्त्यो, न तु दन्त्योष्ठजोऽपि, ष्वष्कादीनां पृथग् ग्रहणात् । असं-
योगाल्लिट् कित् १।२।५। असंयोगात्परोऽपिल्लिट् कित्स्यात् । सिषिधतुः । सिषिधुः ।
सिषेधिय । सिषिधयुः । सिषिध । सिषेध । सिषिधिव । सिषिधिम । सेधिता । सेधि-

च्लौ, सिचि, इटि, ईटि सलोपे, संवर्णदीर्घे, आटि, वृद्धौ, 'इतश्च' इति सिप इकारस्य
लोपे रुत्वे, विसर्गे च, तस्मिद्धिः । आतिष्यत् । अत्धातोर्लृङः प्रथमपुरुषैकवचने तिपि
समागते, तस्य सार्वधातुकसञ्ज्ञायाम् शपि प्राप्ते तन्वाधित्वा 'स्यतासी लृटोः'
इति स्ये; आर्धधातुकसञ्ज्ञायां इडागमे, अङ्गस्य आडागमे वृद्धौ च, इकारलोपे सस्य,
षत्वे च कृते 'आतिष्यत्' इति । सेधति । विधधातोर्लृटि, लटः स्थाने तिपि,
सार्वधातुकसञ्ज्ञायां शपि, अनुबन्धलोपे शित्वात्सार्वधातुकसञ्ज्ञायां 'धात्वादेः पः
सः' इति षस्य सत्वे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति लघूपधायाः गुणे मिलित्वा 'सेधति'
इति रूपम् । सिषेध । विधधातोर्लृटि तत्स्थाने, तिपि, षस्य सत्वे, 'लिट् च' इति तिप
आर्धधातुकत्वेन शपोऽभावे, तिपः स्थाने 'परस्मैपदानाम्' इत्यादिना णलादेशेऽनु-
बन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे अभ्याससञ्ज्ञायाम् अभ्यासकार्ये च
कृते 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति लघूपधगुणे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे च 'सिषेध'
इति । दन्त्याजन्तेति । दन्त्यश्च अञ्च दन्त्याचौ, तौ अन्तौ—अन्यवहितपरौ यस्य स दन्त्या-
जन्तः, तथाविधः, सः—सकारः आदिर्येषां ते दन्त्याजन्तसादयः । दन्त्यपरकः अच्परकश्च
यः सकारः, तदादय एकाचो धातवः षोपदेशा इति यावत् । अतिन्यासिदोषं परिहर्तुम्
सेकादिसप्तभिन्नत्वं लक्षणे निविष्टम् । अन्यासिदोषं परिहर्तुम्—ष्वष्कादीनां परिगणनम्
इति दिक् । सेधिता । विधधातुतोऽलुट्स्तिपि 'धात्वादेः षः सः' इति षस्य सत्वे 'स्यतासी

लकार सम्बन्धी 'क्षि' को 'जुस्' आदेश हो । पुगन्त—पुगन्त और लघुपध जो अङ्ग तदवयव
जो 'इक्' उसको गुण हो, सार्वधातुक, आर्धधातुक प्रत्ययके परे । सेक्स्वप्—सेक्-स्वप्-
स्व-स्तृ-स्वज्-स्तृ-स्वै-धातुओंसे अन्य जो दन्त्यान्त तथा अजन्त सकारादि धातु और
ष्वष्क्-स्विद्-स्वद्-स्वञ्-स्वप्-स्मिङ्धातु—ये षोपदेश हैं । असंयो—असंयोगसे पर अपित

ध्यति । सेधतु । असेधत् । सेधेत् । सिध्यात् । असेधीत् । असेधिष्यत् । सात्पदाद्योः
८।३।१११। सातेः, पदादेश्च सस्य षो न । इति निषेधे प्राप्ते । उपसर्गात्सुनोतिसुव-
तिस्यतिस्तौतिस्तोभतिस्थासेनयसेधसिचसञ्जस्वञ्जाम् । ८।३।६५। उपसर्ग-

लृलुटोः' इति तासि 'आर्धधातुकंशेषः' इति तासेरार्धधातुकत्वे लघूपधगुणे 'आर्धधा-
तुकस्येड्वल्लादेः' इतीटि 'लुटः प्रथमस्य डारौरसः' इति तेडात्वे डस्येत्सञ्ज्ञायां लोपे
च डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेकां पे 'सेधिता' इति सिद्धम् । सेधिष्यति । पिध्धातोर्लृटि,
तिपि, सार्वधातुकसंज्ञायां शपि प्राप्ते तम्बाधित्वा 'स्यतासी लृलुटोः' इति
स्ये आर्धधातुकसंज्ञायाम् इटि गुणे पत्वे च तत्सिद्धिः । सेधतु । पिध्धातोर्लोपि लोट-
स्तिपि, शपि, सार्वधातुकसंज्ञायां गुणे पस्य सत्वे इकारस्योत्वे च तत्सिद्धिः ।
असेधत् । पिध्धातोर्लृडि, लङस्तिपि, अटि, शपि, गुणे, पस्य सत्वे, 'इतश्च' इतीकार-
लोपे च कृते 'असेधत्' इति सिद्धम् । सेधेत् । पिध्धातोर्लृडि, लिङस्तिपि, पस्य
सत्वे शपि, अनुबन्धलोपे शित्वात्सार्वधातुकसंज्ञायां गुणे 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो
डिच्च' इति यासुटि, उटि गते 'अतो येयः' इति यास इयादेशे गुणे 'लोपो व्योर्व-
लि' इति यलोपे 'इतश्च' इति तिप इकारस्य लोपे 'सेधेत्' इति रूपम् । सिध्यात् ।
पिध्धातोराशिपि लिङि, लिङस्तिपि, अनुबन्धलोपे 'लिङाशिपि' इति तिप आर्धधा-
तुकत्वेन शपोऽभावे 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो डिच्च' इति यासुटि उटि गते 'किदा-
शिपि' इति यासुटः कित्त्वे, कित्वाद् गुणाऽभावे 'सुट् तिथोः' इति तकारस्य सुडागमे
उटि गते 'इतश्च' इतीकारलोपे 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति सकारद्वयस्य लोपे
'धात्वादेः षः सः' इति पस्य सत्वे च विहिते 'सिध्यात्' इति रूपम् । असेधीत् ।
पिध्धातोर्लृडि, लुङस्तिपि, पस्य सत्वे अनुबन्धलोपे सार्वधातुकसंज्ञायां शपि प्राप्ते
तम्बाधित्वा च्लौ, च्लेः सिचि, इचोरित्संज्ञायां लोपे च, स आर्धधातुकसंज्ञायाम्
इटि, गुणे, 'इतश्च' इति तिप इकारस्य लोपे अपृक्तसंज्ञायाम् 'अस्तिसिचोऽपृक्ते'
इति ईटि, 'इट ईटि' इति सलोपे तस्य 'सिज्जलोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः' इति
सिद्धत्वेन सवर्णदीर्घे अङ्गस्याङागमे 'असेधीत्' इति रूपम् । असेधिष्यत् । पिध्धातो-
र्लृडि, लृङस्तिपि, पस्य सत्वे, अनुबन्धलोपे तिपः सार्वधातुकसंज्ञायां शपि प्राप्ते,
तम्बाधित्वा 'स्यातासी लृलुटोः' इति स्ये, तस्यार्धधातुकसंज्ञायाम्, इटि गुणे, अटि,
पत्वे 'इतश्च' इति तिप इकारस्य लोपे 'असेधिष्यत्' इति रूपम् । सात्पदाद्योरिति ।
पश्च नचेति अनुवर्तते तेन सातेः सस्य पदादेः सस्य च प्राप्तं षत्वं नेत्यर्थः
फलितः । उपसर्गादिति । उपसर्गाच्चिमित्तादित्यनेनोपसर्गस्थादिणः परस्येति बोध्यम् ।

(ङित् भिन्न) 'लिट्' 'कित्' हो । सात् — 'साति' प्रत्ययके सकारको तथा पदादिके सकारको
'पत्व' नहीं हो । उपसर्गा—उपसर्गस्थ निमित्त (इण्-कवर्ग) से पर सुनोत्यादिधातु

स्थान्निमित्तादेषां सस्य षः । सदिरप्रतेः ८।३।६६। प्रतिभिन्नादुपसर्गात्सदेः सस्य षः ।
स्तन्भेः ८।३।६७। स्तन्भेः सौत्रस्य सस्य षः । अवाच्चालम्बनाविदूर्ययोः ८।३।६८।
अवात्स्तन्भेरेतयोरर्थयोः सस्य षः । वेश्च स्वनो भोजने । ८।३।६९। व्यवाभ्यां स्वनतेः
सस्य षो, भोजने । परिनिविभ्यः सेवसितसयसिबुसहसुट्स्तुस्वञाम् । ८।
३।७०। परिनिविभ्यः परेषामेषां सस्य षः स्यात् । निषेधति । प्राक् सितादङ्व्य-
वायेऽपि । ८।३।६३। 'सित्'-शब्दात्प्राग्ये सुनोत्यादयस्तेषामङ्व्यवायेऽपि सस्य षः
स्यात् । न्यषेधत् । न्यषेधीत् । न्यषेधिष्यत् । स्थादिष्वभ्यासेन चाऽभ्यास-
स्य । ८।३।६४। प्राक्सितात्स्थादिष्वभ्यासेन व्यवायेऽपि षत्वं स्यात्, एषामेव चाऽ-

सदिरप्रतेः । अत्र 'निषीदति' इत्युदाहरणम् । सदिति षष्ठ्यर्थे प्रथमा । सौत्रस्येति ।
'स्तन्भुस्तन्भु' इति सूत्रनिर्दिष्टस्य नोपधस्येत्यर्थः । प्रतिपदोक्तलक्षणेन नोपधस्य
सौत्रस्यैव षत्वविधौ ग्रहणात् 'विस्तम्भते' इत्यादौ न षत्वमिति भावः । अवाच्चालम्बनेति ।
अवोपसर्गपूर्वात् स्तन्भेः आलम्बनवैदूर्यार्थे गम्ये सस्य षत्वं भवतीति भावः । वेति ।
अवादित्यनुकर्षणार्थश्चकारः । परिनिविभ्य इति । सेवेत्यकार उच्चारणार्थः । पेवृ सेवा-
यामित्यस्य ग्रहणम् । सितेत्यनेन षिञ् बन्धने इत्यस्य ग्रहणम् । स च क्तान्तो
निरूप्यते । अस्यैव धातोः पचाद्यजन्तः संयशब्दः । षिबु तन्तुसन्ताने । पह मर्षणे ।
सुट् = आगमः । 'स्तुस्वज्योः' सिवादीनां वेति विकल्पार्थं पुनर्वचनम् । निषेधति ।
अत्र निपूर्वात् सिध् धातोः सेधति इतिरूपे सति 'उपसर्गात्सुनोति' इत्यादिना षत्व-
मिति भावः । प्राक्सितादिति । सुनोत्यादय इति । उपसर्गात्सुनोति इत्यादिसूत्रप्रोक्ताः
इति शेषः । न्यषेधत् इत्यादि । नि + असेधत्, नि + असेधीत्, नि + असेधिष्यत् इति
प्रकृतस्थितौ 'उपसर्गादि'ति प्राप्तं षत्वं न प्रसज्यते अडागमेन व्यवधानात् । अतः
'प्राक्सितादङ्व्यवायेऽपि' इत्यनेनाऽटा व्यवधानेनाऽपि षत्वमिति प्रोक्तरूपसिद्धिः ।
स्थादिष्वेति । अभ्यासेनेति तृतीयान्तम् । प्राक्सितादित्यनुवर्तने । उपसर्गादितिसूत्र-
स्थस्थाधातुसारभ्य परिनिविभ्यः सेवसितेत्यत्र सितशब्दात् प्राक् ये धातव उपात्तास्तेषु

सम्बन्धी सकारको षकार हो । सदिर—'प्रति' भिन्न उपसर्गस्थ निमित्तसे पर 'सद्' धातु
सम्बन्धी सकारको षकार हो । स्तन्भेः—उपसर्गस्थ निमित्तसे पर सौत्रस्थ 'स्तन्म' धातु
सम्बन्धी सकारको षकार हो । अवाच्चा—'अव' उपसर्गसे पर 'स्तन्म' धातु संबन्धी सकारको
षकार हो, आलम्बन और आविदूर्य (सामीप्य) अर्थ में । वेश्च—'वि' तथा 'अव' उपसर्गसे
पर 'स्वन्' धातु संबन्धी सकारको षकार हो । परिनि—परि, नि तथा वि उपसर्गसे पर
'सेव' आदि सम्बन्धी सकारको षकार हो । प्राक्—'सित्' शब्दसे पूर्व सुनोत्यादि धातु
सम्बन्धी सकारको 'अट' के व्यवधान रहने पर भी षत्व हो । स्थादि—'स्था' धातुसे लेकर
'सित्' शब्दसे पूर्व जो २ धातु हैं, केवल उन्हीं २ धातु सम्बन्धी सकारको अभ्यासके व्यवधान

भ्यासस्य न तु सुनोत्यादीनाम् । निषिषेध । निषिषिधतुः । सेधतेर्गतौ । ८।३।११३।
 गत्यर्थस्य सेधतेः सस्य पो न । गङ्गां विसेधति ॥ एवम्-चिती संज्ञाने । शुच शोके ।
 गद् व्यक्तायां वाचि । गदति । नेर्गद-नद-पत-पद-घु-मा-स्यति-हन्ति-याति-
 वाति-द्राति-प्साति-चपति-बहति-शाम्यति-चिनोति-देधिषु च । ८।४।१७।
 उपसर्गस्थानिमित्तात्परस्य नेर्णः स्यात् गदादिषु परेषु । प्रणिगदति । कुहोश्चुः । ७।
 ४।६२। अभ्यासकवर्गहकारयोश्चवर्गदेशः ॥ अत उपधायाः । ७।२।११६। उपधाया
 अतो वृद्धिः स्याद् जिति, णिति च प्रत्यये । जगाद् । जगदतुः । जगदुः । जगदिथ ।
 जगदथुः । जगद् । णलुत्तमो वा । ७।१।९१। उत्तमो णल् वा णित्स्यात् । जगाद् ।

दशसु धातुष्वित्यर्थः । निषिषेधेति । 'नि + सिसेध' नि + सिसिधतुः इत्यवस्थायां पूर्व-
 सकारस्य 'उपसर्गात्' इत्यनेन षत्वे सति नि + निषेध, नि + पिसेधतुः' इति रूपे जाते
 पिव्यवधानेन अपरसकारस्य निपरकत्वाभावात् षत्वप्राप्तिः । अतः 'स्थादिष्विति' सूत्रे-
 णाऽभ्यासपिव्यवधानेऽपि षत्वं भवत्येवेति भावः । तेन निषिषेध—निषिषेधतुः इति
 रूपद्वयसिद्धिः । 'सेधतेर्गताविति । न रपरेत्यतो नेत्यवृत्तेः षत्वं नेति भावः । गङ्गां विसेधति
 इति । विपूर्वात् पिध्धातोः प्राप्तं उपसर्गादिति षत्वं, 'सेधतेर्गतौ' इत्यनेन वार्यते ।
 तेन पिध्धातोर्गत्यर्थो ज्ञापितः तेन च गङ्गां विसेधतीत्यस्य गङ्गां गच्छतीत्यर्थः ।
 एतदेव ज्ञापकं धातूनामनेकार्थं, इति 'उपसर्गा' इत्यत्र तस्य ग्रहणं चरितार्थमिति
 भावः । नेर्गदनदेति । अत्र 'रषाभ्यां नो णः' इत्यनुवर्तते 'उपसर्गादिसमासेऽपि
 णोपदेशस्य' इत्यत उपसर्गादिति चानुवर्तते । लक्षण्या उपसर्गपदमत्र उपसर्गस्थ-
 परम् । तदेतदाह—उपसर्गस्थादित्यादिना । प्रणिगदति । अत्र 'नेर्गदनदं' इत्यादिना
 प्रोपसर्गस्थरेफापरस्य नेर्नकारस्य णत्वम् । जगाद् । गद्धातोर्लिट्स्तिपि, 'परस्मैपदा-
 नाम्' इति तिपो णलि, अनुबन्धलोपे, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वेऽभ्या-
 सत्वे 'हलादिः शेषः' इति लोपे 'कुहोश्चुः' इति अभ्यासगकारस्य चुत्वेन जकारे,
 जगद् अ इति स्थिते 'अत उपधाया' इति उपधाभूताकारस्य वृद्धौ 'जगाद्' इति
 सिद्धम् । जगाद्—जगद् । गद्धातोर्लिटो मिपि 'परस्मैपदानाम्' इति मिपो णलादेशे
 ऽनुबन्धलोपे द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इति लोपे 'कुहोश्चुः' इति अभ्या-
 सस्य चुत्वे 'णलुत्तमो वा' इति णलः पाक्षिके णित्वे 'अत उपधायाः' इति

रहने पर भी षत्व हो—(सुनोत्यादिको नहीं) । सेधते—उपसर्गस्थ निमित्तसे पर गत्यर्थक
 'सिध्' धातु सम्बन्धी सकारको षकार नहीं हो । नेर्गद—उपसर्गस्थ निमित्त (रेफ-षकार)
 से पर 'नि'के नकारको णकार हो, गद-नदादि धातुके परे । कुहो—अभ्यास सम्बन्धी कवर्ग
 और हकारको चवर्ग आदेश हो । अत—उपधा सम्बन्धी 'अत्' को वृद्धि हो, भित्, णित्,
 प्रत्ययके परे । णल्—उत्तम पुरुष सम्बन्धी 'णल्' को णिद्धाव हो, विकल्पसे ।

जगद् । गदिता । गदिष्यति । गदतु । अगदत् । गदेत् । गद्यात् । अतो हलादे-
र्लघोः । ७।२।७। हलादेर्लघोरतो वृद्धिर्वेङादौ सिचि परस्मैपदे । अगादीत् । अग-
दीत् । अगदिष्यत् ॥ णद् अव्यक्ते शब्दे । णो नः । ६।१।६५। धात्वादर्णस्य नः
स्यात् । णोपदेशास्त्वनर्द-नाटि नाथ-नाध्-नन्द-नक्क-न-नृतः ॥ उपस-
र्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य । ८।४।१४। उपसर्गस्थानिमित्तात्परस्य णोपदेशस्य
धातोर्नस्य णः स्यात्समासेऽसमासेऽपि । प्रणदति । प्रणिनदति । नदति । ननाद ।
अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि । ६।४।१२०। लिणिनमित्तादेशादिकं न भवति
यदङ्गं, तदवयवस्याऽसंयुक्तहल्मध्यस्थस्याऽत एवमभ्यासलोपश्च किति लिटि । नेदतुः ।

वृद्धौ 'जगाद्' इति, णित्वाभावे 'जगद्' इति च सिद्धम् । अगादीत् अगदीत् ।
गद्धातोर्लुङ्गस्तिपि 'इतश्च' इतीकारलोपे अटि, शपं वाधित्वा च्लौ, च्लेः सिचि, इच
इत्संज्ञायां लोपे च, सस्य आर्धधातुकसंज्ञायाम् इटि 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति तका-
रस्येङागमे अनुबन्धलोपे 'अगद् इ स् ई त्' इति जाते 'इट ईटि' इति सलोपे
'सिज्जलोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः' इति सिज्जलोपस्यासिद्धत्वाभावेन सवर्णदीर्घे 'अतो
हलादेर्लघोः' इति पाक्षिकवृद्धौ 'अगादीत्' इति, तदभावे 'अगदीत्' इति च सिद्धम् ।
णोपदेशास्त्विति । नर्द-शब्दे, नट-अवस्कन्दने, नाथृ नाध्-याञ्चोपतापैश्वर्याशिषु,
टुनदि-समृद्धौ, नक्क-नाशने, नृ-नये, नृती-गात्रविच्छेपे, एतेभ्योऽष्टाभ्यो भिन्ना णकारा-
दिधातवो णोपदेशपदेनोच्यन्ते इति यावत् । प्रणदति । णद्धातोर्लिटि, 'णो नः' इति
णस्य नत्वे प्रथमपुरुषैकवचनविवक्षायां लट्स्तिपि, शपि, अनुबन्धलोपे, 'नदति' इति
रूपम् । तत्र प्रोपसर्गस्य योगे 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' इति प्रोपसर्गस्थ-
रेफात्परस्य नर्दधातोर्नस्य णत्वे च तत्सिद्धिः । प्रणिनदति । अत्र 'नेर्गदनद०' इति
णत्वम् । ननाद । णद्धातोर्लिट्स्तिपि, 'णो नः' इति णस्य नत्वे 'परस्मैपदानाम्०'
इति तिपो णलि, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इति अभ्यास-
संज्ञायां 'हलादिः शेषः' इति द्वलोपे 'अत उपधायाः' इत्युपधावृद्धौ च विहितायां
'ननाद' इति रूपम् । नेदतुः । णद्धातोर्लिट्स्तसि 'णो नः' इति णस्य नत्वे,
तस अतुसि, द्वित्वेऽभ्यासकार्ये च कृते 'न नद् अतुस्' इति जाते, अत्र

अतो—हलादि सम्बन्धी लघु अकारको विकल्पसे वृद्धि हो, इडादि परस्मैपरक 'सिच्' के परे ।
णो नः—धातुके आदि णकारको नकार हो । णोपदे—नर्द, नाटि, नाध्, नाध्, नन्द,
नक्क, न, नृत—इन धातुओंसे अन्य जो नकारादि धातु वे णोपदेश हैं । (उत्पत्ति अवस्थामें
उनके आदिमें णकार ही था) । उपस—उपसर्गस्थ निमित्त (रेफ-षकार) से पर 'णोपदेश'
धातुके नकारको णकार हो, समासमें, (अपि शब्दात्) असमासमें भी । अत—'लिट्'
निमित्तक आदेश नहीं हुआ हो, ऐसा जो 'अङ्ग' तदवयव जो असंयुक्त हल्मध्यस्थ अकार,

नेदुः । थलि च सेटि । ६।४।१२१। इड्वति थलि च प्रागुक्तं स्यात् । नेदिथ ।
नेदथुः । नेद । ननाद । ननद । नेदिच । नेदिम । नदिता । नदिध्यति । नदतु ।
अनदत् । नदेत् । नद्यात् । अनादीत् । अनदीत् । अनदिष्यत् ॥ श्च्युतिर्
क्षरणे । (इर इत्संज्ञा वाच्या) । श्च्योतति । शर्पूर्वाः खयः । ७।४।६१।
शिष्यन्तेऽभ्यासस्य । हलादिः शेषापवादः । चुश्च्योत । इरितो वा । ३।१।५७।
इरितो धातोश्च्लेरङ वा, परस्मैपदे । अश्च्युतत् । अश्च्योतीत् ॥ यकाररहितोऽप्य-

‘अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि’ इति एच्चेऽभ्यासलोपे रुत्वे रेफस्य विसर्गे
च ‘नेदतुः’ इति रूपम् । अनादीत्-अनदीत् । णद्धातोर्लुङ्ङितिपि, ‘णो नः’
इति णस्य नत्वे, ‘लुङ्लङ्लुङ्चवद्भुदात्तः’ इत्यङागमे ‘च्लि लुङि’ इति च्लौ,
‘च्लेः सिच्’ इति सिचि, इच् इत्संज्ञायां लोपे च, सस्य आर्धधातुकसंज्ञायाम्
इङागमे ‘इतश्च’ इति तिप् इकारस्य लोपे ‘अस्तिसिचोऽपृक्ते’ इतीङागमे ‘इट
ईटि’ इति सिचो लोपे ‘सिज्जोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः’ इति सिज्जोपस्य सिद्ध-
त्वात् ‘अकः सवर्णे दीर्घः’ इति दीर्घे ‘अ नद् ई त्’ इति जाते ‘अतो हलादेर्लघोः’ इति
वा वृद्धौ ‘अनादीत्’ इति रूपम् । पच्चे-वृद्धयभावे ‘अनदीत्’ इति । श्च्युतिर् क्षरणे ।
इर इ संज्ञति । धातोः इर इत्संज्ञा वाच्येत्यर्थः । तत्फलं तु लोपरूपम् । या संज्ञा सा
फलवती इति प्रसिद्धत्वात् । शर्पूर्वा इति । ‘अत्र लोपोऽभ्यासस्य’ इत्यतोऽभ्यासस्येत्य-
नुवर्तते ‘शर्पूर्वा’ इत्यत्र शर्पूर्वा येभ्य इत्यतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । तेन शर् न
शिष्यते । चुश्च्योतेति । श्च्युतः ‘परोच्चे लिट्’ इति लिटि तिपि ‘परस्मैपदानाम्’ इति
णलि णकारलकारयोरित्संज्ञायां लोपे ‘लिटि धातोः’ इति धातोर्द्वित्वे ‘पूर्वोऽभ्यासः’
इति पूर्वरूपस्याभ्याससंज्ञायां हलादिशेषं बाधित्वा विशेषविहितत्वात् ‘शर्पूर्वाः
खयः’ इति चकारशेषे ‘चुश्च्युत+अ’ इति स्थिते ‘पुगन्तम्’ इति लघूपधगुणे परेण
संयोगे च कृते ‘चुश्च्योत’ इति रूपं सिध्यति । न च ‘श्च्युत+अ’ इति स्थितौ
द्वित्वात्प्रागेव गुणः कथं नेति वाच्यम् । ‘द्विर्वचनेऽचि’ इति निषेधादिति दिक् ।
लुटि-श्च्योतिता । अग्रे-श्च्योतिष्यति, श्च्योततु, अश्च्योतत्, श्च्योतेत्,
श्च्युत्यात् । इरितो वेति । ‘धातोरेकाचः’ इत्यतः धातोरिति च्लेः सिजित्यतः च्लेरिति
‘अस्यतिवक्ति’ इत्यतोऽङिति ‘पुपादिद्युतादि’ इत्यतः परस्मैपदेष्वित्यनुवर्तन्ते ।
अश्च्युतदिति । श्च्युतधातोर्लुङि तिपि पलोपे शप्प्रत्ययं बाधित्वा ‘च्लि लुङि’ इति

उसको एत्व हो और अभ्यासका लोप हो, कित्-लिट्के परे । थलि—सेट् (इट् सहित) ‘थल्’
के परे भी पूर्वोक्त प्रकारका एत्व हो । इर इत्सं—‘इर्’ की इत्संज्ञा हो—ऐसा कहना
चाहिये । शर्पूर्वाः—अभ्याससम्बन्धी ‘शर्’ पूर्वक ‘खय्’ का शेष हो और अन्य हल्का लोप
हो । इरितो—‘इर्’ इत्संज्ञक धातुसम्बन्धी ‘च्लि’ को ‘अङ्’ आदेश हो, विकल्पसे ।

यम् । श्रोतति । चुश्रोत । अश्नुतत् । अश्नोतीत् ॥ च्युतिर् आसेचने । च्योतति ।
 दुनदि समृद्धौ । आदिर्जिडुडवः । १।३।५। उपदेशे धातोराद्या एते इतः स्युः ।
 इदितो नुम् धातोः । ७।१।५८। नन्दति । ननन्द । नन्दिता । नन्दिष्यति ।
 नन्दतु । अनन्दत् । नन्देत् । इदित्वाञ्चलोपो न । नन्यात् । अनन्दीत् । अनन्दि-
 ष्यत् ॥ एवं कुथि पुथि लुथि मथि हिंसासंक्लेशनयोः । विदि । अवयवे । विन्दति ।

च्लौ 'च्लेः सिच्' इति सामान्यविधिं बाधित्वा 'इरितो वा' इति वैभाषिकेऽङ्गदेशे
 'लुङ्लङ्' इत्यङ्गस्याङागमे सति 'अश्च्युतत्' इति रूपम् । अङ्भावे तु, 'च्लेः सिच्'
 इति सिचि 'आर्धधातुकं शेषः' इति तस्यार्धधातुकसंज्ञायाम् 'आर्धधातुकस्य' इति
 इङागमे टित्वाच्चावयवे तिप्रत्ययस्य 'इतश्च' इति इकारस्य लोपे 'अपृक्त एकाल्
 प्रत्ययः' इत्यवशिष्टतकारस्यापृक्तसंज्ञायाम् 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति तस्येङागमे श्च्यु-
 त् + इस् + ई + त् इति जाते 'इट ईटि' इति सलोपे प्रत्ययलक्षणेन सिच आर्धधातुक-
 त्वमाश्रित्य 'पुगन्त' इति लघूपधगुणेऽङ्गस्य 'लुङ्लङ्' इत्यङागमे 'अकः सवर्णे दीर्घ'
 इति उभयेकारयोर्दीर्घे च कृते 'अश्च्योतीत्' इति द्वितीयं रूपं सिध्यति । लृङि तु
 'अश्च्योतिष्यत्' इत्यादि बोध्यम् । यकाररहितोऽप्ययमिति । अयं श्च्युतिर् चरणे इति
 धातुः यकाररहितोऽपि अवलोक्यते इत्यर्थः । तेन श्च्युतिर् चरणे इति पाठः फलितः ।
 तथा सति लडादिषु-श्रोतति-चुश्रोत-श्रोतिता-श्रोतिष्यति-श्रोततु-अश्रोतत्-श्रोते-
 त्-श्चुत्यात्-अश्नुतत्-अश्नोतीत्-अश्रोतिष्यत् इत्यादि रूपाणि श्च्युतिर्वचूह्यानि
 इति भावः । 'च्योति' इति । च्युतिर् आसेचने इति धातोः इर इत्संज्ञा वाच्या इति
 इर इत्संज्ञायां वर्तमाने लटि तिपि तस्य सार्वधातुकसंज्ञायां कर्तरि शपि तस्य
 शित्वात्सार्वधातुकसंज्ञायां 'पुगन्त०' इति गुणे 'च्योतति' इति । नन्दति । दुनदि इत्यत्र
 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इति इकारस्य इत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे दुनद्
 इति जाते, तस्य 'भूवादयो धातवः' इति धातुत्वे 'आदिर्जिडुडवः' इति दुइत्यस्येत्स-
 ङ्ज्ञायां लोपे च ततो लटि, तत्स्थाने तिपि शपि अनुबन्धलोपे 'इदितो नुम् धातोः' इति
 नुमि, उमि गते 'मिदचोऽन्यात्परः' इति अन्त्याचः परे, अनुस्वारे परसवर्णे च कृते 'नन्द-
 ति' इति रूपम् । कुथि, पुथि, लुथि, मथि, एपां रूपाणि लटि, कुन्थति, पुन्थति, लुन्थति,
 मन्थति । लिटि-चुकुन्थ, पुपुन्थ, लुलुन्थ, ममन्थ । लुटि-कुन्थिता, पुन्थिता, लुन्थिता,
 मन्थिता । लृटि-कुन्थिष्यति, पुन्थिष्यति, लुन्थिष्यति, मन्थिष्यति । लोटि-कुन्थतु,
 पुन्थतु, लुन्थतु, मन्थतु । लङि-अकुन्थत्, अपुन्थत्, अलुन्थत्, अमुन्थत् । विधिलि-

आदि—उपदेशावस्थामें धातुके आदिमें वर्तमान् 'ञि-डु-डु' की इत्संज्ञा हो ।

इदितो—'इदित्' धातुको 'नुम्' का आगम हो ।

‘भिदी’ति पाठान्तरम् । भिन्दति । गडि वदनैकदेशे । गण्डति । चदि आह्लादने । चन्दति । त्रदि चेष्टायाम् । त्रन्दति । कदि कदिक्कदि आह्लाते रोदने च । क्किदि परिदेवने । तकि कृच्छ्रजीवने । युगि जुगि वुगि वर्जने । मघि मण्डने । शिधि

डि-कुन्थेत्, पुन्थेत्, लुन्थेत्, मन्थेत् । आशीर्लिङि-कुन्थ्यात्, पुन्थ्यात्, लुन्थ्यात्, मन्थ्यात् । अत्राशीर्लिङि उपधानकारस्य लिङः ‘किदाशिपि’ इति किङ्कारावेऽपि ‘अनिदितां हलं’ इति नलोपो न शङ्क्यः । ‘अनिदितां हलं’ इति सूत्रे इकारेऽभिज्ञानामज्ञानामुपधानकारस्य लोपो भवतीति स्पष्टार्थत्वात् । लुङि-अकुन्थीत्, अपुन्थीत्, अलुन्थीत्, अमन्थीत्, लृङि-अकुन्थिष्यत्, अपुन्थिष्यत्, अलुन्थिष्यत्, अमन्थिष्यत् । इत्यादि । विन्दति । विदि अवयवे अस्माद्धातोर्लटि तिपि शपि ‘इदितो नुमं’ इति नुमि रूपम् । लिटादिषु तु विविन्द, विन्दिता, विन्दिष्यति, विन्दतु, अविन्दत्, विन्देत्, विन्ध्यात्, अविन्दीत्, अविन्दिष्यत् । भिदि पाठान्तरे तु भिन्दति, विभिन्द भिन्दिता, भिन्दिष्यति, भिन्दतु, अभिन्दत्, भिन्देत्, भिन्ध्यात्, अभिन्दीत्, अभिन्दिष्यत् । इत्यादि । गण्डतीति । गडि वदनैकदेशे अस्मात् धातोः इकारेत्संज्ञायां ‘तस्य लोपः’ इति लोपे वर्तमाने लटि तिपि शपि ‘इदितो नुमं’ इति नुमि नकारस्य मित्वाङ्कारवर्तिनोऽकारस्यान्यावयवे ‘नश्चापदान्तस्य झलि’ इति अनुस्वारे ‘अनुस्वारस्य ययि’ इति परसवर्णे कृते ‘गण्डति’ इत्यस्य सिद्धिः । लिटादिषु तु जगण्ड, गण्डिता, गण्डिष्यति, गण्डतु, अगण्डत्, गण्डेत्, गण्ड्यात्, अगण्डीत्, अगण्डिष्यत् । इत्यादि । चन्दतीति । चदि-आह्लादने इत्यस्माद्धातोरिकारेत्संज्ञायामिदितो नुमि मित्वाङ्कारस्यावयवेऽनुस्वारे परसवर्णे वर्तमाने लटि तिपि शपि प्रोक्तं ‘चन्दति’ इति रूपं भवति । लिटादिषु-चचन्द, चन्दिता, चन्दिष्यति, चन्दतु, अचन्दत्, चन्देत्, चन्ध्यात्, अचन्दीत्, अचन्दिष्यत् । त्रन्दतीति । त्रदि चेष्टायाम् । अस्माद्धातोरिदिवानुमि अनुस्वारे परसवर्णे लटि तिपि शपि रूपम् । लिटादिषु-तत्रन्द, त्रन्दिता, त्रन्दिष्यति, त्रन्दतु, अत्रन्दत्, त्रन्देत्, त्रन्ध्यात्, अत्रन्दीत्, अत्रन्दिष्यत् । इति । कदि, कदि, क्कदि इति । लट्-कन्दति, क्रन्दति । कलन्दति । लिट्-चकन्द, चक्रन्द, चकलन्द । लृट्-कन्दिता, क्रन्दिता, क्कन्दिता । लृट्-कन्दिष्यति, क्रन्दिष्यति, क्कन्दिष्यति । लोट्-कन्दतु, क्रन्दतु, क्कन्दतु । लङ्-अकन्दत्, अक्रन्दत्, अक्कन्दत् । विधिलिङ्-कन्देत्, क्रन्देत्, क्कन्देत् । आशीर्लिङ्-कन्ध्यात्, क्रन्ध्यात्, क्कन्ध्यात् । लुङ्-अकन्दीत्, अक्रन्दीत्, अक्कन्दीत् । लृङ्-अकन्दिष्यत्, अक्रन्दिष्यत्, अक्कन्दिष्यत् । इत्यादि । णिङि-क्किन्दति, चिक्किन्द, क्किन्दिता, क्किन्दिष्यति, क्किन्दतु, अक्किलन्दत्, क्किलन्देत्, क्किलन्ध्यात्, अक्किलन्दीत्, अक्किलन्दिष्यत् । णि-तङ्कति, ततङ्क, तङ्किता, तङ्किष्यति, तङ्कतु, अतङ्कत्, तङ्केत्, तङ्क्यात्, अतङ्कीत्, अतङ्किष्यत् । इत्यादि । युगि, जुगि, वुगि-लट्-युङ्गति,

आग्राणे । मन्थ विलोडने । मन्थति । ममन्थ । कित्वाञ्चलोपः । मथ्यात् । अर्च पूजयाम् । अर्चति । तस्मान्नुङ् द्विहलः । ७।४।७१। द्विहलो धातोर्दीर्घाभूतादकारात् परस्य नुट् । आनर्च । आनर्चतुः । आनर्चुः । अर्चिता । अर्चिष्यति । अर्चतु । आर्चत् । अर्चेत् । अर्च्यात् । आर्चीत् । आर्चिष्यत् ॥ एवम्—अर्द गतौ याचने च ।

जुङ्गति, वुङ्गति । लिट्—युयुङ्ग, जुजुङ्ग, वुवुङ्ग । लृट्—युङ्गिता, जुङ्गिता, वुङ्गिता । लृट्—युङ्गिष्यति, जुङ्गिष्यति, वुङ्गिष्यति । लोट्—युङ्गत्, जुङ्गत्, वुङ्गत् । लङ्—अयुङ्गत्, अजुङ्गत्, अवुङ्गत् । लिङ्—युङ्गेत्, जुङ्गेत्, वुङ्गेत् । आशीर्लिङ्—युङ्ग्यात्, जुङ्ग्यात्, वुङ्ग्यात् । लृङ्—अयुङ्गीत्, अजुङ्गीत्, अवुङ्गीत् । लृङ्—अयुङ्गिष्यत्, अजुङ्गिष्यत्, अवुङ्गिष्यत् । इत्यादि । मघि मण्डने । मङ्गति, ममङ्ग, मङ्गिता, मङ्गिष्यति, मङ्गत्, अमङ्गत्, मङ्गेत्, मङ्ग्यात्, अमङ्गीत्, अमङ्गिष्यत् । शिघि—आग्राणे—शिङ्घति, शिशिङ्घ, शिङ्घिता, शिङ्घिष्यति, शिङ्घत्, अशिङ्घत्, शिङ्घेत्, शिङ्घ्यात्, अशिङ्घेत्, अशिङ्घिष्यत् । इति । मन्थति । मन्थ विलोडने धातोः वर्तमाने लटितिपि शपि मन्थति इति रूपम् । ममन्थेति । मन्थधातोः 'परोच्चे लिट्' इति परोच्चार्ये भूते लिटि तिपि णलि द्वित्वे हलादिशेषे परेण संयोगे 'ममन्थ' इत्यस्य सिद्धिः । अग्रे—मन्थिता, मन्थिष्यति, मन्थतु, अमन्थत्, मन्थेत् । मथ्यादिति । मन्थ विलोडने धातोः आशीर्लिङि तिपि 'इतश्च' इति इकारलोपे 'यासुट्परस्मै०' इति यासुटि, तस्य यदागमन्यायेन प्रत्ययत्वात् लिङ्त्वाच्च 'अनिदिताम्०' इति उपधाभूतनकारस्य लोपे मथ्यात् इति रूपं भवति । अमन्थीत् । अमन्थिष्यत् । इति । अर्चति । अर्चधातोर्लटि, लटस्तिपि, शपि, अनुबन्धलोपे, सार्वधातुकसञ्ज्ञायाम् 'अर्चति' इति रूपम् । आनर्च । अर्चधातोर्लिटि, लिटस्तिपि, 'परस्मैपदानां णलतुसुस्थल०' इति तिपो णलि, द्वित्वेऽभ्यासत्वे, 'हलादिः शेषः' इति लोपे 'अत आदेः' इत्यभ्यासाकारस्य दीर्घे 'तस्मान्नुङ् द्विहलः' इति नुट्यनुबन्धलोपे च तत्सिद्धिः । अर्चिता । अर्चधातोर्लृटस्तिपि, सार्वधातुकसञ्ज्ञायां शपि प्राप्ते तस्मादित्वा 'स्यतासी लृलुटोः' इति तासौ इकारस्येत्सञ्ज्ञायां लोपे च 'आर्धधातुकं शेषः' इति तास आर्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इतीडागमे 'लृटः प्रथमस्य डारौरसः' इति तिपो डात्वे 'डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोप' इत्यासुभागस्य लोपे च कृते तत्सिद्धिः । आर्चीत् । अर्चधातोर्लृङस्तिपि अनुबन्धलोपे 'इतश्च' इतीकारलोपे 'आडजादीनाम्' इत्यादि 'आटश्च' इति वृद्धौ, च्लौ, च्लेः सिच्यनुबन्धलोपे इटि ईटि च कृते 'इट ईटि' इति सलोपे सिञ्जलोपस्यासिद्धत्वाभावेन 'सवर्णदीर्घे च कृते 'आर्चीत्' इति रूपम् । आर्चिष्यत् । लृङि, तिपि, स्ये, इटि, आटि, वृद्धौ, पञ्जे-

तस्मा—द्विहल् धातुका दीर्घाभूत अकारसे पर, नुट्का आगम हो (लिट् में) ।

अति अदि बन्धने । वन घण सम्भक्तौ । वनति । ववान । न शसददवादिगु-
णानाम् । ६।४।१२६। शसेर्ददर्वाकारादीनां, गुणशब्देन भावितो योऽत्, तस्य च
एत्वाभ्यासलोपौ न स्तः । ववनतुः । ववनुः । सनति । ससान । सेनतुः । सेनुः ।

‘इत्श्च’ इति तिप इकारलोपे च तत्सिद्धिः । अर्दं गतौ, याचने च । अर्दति,
आनर्द, अर्दिता, अर्दिष्यति, अर्दतु, अर्दत्, अर्देत्, अर्द्यात्, अर्दीत्, अर्दिष्यत् ।
अति, अदि, बन्धने । अन्तति, अन्दति । आनन्त, आनन्द । अन्तिता, अन्दिता ।
अन्तिष्यति, अन्दिष्यति । अन्ततु, अन्दतु । आन्तत्, आन्दत् । अन्तेत्, अन्देत् ।
अन्त्यात्, अन्ध्यात् । आन्तीत्, आन्दीत् । आन्तिष्यत्, आन्दिष्यत् । वनति इति ।
वन संभक्तौ, अस्मान्धातोः वर्तमाने लटि तिपि शपि ‘वनति’ इति रूपम् । ववानेति ।
वन धातोः ‘परोच्चे लिट्’ इति भूतपरोच्चे लिटि तिपि णलि द्वित्वे पूर्वस्य अभ्यासत्वे
हलादिशेषे ‘अत उपधायाः’ इति णलो णित्वादुपधावृद्धौ ‘ववान’ इति रूपं भवति ।
न शसेति । शस, दद, वादि, गुण एषां द्वन्द्वः । अवयवपष्टी । गुणशब्देन विहित एव
गुणोऽत्र गुणशब्देन विवक्षितः । अन्यथा शसिददिग्रहणस्य वैयर्थ्यापत्तेः । ‘अत एक-
हल्मध्ये’ इत्यतः अत इत्यनुवर्तते । ‘ध्वसोरेद्धौ’ इत्यत एदित्यनुवर्तते । अभ्यासलोप-
श्चेत्यपि अनुपज्यते । ववनतुरिति । वनसंभक्तावित्यतः परोच्चे लिटि तसि तत्र ‘परस्मै-
पदानाम्’ इति अनुसि ‘लिटि धातोः’ इति धातोर्द्वित्वे ‘पूर्वोऽभ्यासः’ इति पूर्वस्या-
भ्याससंज्ञायां ‘हलादिः शेषः’ इति आद्येतरहलो लोपे ‘अत एकहल्’ इति प्राप्त एत्वा-
भ्यासलोपे परत्वात् अपवादत्वाच्च ‘न शस’ इत्यनेन बाधिते सस्य रुत्वे विसर्गे ‘वव-
नतुः’ इति रूपम् । ववनुरिति । वन धातोः परोच्चे लिटि श्रौ तस्योसि धातोर्द्वित्वे
अभ्यासत्वे हलादिशेषे ‘न शसेति’ एत्वाभ्यासलोपाभावे रुत्वे विसर्गे ‘ववनुः’ इति
रूपम् । अग्रे—वनितां, वनिष्यति, वनतु, अवनत्, वनेत्, वन्यात्, अवानीत्—
अवनीत्, अवनिष्यत् । सनति इति । पण—सम्भक्तौ अस्मात् धातोः
‘धात्वादेः पः सः’ इति षस्य सत्वे ततः वर्तमाने लटि तिपि सार्वधातुकसंज्ञायां शपि
‘सनति’ इत्यभीष्टरूपं सिध्यति । ससानेति । पण धातोः ‘धात्वादेः’ इति षस्य सत्वे
लिटि तिपि णलि धातोर्द्वित्वे अभ्यासत्वे हलादिशेषे ‘अत उपधायाः’ इति उपधावृद्धौ
‘ससान’ इति रूपं भवति । सेनतुरिति । पण धातोः षस्य ‘धात्वादेः’ इति सत्वे ‘परोच्चे
लिट्’ इति भूते लिटि ‘तिप्तस्’ इति तसि ‘परस्मैपदानाम्’ इति अनुसि ‘लिटि
धातोः’ इति धातोर्द्वित्वे ‘पूर्वोऽभ्यासः’ इति पूर्वस्याभ्यासत्वे ‘हलादिः शेषः’ इति
हलोपे ‘अत एकहल्मध्ये’ इति एत्वेऽभ्यासलोपे अनुसः सकारस्य रुत्वे विसर्गे च कृते
‘सेनतुः’ इत्यस्य साधुत्वम् । सेनुरिति । पण धातोर्लिटि श्रौ उसि धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे

न शस्—‘शस्’ धातु ‘दद’ धातु तथा वकारादि धातु और ‘गुण’ शब्दसे विहित जो
‘अकार’ उसको एत्वाभ्यासलोप नहीं हो ।

ये विभाषा । ६।४।४३। जनसनखनामात्वं वा स्यात् यादौ किञ्चि । सायात् । सन्यात् ।
 वज व्रज गहौ । व्रजति । ववाज । व्रजिता । व्रजिष्यति । व्रजतु । अत्रजत् ।
 व्रजेत् । व्रज्यात् । वदव्रजहलन्तस्याचः । ७।२।३। एषामचो वृद्धिः स्यात् पर-
 स्मैपदे सिचि । अब्राजीत् । अब्रजिष्यत् ॥ कटे वर्षाऽऽवरणयोः । कटति । चकाट ।
 कटिता । कटिष्यति । कटतु । अकटत् । कटेत् । कट्यात् । ह्यन्त्यन्तक्षणश्वस-
 जागृणिश्चयेदिताम् । ७।२।५। हमयान्तस्य, क्षणादेर्ण्यन्तस्य, श्वयतेरेदितश्च वृद्धि-
 न्नेडादौ सिचि । अकटीत् । अकटिष्यत् ॥ गुपू रक्षणे । गुपूधूपविच्छिपणि-

‘अत एकहल्’ इति एच्चेऽभ्यासलोपे सस्य रूपे विसर्गे च विहिते ‘सेनुः’ इति अभीष्टं
 रूपं सिध्यति । अग्रे—सेनिथ, सेनथुः, सेन, ससान-ससन, सेनिच, सेनिम । सनिता,
 सनिष्यति, सनतु, असनत्, सनेत् । ये विभाषेति । अत्र ‘जनसनखनां सव्यन्तोः’
 इत्यतः जनसनखनामिति लभ्यते ‘किञ्चि च’ इत्यतः किति ङिति इति लभ्यते, ‘ये’
 इति ‘अलाभ्यत्वात्’ ‘यस्मिन्विधिः’ इति परिभाषया तदादिविधिः । अत आह—जन
 सनखनामात्वं वा यादौ किञ्चि इति । मायादिति । षण धातोः षस्य सत्वे आशीर्लिङि
 तिपि ‘इतश्च’ इति तिप इकारलोपे ‘यासुट् परस्मै’ इति यासुटि लिङ् आर्धधातुकत्वा-
 च्छपोऽभावे ‘सन् + यास + त्’ इति जाते आशीर्लिङः क्त्वात् ‘ये विभाषा’ इति वैभा-
 षिके आत्वे ‘स्कोः’ इति सलोपे ‘स + आ + यात्’ इति जाते सवर्णदीर्घे ‘सायात्’ इत्येकं
 रूपं भवति । असति सात्वे ‘सन्यात्’ इति द्वितीयं सिद्धमेव । अग्रे—असानीत्—अस-
 नीत्, असनिष्यत् । इति । वज गतौ व्रजति, ववाज, ववजतुः, व्रजिता, व्रजिष्यति,
 व्रजतु, अवजत्, व्रजेत्, व्रज्यात्, अवाजीत्—अवजीत्, अवजिष्यत् । इति । व्रजति ।
 व्रज् धातोर्लटि लट्स्तिपि, शपि, अनुबन्धलोपे च तत्सिद्धिः । अब्राजीत् । व्रज् धातो-
 र्लुङ्स्तिपि अनुबन्धलोपे ‘इतश्च’ इति तिप इकारस्य लोपे अटि, च्लौ, च्लेः सिचि,
 इचि गते ‘आर्धधातुकं शेषः’ इत्यार्धधातुकसंज्ञायाम् ‘आर्धधातुकस्येड्वल्लदेः’
 इतीटि, ‘अस्तिसिचोऽपृक्ते’ इति ईटि ‘वदव्रजहलन्तस्याचः’ इति वृद्धौ ‘इट ईटि’
 इति सलोपे सिज्लोपस्यासिद्धत्वाभावात्सवर्णदीर्घे ‘अब्राजीत्’ इति रूपम् । चकाट ।
 कट् धातोर्लट्स्तिपो णलि द्वित्वेऽभ्यासत्वे ‘हलादिः शेषः’ इति लोपे ‘कुहोरचुः’ इति
 कस्य चुत्वेन चकारे ‘अत उपधायाः’ इति वृद्धौ ‘चकाट’ इति रूपम् । अकटीत्
 कट् धातोर्लुङ्स्तिपि, अनुबन्धलोपे अटि, ‘इतश्च’ इतीकारलोपे सार्वधातुकसंज्ञायाम्

ये विभा—‘जन्-सन्-खन्’ धातुओंको आत्व हो, यकारादि कित्-ङित्के परे । वद—वद्, व्रज्
 और हलन्त धातुके ‘अच्’ को वृद्धि हो, परस्मैपदपरक ‘सिच्’ के परे । ह्यन्त्यन्त—हकारान्त,
 मकारान्त, यकारान्त धातु तथा क्षण् श्वस्-जागृ धातु और ष्यन्त धातु एवं श्वि धातुके ‘अच्’ को
 वृद्धि हो, परस्मैपदपरक ‘सिच्’ के परे । गुपू—‘गुप्-धूप-विच्छ्-पण्-पन्’ धातुओंसे ‘आय’

पनिभ्य आयः । ३।१।२८। एभ्य 'आय' प्रत्ययः स्यात् स्वार्थे । 'अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ती'ति न्यायात् । सनाद्यन्ता धातवः । ३।१।३२। सनादयः कमेर्णिङन्ताः प्रत्यया अन्ते येषां ते धातुसंज्ञाः स्युः ।

सन्-क्यच्-काम्यच्-क्यङ्-क्यषोऽथाऽऽचारक्विप् णिज्यङौ तथा ।
यगाय-ईयङ्-णिङ् चेति द्वादशामी सनादयः ॥ १ ॥

'सनाद्यन्ता धातव' इत्यस्यानन्तरं 'भूवादय' इत्येव सूत्रयितुं युक्तम् । धातु-
त्वाल्लडादयः । गोपायति । आयादय आर्द्धधातुके वा । ३।१।३१। आर्द्धधातुक-
विवक्षायामायेयङ्णिङो वा स्युः । (कास्यनेकाच्च आम्बुक्तव्यो लिटि) कास
आम्बिधानान्मस्य नेत्वम् । अतो लोपः । ६।४।४८। आर्द्धधातुकोपदेशे यददन्तं,
तस्यातो लोप आर्द्धधातुके । आमः । २।४।८१। आमः परस्य लुक् । कृञ्चातु-
प्रयुज्यते लिटि । ३।१।४०। आमन्ताल्लिट्पराः कृभ्वस्तयोऽनुप्रयुज्यन्ते । तेषां
द्वित्वादि । उरत् । ७।४।६६। अभ्यासस्य ऋतोऽस्त्यात्प्रत्यये । प्रत्यये किं—वत्रश्च ।
वृद्धिः । गोपायाञ्चकार । द्वित्वात्परत्वाद्यणि प्राप्ते । द्विर्वचनेऽचि । १।१।५९। द्वि-

शपि प्राप्ते तम्बाधित्वा च्लौ, च्लेः सिचि, इचि गते, आर्द्धधातुकसंज्ञायाम् इटि, ईटि
च जाते 'अतो हलादेर्लघोः' इति वृद्धौ प्राप्तायां 'ह्यथन्तच्छणश्चसजागृणिश्च्येदिताम्'
इति तन्निषेधे 'इट् ईटि' इति सलोपे सिजलोपस्य सिद्धत्वात्सर्वणदीर्घे 'अकटीत्' इति
रूपम् । सनादय इति । सन् क्यच् काम्यच् क्यङ् क्यषोऽथाऽऽचारक्विप् णिज्यङौ तथा ।
यगायेयङ्णिङश्चेति द्वादशामी सनादयः । गोपायति । गुप् धातोः 'गुप्भूपविच्छि-
पणिपनिभ्य आयः' इति आय प्रत्यये 'आर्द्धधातुकं शेषः' इति तस्यार्द्धधातुकत्वेन
'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'सनाद्यन्ता धातवः' इति गोपाय इत्यस्य धातु-
संज्ञायां धातुत्वाल्लिटि, लटस्तिपि, 'तिङ्शित्सार्वाधातुकम्' इति सार्वाधातुकसंज्ञायाम्
'कर्तरि शप्' इति शपि, अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'गोपायति' इति
रूपम् । गोपायाञ्चकार । गुप् धातोः 'परोच्चे लिट्' इति लिट् प्राप्ते, तम्बाधित्वा

प्रत्यय हो, स्वार्थेम् । सना—'सन्' से लेकर 'कमेर्णिङ्' सूत्रसे विहित 'णिङ्' पयन्त (द्वादश)
प्रत्ययान्तों की धातुसंज्ञा हो । सन्क्य-सन्, क्यच्, काम्यच्, क्यङ्, क्यष, आचारार्थक क्पि,
णिच्, यङ्, यक्, आय्, ईयङ्, णिङ्—ये द्वादश 'सनादि' हैं । आया—आर्द्धधातुककी
विवक्षामें आय्-ईयङ् णिङ्-प्रत्यय हों, विकल्पसे । कास्य—'कास्' धातु और 'अनेकाच्च'
धातुसे 'आम्' प्रत्यय हो, 'लिट्' के परे । अतो—आर्द्धधातुकके उपदेश कालमें जो अदन्त,
उसके अकारका लोप हो, आर्द्धधातुकके परे । आमः—'आम्' से पर 'लिट्' का लुक् हो ।
कृञ्चा—आमन्तसे 'लिट्' परक 'कृ' 'भू' अस् धातुओंका अनुप्रयोग हो । उरत्—अभ्यास-
सम्बन्धी ऋवर्णको 'अत्' आदेश हो, प्रत्ययके परे । द्विर्व—द्वित्वनिमित्तक 'अच्' के परे

त्वनिमित्तेऽचि परे अच आदेशो न स्याद् द्वित्वे कर्तव्ये । गोपायाञ्चक्रुः । गोपाया-
ञ्चक्रुः । एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् । ७।२।१०। उपदेशे यो धातुरेकाजनुदात्तश्च,
ततः परस्य बलादेरार्द्धधातुकस्येण ।

ऊहदन्तैर्यौति-रु-क्षु-शीङ्-स्नु-नु-क्षु-श्वि-डीङ्-श्रिभिः ।

वृङ्-वृञ्भ्यां च विनैकाचोऽजन्तेषु निहताः स्मृताः ॥ १ ॥

कान्तेषु-शक्तेकः । चान्तेषु-पच्-मुच्-रिच्-वच्-विच्-सिचः षट् । छान्तेषु-
प्रच्छयेकः । जान्तेषु-त्यज्-निजिर्-भज्-भञ्-भुज्-भ्रस्ज्-मस्ज्-यज्-युज्-रुज्-रञ्-
विजिर्-सज्-स्वज्-सृजः पञ्चदश । दान्तेषु-अद्-क्षुद्-खिद्-छिद्-तुद्-नुद्-पथ्-भिद्-
विथ्-विनद्-विन्द्-शद्-सद्-स्विथ्-स्कन्द-हद्-षोडश । धान्तेषु-क्रुध्-क्षुध्-बुध्य-वन्ध्-
युध्-रुध्-राध्-व्यध्-शुध्-साध्-सिध्या एकादश । नान्तेषु-मन्य-हनौ द्वौ । पान्तेषु-

‘गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः’ इति नित्यम् आयप्रत्यये प्राप्ते ‘आयादय आर्ध-
धातुके वा’ इति विकल्पेन आयप्रत्यये कृते तस्य आर्धधातुकत्वात् ‘पुगन्तलघूपधस्य
च’ इति गुणे ‘सनाद्यन्ता धातवः’ इति धातुसंज्ञायां लिटि ‘कास्यनेकाच आम्
वक्तव्यः’ इत्याम्प्रत्यये तस्य ‘आर्धधातुकसंज्ञायाम् ‘अतो लोपः’ इत्यल्लोपे
‘आम्’ इति लिटो लुकि, लिटः कृत्वात्प्रत्ययलक्षणेन गोपायामित्यस्य कृदन्तत्वा-
त्प्रातिपदिकत्वेन सुबुत्पत्तौ ‘कृन्मेजन्तः’ इति अव्ययत्वात् ‘अव्ययादाप्सुपः’
इति तस्यापि लुकि ‘गोपायाम्’ इत्यवशिष्टे ‘कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि’ इति लिट्पर-
कृञि अनुप्रयुज्यमाने ‘गोपायाम् कृ लिट्’ इति जाते अत्र लिटस्तिपि, तिपो णलदेशे
अनुबन्धलोपे द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायाम् ‘उरत्’ इत्यभ्यासश्चवर्णस्य अकारे ‘उरण्
रपरः’ इति रपरे च जाते ‘गोपायाम् कर् कृ अ’ इति भूते ‘हलादिः शेषः’ इति
रलोपे ‘कुहोश्चुः’ इत्यभ्यासकस्य चत्वे मस्यापदान्तत्वादनुस्वारे ‘वा पदान्तस्य’
इति पाक्षिकेऽनुस्वारस्य परसवर्णे अकारे ‘अचो ङिति’ इति वृद्धिं परत्वाद्धाधित्वा
‘सार्वधातुकार्धधातुकयोः’ इति गुणे ‘उरण् रपरः’ इति रपरे ‘अत उपधायाः’ इति
वृद्धौ ‘गोपायाञ्चकार’ इति । अनुदात्ताः के’ इत्याकाङ्क्षायामाह—ऊह ऋदन्तैरिति ।
ऊकारान्ताः, ऋकारान्ताः, यु रु क्षु शीङ् स्नु नु क्षु श्वि डीङ् श्रि वृङ् वृञ्

अजादेश नहीं हो, यदि द्वित्व कर्तव्य रहे । एकाच—उपदेशावस्थामें एकाच् और अनुदात्त
जो धातु, उससे पर आर्धधातुकको इट् नहीं हो ।

ऊह—दीर्घ ऊकारान्त और दीर्घ ऋकारान्त धातु, ‘यु’ धातु तथा रु, क्षु, शीङ्, स्नु,
नु, क्षु, श्वि, डीङ्, श्रि, वृङ्, वृञ् धातु—इनसे भिन्न जो एकाच् और अजन्त धातु,
वे ‘अनुदात्त’ हैं ।

आप्-क्षिप्-लुप्-तप्-तिप्-तुप्-दृप्-लिप्-लुप्-वप्-शप्-स्वप्-सृपञ्चयोदश । भान्तेषु यम्-रम्-लभञ्चयः । भान्तेषु-गम्-नम्-रम्-यमञ्चत्वारः । शान्तेषु-कुश्-दंश्-दिश्-दृश्-मृश्-रिश्-रृश्-लिश्-विश्-स्पृशो दश । षान्तेषु-कृष्-त्विष्-तुष्-द्विष्-दुष्-पुष्-पिष्-विष्-शिष्-शुष्-श्लिष्या एकादश । सान्तेषु-घस्-वसती द्वौ । हान्तेषु-दह्-दुह्-दिह्-नह्-मिह्-रह्-लिह्-वहोऽष्टौ ।

अनुदात्ता हलन्तेषु धातवस्त्यधिकं शतम् ॥

गोपायाञ्चकर्थ । गोपायाञ्चकृथुः । गोपायाञ्चक्र । गोपायाञ्चकार । गोपायाञ्चकर । गोपायाञ्चकृव । गोपायाञ्चक्रम ॥ गोपायाम्बभूव । गोपायामास । जुगोप । जुगुपतुः । जुगुपुः ॥ स्वरतिसूतिसूयतिधूजूदितो वा । ७।२।४४। स्वरत्यादेरुदितश्च परस्य वलादेरार्द्धधातुकस्येड् वा स्यात् । जुगोपिथ । जुगोप्य । गोपायिता । गोपिता । गोप्ता ।

एतान् धातून् वर्जयित्वा एकाचः अजन्तधातवः अनुदात्ता इति कारिकार्थः । गोपायाम्बभूव गुप्धातोः पान्तिके आयप्रत्यये गुणे धातुत्वाल्लिटि आम्प्रत्यये अल्लोपे लिटो लुकि, लिट्परभूप्रयोगे, लिट्स्तिपो णलि भुवो 'भुवो बुक्लुङ्लिटोः' इति बुकि द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इति लोपे हस्वेऽत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति जश्त्वे च 'गोपायाम्बभूव' इति रूपम् । गोपायामास । गुप्धातोरायप्रत्यये गुणे लिटि, आमि, अल्लोपे लिटो लुकि, 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परकासधातोरनुप्रयोगे, लिट्स्तिपो णलि अनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्याससन्ज्ञायाम् 'हलादिः शेषः' इति सलोपे 'अत आदेः' इति दीर्घे सवर्णदीर्घे च मिलित्वा 'गोपायामास' इति रूपम् । जुगोप । गुप्धातोः 'आयादय आर्धधातुके वा' इति आयप्रत्ययाभावपक्षे लिटि तत्स्थाने तिपि, तिपः स्थाने 'परस्मैपदानाम्' इति णलि, अनुबन्धलोपे द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इति हलादेः शेषे 'कुहोश्चुः' इति लुत्वेन जत्वे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'जुगोप' इति सिद्धम् । जुगोपिथ-जुगोप्य । आयप्रत्ययाभावे गुप्धातोर्लिटिः सिप-स्थलि, अनुबन्धलोपे, द्वित्वेऽभ्यासत्वे अभ्यासकार्ये च 'जुगुप-थ' इति स्थिते 'लिट् च' इत्यार्धधातुकसन्ज्ञायां 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'आर्धधातुकस्येड्व-लादेः' इति नित्यमिडागमे प्राप्ते तम्बाधित्वा 'स्वरतिसूतिसूयतिधूजूदितो वा' इति वा इडागमे अनुबन्धलोपे 'जुगोपिथ' इति रूपम् । इडागमाभावपक्षे—'जुगो-

अनुदात्ता—हलन्त धातुआर्मेसे एक सौ तीन धातु अनुदात्त हैं ।

स्वरति—स्वरत्यादि धातु और ऊदित धातुओंसे पर वलादि आर्धधातुको इट्का आगम हो, विकल्पसे ।

नोटः—स्वरत्यादिसे 'सृ शब्दोपतापयोः'-श्वादि । 'बूङ् प्राणिगर्भविमोचने'-अदादि

गोपायिष्यति । गोपिष्यति । गोप्स्यति । गोपायतु । आगोपायत । गोपायेत् । गोपा-
य्यात् । गुप्यात् । अगोपायीत् । नेटि । ७।२।४। इडादौ सिचि हलन्तलक्षणा वृद्धिर्न

प्थ' इति रूपम् गोपायिता । गुप्धातोः 'आयादय आर्धधातुके वा' इत्यायप्रत्यये
'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वाल्लुटि, तत्स्थाने
तिपि, सार्वधातुकसंज्ञायां अपि प्राप्ते तम्बाधित्वा 'स्यतासी लृटोः' इति तासि,
तस्य 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकत्वात् 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इडा-
गमे 'अतो लोपः' इत्यल्लोपे तिपो डादेशेऽनुबन्धलोपे द्वित्वसामर्थ्यादभस्यापि
टेलोपे 'गोपायिता' इति रूपम् । आयप्रत्ययाभावपक्षे गुपो लुटस्तिपि तासि, आर्ध-
धातुकत्वे 'स्वरतिसूतिसूयतिधूजूदितो वा' इति पाक्षिके इडागमेऽनुबन्धलोपे,
गुणे, तिपो डादेशे, द्वित्वात् टिलोपे 'गोपिता' इति रूपम् । इडागमाभावपक्षे 'गोप्' इति रूपम् । गोपायिष्यति । गुप्धातोः 'आयादय आर्धधातुके वा' इत्यायप्रत्यये
'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वाल्लुटि तत्स्थाने
तिपि स्ये प्रत्यये आर्धधातुकसंज्ञायाम् 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इडागमे 'अतो
लोपः' इत्यल्लोपे षत्वे च तत्सिद्धिः । आयप्रत्ययाभावपक्षे गुप्धातोर्लुटि, तिपि,
स्ये, आर्धधातुकसंज्ञायां गुणे 'स्वरतिसूतिसूयतिधूजूदितो वा' इति विकल्पेने-
डागमे षत्वे च 'गोपिष्यति' इति । इडागमाभावपक्षे—गोप्स्यति । गोपायतु । गुप्-
धातोः 'गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः' इत्यायप्रत्यये कृते आर्धधातुकत्वे गुणे
'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वाल्लोटस्तिपि, अपि, अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे'
इति पररूपे च कृते 'एरुः' इति तिप इकारस्योत्वे तत्सिद्धिः । गोपाय्यात् । गुप्-
धातोरायप्रत्यये तस्यार्धधातुकत्वात् 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'सनाद्यन्ता
धातवः' इति धातुत्वादाशीर्लिङस्तिपि, 'लिङाशिषि' इत्यार्धधातुकत्वात् शबभावे
यासुटि, उटि गते 'अतो लोपः' इति आयप्रत्ययस्याकारस्य लोपे 'इतश्च' इति तिप
इकारस्य लोपे 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति सलोपे च तत्सिद्धिः । 'आयादय आर्ध-
धातुके वा' इति आयप्रत्ययाभावे गुप्धातोराशीर्लिङस्तिपि अनुबन्धलोपे यासुटि,
उट इत्संज्ञायां लोपे च 'किदाशिषि' इति यासुटः कित्वाद् गुणाभावे जाते 'इतश्च'
इति तिप इकारस्य लोपे 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति सलोपे 'गुप्यात्' इति रूपम् ।
अगोपायीत् । गुप्धातोः 'आयादय आर्धधातुके वा' इति पाक्षिके आयप्रत्यये तस्या-
र्धधातुकत्वात् 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुस-

'षूङ् प्राणिप्रसवे'—दिवादि और 'धूञ् कम्पने'—स्वादि तथा 'धूञ् कम्पने'—ऋयादि का सी
प्रहण समझना चाहिये ।

नेटि—इडादि 'सिच्' के परे हलन्त लक्षण (वदव्रजहलन्तस्याचः से) वृद्धि नहीं हो ।

स्यात् । अगोपीत् । अगौप्सीत् । झलो झलि ८।२।२६। मलः परस्य सस्य लोपः स्याज्मलि परे । अगौप्ताम् । अगौप्सुः । अगौप्सीः । अगौप्सम् । अगौप् । अगौप्सम् । अगौप्स्व । अगौप्स्म । अगोपायिष्यत् । अगोपिष्यत् । अगोप्स्यत् । क्षि क्षये । क्षयति । चिक्षाय । चिक्षियतुः । चिक्षियुः । 'एकाच' इति निषेधे प्राप्ते ।

ञ्ज्ञायां 'लुङ्' इति लुङि, 'लुङ्लङ्लृङ्च्वहुदात्तः' इत्यङागमे, लुङः स्थाने तिपि, अनुबन्धलोपे 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकसंज्ञायां शपि प्राप्ते तन्वाधित्वा 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति च्लेः सिचि अनुबन्धलोपे तस्य आर्धधातुकत्वाद् 'इतश्च' इति तिप इकारस्य लोपे, तस्य 'अस्ति-सिचोऽपृक्ते' इति ईङागमे 'अतो लोपः' इत्यल्लोपे 'इट ईटि' इति सलोपे सिङ्लोपस्य सिद्धत्वात्सवर्णदीर्घे 'अगोपायीत्' इति रूपम् । अगोपीत् । अगौप्सीत् । 'आयादय आर्धधातुके वा' इत्यायप्रत्ययाभावे गुप्धातोर्लुङ्स्तिति, अटि, च्लौ, च्लेः सिचि, अनुबन्धलोपे आर्धधातुकसंज्ञायां गुणे 'स्वरतिसूतिसूयतिभूजुदितो वा' इति विकल्पेन इटि, 'इतश्च' इति तिप इकारस्य लोपे ईटि, 'इट ईटि' इति सलोपे सवर्णदीर्घे 'वदव्रजहलन्तस्याच' इति वृद्धौ प्राप्तायां 'नेटि' इति निपिद्धे 'अगोपीत्' इति रूपम् । इङागमाभावे—अ गुप् स् ई त् इति स्थिते 'वदव्रजहलन्त-स्याचः' इति वृद्धौ 'अगौप्सीत्' इति रूपम् । अगौप्ताम् । गुप्धातोर्लुङ्स्तिसि अटि तसस्तामादेशे च्लौ, च्लेः सिचि, अनुबन्धलोपे 'वदव्रजहलन्तस्याचः' इति वृद्धौ 'झलो झलि' इति सलोपे 'अगौप्ताम्' इति सिद्धम् । अगोपायिष्यत् । गुप्धातोः 'गुप्धूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः' इत्यायप्रत्यये तस्यार्धधातुकसंज्ञायाम् 'पुगान्तल-घूपधस्य च' इति गुणे 'गोपाय' इति जाते 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायाम्, धातुत्वाच्च लुङि, तस्य स्थाने तिपि, 'लुङ्लङ्लृङ्च्वहुदात्तः' इत्यटि 'स्यतासी लृटोः' इति स्ये, 'आर्धधातुकं शेषः' इति स्यस्यार्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वलदाः' इतीटि 'अतो लोपः' इति यकारगताकारलोपे 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे, 'आदेशप्रत्यययोः' इति सस्य पत्वे च कृते 'अगोपायिष्यत्' इति रूपम् । अगोपिष्यत् । 'आयादय आर्धधातुके वा' इत्यायप्रत्ययाभावे 'अ गोप् स्य त्' इति स्थिते इटि च कृते पत्वे च 'अगोपिष्यत्' इति । अगोप्स्यत् । आय प्रत्ययाभावे इङभावे च 'अगोप्स्यत्' इति । क्षि क्षय इति । क्षयो नाशः, अकर्मकः । अन्तर्भावितण्यर्थस्तु सकर्मकः, नाशनमिति तदर्थः । चिक्षाय । चिधातोर्लिट्स्तिति तिपो णलादेशे अनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इति अभ्याससंज्ञायां 'हलादिः शेषः' इति षलोपे 'कि चि अ' इति जाते 'कुहो

झलो—'झल्' से पर (सिच्सम्बन्धी) सकारका लोप हो 'झल्' के परे ।

कृस्वृवृस्तुद्रुसुश्रुवो लिटि । ७।२।१३। क्रादिभ्य एव लिट् इण्ण स्यात्, अन्यस्मादनितोऽपि स्यात् । अचस्तास्वत्थल्यनितो नित्यम् । ७।२।६१। उपदेशोऽजन्तो यो धातुस्तासौ नित्यानिट् ततः परस्य थल् इण् न स्यात् । उपदेशोऽत्त्वतः । ७।२।६२। उपदेशोऽकारवतस्तासौ नित्यानिटः परस्य थल् इण्ण । ऋतो भारद्वाजस्य । ७।२।६३। तासौ नित्यानिट् ऋदन्तादेव थलो नेट् भारद्वाजस्य मतेन । तेनान्यस्य

श्चुः' इति कस्य चत्वे 'अचो ङित्' इति वृद्धौ कृतायाम् 'एचोऽयवायावः' इत्यायादेशे च कृते 'चिन्नाय' इति रूपम् । एकाच इति निषेधे इति । चिन्नातोरेकाचत्वात्, ऊहदन्तादिचतुर्दशभिन्नधातूनामुदात्तत्वाभ्युपगमादिति भावः । कृस्वृ । कृ स् वृ स्तु द्रु सु श्रु इत्यष्टानां समाहारद्वन्द्वत्पञ्चमी लिटीति पष्ठर्थे सप्तमी । 'नेड्वशि कृति' इत्यतो नेति इडिति चानुवर्तते । 'एकाच उपदेशोऽनुदात्तात्' इति 'श्रूयुकः किति' इति च सिद्धे नियमार्थमिदन्तदेतदाह—क्रादिभ्य एवेत्यादिना । अचस्तास्वादिति अधातोस्थलोऽभावाद्धातोरिति लभ्यते । अच इति तद्विशेषणम् । तदन्तविधिः । 'उपदेशोऽत्त्वत' इत्युत्तरसूत्रादुपदेश इत्यपकृष्यते, भाष्यग्रामाण्यात् । 'तासि च क्लृपः' इत्यतस्तासीत्यनुवर्तते । 'गमेरिट् परस्मैपदेषु' इत्यत इडिति, 'न वृद्धयश्चतुर्भ्यः' इत्यतो नेति चानुवर्तते । तास्वदिति सप्तम्यन्ताद्वतिः, तदाह—उपदेशोऽजन्त इति । उपदेशोऽत्त्वत इति । अत्त्वत इति छेदः । अत्-ह्रस्वाकारः सः अस्य अस्तीति अत्वान् 'तसौ मत्वर्थे' इति भत्वान्न जश्त्वम् । अच इति वर्जम् पूर्वसूत्रं तत्र यदनुवृत्तं तदप्यनुवर्तते । तदाह—उपदेशोऽकारवत इति । ऋत इति । तासौ नित्यमनिट् इति, थलीति, नेति, इडिति चानुवर्तते । भारद्वाजस्य मते ऋदन्ताद्धातोः परस्य नेडिति फलितम् । ह्रज्धूजादौ 'अचस्तास्वत्' इत्येव सिद्धम् । अतो नियमार्थमिदमित्याह—ऋदन्तादेवेति । अनुदन्तात्परस्य तु थल् इट् स्यादेवेत्येवकारार्थः । तदाह—अन्यस्य स्यादेवेति । ऋदन्तभिन्नात्परस्य थल् इट् स्यादेवेत्यर्थः । अयमत्रेति । कृस्वृवृस्तुद्रुसुश्रुवो लिटीति, अचस्तास्वत्थल्यनितो नित्यमिति, उपदेशोऽत्त्वत इति, ऋतो

कृस्वृ—कृ आदि धातुओंसे पर ही 'लिट्' को इट् नहीं हो, पर क्रादिसे अन्य धातुओंके 'लिट्' चाहे वह अनिट् भी क्यों न हो, इट् होगा ही । अचः—उपदेशावस्थामें अजन्त जो धातु वह यदि 'तासि' प्रत्ययके परे नित्य अनिट् हो तो उससे पर 'थल्' को इट् नहीं हो । उपदेशो—उपदेशावस्थामें अकारवान् तथा 'तासि' प्रत्ययके परे रहते नित्य अनिट् जो धातु उससे पर जो 'थल्' उसको इट् नहीं हो । ऋतो—'तासि' प्रत्ययके परे नित्य अनिट् जो ऋदन्त धातु उससे पर ही 'थल्' को 'इट्' नहीं हो, भारद्वाजके मतसे (अर्थात् विकल्पसे) ।

स्यादेव । अयमत्र सङ्ग्रहः—

अजन्तोऽकारवान्वा यस्तास्यनिट् थलि वेडयम् ।

ऋदन्त ईदङ् नित्यानिट् क्राद्यन्यो लिटि सेड् भवेत् ॥१॥

चिक्षयिथ । चिक्षेथ । चिक्षियथुः । चिक्षिय । चिक्षाय—चिक्षय । चिक्षियिच । चिक्षियिम । चेता । चेप्यति । क्षयतु । अक्षयत् । अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः । ७।४।२५। अजन्ताङ्गस्य दीर्घः स्याद्यादौ प्रत्यये, न तु कृत्सार्वधातुकयोः । क्षीयात् । सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु । ७।२।१। इगन्ताङ्गस्य वृद्धिः परस्मैपदे सिचि । अक्षैषीत् । अक्षेप्यत् ॥ तप सन्तापे । तपति । तताप । तेपतुः । तेषुः ।

भारद्वाजस्येति च सूत्रचतुष्टयस्य विषयाणां संग्रहो वक्ष्यत इत्यर्थः । अजन्त इति । यो धातुः ऋदन्तभिन्नोऽजन्तो, ह्रस्वाकारवान् वा तासौ नित्यानिट् सोऽयं थलि विकल्पितेदृक् इति पूर्वार्धस्यार्थः । अत्र 'ईदृक्' इत्यस्य तासौ नित्यानिडित्यर्थः । यः ऋदन्तस्तासौ नित्यानिट् सः थलि नित्यानिडित्यर्थः । 'अचस्तास्वत्' इति पाणिनिमते 'ऋतो भारद्वाजस्य' इति भारद्वाजमतेऽपि तस्य अनिट्कत्वादिति भावः । क्राद्यन्य इति । क्राद्यष्टभ्योऽन्यो धातुः लिटि नित्यं सेडित्यर्थः । क्राद्यष्टभ्य एव परस्य लिटि नेडिति 'कृसृभृ' इति सूत्रेण नियमितत्वादिति भावः । एवञ्च प्रकृते क्षिधातो-रजन्तत्वात्तासौ नित्यानिट्त्वाच्च थल इड्विकल्प इति सिद्धम् । तदाह—चिक्षयिथ, चिक्षेथ इति । अक्षेपत । क्षिधातोः 'लुङ्' इति लुङि, तस्य स्थाने त्रिवादेशे अङ्गस्याडागमे, च्लौ, च्लेः सिचि, इचि गते, इडभावे, तिप् इकारलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि विहिते 'अ चि स् ई त्' इति जाते 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ, सस्य पत्वे च 'अक्षैषीत्' इति रूपम् । तेपतुः । तप्धातोर्लिटः स्थाने प्रथमपुरुषद्विवचने तसि, तसश्चातुसि, द्वित्वे अभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इति पलोपे 'ततप्-अतुस्' इति जाते 'असंयोगाह्लिट् कित्' इति लिटः कित्वे 'अत एकहल्ममध्येऽनादेशादेर्लिटि' इत्यकारस्यैत्वेऽभ्यासलोपे च कृते 'तेपतुः' इति रूपम् ।

अजन्तो—अजन्त (या-पा-वा आदि) अथवा अकारवान् (पचादि) धातु तथा 'तासि' प्रत्ययके परे नित्य अनिट् जो धातु उसको 'थल्' में विकल्पसे 'इट्' होता है । तथा 'तासि' प्रत्ययके परे नित्य अनिट् जो ऋदन्त धातु वह 'थल्' में नित्यानिट् (इट्का नित्य निषेध) होता है । और कृ-सृ-भृ आदि आठ धातुओंसे भिन्न जो अनिट् धातु, वह 'लिट्' में सेट् ही होता है ।

अकृत्—अजन्त अङ्गको दीर्घ हो, यकारादि प्रत्ययके परे । परन्तु यकारादि 'कृत्' और सार्वधातुकके परे दीर्घ नहीं हो । सिचि—इगन्त अङ्गको वृद्धि हो, परस्मैपद 'सिच्' के परे ।

नेपिथ । ततप्य । तप्ता । तप्स्यति । तपतु । अतपत् । तपेत् । तप्यात् । अताप्सीत् । अताप्ताम् । अतप्स्यत् । निसस्तपतावनासेवने । ८।३।१०२। षः स्यात् । आसेवनं = पौनःपुन्यं, ततोऽन्यस्मिन्विषये । निष्टपति । क्रमु पादविच्छेपे । वा आशभ्लाशभ्रमुक्रमुक्लमुत्रसिन्नुटिलषः । ३।१।७०। एभ्यः श्यन्वा, कर्तरि सार्वधातुके । पक्षे शप् । क्रमः परस्मैपदेषु । ७।३।७६। क्रमेर्दीर्घः, परस्मैपदेषु शिति । क्राम्यति । क्रामति । चक्राम । स्नुक्रमोरनात्मनेपदनिमित्ते । ७।२।३६। अत्रैवेत् । क्रमिता । क्रमिष्यति । क्राम्यतु । क्रामतु । अक्राम्यत् । अक्रामत् । क्राम्येत् । क्रामेत् । क्रम्यात् । अक्रमीत् । अक्रमिष्यत् ॥ चमु छमु जमु झमु अदने ।

अताप्सीत् । तपधातोर्लुङ्स्तिपि 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति सिचि, इचि गते 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति इणिवेधे, अटि, तिप इकारलोपे 'अस्ति सिचोऽपृक्ते' इति ईटि, 'वद्वज्रजहलन्तस्याचः' इत्यचो वृद्धौ 'अताप्सीत्' इति रूपम् । निसस्तपताविति । 'अपदान्तस्य मूर्धन्य' इत्यधिकारात् । षः स्यादित्युक्तसङ्गतम् । निसः सकारस्य षत्वं स्यात्तपधातोः परतः, पौनःपुन्यभिन्नार्थे गम्ये इति प्रकृतसूत्रार्थः फलितः । निष्टपतीति । निष्पूर्वात् तपधातोर्लटि तिपि शपि 'निस् तपति' इति जाते 'निसस्तपतावनासेवने' इति सस्य षत्वे 'ण्डुना ण्डुः' इति तस्य ण्डुत्वेन तस्य टवे 'निष्टपति' इति प्रोक्तरूपसिद्धिः । प्रभाते निष्टपति सूर्यः अर्थात् प्रभाते सूर्यः निष्कृष्य तपति इत्यर्थः । क्राम्यति । क्रमु पादविच्छेपेऽर्थे धातुर्वर्तते, उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च तस्मान्नटस्तिपि, अनुबन्धलोपे 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकत्वे 'कर्तरि शप्' इति शपि प्राप्ते तस्माद्वित्वा 'वा आशभ्लाशभ्रमुक्रमुक्लमुत्रसिन्नुटिलषः' इति श्यनि जाते, शस्य नस्य चेत्संज्ञायां लोपे च 'क्रम य ति' इति स्थिते 'क्रमः परस्मैपदेषु' इति क्रम उपधाया दीर्घत्वे च कृते 'क्राम्यति' इति रूपम् । पक्षे शपि दीर्घत्वे च—'क्रामति' इति रूपम् । स्नुक्रमोरेति । पञ्चम्यर्थे षष्ठी । आत्मनेपदनिमित्तस्याभाव इति अनात्मनेपदनिमित्तम्, तस्मिन्निति अभावो नञर्थ इति 'अर्थाभावे अव्ययीभावेन सह नन्तत्पुरुषो विकल्प्यते' इत्युक्तेः समासः । आत्मनेपदनिमित्ताभावे सति स्नुक्रमभ्यां परस्य वलाद्यार्धधातुकस्य इडागमः स्यादित्यर्थः । स्नुक्रमोरनुदात्तोपदेशानन्तर्भावादिति सिद्धे वचनमिदं नियमयति—अत्रैवेडिति ।

निसस्त—पौनःपुन्यसे भिन्न अर्थमे 'निस्' के सकारको षत्व हो, 'तप्' धातु के परे । वाआश-आश, भ्लाश्, भ्रम्, क्रम्, क्लम्, त्रस्, त्रुट् और लष् धातुओंसे 'श्यन्' प्रत्यय हो, कर्त्रर्थक सार्वधातुकके परे, विकल्पसे । क्रमः—'क्रम' धातुको दीर्घ हो, परस्मैपद 'शित्' के परे । स्नुक्रमो—आत्मनेपदनिमित्त हीन 'स्नु' और 'क्रम' धातुसे पर ही वलादि आर्धधातुकको

ष्विबुक्लमुचमां शिति । ७।३।७५। एषामचो दीर्घः स्याच्छिति । (आङि चम इति वक्तव्यम्) आचामति । आङि किम् ? चमति । विचमति । अचमीत् ॥ स्खल्ल संचलने । स्खलति । चस्खाल । अतो ह्रान्तस्य ७।२।२। अतः समीपौ यौ ह्रौ, तदन्तस्याङ्गस्यातो वृद्धिः, परस्मैपदपरे सिचि । अस्खालीत् । अस्खलि-

तेन 'उपस्नोप्यते जलेन' इति भावार्थलकारे इण्ण इति फलमित्यलम् । अक्रमीत् । क्रमधातोर्लुङ्गस्तिपि, अटि, च्लौ, च्लेः सिचि, इचि गते, इटि, तिप इकारलोपे इटि, सलोपे, 'अतो हलादेर्लघोः' इति वृद्धौ प्राप्तायाम् 'ह्रस्वन्तच्छणश्चसजागृणि०' इति निषिद्धे 'अक्रमीत्' इति । ष्विबुक्लमुचमां शिति । एषां शिति परतोऽचो दीर्घः स्यात् इति सूत्रार्थः । आचामति इति । आङ्पूर्वाच्चमुधातोर्लटि तिपि शपि तस्य शित्वेन 'ष्विबुक्लमुचमां शिति' इति चमोरचो दीर्घत्वे 'आचामति' इति रूपसिध्यति । आङि किमिति । आङि चमोदीर्घत्वमित्यर्थाभावे चमोरप्यनाङ्पूर्वाच्छिति परतः दीर्घत्वं प्रसज्येत । तेन च 'चमति' इत्यादिस्थले 'चामति' इति शब्दशास्त्रविरुद्धसिद्धिः स्यादतः 'आङि' इत्येव वक्तव्यमिति भावः । अत एव 'विचमति, चमति' इत्यादौ न दीर्घः । अग्रे तु-चचाम, चमिता, चमिष्यति, चमतु, अचमत्, चमेत्, चम्यात्, अचमीत् अत्र न वैकल्पिकवृद्धिः 'ह्रस्वन्त' इति मान्तत्वेन तन्निषेधात् । अचमिष्यत् । छमु जमु झमु अदने । लट्-छमति, जमति, झमति । स्खलतीति । स्खल्ल संचलने अस्माद्धातोः 'वर्तमाने लट्' इति लटि 'तिपत्स्' इति तिपि 'लिङ्शित्' इति तिपः सार्वधातुकसंज्ञायां शपि शस्य लशक्वेति इत्संज्ञायां लोपे. 'स्खलति' इत्युक्तरूपस्य सिद्धिः । अतो ह्रान्तस्येति । 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इत्यनुवृत्तम् । अङ्गस्येत्यधिकृतम् । 'हर अन्तस्य' इति छेदः । ल् च रश्चेति समाहारद्वन्द्वात् षष्ठ्येकवचनं लुप्तम् । हरस्यान्तस्येति सामानाधिकरण्येनान्वयः । अत इति व्यधिकरणषष्ठ्यन्तम् । तच्च अन्तस्येत्यत्रान्वेति । अन्तशब्दः समीपवर्तिवाची । तथा च अतः समीपवर्तिनो हरस्येति लभ्यते । हरस्येत्यङ्गविशेषणत्वात्तदन्तविधिः । ततश्च अत्समीपवर्तिरेफलकारान्तस्य अङ्गस्य सिचि वृद्धिरिति लभ्यते । अत इत्यावृत्तं वृद्धौ स्थानित्वेनान्वेति । अस्खालीत् । स्खलो लुङि च्लौ 'च्लेः सिच्' इति सिचि इचो लोपे 'आर्धधातुकं शेषः' इति सिच आर्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वलादे'रिति सिच इडागमे तिपस्तस्य 'अपृक्त एकाल्' इति अपृक्तसंज्ञायाम् 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईडागमे 'इट ईटि' इति सिचो लोपे सवर्णदीर्घे वृद्धौ 'अस्खालीत्' इति । अत्र सिचि वृद्धि

इट् हो । ष्विबु—ष्विबु, क्लमु और चम् धातुओंके 'अच्' को दीर्घ' हो 'शित्' के परे । आङि—यहां 'आङ्' उपसर्गक 'चम्' धातुको दीर्घ हो ऐसा कहना चाहिये । अतो—अत के समीपवर्ती जो ह्रान्त, तदन्त जो अङ्ग, तत्सम्बन्धी जो 'अत्' उसको वृद्धि हो, परस्मैपद

ष्यत् ॥ त्सर छन्नगतौ । अत्सारीत् ॥ पा पाने । पा-प्रा-ध्मा-स्था-म्ना-दाण-
दृश्य-र्ति-सर्ति-शद्-सदां पिब-जिघ्र धम-तिष्ठ मन-यच्छ पश्य-च्छ-धौ-
शीय-सीदाः । ७।३।७८। पादीनां पिवादयः स्युरित्संज्ञकशकारादौ प्रत्यये परे । पिवा
देशोऽदन्तस्तेन न गुणः । पिबति । आत औ णत्तः ७।१।३४। आदन्ताद्धातोर्णल
औकारादेशः स्यात् । पपौ । आतो लोप इटि च । ६।४।६४। अजाद्योर्दधातुक्योः
क्विडिटोः परयोरातो लोपः । पपुः । पपिथ । पपाथ । पपथुः । पप । पपौ ।
पपिव । पपिम । पाता । पास्यति । पिबतु । अपिबत् । पिबेत् । एलिङि
। ६।४।६७। घुसंज्ञानां मास्थगापिबतिजहातिस्वतीनां चाऽऽत एत्वमार्द्धधातुके किति
लिङि । पेयात् । 'लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्यैव ग्रहणं', तेन 'पा-रक्षणे'

'नेटि' इत्यनेन बाधित्वा 'अतो हलादेः' इति प्राप्तां विकल्पवृद्धिं 'अतो ह्रान्तस्य
इत्यनेन प्रवार्य नात्र वृद्धेः प्रतिबन्ध इति भावः । अग्रे अस्वल्लिङ्यदित्यादि । त्सर
गतौ । त्सरति, तत्सार, त्सरिता, त्सरिष्यति, त्सरतु, अत्सरत्, त्सरेत्, त्सर्यात्,
अत्सारीत् । अत्र नित्या वृद्धिः 'अतो ह्रान्तस्य' इति सूत्रात् । अत्सरिष्यत् । पाप्रा-
ध्मेति । पा प्रा ध्मा स्था म्ना दाण् दृशि अर्ति सर्ति शद् सद् एपां द्वन्द्वात् प्रथमबहु-
वचनम् । पिब जिघ्र धम तिष्ठ मन यच्छ पश्य ऋच्छ धौ शीय सीद एपां द्वन्द्वात्
प्रथमाबहुवचनम् । यथासंख्यमादेशाः । 'ष्टिबुक्लमुचमां शिति' इत्यतः शितीत्यनु-
वर्तते । श् चासौ इच्चेति कर्मधारयः । अङ्गाक्षिसप्रत्ययविशेषणत्वात् तदादिविधित्त-
दाह—इत्सञ्ज्ञकेति । पिबति । पाधातोः 'वर्तमाने लट्' इति लटि, लट्स्तिबादेशे सार्व-
धातुकसंज्ञायां 'कर्तरि शप्' इति शपि अनुबन्धलोपे शित्वात्सार्वधातुकसंज्ञायां
'पाप्राध्मास्थाम्ना०' इत्यादिना पास्थाने पिवादेशे, पिवादेशस्यादन्तत्वाद् गुणाभावे
'पिब अ ति' इति स्थिते 'अतो गुणे' इति पररूपे 'पिबति' इति । पपौ । पाधातो-
र्लिट्स्तिपि तिपो णलादेशे अनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे

'सिच्' के परे । पाप्रा—इत्संज्ञक शकारादि प्रत्ययके परे 'पा' आदि धातुओंको यथाक्रमसे
पिवादि आदेश हो । (अर्थात् पाको पिब, प्राको जिघ्र, ध्माको धम, स्थाको तिष्ठ, म्नाको
मन, दाणको यच्छ, दृशको पश्य, ऋको ऋच्छ, सूको धौ, शदको शीय और सदको सीद
आदेश हो) । आत औ—आदन्त धातुसे पर 'णल्' को औकार आदेश हो ।

आतो—अजादि कित्-डित् आर्धधातुक और 'ईट्' के परे आकारका लोप हो ।

एलिं—घुसंज्ञक धातु तथा मा माने, घा गतिनिवृत्तौ, गै शब्दे, पा पाने, ओहाक् त्यागे,
और षोऽन्तकर्मणि-धातुसम्बन्धी आकारको एत्व हो, आर्धधातुक कित्-लिङ्के परे ।

नोटः—घुसंज्ञकसे 'दाधाध्वदाप्' से विहित 'घुसंज्ञक' अर्थात् डुदाब् दाने, दाण् दाने,
दो अवखण्डने, देह रक्षणे, डुधाब् धारणपोषणयोः और घेट् पाने का तथा 'मास्थादिसे माह्

इत्यस्य नैत्वम् । 'गातिस्थे'ति सिचो लुक् । अपात् । अपाताम् । आतः । ३४।
११०। सिज्जुकि आदन्तादेव झेर्जुस् । उर्यपदान्तात् । ६।१।९६। अपदान्ता-
दवर्णादुसि पररूपमेकादेशः । अपुः । अपास्यत् । ग्लै ग्लै हर्षक्षये । ग्लायति ।
आदेच उपदेशेऽशिति । ६।१।४५। उपदेशे एजन्तस्य धातोरात्त्वं, न तु शिति ।
जग्लौ । ग्लता । ग्लास्यति । ग्लायतु । अग्लायत् । ग्लायत् । वाऽन्यस्य
संयोगादेः । ६।४।६८। धुमास्थादेरन्यस्य संयोगादेर्धातोरात् एत्वं वा, आर्द्धधातुके
किति लिङि । ग्लेयात्-ग्लयात् । यमरमनमातां सक् च । ७।२।७३। एषां सक्

'पूर्वोऽभ्यासेः' इति अभ्याससञ्ज्ञायां 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वत्वे 'प पा अ' इति
जाते 'आत औ णलः' इति णल औत्वे वृद्धौ च सत्यां 'पपौ' इति । अपात् ।
पाधातोर्लुङ्स्तितिपि, च्लौ, च्लेः सिचि, 'गातिस्थाघुपा०' इति सिचो लोपे, तिप
इकारलोपे अङ्गस्याङागमे च कृते 'अपात्' इति । आत इति । 'झेर्जुस्' इति सूत्र-
मनुवर्तते । 'आतः सिज्जुगन्तादिति वक्तव्यम्' इति वार्तिकात् सिज्जुकीति लभ्यते ।
'सिजभ्यस्त' इति पूर्वसूत्रेणैव सिद्धे नियमार्थमिदम् । तदाह—सिज्जुकीत्यादिना ।
अपुः । पाधातोर्लुङः स्थाने प्रथमपुरुषवहुवचने ज्ञावागते अटि, च्लौ, च्लेः सिचि,
'गातिस्थाघुपाभूभ्यः' इति सिचो लोपे 'आतः' इति झेर्जुसि जस्येत्सञ्ज्ञायां लोपे
च 'उर्यपदान्तात्' इति पररूपत्वे सस्य रुत्वे विसर्गत्वे च 'अपुः' इति रूपम् ।
जग्लौ । ग्लैधातोर्लिट्स्तितिपि, तिपो णलादेशे 'आदेच उपदेशेऽशिति' इत्याच्चे सति
'ग्ला अ' इति जाते 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इति अभ्या-
सत्वे 'ह्रस्वः' इति अभ्यासह्रस्वत्वे 'हलादिः शेषः' इति ललोपे 'कुहोश्चुः' इति
गस्य जत्वे 'आत औ णलः' इत्यौत्वे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ च सत्यां 'जग्लौ' इति
रूपम् । ग्लता । ग्लैधातोर्लुङ्स्तितिपि, तासि, तिपो डात्वे, 'आदेच उपदेशेऽशिति'
इति ग्लैधातोरात्वे डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेलोपे 'ग्लता' इति रूपम् । ग्लेयात्,
ग्लयात् । ग्लैधातोराशीर्लिङ्स्तितिपि, तस्य 'लिङाशिपि' इत्यार्धधातुकत्वे, शबभावे
यासुटि, 'आदेच उपदेशेऽशिति' इत्याच्चे तिप इकारलोपे 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते ।

माने, घा गतिनिवृत्तौ, गै शब्दे, पा पाने, ओहाक् त्यागे और पो अन्तकर्मणि—इन धातुओं
का ही ग्रहण करना चाहिये ।

आतः—'सिच्' का 'लुक्' होने पर आदन्त धातुसे पर ही 'झि' को 'जुस्' हो । उर्य-
अपदान्त अवर्णसे पर 'उस्' के परे पूर्व-परके स्थानमें पररूप एक आदेश हो । आदेच—
उपदेशमें एजन्त धातुको आत्व हो, किन्तु 'शित्' के परे नहीं हो । वाऽन्य—धु-मा-स्थादि
धातुओंसे भिन्न संयोगादि आदन्त धातुओंके आकारको विकल्पसे एत्व हो, आर्धधातुक कित्
लिङ्के परे । यम—यम्, रम्, नम् और आदन्त धातुको 'सक्' हो तथा (एक ही साथ)

१२ म० कौ०

स्यात्, एभ्यः सिच इट्, परस्मैपदेषु । अग्लासीत् । अग्लास्यत् ॥ एवं-ग्लाय-
तीत्यादि ॥ घेट् पाने । धयति । दधौ । धाता । धास्यति । धयतु । अधयत् ।
धयेत् । दाधा ध्वदाप् । १।१।२०। दारूपा, धारूपाश्च धातवो घुसंज्ञाः स्युर्दापदैपो
विना । धेयात् । विभाषा घेट्शब्दयोः । ३।१।४९। आभ्यां च्लेशब्दो वा । चङि

च' इति सलोपे 'वाऽन्यस्य संयोगादेः' इत्येत्वे 'ग्लेयात्' इति । पक्षे वाग्रहणादेत्वा-
भावे 'ग्लेयात्' इति अग्लासीत् । ग्लैधातोलुङ्गस्तिपि, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः
सिच्' इति सिचि, इचि गते, 'लुङ्लुङ्लुङ्चवद्भुदात्तः' इत्यदि, 'अ ग्लै स् त्'
इति जाते 'आदेच उपदेशेऽशिति' इति ग्लैधातोरात्वे 'यमरमनमातां सक्च' इति
अङ्गस्य सकागमे सिचः सकारस्य इडागमे च कृते 'अ ग्लास् इ स् ति' इति जाते
'इतश्च' इति तिप् इकारस्य लोपे तस्यापृक्तसञ्ज्ञायाम् 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति
इडागमे 'इट ईटि' इति सिचः सकारस्य लोपे 'सिज्जलोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः'
इति सलोपस्य सिद्धत्वात् सवर्णदीर्घे 'अग्लासीत्' इति रूपम् । ग्लै = हर्षक्षये इत्यस्य
तु—ग्लायति, मग्लौ इत्यादि । धयति इति । घेट्—पानेऽस्माद्धातोर्वर्तमाने लटि
तिपि णपि 'एचोऽयचायावः' इति अयादेशे 'धयति' इति रूपं सिध्यति । दधाविति ।
घेट् पाने लटि अशिद्धिपयत्वात् 'आदेच उपदेशेऽशिति' इति आत्वे धातोर्द्वित्वे पूर्व-
स्याभ्याससंज्ञायाम् 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'अभ्यासे चर्च' इति धस्य दत्वे 'आत औ णलः'
इति अकारान्ताद्धातोः परस्मिन् विद्यमाने णलि औत्वादेशे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ
'दधौ' इति रूपं प्रसिध्यति । धयिता-धयिष्यति-धयतु-अधयत्-धयेत् । दाधाध्वेति ।
देत्यनेन स्वाभाविकाकारान्तयोः 'डुदाज् = दाने-दाण् = दाने' इत्यनयोः, कृतात्वयोः
दो—अवखण्डने—देङ्—रक्षणे इति लाक्षणिकयोश्च ग्रहणम् । 'अदाप्' इति निषेधात् ।
धेत्यनेनापि डुधाज् इति स्वाभाविकाकारान्तस्य लाक्षणिकस्य कृतात्वस्य 'घेट्' पाने
इत्यस्य च ग्रहणं भवति । 'अदाप्' इति निषेधात् । इति डुधाज् डुदाज् इत्यनयोरेव
घुसंज्ञा स्यात्तदा 'अदाप्' इति दाप्दैपोर्निषेधकरणं व्यर्थमेव स्यात् । अतो दाप्दैपोः
स्वाभाविकलाक्षणिकाकारान्तयोर्निषेधबलादेव स्वाभाविकलाक्षणिकाकारान्तयोः
दारूपधारूपयोः धात्वोः घुसंज्ञा भवतीति प्रतीयते । अत एव 'अदाप्' इति निषे-
धस्य सार्थक्यम् । धेयादिति । घेट् पाने धातोः आशीर्लिङि तिपि 'इतश्च' इतीकारलोपे
'आदेच उपदेशेऽशिति' इति घेट् आत्वे धा + त् इति जाते 'यासुट्परस्मै' इति तिपो
यासुडागमे टित्वादाद्यावयवे लिङ्ग आर्धधातुकत्वाच्छपोऽप्राप्तौ 'दाधाध्वदाप्' इति
घुसंज्ञायाम् 'एलिङि' इति आत्वे च कृते 'धेयात्' इत्यस्य सिद्धिः । विभाषा घेट्शब्दोरिति ।

उस सं पर जो 'सिच्' उसको इडागम हो, परस्मैपदके परे । दाधा—'दा' रूप तथा 'धा' रूप
धातुओंकी घुसंज्ञा हो, दाप्-दैप्-को छोड़कर । विभा—'घेट्' और 'धिव' धातुओंसे पर 'च्लि'
को 'अङ्' हो, विकल्पसे । चङि—'चङ्' पर अनभ्यास धात्ववयव प्रथम एकाचको तथा

।६।१।११। अनभ्यासधात्ववयवस्य प्रथमस्यैकाचो द्वे स्तोऽजादेर्द्वितीयस्य । अद-
धत् । अदधताम् । अदधन् । विभाषा ब्राधेट्शाच्छासः । २।४।७८।
एभ्यः सिचो लुग्व स्यात् परस्मैपदे । अधात् । अधाताम् । अधुः ।
पक्षे इट्सकौ । अधासीत् । अधासिष्टाम् । अधासिषुः ॥ द्यै न्यक्करणे ।

चिल लुङित्यनुवर्तते । 'णिश्चि' इत्यतः कर्तरि चङीति चानुवर्तते । अदधदिति । धेट्-
पाने धातोः 'आदेच उपदेशेऽशिति' इति आत्वे लुङि तिपि अनुबन्धलोपे
मध्ये च्लौ 'विभाषा धेट्श्व्योः' इति च्लेश्चङि 'चङि' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः'
इति पूर्वस्याभ्याससंज्ञायाम् 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'अभ्यासे चर्च' इति धस्य
दत्वे 'लुङ्लङ्' इति अङ्गस्याडागमे 'अ + दधा + अ + त्' इति जाते 'आतो लोप
इटि च' इति आकारलोपे परेण संयोगे सति 'अदधत्' इति रूपं जायते । अदधता-
मिति । धेट् धातोरात्वे लुङि तसि 'तस्यस्यमिपां तातंतामः' इति तसस्तामादेशे
च्लौ 'विभाषा धेट्श्व्योः' इति वैकल्पिके चङि 'चङि' इति धातोर्द्वित्वे पूर्वस्याभ्या-
सत्वे 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वेऽभ्यासस्य चत्वेन दत्वे 'आतो लोप इटि च' इति आलोपे
च कृते 'अदधताम्' इति रूपं भवति । अग्रे अदधन् इत्यादि । चङभावे -विभाषा
ब्राधेट्शाच्छास इति । 'ण्यक्षत्रियार्ष' इत्यतो लुगित्यनुवर्तते । 'गातिस्था' इत्यतः
सिचः परस्मैपदेऽपि चानुवर्तते । अधादिति । धेट्धातोः 'आदेच' इति आत्वे लुङि
तिपि 'इतश्च' इति इकारलोपे च्लौ 'च्लेः सिच्' इति सिचि 'विभाषा ब्राधेट्शाच्छासः'
इति सिचो विभाषिके लोपे 'अङ्गस्य 'लुङ्लङ्' इत्यडागमे 'अधात्' इति रूपम् ।
अधातामिति । धेट्धातोरात्वे लुङि तसि 'तस्यस्' इति तामादेशे च्लौ 'च्लेः सिच्'
इति सिजादेशे 'विभाषा ब्राधेट्शाच्छासः' इति वैकल्पिकसिचो लुकि 'लुङ्लङ्'
इति अङ्गस्याडागमे च कृते अधाताम्, इति रूपमिति भावः । अधुरिति । धेट् 'आदेच'
इत्यात्वे लुङि 'आतः' इति झेर्जुसि च्लौ च्लेः सिचि 'विभाषा ब्राधेट्' इति सिचोलोपे-
ऽङ्गस्याडागमे 'अ धा + उस्' इति स्थिते लुङो ङित्वेन 'आतो लोप इटि च' इत्याह्वोपे
च कृते परेण संयोगे सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'अधुः' इत्यभीष्टं रूपं संपद्यते ।
अग्रे अधाः इत्यादि स्पष्टमेव । सिचो लुगभावपक्षे तु -अधासीदिति । 'अ धा + स् + त्'
इत्यवस्थायाम् तिपोऽपृक्तसंज्ञायाम् 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईडागमे 'यमरमनमातां
सक्च' इति सिच इडागमे धातोः सकागमे च 'अ-धा-स्-इ-स्-ई-त्' इति जाते
'इट ईटि' इति सिचः सस्य लोपे 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घे कृते अधासीत् इत्यस्य
सिद्धिः फलति । अधासिष्टमिति ॥ 'अ + धा + स् + ताम्' इति सिचो लुगभावपक्षे

अजादिके द्वितीय एकाचको द्वित्व हो । विभाषा ब्रा—'ब्रा' धातु, धेट् धातु, शो धातु, छो
धातु और वो धातुओंसे पर 'सिच्' का लुक् हो विकल्पसे, परस्मैपदके परे ।

नोट—इस सूत्रमें ब्रा-गन्धोपादाने, धेट्-पाने, शो-तनूकरणे, छो छेदने और वो-अन्त-

धायति ॥ द्वै स्वप्ने । द्रायति ॥ ध्रै वृष्टौ । ध्रायति ॥ ध्यै चिन्तायाम् ।
ध्यायति । दध्यौ । रै शब्दे । रायति ॥ स्त्यै ध्र्यै शब्दसङ्घातयोः । स्त्यायति ।
षोपदेशस्यापि सत्वे कृते रूपं तुल्यम् , षोपदेशफलं तु 'तिष्ठयासती'त्यादौ भविष्य-

'यमरमनमातां सक्च' इति धातोः सकागमे सिच इडागमे च टित्त्वकित्वाभ्यामाद्य-
न्तावयवे अ + धा + स् + इ + स् + ताम् इति जाते 'आदेश' इति पत्वे 'अधासिष् +
ताम्' इति स्थिते 'प्लुना प्लुः' इति प्लुत्वे च कृते 'अधासिष्टाम्' इति रूपं प्रसि-
ध्यति । अधासिपुरिति । धेट् धातोः 'आदेच' इति आत्वे लुङि झौ झेरुसि च्लौ च्लेः
सिचि सिचो लोपाभावपक्षे तस्यार्धधातुकत्वात् 'यमरमनमातां सक्च' इति सकि
इटि चाङ्गस्याडागमे अ + धा + स् + इ + स् + उस् इति जातेऽपरसकारस्या-
देशप्रत्यययोरिति पत्वे 'अधासिष् + उस्' इति स्थिते परेण संयोगे सस्यरूत्वे विसर्गे
च कृते 'अधासिषुः' इत्यस्य सिद्धिः । अग्रे अधासीः-अधासिष्टम्-अधासिष्ट-अधा-
सिषम्-अधासिष्व-अधासिष्म । अग्रे अधास्यदित्यादि । धायतीति ॥ ध्यै न्यक्करणे
अस्माल्लिटि तिपि शपि 'एचोऽयवायावः' इत्यायादेशे च कृते 'धायति' इति रूपं
संपन्नं भवति । अग्रे दध्यौ-धाता-धास्यति-धायतु-अधायत्-धायत्-अधासीत्-
अधास्यदित्यादि ॥ 'द्रायति' इति । द्वै स्वप्नेऽस्माद्धातोः लिटि तिपि शपि आयादेशे
'द्रायति' रूपम् । अग्रे द्रद्वौ-द्राता-द्रास्यति-द्रायतु-अद्रायत्-द्रायेत्-द्रेयात्-द्रायात्
अद्रासीत्-अद्रास्यत् इति । ध्रायतीति । ध्रै वृष्टौ धातोर्लटि तिपि शपि आयादेशे
ध्रायतीति रूपम् । अग्रे द्रध्रौ-ध्राता-ध्रास्यति-ध्रायतु-अध्रायत्-ध्रायेत्-ध्रेयात्-ध्रायात्
अध्रासीत्-अध्रास्यदित्यादि । ध्यायतीति ॥ ध्यै चिन्तायाम् अस्मात् लटि तिपि
शपि आयादेशे रूपम् । अग्रे दध्यौ-ध्याता-ध्यास्यति-ध्यायतु-अध्यायत्-ध्यायेत्-ध्ये-
यात्-ध्यायात्-अध्यासीत्-अध्यास्यत् । रायतीति । रै शब्देऽस्माद्धातोर्वर्तमाने लटि तिपि
शपि आयादेशे रूपं भवति । अग्रे ररौ-राता-रास्यति-रायतु-अरायत्-रायेत्-रायात्-
अरासीत्-अरास्यत् । स्त्यायतीति ॥ स्त्यै-प्ल्यै-अनयोर्धातोर्वर्तमाने लटि तिपि शपि
'धात्वादेः षः सः' इति अपरधातोः षस्य सत्वे प्लुत्वस्य निवृत्तौ उभयोरपि आयादेशे
स्त्यायति इति रूपं भवति । षत्वपाठफलं तु वक्ष्यते तिष्ठयासति इत्यादाविति ।
तिष्ठयासतीति ॥ ध्र्यै धातोः कृतसत्वात्सनि आत्वे स्त्यास इति सञ्जन्ताल्लटि तिपि शपि
'सन्त्यङोः' इति द्वित्वे 'शपूर्वाः' इति सकारयकारनिवृत्तौ 'तास्त्यासति' इति स्थितेऽ-
भ्यासह्रस्वे 'सन्त्यतः' इति इत्वे सकारस्य इणः परत्वादादेशसकारत्वाच्च पत्वे तिष्ठया-
सतीति रूपम् । स्वाभाविकसकारादित्वे तु आदेशसकारादित्वाभावात् पत्वं न
स्यादतः 'ध्र्यै' इति कृत्वषत्वपाठस्यावश्यकतेति भावः । ध्रायतीति ॥ खै खदने

कर्मणि-इन धातुओंका ग्रहण समझना चाहिये ।

ति ॥ खै खदने । खायति ॥ क्षै जै षै क्षये । क्षायति । जायति । सायति । 'धुमा-
स्थे'त्यत्र, 'विभाषा प्राथेष्ट' इत्यत्र च स्यतेरेव ग्रहणं, न त्वस्य, तेन एत्वसिज्जुक्कौ
न । सायात् । असासीत् । कै गै शब्दे ॥ शै श्रै पाके । पै ओवै शोषणे ॥
पायात् । अपासीत् । 'धुमास्थे'तीत्वं, तदपवाद 'एलिङी'त्येत्वं, 'गातिस्थे'ति सि-
ज्जुक् च न, 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणमि'ति पारुपस्य लाक्षणिक-
त्वात् ॥ छै वेष्टने । स्तायति ॥ स्नै वेष्टने, शोभायां चेत्येके । स्नायति ॥ दैप्
शोधने । दायति । अघुत्वादेत्वसिज्जुक्कौ न । दायात् । अदासीत् ॥ घ्रा गन्धोपा-
दाने । जिघ्रति । घ्रायात्-घ्रेयात् । अघ्रासीत् । अघ्रास्यत् । ध्मा शब्दाग्निसंयो-

अस्माद्धातोः वर्तमाने लटि तिपि शप्प्यायादेशे प्रोक्तं रूपं भवति । अग्रे चखौ-खाता-
खास्यति-खायतु-अखायत्-खायेत्-खायात्-अखासीत्-अखास्यत् । क्षायति-जायति-
सायतीत्यादि ॥ चै जै पै चये एतेषां लटि तिपि शप्ि रूपाणि । चायति-
जायति-'धात्वादेः पः सः' इति सः सायतीत्यादि । अग्रे चक्षौ-जजौ-ससौ ।
जाता-जाता-साता । चास्यति-जास्यति-सास्यति । चायतु-जायतु-सायतु । अचा-
यत्-अजायत्-असायत् । चायेत्-जायेत्-सायेत् । च्यात्-जायात्-जायात्-
सायात् । अजासीत्-अजासीत्-असासीत् । अचास्यत्-अजास्यत्-असास्यत् ॥ कै गै
—शब्दे-कायति-गायति । चकौ-जगौ । काता-गाता । कास्यति-गास्यति । काय-
तु-गायतु । अकायत्-अगायत् । कायेत्-गायेत् । कायात्-गोयात् । अकासीत् अगा-
सीत् । अकास्यत्-अगास्यत् । शै श्रै—पाके । शायति-श्रायति । शशौ-शश्रौ । शाता-
श्राता । शास्यति-श्रास्यति । शायतु-श्रायतु । अशायत्-अश्रायत् । शायेत्-श्रायेत् ।
शयात्-श्रेयात्-श्रायात् । अशासीत्-अश्रासीत् । अशास्यत्-अश्रास्यत् । पै ओवै
शोषणे । 'ओदितश्च' इति निष्ठानन्वार्थं ओदिच्च्म् । पायति-वायति । पपौ-ववौ ।
पाता-वाता । पास्यति-वास्यति । पायतु-वायतु । अपायत्-अवायत् ।
पायेत्-वायेत् । पायात्—अत्र एलिङि इत्येत्वं न पारुपस्य लाक्षणिकत्वात् । वा-
यात् । छै वेष्टने । स्तायति । तस्तौ । स्ताता । स्तास्यति । स्तायतु । अस्तायत् ।
स्तायेत् । स्तेयात्-स्तायात् । अस्तासीत् । अस्तास्यत् । स्नायतीति । स्नै शोभा-
यामित्यस्मात् वर्तमाने लटि तिपि शप्ि आयादेशे उक्तरूपम् । सस्तौ । स्नाता । स्ना-
स्यति । स्नायतु । अस्नायत् । स्नायेत् । स्नेयात् स्नायात् । अस्नासीत् । अस्नास्यत् ।
दायतीति । दैप् शोधने अस्माद्धातोः लटि तिपि शप्प्यायादेशे प्रसिद्धं रूपम् । दायति ।
ददौ-दाता-दास्यति-दायतु-अदायत्-दायेत्-दायात्-अत्राघुत्वादेत्वं नेति भावः ।
अदासीत् । अजिघ्रतीति । घ्रा गन्धोपादानेऽस्माद्धातोर्लटि जिघ्रति इति रूपम् । अग्रे-
जजौ-घ्राता-घ्रास्यति-जिघ्रतु-अजिघ्रत्-जिघ्रेत्-घ्रेयात्-घ्रायात् । अघ्रादिति । घ्रा

गयोः । धमति ॥ घ्रा गतिनिवृत्तौ । तिष्ठति । 'स्थादिष्वि'ति षत्वम् । अधितष्टौ ।
 'उपसर्गादि'ति षत्वम् । अधिघ्राता । स्थेयात् । सत्वे कृते प्रकृतिस्तवर्गः स्यात् ।
 उक्तञ्च—'नकारजावनुस्वारपञ्चमौ झलि'धातुषु ।

सकारजः शकारश्च घाट्टवर्गस्तवर्गजः ॥'

'गातिस्थे'ति सिचो लुक् । अस्थात् । म्ना अभ्यासे । मनति ॥ दाण् दाने ।
 प्रणियच्छति ॥ हृ कौटिल्ये । हरति । ऋतश्च संयोगादेर्गुणः । ७।४।१०।

धातोर्लुङि तिपि 'इतश्च' इकारलोपे च्लौ 'च्लेः सिचि' इति सिचि 'विभाषाद्वा-
 धेद्व' इति सिचो विकल्पलोपेऽङ्गस्याडागमे 'अघ्रात्' इति सिज्जलोपाभावे इट्सकयोः
 कृतयोः 'इट ईटि' इति सिचो लोपे सवर्णदीर्घे 'अघ्रासीदि'ति द्वितीयं रूपं सिध्यति ।
 धमतीति । ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः अस्माद्धातोर्वर्तमाने लटि तिपि शपि 'पाघ्राध्मा'
 इति धमादेशे च कृते धमति इत्युक्तं रूपं सिध्यति । दध्मौ-ध्माता-ध्मास्यति-
 धमतु-अधमत-धमेत्-ध्मायात्-ध्मेयात्-अध्मासीत्-अध्मास्यत् । तिष्ठतीति । घ्रा
 गतिनिवृत्तौ अस्माद्धातोर्वर्तमाने लटि तिपि शपि 'धात्वादेः पः सः' इति पकारे
 सकारादेशे णट्वनिवृत्तौ 'पाघ्राध्मा' इति तिष्ठादेशे सति 'तिष्ठति' प्रोक्तं रूपं
 सिध्यति । तस्थौ-स्थाता-स्थास्यति-तिष्ठतु-अतिष्ठत्-तिष्ठेत्-स्थेयात्-अधितष्टौ-
 अत्र 'स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य' इति पत्वे 'ण्डुना ण्डुः' इति ण्डुत्वे रूपम् ।
 अधिघ्राता—अत्र 'उपसर्गात्सुनोति' इति पत्वे ण्डुत्वे रूपम् । अस्थादिति । घ्रा-
 धातोः लुङि तिपि 'इतश्च' इकारलोपे च्लौ सिचि 'गातिस्था' इति सिचो लुङि
 अङ्गस्याडागमे कृते 'अस्थात्' इति रूपम् । अस्थास्यत् । अत्र घ्रा—इत्यस्य 'धा-
 त्वादेः पः सः' इति षस्य सत्वे कृतेऽपि ण्डुत्वेन जातस्य ठकारस्य निवृत्तिः कथं
 स्यात् प्रमाणाभावादिति चेन्न । 'नकारजौ' इति प्रमाणस्य विद्यमानत्वात् श्लो-
 कार्थस्तु—धातुषु मध्ये झलि परतः यौ नकाराज्जातौ अनुस्वारपञ्चमौ तथा च सका-
 राज्जातः शकारस्तथा च पकारात्परो विद्यमानः सवर्गाज्जातो टवर्गोऽपि प्रकृतस्थितिं
 लभते इत्यर्थः । तेन 'घ्रा' इत्यत्र षकारात्परो तवर्गस्थकारो मूलस्थितिं भजते ठकारस्थ
 थकाराज्जायमानत्वादिति भावः । भिनतीति । म्ना अभ्यासे अस्माद्धातोः लटि तिपि
 शपि 'पाघ्राध्मा' इयि मनादेशे 'मनति' इति रूपम् । मन्मौ-म्नाता-म्नास्यति-मनतु-
 अमनत्-मनेत्-म्नेयात्-म्नायात्-अम्नासीत्-अम्नास्यत् । प्रणियच्छतीति । प्रति-
 पूर्वात् दाण् दाने धातोर्लटि तिपि शपि 'पाघ्राध्मा' इति यच्छादेशे प्रनियच्छति

नकारजौ—धातुओंमें झल्के परे रहने पर जो अनुस्वार और वर्गका पञ्चम वर्ण है वे
 नकारस्थानिक हैं तथा चकारके परे रहने पर जो शकार है वह सकारस्थानिक है और रेफ
 पकारसे पर जो टवर्ग है वह तवर्गस्थानिक है । ऋतश्च—ऋदन्त संयोगादि अङ्गको गुण हो,

ऋदन्तस्य संयोगादेरङ्गस्य गुणो, लिटि । उपधाया वृद्धिः । जह्वार । जह्वरतुः । जह्वरुः । जह्वर्थ । जह्वरथुः । जह्वर । जह्वार-जह्वर । जह्वरिव । जह्वरिम । ह्वर्ता । ऋद्धनोः स्ये । ७।२।७०। ऋतो, हन्तेश्च स्यस्य इट् । हरिष्यति । हरतु । अहरत् । हरेत् । गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः । ७।४।२९। अर्तेः, संयोगादेर्ऋदन्तस्य च गुणो, यकि, यादावार्द्धधातुके लिङि च । हर्यात् । अह्वार्षीत् । अह्वरिष्यत् ॥ स्तृ शब्दोपतापयोः । स्वरति । 'स्वरती'ति वेट् । सस्वरिथ-सस्वर्य । वमयोस्तु स्वरत्यादिविकल्पं बाधित्वा पुरस्तात् प्रतिषेधकाण्डारम्भसामर्थ्यात्, 'श्रयुकः किती'ति निषेधे

इति जाते 'नेर्गदनद' इति नेर्णत्वे प्रसिद्धं रूपं सिध्यति । अग्रे ददौ-दाता-दास्यति-यच्छतु-अयच्छत्-यच्छेत् । देयात् । अदात् । अदास्यत् । इत्यादि । जह्वार । ह्वृधातोर्लिङ्गस्तिपि, तिपो णलि, 'लिङि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्यासत्वे, 'उरत्' इति अभ्यासऋवर्णस्य अत्वे 'उरण् रपरः' इति रपरे च जाते 'ह्वर् ह्वृ अ' इति स्थिते 'ह्लादिः शेषः' इति वस्य रस्य च लोपे 'कुहोश्रुः' इति हस्य झत्वे, 'अभ्यासे चर्च' इति झस्य जत्वे 'जह्वृ अ' इति जाते 'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः' इति गुणे, अकारे रपरे च जाते 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ च सत्याम् 'जह्वार' इति रूपम् । एवमेव जह्वरतुः, जह्वरुः, इति बोध्यम् । गुणोऽर्तीति । 'अङ्गस्य' इत्यधिकृतम् । 'रीङ्ऋतः' इत्यतः ऋत इत्यनुवर्तते । 'अङ्गसावर्धातुकयोः' इत्यतोऽसावर्धातुकग्रहणमनुवर्तते । आर्धधातुके इति लभ्यते । 'रिङ्शय-गिल्ङ्ङु' इत्यत्र यकि लिङीति च लभ्यते । 'अयङ् यि विङिति' इत्यतो यीति सप्तम्यन्तमनुवर्तते । आर्धधातुकविशेषणत्वात्तदादिविधिस्तदाह—अर्तेरिति । अह्वार्षीत् । ह्वृधातोर्लुङ्गस्तिपि, मध्ये च्लौ, तस्य सिचि, इचि गते 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्व-लृदात्तः' इति अडागमे 'अ ह्वृ स् ति' इति जाते सिचः सकारस्य आर्धधातुकत्वे इटि प्राप्ते 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति निषिद्धे 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे अपृक्तसंज्ञायाम् 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति तिपस्तकारस्य ईडागमे 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ कृतायाम् 'अह्वार्षीत्' इति रूपम् । स्वरतीति । स्तृ शब्दोपतापयोरस्माद्धातोर्वर्तमाने लटि तिपि शपि शपः शित्वेन 'तिङ् शित्सावर्धातुकम्' इति सावर्धातुकसंज्ञायाम् 'सावर्धातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे च कृते 'स्वरति' इत्यस्य सिद्धिः । सस्वार-सस्वरतुः-सस्वरुः । सस्वरिथेति । स्तृधातोर्लिङि सिपि थलि धातोर्लिङि पूर्वोऽभ्यासे ह्लादिः शेषे इडागमे गुणे च कृते 'सस्वरिथ' इत्यस्य सिद्धिः । अत्र 'ऋतो भारद्वाजस्य' इति

लिट्के परे । ऋद्ध—'ऋदन्त' धातु तथा 'हन्' धातुसे पर 'स्य' को इट् हो । गुणो—'ऋ' धातु और संयोगादि 'ऋदन्त' जो धातु उसको गुण हो 'यक्' के परे तथा यदि आर्धधातुक

प्राप्ते, क्रादिनियमाश्रित्यमिट् । सस्वरिव । सस्वरिम । परत्वादृद्धनोरिति नित्यमिट् । स्वरिष्यति । अस्वारीत्, अस्वार्पात् । स्मृ चिन्तायाम् । स्मरति । ह्रृत् संवरणे । हरति ॥ सृ गतौ । क्रादित्वान्नेट् । ससार । ससर्थ । ससृच । ससृम । रिङ् शयग्लिङ्क्षु । ७।४।२८। शे, यकि यादावार्द्धधातुके लिङि च ऋतो रिङ् । रीङि प्रकृते रिङ्विधिसामर्थ्यान्न दीर्घः । स्त्रियात् । असार्पात् । असरिष्यत् । शीघ्रगतौ तु 'पाप्मे'ति शिति धौरादेशः । धावति ॥ गृ घृ सेचने । गरति । घरति । ध्व हृच्छने । ध्वरति ॥ दृशिर् प्रेक्षणे । पश्यति । ददर्श । ऋदुपधेभ्यो लिट्:

विकल्पेनेडागमे प्राप्ते क्रादिनियमेन तस्य बाधे सति 'स्वरतिसूति' इति वैभाषिक इडागमे सस्वरिथ-सस्वर्थ इत्युभयरूपसिद्धिः । सस्वरथुः, सस्वर, सस्वार-सस्वर । सस्वार-वेति । अत्र पूर्ववद्भातोर्द्वित्वादिकार्ये कृते 'स्वरति' इति विकल्पेनेडागमं क्रादिनियमेन बाधित्वा नित्यमिटि सति प्रोक्तरूपस्य सिद्धिः । तथैव 'सस्वरिम' अत्रापि नित्यमिडिति भावः । स्वरिता-स्वर्ता । स्वरिष्यति इति । अत्र 'स्वरतिसूति' इति विकल्पं बाधित्वा परत्वात् । 'ऋद्धनोः स्ये' इति स्ये परतः नित्यमिटि उक्तरूपं भवति । स्वरतु-अस्वरत्-स्वरेत्-स्वर्यात्-अस्वारीत्-अस्वार्पात्-अस्वरिष्यत् । स्मृ चिन्तायाम् । स्मरति-सस्मार-स्मर्ता-स्मरिष्यति-स्मरतु-अस्मरत्-स्मरेत्-स्मर्यात्-अस्मार्पात्-अस्मरिष्यत् । ह्रृत् संवरणे-हरति । जहार । हर्ता । हरिष्यति । हरतु । अहरत् । हरेत् । हर्त्यात् । अहर्पात् । अहरिष्यत् । सृ गतौ । सरति । ससार-ससृचतुः, ससृच । थलि ससर्थ, अत्र क्रादिनियमान्नेडिति भावः । ससृथुः । ससृ । ससार-ससर । ससृच । ससृम । सर्ता । सरिष्यति । सरतु । असरत् । सरेत् । रिङ्शयगिति । शे यकि यादावार्द्धधातुके लिङि परतः ऋकारान्तस्य रिङादेश इति तदर्थः । स्त्रियादिति । सृधातोरा-शीर्लिङि तिपि 'इतश्च' इति इकारलोपे 'यासुट् परस्मै' इति यासुटि सलोपे 'रिङ्-शयग्लिङ्क्षु' इति रिङादेशे स्त्रियादिति रूपं भवति । अत्र रिङादेशविधानसामर्थ्यान्न दीर्घ इति भावः । असार्पात् । असरिष्यत् । शीघ्रगताविति । सृ शीघ्रगतौ इति पाठे सति सृधातोर्लिटि तिपि शपि 'पाप्मा' इति धावादेशे धावति इति रूपं भवतीत्यर्थः । तेन सार्वधातुके धावतु-अधावत्-धावेत् इति रूपाणि । गृ घृ सेचने । गरति-घरति । जगार-जघार । गर्ता-घर्ता । गरिष्यति-घरिष्यति । गरतु-घरतु । अगरत्-अघरत्-गरेत्-घरेत् । ग्रियात्-ग्रियात् । अगार्पात्-अघार्पात् । अगरिष्यत्-अघरिष्यत् । ध्व-हृच्छने-ध्वरति । ध्वार-ध्वर्ता-ध्वरिष्यति-ध्वरतु-अध्वरत्-ध्वरेत्-ध्वर्यात्-अध्वार्पात्-अध्वरिष्यत् । पश्यतीति । दृशिर् प्रेक्षणे 'इर इत्संज्ञा वाच्या' इति

'लिङ्' के परे । रिङ्- 'ऋत्' को 'रिङ्' आदेश हो, शकार और 'यक्' के परे तथा यकारादि आर्धधातुक 'लिङ्' के परे । ऋदुप- ऋदुपध धातुओंसे पर जो 'लिट्' वह गुणकी अपेक्षासे

किञ्च गुणात्पूर्वविप्रतिषेधेन । ददशतुः । ददशुः । विभाषा सृजिदृशोः । ७।१२।६५। आभ्यां थल इड् वा । सृजिदृशोर्ज्ञत्यमकिति । ६।१।५८। अनयोर-
मागमः स्याज्झलादावकिति । दद्रष्ट-ददर्शित् । द्रष्टा । षढोः कः सि । ८।२।४१।
पस्य ढस्य च कः स्यात्सकारे परे । द्रक्ष्यति । दृश्यात् । इरित्त्वादङ् वा । ऋदृ-
शोऽङि गुणः । ७।४।१६। ऋवर्णान्तानां, दृशेश्च गुणः स्यादङि । अदर्शत् । अङ-
भावे । न दृशः । ३।१।४७। दृशश्च्लेर्बक्ष्यमाणः कसो न । अद्राक्षीत् । अद्रक्ष्यत् ।

भार्तिकेनेर इत्संज्ञायां लोपे लटि तिपि शपि 'पात्रा' इति पश्यादेशे 'पश्यति' इति
रूपम् । लिटि ददर्श । थलि तु क्वादिनियमान्नित्यमिति प्राप्ते वचनमाह - विभाषति ।
सृजि दृशोः परतो यस्थल् तस्येडागमो वेत्यर्थः । सृजिदृशोरिति । झलादावकिति परतः
सृजिदृशोर्धात्वोः अमागमो भवतीति तदर्थः । दद्रष्टेति । दृशिर्धातोरिरित्संज्ञायां 'परोच्चे
लिट्' इति लिटि सिपि । थलि द्वित्वे, उरदत्वे 'विभाषा सृजिदृशोः' इति इडागमा-
भावे 'सृजिदृशोर्ज्ञत्यमकिति' इत्यमागमे सित्त्वादन्त्यादचः परे यणि 'दृदृ अश् + थ' इति
'दद्रश् + थ' इति जाते ततो 'ब्रश्चभ्रस्ज' इति शः पत्वे 'पुना पुदुः' इति पुदुत्वे च कृते
'दद्रष्ट' इत्यस्य सिद्धिः । इडागमे सति तु 'दृदृश् + इ + थ' इति 'पुगन्त' इति लघूप-
धगुणे 'ददर्शित्' इत्यपि द्वितीयं रूपं साधु । अग्रे लिटि सर्वं सुकरम् । लुटि-द्रष्टा ।
लुटि द्रक्ष्यतीति । दृश् धातोर्लुटि तिपि 'स्यतासी लुलुटोः' इति स्यविकरणे 'ब्रश्चभ्र-
स्ज' इति तालव्यशकारस्य मूर्धन्यत्वे 'सृजिदृशोर्ज्ञत्यमकिति' इत्यमागमे यणि 'षढोः
कः सि' इति षः कत्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति स्यस्य सकारस्य पत्वे कषयोर्योगे चत्वे
च कृते द्रक्ष्यतीत्यस्य साधुत्वं सुस्पष्टम् । अग्रे पश्यतु-अपश्यत्-पश्येत्-दृश्यादिति ।
अत्र 'लिङाशिपि' इति लिङः कित्त्वादमागमो नेति भावः । ऋदृशोऽङि गुण इति ।
ऋधातोः दृशिर् धातोश्च अङि परतः गुणः स्यात् इति सूत्रार्थः । अदर्शत् । दृशि-
र्धातोरिर इत्संज्ञायां लुङि तिपि 'इत्तश्च' इति इलोपे च्लौ 'इरितो वा' इति
च्लेर्वैभाषिकेऽङादेशे ङित्वेन गुणाप्राप्तौ 'ऋदृशोऽङि गुणः' इति गुणेऽङ्गस्याटि-
कृते 'अदर्शत्' इति सिद्धिं गच्छति । अङोऽभावे 'अदृश्-च्लि-त्' इत्यवस्थायां
'शल इगुपधा' इति कसादेशे प्राप्ते 'न दृश' इति । दृश् धातोः प्राप्तो यः कसा-
देशः स न भवतीति प्रकृतसूत्रार्थः । अतः कसादेशाभावे सति ब्रश्चभ्रस्ज इति
शः पत्वे 'षढोः कः सि' इति षः कत्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति सस्य पत्वे उभयो-
र्योगेन चत्वे 'वद्वज' इति वृद्धौ तिपः 'अस्तिसिचो' इति ईडागमे कृते अद्रा-

या पूर्वविप्रतिषेधे स 'किट्' ही हो । विभाषा—'सृज्' तथा 'दृश्' धातुसे पर 'थल्' को इट्
हो, विकल्पसे । सृजि-सृज् धातु और 'दृश्' धातुको 'अम्' का आगम हो, झलादि किङ्गिञ्च
प्रत्ययके परे । षढोः—षकार, ढकारको ककार आदेश हो, सकारके परे । ऋदृ—ऋवर्णान्त
धातु और दृश् धातुको गुण हो, 'अङ्' के परे । न दृशः—दृश् धातुसे पर 'च्लि' के वक्ष्य-

श्रु श्रवणे । श्रुवः श्रु च । ३।१।७४। श्रुवः 'श्रु' आदेशः श्नुप्रत्ययश्च, कर्तरि सार्वधातुके । श्रुणोति । सार्वधातुकमपित् । १।२।४। अपित्सार्वधातुकं द्वित्स्यात् । श्रुणुतः । हुश्नुवोः सार्वधातुके । ६।४।८७। जुहोतेः, श्नुप्रत्ययान्तस्यानेकाचोऽङ्गस्यासंयोगपूर्वोवर्णस्य यण् स्यादचि सार्वधातुके । श्रुण्वन्ति । श्रुणोषि । श्रुणुथः । श्रुणुथ । श्रुणोमि । लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः । ६।४।१०७। असंयोगपूर्वस्य प्रत्ययोकारस्य लोपो वा, म्वोः परयोः । श्रुण्वः—श्रुणुवः । श्रुण्मः—श्रुणुमः । शुश्राव शुश्रव । शुश्रुव । शुश्रुम । श्रोता । श्रोध्यति । श्रुणोतु श्रुणुतात् । श्रुणुताम् । श्रुण्वन्तु । उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् । ६।४।१०६। असंयोगपूर्वात्प्रत्ययोतो हेलुक् । श्रुणु-श्रुणुतात् । श्रुणुतम् । श्रुणुत । गुणावादेशौ । श्रुणवानि । श्रुणवाव । श्रुणवाम । अश्रुणोत् । अश्रुणुताम् । अश्रुण्वन् । अश्रुणोः । अश्रुणुतम् ।

चीत्' इत्यस्य सिद्धिः । अग्रे अद्रक्ष्यदित्यादि । लोपश्चेति । 'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्' इति पूर्वसूत्रोक्त उकार अस्येत्यनेन परामृश्यते । प्रत्ययशब्दः प्रत्ययसम्बन्धिनि वर्तते । असंयोगपूर्वात् प्रत्ययादिति च उकारेऽन्वेति । स च अङ्गस्य विशेषणम् । तदन्तविधिस्तदाह—असंयोगेति । श्रुण्वः, श्रुणुवः । श्रुधातोर्लोटे वसि, 'श्रुवः श्रु च' इति श्रुवः श्रु आदेशे शब्दविषये श्नुप्रत्यये च कृते शकारस्येत्संज्ञायां लोपे च शित्वात्सार्वधातुकत्वे 'सार्वधातुकमपित्' इति श्नोर्ङित्वे 'किङिति च' इति गुणाभावे णत्वे च कृते 'श्रु णु वस्' इति जाते 'लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः' इति वा उकारलोपे, णत्वे विसर्गे च 'श्रुण्वः' इति रूपम् । लोपाभावपक्षे 'श्रुणुवः' इति । एवमेव मसि ज्ञेयम् । शुश्राव । श्रुधातोर्लिट्स्तिपि, तिपो णलि, लिटि, धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे, 'पूर्वोऽभ्यासः' इति अभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इति आदिहल्शेषे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'एचोऽयवायावः' इत्यवादेशे 'अत उपधायाः' इति उपधावृद्धौ 'शुश्राव' इति रूपम् । श्रुणवानि । श्रुधातोर्लोटे उत्तमपुरुषैकवचने मिति 'मेनिः' इति मेः स्थाने नि आदेशे जाते 'श्रुवः श्रु च' इति श्नुप्रत्यये श्रु आदेशे च कृते अनुबन्धलोपे 'श्रु नु नि' इति भूते अत्र 'श्रुवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' इति णत्वे 'आहुत्तमस्य पिब' इति नेः आडागमे टित्वादाद्यावयवे 'सार्वधातुकार्ध' इति गुणे अवादेशे 'श्रुणवानि'

माण 'क्स' आदेश न हीं हो । श्रुवः—'श्रु' धातुको 'श्रु' आदेश हो तथा तत्सन्नियोगेन 'श्नु' प्रत्यय भी हो, कर्त्रर्थक सार्वधातुकके परे । सार्व—'अपित्' सार्वधातुक द्वित् हो ।

हुश्नु—'हु' धातु तथा श्नुप्रत्ययान्त जो अनेकाच 'अङ्ग' तदवयव जो असंयोगपूर्वक उवर्ण, उसको 'यण्' हो, अजादि सार्वधातुकके परे ।

लोपश्चा—असंयोगपूर्वक प्रत्ययके उकारका लोप हो, मकार और वकारके परे विकल्पसे । उतश्च—असंयोगपूर्वक प्रत्ययसम्बन्धी उकारसे पर, 'हि' का लुक् हो ।

अशृणुत । अशृणवम् । अशृण्व-अशृणुव । अशृण्म-अशृणुम । शृणुयात् । शृणु-
याताम् । उस्वपदान्तात् । ६।१।६९। अपदान्तादवर्णादुसि पररूपमेकादेशः स्यात् ।
शृणुयुः । शृणुयाः । शृणुयातम् । शृणुयात । शृणुयाम् । शृणुयाव । शृणुयाम ।
श्रूयात् । अश्रौषीत् । अश्रौष्यत् । गम्ल् सृण्लृ गतौ । इषुगमियमां छः । ७।३।७७।
शिति । गच्छति । जगाम । गमह्नजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि । ६।४।९८।

इति । अशृण्व, अशृणुव । श्रुधातोर्लङो वसि, 'श्रवः श्र च' इति आदेशे श्नुप्रत्यये च कृते,
शलोपे अटि णत्वे 'नित्यं ङितः' इति सलोपे 'अ शृणु व' इति जाते 'लोपश्चास्यान्य-
तरस्यां म्वोः' इत्युकारलोपे 'अशृण्व' इति, उकारलोपाभावे 'अशृणुव' इति बोध्यम् ।
एवं मसि-अशृण्म, अशृणुम इति । शृणुयात् । श्रुधातोर्लिङ्गस्तिपि, 'श्रवः श्र च' इति
आदेशे श्नुप्रत्यये च कृते शलोपे णत्वे 'यासुट्परस्मैपदेषूदात्तो ङिञ्' इति यासुटि,
उटि गते 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' इति सलोपे 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे च
कृते 'शृणुयात्' इति रूपम् । उस्वपदान्तात् । 'एकः पूर्वपरयोः' इत्यधिकृतम् ।
'आद्गुणः' इत्यस्मादादित्यनुवर्तते । 'एङि पररूपम्' इत्यस्मात्पररूपमिति ।
तदाह—अपदान्तादिति । उसीति । उसि यः अच उकारः तस्मिन् परत इत्यर्थः ।
श्रूयात् । श्रुधातोराशिपि लिङि, लिङ्गस्तिपि, यासुटि, उटि गते 'इतश्च'
इति तिप इकारलोपे 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति सलोपे 'अकृत्सार्वधातुक-
योर्दीर्घः' इति दीर्घे 'श्रूयात्' इति रूपम् । अश्रौषीत् । श्रुधातोः 'लुङ्' इति
लुङि, 'तिसप्तसिञ्' इत्यादिना लुङ्गस्तिपि, 'ल्लि लुङि' इति ल्लौ, 'ल्लेः
सिञ्' इति सिञि, इचि गते, अडागमे 'अश्रुस् ति' इति जाते 'इतश्च' इति
तिप इकारलोपे, अष्टसंज्ञायाम् 'अस्तिसिञोऽपृक्ते' इति ईटि, सिञः सकारस्य आ-
र्धधातुकत्वादिति प्राप्ते 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इत्यनेन इटो निषेधे 'सिञि वृद्धिः
परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ 'आदेशप्रत्यययोः' इति पत्वे 'अश्रौषीत्' इति रूपम् ।
गच्छति । गम् धातोर्लटि तिपि, पकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्'
इति सार्वधातुकसंज्ञायां 'कर्तरि शप्' इति शपि, शकारस्य पकारस्य चेत्संज्ञायां
लोपे च शित्त्सार्वधातुकत्वे 'गम् अ ति' इति स्थिते, 'इषुगमियमां छः' इति सर्वस्य
गमः छादेशे प्राप्ते 'अलोऽनन्त्यस्य' इति अन्त्यस्य मकारस्य स्थाने जाते 'गच्छति' इति
भूते 'छे च' इति तुगागमे, कित्वादन्त्यावयवे जाते उकि गते, 'स्तोः श्चुना श्चुः'
इति श्चुत्वे 'गच्छति' इति रूपम् । जगाम । गम्धातोः लिटि तिपि, 'परस्मैपदानां

उस्व—अपदान्त अवर्णं से पर 'उस्' के परे पूर्व-परके स्थानमें पररूप एक आदेश हो ।

इषु—इप्, गम् और यम् धातुओंको छकारान्त आदेश हो, शित्प्रत्ययके परे ।

गमह्नजनखन—गमादि, धातुओंकी उपधाका लोप हो, अजादि कित्-ङित् प्रत्ययके

एषामुपधाया लोपः स्यादजादौ किञ्चि, न त्वङि । जग्मतुः । जग्मुः । जगमिथ-
जगन्थ । जग्मथुः । जग्म । जगाम-जगम । जग्मिच । जग्मिम । गन्ता । गमेरिट्
परस्मैपदेषु । ७।२।५८। गमेः परस्य सादेराद्धधातुकस्येत् परस्मैपदेषु । गमिष्यति ।
गच्छतु । अगच्छत् । गच्छेत् । गम्यात् । पुषादिद्युताद्यलृदितः परस्मैपदेषु
। ३।१।५५। श्यन्विकरणपुषादेद्युतादेर्लृदितश्च परस्य च्लेरङ्, परस्मैपदेषु । अगमत् ।
अगमिष्यत् । सर्पति । अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम् । ६।१।९५।
उपदेशेऽनुदात्तो य ऋदुपधस्तस्याम्वा, झलादावकिति । सप्ता-सर्ता । सप्स्यति-

णलतुसुस्थल' इत्यादिना तिपः स्थाने णलादेशे, 'चुटू' इति णकारस्येत्संज्ञायां 'हल-
न्त्यम्' इति लकारस्य चेत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति उभयोलोपे 'गम् अ' इति जाते
'लिट् च' इत्यार्धधातुकत्वे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे अभ्यासत्वे
हलादिशेषे 'गगम् अ' इति भूते 'कुहोश्चुः' इति गकारस्य जत्वे 'अत उपधायाः'
इति वृद्धौ 'जगाम' इति रूपम् । गन्ता । गम्धातोर्लृट्स्तिपि, 'स्यतासी लृलुटोः'
इति तासि, 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति
इडागमे प्राप्ते 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति निषिद्धे 'लुटः प्रथमस्य डारौरसः'
इति तिपो ङात्वे ङस्येत्संज्ञायां लोपे च, ङित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेलोपे 'गम् ता'
इति जाते 'नश्चापदान्तस्य झलि' इति मस्यानुस्वारे 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः'
इति परसवर्णे च कृते 'गन्ता' इति रूपम् । गच्छतु । गम्धातोर्लृट्स्तिपि, शपि,
अनुबन्धलोपे 'इषुगमियमां छः' इति छान्देशे 'छे च' इति तुगागमे उकि गते 'स्तोः
श्चुना श्चुः' इति श्चुत्वे 'एरुः' इति तिप इकारस्योत्वे 'गच्छतु' इति रूपम् ।
गच्छेत् । गम्धातोर्लृट्स्तिपि शपि अनुबन्धलोपे 'इषुगमियमां छः' इति छान्देशे 'छे
च' इति तुकि, उकि गते, श्चुत्वे, 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' इति यासुटि, उटि
गते 'अतो येयः' इति यास इयादेशे 'गच्छ इय् ति' इति जाते 'लोपो न्यो'रिति
यलोपे 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे 'आद्गुणः' इति गुणे 'गच्छेत्' इति रूपम् ।
सर्पतीति । सृष्ट गतौ इत्यस्माद्धातोर्लृटि तिपि शपि 'पुगन्त' इति लघूपधगुणे कृते
'सर्पति' इत्यस्य सिद्धिः । ससर्प । अनुदात्तस्येति । अत्र 'सृजिदृशोर्लृत्त्यमकिति' इत्यतः
अम् इति अकिति इति चानुवर्तते 'उपदेशेऽज्' इत्यतः उपदेश इति चानुवर्तते
अत आह—उपदेश इति । स्रप्तेति । सृपधातोरनुदात्तात् लृटि तिपि 'स्यतासी
लृलुटोः' इति तासि 'लुटः प्रथमस्य' इति ङादेशे ङित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेलोपे

परे । किन्तु 'अङ्' के परे नहीं हो । गमे—'गम्' धातुसे पर सादि आर्धधातुकको
इट्का आगम हो, परस्मैपदके परे । पुषा—इयन्विकरण पुषादि, द्युतादि तथा लृदित
धातुओंसे पर 'चिल' को 'अङ्' आदेश हो, परस्मैपदके परे । अनुदात्त—उपदेशावस्थामें जो

सप्स्यति । ससृपत् । जिह्विदा अव्यक्ते शब्दे । च्वेदति ॥ यभ मैथुने । यमति । वेत् । येमिथ । झषस्तथोर्ध्वो धः । ८।२।४०। झषः परयोस्तथोर्ध्वः स्यान्न तु दधातेः । ययव्ध । यव्धा । णम प्रह्वत्वे, शब्दे च । नेमिथ—ननन्थ । नन्ता । नंस्यति । अनंसीत् । अनंसिष्टाम् ॥ त्यज हानौ । त्यजति । तत्याज । तत्यजिथ—तत्यक्थ । त्यक्ता । अत्याक्षीत् । अत्याक्ताम् । अत्यक्ष्यत् । अक्षू व्याप्तौ । अक्षोऽन्यतरस्याम् । ३।१।७५। श्नुः स्याद्वा कर्तरि सार्वधातुके । पच्चे शप् । अच्णोति । अक्षति । आनक्ष । आनक्षतुः । आनक्षुः । आनक्षिथ—आनष्ट ।

‘अनुदात्तस्य’ इति वैभाषिकेऽमागमे यणि ‘क्षप्ता’ इति रूपं सिध्यति । यदाऽमागमो न स्यात्तदा ‘पुगन्त’ इति लघूपधगुणे सति सप्ता इति द्वैतीयिकं रूपं सिध्यति । अग्रे सप्स्यति—सप्स्यति । सर्पत् । असर्पत् । सर्पत् । सृप्यात् । असृपदिति । सृपधातोर्लुङि तिपि ‘इतश्च’ इति इलोपे च्लौ ‘पुपादिद्युतादि’ इति लृटित्वादङि ङित्वेन गुणाभावेऽङ्गस्याङागमे कृते ‘असृपत्’ इत्यस्य सिद्धिः फलम् । अग्रे असप्स्यत्—असप्स्यत् । च्वेदतीति । जिह्विदा = अव्यक्ते शब्दे । अस्माद्धातोर्लटि तिपि शपि ‘पुगन्त’ इति गुणे च्वेदति इति सिद्धिश्च्यति । चिच्चेद—च्चेदिता—च्चेदिप्यति—च्चेदतु—अच्चेदत्—च्चेदेत्—चिचद्यात्—अचिचदत्—अच्चेत्स्यत् । यमतीति । यभ = मैथुनेऽस्माद्धातोः लटि तिपि शपि रूपमेतत् । अग्रे ययव्ध—यव्धा—यप्स्यति—यमतु—अयभत्—यभेत्—यभ्यात्—अयाप्सीत्—अयप्स्यत् । णम—प्रह्वत्वे शब्दे च । नमति । ननाम—नेमतुः—नेमुः । नेमिथेति । णमधातोः ‘णो नः’ इति नत्वे लिटि सिपि थलि द्वित्वे भारद्वाजमते नेटि एत्वेऽभ्यासलोपे सति एकं रूपम् । यदेङागमो न तदा एत्वाभ्यासलोपावपि न थल इङभावात् । ‘ननम् + थ’ इत्यवस्थायां मस्यानुस्वारं परसवर्णे च कृते ‘ननन्थ’ इति रूपं द्वैतीयिकम् । अग्रे नन्ता—नंस्यति—नमेतु—अनमत्—नमेत्—नम्यात्—अनंसीत्—अनंस्यत् । त्यज = हानौ = त्यजति—तत्याज—त्यक्ता—त्यक्ष्यति—त्यजतु—अत्यजत्—त्यजेत्—त्यज्यात्—अत्याक्षीत्—अत्यक्ष्यत् । अक्षोऽन्यतरस्यामिति । श्नुरिति अनुषज्यते । तथा च अच्धधातोः श्नुर्वास्याच्छवविषये इति तदर्थः । अच्धन्व्याप्तौ अस्माद्धातोर्लटि तिपि शपि ‘अच्धोऽन्यतरस्याम्’ इति शपं बाधित्वा पूर्वं श्नौ तिपः सार्वधातुकत्वेन गुणे णत्वे अच्णोति इति सिद्ध्यति । शपि तु अक्षति इत्येव साधु । आनक्षेति । लिटि तिपि णलि द्वित्वे ‘अत आदेः’ इत्यभ्यासस्य दीर्घः ‘तस्मान्नुङ्द्विहलः’ इति नुटि द्वित्वादाद्यावयवे ‘आनच् अ’ इति जाते परेण संयोगे रूपसिद्धिः । आनक्षतुः । ‘आनक्षुः—भारद्वाजमते नेटि सति आनक्षिथ, तदभावे च आनच् + थ इति स्थितौ संयो-

अनुदात्त ऋदुपध धातु, उसको ‘अम्’ का आगम हो, झलदि अकितिके परे । झषः—‘शष्’ से परे ‘त’ ‘ध’ को ‘ध’ हो—‘दधाति’ को छोड़कर । अच्धो—‘अक्ष’ धातुसे ‘श्नु’ प्रत्यय हो,

अक्षिता-अष्टा । अक्षिष्यति । 'स्को'रिति कलोपः । षढोः कः सि । ८।२।४१ ।
 अक्षयति । अक्ष्णोतु । अक्ष्णुहि । अक्ष्णवनि । अक्ष्णोत् । अक्ष्णवम्-अक्ष्णु-
 यात् । अक्ष्णुयाताम् । अक्ष्णुयुः । अक्ष्यात् । आक्षीत् । आक्षिष्टाम् । आष्टाम् ।
 आक्षिषुः । तक्षू त्वक्षू तनूकरणे । तनूकरणे तक्षः । ३।१।७६ । श्नुर्वा श-
 न्विषये । तक्ष्णोति, तक्षति वा काष्ठम् । ततक्ष । ततक्षिथ-ततष्ट । अतक्षीत् ।
 अतक्षिष्टाम् । अताक्षीत् । अताष्टाम् । तनूकरणे किम् ? वाग्भिः सन्तक्षति ।
 भर्त्सयतीत्यर्थः ॥ रक्ष पालने । रक्षति ॥ णिक्ष चुम्बने । प्रणिक्षति ॥ वक्ष
 रोषे । संघाते इत्येके । वक्षति । मृक्ष संघाते । मक्ष इत्येके ॥ तक्ष त्वचने ।
 त्वचनं-संवरणम्, त्वचो ग्रहणं च । पक्ष परिग्रहे इत्येके ॥ सूक्ष आदरे ।
 सूक्षति । सुसूक्ष ॥ काक्षि वाक्षि माक्षि काङ्क्षायाम् । द्राक्षि भ्राक्षि
 भ्वाक्षि घोरवासिते च । चूष षाने । तूष तुष्टौ । पूष वृद्धौ । मूष स्तेये । लूष

गान्तलोपे ष्टुत्वे च कृते आनष्ट इत्यस्य सिद्धिः । आनक्षथुः-आनक्ष-आनक्ष-आनक्षि-
 व आनक्षिम । अक्षितेति । अक्ष्णधातोर्लुटि तिपि ङादेशे तासि ङित्वाङ्लोपे 'स्वरतिसृति'
 इति उद्दिष्टाद्वैभाषिके इडागमे सति 'अक्षिता' इति रूपम् । तदभावे च संयोगान्त-
 लोपे कुत्वे 'अष्टा' इति द्वितीयं रूपं सिध्यति । अग्रे अक्षिष्यति-अक्षयति । अक्ष्णोतु-
 अक्षतु । आक्ष्णोत्-आक्षत् । अक्ष्णुयात्-अक्षेत्-अक्ष्यात्-आक्षीत् । आक्षिष्यत्-आक्षयत्
 तनूकरणे तक्ष इति । तनूकरणार्थे यस्तक्षधातुस्तस्मात् श्नुर्वा स्यादित्यर्थः । तक्ष्णोताति ।
 तक्ष्णधातोर्लुटि तिपि 'तनूकरणे तक्षः' इति विकल्पेन श्नुप्रत्यये 'तक्ष-नु-ति' इति स्थिते
 गुणे च कृते णत्वे 'तक्ष्णोति' इत्यस्य सिद्धिः । श्नुर्भावे शंप् तक्षति इति रूपम् । ततक्ष ।
 तष्टा-तक्षिता । तक्षिष्यति-तक्षयति । तक्ष्णोतु-तक्षतु । अतक्ष्णोत्-अतक्षत् । तक्ष्णुयात्-
 तक्षेत् । तक्ष्यात् । अतक्षीत्-अताक्षीत् । वाग्भिः संतक्षति । अत्र तनूकरणार्थाभावेन न
 तक्ष्णधातोः श्नुप्रत्ययः । रक्ष-पालने रक्षति-ररक्ष-रक्षिता-रक्षिष्यति । रक्षतु । अरक्षत् ।
 रक्षेत् । रक्ष्यात् । अरक्षीत् । अरक्षिष्यत् । प्रणिक्षति । णिक्=चुम्बनेऽस्माद्धातोर्लुटि तिपि
 शप् 'प्र-निक्षति' इति जाते 'उपसर्गादसमासेऽपि' इति णत्वे 'प्रणिक्षति' इति रूपं
 भवति । अग्रे सुकरम् । वक्ष=रोषे, वक्षति । मृक्ष=संघाते, मृक्षति । मक्ष=इत्येके ।
 मक्षति । तक्ष=त्वचने-तक्षति । पक्ष=परिग्रहे-पक्षति । सूक्ष=आदरे-सूक्षति ।
 सुसूक्ष इत्यादि । काक्षि-वाक्षि-माक्षि=काङ्क्षायाम् काङ्क्षति-वाङ्क्षति-माङ्क्षति ।
 द्राक्षि-भ्राक्षि-भ्वाक्षि-घोरवासिते काङ्क्षायां चेत्यर्थः । द्राङ्क्षति-धाङ्क्षति-ध्वाङ्क्षति ।
 चूष=पाने-चूपति । तूष=तुष्टौ तूपति । पूष=वृद्धौ-पूषति । मूष=स्तेये-मूषति ।

कत्रर्थक सावधातुकके पर विकल्पसे । षढोः—पकार-ढकारको ककार हो, सकारके परे ।
 तनू—'तक्ष' धातुसे तनूकरण (सूचन) अर्थ में 'श्नु' प्रत्यय हो, 'शप्' के विषयमें विकल्पसे ।

रूष भूषायाम् । शूष प्रसवे । यूष हिंसायाम् । जूष च ॥ भूष अलङ्कारे । जि
जयेत । जयति । सन्लिटोर्जेः । ७।३।५७। सन्लिप्तिमितादभ्यासात्परस्य जेः कु-
त्वम् । जिगाय । जिग्यतुः । जिगयिथ—जिगेथ । जीव प्राणधारणे । जीवति ॥
पीव मीव तीव णीव स्थौत्ये । पीवति । पिपीव ॥ मुर्वी बन्धने । उपधायां
च । ८।२।७८। धातोरुपधाभूतयो रेफवकारयोर्हल्परयोः परत इको दीर्घः स्यात् ।
मूर्वति ॥ पूर्व पर्व मर्व पूरणे । पूर्वति । पर्वति । मर्वति ॥ चर्व अदने । चर्वति ॥
कष खष शिष जष झष शष वष मष रुष रिष हिंसार्थाः । शेषति । शिशे-
ष । शेषा । शल इगुपधादनिटः कसः । ३।१।४५। इगुपधो यः शलन्तस्त-
स्मादनिटश्च्लेः कसादेशः । अशिक्षत् । तीषसहलुभरुधरिषः । ७।२।४९। इच्छ-

लृङ्-रूप = भूषायाम् । रूपति-लूपति । शूष = प्रसवे-शूपति । यूष = हिंसायाम्
यूपति । जूष = हिंसायामेवेत्यर्थः । जूपति । भूष = अलङ्कारे भूषति । जि = जये-
जयति । 'सन्लिटोर्जेः' । अभ्यासादिति अनुवर्तते । जिगायेति । जिधातोर्लिटि तिपि
णलि 'लिटि धातोः' इति द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे 'जिजि + अ' इति जाते 'अचोष्णिगिति'
इति वृद्धौ आयादेशे 'जिजाय' इति जाते 'सन्लिटोर्जेः' इत्यभ्यासात्परस्य जकारस्य
कुत्वेन गत्वे च कृते 'जिगाय' इत्यस्य सिद्धिः । जिग्यतुः—जिग्युः । जिगयिथ—जिग्यथुः—
जिग्य—जिगाय—जिगय । जिग्यिव, जिग्यिम । जेता, जेज्यति । जेयतु—अजयत् । जयेत्,
जीयात्, अजेपीत् । अजेज्यत् । जीव = प्राणधारणे । जीवति । जिजीव । जीविता ।
जीविष्यति । जीवतु—अजीवत्—जीवेत्—जीव्यात्—अजीवीत्—अजीविष्यत् । पीव—मीव—
तीव—णीव = स्थौत्ये—पीवति । मीवति । तीवति । नीवति । पिपीव । मिमीव ।
तितीव । निनीवेत्यादि । उपधायां चेति । धातोरित्यधिकाराद्धातोरिति । लभ्यते । हल्
परयोरिफवकारयोरित्यनुपज्यते । इक् इत्यनुवर्तते दीर्घ इति च । मूर्वति इति । मुर्व-
धातोः लटि तिपि णपि 'उपधायां च' इति उकारस्य दीर्घे कृते 'मूर्वति' इत्यस्य
सिद्धिः । मुर्मूर्वेत्यादि । पुर्व—पर्व—मर्व=पूरणे, पूर्वति । पर्वति । मर्वति । पुपूर्व—पपर्व-
ममर्वेत्यादि । चर्व=अदने—चर्वति—चचर्वेत्यादि । कप्-खप्-शिप्-जप्-झप्-शप्-
वप्-मप्-रूप-रिप्-हिंसार्थाः । कषति—खषति—शेषति—जषति—झषति—शषति—वपति-
मपति—रुषति—रिषति इत्यादि । शिशेष—शेषा—शेचयति—शेषतु—अशेषत्—शेषेत्—शिष्या-
त् । शल इगुपधेति । च्लिरित्यनुवर्तते शल इति पञ्चमी । च्लेरिति विभक्तिविपरिणामे-
नान्वयः । अशिक्षदिति शित् धातोर्लुङि तिपि 'इतश्च' इति इलोपे च्लौ 'शल

सन्लि—'सन्' और 'लिट्' निमित्तक अभ्याससे पर 'जि' धातु को कुत्व हो । उप-
धातुका उपधाभूतहल्परक 'रेफ' और 'वकार' के परे 'इक्' को दीर्घ हो । शल—इगुपध
शलन्त धातुसे पर अनिट् 'च्लि' को 'कस' आदेश हो । तीष—इषादिसे पर तादि आर्ध-

त्यादेः परस्य तादेरार्द्धधातुकस्येड्वा । रोषिता-रोष्टा । रेषिता-रेष्टा । भष्
भर्त्सने । इह भर्त्सने—श्चरवः ॥ पुष पुष्टौ । पोषिता । अनुदात्तेषु 'पुष्ये'ति
श्यना निर्देशादयमुदात्तः । अङ्विधौ दैवादिकस्य ग्रहणान्नाङ् । अपोषीत् ॥
श्रिषु शिलषु प्रुषु प्लुषु दाहे । श्रेषति । श्लेषति । प्रोषति । प्लोषति ॥

इति परस्मैपदप्रक्रिया ॥

अथात्मनेपदम् ।

एध वृद्धौ । टित् आत्मनेपदानां टेरे । ३।४।७९। टितो लस्यात्मनेपदानां
टेरेत्वम् । एधते । आतो ङितः । ७।२।८१। अतः परस्य ङितामात इय स्यात् ।
एधेते । एधन्ते । थासः से ३।४।८०। टितो लस्य थासः से स्यात् । एधसे ।

इगुपधाद् इति क्सादेशे कलोपे 'पढोः कः सि' इति पूर्वपकारस्य कत्वे 'आदेशप्रत्य-
ययोः' इति सकारस्य पत्वे उभयोर्योगेन क्षत्वे अङ्गस्याडागमे सति अक्षिप्त इति
सिद्धम् । अग्रे अशेच्यत् । तीषसहेति । तीति सप्तमी त् इत्यस्यालाभ्यत्वेन तदादिवि-
धिरत एव आह—तादेगिति । इड्वेति अनुषज्यते । रोषितेति । रूप=हिंसायामस्माद्धा-
तोर्लुटि तिपि तासि डादेशे टिलोपे 'तीषसह' इति इड्विकल्पेनेटि 'पुगन्त' इति गुणे
'रोषिता' इति रूपम् । इडभावे तु ण्डत्वे कृते 'रोष्टा' इत्यपि साधु । भप=भर्त्सने । भ-
षति । पुष=पुष्टौ-पोषति । पुपोषेत्यादि । श्रिषु-शिलषु-प्रुषु-प्लुषु-दाहे । श्रेषति । श्लेष-
ति । प्रोषति । प्लोषति । शिश्रेष-शिश्लेष-पुप्रोष-पुप्लोपेत्यादिरूढम् । इति परस्मैपदिनः ॥

एध वृद्धाविति । जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपच्यते, विनश्यतीति
षड्भावविकाराः । तत्र चतुर्थावस्था वृद्धिः—उपचयः । एधते । एधधातोः अकार उच्चार-
णार्थः, तस्मिन् गते 'वर्तमाने लट्' इति लटि, टकारस्य 'हलन्त्यम्' इतीत्संज्ञायां
लोपे लकारोत्तरवर्तिनः अकारस्य 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इतीत्संज्ञायां 'तस्य'लोपः
इति लोपे 'एध् ल्' इति भूते अत्र 'तिप् तस् क्षि०' इत्यादिना सर्वे आदेशाः प्राप्ताः ।
तत्र 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' इति एधधातोरेनुदात्तत्वात् 'तङानावात्मनेपदम्'
इति त आतां झ इत्येतेषामात्मनेपदसंज्ञत्वात् तेषां प्राप्तिर्जाता । तत्र प्रथमपुरुषैकवचन-
विवक्षायां तकृते 'तिङ्शित्सार्वाधातुकम्' इति सार्वधातुकत्वात् 'कर्तरि शप्' इति शपि,
शपयोरित्संज्ञायां लोपे च 'एध् अ त' इति जाते 'अचोऽन्त्यादिटि' इति तकारोत्तरवर्तिनः
अकारस्य टिसंज्ञायां 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टिसंज्ञकस्यैत्वे 'एधते' इति रूपम् ।

धातुक को 'इट्' का आगम हो, विकल्पसे ।

टित् आत्मनेपदानां टेरे—'टित्' लकार सम्बन्धी आत्मनेपदके 'टि' को एत्व हो । आतो-
'अत्' से पर 'ङित्' सम्बन्धी आकारको 'इय' आदेश हो । थासः—टित् लकारसम्बन्धी

एधेये । एधध्वे । एधे । एधावहे । एधामहे । इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः । १। १३६। इजादिर्यो धातुर्गुरुमानृच्छत्यन्यस्तत आम् लिटि । आम्प्रत्ययवत् कृञो-
ऽनुप्रयोगस्य । १। १३६३। आम्प्रकृत्या तुल्यमनुप्रयुज्यमानात्कृञोऽप्यात्मनेपदं
स्यात् । लिटस्तद्धयोरेश्विरेच् । ३। ४। ८१। लिङादेशयोस्तद्धयोरेश् इरेच् एतौ
स्तः । एकारोच्चारणं ज्ञापकं—‘तडादेशानां टेरेत्वं ने’ति । तेन डारौरसां न ।
एधाञ्चक्रे । एधाञ्चक्राते । एधाञ्चकिरे । एधाञ्चकृषे । एधाञ्चक्राथे । इणः षीध्वं-
लुङ्लिट्ठां धोऽङ्गात् । ८। ३। ७८। इणन्तादङ्गात्परेषां षीध्वंलुङ्लिट्ठां धस्य ढः ।
एधाञ्चकृढ्वे । एधाञ्चक्रे । एधाञ्चकृवहे । एधाञ्चकृमहे । एधाम्बभूव । एधामास ।

आम्प्रत्ययवदिति तृतीयान्ताद्वृत्तिः । अनुप्रयुज्यत इत्यनुप्रयोगः । कर्मणि
घञ् । पञ्चम्यर्थे षष्ठी । तदाह—आम्प्रकृत्येत्यादिना । एधाञ्चक्रे । एध् धातोः
‘परोच्चे लिट्’ इति लिटि, ‘इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः’ इत्यामि, ‘आमः’ इति
लिटो लोपे, ‘कृञानुप्रयुज्यते लिटि’ इति लिट्परके कृञनुप्रयोगे ‘एध् आम् कृ लिट्’
इति जाते, लिटः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचनविवक्षायां तादेशे ‘लिट् च’ इत्यार्धधातु-
कत्वे ‘लिटस्तद्धयोरेश्विरेच्’ इति तकारस्य स्थाने एजादेशे कृते शलोपे च जाते ‘एध्-
आम् कृ ए’ इति स्थिते अत्र ‘लिटि धातोर्नभ्यासस्य’ इति द्वित्वे प्राप्ते तं परत्वाद्
बाधित्वा ‘इको यणचि’ इति प्राप्ते तस्य ‘द्विर्वचनेऽचि’ इत्यनेन निषेधे कृते पुनः
प्रसङ्गविज्ञानात् लिटि धातोर्नभ्यासस्य इति द्वित्वे ‘एध् आम् कृ-कृ ए’ इति जाते
‘पूर्वोऽभ्यासः’ इत्यभ्यासत्वे ‘उरत्’ इति अभ्यासऋवर्णस्य अकारे जाते ‘उरण्
रप्परः’ इति रपरे ‘एध् आम् कर् कृ ए’ इति भूते ‘हलादिः शेषः’ इति कअवशिष्टे
‘कुहोरश्चुः’ इति कस्य चत्वे जाते ‘सावधानुकार्धधातुकयोः’ इति गुणे प्राप्ते, परम्
‘असंयोगालिलिट्कित्’ इति लिटः कित्वात् ‘किति च’ इति निषेधे जाते, ‘इको यण-
चि’ इति यणि, सर्वस्मिन् संयुक्ते कृते एधाम् इत्येतद्गतस्य मस्य ‘मोऽनुस्वारः’ इत्य-
नुस्वारे ‘अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः’ इति नित्ये परसवर्णे प्राप्ते ‘वा पदान्तस्य’ इति
वा परसवर्णे ‘एधाञ्चक्रे’ इति रूपम् । एधाञ्चकृढ्वे । एध्धातोः ‘परोच्चे लिट्’ इति लिटि
‘इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः’ इत्यामि ‘आमः’ इति लिटो लुकि, ‘कृञानुप्रयुज्यते लिटि’

‘थास्’ के स्थानमें ‘से’ आदेश हो ।

इजा—ऋच्छ धातुसे भिन्न इजादि और गुरुमान् जो धातु उससे ‘आम्’ प्रत्यय हो,
‘लिट्’ के परे ।

आम्प्र—आम्प्रकृतिके तुल्य अनुप्रयुज्यमान ‘कृञ्’ धातु से भी आत्मनेपद हो ।

लिटस्तद्धयोरेश्विरेच्—लिङादेश ‘त’ और ‘इ’ के स्थानमें (यथाक्रमसे)
‘एश्’ और ‘इरेच्’ आदेश हो । इणः—इणन्त अङ्गसे पर षीध्वं और लुङ्, लिट् सम्बन्धी

१३ म० सि०

अनुप्रयोगसामर्थ्यादस्तेर्भूभावो न, अन्यथा हि 'कृञ्चानुप्रयुज्यते' इति, 'कृञ्चि' वा ब्रूयात् । एधिता । एधितारौ । एधितारः । एधितासे । एधितासाये । धि च ८।२।२५। धादौ प्रत्यये सलोपः स्यात् । एधिताध्वे । ह एति । ७।४।५२। तास-
स्त्योः सस्य हः स्यादेति परे । एधिताहे । एधितास्वहे । एधितास्महे । एधिष्यते ।

इति लिट्परके कृञि अनुप्रयुक्ते, लिटो लस्य स्थाने मध्यमपुरुषबहुवचने ध्वमि आदेशे 'जाते, 'एध् आम् ध्वम्' इति भूते 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति कृञो द्वित्वे अभ्या-
सत्वे 'उरत्' इति कृञ ऋवर्णस्याकारे जाते 'उरण् रपरः' इति रपरे क र् इति जाते
'हलादिः शेषः' इति कमात्रावशिष्टे 'कुहोश्चुः' इति कस्य चत्वे 'इणः पीध्वं लुङ्-
लिटो धोऽङ्गात्' इति धस्य ढत्वे मस्यानुस्वारे वा परसवर्णे च कृते 'टित आत्मनेपदा-
नां टेरे' इति ध्वमोऽमष्टिसंज्ञकस्यैत्वे 'एधाञ्चकृढ्वे' इति रूपम् । एधाम्बभूव एध-
धातोः लिटि, 'इजादेश्च गुरुमतोऽनुच्छः' इत्यामि, 'आम्' इति लिटो लुकि 'कृञ्चानु-
प्रयुज्यते लिटि' इत्यत्र कृञः प्रत्याहारः । तेन 'कृ भू अस्' इत्यस्य लाभः । अत्र लिट्-
परके भूधातौ अनुप्रयुक्ते सति 'एधाम् भू लिट्' इति जाते लिट इटि गते, लः स्थाने
च भूधातोः परस्मैपदत्वात् प्रथमपुरुषैकवचने 'तिपादेशे, तिपः स्थाने 'परस्मैपदानां
णलतुसुस्थल्' इत्यादिना णलि, अनुबन्धलोपे 'भुवो वुगलुङ्लिटोः' इति भुवो वुगा-
गमे, उकि गते, कित्वादन्त्यावयवत्वे जाते, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति भुवो द्वित्वे
एधाम् भूव् भूव् अ' इति जाते 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः'
इति भू अवशिष्टे 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'भवेतरः' इति भुवः उकारस्य अत्वे
'अभ्यासे चर्च' इति भस्य वकारे 'एधाम् वभूव' इति जाते मस्यानुस्वारे वा
परसवर्णे च कृते 'एधाम्बभूव' इति । धि चेति । 'सः स्यार्धधातुके' इत्यतः
स इत्यनुवर्तते । 'तासस्त्योः' इत्यतो लोप इति । अङ्गाक्षिसप्रत्ययो धीत्यनेन विशे-
ष्यते । तदादिविधिः । तदाह—धादाविति । एधिताध्वे । एध्धातोर्लुटि, उटि गते, लः
स्थाने मध्यमपुरुषबहुवचने ध्वमि कृते, तासि, तस्य आर्धधातुकत्वे, इडागमे च जाते
'एधितास् ध्वम्' इति भूते 'धि च' इति सलोपे 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति
ध्वमोऽमः टिसंज्ञकस्य एत्वे 'एधिताध्वे' इति रूपम् । ह एतीति । ह इति प्रथमान्तम् ।
अकार उच्चारणार्थः । 'सः स्यार्धधातुके' इत्यतः स इति 'तासस्त्योर्लोपः' इत्यतः
तासस्त्योरिति चानुवर्तते । तदाह—तासस्त्योरिति । एधिताहे । एध्धातोर्लुट् उत्तमपुरुषै-
कवचने इटि, तासि, इडागमे 'एधितास् ह' इति स्थिते 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति
इट इकारस्यैत्वे 'ह एति' इति सस्य हत्वे 'एधिताहे' इति रूपम् । एवं बहौ, महिडि

धकार को ढकार आदेश हो । धि च—धादि प्रत्ययके परे सकारका लोप हो । ह एति—'तास'

एधिष्येते । एधिष्यन्ते । एधिष्यसे । एधिष्येथे । एधिष्यध्वे । एधिष्ये । एधिष्यावहे ।
एधिष्यामहे । आमेतः । ३।४।९०। लोट एत आम् । एधताम् । एधेताम् । एधन्ताम् ।
सवाभ्यां वामौ । ३।४।९१। सवाभ्यां परस्य लोटतः क्रमाद्वाऽमौ स्तः । एधस्व । ए-
धेताम् । एधध्वम् । एत ऐ । ३।४।९३। लोटुत्तमस्य एत ऐ स्यात् । आमौऽपवादः ।
एधै । एधावहै । एधामहै । आटश्च । ऐधत । ऐधेताम् । ऐधन्त । ऐधथाः ।

च परे साधनिका ज्ञेया । एधिष्यते । एध्धातोः 'लुट् शेषे च' इति लुटि, अनुबन्ध-
लोपे प्रथमपुरुषैकवचने ते कृते, 'स्यतासी लृलुटोः' इति स्ये, 'आर्धधातुकं शेषः'
इत्यार्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वल्लादेः' इति इडागमे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे,
'दित्तात्मनेपदानां टेरे' इत्येत्वे 'एधिष्यते' इति रूपम् । आमेतः । आम् एतः इति
च्छेदः । 'लोटो लङ्वत्' इत्यतो लोट इत्यनुवर्तते, तदाह—लोट एत इति । एधताम् ।
एध्धातोः 'लोट् च' इति लोटि, ओकारस्य टस्य चेत्संज्ञायां लोपे च जाते, लः स्थाने
प्रथमपुरुषैकवचने तादेशे कृते 'तिङ्शित्सार्वाधातुकम्' इति तस्य सार्वधातुकत्वे
'कर्तरि शप्' इति शपि, शपयोरित्सम्बन्धकत्वे लोपे च, शित्वादास्यापि सार्वधातुकत्वे
'दित्तात्मनेपदानां टेरे' इति तकाराकारस्यैत्वे 'एधते' इति जाते 'आमेतः' इति
एकारस्यामादेशे 'एधताम्' इति रूपम् । सवाभ्यां वामाविति । सश्च वश्च सवौ, ताभ्या-
मिति विग्रहः । अकाराबुच्चारणार्थौ । वश्च अमुच वामौ 'लोटो लङ्वत्' इत्यस्मात् लोट
इति, 'आमेतः' इत्यस्मादेत इति चानुवर्तते । तदाह—सवाभ्यां परस्येति । एधस्व । एध्-
धातोर्लोटो मध्यमपुरुषैकवचने थास्यागते शपि, अनुबन्धलोपे 'थासः से' इति थासः
सेत्वे 'एधसे' इति जाते 'सवाभ्यां वामौ' इति सकारात्परस्यैकारस्य वादेशे 'एधस्व'
इति रूपम् । एत ऐ । ऐ इति लुप्तप्रथमाकम् । 'लोटो लङ्वत्' इत्यस्मात्लोट इति
'आहुत्तमस्य पिच्च' इत्यस्मादुत्तमस्येति चानुवर्तते । तदाह—लोटुत्तमस्येति । एधै ।
एध्धातोः 'लोट् च' इति लोटि, ओटि गते लः स्थाने उत्तमपुरुषैकवचने इटि समा-
गते, टस्येत्संज्ञायां लोपे च 'तिङ्शित्सार्वाधातुकम्' इति सार्वधातुकत्वे 'कर्तरि
शप्' इति शपि, शकारस्य पकारस्य चेत्संज्ञायां लोपे च 'एध् अ इ' इति जाते
'दित्तात्मनेपदानां टेरे' इति इट इकारस्य एत्वे, एकारस्य 'एत ऐ' इति ऐत्वे,
'आहुत्तमस्य पिच्च' इति उत्तमपुरुषस्य एइत्यस्य आडागमे टित्वादाद्यावयवे जाते,
'एध आ ऐ' इति स्थिते 'आटश्च' इति वृद्धौ 'एध ऐ' इति भूते 'वृद्धिरेचि' इति
वृद्धौ 'एधै' इति रूपम् । ऐधत । एध्धातोः 'अनद्यतने लङ्' इति लङि, ङकाराकार-

और 'अस्ति' के सकारको हकार आदेश हो 'एत' के परे । आमे—लोट् लकार
सम्बन्धी एकारको 'आम्' आदेश हो । सवा—सकार और वकारसे पर लोट् सम्बन्धी एकार
को (यथाक्रमसे) 'व' और 'अम्' आदेश हो । एत ऐ—लोट् लकार संबन्धी उत्तम पुरुषके

ऐधेयाम् । ऐधध्वम् । ऐधे । ऐधावहि । ऐधामहि । लिङः सीयुट् । ३।४।१०२।
 ('लिङः सलोपोऽनन्त्यस्ये'ति) सलोपः । लोपो व्योर्वलि । ६।१।६६। एधेत ।
 एधेयाताम् । झस्य रन् । ३।४।१०५। लिङो ऋस्य रन् । एधेरन् । ऐधेयाः ।
 एधेयायाम् । एधध्वम् ॥ इटोऽत् । ३।४।१०६। लिङादेशस्य इटोऽस्त्यात् ।
 एधेय । एधेवहि । एधेमहि । सुट् तिथोः । ३।४।१०७। लिङस्तथोः सुट् स्यात् ।
 यलोपः । एधिषीष्ट । एधिषीयास्ताम् । एधिषीरन् । एधिषीष्ठाः । एधिषीयास्थाम् ।
 एधिषीध्वम् । एधिषीय । एधिषीवहि । एधिषीमहि । ऐधिष्ट । ऐधिषाताम् । आत्म-

योरित्संज्ञायां लोपे च, लः स्थाने 'तित्सस्झि०' इत्यादिना तादेशे 'तिङ्शित्सार्वधा-
 तुकम्' इति सार्वधातुकत्वे 'कर्तरि शप्' इति शपि शपयोरित्संज्ञायां लोपे च 'आ-
 ङजादीनाम्' इत्याङागमे 'आ एध् अ त' इति जाते 'आटश्च' इति वृद्धौ, मिलित्वा
 'ऐधेत' इति रूपम् । एधेत । एधधातोः 'विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु
 लिङ्' इति लिङि, इङि गते, लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तादेशे कृते 'तिङ्शित्सा-
 र्वधातुकम्' इति सार्वधातुकत्वे 'कर्तरि शप्' इति शपि, शपयोरित्संज्ञायां लोपे च,
 'एध् अ त' इति जाते 'लिङः सीयुट्' इति तकारस्य सीयुडागमे, उटि गते टित्त्वा-
 दाद्यावयवे 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' इति सलोपे 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे
 'आद्गुणः' इति गुणे 'एधेत' इति रूपम् । झस्य रन्निति । 'लिङः सीयुट्' इत्यतो
 लिङ इत्यनुवर्तते । तदाह—लिङो ऋत्येति । लिङादेशस्य झस्येत्यर्थः । अनेकाल्त्वा-
 त्सर्वादेशः । इटोऽत् । इटः, अत् इति छेदः । 'लिङः सीयुट्' इत्यतो लिङ इत्यनु-
 वर्तते । तदाह—लिङादेशस्येति । सुट् तिथोः । 'लिङस्सीयुट्' इत्यतो लिङ इत्यनुवर्तते ।
 तिश्च थ् चेति द्वन्द्वात् षष्ठीद्विवचनम् । इकार उच्चारणार्थः । तदाह—लिङस्तकारेति ।
 एधिषीष्ट । एध् धातोः 'आशिषि लिङ्लोटौ' इत्याशिषि, लिङि, इङि गते लः स्थाने
 प्रथमपुरुषैकवचने ते जाते 'लिङाशिषि' इत्यार्धधातुकत्वे, 'लिङः सीयुट्' इति
 सीयुटि, उटि गते, टित्त्वादाद्यावयवे 'एध् सीय् त' इति जाते 'सुट् तिथोः' इति
 तकारस्य सुडागमे, उटि गते टित्त्वादाद्यावयवे यकारस्य 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे
 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' इति इडागमे 'आदेशप्रत्यययोः' इति उभयत्र षत्वे, तका-
 रस्य ष्त्वत्वे 'एधिषीष्ट' इति रूपम् । ऐधिष्ट । एध् धातोः 'लुङ्' इति लुङि, उङि गते,
 लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने ते, तस्य सार्वधातुकत्वे, शपि प्राप्ते तम्बाधित्वा 'च्लि-

एकारको ऐकार आदेश हो । लिङः—लिङादेशको सीयुट्का आगम हो, आत्मनेपदमें ।
 लोपो—यकार और वकारका लोप हो 'वल्' के परे । झस्य—लिङ् लकार सम्बन्धी 'झ' को
 'रन्' आदेश हो । इटोऽत्—लिङादेश 'इट्' के स्थानमें 'अत्' आदेश हो । सुट्—'लिङ्'
 लकार सम्बन्धी तकार-थकारको 'सुट्' का आगम हो । आत्मने—अनकारसे पर आत्मने

नेपदेष्वनतः । ७।१।५। अनकारात्परस्याऽऽत्मनेपदेषु भस्य अत् स्यात् । ऐधिषत् । ऐधिष्ठाः । ऐधिषाथाम् । ऐधिढ्वम् । ऐधिषि । ऐधिष्वहि । ऐधिष्महि । ऐधिष्यत । ऐधिष्येताम् । ऐधिष्यन्त । ऐधिष्यथाः । ऐधिष्येथाम् । ऐधिष्यध्वम् । ऐधिष्ये । ऐधिष्यावहि । ऐधिष्यामहि । कमु कान्तौ । कमेर्णिङ् । ३।१।३०। स्वार्थे । कामयते । अयामन्त, ज्वाग्येत्स्विष्णुषु । ६।४।५५। एषु शेर्य आदेशः ।

लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच' इति सिचि, इचि गते, 'एध् स् त' इति स्थिते 'आर्धधातुकं शेषः' इति सिच आर्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इडागमे 'आदेशप्रत्यययोः' इति सस्य पत्वे, तकारस्य 'ष्टुना ष्टुः' इति ष्टुत्वे, 'आडजादीनाम्' इत्यङ्गस्याडागमे 'आटश्च' इति वृद्धौ 'ऐधिष्ट' इति रूपम् । आत्मनेपदेष्वनत इति । 'ज्ञोन्तः' इत्यतो झ इति षष्ठ्यन्तमनुवर्तते । आत्मनेपदेष्वाति षष्ठ्यर्थे सप्तमी । आत्मनेपदावयवस्य झकारस्येति लभ्यते । 'अदभ्यस्तात्' इत्यतः अदित्यनुवर्तत । न अत् अनत् तस्मादिति विग्रहः । तदाह—अनकारादित्यादिना । ऐधिषत् । एधधातोर्लुङः प्रथमपुरुषबहुवचने झे समागते 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच' इति सिचि, इचि गते, सिचः सस्यार्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इडागमे 'आत्मनेपदेष्वनतः' इति झस्य अत् आदेशे 'आडजादीनाम्' इत्यङ्गस्याडागमे 'आटश्च' इति वृद्धौ, 'आदेशप्रत्यययोः' इति सिचः सस्य पत्वे मिलित्वा 'ऐधिषत्' इति रूपम् । ऐधिढ्वम् । एधधातोर्लुङो मध्यमपुरुषबहुवचने ध्वमि कृते, च्लौ, च्लेः सिचि, इचि गते, इडागमे, 'आडजादीनाम्' इत्याडागमे 'आटश्च' इति वृद्धौ, 'ऐधि स् ध्वम्' इति जाते 'धि च' इति सलोपे 'इणः षीध्वं लुङ् लिटाम्' इति ध्वमो धकारस्य ढत्वे 'ऐधिढ्वम्' इति रूपम् । ऐधिष्यत । एधधातोः 'लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ' इति लृङ्, अनुबन्धलोपः, लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने ते कृते 'स्यतासी लृलुटोः' इति स्ये सस्य 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकत्वे, 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इडागमे 'आदेशप्रत्यययोः' इति पत्वे 'आडजादीनाम्' इति आडागमे 'आटश्च' इति वृद्धौ 'ऐधिष्यत' इति रूपम् । कमु कान्ताविति । कान्तिरिच्छा, 'स्वर्गकामः' इत्यादौ कमेरिच्छायां प्रयोगबाहुल्यदर्शनात् । 'कामोऽभिलाषस्तर्षश्च' इत्यमरः । कमेर्णिङ् । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे स्वार्थ इति अर्थविशेषानिर्देशादिति भावः । कामयते । उकारस्येत्सञ्ज्ञककम्-

पदसम्बन्धी 'झ' को 'अत्' आदेश हो । कमेर्णि—'कमु' धातुसे 'णिङ्' प्रत्यय हो, स्वार्थ में । अया—'आम्, अन्त, आलु, आर्य, इत्तु और इष्णुके परे 'णि' को अय आदेश हो ।

नोटः—आम्—'कारयामास' । अन्त—'गण्डयतो मण्डयतः (तृभूवहि०' इस उणादिसूत्र से 'झच्' और 'ज्ञोन्तः' से अन्तादेश) । आलु—'स्पृहयालुः' ('स्पृहियद्विपति०' इस सूत्रसे

कामयाञ्चक्रे । 'आयादय' इति वा णिङ् । चकमे । चकमाते । चकमिरे । चकमिषे । चकमाथे । चकमिध्वे । चकमे । चकमिवहे । चकमिमहे । कामयिता । कमिता ।

धातोः 'कमेर्णिङ्' इति णिङि, अनुबन्धलोपे 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'कामि' इति जाते 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायां लटि अनुबन्धलोपे 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' इति कर्तर्यर्थे 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' इति कामिधातोर्ङित्वात् आत्मनेपदस्य प्राप्तौ 'तङानावात्मनेपदम्' इति तङ आत्मनेपदसंज्ञत्वात् लस्थाने सर्वस्मिन् प्राप्ते प्रथमपुरुषैकवचने तादेशे 'कामि त' इति स्थिते, तत्र तकारस्य 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकत्वे 'कर्तरि शप्' इति शपि शपयोरित्संज्ञायां लोपे च शित्वात्सार्वधातुकत्वे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'एचोऽयवायावः' इति अयादेशे 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे 'कामयते' इति रूपम् । अयामन्तेति । अय् इति च्छेदः । 'णेरनिटि' इत्यतो णेरित्यनुवर्तते । तदाह-णेरयादेशः स्यादिति । कामयाञ्चक्रे । कम् धातोः 'कमेर्णिङ्' इति णिङि, अनुबन्धलोपे 'अत उपधायाः' इति वृद्धित्वे 'कामि' इति भूते 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वे 'परोच्चे लिट्' इति लिटि 'कास्यनेकाच आम् वक्तव्यः' इत्यामि, 'णेरनिटि' इति लोपे प्राप्ते तम्बाधित्वा 'अयामन्तात्वाय्येन्त्विष्णुषु' इति णिङ् इकारस्य अयादेशे 'कामय् आम् लिट्' इति जाते 'आमः' इति लिटो लुकि, 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परके कृजोऽनुप्रयोगे कृते, लिटो लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तादेशे कृते, तस्य स्थाने 'लिटस्तद्धयोरेशिरेच्' इति एशि कृते शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति कृजो द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इति अभ्यासत्वे 'उरत्' इति अभ्यासऋवर्णस्य अकारे 'उरण् रपरः' इति रपरे च कृते 'कामयाम् कर् कृ ए' इति भूते 'हलादिः शेषः' इति रलोपे 'कुहोरश्चुः' इति कस्य चत्वे 'इको यणचि' इति यणि, मस्यानुस्वारे वा परसवर्णे च कृते 'कामयाञ्चक्रे' इति रूपम् । चकमे 'आयादय आर्धधातुके वा' इति आयादेशाभावपक्षे कम्धातोः 'परोच्चे लिट्' इति लिटि, इटि गते, लःस्थाने प्रथमपुरुषैकवचने, तादेशे, तस्य स्थाने 'लिटस्तद्धयोरेशिरेच्' इति एशि, अनेकात्वात्सर्वादेशे शस्येत्संज्ञायां लोपे च, 'लिट् च' इत्यार्धधातुकत्वे, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'कम् कम् ए' इति जाते 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इति कअवशिष्टे 'कुहोरश्चुः' इति कस्य चत्वे मिलित्वा 'चकमे' इति रूपम् । कामयिता । कम्धातोः 'कमेर्णिङ्' इति णिङि, अनुबन्धलोपे 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायाम् 'अनद्यतने 'आहुच्' । आह्वय—'स्पृह्याय्यः' (श्रुदक्षिस्पृहिगृहिभ्य आह्वयः' इति उणादि सूत्रसे 'आह्वय') । इत्तु—'स्तनयित्तुः' (स्तनिह्विषिपुषि०) इति उणादि सूत्रसे 'इत्तुच्') इष्णु—'वीर्यः पारयिष्णवः' ('णेश्छन्दसि' से 'इष्णुच्')—इति प्रकार उदाहरण समझना चाहिये ।

कामयिष्यते । कमिष्यते । कामयताम् । अकामयत । कामयेत । कामयिषीष्ट । कमि-

लुट्' इति लुटि, उटि गते, लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तादेशे, 'स्यतासी लुलुटोः' इति तासि, तासः 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इडागमे, 'काम् इ इ तास् त' इति स्थिते 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'एचोऽयवायावः' इत्ययादेशे 'लुटः प्रथमस्य डारौरसः' इति तस्य स्थाने डात्वे, डस्येत्संज्ञायां लोपे च, डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेलोपः' इति टिमंज्ञकस्य तासः आस् इत्येतस्य लोपे 'कामयिता' इति रूपम् । कामयिष्यते । कम्धातोः 'कमेर्णिङ्' इति णिङि, इङि गते, णगते च 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'कामि' इति जाते, तस्य 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वे 'लुट् शेषे च' इति लुटि, लुटो लः स्थाने तादेशे, 'स्यतासी लुलुटोः' इति स्ये, स्यस्य 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इडागमे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति कामीत्यस्य गुणे 'एचोऽयवायावः' इत्ययादेशे 'कामयि स्य त' इति जाते 'आदेशप्रत्यययोः' इति पत्वे 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे 'कामयिष्यते' इति रूपम् । अग्रे रूपाणि—कामयिष्येते, कामयिष्यन्ते । कामयिष्यसे, कामयिष्येथे, कामयिष्यध्वे । कामयिष्ये, कामयिष्यावहे, कामयिष्यामहे । कामयताम् । कम्धातोः 'कमेर्णिङ्' इति णिङि, इङि, णगते च 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'कामि' इति जाते तस्य 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वे 'लोट् च' इति लोटि, ओटि गते, लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तादेशे, तस्य 'तिङ्शित्सार्धधातुकम्' इति सार्वधातुकत्वे 'कर्तरि शप्' इति शपि शपयोरित्संज्ञायां लोपे च कृते अकारेऽवशिष्टे, तस्य शित्वात्सार्वधातुकत्वे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति कमेरिकारस्य गुणे, 'एचोऽयवायावः' इति अयादेशे, 'कामयत' इति जाते 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टिसंज्ञकस्य तकाराकारस्य एत्वे 'आमेतः' इति एकारस्यामि, 'कामयताम्' इति रूपम् । अकामयत । कम्धातोः 'कमेर्णिङ्' इति णिङि, इङि गते, णगते च 'अत उपधायाः' इति कमेरुपधायाः वृद्धौ, 'कामि' इति जाते 'सनाद्यन्ता धातवः' इति कामेर्धातुत्वे 'अनद्यने लङ्' इति लङि, इङि गते, लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तादेशे 'तिङ्शित्सार्धधातुकम्' इति सार्वधातुकत्वे 'कर्तरि शप्' इति शपि, शपयोरित्संज्ञायां लोपे च कृते, शित्वात् शपोऽकारस्य सार्वधातुकत्वे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति कमेरिकारस्य गुणे 'एचोऽयवायावः' इत्ययादेशे 'कामयत' इति जाते 'लुङ्लङ्लुङ्चवहुदात्तः' इत्यङ्स्याडागमे 'अकामयत' इति रूपम् । कामयेत । कम् धातोः 'कमेर्णिङ्' इति णिङि, इङि गते णगते च 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'कामि' इति जाते 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वे 'विधिनिमन्त्रणे'ति लिङि, इङि गते, लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तादेशे, तस्य 'तिङ्शित्सार्धधातुकम्' इति सार्व-

षीष्ट । णिश्रिद्रुसुभ्यः कर्तरि चङ् । ३।१।४८। ण्यन्तात्, भ्रयादिभ्यश्च च्लेश्चङ् कर्त्रर्थे लुङि । अ कामि अ त इति स्थिते—णेरनिटि । ६।४।५१। अनिडादावाद्-

धातुकत्वे 'कर्तरि शप्' इति शपि, शपयोरित्संज्ञायां लोपे च, शित्वात्तस्यापि सार्व-
धातुकत्वे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति कामेरिकारस्य गुणे 'एचोऽयवायावः'
इत्ययादेशे 'कामय त' इति जाते 'लिङः सीयुट्' इति सीयुटि, उटि गते 'टित्वादा-
द्यावयवे जाते 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' इत्यनेन सलोपे 'आद्गुणः' इति गुणे,
'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे 'कामयेत' इति सिद्धम् । कामयिषीष्ट । कमधातोः 'कमे-
र्णिङ्' इति नित्ये णिङि प्राप्ते, 'आयादय आर्धधातुके वा' इति वा णिङि, इङि गते,
णलोपे च 'अत उपधायाः' इति कम उपधायाः वृद्धौ, 'कामि' इति जाते 'सना-
द्यन्ता धातवः' इति कामेर्धातुत्वे, तस्मात् 'आशिषि लिङ्लोटौ' इति लिङि, इङि
गते, लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तादेशे 'लिङाशिषि' इति तस्यार्धधातुकसंज्ञायां
'लिङः सीयुट्' इति सीयुटि उटि गते, टित्वादाद्यावयवे 'कामि सीय त' इति जाते,
यदागमन्यायेन आगमस्य-सीयुटः सीयुर्विशिष्टस्य आर्धधातुकत्वेन 'आर्धधातुकस्ये-
ड्वलादेः' इति इडागमे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'एचोऽयवायावः'
इत्ययादेशे 'आदेशप्रत्यययोः' इति पत्वे 'सुट्तिथोः' इति तकारस्य सुडागमे
'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे 'आदेशप्रत्यययोः' इति सुटः सस्य पत्वे तकारस्य
प्लुत्वे 'कामयिषीष्ट' इति । कमिषीष्ट । 'आयादय आर्धधातुके वा' इति णिङभावे कम-
धातोः 'आशिषि लिङ्लोटौ' इति लिङि, लिङो लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तादेशे,
'आर्धधातुकं शेषः' इति आर्धधातुकत्वे, 'लिङः सीयुट्' इति लिङः स्थानिकतस्य
सीयुटि, उटि गते, यदागमन्यायेन सीयुट आर्धधातुकत्वे, 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः'
इति इडागमे, 'सुट्तिथोः' इति तकारस्य सुडागमे 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे
'कम् इ सी स त' इति जाते 'आदेशप्रत्यययोः' इति उभयत्र सकारयोः पत्व 'प्लुना
प्लुः' इति तस्य प्लुत्वे 'कमिषीष्ट' इति रूपम् । णिश्रिद्रुसुभ्य इति । णि श्रि द्रु सु एषां
द्वन्द्वः । प्रत्ययग्रहणपरिभाषया णीति तदन्तग्रहणम् । 'च्लि लुङि' इत्यतो लुङीति,
'च्लेः सिच्' इत्यतः च्लेरिति चानुवर्तते । तदाह—ण्यन्तादित्यादिना । सन्वल्छुनाति ।
अनगलोप इति छेदः । चङ् परो यस्मात् इति विग्रहः । तेन णीत्यस्य लाभः ।
स च अङ्गस्येति द्वयमप्यावर्तते । तत्र णावित्यावृत्तौ एकं लघुनीत्यत्रान्वेति । तथाच
चङ् परे णौ यल्लघु तस्मिन्परत इति लभ्यते । द्वितीयं तु अनगलोपे इत्यत्रान्वेति ।
तथा च णौ परतः यः अगलोपः, तस्याभावे सतीति लभ्यते । अङ्गस्येत्यावृत्तौ एकं
चङ्परे इत्यत्रान्वेति । निमित्तनिमित्तिभावे षष्ठी । तथाच अङ्गसंज्ञानिमित्तभूते

णिशि—ण्यन्त धातु तथा 'श्रि-द्रु-सु' धातुओंसे पर 'च्लि' को 'चङ्' आदेश हो, कर्त्र-

धातुके परे गोलोपः । गौ चङ्युपधाया ह्रस्वः । ७।४।१। चङ्परे गौ यदङ्गं,
तस्योपधाया ह्रस्वः चङि । सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनगलोपे । ७।४।९३। चङ्-
परे गौ यदङ्गं, तस्य योऽभ्यासो लघुपरस्तस्य सनीव कार्यं स्याण्णावगलोपेऽसति ।
सन्त्यतः ७।४।७९। अभ्यासस्याऽत इत्सनि । दीर्घो लघोः । ७।४।९४। लघोरभ्या-
सस्य दीर्घः, सन्वद्भावविषये । अचीकमत । णिङभावपक्षे—(कमेश्चलेश्चङ्
वाच्यः) गोरभावाच्च दीर्घसन्वद्भावौ । अचकमत । अकामयिष्यत । अकमिष्यत ॥
भाम क्रोधे । भामते । वभामे ॥ क्षमूष् सहने । क्षमते । चक्षमे । चक्षमिषे—

चङ् परके वर्णे परे इति लभ्यते । चङ्परकश्च वर्णः अर्थात् गेरिकार एवेति भावः ।
अचीकमत । कम् धातोः 'कमेर्णिङ्' इति णिङि, इङि गते, गलोपे च 'अत उपधायाः'
इति उपधावृद्धौ 'कामि' इति जाते 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वे, 'लुङ्' इति लुङि
उङि गते, लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तादेशे 'च्लि लुङि' इति च्लौ 'णिश्चिदुल्लभ्यः'
कर्तरि चङ्' इति च्लेश्चङि चस्य ङस्य चेत्संज्ञायां लोपे च कृते 'काम् इ अ त' इति
जाते 'गेरनिटि' इति गेलोपे जाते 'काम् अ त' इति भूते 'गौ चङ्युपधाया ह्रस्वः'
इति प्रत्ययलक्षणेन गेश्चङ्परत्वादुपधाया ह्रस्वत्वे 'कम् अ त' इति जाते 'चङि' इति
कमो द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इति अभ्यासंज्ञायां 'हलादिः शेषः' इति मलोपे 'क-
कम् अ त' इति भूते 'कुहोश्चुः' इति कस्य चत्वे 'सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनगलोपे'
इति सन्वद्भावे कृते 'सन्त्यतः' इत्यभ्यासाकारस्य इत्वे 'चि कम् अ त' इति जाते
'दीर्घो लघोः' इत्यभ्यासेकारस्य 'चि' इत्यस्य दीर्घे कृते 'लुङ्लङ्लृङ्चवङ्ङात्तः'
इत्यङ्गस्य अडागमे टित्वादाद्यावयवे जाते 'अचीकमत' इति रूपम् । एवमेवाग्रस्यपि
साधनिका ऊह्या । रूपाणि त्वित्थम्—अचीकमत, अचीकमेताम्, अचीकमन्त । अची-
कमथाः, अचीकमेथाम्, अचीकमध्वम् । अचीकमे, अचीकमावहि, अचीकमामहि ।
अचकमत । 'आयादय आर्धधातुके वा' इति णिङभावे रूपम् । भाम-क्रोधे
धातोः वर्तमाने लटि तङि टेरत्वे शपि 'भामते' इति भवति । लिटि भामधातोर्द्वित्वे
पूर्वस्याऽभ्यासत्वे ह्रस्वत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति भस्य वत्वे 'वभामे' इति रूपम् ।
लुडादिषु तु भामिता-भामिष्यते-भामताम्-अभामत-भामेत-भामिषीष्ट-अभामिष्ट-
अभामिष्यत-इत्यादि । क्षमत इति । क्षमूप्-सहने इत्यर्थकाद्धातोर्लटि तङि टेरत्वे

थेक 'लुङ्' के परे । गेर—अनिडादि आर्धधातुकके परे 'णि' का लोप हो । गौ—'चङ्' परक
जो 'णि' तत्परक जो 'अङ्ग' उसकी उपधाको ह्रस्व हो । सन्व—'चङ्' परक जो 'णि' तत्परक
जो 'अङ्ग' तदवयव जो लघुपरक अभ्यास उसको सन्वद्भाव हो—'णि' के परे यदि 'अक्' का
लोप नहीं हुआ हो तो । सन्त्य—अभ्यास सम्बन्धी 'अत्' को 'इत्' हो, 'सन्' के परे ।
दीर्घो—अभ्यासावयव लघुको दीर्घ हो, सन्वद्भावके विषयमें । कमेः—'कम्' धातुसम्बन्धी

चक्षसे । चक्षमाथे । चक्षमिवहे । म्बोश्च । ८।२।६५। मान्तस्य धातोर्मस्य नः स्यात्
म्बोः परयोः । चक्षण्वहे । चक्षमिमहे । चक्षण्महे ॥ गाधृ प्रतिष्ठालिप्सयोर्ग्रन्थे च ।
गाधते ॥ बाधृ लोडने । लोडनं—प्रतिघातः । बाधते । नाथृ नाधृ याचोपता-
पैश्वर्याऽऽशीःषु । (आशिषि नाथ इति वाच्यम्) अस्याऽऽशिष्येवात्मनेपदं
स्यात् । नाथते । अन्यत्र—नाथति । नाधते ॥ दध धारणे । दधते ॥ स्कुदि आ-

शपि क्षमते इति रूपम् । चक्षमे इति ॥ चमूष् धातोर्लिटि तङि 'लिटस्तङ्योरे-
शिरेच्' इति एशादेशे धातोर्द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वेऽभ्यासचत्वे 'चक्षम् ए' परेण संयोगे
सत्यभीष्टं रूपं सिध्यति । अग्रे चक्षमाते-चक्षमते । चक्षमिषे इति । चमूष् धातोर्लिटि
थासि 'थासः से' इति से आदेशे धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे चत्वे । 'स्वरतिसूति' इति
ऊदित्वाद्वैभाषिके इडागमे 'आदेशप्रत्यययोः' इति पत्वे सति 'चक्षमिषे' इति
रूपं सिद्धं भवति । असति इडागमे 'चक्षम्+से' इति स्थितौ मस्यानुस्वारे कृते
'चक्षसे' इत्यपि साधु विशिष्टम् । अग्रे चक्षमाथे, चक्षमिध्वे-चक्षन्ध्वे । चक्षमे-चक्ष-
मिवहे-चक्षमिमहे । अत्र सति इडागमे एते रूपे भवतः । असति इडागमे । म्बोश्चेति ।
मो नो धातोर्लिट्यनुवर्तते तदाह—मान्तस्येति । 'चक्षम्-वहे-चक्षम्-महे' इति स्थितौ
'म्बोश्च' इति मस्य नत्वे समानपदत्वात् 'रषाभ्याम्' इति नस्य णत्वे विहिते चक्षण्वहे-
चक्षण्महे इत्सुभयरूपसिद्धिः । लुडादिषु-क्षमिता-क्षन्ता । क्षमिष्यते-क्षंस्यते । क्षम-
ताम् । अक्षमत । क्षमेत । क्षमिषीष्ट-क्षंसीष्ट । अक्षमिष्ट-अक्षंस्त । अक्षमिष्यत—
अक्षंस्यत । गाधत इति । गाधृ=प्रतिष्ठालिप्सयोर्ग्रन्थे चास्माद्धातोर्वर्तमाने लटि तङि
टेरेत्वे शपि सति 'गाधते' इत्यस्य सिद्धिः सुस्पष्टा । अग्रे जगाधे-गाधिता-गाधिष्यते ।
गाधताम् । अगाधत । गाधेत । गाधिषीष्ट । अगाधिष्ट । अगाधिष्यत । बाधत इति ।
बाधृ-लोडनेऽस्माद्धातोर्लटि तङि शपि टेरेत्वे च कृते 'बाधते' इत्यस्य सिद्धिः ।
अग्रे—वबाधे । बाधिता । बाधिष्यते । बाधताम् । अबाधत । बाधेत । बाधिषीष्ट-
अबाधिष्ट-अबाधिष्यत । नाथति इति । नाथृ-याचोपतापैश्वर्येषु=एष्वेवार्थेषु सत्सु
नाथधातोः परस्मैपदमन्यत्राशीरर्थे । आत्मनेपदं भवति । अतो लटि तिपि शपि
नाथति, इति रूपं भवति । आशीरर्थे तु 'अस्याशिषि नाथ इति वक्तव्यम्' । इति वा-
र्तिकेन आत्मनेपदे तङि शपि नाथते इति रूपं भवति । अग्रे रूपाणि नाथति-ननाथ-
नाथिता-नाथिष्यति-नाथतु-अनाथत्-नाथेत्-नाथ्यात्-अनाथीत्-अनाथिष्यत् । आ-
शीरर्थे तु-नाथते-ननाथे-नाथिता-नाथिष्यते-नाथताम् अनाथत-नाथेत-नाथिषीष्ट-
अनाथिष्ट-अनाथिष्यत । नाधते इति । नाधृ-याचोपतापैश्वर्याशीःष । अस्माद्धातोः

'च्लि' को 'चङ्' हो—ऐसा कहना चाहिये । म्बोश्च—मान्तधातुके मकारको नकार आदेश
हो, मकार और वकारके परे । आशि- 'नाथ' धातुसे 'आशिष' अर्थमें ही आत्मनेपद हो ।

प्रवणे । आप्रवणम्--उत्प्लवनमुद्धरणं च । स्कुन्दते । चुस्कुन्दे ॥ श्विदि श्वैत्ये । श्विन्दते । शिश्विन्दे ॥ वदि अभिवादनस्तुत्योः । वन्दते । ववन्दे ॥ भदि कल्याणे सुखे च । भन्दते । बभन्दे ॥ मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु । मन्दते । ममन्दे ॥ स्पदि किञ्चिच्चलने । स्पन्दते । स्पन्देते । पस्पन्दे ॥ मुद हर्षे । मोदते ।

लटि तडि शपि टेरेत्वे च कृते प्रसिद्धं रूपं सिध्यति । अग्रे ननाधे-नाधिता-नाधि-
प्यते-नाधताम्-अनाधत-नाधेत-नाधिषीष्ट-अनाधिष्ट-अनाधिष्यत । दधन इति । दध
-धारणेऽस्माद्धातोर्लटि तडि शपि टेरेत्वे च विहिते प्रोक्तं 'दधते' इति रूपं सिध्यति ।
अग्रे ददधे-दधिता-दधिष्यते-दधताम्-अदधत-दधेत-दधिषीष्ट-अदधिष्ट-अदधिष्यत ।
स्कुन्दत इति । स्कुदि-आप्रवणेऽस्माद्धातोर्लटि तडि शपि इदित्वात् 'इदितो नुस्
धातोः' इति नुमि मित्वादन्त्यादचः परे अनुस्वारे परसवर्णे च कृते 'स्कुन्दते' इत्यस्य
साधुत्वम् । चुस्कुन्दे इति । स्कुदि-आप्रवणेऽस्मान्नुमि लिटि तडि धातोः 'लिटि धातोः'
इति द्वित्वे पूर्वस्याभ्याससंज्ञायां 'शर्पूर्वाः खयः' इति सलोपे 'अभ्यासे चर्च' इति
चकारे 'लिटस्तन्नयोः' इति एशादेशे च कृते 'चुस्कुन्दे' इत्यस्य सिद्धिः फलितेति
भावः । अग्रे स्कुन्दिता-स्कुन्दिष्यते-स्कुन्दताम्-अस्कुन्दत । स्कुन्देत । स्कुन्दिषीष्ट-
अस्कुन्दिष्ट-अस्कुन्दिष्यत । श्विन्दत इति । श्विदि-श्वैत्येऽस्मादिदित्वान्नुमि लटि
तडि शपि टेरेत्वे च कृते 'श्विन्दते' इत्यस्य सिद्धिः । शिश्विन्दे इति । श्विदि धातोरि-
दित्वान्नुमि लिटि तडि 'लिटि धातोः' इति द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः'
इति वलोपे 'लिटस्तन्नयोः' इति एशादेशे च कृते 'शिश्विन्दे' इति रूपं भवति ।
अग्रे । श्विन्दिता-श्विन्दिष्यते-श्विन्दताम्-अश्विन्दत-श्विन्देत-श्विन्दिषीष्ट-अश्विन्दिष्ट-
अश्विन्दिष्यत । वन्दत इति । वदि-अभिवादनस्तुत्योरस्माद्धातोर्लटि तडि शपि
टेरेत्वे च कृते 'वन्दते' इति रूपं प्रसिध्यति । अग्रे ववन्दे-वन्दिता-वन्दिष्यते-वन्द-
ताम्-अवन्दत-वन्देत-वन्दिषीष्ट-अवन्दिष्ट-अवन्दिष्यत । भन्दत इति । भदि-कल्याणे
सुखे चेत्यस्माद्धातोर्लटि तडि शपि टेरेत्वे 'भन्दते' इति सिध्यति । बभन्दे इति । भदि
धातोरिदित्वान्नुमि लिटि तडि धातोर्द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे चत्वेन भस्य वत्वे
'लिटस्तन्नयोः' इति तस्यैशादेशे च कृते 'बभन्दे' इत्यस्य साधुत्वं स्पष्टम् । अग्रे
भन्दिता-भन्दिष्यते-भन्दताम्-अभन्दत-भन्देत-भन्दिषीष्ट-अभन्दिष्ट-अभन्दिष्यत ।
मदि-मन्दते-ममन्दे-मन्दिता-मन्दिष्यते-मन्दताम्-अमन्दत-मन्देत-मन्दिषीष्ट-
अमन्दिष्ट-अमन्दिष्यत । स्पदि=स्पन्दते-पस्पन्दे अत्र 'शर्पूर्वाः खयः' इति विशेषः-
स्पन्दिता-स्पन्दिष्यते-स्पन्दताम्-अस्पन्दत-स्पन्देत-स्पन्दिषीष्ट-अस्पन्दिष्ट-अस्पन्दि-
ष्यत । मोदत इति । मुद-हर्षेऽस्माद्धातोर्लटि तडि शपि शपः शित्वात् 'तिङ्शित्सा-
वधातुकम्' इति सार्वधातुकसंज्ञायां मुद उकारस्य च 'अलोऽन्त्यात्पूर्वं उपधा' इत्यु-
पधासंज्ञात्वे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति लघूकारस्य गुणेनौकारे च कृते 'मोदते' इति

मुमुदे ॥ उर्द माने, क्रीडायां च । ऊर्दते । ऊर्दाच्चक्रे । कुर्द चुर्द गुर्द गुद क्रीडा-
यामेव । कूर्दते । खूर्दते । गूर्दते । गोदते । जुगुदे । षूद क्षरणे । सूदते । सुषूदे ।
ह्राद अव्यक्ते शब्दे । हादते । जहादे । ह्रादी सुखे च । चादव्यक्ते शब्दे । हादते ॥
स्वाद आस्वादनम् । स्वादते । पर्द कुत्सिते शब्दे । गुदरवे इत्यर्थः । पर्दते । पपर्दे ॥
यती प्रयत्ने । यतते । येते । अथि शैथिल्ये । अन्यते ॥ अथि कौटिल्ये । ग्रन्यते ।

रूपं निष्पद्यते । अग्रे मुमुदे-मोदिता-मोदिष्यते-मोदताम्-अमोदत-मोदेत-मोदि-
षीष्ट-अमोदिष्ट-अमोदिष्यत । ऊर्दते इति । उर्द-माने क्रीडायां चास्माद्धातोर्लिटि
तङि शपि ढेरेत्वे 'उपधायां च' इति पूर्वोकारदीर्घत्वे च कृते 'ऊर्दते' इत्यस्य सिद्धिः ।
ऊर्दाच्चक्रे इति । उर्द धातोः 'उपधायां च' इति उपधाभूतोकारस्य दीर्घे लिटि ततः
'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' इति आमि 'आमः' इति लिटो लुक् 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि'
इति कृधातोरनुप्रयोगे लिटः स्थाने तङि 'लिटस्तञ्जयोः' इति एशादेशे कृधातोर्द्वित्वे
पूर्वस्याभ्यासत्वे उरदत्वे हलादिः शेषे अभ्यासस्य चत्वेन चकारे 'इको यणचि' इति
यणि 'ऊर्दाच्चक्रे' इति साधुत्वं गच्छति । भूधातोरनुप्रयोगे तु 'ऊर्दाग्वभूवे' असधातोरनु-
प्रयोगे सति 'ऊर्दामासे' इति रूपे भवतः । अग्रे ऊर्दिता-ऊर्दिष्यते । ऊर्दताम्-और्दत-
ऊर्देत-ऊर्दिषीष्ट-और्दिष्ट-और्दिष्यत । कुर्द-खुर्द-गुर्द-गुद-क्रीडायामेवात्र रेफविशि-
ष्टानां धातूनां 'उपधायां च' इति दीर्घत्वेन कूर्दते-खूर्दते-गूर्दते इति रूपाणि ।
गुद धातोस्तु लघूपधत्वेन 'पुगन्त' इति गुणे सति 'गादते' इति रूपं, शेषं प्राग्वत् ।
अग्रे चुकूर्दे-चुखूर्दे-जुगूर्दे-जुगुदे । कूर्दिता-खूर्दिता-गूर्दिता-गोदिता । कूर्दिष्यते-
खूर्दिष्यते-गूर्दिष्यते-गोदिष्यते । कूर्दताम्-खूर्दताम्-गूर्दताम्-गोदताम् । अकूर्दत-
अखूर्दत-अगूर्दत-अगोदत । कूर्देत-खूर्देत-गूर्देत-गोदेत । कूर्दिषीष्ट-खूर्दिषीष्ट-गूर्दि-
षीष्ट-गुदिषीष्ट । अकूर्दिष्ट-अखूर्दिष्ट-अगूर्दिष्ट-अगोदिष्ट । अकूर्दिष्यत-अखूर्दिष्यत-
अगूर्दिष्यत-अगोदिष्यत । षूद-क्षरणे-सूदते-सुषूदे-सूदिता-सूदिष्यते-सूदताम् ।
असूदत-सूदेत-सूदिषीष्ट-असूदिष्ट-असूदिष्यत । ह्राद = अव्यक्ते शब्दे, हादते-जहा-
दे-हादिता-हादिष्यते-हादताम्-अहादत-हादेत-हादिषीष्ट-अहादिष्ट-अहादिष्यत ।
ह्रादी सुखे च, ह्रादते-जह्रादे-ह्रादिता-ह्रादिष्यते-ह्रादताम्-अह्रादत-ह्रादेत-
ह्रादिषीष्ट-अह्रादिष्ट-अह्रादिष्यत । स्वाद = आस्वादे, स्वादते-सस्वादे-स्वादि-
ता-स्वादिष्यते-स्वादताम्-अस्वादत-स्वादेत-स्वादिषीष्ट-अस्वादिष्ट-अस्वादिष्यत ।
पर्द = कुत्सितशब्दे, पर्दते-पपर्दे-पर्दिता-पर्दिष्यते-पर्दताम्-अपर्दत-पर्देत-पर्दिषी-
ष्ट-अपर्दिष्ट-अपर्दिष्यत । यती-प्रयत्ने, तङि शपि यतते इति रूपं भवति । येते इति ।
युती प्रयत्नेऽस्माद्धातोर्लिटि तङि 'लिटि धातो' इति धातोः द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे 'अत
एकहल्मध्ये' इति अभ्यासलोपे धातोरकारस्यैत्वे 'लिटस्तञ्जयोः' इति ढेरेत्वे च कृते—

कथ्य श्लाघायाम् । कथ्यते । चकथ्ये ॥ श्लोक् सङ्घाते । सङ्घातो ग्रन्थः । स चेह
ग्रन्थमानस्य व्यापारो, ग्रन्थितुर्वा । आद्येऽकर्मको, द्वितीये सकर्मकः । श्लोक्ते ।
शुश्लोके ॥ शकि शङ्कायाम् । शङ्कते । शशङ्के ॥ अकि लक्षणे । अङ्कते । आनङ्के ।
ककि वकि श्वकि त्रकि ढौक् त्रौक् ष्वक् वस्क मस्क टिक् टीक् तिक्

येते-येताते-येतिरे-येतिपे-येताथे-येतिध्वे-येते-येतिवहे-येतिमहे इत्यादि । लुडादिषु
यतिता-यतिप्यते-यतताम्-अयतत-यतेत-यतिपीष्ट-अयतिष्ट-अयतिप्यत । अथि-
शैथिल्ये इदित्वान्नुमि ग्रन्थते-शग्रन्थे-ग्रन्थिता-ग्रन्थिप्यते-ग्रन्थिताम्-अग्रन्थत-
ग्रन्थेत-ग्रन्थिपीष्ट-अग्रन्थिष्ट-अग्रन्थिप्यत । अथि- कौटिल्ये, इदित्वान्नुमि, ग्रन्थते
जग्रन्थे-ग्रन्थिता-ग्रन्थिप्यते । ग्रन्थिताम्-अग्रन्थत-ग्रन्थेत-ग्रन्थिपीष्ट-अग्रन्थिष्ट-
अग्रन्थिप्यत । कथ-श्लाघायाम्, कथ्यते-चकथ्ये-कथिता-कथिप्यते-कथिताम्-
अकथत-कथेत-कथिपीष्ट-अकथिष्ट-अकथिप्यत । श्लोक्-संघाते, श्लोक्ते-
शुश्लोके-श्लोकिता-श्लोकिप्यते-श्लोकताम्-अश्लोकत-श्लोकेत-श्लोकिपीष्ट-अश्लो-
किष्ट-अश्लोकिप्यत । शकि-शङ्कायाम्, इदित्वान्नुम्यनुस्वारे परसवर्णे, शङ्कते-शशङ्के-
शङ्किता-शङ्किप्यते-शङ्कताम्-अशङ्कत-शङ्केत-शङ्किपीष्ट-अशङ्किष्ट-अशङ्किप्यत । अ-
कि-लक्षणे इदित्वान्नुमि अनुस्वारे परसवर्णे, अङ्कते । आनङ्के अत्र द्वित्वे सति 'अत आदेः'
इति अभ्यासस्य दीर्घे 'तस्मान्नुद्दिहलः' इति नुडागम इति भावः । अङ्किता-
अङ्किप्यते-अङ्कताम्-आङ्कत-अङ्केत-अङ्किपीष्ट-आङ्किष्ट-आङ्किप्यत । ककि-वकि-श्व-
कि-त्रकि-ढौक्-त्रौक्-ष्वक्-वस्क-मस्क-टिक्-टीक्-तिक्-तीक्-रषि-लषि = गत्यर्थाः,
इदित्वान्नुमि-कङ्कते-वङ्कते-शङ्कते-त्रङ्कते-ढौकते-त्रौकते । ष्वक्ते-अत्र 'धात्वादेः
पः सः' इति पस्य सत्त्वे प्राप्ते 'सुव्धातुष्टिषुष्वक्तीनां सत्त्वनिषेधः' इति वार्तिकेन
पस्य सत्त्वनिषेधे तडि शपि टेरेस्वे प्रोक्तं रूपमिति भावः । वस्कते-मस्कते-टेकते-
टीकते-तेकते-तीकते-रङ्कते-लङ्कते । इति लट् । लिटि चकङ्के-ववङ्के-शश्वङ्के-
तत्रङ्के-डुढौके-तुत्रौके, अत्र अभ्यासहस्वे प्राप्ते 'एचइग्रस्वादेशे' इत्यनेनोकार इति
भावः । ष्वक्के-अत्रापि न धातोः पस्य सः 'सुव्धातु' इति वार्तिकेन निषेधात् ।
ववस्के-ममस्के-टिट्टेके-टिट्टीके-तितेके-तित्तीके-ररङ्के-ललङ्घे । इति लिट् । कङ्किता-
वङ्किता-श्वङ्किता-त्रङ्किता-ढौकिता-त्रौकिता-ष्वकिता-वकिता-मस्किता-टेकिता-
टीकिता, तेकिता-तीकिता-रङ्किता-लङ्किता । इति लुट् । कङ्किप्यते-वङ्किप्यते-ष्वङ्कि-
प्यते-त्रङ्किप्यते-ढौकिप्यते-त्रौकिप्यते-ष्वकिप्यते-वस्किप्यते-मस्किप्यते-टेकिप्यते-
टीकिप्यते-तेकिप्यते-तीकिप्यते-रङ्किप्यते-लङ्किप्यते । कङ्कताम्-वङ्कताम्-श्वङ्क-
ताम्-त्रङ्कताम्-ढौकताम्-त्रौकताम्-ष्वक्कताम्-वस्कताम्-मस्कताम्-टेकताम्-टी-
कताम्-तेकताम्-तीकताम्-रङ्कताम्-लङ्कताम् । अकङ्कत-अवङ्कत-अश्वङ्कत-अत्रङ्कत-
अढौकत-अत्रौकत-अष्वक्कत-अवस्कत-अमस्कत-अटेकत-अटीकत-अतेकत-अतीक-

तीकृ रधि लधि गत्यर्थाः । कङ्कते । वङ्कते । शङ्कते । त्रङ्कते । ढौकते । डुढौके ।
त्रौकते । तुत्रौके । (सुब्धातुष्टिषुष्वक्तीनां सत्त्वनिषेधः ।) प्वक्कते । प्वक्के ।
वस्कते । ववस्के । मस्कते । ममस्के । टेकते । टीकते । तेकते । तीकते । रङ्कते ।
लङ्कते ॥ श्लाघृ कथने । श्लाघते । शश्लाघे । पचि व्यक्तीकरणे । पञ्चते । पपञ्चे ॥
ऋज गतिस्थानार्जनेपार्जनेषु । अर्जते । नुड्विधौ ऋकारैकदेशो रेफो हलत्वेन
गृह्यते । तेन द्विहलत्वान्नुट् । आनृजे । ऋजि भृजी भर्जने । ऋजते । ऋजाञ्चक्रे ।
आञ्जत । भर्जते ॥ एजृ भ्रेजृ भ्राजृ दीप्तौ । एजते । एजाञ्चक्रे । भ्रेजते । विभ्रेजे ।

त-अरङ्कत-अलङ्कत । कङ्कत-वङ्कत-श्वङ्कत-त्रङ्कत-ढौकत-त्रौकत-प्वक्कत-वक्कत-
मस्कत-टेकत-टीकत-तेकत-तीकत-रङ्कत-लङ्कत । कङ्किपीष्ट-वङ्किपीष्ट-श्वङ्किपीष्ट-त्र-
ङ्किपीष्ट-ढौकिपीष्ट-त्रौकिपीष्ट-प्वक्किपीष्ट-वस्किपीष्ट-मस्किपीष्ट-टिकिपीष्ट-टीकिपीष्ट-
तिकिपीष्ट-तीकिपीष्ट-रङ्किपीष्ट-लङ्किपीष्ट-अकङ्किष्ट-अवङ्किष्ट-अप्वङ्किष्ट-अत्रङ्किष्ट-
अढौकिष्ट-अत्रौकिष्ट-अप्वक्किष्ट-अवस्किष्ट-अमस्किष्ट-अटेकिष्ट-अटीकिष्ट-अतेकिष्ट-
अतीकिष्ट-अरङ्किष्ट-अलङ्किष्ट । अकङ्किष्यत-अवङ्किष्यत-अप्वङ्किष्यत-अत्रङ्किष्यत-
अढौकिष्यत-अत्रौकिष्यत-अप्वक्किष्यत-अवस्किष्यत-अमस्किष्यत-अटेकिष्यत-
अटीकिष्यत-अतेकिष्यत-अतीकिष्यत-अरङ्किष्यत-अलङ्किष्यत । श्लाघृ-कथने,
श्लाघते-शश्लाघे-श्लाघिता-श्लाघिष्यते-श्लाघताम्-अश्लाघत-श्लाघेत-श्लाघिषीष्ट-अश्ला-
घिष्ट-अश्लाघिष्यत । पचि-व्यक्तीकरणे । इदित्वान्नुम्, पञ्चते-पपञ्चे-पञ्चिता-पञ्चिष्य-
ते-पञ्चताम्-अपञ्चत-पञ्चेत-पञ्चिषीष्ट-अपञ्चिष्ट-अपञ्चिष्यत । अर्जते इति ॥ ऋजधा-
तोर्लटि तङि शपि शपः शित्वेन सार्वधातुकत्वात् 'पुगन्त' इति गुणे 'उरणरपरः' इति
रपरत्वे टेरेत्वे 'अर्जते' इति रूपं सिध्यति । आनृजे इति ॥ ऋज धातोर्द्वित्वे 'ऋज्+
ऋज्+लिट्' इति जाते 'उरत्' इति अभ्यासऋवर्णस्याकारादेः रपरत्वे हलादिः शेषे
'अ+ऋज्+लिट्' इति जाते 'अत आदेः' इति पूर्वाकारस्य दीर्घे ऋजधातोरेकहलत्वे-
ऽपि 'नुड्विधौ ऋकारैकदेशो हलत्वेन गृह्यते' इति वार्तिकवचनात् ऋजो द्विहलत्वात्
'तस्मान्नुड्विहलः' इति दीर्घाभूतात्परस्य नुटि टित्वेनाद्यावयवत्वे 'लिटस्तश्चोः' इति
तस्यैशादेशे 'आनृजे' इति रूपं भवति । अग्रे अर्जिता-अर्जिष्यते-अर्जताम्-आर्जत-
अर्जत-ऋजिषीष्ट-आर्जिष्ट-आर्जिष्यत । ऋजि भृजी भर्जने, ऋजते-लटि 'इजादेश
गुरुमतोऽनृच्छः' इत्यामि शेषम् एधांचक्रेवदूहम् । ऋजाञ्चक्रे-ऋजाम्बभूवे-ऋजामा-
से-ऋजिता-ऋजिष्यते-ऋजताम्-आर्जत-ऋजेत-ऋजिषीष्ट-आर्जिष्ट-आर्जिष्य-
त । भृजी, भर्जते अत्र 'पुगन्त' इति गुणः । बभृजे । भर्जिता-भर्जिष्यते-भर्जताम्-
अभर्जत-भर्जत-भृजिषीष्ट-अभर्जिष्ट-अभर्जिष्यत । एजृ-भ्रेजृ-भ्राजृ = दीप्तौ । एजते-

सुब्धा-पुब्धातु (नामधातु), 'ष्ठिप्' धातु तथा 'ष्वक्' धातु सम्बन्धी षकारको सत्त्व नहीं हो

आजते । वभ्राजे ॥ वेष्ट वेष्टने । वेष्टते । विवेष्टे ॥ चेष्ट चेष्टायाम् । चेष्टते । चिचेष्टे । स्फुट विकसने । स्फोटते । पुस्फुटे ॥ दुवेष्ट कम्पने । वेपते ॥ कपि चलने । कम्पते ॥ भिक्ष भिक्षायामलाभे लाभे च । भिक्षते । विभिच्छे ॥ दीक्ष मौण्ड्येज्यो-पनयननियमव्रतादेशेषु । दीक्षते । दिदीक्षे ॥ भाष व्यक्तायां वाचि । भाषते । वभाषे । वर्ष स्नेहने । वर्षते । ववर्षे । ईह चेष्टायाम् । ईहते । ईहान्चक्रे ॥ गर्ह गल्ह कुत्सायाम् । गर्हते । गल्हते ॥ काश्ट दीप्तौ । काशते । ऊह वितर्के । ऊहते । ऊहान्चक्रे । कथम्—‘अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः’ इति ? । अनुदात्तेत्त्वलक्षण-

अेजते-आजते । एजाञ्चक्रे (इजादेशेति आम्), विभ्रेजे-वभ्राजे । एजिता-भ्रेजिता-आजिता । एजिप्यते-भ्रेजिप्यते-आजिप्यते । एजताम्-भ्रेजताम्-आजताम् । एजत-अभ्रेजत-अआजत । एजेत-भ्रेजेत-आजेत । एजिपीष्ट-भ्रेजिपीष्ट-आजिपीष्ट । ऐजिष्ट-अभ्रेजिष्ट-अआजिष्ट । ऐजिप्यत-अभ्रेजिप्यत-अआजिप्यत । वेष्ट = वेष्टने । वेष्टते-वि-वेष्टे-वेष्टिता-वेष्टिप्यते-वेष्टताम्-अवेष्टत-वेष्टेत-वेष्टिपीष्ट-अवेष्टिष्ट-अवेष्टिप्यत । चेष्ट = चेष्टायाम् । चेष्टते-चिचेष्टे-चेष्टिता-चेष्टिप्यते-चेष्टताम्-अचेष्टत-चेष्टेत-चेष्टिपीष्ट-अचेष्टिष्ट-अचेष्टिप्यत । स्फुट = विकसने-‘पुगन्त’ इति गुणः स्फोटते । पुस्फुटे (शर्पवाः खयः), स्फोटिता-स्फोटिप्यते-स्फोटताम्-अस्फोटत-स्फोटेत-स्फुटिपीष्ट-अस्फोटिष्ट-अस्फोटिप्यत । दुवेष्ट = कम्पने । वेपते-विवेपे-वेपिता-वेपिप्यते-वेपताम्-अवेपत-वेपेत-वेपिपीष्ट-अवेपिष्ट-अवेपिप्यत । कपि-चलने । इद्विस्वान्नुम् कम्पते-चकस्पे-कस्पिता-कस्पिप्यते-कम्पताम्-अकम्पत-कम्पेत-कस्पिपीष्ट-अकस्पिप्यत । भिच्छ-भिच्छते-विभिच्छे-भिच्छिता-भिच्छिप्यते-भिच्छताम्-अभिच्छत-भिच्छेत-भिच्छिपीष्ट-अभिच्छिष्ट-अभिच्छिप्यत । दीक्ष-दीक्षते-दिदीक्षे-दीक्षिता-दीक्षिप्यते-दीक्षताम्-अदीक्षत-दीक्षेत-दीक्षिपीष्ट-अदीक्षिष्ट-अदीक्षिप्यत । भाष-भाषते-वभाषे-भाषिता-भाषिप्यते-भाषताम्-अभाषत-भाषेत-भाषिपीष्ट-अभाषिष्ट-अभाषिप्यत । वर्ष-स्नेहने वर्षते-ववर्षे व-वर्षिता-वर्षिप्यते-वर्षताम्-अवर्षत-वर्षेत-वर्षिपीष्ट-अवर्षिष्ट-अवर्षिप्यत । ईह-ईहते-ईहान्चक्रे-ईहिता-ईहिप्यते-ईहताम्-ऐहत-ईहेत-ईहिपीष्ट-ऐहिष्ट-ऐहिप्यत । गर्ह-गल्ह = कुत्सायाम् । गर्हते-गल्हते । जगर्हे-जगल्हे । गर्हिता-गल्हिता । गर्हिप्यते-गल्हिप्यते । गर्हताम्-गल्हताम् । अगर्हत-अगल्हत । गर्हेत-गल्हेत । गर्हिपीष्ट-गल्हिपीष्ट । अगर्हिष्ट-अगल्हिष्ट । अगर्हिप्यत-अगल्हिप्यत । काश्ट = दीप्तौ । काशते-चकाशे-काशिता-काशिप्यते-काशताम्-अकाशत-काशेत-काशिपीष्ट-अकाशिष्ट-अकाशिप्यत । ऊह = वितर्के । ऊहते-ऊहान्चक्रे-ऊहिता-ऊहिप्यते-ऊहताम्-औहत-ऊहेत-ऊहिपीष्ट-औहिष्ट-औहिप्यत । कथमिति । ‘अनूक्तमप्यूहति पण्डितो जनः’ अत्र श्लोकपङ्क्तौ ऊहवितर्केऽस्य धातोरनुदात्तेत्वेनात्मनेपदत्वात्कथम् ‘ऊहति’

मात्मनेपदमनित्यम् । अनुदात्तेतश्चक्षिडो ङित्करणज्ज्ञापकात् । तेन 'उदयति यदि भानुः'—'स्फायन्निर्मोकसन्धि'रित्यादि सिद्धमित्याहुः ॥ अय गतौ । अयते ॥ उपसर्गस्याऽयतौ । ८।२।१९। अयतावुपसर्गरेफस्य लत्वम् । प्लायते । पलायते । दयायासश्च । ३।१।३७। एभ्य आम्लिटि । अयाञ्चक्रे । अयिता । अयिष्यते । अय-

इत्युक्तम् ? 'ऊहते' इत्यस्यैव सम्यक्त्वादिति चेन्न । चक्षिड् धातोरपि अनुदात्तेत्वेनैवात्मनेपदे सिद्धे पुनरपि तदर्थं ङित्करणं व्यर्थं, तदेव व्यर्थं सत् परिभाषां ज्ञापयति 'अनुदात्तेत्त्वप्रयुक्तमात्मनेपदमनित्यं भवति' अतः 'ऊह' धातोरपि अनुदात्तेत्त्वप्रयुक्तत्वेन तस्य आत्मनेपदस्यानित्यत्वं स्पष्टमेव । अतः आत्मनेपदाभावे परस्मैपदे सति 'ऊहति' इत्यपि साधुत्वेन श्लोके तत्पाठान्न दोष इति भावः । ज्ञापकत्वञ्च=वाक्यचतुष्टयत्वम्—(१) आदौ वैयर्थ्यम् । (२) पश्चाद्वाक्यान्तरकल्पना । (३) स्वांशे चरितार्थत्वम् । (४) अन्यत्र फलमिति । चक्षिडः ङित्करणं ज्ञापकं कथमिति चेत् । चक्षिड् धातोरनुदात्तेत्वात्तेनैवात्मनेपदे सिद्धे पुनरपि आत्मनेपदार्थं ङकारग्रहणं व्यर्थमिति आदौ वैयर्थ्यसिद्धिः । तदनु ङकारग्रहणस्य वैयर्थ्यात्कल्प्यते अनुदात्तेत्त्वप्रयुक्तमनित्यमिति वाक्यान्तरकल्पनासिद्धिः । ततः परमनुदात्तेत्त्वप्रयुक्तात्मनेपदस्यानित्यत्वेनात्मनेपदे अग्राप्ते आत्मनेपदविधानार्थं चक्षिडः ङित्करणं चरितार्थमिति स्वांशे चरितार्थत्वसिद्धिः । अनुदात्तेत्त्वप्रयुक्तात्मनेपदस्य अनित्यत्वे सिद्धे 'अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः' 'उदयति यदि भानुः' इत्यत्र ऊह धातोः अय धातोश्चानुदात्तेत्वादात्मनेपदाभावेऽपि न हतिः । तेनात्मनेपदाभावेऽपि एते प्रयोगाः साधव एव । तथाच 'स्फायन्नित्यत्रापि अनुदात्तेत्वाच्छान्नाच्चाभाव्यम् । न तु शत्रा । किन्तु अनुदात्तेत्त्वप्रयुक्तात्मनेपदस्यानित्यत्वेन शत्रुप्रत्यये सत्यपि न बाधः । तेन आत्मनेपदाभावे परस्मैपदं सिद्धमिति 'ऊहति, उदयति, स्फायन्' इत्यादौ ज्ञापकफलं सिद्धमिति अन्यत्र फलसिद्धिः इत्यलम् । अयाञ्चक्रे । अय् धातोः 'परोक्षे लिट्' इति लिटि कृते 'दयायासश्च' इत्यामि कृते 'अय् आम् लिट्' इति स्थिते 'आमः' इति लिटो लुकि, 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परके कृञि प्रयुक्ते, लिटो लः स्थाने ते, तस्य स्थाने 'लिटस्तद्वयोरेशिरेच्' इति एशि, शस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'अयाम् कृ कृ ए' इति स्थिते 'पूर्वोऽभ्यासः' इति अभ्यासत्वे 'उरत्' इति अभ्यासऋवर्णस्याकारे 'उरण् रपरः' इति रपरे च जाते 'हलादिः शेषः' इति कावशिष्टे 'कुहोश्नुः' इति कस्य चत्वे 'इको यणचि' इति यणि, 'मोनुस्वारः' इत्यनुस्वारे 'वा पदान्तस्य' इति वा परसवर्णे कृते 'अया-

उपस—'अय्' धातुपरक उपसर्ग सम्बन्धी रेफको लत्व हो ।

दया—दय्-अय् और आस् धातुओंसे 'आम्' प्रत्यय हो 'लिट्' के परे ।

ताम् । आयत् । अयेत् । अयिषीष्ट ॥ विभाषेष्टः । ८।३।७९। इणः परो य इट् ,
ततः परेषां षीध्वलुङ्लिट्ठां धस्य वा ङः । अयिषीद्वम् । अयिषीध्वम् । आयिष्ट ।
आयिद्वम् । आयिध्वम् । आयिष्यत् ॥ द्युत् दीप्तौ । द्योतते । द्युतिस्वाप्योः
सम्प्रसारणम् । ७।४।६७। अभ्यासस्य । द्युते । द्योतिता । द्योतिष्यते । द्योतताम् ।
अद्योतत । द्योतेत । द्योतिषीष्ट । द्युङ्ग्यो लुङि । १।३।९१। द्युतादिभ्यः परस्मैपदं
वा स्याल्लुङि । 'पुषादी'त्यङ् । अद्युतत् । अद्योतिष्ट । अद्योतिष्यत् । एवं—श्विता

अक्रे' इति रूपम् । अयिषीष्ट । अयधातोः 'आशिषि लिङ्लोटौ' इति लिङि इङि
गते, लः स्थाने तादेशे 'लिङः सीयुट्' इति सीयुटि, उटि गते, टित्त्वादाद्यावयवे,
'सुट् तिथोः' इति सुडागमे, उटि गते, टित्त्वादाद्यावयवे 'लिङाशिषि' इति तस्यार्ध-
धातुकत्वे यदागमन्यायेन सीयुटोऽप्यार्धधातुकत्वात् 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' इति
इडागमे सीयुटः सस्य पत्वे, 'लोपो व्योर्चलि' इति यलोपे, सुटः सस्यापि 'आदेशप्र-
त्यययोः' इति पत्वे 'प्लुना प्लुः' इति तकारस्य प्लुत्वे 'अयिषीष्ट' इति रूपम् । द्योतते ।
द्युतधातोः 'वर्तमाने लट्' इति लटि, अटि गते, लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने ते,
तस्य 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकत्वे 'कर्तरि शप्' इति शपि, शपयो-
रित्संज्ञायां लोपे च, शित्त्वात् शपोऽकारस्यापि सार्वधातुकत्वे 'पुगन्तलबूपधस्य
च' इति द्युत् उकारस्य गुणे 'द्योतत' इति जाते 'टित् आत्मनेपदानां ढेरे' इति ढेरेत्वे
च कृते 'द्योतते' इति । द्युते । द्युतधातोः 'परोक्षे लिट्' इति लिटि, इटि गते, लः
स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तादेशे 'लिट् च' इत्यार्धधातुकत्वे 'लिटस्तझयोरेशिरेच्'
इति तस्य स्थाने एशि कृते शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति
द्वित्वे 'द्युत्, द्युत् ए' इति स्थिते 'पूर्वोऽभ्यासः' इति अभ्यासत्वे 'द्युतिस्वाप्योः सम्प्र-
सारणम्' इति अभ्यासयकारस्य इकाररूपे सम्प्रसारणे जाते 'सम्प्रसारणाच्च' इति
द्युत् उकारस्य पूर्वरूपे 'दित् द्युत् ए' इति जाते 'हलादिः शेषः' इति तलोपे मिलित्वा
'द्व्युते' इति रूपम् । अद्युतत् । द्युत् धातोर्लुङि, उङि गते, लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचन-
विवक्षायां 'द्युङ्ग्यो लुङि' इति परस्मैपदसञ्ज्ञकतिपि, 'द्युत् ति' इति स्थिते 'च्लि लुङि'
इति च्लौ, तस्य 'च्लेः सिचि' इति सिचि प्राप्ते तम्वधाधित्वा 'पुषादिद्युताद्यलुदितः
परस्मैपदेषु' इति अडादेशे ङस्येत्संज्ञायां लोपे च ङित्त्वाद् गुणाभावे 'लुङ्लङ्लुङ्च-
ङुदात्तः' इत्यस्याडागमे 'इतश्च' इति तिप् इकारस्य लोपे 'अद्युतत्' इति रूपम् ।
अद्युतत्, अद्युतताम्, अद्युतन् । अद्युतः, अद्युततम्, अद्युतत । अद्युतम्, अद्युताव-

विभा—'इण्' से पर जो 'इट्' उससे पर जो षीध्व लुङ्-लिट् सम्बन्धी धकार उसको
ढकार हो, विकल्पसे । —'द्युत्' धातु और णिजन्त 'स्वप्' के अभ्यासको सम्प्रसारण
हो । द्युङ्ग्यो—द्युतादिसे परस्मैपद हो, लुङ्को परे विकल्पसे ।

१४ म० कौ०

वर्णे । जिमिदा स्मेहने । जिष्विदा स्नेहनमोचनयोः । मोहनयोरित्येके । जिष्विदा चेत्येके । रुच दीप्तावभिप्रीतौ च ॥ घुट परिवर्तने ॥ शुभ दीप्तौ । शुभ सञ्चलने । णभ तुभ हिंसायाम् । संसु ध्वंसु भंसु अवसंसने । ध्वंसु गतौ च । स्रम्भु विश्वासे । वृतु वर्तने । वर्तते । ऋदुपधेभ्यो लिटः क्त्वं गुणात्पूर्वविप्रतिषेधेन । वृते । वर्तिता । वृद्ध्यः स्यसनोः । १।३।६२। वृतादिभ्यः पञ्चभ्यो वा परस्मैपदं, स्ये, सनि च । न वृद्ध्यश्चतुर्भ्यः । ७।२।५९। वृतु वृधु-श्वधु-स्यन्दूभ्यः सादेरार्द्धधातुकस्येण स्यात्तज्जानयोरभावे । वत्स्यति । वर्तिष्यते ।

अद्युताम । इति रूपाणि । आत्मनेपदपक्षे । अद्योतिष्ठ । श्विता वर्णे इति । श्वेतवर्णकरणे श्वेतीभवने वेत्यर्थः । जिष्विदा । 'अत्र 'आदिर्जिडुडवः' इति जेरित्संज्ञा ज्ञेया । आकारस्यापीत्संज्ञा । पकारस्य 'धात्वादेः पः सः' इति सत्वमपि बोध्यम् । रुच दीप्तावभिप्रीतौ चेति । अभिप्रीतिः—प्रीतिविषयीभवनम् । दीप्तौ—रोचते सूर्यः इत्युदाहरणम् । प्रकाशते इत्यर्थः । अभिप्रीतौ—हरये रोचते भक्तिः इत्युदाहरणम् । वर्तते वृत् धातोः 'वर्तमाने लट्' इति लटि, लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने ते कृते, तस्य 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकत्वे 'कर्तरि शप्' इति शपि, शपयोरित्संज्ञायां लोपे च, शित्वात्तस्यापि सार्वधातुकत्वे, 'पुगन्तलङ्घूपधस्य च' इति वृत ऋकारस्य गुणे अकारे जाते 'उरण् रपरः' इति रपरे च जाते 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे च कृते मिलित्वा 'वर्तते' इति रूपम् । वृद्ध्यः स्यसनोरिति । बहुवचनाद् वृतादिभ्य इति गम्यते । 'शेषात्कर्तरि' इत्यतः परस्मैपदमित्यनुवर्तते, 'वा क्यषः' इत्यतो वेति च तदाह—वृतादिभ्य इति । न वृद्ध्य इति । 'सेऽसिचि' इति सूत्रात् से इति, 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इत्यत आर्धधातुकस्येड् इति चानुवर्तते । तदाह—सकारादेरार्धधातुकस्येति । वत्स्यति । वृत् धातोर्लृटि, अनुबन्धलोपे 'वृत् ल्' इति स्थिते 'वृद्ध्यः स्यसनोः' इति वा परस्मैपदे प्रथमपुरुषैकवचने तिपि, पगते 'स्यतासी लृलुटोः' इति स्ये स्यस्यार्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इडागमे प्राप्ते 'न वृद्ध्यश्चतुर्भ्यः' इति तस्य निषेधे कृते लघूपधगुणे 'उरण् रपरः' इति रपरे 'वत्स्यति' इति । वर्तिष्यते । आत्मनेपदपक्षे रूपम् ।

ऋदुप—ऋदुपध (ह्रस्व ऋकारोपध) धातुओंसे पर जो लिट् (लिट्स्थानिक आदेश) उसको पूर्वविप्रतिषेधेन अर्थात् गुणप्राप्तिसे पूर्व ही 'क्त्वं' हो । वृद्ध्यः—वृतादि पांच धातुओंसे परस्मैपद हो, 'स्य' तथा 'सन्' के परे, विकल्पसे ।

नोटः—'वृतु-वृधु-श्वधु-स्यन्दू-कृपू-' ये पांच धातु वृतादि है ।

न वृ—वृतादि चार धातुओंसे पर सादि आर्धधातुकको 'इट्' नहीं हो, 'तड्' और 'आन' के अभावमें ।

वर्तताम् । अवर्तत । वर्तत । वर्तिषीष्ट । अवृत्तत् । अवर्तिष्ट । अवत्स्यत् । अवर्ति-
ष्यत । एवं—वृधु वृद्धौ । शृधु शब्दकुत्सायाम् ॥ स्यन्दू प्रसवणे । स्यन्दते ।
सस्यन्दे । सस्यन्दिषे । सस्यन्त्से । सस्यन्दिध्वे । सस्यन्ध्वे । स्यन्दिता । स्यन्ता ।
'वृद्धयः स्यसनोरिति' परस्मैपदे कृते ऊदिल्लक्षणमन्तरङ्गमपि विकल्पं बाधित्वा चतु-
र्ग्रहणसामर्थ्यान्न वृद्धय इति निषेधः । स्यन्त्स्यति । स्यन्दिष्यते । स्यन्त्स्यते ।
स्यन्देत । स्यन्दिषीष्ट । स्यन्त्सीष्ट । 'द्युद्धयो लुङी'ति परस्मैपदपक्षेऽङ् । नलोपः ।
अस्यदत् । अस्यन्दिष्ट । अस्यन्त । अस्यन्त्साताम् । अस्यन्त्सत । अस्यन्त्थाः ।
अस्यन्दध्वम् । अस्यन्त्सि । अस्यन्त्स्यत् । अस्यन्दिष्यत । अस्यन्त्स्यत । अनुविप-
र्यभिनिभ्यः स्यन्दतेरप्राणिषु । ८।३।७२। एभ्यः परस्याप्राणिकर्तृकस्य स्यन्दतेः
सस्य षो वा । अनुष्यन्दते, अनुस्यन्दते वा जलम् । अप्राणिषु किम् ? अनुस्यन्दते

अवृत्तत् । वृत्धातोर्लुङि अनुबन्धलोपे लः स्थाने 'द्युद्धयो लुङि' इति वा परस्मैपदे
तिपि अनुबन्धलोपे, च्लौ, 'पुषादिद्युताद्यलुङितः परस्मैपदेषु' इति च्लेरङि अङ्ग-
स्याडागमे 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे 'अवृत्तत्' इति रूपम् । 'अवर्तिष्ट' इति ।
अत्र लुङस्ते, च्लौ, च्लेः सिचि, इचि गते सिचः सकारस्येडागमे गुणे अडागमे सिचः
सकारस्य षत्वे ष्टुत्वे च रूपम् । अवत्स्यत् । वृत्धातोर्लुङि कृते 'स्यतासी लृलुटोः'
इति स्ये 'वृद्धयः स्यसनोः' इति परस्मैपदत्वे लृटो लस्य तिपि च कृते 'वृत् स्य
ति' इति जाते स्यस्यार्धधातुकत्वादिति प्राप्ते 'न वृद्धयश्चतुर्भ्यः' इति तस्य इटो
निषेधे 'पुगान्तलघूपधस्य च' इति लघूपधगुणे 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे
अडागमे 'अवत्स्यत्' इति रूपम् । षत्वे लुङस्ते स्ये इटि गुणे षत्वे अटि च कृते
'अवर्तिष्यत' इति रूपम् । वृधु = वृद्धौ । वर्धते । ववृधे । वर्धिता । वत्स्यति—वर्धि-
ष्यते । वर्धताम् । अवर्धत । वर्धेत । वर्धिषीष्ट । अवृधत्—अवर्धिष्ट । अवत्स्यत्—अव-
र्धिष्यत । शृधु = शब्दकुत्सायाम् । शर्धते । शशृधे । शर्धिता—शत्स्यति—शर्धिष्यते ।
शर्धताम् । अशर्धत । शर्धेत । शर्धिषीष्ट, अशृधत्—अशर्धिष्ट । अशत्स्यत्—अश-
र्धिष्यत । स्यन्दू=प्रसवणे । स्यन्दते । सस्यन्दे । स्यन्दिता—स्यन्ता । स्यन्त्स्यति—
स्यन्दिष्यते । स्यन्दताम् । अस्यन्दत । स्यन्देत । स्यन्त्सीष्ट—स्यन्दिषीष्ट ।
अस्यदत्—अस्यन्दिष्ट—अस्यन्त । अस्यन्त्स्यत्—अस्यन्दिष्यत—अस्यन्त्स्यत । अनु-
विपर्यभिनिभ्य इति । 'सस्य षः' इत्यनुवर्तते । एभ्य उपसर्गोभ्यः 'परस्य
स्यन्दतेः सस्य षत्वं स्यादप्राण्यर्थे' गम्ये इति भावः । अनुष्यन्दत इति । स्यन्दू-
'धातोर्लुङि तङि शपि टेरत्वे 'अनुविपर्यभिनिभ्यः' इति षत्वे 'अनुष्यन्दते' इति

अनु—'अनु-वि-परि-अभि-नि' इन उपसर्गोपे पर अप्राणिकर्तृक 'स्यन्द' धातु

हस्ती ॥ कृपू सामर्थ्ये । कृपो रो लः ८।२।१८। कृपः उः रः लः इति च्छेदः ।
 कृपे रेफस्य लः । कृपेऋकारस्यावयवो यो रः = रेफसदृशस्तस्य च लः = लकार-
 सदृशः स्यात् । कल्पते । चक्लुपे । चक्लुपिषे । चक्लुप्से । इत्यादि 'स्यन्दि' वत् ।
 लुटि च क्लृपः । १।३।९३। लुटि, स्यसनोश्च क्लृपेः परस्मैपदं वा । तासि च
 क्लृपः । ७।२।६०। क्लृपेः परस्य तासेः, सादेरार्द्धधातुकस्येण, तडानयोरभावे ।
 कल्तासि । कल्पितासे । कल्तासे । कल्पस्यति । कल्पिष्यते । कल्पस्यते । कल्पिषीष्ट ।

सिध्यति । पत्वाभावे तु अनुस्यन्दते इति सिद्धमेवेति भावः । कृपो रो ल इति ८-र
 इति षष्ठी अत आह-रेफस्येति । कल्पत इति । कृपू सामर्थ्ये अस्माद्धातोः लुटि तडि शपि
 'पुगन्त' इति गुणे रपरत्वे 'कृप्-अ-त' इति जाते 'कृपो रो लः' इति रस्य लत्वे ढेत्वे
 'कल्पते' इति सिध्यति । चक्लुपे-चक्लुपाते-चक्लुपिरे । चक्लुपिपे-चक्लुप्से अत्र
 'दीर्घोदित्वाद्देहतेन रूपद्वयम् । चक्लुपाथे-चक्लुपिध्वे । चक्लुपे-चक्लुपिवहे-चक्लुप्यहे ।
 चक्लुपिमहे-चक्लुप्महे । लुटिचेति । वृद्धयः स्यसनोः इत्यतः स्यसनोरित्यनुपज्यते ।
 परस्मैपदमित्यप्यनुवर्तते । क्लृपः इति पञ्चमी । तासि च क्लृपः इति । क्लृप इति
 पञ्चमी अत आह-क्लृपः परस्येति । कल्तासि । कृप्धातोर्लुटि आत्मनेपदे प्राप्ते तद्वा-
 धित्वा 'लुटि च क्लृपः' इति वैभाषिके परस्मैपदे सिपि तासि 'स्वरति' इति वैभाषि-
 केडागमे प्राप्ते 'तासि च क्लृपः' इति तासि परत्वे इडागमाभावे 'पुगन्त' इति
 गुणे रपरत्वे 'कृपो रो लः' इति लत्वे 'कल्तासि' इति सिध्यति । आत्मनेपदे तु
 थासि 'थासः से' इति 'से' आदेशे तासि 'स्वरति' वेटि 'कल्पितासे' । इडभावे
 'कल्तासे' इति रूपद्वयमपि साधु । कल्पस्यतीति । कृप्धातोर्लुटि 'लुटि च क्लृपः'
 इति चकारात् स्ये परतः परस्मैपदे तिपि 'स्यतासी' इति स्यप्रत्यये 'स्वरति' इति वेटि
 प्राप्ते 'तासि च क्लृपः' इति इडागमनिषेधे 'पुगन्त' इति गुणे रपरत्वे 'कृपो रो लः'
 इति रस्य लत्वे 'कल्पस्यति' इति रूपम् । परस्मैपदाभावे 'कल्पस्य-ते' इति स्थिते
 'स्वरति' इति वेटि कल्पिष्यते-कल्पस्यते' इति रूपद्वयम् । कल्पताम् । अक-
 ल्पत-कल्पेत । कल्पिषीष्टेति । क्लृप् + सी + स् + त इति स्थिते 'स्वरति' इति वेटि
 'पुगन्त' इति गुणे 'कृपो रो लः' इति लत्वे उभयोरपि पत्वे प्लुत्वे 'कल्पिषीष्ट' इति

सम्बन्धी सकारको षत्व हो, विकल्पसे । कृपो—'कृप्' धातु के रेफको लत्व हो तथा
 'कृप्' के ऋकारावयव जो रेफसदृश भाग उसको लकारसदृश आदेश हो । लुटि—क्लृप्
 धातुसे परस्मैपद हो, 'लुट्' 'स्य' और 'सन्' के परे विकल्पसे । तासि—'क्लृप्'
 धातुसे पर 'तास्' और सादि आर्धधातुकको 'इट्' नहीं हो, 'तड्' और 'आन' के
 अभावमें ।

लिङ्सिचावात्मनेपदेषु । १।२।११। इक्समीपादलः परौ झलादी लिङ्, आत्म-
नेपदपरः सिच्चेत्येतौ किंता स्तः । कलृप्सीष्ट । अकलृपत् । अकल्पिष्ट । अकलृप्तम् ।
अकल्पस्यत् । अकल्पिष्यत् । अकल्पस्यत् । इति युतादयः ।

अथात्मनेपदम् ।

दद दाने । ददते । दददे । दददाते । दददिरे । ददिता । ददिष्यते ।
ददताम् । अददत् । ददेत् । ददिषीष्ट । अददिष्ट । अददिष्यत् ॥ त्रपूष् लज्जायाम् ।
त्रपते । तृफलभजत्रपश्च । ६।४।१२२। एषामत एत्वमभ्यासलोपश्च, किति लिटि,
सेटि थलि च । त्रेपे । त्रपिता । त्रप्ता । त्रपिष्यते । त्रप्स्यते । त्रपताम् । अत्र-

रूपं भवति । इडभावे तु—लिङ्सिचाविति । इक्समीपादिति, झलादीति, किदिति
चानुवर्तते । कलृप्सीष्टेति । ‘कृप्-सी-स्-त’ इत्यवस्थायां ‘कृपो रो लः’ इति लृत्वे
‘स्वरतीति’ इडभावे ‘पुगन्त’ इति गुणे प्राप्ते तं ‘लिङ्सिचावात्मनेपदेषु’ इति लिङः
किञ्चेन ‘किङिति च’ इति गुणनिषेधे षत्वे ण्डुत्वे ‘कलृप्सीष्ट’ इति रूपम् । अकलृप-
दिति । कृपधातोः ‘युङ्ग्यो लुङि’ इति लुङि परस्मैपदे तिपि ‘इतश्च’ इतीलोपे ‘पुपादि-
युतादि’ इति च्लेः स्थानेऽङादेशे डित्वेन गुणाभावे ‘अकलृपत्’ इति प्रथमं रूपम् ।
आत्मनेपदे तु ‘अकलृप्+इ+स्+त’ इति जाते ‘पुगन्त’ इति गुणे षत्वे ण्डुत्वे च
‘अकल्पिष्ट’ इति । ‘स्वरति’ इतीडभावे तु ‘अकलृप्+स्+त’ इति स्थिते ‘झलो
झलि’ इति सलोपे ‘अकलृप्त’ इति तृतीयं रूपं भवतीति भावः । अग्रे—अकल्पस्यत्-
अकल्पिष्यत्-अकल्पस्यत्’ इति रूपाण्युद्धानि ।

दद-दाने । दानञ्च—स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकपरस्वत्वोत्पादनमिति यावत् । दददे ।
ददधातोर्लिटस्तादेशस्य एशि, द्वित्वे अभ्यासकार्ये च जाते ‘अत एकहल्मध्ये-
नादेशादेर्लिटि’ इति एत्वेऽभ्यासलोपे, ‘न शसददवादिगुणानाम्’ इति
निषेधात् । तृफलभजत्रपश्चेति । ‘अत एकहल्मध्ये’ इत्यत अत इति, लिटीति चानु-
वर्तते । ‘ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च’ इत्यतः एदिति, अभ्यासलोपश्चेति च, ‘गमहन’
इत्यस्मात् कितीति, ‘थलि च सेटि’ इति सूत्रञ्चानुवर्तते । तदाह—एषामत इति ।
त्रेपे । त्रपधातोर्लिटस्तादेशस्य स्थाने ‘लिटस्तञ्जयोरेशिरेच्’ इति एशि, शगते
‘त्रप् ए’ इति स्थिते ‘लिटि धातोः’ इति द्वित्वे ‘पूर्वोऽभ्यासः’ इत्य-
भ्यासत्वे ‘तृफलभजत्रपश्च’ इति त्रप अकारस्यैत्वे अभ्यासलोपे च कृते मिलि-
त्वा ‘त्रेपे’ इति । त्रपिता । त्रपधातोर्लुटस्तादेशस्य स्थाने डात्वे तासि, डित्वसाम-

लिङ—इक्समीपा ‘हल्’ से पर जो झलादि ‘लिङ्’ और आत्मनेपदपरक ‘झलादि
‘सिच्’ वह कित् हो । तृप्—‘त-फल-भज-त्रप्’ इन धातुओं को एत्वाभ्यासलोप हो,
कित्-लिट्-सेट् थल्के परे ।

पत । त्रपेत । त्रपिषीष्ट । त्रप्सीष्ट । अत्रपिष्ट । अत्रप्त । अत्रपिष्यत । अत्रप्स्यत ॥
 घट चेष्टायाम् । घटते । जघटे । व्यथ भयसञ्चलनयोः । व्यथते । व्यथो लिटि
 । ७।४।६८। व्यथेरभ्यासस्य संप्रसारणं स्याद्लिटि परे । हलादिः शेषापवादः । विव्य-
 थे । प्रथ प्रख्याने । प्रथते । पप्रथे ॥ प्रस विस्तारे । प्रसते । पप्रसे । म्रद मर्दने ।
 म्रदते । स्खद स्खदने । स्खदनं = विद्रावणम् । स्खदते । कप कृपायां, गतौ च ।
 क्रपते । जित्वरा सञ्भ्रमे । त्वरते । दुभ्राजृ दुभ्राशृ दुभ्लाशृ दीप्तौ । भ्राजते ।

ध्यादभस्यापि टेलोपे 'त्रप् त् आ' इति जाते 'स्वरतिसूतिसूयतिधूजूदितो वा' इति
 विकल्पेनेडागमे 'त्रपिता' इति रूपम् । इडागमाभावे 'त्रप्ता' इति । त्रपिषीष्ट । त्रप्धा-
 तोराशिपि लिङ्स्तादेशे तस्यार्धधातुकत्वे सीयुटि, उटि गते 'स्वरतिसूतिसूयतिधू-
 जूदितो वा' इति वा इटि 'सुट्तिथोः' इति तकारस्य सुडागमे 'त्रप् इ सी स् त'
 इति जाते इग्निमित्तके सीयुटः सस्य पत्वे, सीयुट इनिमित्तके सुटः सस्य पत्वे,
 तकारस्य ष्टुत्वे च जाते 'त्रपिषीष्ट' इति रूपम् । इडभावे—'त्रप्सीष्ट' इति । अत्रपिष्ट ।
 त्रप्धातोर्लुङ्गस्ते च्लौ, च्लेः स्थाने सिचि, इचि गते, 'स्वरतिसूति०' इति इडागमे
 अङ्गस्याडागमे पत्वे ष्टुत्वे च 'अत्रपिष्ट' इति रूपम् । अत्रप्त । त्रप्धातोर्लुङ्गस्ते च्लौ
 च्लेः सिचि इचि गते इडभावे अङ्गस्याडागमे च कृते 'अ त्रप् स् त' इति जाते
 'झलो झलि' इति सलोपे 'अत्रप्त' इति रूपम् । घट = चेष्टायाम् । घटते—जघटे-
 घटिता—घटिष्यते—घटताम्—अघटत—घटेत—घटिषीष्ट—अघटिष्ट—अघटिष्यत । व्यथ=भय-
 संचलनयोः । व्यथते । व्यथो लिटीति । अभ्यासस्येति संप्रसारणमिति चानुवर्तते,
 अत आह व्यथेरभ्यासस्येति । विव्यथ इति । व्यथधातोर्लिटि तडि 'लिटि धातोः' इति
 द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' पूर्वस्याभ्यासत्वे हलादिः शेषमपवादत्वाद्वाधित्वा 'व्यथो लिटि'
 इत्यनेन संप्रसारणे 'न संप्रसारणे संप्रसारणम्' इति ज्ञापकात् परस्यैव यकारस्य पूर्व
 संप्रसारणे 'व्-इ-थ्+व्यथ्+त' इति स्थिते 'हलादिः शेषः' इति थलोपे 'लिट-
 स्तद्धयोः' इति तस्थाने एशादेशे विहिते 'विव्यथे' इति । व्यथिता—व्यथिष्यते—व्य-
 थताम्—अव्यथत—व्यथेत—व्यथिषीष्ट—अव्यथिष्ट—अव्यथिष्यत । प्रथ=प्रख्याने=प्रथते-
 पप्रथे—प्रथिता—प्रथिष्यते—प्रथताम्—अप्रथत—प्रथेत—प्रथिषीष्ट—अप्रथिष्ट—अप्रथिष्यत ।
 प्रस=विस्तारे । प्रसते—पप्रसे—प्रसिता—प्रसिष्यते—प्रसताम्—अप्रसत—प्रसेत—प्रसिषीष्ट-
 अप्रसिष्ट—अप्रसिष्यत । म्रद = मर्दने—म्रदते—मम्रदे—म्रदिता—म्रदिष्यते—म्रदताम्-
 अम्रदत—म्रदेत—म्रदिषीष्ट—अम्रदिष्ट—अम्रदिष्यत । स्खद=स्खदने । स्खदते—चस्खदे-
 स्खदिता—स्खदिष्यते—स्खदताम्—अस्खदत—स्खदेत—स्खदिषीष्ट—अस्खदिष्ट—अस्खदिष्यत ।
 क्रप=कृपायां गतौ च । क्रपते—चक्रपे—क्रपिता—क्रपिष्यते—क्रपताम्—अक्रपत—क्र-
 पेत्—क्रपिषीष्ट—अक्रपिष्ट—अक्रपिष्यत । जित्वरा=सञ्भ्रमे = त्वरते—तत्त्वरे—स्वरिता—स्वरि-

व्यथो—व्यथ् धातुके अभ्यासको संप्रसारण इति 'लिट्' के परे ।

फणां च सप्तानाम् । ६।४।१२५। फण्-राजृ-भ्राजृ-भ्राशृ-भ्लाशृ-स्यमु-स्वन्—
एषां वा एत्वाभ्यासलोपो स्तः, किति लिटि, सेटि थलि च । भ्रेजे । वभ्राजे । 'वा
भ्राशे' ति श्यन्वा । भ्राश्यते । भ्राशते । भ्रेशे । वभ्राशे । भ्लाश्यते । भ्लाशते ।
भ्लेशे । वभ्लाशे । रमु क्रीडायाम् । रमते । रेमे । रन्ता । जभी जृभि गात्र-
विनामे । रधिजभोरचि । ७।१।६१। रधिजभोरचि नुम् । जम्भते । जजम्भे ।
जृम्भते । जजृम्भे ॥ इत्यात्मनेपदिनः ।

अथोभयपदिनः

श्रिञ् सेवायाम् । श्रयति । श्रयते । शिश्राय । शिश्रिये । श्रयितासि । श्रयि-

प्यते-स्वरताम्-अस्वरत-त्वरत । त्वरिषीष्ट-अस्वरिष्ट-अत्वरिष्यत । दुभ्राजृ-दुभ्राशृ-
दुभ्लाशृ-दीप्तौ । आजते । आश्यते-आशते [वाभ्राशभ्लाश इति श्यन्विकल्पः, पच्चे शप्]
भ्लाश्यते-भ्लाशते । फणां च सप्तानामिति । फणामिति पष्ठीबहुवचनम् । एत्वाभ्यासलोपो
कितिलिटि इति चानुवर्तते । भ्रेज इति । दुभ्राजृ धातोर्नुबन्धलोपे लिटि तडि 'लिटि धा-
तो'रिति द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे 'फणां च सप्तानाम्' इति एत्वाभ्यासलोपे 'लिटस्त-
स्यो'रिति एशादेशे 'भ्रेजे' इत्यस्य सिद्धिः । असति एत्वाभ्यासलोपे हलादिः शेषे
अभ्यासस्य जश्त्वेन भस्य वच्चे कृते 'वभ्राजे' इति रूपम् । भ्रेज इति । पूर्ववत् 'फणां च
सप्तानाम्' इत्येत्वाभ्यासलोपे 'भ्रेशे' इति रूपम् । तदभावे च वभ्राशे । भ्लेश इति ।
अत्रापि 'फणां च सप्तानाम्' इति एत्वाभ्यासलोपेन 'भ्लेशे' इति रूपम् । तदभावे
'वभ्लाशे' इति रूपम् । आजिता-आशिता-भ्लाशिता । आजिप्यते-आशिप्यते ।
भ्लाशिप्यते । आजताम्-आश्यताम्-आशताम्-भ्लाश्यताम्-भ्लाशताम्-अआजत-
अआश्यत-अआशत-अभ्लाश्यत-अभ्लाशत । आजेत-आश्येत-आशेत-भ्लाश्येत-
भ्लाशेत । आजिषीष्ट-आशिषीष्ट-भ्लाशिषीष्ट-अआजिष्ट-अआशिष्ट-अभ्लाशिष्ट । अआ-
जिष्यत-अआशिष्यत-अभ्लाशिष्यत । रमुधातोः-रमते । रेमे-एत्वाभ्यासलोपो । रन्ता-
रंस्यते-रमताम्-अरमत-रमेत-रंसीष्ट-अरंस्त-अरंस्यत । रधिजभोरचि इति । नुमित्यनु-
वर्तते । रधिजभोर्धात्वोर्नुमागमः स्यात् अचि परत इत्यर्थः । जभी-जृभि-गात्रवि-
नामे । गात्रस्य विनामः वक्रभावः । जम्भते इति । जभीधातोर्लटि तडि 'रधिजभोरचि'
इति नुमि मित्त्वादन्यादचः परत्वेऽनुस्वारे परसवर्णे टेरेत्वे कृते 'जम्भते' इत्यस्य
सिद्धिः । जजम्भे-जम्भिता-जम्भिष्यते-जम्भताम्-अजम्भत-जम्भेत-जम्भिषीष्ट-
अजम्भिष्ट-अजम्भिष्यत । जृभि-जृम्भते-जजृम्भे-जृम्भिता-जृम्भिष्यते-जृम्भताम्-
अजृम्भत-जृम्भेत-जृम्भिषीष्ट-अजृम्भिष्ट-अजृम्भिष्यत । इत्यात्मनेपदिप्रक्रिया ।

शिश्राय । श्रिधातोः 'परोच्चे लिट्' इति लिटि, लिटो लः स्थाने कट् गामिक्रियाफ-

फणा—फणादि सात धातुओंको भी एत्वाभ्यास लोप हो, कित्-लिट्-सट्
थलके परे । रधि—'रध्' और 'जम्' धातुको नुमागम हो, अजादि प्रत्ययके परे ।

तासे । अयिष्यति । अयिष्यते । अयतु । अयताम् । अश्रयत् । अश्रयत । अयेत् । अयेत ।
 श्रीयात् । अयिषीष्ट । चङ् । अशिश्रियत् । अशिश्रियत । अश्रयिष्यत् ॥ अश्रयिष्यत ॥
 भृञ् भरणे । भरति । भरते । वभार । वभ्रतुः । वभ्रुः । वभर्थ । वभृव । वभृम ।
 वभ्रे । वभृषे । भर्तासि । भर्तासे । भरिष्यति । भरिष्यते । भरतु । भरताम् ।
 अभरत् । अभरत । भरेत् । भरेत । भ्रियात् । उश्च ॥ ११२॥ १२॥ ऋवर्णात्परौ झला-

लाभावे प्रथमपुरुषैकवचने तिपि, परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणत्त्वमाः' इति तिपो णलि णकारस्य लकारस्य चेत्सञ्ज्ञायां लोपे च 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'शि श्रि अ' इति जाते 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इति 'शि' अवशिष्टे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'एचोऽयवायावः' इत्यादेशे 'शिश्रय अ' इति जाते 'अत उपधायाः' इत्युपधाकारस्य वृद्धौ 'शिश्राय' इति । अशिश्रियत् । श्रिधातोर्लुङ्स्तिपि 'च्लि लुङि' इति च्लौ 'णिश्रिद्रुसुभ्यः कर्तरि चङ्' इति च्लेः स्थाने चङि, चकारस्य ङकारस्य चेत्सञ्ज्ञायां लोपे च कृते, 'चङि' इति द्वित्वे, अभ्यासत्वे, अभ्यासकार्ये च कृते 'शि श्रि अ ति' इति जाते 'इतश्च' इति तिप इकारस्य लोपे, 'लुङ्लङ्लुङ्चवद्बुदात्तः' इति अङ्गस्याङागमे 'अचि श्रुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवडौ' इति इयङि 'अशिश्रियत्' इति रूपम् । अशिश्रियत । श्रिधातोर्लुङ्स्ते, च्लौ 'णिश्रिद्रुसुभ्यः कर्तरि चङ्' इति च्लेश्चङि, द्वित्वे, अभ्यासकार्ये, अङागमे, 'अ शि श्रि अ त' इति स्थिते 'अचि श्रुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवडौ' इति इयङि, 'अशिश्रियत' इति रूपम् । भरति । ञिवाद्भयपदम् । तत्र कर्तृगामिक्रियाफलाभावे भृधातोः 'वर्तमाने लट्' इति लटि, लटो लः स्थाने 'तित्सस्झि०' इत्यादिना प्रथमपुरुषैकवचने तिपि, शपि, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे अकारे जाते 'उरण् रपरः' इति रपरे 'भरति' इति रूपम् । कर्तृगामिक्रियाफले तु भृधातोर्लटस्ते शपि गुणे रपरे 'दित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे च कृते, 'भरते' इति रूपम् । वभार । भृधातोः 'परोच्चे लिट्' इति लिटि, प्रथमपुरुषैकवचने परस्मैपदसञ्ज्ञके 'तित्सस्झि०' इत्यादिना तिपि, तिपः स्थाने 'परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणत्त्वमाः' इति णलि, णस्य लस्य चेत्सञ्ज्ञायां लोपे च 'लिङ् च' इत्यार्धधातुकार्धत्वे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्यासत्वे 'उरत्' इत्यभ्यासऋवर्णस्यात्वे 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे च कृते 'भर् भृ अ' इति जाते 'हलादिः शेषः' इति अभवशिष्टे 'अभ्यासे चर्च' इति अभ्यासभस्य वत्वे 'वभृ अ' इति स्थिते 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति ऋकारस्य गुणे अकारे जाते 'उरण् रपरः' इति रपरे भूते 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ कृतायां 'वभार' इति रूपम् । भ्रियात् । भृधातोराशीर्लिङ्स्तिपि पगते 'लिङाशिषि' इति तिप आर्धधातुकार्धत्वे

उश्च—ऋवर्णोस्ते पर जो झलादि 'लिङ्' और आत्मनेपदपरक झलादि 'सिच्' वह कित् हो ।

दी लिङ्-आत्मनेपदपरः सिच्चेत्येतौ कितौ स्तः । शृषीष्ट । शृषीयास्ताम् । अभार्षीत् ।
ह्रस्वादङ्गात् । ८।२।२७ सिचो लोपो, झलि । अभृत । अभरिष्यत् । अभरिष्यत् ॥
हृञ् हरणे । हरति । हरते । जहार । जहतुः । जहुः । जहृथ । जहिव । जहिम ।
जहे । जहिषे । हर्ता । हर्तासि । हर्तासे । हरिष्यति । हरिष्यते ॥ धृञ् धारणे ।
धरति ॥ णीञ् प्रापणे । नयति । नयते । निनाय । डुपचष् पाके । पचति ।
पचते । पपाच । पेचिथ । पपकथ । पेचे । पक्ता । पक्ष्यति । पक्ष्यते । अपक्त ।

‘किदाशिपि’ इति यासुटि, उटि गते यासुटः क्तिवात् गुणाभावे ‘रिङ्शयलिङ्-
ङ्चु’ इति ऋकारस्य रिङि कृते ङस्येत्संज्ञायां लोपे च जाते तिप इकारस्य ‘इतश्च’
इति लोपे ‘स्कोः संयोगाद्योरन्ते च’ इति सलोपे ‘अियात्’ इति । शृषीष्ट ।
शृधातोराशीर्लिङ्गस्ते सीयुटि, उटि गते, यलोपे ‘सुट्तिथोः’ इति तस्य सुडागमे,
उटि गते, ‘भृ सी स् त’ इति जाते ‘एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्’ इति इटो निषेधे
‘उश्च’ इति क्तिवात् ‘सार्वधातुकार्धधातुकयोः’ इति प्राप्तगुणस्य ‘ङिङिति च’ इति
निषेधे, पत्वे पुनः पत्वे ण्टुत्वे च ‘शृषीष्ट’ इति रूपम् । अभार्षीत् । शृधातोर्लुङ्गस्तिपि,
च्लौ, ‘च्लेः सिच्’ इति सिचि, इचि गते, अटि तिप इकारलोपे ‘अ भृ स् त्’ इति
स्थिते ‘सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु’ इति वृद्धौ, रपरत्वे पत्वे च ‘अभार्षीत्’ इति रूपम् ।
ह्रस्वादङ्गादिति । ह्रस्वान्तादित्यर्थः । सिच इति भाष्यम् । ‘झलो झलि’ इत्यतो
झलीति ‘संयोगान्तस्य लोपः’ इत्यतो लोप इति चानुवर्तते इत्यभिप्रेत्य शेषपूरणेन
सूत्रं व्याचष्टे—सिचो लोपो झलीति । जहार । हृधातोर्लिङ्गस्तिपि, तिपो णलादेशे,
अनुबन्धलोपे ‘लिटि धातोरनभ्यासस्य’ इति द्वित्वे ‘पूर्वोऽभ्यासः’ इत्यभ्यासत्वे
‘उरत्’ इति अभ्यासऋवर्णस्याकारे ‘उरण् रपरः’ इति रपरत्वे च कृते ‘हर् ह अ’
इति स्थिते ‘हलादिः शेषः’ इति रलोपे ‘कुहोश्चुः’ इति अभ्यासहस्य झत्वे
‘अभ्यासे चर्च’ इति झस्य जत्वे ‘जह अ’ इति भूते ‘सार्वधातुकार्धधातुकयोः’ इति
गुणे रपरत्वे च ‘अत उपधायाः’ इति वृद्धौ ‘जहार’ इति । पेचिथ । पचधातोर्लिङ्गस्ति-
पि, सिपः थलि, अनुबन्धलोपे, ‘लिटि धातोरनभ्यासस्य’ इति द्वित्वे, अभ्यासत्वे
‘हलादिः शेषः’ इति चलोपे ‘प पच् थ’ इति जाते ‘लिट् च’ इति थल आर्धधातुक-
त्वे ‘आर्धधातुकस्येड्वल्लादेः’ इति इटि प्राप्ते ‘एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्’ इति तस्य
निषेधे क्रादिनियमाच्चित्ये इट्त्वे प्राप्ते भारद्वाजनियमात् वा इटि कृते ‘थलि च सेटि’
इति एत्वेऽभ्यासलोपे च ‘पेचिथ’ इति रूपम् । इडागमाभावपक्षे सेटथलभावात्
एत्वाभ्यासलोपाभावेन ‘प पच् थ’ इत्यत्र ‘चोः कुः’ इति कुत्वे ‘पपकथ’ इति रूपम् ।

इस्वा—ह्रस्वान्त अङ्गसे पर ‘सिच्’ का लोप हो, ‘झल्’ के परे ।

अपक्षाताम् । भज सेवायाम् । भजति । भजते । भेजे । भक्ता । भक्तासि । भक्तासे ।
 भक्षयति । भक्षयते । भजतु । भजताम् । अभक्षात् । अभक्त । अभक्षाताम् । अभ-
 क्षयत् । अभक्षयत् ॥ यज देवपूजा-सङ्गतिकरण-दानेषु । यजति । यजते । लिट्य-
 भ्यासस्योभयेषाम् । ६।१।१७ वच्यादीनां, प्रह्यादीनां चाभ्यासस्य सम्प्रसारणं
 स्याल्लिटि । इयाज । वचिस्वपियजादीनां किति । ६।१।१५। वचिस्वप्योर्यजा-
 दीनां च सम्प्रसारणं, किति ।

पेचे पच्धातोर्लिटस्ते, तस्य स्थाने 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इति एशि, शगते 'लिटि
 धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इति अभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इति
 चलोपे 'पपच् ए' इति भूते 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' इति पचः अकारस्यैच्चे
 अभ्यासलोपे च जाते संयुक्ते कृते सति 'पेचे' इति रूपम् । भेज । भजधातोर्लिटस्ते,
 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इति तस्य स्थाने एशि, शगते 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति
 द्वित्वे अभ्यासत्वे, अभ्यासकार्ये च 'वभज् ए' इति स्थिते 'तफलभजत्रपश्च' इति
 भकारोत्तरवर्तिनः अकारस्यैच्चे अभ्यासलोपे च 'भेजे' इति । अभक्षात् । भजधातोः
 'लुङ्' इति लुङि, लुङः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तिपि पगते 'च्लि लुङि' इति
 च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति सिचि, इचि गते, सिचः सस्यार्धधातुकत्वे, इटि प्राप्ते 'एका-
 च' इति तस्य निषेधे अटि, तिप इकारस्य 'इतश्च' इति लोपे 'अभज् स् त्' इति
 जाते 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति तिपस्तकारस्य ईटि 'वदग्रजहलन्तस्याचः' इति
 वृद्धौ, जस्य कुत्वे, चत्वे, सस्य पत्वे च 'अभाक्षीत्' इति रूपम् । लिट्यभ्यासस्योभयेषाम् ।
 'व्यङः सम्प्रसारणम्' इत्यतः सम्प्रसारणमित्यनुवर्तते । 'वचिस्वपियजादीनाम्' इति
 सूत्रोपात्ताः, ग्रहज्यावयि' इति सूत्रोपात्ताश्च उभयशब्देन गृह्यन्ते । तदाह -पच्या-
 दीनां प्रह्यादीनाञ्चोत् । इयाज । यजधातोः, 'परोचे लिट्' इति लिटि, लिटो लः स्थाने
 प्रथमपुरुषैकवचने तिपि 'परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणत्वमाः' इति तिपो णलि,
 णस्य लस्य चेतसंज्ञायां लोपे च 'यज् अ' इति जाते 'लिट् च' इत्यार्धधातुकत्वेन
 शपोऽभावे, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्यासत्वे
 'हलादिः शेषः' इति जलोपे 'य यज् अ' इति भूते 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्'

लिट्य—वच्यादि और प्रह्यादि धातुओंके अभ्यासको सम्प्रसारण हो, 'लिट्' के परे ।

नोटः—वच्यादिसे 'वचि, स्वपि और यजादि अर्थात् 'यजदेवपूजा०' से लेकर 'उ
 ओ श्वि गतिवृद्धयोः' एतत्पर्यन्त का ग्रहण होता है । जैसा कि—'यजिबपिर्वहिरश्चैव'
 ऐसा मूलमें कहा जायगा । एवं प्रह्यादिसे 'ग्रहि-ज्या-वयि-व्यधि-वष्टि-विचति-वृश्चति-
 पृच्छति-भृजति' का ग्रहण समझना चाहिये ।

वचि—वचि-स्वपि और यजादि को सम्प्रसारण हो, 'कित्' के परे ।

‘यजिर्वपिर्वहिश्चैव वसि-वेज्-व्येज इत्यपि ।

ह्वेज्वदी श्वयतिश्चैव यजाद्याः स्युरिमे नव’ ॥ १ ॥

ईजतुः । ईजुः । इयजिथ—इयष्ट । ईजे । यष्टा । ‘षढोः कः सि’ । यक्ष्यति । यक्ष्यते । यजतु । यजताम् । अयजत् । अयजत । यजेत् । यजेत । इज्यात् । यक्षीष्ट । अयाक्षीत् । अयष्ट ॥ वह प्रापणे । वहति । वहते । उवाह । ऊहतुः ।

इति अभ्यासयकारस्य सम्प्रसारणेन इकारे जाते ‘सम्प्रसारणाच्च’ इति पूर्वरूपे ‘अत उपधायाः’ इति उपधावृद्धौ मिलित्वा ‘इयज’ इति रूपम् । वचि-स्वपीति । वचिस्वपीति इका निर्देशः । सौत्रः सम्प्रसारणाभावः । आदिशब्दो यजिनैव सम्बध्यते, न तु वचिस्वपिभ्याम्, तथा सति हि वच्यादेः स्वप्यादेर्यजादेश्चेत्यर्थः स्यात् । तथा सति पृथक्स्वपिग्रहणं व्यर्थं स्यात्, अदादिगणे लुग्विकरणे ‘वच परि-भापणे’ इत्यारभ्य षष्ठस्य ‘जिप्वप् शये’ इत्यस्य वच्यादिग्रहणेनैव सिद्धेः । तदाह—वचि-स्वप्योर्यजादीनान्वेति । यजादिपदेन—यजिर्वपिर्वहिश्चैव वसिवेज्-व्येज इत्यपि । ह्वेज्वदी श्वयतिश्चैव यजाद्याः स्युरिमे नव ॥ १ ॥ इति नव ग्राह्याः । इयजिथ । यजधातोर्लिटः सिप्, ‘परस्मैपदानां णलतुसुस्थल’ इत्यादिना सिपः स्थाने थलि, ‘लिट् च’ इत्यार्धधातुकत्वे सिपः पिच्चात् ‘असंयोगाल्लिट् कित्’ इति कित्त्वाभावे प्रथमतः ‘लिटि धातोरनभ्यासस्य’ इति द्वित्वे ‘यज यज् थ’ इति जाते ‘लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्’ इति सम्प्रसारणे ‘सम्प्रसारणाच्च’ इति पूर्वरूपे ‘इयज् थ’ इति भूते ‘आर्धधातुकस्येड्वल्लदेः’ इति इटि प्राप्ते, ‘एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्’ इति इटो निपेधे क्रादि-नियमान्नित्यमिति प्राप्ते, भारद्वाजनियमेन वा इडागमे, ‘इयजिथ’ इति रूपम् । इडागमाभावे ‘इयज् थ’ इति स्थिते ‘ब्रश्चभ्रस्जसृजमृजयज’ इत्यादिना षत्वे थस्य ‘प्लुना प्लुः’ इति प्लुत्वे च ‘इयष्ट’ इति रूपम् । ईजे । यजधातोर्लिटस्ते, तस्यार्धधातुकत्वे ‘असंयोगाल्लिट्कित्’ इति कत्वे च ‘वचिस्वपियजादीनां किति’ इति सम्प्रसारणे, ‘सम्प्रसारणाच्च’ इति पूर्वरूपे ‘इज् त’ इति जाते द्वित्वे, अभ्यासत्वे अभ्यासकार्ये च कृते ‘इ इज् त’ इति भूते ‘अकः सवर्णे दीर्घः’ इति दीर्घे ‘लिटस्तश्चयोरेशिरेच्’ इति तस्य स्थाने एशि शगते संयोगे च कृते ‘ईजे’ इति रूपम् । अयाक्षीत् । यजधातोर्लुङ्स्तिपि, च्लौ, च्लेः सिचि, इचि गते सिचः सस्यार्धधातुकत्वे ‘एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्’ इति इडभावे अटि तिपः इकारलोपे ‘अस्तिसिचोऽपृक्ते’ इति तिपस्तस्य ईडागमे ‘अयज् ई त्’ इति जाते ‘ब्रश्चभ्रस्जसृजमृज’ इति जस्य षत्वे ‘षढोः कः सि’ इति षस्य कत्वे कापरकत्वात् सिचः सकारस्य ‘आदेशप्रत्यययोः’ इति षत्वे कृष्णयोगे च जाते ‘वद्वज्रहलन्तस्याचः’ इति वृद्धौ ‘अयाक्षीत्’ इति रूपम् । उवाह—वह धातोर्लिटस्तिपि, तिपो णलि, अनुबन्धलोपे, द्वित्वे, ‘वह वह् अ’ इति भूते ‘पूर्वोऽभ्यासः’ इति अभ्यासत्वे ‘लिट्वभ्यासस्योभयेषाम्’ इति अभ्यासवकारस्य

ऊहुः । उवहिय । 'हो ढः' । झषस्तथोर्धोऽधः । ८।२।४० । ऋषः परयोस्त-
थोर्धः स्यान्न तु दधातेः । 'ष्टुना ष्टुः' । 'ढो ढे लोपः' । ८।३।१३ । ढस्य लोपः स्याद्धे
परे । सहिवहोरोदवर्णस्य । ६।३।११२ । अनयोरवर्णस्य ओत्स्यात् ढलोपे ।
उवोढ । ऊहे । वोढा । वक्ष्यति । वक्ष्यते । वहतु । वहताम् । अवहत् । अवहत ।

सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'हलादिः शेषः' इति हलोपे 'उ वह् अ' इति
स्थिते 'अत उपधायाः' इति उपधावृद्धौ 'उवाह' इति । उवहिय । वह्धातोर्लिटः सिपि,
सिपस्थलादेशे, 'लिट् च' इत्यार्धधातुकत्वेन 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इटि प्राप्ते
'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति इटो निषेधे 'कृसृभृवृ' इति क्रादिनियमादिति प्राप्ते
'उपदेशेऽजत्वतः' इति थल इटो निषेधे 'ऋतो भारद्वाजस्य' इति नियमात् भारद्वाज-
मतेन इटि जाते 'वह् इ थ' इति भूते पित्वात् किदभावेन प्रथमतो द्वित्वे
अभ्यासत्वे 'लिट्वभ्यासस्योभयेषाम्' इति अभ्यासवकारस्य सम्प्रसारणे 'सम्प्रसार-
णाच्च' इति पूर्वरूपे 'हलादिः शेषः' इति हलोपे 'उवहिय' इति रूपम् । झष
स्तथोरिति । झषः इति पञ्चमी । तश्च थ चेति द्वन्द्वः । तकारादकार उच्चारणार्थः ।
तकारथकारयोरिति लभ्यते । अधः इति षष्ठ्यन्तम् । धाधातुभिन्नस्येति लभ्यते ।
तदाह—झषः परयोरिति । सहिवहोः । ढलोप इति । 'ढलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इत्यस्मात्
ढलोपे इत्यनुवृत्तेरिति भावः । उवोढ । वह्धातोर्लिटः सिपि, सिपस्थलि, 'एकाच'
इति इडभावे प्राप्ते क्रादिनियमादिति प्राप्ते 'उपदेशेऽजत्वतः' इति इटो निषेधे थलः
स्थानिवत्त्वेन पित्वात् 'असंयोगाल्लिट् कित्' इति किदभावे, अतः 'वचिस्वपियजा-
दीनां किति' इति न सम्प्रसारणम्, किन्तु 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे
'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्यासत्वे 'लिट्वभ्यासस्योभयेषाम्' इति अभ्यासवकारस्य
सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'हलादिः शेषः' इति ह लोपे 'उ वह् थ'
इति जाते 'हो ढः' इति हस्य ढत्वे 'झषस्तथोर्धोऽधः' इति थकारस्य धकारे 'ष्टुना
ष्टुः' इति ष्टुत्वेन धस्य ढत्वे 'ढो ढे लोपः' इति ढलोपे 'ढलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः'
इति पूर्वस्याणो दीर्घे प्राप्ते तम्बाधित्वा 'सहिवहोरोदवर्णस्य' इति अकारस्य ओत्वे
'उवोढ' इति रूपम् । ऊहे । वह्धातोर्लिटस्ते, 'लिटस्तथोरेशिरेच्' इति तस्य
स्थाने एशि, शगते 'वह् ए' इति स्थिते 'असंयोगाल्लिट् कित्' इति लिटः कित्वात्
'वचिस्वपियजादीनां किति' इति सम्प्रसारणे, 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'लिटि
धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे अभ्यासत्वे, अभ्यासकार्ये सवर्णदीर्घे च 'ऊहे' इति ।
अवाक्षीत् । वह्धातोर्लुङ्स्तिपि, च्लौ, च्लेः सिचि, इचि गते, अटि, तिप इकारलोपे

झषस्तथोः—'झष्' से पर 'त' और 'थ' को 'ध' हो, परन्तु 'दधाति' को नहीं हो ।
ढो ढे लोपः—ढकारका लोप हो, ढकारके परे । सहि वहो—'सह' और 'वह'

वहेत् । वहेत् । उखात् । वक्षीष्ट । अवाक्षीत् । अवोढाम् । अवाक्षुः । अवाक्षीः ।
 अवोढम् । अवोढ । अवाक्षम् । अवाक्ष्व । अवाक्ष्म । अवोढ । अवक्षाताम् । अव-
 क्षत । अवोढाः । अवक्षायाम् । अवोढ्वम् । अवक्षि । अवक्ष्वहि । अवक्ष्महि ।
 अवक्ष्यत् । अवक्ष्यत ॥ डुवप् बीजसन्ताने । बीजसन्तानं = क्षेत्रे विकिरणं, गर्भा-
 धानं च । अयं छेदनेऽपि । केशान्धपति । वपते । उवाप । ऊपे । वप्ता । वप्स्यति ।
 वप्स्यते । उप्यात् । वप्सीष्ट । प्रण्यवाप्सीत् । अवप्त् ॥ वेज् तन्तुसन्ताने ।
 वयति । वयते । वेजो वयिः । २।४।४१। स्याल्लिटि इकार उच्चारणार्थः ।

‘अस्तिसिचोऽपृक्ते’ इति तिपस्तकारस्य ईडागमे ‘अ वह् स् ईत्’ इति स्थिते
 ‘वदव्रजहलन्तस्याचः’ इति वकाराकारस्य वृद्धौ ‘हो ढः’ इति हस्य ढत्वे,
 ‘पढोः कः सि’ इति ढस्य कत्वे कात्परकत्वात् ‘आदेशप्रत्यययोः’ इति सिचः सस्य
 पत्वे क्प्योगे चे जाते संयोगे कृते ‘अवाक्षीत्’ इति । अवोढ वह्धातोर्लुङ्गस्ते च्लौ च्लेः
 सिचि, इचो लोपेऽति, ‘अवह् स् त्’ इति स्थिते ‘होढ’ इति हस्य ढत्वे ‘झलो झलि’ इति
 सलोपे, ‘झस्तथोर्धोऽधः’ इति तस्य धत्वे ‘पुना णुः’ इति धस्य णुत्वेन ढकारे ‘ढो ढे
 लोपः’ इति पूर्वढस्य लोपे ‘सहिवहोरोदवर्णस्य’ इति वकाराकारस्य ओकारे ‘अवोढ’ इति ।
 डुवप्-बीजसन्ताने । वपति-वपते । उवापेति । वप्धातोर्लिटि तिपि णलि ‘लिटि धातोः’
 इति द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे ‘लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्’ इत्यभ्यासवकारस्य संप्रसारणे
 ‘संप्रसारणाच्च’ इति पूर्वरूपे हलादिः शेषेण पकारलोपे ‘अत उपधायाः’ इत्युपधावृद्धौ
 ‘उवाप’ इति रूपं निष्पद्यते । ऊपे इति । वप्धातोर्लिटि तडि ‘लिटस्तज्ञयोः’ इति
 एशादेशे धातोर्द्वित्वे ‘वप्-वप्-ए’ इति स्थिते ‘लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्’ इति
 अभ्यासस्य संप्रसारणे हलादिः शेषे ‘वचिस्वपियजादीनां किति’ इति परस्य वकार-
 स्यापि यजादित्वात्संप्रसारणे सवर्णदीर्घे कृते ‘ऊपे’ इत्यस्य सिद्धिः । वप्ता । वप्स्यति-
 वप्स्यते । वपतु-वपताम् । अवपत्-अवपत । वपेत्-वपेत । किञ्चात्संप्रसारणम्,
 उप्यात्-वप्सीष्ट । अवाप्सीत् । ‘प्रण्यवाप्सीत्’ अत्र ‘नेर्गदन्द’ इति णत्वमूहम् । ‘अ-
 वप्-स्-त्’ इत्यवस्थायां ‘झलो झलि’ इति सलोपे ‘अवप्’ इत्यस्य निष्पत्तिः । अक्-
 प्स्यत्-अवप्स्यत । वेज्-तन्तुसन्ताने—वयनीनि । वेधातोर्लिटि तिपि शपि ‘वयति-
 वयते’ । वेजो वयिः । लिटि वेज्धातोर्वयादेशः स्यादिति सूत्रार्थः । उवायेति । वेज्धातो-
 र्लिटि तिपि णलि ‘वेजो वयिः’ इति वयादेशे लिटिधातोरिति धातोर्द्वित्वे पूर्वस्याभ्या-
 सत्वे ग्रहिज्यादित्वात् ‘लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्’ इति संप्रसारणे हलादिः शेषे ‘उवाय्-
 अ’ इति जाते ‘अत उपधायाः’ इत्यतो वृद्धौ ‘उवाय’ इत्यस्य निष्पत्तिरिति भावः ।

धातुके अवर्णको ‘ओत्’ हो, ढलोप होने पर । वेजो—‘वेज्’ वो ‘वय्’ आदेश हो, ‘लिट्’

उवाय । ग्रहिज्यावयिव्यधिवधिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च । ६।१।१६। चात्किं संप्रसारणम् । इति यकारस्य प्राप्ते—लिटि वयो यः । ६।१।३८। वयो यस्य संप्रसारणं न स्याल्लिटि । ऊयतुः । ऊयुः । वश्चास्या-
न्यतरस्यां किति । ६।१।३९। वयो यस्य वो वा स्यात्किं लिटि । ऊवतुः ।
ऊवुः । वयस्तासावभावात्थलि नित्यमिट् । उवयिथ । स्थानिवत्त्वेन वित्त्वात्तङ् ।
ऊये । ऊवे । वयादेशाभावे । वेजः । ६।१।४०। वेजः संप्रसारणं न स्याल्लिटि ।
ववौ । ववतुः । ववुः । वविथ । ववाथ । ववे । ववाते । वविरे । वाता । ऊयात् ।

आत्मनेपदे तूभयोरपि वकारयोः संप्रसारणे प्राप्ते—ग्रहिज्येति । ग्रहिज्यादिधातूनां कि-
ति ङिति च संप्रसारणं स्यादिति सूत्रार्थः । लिटि वय इति । ग्रहिज्येति प्राप्तं संप्रसारणं
वेज्धातोरादेशभूतस्थयकारस्य न भवति किन्तु यकारस्य यकार एव शिष्यते न वि-
कृतिमापद्यत इति सूत्रार्थः स्पष्टः । ऊयतुरिति । वेज्धातोर्लिटि तसि अनुसि 'वेजो व-
यिः' इति वयादेशे, धातोर्द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे 'लिट्यभ्यास' इत्यभ्याससंप्रसारणे
हलादिः शेषेऽपरस्य वकारस्यापि 'ग्रहिज्या' इति संप्रसारणे पूर्वरूपे सवर्णदीर्घे रूपे
विसर्गे च कृते 'ऊयतुः' इति सिध्यति । ननु 'न संप्रसारणे संप्रसारणम्' इति
ज्ञापकेन परस्यैव यणः पूर्वं संप्रसारणं भवति इति 'ग्रहिज्या' इत्यनेन प्राप्तं
संप्रसारणं यकारस्यैव स्यान्नतु वकारस्येति चेन्न, 'लिटि वयो यः' इति संप्रसारणनिषे-
धवलात् । ऊयुः । वश्चास्येति । किति लिटि परतः आदेशभूतस्य वयो यस्य वो वा
स्यादिति सूत्रार्थः । तेन ऊयतुः—ऊवतुः—ऊयुः—ऊवुः इत्यादीनां सिद्धिः । थलितु पित्वेन
किन्वाभावात् न 'वश्चास्या' इति वादेशः किन्तु यकार एव शिष्यते तेन 'उवयिथ'
इत्येकमेव रूपं परस्मैपदे । आत्मनेपदे तु ऊये, ऊवे । अत्रोभयोरपि वकारयोः संप्रसारणे
दीर्घयकारस्य 'वश्चास्यान्य' इति वैभाषिके वादेशे रूपफलम् । वेजः । वयाद्यादेशा-
भावे केवलं वेज् धातोः प्राप्तं संप्रसारणं न भवत्युभयोरपि पदयोरिति सूत्रार्थः । ववौ-
ववतुः—ववुः—वविथ ववाथ—ववथुः—वव । ववौ—वविव—वविम । ववे—ववाते—वविरे । व-
विपे—ववाथे—वविध्वे । ववे—वविवहे—वविमहे । वाता । वास्यति—वास्यते । वयतु—वय-
ताम् । अवयत्—अवयत । वयेत्—वयेत । ज्यादेति । वेज्धातोर्लिटि तिपि 'इतश्च' इलोपे
'यासुट् परस्मै' इति यासुटि 'वा+यास् त्' इति जाते 'स्कोः' इति सलोपे 'किदा-
शिथि' इति यासुटः कित्वात् 'ग्रहिज्या' इति वस्य संप्रसारणे पूर्वरूपे 'अकृत्सार्वधातु-

के परे । ग्रहि—ग्रहिज्यादि धातुओंको संप्रसारण हो, कित् लिट्के परे । लिटि—'वय्' कं
यकारको संप्रसारण नहीं हो, 'लिट्' के परे । वश्चा—'वय्' के यकारको वकार आदेश हो,
कित्-लिट्के परे, विकल्पसे । वेजः—'वेज्' धातुको संप्रसारण नहीं हो, लिट्के परे ।

वासीष्ट । इत्सकौ । अवासीत् । अवासिष्टाम् । अवासिषुः । अवास्त । अवासा-
ताम् । व्येञ् संवरणे । व्ययति । व्ययते । न व्यो लिटि । ६।१।४६। व्येज्
आत्वं न स्याल्लिटि । परमपि हलादिः शेषं बाधित्वा यस्य संप्रसारणम्, 'उभयेषां'
ग्रहणसामर्थ्यात् । अन्यथा वच्यादीनां, ग्रह्यादीनां चानुवृत्त्यैव सिद्धे, किं तेन ? ।
विव्याय । विव्यतुः । विव्युः । इडत्यर्तिव्ययतीनाम् । ७।२।६६। अद्-ऋ-व्येञ्-
एभ्यस्थलो नित्यमिट् । विव्ययिथ । विव्यथुः । विव्य । विव्याय । विव्यय । विव्यिव ।

कयोर्दीर्घः' इति दीर्घे कृते 'ऊयात्' इत्यस्य निष्पत्तिः । वासीष्ट । अवासीत्-अवासि-
ष्टाम्-अवासिषुः । अवासीः-अवासिष्टम्-अवासिष्ट । अवासिषम्-अवासिष्व-अवासि-
ष्म । अवास्त-अवासाताम्-अवासत । अवास्थाः-अवासाथाम्-अवास्वम् । अवासि-
अवास्वहि-अवास्महि । अवास्यत्-अवास्यत । व्येञ् = संवरणे । व्ययति-व्ययते । न
व्यो लिटीति । व्ये इत्यस्य कृतात्त्वस्य पष्ठ्यन्तस्य व्य इति निर्देशः । 'आदेच उपदेशे-
ऽशिति' इति सूत्रात् आदिति अनुवर्तते, अत आह-आत्त्वमिति । परमपीति । णलि 'व्ये
अ' इति स्थिते वृद्धौ द्वित्वे सति 'लिट्थभ्यास' इत्यभ्यासयकारस्य संप्रसारणे पूर्वरूपे
उत्तरखण्डस्य आयादेशे विव्यायेति वक्ष्यति । तदयुक्तम्, संप्रसारणात्प्राक् हलादिः शेषेण
यकारस्य निवृत्तौ वकारस्य संप्रसारणेनोकारे सति 'उव्याय' इत्यापत्तिः स्यादत आह-
परमपि हलादिः शेषं बाधित्वा यस्य संप्रसारणमिति । उभयेषामिति । 'लिट्थभ्यासस्य'
इति सूत्रेऽभ्यासस्येति ग्रहणसामर्थ्यादिति भावः । तदेवोपपादयति-अन्यथेति ।
'वचिस्वपि' इत्यस्य 'ग्रहिज्या' इत्यस्य च स्वरितत्वादनुवृत्त्यैव सिद्धे, 'लिट्थभ्यासस्य'
इति सूत्रे उभयेषां ग्रहणं पुनर्विधानार्थम् । तथाच वच्यादीनां ग्रह्यादीनां चाभ्यासस्य
संप्रसारणं स्याल्लिटि इति द्विविधानं लब्धम् । तत्र द्वितीयं विधानं नियमार्थम् उभयेषां
संप्रसारणमेव स्यान्नेतरदिति । तेनाभ्यासे एतत्संप्रसारणविषये कार्यान्तरनिवृत्तिः
सिद्ध्येत्यर्थः । विव्यायेति । व्येञ् धातोर्द्वित्वे 'लिट्थभ्यासस्य' इति अभ्याससंप्रसारणे,
पूर्वरूपे 'विव्ये + अ' इति जाते वृद्धौ आयादेशे 'विव्याय' इत्यस्य सिद्धिः । अग्रे—
विव्यतुः-विव्युः, अत्र 'वचिस्वपि' इति संप्रसारणे द्वित्वे यणि रूपे भवतः । इडत्यर्तीति ।
थलिति, इडिति चानुपज्यत अत आह-एभ्य इति । विव्ययिथेति । लिटि सिपि थलि
धातोर्द्वित्वे अभ्याससंप्रसारणे 'इडत्यर्ति' इति थल इडागमे अयादेशे 'विव्ययिथ' इति
सिध्यति । विव्यथुः-विव्य । विव्याय-विव्यय- 'णलुत्तमो वा' । विव्यिव-विव्यिवम् ।
विव्ये-विव्याते-विव्यिरे । विव्यिपे-विव्याथे-विव्यिध्वे । विव्ये-विव्यिवहे-विव्यिव-
हे । व्याता-व्यास्यति । व्ययतु-व्ययताम् । अव्ययत्-अव्ययत । व्ययेत्-व्ययेत ।

न व्यो—'व्येञ्' धातुको 'आत्वं' नहीं हो, लिट्के परे । इडत्यर्ति—अद् और ऋ
धातुओंसे पर 'थल्' को नित्य इडागम हो ।

विष्यिम् । विष्ये । व्याता । व्यास्यति । वीयात् । व्यासीष्ट । अव्यासीत् । अव्यास्त ।
 ह्येञ् स्पर्धायां, शब्दे च । ह्यति । ह्यते । अभ्यस्तस्य च । ६।१।३३। अभ्य-
 स्तीमविष्यतो ह्येञः संप्रसारणं स्यात् । जुहाव । जुहुवे । हाता । हास्यति । हास्यते ।
 लिपिसिचिह्नश्च । ३।१।५३। च्लेरङ् । आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् । ३।१।५४।
 अहत् । अहताम् । अहन् । अहत । अहास्त । राजृ दीप्तौ । राजति । राजते ।
 रराज । रेजतुः । रराजतुः । रेजुः । रराजुः । रेजे । रराजे । हिक् अव्यक्ते शब्दे ।

वीयादिति । व्येधातोर्लिङि तिपि 'इतश्च' इति इलोपे 'यासुदपरस्मै' इति यासुटि 'ग्रहि-
 ज्या' इति संप्रसारणे संप्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'स्कोः' इति सलोपे 'अकृतसार्वधातुक-
 योर्दीर्घः' इति दीर्घे 'वीयात्' इत्यस्य साधुत्वम् । व्यासीष्ट । अव्यासीत्-अव्यास्त ।
 अव्यास्यत्-अव्यास्यत । ह्येञ् स्पर्धायां शब्दे च । ह्यति-ह्यते । अभ्यस्तस्य चेति ।
 ह्येञ इति संप्रसारणं चेत्यनुवर्तते, अत आह-अभ्यस्तीमविष्यतः ह्येञः संप्रसारणमिति ।
 जुहावेति । ह्येञधातोर्लिङि तिपि णलि 'अभ्यस्तस्य च' इति सम्प्रसारणे पूर्वरूपे द्वित्वे
 'अभ्यासे चर्च' इति चर्त्वे 'अचो ण्णिति' इति वृद्धौ आवादेशेरूपं भवति । अग्रे जुह्वतुः ।
 जुहुः । जुह्विथ-जुह्वथुः-जुह्व । जुहाव-जुहव-जुहुविष-जुहुविम । जुहुवे-जुहुवाते-
 जुहुविरे । जुहुविपे-जुहुवाथे-जुहुविध्वे । जुहुवे-जुहुविष्वहे-जुहुविमहे । हाता ।
 हास्यति-हास्यते । ह्यतु-ह्यताम् । अह्यत्-अह्यत । ह्येत्-ह्येत ।
 ह्यात्-ह्यासीष्ट । लिपिसिचीति । च्लेरङ् इत्यनुवर्तनादाह-च्लेरङ् स्यादिति ।
 आत्मनेपदेष्वन्यतरस्यामिति । आत्मनेपदे च्लेरङ् वा स्यादित्यर्थः । परस्मैपदे तु नित्य-
 मेवाङ् इति भावः । अहदिति । ह्येञ् धातोर्लिङि तिपि 'इतश्च' इलोपे च्लौ 'लिपि
 सिचि' इत्यङि अङ्गस्याङागमे आलोपे 'अहत्' इत्यस्य सिद्धिः । आत्मनेपदे सति
 'आत्मनेपदेष्वन्य' इति अङादेशे 'अहत' इति मध्यमं रूपम् । अङभावे तु 'अ + ह्वा +
 स् + त' इति स्थितौ 'अह्वास्त' इति रूपम् । अह्वास्यत्-अह्वास्यत । राजृ = दीप्तौ
 राजति-राजते । रराज-रेजतुः-रराजतुः-अत्र 'फणां च सप्तानाम्' इति एत्वाभ्यास-
 लोपविकल्पे रूपं, शेषं सुगमम् । रेजे-रराजे । राजिता । राजिष्यति-राजिष्यते ।
 राजतु-राजताम् । अराजत्-अराजत । राजेत्-राजेत । राज्यात्-राजिषीष्ट । अरा-
 जीत्-अराजिष्ट । अराजिष्यत्-अराजिष्यत । हिक् = अव्यक्ते शब्दे । हिक्कति-
 हिक्कते । जिहिक्क । जिहिक्के । हिक्कता । हिक्कियति-हिक्कियते । हिक्कतु-हि-

अभ्य—अभ्यस्तसंज्ञक (अभ्यस्त संज्ञाकी सम्भावना रहने पर) 'ह्येञ्' धातुकी
 संप्रसारण हो । लिपि—लिप्, सिच्, और ह्येञ् धातुओंसे पर 'च्लि' को 'अङ्' आदेश हो ।
 आत्म—'लिपिसिचिह्नश्च' से विहित 'अङ्' आत्मनेपदमें विकल्पसे हो ।

हिक्रति । हिक्रते । अञ्चु गतौ, याचने च । अञ्चति । अञ्चते । 'अच' इत्येके ।
'अचि' इत्यपरे । द्रुयाचृ याच्नायाम् । याचति । याचते । बुधिर् बोधने । बो-
धति । बोधते । इरित्वादङ् वा । अबुधत् । अबोधीत् । अबोधिष्ट ॥ खनु अवदा-
रणे । खनति । खनते । चखान । चखनतुः । चखुः । चखने । खयात् । खन्यात्-
चीवृ आदान-संवरणयोः । चीवति । चीवते । चायृ पूजा-निशामनयोः । चायति-

कताम् । अहिक्रत्-अहिक्रत । हिक्रक्त्-हिक्रक्ते । हिक्रक्यात्-हिक्रिपीष्ट । अहिक्रीत् ।
अहिक्रिष्ट । अहिक्रिष्यत्-अहिक्रिष्यत । अञ्चु = गतौ याचने च । अञ्चति-अञ्चते ।
आनञ्च-आनञ्चे । अञ्चिता । अञ्चिष्यति-अञ्चिष्यते । अञ्चतु-अञ्चताम् । आञ्चत्-
आञ्चत । अञ्चेत्-अञ्चेत । अच्यात्-अञ्चिपीष्ट । आञ्चीत्-आञ्चिष्ट । आञ्चिष्यत्-
आञ्चिष्यत । द्रुयाचृ = याच्नायाम् । याचति-याचते । ययाच-ययाचे । याचिता ।
याचिष्यति-याचिष्यते । याचतु-याचताम् । अयाचत्-अयाचत । याचेत्-याचेत ।
याच्यात्-याचिपीष्ट । अयाचीत्-अयाचिष्ट । अयाचिष्यत्-अयाचिष्यत । बुधिर् =
बोधने । बोधति-बोधते । बुबोध-बुबुधे । बोधिता । बोधिष्यति-बोधिष्यते । बोधतु-
बोधताम् । अबोधत्-अबोधत । बोधेत्-बोधेत । बुध्यात्-बोधिपीष्ट । अबोधीत्-अबुधत्
(इरितो वा), अबोधिष्ट । अबोधिष्यत्-अबोधिष्यत । खनु = अवदारणे । खनति-
खनते । चखान । चखनतुः । चखुः । अत्र 'गमहनजनखनघसां लोपः किङ्त्सनङि' इत्युप-
धालोपः । चखने-चखनाते-चखिनरे । खनिता । खनिष्यति-खनिष्यते । खनतु-खनता-
म्, अखनत्-अखनत । खनेत्-खनेत । खयात्-खन्यात् 'ये विभाषा' इत्याखविक-
ल्पः । खनिपीष्ट । अखनिष्यत्-अखनिष्यत । चीवृ = आदानसंवरणयोः । चीवति-ची-
वते । चिचीव-चिचीवे । चीविता । चीविष्यति-चीविष्यते । चीवतु-चीवताम् ।
अचीवत्-अचीवत । चीवेत्-चीवेत । चीव्यात्-चीविपीष्ट । अचीवीत्-अचीविष्ट ।
अचीविष्यत्-अचीविष्यत । चायृ = पूजानिशामनयोः । चायति-चायते । चचाय-
चचाये । चायिता । चायिष्यति-चायिष्यते । चायतु-चायताम् । अचायत्-
अचायत । चायेत्-चायेत । चाय्यात्-चायिपीष्ट । अचायीत्-अचायिष्ट । अचायि-

नोटः—कर्तृ-कर्मवाच्यादिके विषयमें पहले लिखा जा चुका है (पृ० १४२ देखो) अब
यहाँ क्रियापदके रूप बनानेके कुछ नियम लिखे जाते हैंः—(१) कर्मवाच्य या भाव-
वाच्यके रूपोंमें धातुसे 'य' लगाकर आत्मनेपदके प्रत्यय लगाये जाते हैं । इन रचनाओंमें
धातुसे गणचिह्न (अ, अय, आदि) नहीं लगाये जाते । जैसेः—भू=भूयते । गम्=गम्यते ।
(२) इकारान्त तथा उकारान्त धातुओंके स्वरको दीर्घ हो जाता है । जैसेः—जि=जीयते ।
स्तु=स्तुयते । (३) कुछ आकारान्त धातुओंके आकारको ईकार हो जाता है । जैसेः—
स्था=स्थीयते । दा=दीयते । गा=गीयते । मा=मीयते । (४) ऐ और ओ जिन
धातुओंके अन्तमें हों उनको आकारान्त ही समझना चाहिये । जैसेः—गै = गीयते । सो=

चायते। व्यय गतौ। व्ययति। व्ययते। विव्याय। विव्यये। दाश्ट दाने। दाश-
ति। दाशते। भेषृ भये। गतावित्येके। भेषति। भेषते। अस गतिदीप्त्यादानेषु।
असति। असते। आस। आसे। अयं षान्तोऽपि। स्पश बाधनस्पर्शनयोः। स्पर्शनं-
ग्रन्थनम्। स्पशति। स्पशते॥ लष कान्तौ। लष्यति। लषति। लष्यते। लषते।
चष भक्षणे। चषति। चषते। झष आदान-संवरणयोः। झषति। झषते॥ दासृ

प्यत्-अचायिष्यत्। व्यय गतौ। व्ययति-व्ययते। विव्याय-विव्यये। व्ययिता।
व्ययिष्यति-व्ययिष्यते। व्ययतु-व्ययताम्। अव्ययत्-अव्ययत। व्ययेत्-व्ययेत। वी-
यात्-व्ययिषीष्ट। अव्ययीत्-अव्ययिष्ट। अव्ययिष्यत्-अव्ययिष्यत। दाश्ट=दाने।
दाशति-दाशते। ददाश-ददाशे। दाशिता। दाशिष्यति-दाशिष्यते। दाशतु-दाश-
ताम्। अदाशत्-अदाशत। दाशेत्-दाशेत। दाश्यात्-दाशिषीष्ट। अदाशीत्-अदा-
शिष्ट। अदाशिष्यत्-अदाशिष्यत। भेषृ=भये। भेषति-भेषते। विभेष-विभेषे। भेषिता।
भेषिष्यति-भेषिष्यते। भेषतु-भेषताम्। अभेषत्-अभेषत। भेषेत्-भेषेत। भेष्यात्-
भेषिषीष्ट। अभेषीत्-अभेषिष्ट। अभेषिष्यत्-अभेषिष्यत। अस—गतिदीप्त्यादानेषु।
असति-असते। आस-आसे। असिता। असिष्यति-असिष्यते। असतु-असताम्।
आसत्-आसत। असेत्-असेत। अस्यात्-असिषीष्ट। आसीत्-आसिष्ट। आसिष्यत्-
आसिष्यत। स्पश=बाधनस्पर्शनयोः। स्पशति-स्पशते। पस्पाश-पस्पशे। स्पशिता।
स्पशिष्यति-स्पशिष्यते। स्पशतु-स्पशताम्। अस्पशत्-अस्पशत। स्पशेत्-स्पशेत।
स्पश्यात्-स्पशिषीष्ट। अस्पशीत्-अस्पशिष्ट। अस्पशिष्यत्-अस्पशिष्यत। लष=का-
न्तौ। लष्यति-लषति, लष्यते-लषते, अत्र 'वा भ्राशभ्लाशभ्रमुकमुक्कुमुत्रसिञ्जुटिलवः'
इति श्यन् विकल्पः। ललाष-लेषे। लषिता। लषिष्यति-लषिष्यते। लषतु-लषता-
म्। अलषत्-अलषत। लषेत्-लषेत। लष्यात्। लषिषीष्ट। अलापीत्-अलषीत्। अल-
पिष्ट। अलषिष्यत्-अलषिष्यत। चष=भक्षणे। चषति-चषते। चचाष-चेषे। चषिता।
चषिष्यति-चषिष्यते। चषतु-चषताम्। अचषत्-अचषत। चषेत्-चषेत। चष्यात्-
चषिषीष्ट। अचापीत्-अचपीत्-अचषिष्ट। अचषिष्यत्-अचषिष्यत। झष=आदान-
संवरणयोः। झषति-झषते। जझाष-झेपे। झषिता। झषिष्यति-झषिष्यते। झषतु-झ-
षताम्। अझषत्-अझषत। झषेत्-झषेत। झष्यात्-झषिषीष्ट। अझापीत्-अझषीत्।
अझपिष्ट। अझषिष्यत्-अझषिष्यत। दासृ=दाने। दासति-दासते। ददास-ददासे।
दासिता। दासिष्यति-दासिष्यते। दासतु-दासताम्। अदासत्-अदासत। दासेत्-
दासेत। दास्यात्-दासिषीष्ट। अदासीत्-अदासिष्ट। अदासिष्यत्-अदासिष्यत।

सीयते। (५) ऋकारान्त धातुओंके 'ऋ' को 'रि' हो जाता है। जैसे:-कृ=क्रियते। हृ=हियते। (६) कुछ धातुओंके 'य व र ल' के स्थानमें यथाक्रमसे 'इ उ ऋ ए' हो जाते हैं।

दाने । दासति । दासते ॥ धातु गतिशुद्धयोः । धावति । धावते ।

इति भ्वादिप्रकरणम् ॥

अथ अदादिप्रकरणम्

ऋतेरीयङ् । ३१।२९। स्वार्थे । ऋतिः-सौत्रः । जुगुप्सायामिति बहवः । कृपायां चेत्येके । ऋतीयते । ऋतीयाञ्चके । 'आयादय' इति ईयङ्भावपक्षे शेषत्वात् परस्मैपदम् । द्वित्वेऽभ्यासलोपे च जाते, 'उरत्' । 'तस्मान्नुङची'ति नुट् । गुणः । आनर्त्त । अर्तिष्यतीत्यादि ॥ अद् भक्षणे । अदिप्रभृतिभ्यः शपः

धातु-गतिशुद्धयोः । धावति-धावते । दधाव-दधावे । धाविता । धाविष्यति-धाविष्यते । धावतु-धावताम् । अधावत्-अधावत । धावेत्-धावेत । धाव्यात्-धाविषीष्ट । अधावीत्-अधाविष्ट । अधाविष्यत्-अधाविष्यत ।

अथ लुग्विकरणान् धातून् निरूपयितुमुपक्रमते—ऋतेरीयङिति । ऋतिः=जुगुप्सायाम् कृपायां वा । अयं सौत्रो धातुः न तु धातुपाठपठितः । तान्तोऽयम् ऋतेरिति तु इकारनिर्देशविशिष्टात्पंथी । अहेतुनिर्देशात्स्वार्थे इति सूत्रार्थः । ऋतीयते इति । ऋत् धातोः लटि तङि शपि 'ऋतेरीयङ्' इतीयङो द्वित्वेनान्धावयवे टेरेत्वे च कृते 'ऋतीयते' इति सिद्ध्यति । ऋतायांचक्र । ऋत्धातोरीयङिलिटि ऋतीय इति जाते 'कास्यनेकाच आन्वक्तव्यः' इत्यनेकाच्त्वादामि 'आमः' इति लोपे 'कृञ्जानुप्रयुज्यते लिति' इति लिट्परककृजोऽनुप्रयोगे 'लिति धातोः' इति कृजो द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे 'उरत्' इत्यस्वे रपरत्वे हलादिशेषे अभ्यासचर्वे मस्यानुस्वारे परसवर्णे 'ऋतीयाञ्चकृ—लिट्' इति जाते तङि 'लिटस्तद्भयोः' इत्येसादेशे शिच्चात्सर्वादेशे यणि 'ऋतीयाञ्चके' इत्यस्य सिद्धिः । 'आयादय आर्धधातुकं वा' इतीयङभावे तु ऋत्धातोर्लिटि तिपि णलि द्वित्वे उरदत्वे हलादिशेषे 'अ ऋत्-अ' इति जाते 'अत आदेः' इत्यभ्यासातो दीर्घे 'तस्मान्नुङ्-द्विहलः' इति नुटि 'पुगन्त' इति गुणे 'आनर्त्त' इति प्रभवति । अत्र नात्मनेपदम्, आत्मनेपदनिमित्तत्वाभावात् । अत एव कर्तरि परस्मैपदम् । ऋतीयता-अर्तिता । ऋतीयिष्यते-अर्तिष्यति । ऋतीयताम् । आर्तीयत । ऋतीयेत । ऋतीयिषीष्ट । अर्त्यात् । आर्तीयिष्ट । आर्तीयिष्यत-आर्तिष्यत् । अद् भक्षणे इति । अनिडयम् । अदिप्रभृतिभ्य इति । 'ण्यत्तत्रियार्पणितः' इत्यतो लुगित्यनुवर्तते इत्यभिप्रेत्य' शेषपूरणेन सूत्रं जैसेः—यज्=इज्यते । वप्=उप्यते । इत्यादि (इह परिवर्तनको संप्रसारण कहते हैं) ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें भ्वादिप्रकरण समाप्त हुआ ।

ऋतेः—'ऋत्' धातुसे 'ईयङ्' प्रत्यय हो, स्वार्थमें । अदि—अदादि गणपठित धातुओंसे

।२।४।७२। लुक् स्यात् । अत्ति । अत्तः । अदन्ति । अत्तिस् । अत्त्यः । अत्त्य । अत्ति ।
 अद्दः । अद्दः । लिट्यन्यतरस्याम् ।२।४।४०। अदो घस्त्व वा स्याल्लिटि ।
 जघास । उपधालोपः । घस्य चत्वे । शासिवसिघसीनां च । ८।३।६०। इणकु-
 भ्यामेषां सस्य षः । जक्षतुः । जक्षुः । घसस्तासावभावात्थलि नित्यमिट्-जघसिथ ॥
 आद । आदतुः । आदुः । 'इडत्यर्त्तिव्ययतीनामि'ति नित्यमिट् । आदिथ ।
 अत्ता । अत्स्यति । अत्तु । अत्तात् । अत्ताम् । अदन्तु ॥ हुञ्जल्भ्यां हेर्धिः । ६।
 ४।१०१। होर्मलन्तेभ्यश्च हेर्धिः स्यात् । अद्धि । अत्तात् । अत्तम् । अत्त । अदानि ।
 अदाव । अदाम । अदः सर्वेषाम् । ७।३।१००। अदः परस्यापृक्तसार्वधातुकस्य
 अट् स्यात्, सर्वमतेन । आदत् । आत्ताम् । आदन् । आदः । आत्तम् । आत्त ।

न्याचष्टे—लुक् स्यादिति । अदिप्रभृतिभ्यः परस्य शपो लुगिति फलितम् । अत्ति ।
 अद्-भक्षणे, अस्मात् धातोः 'वर्तमाने लट्' इति लटि' अटयोरित्संज्ञायां लोपे च, लः
 स्थाने 'तिसस्क्षि' इत्यादिना प्रथमपुरुषैकवचने तिपि, पगते 'अद् ति' इति जाते
 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति तिपः सार्वधातुकत्वे 'कर्तरि शप्' इति तिपि परे शपि
 जाते 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति शपो लुकि, 'खरि च' इति दस्य चत्वे, 'अत्ति'
 इति रूपम् । वाम । अद् धातोः 'परोक्षे लिट्' इति लिटि, लिटो लः स्थाने प्रथमपु-
 रुषैकवचने तिपि, तिपो णलि, अनुबन्धलोपे 'लिट्यन्यतरस्याम्' इति अदो घस्त्व
 आदेशे जाते लृकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'घस् अ' इति स्थिते 'लिटि धातोरनभ्यास-
 स्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इति सलोपे 'कुहोश्चुः'
 इति घस्य झत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति झस्य जत्वे 'अत उपधायाः' इति घकाराकार-
 स्य वृद्धौ 'जघास' इति रूपम् । आद । घस्लादेशाभावपक्षे—अद् धातोर्लिट्स्तिपि,
 तिपो णलि, अनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः'
 इत्यभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इति ढलोपे 'अत आदेः' इति अभ्यासाकारस्य दीर्घे
 आकारे जाते 'अत उपधायाः' इति अद् उपधायां वृद्धौ 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति
 दीर्घे 'आद' इति रूपम् । अत्स्यति । अद् धातोर्लृट्स्तिपि पगते स्ये, इडभावे, 'खरि
 च' इति दस्य चत्वे 'अत्स्यति' इति रूपम् । अत्तु । अद् धातोर्लोऽट्स्तिपि, पगते शपि,
 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति शपो लुकि, 'खरि च' इति दस्य चत्वे, 'एरुः' इति
 तिपि इकारस्योत्वे 'अत्तु' इति रूपम् । 'तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्' इति तोः स्था-
 ने तातङि, 'अत्तात्' इति । अदः सर्वेषामिति । अदः इति पञ्चमी । 'तस्मादित्युत्तरस्य'

पर 'शप्' का लुक् हो । लिट्य—'अद्' को 'घस्त्व' आदेश हो, 'लिट्' के परे, विकल्पसे ।
 शासि—इण्-कवर्गसे पर 'शास्' और 'वस्' धातुसम्बन्धी सकारको षकार आदेश हो ।
 हुञ्ज—'हु' धातु और झलन्त धातुओंसे पर 'हि' को 'धि' आदेश हो । अदः—'अद्' धातुसे

आदम् । आद् । आऽ । अद्यात् । अद्याताम् । अद्युः । अद्यात् । अद्यास्ताम् । अद्यासुः । लुङ्सनोर्घस्त्व । २।४।३७। अदः लुदित्वात्-अङ् । अघसत् । आत्स्यत् ॥ हन हिंसागत्योः । हन्ति । अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि विडति । ६।४।३७। 'अनुनासिके'ति लुप्तषष्ठीकं, वनतीतरेषां विशेषणम् । अनुनासिकान्तानामेषां वनतेश्च लोपः स्याज्झलादौ विडति परे । यमि-रमि-नमि-गमि-हनि-मन्यतयोऽनुदात्तोपदेशाः । तनु-षण क्षण-क्षिण-ऋण-तृण-घृण-वनु-मनु-तनोत्यादयः । हतः । घ्नन्ति । हंसि । हयः । हय । हन्मि । हन्वः ।।

इति परिभाषया परस्येति लभ्यते । 'गुणोऽपृक्ते' इत्यतोऽपृक्ते इति 'तुस्तुशस्यमः सार्वधातुके' इत्यतः सार्वधातुके इति चानुवर्तते । सप्तमीद्वयं च षष्ठ्या विपरिणम्यते । 'अङ्गार्यगालवयोः' इत्यतः अङित्यनुवर्तते । गार्ग्यगालवयोरनुवृत्तिनिवृत्त्यर्थं सर्वेषामिति, तदाह —अदः परस्येत्यादिना । अद्यात् । अद्यातोर्लिङ्गस्तिपि, शपि, शपो लुकि, 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिञ्' इति यासुटि, उटि, गते, टित्वाद्यावयवे जाते 'लिङ्गः सलोपोऽनन्त्यस्य' इति सलोपे 'इतश्च' इति तिप् इकारलोपे 'अद्यात्' इति रूपम् । अघसत् । अद्यातोः 'लुङ्' इति लुङि, उङि गते, लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचनविवक्षायां 'तिससृक्षि' इत्यादिना तिपि, पगते 'लुङ्सनोर्घस्त्व' इति अदः स्थाने घस्त्व इत्यादेशे कृते लृकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'च्लि लुङि' इति च्लौ 'च्लेः सिच्' इति प्राप्ते तम्बाधित्वा 'पुषादिद्युताद्यलृदितः परस्मैपदेषु' इति च्लेः स्थाने अङि, ङगते अङ्गस्य अङागमे जाते, तिप् इकारस्य 'इतश्च' इति लोपे 'अघसत्' इति रूपम् । इति । हन्धातोः 'वर्तमाने लट्' इति लटि, अटि गते लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तिपि पगते, 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकसंज्ञायां 'कर्तरि शप्' इति शपि, 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति शपो लुकि, मिलित्वा 'हन्ति' इति रूपम् अनुदात्तोपदेशेति । अनुनासिक इति लुप्तषष्ठीकं पदं वनतीतरेषां विशेषणम् । वनधातोस्तु अनुनासिकान्तत्वाच्च विशेषणम् । अव्यभिचाराद् । तदेवाह —अनुनासिकान्तानामेषामिति । अनुदात्तोपदेशान् अनुनासिकान्तान् दर्शयति —यमिरमीति । अनुदात्तोपदेशेषु एतेषामेव षण्णामनुनासिकान्तत्वादिति भावः । अथ तनोत्यादीननुनासिकान्तात् दर्शयति —तनुषणक्षणक्षिणिवति एतेऽष्टौ तनोत्यादयोऽनुनासिकान्ता इत्यर्थः । घ्नन्ति । हन्धातोर्लटो झौ, शपि शपो लुकि, 'झोऽन्तः' इति झस्य अन्तादेशो 'हन् अन्ति' इति जाते 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति अन्तेः सार्वधातुकत्वे 'सार्व-

पर अपृक्त सार्वधातुकको 'अट्' का आगम हो, सभी आचार्योंके मतसे । लुङ्—'अद' धातुको 'घस्त्व' आदेश हो, 'लुङ्' और 'सन्' के परे । अनु—अनुनासिकान्त जो अनुदात्तोपदेश और तनोत्यादि (तनु विस्तारे आदि) धातु तथा 'वन्' धातु, इनके अनुनासिकका

हन्मः । वमोर्वा । ८।४।२३। उपसर्गस्थानिमित्ताद्धन्तेर्नस्य णो वा स्याद्वमोः परयोः ।
 प्रहण्मि । प्रहन्मि । प्रहण्वः । प्रहन्वः । । प्रहण्मः । प्रहन्मः । जघान ।
 जघन्तुः । जघ्नुः । अभ्यासाच्च । ७।३।५५। अभ्यासात्परस्य हन्तेर्हस्य कुत्वं स्यात् ।
 जघनिथ । जघन्थ । जघ्नथुः । जघ्न । जघान । जघन । जघ्निव । जघ्निम । हन्ता ।
 हनिष्यति । हन्तु । हतात् । हताम् । घ्नन्तु । हन्तेर्जः । ६।४।३६। हन्तेर्जः स्यात्
 हौ परे । असिद्धवदत्राऽऽभात् । ६।४।२२। इत ऊर्ध्वमापादपरिसमाप्तेराभीयम् ।

‘धातुकमपित्’ इति अन्तेर्द्धित्वे ‘गमहन्जनखनघसां लोपः विडति’ इति हन्
 उपधालोपे ‘हो हन्तेर्णिग्नेषु’ इति हस्य कुत्वेन घकारे ‘घ्नन्ति’ इति रूपम् ।
 वमोर्वेति । हन्तेरपूर्वस्येति सूत्राद्धन्तेरिति अनुवर्तते । णत्वमित्यपि । तेनोपसर्ग-
 स्थानिमित्तात्परस्य हन्तेः वमोः परतो नस्य णत्वं वा स्यादिति सूत्रार्थः फलितः ।
 प्रहण्मि प्रहन्मि । प्रोपसृष्टाद्धन्तेर्लटि मिपि शपि ‘अदिप्रभृतिभ्यः शपः’ इति शब्लुकि
 प्रोपसर्गस्थरेफमाश्रित्य हन्धातोर्नकारस्य मकारे परत्वेन ‘वमोर्वा’ इति सूत्रेण
 वैभाषिके णत्वे ‘प्रहण्मि-प्रहन्मि’ इति रूपद्वयं सिद्धयति । तद्वत् ‘प्रहण्वः प्रहण्मः’
 अत्रापि वैकल्पिकं णत्वमवसेयम् । जघान । हन् धातोः ‘परोच्चे लिट्’ इति
 लिटि, इटि गते प्रथमपुरुषैकवचने तिपि, ‘परस्मैपदानां णलतुसुस्थल’ इत्यादिना
 तिपो णलि, अनुबन्धलोपे ‘लिटि धातोर्नभ्यासस्य’ इति द्वित्वे ‘पूर्वोऽभ्यासः’
 इत्यभ्यासत्वे ‘हलादिः शेषः’ इति नलोपे ‘ह इन् अ’ इति जाते ‘कुहोश्चुः’ इति
 अभ्यासहकारस्य चुत्वेन झकारे ‘अभ्यासे चर्च’ इति झस्य जकारे ‘अत उपधायाः’
 इति वृद्धौ ‘हो हन्तेर्णिग्नेषु’ इति हनौ हस्य कुत्वेन घत्वे ‘जघान’ इति रूपम् ।
 अभ्यासाच्चेति । ‘हो हन्तेः’ इत्यनुवर्तते । ‘चजोः कुघिण्यतोः’ इत्यतः कुग्रहणञ्च ।
 तदाह—अभ्यासात्परस्येत्यादिना । जघनिथ । हन्धातोर्लिटिः सिपि, सिपः स्थाने ‘पर-
 स्मैपदानां णलतुसुस्थल’ इत्यादिना थलि, लगते ‘लिट् च’ इत्यार्धधातुकत्वे भार-
 द्वाजनियमादिद्विकल्पे, द्वित्वे, अभ्यासत्वे, अभ्यासकार्ये च जाते ‘ज हन् इ थ’
 इति स्थिते णित्यत्ययपरत्वाभावात्तकारपरत्वाभावाच्च ‘हो हन्तेः’ इति कुत्वाप्राप्तौ
 ‘अभ्यासाच्च’ इति कुत्वे ‘जघनिथ’ इति रूपम् । इडभावे पूर्ववत्प्रसाध्य ‘जघन्थ’
 इति रूपम् । हन्तेर्ज इति । ‘शा हौ’ इत्यतो हौ इत्यनुवृत्तिमभिप्रेत्य शेषपूरणेन सूत्रं
 व्याचष्टे—हौ परे इत । असिद्धवदत्रेति । षष्ठस्य चतुर्थपादे इदं सूत्रम् । ‘रनाञ्चलोपः’
 इति सूत्रात्पूर्वं पठितम् । आभादित्यभिविधावाङ् । भस्येत्यधिकारमभिव्याप्येत्यर्थः ।

लोप ‘हो, शलाद कित्-डित्के परे । वमो—उपसर्गस्थ निमित्तसे पर ‘हन्’ धातुके नकारको
 णकार हो, वंकार-मकारके परे, विकल्पसे । अभ्या—अभ्याससे पर ‘हन्’ धातुके हकारको
 कुत्व हो । हन्ते—‘हन्’ धातुको ‘ज’ आदेश हो ‘हि’ के परे । असि—समानाश्रय ‘आभीय’
 कार्य कर्तव्य हो तो कृतसमानाश्रय आभीय शास्त्र असिद्ध हो । (इस सूत्रसे लेकर अष्टाध्यायीके

समानाश्रये तस्मिन्कर्तव्ये तदसिद्धं स्यात् ।—इति जस्यासिद्धत्वाच्च हेर्लुक् । जहि ।
 हतात् । हतम् । हत । हनानि । हनाव । हनाम् । अहन् । अहताम् । अघ्नन् । अहन् ।
 अहतम् । अहत । अहनम् । अहन्व । अहन्म । हन्यात् । आर्द्धधातुके २।४।३५।
 इत्यधिकृत्य । हनो वध लिङि । २।४।४२। लुङि च । २।४।४३। वधादेशोऽ-
 दन्तः । 'आर्द्धधातुके' इति विषयसप्तमी, तेजार्द्धधातुकोपदेशोऽकारान्तत्वादतो लोपः ।
 वध्यात् । वध्यास्ताम् । अवधीत् । अहनिष्यत् ॥ यु मिश्रणामिश्रणयोः । उतो

भाधिकारश्च आपादपरिसमाप्तेरिति सिद्धान्तः । तथा च आपादपरिसमाप्तेरिति
 लभ्यते । जहि । हन्धातोर्लोऽटः सिपि, शपि, शपो लुकि, 'सेर्ह्यपिच' इति सिपः सेः
 स्थाने हौ कृते 'हन् हि' इति भूते 'हन्तेर्जः' इति हनः स्थाने जादेशे जाते 'ज हि'
 इति स्थिते अत्र 'अतो हेः' इति अतः परस्य हेर्लुक् न भवति । 'असिद्धवद्ना-
 मात्' इति जादेशस्य असिद्धत्वात् । तेन 'जहि' इति रूपं सिद्धम् । हन्यात् । हन्
 धातोर्लिङ्गस्तिपि, शपि, शपो लुकि, यासुटि, उटि गते टित्वादाद्यावयवे 'इतश्च' इति
 तिप इकारलोपे 'लिङः सलोपोऽनन्यस्य' इति सलोपे 'हन्यात्' इति रूपम् ।
 लुङि चेति । हनो वधादेशः स्यात् । लुङीत्यर्थः स्पष्टः । वध्यात् । हन्धातोः 'आशिपि
 लिङ्लोटौ' इति लिङि, लिङो लः स्थाने तिपि, 'लिङाशिपि' इति तिप आर्धधातु-
 कत्वे 'हनो वध लिङि' इति हनः स्थाने वधादेशे 'किदाशिपि' इति यासुटि, उटि
 गते टित्वादाद्यावयवे 'वध यास् ति' इति जाते 'अतो लोपः' इति वधाकारस्य लोपे तिप
 इकारस्य 'इतश्च' इति लोपे 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति सलोपे 'वध्यात्'
 इति रूपम् । अवधीत् । हन् धातोः 'लुङ्' इति लुङि, 'लुङि च' इति हनः स्थाने
 वधादेशे कृते लुङो लः स्थाने तिपि, 'ल्लि लुङि' इति ल्लौ 'ल्लेः सिच्' इति
 सिचि, इचि गते 'लुङ्लङ्लृङ्लृङ्वङ्वदात्तः' इति अटि, 'इतश्च' इति तिप इकार-
 लोपे 'अ वध् स् त्' इति स्थिते सिचः सकारस्यार्धधातुकत्वात् 'आर्धधातुकस्येड्व-
 लादेः' इति इटि, 'अतो लोपः' इति वधाकारस्य लोपे 'अस्ति सचोऽपृक्ते' इति
 तिपस्तकारस्य ईडागमे 'इट ईटि' इति सलोपे 'सिज्जलोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः'
 इति सिज्जलोपस्य सिद्धत्वात् 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घे 'अवधीत्' इति रूपम् ।
 यु मिश्रणामिश्रणयोः । अमिश्रणं पृथक् भावः । सेडयम् । उतो वृद्धिलुकीति । 'नाभ्य-
 स्तस्याचि पिति सार्वधातुके' इति अचिबर्जमनुवर्तते । लुकीति विषयसप्तमी, दर्श-

तृतीय पादको समाप्ति पयन्त 'आभीय' कहलाता है) आर्ध—यह अधिकार सूत्र है ।
 हनो वध लिङि । लुङि च—हन् धातुको 'वध' आदेश हो, लिङ् और लुङ्के परे ।
 उतो—लुक्के विषयमें (ह्रस्व) उकारको वृद्धि हो, इलादि पित् सार्वधातुकोके परे—अभ्यस्त-

वृद्धिर्लुकि हलि ।७।३।८९। लुग्विषये उतो वृद्धिः स्यात्पिति हलादौ सार्वधातुके,
न त्वभ्यस्तस्य । यौति । युतः । युवन्ति । यौषि । युषः । युथ । यौमि । युवः ।
युमः । युयाव । युयुवतुः । युयुवुः । युयविथ । युयोथ । युयुवथुः । युयुव । युयाव ।
युयव । युयुविव । युयुविम । यविता । यविष्यति । यौतु । युतात् । अयौत् । अयु-
ताम् । अयुवन् । युयात् । इह वृद्धिर्न, भाष्ये 'पिच्च डिच्च, डिच्च पिन्ने'ति व्याख्या-
नात् । विशेषविहितेन डित्वेन पित्वस्य बाधात् । युयाताम् । युयुः । यूयात् । यूया-
स्ताम् । यूयासुः । अयावीत् । अयङ्विष्यत् । या प्रापणे । याति । यातः । यान्ति ।
ययौ । याता । यास्यति । यातु । अयात् । अयाताम् । लङः शाकटायनस्यैव
।३।४।१११। आदन्ताल्लङो झेर्जुस्वा । अयुः । अयान् । यायात् । यायाताम् । यायुः ।
यायात् । यायास्याम् । यायासुः । अयासीत् । अयासिष्टाम् । अयास्यत् । एवं-चा

नाभावस्य लुकः परत्वासम्भवात् । तदाह—लुग्विषय इत्यादिना । यौति । युधातोर्ल-
टस्तिपि, शपि, शपो लुकि, 'यु ति' इति स्थिते 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' इति यौते-
रुकारस्य वृद्धौ 'यौति' इति रूपम् । युयाव । युधातोर्लिटस्तिपि, तिपो णलि, अनु-
वन्धलोपे द्वित्वे, अभ्यासत्वे, अभ्यासकार्ये च 'यु यु अ' इति भूते 'अचो ञ्णिति'
इति वृद्धौ 'एचोऽयवायावः' इत्यावादेशे 'युयाव' इति रूपम् । अयावीत् । यु धातोः
'लुङ्' इति लुङि, लुङो लः स्थाने तिपि, च्लौ, च्लेः सिच्, इचि गते अटि, तिप
इकारलोपे सिचः सस्य इटि तिपस्तस्य ईटि, 'इट ईटि' इति सिचः सस्य लोपे
सिज्जलोप एकादेशे कर्तव्ये सिद्धत्वात् सवर्णदीर्घे 'अ यु ई त्' इति जाते 'सिचि
वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ आयादेशे च 'अयावीत्' इति रूपम् । या-प्रापणे ।
प्रापणमिह गतिः । गिजर्थस्तु अविवक्षित इति भावः । ययौ । याधातोर्लिटस्तिपि, ति-
पो णलि, 'आत औ णलः' इति औ आदेशे द्वित्वे अभ्यासत्वे 'ह्रस्वः' इति अभ्यासस्य
अचो ह्रस्वत्वे 'यं या औ' इति स्थिते 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'ययौ' इति रूपम् । लङः
शाकटायनस्यैवेति । 'झेर्जुस्' इति 'आत' इति चानुवर्तते । तदाह—आदन्तादिति ।
अयुः । याधातोर्लङो शौ शपि, शपो लुकि अटि, 'अ या क्षि' इति जाते 'लङः शाक-
टायनस्यैव' इति झेर्जुसि, 'जुटू' इति जस्येत्सञ्ज्ञायां लोपे च 'उस्यपदान्तात्' इति
पररूपे उसः सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गत्वे च 'अयुः' इति रूपम् । जुसोऽभावे
'शोऽन्तः' इत्यन्तादेशे इकारलोपे तलोपे च जाते सवर्णदीर्घे च कृते 'अयान्' इति
रूपम् । यायात् । याधातोर्लिङस्तिपि, शपि, शपो लुकि, यासुटि, उटि गते 'लिङः
सलोपोऽनन्त्यस्य' इति सलोपे 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे 'यायात्' इति रूपम् ।

संज्ञके धातुको खोङ्कर । लङः—आदन्त धातुसे पर 'लङ्' सम्बन्धी 'क्षि' को जुस् हो ।

गतिगन्धनयोः । भा दीप्तौ । ष्णा शौचे । 'वाऽन्यस्य संयोगादे'रित्येत्वम् । स्ने-
यात् । स्नायात् । आ पाके । द्रा कुत्सायां गतौ । प्ला भक्षणे । पा रक्षणे । रा
दाने । ला आदाने । दाप्लवने । ख्या प्रकथने । अयं सार्वधातुक एव प्रयोक्तव्यः ।
ख्याति ॥ विद् ज्ञाने । विदो लटो वा । ३।४।८३ वेत्तेलटः परस्मैपदानां णलाद-
यो वा स्युः । वेद । विदतुः । विदुः । वेत्थ । विदथुः । विद । वेद । विद्र । विन्न ।
पक्षे—वेत्ति । वित्तः । विदन्ति । उषविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम् । ३।१।३८।
एभ्यो लिट्याम् वा स्यात् । विदेरदन्तत्वप्रतिज्ञानादामि न गुणः । विदाञ्चकार ।

अयासीत् याधातोर्लुङ् इति, च्लौ, च्लेः सिचि इचि गते अटि, तिप इकारलोपे 'अ या
स् त्' इति स्थिते अत्र 'यमरमनमातां सक्च्' इत्यनेन सिचः सकारस्य इडागमे
आकारान्तधातोः सकागमे 'अ यास् इस् त्' इति भूते 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति तिप-
स्तकारस्य ईडागमे 'इट् ईटि' इति सिचः सस्य लोपे एकादेशे कर्तव्ये सिज्लोपस्य
सिद्धत्वात्सवर्णदीर्घे 'अयासीत्' इति रूपम् । अयं सार्वधातुक इति । अत्र प्रमाणम्—स-
स्थानत्वं नमः ख्यात्रे' इति वार्तिकम्, तद्भाष्यञ्च । सस्थानो-जिह्वामूलीयः । स नेति
ख्याजादेशस्य खशादित्वे प्रयोजनमित्यर्थः । विद् ज्ञाने । सेड्यं धातुः, अनिट्सु लुग्वि-
करणस्याग्रहणात् । विदो लटो वेति । 'परस्मैपदानां णलनुस्' इत्यादिसूत्रमनुवर्तते ।
विद् इति पञ्चमी । तदाह—वेत्तेलट इति । विद्धातोः 'वर्तमाने लट्' इति लटि,
अटि गते लः स्थाने 'तिससङ्गि' इत्यादिना तिपि, 'विदो लटो वा' इति तिपः स्थाने
णलि, णस्य लस्य चेत्संज्ञायां लोपे च 'तिङ्शित्सार्व' इति सार्वधातुकत्वे, 'कर्तरि
शप्' इति शपि, 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति शपो लुकि, 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति
विद् उपधाया इकारस्य गुणे वेद इति रूपम् । विदतुः । विद्धातोर्लटस्तसि, शपि,
'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति शपो लुकि, 'विदो लटो वा' इति विकल्पेन तसोऽ-
नुसि, अनुसः सस्य रुत्वे, रेफस्य विसर्गत्वे च 'विदतुः' इति रूपम् । उषविदजागृभ्य
इति । 'कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि' इत्यतः आम् लिटीत्यनुवर्तते । तदाह—एभ्यो
लिटीति । विदाञ्चकार । विद्धातोः 'परोक्षे लिट्' इति लिटि, 'उषविदजागृभ्योऽन्य-
तरस्याम्' इति आमि, 'आमः' इति लिटो लुकि, अत्र आमः आर्धधातुकत्वेऽपि
विद् उपधायाः लघूपधगुणो न । विदेरदन्तत्वप्रतिज्ञानात् । 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि'
इति लिट्परकृञ्चि अनुप्रयुक्ते 'विदाम् कृ लिट्' इति जाते लिटो लः स्थाने तिपि,
तिपो णलि, अनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इति
अभ्यासत्वे 'उरत्' इति अभ्यासवर्णस्य अकारे 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे

विकल्पसे । विदो—'विद्' धातुसे पर 'लोट्' सम्बन्धी परस्मैपदको णलादि आदेश हो,
विकल्पसे । उष-उष्, विद् और जागृ धातुओंसे 'आम्' प्रत्यय हो, 'लिट्' के परे, विकल्पसे ।

विवेद । वेदिता । वेदिष्यति । विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम् । ३।१।४१ । वेत्तेल्लो-
 व्याम्, गुणाभावो. लोटो लुक्, लोडन्तकरोत्यनुप्रयोगश्च वा निपात्यते । पुरुषवचने
 न विवक्षिते । इतिशब्दात् । तनादिकृञ्भ्य उः । ३।१।७९ । तनादेः, कृञ्श्च उप-
 त्ययः स्यात् । शपोऽपवादः । विदाङ्करोतु । अत उत्सार्वधातुके । ६।४।११० । उप-
 त्ययान्तस्य कृञोऽत उत्स्यात्सार्वधातुके षिङिति । विदाङ्कुरुतात् । विदाङ्कुरुताम् ।
 विदाङ्कुर्वन्तु । 'उतश्चे'ति हेर्लुक् । आभीयत्वेन लुकोऽसिद्धत्वादुत्त्वम् । विदाङ्कुरु ।

‘हलादिः शेषः’ इति रलोपे ‘विदाम् क कृ अ’ इति भूते ‘कुहोरनुः’ इति अभ्या-
 सकस्य चुत्वेन चकारे कृ इत्यस्य ‘सार्वधातुकार्धधातुकयोः’ इति गुणे अकारे ‘उरण्-
 रपरः’ इति रपरे ‘अत उपधायाः’ इति वृद्धौ अमो मस्यानुस्वारे वा परसवर्णे च
 ‘विदाङ्कार’ इति रूपम् । विवेद । विद्धातोर्लिट्स्तिपि, तिपो णलि, अनुबन्धलोपे,
 द्वित्वे अभ्यासत्वे, अभ्यासकार्ये च जाते ‘लिट् च’ इति णलोऽकारस्यार्धधातुकत्वात्
 ‘पुगन्तलघूपधस्य च’ इति लघूपधगुणे ‘विवेद’ इति रूपम् । विदाङ्कुर्वन्त्विति ‘कृञ्-
 चानुप्रयुज्यते लिटि’ इत्युत्तरमिदं सूत्रम् । इति शब्दः प्रकारे । एवंजातीयकं वैक-
 ल्येन प्रत्येतव्यमित्यर्थः, वेत्तरेति । लुग्विकरणात् विद्धातोः लोटि परे आम्प्रत्ययो
 निपात्यत इत्यर्थः । लोडन्तेति । आमन्ताद्विदेः लोडन्तकृञ्धातोः अनुप्रयोगश्च निपा-
 त्यत इत्यर्थः । पुरुषेति । कुर्वन्त्विति प्रथमपुरुषो बहुवचनञ्च न विवक्षितमित्यर्थः ।
 तयोस्तु नान्तरीयकमुच्चारणमिति भावः । तनादिकृञ्भ्य इति शपोऽपवाद इति । अनेन
 शब्दविषय एवास्य प्रवृत्तिरिति सूचितम् । ‘सार्वधातुके यक्’ इत्यतः सार्वधातुकप्र-
 हणस्य ‘कर्तरि शप्’ इत्यतः कर्तरीत्यस्य चानुवृत्तेरिति भावः । विदाङ्करोतु विद्धा-
 तोर्लोटि, ‘विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम्’ इत्यामि, ‘आमः’ इति लोटो लुकि, लोट्परके
 कृञि प्रयुक्ते ‘विदाम् कृ लोट्’ इति स्थिते लोटः स्याचे तिपि, तिपः सार्वधातुकत्वात्
 शपि प्राप्ते तस्माद्वित्वा ‘तनादिकृञ्भ्य उः’ इत्युकारे कृते ‘विदाम् कृ उ ति’ इति
 जाते ‘आर्धधातुकं शेषः’ इति उकारस्यार्धधातुकत्वे ‘सार्वधातुकार्धधातुकयोः’ इति
 उभयत्र गुणे ‘एङ्’ इति तिप इकारस्योत्वे मस्यानुस्वारे वा परसवर्णे संयोगे च कृते
 ‘विदाङ्करोतु’ इति रूपम् । अत उत । उप्रत्ययान्तस्येति । ‘उतश्च प्रत्ययात्’ इत्यतः
 तदनुवृत्तेरिति भावः । कृञोऽकारस्य उदिति । ‘नित्यं करोतेः’ इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति
 भावः । षिङ्तीति । ‘गमहन’ इत्यतः तदनुवृत्तेरिति भावः । विदाङ्कुरुतात् विद्धातो-
 र्लोटि, ‘विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम्’ इति आमि, ‘आमः’ इति लोटो लुकि, लोट्-

विदां—‘लोट्’ के परे—‘विद्’ धातुसे ‘आम्’ गुणका अभाव और ‘लोट्’ का लुक् एवं
 लोडन्त कृधातुका अनुप्रयोग निपातन हो, विकल्पसे । तना—तनादिगण पठित धातु और
 ‘कृञ्’ धातुसे ‘उ’ प्रत्यय हो, कर्तर्यक सार्वधातुकके परे । अत—उप्रत्ययान्त कृञ् धातुके

विदाङ्करवाणि । वेत्तु । अवेत् । अविताम् । अविदुः । दश्च । ८।२।७५। धातोर्दस्य
पदान्तस्य सिपि र्वा । अवेः । अवेत् । विद्यात् । विद्याताम् । विद्युः । विद्यात् ।
विद्यास्ताम् । विद्यासुः । अवेदीत् । अवेदिष्यत् । अस् भुवि । अस्ति । शनसोर-
ल्लोपः । ६।४।११। शनस्यास्तेश्चातो लोपः, सार्वधातुके क्ङिति । स्तः । सन्ति ।
'तासस्त्योरि'ति सलोपः । असि । स्थः । स्थ । अस्मि । स्वः । स्मः । अस्तेभूः
। १२।४।५२। अस्तेभूः आर्धधातुके । बभूव । भविता । भविष्यति । अस्तु । स्तात् ।

परककृजि चानुप्रयुक्ते 'विदाम् कृ लोट्' इति जाते, लोटस्तिपि 'एरु' इति उत्वे,
तातडि, शोपे वाधित्वा 'तनादिक्ङ्भ्य उः' इति उविकरणे कृते तस्यार्धधातुकत्वे
'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे रपरं च कृते 'अत उत्सार्वधातुके' इति कका-
राकारस्य उत्वे, मस्यानुस्वारे वा परसवर्णे च कृते 'विदाङ्कृतात्' इति रूपम् ।
दश्चेति । 'सिपि धातोर्वा' इत्यनुवृत्तम् । द इति षष्ठ्यन्तेन धातुर्विशेष्यते । तद-
न्तविधिः । 'पदस्य' इत्यधिकृतम् । तदाह—धातोर्दस्य पदान्तस्येति । अवेः विद्धा-
तोर्लङ्सिपि, शपि, शपो लुकि, अटि सिप इकारस्य 'इतश्च' इति लोपे 'पुगन्तलघू-
पधस्य च' इति उपधागुणे 'अवेद् स्' इति भूते 'हल्ङ्वाढभ्यो दीर्घास्तुतिस्यपृक्तं
हल्' इति सिपः सस्य लोपे 'दश्च' इति विदेर्दस्य वा रुवे रेफस्य विसर्गत्वे च
'अवेः' इति रूपम् । रुत्वाभावपक्षे—'अवेत्' इति । अवेदीत् । विद् धातोः 'लुङ्' इति
लुङि लकारे उडावितौ लस्य तिवादेशे, च्लौ, च्लेः सिचि, इचोर्लोपे 'आर्धधातुक-
स्येङ्वलादेः' इतीटि 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वङ्मुदात्तः' इत्यङागमे 'इतश्च' इति तिप
इकारलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति अपृक्तसञ्ज्ञकस्य तकारस्य ईङागमे 'इट ईटि'
इति इटः परस्य सिचः सकारस्य लोपे 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति सवर्णदीर्घत्वे 'पुगन्त-
लघूपधस्य च' इति लघूपधस्येकारस्य गुणे 'अवेदीत्' इति । अस्ति । अस्भुविधातोर्लटि
तिपि शपि शपो लुकि 'अस्ति' इति । शनसोरल्लोप इति । अत् इति लुप्तषष्ठी
पदम् । शन अस् अनयोर्द्वन्द्वात्षष्ठीद्विवचनम् । शकन्धादित्वात् पररूपम् । शनेति
शनम्प्रत्ययैकदेशनिर्देशः । 'अत उत्सार्वधातुके' इत्यतः सार्वधातुके इत्यनुवर्तते
'गमहन' इत्यतः विङ्तीति । तदाह—इत्येत्यादिना । स्तः । अस् धातोस्तसि 'शन-
सोरल्लोपः' इत्यस्तेरकारलोपे रस्य विसर्गे 'स्तः' इति । बभूव । अस्धातो
र्लिटो लः स्थाने तिपि, तिपो णलादेशे, अनुबन्धलोपे 'लिट् च' इत्यार्धधातुकत्वे
'अस्तेभूः' इति अस्धातोः स्थाने 'भू' इत्यादेशे 'भुवो वुग् लुङ्लिटोः' इति

'अत्' को 'उत्' आदेश हो, सार्वधातुक कित-ङित्के परे । दश्च—धातुके पदान्त दकारको
'रुत्वे' हो, 'सिप्' के परे, विकल्पसे । शनसो—'अम्' प्रत्यय और 'अस्' धातुके अकारका लोप
हो, सार्वधातुक कित-ङित्के परे । अस्ते—'अस्' धातुको 'भू' आदेश हो, आर्धधातुकके परे ।

स्ताम् । सन्तुः ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च । ६।४।११९। घोरस्तेश्चैत्वं हौ, अ-
भ्यासलोपश्च । आभीयत्वाद्धेर्धिः । एधि । स्तात् । स्तम् । स्त । असानि । असाव ।
असाम् । आसीत् । आस्ताम् । आसन् । स्यात् । स्याताम् । स्युः । भूयात् । अभूत् ।
अभविष्यत् । उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यचपरः । ८।३।८७ । उपसर्गेणः, प्रादुषश्च
परस्यास्तेः सस्य षो यकारेऽचि च परे । निःष्यात् । प्रादुःष्यात् । निःषन्ति । प्रादुः-

धुगागमे 'लुटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इति अभ्यासत्वे
'हलादिः शेषः' इति लोपे 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'भवेतरः' इति भुव उकारस्य
अकारे 'अभ्यासे चर्च' इति अभ्यासभकारस्य बकारे 'वभूव' इति रूपम् । लुटि—
मविता । लुटि—मविष्यति । अस्तु । अस्धातोः 'लोट् च' इति लोटि लोटो लः स्थाने
तिपि, शपि, 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति शपो लुकि, 'अस् ति' इति स्थिते
'एरुः' इति तिप इकारस्योत्त्वे 'अस्तु' इति रूपम् । 'तुह्योस्तातड्डाशिष्यन्यतर-
स्याम्' इति तोः स्थाने तातड्डि, तस्य डित्वात् 'श्नसोरल्लोपः' इति अस्तेरकार-
लोपे 'स्तात्' इति पच्चे रूपम् । स्ताम् । लोटस्तसि, शपि, शपो लुकि, 'लोटो लङ्-
वत्' इति लङ्वद्भावात् 'तस्थस्थमिपान्तान्तन्तामः' इति तसस्तामादेशे 'श्नसोर-
ल्लोपः' इति अस्तेरकारस्य लोपे सति रूपम् । सन्तु । झौ 'झोऽन्तः' इत्यन्ता-
देशे 'एरुः' इति उत्त्वे असोऽकारलोपे रूपम् । ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्चेति । धु अस्
अनयोर्द्वन्द्वः । 'एत् हौ' इति च्छेदः । एधि । अस्धातोर्लोटि सिपि 'सेर्ह्यपिचच' इति
सिपो हिरादेशः स च अपित्, 'ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' इति सस्य एत्त्वे, एत्त्व-
स्यासिद्धत्वाद् 'हुह्लभ्यो हेर्धिः' इति हेर्धौ, 'श्नसोरल्लोपः' इत्यल्लोपे 'एधि'
इति जायते । तातड्डपच्चे परेण तातड्डा बाधादेस्वाभावे 'स्तात्' इति रूपम् ।
असानि । अस्धातोर्लोटो मिबादेशे 'मेर्निः' इति मिपो निरादेशे 'आहुत्तमस्य
पिचच' इति आटि 'असानि' इति बोध्यम् । आसीत् । अस्धातोर्लङ्गस्तिपि इलोपे
'आडजादीनाम्' इति आटि 'आडश्च' इति वृद्धौ, शपो लुकि 'अस्तिसिचोऽ-
पृक्ते' इति अपृक्तसञ्ज्ञकस्य तकारस्य ईटि 'आसीत्' इति । उपसर्गप्रादुर्भ्यामिति ।
इणः इत्यनुषज्यते । तच्च उपसर्गविशेषणं तेन उपसर्गस्य य इण्प्रत्याहारिको
वर्णस्तस्मात्परस्यास्तेः सस्य षत्वं स्याद्यकारेऽचि च परतः इत्येकोऽर्थः । द्वितीयस्तु
प्रादुषोऽन्यथात्परस्यास्तेः सस्य षत्वं वा सति यकारे अचि वा परतः इति द्वितीयो-
ऽर्थः फलितः । अत्र उपसर्ग इणः परतः सकारव्यवधानेऽपि यकारे परतः षत्वं
स्यादेव 'येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि वचनप्रामाण्यादिति भावः । निःष्यात्-

ध्वसो—धुसंज्ञक धातु और 'अस्' धातुको 'एत्त्व' और अभ्यासका लोप हौ, 'हि' के परे ।
उपस—उपसर्गसंबन्धी 'इण्' से पर और 'प्रादुस्' (सान्त अव्यय) से पर 'अस्' धातुके

वन्ति । यत्परे किम् ? अभिस्तः । रु शब्दे । तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके । ७।
 ३।२५। एभ्यः परस्य सार्वधातुकस्य हलादेस्तिङ ईङ् वा स्यात् । 'नाभ्यस्तस्य'
 त्यतोऽनुवृत्तिसम्भवे पुनः 'सार्वधातुक'ग्रहणमपि दर्शम् । रवीति । रौति । रवीतः ।
 रुतः । हलादेः किम् ? रुवन्ति । तिङ् किम् ? शाम्यति । सार्वधातुके किम् ?
 आशिषि—रूयात् । विध्यादौ तु—रूयात् । रूवीयात् । अरावीत् । अरविष्यत् । 'तु'
 इति सौत्रो धातुः गतिवृद्धिर्हिंसासु । तवीति । तौति । तुवीतः । तुतः । तुवन्ति ।
 तुताव । तोता । तोप्यति । णु स्तुतौ । नौति । नुनाव । नविता । टु श्रु शब्दे ।
 क्षौति । चुक्षाव । क्षविता । क्षणु तेजने । क्षणौति । क्षणविता । अक्षणावीत् ।
 णु प्रस्रवणे । स्नौति । सुष्णाव । स्नविता । शु प्रसवैश्वर्ययोः । प्रसवोऽभ्यनु-

प्रादुःप्यात् । अत्र निस् स्यात्, प्रादुस् स्यात् इति स्थिते उभयोरपि सकारयोः रूवें
 विसर्गे 'उपसर्गप्रादुभ्याम्' इति ततः परस्यासधातोः सस्य पत्वे निःप्यात्-प्रादुः-
 प्यात् इति रूपे । निःवन्ति-प्रादुःपन्ति । अत्रापि असधातोरच्परकत्वात् । उपसर्ग-
 स्थेणः परे सस्य सत्वात्सस्य षः इति भावः । तुरुस्तुशम्यम इति । ईङ् वेत्यनुवर्तनादाह-
 एभ्यः सार्वधातुकस्य हलादेस्तिङ् ईङ् वेति । रवीतीति । रु शब्देऽस्माद्धातोर्लटि तिपि
 शपि शपो लोपे 'तुरुस्तुशम्यम' इति ईडागमे गुणेष्वदेशे 'रवीति' इति रूपम् ।
 ईङ्भावे तु 'रु-ति' इति स्थिते 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' इति वृद्धौ 'रौति' इति
 द्वितीयं रूपं भवति । रूवीतः इति । अत्रापि ईटि सति 'अचि श्नु' इत्युचङि 'रूवीतः'
 इति रूपं, तदभावे 'रुतः' इति रूपम् । रुवन्ति । अत्र नेट् हल्परकत्वाभावात् । रुराव ।
 रविता । रविष्यति । रवीतु-रौतु । अरवीत्-अरौत् । रूयात्-रूवीयात् । अरावीत् ।
 अरविष्यत् । इति । तुः सौत्रः गतिवृद्धिर्हिंसासु । तुधातोः लटि तिपि शपि शब्दलुकि
 'तुरुस्तु' इतीडागमे गुणेष्वदेशे 'तवीति' तदभावे 'उतो वृद्धिः' इति वृद्धौ 'तौति'
 इति रूपम् । अग्रे तवीतः-तुतः । तुवन्ति । तुताव । तोता । तोप्यति । तवीतु-
 तौतु । अतावीत्-अतौत् । तुयात्-तुवीयात् । तूयात् । अतौपीत् । अतोप्यत् । णु=स्तु-
 तौ । नौति । नुनाव । नविता । नविष्यति । नौतु । अनौत् । नूयात् । नूयात् ।
 अनावीत् । अनविष्यत् । टुडु=शब्दे । क्षौति चुक्षाव-क्षविता-क्षविष्यति-क्षौतु-
 अक्षौत्-क्षुयात्-क्षूयात् । अक्षवीत्-अक्षविष्यत् । क्षणु=तेजने-क्षणौति । चुक्षणाव ।
 क्षणविता । क्षणविष्यति । क्षणौतु । अक्षणौत् । क्षणयात् । क्षणूयात् । अक्षणावीत् ।
 अक्षणविष्यत् । णु=प्रस्रवणे । स्नौति । सुष्णाव । स्नविता । स्नविष्यति । स्नौतु । अ-
 स्नौत् । स्नुयात् । स्नूयात् । अस्नावीत् । अस्नविष्यत् । शु प्रसवैश्वर्ययोः । सौति । सु-

सकारको षकार हो, यकार और अच्के परे । तुरुस्तु-तु-रु-स्तु-शमि-अम् इन धातुओं से

ज्ञातम् । सौति । सुतः । सुषाव । सोता । असौषीत् । कु शब्दे । कौति । चुकाव ।
कोता । इण् गतौ । एति । इतः । इणो यण् । ६।४।८१। अजादौ प्रत्यये परे ।
इयङोऽपवादः । यन्ति । अभ्यासस्यासवर्णे । ६।४।७८। अभ्यासस्य इ-उवर्ण-
योरियङुवञौ स्तोऽसवर्णेऽचि परे । इयाय । दीर्घ इणः किति । ७।४।६९। इणो-
ऽभ्यासस्य दीर्घः स्यात् किति लिटि परे । ईयतुः । ईयुः । इययिथ । इयेथ । एता ।
एथ्यति । एतु । ऐत् । ऐताम् । आयन् । इयात् । ईयात् । एतेर्लिङि । ७।४।२४।
उपसर्गात्परस्य इणोऽणो ह्रस्वः स्यादार्धधातुके किति लिङि । निरियात् । अन्तादि-

पाव-सोता-सोप्यति-सौतु-असौत्-सुयात्-सूयात्-असौपीत्-असोप्यत् । कु-शब्दे ।
कौति । चुकाव । कोता । कोप्यति । कौतु । अकौत् । कुर्यात् । कूयात् । अकौपीत् ।
अकोप्यत् । इत्यादि । इणो यण् । अत्र 'अचि श्नुधातु०' इत्यतोऽचि इत्यनुवर्त्य
अङ्गाधिकाराक्षिप्तप्रत्ययविशेषणत्वात्तदादिविधिरित्यभिप्रेत्य शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे
अजादौ प्रत्यये पर इति । यन्ति । गत्यर्थकादिण्धातोर्लटि, झौ, झेरन्तादेशे, शपो लुकि
इयङादेशं बाधित्वा 'इणो यण्' इति यणि च कृते तत्सिद्धिः । अभ्यासस्यासवर्णे
इति । 'अचि श्नुधातु०' इत्यतोऽचीति, य्वोरियङुवडाविति चानुवर्तते । इश्च उश्च
यू तयोरिति विग्रहः । अभ्यासविशेषणमिदम् । तेन तदन्तविधिरिति यावत् ।
दीर्घ इण इति । 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इत्यतः अभ्यासस्येति 'व्यथो लिटि'
इत्यतो लिटीति चानुवर्तते । तदाह—ःणोऽभ्यासस्येति । ईयतुः । इणो लिटस्त-
सोऽनुसि द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'इ इ अतुस्' इति जाते 'इणो यण्' इति यणि 'दीर्घ
इणः किति' इति दीर्घे सत्वे विसर्गे च तत्सिद्धिः । इययिथ । इणो लिटः सिप-
स्थलि द्वित्वे भारद्वाजनियमात् पालिके इटि गुणेऽयादेशे, 'अभ्यासस्यासवर्णे'
इति इयङि, च 'इययिथ' इति, इडभावपक्षे तु गुणे अभ्यासस्य इयङि 'इयेथ'
इति । आयन् । इणो लङो झौ झस्यान्तादेशे इकारस्य 'इणो यण्', इति यणि तस्या-
भीयत्वेनासिद्धत्वादाटि च तत्सिद्धिर्ज्ञेया । एतेर्लिङि । 'उपसर्गाद्भ्रस्व ऊहतेः'
इत्यतः उपसर्गाद्भ्रस्व इति 'केऽणः' इत्यतः अण इति 'अयङ् यि ङिङिति' इत्यतः
कितीति चानुवर्तते तदाह—उपसर्गात्परस्येति । (निरियात्) । निरुपसर्गपूर्वात् इण्धातो-
राशीर्लिङ्गस्तिप इलोपे यासुटि तस्यार्धधातुकत्वे कित्वे सलोपे 'अकृतसार्वधातुकयोः'
इति दीर्घे 'एतेर्लिङि' इति ह्रस्वत्वे निरियादिति निष्पन्नम् । ननु 'अभीयात्' इत्य-
पर ह्लादि तिङ् सावधातुकको षडागम हो, विकल्पसे । इणो—'इण्' धातुको 'यण्' हो,
अजादि प्रत्ययके परे । अभ्या—अभ्याससम्बन्धी इवर्ण-उवर्णको इयङ्-उवङ् आदेश हो,
असवर्ण 'अच्' के परे ।

दीर्घ इणः किति—'इण्' धातुके अभ्यासको दीर्घ हो, कित्-लिट्के परे ।
एतेर्लिङि—उपसर्गसे पर 'इण्' धातुके 'अण्' को ह्रस्व हो, आर्धधातुक कित्-लिट्के परे ।

वच्च । ६।१।८५। योऽयमेकादेशः स पूर्वस्यान्तवत्परस्यादिवत्स्यात् । उभयत आश्रयणे नान्तादिवत् । अभीयात् । अणः किम् ? समेयात् । 'समीया'दिति प्रयोगस्तु भौवादिकस्य । इणो गा लुङि । २।१४।४५। इणो गादेशः स्याल्लुङि । 'गातिस्ये'ति सिचो लुक् । अगात् । अगाताम् । अगुः । ऐष्यत् । इक् स्मरणे । अयमधिपूर्व एव, 'अधीगर्थदयेषां कर्मणि'ति लिङ्गात् । अन्यथा हीगर्थेत्येव व्रूयात् । (इण्वदिक इति वक्तव्यम्) अधियन्ति । अध्यगात् । केचित्तु-आर्द्धधातुकाधिकारोक्तस्यैवातिदेशमाहुः । तन्मते यण । तथा च भट्टिः- 'ससीतयो राघवयोरधीय-

त्रापि ह्रस्वः स्यादित्यत आह-उभयत इति । अत्र एकादेशस्य ईकारस्य पूर्वान्तत्वे उपसर्गानुप्रवेशादिण्धातुत्वं न सम्भवति । परादित्वेन इण्धातुत्वाश्रयणे तु नोपसर्गात्परत्वम् । उपसर्गैकदेशस्य इकारस्य ईकारात्मना सत्त्वेन अभ् इत्यस्य उपसर्गात्वाभावात् । एकादेशस्य आदिवत्त्वमाश्रित्य इण्धातुत्वम्, अन्तवत्त्वमाश्रित्य तस्य उपसर्गानुप्रवेशश्चेत्यपि न सम्भवति । पूर्वपरशब्दाभ्याम् अन्तादिशब्दाभ्याञ्च विरोधस्य पुरःस्फूर्तिकतया विरुद्धातिदेशद्वयस्य युगपदसम्भवादित्यर्थः । समेयादिति । सम् आ इयात् समेयादित्यत्र एकारस्य अनण्त्वान्न ह्रस्वः । ग्रहणकसूत्रादन्यत्र पूर्व-णैव णकारेण प्रत्याहाराश्रयणादिति भावः । इणो गा लुङि । इण्धातोः गा इत्यादेशः स्यात्लुङीति सूत्रार्थः स्पष्टः । ऐष्यत् । इण्धातोर्लुङस्तिपि, स्ये आटि, वृद्धौ सस्य पत्वे तिप् इकारलोपे च 'ऐष्यत्' इति रूपम् । इक्-स्मरणेऽयमप्यधिपूर्वः । 'अधीगर्थदयेषां कर्मणि' अत्राधिपूर्वादेव इक् धातोर्विधानात् । इण्वदिति षष्ठ्यन्ताद्वितिः । इणो यत्कार्यम् 'इणो यण्' इत्यादि तदिको भवतीत्यर्थः । अध्येति-अधीतः-अधियन्ति । अत्र इण्वद्भावात् 'इणो यण्' इति यणि रूपम् । अध्येषि-अधीथः-अधीथ-अध्येमि-अधीवः-अधीमः । अधीयाय-अधीयतुः-अधीयुः । अधीययिथ-अधीयेथ-अधीयथुः-अधीय । अधीयाय-अधीयय-अधीयिव-अधीयिम । अध्येता-अध्येज्यति । अध्येतु-अधीतात्-अधीताम्-अधियन्तु । अधीहि-अधीतात्-अधीतम्-अधीत । अध्ययानि-अध्ययाव-अध्ययाम । अध्यैत्-अध्यैताम्-अध्यायन् । अध्यैः-अध्यैतम्-अध्यैत । अध्यायम्-अध्यैव-अध्यैम । अध्यगात्-अत्र इण् भावे सति 'इणो गा लुङि' इति गादेशे तिपि 'इतश्च' इलोपेऽङ्गस्याडागमे च्लौ सिचि 'गातिस्था०' इति सिचो लुकि 'अध्यगात्' इत्यस्य सिद्धिः । शेषम् इण्वदिति भावः । अध्यैष्यत् । केचित्त्विति । 'आर्द्धधातुके' इत्यधिकारे 'इणो गा लुङि' इति सूत्रे एतद्वार्तिकपाठस्य भाष्ये दर्शनात्तदधिकारोक्तानामेव कार्याणामुपस्थितत्वात् । तन्मते यणनेति । इणो

उभय-उभयतः आश्रयणम् अन्तादिवद्भाव नहीं हो । इणो- 'इक्' को 'गा' आदेश हो लुङ्के परे । इण्व- 'इण्' धातु के समान 'इक्' धातु को भी कार्य हो-देसा कहना चाहिये ।

न्नि'ति । वी गतिव्याप्तिप्रजननकान्त्यसनखादनेषु । प्रजनो गर्भग्रहणम् । असनं-
क्षेपणम् । वेति । वीतः । वियन्ति । वेपि । वेमि । वीहि । अवेत् । अवीताम् ।
अवियन् । अटि सत्यनेकाचत्वाद्यणिति केचित् । अव्यन् ॥ अत्र ईकारोऽपि धात्व-
न्तरं प्रश्लिष्यते । एति । ईतः । इयन्ति । ईयात् । ऐषीत् । वच परिभाषणे ।
वक्ति । वक्तः । अयमन्तिपरो न प्रयुज्यते । बहुवचनपर इत्यन्ये । क्षिपर इत्यपरे ।
वक्तु । वग्धि । वच्यात् । उच्यात् । अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ् ॥ ३१॥ ५२॥
एभ्यश्चल्लेरङ् स्यात् । वच उम् ॥ ७॥ ४॥ २०॥ वच उमागमः स्यात् अङि । अवोचत् ।
अवच्यत् । मृजू शुद्धौ । मृजेवृद्धिः ॥ ७॥ २॥ ११॥ मृजेरिको वृद्धिः स्याद्वातुप्रत्यये ।
'व्रश्चे'ति षः । माष्टि । मृष्टः । (क्ङित्यजादौ वेप्यते) मार्जन्ति । मृजन्ति ।

इण् इत्यस्य 'आर्धधातुके' इत्यधिकारोक्तत्वाभावाच्चातिदेश इति भावः । तेन
ह्योऽन्तादेशे इयङि सवर्णदीर्घे अधीयन्तीत्यपि स्यात् । तस्माच्छ्रुतरि शपो लुकि इका-
रस्येयङि सवर्णदीर्घे अधीयदिति शत्रन्तात् सुबुत्पत्तौ 'अधीयन्' इति स्यात् । तेन
भट्टीकृतः 'ससीतयो राघवयोरधीयन्' इति प्रयोगोपपत्तिः भवति । पष्ठी तु 'अधीगर्थ-
द्वयेषां कर्मणि' इति सूत्रेण बोध्या । राघवौ स्मरन्निति तदर्थः । वंति । वीधातोः लटि
तिपि शपि शब्लुकि गुणे रूपम् । वीतः । वियन्ति—अत्र एकाच्चेन यणभावादियङि-
त्यर्थः । वेपि-वीथः-वीथ । वेमि-वीवः-वीमः । आर्धधातुके नास्ति अस्य प्रयोगः 'अजे-
व्यघ्नपोः' इति सूत्रं भाष्यरीत्या इति शब्देन्दुशेखरे प्रपञ्चितम् । लोट्-वेतु-वीतात्-वी-
ताम्-वियन्तु । वीहि-वीतात्-वीतम्-वीत । वयानि-वयाव-वयाम् । अवेत्-अवीताम्-
अवियन्-अत्र प्रागियङि कृते ततोऽडागमे रूपम् । अडागमे सति तु अनेकाच्चाद्यणव
स्यात् तेन च 'अव्यन्' इति द्वितीयं रूपम् । ई प्रश्लेषे तु एति-इतः-इयन्ति-इयाय-
इत्यादिरुद्धम् । वच = परिभाषणे अस्य प्रयोगः । बहुवचने वा झौ वा अन्ति परे न
भवतीति मतत्रयम् । तेन वक्ति-वक्तः । उवाच । वक्ता । वचयति । वक्तु-वग्धि । व-
च्यात् । उच्यात् । अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ् इति । च्लेरित्यनुपज्यते अत आह—
च्लेरिति । वच उमिति । अङि परतः वच्धातोः उमादेशः स्यादिति भावः । अवोचदिति ।
'अ वच् + च्लि + त्' इत्यवस्थायाम् 'अस्यतिवक्ति' इति च्लेरडादेशे 'वच उम्' इति
उमि मित्रादन्त्यावयवे 'गुणे च कृते 'अवोचत्' इति सिध्यति । अवच्यत् । मृजू =
शुद्धौ । ऊदिदयम् । मृजेवृद्धिरिति । मृजेरिको वृद्धिः स्याद्वातुप्रत्यये परतः इत्यर्थः । माष्टि
इति । मृजू शुद्धौ अस्माद्धातोः तिपि शपि शब्लुकि 'मृजेवृद्धिः' इति वृद्धौ 'व्रश्च-
अरज' इति जस्य षत्वे ष्टुत्वे रूपसिद्धिः । मृष्टः । 'क्ङित्यजादाविति । 'मृजेवृद्धिः' इत्यनेन

अस्यति-वक्ति-ख्याति—इन धातुओं से पर 'च्लि'को 'अङ्' आदेश हो । वच—'वच्'
को 'उम्' आगम हो, 'अङ्' के परे । मृजे—'मृज्'के 'इक्'को वृद्धि हो, धात्वधिकार-विहित
प्रत्ययके परे । क्ङित्य-अजादिकित्-ङित्प्रत्ययके परे 'मृज्'के 'इक्'को वृद्धि हो, विकल्पसे ।

मार्क्षि । ममार्ज । ममृजतुः । ममार्जतुः । ममार्जिथ । ममार्ष्ट । मार्जिता । मार्ष्टा ।
मार्ष्टु । मृड्ढि । अमार्द् । अमार्ड् । अमार्जम् । अमार्जीत् । 'बहोः कः सि'
अमार्क्षीत् । अमार्क्ष्यत् । अमार्जिष्यत् । रुदिर् अश्रुविमोचने । रुदादिभ्यः
सार्वधातुके । ७।२।७६। रुद् स्वप् श्वस् अन् जक्ष् एभ्यो बलादेः सार्वधातुकस्येड्
स्यात् । रोदिति । रुदितः । हौ—परत्वादिति धित्वं न । रुदिहि । रुदश्च पञ्चभ्यः
७।३।९८। रुदादेः परस्य हलादेः पितः सार्वधातुकस्यापृक्तस्य ईट् स्यात् । अङ्
गार्ग्यगालवयोः । ७।३।९९ अरोदीत् । अरोदत् । अरुदिताम् । अरुदन् ।

विहिता वृद्धिः किञ्च्यजादौ वा भवतीत्यर्थः । तेन मृजन्ति-मार्जन्ति । ममार्ज-
ममृजतुः-ममृजुः । ममार्जिथ-ममार्ष्ट-अनेङ् विकल्पः ऊदित्वात् । मार्जिता-मार्ष्टा ।
मार्जिष्यति-मार्क्ष्यति । मार्ष्टु । मृड्ढीति । 'मृज्-हि' इत्यवस्थायां 'ब्रश्च' इति षत्वे
'हुञ्जल्भ्यो हेर्धिः' इति धित्वे ण्वुत्वेन धस्य ङत्वे जश्त्वेन पस्य ङकारे रूपं सिद्धम् ।
अमार्द् इति । मृज्धातोर्लुङि तिपि शपि शञ्चुकि 'इतश्चे'ति इलोपेऽङ्गस्याडागमे
'मृजेवृद्धिः' इति वृद्धौ संयोगान्तलोपे 'वाऽवसाने' इति टत्वे तदभावे जश्त्वेन
ङत्वे अमार्द्-अमार्ड् इति रूपद्वयं साधु । अमार्जीत् । मृज्धातोर्लुङि तिपि
'इतश्च' इलोपे च्लौ सिचि इटि ईटि अडागमे 'मृजेवृद्धिः' इति वृद्धौ 'इट ईटि' इति
सलोपे सवर्णदीर्घः 'अमार्जीत्' इति रूपम् । इडभावे तु 'अमार्क्षीत्' इति रूपम् ।
अमार्क्ष्यत् । अमार्जिष्यत् । रुदादिभ्य इति । इङ्बलादेरित्यनुवृत्ति मत्वाऽऽह—
बलादेरिति । रोदितीति । रुद्धातोर्लुङि तिपि शपि शञ्चुकि 'रुद्-ति' इति जाते
'रुदादिभ्यः' इति इडागमे 'पुगन्त' इति गुणे 'रोदिति' इति रूपम् । अग्रे रुदितः-
रुदन्ति । रोदिषि-रुदिथः-रुदिथ । रोदिमि-रुदिवः-रुदिमः । रुरोद । रोदिता । रो-
दिष्यति । रोदितु । रुद्-हि इति स्थिते प्राप्तं 'हुञ्जल्भ्यो' इति धिभावं बाधित्वा
परत्वादिति 'रुदिहि' इति रूपं भवति । रुदश्चेति । 'नाभ्यस्तस्य' इत्यतः पितितीति सार्व-
धातुके इति च 'उतो वृद्धिः' इत्यतो हलीति 'गुणोऽपृक्ते' इत्यतः अपृक्ते इति 'ब्रुच
ईट्' इत्यतः ईडिति चानुवर्तते । रुद् इति पञ्चमी । अत आह—रुदादिभ्य इति विव-
क्षितम् । शेषं पूरयति-हलादेरिति । 'अङ्गार्ग्ये'ति । अनयोर्मते रुदादिभ्यः पञ्चभ्यः
परस्य हलादेः पितः सार्वधातुकस्य अपृक्तस्येडागमः स्यादिति स्पष्टोऽर्थः । अरोदीदि-
ति । रुदो लुङि तिपि 'इतश्च' इलोपे च्लौ सिचि 'रुदश्च' इतीडागमे 'अरुद्-ई-त्'
इति जाते 'पुगन्त' इति लघूपधगुणे 'अरोदीत्' इति रूपम् । 'अङ्गार्ग्यगालवयोः'

रुदादि—रुदादि पाँच धातुओं से पर बलादि सार्वधातुकको 'ईट्' का आगम हो । रुदश्च—
रुदादि पाँच धातुओं से पर अपृक्त संबन्धक इलादि पित सार्वधातुकको 'ईट्' का आगम हो । अङ्—
रुदादि पाँच धातुओं से पर अपृक्तसंबन्धक इलादि पित सार्वधातुकको 'अट्' का आगम हो, गार्ग्य

अरोदीः । अरोदः । प्रकृतिप्रत्ययविशेषापेक्षाभ्यामडोङ्भ्यामन्तरङ्गत्वाद्यासुट् ,
 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति परिभाषणात् । रुधात् । अरुदत् अरोदीत्-
 अरोदिष्यत् । जिष्वप् शये । स्वपिति । स्वपितः । सुष्वाप । सुषुपतुः । सुष्वपिथ ।
 सुष्वप्य । सुविनिर्दुर्भ्यः सुपिसूतिसमाः । ८।३।८८। एभ्यः सुप्यादेः सस्य षः

इत्यट्पच्चे 'तु' 'अरोदत्' इति द्वितीयं रूपम् । अरुदिताम् । अत्र 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके'
 इतीडागमे रूपम् । 'अरुदत्' । अरोदीः-अरोदः । अत्र 'अङ्गागर्ग्ये'ति पच्चे द्वितीयं रूपम् ।
 'रुदश्च पञ्चभ्यः' इतीडागमपच्चे अरोदीः इति रूपम् । अरुदितम्—अरुदित । अरो-
 दम् । अरुदिव । अरुदिम । प्रकृतिप्रत्ययेति । ननु लिङि तिपि यासुटं बाधित्वा
 परत्वात् 'अङ्गागर्ग्ये' इति 'रुदश्च' इति अडौटौ स्यातामित्यत आह—प्रकृतिप्रत्ययेति—
 हलादिपित्सार्वधातुकापृक्तापेक्षत्वाच्चेत्यपि ज्ञेयम् । असिद्धमिति । परस्परापेक्षया व्या-
 प्यनिमित्तकत्वमन्तरङ्गत्वं, व्यापकनिमित्तकत्वं बहिरंगत्वमित्युपसर्गः । विलम्बोपस्थि-
 तिकत्वं बहिरंगस्यासिद्धकत्वे वीजम् । रुधादिति । रुदिर्धातोः लिङि तिपि अन्तरङ्गत्वा-
 दीटमटं च बाधित्वा यासुटि कृते 'स्कोः' इति सलोपे कृते 'रुधात्' इति रूपम् । अरु-
 ददिति । रुदिर्धातोः लुङि तिपि च्लौ 'इरितो वा' इत्यङि ङित्वाद् गुणाभावे 'इत्तश्च'
 इलोपे 'अरुदत्' इत्येकं रूपं भवति, अङ्भावे 'अरुद् च्लि त्' इति स्थिते च्लेः
 सिचि । 'रुदश्च' इति तस्येडागमे । 'आर्धधातुकस्ये'ति सिच इति 'इट ईटि' इति सिचो
 लोपे सवर्णदीर्घे 'पुगन्त' इति गुणे 'अरोदीत्' इति द्वितीयं रूपं भवति । अरोदिष्यत्,
 इत्यादि । स्वपिति । जिष्वप्-शयेऽस्माद्धातोः लटि तिपि शपि शब्लुकि 'धात्वादेः षः
 सः' इति षस्य सत्वे 'स्वप्-ति' इति जाते 'रुदादिभ्यः' इतीडागमे 'स्वपिति' इत्येकमेव
 रूपम् । अग्रे 'स्वपितः' अत्र 'रुदादिभ्यः' इतीडिति भावः । स्वपन्ति । स्वपिपि-स्वपि-
 थः-स्वपिथ । स्वपिमि-स्वपिवः-स्वपिमः । सुष्वापेति । स्वप्धातोर्लिङि तिपि णलि 'लिटि
 धातोः' इति द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे हलादिशेषत्वे प्राप्ते तं बाधित्वा 'लिट्यभ्या-
 सस्योभयेषाम्' इति अभ्यासवकारस्य संप्रसारणे 'संप्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'सु-
 स्वप्-अ' इति जाते 'अत उपधाया' इत्युपधावृद्धौ आदेशसकारत्वात् 'आदेशप्र-
 त्यययोः' इति सकारस्य षत्वे कृते च 'सुष्वाप' इति रूपम् । सुषुपतुरिति । 'स्वप्-
 अतुस्' इत्यवस्थायां 'वचिस्वपि' इति संप्रसारणे पूर्वरूपे सुप्-अतुस् इति जाते 'लिटि
 धातोः' इति द्वित्वे हलादिशेषे आदेशसकारस्य षत्वे सस्य रुत्वे विसर्गे 'सुषुपतुः' इति
 रूपम् । एवं सुषुपुः । सुष्वपिथ 'सुष्वप्य' अत्र वेट्भारद्वाजमतेन । सुषुपथुः-सुषुप ।
 सुष्वाप-सुष्वप, सुषुपिव-सुषुपिम । सुविनिर्दुर्भ्य इति । कृतसंप्रसारणस्य स्वप्धातोः सुपी-

और गालवके मतसे । सुवि—'सु-वि-निर्-दुर्' इन उपसर्गोंसे पर सुप्यादि (सुपि-सूति-
 सम) के सकारको षत्व हो ।

स्यात् । 'पूर्वं धातुरूपसर्गेण युज्यते ।' किति लिटि—परत्वात्सम्प्रसारणे,
पत्वे च कृते द्वित्वम् । पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने । सुषुषुपतुः । सुषुषुपुः ।
अकिति तु—द्वित्वेऽभ्यासस्य संप्रसारणम् । पत्वस्यासिद्धत्वात्ततः पूर्वं 'हलादिः शेषः'
नित्यत्वाच्च । ततः सुप्तिरुपाभावात् षः । सुसुप्त्वाप । सुस्वप्ता । अस्वप्तीत् ।
अस्वपत् । स्वप्यात् । सुप्यात् । सुप्यास्ताम् । सुषुप्यात् । अस्वाप्सीत् । अस्वप्स्यत् ।
अवस प्राणने । प्राणनं—जीवनम् । श्वसिति । श्वसितः । शश्वास । श्वसिता । श्वसि-
ध्यति । श्वसितु । अश्वसीत् । अश्वसत् । अश्वसिताम् । अश्वसन् । श्वस्यात् । श्वस्या-
ताम् । श्वस्युः । श्वस्यात् । श्वस्यास्ताम् । श्वस्यासुः । 'ह्ययन्ते'ति न वृद्धिः । अश्व-
सिष्यत् । अन च । अनिति । अने । अनिता । अनिष्यति । आनीत् । आनत् ।
अनितेः । ८।४।१९ । उपसर्गस्थात्रिमित्तात्परस्यानितेर्नस्य णः स्यात् । प्राणिति ।

त्यनेन ग्रहणं, सूतीत्यनेन सूतिशब्दः कृदन्तो गृह्यते । समेत्यनेनापि समशब्दस्य ग्रहणम् ।
पष्ठार्थे प्रथमा । 'सहेः साढः सः' इत्यतः स इति पष्ठयन्तमनुवर्तते, मूर्धन्य इत्यधिकृ-
तम् । सुषुप्तिः—सुपूतिः—सुषमः—विषमः—दुःषमः, इति उदाहरणानि । पूर्वं धातुः साधनेन
युज्यते तत उपसर्गेण, पूर्वं धातुः उपसर्गेण युज्यते ततः साधनेनेति पक्षद्वयं तत्र लक्ष्या-
नुरोधाद्व्यवस्थेति । 'पूर्वं धातुरूपसर्गेण' इति पक्षमवलम्ब्यते । ततश्च द्वित्वात्प्रागेव
परत्वात्संप्रसारणे सति सुप् इत्युपसर्गपूर्वकत्वमादाय पत्वे च कृते सति पुनः प्रसङ्ग-
विज्ञानात् 'पुप्' इत्यस्य कृतपत्वस्य द्वित्वे सति खण्डद्वयेऽपि षकारश्रवणं निर्वाधमेव ।
अत एव 'सुषुषुपतुः' अत्र न दोषः । एतत्पत्वं किति परत एव अकिति तु 'सुसुप्त्वाप'
इत्यादौ न पत्वं पित्वेन किंवाभावात् । स्वप्ता । स्वप्स्यति । स्वपितु । अस्वप्तीत्—अस्व-
पत् । स्वप्यात् । सुप्यात् । 'सुषुप्यात्' अत्र 'सुविनिर्दुर्भ्यः' इति पत्वमवसेयम् । अ-
स्वप्स्यत् । श्वसिति । श्वस=प्राणनेऽस्माद्धातोर्लटि तिपि शपि शब्लुकि 'रुदादिभ्यः
सार्वधातुके' इतीडागमे 'श्वसिति' इति रूपम् । अग्रे सुकरम् । शश्वास । श्वसिता ।
श्वसिष्यति । श्वसितु । अश्वसीत्—अश्वसत् । श्वस्यात् । अश्वसीत् । अन च, प्राणने
इत्यर्थः । तेन रुदादित्वात् वलादौ सार्वधातुक इति 'अनिति, अनितः' इत्यादि । आन ।
आनतुः । अनिता । अनिष्यति । अनितु । आनीत्—आनत् । 'रुदश्च' इति इट् 'अङ्गाग्येति'
अडागमश्च बोध्यः । अनितैरिति । 'रपाभ्याम्' इत्यनुवर्तते 'उपसर्गादसमा' इत्यतः उप-
सर्गादिति, तदाह—उपसर्गस्थादिति । प्राणिति । प्रपूर्वकअनधातोर्लटि तिपि शपि शब्लुकि

नोटः—'सुप्'से 'स्वप्' धातु, 'सूति'से 'सूति' शब्द और 'सम' से 'सम' शब्दका ग्रहण
करना चाहिये । तीनोंके उदाहरण—'सुषुप्तिः, सुपूतिः, सुषमः आदि हैं ।
अनितेः—उपसर्गस्थ निमित्तसे पर 'अन्' धातुके नकारको णकार हो ।

जक्ष भक्षहसनयोः । जक्षिति । जक्षितः । अदभ्यस्तात् । ७।१।४। अभ्यस्ता-
 त्वरस्य भस्य अत्स्यात् । अन्तापवादः । जक्षति । अजक्षीत् । अजक्षत् । अजक्ष-
 ताम् । 'सिजभ्यस्ते' ति ङेर्जुस् । अजक्षुः । जागृ निद्राक्षये । जागर्ति । जागृतः ।
 जाग्रति । 'उषविदे'त्याम्वा । जागराञ्चकार । जजागार । जाग्रोऽविचिण्णल्-
 ङित्सु । ७।३।८५। जागर्तेर्गुणः स्याद्विचिण्णल्ङिङ्गोऽन्यस्मिन्वृद्धिविषये, प्रति-

सवर्णदीर्घे 'रूदादिभ्यः' इति तिप इटि 'अनिते' इति णत्वे प्रोक्तं रूपं भवति । अ-
 न्यात् । आनीत् । आनिष्यत् । जक्ष=भक्षहसनयोः । जक्षधातोर्वर्तमाने लटि तिपि शपि
 शब्लुकि 'रूदादिभ्यः' इति इटि 'जक्षिति' इत्यस्य सिद्धिः । जक्षितः । 'अदभ्यस्तादिति ।
 'ङोऽन्तः' इत्यतः सस्यानुवृत्तिः । अभ्यस्तसंज्ञकात्परस्य सस्यात्स्यादित्यर्थः । जक्षतीति ।
 जक्षधातोर्लटि द्वौ 'जक्षित्यादयः षट्' इत्यभ्यस्तसंज्ञायाम् 'अदभ्यस्तात्' इत्यति 'ज-
 क्षति' इति रूपं प्रसिध्यति । जजक्ष । जक्षिता । जक्षिष्यति । जक्षितु । अजक्षीत्-अज-
 क्षत् । अत्र क्रमेण 'रुदश्च' 'अङ्गागर्ग्य' इतीडटौ बोध्यौ । अजक्षिताम् । अजक्षुरिति ।
 जक्षधातोर्लङि द्वौ शपि शब्लुकि अङ्गस्याडागमे 'जक्षित्यादयः षट्' इत्यभ्यस्तत्वे
 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' इति सस्य जुसि जकारलोपेरुत्वे विसर्गे 'अजक्षुः' इति प्रभवति
 रूपम् । जक्ष्यात् । अजक्षीत् । अजक्षिष्यत्, इत्यादि । जागृ = निद्राक्षये । जागर्तीति ।
 जागृधातोर्वर्तमाने लटि तिपि शपि शब्लुकि 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे
 'जागर्ति' इति रूपम् । जागृतः । जाग्रति, अत्र 'जक्षित्यादयः षट्' इत्यभ्यस्तसं-
 ज्ञायाम् 'अदभ्यस्तात्' इति सस्याति रूपम् । जागर्षि-जागृथ-जागृथ । जागर्मि-जागृवः-
 जागृमः । जागराञ्चकारेति । अत्र-लिटि 'कास्यनेकाच आस्वक्त्य' इत्यामि तस्यार्धधा-
 तुकत्वाद् गुणे 'जागराम् लिट्' इति जाते 'आमः' इति लुकि 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि'
 इति कृञोऽनुप्रयोगे तिपि णलि 'लिटि धातोः' इति द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे 'उरत्' इत्य-
 त्वे रपरत्वे हलादिः शेषत्वे 'अभ्यासे चर्चे' इति चर्त्वेन कस्य चत्वे 'जागराम्-चकृ-
 अ' मस्यानुस्वारे परसवर्णे 'अचोऽङ्गिति' इति वृद्धौ 'जागराञ्चकार' इत्येकं रूपं,
 अन्ये जागराम्बभूव-जागरामास । जजागारेति । 'आयादय आर्धधातुके वा' इत्याम-
 भावे लिटि तिपि णलि धातोर्द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे ह्रस्वे 'जजागृ-अ' इति जाते 'अ-
 चो ङिति' इति वृद्धौ 'जजागार' इति रूपम् । जाग्रोऽविचिणिति । जाग्र इति षष्ठी ।
 'मिदेर्गुणः' इत्यतो गुण इति, तदाह-जागर्तेर्गुणः स्यादिति 'अविचिण्णल्ङित्सु' इति
 छेदः । वि-चिण्-णल्-ङित् एषां द्वन्द्वे नञ्समासः । चिण्णल्पर्युदासाद् वृद्धिविषयेऽ-

अद—अभ्यस्त. संज्ञकसे पर 'क्ष' को 'अत्' आदेश हो ।

जाग्रो—'जागृ' धातुको गुण हो, विन्, चिण्, और णल्से भिन्न वृद्धिविषयक प्रत्यय
 तथा छिन्न प्रतिषेध-विषयक प्रत्ययके परे ।

बोधविषये च । जजागरतुः । जजागरुः । जागरिता । जागरिष्यति । अजागः । अजागृताम् । अभ्यस्तत्वाञ् जुस् । जुसि च । ७।३।८३ अजादौ जुसि इगन्ताङ्गस्य गुणः स्यात् । अजागरुः । अजादौ किम् ? जागृयुः । आशिषि तु—जागर्यात् । जागर्यास्ताम् । जागर्यासुः । अजागरीत् । दरिद्रा दुर्गतौ । दरिद्राति । इदरिद्रस्य । ६।४।११४ दरिद्रातेरिङ्कारः स्याद्वलादौ षिति । सार्वधातुके । दरिद्रितः । श्नाभ्यस्तयोरातः । ६।४।११२ श्नाभ्यस्तयोरातो लोपः स्यात् षिति सार्वधातुके । दरिद्रति । अनेकाच्त्वादाम् । दरिद्राश्चकार 'आत औ णलः' इत्यत्र 'औ' इत्येव सिद्धे 'औ' विधानं दरिद्रातेरालोपे कृते श्रवणार्थम् अत एव ज्ञापकादाम्नेत्येके ।

प्यस्य प्रवृत्तिः । डिस्पर्युदासात् गुणप्रतिषेधविषयेऽप्यस्य प्रवृत्तिः । जजागरतुः । जजागृ-अतुस् इत्यवस्थायां 'जाग्रो' इति गुणे रपरत्वे सस्य रुत्वे विसर्गे जजागरतुरिति सिध्यति । जजागरुः, अत्रापि 'जाग्रो' इति गुणः । जजागरिथ, जजागरथुः, जजागर । जजागार-जजागर-जजागरि-जजागरिम् । जागरिता-जागरिष्यति-जागर्तु । अजाग इति । जागृधातोर्लङि तिपि गुणे 'इतश्च' इलोपे 'हृत्' इत्यादिलोपेऽङ्गस्याडागमे रेफस्य विसर्गे 'अजागः' इति रूपम् । जुसि चेति । अङ्गस्येति धिकृतम् । 'मिदेर्गुणः' इत्यतो गुणपदमनुवर्तते । 'इको गुणवृद्धी' इकः पदस्य तदन्तविधिः । अजागरिति । जागृधातोर्लङि औ 'जक्षित्यादयः षट्' इत्यभ्यस्तसंज्ञायां 'जुसि च' इत्यनेन गुणेऽङ्गस्याडागमे 'अजागरुः' इति रूपम् । जागृयात् । जागर्यात्, अत्र 'जाग्रो' इति गुणः । अजागरीत् । अजागरिष्यत् । दरिद्रा=दुर्गतौ-दरिद्राति । इदरिद्रस्येति । 'गमहनः' इत्यतः षिति 'ई हृत्' इत्यतः हलीति 'अत उत्' इत्यतः सार्वधातुके इति । दरिद्रितः इति । 'दरिद्रा-तस्' इत्यवस्थायां 'इदरिद्रस्य' इति इकारे रूपम् । 'जक्षित्यादयः षट्' इत्यभ्यस्तसंज्ञायां 'श्नाभ्यस्तयोरातः' इत्यालोपे प्राप्ते तद् बाधनार्थमेतदिति । श्नाभ्यस्तयोरिति । 'अत्र 'गमहन' इत्यतोः 'षिति' लोप इति चानुवर्तते । 'अत उत्' इत्यतः सार्वधातुकेति । दरिद्रति । दरिद्रा-क्षि इत्यवस्थायां 'जक्षित्यादयः' इत्यभ्यस्तत्वे झस्य 'अदभ्यस्तात्' इत्यति 'श्नाभ्यस्तयोः' इत्यालोपे 'दरिद्रति' इति रूपम् । दरिद्राश्चकार-दरिद्राम्भूव-दरिद्रामास । 'आत औ णलः' इति ज्ञापकादाम्नेति पक्षे 'ददरिद्रौ' इति रूपम् । दरिद्रिता । दरिद्रिष्यति । दरिद्रानु । अदरिद्रात् । दरिद्रियात् । दरिद्रयात् । अदरिद्रीत् । अदरिद्रासीत् । चकास-चकास्ति । चकासांचकार । चकासिता । चकासिष्यति । चकास्तु । चकाद्धि-अत्र चकास्-हि इति स्थिते 'हुश्चभ्यो' इति हेर्धित्वे जश्त्वेन सकारस्य दंकारे 'चकाद्धि'

जुसि—इगन्त अङ्गको गुण हो, अजादि 'जुस्' प्रत्ययके परे । इद्—'दरिद्रा' धातुके आतको 'इत्' हो, इलादि कित्-ङित् सार्वधातुके परे । आ- 'श्ना' प्रत्यय और अभ्यस्तसंज्ञक धातुके

ददरिद्रौ । (दरिद्रातेरार्द्धधातुके विवक्षिते आलोपो वाच्यः । लुङि वा)
 (सनि, ण्वुलि, ल्युटि च न) दरिद्रिता । अदरिद्रात् । अदरिद्रिताम् । अद-
 रिद्रुः । दरिद्रियात् । दरिद्रयात् अदरिद्रीत् । पक्षे—इट्सकौ । अदरिद्रासीत् ।
 चकासु दीप्तौ । चकास्ति । चकास्तः । चकासति । चकासाञ्चकार । चकासिता ।
 चकास्तु । 'धि चे'ति सलोपः सिच एवेत्येके । तन्मते—चकाद्धि । 'चकाधि' इत्येक
 तु भाष्यम् । तिष्यनस्तेः । ८।२।७३। पदान्तस्य सस्य दः स्यात्पिति, नत्वस्तेः ।
 अचकात् । अचकाद् । अचकास्ताम् । अचकासुः । सिपि धातो र्वा । ८।२।७४।
 पदान्तस्य धातोः सस्य र्वा स्यात्सिपि । पक्षे दः । अचकाः । अचकात् । अचकाद् ।
 शासु अनुशिष्टौ । शास्ति । शास इदङ्हलोः । ६।४।३४। शास उपधाया
 इत्यादङि, हलादौ । षिति च । 'शासिवसी'ति षः । ष्टुत्वम् । शिष्टः । शासति ।
 शशास । शशासतुः । शास्तु शिष्टात् । शिष्टाम् शासतु । शा हौ । ६।४।३५।

इति रूपम् । यदा 'धि च' इत्यनेन सलोपः स्यात्तदा 'चकाधि' इत्येव रूपम् । तिष्य-
 नस्तेः । न अस्तिः अनस्तिस्तस्येति विग्रहः । पदस्येत्यधिकृतम् । 'झलां जशोऽन्ते' इत्यतः
 अन्ते इत्यनुवर्तते । 'ससञ्चयोः' इति स इति पष्ठयन्तमनुवर्तते 'वसुखंसु' इत्यतो द इति ।
 अचकादिति । चकासुधातोर्लङि तिपि 'इतश्च' इलोपेऽङ्गस्याडागमे हल्ङ्यादिलोपे
 'तिष्यनस्तेः' इति सस्य दत्वे 'वावसाने' इति वा तकारे 'अचकात्-अचकाद्'
 इति । सिपि धातोरिति । पदस्येति अधिकृतम् । 'झलां जशोऽन्ते' इत्यतोऽन्ते
 इति 'ससञ्चयोः' इत्यतः स इति । अचका इति । चकासुधातोर्लङि सिपि शपि शब्लुकि
 'चकास्-सिप्' पलोपे 'इतश्च' इलोपे हल्ङ्यादिलोपे 'सिपि धातो र्वा' इति सस्य
 रुत्वपक्षे 'अचकाः' इति रूपम् । यदा रुत्वं न स्यात्तदा पक्षे दत्वे अचकादिति
 रूपम् । अचकासीत् । अचकासिष्यत् । शासु-अनुशिष्टौ-शास्ति । शास इदङ्ह-
 लोरिति । 'अनिदिताम्' इत्यतः उपधायाः षिङ्गीत्यनुवर्तते । शिष्टः इति । शास्-
 तस् इति जाते 'शास इदङ्हलोः' इतीत्वे सस्य षत्वे ष्टुत्वे रत्वे विसर्गे 'शिष्ट' इति
 रूपम् । शासतीति । अत्र जञित्यादित्वादभ्यस्तसंज्ञायाम् 'अदभ्यस्तात्' इत्यति रूपम् ।
 शशास । शासिता । शासिष्यति । शास्तु । शा हौ । हौ परतः शास् इत्यस्य शादेश

आकारका लोप हो, कित्-लङ् सार्वधातुकके परे । दरिद्रा-आधधातुका विवक्षामे दारेद्राधातुके
 आकारका लोप (नित्य हो) हो, परन्तु 'लुङ्'के परे विकल्पसे हो । सनि-सन्, ण्वुल्
 और ल्युट् के परे 'दरिद्रा' धातुके आकारका लोप नहीं हो । तिष्य-पदान्त सकारको दकार
 आदेश हो, 'तिप्'के परे—'अस्' धातुके सकारको छोड़कर । सिपि—धातुके पदान्त सकार
 को रुत्व हो, 'सिप्'के परे, विकल्पसे । पक्षमें दकार भी हो । शास्—'शास्' धातुकी उपधाकी
 'इत्' हो, 'अङ्'के परे और हलादि कित्-ङित् प्रत्ययके परे । शा हौ—'शास' को 'शा' आदेश

शास्तेः शादेशः स्याद्धौ परे । तस्याऽऽभीयत्वेनासिद्धत्वाद्धेधिः । शाधि । अशात् ।
अशाद् । अशिष्टाम् । अशासुः । अशाः । अशात् । शिष्यात् । सतिशास्त्यति-
भ्यश्च । ३।१।५६। एभ्यश्चत्तेरङ् स्यात्कर्त्रर्थे लुङि । अशिषत् । अशासिष्यत् ॥
इति परस्मैपदप्रक्रिया ॥

अथाऽऽत्मनेपदप्रक्रिया । शीङ् स्वप्ने । शीङः सार्वधातुके गुणः । ७।४।
२१। शीङो गुणः स्यात्सार्वधातुके । 'किञ्चि चे' त्यस्यापवादः । शेते । शयाते । शीङो
रुट् । ७।१।६। शीङः परस्य आदेशस्यातो रुट् । शेरते । शेपे । शयाथे । शेप्वे ।
शये । शेवहे । शेमहे । शिश्ये । शयिता । शयिष्यते । शेताम् । अशेत । अशंया-

इत्यर्थः । तेन शास् हि इत्यवस्थायां 'शा हि' इति जाते सलोपमाश्रित्य तस्या-
सिद्धत्वात् 'हुङ्गत्थो हेधिः' इति धित्वे 'शाधि' इति रूपम् । अशात् । अशाः-अशात् ।
शिष्यात्-अत्र 'शास इदङ् हलोः' इति इकारः । सतिशास्त्यनिभ्यश्च । च्लेरङ् इत्य-
नुषज्यते । अशिषत्-शास् धातोः लुङि तिपि 'इत्तश्च' हलोपेऽङ्गस्याडाङगमे 'शास
इत्' इति इ आदेशे च्लौ तत्स्थाने 'सतिशास्ति' इति अडादेशे 'अशिषत्' इति
रूपम् । अशासिष्यत् , इत्यादि । इति परस्मैपदम् ।

शेते । शीङ् धातोः इटि, तत्स्थाने शीङो डित्वात् 'अनुदात्तङित' इत्यात्मनेपदे
प्रथमपुरुषैकवचनविवक्षायां 'त'कृते, शपि, शपो लुकि, तस्य अपित्सार्वधा-
तुकत्वात् 'सार्वधातुकमपित्' इति डित्त्वेन गुणाभावे प्राप्ते 'शीङः सार्वधा-
तुके गुणः' इति गुणे 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे च 'शेते' इति रूपम् ।
शीङो रुडिति । 'झोऽन्तः' इत्यतो 'झ' इत्यनुवर्तते । 'अदभ्यस्तात्' इत्यतः अदि-
त्यनुवृत्तं पठ्या विपरिणम्यते । तदाह—शीङः परस्य आदेशस्येति । शेरते । शीङो
लटो झप्रत्यये, शपो लुकि 'शीङः सार्वधातुके गुणः' इति गुणे 'आत्मनेपदेष्वनतः'
इति झस्यातादेशे टेरेत्वे 'शीङो रुट्' इति रुटि, उटि गते टित्वादाद्यावयवे जाते
सति 'शेरते' इति रूपम् । शिश्ये । शीङो लिटस्ते 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इति तस्य
स्थाने एशि शगते 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे अभ्यासत्वे अभ्यासकार्ये
च कृते 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' इति यणि 'शिश्ये' इति रूपम् । शेताम् ।
लोटस्ते, शपि, शपो लुकि, 'शीङः सार्वधातुके गुणः' इति गुणे, टेरेत्वे 'आमेतः'
इति एकारस्यामि कृते रूपम् । अशेत । शीङो लङि, लङस्ते, शपि, शपो लुकि,

हो, 'हि'के परे ।

सति—सति (स), शास्ति (शास्) और अति (ऋ) धातुसे पर 'चि'को 'अङ्'
आदेश हो, कर्त्रर्थक लुङ्के परे ।

शीङः सार्वधातुके गुणः—'शीङ्' धातुको गुण हो, सार्वधातुवके परे ।

शीङो—'शीङ्'से पर आदेश 'अत्'को 'रुट्'का आगम हो ।

ताम् । अशेरत् । शयीत् । शयीयाताम् । शयीरन् । शयिषीष्ट । अशयिष्ट । अश-
यिष्यत् । इङ् अध्येयने । इङ्किवाध्युपसर्गतो न व्यभिचरतः । अधीते । अधीयाते ।
अधीयते । गाङ् लिटि । २।४।४९। इङो गाङ् स्याल्लिटि । अधिजगे । अध्येता ।
अध्येष्यते । अधीताम् । अधीध्व । अधीयाथाम् । अधीध्वम् । अध्ययै । अध्ययावहे ।
अध्ययामहे । अध्यैत् । अध्यैयाताम् । अध्यैयत् । अध्यैथाः । अध्यैयाथाम् । अध्यै-
ध्वम् । अध्यैयि । अध्यैवहि । अध्यैमहि । अधीयीत् । अधीयीयाताम् । अधीयीरन् ।

अटि, 'शीङः सार्वधातुके गुणः' इति गुणे 'अशेत' इति रूपम् । शयीत् । शीडो
लिङ्स्तप्रत्यये शपो लुकि 'शीङः सार्वधातुके गुणः' इति गुणे 'लिङः सीयुट्' इति
सीयुटि, उटि गते टित्वादाद्यावयवे 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' इति सलोपे अयादेशे
यलोपे च तत्सिद्धिः । शयिषीष्ट । शीडित्यस्माद्धातोराशीर्लिङ्गस्ते सीयुटि उटो लोपे
'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'आर्धधातुकस्येडवलादेः' इतीटि 'एचोऽय-
वायावः' इति अयि 'शय् इ सीय् त' इति स्थिते 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे
'सुट् तिथोः' इति सुटि उटावितौ सस्य पत्वे तस्य ण्डुत्वे च विहिते 'शयिषीष्ट'
इति वेद्यम् । अशयिष्ट । शीडो लुङ्गस्ते च्लौ 'च्लेस्सिच' इति च्लेस्सिजादेशे इचा-
वितौ इटि 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणेऽयादेशे सकारस्य पत्वे ण्डुत्वे च
विहिते अडागमे 'अशयिष्ट' इति । अधीते । अधिपूर्वकात् इङ् अध्ययने इति धातोर्लटि
तादेशे टेरत्वे च कृते 'इको यणचि' इति यणं बाधित्वा सवर्णदीर्घे 'अधीते' इति
वेदनीयम् । गाङ् लिटि । 'इङश्च' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । स्थानिवत्त्वादेव
डित्वे सिद्धे डित्करणं 'गाङ्कुटादिभ्यः' इत्यत्र 'इणो गा लुङि' इत्यस्य ग्रहणा-
भावार्थमिति भाष्यम् । अधिजगे । अधिपूर्वादिङो लिटि 'गाङ् लिटि' इति
इङो गाङादेशेऽनुबन्धलोपे लिटो लः स्थाने ते, तस्य एशि, शगते द्वित्वे अभ्यासत्वे,
ह्रस्वे, चुत्वे, 'आतो लोप इटि च' इत्यालोपे च तत्सिद्धिः । अध्येता । अधिपूर्वा-
दिङो लुटस्ते तासि, 'अधि इ तास' इति स्थिते 'लुटः प्रथमस्य डारौरसः' इति
तस्य स्थाने डात्वे डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेलोपे, तास आर्धधातुकत्वात् 'सार्वधा-
तुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'अधि ए त् आ' इति जाते 'इको यणचि' इति
यणि, 'अध्येता' इति । अध्येष्यते । अधिपूर्वादिङो लुटस्ते, 'स्यतासी लुलुटोः' इति
स्ये टेरत्वे सस्य पत्वे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'इको यणचि' इति
यणि च कृते 'अध्येष्यते' इति । अधीताम् । अधिपूर्वादिङो लोटि, लोटो लः स्थाने
ते, शपि, शपो लुकि, टेरत्वे 'आमेतः' इत्येकारस्यामि, धातूपसर्गयोः सवर्णदीर्घे
च जाते 'अधीताम्' इति रूपम् । अध्यैत् । अधिपूर्वादिङो लङ्स्तप्रत्यये शपो लुकि
आटि वृद्धौ यणि च तत्सिद्धिः । अधीयीत् । अधिपूर्वात् इङो लिङ्स्तप्रत्यये शपो लुकि
गाङ् — 'इङ्को 'गाङ्' आदेश हो, 'लिट्'के परे ।

अधीयीध्वम् । अध्येषीष्ट । विभाषा लुङ्लृङोः । २।४।५०। इणो गाङ् । गाङ्कुटा-
दिभ्योऽङ्गिण्डित् । १।२।१। गाङादेशात्कुटादिभ्यश्चाऽङ्गितः प्रत्ययाङितः स्युः ।
घु-मा-स्था गा-पा-जहाति-सां हलि । ६।४।६६। एषामात् ईत्स्याद्वलादौ विङ-
त्यार्द्धधातुके । अध्यगीष्ट । अध्यैष्ट । अध्यगीष्यत । अध्यैष्यत ॥ ईर गतौ, कम्पने
च । ईर्त्ते । ईराञ्चक्रे । ईरिता । ईरिष्यते । ईर्त्ताम् । ईर्त्वे । ईर्ध्वम् । ऐरिष्ट । कश
गतिशासनयोः । कष्टे । कशाते । ईड स्तुतौ । ईष्टे । ईशः से । ७।२।७७। ईड-

सीयुटि सुटि सलोपे यलोपे इयङि सवर्णदीर्घे च तत्साधु । अध्वेषीष्ट । इड आशी-
लिङस्ते सीयुटि उटि गते यलोपे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'अधि प सी
स् त' इति स्थिते 'सुट् तिथोः' इति सुटि उटि गते यणि च कृते 'अध्ये सी
स् त' इति जाते द्वयोः सकारयोः पत्वे ण्वुत्वे च विहिते च 'अध्येषीष्ट' इति
निष्पद्यते । विभाषा लुङ्लृङोः । शेषं पूरयति -इङो गाङ् वा स्यादिति । 'इङश्च'
इत्यतो 'गाङ् लिति' इत्यतश्च तदनुवृत्तेरिति भावः । गाङ्कुटादिभ्योऽङ्गिण्डित् । अ
णच ङ्णौ तौ इतौ यस्य स ङ्गित् स न भवतीति अङ्गित्, गाङ् च कुटाद-
यश्चेति द्वन्द्वात्पञ्चमी । गाङिति ङकारानुबन्धात् 'इणो गा लुङि' इत्यस्य न
ग्रहणमित्युक्तम् । नापि गाङ् गतौ, इत्यस्यात्र ग्रहणम् । तत्र ङकारस्यात्मनेपद-
प्रापणेन चरितार्थत्वात् । इङादेशस्य गाङो ङकारो नात्मनेपदप्रापणेन चरितार्थः ।
स्थानिवत्त्वेनैव तत्सिद्धेः । तदाह—गाङादेशादिति । घुमास्थागापाजहातिसां हलि । षोऽ-
न्तकर्मणि इत्यस्य कृताच्चस्थ निर्देशः । घु मा स्था गा पा जहाति सा एषां द्वन्द्वात्
षष्ठी । 'आर्धधातुके' इत्यधिकृतम् । 'आतो लोप इटि च' इत्यतः आत इति
'ईद्यति' इत्यतः ईदिति 'अनुदात्तोपदेश' इत्यतः विङति इति चानुवर्तते । तदाह—
एषामित्यादिना । अध्यगीष्ट । अधिपूर्वकादिङ्धातोर्लुङि तप्रत्यये 'विभाषा लुङ्लृङोः'
इतीङो गाङादेशे इटि च्ले सिचि 'गाङ्कुटादिभ्योऽङ्गिण्डित्' इति सिचो ङित्वे
'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' इति ईत्वे यणि पत्वे ण्वुत्वे च 'अध्यगीष्ट' इति ।
गाङोऽभावे आटि वृद्धौ पूर्वोक्तकार्ये च 'अध्यैष्ट' इति निष्पन्नम् । अध्यगीष्यत । इङो
लृङस्ते समागते 'विभाषा लुङ्लृङोः' इति गाङादेशे तस्य ङित्वे आकारस्येकारे
अटि यणि सस्य पत्वे च कृते 'अध्यगीष्यत' इति । गाङादेशाभावे—आटि वृद्धौ यणि
स्ये सस्य पत्वे च कृते 'अध्यैष्यत' इति । ईर गतौ कम्पने च—ईर्त्ते । ईराञ्चक्रे । ईरिता ।
ईरिष्यते । ईर्त्ताम् । ऐयः । ईरिषीष्ट । ऐरिष्ट । ऐरिष्यत । ईड-स्तुतौ, ईष्टे-ईडाते—

विभा—'इङ्'को 'गाङ्' आदेश हो. लुङ्-लृङ्के परे, विकल्पसे । गाङ्—'इङ्' स्थानिक
'गाङ्' और कुटादिसे पर अित्-णित् से भिन्न प्रत्यय 'ङित्' हो । घुमा—घुसंज्ञक धातु तथा
मा, स्था, गा, पा, हा, और 'घो' धातुके आकारको 'ईत्' हो, हलादि कितङित् आर्धधातुकके परे ।
ईशः-ईश्, ईड् और 'जन्' धातुसे पर सार्वधातुक 'से' और 'ध्वे' शब्दको 'इट्'का आगम हो ।

जनोध्वे च । ७।२।७८। ईशीङ्जनं सध्वेशब्दयोः सार्वधातुकयोरिट् स्यात् । योगवि-
भागो वैचित्र्यार्थः । ईङिषे । ईङिध्वे । एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात्—ईङिष्व । ईङि-
ध्वम् । विकृतिग्रहणेन प्रकृतेरग्रहणात्—ऐङ्ध्वम् । ईश ऐश्वर्ये । ईष्टे । ईशिषे ।
ईशिध्वे ॥ आस उपवेशने । आस्ते । 'दयायासश्चे'त्याम् । आसाञ्चक्रे । आस्व ।
आध्वम् । आसिष्ट । आङः शासु इच्छायाम् । आशास्ते । आशासाते । आशा-
से । वस आच्छादने । वस्ते । वस्ते । वध्वे । ववसे । वसिता ॥ णिस्ति चुम्बने ।
निस्ते । णिजि शुद्धौ । 'चोः कुः' । निङ्क्ते । निङ्क्ते । निनिञ्जे । निजिता । निजि-
ष्यते । वृज्जी वर्जने । वृक्ते । वृजाते । इदिदित्यन्ये । वृङ्क्ते । पृची संपर्चने ।
पृक्ते । पपृचे । षूङ् प्राणिगर्भविमोचने । सूते । सुषुवे । सुषुवाते । सुषुविरे । सुषु-
विषे । सोता । सविता । 'भूसुवो'रिति गुणनिषेधः । सुवै । सविषीष्ट । सोषीष्ट ।
असविष्ट । असोष्ट ॥ चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि । अयं दर्शनेऽपि । इकारोऽनुदात्तो
युजर्थः । नुम्तु न, 'अन्त्येदित' इति व्याख्यानात् । इकारस्तु 'अनुदात्तेत्वप्रयुक्तमात्म-
नेपदमनित्य'मिति ज्ञापनार्थः । तेन 'स्फायन्निर्मोकसन्धि'रित्यादिसिद्धिः । 'स्को'रिति
कलोपः । चष्टे । चक्षते । 'आर्द्धधातुके' । चक्षिङः ख्याञ् । २।४।५४ वा
लिटि । २।४।५५ अत्र भाष्ये 'ख्शा'दिरयमादेशः । असिद्धकाण्डे—'शस्य यो वा'

ईङते । ईशः से, ईङ्जनोध्वे चेति इडित्यनुवर्तते । ईङिषे । अत्रेडागमः 'ईङ्जनोध्वे च'
इत्यनेन । ईडाथे । ईङिध्वे, अत्रापि । ईङे । ईङ्वहे ईङ्महे । ईङे । ईङिता । ईङिष्यते ।
ईङाम् । ऐष्टे, इत्यादि । ईश=ऐश्वर्ये, ईष्टे । ईशे । ईशिध्वे 'ईशिषे' 'अत्रेड्' इत्यादि ।
आस=उपवेशने आस्ते । 'दयायासश्च' इत्यामि आसाञ्चक्रे, इति रूपम् । आसिता ।
आसिष्यते । आस्ताम् । आस्व । आध्वम् । लुङि आसिष्ट इत्यादि । आङः शासु =
इच्छायाम् । आशास्ते । वस=आच्छादने । वस्ते । ववसे । वसिता । वसिष्यते ।
वस्ताम् । अवस्त । वसिषीष्ट । अवसिष्ट । अवसिष्यत । निसि=चुम्बने । निस्ते । नि-
निसे । निसिता । निसिष्यते । निस्ताम् । अनिस्त । निसिषीष्ट । अनिसिष्ट । अनिसि-
ष्यत । निजि=शुद्धौ । निङ्क्ते । निनिञ्जे । निजिता । निजिष्यते । निङ्क्ताम् । अनिङ्क्त् ।
निजिषीष्ट । अनिजिष्ट । अनिजिष्यत । वृज्जी=वर्जने । वृक्ते । पृची=पृक्ते । पपृचे । षूङ्=
प्राणिगर्भविमोचने । सूते=सुवाते=सुवते । सुषुवे । सोता=सविता 'स्वरति' इति
वेत् । सोष्यते=सविष्यते । सूताम्=असूत । सविषीष्ट । असविष्ट । असोष्ट । असविष्यत ।
असोष्यत । चक्षिङ्=व्यक्तायां वाचि । चष्टे । चक्षिङः ख्याञ् वा लिटीति । आर्द्धधातुके
चक्षिङः ख्याञ् आदेशः स्याल्लिटि तु वा । चख्यौ । चख्ये । ख्शादिरयमादेश इति मते

चचि—'चक्षिङ्' धातुको 'ख्याञ्' (ख्याञ्) आदेश हो । वा लि—'लिट्'के षरे

इति स्थितम् । नित्वात्पदद्वयम् । चख्यौ । चख्ये । चकशौ । चकशे । 'चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादे'रिति तु न, चत्वंस्यासिद्धत्वात् । चचक्षे । ख्याता । कशाता । ख्यास्यति । ख्यास्यते । कशास्यति । कशास्यते । चष्टाम् । अचष्ट । चक्षीत । ख्यायात् । ख्येयात् । कशायात् । कशेयात् । 'अस्यतिवर्त्ता'त्यङ् । अख्यत् । अख्यत । 'यमरमे'तीट्-सकौ । अकशासीत् । अकशास्त । ('वर्जने ख्शाञ् नेष्टः') । समचक्षिष्टेत्यादि ।
इत्यात्मनेपदप्रक्रिया ।

अथोभयपदप्रक्रिया ।

द्विष अप्रीतौ । द्वेष्टि । द्विष्टे । दिद्वेष । दिद्विषे । द्वेष्टा । द्वेक्ष्यति । द्वेष्टु-द्विष्टात् । द्विड्ढि । द्विद्व । द्वेषाणि । द्वेषै । अद्वेष्ट् । द्विषश्च । ३।४।११२। द्विषः-परस्य लङो शेर्जुस् वा । अद्विषुः । अद्विषन् । अद्विष्टम् । अद्विष्टम् । द्विषीत । द्विषीष्ट । 'शल इगु-पधे'ति कसः । अद्विक्षत् । अद्वेक्ष्यत । दुह प्रपूरणे 'दादेर्धातोर्धः' इति हस्य घः । अषस्तथोर्धोऽधः । दोग्धि । दुग्धः । दुहन्ति । 'एकाचो वशो भषि'ति दकारस्य धकारः । धोक्षि । दुग्धः । दुग्ध । दोग्धि । दुहः । दुह्यः । दुग्धे । दुहाते । दुहते । धुक्षे । दुहाथे । धुग्ध्वे । दुहे । दुहहे । दुह्यहे । दुदोह । दुदुहे । दोग्धा । धोक्ष्यति ।

चकशौ-चकशे-चचक्षे । ख्याता-कशाता । ख्यास्यति-ख्यास्यते-कशास्यते । चष्टाम् । अचष्ट । चक्षीत । ख्यायात्-ख्येयात् 'वान्यस्य संयोगादेः' । अख्यत्-अख्यत । अकशासीत्-अकशास्त ।

द्विप् । द्वेष्टि-द्विष्टे । दिद्वेष-दिद्विषे । द्वेष्टा । द्वेक्ष्यति-द्वेक्ष्यते । द्विष्टाम्-द्वेष्टु । सिपि द्विड्ढि । अद्वेष्ट्-अद्वेष्ट् । झौ तु-द्विषश्चेति । अत्र शेर्जुंसिति अनुवर्तते अत आह-लङो शेर्जुंसिति । तेन 'अद्विषुः' इति सिध्यति । अयं जुसादेशो विकल्पेन भवति तदभावे अद्विषन् । 'अद्विचत्' । अत्र शल इगुपधेति कशादेश इति भावः । दोग्धि । दुह प्रपूरणे इत्यस्माद्धातोर्लटस्तिपि समागते शपो लुकि 'दादेर्धातोर्धः' इति हस्य घत्वे 'अषस्तथोर्धोऽधः' इति तस्य घत्वे 'दुग्ध धि' इति जाते 'शलां जश् शशि' इति घस्य गत्वे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे । 'दोग्धि' इति । दुदोह दुहेर्लटस्तिपि, इति घस्य गत्वे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे । 'दुदोह' इति । 'धोक्ष्य-तिपो णलि, धातोर्द्वित्वे हलोपे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'दुदोह' इति । 'धोक्ष्य-तिपो णलि, धातोर्द्वित्वे हलोपे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'दादेर्धा-तोर्धः' इति हस्य घत्वे 'एकाचो वशो भष् अषन्तस्य रध्वोः' इति दस्य भष्भावेन घत्वे 'खरि च' इति घस्य कत्वे कात्परकत्वात्पत्वे क्षयोगे च 'धोक्ष्यति' इति रूपम् ।

'ख्याञ्' आदेश विकल्पसे हो । वर्ज-वर्जन अर्थमें 'ख्शाञ्' आदेश नहीं हो । द्विषः-द्विष् धातुसे पर 'लङ्' सम्बन्धी 'क्षि'को 'जुस्' आदेश हो, विकल्पसे ।

बोक्ष्यते । दोग्धु । दुग्धात् । दुग्धाम् । दुहन्तु । दुग्धि । दुग्धात् । दुग्धम् ।
 दुग्ध । दोहानि । दुग्धाम् । दुहाताम् । दुहताम् । धुक् । दुहाथाम् । धुग्धम् ।
 दोहै । दोहावहै । दोहामहै । अधोक् । अधोग् । अदुग्धाम् । अदुहन् । अदोहम् ॥
 अदुग्ध । अदुहाताम् । अदुहत् । अदुग्धाः । अदुहाथाम् । अधुग्धम् । दुह्यात् । दुहीत् ।
 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' । धुक्षीष्ट । 'शल इगुपधे'ति कसः । अधुक्षत् । लुग्वा
 दुहदिहलिहगुहामात्मनेपदे दन्त्ये । ७।३।७३। एषां कसस्य लुग्वा, दन्त्ये तङि ।
 अधुक्षत्-अदुग्ध । कसस्याचि । ७।३।७२। अजादौ तङि कसस्य लोपः स्यात् ।

बोक्ष्यते । आत्मनेपदिप्रत्यये लुटस्ते, टेरेत्वे शेषं पूर्ववत् । अधोक् । दुह्धातोर्लङ्स्तिपि,
 शपो लुकि, अङ्गस्याडागमे, 'पुगन्त' इति लघुपधगुणे 'इतश्च' इति तिप इकार-
 लोपे 'हल्ङ्याभ्यो' इति तलोपे 'दादेर्धातोर्घः' इति हस्य घत्वे 'एकाचो' इति
 भग्भावेन दस्य घत्वे जश्त्वेन गकारे तस्य चत्वेन ककारे 'अधोक्' इति रूपम् ।
 अदुहत् । लङो श्ते, शपो लुकि 'आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्' इति अतादेशे अटि च कृते
 रूपम् । धुक्षीष्ट । दुह्धातोराशीर्लिङस्ते, सीयुटि, उटि गते 'लिङ्सिचावात्मने०'
 इति लिङः कित्त्वे 'किङिति च' इति गुणाभावे 'लोपो व्योर्वलि' इति य् लोपे
 'दादेर्धातोर्घः' इति हस्य घत्वे 'एकाचो वशो०' इति भग्भावे 'खरि च' इति घस्य
 कत्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति सस्य पत्वे क्पयोगे च 'सुट्थियोः' इति सुटि, उटि गते
 टित्त्वादाद्यावयवे, सस्य पत्वे 'ष्टुना ष्टुः' इति ष्टुत्वे च कृते 'धुक्षीष्ट' इति रूपम् ।
 अधुक्षत् । दुहो लुङस्तिपि 'ल्लि लुङि' इति च्लौ, 'शल इगुपधादनिटः कसः' इति
 च्लेः कसादेशे कृते दुह् कस इति स्थिते कस्येत्सङ्ज्ञायां लोपे च 'दादेर्धातोर्घः' इति
 हस्य घत्वे 'एकाचो वशो०' इति भग्भावेन दस्य घत्वे 'धुष् स् ति' इति जाते 'खरि
 च' इति घस्य कत्वे 'लुङ्ल्लुङ्चवहुदात्तः' इति अडागमे तिप इकारलोपे सस्य
 पत्वे क्पोः संयोगे च कृते 'अधुक्षत्' इति रूपम् । दन्त्ये तङाति । दन्त्यादौ तङी-
 त्यर्थः । प्रत्ययादर्शानत्वात्सर्वादेशोऽयं लुक् । अदुग्ध । दुह्धातोः लुङ् आत्मनेपदिप्रत्यये
 ते समागते च्लौ 'शल इगुपधादनिटः कसः' इति कसादेशे 'लुग्वा दुहदिहलिहगुहा-
 मात्मनेपदे दन्त्ये' इति कसस्य लुकि 'दादेर्धातोर्घः' इति हस्य घत्वे 'क्षपस्तथो-
 र्धा०धः' इति तस्य घत्वे 'क्षलां जश् क्षशि' इति घस्य गत्वे अटि च 'अदुग्ध' इति
 रूपम् । कसस्य लुगभावे 'अधुक्षत्' इति रूपम् । कसस्याचीति । अचीत्यस्याङ्गाचि-
 सप्रत्ययविशेषणत्वात् तदादिविधिः । 'घोर्लोपो लोटि वा' इत्यतो लोप इत्यनुवर्तते ।

लुग्वा—दुहादि धातुसे पर 'कस' का 'लुक्' हो, दन्त्य तङ्के परे विकल्पसे ।

कस—'कस' (कसके 'स') का लोप हो, अजादि 'तङ्के' परे ।

अधुक्षाताम् । अधुक्षन्त । अधुक्षथाः-अदुग्धाः । अधुक्षायाम् । अधुक्षध्वम्-अधुगध्वम् ।
अधुक्षि । अधुक्षावहि-अदुहहि । अधुक्षामहि । अधोक्ष्यत् । अधोक्ष्यत । एवं-दिह उपचये ।
उपचयो-वृद्धिः । प्रणिदेग्धि । देग्धु-दिग्धि । लिह आस्वादाने । 'हो ढः' । 'ढो ढे
लोपः' । लेढि । लीढः । लिहन्ति । लेक्षि । लीढे । लिहाते । लिहते । लिचे ।
लिहाथे । लीढ्वे । लेढु । लीढात् । लीढाम् । लिहन्तु । लीढि । लेहानि । लीढाम् ।
अलेट्—अलेड् । अलीढाम् । अलिक्षत्—अलिक्षत । अलीढ । अलेक्ष्यत्—अले-
क्ष्यत । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि । ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः । ३।४।८।९।

तदाह—अजादावित्यादिना । अलोऽन्त्यस्येति । अन्त्यस्याकारस्य लोप इति भावः ।
अधुक्षाताम् । दुहो लुङि आतामि, 'च्लि लुङि' इति च्लौ 'शल इगुपधादनिटः कसः'
इति कसे, क्लोपे 'दुह् स आताम्' इति स्थिते 'कसस्याचि' इति सलोपे प्राप्ते 'अलो-
ऽन्त्यस्य' इत्यन्त्याकारलोपे 'दादेर्धातोर्घः' इति हस्य षत्वे, दस्य भग्भावेन षत्वे
'खरि च' इति घस्य कत्वे कात्परकत्वात् सस्य षत्वे कूप्ययोगेन च जाते अटि च कृते
कसस्य कित्वाद्गुणाभावे 'अधुक्षाताम्' इति रूपम् । अधोक्ष्यत् । दुहधातोः 'लिङ्नि-
मित्ते लृङ्क्रियातिपत्तौ' इति लुङि, अनुबन्धलोपे लृङो लः स्थाने तिपि, स्ये इडभावे
स्यस्यार्धधातुकत्वात् 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'दादेर्धातोर्घः' इति हस्य षत्वे
'एकाचो वशो भण् क्षणन्तस्य स्थोः' इति भग्भावेन दस्य षत्वे घस्य चत्वेन कत्वे
'आदेशप्रत्यययोः' इति कात्परकत्वात्सस्य षत्वे कूप्ययोगे च जाते 'इतश्च' इति तिप-
इकारलोपे अटि च कृते 'अधोक्ष्यत्' इति रूपम् । एवमात्मनेपदेऽपि—'अधोक्ष्यत'
इति रूपम् । लिलेह । लिहधातोः 'परोचे लिट्' इति लिटि, लिट्स्तिपि 'परस्मैपदानां
णलनुस्' इत्यादिना तिपो णलि, अनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति
द्वित्वे, अभ्यासत्वे अभ्यासकार्ये च कृते 'लि लिह् अ' इति स्थिते 'पुगन्तलघूपधस्य
च' इति लघूपधगुणे 'लिलेह' इति रूपम् । आत्मनेपदे-लिलिहे । अलिक्षत् ।
लिहधातोः 'लुङ्' इति लुङि लुङ्स्तिपि च्लौ, 'शल इगुपधादनिटः कसः' इति च्लेः
स्थाने कसे, क्लोपे हस्य षत्वे ढस्य 'षढोः कः सि' इति कत्वे कात्परकत्वात्सस्य षत्वे
कूप्ययोगे च जाते 'अलिक्षत्' इति रूपम् । अलीढ । लिहधातोर्लुङः स्थाने आत्मने
पदसंज्ञके ते 'च्लि लुङि' इति च्लौ, च्लेः स्थाने, 'शल इगुपधादनिटः कसः' इति
कसे, क्लोपे 'लुग्वो दुहदिहलिहगुहामात्मनेपदे दन्त्ये' इति सलुकि, हस्य षत्वे तस्य
षत्वे घस्य ष्टुत्वे ढलोपे 'ढलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इति पूर्वस्याणो दीर्घे 'अलीढ'
इति रूपम् । लुगभावे हस्य षत्वे 'षढोः कः सि' इति ढस्य कत्वे कात्परकत्वात्सस्य
षत्वे 'अलिक्षत्' इति च रूपम् । ब्रुवः पञ्चानामिति । 'परस्मैपदानां णलनुस्' इत्यत

ब्रुवः—'ब्रु' धातुसे पर लट्लकार सम्बन्धी तिवादि पाँचको णलादि आदेश हो,

ब्रुवो लट्स्तिवादीनां पञ्चानां णलादयः पञ्च वा स्युर्ब्रुवश्चाऽऽहादेशः । अकार उच्चार-
णार्थः । आह । आहतुः । आहुः । आहस्थः । ८।२।३५। चत्त्वम् । आत्थ । आह-
थुः । ब्रुव ईट् । ७।३।९३। ब्रुवः परस्य हलादेः पित ईट् स्यात् । ब्रवीति । ब्रूतः ।
ब्रुवन्ति । ब्रूते । ब्रुवाते । ब्रुवते । ब्रुवो वचिः । २।४।५३। ब्रुवो वच्यादेशः स्यादार्द्ध-
धातुके । उवाच । ऊचतुः । ऊचुः । उवचिथ-उवक्थ । ऊचे । वक्ता । वक्ष्यति-वक्ष्यते ।
ब्रवीतु । ब्रूतात् । ब्रूताम् । ब्रुवन्तु । ब्रूहि-ब्रूतात् । ब्रूतम् । ब्रूत । ब्रवाणि । ब्रवाव ।
ब्रवाम । ब्रूताम् । ब्रवै । अब्रवीत् । अब्रूताम् । अब्रूत । ब्रूयात् । ब्रूवीत । उच्यात् ।

उत्तरसूत्रमिदम् । 'विदो लटो वा' इत्यतो लटो वेत्यनुवर्तते । तदाह—ब्रुवो लट इति ।
आह । ब्रूधातोर्लट्स्तिपि, शपो लुकि 'ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः' इति तिपो
णलि, ब्रुव आहादेशे च कृते णलोऽनुबन्धलोपे 'आह' इति रूपम् । आहस्थ इति । आहः
पष्ठ्यन्तम् । आत्थ । ब्रुवो लटः सिपि शपो लुकि 'ब्रुवः पञ्चानाम्' इति
सिपस्थलि ब्रुव आहादेशे च 'आहस्थः' इति हस्य थत्वे तस्य 'खरि च' इति
चत्वेन तकारे 'आत्थ' इति रूपम् । ब्रुव ईट् । 'नाभ्यस्तस्य' इत्यतः पिति 'उतो
वृद्धिः' इत्यतो हलीति चानुवर्तते । तदाह—ब्रुवः परस्येत्यादिना । ब्रवीति । ब्रूधातोर्ल-
ट्स्तिपि, शपो लुकि आहादेशाभावपक्षे 'ब्रुव ईट्' इति तिप ईटि, दृगते टित्वात्
तिप आद्यावयवे जाते 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति ब्रुव उकारस्य गुणेऽवादेशे च
कृते 'ब्रवीति' इति रूपम् । ब्रुवो वचिरिति । ब्रुवो वचिरादेशः स्यादार्द्धधातुके
इत्यर्थः । इकार उच्चारणार्थः । उवाच । ब्रूधातोः 'परोक्षे लिट्' इति लिटि, तत्स्थाने
तिपि 'लिट् च' इत्यार्धधातुकत्वे 'ब्रुवो वचिः' इति ब्रूस्थाने वच् आदेशे, तिपो णलि,
अनुबन्धलोपे द्वित्वे अभ्यासत्वे 'वच् वच् अ' इति जाते 'लिट् अभ्यासस्योभयेषाम्'
इति अभ्यासवचः सम्प्रसारणत्वे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'हलादिः शेषः' इति
चलोपे 'अत उपधायाः' इति उपधावृद्धौ 'उवाच' इति रूपम् । वक्ष्यति । ब्रूजो लृट्-
स्तिपि स्ये 'ब्रुवो वचिः' इति ब्रुवो वचादेशे 'चोः कुः' इति चस्य कत्वे, सस्य षत्वे
कृष्संयोगे च कृते वक्ष्यतीति । ब्रवीतु । ब्रुवो लोटि, तिपि 'ब्रुव ईट्' इति ईटि
'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'एचोऽयवायावः' इत्यवि 'एरुः' इति तिप
इकारस्योत्वे 'ब्रवीतु' इति रूपम् । तातडि—ब्रूतात् । उच्यात् । ब्रूज्धातोराशीर्लिङ्-
स्तिपि, यासुटि, उटो लोपे 'ब्रुवो वचिः' इति वचौ, 'वचिस्वपियजादीनां किति'
इति सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'उच् यास् ति' इति स्थिते 'इतश्च'
इति तिप इकारलोपे 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति सलोपे 'उच्यात्' इति रूपम् ।

विकल्पसे और 'ब्रू' को 'आह' आदेश भी हो । आहः—'आह्'को थकारान्त आदेश हो,
'क्षल्'के परे । ब्रव—'ब्रू' धातुसे पर हलादि 'पित'को 'ईट्' का आगम हो । ब्रुवो—'ब्रू' को

वक्षीष्ट । अवोचत् । अवोचत । अवक्ष्यत् । (चर्करीतञ्च) । 'चर्करीत'मिति यङ्लुगन्तं तददादौ बोध्यम् । ऊर्णुञ् आच्छादने । ऊर्णोतेर्विभाषा । ७।२।६। ऊर्णोतेर्वृद्धिर्वा स्याद्वलादौ पिति सार्वधातुके । ऊर्णोति । ऊर्णोति । ऊर्णुतः । ऊर्णु-
वन्ति । ऊर्णुते । ऊर्णुवाते । ऊर्णुवते । (ऊर्णोतेराम्नेति वाच्यम्) नन्द्राः संयोगादयः । ६।१।३। अचः पराः संयोगादयो न-द-रा द्विर्न भवन्ति । 'उ' शब्द-
स्य द्वित्वम् । णत्वस्यासिद्धत्वात् । 'पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने' इति त्वनित्यम्, 'उ-
भौ साम्प्रदासस्ये'ति लिङ्गात् । ऊर्णुनाव । ऊर्णुनुवतुः । ऊर्णुनुवुः । विभाषोर्णोः

आत्मनेपदे—ते समागते सीयुटि उटो लोपे 'ब्रू सी त' इति दशायां 'ब्रुवो वचिः'
इति वचादेशे 'चोः कुः' इति कुत्वे 'सुट् तिथोः' इति सुटि उटावितौ, सकारद्वयस्य
पत्वे, 'वक्षीष्ट' इति रूपं ज्ञेयम् । अवोचत् । ब्रुवो लुङ्स्तिपि, 'च्लि लुङि' इति
च्लौ 'ब्रुवो वचिः' इति वचादेशे 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' इति च्लेरडादेशे कृते
'वच् अ ति' इति जाते तिप इकारलोपे 'वच उम्' इति उमि 'व उम् च् अ
त्' इति जाते मलोपे आद्गुणे अटि च कृते 'अवोचत्' इति रूपं साधु । ऊर्णोतेर्वि-
भाषा । 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' इत्यतो वृद्धिरिति हलीति चानुवर्तते 'नाभ्यस्तस्य'
इत्यतः पिति सार्वधातुके इति च, इत्यभिप्रेत्य शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—वृद्धि वा
स्यादित्यादिना । ऊर्णोति । ऊर्णुञ् आच्छादने इत्यस्माद्धातोर्लट्स्तिपि समागते, शपि
शपो लुकि च 'ऊर्णोतेर्विभाषा' इति वृद्धौ 'ऊर्णोति' इति । वृद्धभावे गुणे च कृते
'ऊर्णोति' इति । नन्द्राः संयोगादयः । 'एकाचो द्वे इत्यनुवर्तते । 'अजादेर्द्वितीयस्य' इ-
त्यतः अजादेरिति । अच्चासौ आदिश्चेति कर्मधारयात्पञ्चमी । न् द् र् एपां द्वन्द्वः । तदाह-
अचः परा इति । ऊर्णु नाव । ऊर्णुधातोर्लिट्स्तिपि, तिपो णलि चागते 'ऊर्णु अ' इति स्थिते
'इजादेश्च गुरुमतोऽनुच्छः' इति आमि प्राप्ते 'ऊर्णोतेराम् नेति वाच्यम्' इति निषेधे
'अजादेर्द्वितीयस्य' इति सरेफस्य णोर्द्वित्वे प्राप्ते 'नन्द्राः संयोगादयः' इति रेफस्य
द्वित्वाभावे णत्वस्यासिद्धत्वाद् नुशब्दस्य द्वित्वे, प्रथमनस्य 'रषाभ्यां नो णः समानपदे'
इति णत्वे, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति परत्वात् गुणे प्राप्ते तं प्रवाध्य कृताकृत-
प्रसङ्गित्वेन नित्यत्वात् 'अचोऽङ्गिति' इति वृद्धौ 'एचोऽयवायावः' इति आवि कृते
'ऊर्णुनाव' इति रूपम् । विभाषोर्णोः । 'गाङ्कुटादिभ्यः' इत्यतो ङिदित्यनुवर्तते

वचादेश हो, आर्धधातुकके परे । चर्क — 'चर्करीतम्' इस यङ्लुगन्त धातुओंको भी अदादिमें
समझना । ऊर्णो — 'ऊर्णु' धातुको वृद्धि हो, हलादि पित् सार्वधातुकके परे, विकल्पसे । ऊर्णो-
'ऊर्णु' धातुको 'आम्' नहीं हो, लिट्के परे । नन्द्राः — 'अच्'से पर संयोगादि नकार, दकार
और रेफको द्वित्व नहीं हो । विभा — 'ऊर्णु' धातुसे पर इडादि प्रत्यय 'ङित्' हो, विकल्पसे ।

।१।२।३। ऊर्णोतेः पर इडादिप्रत्ययो वा ङित् स्यात् । ऊर्णुनुविथ । ऊर्णुनविथ ।
ऊर्णुविता-ऊर्णविता । ऊर्णोतु ऊर्णोतु । ऊर्णवानि । ऊर्णवै । गुणोऽपृक्ते । ७।३
।९१। ऊर्णोतेर्गुणः स्यादपृक्ते हलादौ पिति सार्वधातुके । वृद्धयपवादः । और्णोत् ।
और्णोः । और्णुतम् । ऊर्ण्यात् । ऊर्ण्याताम् । ऊर्णुयुः । ऊर्ण्यायाः । इह वृद्धिर्न,
'ङिच्च पिन्ने' ति व्याख्यानात् । ऊर्ण्यात् । ऊर्ण्यास्ताम् । ऊर्ण्यासुः । ऊर्णुविषीष्ट ।
ऊर्णविषीष्ट । और्णुवीत् । और्णुविष्टाम् । ऊर्णोतेर्विभाषा । ७।३।९०। ऊर्णोतेरिडा-
दौ परस्मैपदपरे सिचि वा वृद्धिः स्यात् । पक्षे गुणः । और्णावीत् । और्णाविष्टाम् ।
और्णवीत् । और्णविष्टाम् ॥ इत्यदादिः ।

अथ जुहोत्यादिप्रकरणम्

हु दानाऽऽदनयोः । जुहोत्यादिभ्यः श्लुः । २।४।७५। जुहोत्यादिभ्यः परस्य
शपः श्लुः स्यात् । श्लौ । ६।१।१०। धातोर्द्वे स्तः श्लौ । जुहोति । जुहुतः । 'हुश्नु

'विज इट्' इत्यतः इडिति, इत्यभिप्रेत्य शेषपूरणेन सूत्रं न्याचष्टे—इडादीति ।
गुणोऽपृक्ते । 'ऊर्णोतेर्विभाषा' इत्यतः ऊर्णोतेरिति 'नाभ्यस्तस्य' इत्यतः 'पिति
सार्वधातुके' इति 'उतो वृद्धिः' इत्यतः हलीति चानुवर्तते, तदाह—ऊर्णोतेरित्यादिना ।
और्णोत् । लङ्स्तिपि शपो लुकि आटि तिप इकारलोपे 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' इति
प्राप्ते तन्वाधित्वा 'गुणोऽपृक्ते' इति गुणे । 'आटश्च' इति वृद्धौ 'और्णोत्' इति ।
ऊर्णोतेर्विभाषा । 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इत्यनुवर्तते, 'नेटि' इत्यतः । इटीति
च । तदाह—इडादाविति । और्णावीत् । ऊर्णुधातोर्लङ्स्तिपि, अनुबन्धलोपे वृद्धौ च्लेः
सिचि इचि गते 'और्णु स् त्' इति स्थिते सिचः सस्य इटि तिपस्तकारस्य ईटि 'विभा-
षोर्णोः' इतीदो ङित्वाद् गुणाभावे उवङि 'इट ईटि' इति सलोपे दीर्घे च 'और्णुवीत्'
इति । ङित्वाभावपक्षे गुणं बाधित्वा 'ऊर्णोतेर्विभाषा' इति वा वृद्धावावादेशे 'और्णा-
वीत्' इति च सिद्धम् । इत्यदादयः ।

शप इति । 'अदिप्रभृतिभ्य' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । श्लाविति । शेषं पूर-

गुणो—'ऊर्णु' धातुको गुण हो, अपृक्तसंज्ञक हलादि 'पित्' सार्वधातुकके परे । ऊर्णो—'ऊर्णु'
धातुको वृद्धि हो, इडादि परस्मैपद परक 'सिच्'के परे, विकल्पसे ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीका में अदादिप्रकरण समाप्त हुआ ।

जुहो—जुहोत्यादि गणपठित धातुओंसे विहित 'शप्'का श्लु (लोप) हो । श्लौ-धातुको

बो'रिति यण् । जुहति । भीहीभृहुवां श्लुवच्च । ३१।३६। एभ्यो लिट्याम् वा स्यादामि श्लाविव कार्यं च । जुहवाञ्चकार । जुहाव । होता । होष्यति । जुहोतु । जुहुतात् । जुहुताम् । जुहुतु । हेडिः । जुहुधि । आटि परत्वाद् गुणः । जुहवानि । अजुहोत् । अजुहुताम् । परत्वाज्जुसि चेति गुणः । अजुहवुः । जुहुयात् । हूयात् । अहौषीत् । अहोष्यत् । जिभी भये । विभेति । भियोऽन्यतरस्याम्

रयति—धातोर्द्वे स्त इति । 'एकाचो द्वे' इत्यतः 'लिटि धातोः' इत्यतश्च तदनुवृत्तिरिति भावः । जुहोति । हुधातोर्लट्स्तिपि, शपि 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' इति शपः श्लौ, 'श्लौ' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इत्यादिहलः शेषे 'हु हु ति' इति जाते 'कुहो-श्चुः' इति हस्य झत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति झस्य जत्वे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'जुहोति' इति जुहति । हुधातोर्लटो झौ, शपः श्लौ, द्वित्वेऽभ्यासत्वे पूर्ववदभ्यासकार्यं च कृते, 'जुहु झि' इति स्थिते 'उभेऽभ्यस्तम्' इत्यभ्यस्तसंज्ञायाम् 'अदभ्यस्तात्' इति झेरतादेशे 'हुश्चुवोः सार्वधातुके' इति यणि 'जुहति' इति सिद्धम् । भीहीभृहुवामिति । भी ही भृ हु एषां द्वन्द्वात्पञ्चम्यर्थे पष्ठी । 'कास्प्रत्ययात्' इत्यत आम् लिटीत्यनुवर्तते । तदाह—एभ्य इति । श्लुवदिति सप्तम्यन्तात् वतिरित्यभिप्रेत्य आह—भामि श्लाविव कार्यं चेति । जुहवाञ्चकार । हुधातोर्लिटि 'भीहीभृहुवां श्लुवच्च' इति पाक्षिके आमि श्लुवच्चावे च द्वित्वेऽभ्यासकार्यं चुत्वेन झकारे, 'अभ्यासे चर्च' इति जश्त्वेन जकारे गुणेऽवादेशे 'आमः' इति लिटो लुकि, 'कृञ्चातुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परकृजोऽनुप्रयोगे लिटस्तिपो णलि द्वित्वे 'उरत्' इत्यत्वे रपरे हलादिशेषे 'कुहोश्चुः' इति चुत्वे गुणे रपरे च, 'जुहवाम् च कर् अ' इति स्थिते 'अत उपधाया' इति उपधावृद्धौ 'मोऽनुस्वारः' इति अनुस्वारे 'वा पदान्तस्य' इति वैकल्पिके परसवर्णे 'जुहवाञ्चकार' इति रूपं निष्पन्नम् । आमोऽभावपक्षे तु लिटस्तिपो णलि, द्वित्वेऽभ्यासत्वे परत्वात् 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे प्राप्ते 'कृताकृतप्रसङ्गो विधिर्नित्यः' इति नियमेन 'अचो ङिति' इति नित्यत्वात् वृद्धौ, आवादेशे च 'जुहाव' इति निष्पन्नम् । अहौषीत् । जुहोतेर्लुङि, अटि, तिपि, च्लौ, च्लेः सिचि इचावितौ तिप इकारलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि, 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ च 'अहौषीत्' इति । विभेति । जिभी भये इत्यस्माद्धातोः 'वर्तमाने लट्' इति लटि, लटस्तिपि शपि 'आदिर्जिदुडवः' इति जिकारस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' इति श्लुत्वे, 'श्लौ' इति द्वित्वे 'भी भी ति' इति जाते 'पूर्वोऽभ्यासः'

द्वित्वे हो 'श्लु'के परे (श्लुके विषयम्) । भीही—भा, ही, भृ और 'हु' धातुसे 'लट्' के परे विकल्पसे 'आम्' प्रत्यय हो और 'आम्'के परे, 'श्लु'की तरह द्वित्वादि कार्यं भी हो । भियो—'भी' धातुको 'इत्' हो, हलादि कित-छित सार्वधातुकके परे विकल्पसे ।

।६।४।११५। भिय इद्वा स्याद्वलादौ सार्वधातुके विडिति । विभितः । विभीतः ।
 'एरनेकाच्च' इति यण् । विभ्यति । विभयाञ्चकार । विमाय । भेता । भेष्यति ।
 विभेनु । विभितात् । विभीतात् । विभिताम् । विभीताम् । अविभेत् । विभियात् ।
 विभीयात् । भीयात् । अभैषीत् । अभेष्यत् । ही लज्जायाम् । जिहेति । जिहीतः ।
 जिहियति । जिहयाञ्चकार । जिहाय । हेता । हेप्यति । जिहेनु । जिहीयात् । अजिहेत् ।

इत्यभ्याससंज्ञायां 'ह्रस्वः' इत्यभ्यासह्रस्वे 'अभ्यासे चर्च' इति भस्य वत्त्वे 'सार्व-
 धातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'विभेति' इति । भियोऽन्यतरस्याम् । 'इद्दरिद्रस्य'
 इत्यतः इदिति, 'गमहन' इत्यतः विडिति इति 'ईहल्यघोः' इत्यतः हलीति 'अत
 उत्सार्वधातुके' इत्यतः सार्वधातुके इति चानुवर्तते इत्यभिप्रेत्य शेषं पूरयति—इत्
 वा स्यादित्यादिना । विभितः । तसि, शपः श्लुत्वे धातोर्द्वित्वेऽभ्यासस्याचो ह्रस्वत्वे,
 भस्य वत्त्वे 'भियोऽन्यतरस्याम्' इति ईकारस्य इकारे 'विभितः' इति । इकाराभाव-
 पत्ते तु 'विभीतः' इति । विभ्यति । औ धातोर्द्वित्वे ह्रस्वत्वे भस्य वत्त्वे 'उभेऽभ्यस्तम्'
 इत्यभ्यस्तसंज्ञायाम् 'अदभ्यस्तात्' इति क्षेरति 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' इति
 यणि च कृते 'विभ्यति' इति । विभयाञ्चकार । भियो लिटि समागते 'भीहीभृद्वृत्वां
 श्लुवच्च' इत्यामि, आमः श्लुवद्भावात् 'श्लौ' इति द्वित्वे, 'भी भी आम् लिट्'
 इति स्थिते अभ्यासस्याचो ह्रस्वे, भस्य वत्त्वे, 'आमः' इति लिटो लुकि, 'कृद्धानुप्र-
 युज्यते लिटि' इति लिट्परकृजोऽनुप्रयोगे च कृते 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति
 द्वित्वे 'उरत्' इति अदादेशे रपरे, 'हलादिः शेषः' इति रलोपे 'वि भी आम् क कृ
 लिट्' इति जाते 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणेश्यादेशे च 'विभयाम् क कृ
 लिट्' इति स्थिते लिटस्तिपि, तिपो णलि, 'कुहोश्चुः' इति कस्य चत्वे, 'सार्वधातु-
 कार्धधातुकयोः' इति गुणे रपरे 'अत उपधायाः' इति उपधावृद्धौ 'मोऽनुस्वारः'
 इत्यनुस्वारे 'वा पदान्तस्य' इति परसवर्णे 'विभयाञ्चकार' इति साधु । आमोऽभाव-
 पत्ते—लिटः तिपि, तिपो णलि धातोर्द्वित्वे, अभ्यासत्वे ह्रस्वत्वे, भस्य वत्त्वे 'अचो
 ङिति' इति वृद्धौ आयादेशे च 'विमाय' इति । अभैषीत् । भीधातोर्लुङि अटि लुङः
 तिपि, तिप इकारलोपे, च्लौ, च्लेः सिचि, इचावितौ 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि
 सस्य पत्वे 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ 'अभैषीत्' इति रूपम् । जिहेति ।
 ही लज्जायाम् इत्यस्माद्धातोर्लटः तिपि शपि शपः श्लुत्वे 'श्लौ' इति द्वित्वे 'ही
 ही ति' इति जाते 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्यासत्वे 'ह्रस्वः' इति अभ्यासस्याचो
 ह्रस्वत्वे 'कुहोश्चुः' इति हस्य झत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति झस्य जकारे 'सार्वधातु-
 कार्धधातुकयोः' इति गुणे 'जिहेति' इति । जिहयाञ्चकार । हीधातोर्लिटि 'भीहीभृ-
 द्वृत्वां श्लुवच्च' इत्यामि श्लुवद्भावाच्च धातोर्द्वित्वे 'ही ही आम् लिट्' इति जाते
 अभ्यासत्वे ह्रस्वे 'कुहोश्चुः' इति हस्य झत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति जत्वे 'आमः'

जिहीयात् । हीयात् । अहैषीत् । अहेष्यत् । पृ पालन-पूरणयोः । अर्त्तिपिप-
त्योश्च । ७।४।७७। अभ्यासस्य इत्स्यात् श्लौ । पिपत्ति । उदोष्ठ्यपूर्वस्य । ७।१।
१०२। अङ्गावयवौष्ठ्यपूर्वो य ऋतदन्तस्याङ्गस्य उत्स्यात् । हलि च । ८।२।७७।
रेफवान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घो हलि । पिपूर्तः । पिपुरति । पपार । शृदृप्रां
ह्रस्वो वा । ७।४।१२। शृदृप्रां ह्रस्वो वा स्यात् किति लिटि । पप्रतुः । पप्रुः ।

इति लिटो लुकि, 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परकृञोऽनुप्रयोगे च 'जि ही
आम् कृ लिट्' इति भूते, लिटः तिपि, णलि अनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य'
इति कृञो द्वित्वेऽभ्यासत्वे उरदत्त्वे हलादिशेषे 'कुहोश्चुः' इति कस्य चुत्वे 'सार्व-
धातुकार्धं' इति गुणेश्यादेशे 'जिह्याम् च कृ अ' इति जाते, पुनः 'सार्वधातुका-
र्धधातुकयोः' इत्यनेन कृ इत्यस्य गुणे रपरे च 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'मोऽनु-
स्वारः' इति अनुस्वारे 'वा पदान्तस्य' इति परसवर्णे अकारे च जाते 'जिह्याञ्चका-
र' इति । आमभावपक्षे लिट्स्तिपि णलि धातोर्द्वित्वे रलोपे हस्य झत्वे जत्वे 'अचो
व्णिगति' इति वृद्धौ आयादेशे च 'जिहाय' इति सिद्धम् । अहैषीत् । हीधातोर्लुङ्स्ति-
पि, च्लौ, च्लेः सिचि, इचो लोपे तिप इकारलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि
सस्य पत्वे 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ अटि च 'अहैषीत्' इति रूपम् ।
अर्त्तिपिपत्योश्चेति । 'अत्र लोपः' इत्यस्मादभ्यासस्येति 'भृजामित्' इत्यस्मात् इदिति
'निजां त्रयाणां गुणः श्लौ' इत्यतः शलाविति चानुवर्तते इत्यभिप्रेत्य शेषं पूरयति—
अभ्यासस्येत्यादिना । पिपत्ति । पृ-पालनपूरणयोरित्यस्माद्धातोर्लट्स्तिपि, शपि, शपः
श्लुत्वे, 'श्लौ' इति द्वित्वे 'पृ पृ ति' इति स्थिते 'अर्त्तिपिपत्योश्च' इत्यभ्यासस्ये-
कारान्तादेशे 'पिप ति' इति जाते 'सार्वधातुकार्धं' इति गुणे 'पिपत्ति' इति साधु ।
उदोष्ठ्यपूर्वस्येति । 'ऋत इद्धातोः' इत्यतः ऋत इत्यनुवर्तते । अङ्गस्येत्यधिकृतमिहा-
नुवृत्तमावर्तते । एकमवयवपष्ठ्यन्तम्, ओष्ठ्यस्य विशेषणम् । अपरं तु ऋता
विशेष्यते । तदन्तविधिः । तदाह—अङ्गावयवौष्ठ्येत्यादिना । हलि च । 'वोरूपधाया
दीर्घ इक' इत्यनुवर्तते । 'सिपि धातोः' इत्यतो धातोरिति च । तच्च वोरित्यनेन
विशेष्यते । तदन्तविधिः । तदाह—रेफवान्तस्येत्यादिना । पिपूर्तः । पृधातोर्लट्-
स्तसि, श्लौ 'श्लौ' इति धातोर्द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'अर्त्तिपिपत्योश्च' इत्यभ्यास-
स्येकारान्तादेशे रपरत्वे हलादिशेषे 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' इति उच्चे, रपरे च
कृते 'हलि च' इति दीर्घत्वे सस्य रुत्वे विसर्गे च 'पिपूर्तः' इति रूपं भवति ।
शृदृप्रां ह्रस्वो वा । शृदृ पृ एषां द्वन्द्वः । लिटोति । 'दयतेर्दिगि लिटि' इत्यतः तदनुवृ-

अर्त्ति-‘ऋ’ धातु और ‘प’ धातुके अभ्यासको ‘इत्त्व’ हो, श्लु’के विषयमें ।
उदोष्ठ्य—अङ्गावयव ओष्ठ्य पूर्वक ऋदन्त अङ्गको ‘उत्’ आदेश हो । हलि—रेफान्त और
वान्त धातु संबन्धी उपधा ‘श्क्’को दीर्घ हो ‘हल्’के परे । शृदृ—‘शृ-दृ-प’ धातुको ह्रस्वहो,

ऋच्छत्युताम् । ७।४।११। तौदादिकऋच्छेऋधातो ऋतां च गुणो, लिटि । पपरतुः । पपरुः । वृतो वा । ७।२।३८। वृङ् वृज्भ्यामृदन्ताच्चेटो दीर्घो वा स्याज तु लिटि । परिता । परीता । परिष्यति । परीष्यति । पिपर्तु । पिपुरतु । पिपूर्हि । अपिपः । अपिपूर्ताम् । अपिपरुः । पिपर्यात् । पिपर्युः । पर्यात् । अपारीत् । सिचि च परस्मैपदेषु । ७।२।४०। अत्र वृत इटो न दीर्घः । अपारिष्टाम् । अपरिष्यत् । अपरीष्यत् । ओहाक् त्यागे । जहाति । जहातेश्च । ६।४।११६। इत्स्याद्वा हलादौ षिङ्गति सार्वधातुके । जहितः । ई हल्यघोः । ६।४।११३। श्नाभ्यस्तयोरान्त ईत्स्यात्सार्वधातुके षिङ्गति हलि । जहीतः । जहति । जहौ । हाता । हास्यति । जहातु । जहितात् ।

तेरिति भावः । ऋच्छत्युताम् । 'दयतेर्दिगि लिटि' इत्यतो लिटीति, 'ऋतश्च संयोगादेर्गुण' इत्यतो गुण इति चानुवर्तते इति भावः । अपिपः । पृधातोर्लुङ्गतिपि षपि शपः श्लुत्वे 'श्लौ' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'अर्तिपिपत्योश्च' इति अभ्यासस्य इदन्तादेशे तिप इकारलोपे 'सार्वधातुकार्ध' इति गुणे रपरत्वे 'अपिपर्त्' इति जाते 'हलङ्गान्भ्य' इति तलोपे 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति विसर्गे अटि 'अपिपः' इति साधु । अपारीत् । पृधातोर्लुङ्गतिपि च्लौ, च्लेः सिचि, इचो लोपे, 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इटि, तिप इकारलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि 'इट् ईटि' इति सलोपे 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घत्वे 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ अङ्गस्याडागमे, 'अपारीत्' इति । सिचि च परस्मैपदेषु । अत्रेति । परस्मैपदपरके सिचि वृङ् वृज्भ्याम् ऋदन्ताच्च परस्य इटो दीर्घो नेत्यर्थः । जहातेश्च । 'इहरिद्रस्य' इत्यत इदिति 'भियोऽन्यतरस्याम्' इत्यतः 'अन्यतरस्याम्' इति 'गमहन' इत्यतः षिङ्गति, 'अत उत्सार्वधातुके' इत्यतः हलीति चानुवर्तते, तदाह—इत्स्यादिति । जहितः । तसि शपः श्लौ, द्वित्वे हस्वे हस्य ऋत्वे, ऋस्य जत्वे 'सार्वधातुकमपित्' इति तसो ङिट्-झावे 'जहातेश्च' इति हकारोत्तरवर्तिन आकारस्य इकारादेशे 'जहितः' इति । ई हल्यघोः । ई इति लुप्तप्रथमाकम् । 'श्नाभ्यस्तयोरान्तः' इत्यनुवर्तते । 'गमहन' इत्यतः षिङ्गतीति 'अत उत्सार्वधातुके' इत्यतः सार्वधातुके इति चानुवर्तते तदाह—श्नाभ्यस्तयोरित्यादिना । पञ्चे—'ई हल्यघोः' इति आकारस्य ईकारे 'जहीतः' इति सिद्धम् । जहौ । हाधातोर्लिट् लकारे, तस्य तिबादेशे तिपः स्थाने णलि जाते 'हा अ' इति दशा-

कित्-लिट्के परे, विकल्पसे । ऋच्छ—तुदादिका 'ऋच्छ' धातु, 'ऋ' धातु और दीर्घ ऋकारान्त धातुको गुण हो, लिट्के परे । वृतो—'वृङ्' धातु, 'वृज्' धातु और दीर्घ ऋदन्त धातुसे पर 'इट्'को दीर्घ हो, विकल्पसे, पर लिट्के परे नहीं हो । सिचि-परस्मैपदपरक 'सिच्'के परे 'वृतो वा' से विहित 'इट्'को दीर्घ नहीं हो । जहा—'हा' धातुको 'इत्त्व' हो, हलादि 'कित्-लिट्'के परे, विकल्पसे । ई ह—'श्ना' प्रत्यय और अभ्यस्तसंज्ञक आकारको 'ईत्त्व' हो, हलादि

जहीतात् । आ च हौ । ६।४।११७। जहातेहौ परे आत्स्यात् । चादीदितौ । जहाहि ।
जहिहि । जहीहि । अजहात् । अजहुः । लोपो यि । ६।४।११८। जहातेरालोपो,
यादौ सार्वधातुके । जह्यात् । 'एलिङि' । हेयात् । अहासीत् । अहास्यत् ।
ऋ गतौ 'अर्तिपिपत्योश्च'त्यभ्यासस्य इकारः । 'अभ्यासस्यासवर्णे' । इयर्ति ।
इयृतः । इयर्ति । आर । आरतुः । आरुः । 'इडत्यर्ती'ति नित्यमिट् । आरिथ ।
अर्ता । अरिष्यति । इयर्तु । इयराणि । ऐयः । ऐयृताम् । ऐयरुः । इयृयात् । गुणो-
ऽर्ती'ति गुणः । अर्यात् । 'सर्तिशास्यर्तिभ्यश्च'त्यङ् । आरत् । 'ऋद्धनोः स्ये' ।
आरिष्यत् । इति परस्मैपदिनः ।

यां 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति धातोर्द्वित्वेऽभ्यासस्य ह्रस्वे 'कुहोरश्चुः' इति ह्रस्व
झत्वे, झस्य जत्वे 'जहा अ' इति स्थिते 'आत औ णलः' इति णल औत्वे 'वृद्धिरेचि'
इति वृद्धौ 'जहौ' इति । आ च हौ । 'जहातेश्च' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । जहाहि ।
हाधातोर्लोपः स्थाने मध्यमपुरुषैकवचने सिवादेशे 'सेर्द्धपिच्च' इति सिपः स्थाने हिआ-
देशे शपि, शपः श्लौ 'श्लौ' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'ह्रस्वः' इति अभ्यासस्याचो
ह्रस्वत्वे 'कुहोरश्चुः' इति चुत्वेन ह्रस्व झत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति झस्य जत्वे 'आ च
हौ' इति आत्वे 'जहाहि' इति । इकारे विहिते तु 'जहिहि' ईत्वे च 'जहीहि' इति रूप-
त्रयं बोध्यम् । अग्रे रूपाणीत्थम्—जहितात्-जहीतात् । जहितम्-जहीतम्, जहित-
जहीत । जहानि, जहाव, जहाम । लोपो यि । 'जहातेश्च' इत्यतो जहातेरिति 'श्नाभ्य-
स्तयोरातः' इत्यतः आत इति 'अत उत्सार्वधातुके' इत्यतः सार्वधातुके इति
चानुवर्तते । यि इति सप्तम्यन्तं सार्वधातुकविशेषणम् । तदादिविधिस्तदाह—जहाते-
रित्यादिना । अहासीत् । हाधातोर्लुङ्लकारे अटि लः स्थानेतिपि च्लौ च्लेः सिचि इचो
लोपे तिप इकारलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि 'यमरमनमातां सक् च' इति
धातोः सगारामे सिच इटि च 'इट ईटि' इति सलोपे सवर्णदीर्घे च उक्तरूपं सिद्धम् ।
ऋ गतौ । इयर्ति इति । ऋधातेर्लिटि तिपि शपि 'जुहोत्यादिभ्यः' श्लुः' इति श्लौ
'श्लौ' इति द्वित्वे 'ऋ ऋ ति' इति जाते 'अर्तिपिपत्योश्च' इति अभ्यासे इकारादेशे
रपरत्वे हलादिशेषत्वे अभ्यासस्येयङि 'इय्-ऋ ति' गुणे च इयर्ति । इयृतः । इयर्ति
अत्र जन्तित्वादित्वादभ्यस्तसंज्ञायाम् 'अदभ्यस्तात्' इति झस्यात् । आर आरतुः आरुः ।
आरिथ । अर्ता । अरिष्यति । इयर्तु । ऐय इति । लङि तिपि इत्तश्च इलोपे धातोर्द्वित्वे
'अर्तिपिपत्योश्च' अभ्यासेकारे रपरत्वे हलो लोपे अभ्यास्येयङि 'इय्-ऋ-त्' इति जाते
अङ्गस्याडागमे 'आटश्च' इति वृद्धौ ऋकारस्य गुणे रपरत्वे 'हल्ङ्यादिलोपे रस्य विसर्गे
'ऐयः' इति रूपम् । ऐयृताम् । ऐयरुः । इयृयात् । अर्यात् । आरत् । आरिष्यत् ।

'किट्-ङिट्' सार्वधातुकके परे । आ च—'हा' (ओहाक्) धातुको 'आत्वं' हो, चकारात् 'इत्वं'
और 'ईत्वं' भी हो । लोपो—'हा' धातुके आकारका लोप हो, यकारादि सार्वधातुकके परे ।

अथात्मनेपदिनः ।

माङ् माने, शब्दे च । भृजामित् । ७।४।७६। भृज् माङ् ओहाङ् एषामभ्यास-
स्येत्याच्छलौ । 'ई हल्यघोः' । मिमीते । मिमाते । 'श्नाभ्यस्ते'ति आतो लोपः ।
मिमते । ममे । माता । मास्यते । मिमीताम् । अमिमीत । मिमीत । मासीष्ट । अमास्त ।
अमास्यत । ओहाङ् गतौ । जिहीते । जिहाते । जिहते । जहे । हाता । हास्यते ।
जिहीताम् । अजिहीत । जिहीत । हासीष्ट । अहास्त । अहास्यत । इत्यात्मनेपदिनः ।

भृजामित् । भृजामिति बहुवचनात् भृजादीनामिति लभ्यते 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य'
इत्यतः अभ्यासस्येति 'निजां त्रयाणां गुणः श्लौ' इत्यतः त्रयाणां श्लौ इति
चानुवर्तते तदाह—भृज् माङ् इत्यादिना । मिमीते । माङ्धातोर्लट्लकारे तत्स्थाने
तिपि शपि शपः श्लुत्वे 'श्लौ' इति द्वित्वे 'भृजामित्' इत्यभ्यासस्य ईत्वे
'ई हल्यघोः' इति आकारस्य ईत्वे 'दित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे च विहिते
'मिमीते' इति साधु । मिमीताम् । माधातोर्लटस्ते समागते शपि, शपः श्लौ 'श्लौ'
इति द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'भृजामित्' इति ईत्वे 'ई हल्यघोः' इति आकारस्य ईत्वे
'मिमी त' इति स्थिते टेरेत्वे 'आमेतः' इति एकारस्य स्थाने आमि 'मिमीताम्'
इति रूपम् । अमास्त । माधातोर्लुङि अटि लः स्थाने तादेशे च्लौ च्लेः सिचि
इचावितौ 'अमास्त' इति । अमासाताम्, अमासत, अमास्थाः, अमासाथाम्,
अमाध्वम् । अमासि, अमास्वहि, अमास्महि । इति । जिहीते । ओहाङ् गतौ
अस्मात् धातुतो लटि समागते लः स्थाने ते शपि शपः श्लुत्वे 'श्लौ' इति
द्वित्वे 'अभ्याससंज्ञायां 'भृजामित्' इत्यभ्यासस्य इकारे 'कुहोश्चुः' इति ह्रस्व श्रुत्वे
'अभ्यासे चर्च' इति झस्य जत्वे 'ई हल्यघोः' इत्याकारस्य ईत्वे टेरेत्वे च कृते
'जिहीते' इति । जहे । ओहाङ् गतौ अस्मात् लिटि ते समागते 'लिटि धातोरन-
भ्यासस्य' इति धातोर्द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्यासत्वे 'ह्रस्वः' इत्यभ्यासस्याचो
ह्रस्वे कृते 'कुहोश्चुः' इति ह्रस्व श्रुत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति झस्य जत्वे 'जहा त'
इति जाते 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इति तस्यैशि 'आतो लोप इटि च' इत्याकारलोपे
'जहे' इति । जिहीताम् । माधातोर्लोटस्ते समागते शपि, शपः श्लुत्वे 'श्लौ' इति
धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'भृजामित्' इति अभ्यासस्य ईत्वे 'कुहोश्चुः' इति ह्रस्व
श्रुत्वे झस्य जत्वे 'ई हल्यघोः' इति ईकारे टेरेत्वे 'आमेतः' इति लोट एकारस्य
आमि च कृते 'जिहीताम्' इति रूपम् । जिहीत । ओहाङ्धातोर्विधिलिङि, लिङः
तादेशे शपि शपः श्लुत्वे, 'श्लौ' इति द्वित्वेऽभ्यासकार्ये ह्रस्व श्रुत्वे झस्य जत्वे
सीयुटि, उटो लोपे 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' इति
सलोपे 'श्नाभ्यस्तयोरातः' इति आकारलोपे 'जिहीत' इति ।

भृजा—'भृज्, माङ् और ओहाङ् धातु सम्बन्धी अभ्यासको 'इत्वं' हो 'श्लु'को विषयमें ।

अथोभयपदिनः ।

डुभृज् धारण-पोषणयोः । विभर्ति । विभृतः । विभ्रति । विभृते । विभ्राते । विभ्रते । विभराञ्चकार । बभार । बभर्थ । बभृव । बभृम । विभराञ्चक्रे । बभ्रे । भर्ता । भरिष्यति । भरिष्यते । विभर्तु । विभृहि । विभराणि । विभृताम् । विभृध्वम् । अविभः । अविभृताम् । अविभरुः । अविभृत । विभृयात् । विभ्रीत । 'रिङ्शये'ति रिङ् । भ्रियात् । ('उश्च') । भृषीष्ट । अभार्षीत् । 'ह्रस्वादङ्गात्' । अभृत । अभरिष्यत् । अभरिष्यते । डुदाज् दाने । प्रणिददाति । दत्तः । ददति । दत्ते । ददाते । ददते । ददौ । ददे । दाता । दास्यति । दास्यते । ददातु । ध्वसोरे-

विभर्ति । भृज्धातुतो लटि,तिपि, शपि, शपः श्लुत्वे, धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'भृजा-मित्' इति इत्वे रपरत्वे 'हलादिः शेषः' इति रलोपे 'अभ्यासे चर्च' इति भस्य वत्वे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'विभर्ति' इति रूपम् । विभ्रति । झौ समागते । श्लौ, द्वित्वादिकार्ये च कृते 'भृजामित्' इति अभ्यासस्य इत्वे 'उमेऽभ्यस्तम्' इति अभ्याससंज्ञायाम् 'अदभ्यस्तात्' इति झस्याति 'इको यणचि' इति यणि 'विभ्रति' इति । विभराञ्चकार । भृजो लिटि 'भीहीभृहुवां०' इत्यामि श्लुवद्भावे, द्वित्वे अभ्यासादिकार्ये 'भृजामित्' इति इत्वे च कृते, पुनः धातोश्च गुणेऽकारे रपरे च 'आमः' इति लिटो लुकि 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परकृञोऽनुप्रयोगे लिट्स्तिपि, तिपो णलि द्वित्वादिकार्ये 'सार्वधातुकार्ध०' इति गुणेऽकारे रपरे च उपधावृद्धौ 'मोऽनुस्वारः' इति आमो मकारस्य अनुस्वारे 'वा पदान्तस्य' इति परसवर्णे चोक्तं रूपं सिद्धम् । आमोऽभावपक्षे तु—धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'भृ भृ अ' इति स्थिते 'उरत्' इति अकारे रपरे 'हलादिः शेषः' इति रलोपे 'अभ्यासे चर्च' इति भस्य वत्वे परत्वात् 'सार्वधातुकार्ध०' इति गुणे 'अत उपधायाः' इति उपधाया वृद्धौ जातायां 'बभार' इति रूपम् । आत्मनेपदे—'विभराञ्चक्रे—बभ्रे' इति रूपद्वयं ज्ञेयम् । विभ्रीत । विधिलिङस्ते शपि शपः श्लुत्वे द्वित्वादिकार्ये सीयुटि उटावितौ 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' इति सलोपे 'इको यणचि' इति यणि 'विभ्रीत' इति रूपम् । अभार्षीत् । विभर्तेर्लुङि अटि लः स्थाने तिपि च्लौ च्लेः सिचि इचावितौ तिप इकारलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ 'अभार्षीत्' इति । अभृत । आत्मनेपदे लुङ्स्तादेशे च्लौ च्लेः सिचि 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सिचो लुकि 'उश्च' इति कित्वाद् 'किङ्ति च' इति गुणनिषेधे 'अभृत' इति । ददाति । डुदाज् दाने इति धातुतो लट्स्तिपि शपि शपः श्लुत्वे 'श्लौ' इति द्वित्वे अभ्यासादिकार्ये 'ह्रस्वः' इति अभ्यासस्याचो ह्रस्वे 'ददाति' इति । दत्ते । आत्मनेपदे लटि तादेशे टेरेत्वे द्वित्वे-

द्वावभ्यासलोपश्च' । देहि । दत्ताम् । अददात् । अदत्ताम् । अददुः । अदत्त । दद्यात् । ददीत । 'एलिङि' । देयात् । दासीष्ट । 'गातिस्थे'ति सिचो लुक् । अदात् । अदाताम् । अदुः । स्थाध्वोरिच्च । १।२।१७। अनयोरिदन्तादेशः स्यात्, सिच कित्स्यादात्मनेपदेषु । अदित । अदास्यत् । अदास्यत । डुधाञ् धारण-पोषणयोः । दधाति । दधस्तथोश्च । ८।२।३८। द्विरुक्तस्य भषन्तस्य धाञो वशो भप् ,

ऽभ्यासादिकार्ये ह्रस्वे 'श्नाभ्यस्तयोरातः' इत्याकारलोपे 'खरि च' इति दस्य तत्त्वे 'दत्ते' इति । ददौ । दाधातुतो लट्स्तिपि तिपो णलि 'लिटि धातोर्नभ्यासस्य' इति धातोर्द्वित्वे 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'आत औ णलः' इति णलः स्थाने औत्वे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'ददौ' इति । अददात् । लङि अटि तिपि शपि शपः श्लौ 'श्लौ' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे ह्रस्वे तिप इकारलोपे 'अददात्' इति । दद्यात् । विधि-लिङ्स्तिपि शपि शपः श्लुत्वे 'श्लौ' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे ह्रस्वे यासुटि उटावितौ तिप इकारलोपे 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' इति सलोपे 'श्नाभ्यस्तयोरातः' इत्याकारलोपे च 'दद्यात्' इति । आत्मनेपदे-द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'लिङः सीयुट्' इति सीयु-डागमेऽनुबन्धलोपे यलोपे 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' इति सलोपे 'श्नाभ्यस्तयोरातः' इति अभ्यस्तसंज्ञकत्वादाकारलोपे 'ददीत' इति । आशीर्लिङि—'देयात्' 'एलिङि' इति आकारस्य एत्वम्, स्कोरिति सलोपश्चेति विशेषः । आत्मनेपदे—सीयुट्, सुट्, षत्वट्त्वे च विशेषः—'दासीष्ट' इति जातम् । अदात् । लुङि अटि तिपि च्लौ च्लेः सिचि 'दाधाध्वदाप्' इति घुसंज्ञायां 'गातिस्थाघुपाभूभ्यस्सिचः परस्मैपदेषु' इति सिचो लुकि 'अदात्' इति । स्थाध्वोरिच्च । 'असंयोगाखिलट् कित्' इत्यतः किदिति 'हनः सिच्' इत्यतः सिजिति चानुवर्तते । तदाह—अनयोरित्यादिना । अदित । आत्मनेपदे-लुङ्स्तादेने च्लौ च्लेः सिचि 'दाधाध्वदाप्' इति घुसंज्ञकत्वात् 'स्थाध्वोरिच्च' इति इदन्तादेशे सिचः किरवे च 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सिचः सलोपे विहिते 'अदित' इति निष्पन्नं भवति । दधाति । डुधाञ् धारणपोषणयोरिति धातुतो लट्स्तिपि शपि शपः श्लौ द्वित्वादिकार्ये ह्रस्वे 'अभ्यासे चर्च' इति धकारस्य दकारे 'दधाति' इति । दधस्तथोश्च । धा धातोः कृतद्वित्वस्य दधः इति षष्ठ्यन्तम् । 'एकाचो वशो' इत्यतो क्षपन्तस्य वशो भप् इत्यनुवर्तते । तथ् अनयोर्द्वन्द्वात् सप्तमीद्विवचनम् । तकारादकार उच्चारणार्थः । तकारथकार-

स्था—'स्था' धातु और घुसंज्ञक धातुको इदन्तादेश हो और धातुसे पर जो 'सिच्' वह 'कित्' हो आत्मनेपदके परे ।

दधस्त—द्विरुक्त (कृतद्वित्व) भषन्त 'धाञ्' धातुके 'वश्' को भष्भाव हो, तकार, थकार, सकार और 'ध्व'के परे ।

तथ्योः स्त्वोश्च परतः । धत्तः । दधति । दधासि । धत्थः । धत्ते । दधाते । धत्से ।
 धद्ध्वे । ध्वसो'रित्येत्त्वम् । धेहि । अदधात् । अधत्ताम् । अदधुः । अदधाः ।
 अधत्तम् । अधत्त । अदधाम् । अदध्व । अदध्म । अधत्त । अदधाताम् । अदधत् ।
 अधत्थाः । अदधाथाम् । अधद्ध्वम् । अधधि । अदध्वहि । अदध्महि । दध्यात् ।
 दधीत । दधीयाताम् । धेयात् । धासीष्ट । अधात् । अधाताम् । अधित । अधिषाता-
 म् । अधास्यत् । अधास्यत् । णिजिर् शौच-पोषणयोः । निजां त्रयाणां गुणः
 श्लौ । ७।४।७५। णिज्-विज्-विषामभ्यासस्य गुणः स्याच्छ्लौ । नेनेक्ति । नेनेक्तः ।
 नेनिजति । नेनिक्ते । निनेज । निनिजे । नेक्ता २ । नेक्ष्यति । नेक्ष्यते । नेनेक्तु ।

योरिति लभ्यते, चकारात् स्त्वोरिति समुच्चीयते । सकारे ध्वशब्दे चेति लभ्यते
 तदाह—द्विभक्तस्येत्यादिना । धत्तः । धाधातोः तसि शपः श्लुत्वे 'श्लौ' इति द्वित्वे-
 ऽभ्यासत्वे 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'अभ्यासे चर्च' इति धस्य दत्त्वे दध् तस्' इति
 जाते 'दधस्तथोश्च' इति दस्य धत्त्वे 'शनाभ्यस्तयोरात्' इत्यालोपे 'खरि च'
 इति धस्य तत्त्वे सस्य रुत्वे विसर्गे च 'धत्तः' इति । अधात् । दधातेर्लुङि अटि तिपि
 तिप इलोपे च्लौ, च्लेः सिचि 'गातिस्थाधुपा०' इति सिचो लोपे 'अधात्' इति ।
 अधित धाज आत्मनेपदे, लुङस्तादेशे च्लौ च्लेः सिचि इचो लोपे 'स्थाध्वोरिच्च'
 इति इदन्तादेशे सिचः किरत्वे च किरत्वात् 'विडति च' इति गुणाभावे 'ह्रस्वा-
 दङ्गात्' इति सलोपे चाटि 'अधित' इति । निजां त्रयाणां गुणः श्लौ । निजामिति
 बहुवचनात् तदादीनां ग्रहणम् 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इत्यत अभ्यासस्येत्यनु-
 वर्तते तदाह—णिज्विजित्यादिना । नेनेक्ति । णिजिर्-शौचपोषणयोरित्यस्माद् धातो-
 र्लटि समागते 'इर इत्संज्ञा वाच्या' इति इत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे
 'णो नः' इति धात्वादेर्णस्य नत्वे लटस्तिपि शपि शपः श्लौ धातोर्द्वित्वेऽभ्यासकार्ये
 'निजां त्रयाणां गुणः श्लौ' इत्यभ्यासस्य गुणे 'त्रोः कुः' इति जस्य गत्वे
 'खरि च' इति गस्य कत्वे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'नेनेक्ति' इति ।
 निनेज । निज्धातोर्लिटि, लिटः तिपि तिपो णलि 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति
 द्वित्वेऽभ्यासकार्ये जलोपे 'नि निज् अ' इति स्थिते 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति
 गुणे संयोगे च 'निनेज' इति । निनिजे । आत्मनेपदे तादेशे 'लिटस्तद्वयोरेशिरेच्'
 इति त इत्यस्य स्थाने एशादेशे धातोर्द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'निनिजे' इति रूपं बोध्यम् ।
 नेनेक्थि । लोटः सिपि शपि शपः श्लुत्वे 'सेर्हपिच्च' इति सेर्हित्वे धातोर्द्वित्वे जलोपे
 'निजां त्रयाणां गुणः श्लौ' इति अभ्यासगुणे 'हुक्लभ्यो हेर्धिः' इति हेर्धिरादेशे

निजां—'णिज्' विज् और विष् धातुके अभ्यासको 'गुण' हो, श्लुके विषयमें ।

नेनिधि । नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके । ७।३।८७। अभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके लघूपधगुणो न । नेनिजानि । नेनिकाम् । अनेनेक् । अनेनिकाम् । अनेनिजुः । अनेनिजम् । अनेनिक । नेनिज्यात् । नेनिजीत । निज्यात् । निक्षीष्ट । अनिजत् । अनेक्षीत् । अनिक्त । अनेक्ष्यत् । अनेक्ष्यत । एवं—विजिर् पृथग्भावे । विष्लु व्याप्तौ ॥ इति जुहोत्यादिः ।



‘चोः कुः’ इति जस्य गत्वे ‘नेनेग्धि’ इति रूपम् । नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके । ‘मिदेर्गुणः’ इत्यतो गुण इति ‘पुगन्त’ इत्यतो लघूपधस्येति चानुवर्तते, इत्यभिप्रेत्य शेषं पूरयति—लघूपधेति । नेनिजानि । सिपि ‘मेनिः’ इति मेनिस्त्वे ‘आडुत्तमस्य पिच्च’ इति आटि द्वित्वेऽभ्यासकार्ये जलोपे ‘निजां त्रयाणाम्’ इति अभ्यासस्याचो गुणे ‘पुगन्तलघू’ इति गुणे प्राप्ते ‘नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके’ इति गुणाभावे नेनिजानि इति । अनेनेक् । लङि अटि तिपि शपः श्लौ ‘श्लौ’ इति द्वित्वेऽभ्यासकार्ये ‘निजां त्रयाणां गुणः श्लौ’ इति अभ्यासस्य गुणे ‘अ ने निज्’ इति स्थिते तिपि इलोपे ‘चोः कुः’ इति कुत्वेन जस्य गत्वे ‘खरि च’ इति चत्वेन कत्वे ‘पुगन्तलघूपधस्य च’ इति गुणे ‘अ ने नेक्’ इति व्यवस्थिते ‘हल्ङ्याबभ्य’ इति तलोपे ‘अनेनेक्’ इति रूपं भवति । अनेनिक । आत्मनेपदे तादेशे शपः श्लुत्वे ‘श्लौ’ इति द्वित्वेऽभ्यासकार्ये ‘चोः कुः’ इति कुत्वेन नत्वे तस्य चत्वेन कत्वे ‘निजां त्रयाणां गुणः श्लौ’ इति अभ्यासगुणेऽटि ‘अनेनिक’ इति । अनिजत् । लुङि अटि तिपि च्लौ सति ‘हरितो वा’ इति च्लेरङि तिपि इकारलोपे ‘अनिजत्’ इति । अङभावापत्ते-च्लेः सिचि ‘अस्तिसिचोऽपृक्ते’ इति तिपस्तकारस्य ईटि ‘वदग्रजहलन्तस्याचः’ इति वृद्धौ ‘चोः कुः’ इति कुत्वेन गत्वे ‘खरि च’ इति चत्वेन गस्य कत्वे, सिचः सस्य षत्वे कृष्संयोगे चकारे अटि च ‘अनेक्षीत्’ इति । अनिक्त । आत्मनेपदे लुङि अटि लुङस्ता-देशे च्लेः सिचि इचो लोपे ‘झलो झलि’ इति सलोपे ‘चोः कुः’ इति जस्य गत्वे ‘खरि च’ इति गस्य कत्वे ‘अनिक्त’ इति । एवं विजिर् पृथग्भावे विष्लु-व्याप्तौ च वेवेक्ति इत्यादि रूपाणि बोध्यानि । इति जुहोत्यादयः ।



नाभ्य—अभ्यस्तसंज्ञक धातुको ‘लघूपध’ गुण नहीं हो, अजादि ‘पित्’ सार्वधातुकके परे । इस प्रकार ‘इन्दुमती’ टीकामें जुहोत्यादिप्रकरण समाप्त हुआ ।



अथ दिवादिप्रकरणम्

दिबु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारयुतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु । दिवादि-
भ्यः श्यन् । ३।१।६९। दिवादिभ्यः श्यन्प्रत्ययः स्यात् कर्तरि सार्वधातुके । शपोऽ-
पवादः । 'हलि चे'ति दीर्घः । दीव्यति । दिदेव । देविता । देविष्यति । दीव्यतु ।
अदीव्यत् । दीव्येत् । दीव्यात् । अदेवीत् । अदेविष्यत् । एवं-षिवु तन्तुसन्ताने ।
सिवादीनां वाऽड्व्यवायेऽपि । ८।३।७१। परिनिविभ्यः परेषामेषामड्व्यवायेऽपि
वा सस्य षः । पर्यषीव्यत् । पर्यसीव्यत् । नृती गात्रविच्छेपे । नृत्यति । ननर्त्त ।
नर्त्तिता । सेऽसिचि कृतचृतछृदत्तदृदत्तः । ७।२।५७। एभ्यः सिजिभञ्जस्य सादे-
रार्द्धधातुकस्येड् वा स्यात् । नर्त्तिष्यति । नर्त्स्यति । नृत्यात् । अनर्त्तीत् । अन-

दिवादिभ्यः श्यन्निति । 'कर्तरि शप्' इत्यतः कर्तरीति 'सार्वधातुके यक्' इत्यतः
सार्वधातुके इति चानुवर्तते इत्यभिप्रेत्याह-शपोऽपवाद इति । दिदेव । दिबु धातोर्लिटि-
स्तिपि तिपो णलि 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति धातोर्द्वित्वेऽभ्यासकार्यं 'पुगन्तल-
घूपधस्य च' इति गुणे 'दिदेव' इति । अदेवीत् । लुङि अटि तिपि इकारलोपे च्लौ
सिजादेशे इचावितौ 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इटि 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति
ईटि 'इट ईटि' इति सलोपे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति लघूपधगुणे 'अदेवीत्' इति ।
सिवादीनां वेति । 'परिनिविभ्यः' इत्यतः परिनिविभ्यः 'अपदान्तस्य मूर्धन्य' इत्यधि-
कृतम् । अत आह—सस्य षः स्यादिति । सीव्यति । सिपेव । सेविता । सेविष्यति ।
सीव्यतु । असीव्यत् । सीव्येत् । सीव्यात् । असेवीत् । असेविष्यत् । पर्यषीव्यदिति ।
परि + असीव्यत् इत्यवस्थायां 'सिवादीनां वाऽड्व्यवायेऽपि' इति वैभाषिके सस्य
पत्वे यणि पर्यषीव्यत्—षत्वाभावे पर्यसीव्यत् इति रूपद्वयं साधु । नृत्यति । नृती-
गात्रविच्छेपे इति धातोर्लटि तिपि 'दिवादिभ्यः श्यन्' इति श्यनि श्यनः अपित्वेन
ङित्वान्न गुणः, 'नृत्यति' । ननर्त्त । नृती गात्रविच्छेपे इत्यस्माद्धातोर्लिटिस्तिपि तिपो णलि
धातोर्द्वित्वे तलोपे 'उरत्' इति अभ्यासञ्कारस्य अदादेशे रपरे हलादिशेषे गुणे 'नन-
र्त्त' इति । सेऽसिचि इति । से असिचि इति छेदः । सप्तमी षष्ठ्यर्थे । कृतचृतछृदत्तदृदत्त एषां
समाहारद्वन्द्वात् पञ्चमी । 'उदितो वा' इत्यतो वेति 'आर्धधातुकस्येड्वि'ति चानु-
वर्तते तदाह—एभ्य श्यादिना । अनर्त्तीत् । नृतो लुङ्स्तिपि च्लौ च्लेः सिचि इचो लोपे
'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इटि तिपि इकारलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि 'इट

दिवा—दिवादिगण पठित धातुओंसे 'श्यन्' प्रत्यय हो, कर्त्रर्थक सार्वधातुकके परे ।
सिवा—परि, नि और 'वि' उपसर्गोंसे पर सिवादि (सिबु-सह-सुट्-स्तु-स्वञ्ज)के सकारको
'अट्'के व्यवधानमें भी षत्व हो, विकल्पसे । सेऽसि—कृत-चृत-छृद-तृद-नृत धातुओंसे

त्तिष्यत् । अनत्स्यत् । त्रसी उद्वेगे । 'वा आशे'ति श्यन्वा । त्रस्यति । त्रसति । तत्रास । वा जृभ्रमुत्रसाम् । ६।४।१२४। एषां किति लिटि सेटि, 'थलि' च एत्वा-भ्यासलोपो वा स्तः । त्रेसतुः । तत्रसतुः । त्रेसिथ । तत्रसिथ । त्रसिता । शो तनूकरणे । ओतः श्यनि । ७।३।७ । ओतो लोपः स्यात् श्यनि । श्यति । श्यतः । श्यन्ति । 'आदेच उपदेशोऽशिति' । शशौ । शशतुः । शशुः । शाता । शास्यति । श्यतु । अश्यत् । श्येत् । शयात् । 'विभाषा प्राधेडि'ति सिचो वा लुक् । अशात् । अशाताम् । लुगभावे 'यमरमे'ति इट्सकौ । अशासीत् । अशासिष्टाम् । अशास्यत् । छो छेदने । छयति । चच्छौ । चच्छतुः । षो अन्तर्कर्मणि । स्यति । ससौ । अभिष्यति । अभिससौ । साता । सास्यति । स्यतु । अभ्यध्यत् । सेयात् । दो अवखण्डने । द्यति । ददौ । प्रणिदाता । दास्यति । देयात् । अदात् । अदास्यत् । व्यध ताडने । 'ग्रहिज्ये'ति सम्प्रसारणम् । विध्यति । विव्याध । विविधतुः ।

ईटि' इति सलोपे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे अटि च 'अनर्तात्' इति । त्रस्यति । त्रसी उद्वेगे इति धातुतो लट्स्तिपि 'वा आशभ्लाशभ्रमुक्रमुक्लमुत्रसिनुटिलपः' इति वैकल्पिकेन श्यनि 'त्रस्यति' इति । श्यनोऽभावपक्षे शपि त्रसति । वा जृभ्रमुत्रसाम् । 'अत एकहस्मध्ये' इत्यतो लिटि इति 'थलि च सेटि' इति चानुवर्तते । 'ध्वसोरेद्धौ' इत्यतः एदिति 'गमहन' इत्यतः कितीति च । तदाह—एषामिति । ओतः श्यनि । 'घोर्लोपो लेटि वा' इत्यतो लोप इत्यनुवर्तते इत्यभिप्रेत्य शेषं पूरयति—लोपः स्यादिति । श्यति । शो तनूकरणे इत्यस्माद्धातोः 'वर्तमाने लट्' इति लटि तिपि 'दिवादिभ्यः श्यन्' इति श्यनि 'ओतः श्यनि' इति शोवर्तिन ओकारस्य लोपे 'श्यति' इति बोध्यम् । शशौ । लिटि तिपि णलि अनुबन्धलोपे धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'ह्रस्वः' इति अभ्यास-स्याचो ह्रस्वत्वे 'श शा अ' इति स्थिते 'आत औ णलः' णल औकारे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'शशौ' इति । विध्यति । व्यध ताडने इति धातोर्लटि तिपि 'दिवादिभ्यः श्यन्' इति श्यनि अनुबन्धलोपे 'व्यध् य ति' इति स्थिते श्यनोऽपिस्त्वेन 'सार्वधातुकमपित्' इति द्वित्वम्, द्वित्वात् 'ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचति वृश्तिपृच्छति भृज्जतीनां विडति च' इति सम्प्रसारणे 'व् इ अ ध् य ति' इति जाते 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'विध्यति' इति रूपम् । विव्याध । व्यध् धातोर्लिट्स्तिपि तिपो णलि अनुबन्धलोपे 'लिटि धातोः' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलादिशेषेऽर्थात् धलोपे 'व्य व्यध् अ' इति स्थिते 'लिङ्ग-

पर 'सिच्' भिन्न सकारादि आर्षधातुको 'इट्'का आगम हो, विकल्पसे । वा जृ—जृ, भ्रम् और त्रस् धातुको एत्वाभ्यासलोप हो, कित्-लिट् और सेट् थलके परे, विकल्पसे ।

ओतः—ओकारका लोप हो, 'श्यन्'के परे ।

विविधुः । विव्यद्ध । विव्यधिथ । व्यद्धा । व्यस्यति । विध्येत् । विध्यात् । अव्या-
त्सीत् । पुष पुष्टौ । पुष्यति । पुपोष । पुपोषिथ । पोष्टा । पोक्ष्यति । 'पुषादी'
त्यङ्-आपरस्मैपदात् । अपुषत् । अपोक्ष्यत् । शुष शोषणे । शुष्यति । शुशोष ।
शोष्टा । शोक्ष्यति । शुष्यतु । अशुष्यत् । अशुषत् । अशोक्ष्यत् । णश अदर्शने ।
नश्यति । ननाश । नेशतुः । नेशुः । रधादिभ्यश्च । ७।२।४५। रध् नश् तृप् हृप्
हुह् मुह् णुह् णिह्-एभ्यो वलाद्यार्द्धधातुकस्य वेट् स्यात् । नेशिथ । मस्जिन-
शोर्झलि । ७।१।६०। मस्जिनशोर्नुम् स्यात् झलि । ननंष्ट । नेशिव-नेश्च ।
नेशिम-नेश्म । नशिता । नंष्टा । नशिष्यति । नङ्क्ष्यति । नश्यतु । अनश्यत् ।

भ्यासस्योभयेपास्' इति अभ्यासस्य सम्प्रसारणे 'व् इ अ व्यध् अ' इति जाते
'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'व् इ व्यध् अ' मिलित्वा 'विव्यध् अ' इति स्थिते
'अत उपधायाः' इति उपधावृद्धौ 'विव्याध' इति रूपं ज्ञेयम् । अव्यात्सीत् । लुङि
अटि तिपि च्लौ च्लेः सिचि तिप इकारलोपे अनिट्त्वादिङभावे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते'
इति अपृक्तसंज्ञकस्य तकारस्य ईटि विहिते 'वदवजहलन्तस्याचः' इति वृद्धौ, 'खरि
च' इति धस्य तत्वे 'अव्यात्सीत्' इति । पुपोष । लिटि तिपि णलि अनुबन्धलोपे 'लिटि
धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'पुगन्तलघूपधस्य' इति गुणे 'पुपोष'
इति सिद्धं भवति । पुपोषिथ । थलि द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'आर्धधातुकस्येड्' इति इटि
प्राप्ते 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति निषेधे 'कृस्मृवृस्तु' इति नित्यमिट् । अज-
न्तत्वाभावात् 'ऋतो भारद्वाजस्य' इत्यस्य नात्र प्रसक्तिः । 'पुगन्त' इति गुणे पुपो-
षिथ' इति रूपम् । अपुषत् । पुपधातोर्लुङि, अटि तिपि तिप इकारलोपे च्लौ 'पुषादि-
द्युताद्यलुदितः' इति पुषादिगणपाठात् च्लेरङि ङिस्वाद् गुणाभावे 'अपुषत्' इति । अपुष-
ताम्, अपुषन् । शुशोष । शुपो लिटि तिपि णलि अनुबन्धलोपे द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'पुगन्त'
इति गुणे 'शुशोष' इति साधु । नस्यति । सानुबन्धकात् णश् धातुतो लटि लट्स्तिपि
श्यनि 'णो नः' इति णस्य नत्वे 'नश्यति' इति रूपम् । ननाश । नश्धातोर्लिटि-
स्तिपि णलि णलावितौ 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'अत
उपधायाः' इति वृद्धौ 'ननाश' इति रूपं बोध्यम् । रधादिभ्यश्च । 'आर्धधातुकस्येड्व-
लादेः' इत्यनुवर्तते 'स्वरतिसूतिसूयति' इत्यतो वेति चेत्यभिप्रेत्य शेषं पूरयति—
वलाद्यार्धधातुकस्येति । मस्जिनशोर्झलि । 'इदितो नुम्' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः ।

रधा—रधादि धातुओंसे पर वलादि आर्धधातुकको इडागम हो, विकल्पसे ।

मस्जि—'मस्ज' तथा 'नश्' धातुको नुमागम हो, झलादि प्रत्ययके परे ।

नश्येत् । नश्यात् । अनशत् । प्रणश्यति । नशेः षान्तस्य । ८।४।३६। षान्तस्य
नशेर्णत्वं न स्यात् । प्रनष्टा । 'अन्त' ग्रहणं भूतपूर्वप्रतिपत्त्यर्थम् । प्रनङ्क्ष्यति । रध
हिंसा-संराद्धयोः । रध्यति । रधिजभोरचि । ७।१।६१। रधिजभोरचि नुम्
स्यात् । ररन्ध । ररन्धतुः । ररन्धथ । ररद्ध । ररन्धथुः । ररन्धिव-ररन्ध्व ।
नेटथल्लिटि रधेः । ७।१।६२। लिङ्वर्जे इटि रधेर्नुम्न स्यात् । रधिता-रद्धा ।
रधिष्यति-रत्स्यति । अङि नुम् । 'अनिदिता'मिति नलोपः । अरधत् ॥ तृप
प्रीणने । तृप्यति । ततर्प । ततृपतुः । ततृपुः । रधादित्वाद्देट् । तत्रप्य-ततर्पिथ-
ततर्प्य । तर्पिता-तर्प्ता-त्रप्ता । (स्पृशमृशकृषतृपट्पां चलेः सिज्वा

प्रणश्यति । अत्र 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' इति णत्वं बोध्यम् । नशेः षान्तस्येति ।
'रषाभ्याम्' इत्यतो ण इति । 'न भाभूप' इत्यतः नेति चानुवर्तते इत्यभिप्रेत्य शेषं पूर-
यति-णत्वं न स्यादिति । प्रनष्टेति । 'प्र+नष्टा' इत्यवस्थायाम् 'उपसर्गादसमासे' इति
णत्वं प्राप्तं 'नशेः षान्तस्य' इति निषेधात् न भवति इति भावः । अन्तग्रहणमिति ।
पूर्वं षकारस्य सतः इदानीमादेशवशेन षान्तत्वाभावेऽपि णत्वनिषेधप्राप्त्यर्थमन्त-
ग्रहणमित्यर्थः । प्रनङ्क्ष्यति । अत्र चस्य कत्वे कृतेऽपि भूतपूर्वगत्या षान्तत्वान्न णत्व-
मिति भावः । रधिजभोरचीति । रध् हिंसायामिति श्यन्विकरणस्य चतुर्थान्तस्येका
निर्देशः । 'इदितो नुम्' इत्यतो नुमित्यनुवर्तते । अत आह—नुम् स्यादिति ।
ररन्धेति । रध्धातोर्लिटि तिपि णलि 'रधिजभोरचि' इति नुमि मित्वादन्त्यादचः परत्वे
द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे हलादिशेषत्वे रूपसिद्धिः । ररन्धतुः । ररन्धुः । ररन्धथ-ररद्ध ।
अत्र वेट् भारद्वाजमताश्रयणात् । ररन्धथुः । ररन्ध । ररन्ध । ररन्धिव-ररन्ध्व । अत्रे-
ङ्विकल्पः 'रधादिभ्यश्च' इति प्रतिज्ञानात् । ररन्धिम-ररन्धम । रधिता-रद्धा । रधि-
ष्यति-रत्स्यति । अत्रेङ्विकल्पः 'रधादिभ्यश्च' इति तथा प्रतिपादनात् । रध्यतु ।
अरध्यत् । रध्येत् । रध्यात् । अङि पुषादित्वादङि नुमि 'अनिदिताम्' इति नलोपे 'अ-
रधत्' इति रूपम् । अरधिष्यत्-अरत्स्यत् । तृप प्रीणने, प्रीणनं तृप्तिस्तर्पणं च ।
तृप्यति । ततर्प । ततृपतुः । ततृपुः । तत्रप्य-ततर्पिथ-ततर्प्य । अत्र क्रमशः 'रधादि-
भ्यश्च' इतीडभावे 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्य' इत्यमि यणि प्रथमं 'तत्रप्य' रूपम् ।
इटि सति गुणे द्वितीयं 'ततर्पिथ' इति रूपम् । इडभावेऽभ्यभावे च 'ततर्प्य' इति
तृतीयं रूपमवसेयम् । एवं तर्पिता-तर्प्ता-त्रप्ता । तर्पिष्यति-तर्प्स्यति-त्रप्स्यति ।
तृप्यतु । अतृप्यत् । तृप्येत् । तृप्यात् । 'स्पृशमृश' इति सिचि इटि सति गुणेऽटि

नशेः—षान्त 'नश्' धातुको 'णत्व' नहीं हो ।

रधि—'रध्' धातु और 'जम्' धातुको नुमागम हो, अजादि प्रत्ययके परे ।
नेटथ—लिट्-सम्बन्धि-भिन्न 'इट्'के परे 'रध्' धातुको नुम् नहीं हो । स्पृश—स्पृशादि

वाच्यः) अतर्पीत्-अत्राप्सीत्-अताप्सीत्-अतृपत् । दृप हर्ष-मोहनयोः ।
मोहनं-गर्वः । दृप्यति इत्यादि । 'रधादित्वादिमौ वेट्काचमर्थमनुदात्तता' ।
द्रुह जिघांसायाम् । द्रुह्यति । द्रोह । द्रुह्यतुः । द्रुहुः । 'वा द्रुहे'ति वा घः ।
पक्षे ढः । 'झषस्तथोर्धोऽधः' द्रोह्यति-द्रोह्य-द्रोह । द्रुह्यथुः । द्रुह ।
द्रोह । द्रुह्यति । द्रुह्यति । द्रोहिता-द्रोघा । द्रोढा । द्रोहिष्यति-द्रोच्यति ।
दत्वघत्वयोस्तुल्यं रूपम् । अद्रुहत् । अद्रोहिष्यत्-अद्रोच्यत् । मुह वैचित्त्यं । वैचि-
त्यम्-अविवेकः । मुह्यति । मुमोह । मुमुह्यतुः । मुमुहुः । मुमोह्य-मुमोघ-मुमोढ ।
मोहिता-मोघा-मोढा । मोहिष्यति-मोच्यति । मुह्यतु । अमुह्यत् । मुह्यत् । मुह्यात् ।
अमुहत् । अमोहिष्यत्-अमोच्यत् । णुह उद्विख्ये । स्नुह्यति । सुणोह ।
सुणुह्यतुः । सुणुहुः । सुणोह्य-सुणोघ-सुणोढ । सुणुह्यथुः । सुणुह ।
सुणोह । सुणुह्य-सुणुह । सुणुह्य-सुणुह्य । स्नोहिता-स्नोघा-स्नोढा ।
स्नोहिष्यति-स्नोच्यति । स्नुह्यतु । अस्नुहत्-अस्नोहिष्यत्-अस्नोच्यत् । णिह
प्रीतौ । सिह्यति । सिह्येह । सिह्यतुः । सिह्यथुः । सिह्येह्य-सिह्येघ-
सिह्येढ । स्नेहिता-स्नेघा-स्नेढा । स्नेहिष्यति-स्नेच्यति । स्निह्यतु । अस्नि-
हत् । अस्नेहिष्यत्-अस्नेच्यत् । वृत् । रधादयः समाप्ताः । तुष तुष्टौ । तुष्यति ।
तुतोष । तोष्टा । तोच्यति । तुष्यतु । दुष वैकृत्ये । दुष्यति । दुदोष । दोष्टा ।

'अतर्पीत्' इत्येकं रूपम् । सिजभावे 'अताप्सीत्' इति द्वितीयं रूपम् । अमि सति तु
'अत्राप्सीत्' इति तृतीयं रूपं भवति । पुनरपि पुषाद्यङि अतृपत् इति चतुर्थं रूपम् ।
अत्राप्यत् अतर्प्यत्-अतर्प्यत् । इत्यादि । दृप हर्षमोहनयोः दृप्यति । पूर्ववत् ।
ननु रधादित्वादेव वेट्काचमर्थमनुदात्ततेति । द्रुह जिघांसायाम्—द्रुह्यति । द्रोह ।
द्रुह्यतुः । द्रुहुः । द्रोह्येति । द्रुहधातोर्लिटि सिपि थलि 'लिटि धातोः' इति द्वित्वे
पूर्वस्याभ्यासत्वे हलादिशेषत्वे 'द्रुह्य-थ' इति जाते 'रधादिभ्यश्च' इति इडविकल्पे
'पुगन्त' इति गुणे 'द्रोह्य' इति प्रथमं रूपम् । इडभावे 'द्रोह्य-थ' वा द्रुहसुहण्णु-
हण्णिहाम्' इति हस्य विकल्पेन धत्वे झषस्तथोर्धोऽधः' इति थस्य धत्वे 'झलां जश्
झशि' इति घस्य गत्वे 'द्रोह्य' इति द्वितीयं रूपम् । घत्वस्य विकल्पत्वात् 'होढः'
इति ढत्वे 'झषस्तथोः' इति थस्य धत्वे 'ण्डुना ण्डुः' इति ण्डुत्वेन घस्यापि ढत्वे 'ढो ढे
लोपः' इति पूर्वढस्य लोपे 'पुगन्त' इति गुणे 'द्रोह' इति तृतीयं रूपम् । द्रुह्यथुः-

धातुसे पर 'चिल'को 'सिच्' हो, विकल्पसे । रधादित्वा—रधादि गणमें पठित होनेसे ये

दोच्यति । दुध्यतु । श्लिष आलिङ्गने । श्लिष्यति । श्लिष आलिङ्गने । ३।१।
 ४६। श्लिषश्च्लेः कसः स्यादालिङ्गने । 'अश्लिषत् कन्यां देवदत्तः' । आलि-
 ङ्गने किम् ? समश्लिषञ्जतु काष्ठम् । प्रत्यासत्ताविह श्लिषिः । क्रुध क्रोधे । क्रुध्यति ।
 चुक्रोध । क्रोद्धा । क्रोत्स्यति । क्रुध्यतु । शुध बुभुक्षायाम् । शुध्यति । चुक्षोध ।
 क्षोद्धा । क्षोत्स्यति । शुध शौचे । शुध्यति । शुशोध । शोद्धा । शोत्स्यति । पिधु
 संराद्धौ । सिध्यति । सिषेध । सेद्धा । सेत्स्यति । असिधत् । असेत्स्यत् । शम् उप-
 शमे । शमामघानां दीर्घः श्यनि । ७।३।७४। शम्-तम्-दम्-ध्रम्-ध्रम्-क्षम्-

दुद्रुह । दुद्रोह-दुद्रुहि-दुद्रुहिम् । द्रोहिता-द्रोग्धा-द्रोढा । द्रोहिष्यति-ध्रोच्यति ।
 द्रुह्यतु । अद्रुह्यत् । द्रुह्येत् । द्रुह्यात् । अद्रुहत् 'पुपाद्यङ्' । अद्रोहिष्यत्-अध्रोच्यत् । 'श्लिष
 आलिङ्गने शते । च्लेरिति 'श्ल इगुपधा' इत्यतः कस इत्यनुवर्तते । तथा च 'श्ल इगु-
 पधा' इत्यनेनैव कसप्रत्यये सिद्धे पुनरपि कसविधानं पुष्पाद्यङो बाधनार्थम् । स च
 बाधः कसश्च श्लिषधातोर्आलिङ्गनार्थं गम्य एव स्यान्नान्यथा । अश्लिषत्कन्यामिति ।
 श्लिषधातोर्लुङि तिपि 'इतश्चे'ति इलोपे च्लौ 'श्लिष आलिङ्गने' इति कसादेशेऽङ्गस्या-
 ङागमे 'अश्लिष्-स त्' इति जाते 'पढोः कः सि' इति पस्य कत्वे 'आदेशप्रत्यययोः'
 इति सकारस्य पत्वे उभयोः संयोगेन कत्वे 'अश्लिषत्' इति रूपम् । कन्यां देवदत्तः
 इति पदप्रपूर्णं तु श्लिषधातोर्आलिङ्गनार्थस्फोरणायेति बोध्यम् । देवदत्तकतृककन्या-
 कर्मक आलिङ्गनानुकूलो व्यापारः इति शब्दबोधः । समश्लिषञ्जतु काष्ठमिति । सम्-
 आङ् पूर्वकात् श्लिषधातोर्लुङि तिपि । इतश्चेति इलोपे च्लौ पुपादित्वाङ्ङि समश्लि-
 पत् इति सिद्धम् । अत्र श्लिषः संयोगार्थत्वेनालिङ्गनार्थाभावान्न कसः । जतु=लाक्षा-सा
 च काष्ठलग्नेवोपपद्यते इति स्थितिः । जतु च काष्ठञ्चेति समाहारद्वन्द्वः । प्रत्यासत्तौ=
 संयोगार्थं इति शेषः । श्लिषः संयोगार्थत्वाच्च कसः । न च 'श्लिष आलिङ्गने' इति
 कसाभावे, 'श्ल इगुपधा' इति कसः स्यान्न तु पुपाद्यङ् इति चेन्न विप्रतिपेधेन यद्वाधितं
 तद्वाधितमेवेति नियमात् । क्रुध क्रोधे—क्रुध्यति । चुक्रोध । क्रोद्धा । क्रोत्स्यति ।
 क्रुध्यतु । अक्रुध्यत् । क्रुध्येत् । क्रुध्यात् । अक्रुधत् । अक्रोत्स्यत् । इत्यादि ।
 शुध = बुभुक्षायाम्=शुध्यति—चुक्षोध—क्षोद्धा—क्षोत्स्यति—शुध्यतु—अशुध्यत्—शुध्येत्—
 शुध्यात्—अशुधत्—अक्षोत्स्यत् । शुध=शौचे=शुध्यति—शुशोध—शोद्धा—शोत्स्यति—
 शध्यतु—अशुध्यत्—शुध्येत्—शुध्यात्—अशुधत्—अशोत्स्यत् । पिधु=संराद्धौ=सिध्यति—
 सिसेध—सेद्धा—सेत्स्यति—सिध्यतु—असिध्यत्—सिध्येत्—सिध्यात्—असिधत्—असेत्स्यत् ।

दोनो (तप्, इप्) धातु वेट् (विकल्पसे इट्को प्राप्त करनेवाले) हैं । केवल अमागममात्र
 होनेके लिये इनका अनुदात्त धातुओंमें पाठ है ।

श्लिष—'श्लिष्' धातुसे पर 'च्लि'को 'कस' आदेश हो, आलिङ्गन अर्थमें । शमा-शमादि-

कलम्-मदामचो दीर्घः श्यनि । प्रणिशाम्यति । शशाम । शेमतुः । शेमुः । शेमिय ।
 शमिता । शमिष्यति । शाम्यतु । अशमत् । अशमिष्यत् । तमु काङ्क्षायाम् ।
 ताम्यति । तताम । तमिता । तमिष्यति । ताम्यतु । अतमत् । अतमिष्यत् । दमु
 उपशमे । दाम्यति । ददाम । दमिता । दमिष्यति । दाम्यतु । अदमत् । अदमिष्यत् ।
 अमु तपसि, खेदे च । आम्यति । शश्राम । श्रमिता । श्रमिष्यति । आम्यतु ।
 अश्रमत् । अश्रमिष्यत् । अमु अनवस्थाने । 'वा भ्राशे'ति श्यन्वा । आम्यति-
 अमति । 'वा जृअमुत्रसाम्' । भ्रेमतुः-वभ्रमतुः । पुषादित्वाद्ङ् । अभ्रमत् ।
 शेषं भ्वादिवत् । क्षमू सहने । क्षाम्यति । चक्षाम । चक्षमतुः । चक्षमुः । चक्षमिथ-
 चक्षन्थ । चक्षमिव-चक्षन्व । चक्षमिम चक्षन्म । क्षमिता-क्षन्ता । क्षमिष्यति-
 क्षंस्यति । क्षाम्यतु । अयं न पित् । 'अधितः क्षाम्यतेः क्षान्तिः, क्षमूषः क्षमतेः
 क्षमा' । क्लमु क्लान्तौ । 'छिवुक्लमुचमामि'ति दीर्घः । क्लाम्यति । चक्लाम । क्लमिता ।
 क्लमिष्यति । क्लाम्यतु । अक्लमत् । अक्लमिष्यत् । मदी हर्षे । माद्यति । ममाद ।
 मदिता । अमदत् । असु क्षेपणे । अस्यति । आस । असिता । असिष्यति ।
 अस्यतेत्स्थुक् ७७।१७। अस्यतेत्स्थुक् स्यात् अङि । 'अस्यती'त्यङ् । आस्यत् ।

क्लमुर्मदी चेत्येतेऽष्टौ शमादय इति स्थितिः । शमु = उपशमे । उपशमो-नाशः इन्द्रि-
 यनिग्रहश्च । शाम्यतीति । शमधातोर्लटि लिपि दिवादिस्वात् श्यनि । 'शमामष्टानाम्'
 इति दीर्घे शाम्यति इत्यस्य सिद्धिः । प्रणिशाम्यति । 'नेर्णदनद' इति नेर्णत्वम् ।
 शशाम-शेमतुः । शमिता । शमिष्यति । शाम्यतु । अशाम्यत् । शाम्येत् । शम्यात् ।
 अशमत् । अशमिष्यत् । तमु काङ्क्षायाम् । ताम्यति । तताम-तेमतुः । तमिता । तमि-
 ष्यति । ताम्यतु । अताम्यत् । ताम्येत् । तम्यात् । अतमत् । अतमिष्यत् । दमु=उपश-
 मे । दाम्यति । ददाम-देमतुः । दमिता । दमिष्यति । दाम्यतु । अदाम्यत्-दाम्येत्-
 दम्यात्-अदमत्-अदमिष्यत् । अमु=तपसि खेदे च । आम्यति-शश्राम-श्रमिता-श्र-
 मिष्यति-आम्यतु । अश्राम्यत्-श्राम्येत्-श्रम्यात्-अश्रमत्-अश्रमिष्यत् । अमु = अनव-
 स्थाने = आम्यति-वभ्राम-भ्रमिता-भ्रमिष्यति-आम्यतु-अभ्राम्यत्-भ्राम्येत्-अ-
 म्यात्-अभ्रमत्-अभ्रमिष्यत् । क्षमू सहने-क्षाम्यति-चक्षाम-क्षन्ता-क्षमिष्यति-
 क्षंस्यति, क्षाम्यतु-अक्षाम्यत्-क्षाम्येत्-क्षम्यात्-अक्षमत्-अक्षंस्यत्-अक्षमिष्यत् । क्ल-
 मु = क्लाम्यति । चक्लाम । क्लमिता-क्लमिष्यति-क्लाम्यतु-अक्लाम्यत्-क्लाम्येत्-
 क्लम्यात्-अक्लमत्-अक्लमिष्यत् । मदी = हर्षे-माद्यति-ममाद-मदिता-मदिष्यति ।
 माद्यतु-अमाद्यत्-माद्येत्-मद्यात्-अमदत्-अमदिष्यत् । असु=क्षेपणे । अस्यति-आस-
 असिता-असिष्यति-अस्यतु-आस्यत्-अस्येत्-अस्यात् । अस्यतेत्स्थुगिति । 'ऋदृशोऽ-

आठ धातु-सम्बन्धी अचूको दीर्घ हो, 'दयन्'के परे । अस्य—'अस्' धातुको 'थुक्'का आगम

यसु प्रयत्ने । यसोऽनुपसर्गात् । ३।१।७१। संयसश्च । ३।१।७२। यसोऽनुपस-
र्गात्, संयसश्च श्यन्वा । यस्यति-यसति । संयस्यति-संयसति । अनुपसर्गा-
त्किम् ? प्रयस्यति । जसु मोक्षणे । जस्यति । जजास । अजसत् । तसु उपक्षये । दसु
च । तस्यति । ततास । अतसत् । दस्यति । ददास । अदसत् । वसु स्तम्भे ।
वस्यति । 'न शसददे'ति निषेधः । ववास । ववसतुः । 'वशादि'रिति मते तु—
वेसतुः । वेसुः । व्युष विभागे । व्युष्यति । बुव्योष । विस प्रेरणे । विस्यति ।
विवेस । अविसत् । कुस संश्लेषणे । कुस्यति । चुकोस । कोसिता । अकुसत् ।
बुस उत्सर्गे । बुस्यति । बुवोस । अनुसत् । मुस खण्डने । मुस्यति । मुमोस ।
मसी परिणामे । परिणामो—विकारः । मस्यति । ममास । अमसत् । लुठ विलो-

डि गुणः' इत्यतोऽङि इत्यनुवर्तते । आस्थदिति । आ-अस्-अ-त् इत्यवस्थायाम् 'अस्य-
तेऽथुक्' इति धुगागमे किञ्चादन्यावयवे 'आटश्च' इति वृद्धौ 'आस्थत्' इति रूपं
भवति । आसिष्यत् । 'यसोऽनुपसर्गात्'-संयसश्च' । सूत्रद्वयमिदम् । 'दिवादिभ्यः श्यन्'
'वा आश' इत्यतश्च श्यनो निवृत्तौ आह-श्यन् वा स्यादिति । अनुपसर्गाद्यसः श्यन्वा
स्यादिति प्रथमसूत्रार्थः । सोपसर्गात्तु नित्य एव श्यन्, अनुपसर्गादिति पर्युदासात् ।
संपूर्वाञ्चित्यमेव श्यनि प्राप्ते द्वितीयसूत्रम् । यस्यति-यसति-संयसति-संयस्यति ।
अत्र यसु = प्रयत्ने धातुः । प्रयस्यति । अत्र तु न श्यन्विकल्पः उपसर्गादिति । जसु=
मोक्षणे-जस्यति-जजास-जसिता-जसिष्यति-जस्यतु-अजस्यत्-जस्येत्-जस्यात्-अज-
सत्-अजसिष्यत् । तसु-दसु = उपक्षये = तस्यति-दस्यति । ततास-ददास । तसिता-
दसिता । तसिष्यति-दसिष्यति । तस्यतु-दस्यतु । अतस्यत्-अदस्यत् । तस्येत्-दस्ये-
त् । तस्यात्-दस्यात् । अतसत्-अदसत् । अतसिष्यत्-अदसिष्यत् । वसु = स्तम्भे-
वस्यति-ववास-ववसतुः । वसिता-वसिष्यति-वस्यतु-अवस्यत्-वस्येत्-वस्यात्-
अवसत्-अवसिष्यत् । वशादिमते केवलं छिटि-वेशतुः-वेशुः इति वैशिष्ट्यम् । व्युष=
विभागे व्युष्यति-विव्योष-व्युषिता-व्युषिष्यति-व्युष्यतु-अव्युष्यत्-व्युष्येत्-व्युष्या-
त्-अव्युष्यत्-अव्युषिष्यत् । विस = प्रेरणे = विस्यति । विवेस । वेसिता-वेसिष्यति ।
विस्यतु-अविस्यत् । विस्येत्-विस्यात्-अविसत्-अवेसिष्यत् । बुस = उत्सर्गे-बुस्यति-
बुवोस । बोसिता-बोसिष्यति-बुस्यतु-अबुस्यत्-बुस्येत्-बुस्यात्-अबुसत्-अबोसिष्यत्-
मुस = खण्डने-मुस्यति-मुमोस-मोसिता-मोसिष्यति-मुस्यतु-अमुस्यत्-मुस्येत्-मुस्यात्-
अमुसत्-अमोसिष्यत् । मसी = परिणामे-मस्यति-ममास-मसिता-मसिष्यति-मस्यतु-
अमस्यत्-मस्येत्-मस्यात्-अमसत्-अमसिष्यत् । लुठ विलोडने = लुठ्यति-लुलोठ-

हो, 'अङ्'के परे । यसो—अनुपसर्गक 'यस्' धातुसे 'श्यन्' प्रत्यय हो, विकल्पसे ।

संयसश्च-सम् पूर्वक 'यस्' धातुसे 'श्यन्' प्रत्यय हो, विकल्पसे ।

हने । लुठ्यति । लुलोठ । उच्च समवाये । उच्यति । गुणः । 'अभ्यासस्यासवर्णे' ।
 उवङ् । उवोच । ऊचतुः । ऊचुः । मा भवानुचत् । भृशु भ्रंशु अधःपतने ।
 भृश्यति । बभर्श । अभृशत् । 'अनिदितामि'ति नलोपः । भ्रश्यति । वभ्रंश । अभ्रशत् ।
 वृश वरणे । वृश्यति । ववर्श । अवृशत् । कृश तनूकरणे । कृश्यति । चकर्श ।
 भितृषा पिपासायाम् । तृप्यति । ततर्ष । हृष तुष्टौ । श्यन्नञौ भौवादिकाद्विशेषः ।
 हृप्यति । जहर्ष । अहृषत् । रुष रिष हिंसायाम् । रुष्यति । रुरोष । रिष्यति ।
 रिरेष । 'तीषसहे'ति वेट् । रोषिता-रोष्टा । रेषिता-रेष्टा । कुप क्रोधे । कुप्यति ।
 चुकोप । गुप व्याकुलत्वे । गुप्यति । जुगोप । लुभ गार्ध्वे । गार्ध्वमाकाङ्क्षा ।
 लुभ्यति । लुलोभ । लोमिता-लोब्धा । लोभिष्यति । लुभ्यतु । भ्वादेरवृत्ततत्वाद्धोम-
 तीत्यप्याहुः । क्षुभ सञ्चलने । क्षुभ्यति । चुक्षोभ । णभ तुभ हिंसायाम् । क्लिदू आर्द्रा-
 भावे । क्लिद्यति । चिक्लेद । चिक्लेदिथ । चिक्लेत्थ । चिक्लिदिच-चिक्लिद् । चिक्लिदिम-

लोठिता-लोठिष्यति-लुठयतु-अलुठ्यत्-लुठ्येत्-लुठ्यात्-अलुठत्-अलोठिष्यत् । उच्च=
 समवाये = उच्यति-उवोच-उचिता-उचिष्यति-उच्यतु-औच्यत्-उच्येत्-उच्यात्-
 औचत्-औचिष्यत्-भृशु-भ्रंशु=अधः पतने । भृश्यति-भ्रश्यति । बभर्श-व-
 भ्रंश । भर्शिता-भ्रंशिता । भर्शिष्यति । भ्रंशिष्यति । भृश्यतु-भ्रश्यतु । अभृ-
 श्यत्-अभ्रश्यत् । भृश्येत्-भ्रश्येत्-भृश्यात्-भ्रश्यात्-अभृश्यत्-अभ्रश्यत् अभर्शि-
 प्यत्-अभ्रंशिष्यत् । कृश् = तनूकरणे-कृश्यति-चकर्श-कर्शिता-कर्शिष्यति ।
 कृश्यतु-अकृश्यत्-कृश्येत्-कृश्यात्-अकृशत्-अकर्शिष्यत् । भितृषा = पिपासा-
 याम् । तृप्यति-ततर्ष-तर्पिता-तर्पिष्यति-तृप्यतु-अतृप्यत्-तृप्येत्-तृप्यात्-
 अतृपत्-अतर्पिष्यत् । हृष = तुष्टौ = हृप्यति-जहर्ष-हर्षिता-हर्षिष्यति-हृप्य-
 तु-अहृप्यत्-हृप्येत्-हृप्यात्-अहृषत्-अहर्षिष्यत् । रुष रिष-हिंसायाम् । रुष्यति-
 रिष्यति-रुरोष-रिरेष-रोषिता-रोष्टा-रेषिता-रेष्टा अत्र 'तीषसहलुभरुषरिषः' इति
 वेट् । रोषिष्यति-रोच्यति-रेपिष्यति-रेच्यति । रुष्यतु-रिष्यतु । अरुष्यत्-अरिष्यत्-
 रुष्येत्-रिष्येत्-रुष्यात्-रिष्यात् अरुपत्-अरिषत् । अरोषिष्यत्-अरेपिष्यत् । कुप=
 क्रोधे-कुप्यति-चुकोप-कोपिता-कोपिष्यति-कुप्यतु-अकुप्यत्-कुप्येत्-कुप्यात्-
 अकुपत्-अकोपिष्यत् । गुपि=व्याकुलत्वे=गुप्यतु-जुगोप-गोपिता-गोपिष्यति । गु-
 प्यतु-अगुप्यत्-गुप्येत्-गुप्यात्-अगुपत्-अगोपिष्यत् । लुभ-गार्ध्वे=लुभ्यति-लुलोभ-
 लोमिता-लोब्धा 'अत्र तीषसह' इतीड्विकल्पः । लोभिष्यति-लोप्यति । लुभ्यतु-अलु-
 भ्यत्-लुभ्येत्-लुभ्यात्-अलुभत्-अलोभिष्यत्-अलोप्यत् । लुभ=संचलने=लुभ्यति-
 चुक्षोभ-क्षोभिता-क्षोभिष्यति-क्षुभ्यतु-अक्षुभ्यत्-क्षुभ्येत्-क्षुभ्यात्-अक्षुभत्-अक्षोभि-
 ष्यत् । क्लिदू=आर्द्राभावे=क्लिद्यति-चिक्लेद-क्लेदिता-क्लेत्ता-क्लेदिष्यति-क्ले-

चिक्रिम् । क्लेदिता-क्लेत्ता । क्लेदिष्यति-क्लेत्स्यति । जिमिदा स्नेहने । मिदेर्गुणः । ७।३।८२। मिदेरिको गुणः । स्यादित्सञ्ज्ञकशकारादौ प्रत्यये परे । मेद्यति । मिमेद । अमिदत् । अचिवदा स्नेहन-मोचनयोः । चिवद्यति । चिच्चेद । ऋधु वृद्धौ । ऋध्यति । आनर्द्ध । आर्द्धत् । गृधु अभिकाङ्क्षायाम् । गृध्यति । जगर्द्ध । अगृधत् । वृत् । पुषादयः समाप्ताः । इति परस्मैपदिनः ।

अथ आत्मनेपदिनः ।

षूङ् प्राणिप्रसवे । सूयते । सुषुवे । 'स्वरती'ति विकल्पं वाधित्वा 'श्रूयुकः क्ती'ति निषेधे । प्राप्ते । क्रादिनियमाञ्चित्यमिट् । सुषुविषे । सुषुविचहे । सुषुविमहे । सोता । सविता । सविष्यते । सोष्यते । दूङ् परितापे । दूयते । दुदुवे । दीङ् क्षये । दीयते । दीङो युडचि फिङिति । ६।४।६३। दीङः परस्याजादेः विङ्त आर्द्ध-धातुकस्य युट् स्यात् । (वुग्युटावुवङ्यणोः सिद्धौ वक्तव्यौ) दिदीये ।

स्यति-विलद्यत्-अक्लिद्यत्-विलद्येत्-क्लिद्यात्-अक्लिदत्-अक्लेदिष्यत्-अक्लेत्स्यत् । मिदेर्गुण इति । मिदेर्गुणो भवति इक इत्संज्ञकशकारादौ प्रत्यये परत इत्यर्थः । जिमिदा=स्नेहने=मेद्यति-मिमेद-मेदिता-मेदिष्यति-मेद्यतु-अमेद्यत्-मेद्येत्-मिद्यात्-अमिदत्-अमेदिष्यत् । अचिवदा=स्नेहनमोचनयोः चिवद्यति-चिच्चेद-च्चेदिता-च्चेदिष्यति-चिवद्यतु-अचिवद्यत्-चिवद्येत्-चिवद्यात्-अचिवदत्-अच्चेदिष्यत् । ऋधु=वृद्धौ=ऋध्यति-आनर्द्ध-अर्धिता-अर्धिष्यति-ऋध्यतु-आर्ध्यत्-ऋध्येत्-ऋध्यात्-आर्धत्-आर्धिष्यत् । गृधु=अभिकाङ्क्षायां=गृध्यति-जगर्द्ध-गर्धिता-गर्धिष्यति-गृध्यतु-अगृध्यत्-गृध्येत्-गृध्यात्-अगृधत् अगर्धिष्यत् । इत्यादि ।

सूयते । षूङ्प्राणिप्रसवे इतो लटि, तादेशे 'दिवादिभ्यः श्यन्' इति श्यनि अनुबन्धलोपे 'दित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे 'धात्वादेः षः सः' इति धात्वादेः पकारस्य सकारे 'सूयते' इति रूपम् । असविष्ट । लुङि अटि लस्तादेशे च्लौ, च्लेः सिचि, सिच आर्धधातुकत्वे 'स्वरति' इति विकल्पेनेटि 'सार्वधातु' इति गुणेऽवादेशे 'आदेश प्रत्यययोः' इति षत्वे ष्टुत्वे च 'असविष्ट' इति । इडभाव-पक्षे-असोष्ट' इति रूपं बोध्यम् । दीङो युडचि विङिति । 'आर्धधातुके' इत्यधि-कृतम् अच्चा विशेष्यते । तद्वादिविधिः । दीङ इति पञ्चमी । सप्तमी षष्ठ्यर्थे तदाह-दीङः परस्येत्यादिना । दिदीये । लिटि तादेशे धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वे

मिदे-मिद' धातु-सम्बन्धी 'इक्'को गुण हो, इत्संज्ञक सकारादि प्रत्ययके परे ।

दीङो-दीङ् धातुसे पर अजादि कित्-ङित् आर्धधातुकको 'युट्'का आगम हो ।

वुग्यु-उवङ् और यण् कर्त्तव्यमें बुक् तथा युट्का आगम सिद्ध ही रहे (असिद्ध न हो) ।

मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च । ६।१।५०। एषामात्त्वं ल्यपि, चाद्-अशित्ये-
ज्जिमित्ते । दाता । दास्यते । अदास्त । डीङ् विहायसा गतौ । डीयते । डिङ्ये ।
पीङ् पाने । पीयते । पिप्ये । माङ् माने । मायते । ममे । माता । ग्रीङ् ग्रीतौ ।
अकर्मकः । ग्रीयते । पिप्रिये । जनी प्रादुर्भावे । ज्ञाजनोर्जा । ७।३।७९। अनयोर्जा-
देशः स्यात् शिति परे । जायते । 'गमहनजने'त्युपधाया लोपः । 'स्तोः श्चुना
श्चुः' । जज्ञे । जनिता । जनिष्यते । दीपजनबुधपूरितायिप्यायिभ्योऽन्यत-
रस्याम् । ३।१।६१। एभ्यश्च्लेश्चिष्वा स्यादेकवचने तशब्दे परे । चिणो लुक्

'दिदीत्' इति स्थिते 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इति तत्स्थाने एशि 'दीङो युङचि विङति'
इत्यजादेरार्धधातुकस्य युटि प्राप्ते 'पुरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' इति परत्वाद्यणि प्राप्ते
'बुग्गुटादुबङ्यणोः सिद्धौ वक्तव्यौ' इति नित्यत्वात् युटि । टकार इत् । उकार उच्चार-
णार्थः 'दिदीये' इति सिद्धम् । मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च । 'आदेच उपदेशोऽ-
शिति' इत्यतः आदित्यनुवर्तते । तदाह—एषामात्त्वं स्यात् ल्यपीति । अदास्त । लुङि
तादेशे च्लौ, च्लेः सिचि, 'मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च' इतीकारस्यात्वे 'स्था-
च्चोरिच्' इति इदादेशे प्राप्ते 'स्थाच्चोरित्वे दीङः प्रतिषेधः' इतीत्वनिषेधे अटि
'अदास्त' इति सिद्धम् । पीयते । पानार्थकात् पीङ्धातुतो लटि, ते टेरेत्वे श्यनि श्यनो-
ऽपित्वेन 'सार्वधातुकमपित्' इति डित्वात् 'किङति च' इति गुणनिषेधे 'पीयते' इति
रूपम् । पिप्ये । लिटि ते द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इति एशि 'पुरने-
काच' इति यणि 'पिप्ये' इति रूपम् । जायते—प्रादुर्भावार्थकात् लुप्तानुबन्धकात्
जन्धातोर्लटि तादेशे टेरेत्वे 'दिवादिभ्यः श्यन्' इति श्यनि अनुबन्धलोपे 'ज्ञाज-
नोर्जा' इति जन् इत्यस्य स्थाने जादेशे 'जायते' इति रूपम् । जज्ञे । जन्धातोर्लटि
तादेशेऽनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'हलादिः शेषः'
इति नलोपे 'ज जन् त' इति स्थिते 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इति तकारस्यैशि 'गमह-
नजनखनघसां लोपः किङति' इति जन्धातोरुपधाया अकारलोपे 'ज ज् न् ए' इति
स्थिते 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति श्चुत्वे जकारजकारयोः संयोगे ज्ञे 'जज्ञे' इति रूपम् ।
दीपजनेत्यादि । 'च्लेः सिच्' इत्यतः च्लेरिति 'चिण्ते पदः' इत्यस्मात् चिण्ते
इति चानुवर्तते । तदाह—एभ्यश्च्लेरिति । चिणो लुगिति । चिण इति पञ्चमी, तदाह-

मीनाति—मीनाति (मीञ् हिंसायाम्), मिनोति (डुमिञ् प्रक्षेपणे) और 'दीङ्'
धातुको आत्व हो, 'ल्यप्'के परे । चकारात्-एज्जिमित्तक अशित् प्रत्ययके विषयमें ।

ज्ञाज—'ज्ञा' धातु और 'जन्' धातुको 'जा' आदेश हो, शित् प्रत्ययके परे ।

दीप—दीपादि धातुओंसे पर 'च्लि'को 'चिण्' आदेश हो, एकवचन 'त' शब्दके परे,
विकल्पसे । चिणो—'चिण्'से पर 'त' शब्दका लुक् (लोप) हो ।

।६।४।१०४। चिणः परस्य 'त' शब्दस्य लुक् स्यात् । 'अत उपधाया' इति वृद्धौ प्राप्तायाम् । जनिवध्योश्च ।७।३।३५। जनिवध्योश्च न वृद्धिश्चिणि, ङिति कृति च । अजनि । अजनिष्ट । अजनिष्यत् । दीपी दीप्तौ । दीप्यते । दिदीपे । दीपिता । अदीपि । अदीपिष्ट । अदीपिष्यत् । पद् गतौ । पद्यते । पेदे । पत्ता । पद्येत । पत्सीष्ट । चिण्ते पदः ।३।१।६०। पदश्च्लेश्चिण् स्यात्तशब्दे परे । अपादि । अपत्सातात् । अपत्सत । खिद् दैन्ये । खिद्यते । चिखेद । खेत्ता । खेत्स्यते । विद् सत्तायाम् । विद्यते । विविदे । वेत्ता । वित्सीष्ट । अवित्त । बुध अवगमने । बुध्यते । बुबुधे । बोद्धा । 'एकाचो वशो भष् मषन्तस्ये'ति भष्भावः । भोत्स्यते । भुत्सीष्ट । अबोधि । अबुद्ध । अभुत्साताम् । अभोत्स्यत् । युध संप्रहारे । युध्यते ।

चिणः परस्येति । जनिवध्योश्चेति । 'अत उपधायाः' इत्यतः उपधाया इति 'मृजेवृद्धिः' इत्यतो वृद्धिरिति 'नोद्गात्तोपदेशस्य' इत्यतो नेति 'आतो युक्' इत्यतः चिण्कृतो-रिति 'अचो ङिति' इत्यतो ङिति इति चानुवर्तते तदाह-जनिवध्योरिति । अजनि । जनीप्रादुर्भावे धातोर्लुङि तादेशे च्लौ 'दीपजनबुधपूरितायिप्यायिभ्योऽन्यतरस्याम्' इति सूत्रेण च्लेश्चिणि अनुबन्धलोपे 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ प्राप्तायाम् 'जनि-वध्योश्च' इति निषेधे 'चिण् ते पदः' इति तलोपेऽटि अजनि इति । चिणोऽभावपक्षे तु च्लेस्तिचि 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इटि पत्वे प्ठुत्वे च 'अजनिष्ट' इति रूपम् । अपादि । लुङि तादेशे च्लौ 'चिण्ते पदः' इति श्लेश्चिण् चणावितौ 'चिणो लुक्' इति तलोपे 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'अपादि' इति सिद्धम् । विद्यते । विद्धातोर्लटि तादेशे टेरत्वे श्यनि श्यनोऽपित्वेन 'सार्वधातुकमपित्' इति छित्वाद् 'विडति च' इति गुणनिषेधे 'विद्यते' इति । बोद्धा । लुटि, तादेशे, तासि तस्य ङात्वे टेलोपे 'झपस्तथोर्धोऽधः' इति तकारस्य धत्वे 'झलां जश् झशि' इति जश्त्वेन दकारे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'बोद्धा' इति । भोत्स्यते । लृटि ते स्ये आर्धधातुकत्वे इडागमाभावे 'एकाचो वशो भष्' इति बस्य भत्वे लघूपधगुणे 'खरि च' इति चत्वे 'भोत्स्यते' इति । अबोधि । लुङि अटि तादेशे च्लौ च्लेस्तु 'दीपजनबुधपूरितायि०' इति चिण्विकल्पे 'चिणो लुक्' इति तलोपे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति लघूपधगुणे 'अबोधि' इति रूपम् । चिणोऽभावपक्षे—अबुद्ध । 'झलो झलि' इति सलोपे 'झपस्तथोर्धोऽधः' इति तस्य धत्वे 'झलां जश् झशि' इति जश्त्वेन दकारे 'अबुद्ध' इति रूपं सिद्धम् ।

जनि—'जन्' और 'वध'को वृद्धि नहीं हो, 'चिण्'के परे और अित्-णित्-कित्के परे ।
चिण्—'पद' धातुसे पर 'चि'को 'चिण्' आदेश हो, एकवचन 'त' शब्दके परे ।

युयुधे । योद्धा । अयुध्यत । युध्येत । युत्सीष्ट । अयुद्ध । अयुत्स्यत । कथं युध्यतीति ।
युधमिच्छतीति क्यच् । 'अनुदात्तेत्त्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यमि'ति वा । सृज
विसर्गे । अकर्मकः । सृज्यते । ससृजे । 'सृजिदशोर्झल्यमकित्य'मागमः । सृष्टा ।
स्रक्ष्यते । स्रक्षीष्ट । 'लिङ्सिचा'विति क्त्विम् । असृष्ट । असृक्षाताम् । मीङ् हिं-
सायाम् । हिंसाऽत्र प्राणवियोगः । मीयते । मिम्ये । मीयताम् । अमीयत । मीयेत ।
मेपीष्ट । अमेष्ट । अमेषाताम् । रीङ् स्रवणे । रीयते । लीङ् श्लेषणे । लीयते ।

युयुधे । युध्धातोर्लिटि तादेशे तकारस्यैशि, धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलादिशेषे 'युयुधे'
इति । अयुद्ध । युध्धातोर्लुङि ते च्लौ, च्लेः सिचि 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' इति
क्त्वाद् गुणाभावे 'झलो झलि' इति सिचः सलोपे 'झषस्तथोर्धोऽधः' इति तस्य
धत्वे 'अयुद्ध' इति । ससृजे । सृजधातोर्लिटि तादेशे तकारस्यैशादेशे धातोर्द्वित्वे-
ऽभ्यासत्वे 'उरत्' इत्यभ्यासऋवर्णस्य अकारे 'उरण् रपरः' इति रपरे 'हलादिः
शेषः' इति रलोपे 'ससृजे' इति रूपम् । ससृजिषे । लिटो मध्यमपुरुषैकवचने थासि
'थासः सेः' इति थासः से इत्यादेशे द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'उरत्' इति अदादेशे रपरे
च कृते, 'हलादिः शेषः' इति रलोपे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इटि प्राप्ते
'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति निषेधे क्रादिनियमाद् इटि, षत्वे च 'ससृजिषे' इति
रूपं बोध्यम् । सृष्टा । सृजधातोर्लुङि तादेशे, तासि, तकारस्य डात्वे डित्वसामर्थ्या-
दभस्यापि ढेलोपे 'सृजिदशोर्झल्यमकिति' इति अमि अनुबन्धलोपे मिच्चादन्या-
दचः परेऽकारे जाते 'सृ ज् अ ता' इति जाते 'इको यणचि' इति ऋकारस्य रेफा-
देशे 'ब्रश्चभ्रस्जसृज०' इति षत्वे 'ण्डुना ण्डुः' इति ण्डुत्वेन टकारे 'सृष्टा' इति ।
स्रक्ष्यते । लृटि तादेशे स्ये प्रत्यये 'सृज् स्य त' इति स्थिते ढेरेत्वे 'सृजिदशोर्झल्यम-
किति' इत्यमि अनुबन्धलोपे 'मिदचोऽन्यात्परः' इति मिच्चेनान्यादचः परोऽ-
कारो जातः, तेन 'सृ अ ज् स्यते' इति स्थिते 'इको यणचि' इति यणि स्रज् स्यते
इति दशायाम् 'ब्रश्च' इति षत्वे 'पढो कः सि' इति क्त्वे 'आदेशप्रत्यययोः'
इति षत्वे क्प्संयोगे च 'स्रक्ष्यते' इति । स्रक्षीष्ट । सृजधातोराक्षीर्लिङि तादेशे
'लिङः सीयुट्' इति सीयुटि उटावितौ 'सुट् तिथोः' इति सुटि उटो लोपे
'ब्रश्चे'ति जस्य षत्वे 'पढोः कः सि' इति षस्य क्त्वे कात्परकत्वात्सस्य
'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे ण्डुत्वे च 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' इति क्त्वाद्
'क्विति च' इति गुणनिषेधे 'सृक्षीष्ट' इति सिद्धम् । असृष्ट । सृजधातोर्लुङि अडा-
गमे तादेशे 'च्लौ, च्लेः सिजादेशे 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' इति क्त्वाद् गुणाभावे
'झलो झलि' इति सलोपे 'ब्रश्चे'ति जस्य षत्वे 'ण्डुना ण्डुः' इति ण्डुत्वे 'असृष्ट' इति ।
मीङ् हिंसायाम् । मीयते । ममे । माता । मास्यते । मीयताम् । अमीयत । मीयेत ।
मासीष्ट । अमासिष्ट । अमास्त । अमास्यत । रीङ् श्रवणे । रीयते । रीर्ये । रेता ।

विभाषा लीयते: ६।१।५१। 'लीयते'रिति यका निर्देशो, नतु श्यना । लीलीडो-
रात्वं वा स्यादेज्विषये, ल्यपि च । लेता । लाता । लेष्यते । लास्यते । एज्विषये
किं ? लीयते । लिख्ये । ब्रीड् वृणोत्यर्थे । ब्रीयते । विव्रिये । इत्यात्मनेपदिनः ।

अथोभयपदिनः ।

मृष तितिक्षायाम् । मृष्यति । मृष्यते । ममर्ष । ममर्षिथ । ममृषे । ममृषिपे ।
मर्षितासि । मर्षितासे । मर्षिष्यति । मर्षिष्यते । मृष्यतु । णह बन्धने । नह्यति ।
नह्यते । ननाह । नेहिय । 'नहो धः' इति धः । ननद्ध । नेहे । नद्धा । नत्स्यति ।
नत्स्यते । अनात्सीत् । अनद्ध । रञ्ज रागे । 'अनिदितामि'ति नलोपः । रज्यति ।
रज्यते । ररञ्ज । ररञ्जे । ररङ्क्थ । रङ्क्ता । शप आक्रोशे । शप्यति । शप्यते ।
शशाप । शेषतुः । शेषुः । शेषे । शेषाते । शक विभाषितो मर्षणे । विभाषित इति
उभयपदीत्यर्थः । शक्यति, शक्यते, हरिं द्रष्टुं भक्तः । शशाक । शेक्षिय । शशक्थ ।
शेके । शक्ता । शक्यति । शक्यते । पुषादिद्वादङ् । अशक्त । अशक्त । सेट्क्रोड-

रेष्यते । रीयताम् । अरीयत । रीयेत । रीपीष्ट । अरीष्ट । अरेष्यत । लीड् श्लेषणे ।
लीयते । लिख्ये । विभाषा लीयतेरिति । लीयतेरित्यनेन लीलीडोर्ग्रहणम् । अत आह-
लेता-लाता-अत्रैज्विषयत्वेन वैकल्पिके आत्वे रूपद्वयं सुस्पष्टमेवेति भावः । लास्यते-
लेष्यते । लीयताम् । अलीयत । लीयेत । लेपीष्ट-लासीष्ट । अलासीत-अलेष्ट । अला-
स्यत-अलेष्यत । ब्रीड् वृणोत्यर्थे । ब्रीयते । विव्रिये-अत्रेयङ् संयोगेन यणभावात् ।
ब्रेता । ब्रेष्यते । ब्रीयताम् । अब्रीयत । ब्रीयेत । ब्रेपीष्ट । अब्रेष्ट । अब्रेष्यत । इत्यादि ।
ममर्ष । मृषधातोर्लिटि तिपि णलि धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'उरत्' इति रपरेऽदा-
देशे 'हलादिः शेषः' इति रययोर्लोपे 'पुगन्ते'ति गुणे ममर्ष इति । ननाह ।
लिटि तिपि णलि अनुबन्धलोपे द्वित्वे कृतेऽभ्यासत्वे हलादिशेषे 'अत उपधायाः'
इति वृद्धौ 'ननाह' इति । अनात्सीत् । लुङि अटि तिपि च्लौ सिजादेशे
'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि 'वदव्रजहलन्तस्याचः' इति हलन्तत्वमाश्रित्य वृद्धौ
'नहो धः' इति हस्य धकारे 'खरि च' इति धस्य तकारे 'अनात्सीत्' इति रूपम् ।
आत्मनेपदे-अनद्ध । रञ्ज = रागे = रज्यति-रज्यते । अत्र श्यनः शित्वेन सार्वधातुक-
त्वात्सार्वधातुकत्वेन अपित्वेन च छित्वात् 'अनिदिताम्' इति नलोपो बोध्यः । ररञ्ज ।
ररञ्जे । रञ्जिता । रञ्जिष्यति-रञ्जिष्यते । रज्यतु-रज्यताम् । अरज्यत्-अरज्यत ।
रज्येत् । रञ्जीत । रज्यात् । रञ्जिपीष्ट । अरञ्जिष्ट-अरञ्जीत् । अरञ्जिष्यत् । अरञ्जिष्यत ।
शप आक्रोशे । शप्यति । शप्यते । शशाप-शेषे । शक=विभाषितोऽमर्षणे । विभाषि-
तत्वमुभयपदवत्त्वम् । तेन शक्यति-शक्यते । शशाक-शेके । शक्ता । शक्यति-शक्यते ।

विभा- 'ली' और 'लीङ्' धातुको आत्वं हो, 'एच्'के विषयमें, 'ल्यप्'के परे, विकल्पसे । शक-मर्ष-

यमित्येके । तन्मते नाऽनित्केषु लुदित्पठितः । शकिता । शकिष्यति । शकिष्यते ।
इति दिवादिप्रकरणम् ॥ ४ ॥

अथ स्वादिप्रकरणम्

पुञ् अभिषवे । अभिषवः-ज्ञपनं, पीडनं, ज्ञानं, सुरासन्धानं च । तत्र
ज्ञानेऽकर्मकः । स्वादिभ्यः श्नुः । ३।१।७३। स्वादिभ्यः श्नुः स्यात् कर्तरि सार्व-
धातुके । शपोऽपवादः । सुनोति । सुनुतः 'हुश्नुवो'रिति यण् । सुन्वन्ति ।
सुनोषि । सुनुथः । सुनुथ । सुनोमि 'लोपश्चास्ये'ति प्रत्ययोतो लोपः । सुन्वः-
सुनुवः । सुन्मः-सुनुमः । सुनुते । सुन्वाते । सुन्वते । सुनुषे । सुन्वाथे । सुनुध्वे ।
सुन्वे । सुन्वहे-सुनुवहे । सुन्महे-सुनुमहे । सुषाव । सुषुवे । सोता । सोता ।
सोष्यति । सोष्यते । सुनोतु । 'उतश्चे'ति हेलृक् । सुनु । सुनवानि । सुनवाव ।
सुनवाम । सुनुताम् । सुनवै । सुनवावहै । सुनवामहै । असुन्वि । सुनुयात् ।
सूयात् । सोषीष्ट । स्तुसुधूभ्यः परस्मैपदेषु । ७।२।७२। एभ्यः सिच इट् स्यात्प-
रस्मैपदे । असावीत् । असोष्ट । अभिषुणोति । 'प्राक्सितादि'ति षत्वम् । अभ्य-

शक्यतु-शक्यताम् । अशक्यत् । अशक्यत । शक्येत्-शक्येत । शक्यात् । शक्नीष्ट ।
पुष्पादित्वादङि अशकत् । अशक्त । अशक्यत् । अशक्यत । इत्यादि । इति दिवादिः ।

स्वादिभ्यः श्नुरिति । कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे स्वादिभ्यः श्नुः स्यादित्यर्थः । सुनोति ।
पुञ् अभिषवे धातुतो लटि तिपि 'स्वादिभ्यः श्नुः' इति शनौ शलोपे, 'धात्वादेः पः
सः' इति धात्वादेः पस्य सकारे 'सार्वधातुकाधधातुकयोः' इति गुणे च 'सुनोति'
इति रूपम् । सुन्वः, सुनुवः । अत्र 'लोपश्चास्यान्यतरस्याम्' इति उकारलोपवि-
कल्पः । एवम् सुन्मः, सुनुमः । सुषाव । पुञ्धातोर्लिटि, तिपि णलि द्वित्वेऽभ्यासत्वे,
धात्वादेः पस्य सत्वे 'अचो ङिति' इति वृद्धौ आवादेशे 'सुषाव' इति रूपम् । सुपु-
वतुः, सुषुवुः । सुषुविथ-सुपोथ । सुषुवथुः, सुषुव । सुषाव, सुपव, सुषुविष, सुषु-
विम । आत्मनेपदे-सुषुवे । स्तुसुधूभ्य इति । 'इड्यति' इत्यत इडित्यनुवर्तते ।
'अङ्जेः सिचि' इत्यतः सिजित्यनुवृत्तं पष्ठया विपरिणम्यते तदाह-एभ्यः सिच इति ।
असावीत् । लुङि अटि तिपि च्लौ, च्लेः सिचि 'स्तुसुधूभ्यः परस्मैपदेषु' इति इति

ण (सहन) अर्थमे 'शक्' धातु उभयपदी है ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें दिवादिप्रकरण समाप्त हुआ ।

स्वादि—स्वादि-गणपठित धातुओंसे 'श्नु' प्रत्यय हो, कर्त्रर्थक सार्वधातुकके परे ।
स्तुसु—'स्तु-सु-धू' इन धातुओंसे पर 'सिच्'को इट् हो, परस्मैपदके परे ।

पुणोत् । सुनोतेः स्यसनोः । ८।३।११७। स्ये, सनि च परे सुञः सस्य षो न स्यात् । विसोष्यति । चिञ् बन्धने । विसिनोति । सिनुते । सिषाय । सिष्ये । चिञ् चयने । प्रणिचिनोति । चिनुते । विभाषा चेः । ८।३।५८। अभ्यासाच्चेः कुत्वं वा स्यात् सनि, लिटि च । चिकाय । चिचाय । चिक्ये । चिच्ये । अचैषीत् । अचेष्ट ॥ स्तृञ् आच्छादने । स्तृणोति । स्तृणुते । तस्तार । तस्तरतुः । तस्तरः । 'ऋतश्च संयोगादेरिति गुणः । तस्तरे । 'गुणोर्ती'ति गुणः । स्तर्यात् ।

'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि, 'इट ईटि' इति सलोपे 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ सवर्णदीर्घे च 'असावीत्' इति रूपम् । आत्मनेपदे—असोष्ट । अभिषुणोति । अभि-सुनोति=इत्यवस्थायाम् 'उपसर्गात्सुनोति' इति पत्वे 'अट् कुप्वाड्' इति णत्वे च कृते 'अभिषुणोति' इत्यस्य सिद्धिः । अभ्यपुणोत् । अत्राडागमव्यवधानेऽपि 'अडभ्यासव्यवायेऽपी'ति पत्वे णत्वे प्रोक्तरूपस्य सिद्धिः । सुनोतेरिति । सुनोतेः परतः स्यसनोः सतोः सस्य पत्वं नेत्यर्थः । विसोष्यतीति । 'वि-सोष्यति' इत्यवस्थायाम् 'उपसर्गात्' इति प्राप्तं पत्वं 'सुनोतेः स्यसनोः' इत्यनेन निषिध्यते इति भावः । तेन विसोष्यतीत्यत्र न पत्वमित्यर्थः । पिञ् बन्धने । सिनोति । विसिनोति—अत्र न पत्वम् 'उपसर्गात्' इति सूत्रे तस्याग्रहणादिति भावः । चिनोति । चिञ् चयने धातोर्लिटि तिपि 'स्वादिभ्यः शनुः' इति शनौ शलोपे शनोरपित्वेन 'सार्वधातुकमपित्' इति डित्वे, डित्वात् धात्वादेरिकारस्य 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति प्राप्तस्य गुणस्य अभावे, तिपः पित्वेन शनोरुकारस्य 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे च कृते 'चिनोति' इति रूपम् । आत्मनेपदे—चिनुते । विभाषा चेरिति । 'चजोः कु णिष्यतोः' इत्यतः कुग्रहणमनुवर्तते । 'अभ्यासाच्च' इत्यतः अभ्यासादिति, 'सन्लिटोर्जेः' इत्यतः सन्लिटोरिति च । तदाह—अभ्यासादित्यादिना । चिकाय । चिञ् धातोर्लिटि तिपि तिपो णलि धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'विभाषा चेः' इति कुत्वेन चकारस्य कत्वे 'चि कि अ' इति स्थिते 'अचो ङिति' इति वृद्धौ आयादेशे च 'चिकाय' इति साधु । कुत्वाभावे—चिचाय । तस्तार । स्तृञ्धातोर्लिटि तिपि णलि अनुबन्धलोपे 'लिटि धातोः' इति धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'उरत्' इति अभ्यासच्छकारस्य अदादेशे रपरे च 'शपूर्वाः खयः' इति खयः शेषेऽर्थात् सलोपे 'हलादिः शेषः' इति सलोपे 'त स्तृ अ' इति स्थिते 'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः' इति गुणे रपरे 'त स्तर अ' इति स्थिते 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ सत्यां 'तस्तार'

सुनोतेः—'स्य' और 'सन्'के परे 'सुञ्' धातु-सम्बन्धी सकारको षत्व नहीं हो ।

विभा—अभ्याससे पर 'चि' धातु सम्बन्धी चकारको कुत्व हो, सन् और लिट् के परे, विकल्पसे ।

ऋतश्च संयोगादेः । ७।२।४३। ऋदन्तात्संयोगादेर्लिङ्सिचोरिङ् वा स्यात्तङि । स्तरिषीष्ट । स्तृषीष्ट । अस्तरिष्ट । अस्तृत । धुञ् कम्पने । धुनोति । धुनुते । दुधाव । दुधुवे । अधौषीत् । अधोष्यत् । धूञ् कम्पने । धूनोति । धूनुते । 'स्वर-तिसूती'ति वेद् । दुधविथ । दुधोथ । किति लिटि तु । अथ्युकः किति । ७।२।११। श्रिञ्, एकाच्च उगन्ताच्च—गित्कितोरिण्ण स्यात् । इति प्राप्ते । क्वादिनियमाक्षित्य-मिट् । दुधुविथ । दुधुविम । अधावीत् । अधविष्ट । अधोष्ट । कृञ् हिंसायाम् । कृणोति । कृणुते । चकार । चकर्थ । चक्रे । क्रियात् । कृषीष्ट । अकार्षीत् । अकृत ॥ वृञ्

इति । ऋतश्च संयोगादेरिति । 'लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु' इत्यनुवर्तते । 'इट्सनिवा' इत्यत इङ्वेति, तदाह—ऋदन्तादित्यादिना । स्तरिषीष्ट । आशिपि लिङि, लिङस्तादेशे सीयु-डागमेऽनुबन्धलोपे 'सुट्तिथोः' इति सुटि उटावितौ 'ऋतश्च संयोगादेः' इति विक-ल्पेनेटि कृते 'गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः' इति गुणे उभयोः सकारयोः पत्वे ष्टुत्वे 'स्तरिषीष्ट' इति । इडभावनपदे—'उश्च' इति किञ्चाद् गुणाभावे 'स्तृषीष्ट' इति । अस्ताषीत् । लुङि-अटि तिपि च्लौ, च्लेः सिचि 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि 'वदन्नज' इति वृद्धौ तिपः इलोपे 'अस्तार्षीत्' इति सिद्धम् । इटोऽभावात् 'नेटि' इति वृद्धिनिषेधो नाशङ्क्यः । अस्तरिष्ट, अस्तृत । आत्मनेपदे—लुङि अटि तादेशे च्लौ सिचि, अनु-बन्धलोपे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'ऋतश्च संयोगादेः' इति इटि पत्वे ष्टुत्वे च 'अस्तरिष्ट' इति । इडभावे च्लेः सिचि 'उश्च' इति किञ्चाद् गुणाभावे 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सिचो लोपे, अटि 'अस्तृत' इति । धूनोति । धूञ् कम्पने धातो-र्लटि तिपि शनौ शनुव उकारस्य 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'धूनोति' इति । आत्मनेपदे—धूनुते । दुधाव । लिटि तिपि णलि द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति धस्य जश्त्वेन दत्वे 'दु धू अ' इति दशायाम् 'अचो ङिति' इति 'कृताकृतप्रसङ्गे विधिर्नित्यः' इति न्यायेन नित्यत्वात् वृद्धौ आवि 'दुधाव' इति । अथ्युकः किति । अत्र 'एकाच्च उपदेशे' इत्यत एकाच् इति 'नेङ्वशि कृति' इत्यतो नेङित्यनुवर्तते । तदाह—इङ् नेति । अधावीत् । लुङि, लुङः स्थाने तिपि अनुबन्धलोपे तिपः इकारलोपे 'अधूत्' इति जाते च्लौ, च्लेः सिचि 'स्तुसुधूञ्भ्यः परस्मैपदेषु' इति सिचः परत्वान्नित्यमिटि 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति तिपस्तकारस्य ईटि, 'इट ईटि' इति सलोपे 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ आवि अडागमे 'अधावीत्' इति । आत्मनेपदे लुङि—अधविष्ट, अधोष्ट । अत्र 'स्वरति' इति वेद् । कृणोति । कृञ् हिंसायाम्—लटि तिपि 'स्वादिभ्यः शनुः' इति शनौ गुणे 'ऋवर्णाञ्चस्य णत्वं वाच्यम्' इति णत्वे 'कृणोती'ति रूपम् । आत्मनेपदे 'कृणुते' इति रूपम् । चकार—चक्रे ।

ऋतश्च—संयोगादि ऋदन्त धातुसे पर 'लिङ्' और 'सिच्'को इडागम हो, 'तङ्'के परे, विकल्पसे । अथ्युकः किति—श्रिञ् एकाच् और उगन्त धातुओं से पर गित्-कित्

वरणे । वृणोति । वृणुते । वभूथाऽऽततन्थजगृम्भववर्थेति निगमे । ७।२।६४।
 एषां वेदे इडभावो निपात्यते । तेन भाषायां थलीट् । ववरिथ । ववृव । ववृम ।
 ववृवहे । 'वृतो वा' । वरीता । वरिता । लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु । ७।२।४२। वृङ्-
 वृञ्भ्यामृदन्ताच्च परयोर्लिङ्सिचोरिङ् वा स्यात्तङि । न लिङि । ७।२।३९। वृतो
 लिङ् इटो न दीर्घः । वरिषीष्ट । वृषीष्ट । अवारीत् । अवरिष्ट-अवरीष्ट । अवृत ।
 अवरिष्यत्-अवरीष्यत् । दुदु उपतापे । दुनोति । दुनुतः । दुन्वन्ति । दुदाव ।
 दोता । हि गतौ, वृद्धौ च । हिनुमीना । ४।८।१५। उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्यैतयो-

कर्ता । करिष्यति-करिष्यते । कृणोतु-कृणुताम् । अकृणोत्-अकृणुत् । कृणुयात्-
 कृण्वीत् । क्रियात्-कृषीष्ट । अकार्षीत्-अकृत । वृज् वरणे । वृणोति-वृणुते । ववार-
 वव्रे । वरिता-वरीता । वरिष्यति-वरीष्यति । वरिष्यते-वरीष्यते । वृणोतु-वृणुताम् ।
 अवृणोत्-अवृणुत् । वृणुयात्-वृण्वीत् । वभूथेति । निगमे=वेदे । वभूथ-आततन्थ-
 जगृम्भ-ववर्थ-एते निपाताः स्युः । अतो वृज् धातोः लिटि परतः थलि 'ववर्थेति'
 निपातः । किन्तु तादृशगुणविशिष्टेडागमरहितो निपातः केवलं वेदे एव प्रसज्यते न तु
 लौकिके प्रयोगे, अत आह-लोक इति । 'ववरिथ' 'ववृथ' इति रूपद्वयं थलि परतः ।
 अन्यथा 'ऋतो भारद्वाजस्य' इति निषेधापत्तेः । लिङ्सिचोरिति । वृतो वेत्यतः 'वृङ्-
 वृञ्भ्यामृदन्ताच्चेति लभ्यते इड्वेत्यनुषज्यते, अत आह—वृङ् वृञ्भ्यामिति । वरिषीष्टेति ।
 वृ-सी-स्-त' इति जाते 'लिङ्सिचोः' इति इटि गुणे रपरत्वे उभयोः सस्य पक्षे
 ण्दुत्वे 'वरिषीष्ट' इति रूपम् । अन्यथा इडागमाभावे क्त्वेन गुणाभावे 'वृषीष्ट' इति
 द्वितीयं रूपं प्रभवति । अवारीत् । अवरिष्ट । अवृत । अत्र 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सिचो
 लुकि 'उश्च' क्त्वेन गुणाभावश्चेति भावः । न लिङीति । 'वृतो वे'त्यतः वृत इति ल-
 भ्यते दीर्घो नेति विधानं न लिङीति निषेधः । तेन वरिषीष्ट । इत्यादौ न दीर्घः । दुदु-
 उपतापे । दुनोति । दुदाव । दविता । दविष्यति । दुनोतु । अदुनोत् । दुनुयात् ।
 दूयात् । अदावीत् । अदविष्यत् । हिनुमीनेति । उपसर्गस्थान्निमित्तात् परस्येति लभ्यते ।
 श्नुविकरणाद् हिधातोः श्नाविकरणान्माधातोर्नस्यणत्वं भवति स नकारः उपसर्गस्थ-

प्रत्ययको इट् का आगम नहीं हो । वभूथा—वभूथ, आततन्थ, जगृम्भ और ववर्थ इन वेदके
 प्रयोगोंमें इट्का अभाव निपातन हो । लिङ्सिचो—वृङ्, वृञ् तथा दीर्घ ऋकारान्त
 धातुओंसे पर लिङ् और सिचोको इट्का आगम हो, तङ्के परे, विकल्पसे । न लिङि—वृङ्,
 वृञ् और दीर्घ ऋकारान्त धातुओंसे पर लिङ् सम्बन्धी इट्को दीर्घ नहीं हो ।

हिनुमीना—उपसर्गस्थ निमित्तसे पर 'हिनु' और 'मीना' सम्बन्धी नकारको
 गकार हो ।

नस्य णः स्यात् । प्रहिणोति । हेरचङि । ७।३।५६। अभ्यासात् परस्य हिनोते-
 र्हस्य कुत्वं स्यान्नतु चङि । जिघाय । आप्लृ व्याप्तौ । आप्नोति । आप्नुतः ।
 आप्नुवन्ति । आप्नुवः । आप्ता । आप्नुहि । लुदित्वादङ् । आपत् । शक्ल शक्तौ ।
 शक्नोति । शशाक । अशक्त । राध-साध संसिद्धौ । राध्नोति । राधो हिंसा-
 याम् । ६।४।१२३। राधो हिंसायाम् एत्वाभ्यासलोपौ स्तः, किति लटि, सेटि थलि
 च । अपरेधतुः । अपरेधुः । रेधिथ । राद्धा । साध्नोति । ससाध । साद्धा । असा-
 त्तीत् । असाद्धाम् । असात्स्यत् । जिघृषा प्रागल्भ्ये । धृष्णोति । दधर्ष । धर्षि-
 ता । दम्भु दम्भने । 'अनिदितामि'ति नलोपः । दम्भोति । ददम्भ । (अन्थि-
 ग्रन्थिदम्भिभस्वञ्जीनां लिटः कित्त्वं वा ।) कित्त्वपक्षे नलोपः । तस्याऽऽभी-
 यत्वादसिद्धत्वेनैत्वाभ्यासलोपयोरप्राप्तौ— (दम्भेश्च एत्वाभ्यासलोपौ वक्त-
 व्यौ ।) देभतुः । ददम्भतुः । देभुः । ददम्भुः । दम्भिष्यति । दभ्यात् । तृप
 प्रीणने । क्षुम्नादिषु च । ८।४।३९। क्षुम्नादिषु नस्य न णत्वम् । तृप्नोति ।
 ततर्प । तर्पिता । अशू व्याप्तौ, संघाते च । अश्नुते । अश्नोतेश्च । ६।४।७२।

रेफपकारात्परश्चेत् । प्रहिणोतीति । प्रपूर्वकाद् हि धातोः वर्तमाने लटि तिपि शनौ गुणे
 'हिनुमीना' इति णत्वे 'प्रहिणोति' इति रूपं सिद्ध्यति । हेरचङि । 'चजोः कुं' इति
 सूत्रात्कुरित्यनुवर्तते । 'अभ्यासाच्च' इत्यतः अभ्यासादिति । 'हो हन्तेः' इत्यतो ह इति
 पष्ठधन्तमनुवर्तते । जिघायेति । हि धातोः लिटि तिपि णलि 'लिटि धातोः' इति द्वित्वे
 पूर्वस्याभ्यासत्वे 'अभ्यासे चर्चे'ति चर्त्वे 'हेरचङि' इति अभ्यासात्परस्य हकारस्य
 कुत्वेन वकारे वृद्धौ आयादेशे 'जिघाय' इति । अपरेधतुरिति । 'अप्-रध्-रध्-अतुस्'
 इत्यवस्थायां 'राधो हिंसायाम्' इत्यनेनैत्वाभ्यासलोपे रुत्वविसर्गे 'अपरेधतुः' इति ।
 क्षुम्नादिषु चेति । क्षुम्नादिगणपठितानां धातूनां णत्वं नेत्यर्थः । तृप्नोतीति । तृप-
 प्रीणनेऽस्माद्धटि तिपि शनौ गुणे 'ऋवर्णाञ्चस्य' इति णत्वे प्राप्ते 'क्षुम्नादिषु च' इति-
 सूत्रेण णत्वनिषेधे प्रोक्तं रूपं सिद्ध्यति । ततर्प-तर्पिता-त्रसा-तर्सा-इत्यादीनि रूपाणि
 बोध्यानि । अशू व्याप्तौ संघाते च । अश्नुते । अश्नोतेश्चेति । 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य'
 इत्यतोऽभ्यासस्येत्यनुवर्तते । 'तस्मान्नुङ्' इति च । तच्छब्देन 'अत आदेः' इत्यनेन-

हेरचङि—अभ्याससे पर 'हिनोति' के हकारको कुत्वं हो, चङ्के परे छोड़कर । राधो-
 हिंसार्थक 'राध्' धातुको एत्वाभ्यास लोप हो, कित् लिट् सेट् थल्के परे ।

अन्थि—अन्थ, ग्रन्थ, दम्भ और स्वञ्ज धातुसे पर जो 'लिट्' वह कित् हो, विकल्पसे ।

दम्भेश्च-दम्भ' धातुको एत्वाभ्यासलोप हो; कित् लिट् सेट् थल्के परे । क्षुम्ना—

दीर्घादभ्यासावर्णात्परस्य नुट् स्यात् । आनशे । अशिता । अश्चेति षः । अष्टा । अशिष्यते । अक्ष्यते । अश्नुताम् । अश्नुत । अश्नुवीत । अक्षीष्ट । अशिषीष्ट । आशिष्ट—आष्ट । आक्षाताम् । आशिष्यत—आक्ष्यत । इति स्वादयः ॥ ५ ॥

अथ तुदादिप्रकरणम्

तत्रोभयपदिनः ।

तुद व्यथने । तुदादिभ्यः शः ३।१।७७ शपोऽपवादः । तुदति । तुदतः । तुदते । तुतोद । तुतोदिथ । तुतुदे । तोत्ता । तोत्स्यति । तोत्स्यते । तुदतु । तुदताम् । अतौत्सीत् । अतुत्त । तुद प्रेरणे । तुदति । तुदते । तुनोद । तुनुदे । नोत्ता । नोत्स्यति । नोत्स्यते । अस्ज पाके । 'प्रहिज्यावयी'ति संप्रसारणम् । सस्य श्चुत्वेन शः । तस्य जश्त्वेन जः । भृज्जति । भृज्जते । अस्जो रोपधयो रमन्य-तरस्याम् । ६।४।४७ अस्जे रेफस्योपधायाश्च स्थाने रमागमो वा स्यादाद्धधातुके । मित्वादन्त्यादचः परः । स्थानपष्ठीनिर्देशाद्रोपधयोर्निवृत्तिः । बभर्ज । बभर्जतुः ।

कृतदीर्घः अकारः परामृश्यते, तदाह—दीर्घादिति । आनशे । अशधातोर्लिटि तद्धि धातोर्द्वित्वे हलादिशेषे 'अत आदेः' इत्यभ्यासाकारदीर्घे 'अश्नोतेश्च' इति नुटि 'लिटस्तत्तयोः' इत्येशादेशे 'आनशे' इत्यस्य सिद्धिः । इति स्वादिः ।

तुदादिभ्यः श इति । कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे तुदादिभ्यः शः स्यात् स्वार्थे इत्यर्थः । तुदति । तुदधातोर्लिटि, तिपि, तिपः सार्वधातुकात्वे 'पुगन्तलघुपधस्य च' इति लघुपधगुणं बाधित्वा नित्यत्वात् 'तुदादिभ्यः शः' इति शो कृते तस्य अपित्वात् 'सार्वधातुकमपित्' इति क्त्वाद् गुणाभावे 'तुदति' इति रूपं सिद्धम् । अतौत्सीत् । लुङि तिपि च्लेः सिचि इचो लोपे तिप इकारलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि 'वदव्रज' इति वृद्धौ 'खरि च' इति चत्वे अडागमे च 'अतौत्सीत्' इति । आत्मनेपदे—अतुत्त । अस्जो रोपधयोरिति । अस्ज इत्यवयवपष्ठी । रोपधयोः इति स्थानपष्ठी, रश्च उपधा च तयोरिति विग्रहः । रेफादकार उच्चारणार्थः । रेफस्य उपधायाश्च स्थाने इति लभ्यते 'आर्धधातुके' इत्यधिकृतम्, तदाह—अस्जे रेफस्येत्यादिना । मित्वादन्त्यादचः पर इति । 'मिदचोऽन्त्यात्परः' इति परिभाषयेति भावः । बभर्ज ।

शुम्नादि गणपठितके नकारको णत्व नहीं हो । अश्नो—'अश्' धातुका अभ्याससम्बन्धी दीर्घ आकारसे पर 'नुट्' का आगम हो ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें स्वादिप्रकरण समाप्त हुआ ।

तुदा—तुदादि गणपठित धातुओंसे 'श' प्रत्यय हो । अस्जो—'अस्ज' धातुके रेफ और

वभर्जुः । वभर्जिय । वभर्ष्ट । रमभावपक्षे-वभ्रज् । वभ्रज्जतुः । वभ्रज्जः । वभ्रज्जिय ।
 'स्को'रिति सलोपः । 'व्रश्चे'ति षः । वभ्रष्ट । वभर्जे । वभर्जाते । वभर्जिरे । वभ्रज्ज ।
 वभ्रज्ज्जाते । वभ्रज्जिरे । भर्ष्ट । भ्रष्ट । भर्द्यति । भ्रद्यति । (किञ्चित् रमा-
 गमं बाधित्वा संप्रसारणं पूर्वविप्रतिषेधेन ।) भृज्यात् । भृज्यास्ताम् ।
 भृज्यासुः । भर्क्षीष्ट । भ्रक्षीष्ट । अभर्क्षीत् । अभ्राक्षीत् । अभर्ष्ट । अभ्रष्ट ।
 अभर्द्यत् । अभ्रद्यत् । अभर्द्यत । अभ्रद्यत । कृष विलेखने । कृषति । कृषते ।
 चकर्ष । चकृषे । 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्' । कष्टा । कर्ष्टा ।
 कृक्षीष्ट । 'स्पृशस्पृशे'ति सिज् वा । पक्षे कसः । सिचि अम्वा । अक्राक्षीत् । अक्रा-

अस्ज्धातोर्लिटि तिपि, तिपो णलि 'लिटि धातोः' इति धातोर्द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायां
 'अस्ज् अस्ज् अ' इति स्थितौ 'हलादिः शेषः' इति हलो लोपे 'भ अस्ज् अ' इति
 जाते 'अभ्यासे चर्च' इति भकारस्य वकारे विहिते 'व अस्ज् अ' इति स्थिते
 'अस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम्' इति रेफस्य उपधाभूतसकारस्य च स्थाने रमि
 प्राप्ते 'मिदचोऽन्यात्परः' इत्यन्यादेशात् भकारान्तर्गताकारात्परस्यैव रमागमे
 अमावितौ लोपे च स्थानपट्टीनिर्देशाद् रेफस्योपधाभूतसकारस्य च निवृत्तौ 'वभर्ज'
 इति रूपम् । रमोऽभावपक्षे तु 'अस्ज् अस्ज् अ' इति स्थिते हलादिशेषे 'अभ्यासे
 चर्च' इति भस्य पत्वे रचुत्वेन सस्य शत्वे 'झलो जश् झशि' इति शस्य जश्चेन
 जत्वे 'वभ्रज्ज' इति रूपम् । अभर्क्षीत् । अभ्राक्षीत् । लुङि अटि तिपि च्लौ सिचि
 इचावितौ लोपे च रमि रोपधयोर्निवृत्तौ च 'व्रश्च' इति जस्य पत्वे 'पढोः कः सि'
 इति पस्य कत्वे सस्य पत्वे तिप इकारलोपे इटि 'वदव्रज' इति वृद्धौ 'अभर्क्षीत्'
 इति । रमोऽभावपक्षे तु 'स्कोः' इति सलोपे जस्य पत्वे पस्य कत्वे सिचः सस्य पत्वे
 कृषसंयोगे च 'वदव्रज' इति वृद्धौ 'अभ्राक्षीत्' इति । अभर्ष्ट । लुङि अटि तादेशे
 च्लौ सिचि रमि रोपधयोर्निवृत्तौ च 'झलो झलि' इति सिचः सकारस्य लोपे 'व्रश्च'
 इति जस्य पत्वे णटुत्वे 'अभर्ष्ट' इति । रमोऽभावे ते च्लौ सिचि 'झलो झलि' इति
 सलोपे जस्य पत्वे णटुत्वे 'स्कोः' इति धातोरादेः सकारस्य लोपे 'अभ्रष्ट' इति
 रूपम् । लुङि—अभर्द्यत्, अभ्रद्यत्, आत्मनेपदे-अभर्द्यत, अभ्रद्यत इति ।
 चकर्ष लिटि तिपि णलि द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'उरत्' इत्यभ्यासकृत्कारस्य अकारे रपरे च
 'हलादिः शेषः' इति रेफपकारयोर्लोपे 'कुहोश्चुः' इति कस्य चत्वे 'पुगान्त' इति
 लघूपधगुणे 'चकर्ष' इति रूपम् । अभ्राक्षीत् । कृष्धातोर्लुङि अटि तिपि अनुबन्धलोपे
 तिप इकारलोपे च्लेः सिचि प्राप्ते तं प्रवाध्य 'स्पृशस्पृशकृषतृपट्टपां च्लेः सिज्वा
 वाच्यः' इति वार्तिकेन वैकल्पिके च्लेः सिचि इचावितौ लोपे च 'अनुदात्तस्य चर्दुं'

उपधाके स्थानमे 'रम्'का आगम द्वौ, आर्षधातुके परे, विकल्पसे । किञ्चित्—'कित-डित्'

क्षीत् । अकृक्षत् । अकृष्ट । अकृक्षाताम् । अकृक्षत । कसपक्षे—अकृक्षत । अकृक्षा-
ताम् । अकृक्षन्त । मिल सङ्गमे । मिलति । मिलते । मिमेल । मिमिले । मेलिता ।
अमेलीत् ॥ मुच्छत् मोक्षणे । शे मुचादीनाम् । ७।१।५२। मुच्छलुप्विदलुप्सि-
चकृतखिदपिशां जुम् । मुञ्चति । मुञ्चते । मुमुचे । मोक्ता । मोक्षयति । मोक्षयते ।
मुच्यात् । 'लिङ्सिचा'विति क्तिवम् । मुक्षीष्ट । अमुचत् । अमुक्त । अमुक्षाताम् ।
लुप्लृ छेदने । लुम्पति । लुम्पते । लुलोप । लुलुपे । लोप्ता २ । लोप्स्यति ।
लोप्स्यते । अलुपत् । अलुप्त । विद्लृ लामे । विन्दति । विन्दते । विवेद ।
व्याघ्रभूतिमते सेट् । वेदिता २ । वेदिष्यति । वेदिष्यते । भाष्यमतेऽनिट् । परिवे-
त्ता । परिवर्जने । ज्येष्ठं परित्यज्य दारानग्नींश्च लब्धवानित्यर्थः । धिच क्षरणे ।
सिञ्चति । सिञ्चते । सिषेच । सिषिचे । 'लिपिसिची'त्यङ् । असिचत् । तङि तु

इति वैकल्पिकेऽपि 'अकृ अम् प्स त्' इति स्थिते मस्येत्संज्ञायां लोपे च मिच्चादन्त्या-
दचः परे अच्परत्वात् 'इको यणचि' इति यणि 'अकृप्सत्' इति जाते 'पढोः कः
सि' इति धातोः पस्य कत्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति सिचिः सकारस्य पत्वे क्पसंयोगे
चकारे 'अस्तिसिचोऽपृक्त' इति ईटि अनुबन्धलोपे 'वदव्रजहलन्तस्याचः' इति
हलन्तत्वमाश्रित्य वृद्धौ 'अकाक्षीत्' इति रूपम् । अमोऽभावपक्षे तु 'हलन्तलक्ष-
णायां वृद्धौ अकाक्षीत्' इति । सिचोऽभावपक्षे—'शल इगुपधादनिटः कसः' इति च्लेः
कसादेशे 'लशक्तद्धिते' इति कस्येत्संज्ञायां लोपे च 'पढोः कः सि' इति पस्य कत्वे
'आदेशप्रत्यययोः' इति कससः सस्य पत्वे गुणाभावे 'अकृचत्' इति । अमेलीत् । लुङि
अटि तिपि तिप इकारलोपे च्लौ च्लेः सिचि 'पुगान्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'आर्ध-
धातु' इति इटि 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि 'इट ईटि' इति स्रलोपे 'अमेलीत्'
इति । शे मुचादीनामिति । जुम् स्यादिति शेषपूरणमिदम् । 'इदितो जुम्' इत्यतस्तद-
नुवृत्तेरिति भावः । मुञ्चति । मुच्छ मोक्षणे धातुतो लटि तिपि अनुबन्धलोपे 'तुदादिभ्यः
शः' इति शेऽनुबन्धलोपे शित्वादपित्वेन डित्वाद् गुणाभावे, 'शे मुचादीनाम्' इति
नुमि अनुबन्धलोपे 'नश्चापदान्तस्य' इति अनुस्वारे परसवर्णे च जाते 'मुञ्चति' इति ।
अमुचत् । मुच्धातोर्लुङि अटि तिपि अनुबन्धलोपे च्लौ 'पुषादिद्युताद्यलुदितः' इति
च्लेरङि डित्वाद् गुणाभावे 'अमुचत्' इति । अमुक्त । लुङि अटि तादेशे च्लौ च्लेः
सिचि 'अ मुच् स् त' इति स्थिते 'झलो झलि' इति स्रलोपे 'चोः कुः'
इति चस्य कत्वे 'अमुक्त' इति । लिपिसिचीति । लिपि सिचि ह्य एषां समाहारद्वन्द्वात्प-
ञ्चम्येकवचनम् । 'च्लेः सिच्' इत्यतः च्लेरिति 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्यः' इत्यतोऽ-
ङिति चानुवर्तते । तदाह—एभ्य इति । असिचत् । लुङि अटि तिपि तिप इकारलोपे
आर्धधातुकके परे रमागमको बाधकर पूर्वविप्रतिषेधेन सम्प्रसारण ही हो । शे मु—मुचादि

वा-असिचत । असिक्त ॥ लिप उपदेहे । उपदेहो-वृद्धिः । लिम्पति । लिम्पते ।
लिलेप । लिलिपे । लेप्ता । लेप्स्यति । लेप्स्यते । 'लिपिसिचिह्नश्चे'त्यङ् । अलिपत् ।
अलिपत । अलिप्त ॥ इत्युभयपदिनः ॥

अथ परस्मैपदिनः ।

कृती छेदने । कृन्तति । चकर्त्त । कर्त्तिता । 'सेऽसिची'ति वेट् । कर्त्तिष्यति ।
कर्त्स्यति । अकर्त्तीत् । खिद् परिदेवने । खिन्दति । चिखेद । खेत्ता । खेत्स्यति ।
पिश अवयवे । पिशति । पिपेश । पेशिता । ओब्रश्चू छेदने । 'ग्रहीज्या' ।
वृश्चति । लिट्यभ्यासस्येति सम्प्रसारणं-रेफस्य ऋकारः । 'उरत्' । तस्य 'अचः पर-
स्मिन्नि'ति स्थानिवद्भावाच्च 'सम्प्रसारणे सम्प्रसारण'मिति वस्योत्वं न- । वव्रश्च ।
वव्रश्चिथ । वव्रष्ट । व्रश्चिता । व्रष्टा । व्रश्चिष्यति । व्रक्ष्यति । वृश्चनु । वृश्च्यात् ।

च्लौ 'लिपिसिचिह्नश्च' इत्यङि अनुबन्धलोपे डित्वाद्गुणे 'असिचत्' इति । असिचत ।
लुङि तादेशे च्लौ 'आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्' इति च्लेरङि अटि अनुबन्धलोपे
डित्वाद् गुणाभावे 'असिचत' इति रूपम् । अङभावे च्लौ, च्लेः सिचि 'झलो झलि'
इति सिचः सलोपे 'चोः कुः' इति कुत्वेऽटि 'असिक्त' इति । चकर्त्त । कृती छेदने धातो-
र्लिटि तिपि णलि अनुबन्धलोपे द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'कुहोश्चुः' इति कस्य चत्वे
'पुगन्त०' इति गुणे 'अचो रहाभ्यां द्वे' इति रेफात्परस्य तकारस्य द्वित्वे 'चकर्त्त'
इति । लुङि-भकर्त्तीत् । लुङि अटि तिपि तिप इकारलोपे च्लौ, च्लेः सिचि 'आर्ध-
धातुकस्येड्' इति इटि 'अस्तिसिचः' इति ईटि 'इट ईटि' इति सलोपे 'पुगन्त'
इति गुणे 'वदव्रज' इति वृद्धौ प्राप्तायां 'नेटि' इति निषिद्धे 'पुगन्तलघूपधस्य च'
इति गुणे 'अकर्त्तीत्' इति रूपम् । वृश्चति । ओब्रश्चू छेदने इति धातोर्लिटि तिपि शेऽनु-
बन्धलोपे शस्यापित्वेन 'सार्वधातुकमपित्' इति डित्वात् 'ग्रहीज्या०' इति सम्प्र-
सारणे पूर्वरूपे च 'वृश्चति' इति रूपम् । वव्रश्च । ओब्रश्चू धातोरनुबन्धलोपे लिटि
तिपि णलि धातोर्द्वित्वे 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' इति सम्प्रसारणे पूर्वरूपे च 'वृश्च
व्रश्च अ' इति स्थिते 'उरत्' इति अभ्यासऋवर्णस्य अदादेशे रपरे 'वर्श्च व्रश्च अ'
इति जाते 'हलादिः शेषः' इति हललोपे 'वव्रश्च' इति रूपम् । वव्रश्चिथ । लिटि थलि
धातोर्द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' इत्यभ्यासस्य सम्प्रसारणे पूर्वरूपे
'वृश्च व्रश्च थ' इति जाते 'उरत्' इत्यभ्यासऋवर्णस्यादादेशे रपरे च कृते 'हलादिः
शेषः' इति हलो लोपे 'स्वरतिसूतिसूयतिधूबूदितो वा' इति ऊदित्वात् थल इडाग-
मे 'वव्रश्चिथ' इति रूपम् । इङभावपक्षे-धातोर्द्वित्वे 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्'
इत्यभ्यासस्य सम्प्रसारणे पूर्वरूपे अभ्यासऋवर्णस्य 'उरत्' इति अदादेशे रपरत्वे च

धातुको नुमागम हो, 'श' प्रत्ययके परे ।

१६ म० कौ०

अब्रक्षीत् । अब्राक्षीत् । व्यच व्याजीकरणे । विचति । विव्याच । विविचतुः । विविचुः । व्यचिता । व्यचिष्यति । विच्यात् । अव्याचीत् । अव्यचीत् । 'व्यचेः कुटादित्वमनसी'ति तु नेह प्रवर्तते, 'अनसी'ति पर्युदासेन कृन्मात्रविषयत्वात् । उच्छि उच्छे । 'उच्छः कणश आदानं कणिशाद्यर्जनं शिलमि'ति । यादवः । उच्छति । उच्छाञ्चकार । उच्छिता । ऋच्छ गतीन्द्रियप्रलयमूर्तिभावेषु । 'छे च' । ऋच्छति । 'ऋच्छत्यृतामि'ति गुणः परत्वाण्यपि भवति । द्विहल्ग्रहणस्यानेकहलुपलक्षणत्वान्नुट् । आनच्छ । आनच्छतुः । ऋच्छता । उज्झ उत्सर्गे । उज्झति । उज्झाञ्चकार । लुभ विमोहने । लुभति । लुलोभ । 'तीषसहे'ति वेट् । लोमिता । लोब्धा । लोमिष्यति । तृप तृप्फ तृप्तौ । तृपति । ततर्प । तर्पिता । अतर्पीत् । तृम्फति । शस्य ङित्वादनदितामिति नलोपः । (शे तृम्फादीनां नुम्वाच्यः ।)

'हलादिः शेषः' इति हलो लोपे शत्वस्यासिद्धत्वात् 'स्कोः संयोगाद्योः' इति सलोपे 'व्रश्चभ्रस्ज' इति चकारस्य परवे 'प्ठुना ष्ठुः' इति थस्य ठत्वे 'वन्नष्ट' इति । विचति । व्यच्धातोर्लिटि तिपि शेऽनुबन्धलोपे शित्वादपित्वेन 'सार्वधातुकमपित्' इति ङित्वात् 'ग्रहीज्या' इति सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'विचति' इति रूपम् । विव्याच । व्यच्धातोर्लिटि तिपि णलि धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' इति सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'वि व्यच् अ' इति जाते 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'विव्याच' इति रूपम् । अव्याचीत्-अव्यचीत् । लुङि अटि तिपि च्लौ सिचि इचावितौ तयोर्लोपे च 'आर्धधातुकस्येड्' इति इटि तिपि इलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि 'इट ईटि' इति सलोपे 'अतो हलादेर्लघोः' इति विकल्पेन वृद्धौ 'अव्याचीत्' इति । वृद्धयभावे- 'अव्यचीत्' इति । व्यचेः कुटादित्वमिति । 'व्यचेः कुटादित्वमनसि' इत्यस्यात्र प्रवृत्तिर्न भवति । पर्युदासेन अस्मिन्नासस्वदृशस्य कृतप्रत्ययस्यैव ग्रहणात् । उच्छति । उच्छिधातोरनुबन्धलोपे तस्मात् लटि तिपि शेऽनुबन्धलोपे इदित्वात् 'इदितो नुम् धातोः' इति नुमि अनुबन्धलोपे मित्वादन्त्यादचः परे नुमोऽनुस्वारे परसवर्णे च कृते 'उच्छति' इति रूपम् । आनच्छ । ऋच्छ-धातोर्लिटि तिपि णलि अनुबन्धलोपे धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'ऋच्छ् ऋच्छ् अ' इति जाते 'उरत्' इति अभ्यासञ्चकारस्य अदादेशे 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे च जाते 'हलादिः शेषः' इति हलो लोपे 'अ ऋच्छ् अ' इति स्थिते 'अत आदेः' इति अभ्यासस्य आत्वे 'तस्मान्नुट् द्विहलः' इति द्विहल्ग्रहणस्यानेकहलुपलक्षणत्वान्नुटि अनुबन्धलोपे 'आ न् ऋच्छ् अ' इति जाते 'ऋच्छत्यृताम्' इति गुणे रपरे 'आनच्छ' इति रूपम् । लोमिता, लोब्धा । लुभधातोर्लुटि तिपि तासि तस्याध-

शे ट्—तृम्फादि धातुर्भौको नुगागम हो, 'श' प्रत्ययके परे ।

आदिशब्दः प्रकारे । प्रकारो भेदसादृश्ये । तेन येऽत्र नकारानुष्ठास्ते तृम्फादयः । ततृम्फ । तृम्फ्यात् । मृड सुखने । पृड च । मृडति । पृडति । ममर्द्ध । शुन गतौ । शुनति । शुशोन । इष इच्छायाम् । 'इषुगमी'ति छः । इयेष । 'तीषे'ति वेट् । एषिता । एष्टा । एषिष्यति । इष्यात् । ऐषीत् । ऐषिष्यत् । कुट कौटिल्ये । 'गाङ्कुटादी'ति ङित्त्वम् । चुकुटिथ । चुकोट । चुकुट । कुटिता । पुट संश्लेषणे । पुटति । पुपोट । पुटिता । स्फुट विकसने । स्फुटति । पुस्फोट । स्फुटिता । स्फुर स्फुल्लसञ्चलने । स्फुरति । स्फुलति । स्फुरतिस्फुल्लत्योर्निर्निविभ्यः । ८।३।७६। निर्निविभ्यः परयोः स्फुरतिस्फुल्लयोः सस्य षत्वं वा स्यात् । निःस्फुरति । निःस्फुरतीत्यादि । णू स्तवने । 'परिणूतगुणोदयः' । नुवति । नुवतः । नुवन्ति । नुनाव । नुविता ॥ इति कुटादयः ।

टुमस्जो शुद्धौ । मज्जति । ममज्ज । 'मस्जिनशो'रिति नुम् । (मस्जेरन्त्यात्पूर्वो नुम्वाच्यः ।) संयोगादिलोपः । ममङ्क्थ । ममज्जिथ । मङ्क्ता ।

धातुकत्वे 'तीपसहलुभरुपरिपः' इति इङ्विकल्पे 'पुगन्त' इति गुणे तिपो ङात्वे टिलोपे च 'लोभिता' इति । इङभावे 'झपस्तथोर्धोऽधः' इति तस्य धत्वे 'झलां जश् झशि' इति भस्य वत्त्वे 'पुगन्त' इति गुणे लोढ्वा । इच्छति । इष इच्छायां धातोर्लटि तिपि शेऽनुबन्धलोपे 'इषुगमियमां छः' इति पकारस्य छकारे 'छे च' इति तुकि अनुबन्धलोपे 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति श्चुत्वेन चकारे 'इच्छति' इति रूपम् । लिटि-इयेष । लिटि तिपि णलि द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इति हलो लोपे 'इ इष् अ' इति जाते 'अभ्यासस्यासवर्णे' इति इयङि 'इयेष' इति । स्फुरतिस्फुल्लत्योरिति । 'मूर्धन्य' इत्यधिकृतम् । 'सिवादीनां वा' इत्यतो वेत्यनुवर्तते । तदाह—षत्वं वा स्यादिति । निःस्फुरति निःस्फुरति । निरूर्पूर्वकस्फुरधातोर्लटि तिपि शे 'स्फुरतिस्फुल्लत्योर्निर्निविभ्यः' इति धातोस्सकारस्य वा षत्वे 'निःस्फुरति' इति, तदभावे तु 'निःस्फुरति' इति । नुनाव । णूधातोर्लिटि तिपि णलि अनुबन्धलोपे धातोर्द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'कृताकृतप्रसङ्गो विधिर्नित्यः' इति नित्यत्वात् 'अचो ङिति' इति वृद्धौ 'नु नौ अ' इति जाते 'एचोऽयवायावः' इति आवि 'नुनाव' इति रूपम् ।

ममज्ज । मस्जधातोर्लिटि तिपि णलि 'मस्ज् अ' इति जाते 'लिटि धातोः' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलादिशेषे 'म मस्ज् अ' इति जाते श्चुत्वेन सस्य शत्वे 'झलां जश् झशि' इति जश्त्वे 'ममज्ज' इति रूपम् । मङ्क्ता । मस्ज् धातोर्लिटि

स्फुर—निर, नि और वि' उपसर्गसे पर 'स्फुर' और 'स्फुल' धातुके सकारको षत्व हो, विकल्पसे ।

मस्जे—'मस्ज' धातुके अन्त्य (जकार) से पूर्व नुम् हो ।

मङ्क्षति । 'चोः कुरि'ति कुत्वेन जस्य गः । तस्य 'खरि चे'ति कः । 'अनुस्वारस्य ययी'त्यनुस्वारस्य ङः । अमाङ्क्षीत् । अमाङ्क्ताम् । अमाङ्क्षुः । रुजो भङ्गे । रुजति । रुरोज । रोका । रोक्ष्यति । अरौक्षीत् ॥ भुजो कौटिल्ये । भुजति । बुभोज-इत्यादि रुजिवत् । विश प्रवेशने । विशति । विवेश । वेष्टा । अविक्षत् । मृश आमर्शने । आमर्शनं-स्पर्शः । मृशति । ममर्श । म्रष्टा । मर्ष्टा । म्रक्ष्यति । मर्क्ष्यति । मृशतु । अमृशत् । मृशेत् । मृश्यात् । 'अनुदात्तस्य चर्दुपधे'त्यम् । 'स्पृशमृशे'ति च्लेः सिज्वा । अम्राक्षीत् । अमार्क्षीत् । 'शल इगुपधे'ति क्सः । अमृक्षत् । षट् लृ विश-

तिपि तासि अनुबन्धलोपे तिपो डात्वे ढेलोपे अन्त्यहल्परे 'मस्जिनशोर्झलि' इति सूत्रेण धातोरन्त्यादचः परे नुमि प्राप्ते 'मस्जेरन्त्यात्पूर्वो नुम् वाच्यः' इति वार्तिकबलात् अनुबन्धलोपे 'स्कोः' इति कलोपे 'चोः कुः' इति जस्य गत्वे 'खरि च' इति गस्य कत्वेऽनुस्वारे परसवर्णे च कृते 'मङ्क्ता' इति । अमाङ्क्षीत् । मस्जधातोर्लुङि अटि तिपि तिप इकारलोपे च्लेः सिचि इचावितौ तिपोऽपृक्तकारस्य ईटि 'मस्जिनशोर्झलि' इति नुमि 'मस्जेरन्त्यात्पूर्वो नुम् वाच्यः' इति वार्तिकबलात् सकारात्परे जाते 'स्कोः संयोगाद्योः' इति सस्य लोपे 'वदव्रजहलन्तस्याचः' इति जस्य गत्वे 'खरि च' इति गकारस्य कत्वे 'नश्चापदान्तस्य झलि' इत्यनुस्वारे 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' इति परसवर्णे 'आदेशप्रत्यययोः' इति सस्य षत्वे 'अमाङ्क्षीत्' इति । अरौक्षीत् । लुङि अटि तिपि च्लौ सिचि 'अस्तिसिचः' इति ईटि 'चोः कुः' इति जस्य गत्वे 'खरि च' इति गस्य कत्वे तिप इलोपे सकारस्य षत्वे कू ष संयोगे चे 'वदव्रज' इति वृद्धौ विहिते 'अरौक्षीत्' इति रूपम् । आमर्शन इति । आमर्शनं स्पर्शः । म्रष्टा । मृशधातोर्लुङि तिपि अनुबन्धलोपे तासि तिपो डात्वे ढेलोपे 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्' इति विकल्पेन अमि अनुबन्धलोपे मित्वात् 'मिदचोऽन्त्यात्परः' इति नियमेन अन्त्याचः परे जाते 'मृ अ श् त् आ' इति भूते 'इको यणचि' इति यणि अनुबन्धलोपे 'व्रश्चभ्रस्ज' इति षत्वे ण्डुत्वे च 'म्रष्टा' इति । अमोऽभावपचे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'मर्ष्टा' इति रूपम् । अम्राक्षीत् । मृशधातोर्लुङि अटि तिपि अनुबन्धलोपे च्लौ 'स्पृशमृशकृषतृपढपां च्लेः सिज्वा वाच्यः' इति वार्तिकेन विकल्पेन च्लेः सिचि अनुबन्धलोपे 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्' इति वैकल्पिकेऽमि मलोपे 'मृ अ श् स् ति' इति स्थिते तिप इलोपे यणि 'व्रश्च' इति षत्वे 'षढोः कः सि' इति षस्य कत्वे सस्य षत्वे 'अस्तिसिच' इति ईटि 'वदव्रज' इति वृद्धौ 'अम्राक्षीत्' इति रूपम् । अमोऽभावपचे वैकल्पिके च्लेः सिचि कृते हलन्तलक्षणवृद्धौ अमार्क्षीत् । इति । सिजभावे च 'शल इगुपधात्' इति च्लेः स्थाने कसादेशेऽनुबन्धलोपे 'व्रश्च' इति षत्वे 'षढोः कः सि' इति षस्य

रणगत्यवसादनेषु । विशरणं—दुःखम् । 'प्राग्भागे'ति सीदादेशः । सीदति । सदि-
रप्रतेः । ८।३।६६ निषीदति । न्यपीदत् । सदेः परस्य लिटि । ८।३।११८।
सदेरभ्यासात्परस्य सस्य षत्वं न स्यादिति । निषसाद । ससाद । सेदतुः । सेदुः ।
सेदिथ-ससत्थ । सत्ता । सत्स्यति । लुदित्वाड्-असदत् । शद्लृशातने । शदेः
शितः । १।३।६०। शिद्धाविनोऽस्मात्तडानौ स्तः । शीयते । शीयताम् । अशीयत ।
शीयेत । शशाद । शत्ता । शत्स्यति । अशदत् । अशत्स्यत् । कृ विक्षेपे । ऋत
इद्धातोः । ७।१।१००। ऋदन्तस्य धातोरङ्गस्य इत्स्यात् । किरति । (इत्त्वोत्त्वा-
भ्यां गुणवृद्धी विप्रतिषेधेन ।) वृद्धिः । चकार । चकरतुः । चक्रहः । 'वृत्तो
चा' । करिता । करीता । 'हलि चे'ति दीर्घः । कीर्यात् । अकारीत । किरतौ

कत्वे कात्परकत्वात् सस्य पत्वे कृष्संयोगे चे 'अमृक्षत्' इति । नीडति । पदधातोर्लटि
तिपि शे अनुबन्धलोपे 'प्राग्भागा' इति सद्ः सीदादेशे संयोगे च कृते 'सीदति
इति रूपम् । शदेः शित इति । 'अनुदात्तङित' इत्यतः आत्मनेपदमित्यनुवर्तते । श
इत् यस्य सः शित् । शप् विवक्षितः । शिति विवक्षिते सतीत्यर्थः । तिङ्प्रत्यये पूर्व
सार्वधातुकाश्रयस्य शपोऽसम्भवात् । तदाह—शिद्धाविन इति । शीयते । शद्लृशातने
इति धातोर्लटि 'शदेः शितः' इति आत्मनेपदत्वे ते समागते 'तुदादिभ्यः शः' इति
शेऽनुबन्धलोपे 'प्राग्भागास्थान्ना' इति शदः स्थाने शीयादेशे 'दित आत्मनेपदा-
नाम्' इति टेरत्वे 'शीयते' इति । ऋत इद्धातोरिति । ऋत इति धातोर्विशेषणम् ।
तदन्तविधिः । अङ्गस्येत्यधिकृतम् । तदाह—ऋदन्तस्येति । किरति । कृविक्षेपे धातोर्लटि
तिपि शेऽनुबन्धलोपे 'ऋत इद्धातोः' इति ऋत इदादेशे 'उरण् रपरः' इति रपरे च
कृते 'किरति' इति रूपम् । अकारीत् । लुङि अटि तिपि तिप् इलोपे च्लौ च्लेः सिचि,
अनुबन्धलोपे 'आर्धधातुकसंज्ञायाम्' इति सिच आर्धधातुकसंज्ञायाम् 'आर्धधातुकस्ये-
ड्' इति सिचः सस्य इटि अनुबन्धलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति तिपस्तकारस्य
ईटि 'इट ईटि' इति सलोपे 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति इकारस्य ईकारेण सह दीर्घे

सदिर—'प्रति' मित्र 'सद' धातुके सकारको षकार हो ।

सदेः परस्य—अभ्याससे पर 'सद'के सकारको षकार नहीं हो 'लिट्'के परे ।

शदेः शितः—शिद्धावी 'शद्' धातुसे 'तड्' और 'आन्' हो ।

ऋन—(दीर्घ) ऋदन्त धातुके अङ्ग (ऋ) को 'इत्त्व' हो ।

इत्त्वो—इत्त्व और उत्त्वकी अपेक्षया पूर्वविप्रतिषेधेन गुण और वृद्धि ही हों ।

किरतौ—'उप' उपसर्गसे पर 'क' धातुको सुडागम हो, छेदन अर्थ यदि गम्य-
मान रहे ।

लवने । ६।१।१४। उपास्किरतेः सुट् स्याच्छेदनेऽर्थे । उपस्किरति । (अडभ्यास-
व्यवायेऽपि सुट्कात्पूर्वं इति वक्तव्यम् ।) उपास्किरत् । उपचस्कार ।
हिंसायां प्रतेश्च । ६।१।१४। उपात्प्रतेश्च किरतेः सुट् स्यात् हिंसायाम् । उपस्कि-
रति । प्रतिस्किरति ॥ गृ निगरणे । अचि विभाषा । ८।२।२१। गिरते रेफस्य
लः वा स्यादजादौ प्रत्यये परे । गिरति । गिलति । जगार । जगाल । जगरिथ ।
जगलिथ । गरिता । गरीता । गलिता । गलीता । प्रच्छ जीप्सायाम् । 'ग्रहि-
ज्ये'ति संप्रसारणम् । पृच्छति । पप्रच्छ । पप्रच्छतुः । पप्रच्छुः । प्रष्टा । प्रक्षयति ।
अप्राक्षीत् ॥ इति परस्मैपदिनः ।

'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ 'अकारीत्' इति रूपम् । उपादिति । 'उपात्
प्रतियत्ने' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । सुडिति । 'सुट्कात्पूर्वं' इत्यतस्तदनुवृत्ते-
रिति भावः । उपस्किरति । 'उप किरति' इति स्थिते 'किरतौ लवने' इति सुटि उदा-
वितौ टिच्वादाद्यावयवे 'उपस्किरति' इति । 'अडभ्यासव्यवायेऽपि' इति वार्तिकम् ।
'सुट् कात्पूर्वं' इत्यनुवृत्तिलभ्यम् । उपास्किरत् । इत्यत्र 'उप अ किरत्' इति दशायां
'अडभ्यासव्यवायेऽपि सुट् कात्पूर्वं इति वक्तव्यम्' इति वार्तिकेनाड्व्यवधाने सत्यपि
ककारात्पूर्वं सुडागमे विहिते 'उपास्किरत्' इति रूपम् । उपचस्कार 'उप चकार' इत्य-
वस्थायाम् 'अडभ्यासव्यवायेऽपि सुट् कात्पूर्वं इति वक्तव्यम्' इति अभ्याससंज्ञक-
वधानेऽपि कात्पूर्वमेव सुटि जाते 'उपचस्कार' इति । हिंसायां प्रतेश्चेति । चकारा-
दुपादिति समुच्चीयते, तदाह—उपादिति । उपस्किरति । 'उप किरति' इति स्थितौ
'हिंसायां प्रतेश्च' इति सुटि उपस्किरति, प्रतिस्किरति इति । अचि विभाषेति ।
'ग्रो यङि' इत्यतः ग्रः इत्यनुवर्तते । 'कृपो रो लः' इत्यतो रो ल इति, तदाह—
गिरतेरिति । पृच्छति । प्रच्छधातोर्लटि तिपि शेऽनुबन्धलोपे शस्यापिच्वेन 'सार्वधातुक-
मपित्' इति छित्वात् 'ग्रहीज्या' इति संप्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे
पृच्छति । पप्रच्छ । प्रच्छधातोर्लटि तिपि णलि अनुबन्धलोपे धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे
'लिट्यभ्यासस्योभयेऽमाम्' इत्यभ्यासस्य सम्प्रसारणे पूर्वरूपे उरदत्वे रपरे च हलादि-
शेषे 'पप्रच्छ' इति रूपम् । अप्राक्षीत् । प्रच्छधातोर्लुङि अटि तिपि च्लौ सिचि
'वञ्च०' इति छस्य षत्वे 'पठोः कः सि' इति षस्य कत्वे संस्य षत्वे तिपि
इलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि 'वदवज०' इति वृद्धौ 'अप्राक्षीत्' इति ।

अडभ्या—'अट्' और 'अभ्यास' के व्यवधानमें भी 'उप' से पर 'क' धातुको सुट् हो
और वह 'सुट्' ककारसे पूर्व हो—ऐसा कहना चाहिये । हिंसा—'उप' तथा 'प्रति' उपसर्गसे
पर 'क' धातुको 'सुट्' हो, हिंसा अर्थमें । अचि—'ग' धातुके रेफको 'लत्व' हो, अजादि
प्रत्ययके परे ।

अथाऽऽत्मनेपदिनः ।

दङ् आदरे । आद्रियते । आद्रे । आद्रिपे । आदत्ता । आदरिष्यते । धृङ्
अवस्थाने । ध्रियते । दध्ने । मृङ् प्राणत्यागे । म्रियतेर्लुङ् लिङोश्च । १।३।६१ ।
लुङ् लिङोः शितश्च प्रकृतिभूतान्मृङस्तडानौ, नान्यत्र । डित्वं स्वरार्थम् । 'रिङ् शयग्लि-
ङ्क्षु' । इयङ् । म्रियते । ममार । ममर्थ । मम्रिव । मम्रिम । मर्त्ता । मरिष्यति ।
मृषीष्ट । अमृत । अमरिष्यत् । पृङ् व्यायामे । प्रायेणायं 'व्याङ्' पूर्वः । व्याप्रियते ।
व्यापप्रे । व्यापप्राते । व्यापरिष्यते । 'ह्रस्वादङ्गादिति' सिजलोपः । व्यापृत । व्यापृषा-
ताम् । जुषी प्रीतिसेवनयोः । जुषते । जुषे । जोषिता । ओविजी भयसञ्चलनयोः । प्राये-
णायमुत्पूर्वः । उद्विजते । विज इट् । १।१।२। विजेः पर इडादिप्रत्ययो द्विवत् स्यात् ।
उद्विजिता । उद्विजिष्यते । ओलजी ओलस्जी व्रीडायाम् । लजते । लेजे ।
लज्जते । ललज्जे ॥ इति तुदादिः ॥ ६ ॥



म्रियतेर्लुङ् लिङोश्चेति । 'अनुदात्तङितः' इत्यतः आत्मनेपदमित्यनुवर्तते ।
चकारेण 'शदेः शितः' इत्यतः शित इत्यनुकृष्यते । प्रकृतिभूतादित्यध्याहार्यम् ।
तदाह—लुङ् लिङोरिति । म्रियते । मृङ्धातोर्लिटि, लटस्स्थाने 'म्रियतेर्लुङ् लिङोश्च'
इति ते 'तुदादिभ्यः शः' इति शोऽनुबन्धलोपे 'रिङ् शयग्लिङ्क्षु' इति रिङादेशे
ङलोपे 'अचिरनु०' इति इयङि 'दित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे 'म्रियते' इति
रूपम् । ममार । मृङ्धातोर्लिटि तिपि णलि धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'उरत्' इति अदा-
देशे रपरे 'हलादिः शेषः' इति रलोपे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे रपरे
'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'ममार' इति । व्यापप्रे । लिटि तादेशे तस्य एशादेशे
द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'उरत्' इति अदादेशे रपरे हलादिशेषे यणि च 'व्यापप्रे' इति रूपम् ।
विज इट् इति । 'गाङ्कुटादिभ्यः' इत्यतः डिटित्यनुवर्तते । तदाह—विजेः पर इत्यादिः ।
उद्विजिता । लुटि तादेशे तासि इटि तिपो डात्वे तासः डिरत्राट्टेलोपे 'विज इट्' इति
इटो द्विवद्भावाद् गुणाभावे 'उद्विजिता' इति रूपम् । ओलजी-ओलस्जी-व्रीडायाम् ।
ओदितौ । लजते । लज्जते । लेजे-ललज्जे । लजिता-लजिता । लजिष्यते-लजिष्यते ।
लजताम्-लज्जताम् । अलजत-अलज्जत । लजेत-लज्जेत । लजिषीष्ट-लजिषीष्ट ।
अलजिष्ट । अलजिष्ट । अलजिष्यत । अलजिष्यत । इत्यादि । इति तुदादयः ।



म्रियते—लुङ्, लिङ् और 'शित्' प्रत्ययके प्रकृतिभूत 'मृङ्' धातुसे ही 'तङ्' तथा
'आन' (आत्मनेपद) हो—अन्यत्र नहीं । विज इट्—'विज्' धातुसे पर इडादि प्रत्यय
'द्विवत्' हो ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें तुदादिप्रकरण समाप्त हुआ ।



अथ रुधादिप्रकरणम्

तत्रोभयपदिनः ।

रुधिर् आवरणे । रुधादिभ्यः श्नम् । ३।१।७८। रुधादिभ्यः श्नम् स्यात् कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे । शपोऽपवादः । मित्त्वादन्यादचः परः । नित्यत्वाद् गुणं बाधते । रुणद्धि । 'श्नसोरल्लोपः' । 'म्नरो म्नी'ति धलोपः । णत्वस्यासिद्धत्वादनुस्वारः । परसवर्णः । तस्यासिद्धत्वाण्णत्वं न । 'न पदान्ते'ति सूत्रेणानुस्वारपरसवर्णयोरल्लोपो न स्थानिवत् । रुन्द्धः । रुन्द्धन्ति । रुणत्सि । रुन्द्धः । रुन्द्ध । रुणध्मि । रुन्ध्वः । रुन्ध्मः । रुन्धे । रुन्धाते । रुन्धते । रुन्त्से । रुन्धाथे । रुन्ध्वे । रुन्धे । रुन्ध्वहे । रुन्ध्महे । रुरोध । रुरुधे । रोद्धा । रोट्स्यति । रोट्स्यते । रुणद्धु । रुन्धात् । रुन्धाम् । रुन्धन्तु । रुन्धि । रुणधानि । रुणधाव । रुणधाम । रुन्धाम् । रुन्धाताम् । रुन्धताम् । रुन्त्स्व । रुणधै । रुणधावहै । रुणधामहै । अरुणत्-द् । अरुन्धाम् । अरुन्धन् । 'दश्चे'ति रुः । अरुणः । अरुणत्-द् । अरुन्धम् । अरुन्द्ध । अरुणधम् । अरुन्ध्व । अरुन्ध्म । अरुन्द्ध । अरुन्धाताम् । अरुन्धत । अरुन्धाः । अरुन्धायाम् । अरुन्ध्वम् । अरुन्धि । अरुन्ध्वहि । अरुन्ध्महि । समानाश्रये आभीयत्वेन अल्लोपस्यासिद्धत्वादनदितामिति नलोपो न । रुन्ध्यात् । रुन्धीत । रुन्ध्यात् । रुत्सीष्ट । अरुधत् । अरौत्सीत् । 'लिङ्सिच्'विति कित्त्वम् । अरुद्ध । अरोत्स्यत् । अरोत्स्यत । भिदिर् विदारणे । भिनत्ति । भिन्ते । छिदिर्

रुधादिभ्यः श्नमिति । कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे रुधादिभ्यः श्नम् प्रत्ययः स्यात् स्वार्थे इत्यर्थः । तदाह—शपोऽपवाद इति । रुणद्धि । रुधिर् आवरणे इति धातुतो लटि तिपि 'रुधादिभ्यः श्नम्' इति श्नमि अनुबन्धलोपे 'मिदचोऽन्यात्परः' इति सूत्रबलात् अन्याचः परे श्नमि प्रत्यये कृते 'रु न ध् ति' इति जाते 'अट्कुप्वाङ्' इति णत्वे 'झपस्तथोर्धोऽधः' इति तिपस्तस्य धत्वे 'झलां जश् झशि' इति धस्य दत्त्वे 'रुणद्धि' इति रूपम् । हरोध । रुन्धातोर्लटि तिपि णलि धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलादिशेषे 'पुगान्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'हरोध' इति रूपम् । अरुणत्, अरुणद् । रुन्धातोर्लङि, तिपि, तिप इकारलोपे श्नमि अनुबन्धलोपे मित्त्वादन्यादचः परे 'अरुनधत्' इति जाते 'अट्कुप्वाङ्' इति णत्वे 'हल्ङयादिना' तलोपे 'झलां जशोऽन्ते' इति धस्य दत्त्वे 'वाऽवसाने' इति दस्य तत्त्वे अटि 'अरुणत्, अरुणद्' इति । भिनत्ति । भिदिर्धातोर्लटि तिपि श्नमि अनुबन्धलोपे 'खरि च' इति दस्य तत्त्वे 'भिनत्ति'

रुधादि—रुधादि गणपठित धातुओंसे 'श्नम्' प्रत्यय हो, कर्त्रर्थक सार्वधातुकके परे ।

द्वैधीकरणे । छिनत्ति । छिन्ते । युजिर् योगे । युनक्ति । युङ्क्ते । रिचिर् विरे-
चने । रिणक्ति । रिङ्क्ते । ररेच । ररिचे । रेक्ता । अरिणक् । अरिचत् ।
अरैक्षीत् । अरिक्त । विचिर् पृथग्भावे । विनक्ति । विङ्क्ते । क्षुदिर् संपेषणे ।
क्षुणत्ति । क्षुन्ते । क्षोत्ता । अक्षुदत् । अक्षौत्सीत् । अक्षुत्त । उच्छृदिर् दीप्तिदेव-
नयोः । छृणत्ति । छृन्ते । चच्छर्द । 'सेसिची'ति वेट् । चच्छृदिषे । चच्छर्से ।
छर्दिता । छर्दिष्यति । छत्स्यति । अच्छृदत् । अच्छर्दीत् । अच्छर्दिष्ट । उत्तुदिर्
हिंसाऽनादरयोः । तृणत्ति । तृन्ते ।

अथ परस्मैपदिनः ।

कृती वेष्टने । कृणत्ति । आर्द्धधातुके तौदादिकवत् । तृह हिंसि हिंसायाम् ।
तृणह इम् । ७।३।१२। तृहः शनमि कृते इम् स्याद्धलादौ पिति । तृणैडि । तृण्डः ।
ततर्ह । तर्हिता । अतृणेट् । शनान्नलोपः । ६।४।२३। शनमः परस्य नस्य लोपः स्यात् ।
हिनस्ति । जिहिंस । हिंसिता । उन्दी क्लेदने । उनत्ति । उन्तः । उन्दन्ति । उन्दा-

इति । एवं छिदिर्धातोरपि बोध्यम् । युनक्ति । युजिर्योगे धातोर्लटि तिपि शनमि
अनुबन्धलोपे मित्रादन्यादचः परे, 'चोः कुः' इति जस्य गत्वे 'खरि च' इति गस्य
कत्वे 'युनक्ति' इति रूपम् । चच्छर्द । छृदधातोर्लटि तिपि णलि अनुबन्धलोपे 'धातो-
र्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'उरत्' इति अभ्यासककारस्य अदादेशे रपरे हलादिशेषे 'पुगन्त'
इति गुणे रपरे 'अभ्यासे चर्च' इति छस्य चत्वे 'छे च' इति तुकि 'स्तोः श्चुना' इति
श्चुत्वेन तस्य चत्वे 'चच्छर्द' इति रूपम् ।

तृणैडि । तृह्धातोर्लटि तिपि शनमि अनुबन्धलोपे 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्'
इति नस्य णत्वे 'तृण ह् ति' इति दशायां 'तृणह इम्' इति इमागमे,
'तृण इ ह् ति' इति स्थिते 'आद्गुणः' इति गुणे 'हो ङः' इति हस्य ङत्वे
'झपस्तथोर्धोऽधः' इति तिपस्तकारस्य धकारे ण्त्वान्न धकारस्य ङत्वे, 'ढो ङे लोपः'
इति पूर्वङस्य लोपे कृते 'तृणैडि' इति । अतृणैङ् । लङि अटि तिपि तिप इलोपे शनमि
अनुबन्धलोपे मित्रादन्यादचः परे 'तृणह इम्' इति इमागमे आद्गुणे णत्वे हस्य
ङत्वे हल्ङयादिना तलोपे 'झलां जशोऽन्ते' इति पदान्तत्वात् ङस्य ङत्वे 'वाऽवसाने'
इति ङस्य ङत्वे 'अतृणैट्' इति । शनान्नलोप इति । शनप्रत्ययैकदेशस्य शन इत्यस्य
शनादिति पञ्चमी । नेतिलुप्तषष्ठीकम् । तदाह-शनमः परस्य नस्येति । हिनस्ति । हिंसिहिं-
सायां धातोर्लटि तिपि शनमि अनुबन्धलोपे 'इदितो नुम् धातोः' इति नुमि अनुबन्ध-
लोपे 'हिन न् स् ति' इति स्थिते 'शनान्नलोपः' इति नलोपे 'हिनस्ति' इति ।
उनत्ति । उन्दी क्लेदने इत्यस्माद्धातोर्लटि तिपि प्राप्ते तम्बाधित्वा शनमि कृते

तृणः—'तृह' धातुसे 'शनम्' करने पर इमागम हो, हलादि 'पितृ'के परे । शनान्न —'शनम्',

ञकार । औनत् । औन्ताम् । औन्दन् । औनः-औनत् । औनदम् । अञ्जु
 व्यक्तिप्रक्षणकान्तिगतिषु । अनक्ति । अङ्क्तः । अङ्गन्ति । आनञ्ज । आनञ्जिय ।
 आनङ्क्थ । अङ्जिता । अङ्क्ता । अङ्ग्धि । अनजानि । आनक् । अञ्जेः सिचि
 ७।२।७१। अञ्जेः सिचो नित्यमिट् । आजीत् । तञ्चू सङ्कोचने । तनक्ति । तङ्गा ।

शकारमकारयोलोपे मित्रादन्त्यादचः परे 'श्नान्नलोपः' इति नलोपे 'खरि च' इति
 दस्य चत्वेन तकारे च कृते 'उनत्ति' इति रूपम् । उन्दाञ्चकार—उन्द इत्यस्माद्धातो-
 र्लिङि 'इजादेश्च गुरुमतोऽनुच्छः' इत्यामि 'आमः' इत्यनेन लिटो लुकि 'कृञ्चानुप्रयु-
 ज्यते लिटि' इत्यनेन लिट्परके कृजोऽनुप्रयोगे कृते 'उन्दाम् कृ लिट्' इति जाते,
 लिट्स्तिपि तिपो णलि धातोर्द्वित्वे 'उरत्' इत्यत्वे रपरे च कृते 'हलादिः शेषः'
 इत्यनेन रलोपे 'कुहोरचुः' इति चुत्वे 'अचोऽङ्गिति' इति वृद्धौ रपरे च मस्या-
 नुस्वारे परसवर्णे च कृते 'उन्दाञ्चकार' इति रूपम् । औनत् । उन्दाधातोर्लिङि तिपि
 शपि प्राप्ते तम्बाधित्वा शनमि कृते अनुबन्धलोपे मित्रादन्त्यादचः परे 'उनन्द ति'
 इति जाते 'श्नान्नलोपः' इत्यनेन नलोपे च कृते अटि प्राप्ते तम्बाधित्वा अजादित्वात्
 'आडजादीनाम्' इत्यनेनाटि 'आटश्च' इत्यनेन वृद्धौ 'खरि च' इति दस्य चत्वे
 'इतश्च' इति तिपि इलोपे 'झरो झरि सवर्णे' इत्यनेन पूर्वतकारस्य लोपे च कृते
 'औनत्' इति रूपम् । अनक्ति । ऊकारेत्सञ्ज्ञक 'अञ्' इत्यस्माद्धातोर्लिङि तिपि शनमि
 कृते अनुबन्धलोपे मित्रादन्त्यादचः परे जाते 'श्नान्नलोपः' इति नलोपे 'चोः कुः'
 इति कुत्वेन जस्य गकारे गस्य चत्वेन ककारे 'अनक्ति' इति सिद्ध्यति । आनञ्ज ।
 अञ्धातोर्लिङि तिपि तिपो णलि च कृते धातोर्द्वित्वेऽभ्याससन्ज्ञायाम् 'हलादिः
 शेषः' इत्यनेन लोपे 'अ अञ् अ' जाते 'अत आदेः' इत्यनेन दीर्घे 'अकः सवर्णे
 दीर्घः' इति सवर्णदीर्घे च कृते 'तस्मान्नुड् द्विहलः' इत्यनेन नुटि उटावितौ टित्त्वा-
 ज्ञेराद्यावयवे च जाते, कृते च संयोगे 'आनञ्ज' इति । आनक्—अञ्धातोर्लिङि
 तिपि शपि प्राप्ते तम्बाधित्वा शनमि ते अनुबन्धे मित्रादन्त्याचः परे 'श्नान्नलोपः'
 इत्यनेन नलोपे 'इतश्च' इति इकारस्य लोपे 'हल्ङ्याढभ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्'
 इत्यनेन तलोपे 'चोः कुः' इत्यनेन जस्य कुत्वेन गकारे 'वाऽवसाने' इत्यनेन गस्य
 कत्वे 'आडजादीनाम्' इत्यनेनाडागमे 'आनग्' इति । अञ्जेः सिचीति । 'इडत्यर्ति'
 इत्यतः इडित्यनुवर्त्तते । ऊदिश्वादेव सिद्धे नित्यार्थमिदम् । तदाह—अञ्जेरित्यादिना ।
 आजीत् । अञ्धातोर्लिङि लः स्थाने तिपि 'चिल लुङि' इति च्लौ 'च्लेः सिच्'
 इत्यनेन सिजादेशे इचावितौ तयोलोपे च तिपि इलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इत्यनेन
 इडागमेऽनुबन्धलोपे 'इट ईटि' इति सूत्रेण सिचः सस्य लोपे 'आडजादीनाम्'

से पर नकारका लोप हो । अञ्जेः—'अञ्' धातुसे पर 'सिच्'को नित्य इडागम हो ।

तद्धिता । ओविजी भयसञ्चलनयोः । विनक्ति । विङ्क्तः । 'विज इडि'ति डित्व-
म् । विविजिथ । विजिता । अविनक् । अविजीत् । शिण्ट् विशेषणे । शिनष्टि ।
शिष्टः । शिषन्ति । शिनक्षि । शिशेष । शिशेषिथ । शेषा । शोद्यति । हेर्धिः ।
जश्त्वम् । ण्टुत्वम् । 'भरो भरी'ति वा डलोपः । 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' ।
शिण्डि । शिण्डि । शिनषाणि । अशिनट् । शिष्यात् । शिष्यात् । लुदित्वाडङ् ।
अशिषत् । अशोद्यत् । एवं—पिण्ट् संचूर्णने । पिनष्टि । पिपेष । भञ्जो आम-
र्दनने । भनक्ति । वभञ्ज । वभञ्जिथ । वभङ्क्थ । भङ्क्ता । भुज पालनाभ्यवहा-

इत्यादि च कृते 'आटश्च' इति वृद्धौ 'आक्षीत्' इति । विनक्ति । ओकार-ईकारेत्संज्ञ-
कविज् इत्यस्माद्धातोर्लटि तिपि शपि प्राप्ते तम्बाधित्वा शनमि कृते अनुबन्धलोपे-
मित्रादन्यादचः परे 'चोः कुः' इत्यनेन जस्य कुत्वेन गकारे 'खरि च' इत्यनेन
गस्य कत्वे कृते 'विनक्ति' इति । विविजिथ । विज्धातोर्लटि मध्यमपुरुषैकवचने
सिपस्थलि कृते 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायाम् 'हलादि-
शेषः' इति लोपे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इत्यनेनेडागमे 'विज इट्' इत्यनेन इटो
डित्वात् गुणाभावे 'विविजिथ' इति । अविजीत् । विज्धातोर्लुङ्स्तितिपि 'च्लि लुङि'
इति च्लौ 'च्लेः सिच्' इति सिजादेशे इचावितौ, सिच आर्धधातुकत्वादिति तिपि
इकारस्य लोपे कृते 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति तिपस्तकारस्य ईडागमे 'इट ईटि'
इति सलोपे च कृते 'सिज्जलोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः' इति सलोपस्य सिद्धत्वात्सवर्ण-
दीर्घं अटि च 'अविजीत्' इति । शिनष्टि । लुकारेत्संज्ञकशिष् इत्यस्माद्धातोर्लटि लटो
लस्थाने तिपि शपि प्राप्ते तम्बाधित्वा शनमि कृते, अनुबन्धलोपे मित्रादन्यादचः
परे तकारस्य ण्टुत्वे च कृते 'शिनष्टि' इति । शिण्डि । शिष्धातोर्लोटि, लः स्थाने
मध्यमपुरुषैकवचने सिपि, शपि प्राप्ते तम्बाधित्वा शनमि कृतेऽनुबन्धलोपे मित्राद-
न्यादचः परे 'सेर्हपिच्च' इति सेर्हिभावे 'शनसोरलोपः' इत्यल्लोपे 'हुञ्जलभ्यो हेर्धिः'
इति हेर्धिभावे 'झलां जश् झशि' इति पस्य डत्वे 'ण्टुना ण्टुः' इति धेर्धस्य ण्टुत्वे
'झरो झरि सवर्णे' इति डलोपे नस्यानुस्वारे तस्य परसवर्णे च कृते 'शिण्डि' इति ।
अशिनट् । शिष्धातोर्लङि तिपि अनुबन्धलोपे शनमि अनुबन्धलोपे मित्रात् अन्त्याचः
परे कृते 'इतश्च' इति तिपि इलोपे 'हल्ङ्याभ्यः' इति तलोपे 'झलां जशोऽन्ते'
इति पस्य जश्त्वेन डकारे 'वाऽवसाने' इति चत्वे, अटि च कृते 'अशिनट्' इति ।
चत्वाभावे—'अशिनङ्' इति । वभञ्जिथ । भञ्जधातोर्लिटि, लिटो लः स्थाने मध्यम-
पुरुषैकवचने सिपि, सिपः स्थाने थलि, धातोर्द्वित्वे अभ्याससंज्ञायां हल्लोपे इटि प्राप्ते
'उपदेशेऽजत्वतः' इति निषेधे 'ऋतो भारद्वाजस्य' इति वेटि 'अभ्यासे चर्च' इति भस्य
जश्त्वेन वकारे 'वभञ्जिथ' इति । इडभावे—जस्य गत्वे गस्य कत्वे नस्यानुस्वारे 'अनु-

रयोः । भुनक्ति । बुभोज । भोक्ता । भोक्ष्यति । भुनक्तु । अभुनक् । भुजोऽ-
नवने । १।३।६६। भुजोऽनवने तडानौ स्तः । ओदनं भुङ्क्ते । अनवने किम् ?
अर्हौ भुनक्ति ।

अथात्मनेपदिनः ।

भिन्धी दीप्तौ । इन्धे । इन्धाते । इन्धते । इन्त्से । इन्धाच्चक्रे । इन्धिता ।
इन्धाम् । इन्धाताम् । इन्धताम् । इन्धै । ऐन्ध । ऐन्धाताम् । ऐन्धत । ऐन्द्धाः ।
विद् विचारणे । विन्ते । वेत्ता । खिद् दैन्ये । खिन्ते । विखिदे । खेत्ता ।
खेत्स्यते । खिन्ताम् । अखिन्त । इति रुधादिः ॥ ७ ॥

‘स्वारस्य ययि परसवर्णः’ इति परसवर्णे च कृते ‘वभङ्क्थ’ इति । भुनक्ति । भुज्-
धातोर्लट्स्तिपि सार्वधातुकसंज्ञायां शपि प्राप्ते तन्वाधित्वा शनमि कृतेऽनुबन्धलोपे
‘चोः कुः’ जस्य कुत्वेन गत्वे गस्य ‘खरि च’ इति चत्वे ‘भुनक्ति’ इति ।
अभुनक् । भुज्धातोर्लट्स्तिपि अनुबन्धलोपे सार्वधातुकसंज्ञायां शपि प्राप्ते शनमि
कृते अनुबन्धलोपे अडागमे ‘इतश्च’ इति तिप इलोपे तस्य ‘हल्ङ्यावभ्यो०’ इति
लोपे जस्य कुत्वे चत्वे च कृते ‘अभुनक्’ इति । भुजोऽनवने । अनवन्-रक्षणम्, ततो-
ऽन्यत्र भुजेरात्मनेपदमित्यर्थः । भुङ्क्ते-भुज्धातोर्लट्लकारे ‘भुजोऽनवने’ इत्यात्मनेपदे
तत्प्रत्यये शनमि कृतेऽनुबन्धलोपे ‘शनसोरल्लोप’ इत्यल्लोपे ‘चोः कुः’ इति कुत्वे चत्वे च कृते
अनुस्वारे परसवर्णे ‘टित आत्मनेपदानां टेरे’ इति टेरेत्वे च ‘भुङ्क्ते’ इति । इह उप-
भोगो भुजेरर्थः । धातूनामनेकार्थत्वात् । ‘अर्हौ भुनक्ति’ इत्यत्रावनाथकत्वाच्च तड् ।

इन्धाच्चक्रे । इन्धधातोर्लिटि ‘इजादेश्च’ इत्यामि ‘आमः’ इत्यनेन लिटो
लुकि ‘कृच्चानुप्रयुज्यते लिटि’ इत्यनेन लिट्परककृजनुप्रयोगे लस्थाने ते कृते
‘इन्धाम् कृत’ इति जाते ‘लिटि धातोरनभ्यासस्य’ इति द्वित्वे ‘उरत्’ इत्यने-
नाभ्यासत्रवर्णस्यादादेशे रपरे च कृते ‘हलादिः शेषः’ इत्यभ्यासलोपे ‘कुहोरश्चुः’
इति चुत्वे ‘लिटस्तद्वयोरेशिरेच्’ इत्यनेन तस्य एजादेशे ‘इको यणचि’ इति यणि
मस्यानुस्वारे परसवर्णे च कृते ‘इन्धाच्चक्रे’ इति । विन्ते-विद्धातोर्लटि लः स्थाने
तादेशे, शनमि अनुबन्धलोपे अन्त्याचः परे ‘शनसोरल्लोपः’ इत्यल्लोपे ‘खरि च’
इति चत्वे ‘झरो झरि सवर्णे’ इति पूर्वतकारस्य लोपे टेरेत्वे च कृते ‘विन्ते’
इति । इति रुधादयः ।

भुजो—अनवन् (रक्षणसे भिन्न) अर्थमें ‘भुज्’ धातुसे आत्मनेपद हो ।

इसप्रकार ‘इन्धुमती’ टीकामें रुधादि प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ तनादिप्रकरणम्

(अथ स्वरितेतो, जितश्च—उभयपदिनः)

तनु विस्तारे । तनादिकृञ्भ्य उः । ३।१।७६। तनादेः, कृञ्श्च उः प्रत्ययः स्यात्कर्त्रर्थे सार्वधातुके । तनोति । तनुते । ततान । तेने । तनिता । तनिष्यति । तनिष्यते । तनोतु । तनुताम् । अतनोत् । अतनुत । तनुयात् । तन्वीत् । तन्यात् । तनिषीष्ट । अतनीत् । अतानीत् । तनादिभ्यस्तथासोः । ३।४।७९। तनादेः सिचो वा लुक् स्यात्तथासोः । 'अनुदात्तोपदेशे'ति नलोपः । अतत । अतनिष्ट । अतथाः । अतनिष्ठाः । अतनिष्यत् । अतनिष्यत । षणु दाने । सनोति । सनुते ।

तनादिकृञ्भ्य उः । तनादेः कृञ्श्च उप्रत्ययः स्यादिति सूत्रार्थः । शपोऽपवान् इति । अनेन शत्विवषय एवास्य प्रवृत्तिरिति सूचितम् । 'सार्वधातुके यक्' इत्यतः सार्वधातुक इति 'कर्त्तरि शप्' इत्यतः कर्त्तरीति चानुवृत्तेरिति भावः । तनोति । तन् इत्यस्माद्धातोर्लटि तिपि शपि प्राप्ते तम्बाधित्वा 'तनादिकृञ्भ्य उः' इत्युप्रत्यये 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे च कृते 'तनोति' इति । तनुते । तन् इत्यस्माद्धातोरात्मनेपदे लटस्ते प्रत्यये 'कर्त्तरि शप्' इति शप्प्राप्ते तम्बाधित्वा 'तनादिकृञ्भ्य उः' इति उविकरणे, प्रत्ययस्य तस्य सार्वधातुकत्वात् 'सार्वधातुकमपित्' इति डित्वाद् गुणाभावे 'दित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेस्वे च कृते 'तनुते' इति । अतानीत् । तन्धातोर्लुङि लुङो लः स्थाने तिपि अनुबन्धलोपे अडागमे च कृते 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः सिच्' इति सिजादेशे इचावितौ, इटि कृते, तिप इकारस्य लोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इतीडागमे च कृते 'इट ईटि' इति सलोपे, सवर्णदीर्घे 'अतो हलादेर्लघोः' इति विकल्पेन वृद्धौ च 'अतानीत्' इति । वृद्ध्यभावे—'अतनीत्' इति । तनादिभ्यस्तथासोरिति । 'गातिस्था०' इत्यतः 'सिच्' इति 'ण्यक्षत्रियार्प०' इत्यतो लुगिति 'विभाषा प्राघेट्०' इत्यतो विभाषेति चानुवर्तते । तदाह—तनादेरित्यादिना । अतत । तन्धातोर्लुङि, लः स्थाने आत्मनेपदे तादेशे अडागमे अनुबन्धलोपे 'च्लि लुङि' इति च्लौ, च्लेः सिजादेशे इचावितौ 'तनादिभ्यस्तथासोः' इति सिचो लुकि 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्लिति' इत्यनुनासिकनकारस्य लोपे 'अतत' इति । सिचो लोपाभावेः

तनादि—तनादिगण पठितधातु और कृञ् धातुसे 'उ' प्रत्यय हो, कर्त्रर्थक सार्वधातुकके परे ।
नोटः—तनादि कहनेसे 'कृञ्' धातुका भी ग्रहण होता ही फिर 'कृञ्'का पृथक् उपादान क्यों किया गया, इससे सिद्ध होता है कि 'गणकार्यमनित्यम्'—गणकार्य अनित्य है ।
तना—तनादिसे पर 'सिच्'का लुक् (लोप) हो 'त' और 'थास्'के परे, विकल्पसे ।

LIBRARY.

Jangamwadi Math, VARANASI,

‘ये विभाषे’त्यात्त्वम् । सायात् । सन्यात् । जनसनखनां सञ्जालोः । दाडाधर ।
 एषामाकारोऽन्तादेशः स्याज्जलादौ सनि, फलादौ विडति च । असात ।
 असनिष्ट । असाथाः । असनिष्ठाः । क्षणु हिंसायाम् । क्षणोति । क्षणुते । ‘ह्यथ-
 न्ते’ति न वृद्धिः । अक्षणीत् । अक्षत । अक्षणिष्ट । अक्षयाः । अक्षणिष्ठाः । क्षिणु
 च । उप्रत्यये लघूपधगुणो वा । क्षिणोति । क्षेणोति । क्षेणिता । अक्षेणीत् ।
 अक्षित । अक्षेणिष्ट । तृणु अदने । तृणोति । तर्णोति । तृणुते । तर्णुते । घृणु
 दीप्तौ । घृणोति । घर्णोति । डुकृञ् करणे । करोति । ‘अत उत्सार्वधातुके’ ।

इटि सस्य षत्वे ण्टुत्वे च ‘अतनिष्ट’ इति । सायात् । षण्धातोराशीर्लिङि, लिङो लः
 स्थाने तिपि तिपो यासुडागमे अनुबन्धलोपे धातोः सत्वे णस्य नत्वे च कृते ‘स्कोः
 संयोगाद्योरन्ते च’ इति सलोपे ‘अलोऽन्त्यस्य’ इति सूत्रसहकारेण ‘ये विभाषा’
 इति नस्यात्वे सवर्णदीर्घे च कृते ‘सायात्’ इति । आत्वाभावे ‘सन्यात्’ इति । असानीत् ।
 षण्धातोर्लुङ् इतिपि अनुबन्धलोपे अडागमे च कृते ‘धात्वादेः पः स’ इति षकारस्य
 सकारे णस्य नत्वे च जाते, च्लौ, च्लेः सिजादेशे इचावितौ तिप इकारलोपे ‘अस्ति-
 सिचोऽपृक्ते’ इतीटि ‘इट ईटि’ इति सलोपे सवर्णदीर्घे च ‘अतो हलादेर्लघोः’
 इति विकल्पेन वृद्धौ ‘असानीत्’ इति । वृद्धयभावे ‘असनीत्’ इति । जनसनखनां सञ्ज-
 लोरिति । ‘विड्वनोः’ इत्यतः आदित्यनुवर्तते । तदाह—एषामाकारोऽन्तादेश इति । सन्-
 जालोः इत्यनयोः द्वन्द्वात् सप्तमीद्विवचनम् । सनि झलि चेति लभ्यते । ‘अनुदात्तोप-
 देशः’ इत्यतः झलि द्वितीत्यनुवर्तते । तत्र झलीत्यनुवृत्तेन सन् विशेष्यते । तदादि-
 विधिः । झलादौ सनीति लभ्यते । तत्र विडतीत्यनुवृत्तं तु एतत्सूत्रस्थझला विशेष्यते ।
 तदादिविधिः । झलादौ विडतीति लभ्यते । तदाह—झलादौ सनीत्यादिनेति । असात ।
 षण्धातोर्लुङो लः स्थाने आत्मनेपदे तादेशे अडागमे अनुबन्धलोपे धातोः पकारस्य
 सत्वे णस्य नत्वे च कृते च्लौ, च्लेः सिजादेशे ‘तनादिभ्यस्तथासोः’ इति सिचो
 लोपे ‘जनसनखनां सञ्जालोः’ इत्यात्वे सवर्णदीर्घे च ‘असात’ इति । असनिष्ट ।
 षण्धातोर्लुङि लः स्थाने ते कृते धातुस्थषस्य सत्वे णस्य नत्वे च कृते अडागमे च्लौ,
 च्लेः सिजादेशे इचावितौ सिचः ‘आर्धधातुकस्येड्वल्लादेः’ इतीडागमे सस्य षत्वे च
 कृते ‘असनिष्ट’ इति । अक्षणीत् । षण्धातोर्लुङि, लुङो लः स्थाने तिपि अनुबन्धलोपे
 ‘इतश्च’ इति तिप इकारलोपे च्लौ, च्लेः सिजादेशे इचावितौ, सिचः सकारस्य
 ‘आर्धधातुकस्येड्वल्लादेः’ इतीडागमे च कृते ‘अस्ति सचोऽपृक्ते’ इतीटि ‘इट ईटि’
 इति सिचो लोपे, वृद्धौ प्राप्तायां ‘ह्यथन्तक्षणाश्रयणशब्देदिताम्’ इति निषेधे
 ‘अक्षणीत्’ इति । करोति । कृधातोर्लट् इतिपि सार्वधातुकत्वे, शपम्बाधित्वा ‘तनादिक्-

जनसन—जन्, सन् और खन् धातुको अकारान्त आदेश हो, झलादि ‘सन्’ और झलादि

कुरुतः । 'हलि चे'ति दीर्घं प्राप्ते- । न भकुर्छुराम् । ८।२।७९' भस्य, कुर्छुरोश्चोप-
धाया न दीर्घः । कुर्वन्ति । नित्यं करोतेः । ६।४।१०८। करोतेः प्रत्ययोकारस्य
नित्यं लोपो, म्वोः । कुर्वः । कुर्मः । कुरुते । चकार । चकर्थ । चकृव । चकृम ।
चक्रे । कर्ता । करिष्यति । करिष्यते । करोतु । कुरुताम् । अकरोत् । अकुरुत ।
ये च । ६।४।१०९। कृञ् उलोपो, यादौ प्रत्यये । कुर्यात् । कुर्वीत । क्रियात् ।
कृषीष्ट । अकार्षीत् । अकृत । अकरिष्यत् । अकरिष्यत । संपरिभ्यां करोतौ

ञभ्य उः' इत्युप्रत्यये उकारस्यार्धधातुकत्वात् 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे
रपरे उकारस्यापि गुणे कृते 'करोति' इति । कुरुतः । कृधातोर्लटि, लटो लः स्थाने तस्प्र-
त्यये 'तनादिकृञभ्य उः' इत्युविकरणे ऋकारस्य गुणे रपरे च कृते 'कस्तस्' इति जाते
'अत उत्सार्वधातुके' इत्यनेन कृञोऽकारस्योत्त्वे च कृते 'कुरुतः' । इति सिद्ध्यति ।
न भकुर्छुराम् । 'वोरूपधायाः' इत्यतः उपधाया इति दीर्घ इति चानुवर्तते । तदाह—
भस्येत्यादिना । नित्यं करोतेरिति । 'उतश्च प्रत्ययात्' इत्यनुवर्तते, 'लोपश्चास्यान्य-
तरस्याम्' इत्यतो लोप इति, म्वोरिति च । तदाह—करोतेरिति । कुर्वः । कृधातोर्लटि,
लटो लः स्थाने वसादेशे 'तनादिकृञभ्य उः' इत्युविकरणे तस्य आर्धधातुकत्वात्
'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति ऋकारस्य गुणे रपरे च कृते 'अत उत्सार्वधातुके'
इत्यनेनाकारस्य उकारे 'लोपश्चास्यान्यतरस्याम्' इत्यनेन उकारस्य लोपविकल्पे
प्राप्ते 'नित्यं करोतेः' इत्यनेन नित्यलोपे कृते सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गे च कृते
'कुर्वः' इति सिद्ध्यति । कुरुते । कृधातोर्लटि लटो लः स्थाने आत्मनेपदे तादेशे 'तना-
दिकृञभ्य उः' इत्युप्रत्यये गुणे रपरे च कृते अकारस्योत्त्वे टेरेत्त्वे च कृते 'कुरुते' इति
सिद्ध्यति । ये चेति । 'लोपश्चास्यान्यतरस्याम्' इत्यतो लोप इति, अस्येति चानु-
वर्तते । अस्येत्यनेन पूर्वसूत्रे उत इत्युपात्तः परामृश्यते । 'नित्यं करोतेः' इत्यतः
करोतेरित्यनुवर्तते । अङ्गाच्चित्सः प्रत्ययो यकारेण विशेष्यते । तदादिविधिः । तदाह—
कृञ् उलोप इति । कुर्यात् । कृधातोर्विधिलिङि, लिङो लः स्थाने तिपि अनुबन्धलोपे
'तनादिकृञभ्य उः' इति उविकरणे तस्य आर्धधातुकत्वात् गुणे रपरे च कृते 'करु ति'
इति जाते 'अत उत्सार्वधातुके' इति ककारोत्तरवर्तिनः अकारस्य उकारे यासुडागमे
उटावितौ 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' इति सलोपे 'कुरु या त्' इति जाते 'ये च'
इत्यनेन उकारस्य लोपे च कृते 'कुर्यात्' इति । अकार्षीत् । कृधातोर्लुङि लुङो लः
स्थाने तिपि 'हलन्त्यम्' इति तिपः पकारस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते 'चिल लुङि'
इति च्लौ 'च्लेः सिच्' इति सिजादेशे इचावितौ, सिचः सस्य आर्धधातुकत्वादिति

कित्-ङित् प्रत्ययके परे । न भकु—मसंबक और 'कुर्, लूर्'की उपधाको दीर्घ नहीं हो ।
नित्यं-'कृ' धातुके प्रत्ययसम्बन्धी उकारका लोप हो, यकारादि प्रत्ययके परे । संपरि-'सम्'

भूषणे । ६।१।१३७। समवाये च । ६।१।१३८। आभ्यां परस्य करोतेः सुट् भूषणे, सङ्घाते चार्थे । संस्करोति । अलङ्करोतीत्यर्थः । संस्कुर्वन्ति । सङ्घीभवन्तीत्यर्थः । संपूर्वस्य कचिदभूषणेऽपि सुट् । 'संस्कृतं भक्षाः' इति ज्ञापकात् । उपात्प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेषु च । ६।१।१३९। कृञः सुट् स्याच्चात्प्रागुक्तयोरर्थयोः । प्रतियत्नो-गुणाधानम् । विकृतमेव वैकृतं-विकारः । वाक्याध्याहारः-आकाङ्क्षितैकदेशपूरणम् । उपस्कृता कन्या । उपस्कृता ब्राह्मणाः । एयोदकस्योपस्कुरुते । उपस्कृतं भुङ्क्ते । उपस्कृतं ब्रूते ।

(अथ द्वावनुदात्तौ) वनु याचने । वनुते । ववने । मनु अवबोधने । मनुते । मेने । मनिता । मनिष्यते । मनुताम् । अमनुत । मन्वीत । मनिषीष्ट ॥ इति तनादिः ॥ ८ ॥

प्राप्ते 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति निषिद्धे 'इतश्च' इति तिपस्तेरिकारस्य लोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इतीडागमे 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ सस्य पत्वे च कृते, अङ्गस्य अडागमे अनुबन्धलोपे टित्त्वादङ्गस्याद्यावयवे जाते 'अकार्पात्' इति सिद्ध्यति । अकृत । कृधातोर्लुङि लः स्थाने आत्मनेपदे तादेशे अङ्गस्य अडागमे च कृते च्लौ, च्लेः सिजादेशे च कृते इचावितौ 'उश्च' इति सिचः कित्त्वादङ्गुणाभावे 'ह्रस्वादङ्गात्' इति स्रलोपे च कृते 'अकृत' इति । सम्परिभ्यामिति । अत्र सूत्रे एवं 'समवाये च' इत्यत्र च 'सुट्कात्पूर्वः' इत्यतः 'नित्यं करोतेः' इत्यतश्च तदनुबृत्तेरिति भावः । संस्करोति । इत्यत्र संपूर्वस्य कृधातोः 'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' इति सुटि, उटावितौ टित्त्वाद्यावयवे च जाते 'संस्करोति' इति सिद्ध्यति । उपस्कृता कन्येति । उपेत्युपसर्गपूर्वकात् कृधातोः क्तप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे स्त्रीत्वविवक्षायां टापि ततः प्रकृतसूत्रेण सुटि च कृते उटावितौ 'उपरकृता कन्या' इति 'अलङ्कृता' इति हि तस्यार्थः । एवं सर्वत्र सुटि कृते ज्ञेयम् । 'उपस्कृता ब्राह्मणाः' सङ्घीभूता इत्यर्थः । 'एयोदकस्योपस्कुरुते' गुणमाधत्ते । 'उपस्कृतं भुङ्क्ते' विकृतमित्यर्थः । 'उपस्कृतं ब्रूते' वाक्याध्याहारेण ब्रूते इत्यर्थः । मन्वीत । मनुधातोर्विधिलिङि लिङो लः स्थाने तादेशे 'तनादिकृष्ण्य उः' इत्यविकरणे 'लिङः सीयुट्' इति सीयुटि उटावितौ 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' इति सलोपे 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे च कृते मन् उ ई त इति जाते 'इको यणचि' इति यणि च कृते 'मन्वीत' इति सिद्ध्यति । इति तनादयः ।

और 'परि' पूर्वक 'कृ' धातुको 'सुट्' हो, भूषण और संघात अर्थमें । उपात्—'उप' उपसर्गसे पर 'कृ' धातुको 'सुट्' हो, प्रतियत्नादि अर्थमें, चकारात् भूषण और संघात अर्थमें । इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें तनादिप्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ क्रयादिप्रकरणम्

डुक्रीञ् इव्यविनिमये । क्रयादिभ्यः श्रा । ३।१।८१ । क्रयादिभ्यः श्ना स्यात्, कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे । शपोऽपवादः । क्रीणाति । 'ई हल्यघोः' । क्रीणीतः । 'श्नाभ्यस्तयोरातः' । क्रीणन्ति । क्रीणासि । क्रीणीथः । क्रीणीथ । क्रीणामि । क्रीणीवः । क्रीणीमः । क्रीणीते । क्रीणाते । क्रीणते । क्रीणीषे । क्रीणाथे । क्रीणीध्वे । क्रीणे । क्रीणीवहे । क्रीणीमहे । चिक्राय । चिक्रियतुः । चिक्रियुः । चिक्रयिथ । चिक्रेथ । चिक्रिये । क्रेता । क्रेष्यति । क्रेष्यते । क्रीणातु । क्रीणीतात् । क्रीणीताम् ॥ क्रीणीताम् । क्रीणाताम् । क्रीणताम् ॥ क्रीणीयात् । क्रीणीत । क्रीयात् । क्रेषीष्ट । अक्रेषीत् । अक्रेष्ट । अक्रेष्यत् । अक्रेष्यत । प्रीञ् तर्पणे, कान्तौ च । प्रीणाति । प्रीणीते । श्रीञ् पाके । श्रीणाति । श्रीणीते । मीञ् हिंसायाम् । प्रमीणाति । प्रमी-

क्रयादिभ्यः श्नेति । कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे क्रयादिभ्यः श्नाप्रत्ययः स्यात् स्वार्थे । क्रीणाति । ङकार-उकार-अकारेत्संज्ञकक्रीधातोर्लटि, लङो लः स्थाने तिपि, शपि प्राप्ते तन्वाधित्वा 'क्रयादिभ्यः श्ना' इति श्नाप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे शित्वात्सार्वधातुकत्वे क्रीधातुगतस्य ईकारस्य 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे प्राप्ते किन्तु श्नाप्रत्ययस्य अपित्सार्वधातुकत्वेन 'सार्वधातुकमपित्' इति डित्वात् 'विक्रिति च' इति निषेधे 'अट्कुप्वाङ्नुम्वयवेऽपि' इति नकारस्य णत्वे च कृते 'क्रीणाति' इति । चिक्राय । क्रीधातोर्लटि लिटो लः स्थाने तिपि, तिपः स्थाने 'परस्मैपदानाम्' इति णलि कृते अनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायां 'ह्रस्वः' इत्यनेन ह्रस्वे च कृते 'हलादिः शेषः' इति लोपे, चुत्वे वृद्धौ 'एचोऽयवा-यावः' इत्यायादेशे च 'चिक्राय' इति सिद्धयति । चिक्रिये । क्रीधातोर्लटि लिटो लः स्थाने आत्मनेपदे तादेशे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायां 'हलादिः शेषः' इत्यादिहलः शेषे 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'कुहोश्चुः' इति चुत्वे तप्रत्ययस्यैशादेशे च कृते 'अचि श्नुधातु' इति इयङि 'चिक्रिये' इति सिद्धयति । अक्रेषीत् । क्रीधातोर्लुङि लुङो लः स्थाने तिपि, अनुबन्धलोपे अडागमे च कृते, च्लौ, च्लेः सिचि इचावितौ सस्य षत्वे 'इतश्च' इति तिप इलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति तिपस्तकारस्येडागमे च कृते 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ 'अक्रेषीत्' इति सिद्धयति । अक्रेष्ट । क्रीधातोर्लुङि, लुङो लः स्थाने आत्मनेपदे तप्रत्यये; च्लौ च्लेः सिचि च कृते इचावितौ गुणे सस्य षत्वे ष्टुत्वे अडागमे च कृते 'अक्रेष्ट' इति रूपम् । प्रमीणाति— प्रोपसर्गपूर्वकात् अकारेत्सञ्ज्ञकमीधातोर्लटि लटो लः स्थाने तिपि,

क्रयादि—क्रयादि गणपठित धातुओंसे 'श्ना' प्रत्यय हो, कर्त्रर्थक सार्वधातुकके परे ।

णीते । 'हिनुमीना' इति णत्वम् । 'मीनाती'त्यात्वम् । ममौ । मिम्यतुः । ममिथ । ममाथ । मिम्ये । माता । मास्यति । मीयात् । मासीष्ट । अमासीत् । अमासिष्टाम् । अमास्त । षिञ् बन्धने । सिनाति । सिनीते । सिषाय । सिष्ये । सेता ॥ स्कुञ् आप्रवणे । स्तन्भु-स्तम्भु-स्कम्भु-स्कुम्भु-स्कुञ्भ्यः श्नुश्च । ३।१।८२। स्तन्वादिभ्यः श्नुः स्यात् । चात्-श्ना । स्कुनोति । स्कुनुते । स्कुनाति । स्कुनीते । चुस्काव । चुस्कुवे । स्कोता । अस्कौपीत् । अस्कोष्ट । स्तन्वाद्यश्चत्वारः सौत्राः । सर्वे रोधनार्थाः परस्मैपदिनः । हलः श्नः शानज्झौ । ३।१।८३। हलः परस्य श्नः

अनुबन्धलोपे श्नाप्रत्यये शस्येत्सञ्ज्ञायां लोपे च कृते 'हिनुमीना' इति नस्य णत्वे 'प्रमीणाति' इति सिद्ध्यति । ममौ—मीधातोर्लिटि लिटो लः स्थाने तिपि, तिपो णलादेशे च कृते 'मीनातिमिनोतिदीङां त्यपि च' इति मीधातोरात्वे तस्य द्वित्वेऽभ्यास-सञ्ज्ञायामभ्यासकार्ये ह्रस्वे च कृते 'म मा अ' इति जाते 'आत औ णलः' इति णलोऽकारस्य औकारे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'ममौ' इति रूपम् । स्तन्भुस्तन्भुस्कम्बिति । एभ्यः श्नुप्रत्ययः स्यात्, चात् श्नाप्रत्ययोऽपीति सूत्रार्थः । अत्र सूत्रे 'क्रयादिभ्यः श्ना' इत्यस्मात् 'श्ना' इत्यनुवर्तते इति भावः । स्कुनोति । जकारेत्सञ्ज्ञकस्कुधातोर्लिटि लिटो लः स्थाने तिपि, 'स्तन्भुस्तन्भुस्कम्भुस्कुम्भुस्कुञ्भ्यः श्नुश्च' इति श्नुप्रत्यये, शस्येत्सञ्ज्ञायां लोपे च कृते, तिपः सार्वधातुकत्वात् 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'स्कुनोति' इति रूपम् । पक्षे—'क्रयादिभ्यः श्ना' इति श्नाप्रत्यये 'स्कुनाति' इति । स्कुनुते । स्कुधातोर्लिटि, लिटो लः स्थाने आत्मनेपदे तप्रत्यये तस्य कर्त्रर्थकसार्वधातुकत्वात्तस्मिन् परे श्नुप्रत्यये च कृते अनुबन्धलोपे, ङित्वाद् गुणाभावे ढेरत्वे च 'स्कुनुते' इति । श्नाप्रत्यये तु 'ई ह्रस्वघोः' इतीत्वे 'स्कुनीते' इति । अस्कौपीत् । स्कुधातोर्लुङि, लुङो लः स्थाने तिपि, अनुबन्धलोपे, अडागमे च कृते, 'स्लि लुङि' इति च्लौ, च्लेः सिचि च कृते, इचावितौ तिप इलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इत्यनेन ईडागमे सस्य पत्वे 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ 'अस्कौपीत्' इति । अस्कोष्ट । आत्मनेपदे तु स्कुधातोर्लुङि, लुङो लः स्थाने तप्रत्यये, अडागमे च कृते च्लौ, च्लेः सिचि च कृते इचावितौ गुणे सस्य पत्वे ण्डुत्वे च विहिते 'अस्कोष्ट' इति । हलः श्नः इति । स्तमान । स्तन्भुधातोर्लोटि, लः स्थाने मध्यमपुरुषैकवचने सिपि, श्नाप्रत्यये 'अनिदितां हल उपधायाः ङिति' इति नलोपे 'सेह्यपिच' इति लोटः सेहिभावे 'हलः श्नः शानज्झौ' इति शानजादेशेऽनुबन्धलोपे 'अतो

स्तन्भु—स्तन्वादि धातुओंसे 'श्नु' प्रत्यय हो, चकारात्—'श्ना' प्रत्यय भी हो ।

हलः—'हल्' से पर 'श्ना' के स्थानमें 'शानच्' आदेश हो, 'हि' के परे ।

शानजादेशः स्यादौ परे । स्तभान् । जृस्तन्भु-मुचु-ग्लुचु-मुचु-ग्लुचु-ग्लुचु-
 श्विभ्यश्च । ३।१।५८। एभ्यः च्लेरङ् वा । व्यष्टभत् । अस्तम्भीत् । युज् वन्धने ।
 युनाति । युनीते । योता । कनूज् शब्दे । कनूनाति । कनूनीते । कनविता । दूज्
 हिंसायाम् । दूणाति । दूणीते । पूज् पवने । प्वादीनां ह्रस्वः । ७।३।८०। पूज् लूज्
 स्तूज् कृज् वृज् धूज् शृ पृ वृ भृ दृ जृ ऋ धृ नृ कृ ऋ गृ ज्या री ली व्ली प्ली
 एषां चतुर्विंशतेर्ह्रस्वः स्यात् शिति । पुनाति । पुनीते । पविता । लूज् छेदने ।
 लुनाति । लुनीते । स्तूज् आच्छादने । स्तृणाति । स्तृणीते । तस्तार । तस्तरतुः ।
 तस्तरे । स्तरिता । स्तरीता । स्तृणीयात् । स्तृणीत । 'ऋत इद्धातोः' । स्तीर्यात् ।
 स्तरिषीष्ट । स्तीर्षीष्ट ॥ 'सिचि च परस्मैषदेष्टु' । अस्तारीत् । अस्तारिष्टाम् ।
 अस्तारिषुः । अस्तरिष्ट । अस्तीर्ष्ट । कृज् हिंसायाम् । कृणाति । कृणीते । चकार ।

हेः' इति हेर्लुकि च कृते 'स्तभान्' इति रूपम् । जृस्तन्भु । 'च्लेः सिच्' इत्यतः च्ले-
 रिति, 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' इत्यतः अङिति, 'इरितो वा' इत्यतो वेति चानु-
 वर्तते तदाह-एभ्यश्च्लेरङ् वेति । जृप् चयोहानौ, स्तन्भुः सौत्रो धातुः, मुचुग्लुचू गत्यर्थौ,
 मुचु, ग्लुचु स्तेयकरणे, ग्लुचु गतौ, इत्येतेभ्य इत्यर्थः । व्यष्टभत् । विपूर्वकत्वात् स्तन्भुधा-
 तोर्लुङि, लः स्थाने तिपि, अनुबन्धलोपे अडागमे च कृते, च्लौ, च्लेः सिचि प्राप्ते
 तम्बाधित्वा 'जृस्तन्भुमुचुग्लुचुमुचुग्लुचुग्लुचुश्विभ्यश्च' इति च्लेरङि कृते, 'अनिदि-
 ताम्' इति नलोपे 'स्तन्भेः' इति सस्य षत्वे ष्टुत्वे कृते यणि तिप इलोपे 'व्यष्टभत्'
 इति । अङोऽभावे-च्लेः सिचि, इचावितौ इडागमे कृते 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इतीडा-
 गमे च कृते 'इट ईटि' इति सलोपे कृते अडागमे च 'अस्तम्भीत्' इति सिद्धयति ।
 प्वादीनां ह्रस्व इति । 'ष्ठिवुक्लमुचमाम्' इत्यतः शितीत्यनुवर्तते इत्यभिप्रेत्य शेषं
 पूरयति—शिति परे इति । पुनाति । पवनार्थकजकारेत्संज्ञक पू इत्यस्माद्धातोर्लुङि,
 तिपि, सार्धधातुकसंज्ञायां शपि प्राप्ते तम्प्रवाध्य शनाप्रत्यये शस्येत्संज्ञायां लोपे च
 कृते, 'प्वादीनां ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'पुनाति' इति सिद्धयति । स्तीर्षीष्ट । 'स्तृ'
 इत्यस्माद्धातोर्विधिलिङि, लः स्थाने आत्मनेपदे तप्रत्यये सीयुडागमे उटावितौ 'लोपो
 व्योर्वलि' इति यलोपे 'सृट् तिथोः' इति सुडागमे उटावितौ 'लिङ्सिचोरात्मनेपदेष्टु'
 इति विकल्पेनेडागमे गुणे 'वतो वा' इति वा दीर्घे प्राप्ते 'न लिङि' इति निषेधे
 द्वयोः सकारयोः षत्वे ष्टुत्वे च विहिते 'स्तरिषीष्ट' इति । इडभावे—'ऋत
 इद्धातोः' इतीच्चे 'हलि च' इति दीर्घे च कृते 'उश्च' इति क्तित्राद् गुणाभावे 'स्ती-

जृस्त—ज् आदि धातुओंसे पर 'चि' को 'अङ्' आदेश हो, विकल्पसे ।

प्वादी—पूजादि धातुओंको ह्रस्व हो, 'शित्' प्रत्ययके परे ।

चक्रे । वृञ् वरयो । वृणाति । वृणीते । ववार । ववरे । वरिता । वरीता । 'उदो-
 ष्ठ्युत्त्वम् । वूयात् । वरिषिष्ट । वूर्षीष्ट । अवारीत् । अवारिष्टाम् । अवरिष्ट ।
 अवरीष्ट । अवूर्ष्ट । धूञ् कम्पने । धुनाति । धुनीते । दुधविय । दुधोय । दुधुविव ।
 धोता । धविता । 'स्तुसुधूञ्भ्यः परस्मैपदेषु' । अधावीत् । अधविष्ट । अधोष्ट ।
 ग्रह उपादाने । गृह्णाति । गृह्णीते । जग्राह । जगृहे । ग्रहोऽलिटि दीर्घः । ७।२।

पीष्ट' इति च सिद्ध्यति । वरीता । 'वृ' धातोर्लुटि लः स्थाने तिपि, तास् प्रत्यये, तिषे
 ङादेशे, डित्वाट्टिलोपे, 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इतीडागमे 'सार्वधातुकार्धधातुक-
 योः' इति गुणे 'वृतो वा' इति विकल्पेन दीर्घे 'वरीता' इति । दीर्घाभावे—'वरिता'
 इति । वूयात् । वृधातोराशीर्लिङि, तिपि, अनुबन्धलोपे 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च'
 इति यासुडागमे उटावितौ 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति सलोपे यासुटः कित्वाद् गु-
 णाभावे 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' इत्युत्वे 'हलि च' इति दीर्घे च विहिते, 'वूयात्' इति
 सिद्ध्यति । अवारीत् । 'वृ' इत्यस्माद्धातोर्लुङि, लः स्थाने तिपि, इकारपकारयोरित्सं-
 ज्ञायां लोपे च कृतेऽडागमे 'च्लि लुङि' इति च्लौ, च्लेः सिजादेशे च कृते इचावितौ
 न्योलोपे च सिचः सकारस्य आर्धधातुकत्वात् 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इत्यनेन
 इडागमे तिप् इलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इत्यनेन ईडागमे च कृते 'इट् ईटि' इति
 सलोपे 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ सवर्णदीर्घे च कृते 'अवारीत्' इति ।
 धुनाति । जकारेत्संज्ञक 'धू' इत्यस्माद्धातोर्लुटि लः स्थाने तिपि अनुबन्धलोपे सार्व-
 धातुकसंज्ञायां, शपि प्राप्ते तम्बाधित्वा 'क्रयादिभ्यः श्ना' इति शनाप्रत्यये,
 शस्येत्संज्ञायां लोपे च, कृते 'प्वादीनां ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'धुनाति' इति सिद्ध्यति ।
 अधविष्ट । 'धू' इत्यस्माद्धातोर्लुङि, आत्मनेपदे तप्रत्यये अडागमे 'च्लि लुङि' इति
 च्लौ, च्लेः सिजादेशे इचावितौ तयोलोपे च 'स्वरतिसूतिसूयति धूजुदितो वा' इति
 विकल्पेनेडागमे गुणे अवादेशे शस्य षत्वे षुत्वे च कृते 'अधविष्ट' इति सिद्ध्यति ।
 इडभावे तु—अधोष्ट इति । गृह्णाति । उपादानार्थक 'ग्रह' इत्यस्माद्धातोर्लुटि, लटो लः
 स्थाने तिपि, अनुबन्धलोपे 'सार्वधातुकसंज्ञायां, शपि प्राप्ते तम्बाधित्वा शनाप्रत्यये,
 शस्येत्संज्ञायां लोपे च, जाते शित्वात्तस्य सार्वधातुकसंज्ञायां 'सार्वधातुकमपित'
 इति डित्वात् 'ग्रहिज्यावयिन्यधिवष्टिवचितिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां विडति च' इति
 सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे तस्य णत्वे च कृते 'गृह्णाति' इति रूपं
 सिद्ध्यति । ग्रहोऽलिटि दीर्घ इति । ग्रह इति दिग्योगे पञ्चमी । 'आर्धधातुकस्येड्वला-
 देः' इत्यतः इडित्यनुवृत्तं षष्ठ्यन्तं विपरिणम्यते । 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इत्यतः

ग्रहोऽलिटि—एकाच् 'ग्रह्' धातुसे विहित 'इट्' को दीर्घ हो, 'लिट्' में छोड़कर ।

३७। एकाचो ग्रहो विहितस्थेऽतो दीर्घो, न तु लिटि । ग्रहीता । गृह्णातु । गृहाण ।
गृह्यात् । ग्रहीषीष्ट । 'ह्यन्ते'ति न वृद्धिः । अग्रहीत् । अग्रहीष्टाम् । अग्रहीष्ट ।
अग्रहीषाताम् । इत्युभयपदिनः ।

अथ परस्मैपदिनः ।

कुष निष्कर्षे । कुष्णाति । कोषिता । निरःकुषः । ७।२।४६। निरुपपदात् कुषो
बलादेराद्धधातुकस्येड् वा स्यात् । निष्कोषिता । निष्कोष्टा । निरकोषीत् । 'शल इगु-
पधा'दिति कसः । निरकुक्षत् । अश्न भोजने । अश्नाति । आश । अशिता । अशि-
ष्यति । अश्नातु । अशान । ज्ञा अवबोधने । 'ज्ञाजनोरि'ति जादेशः । जानाति ।
जज्ञौ । 'वाऽन्यस्ये'त्येत्वम् । ज्ञेयात् । ज्ञायात् । पृ पालनपूरणयोः । पृणाति । शृ

एकाच इति च तदाह —एकाच इत्यादि । ग्रहीता । ग्रहधातोर्लुटि, लः स्थाने तिपि,
तासप्रत्यये, तिपो डादेशे, डित्वाट्टिलोपे, 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इतीडागमे 'ग्रहो-
ऽलिटि दीर्घः' इति इटो दीर्घे 'ग्रहीता' इति सिद्धयति । गृहाण । ग्रहधातोर्लोटि,
मध्यमपुरुषैकवचने सिपि, अनुबन्धलोपे 'सेर्हपिच' इति ह्यादेशे 'क्रयादिभ्यः शना'
इति शनाप्रत्यये अनुबन्धलोपे शित्वात्सार्वधातुकत्वे डित्त्वे सम्प्रसारणे च कृते 'हलः
शनः शानञ्झौ' इति शानजादेशे शस्येत्संज्ञायां लोपे च जाते नस्य णत्वे 'अतो हेः'
इति हेर्लुकि च कृते 'गृहाण' इति सिद्धयति । अग्रहीत् । ग्रहधातोर्लुङि लः स्थाने
तिपि, अनुबन्धलोपे अडागमे च कृते, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, च्लेः सिजादेशे,
इचावितौ तयोर्लोपि च कृते 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इतीडागमे तिपः इकारस्य लोपे
तस्यापृक्तसंज्ञायाम् 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इत्यनेन ईडागमे च कृते 'इट ईटि' इति
सलोपे सिजलोपस्य सिद्धत्वात्सवर्णदीर्घे 'वदव्रजहलन्तस्याचः' इति प्राप्तायाः वृद्धेः
'नेटि' इत्यनेन निषेधे 'अतो हलादेर्लघोः' इति वृद्धौ प्राप्तायाम् 'ह्रस्वन्तञ्चणश्चस-
जागृणिश्च्येदिताम्' इत्यनेन निषिद्धे 'अग्रहीत्' इति सिद्धयति ।

निरःकुष इति । 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इत्यनुवर्तते । 'स्वरतिसूति' इत्य-
तो वेति च । तदाह —निरुपपदादिति । निष्कोषितेति । निर्वृत्तात्कुषधातोर्लुटितिपि तासि
'लुटः प्रथमस्य' इति डादेशे डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेलोपे 'निरः कुष' इति पान्क्तिक
इटि 'पुगन्त' इति लघूपधगुणे निरो रस्य विसर्गे 'इदुदुपधस्य' इति विसर्गस्य षत्वे
'निष्कोषिता' इति रूपम् । यदा इडागमो न स्यात्तदा 'निष्कोष्-ता' इत्यवस्थायां
प्लुत्वे 'निष्कोष्टा' इति द्वितीयं रूपम् । निरकोषीत् । निर + अ + कुष + स् + ई + त्
इत्यवस्थायां सिचः 'निरः कुषः' इति इडागमे 'इट ईटि' इति सिचो लोपे सवर्णे

निरः—'निर्' उपसर्गकं 'कुष' धातुसे पर बलादि आर्धधातुकको 'इट्' का आगम

हिंसायाम् । शृणाति । 'शृष्ट्रां ह्रस्वो वे'ति ह्रस्वपक्षे यण् । शश्रतुः । शशरतुः ।
 दृ विदारणे । दृणाति । दद्रतुः । ददरतुः । जृ वयोहानौ । जृणाति । मुष स्तेये ।
 मुष्णाति । मोषिता ॥ पुष पुष्टौ । पुष्णाति । पोषिता । बन्ध बन्धने । बन्धाति ।
 ववन्ध । वबन्धथ । वबन्द । बन्द्वा । भन्त्स्यति । अभान्त्सीत् । अवान्धाम् ।
 अभान्त्सुः । क्लिशू विवाधने । क्लिशनाति । क्लेशिता । क्लेश्ठा । अक्लेशीत् ।
 अक्लिक्षत् । इति परस्मैपदिनः ।

अथात्मनेपदिनः ।

वृङ् संभक्तौ । वृणीते । वत्रे । वृष्टे । वृष्ट्वे । वरिता । वरीता । अवरिष्ट ।
 अवरीष्ट । अवृत ॥ इति क्रयादिः ॥

अथ चुरादिप्रकरणम्

चुर स्तेये । सत्यापपाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्ण-

दीर्घे 'पुगन्त' इति गुणे 'निरकोधीत्' इति रूपम् । 'निरः कुपः' अनेनेङ् विकल्पविधाना-
 द्वा इडागमो न स्यात्तदा 'शल इगुपधा' इति कस आदेशे 'पढोः कः सि' इति
 पस्य कत्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति कात्परस्य सकारस्य पत्वे उभयोः संयोगेन कत्वे
 'निरङ्कुचत्' इति रूपम् । इति क्रयादयः ।

चुर स्तेय इति । रेफादकार उच्चारणार्थः, नत्वित्संज्ञकः, प्रयोजनाभावात् । सत्यापेति ।
 सत्याप पाश रूप वीणा तूल श्लोक सेना लोमन् त्वच वर्मन् वर्ण चूर्ण चुरादयः एषां

हो, विकल्पसे । क्लिशनाति—'शात्' इति सूत्रसे यहाँ श्चुत्वका निषेध होता है ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें क्रयादि प्रकरण समाप्त हुआ ।

सत्याप—'सत्याप' आदि शब्दोंसे तथा चुरादि गणपठित धातुओंसे 'णिच्' प्रत्यय हो ।

नोटः—इस सूत्रमें—सत्याप, पाश, रूप, वीणा, तूल, श्लोक, सेना, लोमन्, त्वच्, वर्मन्, वर्ण, चूर्ण, चुरादि—इन सभी का द्वन्द्वसमास समझना चाहिये । 'णिच्' के परे निम्न कार्य होते हैंः—

(१) धातुके उपधा अकार और अन्त्य स्वरकी वृद्धि होती है तथा उपधा लघु स्वरको गुण हो जाता है । (२) पूर्ववर्ती (अजन्त धातुके) अकारका लोप हो जाता है ।

(३) 'कत्' का 'कीर्त' और 'क्लप्' का 'कल्प्' हो जाता है ।

चूर्णचुरादिभ्यो णिच् । ३।१।२५। एभ्यो णिच् स्यात् स्वार्थे । 'पुगन्ते'ति गुणः । 'सनाद्यन्ता' इति धातुत्वम् । तिप्शवादि । गुणायादेशौ । चोरयति । णिच्श्च १।३।७४। णिजन्तादात्मनेपदं स्यात् कर्तृगामिति क्रियाफले । चोरयते । चोरयामास । चोरयिता । चोर्यात् । चोरयिषीष्ट । 'णिश्री'ति चङ् । 'णौ चङी'ति ह्रस्वः । 'चङी'ति द्वित्वम् । 'हलादिः शेषः' । 'दीर्घो लघो' रित्यभ्यासस्य दीर्घः । अचू-

द्वन्धात्पञ्चमी । तदाह —एभ्यो णिच् स्यादिति । चोरयति । चूर्धातोः 'वर्तमाने लट्' इति लटि प्राप्ते तं बाधित्वा 'सत्यापपाशरूपवीणा०' इति चुरादित्वात् स्वार्थे णिचि, णचयोरित्संज्ञायां लोपे च 'चूर् इ' इत्यत्र णिच् इकारस्य 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकत्वे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति चुर उपधाया गुणे 'चोरि' इति जाते 'सनाद्यन्ता' धातवः इति धातुसंज्ञायाम् धातुत्वाद्धटि अनुबन्धलोपे लः स्थाने तिपि पकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकसंज्ञायाम् 'कर्तरि शप्' इति शपि शयोरित्संज्ञायां लोपे च शित्वात्सार्वधातुकत्वे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'चोरे अ ति' जाते 'एचोऽयवायावः' इत्यादेशे मिलित्वा 'चोरयति' इति रूपम् । णिच्श्चेति । 'अनुदात्तङितः' इत्यत आत्मनेपदमिति 'स्वरित्तजितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' इति चानुवर्तते । प्रत्ययग्रहणपरिभाषया णिजन्तादिति लभ्यते । तदाह —णिजन्तादित्यादिना । चोरयामास चूर्धातोः स्वार्थे णिचि, धातुसंज्ञायाम् 'परोच्चे लिट्' इति लिटि 'कास्यनेकाच् आम्बक्तव्यः' इत्यामि तस्य आर्धधातुकत्वे तत्परे चोरिधातोर्गुणे अयादेशे च कृते 'आमः' इति लिटो लुकि 'कृच्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परासोऽनुप्रयोगे कृते 'चोरयाम् असु लिट्' इति जाते लिटो लः स्थाने तिपि तिपो णलि द्वित्वे अभ्यासत्वे अभ्यासकार्ये संयोगे च कृते तत्सिद्धिः । चोरयिषीष्ट । चोरीति पूर्ववत्प्रसाध्य तस्य धातुत्वात् आशिषि लिङ् आत्मनेपदे ते आर्धधातुकत्वे सीयुटि उटि गते टित्वादाद्यावयवे 'चोरि सी त' इति भूते तस्य सुडागमे सीयुट् इडागमे प्रकृतेर्गुणे अयादेशे सीयुटस्सस्य पत्वे तस्य षटुत्वे च रूपम् । अचूचुरत् । चोरीति पूर्ववत्प्रसाध्य तस्य धातुत्वात् लुङ्स्तिपि अनुबन्धलोपे 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे तस्य सार्वधातुकत्वे शप् बाधित्वा 'च्लि लुङि' इति च्लौ 'णिश्रिद्रुसुभ्यः कर्तरि चङ्' इति च्लेः चङि अनुबन्धलोपे 'णेर-निटि' इति णिलोपे स्थानिवद्भावेन 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' इति चोर उपधाया ह्रस्वे 'चूर् अ त्' इति जाते 'चङि' इति द्वित्वे अभ्याससंज्ञायाम् अभ्यासकार्ये च कृते 'सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनगलोपे' इति सन्वद्भावे 'दीर्घो लघोः' इत्याभ्यासोकारस्य दीर्घे अङ्गस्य अडागमे च 'अचूचुरत्' इति । चिति स्मृत्याम् । इदित्वान्नुमि णिचि

णिचश्च—णिजन्तसे आत्मनेपद हो, कर्तृगामो क्रियाफल में ।

चुरत् । चिति स्मृत्याम् । चिन्तयति । अचिचिन्तत् । 'चिन्ते'ति पठितव्ये इदित्करणं णिचः पाक्षिकत्वे लिङ्गम् । तेन 'चिन्त्यादि'त्यादौ नलोपो न । चिन्तति । चिन्तेदित्यादि । यत्रि संकोचे । यन्त्रयति । 'यन्त्रे'ति पठितुं शक्यम् । यत्तु 'इदित्करणाद्यन्त्रती'ति माधवेनोक्तं, तच्चिन्त्यम् । एवं-कुद्रि अनृतभाषणे । तत्रि कुटुम्बधारणे । मत्रि गुप्तपरिभाषणे । तन्त्रयते । मन्त्रयते । (एतौ आत्मनेपदिनौ) । स्फुडि परिहासे । स्फुण्डयति । पीड अवगाहे । भ्राजभासभाषदीपजीवमीलपीडा-

तस्मात् 'सनाद्यन्ता' इति धातुत्वे लटि तिपि शपि गुणेऽयादेशे 'चिन्तयति' इत्यस्य निष्पत्तिः । 'णिचश्च' इति कर्तृगामिनि फले तु 'चिन्तयते' इति प्रयोगसिद्धिः । अचिचिन्तत् । चिति धातोर्नुमि णिचि लुङि 'णिश्चिद्रुचुभ्य' इति चङि 'चङि' इति द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे हलादिः शेषत्वे, अङ्गस्याडागमे 'अ-चि + चिन्त् + अ + त्' इति भूते 'अचिचिन्तत्' इति रूपं प्रभवति । 'णिचश्च' इति कर्तृगामिनि फले तु 'अचिचिन्तत्' इत्येव रूपं ज्ञेयम् । अवशिष्टरूपाणि—चिन्तयामास-मासे-बभूव-चिचिन्त । चिन्तिता-चिन्तयिता । चिन्तयिष्यति—चिन्तिष्यति । चिन्तयतु । अचिन्तयत् । चिन्तयेत् । चिन्त्यात्—अचिन्तिष्यत्—अचिन्तयिष्यत् । इति बोध्यानि । चिन्तेति पठितव्ये । चिति इति इदित्करणं मास्तु प्रक्रियालाघवात् 'चिन्त' इत्यस्यैव उचितत्वात् । न च नलोपार्थं तस्यावश्यकता । णौ द्वित्वकिञ्चयोरभावेन तस्याप्रवृत्तेः । नापि आशीर्लिङि तप्राप्तिः चुरादिणिचो नित्यत्वेन 'आयादय' इत्यस्याभावे लोपस्याप्राप्तत्वादिति भावः । एवं चेदित्करणं व्यर्थं सत् इदितां णिचः पाक्षिकत्वं ज्ञापयति । इति वाक्यान्तरकल्पनया तन्त्रति-मन्त्रति-प्रयोगाणां सिद्धिः प्रभवति । यत्रि = संकोचे । यन्त्रयति—यन्त्रति । यन्त्रयामास-ययन्त्र । यन्त्रयिता-यन्त्रिता । यन्त्रयिष्यति-यन्त्रिष्यति । यन्त्रयतु-यन्त्रतु-अयन्त्रयत्-अयन्त्रत् । यन्त्रयेत्-यन्त्रेत्-यन्त्र्यात् । अययन्त्रत् । अयन्त्रीत् । अयन्त्रयिष्यत्-अयन्त्रिष्यत् । कुद्रि = अनृतभाषणे । कुन्द्रयति । कुन्द्रति । कुन्द्रयामास । चुकुन्द्र । कुन्द्रयिता । कुन्द्रिता । कुन्द्रयिष्यति । कुन्द्रिष्यति । कुन्द्रयतु । कुन्द्रतु । अकुन्द्रयत्-अकुन्द्रत् । कुन्द्रयेत्-कुन्द्रेत्-कुन्द्रयात्-अचुकुन्द्रत् । अकुन्द्रीत् । अकुन्द्रयिष्यत्-अकुन्द्रिष्यत् । तत्रि = कुटुम्बधारणे । मत्रि=गुप्तपरिभाषणे । तन्त्रयते-मन्त्रयते । तन्त्रयामासे-मन्त्रयाम्बभूवे । मन्त्रयांचक्रे । तन्त्रयिता-मन्त्रयिता । तन्त्रयिष्यते-मन्त्रयिष्यते । तन्त्रयताम्-मन्त्रयताम् । अतन्त्रयत-अमन्त्रयत । तन्त्रे-त-मन्त्रयेत् । तन्त्रयिषीष्ट-मन्त्रयिषीष्ट । अतन्त्रत-अमन्त्रत । अतन्त्रयिष्यत-अमन्त्रयिष्यत । स्फुडि = परिहासे । स्फुण्डयति-स्फुण्डति । स्फुण्डयामास-पुस्फुण्ड-स्फुण्डयिता-स्फुण्डिता । स्फुण्डयि-

भ्राज—भ्राजादि धातुर्भौकी उपधाको ह्रस्व हो, चङ्परक 'णि' के परे, विकल्पसे ।

मन्यतरस्याम् । ७।४।३। एषामुपधाया ह्रस्वो वा, चङ्परे णौ । अपीपिडत् । अपिपिडत् । प्रथ प्रख्याने । प्रथयति । अत्स्मृदृत्वपरप्रथमदस्तृस्पशाम् । ७।४। ९५। एषामभ्यासस्याकारश्चङ्परे णौ । इत्वापवादः । अपप्रथत् । पृथ प्रचेपे । पर्ययति । उर्ऋत् । ७।४।७। उपधाया ऋवर्णस्य ऋद्वा, चङ्परे णौ । इररारामप-

प्यति-स्फुण्डिष्यति । स्फुण्डयतु=स्फुण्डतु । अस्फुण्डयत्-अस्फुण्डत् । स्फुण्डयेत्-स्फुण्डेत् । स्फुण्डयात् । अपुस्फुण्डत्-अस्फुण्डीत् । अस्फुण्डयिष्यत्-अस्फुण्डिष्यत् । पीड=अवगाहे । पीडयति । पीडयांचकार । पीडयिता-पीडयिष्यति । पीडयतु । अपीडयत् । पीडयेत् । पीडयात् । आजभासेति । 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' इत्यनुषज्यते । नित्ये प्राप्ते विकल्पोऽयम् । अपिपीडदिति । पीडधातोश्चुरादित्वाणिचि सनादित्वाद्धानुसंज्ञायां लुङि तिपि 'इतश्च' इलोपे च्लौ सिचं बाधित्वा 'णिश्चि' इति चङि 'पीड्-इ-अ-त्' इति स्थिते 'आजभास' इति ह्रस्वे 'णेरनिटि' इतीलोपे प्रत्ययलोपमाश्रित्य 'चङि' इति द्वित्वे पूर्वोऽभ्यासे हलादिः शेषे ह्रस्वे 'सन्वल्लघुनि' इति सन्वद्भावे 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घे 'अपीपिडत्' इत्येकं रूपम् । असति 'आजभास' इत्युपधाह्रस्वे, लघुत्वाभावेन सन्वद्भावाभावे दीर्घाप्राप्तौ 'अपिपीडत्' इत्येव द्वितीयं रूपम् । अपीडयिष्यत् । प्रथ=प्रख्याने । प्रथयति । प्रथयामास । प्रथयिता । प्रथयिष्यति । प्रथयतु । अप्रथयत् । प्रथयेत् । प्रथ्यात् । 'अत्स्मृदृत्वरेति । 'अत्र लोपोभ्यासस्य' इत्यतस्तदनुवृत्तेरत आह-अभ्यासस्येति । 'सन्वल्लघुनि' इत्यतश्चङ् परे इति चानुवर्तते । इत्वस्यापवादः । अपप्रथदिति । प्रथधातोर्णिचि सनादित्वाद्धानुत्वे लुङि तिपि 'इतश्च' इतीकारलोपे च्लौ 'णिश्चि' इति चङि 'चङि' इति द्वित्वे 'णेरनिटि' णिलोपे पूर्वस्याभ्यासत्वे हलादिः शेषत्वेऽस्य लघुत्वात् 'सन्वल्लघुनि' इति सन्वद्भावे सति 'सन्वतः' इतीत्वे प्राप्ते तं बाधित्वा अत्स्मृदृत्वरेति अभ्यासात्वादेशेऽङ्गस्याडागमे 'अपप्रथत्' इति रूपं भवति । अप्रथयिष्यत् । पृथ=प्रचेपे । पर्ययति-पर्ययामास । पर्ययिता-पर्ययिष्यति-पर्ययतु-अपर्ययेत्-पर्ययेत्-पृथ्यात् । उर्ऋदिति । उरिति ऋशब्दस्य पष्ठयन्तं रूपम् । 'णौ चङि' इत्यनुवर्तते 'जिघ्रतेर्वा' इत्यतो वेति च । अपीपृवदिति । पृथधातोर्णिचि धातुत्वे लुङि लिपि च्लौ 'णिश्चि' इति चङि इलोपे णिचमाश्रित्य गुणे प्राप्ते तं बाधित्वा 'उर्ऋत्' इति ऋकारादेशेन गुणाभावे 'चङि' इति द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे 'उरत्' इत्यच्चे रपरत्वे हलादिः शेषत्वेऽङ्गस्याडागमे लघुत्वात् 'सन्वल्लघुनि' इति सन्वद्भावे 'सन्वतः' इति इत्वे 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घे 'अपीपृथत्' इति प्रथमं रूपम् । यदा तु णिचमाश्रित्य प्रत्ययलोपमाश्रित्य लघूपधगुणे सति रेफविशिष्ट्यकारपरकत्वे-

अत्स्मृ—'स्मृ' आदि धातुर्गोके अभ्यासको अकारान्त आदश हो, चङ्परक 'णि' के परे । उर्ऋत्—उपधा ऋवर्णको 'ऋत्' आदेश हो, चङ्परक 'णि' के परे, विकल्पसे ।

वादः । अपीपृथत् । अपपर्यत् । लुण्ठ स्तेये । लुण्ठयति । अलुलुण्ठत् । तड
 आघाते । ताडयति । अतीतडत् । मडि भूपायां, हर्षे च । मण्डयति । अममण्डत् ।
 भडि कल्याणे । मण्डयति । अवमण्डत् । छर्द वमने । छर्दयति । अचच्छर्दत् ।
 चुद संचोदने । चोदयति । अचूचुदत् । पाल रक्षणे । पालयति । अपीपलत् । पूज
 पूजायाम् । पूजयति । अपूपुजत् । कृत संशब्दने । उपधायाश्च । ७।१।१०१।
 धातोरुपधाया ऋत इत् । रपरत्वम् । 'उपधायां चे'ति दीर्घः । कीर्तयति । अचीकृ-
 तत् । अचिकीर्तत् । म्लेच्छ अव्यक्तायां वाचि । म्लेच्छयति । अमिम्लेच्छत् । ईड

न पनिष्ठाकारस्थालघुत्वेन सन्वन्नावाप्राप्तौ इत्वाद्यभावे 'अपपर्यत्' इति द्वितीयं रूपं
 भवति । अपर्ययिष्यत् । लुण्ठ=स्तेये । लुण्ठयति । लुण्ठयामास । लुण्ठयिता । लुण्ठ-
 यिष्यति । लुण्ठयतु । अलुण्ठयत् । लुण्ठयेत् । लुण्ठयात् । अलुलुण्ठत् । अलुण्ठयि-
 ष्यत् । तड=आघाते । ताडयति । अत्र णिचि णित्वेन 'अत उपधायाः' इति वृद्धिर्वि-
 शेषः । ताडयामास । ताडयिता । ताडयिष्यति । ताडयतु । अताडयत् । ताडयेत् ।
 ताडयात् । अतीतडत् । अताडयिष्यत् । मडि=भूपायां हर्षे च । इदित्वान्नुमि मण्ड-
 यति—मण्डति—मण्डयामास—ममण्ड—मण्डयिता—मण्डिता । मण्डयिष्यति—मण्डि-
 ष्यति । मण्डयतु—मण्डतु । अमण्डयत् । अमण्डत्—मण्डयेत्—मण्डेत् । मण्डयात् ।
 अममण्डत् । अमण्डीत् । अमण्डयिष्यत् । अमण्डिष्यत् । भडि=कल्याणे । भण्डयति—
 भण्डति । भण्डयामास—वभण्ड—भण्डयिता—भण्डिता—भण्डयिष्यति—भण्डिष्यति ।
 भण्डयतु—भण्डतु । अभण्डयत् । अभण्डत्—भण्डयेत्—भण्डेत् । भण्डयात् । अवभण्डत् ।
 अभण्डीत् । अभण्डयिष्यत्—अभण्डिष्यत् । छर्द=वमने । छर्दयति—छर्दयामास—छर्द-
 यिता—छर्दयिष्यति । छर्दयतु । अछर्दयत् । छर्दयेत्—छर्दयात्—अचच्छर्दत् । अछर्दयि-
 ष्यत् । चुद = संचोदने । 'पुगन्त' इति गुणे चोदयति—चोदयामास—चोदयिता—
 चोदयिष्यति—चोदयतु—अचोदयत्—चोदयेत्—चुद्यात् । अचूचुदत् । अचोदयिष्यत् ।
 पूज—पूजायाम् । पूजयति । पूजयामास । पूजयिता । पूजयिष्यति । पूजयतु । अपूजयत् ।
 पूजयेत् । पूज्यात् । अपूपुजत् 'अत्र' 'आजभास' इतिह्रस्वः । अपूजयिष्यत् । उपधाया-
 श्चेति । धातोरित्यधिकाराल्लभ्यते इदित्यादेशः इत्यर्थः । कीर्तयति । कृतधातोर्णिचि
 'उपधायाश्च' इतीत्वे रपरत्वे 'उपधायां च' इति दीर्घे तिपि शपि गुणोऽयादेशे 'कीर्त-
 यति' इति रूपम् । कीर्तनांचकार । कीर्तयिता । कीर्तयिष्यति । कीर्तयतु । अकीर्त-
 यत् । कीर्तयेत् । कीर्त्यात् । अचीकृतत् । अचिकीर्तत्—अत्र विकल्पेन 'उर्ऋत्' इति
 ऋकारादेशे सति प्रथमं रूपम् । तदभावे च 'उपधायाश्च' इति विहितेत्वविशिष्टं
 द्वितीयं रूपमवसेयम् । अकीर्तयिष्यत् । म्लेच्छ = अव्यक्तायां वाचि । म्लेच्छयति ।

उपधा—उपधाभूत धातुसम्बन्धी दीर्घ ऋकारको 'इत्' हो ।

स्तुतौ । ईडयति । ऐडिडत् । पिडि सङ्घाते । पिण्डयति ॥ रुष रोषे । रोषयति ।
अरुरुषत् । तुल उन्माने । तोलयति । अतूतुलत् ॥ शुल्ब माने । शुल्बयति ।
अशुशुल्बत् । घुषिर् विशब्दने । घोषयति । अजघुषत् । पट पुट लुट तुजि
मिजि पिजि लुजि भजि लघि त्रसि पिसि कुसि दसि कुशि घट घटि
वृहि बर्ह बल्ह गुप धूप विच्छ जीव पुथ लोक्क लोचृ णद कुप तर्क वृत्तु
वृधु भाषार्थाः । पाटयति । पोटयति । लोटयति । तुजयति । एवं परेषाम् । घाटयति ।
घण्टयति । नागलोपिशास्त्रदिताम् । ७।४।२। णिच्यग्लोपिनः, शास्तेः ऋदितां चोप-

म्लेच्छयाञ्चकार । म्लेच्छयिता । म्लेच्छयिष्यति । म्लेच्छयतु । अम्लेच्छयत् । म्लेच्छ-
येत् । म्लेच्छयात् । अमिम्लेच्छत्, संयोगपरत्वेन गुरुत्वात् न सन्वद्भावः । अम्लेच्छ-
यिष्यत् । ईड = स्तुतौ । ईडयति । ईडाञ्चकार । ईडयिता । ईडयिष्यति । ईडयतु ।
ऐडयत् । ईडयेत् । ईड्यात् । ऐडिडत् । ऐडिड्यत् । पिडि = संघाते । पिण्डयति ।
पिण्डति । पिण्डयाञ्चकार-पिपिण्ड । पिण्डयिता-पिण्डिता । पिण्डयिष्यति-पिण्डि-
ष्यति । पिण्डयतु-पिण्डतु । अपिण्डयत्-अपिण्डत् । पिण्डेत्-पिण्डयेत् । पिण्ड्यात् ।
अपिपिण्डत्-अपिपिण्डीत् । रूप=रोषे । रोषयति । रोषयाञ्चकार । रोषयिता । रोषयिष्यति ।
रोषयतु । अरोषयत् । रोषयेत् । रूष्यात् । अरुरुषत् । अरोषयिष्यत् । तुल = उन्माने ।
तोलयति । तोलयाञ्चकार । तोलयिता । तोलयिष्यति । तोलयतु । अतोलयत् ।
तोलयेत् । तुल्यात् । अतूतुलत् । अतोलयिष्यत् । शुल्ब=माने । शुल्बयति-शुल्बाञ्च-
कार । शुल्बयिता शुल्बयिष्यति । शुल्बयतु । अशुल्बयत्-शुल्बयेत् । शुल्ब्यात् ।
अशुशुल्बत् । अशुल्बयिष्यत् । घुषिर् = विशब्दने । घोषयति । घोषयाञ्चकार । घोष-
यिता । घोषयिष्यति । घोषयतु । अघोषयत् । घोषयेत् । घुष्यात् । अजघुषत् । अघो-
षयिष्यत् । पट = पाटयति । पुट = पोटयति । लुट = लोटयति । तुजि = तुजयति ।
तुजति । मिजि=मिजयति-मिजति । पिजि=पिजयति-पिजति । लुजि = लुज-
यति-लुजति । भजि=भजयति-भजति । लघि=लङ्घयति-लङ्घति । त्रसि =
त्रंसयति । त्रंसति । पिसि=पिसयति । पिसति । कुसि=कुंसयति-कुंसति । दसि =
दंसयति-दंसति । कुशि=कुंशयति-कुंशति । घट = घाटयति । घटि = घण्टयति-
घण्टति । वृहि=वृंहयति । वृंहति । बर्ह=बर्हयति । बल्ह = बल्हयति । गुप=गोपयति ।
धूप=धूपयति । विच्छ = विच्छयति । जीव=जीवयति । पुथ = पोथयति । लोक्क =
लोकयति । लोचृ=लोचयति । णद=नादयति । कुप = कोपयति । तर्क=तर्कयति ।
वृत्तु = वर्तति । वर्तयति । वृधु = वर्धति । वर्धयति । एवं लिङादिषु पूर्ववद्भावम् ।
नागलोपीति । 'णौ चङ्युपधायाः' इत्यनुवर्तते । णावित्यावर्तते । एवमग्लोपिन इत्य-

नागलो—'णिच्' परक अग्लोपी धातु और शास्त्र तथा ऋदित धातुकी उपधाओं इत्स्व नह-

वाया हस्वो न, चङ्परे णौ । अलुलोकत् । अलुलोचत् । वर्त्तयति । वर्द्धयति । आ
 वृषाद्वा (ग०) । इत् ऊर्ध्वं विभाषितणिचो, धृषधातुमभिव्याप्य । युज पृच
 संयमने । योजयति । योजति । अयौक्षीत् । पर्वयति । पर्वति । पर्विता । अपर्वीत् ।
 अर्च पूजायाम् । अर्चयति । षह मर्षणे । साहयति । स एवायं नागः सहति कल-
 भेभ्यः परिभवम् ॥ वृञ् आवरणे । वारयति । वारयते । वरति । वरते । जृ वयो-

त्रान्वेति । द्वितीयं तु निषेधे परनिमित्तम् । तदाह णिच्येति । अलुलोकत्-अलुलोचत् ।
 अत्र लोक्लुलोचृधात्वोः परतः णिचि चङि सति तयो ऋदिच्वात् 'उर्द्धत्' इति उपधा-
 हस्वे प्राप्ते तं बाधित्वा 'नागलोपि' इति निषेधे लघूपधाभावात्सन्वद्भावाभावे सति
 दीर्घाभावे प्रोक्ते रूपे भवतः । विभाषितणिचमाह-धृषेति । युज-पृच सङ्गमने । योज-
 यति-योजति । पर्वयति-पर्वति । योजयांचकार-युयोज-पर्वयांचकार-पपर्व । योजयि-
 ता-योजिता-पर्वयिता-पर्विता । योजयिष्यति-योजिष्यति । पर्वयिष्यति-पर्विष्यति ।
 योजयतु-योजतु-पर्वयतु-पर्वतु । अयोजयत्-अयोजत् । अपर्वयत्-अपर्वत्-योजयेत्-
 योजेत्-पर्वयेत्-पर्वेत्-युज्यात्-पर्च्यात् । अयूयुजत्-अयौक्षीत्-अपीपृचत्-अपिपर्वत्-
 अपर्वीत् । अयोजयिष्यत्-अयोज्यत्-अपर्वयिष्यत्-अपर्विष्यत् । अर्च = पूजायाम् ।
 अर्चयति-अर्चति । अर्चयामास-आनर्च । अर्चयिता-अर्चिता । अर्चयिष्यति-अर्चि-
 ष्यति । अर्चयतु-अर्चतु । आर्चयत्-आर्चत् । अर्चयेत्-अर्चेत् । अर्च्यात् । आर्चिचत् ।
 आर्चीत् । आर्चयिष्यत्-आर्चिष्यत् । षह=मर्षणे । साहयति-सहति । अस्य धातोः
 'विभाषितणिचत्वम् उदाहरणेन समर्थयति, 'स एवायं नागः सहति कलभेभ्यः परिभव-
 मि'त्यादिना अत्र 'सहति' इति णिजरहितं षहधातोरेव रूपमन्यथा तदर्थलाभेनानुप-
 पत्तेः । साहयांचकार-ससाह । साहयिता सहिता-साहयिष्यति-सहिष्यति-साहयतु-
 सहतु-असाहयत्-असहत्-साहयेत्-सहेत्-सह्यात्-असीषहत्-असहीत्-असाहीत्-
 असाहयिष्यत्-असहिष्यत् । वृञ्=आवरणे । वारयति-वरति-वरते । वारयामास-ववार ।
 ववरे । वारयिता-वरिता-वरीता । वरिष्यति-वरीष्यति-वारयिष्यति-वरिष्यते ।
 वरीष्यते । वारयतु-वरतु-वरताम् । अवारयत्-अवरत्-अवरत । वारयेत्-वरेत्-
 वरेत । वर्यात्-वरिषीष्ट-वरीषीष्ट । अवीवरत्-अवारीत्-अवरिष्ट-अवरीष्ट । अवारयि-
 ष्यत्-अवरिष्यत्-अवरीष्यत्-अवरिष्यत-अवरीष्यत । जृ-वयोहानौ । जारयति-जरति ।
 जारयामास-जजार-जारयिता-जरिता-जारयिष्यति-जरीष्यति-जारयतु-जरतु । अजा-
 यत्-अजरत् । जारयेत्-जरेत् । जृयात् । अजीजरत्-अजरीत् । अजारयिष्यत्-अजरि-

हो, चङ्परक 'णि' के परे । आष्टषाद्वा — 'युज-पृच संयमने' से लेकर 'धृष प्रहसने' धातु
 पर्यन्त सभी धातुओंसे णिच् विकल्पसे हो ।

हानौ । जारयति । जरति । शिष असर्वोपयोगे । शेषयति । शेषति । शेष्या ।
अशिक्षत् । तप दाहे । तापयति । तपति । तप्ता । तृप तृप्तौ । तर्पयति । तर्पति ।
हिसि हिंसायाम् । हिंसयति । हिंसति । अर्ह पूजायाम् । अर्हयति । छद अपवा-
रणे । छादयति । छदति । छदते । धूञ् कम्पने । (धूञ्प्रीजोर्नुक्) णौ । धून-
यति । धवति । धवते । केचित्तु 'धूञ्प्रीणो'रिति पठित्वा प्रीणातिसाहचर्याद् धूना-
तेरेव नुक्माहुः । धावयति । अयं स्वादौ, क्रयादौ, तुदादौ च । स्वादौ—ह्रस्वश्च ।
तथा च कविरहस्ये—

‘धूनोति चम्पकवनानि, धुनोत्यशोकं,
चूतं धुनाति, धुवति स्फुटितातिमुक्तम् ।

प्यत् । शिप=असर्वोपयोगे । शेषयति-शेषति । शेषयांचकार-शिशेष-शेषयिता-शेष्या ।
शेषयिष्यति-शेषयति । शेषयतु-शेषतु । अशेषयत्-अशेषत् । शेषयेत्-शेषेत् । शिष्यात् ।
अशिशेषत्-अशिक्षत् । अशेषयिष्यत्-अशेषिष्यत् । तप=दाहे-तृप=तृप्तौ । ताप-
यति-तपति-तर्पयति-तर्पति । तापयांचकार-तताप-तर्पयांचकार-ततर्प । तापयि-
ता-तप्ता-तर्पयिता-तर्पिता-त्रप्ता-तर्प्ता । तापयिष्यति । तप्स्यति-तर्पयिष्यति-तर्पि-
ष्यति-त्रप्स्यति-तप्स्यति । तापयतु तपतु-तर्पयतु-तर्पतु । अतापयत्-अतपत्-अतर्प-
यत्-अतर्पत् । तापयेत्-तर्पयेत्-तपेत्-तर्पेत् । तप्यात्-तृप्यात् । अतीतपत् । अताप्सीत्-
अतप्सीत् । अतीतृपत्-अततर्पत्-अताप्सीत्-अत्राप्सीत्-अतृपत्-अतापेयिष्यत्-अत-
प्स्यत्-अतर्पयिष्यत्-अतर्पिष्यत्-अत्रप्स्यत्-अतप्स्यत् । हिसि = हिंसायाम्-हिंसय-
ति-हिंसति । हिंसयांचकार-जिहिंस । हिंसयिता-हिंसिता-हिंसयिष्यति-हिंसिष्यति ।
हिंसयतु-हिंसतु । अहिंसत् । अहिंसयत् । हिंसयेत्-हिंसेत् । हिंस्यात् । अजिहिंसत्-
अहिंसीत् । अहिंसयिष्यत् । अहिंसिष्यत् । अर्ह=पूजायाम् । अर्हयति-अर्हति । अर्ह-
यामास-आनर्ह । अर्हयिता-अर्हिता । अर्हयिष्यति-अर्हिष्यति-अर्हयतु-अर्हतु-आ-
र्हयत्-आर्हत्-अर्हयेत्-अर्हेत्-अर्ह्यात् । आर्हिहत्-आर्हीत् । अर्हयिष्यत् । अर्हि-
ष्यत् । छद=अपवारणे । छादयति-छदति-छदते । छादयामास-चच्छाद-चच्छदे ।
छादयिता-छदिता । छादयिष्यति-छदिष्यति-छदिष्यते । छादयतु-छदतु-छदताम् ।
अच्छादयत्-अच्छदत्-अच्छदत्-छादयेत्-छदेत्-छदेत् । छद्यात्-छदिषीष्ट । अचीछदत्-
अच्छादीत्-अच्छदीत्-अच्छदिष्ट । अच्छादयिष्यत्-अच्छदिष्यत्-अच्छदिष्यत । धूञ्=
कम्पने । ‘धूञ्प्रीजोर्नुक्त्वक्तव्यः’ वार्तिकमेतत् णिचि सत्येव नुक्साहचर्यनियमादिति
भावः । धूनयति । धूनातोर्णिचि नुकि धातुत्वे लटि शपि गुणेऽयादेशे ‘धूनयती’ति ।

धूञ्—‘धूञ्’ और ‘प्रीञ्’ धातुको ‘नुक्’ का आगम हो, ‘णिच्’के परे ।

वायुर्विधूनयति चम्पकपुष्परेणून्,

यत्कानने धवति चन्दनमञ्जरीश्च' ॥

प्रीञ् तर्पणे । प्रीणयति । प्रीणयते । प्रयति । प्रयते । वच्च परिभाषणे । वाच-
यति । वचति । वक्ता । अवाक्षीत् । मान पूजायाम् । मानयति । मानति । मानिता ।
भू प्राप्तौ । आत्मनेपदी । भावयते । भवते । णिच्संनियोगेनैवात्मनेपदमित्येके ।
भवति । मार्ग अन्वेषणे । धृष प्रसहने । धर्षयति । धर्षति ।

अथादन्ताः ।

कथ वाक्यप्रबन्धे । अल्लोपः । अचः परस्मिन्पूर्वविधौ । १।५।५७ परनिमि-
त्तोऽजादेशः स्थानिवत् स्यात्, स्थानिभूतादचः पूर्वत्वेन दृष्टस्य विधौ कर्तव्ये । इति
स्थानिवत्त्वान्नोपधावृद्धिः । कथयति । अग्लोपित्वादीर्धसन्वद्भावौ न । अचकथत् ।

मान=पूजायाम् । मानयति-मानति । मानयांचकार-ममान । मानयिता-मानिता ।
मानयिष्यति=मानिष्यति । मानयतु-मानतु । अमानयत्-अमानत् । मानयेत्-मानेत् ।
मान्यात् । अमानयत् । अमानीत् । अमानयिष्यत्-अमानिष्यत् । भू=प्राप्तौ । भावयते-
भवते । भावयांचक्रे-बभूवे । भावयिता-भविता । भावयिष्यते-भविष्यते । भावय-
ताम्-भवताम् । अभावयत्-अभवत् । भावयेत्-भवेत् । भावयिषीष्ट-भविषीष्ट ।
अवीभवत् । अभविष्ट । अभविष्यत्-अभविष्यत् । यदा णिच् संज्ञियोगे नात्मनेपदं
तदा—भवति । बभूव । भविता । भविष्यति । भवतु । अभवत् । भवेत् । भूयात् ।
अभूत् । अभविष्यत् । मार्ग=अन्वेषणे । मार्गयति-मार्गति । मार्गयामास-ममार्ग ।
मार्गयिता । मार्गिता । मार्गयिष्यति-मार्गिष्यति । मार्गयतु-मार्गतु । अमार्गयत् ।
अमार्गत् । मार्गयेत्-मार्गेत् । मार्ग्यात् । अमार्गयत्-अमार्गीत् । अमार्गयिष्यत्-अमा-
र्गिष्यत् । धृष=प्रसहने । धर्षयति-धर्षति । धर्षयामास-दधर्ष । धर्षयिता-धर्षि-
ता । धर्षयिष्यति-धर्षिष्यति । धर्षयतु-धर्षतु । अधर्षयत्-अधर्षत् । धर्षयेत्-
धर्षेत् । धृष्यात् । अदीधृपत्-अदधर्षत्-अधार्षीत् । अधर्षयिष्यत्-अधर्षिष्यत् ।

कथयति । कथ इत्यकारान्तादस्माणिचि अनुबन्धलोपे 'अतो लोपः'
इति यकारोत्तरवर्तिनः अकारस्य लोपे कृते 'अत उपधायाः' इति
वृद्धौ प्राप्तायाम् 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' इति अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वात्
तदभावे जाते 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायाम् लटि, लः स्थाने त्रिपि अनु-
बन्धलोपे सार्वधातुकसंज्ञायां शपि अनुबन्धलोपे शित्वात्सार्वधातुकसंज्ञायां गुणे अया-
देशे च कृते 'कथयति' इति रूपम् । अचकथत् । कथ इत्यकारान्तधातोर्णिचि अल्लोपे

अचः—परनिमित्तक अजादेश स्थानिवत् हो, स्थानीभूत अच् से पूर्वत्वेन दृष्टको यदि
विधि (कार्य) कर्तव्य हो ।

गण संख्याने । गणयति । ई च गणः । ७।४।९७। गणोरभ्यासस्य ईत्स्यात्, चादत्, चङ्परे णौ । अजीगणत् । अजगणत् । रच्च प्रतियत्ने । रचयति । अररचत् । कल गतौ, संख्याने च । कलयति । अचकलत् । मह पूजायाम् । महयति । सूच पैशु-
न्ये । सूचयति । अपोपदेशत्वाच्च षः । असुसूचत् । कुमार क्रीडायाम् । कुमार-
यति । अचुकुमारत् । ऊन परिहाणे । ऊनयति । 'ओः पुयण्जी'ति सूत्रे 'पययो'-
रिति वक्तव्ये वर्ग-प्रत्याहारजग्रहो लिङ्ग- 'णिच्यच आदेशो न स्याद् द्वित्वे कर्तव्ये'
इति । यत्र द्विरुक्तावभ्यासोत्तरखण्डस्याद्योऽच् प्रक्रियायां, परिनिष्ठितरूपे वा अवर्णो
लभ्यते तत्रैवायं निषेधः, ज्ञापकस्य सजातीयापेक्षत्वात् । तेनाचिकीर्तदित्यादि
सिद्धम् । प्रकृते तु 'न' शब्दस्य द्वित्वम् । तत् उत्तरखण्डे अल्लोपः । औननत् ।

तस्य स्थानिवद्भावात् वृद्धभावे धातुत्वात्लुङ्स्तिप् इलोपे अटि च्लेः स्थाने 'णिशि-
द्रुचुभ्यः' इति चङि द्वित्वे अभ्यासत्वेऽभ्यासकार्ये चुत्वे च कृते 'अ च कथ् अत्' इति
भूते अत्र थकारोत्तरवर्तिनः अकारस्य णिग्निमित्तेन लोपित्वात् 'सन्वल्ह्युनि०' इति
सन्वद्भावाभावेन 'सन्वतः' इतीत्वस्य 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घस्य चाप्राप्तौ 'अच-
कथत्' इति रूपम् । ई च गण इति । 'सन्वल्ह्युनि' इत्यतः चङ्परे इति, 'अत्र लोपः'
इत्यतोऽभ्यासस्येति चानुवर्तते । अजीगणदिति । गणधातोर्णिचि अल्लोपे
तस्य स्थानिवद्भावात् वृद्धभावे लुङ्स्तिप् इकारलोपेऽटि च्लेश्चङि द्वित्वे अभ्यासत्वे
हलादेः शेषे चुत्वे अगलोपित्वाद् दीर्घसन्वद्भावयोरभावे 'ई च गणः' इति ईत्वे 'अजी-
गणत्' इति रूपम् । पक्षे 'अजगणत्' इति । औननदिति ऊनधातोर्णिचि
लुङि तिपि 'इत्श्च' इलोपे च्लौ 'णिशि' इति चङि 'णेरनिटि' इति णिचो
लोपे प्रत्ययलोपमाश्रित्य 'चङि' इत्यनेन अकारविशिष्टस्य नकारस्य द्वित्वे 'ऊ-न-न-
अ-त्' इति जाते अङ्गस्याडागमे 'आटश्च' इति वृद्धौ 'औननत्' इति रूपम् । ननु
अत्र द्वित्वात्पूर्वम् अल्लोपे कृते तदनु इकारविशिष्टस्य द्वित्वे सति 'औननत्' इति
रूपं स्यात् । नच तथाकर्तव्ये 'द्विर्वचनेऽचि' इति निषेधप्रसङ्गः । अल्लोपनिमित्तस्य
णिचो द्वित्वनिमित्तत्वाभावात् । इति चेन्न 'णिच्यजादेशो न द्वित्वे कार्ये इति' इति
द्वित्वाप्रागेवाजादेशनिषेधात् । नच 'णिच्यजादेश' इत्यप्रामाणिकम् । 'ओः पुयण्' इति
सूत्रे 'ओः पययोः' इत्येव वक्तव्ये वर्गप्रत्याहारजकारग्रहणं णिच्यजादेशो नेति ज्ञापयति,
इति ज्ञापकस्य प्रमाणत्वेन विद्यमानत्वात् । औनयिष्यत् । ध्वन = शब्दे । ध्वनयति ।
ध्वनयामास । ध्वनयिता । ध्वनयिष्यति । ध्वनयतु । अध्वनयत् । ध्वनयेत् । ध्वन्या-
त् । अदध्वनत् । अध्वनयिष्यत् । सूत्र = वेष्टने । सूत्रयति । सूत्रयांचकार । सूत्रयि-

ई च—'गण' धातुके अभ्यासको 'ईत्' हो और चकारात्—'अत्' भी हो, चङ्परक
'णि' के परे ।

ध्वन शब्दे । ध्वनयति । अदध्वनत् । सूत्र वेष्टने । सूत्रयति । मूत्र प्रस्रवणे । मूत्रयति । अदन्तत्वसामर्थ्याणिज्विकल्पः । मूत्रति ।

आ गर्वादात्मनेपदिनः ।

पद गतौ । पदयते । अपपदत् ॥ गृह ग्रहणे । गृहयते । मृग अन्वेषणे । मृगयते । शूर-वीर विक्रान्तौ । शूरयते । वीरयते ॥ गर्व माने । गर्वयते ॥
इति चुरादिः ॥ १० ॥

—

अथ गिजन्तप्रक्रिया

स्वतन्त्रः कर्त्ता । १।४।५४। क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्त्ता स्यात् । तत्प्रयोजको हेतुश्च । १।४।५५। कर्तृप्रयोजको हेतुसंज्ञः, कर्तृसंज्ञश्च स्यात् ।

ता । सूत्रयिष्यति सूत्रयतु । असूत्रयत् । सूत्रयेत् । सूत्र्यात् । असुसूत्रत् । असूत्रयिष्यत् । मूत्र = प्रस्रवणे । मूत्रयति—मूत्रति । मूत्रयांचकार—मुमूत्र । मूत्रयिता—मूत्रिता । मूत्रयिष्यति—मूत्रिष्यति । मूत्रयतु मूत्रतु । अमूत्रयत् । अमूत्रत् । मूत्रयेत्—मूत्रेत् । मूत्र्यात् । अमुमूत्रत्—अमूत्रीत् । अमूत्रयिष्यत्—अमूत्रिष्यत् । पद=गतौ । पदयते—पदयांचक्रे । पदयिता । पदयिष्यते । पदयताम् । अपदयत् । पदयेत् । पदयिषीष्ट । अपपदत् । अपपदयिष्यत् । गृह=ग्रहणे । गृहयते । गृहयांचक्रे । गृहयिता । गृहयिष्यते । गृहयताम् । अगृहयत् । गृहयेत् । गृहयिषीष्ट । अजगृहत् । अगृहयिष्यत् । मृग=अन्वेषणे मृगयते । मृगयांचक्रे । मृगयिता । मृगयिष्यते । मृगयताम् । अमृगयत् । मृगयेत् । मृगयिषीष्ट । अमृगयिष्यत् । शूर-वीर विक्रान्तौ । शूरयते—वीरयते । शूरयांचक्रे—वीरयांचक्रे । शूरयिता—वीरयिता । शूरयिष्यते—वीरयिष्यते । शूरयताम् । वीरयताम् । अशूरयत्—अवीरयत् । शूरयेत्—वीरयेत् । शूरयिषीष्ट—वीरयिषीष्ट । अशुशूरत्—अविवीरत् । अशूरयिष्यत्—अवीरयिष्यत् । इति चुरादिः ।

—

स्वतन्त्रः कर्तेति । कारकाधिकारात् क्रियाजनने स्वातन्त्र्यमिह विवक्षितमित्याह—क्रियायामिति । 'स्वातन्त्र्यमिह प्राधान्यम्' इति भाष्ये स्पष्टम् । ननु 'स्थाली पचति' इत्यादौ कथं स्थाल्यादीनां कर्तृत्वम्, स्वातन्त्र्याभावादित्यत आह—विवक्षितोऽर्थ इति । 'विवक्षातः कारकाणि भवन्ति' इति भाष्यादिति भावः । स्वातन्त्र्यञ्च धात्वर्थव्यापाराश्रयत्वम् । अथ 'हेतुमति च' इति गिजिवर्धि वक्ष्यन् हेतुसंज्ञामाह—तत्प्रयोजको

अदन्तस्व—वस्तुतस्तु धातोरन्त उदात्तो लिट्याम् च फलम् बोध्यम् ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें चुरादिगण समाप्त हुआ ।

—

स्वतन्त्रः—क्रियामें स्वातन्त्र्येण विवक्षित जो अर्थ वह कर्तृसंज्ञक हो । तत्प्रयो—कर्त्ताका

हेतुमति च । ३।१।३६। प्रयोजकव्यापारे प्रेरणादौ वाच्ये धातोर्णिच् स्यात् । भवन्तं प्रेरयति—भावयति । ओः पुयण्ज्यपरे । ७।४।८०। सनि परे यदङ्गं तदच्यवाऽभ्यासोवर्णस्य इत्स्यात्पवर्गयणकारेष्ववर्णपरेषु परतः । अवीभवत् । अपीपवत् ।

हेतुश्चेति । 'स्वतन्त्रः कर्ता' इति पूर्वसूत्रोपात्तः कर्ता तच्छब्देन परामृश्यते । तस्य कर्तुः, प्रयोजकः—प्रवर्तयिता तत्प्रयोजकः । तदाह—कर्तुः प्रयोजक इत्यादिना । हेतुमति चेति । 'सत्यापपाश' इत्यतो णिजित्यनुवर्तते । 'हेतुः—प्रयोजकः' आधारतया अस्यास्तीति हेतुमान् प्रयोजकनिष्ठः प्रेषणादिव्यापारः तस्मिन् वाच्ये णिच् स्यादित्यर्थः । 'धातोरेकाचो हलादेः' इत्यतो धातोरित्यनुवर्तते । तदाह—प्रयोजकव्यापार इति । भवन्तमिति । देवदत्तो यज्वा भवति । तं प्रेरयति याजक इत्याद्यर्थे भूधात्वर्थस्य भवनस्य मुख्यकर्ता यज्वा तस्य यज्वभवने प्रवर्तयिता याजकादिः प्रयोजकः, तन्निष्ठायां प्रेरणायां भूधातोः 'हेतुमति च' इति णिचि वृद्धौ, आवादेशे च भावि इति णिजन्तम् । तस्य 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायाम् 'वर्तमाने लट्' इति लटि, तिपि शपि गुणे अयादेशे च 'भावयति' इति भवन्तं प्रेरयतीति । फलितोऽर्थः । ओः पुयणिति । उ इत्यस्य ओः इति षष्ठी । पुयणिज इति च्छेदः । पुश्च यण् च ज् च इति समाहारद्वन्द्वत्सप्तमी । अः परो यस्मादिति बहुव्रीहिः । 'सन्त्यतः' इत्यस्मात्सनीत्यनुवर्तते । 'अङ्गस्य' इत्यधिकृतम् । 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इत्यस्मादभ्यासस्येति 'भृशामित्' इत्यस्मादिति चानुवर्तते । तदाह—सनि परे इत्यादिना । अवीभवत् । भू इत्यस्मात् 'हेतुमति च' इति णिचि 'णिच्यच आदेशो न स्याद् द्वित्वे कर्तव्ये' इति निषेधात् पूर्व वृद्धयभावे 'सनाद्यन्ता' इति धातुत्वाल्लुङ्गितप इलोपे अटि च्लौ 'णिश्चिद्विभुभ्यः कर्तरि चङ्' इति च्लेश्चिड अनुबन्धलोपे 'गेरनिटि' इति णिलोपे 'अ भू अ त्' इति स्थिते 'द्वित्वे कार्येणौ अच आदेशस्य निषेधाद्' वृद्धयावादेशाभ्यां प्रागेव भू इत्यस्य 'चङि' इत्यनेन द्वित्वे अभ्यासत्वे 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'अभ्यासे चर्च' इति चर्चनेन अस्य वत्वे 'अ बु भू अ त्' इति जाते प्रत्ययलक्षणत्वात् वृद्धौ आवादेशे 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' इति उपधाह्रस्वे 'अ बु भव् अ त्' इति भूते 'सन्वहलघुनि चङ्परेऽनगलोपे' इति सन्वन्नावे 'ओः पुयण्ज्यरे' इत्यभ्यासोकारस्य इत्वे 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घे च 'अवीभवत्' इति रूपम् । कर्तृगामिनि क्रियाफले 'अवीभवत्' इत्यात्मनेपदविशेषः । अपीपवदिनि । पूज् पवने धातोर्णिचि लुङि तिपि 'इतश्च' इलोपे च्लौ चङि 'गेरनिटि' इति णिलोपे 'चङि' इति द्वित्वेऽङ्गस्याङागमे ह्रस्वे णिचमाश्रित्य 'अचो णिति' इति वृद्धौ आवादेशे 'णौ

प्रयोजक (प्रेरणा करनेवाला) 'हेतु' संज्ञक और 'कर्तु' संज्ञक हो । हेतु—प्रयोजक का प्रेरणादि व्यापार वाच्य रहने पर धातुसे 'णिच्' प्रत्यय हो । ओः पु—'सन्' परक जो अंग, तदवयव जो अभ्यासावयव उकार, उसको इत्त्व हो, अवर्णपरक कवर्ग, यण् और जकारके परे ।

‘मूळ् बन्धने’ । अमीमवत् । अयीयवत् । रु शब्दे । अरीरवत् । अलीलवत् । अजीजवत् । ‘पुयण्जी’ति किम् ? नुनावयिषति । अपरे किम् ? वुभूषति । स्रवति-शृणोति-द्रवति-प्रवति-प्लवति-च्यवतीनां वा । ७।४।८१। एषामभ्यासोकार-स्येत्वं वा स्यात् सनि अवर्णपरे धात्वक्षरे परे । असिस्रवत् । असुस्रवत् । इत्यादि । अवर्णपरे किम् ? शुश्रूषते । णिजन्ताणिञ् । परत्वाद् वृद्धौ प्राप्तायाम्-‘ण्यल्लोपावियङ्यण्गुणवृद्धिदीर्घेभ्यः पूर्वविप्रतिषेधेने’ति णिलोपः । चोर-यति । ‘गौ चङी’ति ह्रस्वः । ‘दीर्घो लघो’रिति दीर्घः । न चाग्नोपित्वाद् द्वयोर-

चङि’ इति ह्रस्वे ‘ओः पुयण्ज्यपरे’ इति उकारस्येत्वे ‘दीर्घो लघोः इति दीर्घे’ ‘अपीप-वत्’ इति रूपम् । अयीयवदिति । यु=मिश्रणामिश्रणयोरस्माद्धातोर्हेतुमति णिचि लुङि तिपि ‘इतश्च’ इति इकारलोपे च्लौ चङि ‘गेरनिटि’ इति गेलोपे ‘चङि’ इति द्वित्वे ‘पूर्वोऽभ्यासः’ इत्यभ्यासत्वे ‘ओः पुयण्ज्यपरे’ इति अभ्यासस्येत्वे ‘दीर्घो लघोः’ इति दीर्घे प्रत्ययलोपमाश्रित्य णिञ्त्वेन वृद्धावावादेशे ‘गौ चङ्युपधाया ह्रस्वः’ इति ह्रस्वेऽङ्ग-स्याडागमे ‘अयीयवत्’ इति रूपम् । अरीरवदिति । रु = शब्देऽस्माद्धातोर्हेतुमति णिचि सनादित्वाद् धातुत्वे लुङि तिपि ‘इतश्च’ इलोपे च्लौ च्लेश्चङि ‘चङि’ इति द्वित्वेऽङ्गस्या-डागमे ‘ओः पुयण्ज्यपरे’ इति उकारस्थान इकारादेशे ‘सन्वत्सलघुनि’ इति सन्वद्भावे ‘दीर्घोलघोः’ इति दीर्घत्वे गेलोपे प्रत्ययलोपमाश्रित्य वृद्धावावादेशे उपधाह्रस्वे ‘अरीर-वत्’ इति अलीलवत् । अजीजवत् । ‘अलु-लु-इ-अ-त्’ इत्यवस्थायां तथा ‘अ-जु-जु-इ-अ-त्’ इत्यवस्थायां ‘गेरनिटि’ इति गेलोपे प्रत्ययलोपमाश्रित्य णिच्वाद् वृद्धौ आवादेशे ‘ओः पुयण्ज्यपरे’ इति अभ्यासस्येत्वे ‘सन्वत्सलघुनि’ इति सन्वद्भावे ‘दीर्घो लघोः’ इति दीर्घे ‘गौ चङि’ इति ह्रस्वे ‘अलीलवत्, अजीजवत्’ इति उभयोरपि सिद्धिः सफला । स्रवतिशृणोतीति । अपर इत्यनुवर्तते नतु पुयण्ज इति । पवर्गजकारयोरसंभ-वात् । स्रवत्यादौ यणः सत्त्वेऽपि अन्यभिचारात् । असिस्रवदिति । स्नु = प्रस्रवणेऽस्मा-द्धातोः णिचि लुङि तिपि ‘इतश्च’ इलोपे च्लौ ‘णिशि’ इति ‘चङि’ इति द्वित्वे प्रत्ययलोपमाश्रित्य वृद्धौ ‘गौ चङ्युपधाया ह्रस्वः’ इति ह्रस्वे ‘स्रवति शृणोति’ इति पा-च्चिकेऽभ्यासेत्वे ‘असिस्रवत्’ इति प्रथमं रूपम् । यदाऽभ्यासेत्वं न स्यात्तदा असुस्रवत् । इति द्वितीयरूपं स्पष्टमेवेति भावः । चोरयतीति । चुरधातोः चुरादिस्वार्थणिचि तस्य सनाद्यत्वाद्धातुत्वे सति हेतुमति णिचि ‘चुर्-इ-इ’ अत्र ‘गेरनिटि’ इत्यनेन पूर्वगेलोपे प्राप्ते तं बाधित्वा ‘अचोऽभिणति’ इति वृद्धौ च परत्वात्प्राप्तायां ‘ण्यत्सलोपाविति’ वार्तिकेन वृद्धेः पूर्वं णिलोपविधानसामर्थ्यात् पूर्वगेलोपे धातुत्वे लटि तिपि शपि ‘पुगन्त’ इति गुणे तथा ‘सार्वधातुकार्धधातुकयोः’ इति गुणे कृते ‘चोरयति’ इति

स्रवति—स्रवत्यादि धातुओंके अभ्यास संबन्धी उकारको ह्रस्व हो, सन् के परे तथा अवर्णपरक

प्यसम्भवः, प्याकृतिनिर्देशात् । अचूचुरत् । दुःश्वि गतिवृद्धयोः । गौ च संश्रद्धोः । १२।४।५१। सन्परे, चङ्परे च गौ श्वयतेः संप्रसारणं वा स्यात् । 'संप्रसारणं, तदाश्रयं च कार्यं बलवत्' इति वचनात्संप्रसारणम् । पूर्वरूपम् । अशूशवत् । अलघुत्वाच्च दीर्घः । अशिश्वयत् । स्तम्भुसिबुसहां चडि । ८।३।११६। उपसर्गनिमित्त एषां सस्य षो न स्याच्चडि । अवातस्तम्भत् । पर्यसीषिवत् । न्यसी-

रूपम् । अचूचुरदिति । 'चुर्-इ-इ' इत्यवस्थायां वृद्धिं बाधित्वा पूर्वविप्रतिषेधेन गेलोपे पुगन्तगुणे 'चोरि' इति जाते 'सनाद्यन्ता' इति धातुत्वे लुङि तिपि 'इतश्च' इलोपे च्लौ 'णिशि' इति चडि 'गेरनिटि' इति गेलोपे 'चडि' इति द्वित्वे अभ्यासत्वे हलादिशेषत्वे 'सन्वत्' इति सन्वद्भावे 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घे 'अचूचुरत्' इति रूपं निष्पद्यते । न चात्र पूर्वगेलोपेनाग्लोपित्वात्सन्वद्भावो न स्यादिति वाच्यम् । णिसह-शाकृतिर्यस्य तस्मिन् परतः सन्वद्भावविधानात् । 'गौ च संश्रद्धोः' । 'विभाषा श्वेः' इति सूत्रमनुवर्तते । प्यङ्गः संप्रसारणमिति । अशश्वदिति । श्विधातोः हेतुमति णिचि सनादित्वाद्धातुत्वे लुङि तिपि इलोपे वृद्धिं 'संप्रसारणं तदाश्रयं च कार्यं बलवत्' इति वार्तिकवलात् बाधित्वा 'गौ च संश्रद्धोः' इति पूर्वं संप्रसारणे 'संप्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'गेरनिटि' गेलोपे 'चडि' इति द्वित्वे प्रत्ययलोपमाश्रित्य वृद्धावावादेशे ह्रस्वे लघुपरकत्वात्सन्वद्भावे 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घेऽङ्गस्याडागमे 'अशूशवत्' इति रूपम् । यदा संप्रसारणं न स्यात् 'अ श्वि-श्वि-अ-त्' इत्यवस्थायां हलादिशेषे णिलोपमाश्रित्य वृद्धौ आयादेशे 'गौ चडि' ह्रस्वे 'अशिश्वयत्' इति द्वितीयं रूपं भवति । स्तम्भुसिबुसहां चडि । उपसर्गनिमित्तस्य प्रतिषेधः इति वार्तिकम् । सहे साढः सः, इत्यतः स इति पठ्यन्तमनुवर्तते । मूर्धन्य इत्यधिकृतम् । अवातस्तम्भत् । अव-पूर्वात् स्तम्भधातोर्णिचि लुङि तिपि इलोपे च्लौ चडि गेलोपे धातोर्द्वित्वेऽङ्गस्याडागमे 'अवातस्तम्भत्' इति रूपम् । अत्र 'अवाच्चात्मन्नाविदूर्ययोः' इत्यनेन प्राप्तं पत्वं 'स्तम्भुसिबुसहां चडि' इत्यनेन निषिध्यते । पर्यसीषिवत् । 'परि अ सि-सिबू-अ त्' इत्यवस्थायां सन्वद्भावे 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घे 'आदेशप्रत्यययोः' इत्यपरसकारस्य पत्वे यणि 'पर्यसीषिवत्' इति रूपम् । अत्र 'परिनिविभ्यः' इति प्राप्तं पत्वं 'स्तम्भुसिबुसहां चडि' इति निषिध्यते । न्यसीषहत् । निपूर्वात् 'पह'मर्षणे धातोर्णिचि लुङि तिपि च्लौ चडि द्वित्वेऽडागमे 'नि-अ-स-सह्-अत्' इति जाते सन्वद्भावे 'सन्त्यतः' इतीत्वे 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घे यणि परसकारस्य पत्वे 'न्यसीषहत्' इति रूपम् । अत्र अथमसकारस्य प्राप्तं 'परिनिविभ्यः' इति पत्वं 'स्तम्भुसिबुसहां चडि' इति निषिध्यते ।

धात्वक्षरके परे, विकल्पसे । गौ च-सन् और 'चङ्' परक 'णि' परमें रहने पर 'श्वि' धातुको संप्रसारण हो, विकल्पसे । स्तम्भु—उपसर्गस्थ निमित्तसे पर स्तम्भ्वादि धातुके सकार को

षहत् । स्वापेश्चडि । ६।१।११८। प्यन्तस्य स्वापेश्चडि सम्प्रसारणं स्यात् । असूषु-
पत् । हनस्तोऽचिण्णलोः । ७।३।३२। हन्तेस्तकारोऽन्तादेशः स्याच्चिण्णत्वजै
जिति, णिति च परे । घातयति । अर्तिह्रींलीरीकन्यूरीक्ष्माय्यातां पुणौ । ७।
३।३६। एषां पुक् स्याणौ । स्यापयति । तिष्ठतेरित् । ७।४।५। तिष्ठतेरुपधाया इदा
देशः स्याच्चङ्परे णौ । अतिष्ठिपत् । प्रापयति । जिघ्रतेर्वा । ७।४।६। जिघ्रतेरुप-
धाया इत्वं वा स्याच्चङ्परे णौ । अजिघ्रिपत् । अजिघ्रपत् । शाच्छासाह्या-
व्या-

स्वापेश्चडोति । प्यन्तस्य स्वापेः सम्प्रसारणं स्याच्चडि इति सूत्रार्थः । 'स्वापि' इति
प्यन्तविशिष्टात्तलुडि तिपि 'इतश्च' इलोपे च्लौ चडि 'स्वापेश्चडि' इति सम्प्रसारणे
'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'णेरनिटि' इति णेलोपे 'चडि' इति द्वित्वे हलादिशेषे
अङ्गस्याडागमे 'अ-सु-सुप्-अत्' इति जाते 'आदेशप्रत्यययोः' इति पत्वे 'सन्वत्' इति
सन्वद्भावे 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घत्वे 'असूषुपत्' इति रूपं भवति । हनस्तोऽचिणिति ।
हन्तेस्तकारोऽन्तादेशः स्यात् चिण्णत्वजै जिति णिति च परतः । घातयतीति ।
हनधातोर्हनुमणौ धातुत्वे लटि तिपि शपि 'हन्-इ-अ-ति' इति जाते
'हनस्तोऽचिण्णलोः' इति हनस्तकारादेशे 'हो हन्तेः' इति कुत्वेन हस्य घत्वे 'अत
उपधायाः' इति दीर्घे 'घाति-अ-ति' इति जाते 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति
गुणेश्यादेशे 'घातयति' इति रूपम् । लुडि 'अजीघतत्' इति रूपमवसेयम् । अतिष्ठि-
पत् । स्थाधातोर्णिचि पुकि 'णिश्चिद्रुस्तुभ्यः कर्तरि चङ्' इति चडि अनुबन्धलोपे
'णिच्यच आदेशो न स्यात्, द्वित्वे कार्ये' इति निषेधात् इत्वापेक्षया पूर्वं 'चडि' इति
द्वित्वे अभ्यासत्वे 'शर्पूर्वाः खयः' इति सलोपेऽभ्यासह्रस्वे चत्वे 'णौ चङ्युपधाया
ह्रस्वः' इति उपधाया ह्रस्वे 'णेरनिटि' इति णिलोपे 'सन्वत्तुनि चङ्परेऽनगलोपे'
इति इत्वे षत्वे णटुत्वे 'तिष्ठतेरित्' इति इत्वे च 'अतिष्ठिपत्' इति रूपम् । अत्र
केचित् 'ओणृ अपनयने' इत्यत्र 'ऋदित्करणास्त्रिङ्गात्' 'उपधाकार्यं द्वित्वात्प्रबलम्'
इति कल्पनया पूर्वं 'तिष्ठतेरित्' इति इत्वं ततो द्वित्वमिति न समीचीनमिति
प्रामाणिकाः । तत्र प्रमाणमन्यत्र स्पष्टम् । जिघ्रतेर्वा । घ्राधातोरुपधाया इदादेशः
स्याच्चङ्परे णौ । अजिघ्रपत् । घ्राधातोर्णिचि 'अर्तिह्री' इति पुकि सनादित्वाद्धातुत्वे
लुडि तिपि 'इतश्च' इलोपे च्लौ 'णिश्चि' इति चडि अङ्गस्याडागमे 'अ-प्राप्-इ-अ-

पत्वं नहीं हो, 'चङ्' के परे । स्वापे—प्यन्त 'स्वप्' धातुको सम्प्रसारण हो 'चङ्' के परे ।
हनस्तो—'हन्' धातुको तकारान्त आदेश हो, 'चिण्' तथा 'णल्' वजित भित्—णित् प्रत्ययके
परे । अर्ति—ऋ, ह्री, व्ली, री, कनूयी, क्षमायी और आदन्त धातुको 'पुक्' का आगम हो,
'णि' के परे । तिष्ठ—'स्था' धातुकी उपधाको 'इत्वं' हो, चङ्परक 'णि' के परे । जिघ्र—'घ्रा'
धातुकी उपधाको 'इत्वं' हो, चङ्परक 'णि' के परे, विकल्पसे । शाच्छा—शो, छी, षो,

वेपां युक् । ७।३।३७। एषां युक् स्याणौ । शाययति । अशीशयत् । ह्राययति ।
 ह्रः सम्प्रसारणम् । ६।१।३२। सन्परे चङ्परे च णौ ह्रः सम्प्रसारणं स्यात् ।
 (काण्यादीनां वेति वक्तव्यम्) काण्यादीनां चङ्परे णौ उपधाया ह्रस्वो वा
 स्यात् । प्यन्ताः कणरणभणश्रणलुपहेठः षट् भाष्ये उक्ताः । ह्रायिवाणिलोठिलोपय-
 श्रत्वारोऽधिकं न्यासे । चाणिलोटी अप्यन्यत्र । इत्थं काण्यादयो द्वादश । अजूहवत् ।
 अजुहावत् । पाययति । लोपः पिवतेरीच्चाभ्यासस्य । ७।४।४। पिवतेरुपधाया
 लोपः स्यादभ्यासस्य ईदन्तादेशश्च चङ्परे णौ । अपीप्यत् । (पातेणौ लुग्वक्त-
 व्यः) पुकोऽपवादः । पालयति । वो विधूनने जुक् । ७।३।३८। वातेर्जुक् स्या-

त् इति जाते 'जिघ्रतेर्वा' इति उपधाया इत्वे 'गेरनिटि' इति गेलोपे 'चङि' इत्यनेन
 द्वित्वे पूर्वोऽभ्यासत्वे हलादेशेपत्वे 'कुहोरचुः' इति जत्वे अ-जि-घ्रिप् अत् इति जाते
 'अजिघ्रिपत्' इत्येकं रूपं भवति । यदा तु इत्वं न स्यात्तदा 'णौचङि' इति ह्रस्वत्वे
 'सन्त्यतः' इति इत्वे 'अजिघ्रपत्' इति द्वितीयं रूपं भवति । शाच्छासेति । पुकोऽपवादः ।
 णौ परत एषां धातूनां युगागमो भवतीति भावः । शाययतीति । शोतनूकरणेऽस्माद्धातोः
 णौ 'आदेच उपदेशेऽशिति' इत्यात्वे पुगागमं बाधित्वा 'शाच्छासा' इति युगागमे
 'शायि' इति जाते सनादित्वेन धातुसंज्ञायां लटि तिपि शपि गुणेऽयादेशे 'शाययति'
 इति । ह्राययति । ह्रैज्-धातोर्णिचि 'आदेचः' इत्यात्वे 'शाच्छासा' इति युकि 'ह्रायि'
 इति जाते धातुत्वे लटि तिपि शपि अयादेशे 'ह्राययति' इति रूपं भवति । ह्रः सम्प्र-
 सारणमिति । 'णौ च संश्रद्धोः' इत्यनुपज्यते । ह्र इति षष्ठी । ह्रैजः संप्रसारणं स्यात् ।
 पाययतीति । पा धातोर्णिचि 'शाच्छासा' इति युकि लटि तिपि शपि गुणेऽयादेशे
 'पाययति' इति रूपं भवति । लोपः पिवतेरीत् । 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः'
 इत्यतः णौ चङीति अनुषज्यते । अपीप्यदिति । पाधातोर्णिचि 'शाच्छासा' इति युकि
 'पायि' इति जाते लुङि तिपि 'इतश्च' इलोपे च्लौ 'णिश्चि' इति चङि 'गेरनिटि'
 इति गेलोपे 'चङि' इति द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे 'अ-पा-पाय्-अ-त्' इति जाते 'लोपः
 पिवतेरीच्चाभ्यासस्य' इति अभ्यासस्येदादेशे धातोश्चोपधालोपे, 'अपीप्यत्' इति
 रूपं भवति । पाल = रत्नणे । पालयति । वो विधूनने जुगिति । वा = गतिगन्धनयोर-
 स्माज्जुक्स्यात् विधूननार्थे णौ परतः । वाधातोर्णौ जुकि 'वाजि' इति जाते लटि तिपि

ह्रैज्, व्यैज्, वेज् और पा धातुको 'युक्' का आगम हो, 'णि' के परे । ह्रः सम्प्र—'ह्रैज्'
 धातुको संप्रसारण हो, सन्परक और चङ्परक 'णि' के परे । काण्या—काण्यादि धातुओंकी
 उपधाको 'ह्रस्व' हो, चङ्परक 'णि' के परे । लोपः—'पा' धातुकी उपधाका लोप हो और
 अभ्यासको ईदन्तादेश हो, चङ्परक 'णि' के परे । पातेणौ—'पा' धातुको 'लुक्' का आगम
 हो, 'णि' के परे । वो विधू—'वा' धातुको विधूनन अर्थमें 'जुक्' का आगम हो, 'णि' के

णौ कम्पेऽर्थे । वाजयति । विधून्ने किम् ? केशान्वापयति । शदेरगतौ तः । ७।३।४२। शदेणौ तोऽन्तादेशः स्यान्न तु गतौ । शातयति । गतौ तु—गाः शादयति गोविन्दः । गमयतीत्यर्थः । रुहः पोऽन्यतरस्याम् । ७।३।४३। रुहः पकारोऽन्तादेशो वा स्याणौ । रोपयति । रोहयति । दोषो णौ । ६।४।९०। दुष्यतेरुपधाया ऊत्स्याणौ । दूषयति । वा चित्तविरागे । ६।४।९१। दुष्यतेरुपधाया ऊत्स्याद्वा, णौ चित्तविरागे । विरागोऽप्रीतता । दुष वैकृत्ये । चित्तं दूषयति, दोषयति वा कामः । उभौ साभ्यासस्य । ८।४।२१। साभ्यासस्यानितेरुभौ नकारौ णत्वं प्राप्नुतो निमित्ते सति । प्राणिणत् । णौ गमिरबोधने । १२।४।४६। इणो गमिः स्याण्णावबोधने । गमयति । बोधने तु—प्रत्याययति । घट चेष्टायाम् ।

शपि गुणेऽयादेशे 'वाजयति' इति रूपं भवति । 'केशान्वापयति' अत्र न जुक् विधून्नाभावात् । किन्तु आदन्तत्वात्पुगेव । शदेरगताविति । शद्लृ-विशरणगत्यवसादनेषु । अस्य णौ परतस्तकारादेशः स्यादित्यर्थः । शद्धातोः णौ 'शदेरगतौ तः' इत्यनेन दस्य स्थाने तकारादेशे 'अत उपधायाः' इति उपधाया दीर्घत्वे 'शाति' लटि तिपि शपि गुणेऽयादेशे 'शातयति' इति रूपम् । अयं तकारादेशः गतिभिन्नार्थे एव स्यात् । गतौ तु 'शादयति' इत्येव रूपं भवति । रुहः पोऽन्यतरस्यामिति । रुह धातोः पकारान्तादेशः स्याणौ विकल्पेन । रुहधातोणौ 'रुहः पोऽन्यतरस्याम्' इत्यनेन हस्य पत्वे 'पुगन्त' इति गुणेऽयादेशे 'रोपयति' इति एकं रूपम् । यदा पकारादेशो न स्यात्तदा 'रोहयति' इति तु भवत्येवेति दिक् । दोषो णौ । दुष्धातोरुपधाया ऊदादेशः स्याणौ परत इत्यर्थः । दूषयतीति । दुष्धातोर्हेतुमण्णिचि 'दोषो णौ' इत्यनेनोपधाया ऊदादेशे लटि तिपि शपि गुणेऽयादेशे 'दूषयति' इति । वा चित्तविरागे । अत्र 'दोषो णौ' इत्यनुवर्तते । चित्तविरागार्थे गम्ये दुष्धातोरुपधाया ऊदादेशो वा स्यादिति सूत्रार्थः । णौ गमिरबोधन इति । इण्=गतावस्य गमिरादेशो भवति अबोधनार्थे गम्ये णौ परतः । इण् धातोणौ 'णौगमिः' इति गम्यादेशे लटि तिपि शपि गुणेऽयादेशे 'गमयति' इति रूपम् । बोधने तु—प्रत्याययति । प्रति-इण्धातोर्णिचि 'अचोऽङ्गिति' इति वृद्धौ अयादेशे 'प्रति-आयि' यणि 'प्रत्यायि' अस्माह्लटि तिपि शपि गुणेऽयादेशे 'प्रत्याययति' इति रूपं भवति । 'मितां ह्रस्वः' विधास्यमानं ह्रस्वत्वं परिकल्प्य मित्सं-

परे । शदेः—'शद्' धातुको गतिभिन्न अर्थमें तकारान्त आदेश हो, 'णि' के परे । रुहः—'रुह' धातुको पकारान्त आदेश हो, 'णि' के परे, विकल्पसे । दोषो—'दुष्' धातुकी उपधाको 'ऊत्' आदेश हो, 'णि' के परे । वा चित्त—'दुष्' धातुकी उपधाको ऊत्त्व हो, चित्तविराग (इच्छाविरह) अर्थमें, विकल्पसे । उभौ—रेफ-निमित्तसे पर 'अन्' धातुके अभ्यास सहित दोनों नकारको णत्व हो । णौ गमि—अवबोधन अर्थमें 'इण्' धातुकी 'गम्' आदेश हो,

(ग०) घटादयो मितः । जनीजृष्णसुरञ्जोऽमन्ताश्च । एते मितः ।
 (ग०) ज्वलहलहलनमामनुपसर्गाद्वा । अनुपसर्गादिषां मित्वं वा । ग्लास्ना-
 चनुवमां च । अनुपसर्गादिषां मित्वं वा । न कम्पमिचमाम् । अम-
 न्तत्वात्प्राप्तं मित्वमेषां न । यमोऽपरिवेषणे । यच्छतेर्भोजनतोऽन्यत्र मित्वं
 न । स्वदिरवपरिभ्यां च । स्वदिरवपरिभ्यां परीभूतो मित् न । मितां ह्रस्वः
 । ६।४।९२। घटादीनां, ज्ञपादीनां च णाबुपधाया ह्रस्वः । घटयति । अजीघटत् । ज्ञप
 ज्ञाने, ज्ञापने च । ज्ञपयति । अजिज्ञपत् । रभेरशब्बिलटोः । ७।१।६३। रमेर्नुमचि,
 न तु शब्बिलटोः । लभेश्च । ७।१।६४। लमेर्नुम् स्यादचि, न तु शब्बिलटोः । अरर-
 म्भत् । अललम्भत् । ईर्ष्ययति । (ईर्ष्यतेस्तृतीयस्येति वक्तव्यम्) तृतीयव्यञ्ज-

ज्ञकानां परिगणनं समुच्चरं विधत्ते । घटादयो मित इत्यारभ्य 'जनीजृष्' इति यावत् ।
 केपाञ्चित् वैकल्पिकं मित्वं मत्वा आह 'ज्वलहल' इत्यारभ्य 'ग्लास्ना' इति यावत् । प्रा-
 स्नानामनीप्सितानां मित्वं निषेधयति । 'न कम्पमि' इत्यतः 'स्वदिरव' इत्यन्तं यावत् ।
 अजिज्ञपत् । जृप् इत्यस्माणिच उपधावृद्धौ ह्रस्वे 'जृप्' इति जाते धातुत्वाल्लुङ्गिस्तप
 इकारलोपेऽटि च्लेश्चिङि 'गेरनिटि' इति णिलोपे 'चङि' इति द्वित्वेऽभ्यासकार्ये
 'सन्वत्तलघुनि चङ्परेऽनग्लोपे' इति सन्वद्भावे 'सन्वतः' इति अभ्यासस्याकार-
 स्येत्वे लघुत्वाभावात् 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घाभावे 'अजिज्ञपत्' इति रूपम् ।
 रभेरशब्बिलटोरिति । 'इदितो नुम्' इत्यतो नुमित्यनुवर्तते, 'रधिजभोरचि' इत्यतः 'अचि'
 इत्यनुवर्तते । अररम्भत् । रभधातोर्णिचि 'रभेरशब्बिलटोः' इति नुमि मित्त्वादन्यावय-
 वेऽनुस्वारे परसवर्णे लुङि तिपि 'इतश्च' ह्रलोपे 'गेरनिटि' इति णेलोपेऽङ्गस्याडागमे
 'चङि' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलादिशेषत्वे 'अररम्भत्' इति रूपं भवति । अत्र
 संयोगपरत्वेन ह्रस्वाभावान्न सन्वत्त्वम् । लभेच्चेति । लमेरपि नुम्, अचि परतः नतु
 शब्बिलटोः । अललम्भत् । 'अलम्भ अत्' इत्यवस्थायां 'चङि' द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे
 हलादिशेषत्वे 'अललम्भत्' इति रूपम् । अत्रापि दीर्घत्वाच्च सन्वद्भावः । ईर्ष्ययति ।

'णि'के परे । घटादयो—आद्यन्तर्गतं घटादि गणपठित धातु 'मित्' हो । जनी—जनी—जृष्
 आदि धातु तथा अमन्त धातु भी 'मित्' हो । ज्वल—अनुपसर्गक ज्वल—हल आदि धातु
 विकल्पसे 'मित्' हों । ग्लास्ना—अनुपसर्गक ग्ला—स्ना आदि धातु 'मित्' हों, विकल्पसे ।
 न कम्प—अमन्त होने पर भी कम्पादि धातु 'मित्' नहीं हो । यमो—अपरिवेषण अर्थमें
 'यम्' धातु 'मित्' नहीं हो । स्वदिर—अव—परि उपसर्गसे पर 'स्वद्' धातु 'मित्' नहीं हो ।
 मितां—घटादि और ज्ञपादि धातुओंकी उपधाको 'ह्रस्व' हो 'णि' के परे । रभेर—'रम्'
 धातुको 'नुम्' हो, 'शप्' और 'लिट्' सम्बन्धीसे भिन्न अचूके परे । लभेश्च—'लम्'
 धातुको भी 'नुम्' हो, 'शप्' और 'लिट्' सम्बन्धी भिन्न अचूके परे । ईर्ष्य—'ईर्ष्ययति'के

नस्य, तृतीयैकाच इति वार्थः । आद्ये षकारस्य द्वित्वं वारयितुमिदम् । द्वितीये त्व-
जादेद्वितीयस्येत्यस्याऽपवादतया सन्नन्ते प्रवर्तते । ऐर्ष्यित् । द्वितीयव्याख्यायां
णिजन्ताच्चङि षकार एवाभ्यासे श्रूयते, हलादिः शेषात् । द्वित्वं तु द्वितीयस्यैव,
तृतीयाभावेन प्रकृतवार्तिकाऽप्रवृत्तेः । ऐर्ष्यित् ॥ इति प्यन्तप्रकरणम् ।

अथ सन्नन्तप्रकरणम्

धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा । ३।१।७। इषिकर्मणो धातोरि-
षिणैककर्तृकात्सन्वेच्छायाम् । धातोर्विधेरिह सन आर्द्धधातुकत्वम् । पठ व्यक्तायां
वाचि । इट् । सन्यङोः । ६।१।९। सन्नन्तस्य यङन्तस्य च प्रथमस्यैकाचो द्वे स्तोऽ-
जादेस्तु द्वितीयस्य । 'सन्यतः' । पठितुमिच्छति-पिपठिषति । कर्मणः किम् ?

ईर्ष्य=ईर्ष्यायाम् । अस्माणौ लटि तिपि शपि गुणेऽयादेशे 'ईर्ष्ययति' इति रूपम् ।
ऐर्ष्ययदिति । ईर्ष्यधातोर्णिचि लुङि तिपि 'इतश्च' इलोपे च्लौ 'णिश्चि' इति चङि
'ईर्ष्य-इ-अ-त्' इति जाते षकारविशिष्टस्य द्वितीयाचो द्वित्वे प्राप्ते तं वाधित्वा
'ईर्ष्यतेस्तृतीयस्येति वाच्यम्' इत्यनेन यकारविशिष्टेकारस्य द्वित्वे 'ईर्ष्य-यि-यि-अ-त्'
इति जाते 'णेरनिटि' इति गेलोपे 'ईर्ष्यि-य-अत्' इति स्थिते 'आडजादीनाम्' इत्या-
डागमे 'आटश्च' इति वृद्धौ 'ऐर्ष्ययत्' इत्येकं रूपं भवति । यदा तु षकारविशिष्टस्य
द्वित्वमिति पक्षः स्वीक्रियते यदा 'आ-ईर्ष्यि-यि-अत्' इत्यवस्थायां हलादिः शेषेण
यलोपे 'णेरनिटि' इत्यनेन च गेलोपे 'आटश्च' वृद्धौ 'ऐर्ष्ययत्' इति द्वितीयं रूपं
सम्पद्यते । इति णिजन्तप्रक्रिया ।

धातोः कर्मण इति । 'गुसिजिक्रयः' इत्यतः सन्नित्यनुवर्तते । 'इच्छायाः श्रुतत्वात्तां
प्रत्येव कर्मत्वं विवक्षितम् । तथा समानकर्तृकत्वमपि इच्छानिरूपितमेव विवक्षितम् ।
कर्मैति स्ववाचकशब्दद्वारा धातौ सामानाधिकरण्येनान्वेति । तथा च इच्छासमान-
कर्तृकत्वे सति इच्छाकर्मीभूतो यो व्यापारः तद्वाचकाद्धातोरिच्छायांसन् वा स्यादिति
फलति । तदाह-इषि कर्मण इत्यादि । इषिणा एककर्तृकात् इषिकर्मीभूतव्यापारवाचकाः
द्धातोरित्यर्थः । पिपठिषति । पठ् इत्यस्मात् 'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां

तृतीय व्यञ्जन या तृतीय एकाचको द्वित्व हो ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें प्यन्तप्रकरण समाप्त हुआ ।

धातोः—(इषि)—इच्छा क्रियाके कर्मीभूत जो इच्छा क्रियाके कर्ता, तत् समान कर्ता है
जिसका, उस धातुसे 'सन्' प्रत्यय हो, इच्छा अर्थमें, विकल्पसे । सन्यङोः—सन्नन्त तथा
यङन्त धातुके प्रथम एकाचको द्वित्व हो और अजादि धातुके द्वितीय एकाचको द्वित्व हो ।

गमनेनेच्छति इति करणान्मा भूत् । समानकर्तृकात् किम् ? 'शिष्याः पठन्ति'तीच्छति गुरुः । 'वा'ग्रहणात्पक्षे वाक्यमपि ।

शैषिकान्मतुवर्थीयाच्छैषिको मतुवर्थिकः ।

सरूपः प्रत्ययो नेष्टः, सन्नन्ताच्च सनिष्यते ॥ १ ॥

तेन-पिपठिषितुमिच्छतीति वाक्यमेव । 'लुङ्सनोर्घस्लृ' । सः स्यार्द्धधातुके । ७।४।४९। सस्य तः स्यात्सादावार्द्धधातुके । अत्तुमिच्छति-जिघत्सति । 'ईर्ष्यतेस्तृतीयस्ये'ति यिसनोर्द्धित्वम् । ईर्ष्ययिषति । 'एकाच' इति नेट् । अज्ज्ञनगमां सनि । ६।४।१६। अजन्तानां, हन्तेरजादेशगमेश्च दीर्घो, फलादौ सनि । इको झल् । १।२।९। इगन्ताज्झलादिः सन्कित् स्यात् । कर्तुमिच्छति चिकीर्षति । जिघांसति ।

वा' इति सन्प्रत्यये अनुबन्धलोपे 'पठ् स' इति जाते 'आर्द्धधातुकं शेषः' इति आर्द्धधातुकत्वे 'आर्द्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इडागमे टलोपे टित्वादाद्यावयवे 'सन्त्यङोः' इति द्वित्वे 'पठ् पठ् इ स्' इति जाते 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इति टलोपे 'सन्त्यतः' इतीत्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति पत्वे 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वाह्वटस्तिपि शपि अनुबन्धलोपे 'पिपठिष अ ति' इति जाते 'अतो गुणे' इति पररूपे 'पिपठिषति' इति रूपम् । जिघत्सति । अद् इत्यस्माद्धातोः 'धातोः कर्मणः' इति सन्प्रत्यये 'लुङ्सनोर्घस्लृ' इत्यदो घस्लादेशोऽनुबन्धलोपे 'घस् स' इति भूते अत्र सनस्सस्य 'आर्द्धधातुकं शेषः' इत्यार्द्धधातुकसंज्ञायाम् 'आर्द्धधातुकस्येड्वलादेः' इतीडागमे प्राप्ते 'एकाच उपदेशोऽनुदात्तात्' इति निषिद्धे 'सन्त्यङोः' इति द्वित्वे अभ्यासत्वे अभ्यासकार्ये च कृते 'जघस् स' इति जाते अभ्याससकारस्य 'सः स्यार्द्धधातुके' इति तकारे 'जिघत्स' इति भूते 'सनाद्यन्ता' इति धातुत्वाह्वटस्तिपि शपि अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे' इति पररूपे च कृते 'जिघत्सति' इति रूपम् । चिकीर्षतीति । कृधातोः 'धातोः कर्मणः' इत्यादिना सनि अनुबन्धलोपे आर्द्धधातुकत्वे 'आर्द्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इडागमे प्राप्ते 'एकाच उपदेशोऽनुदात्तात्' इतीप्तिपेधे 'अज्ज्ञनगमां सनि' इति दीर्घे 'इको झल्' इति किच्वाद्गुणाभावे 'ऋत इद्धातोः' इति इत्वे रपरे 'किर् स' इति भूते द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'हलि च' इति दीर्घे पत्वे च कृते 'चिकीर्ष' इति जाते 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायां लटि तिपि शपि अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे' इति पररूपे च कृते 'चिकीर्षति'

शैषि—शैषिक प्रत्ययान्तसे पुनः सरूप शैषिक प्रत्यय नहीं हो और मत्वर्थीय-मतुप् आदि, प्रत्ययान्तसे भी सरूप मत्वर्थीय प्रत्यय नहीं हो तथा सन्नन्तसे पुनः सन्नन्त प्रत्यय नहीं हो । सः स्या—सकारको तकार आदेश हो, सादि आर्द्धधातुकके परे । अज्ज्ञ—अजन्त धातु तथा 'इन्' धातु और अजादि (इण्-इक्-इड्) धातुके स्थानमें आदेश 'गम्' को दीर्घ हो,

सनि च ।२।४।४७। इणो गमिः स्यात्सनि, न तु बोधने । जिगमिषति । बोधने तु—प्रतीषिषति । इङश्च ।२।४।४८। इङो गमिः स्यात्सनि । अधिजिगांसते । रुदविदमुषग्रहिस्वपिप्रच्छः संश्च ।१।२।८। एभ्यः संश्च, क्त्वा च कितौ स्तः । रुदिषति । विविदिषति । मुमुषिषति । सनि ग्रहगुहोश्च ।७।२।१२। ग्रहेर्गुहेरुगन्ताच्च सन इणन् स्यात् । 'ग्रहिज्ये'ति सम्प्रसारणम् । सनः षत्वस्यासिद्धत्वाद्भावः । जिघृक्षति । हलन्ताच्च ।१।२।१०। इक्समीपाद्धलः परो म्फलादिः सन्कित् । गुह्

इति सिद्धम् । सनि चेति । 'णौ गमिरबोधने' इति सर्वमनुवर्तते । जिगमिषति । इण्-धातोः 'धातोः कर्मणः' इति सनि 'सनि च' इति गम्यादेशे 'सन्त्यङोः' इति द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे हलादिः शेषत्वे 'सन्त्यतः' अभ्यासस्येत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति सन इडागमे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे 'जिगमिष' इति सनादित्वाद्भातुसंज्ञायां लटि तिपि शपि 'अतो गुणे' पररूपे 'जिगमिषति' इति रूपं भवति । बोधने तु—प्रतीषिषति । इण्धातोः सनि तस्य आर्धधातुकत्वादिति गुणात्पूर्वं 'सन्त्यङोः' इति द्वित्वे 'प्रति-इ-षि-ष-अ-ति' इति जाते सवर्णदीर्घे 'अतो गुणे' पररूपे 'प्रतीषिषति' इति रूपम् । इङश्चेति । 'णौ गमिः' इत्यतः 'सनि च' इत्यतश्च तदनुवृत्तेर्गमिः स्यादित्यन्वयः । अधिजिगांसते इति । अधिपूर्वकादिङ् अध्ययने धातोः 'धातोः कर्मणः' इति सनि 'इङश्च' इति गमादेशे 'सन्त्यङोः' इति द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे हलादिशेषत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति चत्वेन जत्वे 'सन्त्यतः' इति इत्वे 'अधिजिगम्-स' इति जाते 'नश्चाप' इत्यनुस्वारे 'अज्झन' इति दीर्घे 'अधिजिगांस' अस्मात्सञ्जन्तात् लटि 'पूर्ववत्सनः' इत्यात्मनेपदत्वेन तङि 'दित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे शपि पररूपे 'अधिजिगांसते' इति रूपं सिध्यति । रुदविदेति । असंयोगाह्लिट् कित् इत्यतः किदिति लभ्यते । रुद्-विद्-मुष्-एभ्यो धातुभ्यः सनि सन आर्धधातुकत्वात् 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इटि 'सन्त्यङोः' इति द्वित्वे हलादिः शेषत्वे 'रुदिषति' 'विविदिषति' 'मुमुदिषति' इति रूपत्रयं सिध्यति । अत्र न लघूपधगुणः । 'रुदविदमुष' इति सूत्रेण कित्वविधानात् 'गिङ्कति च' इति गुणनिषेधात् । सनिग्रहगुहोश्चेति । 'अ्युकः किति' इत्यतः कितीत्यनुवर्तते 'नेङ्वशि' इत्यतः नेङिति चानुवर्तते । जिघृक्षतीति । ग्रहधातोः सनि 'रुदविदमुष' इत्यादिना सनः कित्वे 'ग्रहिज्या' इति सम्प्रसारणेन रेफस्य ऋत्वे 'गृह्-स' इत्यवस्थायां सस्य षत्वे परत्वात्प्राप्तेऽ-

झलादि 'सन्'के परे । सनि च—'इण्' धातुको 'गम्' आदेश हो, 'सन्'के परे, किन्तु बोधन अर्थमें नहीं हो । इङश्च—'इङ्' धातुको 'गम्' आदेश हो, 'सन्'के परे । रुद्—'रुद्' आदि धातुओंसे पर 'सन्' और 'क्त्वा' कित् हो । सनि—ग्रह्, गुह् और उगन्त धातुओंसे पर 'सन्' को 'इट्' नहीं हो । हलन्ताच्च—इक् समीप इल्से पर झलादि सन् कित् हो ।

संवरणे । जुषुक्षति । सुषुप्सति । किरश्च पञ्चभ्यः । ७।२।७५। कृ गृ दृ धृ
प्रच्छ-भ्यः सन इट् । पिपृच्छिषति । चिकरिषति । जिगरिषति । जिगलिषति ।
अत्रेटो दीर्घो नेष्टः । पूर्ववत्सनः । १।३।६२। सनः पूर्वो यो धातुस्तेन तुल्यं सन्न-
न्तादप्यात्मनेपदं स्यात् । दिदरिषते । दिधरिषते । बुभूषति । सनीचन्तर्द्धभ्रस्जद-

पि ढत्वदृष्ट्याऽसिद्धत्वात्पूर्व 'होढः' इति ढत्वे 'एकाचो' इति भण्ट्वे 'पढोः कः सि'
इति सकारे परतः ढस्य ककारे सनः सस्य पत्वे 'सन्यङोः' इति द्वित्वे 'उरत्' इत्यत्वे
रपरत्वे 'हलादिः शेषः' इत्याद्येतेषां हलां लोपे 'अभ्यासे चर्च' इति गस्य जत्वे 'स-
न्यत' इतीकारे 'जिघृक्ष' कषयोर्योगेन चत्वे कित्त्वेन गुणाभावे लटि तिपि शपि उक्तं
रूपं भवति । इलन्ताच्चेति । 'रुदविद' इत्यतः 'असंयोगादिलट् कित्' इत्यतश्च किदि-
त्यनुवर्तते । जुषुक्षति । गुहू=उद्यमने धातोः सनि पत्वस्यासिद्धत्वात् 'होढः' इति ढत्वे
'एकाचो' इति भण्ट्भावेन गस्य घत्वे 'सन्यङोः' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्यासत्वे
हलादिः शेषत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति घस्य जत्वे 'जुघुद् स' इति जाते 'पढोः कः सि'
इति कत्वे पत्वे चत्वे ततः परं लटि तिपि शपि पररूपे 'जुघुक्षति' इति रूपम् ।
सुषुप्सतीति । स्वपधातोः सनि तस्य 'रूपविद' इति कित्त्वे 'वचिस्वपि' इति संप्रसारणे
पररूपे 'सन्यङोः' इति द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे हलादिशेषत्वे पत्वे लटि तिपि शपि
पररूपे 'सुषुप्सति' इति रूपम् । किरश्च पञ्चभ्य इति । किर इति पञ्चमी । किरादिभ्यः
पञ्चभ्यः इति विवक्षितम् । 'स्मिपूङ्ग्वशां सनि' 'इडत्यति' इत्यंत इडित्यनुवर्तते ।
पिपृच्छिषतीति । प्रच्छधातोः सनि 'रुदविद' इति सनः कित्त्वात् 'ग्रहिज्या' इति संप्र-
सारणे पूर्वरूपे 'सन्यङोः' द्वित्वेऽभ्यासत्वे अभ्यासे 'उरत्' इत्यत्वे रपरत्वे हलादिशेषत्वे
'सन्यतः' इतीत्वे लटि तिपि शपि पररूपे सनः 'किरश्च पञ्चभ्यः' इतीडागमे पत्वे
'पिपृच्छिषति' इति रूपम् । चिकरिषति-जिगरिषति-जिगलिषति । चक्र-स-जगृ-स इत्यव-
स्थायां 'किरश्च पञ्चभ्यः' इति इडागमे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'सन्यतः'
इतीत्वे पत्वे 'चिकरिष जिगरिष' इति जाते लटि तिपि शपि पररूपे 'चिकरिषति'
'जिगरिषति' इति रूपे भवतः । यदा तु 'जिगरिषति' अत्र 'अचि विभाषा' इति गिरतेः
रेफस्य लत्वं स्यात्तदा 'जिगलिषति' इति रूपं भवति । अत्र 'वृत्तो वा' इति प्राप्तं
वैपक्षिकं दीर्घम् 'अत्रेटो दीर्घो नेष्टः' इत्यनेन निषिध्यते । 'पूर्वत्सन इति' । सन इति

किरश्च—'कृ' आदि पांच धातुओंसे पर सन्को इट् हो ।

पूर्व—'सन्'से पूर्व (सन् प्रकृतिभूत) जो धातु, उसीके समान सन्नन्तसे भी आत्मनेपद हो ।

नोटः—जिस धातुसे सन् किया जाय वह धातु यदि आत्मनेपद हो तो सन्नन्तसे भी आत्मनेपद होता है ।

सनी—इवन्त और ऋधादि धातुओंसे पर 'सन्' को इट् हो, विकल्पसे ।

अमुश्चिस्वयूर्णुभरञ्जपिसनाम् । ७।२।४९। इवन्तेभ्य, ऋधादिभ्यश्च सन इङ् वा ।
 इङभावे 'हलन्ताच्चे'ति कित्त्वम् । च्छ्वोः शूडनुनासिके च । ६।४।१९। सतुक्स्य
 छस्य, वस्य च क्रमात् श् ऊट् एतावादेशौ स्तोऽनुनासिके, कौ, फ़लादौ षिति च ।
 यण् । द्वित्वम् । दुद्यूषति । दिदेविषति । स्तौतिण्योरेव षण्यभ्यासात् । ८।३।६१।
 अभ्यासेणः परस्य स्तौतिण्यन्तयोरेव सस्य षः, षभूते सनि, नान्यस्य तुष्ट-
 सति । 'द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम्' इत्युत्त्वम् । सुच्चापयिषति ।
 सिषाधयिषति । स्तौतिण्योः किम् ? सुस्यूषति । सिसेविषति । आपञ्च-
 प्यधामीत् । ७।४।५५। इषामच ईत्स्यात्सादौ सनि । अत्र लोपोऽभ्यासस्य
 ७।४।५८। 'सनि मीमे'त्यारभ्य यदुक्तं तत्राभ्यासस्य लोपः स्यात् । आप्तुमिच्छति
 ईप्सति । अर्द्धितुमिच्छति-ईर्त्सति । अर्दिधिषति । विभ्रज्जिषति । विभर्जिषति । विभ्रञ्जति ।

पञ्चमी । पूर्वेण पूर्वस्य वा तुह्यं पूर्ववत् । पूर्वपदेन धातुर्गृह्यते । दिदरिषते-दिधरिषते ।
 दृष्ट्वा = अनयोर्धात्वोः सनि 'किरश्च पञ्चभ्यः' इतीटि 'सन्यङोः' द्वित्वेऽभ्यासत्वे
 'उरत्' इत्यत्वे हलादिः शेषत्वे 'सन्यतः' इतीत्वे परवे 'दिदरिष' 'दिधरिष' इति जाते
 लटि 'पूर्ववत्सनः' इत्यात्मनेपदे तडि शपि पररूपे टेरत्वे च कृते 'दिदरिषते' 'दिधरि-
 षते' इति भवतः । च्छ्वोः शूडेति । चकारेण तुगागमोऽनुमीयतेऽत आह-सतुक्स्येति ।
 दिदेविषति । दिवधातोः सनि 'सनीवन्तर्ध' इतीटि 'सन्यङोः' इति द्वित्वे हलादिः
 शेषत्वे 'सन्यतः' इतीत्वे 'पुगन्त' इति गुणे षत्वे लटि तिपि शपि पररूपे 'दिदेविषति' ।
 यदा 'सनीवन्तर्ध' इति नेट् स्यात्तदा 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' इति ऊठि 'इ' इत्यस्य
 द्वित्वे अभ्यासत्वे ह्रस्वत्वे लटि तिपि शपि पररूपत्वे 'दुद्यूषति' इति रूपम् । स्तौतिण्यो-
 रेवेति । 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' इत्यधिकृतम् । 'इणकोः' इति च । तुष्टयतीति । स्तुधातोः
 सनि 'स्तौतिण्योः' इति षत्वे ष्त्वत्वे 'अज्झन' इति दीर्घे लटि तिपि शपि रूपम् ।
 'सिसाधयिषतीति । साध धातोः सनि 'सन्यङोः' इति द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे ह्रस्वे
 'सन्यतः' इतीत्वे इटि गुणेऽयादेशे 'स्तौतिण्योः' इति षत्वे 'सिसाधयिष' इति सञ्जन्ता-
 ल्लटि तिपि शपि पररूपे 'सिसाधयिषति' इति रूपम् । आपञ्चप्यधामिति । 'सनिमीमा'
 इत्यतः सनीति अच इति चानुवर्तते । अत्र लोप इति । 'सनि मीमा' 'आपञ्चप्य' 'दम्भ-
 ङ्ङ' 'मुचोऽकर्मकस्य' इति कार्यचतुष्टयमत्रेत्यनेन परामृश्यते । ईप्सतीति । आप्लृ =
 लम्भनेऽस्मात्सनि 'सन्यङोः' इति द्वित्वात्पूर्वं 'आपञ्चप्य' इतीत्वे ततो द्वित्वे 'अत्र

च्छ्वोः—'तुक्'सहित छकार-वकारको क्रमसे 'श्' और 'ऊट्' आदेश हो, अनुनासिकके परे
 और झलादि कित्-ङित् प्रत्ययके परे । [स्तौति—अभ्यास सम्बन्धी 'इण्' से पर स्तु धातु
 और ण्यन्त धातुके ही सकारको षत्व हो, षभूत सनके परे । आपञ्च—आप्, इप् और ऋध
 धातुके अच्को ईत्व हो, सकारादि सनके परे । अत्र—'सनि मीमा' इस सूत्रसे लेकर जो

विभर्षति । दम्भ इच्च । ७।४।५६। दम्भेरच इत्स्यात्, ईच्च, सादौ सनि । 'हल-
न्तादि'त्यत्र हलग्रहणं जातिपरम् । तेन सनः कित्वाञ्चलोपः । धिप्सति । धीप्सति ।
दिदम्भिषति । शिश्रीषति । शिश्रयिषति । 'उदोष्ठ्ये'त्युत्त्वम् । सुस्वूर्षति । सिस्वरिपति ।
युयूषति । यियविषति । 'विभाषेणोः' इति ङित् । ऊर्णुनूषति । ऊर्णुनुविषति ।
ऊर्णुनविषति । वुभूर्षति । विभरिषति । झीप्सति । जिज्ञपयिषति । सिषासति । सिस-

लोप' इति लोपे लटि तिपि शपि पूर्वरूपे 'ईप्सति' इति रूपं भवति । अर्दिधिषति ।
ऋधेः सनि 'सनीव' इतीटि द्वित्वे उरदत्वे रपरत्वे षत्वे लटि तिपि शपि पररूपे
'अर्दिधिषति' इति रूपम् । यदा नेट् स्यात्तदा 'आप्ञ्झप्यधामीत्' इतीदादेशे रपरत्वे
द्वित्वे चत्वे 'अत्र लोप' इत्यभ्यासलोपे, लटि तिपि शपि पररूपे 'ईप्सति' इत्यपि
द्वितीयं रूपम् । विभ्रज्जिषति । अस्ज धातोः सनि 'सनीव' इति वैपक्षिके इटि ततो
द्वित्वे हलादिः शेषत्वे 'सन्यतः' इतीत्वे अभ्यासचत्वे सस्य श्रुत्वेन शत्वे तस्य जश्त्वेन
जत्वे षत्वे लटि तिपि शपि पररूपे 'विभ्रज्जिषति' इत्येकं रूपम् । 'अस्जो रोपधयोः'
इति रमागमपक्षे 'विभर्जिषति' इति रूपम् । इडभावे च रमागमाभावे च 'विभ्रज्जति'
इति रूपं साधु । रमागमपक्षे 'विभर्जति' इति चतुर्थं रूपम् । दम्भ इच्चेति । 'सनि-
मीमा' इत्यतः सनि अच इति चानुवर्तते । धिप्सति । दम्भधातोः सनि 'सनीव' इति
पाक्षिके इटि द्वित्वे हलादिः शेषत्वे 'दिदम्भिष' इति जाते लटि तिपि शपि पररूपे
'दिदम्भिषति' इति रूपम् । यदेडागमो न स्यात्तदा 'दम्भ इच्च' इति इति 'हलन्ताच्च'
इति सनः कित्त्वे 'अनुनासिकस्य' इति मलोपे ततः 'एकाचोवशो' इति भष्मावेन दस्य
धत्वे चत्वेन भस्य पत्वे द्वित्वे 'अत्र लोप' इति अभ्यासलोपे 'धिप्सति, धीप्सति' इति
रूपद्वयं सिध्यति । शिश्रीषति । श्रिञ् सेवायां धातोः सनि 'सनीव' इतीडभावे द्वित्वे
हलादिः शेषत्वे 'अज्झन' इति दीर्घे पत्वे लटि तिपि शपि पररूपे 'शिश्रीयिषति' इति
रूपम् । ततः परं यदा 'सनीव' इति इडागमः स्यात्तदा गुणेऽयादेशे 'शिश्रयिषति'
इति रूपम् । सुस्वूर्षति । स्वृधातोः सनि 'सनीव' इतीडभावे द्वित्वे हलादिः शेषत्वे
'उदोष्ठ्य' इत्युति रपरत्वे 'उपधायां च' इति दीर्घत्वे षत्वे लटि तिपि शपि पररूपे रूपम् ।
सनीव इतीटि सति गुणे रपरत्वे 'सिस्वरिपति' इत्यपि साधु । युयूषतीति । युधातोः
सनि 'सनीव' इतीडभावे द्वित्वे 'अज्झन' इति दीर्घे पत्वे लटि तिपि शपि पररूपत्वे
युयूषति । यदा इडागमः स्यात्तदा गुणेऽयादेशे द्वित्वे हलादिः शेषत्वे 'सन्यतः' इतीत्वे
यियविषति इति रूपं सिध्यति । ऊर्णुनुविषति । ऊर्णुञ् धातोः सनि 'सनीव' इतीड-
भावे नुशब्दस्य द्वित्वे 'अज्झन' इति दीर्घे पत्वे लटि तिपि शपि पररूपे 'ऊर्णुनूषति'

चार (इस्, ईत्स्व, इत्स्व, गुण) कार्यं कहे हैं, वहां (उनके होनेपर) अभ्यासका लोप हो ।
दम्भ—'दम्भ' धातुके 'अच्'को इत्स्व तथा ईत्स्व भी हो, सादि सन्के परे ।

निषति । (आशङ्कायां सन्वक्तव्यः) आ मुमूर्षति । (तनिपत्तिद्विधाति-
भ्यः सनो वेङ् वाच्यः) तनोतेर्विभाषा । ५।४।१७ तनोतेरुपधाया दीर्घो वा
स्याज्जलादौ सनि । तितांसति । तितंसति । तितनिपति । कूलं पिपतिपति । सनि

इत्येकं रूपं भवति । यदा 'सनीव' इतीडागमः स्यात्तदा 'विभाषोणोः' इति द्वित्वे च
ऊर्णुनुविषति । अत्र 'उवडादेशः स्पष्टः' । यदा द्वित्वं न स्यात्तदा गुणेऽवादेशे 'ऊर्णु-
नविषति' इति रूपं स्पष्टम् । विभरिषति । शृङ्धातोः सनि 'सनीव' इति इटि गुणे
रपरत्वे द्वित्वे अभ्यासचत्वे 'सन्वतः' इतीरत्वे पत्वे लटि तिपि शपि पररूपे 'विभरि-
षति' । इडभावे 'उदोष्ठ्य पूर्वस्य' इत्युतिरपरत्वे 'उपधायां च' इति दीर्घे द्वित्वे ह्रस्वे
हलादिशेषत्वे चत्वे पत्वे लटि तिपि शपि पररूपे च कृते 'बुभूर्पति' इति रूपम् ।
जिहपयिषति । जपि धातोः सनि 'सनीव' इति इटि द्वित्वे हलो लोपे चत्वेन जत्वे
'सन्वतः' इतीरत्वे गुणेऽयादेशे लटि तिपि शपि पररूपे 'जिहपयिषति' इति रूपं
सिध्यति । इडागमो न स्यात्तदा 'आप्ज्ञप्यु' इति ईदादेशे ततो द्वित्वे 'अत्र लोप' इति
अभ्यासलोपे लटि तिपि शपि पररूपे 'ज्ञीप्सति' इति रूपम् । सिसनिषति ।
सनुधातोः सनि 'सनीव' इति इटि द्वित्वे हलो लोपे 'सन्वतः' इतीरत्वे पत्वे लटि
तिपि शपि पररूपे 'सिसनिषति' इति रूपम् । यदा नेट् स्यात्तदा 'जनसनखनां'
इति आरत्वे द्वित्वे 'सन्वतः' इतीरत्वे पत्वे 'सिषासति' इति द्वितीयं रूपम् । आशं-
कायामिति । आशङ्काविषयक्रियावृत्तेर्धातोः सन्नित्यर्थः । मुमूर्षति । मृङ् = प्राण-
त्यागेऽस्मात्सनि ऊठि रपरत्वे 'सन्वडोः' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलादिशेषत्वे ह्रस्वत्वे
सन्नन्तत्यादानुत्वे लटि तिपि शपि पररूपत्वे 'मुमूर्षति' इत्येकमेव रूपं भवति ।
श्चेतिपदं तु मरणशङ्काविषयकर्तुः स्फोरणार्थमित्यवधेयम् । तनोतेरिति । 'नोपधायाः'
इत्यतः 'ढ्रलोपे' इत्यतश्च तदनुवृत्तेरिति भावः । अउक्षन इत्यतः झलीति
अनुवर्तते । तितनिषति । तनोतेः सनि 'तनिपति' इति वैकल्पिके इटि 'सन्व-
डोः' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलादिशेषत्वे 'सन्वतः' इतीरत्वे पत्वे 'तितनिष' इति
जाते धातुत्वाल्लटि तिपि शपि पररूपे 'तितनिषति' इत्येकं रूपं भवति । इडभावे—
तितान्सतीति । तनोतेः सनि 'तनिपति' इडभावे 'तनोतेर्विभाषा' इति दीर्घे ततो
द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलो लोपे ह्रस्वत्वे 'सन्वतः' इतीरत्वे 'नश्चापदान्तस्य' इत्यनुत्वारि
'तितान्स' इति जाते धातुत्वाल्लटि तिपि शपि पररूपे 'तितान्सति' इति द्वितीयं
रूपम् । इडभावे दीर्घभावे च 'तितंसति' इति तृतीयं रूपं प्रसिद्धमेव । पिपति-
षति । पत्धातोः सनि 'तनिपति' इति वेटि द्वित्वे हलादिः शेषत्वे 'सन्वतः' इतीरत्वे

आशं—आशंका अर्थमेव भी धातुसे 'सन्' प्रत्यय हो । तनिपति—तनादि धातुओंसे
पर 'सन्'को इट् हो, विकल्पसे । तनो—'तन' धातुकी उपधाको दीर्घ हो, झञादि सन्के परे,
विकल्पसे । सनि—'नी' आदि धातुओंके 'अच्'को 'इस्' आदेश हो, सकारादि सन्के परे ।

मीमाञ्चुरभलभशकपतपदामच इस् । ७।४।५४। एषामच इस् स्यात्सादौ सनि । अभ्यासलोपः । सलोपः । पित्सति । दिदरिद्रिषति । दिदरिद्रासति । मुचोऽ-
कर्मकस्य गुणो वा । ७।४।५७। मुचोऽकर्मकस्य गुणो वा स्यात् सादौ सनि ।
अभ्यासलोपः । मोक्षते, मुमुक्षते वा वत्सः स्वयमेव । अकर्मकस्य किम् ? मुमुक्षति
वत्सं कृष्णः । इट् सनि वा । ७।२।४१। वृङ् वृञ् अभ्यामृदन्ताच्च सन इड् वा । विवरिषते ।

पत्वे लटि तिपि शपि पररूपे 'पिपतिपति' इति रूपं भवति । इडभावे तु—
सनि मीमेति । 'अत्र लोपः' इत्यतः अभ्यासलोप इति लभ्यते । 'सः सि' इत्यतः सादि
इति लभ्यते । इडागमरहित इत्यर्थः । पित्सति । पत्धातोः सनि 'सनिमीमा' इति
अचः स्थाने इसादेशे द्वित्वे 'अत्र लोप' इत्यभ्यासलोपे 'पित्स त स' इति जाते
'हलन्ताच्च' इति कित्वे 'स्कोः' इति सलोपे 'पित्स' इत्यवशिष्टे लटि तिपि शपि
पररूपे 'पित्सति' इति रूपं भवति । दिदरिद्रिषति । द्रिद्राधातोः सनि 'तनिपति'
इडागमे 'आतो लोप इटि च' इत्यालोपे 'सन्त्यङोः' इति द्वित्वे 'सन्त्यतः' इतीत्वे
पत्वे 'दिदरिद्रिप' इति जाते लटि तिपि शपि 'दिदरिद्रिपति' इति रूपं भवति ।
यदेडागमो न स्यात्तदा 'दिदरिद्रासति' इति द्वितीयं रूपं सिद्धम् । मुचोऽकर्मकस्येति ।
'सः सि' इत्यतः सि 'सनि मीमा' इत्यतः सनीति चानुवर्तते । 'हलन्ताच्च' इति
कित्वेन गुणाप्राप्तौ वचनमिदम् । मुमुक्षत इति । मुच्लधातोः सनि 'मुचोऽकर्म-
कस्य गुणो वा' इति वैभाषिके गुणे द्वित्वे 'अत्र लोप' इति लोपे 'चोः कुः' इति
कुत्वेन चस्य कत्वे सस्य पत्वे उभयोः संयोगेन क्षत्वे लटि 'पूर्ववत्सनः' इत्यात्मने-
पदे तङि टेरेत्वे शपि पररूपे 'मोक्षते' इति प्रथमं रूपम् । यदा गुणो न स्यात्तदाऽ-
भ्यासलोपोऽपि न स्यात् । अतः 'मुमुक्षते' इति सुकरमेव । वत्सः स्वयमेवेति
पदत्रयं तु धातोरकर्मत्वस्फोरणायेति बोध्यम् । सकर्मकमुदाहरति । मुमुक्षति वत्सं
कृष्ण इति । अत्र केवलं परस्मैपदभेदो गुणराहित्यं चेति बोध्यम् । इट् सनि वेति ।
वृत्तो वेत्यतः । 'वृत्' इत्यनुवर्तते । 'सनि ग्रंहगुहोश्च' इत्यस्यापवादः । विवरिषते ।
वृञ्धातोः सनि 'इट् सनि वा' इति इटि गुणे रपरत्वे द्वित्वे हलो लोपे 'सन्त्यतः'
इतीत्वे पत्वे उभयपदत्वात्तङि टेरेत्वे शपि पररूपे 'विवरिषति' इत्येकं रूपम् ।
'वृत्तो वा' इति दीर्घपत्वे च 'विवरीषते' इति रूपम् । यदा परस्मैपदं तदा 'विवरि-
षति' 'विवरीषति' इति रूपद्वयं भवति । यदेडागमो न स्यात्तदा 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य'
इत्युति 'हलि च' इति दीर्घे द्वित्वे ह्रस्वे हलो लोपे पत्वे [लटि तङि शपि
टेरेत्वे पररूपत्वे 'बुवूर्षते' । परस्मैपदे तु 'बुवूर्षति' इत्यादि रूपाणि भवन्ति ।

मुचो—अकर्मक 'मुच्' धातुको गुण हो, सकारादि सन्के परे, विकल्पसे । इट् सनि-
वृङ्, वृञ् और ऋदन्त धातुओंसे पर सन्को इट् हो, विकल्पसे ।

विवरीषते । वुवृषते । विवरिषति । तितरिषति । तितरीषति । तितीर्षति ।
 स्मिपूङ्-ञ्ज्वशां सनि । ७।२।७४। स्मिङ् पूङ् ऋ अञ्जू अश्-एभ्यः सन् इट् ।
 सिस्मयिषते । पिपविषते । अरिरिषति । अञ्जिजिषति । अशिशिषति । गुप् गोपने ।
 तिज निशाने । कित निवासे, रोगापनयने च । मान पूजायाम् । वध वन्धने । दान
 खण्डने । शान तेजने । गुप्तिज्किञ्चन्यः सन् । ३।१।५। मान्वधदानशान्भ्यो
 दीर्घश्चाभ्यासस्य । ३।१।६। सूत्रद्वयोक्तेभ्यः सन् स्यात् मानादीनामभ्यासस्येकारस्य
 दीर्घश्च । गुपेर्निन्दायाम् । तिजेः क्षमायाम् । कितेर्व्याधिप्रतीकारे, निग्रहे
 अपनयने, नाशने, संशये च । मानेर्जिज्ञासायाम् । वधेश्चित्तविकारे ।
 दानेरार्जवे । शानेर्निशाने । गुप्तिप्रभृतयः किञ्चिन्ना निन्दाद्यर्थका एवानुदात्तेतो,
 दानशानौ तु स्वरितेतौ । एत्वर्थेषु एते नित्यसन्नन्ताः । अर्थान्तरे त्वननुबन्धकाश्चुरा-
 दयः । अनुबन्धस्य केवलेऽचरित्त्वार्थत्वात्सन्नन्तात्पदव्यवस्था । 'धातो'रित्यविहितत्वा-

तितरिषति । तधातोः सनि इटि गुणे रपरत्वे द्वित्वे हलो लोपे 'सन्न्यतः' इतीस्वे षत्वे
 लटि तिपि शपि पररूपे 'तितरिषति' इत्येकं रूपं भवति । 'वृत्तो वा' इति पचे
 तु 'तितरीषति' इति द्वितीयं रूपं भवति । यदा इडागमो न स्यात्तदा 'ऋत
 इद्धातोः' इतीति रपरत्वे ततो द्वित्वे हलो लोपे षत्वे लटि तिपि शपि पररूपे 'तिती-
 र्षति' इति रूपं भवति । स्मिपूङिति । 'इङित्यर्ति' इत्यत इडिति अनुपज्यते ।
 सिस्मयिषते । स्मिङ् धातोः सनि 'स्मिपूङ्' इति इटि गुणेऽयादेशे द्वित्वेऽभ्यास-
 कार्ये 'सन्न्यतः' इतीस्वे षत्वे लटि 'पूर्ववत्सनः' इति तङि टेरेस्वे शपि गुणे पररूपे
 'सिस्मयिषते' । पिपविषते । पूङ् धातोः सनि 'स्मिपूङ्' इतीटि गुणेऽवादेशे द्वित्वे
 'सन्न्यतः' इतीस्वे लटि तङि टेरेस्वे शपि पररूपे 'पिपविषते' इति रूपम् । अरि-
 रिषति । ऋधातोः सनि 'स्मिपूङ्' इति इटि गुणे 'रि' इत्यस्य द्वित्वे षत्वे लटि
 तिपि शपि पररूपे रूपम् । अञ्जिजिषति-प्रशिशिषति । अञ्-अश् इति धात्वोः सनि
 'स्मिपूङ्' इतीटि 'जि=शि' इत्यनयोर्द्वित्वे षत्वे लटि तिपि शपि पररूपे 'अञ्जिजि-
 षति' 'अशिशिषति' इति । गुप्तिजिति । एभ्यो धातुभ्यः सन् स्यादित्यर्थः । मान्वधे-
 ति । एभ्यो धातुभ्यः सन् स्यात्सनि चाभ्यासस्य दीर्घः स्यादित्यर्थः । अत्र
 सनिति 'गुप्तिज्' इत्यतोऽनुकृत्यते । गुपादीनां सन्न्यवस्थामाह 'गुपेर्निन्दायाम्'
 सन् इत्यर्थः । 'तिजेः क्षमायाम् । 'कितेर्व्याधिप्रतीकारे' । वधेश्चित्तविकारे ।

स्मिपूङ्—'स्मिङ्' आदि धातुओंसे पर सन्को इट् हो ।

गुप्तिज्, मान्वध—इन सूत्रद्वयोक्त गुपादि सात धातुओंसे सन् प्रत्यय हो
 और मान्, वध, दान् और शान् धातुओंसे सन् तथा सन्-सन्नियोगशिष्टेन धातुओंके
 अभ्यासावयव इकारको दीर्घ भी हो ।

त्सनोऽत्र नाद्धधातुक्त्वम् । तेनेङ्गुणौ न । जुगुप्सते । तितिक्षते । चिकित्सति ।
मीमांसते । बीभत्सते । दीदांसति । दीदांसते । शीशांसति । शीशांसते । णिचि
तु—गोपयति । गोपयते इत्यादि । इति सन्नन्तप्रकरणम् ।

अथ यङन्तप्रकरणम्

धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ् । ३।१।२२। पौनःपुन्ये,
भृशार्थे च द्योत्ये धातोरेकाचो हलादेर्यङ् । गुणो यङ्लुकोः । ७।४।८२। अभ्यासस्य
'सनाद्यन्ता' इति धातुत्वाल्लडादयः । ङिदन्तत्वादात्मनेपदम् । पुनः पुनरतिशयेन वा
भवति—बोभूयते । बोभूयाश्चक्रे । अबोभूयिष्ट । धातोः किम् ? अर्द्धधातुक्त्वं यथा

'दानेरार्जवे' । 'शानेर्निशाने' । एतानि सप्त वार्तिकानीत्यवसेयम् । एतेष्वेव वार्ति-
कार्थेषु सत्सु एतेषां धातूनां अनुदात्तेष्वमवधेयमन्यथा परस्मैपदमेवेति भावः ।
नित्यसन्नन्तत्वमपि अनुदात्तेष्वसत्त्वं एव नान्यथा । जुगुप्सते । गुपधातोर्निन्दायाम्
सनि द्वित्वेऽभ्यासकार्ये चत्वे 'हलन्ताच्च' क्तिवाद्गुणाभावे । 'पूर्ववत्सनः' इत्यात्मने-
पदे तङि टेरित्वे 'जुगुप्सते' इति रूपम् । तितिक्षत । तिज धातोः 'गुप्तिज्' किङ्कथः सन्
इति सनि द्वित्वे 'हलन्ताच्च' इति क्तिवेन गुणाभावे 'चोः कुः' इति कुत्वे षत्वे
चत्वे 'तितिक्षते' इति रूपम् । चिकित्सति । कितधातोः 'गुप्तिज्' इति सनि द्वित्वे
कुत्वे क्तिवेन गुणाभावे लटि तिपि शपि पररूपे 'चिकित्सति' इति रूपम् । मीमांसते ।
मानधातोः 'मानेर्जिज्ञासायाम्' इति सनि द्वित्वे ह्रस्वे हलो लोपे 'सन्त्यतः' इतीत्वे
'मान्वधदान्' इति दीर्घे लटि तङि शपि पररूपे 'मीमांसते' इति रूपम् । बीभत्सते
बधधातोः 'बधेश्चिक्तविकारे' इति सनि द्वित्वे सन्त्यतः' इतीत्वे 'मान्वध' इति
दीर्घे 'एकाचो' इति भत्वे 'खरि च' इति चत्वे तङि टेरित्वे शपि पररूपे 'बीभत्सते'
इति रूपम् । इति सन्नन्तप्रकरणम् ।

द्योत्ये इति । वाच्यत्वे तु प्रत्ययवाच्यस्य प्रधानतया सन्नन्ते इच्छया इव तस्य
विशेष्यत्वं स्यादिति भावः । बोभूयते । भूधातोः 'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे

पदव्यवस्था—अर्थात् 'परस्मैपदात्मनेपदयोरुत्पत्तिः' ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें सन्नन्तप्रकरण समाप्त हुआ ।

धातोः—पौनः पुन्य (बार-बार) और भृशार्थं (अत्यधिकता) द्योत्य होनेपर हलादि,
एकाच् धातुसे 'यङ्' प्रत्यय हो । गुणो—अभ्यासको गुण हो, 'यङ्'के परे और यङ्लुक्के
२२ म० कौ०

स्यात् । तेन 'ब्रुवो वचि' रित्यादि । एकाचः किम् ? पुनः पुनर्जागर्ति । हलादेः किम् ? मृशमीक्षते । नित्यं कौटिल्ये गतौ । ३।१।२३। गत्यर्थात्कौटिल्ये एव यङ्, न तु क्रियासमभिहारे । दीर्घोऽकितः । ७।४।८३। अकितोऽभ्यासस्य दीर्घो, यङ्य-ङ्लुकोः । कुटिलं व्रजति—वाव्रज्यते । यस्य हलः ६।४।४९। 'यस्ये'ति संघातप्रहणम् । हलः परस्य यशब्दस्य लोपः स्यादार्द्धधातुके । 'आदेः परस्य' । 'अतो लोपः' । वाव्रजाञ्चक्रे । वाव्रजिता । रीडृतः । ७।४।२७। अकृद्यकारे, असार्धधातुक-

यङ्' इति यङ्प्रत्यये ङकारेत्संज्ञायां लोपे च 'सन्यङोः' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्याससंज्ञायां 'हलादिः शेषः' इत्यादिहलःशिष्टे ह्रस्वे 'अभ्यासे चर्च' इति भस्य वत्त्वे 'गुणो यङ्लुकोः' इत्यभ्यासस्य गुणे 'बोभूय' इति जाते 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वात् 'वर्तमाने लट्' इति लटि, यङो डित्वात् 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' इति लटो लः स्थाने तङि 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति तस्य सार्वधातुकसंज्ञायां 'कर्तरि शप्' इति शपि अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'दित आत्मनेपदानां टेरे' इति तस्य टेरेत्वे 'बोभूयते' इति । अवोभूयिष्ट । भूइत्यस्माद् धातोः यङि द्वित्वेऽभ्यासगुणे जश्त्वे 'बोभूय' इत्यस्य धातुत्वाल्लुङो लः स्थाने तप्रत्ययेऽटि च्लेः सिचि इचावितौ तयोर्लोपे च कृते स् इत्यस्य आर्धधातुकत्वं इटि 'अतो लोपः' इति यङोऽकारस्य लोपे पत्वे घुस्वे च 'अवोभूयिष्ट' इति रूपम् । वाव्रज्यते । व्रजधातोः 'नित्यं कौटिल्ये गतौ' इति यङि द्वित्वेऽभ्यासत्वे अभ्यासकार्ये च कृते 'व व्रज्य' इति जाते 'दीर्घोऽकितः' इति अभ्यासाकारस्य दीर्घे 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वाल्लटस्ते शपि, अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे' इति पररूपे टेरेत्वे च 'वाव्रज्यते' इति रूपम् । वाव्रजाञ्चक्रे । व्रजधातोर्यङि द्वित्वेऽभ्यासत्वे अभ्यासकार्ये 'दीर्घोऽकितः' इत्यभ्यासदीर्घे च कृते 'वाव्रज्य' इति जाते धातुत्वाल्लिटि अनेकाच्चादाग्रप्रत्यये 'आदेः परस्य' इति सूत्रवलात् 'यस्य हलः' इति यलोपे 'अतो लोपः' इत्यल्लोपे 'आमः' इति लिटो लुकि 'वाव्रजाम्' इति भूते 'कृच्चानुप्रयुज्यते 'लिटि' इति लिट्परकृञोऽनुप्रयोगे तप्रत्यये तस्य एशि द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'अभ्यासकार्ये, कृते चानुस्वारे परसवर्णे 'वाव्रजाञ्चक्रे' इति सिद्धम् । रीड् ऋत इति । रीडित्यादेशकथनम् । ऋतः इति षष्ठी । अङ्गस्येति अधिकारात्तद्विशेष-

विषयमें । नित्यं—गत्यर्थक धातुसे कौटिल्य (वक्रगति) अर्थमें ही यङ् प्रत्यय हो किन्तु क्रियाके समभिहार (पौनः पुन्य या मृशार्थ) में नहीं हो । दीर्घो—अकित अभ्यासको दीर्घ हो, यङ्के परे और यङ्लुक्के विषयमें । यस्य—हल्से पर 'य' शब्दका लोप हो, आर्धधातुकके परे । रीड्—ऋदन्त अङ्गको 'रीङ्' आदेश हो, अकृत सम्बन्धी यकार तथा अ-

यकारे, च्चौ च परे ऋदन्ताङ्गस्य रीडादेशः । डुकृञ् करणे । चेक्रीयते । रीगृदु-
पधस्य च । ७।४।९०। ऋदुपधस्य धातोरभ्यासस्य रीगागमो, यङ्यङ्लुकोः । वरीवृ-
त्यते । वरीवृताच्चक्रे । वरीवृतिता । 'क्षुभ्नादिषु च' । एषु णत्वं न । नरीनृत्यते ।
जरीगृह्यते ॥ (रीगृत्त्वत इति वाच्यम्) वरीवृश्च्यते । लुपसदचरजपजभदहद-

णम् । अत आह ऋदन्ताङ्गस्य रीडादेशः स्यादिति । चेक्रीयत इति । पुनः पुनः करोतीति
विग्रहे-‘डुकृञ्’ धातोः ‘धातोरैकाचः’ इति यङि ‘रीङ् ऋत्’ इति रीङि ‘सन्त्यङोः’
इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलादिः शेषत्वे ‘ह्रस्वः’ इति ह्रस्वे ‘गुणो यङ्लुकोः’ इति गुणे
चत्वे ‘चेक्रीय’ इति जाते सनादिस्वाद्धातुत्वे लटि यङो ङित्वादात्मनेपदे तङि ढेरेत्वे
शपि पररूपे ‘चेक्रीयते’ इति अग्रे सुलभम् । चेक्रीयान्चक्रे । चेक्रीयिता । चेक्रीयिष्यते ।
चेक्रीयताम् । अचेक्रीयत । चेक्रीयेत । चेक्रीयिषीष्ट । अचेक्रीयिष्ट । अचेक्रीयिष्यत ।
इत्यादि । वरीवृत्यते । वृत्धातोर्यङि द्वित्वे अभ्याससंज्ञायाम् ‘उरत्’ इत्यभ्यासस्य
अत्वे ‘उरण् रपरः’ इति रपरे ‘हलादिः शेषः’ इत्यादिहलोऽवशिष्टे ‘रीगृदुपधस्य
च’ इति अभ्यासस्य रीगागमे ‘वरीवृत्य’ इत्यस्य ‘सनाद्यन्ता धातवः’ इति धातु-
त्वाल्लटस्ते शपि अनुबन्धलोपे ‘अतो गुणे’ इति पररूपे ढेरेत्वे च कृते ‘वरीवृत्यते’
इति रूपम् । पुनः पुनः वर्तते इति हि तस्यार्थः । वरीवृतिता । वृत्धातोर्यङि, द्वित्वेऽ-
भ्यासत्वे अभ्यासकार्यं च जाते, रीगृदुपधस्य च’ इति धातोरभ्यासस्य रीगागमे
‘वरीवृत्य’ इति जाते ‘सनाद्यन्ता धातवः’ धातुसंज्ञायाम् लुटि, लुटो लः स्थाने
तिपि, तासि तिपो ङादेशे, ‘यस्य हलः’ इति यमात्रस्य लोपे ‘अतो लोपः’ इत्य-
कारस्य लोपे ‘वरीवृत् तास् ड’ इति जाते ङकारे गते ङित्वाट्टिलोपे, तास ङङागमे,
‘वरीवृतिता’ इति रूपम् । नरीनृत्यते । नृत्धातोर्यङि, द्वित्वेऽभ्यासकार्यं, रीगागमे
धातुत्वाल्लटस्तादेशे शपि, अनुबन्धलोपे, पररूपे ढेरेत्वे ‘नरीनृत्यते’ इति स्थितौ
‘अट्कुप्वाङ्नुम्वयायेऽपि’ इति णत्वे प्राप्ते ‘क्षुभ्नादिषु च’ इति णत्वनिषेधे सति
‘नरीनृत्यते’ इति रूपम् । जरीगृह्यते । ग्रहधातोर्यङि ङित्वात्सम्प्रसारणे ‘सम्प्रसारणाच्च’
इति पूर्वरूपे ‘गृह् य’ इति जाते ‘सन्त्यङोः’ इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे, अभ्यासकार्यं
‘रीगृदुपधस्य च’ इत्यभ्यासस्य रीगागमे, धातुत्वाल्लटस्ते प्रत्यये, शपि, अनुबन्ध-
लोपे, ‘अतो गुणे’ इति पररूपे ढेरेत्वे च कृते ‘जरीगृह्यते’ इति रूपम् । रीगृत्त्वत इति
वाच्यमिति । ऋकारोऽस्यास्तीति ऋत्वान् तस्येत्यर्थः । रीगित्यागमनिर्देशः । वरीवृश्च्य-
त इति । ओ ब्रश्चधातोः धातोरैकाचो’ इति यङि ङित्वात् ‘ग्रहिज्या’ इति संप्रसारणे

सार्व धातुक यकार और च्वि प्रत्ययके परे । रीगृ-ऋदुपध धातुके अभ्यासको ‘रीक्’ का आगम
हो, यङ् और यङ्लुके विषयमें । रीगृत्त्वत्-(पूर्व सूत्रमें ‘ऋदुपध’ नहीं कहकर) ऋदन्त
धातुके अभ्यासको ‘रीक्’ हो ऐसा ही कहना चाहिये । लुप्-‘लुप-सद’ आदि धातुओंसे

शङ्भ्यो भावगर्हायाम् । ३।१।२४। एभ्यो धात्वर्थगर्हायामेव यङ् स्यात् । गर्हितं लुप्पति-लोलुप्यते । सासद्यते । चरफलोश्च । ७।४।८७। अनयोरभ्यासस्याऽतो नुक् यङ्यङ्लुकोः । 'नु' गित्यनेनाऽनुस्वारो लक्ष्यते । स च पदान्तवद्भाच्यः । 'वा पदान्तस्ये'ति यथा स्यात् । उत्परस्याऽतः । ७।४।८८। चरफलोभ्यासात्परस्याऽत उत्त्याद्यङ्यङ्लुकोः । 'हलि चे'ति दीर्घः । चञ्चूर्यते । पंफुल्यते । पम्फुल्यते । जपज-भदहदशभञ्जपशां च । ७।४।८९। एषामभ्यासस्य नुक् स्यात् यङ्-यङ्लुकोः । न कवतेर्यङि । ७।४।९३। कवतेरभ्यासस्य नुत्वं न स्याद्यङि । कोकूयते । कौति-

'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'सन्त्यङोः' इति द्वित्वे 'उरत्' इति अत्वे रपरत्वे हलादिः शेषत्वे 'रीगृत्वतः' इति अभ्यासस्य रीगागमे कित्वादन्तत्वे 'वरीवृश्च्य' इति जाते यङो कित्वादात्मनेपदे तङि टेरत्वे शपि पूर्वरूपे 'वरीवृश्च्यते' इति रूपम् । वरीवृश्चां चक्रे । वरीवृश्चिता । वरीवृश्चिष्यते । वरीवृश्च्यताम् । अवरीवृश्च्यत । वरी-वृश्च्येत । वरीवृश्चिषीष्ट । अवरीवृश्चिष्ट । अवरीवृश्चिष्यत । लुपसदचरेति । यङिति अनुवर्तते । भावः धात्वर्थः । तद्गता गर्हा भावगर्हा । तस्यामित्यर्थः । लोलुप्यते । गर्हितं लुप्यतीत्यर्थे 'लुपसदचर' इति यङि 'सन्त्यङोः' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलो लोपत्वे 'गुणोयङ्लुकोः' इति गुणे तङि टेरत्वे शपि पूर्वरूपे 'लोलुप्यते' इति रूपम् । सासद्यत इति । सदधातोः 'लुपसद' इति यङि द्वित्वे हलो लोपे 'दीर्घोऽकितः' इति दीर्घे तङि टेरत्वे शपि पूर्वरूपे सासद्यते । चरफलोश्चेति । 'अत्र लोपः' इत्यतोऽभ्यासस्येत्यनुवर्तते । 'नुगतोऽनुनासिकान्तस्य' इत्यतः अतो नुगिति । 'गुणो यङ्लुकोः' इत्यतः यङ्लुकोरिति चानुवर्तते । उत्परस्येति । 'अत्र लोपः' इत्यतोऽभ्यासस्येत्यनुवर्तते, तच्च पञ्चम्यन्तं विपरिणम्यते । 'गुणोयङ्लुकोः' इत्यतः यङ्लुकोरित्यनुवर्तते । चरफलोश्चेत्यादि अनुवर्तते । चञ्चूर्यते पंफुल्यते । चर-फलधात्वोः यङि द्वित्वे हलो लोपे 'चरफलोश्च' इति अभ्यासस्य नुकि 'नश्चा' इत्यनुस्वारे 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णो वा' इति वैकल्पिकपरसवर्णत्वे 'उत्पर' इत्युत्वे यकारादिप्रत्ययत्वात् 'हलि च' इति दीर्घे 'चञ्चूर्यते, चंचूर्यते' । तथा पंफुल्यते, पम्फुल्यते । इत्यादि सिध्यन्ति । जपजमेति । चरफलो रित्यत्रानुवृत्तं सर्वमेवात्रापि अनुवर्तते । जञ्जप्यत इति । गर्हितं जपतीत्यर्थे जपधातोः 'धातोरेकाचः' इति यङि द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलो लोपे 'जप-जभ' इत्यभ्यासस्य नुकि कित्वादन्त्यावयवेऽनुस्वारे परसवर्णे तङि टेरत्वे शपि

गर्हित अर्थमे ही यङ् हो । चरफ—'चर्' और 'फल्' धातुके अभ्यास सम्बन्धी अकारको 'नुक्'का आगम हो, यङ् और यङ्लुक्के विषयमें । उत्पर—'चर्' और 'फल्' धातुके अभ्यासावयव 'अत्'को 'उत्त्व' हो, यङ् और यङ्लुक्के विषयमें । जपजभ—जपादि धातुओंके अभ्यासको 'तुक्'का आगम हो, यङ् और यङ्लुक्के विषयमें । ओ यङि—'ग' धातुके रेफको लत्व

गर्हितं जपति—जञ्जप्यते । इत्यादि । ओ यङि । ८।२।२०। गिरते रेफस्य लृत्वं स्यात् यङि । गर्हितं गिलति—जेगिल्यते । (सूचिसूत्रिमूय्यत्यर्थं शूणोतिभ्यो यङ् वाच्यः) सोसूच्यते । सोसूच्यते । मोमूच्यते । अट पट गतौ । अटाड्यते । यङि च । ७।४।३०। अर्त्तेः, संयोगादेश्च ऋगन्ताङ्गस्य गुणो, यङि । यकारपरस्य रेफस्य न द्वित्वनिषेधः । 'अरार्यते' इति भाष्योदाहरणात् । अरारिता । अशाश्यते । ऊर्णोनूयते । सिचो यङि । ८।३।११२। सिचः सस्य षो न स्याद्यङि । निसेसिच्यते ।

पूर्वरूपे 'जञ्जप्यते' इति रूपम् । ओ यङीति । गृ इत्यस्य ग्र इति षष्ठ्येकवचनम् । 'कृपो रोलः' इत्यनुवर्तते । जेगिल्यत इति । गर्हितं गिलति इत्यर्थे गृधातोः 'धातो-रेकाचो' इति यङि 'ऋत इद्धातोः' इतीत्वे रपरत्वे 'ओ यङि' इति रेफस्य लृत्वे द्वित्वे हलो लोपे 'गुणो यङ्लुकोः' इति गुणे तङि टेरत्वे शपि पूर्वरूपे 'जेगिल्यते' इति रूपम् । सोसूच्यत इति । सूचिधातोः 'सूचिसूत्रि' इति वार्तिकेन यङि 'सन्यङोः' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे, हलादिशेषत्वे, ह्रस्वत्वे 'गुणो यङ्लुकोः' इति गुणे तङि टेरत्वे शपि पूर्वरूपे 'सोसूच्यते' इत्यस्य सिद्धिः । अटाड्यत इति । अट्गतौ, तस्मात् 'सूचिसूत्रि' इति यङि द्वित्वे हलो लोपे सवर्णदीर्घे 'दीर्घोऽकितः' इति दीर्घे तङि टेरत्वे शपि पूर्वरूपे 'अटाड्यते' इत्यस्य सिद्धिः । यङि चेति । 'गुणोर्तिसंयोगाद्योः' इति सूत्रमनुवर्तते । 'रीङ् ऋतः' इत्यस्मात् ऋत इति च । ऋधातोः यङि 'यङि च' इति गुणे रेफविशिष्टस्य यकारस्य 'सन्यङोः' इति द्वित्वे पूर्वस्य अभ्यासत्वे हलादिः शेषत्वे 'दीर्घोऽकितः' इति दीर्घे तङि टेरत्वे शपि पूर्वरूपे च कृते 'अरार्यते' इति रूपम् । अरांचक्रे । अरारिता । अरार्य-ता इत्यवस्थायां 'यस्य हलः' इति यलोपे इडागमे रूपम् । अशाशिता । अशाधातोः यङि द्वित्वे हलो लोपे इटि 'अशाश्य इत' इति जाते 'यस्य हलः' इति यलोपे 'अशाशिता' इति । ऊर्णोनूयते । ऊर्णुञ्धातोः यङि नुशब्दस्य द्वित्वे ह्रस्वे 'गुणो यङ्लुकोः' इति गुणे णत्वे 'अकृदि'ति दीर्घे तङि टेरत्वे शपि पूर्वरूपे 'ऊर्णोनूयते' इति । सिचो यङीति । सिच धातोः यङि द्वित्वे हलो लोपे 'गुणो यङ्लुकोः' इति गुणे तङि शपि टेरत्वे 'निसेसिच्यते' इति रूपम् । अत्र 'उपसर्गात्' इति प्राप्तं पत्वं 'सिचो यङि' इति निषेधान्न भवतीति सम्बन्धः । न कवतरिति । 'अत्र लोपः' इत्यतोऽभ्यासस्येति । 'कुहोश्रुः' इत्यतश्चुरिति

हो, यङ्के परे ।

सूचि—सूचि-सूत्रि आदि धातुओंसे भी 'यङ्' हो (पौनःपुन्य और भृशार्थमें) यङि—'ऋ' धातु और संयोगादि ऋदन्त अङ्गको गुण हो, यङ्के परे । सिचो—'सिच्' धातुसम्बन्धी सकारको पत्व नहीं हो, यङ्के परे । न कव—'कु' धातुके अभ्यासको 'चुत्व'

कुवत्योस्तु—चोकूयते । (हन्तेर्हिंसायां यङि धनीभावो वाच्यः) जेघ्नीयते ।
हिंसायां किम् ? । नुगतोऽनुनासिकान्तस्य । ७।४।८५। अनुनासिकान्तस्य
अदन्ताभ्यासस्य नुक्स्याद्यङ्लुकोः । जङ्घन्यते । अयङ् यि किङिति । ७।४।२२१।
शीङोऽयङादेशः स्याद्यादौ किङिति परे । शाशय्यते ॥ स्वपिस्यमिव्येजां यङि
। ६।१।१९। स्वपिस्यमिव्येजां यङि संप्रसारणं स्यात् । सोषुप्यते । सेसिम्यते । वेवीयते ।
न वशः । ६।१।२०। वशः संप्रसारणं न स्याद्यङि । वावश्यते । चायः की । ६।१।२१।

चानुवर्तते । कौकूयत इति । कु शब्देऽस्माद्यङि दीर्घे द्वित्वे ह्रस्वे 'गुणो यङ्लुकोः' इति
गुणे 'कुहोश्चुः' इति प्राप्तं चुत्वं 'न कवतेर्यङि' इत्यनेन निषिध्यते, तङि शपि टेरेत्वे
पूर्वरूपे 'कौकूयते' इति रूपम् । कौतिकुवत्योस्तु चुत्वं स्यादेवात आह—'चोकूयते' इति ।
जेघ्नीयत इति । हनधातोर्यङि 'हन्तेर्हिंसायाम्' इति वार्तिकेन धनीभावे 'सन्न्यङोः'
इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे ह्रस्वत्वे 'कुहोश्चुः' इति श्चुत्वे 'गुणो यङ्लुकोः' इति गुणे
तङि शपि पूर्वरूपे टेरेत्वे 'जेघ्नीयते' इति रूपम् । एतच्च हिंसायामेव । अन्यथा—
नुगतोऽनु इति । अङ्गस्येत्यधिकृतम् । 'अत्र लोपः' इत्यतोऽभ्यासस्येत्यनुवर्तते । जङ्घन्यत
इति । हनधातोर्यङि द्वित्वे 'कुहोश्चुः' इति चुत्वेऽभ्यासत्वे 'अभ्यासाच्च' इति कुत्वेन
हस्य घत्वे 'नुगतो' इति नुगागमेऽस्यावयवे 'नश्चा' इत्यनुस्वारे 'जङ्घन्य' इति जाते
तङि टेरेत्वे शपि पूर्वरूपे 'जङ्घन्यते' इति रूपम् । अयङ् यि किङिति । 'शीङः सार्वधा-
तुके गुणः' इत्यतः शीङ इत्यनुवर्तते । शाशय्यते । शीङ् धातोर्यङि 'अयङ् यि किङिति'
इति अयङि द्वित्वे हलो लोपे 'दीर्घोऽङितः' इति दीर्घे 'शाशय्य' इति जाते तङि
शपि टेरेत्वे पूर्वरूपे 'शाशय्यते' इति रूपम् । स्वपिस्यमीति । 'व्यङः सम्प्रसारणम्'
इत्यतः संप्रसारणमिति लभ्यते । सोषुप्यत इति । स्वपिधातोर्यङि 'स्वपिस्यमि' इति
सम्प्रसारणे पूर्वरूपे द्वित्वे हलो लोपेऽभ्यासगुणे षत्वे तङि शपि टेरेत्वे 'सोषुप्यते' इति
रूपम् । सेसिम्यत इति । स्यमिधातोर्यङि 'स्वपिस्यमि' इति सम्प्रसारणे द्वित्वे हलो
लोपेऽभ्यासगुणे तङि शपि टेरेत्वे 'सेसिम्यते' इति रूपम् । वेवीयत इति । व्येजधातोः
यङि 'स्वपिस्यमि' इति सम्प्रसारणे दीर्घे द्वित्वे ह्रस्वे गुणे तङि शपि टेरेत्वे 'वेवीयते'
इति रूपम् । न वश इति । 'ग्रहिज्या' इति प्राप्तं सम्प्रसारणं नेत्यर्थः । वावश्यत इति ।
वशधातोर्यङि द्वित्वे सम्प्रसारणनिषेधे हलो लोपे 'दीर्घोऽङितः' इति दीर्घे तङि शपि

नहीं हो, यङ् के परे । हन्ते—हिंसा अर्थमें 'हन्' धातुको 'धनी' आदेश हो, यङ् के परे ।
नुगतो—अनुनासिकान्त अदन्त अभ्यासको 'नुक्' का आगम हो, यङ् और यङ्लुक् के
विषयमें । अयङ्—'शीङ्' धातुको 'अयङ्' आदेश हो, यकारादि कित्-ङित् प्रत्यय के
परे । स्वपि—स्वप्यादि धातुको सम्प्रसारण हो, यङ् के परे । न वशः—'वश्' धातुको
सम्प्रसारण नहीं हो, यङ् के परे । चायः—'ची' धातुको 'की' आदेश हो, यङ् परे रहते ।

चायः की स्याद्यङि । चेकीयते । ई प्राध्मोः । ७४।३१। अनयोरीत्याद्यङि । जेघ्रीयते । देध्मीयते । नीग्वञ्चु खंसु ध्वंसु कसपतपदस्कन्दाम् । ८४।८४। एषामभ्यासस्य नीगागमः स्याद्यङ्-लुक् । 'अकित' इत्युक्तेर्न दीर्घः । नलोपः । वनीवच्यते । सनीछस्यते । दनीध्वस्यते । वनीभ्रस्यते । चनीकस्यते । पनीपत्यते । पनीपद्यते । चनीस्कद्यते ॥ इति यङन्तप्रकरणम् ।

अथ यङ्लुगन्तप्रकरणम्

यङोऽचि च । २।४।७४। यङोऽचि प्रत्यये लुक् स्यात्, चकारात्तं विनापि कचित् । अनैमित्तिकोऽयमन्तरङ्गत्वादादौ भवति । ततः प्रत्ययलक्षणेन यङन्तत्वाद्विषयम् । अभ्यासकार्यम् । धातुत्वाङ्गदायः । 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' ।

देरेत्वे पररूपे 'वाचयते' इति रूपम् । चायः कीर्ति । यङीति शेषः । चेकीयत इति चायु धातोर्यङि 'चायः की' इति क्यादेशे द्वित्वे ह्रस्वे चुत्वे गुणे तङि शपि देरेत्वे 'चेकीयते' इति । ईप्राध्मोरिति । यङीति शेषः । 'प्रा, ध्मा धातोः यङि ईप्राध्मोः' इति 'ई' आदेशे द्वित्वे ह्रस्वे लोपे 'कुहोरचुः' चुत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति चर्त्वे ह्रस्वे गुणे तङि शपि पररूपे देरेत्वे 'जेघ्रीयते' देध्मीयते' इत्युभयरूपसिद्धिः । 'नीग्वञ्चु' इति । 'अत्रलोप' इत्यतोऽभ्यासस्येत्यनुवर्तते । खंसु—ध्वंसु—धातुभ्यो यङि ङित्वात् अनुनासिकलोपे द्वित्वे ह्रस्वे लोपे भधयोश्चत्वे 'नीग्वञ्चु' इति नीगागमे तङि देरेत्वे शपि पररूपे 'सनीछस्यते' वनीभ्रस्यते' 'दनीध्वस्यते' रूपत्रयं साधु । तद्वत् कस-पत-पद-स्कन्द धातुभ्यो यङि द्वित्वादिकार्ये 'नीग्वञ्चु' इति नीगागमे तङि शपि देरेत्वे 'चनीकस्यते' 'पनीपत्यते', 'पनीपद्यते', 'चनीस्कद्यते' इति रूपाणि । इति यङन्तप्रक्रिया ।

यङोऽचि चेति । अचि इति प्रत्ययग्रहणम्, न तु प्रत्याहारः, यङा साहचर्यात् । 'ण्यञ्त्रियार्ध' इत्यतो लुगित्यनुवर्तते । तदाह—यङोऽचिप्रत्यये इति । चकारात्तं विनापीति । अच्यप्रत्ययाभावेऽपीत्यर्थः । तत इति । यङो लुगानन्तरमित्यर्थः । 'न लुमता' इत्यनेन हि लुमता शब्देन लुप्ते तन्निमित्तमङ्गकार्यं निषिध्यते । द्वित्वादिकं तु यङन्तस्य कार्यम्, नतु यङ्निमित्तकम्, यङिपरतस्तद्विध्यभावादिति भावः । धातुत्वादिति । यङो लुकि सत्यपि प्रत्ययलक्षणमाश्रि-

ई प्रा—'प्रा' और 'ध्मा' धातुको 'इत्' हो, यङ् के परे । नीग्व—वञ्चु, खंसु आदि धातुओंके अभ्यासको 'नीक्'का आगम हो, यङ् और यङ्लुक्के विषयमें ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें यङ्न्तप्रकरण समाप्त हुआ ।

यङो—'यङ्'का लुक् (लोप) हो, 'अच्' प्रत्ययके परे । चकारात् 'अच्' प्रत्ययके विना

‘चर्करीतं चे’त्यदादौपाठाच्छपो लुक् । यङो वा । ७।३।१४। यङन्तात्परस्य हलादेः ।
 पितः सार्वधातुकस्य इङ् वा स्यात् । ‘भूसुवो’रिति निषेधो यङ्लुकि भाषायां न,
 बोभूतु तेतिक्ते’ इति छन्दसि निपातनात् । बोभवीति । बोभोति । बोभूतः । बोभु-
 वति । बोभवोषि । बोभोषि । बोभूयः । बोभूय । बोभवामि । बोभोमि । बोभूवः ।
 बोभूमः । बोभवाम्बकार । बोभवाम्बभूव । बोभवामास । बोभविता । बोभविष्यति ।
 बोभवीतु । बोभोतु । बोभूतात् । बोभूताम् । बोभवतु । बोभूहि । बोभूतात् । बोभ-
 वानि । बोभवाव । बोभवाम । अबोभवीत् । अबोभोत् । अबोभूताम् । अबोभवुः ।
 बोभूयात् । बोभूयाताम् । बोभूयुः । बोभूयात् । बोभूयास्ताम् । बोभूयासुः । ‘गाति-
 ‘स्ये’ति सिचो लुक् । ‘यङो वे’तीट्पक्षे गुणं बाधित्वा नित्यत्वाद्नुक् । अबोभू-

त्य यङन्तत्वात् ‘सनाद्यन्ता धातवः’ इति धातुत्वम् । चर्करीतमिति । यङ्लुगन्तम-
 दादौ बोध्यमिति व्याख्यातं प्राक् । अतो यङ्लुगन्ताच्छपो लुगित्यर्थः । निपातनादिति ।
 ‘कृषेः छन्दसि’ इत्यतः छन्दसीत्यनुवृत्तौ ‘दाधर्तिदधर्तिदधर्षिबोभूतुतेतिक्ते’ इत्यादि-
 सूत्रे भूधातोर्यङ्लुगन्तस्य गुणाभावो निपात्यते । ‘भू सुवोः’ इत्येव तत्र गुणनिषेधे
 सिद्धे गुणाभावनिपातनं नियमार्थम्—यङ्लुकि छन्दस्येवायं ‘भू सुवोः’ इति गुणनिषे-
 धो, नान्यत्र इति । अतो लोकेऽपि यङ्लुगस्तीति विज्ञायते । बोभवीति भूधातोर्यङि,
 ‘यङोऽचि च’ इति द्वित्वापेक्षया आदौ यङो लुकि, ततः प्रत्ययलक्षणेन यङन्तत्वात्
 द्वित्वे, ‘गुणो यङ्लुकोः’ इति अभ्यासस्य गुणे, जश्त्वे, ‘सनाद्यन्ता धातवः’ इति
 धातुत्वाल्लटस्तिपि, कर्तरि शप्’ इति शपि, ‘चर्करीतं च’ इति यङ्लुगन्तस्य
 अदादौ पाठाददादित्वात् ‘अदिप्रभृतिभ्यः शपः’ इति शपो लुकि, ‘बो भू ति’
 इति स्थिते ‘यङो वा’ इति पाक्षिक ईडागमे, ‘बोभूतुतेतिक्ते’ इति छन्दसि
 निपातनात् ‘भू सुवोस्तिङि’ इति गुणनिषेधस्य यङ्लुकि भाषायामप्रवृत्त्या गुणे-
 ऽवादेशे च ‘बोभवीति’ इति रूपम् । इडभावे ‘बोभोति’ इति रूपम् ।
 अबोभवीत् । भूधातोः ‘धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्’ इति यङि,
 ‘यङोऽचि च’ इति यङो लुकि, ‘सन्त्यङोः’ इति द्वित्वे अभ्यासत्वे, ‘हलादिः शेषः’
 इत्यादिहलः शेषे ‘ह्रस्वः’ इत्यभ्यासस्य ह्रस्वत्वे, ‘अभ्यासे चर्च’ इति भस्य वत्वे,
 ‘गुणो यङ्लुकोः’ इति अभ्यासस्याचो गुणे ‘बोभू’ इति जाते, ‘सनाद्यन्ता धातवः’
 इति धातुत्वे ‘अनद्यतने लङ्’ इति लङि, लङस्तिपि, शपि ‘अदिप्रभृतिभ्यः शपः’
 शपो लुकि, ‘यङो वा’ इति वेटि, ‘सार्वधातुकार्धधातुकयोः’ इति गुणे, एचोऽ-
 यवायावः’ इति अवादेशे ‘इतश्च’ इति तिप इकारस्य लोपे, अङ्गस्याडागमे च कृते
 ‘अबोभवीत्’ इति सिद्धम् । ईडागमाभावे—अबोभोत इति । अबोभवीत् । भूधातोः

भी कहीं लुक् हो । यङो वा—यङन्तसे पर हलादि ‘पित्’ सार्वधातुकको ‘ईट्’का आगम

वीत् । अबोभोत् । अबोभूताम् । अबोभूवुः । अबोभविष्यत् ॥ जङ्गमीति । जङ्गन्ति ।
 'अनुदात्ते'त्यनुनासिकलोपः । जङ्गतः । जङ्गमति । 'म्बोश्च' । जङ्गन्मि । जङ्गन्वः ।

‘शितपा, शपा-ऽनुबन्धेन निर्दिष्टं, यद्गणेन च ।

यत्रैकाज्ग्रहणं चैव, पञ्चैतानि न यङ्लुकि' ॥ १ ॥

‘धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्’ इति यङि, ‘यङोऽचि च’ इति यङो
 लुकि, प्रत्ययलक्षणेन यङन्तत्वात् ‘सन्त्यङोः’ इति द्वित्वे अभ्याससंज्ञायाम् ‘हलादिः
 शेषः’ इत्यादिहलः शिष्टे, ‘ह्रस्वः’ इत्यभ्यासस्याचो ह्रस्वे ‘अभ्यासे चर्च’ इति
 अभ्यासभकारस्य वत्वे, ‘गुणो यङ्लुकोः’ इति अभ्यासस्य गुणे ‘बोभू’ इति जाते,
 ‘सनाद्यन्ता धातवः’ इति धातुसंज्ञायाम् ‘लुङ्’ इति लुङि, लुङः स्थाने प्रथम-
 पुरुषैकवचनविवक्षायां तिपि, अनुबन्धलोपे, ‘च्लि लुङि’ इति च्लौ, ‘च्लेः सिच्’ इति
 सिचि, इचि गते, ‘बोभू स् ति’ इति भूते, ‘इतश्च’ इति तिपः इकारस्य लोपे, ‘तिङ्
 शित्सार्वाधातुकम्’ इति तिपस्तकारस्य सार्वधातुकसंज्ञायाम् ‘गातिस्थावुपाभूभ्यः
 सिचः परस्मैपदेषु’ इति सिचः सो लोपे, ‘यङो वा’ इति तिपस्तकारस्य ईडागमे,
 ‘सार्वधातुकार्धधातुकयोः’ इति गुणे प्राप्ते नित्यत्वात् तम्बाधित्वा ‘भुवो वुग्लुङ्-
 लिटोः’ इति वुगागमे ‘बोभूवीत्’ इति जाते ‘लुङ्लुङ्लुङ्चवहुदात्तः’ इत्यङ्गस्य
 अडागमे ‘अवोभूवीत्’ इति रूपम् । अबोभोत् । ‘यङो वा’ इति ईडागमाभावपक्षे
 लुङ्सम्बन्ध्यचपरत्वाभावेन वुगभावे ‘सार्वधातुकार्धधातुकयोः’ इति गुणे ‘अवोभोत्’
 इति रूपम् । जङ्गमीति । गमधातोर्यङि ‘यङोऽचि च’ इति लुकि प्रत्ययलोपमाश्रित्य
 ‘सन्त्यङोः’ इति द्वित्वेऽभ्यासकार्ये ‘नुगतो’ इति नुगागमेऽनुस्वारे परसवर्णे तिपि
 शपि यङ्लुगन्तस्यादादौ पाठात् ‘अदिप्रभृतिभ्यः शपः’ इति लुकि ‘यङो वा’ इति
 पाक्षिके ईडागमे ‘जङ्गमीति’ रूपं भवति । यदा नेडागमः स्यात्तदा ‘जङ्गम्-ति’ इत्यव-
 स्थायां ‘नश्चापदे’त्यनुस्वारे परसवर्णे ‘जङ्गन्ति’ इति द्वितीयरूपसिद्धिः । ‘जङ्गम्-तस्’ इत्य-
 वस्थायां तसोऽपित्वेन ङित्वात् ‘अनुदात्तोपदेश’ इति अनुनासिकलोपे सस्य रुत्वे विसर्गे
 ‘जङ्गतः’ इति रूपं सिद्धम् । श्रौ परतस्तु ‘जङ्गम्-क्षि’ इति स्थिते ‘अदभ्यस्तात्’ इति
 अतादेशे तस्याऽपि ङित्वेन ‘गमहन’ इत्युपधालोपे ‘जङ्गमति’ इति रूपम् । जङ्गमीषि-
 जङ्गंसि । जङ्गन्थः । जङ्गन्थ । जङ्गमीमि जङ्गन्मि । जङ्गन्वः । जङ्गन्मः । अत्र मस्य ‘म्बोश्च’
 इत्यनेन नकारे रूपाण्यवसेयानि । शितपाशपेति । ‘इक्षितपौ धातुनिर्देशे’ इत्यादिना
 निर्दिष्टम् । शब्विकरणे सूत्रं पठितम् । गणविशिष्टेन निर्दिष्टम् । यत्र चैकाज्ग्रहणेन प्रति-
 पादितं यत्कार्यं तद्यङ्लुगादौ न भवति इति ज्ञेयमित्यर्थः । तदेव प्राप्तमिग्निपेधं

हो, विकल्पसे । शितपा — १-शितप् निर्देश, २-शप् निर्देश, ३-अनुबन्धनिर्देश, ४-गण-
 निर्देश और ५-एकाच् निर्देशसे जो कार्य निर्दिष्ट हुए हैं वे पाँचों कार्य यङ्लुक्से नहीं हों ।

—इति वचनाच्च इणिवेषधः । जङ्गमिता । अनुनासिकलोपस्याऽभीयत्वेनाऽसिद्धत्वाच्च हेर्लुक् । जङ्गहि । ‘मो नो धातोः’ । अजङ्गन् । अनुबन्धनिर्देशाच्च च्लेर-ङ्—अजङ्गमीत् । रुप्रिकौ च लुकि ७।४।९१। ऋदुपधस्य धातोरभ्यासस्य रुक्, रिक्, रीक्—एते स्युर्यङ्लुकि । ऋतश्च ७।४।९२। ऋदन्ताद्धातोरपि तथा । वर्ध्वतीति । वरिवृतीति । वरीवृतीति । वर्वर्ति । वरिवर्ति । वरीवर्ति । वर्ध्वतः ३ । वर्ध्वतति ३ । वर्वर्तामास ३ । वर्वर्तिता ३ । गणनिर्दिष्टत्वाच्च वृद्धयश्चतुर्भ्य इति न । वर्वर्तिष्यति ३ । अवर्ध्वतीत् ३ । अवर्वर्त ३ । सिपि ‘दश्चे’ति रुत्वपक्षे—‘रो रि’ । अवर्वाः ३ । गणनिर्दिष्टत्वादङ् न । अवर्वर्तीत् ३ ॥ चर्करीति । चरिकरीति । चरीकरीति । चर्कति । चरिकर्ति । चरीकर्ति । चर्कृतः ३ । चर्कति ३ । चर्कराञ्चकार ३ । चर्करिता ३ । अचर्करीत् ३ । अचर्कः ३ । चर्क्यात् ३ । आशिषि रिङ्—चर्क्रियात् ३ । अचर्करीत् ३ । ‘ऋतश्चे’ति तपरत्वान्नेह-कृ

निवारयन्मुचयति—जङ्गमितेति । ‘जङ्गम्—ता’ इत्यवस्थायामिति ‘जङ्गमिता’ इति रूपम् । जङ्गमिष्यति । जङ्गमीतु—जङ्गन्तु । हौ विप्रोपं स्मारयति ‘जङ्गहि’ अत्रहेऽत्परकत्वेन ‘अतो हेः’ इति हेलोपे प्राप्त आह हेलोपे कर्तव्ये प्राक्कृतमकारलोपस्याभीयत्वेनासिद्धतया हेरत्परकत्वाभावाच्च लोपप्रसक्तिरिति भावः । लङि अजङ्गम्—त् इति स्थिते, ‘यङो वा’ इति सति ईटि ‘अजङ्गमीत्’ इत्येकं रूपं, यदा नेट् स्यात्तदा अजङ्गम्—त् इति स्थिते ‘ह-लङ्थावभ्यो’ इति तलोपे ‘मोनो धातोः’ इति मस्य नत्वे ‘अजङ्गन्’ इति रूपम् । लुङि अजङ्गम्—ल्ली—त् इति स्थिते सिचि सिचं इडागमे ‘अस्तिसिचोऽपृक्ते’ इति तस्येडागमे ‘इट ईटि’ इति सलोपे दीर्घे ‘अजङ्गमीत्’ इति रूपम् । अत्र गमधातोः लुटिस्वाच्चाङ् तस्यानुबन्धत्वेन तन्निमित्तककार्यस्य यङ्लुगादौ निषेधादिति भावः । ‘अजङ्गमिष्यत्’ इत्यादि । रुप्रिकावेति । चकारेण ‘रीगृदुपधस्य च’ इत्यतो रीगपि अनुकृष्यत अत आह रुक् रिक् रीगिति । लुकि इति सप्तम्यन्तेन यङ्लुकीति ज्ञायते । ऋतश्चेति । अभ्यासस्य रुक्—रिक्—रीक् इत्यागमा भवन्तीत्यर्थः । वृत्तु=वर्तने धातोर्यङि ‘यङोऽचिच’ इति लुकि द्वित्वेऽभ्यासत्वे उरदत्त्वे हलो लोपे ‘रुप्रिकौचलुकि’ इति रुक् रिक् रीगिति आगमत्रये सति तिपि शपि शब्लुकि ‘यङो वा’ इति पाक्षिक ईटि ‘वर्ध्वतीति, वरिवृतीति, वरीवृतीति’ इति । यदेडागमो न स्यात्तदा ‘पुगन्त’ इत्युपधागुणे सति वर्वर्ति—वरिवर्ति वरीवर्ति । इत्यादि रूपत्रयम् । ईटि सति न गुणः ‘नाभ्यस्तस्याचिपिति सार्वधातुके’ इति निषेधात् । डुकृज् करणेऽस्माद्धातोः यङि यङ्लुकि द्वित्वे उरदत्त्वे चत्वे हलोलोपे तिपि शपि शब्लुकि ‘यङो वा’ इति ईटि गुणे ‘ऋतश्च’ इति

रुप्रि—ऋदुपध धातुको ‘रुक्’, ‘रिक्’ और ‘रीक्’का आगम हो, यङ्लुक्में । ऋतश्च—ऋदन्त

विज्ञेये । चाकर्ति । चाकरीति । चाकीर्तः । चाकीर्हि । चाकराणि । अचाकरीत् ।
अचाकः । अचाकीर्ताम् । अचाकरः । अचाकरीत् । अचाकारिष्ठम् । अचाकारि-
सुः । तातर्त्ति । तातरतीति । इत्यादि । इति यङ्लुगन्तप्रकरणम्

अथ नामधातुप्रकरणम्

सुप आत्मनः क्यच् । ३।१।८। इषिकर्मण, एषितुरात्मसंबन्धिनः, सुबन्ता-
दिच्छायामर्थे क्यज्वा स्यात् । सुपो धातुप्रातिपदिकयोः । २।४।७१। एतयोर-
वयवस्य सुपो लुक् स्यात् । क्यचि च । ७।४।३३। अवर्णस्य ईः । आत्मनः पुत्र-
मिच्छति-पुत्रीयति । (मान्तप्रकृतिकसुबन्तादव्ययाच्च क्यजन) किमिच्छति ।

क्रमशो रुक्-रिक्-रीक्-इत्यागमाः, चर्करीति-चरिकरीति-चरीकरीति । इडभावेतु
चर्कर्ति-चरिकर्ति-चरीकर्ति । इति यङ्लुगन्तप्रकरणम् ।

सुप आत्मन इति । प्रत्ययग्रहणपरिभाषया सुबन्तादिति लभ्यते । 'धातोः
कर्मणः' इति सूत्रात्कर्मणः इच्छायां वा इत्यनुवर्तते । कर्मण इति पञ्चमी । कर्मकार-
कादिति लभ्यते । सन्निधानादिच्छां प्रत्येव कर्मत्वं विवक्षितम् । आत्मनश्शब्दः स्वप-
र्यायः । तादर्थ्यस्य शेषत्वविवक्षायां षष्ठी । स्वार्थात्कर्मण इति लभ्यते । स्वश्च इच्छायां
सन्निधापितत्वादिषितैव विवक्षितः । यथाच स्वस्मै यदिष्यते कर्मकारकं तदनुवृत्तस्सु-
बन्तादिच्छायां क्यज्वा स्यादिति फलति । तदिदमभिप्रेत्य आह-इषि कर्मण इत्यादिना ।
पुत्रीयति । आत्मनः पुत्रमिच्छतीत्यर्थे द्वितीयान्तपुत्रशब्दात् 'सुप आत्मनः क्यच्' इति
क्यचि, 'पुत्र अम् क्यच्' इति स्थिते 'सनाद्यन्ता धातवः' इति समुदायस्य धातु-
संज्ञायां 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति अमो लुकि, 'पुत्र' क्यच्' इत्यत्र 'लश-
क्वतद्धिते' इति ककारस्येत्संज्ञायां 'हलन्त्यम्' इति चस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः'
इति उभयोः कचयोलोपे, 'क्यचि च' इत्यनेन 'पुत्र' इत्यत्र अकारस्य ईत्वे 'पुत्रीय'

धातुकी भी 'रक्-रिक्' और 'रीक्'का आगम हो, यङ्लुक् मे ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें यङ्लुगन्तप्रकरण समाप्त हुआ ।

सुप्—'इ' धातुका कर्म और 'इच्छा' कर्ताके संबन्धीवाचक सुबन्तसे इच्छा अर्थमें
'क्यच्' प्रत्यय हो, विकल्पसे । सुपो—धात्ववयव और प्रातिपदिकावयव 'सुप्'का लुक् (लोप)
हो । क्यचि—अवर्णको 'ईत्' हो क्यच्के परे ।

मान्त—मान्त प्रकृतिक सुबन्त और अव्ययसे क्यच् नहीं हो ।

इदमिच्छति । अशनायोदन्यधनाया वुभुक्षापिपासागर्जेषु । ७।४।३४। एते
 क्यजन्ता निपात्यन्ते वुभुक्षादिष्वर्थेषु । अशनायति । उदन्यति । धनायति । वुभु-
 क्षादौ किम् ? अशनीयति । उदनीयति । धनीयति । अश्वक्षीरवृषलवणाना-
 मात्मप्रीतौ क्यचि । ७।१।५१। एषां क्यचि असुक् । (अश्ववृषयोर्मैथुने-
 च्छायाम्) । अश्वस्यति बड्वा । वृषस्यति गौः । (क्षीरलवणयोर्लालसायाम्)
 क्षीरस्यति बालः । लवणस्यत्युष्ट्रः । (सर्वप्रातिपदिकानां क्यचि लालसायां-
 सुगसुकौ) दधिस्यति । दध्यस्यति । नः क्ये । १।४।१५। क्यचि, क्यङि च
 नान्तमेव पदं स्यान्नान्यत् । 'न'लोपः । राजीयति । नान्तमेवेति किम् ? वाच्य-
 ति । 'हलि च' । गीर्यति । पूर्यति । 'धातो' रित्येव । तेनेह न-दिवमिच्छति

इति जाते तस्मात् 'वर्तमाने लट्' इति लटि, लट्स्तिपि, शपि अनुबन्धलोपे,
 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे च 'पुत्रीयति' इति रूपम् । लिटि—'पुत्रीयाञ्चकार'
 इत्यादि । मान्त प्रकृतिकेति । सर्वत्रेच्छायां प्राप्तं क्यचं मान्तप्रकृतिकसुबन्तात् अ-
 व्ययाच्च वारयति । अत आह—क्यज्जेति । उदाहरति । 'किमिच्छति' इति विग्रहे
 मान्तप्रकृतिकसुबन्तात् 'किम्' इत्यस्मात् 'मान्त' इति वार्तिकेन क्यचो निषेधे
 'किमिच्छति' इति वाक्यमेव । नान्यत् । अव्ययादपि क्यज्जेतीति यदुक्तं तदु-
 दाहरति—'स्वः इच्छति' स्वरिच्छति' अत्रापि वाक्यमेव न क्यजिति भावः । वार्ति-
 केन निषेधात् । 'अशनायेति । क्यज्जविशिष्टमेतेषां निपातनम् । 'सुप आत्मनः क्यच्'
 इत्यनैव सिद्धे उदकशब्दस्योदन्नादेशार्थं तथान्येषां च दीर्घार्थं निपातनमिति
 अवसेयम् । तच्च सूत्रनिर्दिष्टार्थेषु सत्त्वेव स्यान्नान्यार्थेषु । अशनमिच्छति इत्यर्थे
 निपातनाक्यचि कलोपे 'सुपो धातु' इति सुब्लुकि निपातनादेव दीर्घे धातुत्वा-
 ल्लडादयः 'अशनायति' इति रूपम् । निपातनाभावे 'अशनीयति' इति रूपापत्तेः ।
 गीर्यति । पूर्यति । आत्मनो गिरमिच्छति, आत्मनः पुरमिच्छति इत्यत्र च 'सुप
 आत्मनः क्यच्' इति क्यचि, 'सनाद्यन्ता' इति धातुसंज्ञायां 'सुपो धातुप्रातिपदि-
 कयोः' इति अमो लुकि, 'गिर् य' 'पुर य' इति जाते, 'हलि च' इति उपधाया

अशनायो—'अशनाय' 'उदन्य' और 'धनाय'—ये तीनों वुभुक्षा, पिपासा और गर्ज (निन्दा) अर्थमें क्यजन्त निपातित हों ।

अश्वक्षीर—अश्व, क्षीर, वृष, और लवण शब्दोंसे 'असुक्'का आगम हो, आत्मप्रीति
 अर्थमें, क्यच्के परे । अश्ववृष—अश्व तथा वृष शब्दोंसे मैथुनेच्छा अर्थमें ही असुकागम हो ।
 क्षीर—क्षीर और लवण शब्दोंसे लालसा अर्थमें ही असुक् हो । सर्वप्राति—सभी प्राति-
 पदिकसे लालसा अर्थमें 'सुक्' और 'असुक्'का आगम हो क्यच्के परे ।

नः क्ये—क्यच्-क्यङ्के परे नान्त शब्दकी ही पदसंज्ञा हो-अन्यकी नहीं ।

दिव्यति । समिध्यति । क्यस्य विभाषा । ६।४।५०। हलः परयोः क्यच्क्यङो-
लोपो वाऽऽर्द्धधातुके । 'आदेः परस्य' । 'अतो लोपः' । तस्य स्थानिवद्भावा-
न्नोपधाया गुणः । समिधिता । काम्यच्च । ३।१।९। उक्तविषये काम्यच् । पुत्रमा-
त्मन इच्छति—पुत्रकाम्यति । पुत्रकाम्यता । उपमानादाचारे । ३।१।१०। उप-
मानात्कर्मणः सुबन्तादाचारेऽर्थे क्यच् स्यात् । पुत्रमिवाचरति—पुत्रीयति च्छात्रम् ।
विष्णूयति द्विजम् । (सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्तिच्वा वक्तव्यः) 'अतो गुणे' । कृष्ण
इवाचरति—कृष्णति । स्व इवाचरति—स्वति । सखौ । अनुनासिकस्य किञ्चलोः
क्किञ्चति । ६।४।१५। अनुनासिकान्तस्योपधाया दीर्घः स्यात्, कौ, फलादौ क्विञ्चि-
त् । इदमिवाचरति इदामति । राजेवाचरति राजानति । 'इन्ह'ञिति नियमाज्ञेहो-

इको दीर्घत्वे 'गीर्य' 'पूर्य' इति जाते धातुत्वाल्लटस्तिपि, शपि, अनुबन्धलोपे,
'अतो गुणे' इति पररूपत्वे 'गीर्यति' 'पूर्यति' इति रूपे स्तः । दिव्यति दिवमि-
च्छति इत्यर्थे 'दिव् अम्' इति सुबन्तात् 'सुप् आत्मनः क्यच्' इति क्यचि, 'स-
नाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वात् 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति अमो लुकि,
कचयोर्लोपे 'दिव्य' इति भूते, तस्माल्लटस्तिपि, शपि, अनुबन्धलोपे, अतो गुणे'
इति पररूपे च कृते तत्सिद्धिः । अत्र 'हलि च' इति दीर्घो न, धातुत्वाभावात् ।
दिव् शब्दोऽव्युत्पन्नं प्रातिपदिकमिति भावः । पुत्रकाम्यति । आत्मनः पुत्रमिच्छती-
त्यर्थे पुत्र अम् इति सुबन्तात् काम्यच् प्रत्यये 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसं-
ज्ञायां 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति अमो लुकि, 'पुत्रकाम्य' इत्यस्मात् धातो-
र्लटस्तिपि, शपि, अनुबन्धलोपे, 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे 'पुत्रकाम्यति' इति
रूपम् । पुत्रीयति छात्रमिति । पुत्रमिवाचरति इत्यर्थे 'पुत्र अम्' इति उपमानवाच-
ककर्मणः 'उपमानादाचारे' इति क्यचि, कस्य चस्य च लोपे 'सनाद्यन्ता धातवः'
इति धातुसंज्ञायां 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इत्यमो लुकि, 'क्यचि च' इति
अस्य ईत्वे 'पुत्रीय' इति भूते, तस्माल्लटस्तिपि, शपि, अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे'
इति पररूपत्वे च कृते 'पुत्रीयति' इति सिद्धम् । इदामति । इदमिवाचरति इत्यर्थे
इदमिति प्रातिपदिकात् 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्तिच्वा वक्तव्यः' इति क्विपि, तस्य
सर्वापहारे प्रत्ययलक्षणेन क्विबन्तत्वात् 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायाम्

क्यस्य—'हल्'से पर क्यच्—क्यङ्का लोप हो, आर्द्धधातुकके विकल्पसे ।

काम्यच्च—उक्त (सुप् आत्मनः क्यच्) के विषयमें (ही) 'काम्यच्' प्रत्यय हो ।

उपमानादाचारे—उपमानवाचक कर्मसंज्ञक सुबन्तसे आचार अर्थमें 'क्यच्'
प्रत्यय हो । सर्वप्राति—सभी प्रातिपदिकोंसे 'क्विप्' प्रत्यय हो, आचार अर्थमें, विकल्पसे ।

अनुना—अनुनासिकान्तकी उपधाको दीर्घ हो, क्विपूके परे और झलादि क्ति-ञित्के परे ।

‘उपधाया दीर्घः—पन्था इवाचरति पथीनति । मथीनति । कर्तुः क्यङ् सलोपश्च । ३।१।११। उपमानात्कर्तुः सुबन्तादाचारेऽर्थे क्यङ् वा स्यात्, सान्तस्य कर्तृवाचकस्य लोपो वा स्यात् । ‘क्यङ् वेत्युक्तेः पक्षे वाक्यम् । ‘संनियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्तिरिति क्यङ्सलोपयोः सहैव प्रवृत्तिः । लोपश्च व्यवस्थितः । (ओजसोऽप्सरसो नित्यमितरेषां विभाषया) कृष्ण इवाचरति—कृष्णायते । ओजायते । अप्सरायते । यशायते । यशस्यते । विद्रायते । विद्वस्यते ॥ (आचारेऽवगल्भ-क्लीबहोडेभ्यः क्तिच्चा वक्तव्यः) ‘वा’ग्रहणाद्वाक्यमपि । अवगल्भादयः पचाद्यजन्ताः । किप्सन्धियोगेनाऽनुदात्तत्वमनुनासिकत्वं चाऽप्रत्ययस्य प्रतिज्ञायते । तेन तङ् । अवगल्भते । क्लीबते । होडते । भूतपूर्वादप्यनेकाच आम्, एतद्वार्तिकारम्भ-सामर्थ्यात् । अवगल्भाच्चक्रे । क्लीवाच्चक्रे । होडाच्चक्रे । उपसर्गसमानाकारं पूर्वपदं धातुसंज्ञाप्रयोजके प्रत्यये चिकीर्षिते पृथक् क्रियते । तेन ‘गल्भ’ शब्दात्प्रागट् । अवगल्भत । अवगल्भिष्ट । लोहितादिडाज्भ्यः क्यष् । ३।१।१३। लोहितादिभ्यो,

‘अनुनासिकस्य क्विञ्चलोः क्ङिति’ इति उपधाया दीर्घत्वे ‘इदाम्’ इति भूते तस्मात्तल्लट्स्तिपि, शपि, अनुबन्धलोपे मिलित्वा ‘इदामति’ इति रूपम् । राजानति । ‘राजेवाचरति’ इत्यर्थे राजन् इति प्रातिपदिकात् ‘सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विञ्चा वक्तव्यः’ इति क्विपि, क्विपो लुकि, प्रत्ययलक्षणेन क्विचन्तत्वात् ‘सनाद्यन्ता धातवः’ इति धातुसंज्ञायाम् ‘अनुनासिकस्य क्विञ्चलोः क्ङिति’ इति उपधाया दीर्घत्वे ‘राजान्’ इति जाते तस्मात्तल्लट्स्तिपि, शपि, अनुबन्धलोपे मिलित्वा ‘राजानति’ इति । अवगल्भते । अवगल्भ इवाचरतीत्यर्थे ‘आचारे’ इति क्विपि तल्लोपे तङि शपि-पररूपे ‘अवगल्भते’ । क्लीव इवाचरति क्विपि तल्लोपे तङि शपि पररूपे ‘क्लीबते’ । होडते । इत्यादि । अवगल्भाच्चक्रे-क्लीवाच्चक्रे-होडाच्चक्रे । ‘अवगल्भ इति क्विचन्ताः तल्लङि तङि शपि पररूपे ‘उपसर्गसमानाकारं पूर्वपदं धातुसंज्ञाप्रयोजके प्रत्यये कर्तव्ये पृथक्क्रियते’ इति नियमेन गल्भशब्दात्प्रागेवाटि ‘अवगल्भत’ इति रूपम् । अवगल्भेत । अवगल्भिषीष्ट । अवागल्भिष्ट । अत्रापि गल्भशब्दात्प्रागेवाट् ननु अवा-त्प्राक् । अवागल्भिष्यत् । इत्यादि । लोहितादिडाज्भ्यः क्यष् इति । डाजन्ताल्लो-

कर्तुः क्यङ्—उपमानवाची कर्तृसंज्ञक सुबन्तसे आचार अर्थमें ‘क्यङ्’ प्रत्यय हो, विकल्पसे तथा सान्त कर्तृवाचकके सकारका लोप भी हो विकल्पसे । ओजसो—‘ओजस्’ तथा ‘अप्सरस्’ शब्दके सकारका नित्य और अन्य सकारान्त शब्दोंके सकारका विकल्पसे लोप हो । आचारे—आचार अर्थमें अवगल्भ, क्लीव और होडसे ‘क्विप्’ प्रत्यय हो, विकल्पसे (विकल्प पक्षमें—वाक्य रहे) लोहिता—लोहितादि और डाजन्तसे ‘भवति’ अर्थमें ‘क्यप्’ प्रत्यय हो ।

डाजन्ताच्च भवत्यर्थे क्यप् स्यात् । वा क्यषः । १।३।९०। क्यषन्तात्परस्मैपदं वा स्यात् । अलोहितो लोहितो भवति-लोहितायति । लोहितायते । ननूच्चारणसामर्थ्यात्काम्यच इव क्यषोऽपि ककारः कुतो न श्रूयते ? इति चेच्छृणु । तस्य भाष्ये प्रत्याख्यानात् । पटपटायति । पटपटायते । कष्टाय क्रमणे । ३।१।१४। चतुर्थ्यन्तात्कष्टशब्दादुत्साहेऽर्थे क्यङ् स्यात् । कष्टाय क्रमते-कष्टायते । पापं कर्तुमुत्सहत इत्यर्थः । (सत्रकक्षकष्टकृच्छ्रगहनेभ्यः कण्वचिकीर्षायाम् इति वक्तव्यम्) कण्वं पापम् । पापं चिकीर्षति-सत्रायते । कक्षायते । कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्त्तिचरोः । ३।१।१५। रोमन्थतपोभ्यां कर्मभ्यां क्रमेण वर्त्तनायां, चरणे चार्थे क्यङ् स्यात् । रोमन्थं वर्त्तयति-रोमन्थायते । (हनुचलन इति वाच्यम्) चर्वितस्याऽऽकृष्य पुनश्चर्वणे इत्यर्थः । नेह-कीटो रोमन्थं वर्त्तयति । (तपसः परस्मैपदश्च) तपश्चरति-तपस्यति ॥ वाष्पोऽभ्यामुद्धमने । ३।१।१६।

हितादिगणात्क्यपिति भावः । वाक्यषः । क्यषन्तात्परस्मैपदं वेत्यर्थः । 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । अलोहितो लोहितो भवति' इति विग्रहे लोहितशब्दात्क्यपि 'अकृत्सार्व' इति दीर्घं उभयपदत्वे 'लोहितायति-लोहितायते' रूपसिद्धिः । पटपटाशब्दात् डाजन्तात् 'लोहितादि' इति क्यपि 'अकृत्' इति दीर्घं उभयपदत्वे च कृते 'पटपटायते; पटपटायति' इति रूपे भवतः । कष्टायते । 'कष्ट डे' इति चतुर्थ्यन्तात् क्रमते इत्यस्मिन्नर्थे 'कष्टाय क्रमणे' इत्यनेन क्यङि, अनुबन्धलोपे 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायां 'सुपोधातुप्रातिपदिकयोः' इति डेलुकि, 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' इति अजन्ताङ्गस्य दीर्घत्वे 'कष्टाय' इति जाते, झित्वात् तस्मात्तल्लटस्ते, अपि अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे 'टित आत्मनेपदानां ढेरे' इति ढेरेत्वे च तत्सिद्धिः । सत्रकक्षेति । एभ्यः शब्देभ्यः क्यङ् स्यात् पापचिकीर्षायामित्यर्थः । सत्रायते-कक्षायते । अत्र क्यङि 'अकृत्सार्व' इति दीर्घं 'सत्रायते' कक्षायते' इति रूपे भवतः । कृच्छ्रायते-गहनायते । कर्मण इति । कर्तुः क्यङ् इत्यतः क्यङिति अनुवर्तते । रोमन्थं वर्त्तयति इति विग्रहे 'रोमन्थायते' इति रूपम् । हनुचलने' इति वार्तिकं कीटादिषु वारणाय क्रियतेऽन्यथा तत्रापि प्रयोगापत्तेः । तपश्चरति-

वा क्यषः-क्यषन्तसे परस्मैपद हो, विकल्पसे । कष्टा-चतुर्थ्यन्त 'कष्ट' शब्दसे 'क्यङ्' प्रत्यय हो, उत्साह अर्थमें । सत्रकक्ष-सत्रादि शब्दोंसे 'क्यङ्' प्रत्यय हो, पापेच्छा अर्थमें । कर्मणो-कर्मीभूत 'रोमन्थ' और 'तपस्' शब्दसे वर्तना (वर्त्तयति) तथा चरण (चरति) अर्थमें, 'क्यङ्' प्रत्यय हो । हनुचलन-'रोमन्थ' शब्दसे हनुचलन (चर्वितकता पुनः चवाना-पाऊर) अर्थमें ही क्यङ् प्रत्यय हो-ऐसा कहना चाहिये । तपसः-क्यङन्त 'तपस्' शब्दसे परस्मैपद हो । वाष्पो-कर्मीभूत 'वाष्प' तथा 'ऊष्म' शब्दसे उद्धमन अर्थमें

आभ्यां कर्मभ्यां क्यङ् स्यादुद्गमने । बाष्पमुद्गमति—बाष्पायते । ऊष्माणमुद्गमति—
ऊष्मायते । (फेनाच्चेति वक्तव्यम्) फेनमुद्गमति—फेनायते । शब्दचैरकल-
हाभ्रकण्वमेधेभ्यः करणे । ३।१।१७ एभ्यः कर्मभ्यः करोत्यर्थे क्यङ् स्यात् ।
शब्दं करोति—शब्दायते । (सुदिनदुर्दिननीहारेभ्यश्च) सुदिनायते । दुर्दिना-
यते । नीहारायते । (प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलभिष्ठवच्च) प्रातिपदिकाद्धा-
त्वर्थे णिच् स्यात्, इष्टे यथा प्रातिपदिकस्य पुंवद्भाववरभावटिलोपविन्मतुल्लोपयणादि-
लोपप्रस्थस्फाद्यादेशभसंज्ञास्तद्वर्णनावपि स्युः । पटुमाचष्टे—पटयति । परत्वाद् वृद्धौ सत्यां
टिलोपः । अपीपटत् । 'णौ चडी'त्यत्र भाष्ये तु 'वृद्धेलोपो बलीया'निति स्थितम् ।
अपपटत् । पुच्छभाण्डचीवराणिण्ड । ३।१।२०। (पुच्छादुदसने, व्यसने,
पर्यसने च) विविधं, विरुद्धं चोत्क्षेपणं—व्यसनम् । उत्पुच्छयते । परिपुच्छ-
यते । विपुच्छयते । (भाण्डात्समाचयने) सम्भाण्डयते । समवभाण्डत ।

इति विग्रहे तपस् शब्दात् 'तपसः परस्मैपदं च' इति चकारात्क्यङि तपस्य लटि पर-
स्मैपदत्वे तिपि शपि पररूपे 'तपस्यति' इति रूपम् । बाष्णोष्मेति । 'क्यङ्' इति
अनुवर्तते । बाष्पमुद्गमति इति विग्रहे क्यङि 'अकृत्' इति दीर्घे तङि शपि टेरेत्वे पर-
रूपे 'बाष्पायते' तद्वत् 'ऊष्मायते' इत्यापि अवसेयम् । फेनाच्चेति । वार्तिकमेतद्, क्य-
ङिति शेषः । फेनायते । फेनमुद्गमति इत्यर्थे फेनशब्दात् 'फेनाच्चेति वक्तव्यम्' इति
वार्तिकेन क्यङि 'अकृत्' इति दीर्घे—तङि टेरेत्वे शपि पररूपे 'फेनायते' इति रूपम् ।
पुच्छभाण्डेति । अस्य व्याख्यानं विधत्ते । पुच्छादिति । उत्पुच्छयते । उत्पुच्छशब्दात्
णिङि अतो लोपे 'उत्पुच्छि' इति जाते तङि शपि गुणेऽयादेशे टेरेत्वे 'उत्पुच्छयते,
परिपुच्छयते' इति रूपे भवतः । संभाण्डयते । भाण्डात्समाचयने' इति वार्तिकेन
णिङि अतो लोपे तङि शपि गुणेऽयादेशे टेरेत्वे 'संभाण्डयते' इति रूपम् ।
लुङि 'उपसर्गसमानकारं पूर्वपदं धातुसंज्ञानिमित्ते प्रत्यये चिकीर्षिते पृथक्क्रियते'

'क्यङ्' प्रत्यय हो । फेनाच्—कर्मभूत 'फेन' शब्दसे उद्गमनं अर्थमें 'क्यङ्' प्रत्यय हो ।
शब्दचैर—कर्मभूत शब्द, चैर, आदि शब्दोंसे 'करोति' अर्थमें क्यङ् प्रत्यय हो ।

सुदिन—कर्मभूत सुदिन, दुर्दिन आदि शब्दोंसे करोत्यर्थ में 'क्यङ्' प्रत्यय हो ।

प्रातिपदिक—(सभी) प्रातिपदिकसे धात्वर्थमें 'णिच्' प्रत्यय हो, विकल्पसे और
'इष्टन्' प्रत्ययके परे यथा पुंवद्भाव, रभाव, टिलोप, विन् तथा मतुप् लोप, यगादि लोप,
प्र-स्थ-स्फ-आदि आदेश और भसंज्ञा कार्य होते हैं, तथा इस 'णिच्'के परे भी हों ।
पुच्छ—कर्मभूत पुच्छ, भाण्ड और चीवर शब्दसे 'णिङ्' प्रत्यय हो । पुच्छाद्—'पुच्छ'
शब्दसे उदसन, व्यसन और पर्यसन अर्थमें 'णिङ्' प्रत्यय हो । भाण्डात्—'भाण्ड' शब्दसे

(चीवरादर्जने, परिधाने च) संचीवरयते भिक्षुः । मुण्डमिश्रश्लक्ष्णलवण-
व्रतवस्त्रहलकलकृततूस्तेभ्यो णिच् । ३।१।२१। कृञर्थे । मुण्डं करोति—मुण्ड-
यति । (व्रताद्भोजन-तन्निवृत्त्योः) पयः शूद्रान्नं वा-व्रतयति । (वस्त्रात्स-
माच्छादने) संवस्त्रयति । (हल्यादिभ्यो ग्रहणे) हलिकल्योरदन्तत्वं च निपा-
त्यतं । हलिं, कलिं वा गृह्णाति—हलयति । कलयति । महद्वलं—हलिः । कृतं
गृह्णाति—कृतयति । तूस्तानि विहन्ति—वितूस्तयति । तूस्तं केशा इत्येके । जटी-
भूताः केशा इत्यन्ये । पापमित्यपरे । (सत्याऽर्थवेदानामापुग्वक्तव्यः) ।
सत्यापयति । अर्थापयति । वेदापयति । पाशं विमुञ्चति—विपाशयति । रूपं पश्यति—
रूपयति । वीणयोपगायति—उपवीणयति । तूलेनानुकुष्णाति—अनुतूलयति तृणाग्रम् ।

इति नियमेन भाण्डशब्दात्प्रागेवाडागमे सति 'समवभाण्डत' इति रूपम् । संची-
वरयते । संचीवरशब्दात् 'चीवरात्' इति वार्तिकेन णिङि तङि शपि गुणेऽयादेशे
टेरेत्वे 'संचीवरयते' इति । मुण्डमिश्रेति । एभ्यो णिच् स्यात् कृञर्थे । मुण्डं करोति
इति विग्रहे 'मुण्डमिश्र' इति णिचि अतो लोपेतिपि शपि गुणेऽयादेशे 'मुण्डयति' इति
रूपम् । व्रतयतीति । व्रतशब्दात् 'व्रताद्भोजन' इति वार्तिकेन णिचि अतो लोपे तिपि
शपि गुणेऽयादेशे 'व्रतयति' इति रूपं भवति । संवस्त्रयति । संवस्त्रशब्दात् 'वस्त्रात्समा-
च्छादने' इति णिचि अतो लोपे तिपि शपि गुणेऽयादेशे संवस्त्रयति । हलयति, कलयति ।
आभ्यां परतः 'हल्यादिभ्योग्रहणे' इति वार्तिकेन णिचि अनयोरदन्तत्वाद्गुणे तिपि शपि
अयादेशे 'हलयति' 'कलयति' इति रूपे भवतः । कृतयति । कृतं गृह्णातीत्यर्थे णिचि
गुणे तिपि शपि अयादेशे 'कृतयति' इति रूपम् । वितूस्तयति । वितूस्तशब्दात् णिचि
गुणे तिपि शपि अयादेशे 'वितूस्तयति' इति रूपम् । सत्यापयति । सत्यशब्दात् 'सत्याप'
इति णिचि 'सत्यार्थवेदानामापुग्वक्तव्यः' इति आपुकि दीर्घे 'सत्यापि' इति जाते
धातुत्वाद्धटि तिपि शपि गुणेऽयादेशे सत्यापयति । अर्थापयति । अर्थशब्दादापुग्विधा-
नसामर्थ्याणिणचि आपुकि लटि तिपि शपि गुणेऽयादेशे 'अर्थापयति' इति रूपम् ।
वेदापयति । अत्रापि आपुग्विधानादेव णिजिति भावः । विपाशयति । अत्र 'सत्याप' इति
णिचि अतो लोपे तिपि शपि गुणेऽयादेशे 'विपाशयति' इति रूपम् । रूपयति । शपि
गुणेऽयादेशे रूपम् । उपवीणयति । अत्रापि 'सत्याप' इति णिचि अतो लोपे तिपि शपि

'समाचयन' अर्थमें ही 'णिङ्' प्रत्यय हो । चीवरा—'चीवर' शब्दसे अर्जन और परिधान
अर्थमें 'ण्यङ्' प्रत्यय हो । मुण्ड—मुण्डादि शब्दोंसे कृञर्थमें 'णिच्' प्रत्यय हो ।

व्रताद्भो—'व्रत' शब्दसे भोजन और भोजन निवृत्ति दोनों अर्थोंमें 'णिच्' प्रत्यय हो ।

वस्त्रात्—'वस्त्र' शब्दसे आच्छादन अर्थमें 'णिच्' प्रत्यय हो ।

हल्या—हल्यादि शब्दोंसे 'ग्रहण' अर्थमें णिच् प्रत्यय हो । सत्यार्थ—सत्य, अर्थ

तूलेनाऽनुषङ्ग्यतीत्यर्थः । श्लोकैरुपस्तौति-उपश्लोकयति । सेनयाऽभियाति-अभिषेण-
यति । लोमान्यनुमार्ष्टि-अनुलोमयति । त्वच्च संवरणे । पचाद्यच् । त्वचं गृह्णाति-
त्वचयति । वर्मणा संनहति-संवर्मयति । वर्णं गृह्णाति-वर्णयति । चूर्णैरवध्वंसते-
अवचूर्णयति ॥ इति नामधातुप्रकरणम् ।

अथ कण्वादिप्रकरणम्

कण्वादिभ्यो यक् । ३।१।२७। एभ्यो धातुभ्यो नित्यं यक् स्यात्, स्वार्थे ।
कण्ङ्क् गात्रविघर्षणे । कण्ङ्कयति । कण्ङ्कयते । इत्यादि ॥
इति कण्वादिप्रकरणम् ।

गुणेऽयादेशे 'उपवीणयति' इति रूपम् । अनुतूलयति । अत्र च 'सत्याप' इति णिच्
अलोपे तिपि शपि गुणेऽयादेशे 'अनुतूलयति' इति रूपम् । एवं उपश्लोकयति-अभिषे-
णयति-अनुलोमयति-त्वचयति-संवर्मयति-वर्णयति-अवचूर्णयति । अत्र 'सत्याप'
इत्यनेनैव णिच् बोध्यः, लडादिकार्यं च पूर्ववद्व्यम् । इति नामधातुप्रक्रिया ।

कण्वादिभ्यो यक् । धातुभ्य इति । 'धातोरेकाचो हलादेः' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति
भावः । नित्यमिति । वाग्रहणं तु निवृत्तमिति भावः । अन्यथा 'कङ्वति' इत्याद्यपि
स्यादिति भावः । द्विधा हि कण्वादायः, धातवः, प्रातिपदिकानि च-धातुप्रकरणाद्धातुः,
अस्य चासञ्जनादपि । आह चायमिमं दीर्घ, मन्ये धातुर्विभाषितः ॥ इति भाष्यादिति
भावः । गात्रविघर्षणम् । गात्रखर्जनमिति यावत् । कण्ङ्कयति । अनुबन्धविनिर्मुक्ताव
गात्रविघर्षणार्थककण्ङ्क्धातोः 'कण्वादिभ्यो यक्' इति स्वार्थे यकि, 'हलन्त्यम्'
इति कस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे, 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायां
'वर्तमाने लट्' इति लटि, लटस्तिपि, शपि अनुबन्धलोपे, 'कण्ङ्क अ ति' इति जाते,
'अतो गुणे' इति पररूपत्वे च विहिते 'कण्ङ्कयति' इति रूपम् । कण्ङ्कयते । आत्मनेपदे
रूपम् । इति कण्वादायः ।

और वेद शब्दोंको 'आपुक्'का आगम हो 'णिच्'के परे ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें नामधातुप्रकरण समाप्त हुआ ।

कण्वा—कण्वादि गणपठित धातुओंसे नित्य 'यक्' प्रत्यय हो, स्वार्थमें ।

अथात्मनेपदप्रकरणम्

कर्तरि कर्मव्यतिहारे ।१।३।१४। क्रियाविनिमये द्योत्ये कर्तर्यात्मनेपदं ।
 स्यात् । व्यतिलुनीते । अन्यस्य योग्यं लवनं अन्यः करोतीत्यर्थः । न
 गतिर्हिसार्थेभ्यः ।१।३।१५। गतिर्हिसार्थेभ्यः कर्मव्यतिहारे आत्मनेपदं न स्यात् ।
 व्यतिगच्छन्ति । व्यतिघ्नन्ति । (हरतेरप्रतिषेधः) संप्रहरन्ते राजानः । इत-
 रेतराऽन्योन्योपपदाच्च ।१।३।१६। (परस्परोपपदाच्चेति वक्तव्यम्) ।
 इतरेतरस्याऽन्योन्यस्य, परस्परस्य वा व्यतिलुनन्ति । नेर्विशः ।१।३।१७। नेर्विश
 आत्मनेपदं स्यात् । निविशते । परिव्यवेभ्यः क्रियः ।१।३।१८। परिव्यवेभ्यः
 क्रिय आत्मनेपदं स्यात् । परिक्रीणीते । विक्रीणीते । अवक्रीणीते । विपराभ्यां जेः

कर्तरि कर्मेति । कर्मव्यतिहार इत्यत्र कर्मशब्दः क्रियापरः, व्यतिहारशब्दो विनि-
 मयपर इत्युक्तं भवति । व्यतिलुनीते । वि अति इति उपसर्गद्वयपूर्वकलृञ्धातोः 'वर्त-
 माने लट्' इति लटि, अनुबन्धलोपे, लटो लः स्थाने 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' इति
 कर्मव्यतिहारे द्योत्ये कर्तरि आत्मनेपदे प्राप्ते, तत्र प्रथमपुरुषैकवचनविवक्षायां ते
 कृते, 'क्रयादिभ्यः शना' इति शनाप्रत्यये अनुबन्धलोपे, उभयत्र सार्वधातुकसंज्ञायां
 'प्वादीनां ह्रस्वः' इति लृजो ह्रस्वत्वे, 'ई ह्रस्वयोः' इति शनाआकारस्य ईत्वे, 'दित
 आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे 'वि अति' इत्यत्र यणि च कृते 'व्यतिलुनीते' इति
 रूपम् । अन्यस्येति । शूद्रादियोग्यं सस्यादिलवनं ब्राह्मणः करोतीत्यर्थः । हरतेरिति ।
 सम्प्रपूर्वाद्धरतेर्हिसार्थत्वात् तत्रापि 'न गतिर्हिसार्थेभ्यः' इति निषेधे प्राप्ते आह-हरते-
 र्हिसार्थकस्य नात्मनेपदनिषेध इति भावः । संप्रहरन्ते राजानः । संप्रपूर्वात् हृधातोर्लटि
 'हरतेरप्रतिषेधः' इत्यात्मनेपदे शस्यान्तादेशे णि गुणे रपरत्वे 'संप्रहरन्ते' इति रूपम् ।
 इतरेतरेति । एतेषूपपदेषु सत्सु अपि क्रियाविनिमये द्योत्ये धातोरात्मनेपदं नेत्यर्थः ।
 परस्परेति । अस्मात्परस्मादपि धातोरात्मनेपदं नेति भावः । उदाहरति, इतरेतरस्य-
 अन्योन्यस्य-परस्परस्य वा व्युतिलुनन्ति । अत्र क्रियाविनिमयस्य सत्त्वेऽपि कर्तरि

कर्तरि-क्रियाका विनिमय (अदल-बदल) अर्थं द्योत्ये हो तो धातुसे आत्मनेपद हो, कर्तामें ।
 न गति—गत्यर्थक और हिसार्थक धातुओंसे 'क्रियाविनिमय' अर्थमें आत्मनेपद नहीं हो ।
 हरते—(सोपसर्गक हिसार्थक) 'हृ' धातुसे 'क्रियाविनिमय' अर्थमें आत्मनेपदका निषेध
 नहीं हो । इतरेतर—'इतरेतर' और 'अन्योन्य' उपपदक धातुसे 'क्रियाविनिमय' अर्थमें
 आत्मनेपद नहीं हो ।

परस्परो—'परस्पर' उपपदक धातुसे क्रियाविनिमय' अर्थमें आत्मनेपद नहीं हो ।
 नेर्वि—'न' उपसर्गक 'विश्' धातुसे आत्मनेपद हो । परिव्यवे—परि, वि और अव
 उपसर्गक 'क्रीञ्' धातुसे आत्मनेपद हो । विपरा—वि और परा उपसर्गक 'जि' धातुसे आ-

१।३।१९। विपराभ्यां जेरात्मनेपदं स्यात् । विजयते । पराजयते । क्रीडोऽनु-
संपरिभ्यश्च १।३।२१। अनुसंपरिभ्यः क्रीडतेरात्मनेपदं स्यात् । चादाङ् । अ-
नुक्रीडते । संक्रीडते । परिक्रीडते । आक्रीडते । (समोऽकूजने) संक्रीडते ।
कूजने तु—संक्रीडति चक्रम् । (आगमेः क्षमायाम्) ण्यन्तस्येदं ग्रहणम् ।
आगमयस्व तावत् । मा त्वरिष्ठा इत्यर्थः । (शिक्षेर्जिज्ञासायाम्) धनुषि शिक्षते ।

परस्मैपदमेव 'इतरेतर' इति सूत्रे 'नगति' इत्यतो नेत्यनुवर्तनात् । विजयते । विपूर्व-
कजिधातोर्लटः स्थाने 'विपराभ्यां जे' इति ते, शपि, गुणे, अयादेशे टेरेत्वे च तत्सि-
द्धिः । विजयते—उत्कृष्टो भवतीत्यर्थः । पराजयते । निकृष्टो भवतीत्यर्थः । क्रीडोनुसमिति ।
अनु-सं-परि-चकारादाङ् एतेभ्य उपसर्गभ्यो विद्यमानात् 'क्रीड' धातोरात्मनेपदं स्यादि-
त्यर्थः । अनुक्रीडते—संक्रीडते—परिक्रीडते—आक्रीडते—अत्र 'क्रीडोनु' इत्यात्मनेपदे तङि
टेरेत्वे शपि रूपाणि भवन्ति । विशेषमाह—समोऽकूजनेति । सम्पूर्वात्क्रीडधातोरकूजने
पुवात्मनेपदमन्यत्र परस्मैपदम् । कूजनं शब्दः ध्वनिविशेषः । कूजने सति तु 'संक्री-
डति' इति रूपम् । चक्रमिति तु कूजनकर्तुः स्फोरणायेति भावः । आगमेरिति । आङ्
पूर्वात् ण्यन्तात् गमधातोः क्षमार्थे आत्मनेपदमित्यर्थः । उदाहरति—आगमयस्वेति ।
आङ् पूर्वात् गमधातोर्गो धातुसंज्ञायां लोटि, मध्यमपुरुषैकवचनविवक्षायां थासि,
थासः से आदेशे 'सवाभ्यां वामौ' इति वादेशे शपि गुणेश्यादेशे 'आगमयस्व' इति
रूपम् । तावत् इति अवधौ । फलितार्थमाह मा त्वरिष्ठा इति । शिक्षेरिति । शिचधा-
तोर्जिज्ञासायामात्मनेपदमित्यर्थः । शिक्षते । शिचधातोर्लटि 'शिक्षेर्जिज्ञासायाम्'
इत्यात्मनेपदे तङि टेरेत्वे शपि 'शिचते' इति रूपम् । धनुषि इति विषयसप्तमी ।

त्मनेपद हो । क्रीडो—अनु, सम्, परि और आङ् उपसर्गक 'क्रीड' धातुसे आत्मनेपद हो ।
समो—'सम्' उपसर्गक 'क्रीड' धातुसे आत्मनेपद हो, अकूजन (कर-कर) अर्थमें ।

नोटः—लोकमें केवल कोयल और कथंचित मोरकी बोलीमें ही 'कूजति' का प्रयोग होता
है । यहां मूलमें कूजन अर्थमें 'संक्रीडति चक्रम्' यह उदाहरण दिया गया है । इससे सिद्ध
है कि यह उदाहरण वासुदेवके सुदर्शन चक्रका है । आज-कलके रथचक्र (गाड़ीका पहिया)
का शब्द कूजन अर्थमें प्रयोग करने योग्य नहीं होता ।

('अमर'के शब्दमें ही केवल 'गुञ्जति' का प्रयोग होता है, यह भी स्मरण रखो) ।

आगमेः—'आङ्' उपसर्गक ण्यन्त 'गम्' धातुसे आत्मनेपद हो, क्षमा अर्थमें ।

नोटः—आङ् उपसर्गवशात् गन्धातुका 'क्षमा' अर्थ होता है ।

शिचते—सन्नत 'शक्' धातुसे आत्मनेपद हो, जिज्ञासा अर्थमें ।

नोटः—'शिक्ष विद्योपादाने' का ग्रहण इसलिये नहीं होता कि वह स्वयम् 'अनुदात्तेत'
(आत्मनेपदी) है ।

धनुर्विषयज्ञाने शक्तो भवितुमिच्छतीत्यर्थः । वृत्ति-सर्ग-तायनेषु क्रमः । १।३।३८।
एष्वर्थेषु क्रम आत्मनेपदं स्यात् । वृत्तिरप्रतिबन्धः । ऋचि क्रमते बुद्धिः ।
सर्गः—उत्साहः । अध्ययनाय क्रमते । क्रमन्तेऽस्मिञ्छाणि । स्फीतानि भव-
न्तीत्यर्थः । आङ् उद्गमने । १।३।४०। आङ् परस्मात्क्रम आत्मनेपदं स्यादु-
द्गमने । आक्रमते सूर्यः । (ज्योतिरुद्गमन इति वाच्यम्) नेह, आक्रा-
मति धूमो हर्म्यतलात् । वेः पादविहरणे । १।३।४१। वेः परस्मात् क्रमेरात्मने-
पदं स्यात्पादविहरणे । साधु विक्रमते वाजी । प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम् । १।३।
४२। समर्थाभ्यां प्रोपाभ्यां परस्मात्क्रमेरात्मनेपदं स्यात् । प्रारम्भेऽनयोस्तुल्यार्थता ।
प्रक्रमते । उपक्रमते । समर्थाभ्यां किम् ? प्रक्रामति । गच्छतीत्यर्थः । उपक्रामति ।

निर्णीतार्थमाह धनुर्विषयज्ञाने शक्तो भवितुमिच्छतीति । वृत्तिसर्गेति । एतेष्वर्थेषु
गम्यमानेषु क्रमधातोरात्मनेपदमिति यावत् । समाधत्ते—वृत्तिः = अप्रतिबन्धः—ऋचि
क्रमते बुद्धिः । अत्रात्मनेपदत्वे रूपमवसेयम् । ऋचि बुद्धिः प्रतिबन्धरहिता भवति ।
सर्ग उत्साहः । 'अध्ययनाय क्रमते' अत्रापि तडि शपि रूपम् । अध्ययनविषय उत्साहः
वान् भवतीत्यर्थः । क्रमन्तेऽस्मिन्निति । अत्रापि ज्ञादेशेऽन्तादेशे टेरेत्वे शपि रूपम् ।
अत्र तायनेऽर्थः । तायनं विस्तारः विशदत्वं वा । आङ् उद्गमन इति । आक्रमते सूर्यः ।
आङ्पूर्वात्क्रमधातोः तडि टेरेत्वे शपि रूपम् । सूर्य इति उद्गमनकर्तुः स्फोरणायेति
भावः । केवलमुद्गमनमूर्ध्वगमनमित्यर्थे आत्मनेपदविधानात् 'आक्रामति धूमः'
इत्यत्रापि आत्मनेपदापत्तिरत आह—'ज्योति रुद्गमने' इति । धूमस्य ज्योतिस्वाभा-
वान्न दोष इति भावः । वः पादविहरणेति । विपूर्वात्क्रमधातोः पादविहरणे = पादवि-
न्यासपूर्वकचलने आत्मनेपदं स्यादित्यर्थः । विक्रमते । तडि शपि रूपम् । साधु वि-
क्रमते वाजी = अश्वः सम्यक् पादसंचालनं करोति । साधु गतिमानित्यर्थः । प्रोपा-
भ्यामिति । समावर्थौ ययोस्तौ समर्थौ ताभ्यामित्यर्थः । ततः कुत्र प्रपूर्वस्य
क्रमधातोस्तथा उपपूर्वस्य क्रमधातोः समानार्थता । अत आह—प्रारम्भेऽनयोस्तु-
ल्यार्थतेति । प्रक्रमते—उपक्रमते । तडि शपि रूपे भवतः । प्रारभते इत्यर्थः । सम-

वृत्तिसर्ग—'क्रम' धातुसे आत्मनेपद हो, वृत्ति (अप्रतिबन्ध, विना रुकावट), सर्ग
(उत्साह) और तायन (बुद्धि, स्फीत) अर्थमें । आङ्—'आङ्' उपसर्गसे पर 'क्रम'
धातुसे उद्गमन (ऊपर उठना) अर्थमें आत्मनेपद हो । ज्योति—ज्योति (प्रकाश) का
उद्गमन (उदय) अर्थमें ही 'क्रम' धातुसे आत्मनेपद हो, ऐसा कहना चाहिये ।

वेः पाद—'वि' उपसर्गसे पर 'क्रम' धातुसे आत्मनेपद हो, पादविहरण अर्थमें ।

प्रोपा—तुल्यार्थक 'प्र' और 'उप' उपसर्गसे पर 'क्रम' धातुसे आत्मनेपद हो ।

आगच्छतीत्यर्थः । अनुपसर्गाद्वा । १।३।४३। अनुपसृष्टात्क्रमेरात्मनेपदं वा स्यात् । क्रामति । क्रमते । अपह्ववे ज्ञः । १।३।४४। अपह्ववे जानातेरात्मनेपदं स्यात् । शतमपजानीते । अपलपतीत्यर्थः । अकर्मकाच्च । १।३।४५। अकर्मकाज्जानातेरात्मनेपदं स्यात् । सर्पिषो जानीते । सर्पिषोपायेन प्रवर्तत इत्यर्थः । समवप्रविभ्यः स्थः । १।३।२२। एभ्यस्तिष्ठतेरात्मनेपदं स्यात् । सन्तिष्ठते । अवतिष्ठते । प्रतिष्ठते । वितिष्ठते । (आङ्ः प्रतिज्ञायामुपसंख्यानम्) शब्दं नित्यमातिष्ठते । प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च । १।३।२३। तिष्ठतेरात्मनेपदं स्यादनयोरर्थयोः । गोपी कृष्णाय तिष्ठते । आशयं प्रकाशयतीत्यर्थः । 'संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः' । कर्णा-

र्थाभ्यामित्यभावे गच्छत्यर्थे 'प्रक्रामते' इति प्रयोगापत्तिः स्यात् । अनुपसर्गादेति । उपसर्गरहितात् क्रमधातोरात्मनेपदं वेति भावः । क्रामति । तिपि शपि 'क्रमः परस्मै पदेषु' इति दीर्घे रूपम् । तदभावे तडि शपि टेरेत्वे रूपम् । अपह्ववे ज्ञ इति । अपपूर्वाज्ज्ञाधातोरात्मनेपदं स्यादपह्ववार्थे इति भावः । अपजानीते । अपपूर्वाज्ज्ञाधातोः तडि 'क्रयादिभ्यः शना' इति शनाविकरणे 'ज्ञाजनोर्जा' इति जादेशे 'ईहृल्यघोः' इतीत्वे टेरेत्वे 'अपजानीते' इति रूपम् । अकर्मकाच्चेति । कर्मरहितादपि ज्ञाधातोरात्मनेपदं स्यादित्यर्थः । उदाहरति—सर्पिषो जानीते । अत्रापि तडि टेरेत्वे क्रयादित्वात् शनाप्रत्यये 'ज्ञाजनोर्जा' इति जादेशे 'ईहृल्यघोः' इति ईकारादेशे रूपसिद्धिः । अकर्मकत्वस्फोरणाय 'सर्पिष' इति षष्ठ्यन्त पदमिति भावः । सन्तिष्ठते । समाप्तं भवतीत्यर्थः । अवतिष्ठते । अत्र सर्वत्र स्थाधातोर्लटः स्थाने 'समवप्रविभ्यः स्थः' इत्यात्मनेपदे, शपि, 'पात्राध्मास्थान्नादान्' इत्यादिना तिष्ठ आदेशः । आङ् इति । प्रतिज्ञायामाङ्पूर्वात् स्थाधातोरात्मनेपदमित्यर्थः । शब्दं नित्यमातिष्ठते । आङ्पूर्वात् स्थाधातोर्लटि 'आङ्ः प्रतिज्ञायाम्' इति तडि टेरेत्वे शपि 'पात्रा' इति तिष्ठादेशे 'आतिष्ठते' इति रूपम् । शब्दमिति तु प्रतिज्ञास्फोरणायेति भावः । प्रकाशनेति । प्रकाशनं=ज्ञापनम् । स्थेयो = विवादपदनिर्णेत । विवादपदनिर्णयार्थं यस्मिन् तिष्ठते स स्थेयः । आत्मनेपदं स्यादिति शेषः । तिष्ठते । स्थाधातोर्लटि प्रकाशनार्थे तडि टेरेत्वे शपि तिष्ठादेशे रूपम् । गोपी-कृष्णाय इति पदे आशयप्रकाशनार्थद्योतनाय । तद्वत् 'संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः' । अत्र स्थेयार्थे आत्मनेपदम् । कर्णादीन् स्थेयान्

अनुप—अनुपसृष्ट (उपसर्गरहित) 'क्रम' धातुसे आत्मनेपद हो, विकल्पसे । अपह्व—'ज्ञा' धातुसे आत्मनेपद हो, अपह्वव (अपलाप) अर्थमें । अकर्म—अकर्मक (सोपसर्गकसे भी) 'ज्ञा' धातुसे आत्मनेपद हो । समव—'सम्' 'अव' 'प्र' अथवा 'वि' उपसर्गसे पर 'स्था' धातुसे आत्मनेपद हो । आङ्—'आङ्' उपसर्गसे पर 'स्था' धातुसे आत्मनेपद हो प्रतिज्ञा अर्थमें । प्रकाश—'स्था' धातुसे आत्मनेपद हो, प्रकाशन (स्वाभि-

दीक्षिणेतृत्वेनाश्रयतीत्यर्थः । उदोऽनूर्ध्वकर्मणि । १।३।२४। उदः परस्मात्तिष्ठते-
रात्मनेपदं स्यादनूर्ध्वकर्मणि । मुक्तानुत्तिष्ठते । अनूर्ध्वेति किम् ? पीठादुत्तिष्ठति ।
उपान्मन्त्रकरणे । १।३।२५। उपात्तिष्ठतेरात्मनेपदं-स्यान्मन्त्रकरणे । आनेय्या-
ऽऽनीध्रमुपतिष्ठते । मन्त्रकरणे किम् । भर्तारमुपतिष्ठति यौवनेन । (उपाद्देव-
पूजासङ्गतिकरणमित्रकरणपथिष्विति वाच्यम्) आदित्यमुपतिष्ठते । गङ्गा
यमुनामुपतिष्ठते । रथिकानुपतिष्ठते । मित्रीकरोतीत्यर्थः । पन्थाः स्रुघ्नमुपतिष्ठते ।
प्राप्नोतीत्यर्थः । (वा लिप्सायामिति वक्तव्यम्) मिथुकः प्रभुमुपतिष्ठते ।
उपतिष्ठति वा । उद्विभ्यां तपः । १।३।२७। उद्विभ्यां तप आत्मनेपदं स्यात् ।
'अकर्मका'दित्येव । उत्तपते । वितपते । दीप्यत इत्यर्थः । स्वाङ्गकर्मकाच्चे-

निर्णेतृत्वेन आश्रयति । उदोन्विति । उत्पूर्वात् स्थाधातोरात्मनेपदं स्यात् अनूर्ध्वगा-
मिन्यर्थः । उत्तिष्ठते । उत्पूर्वात्स्थाधातोर्लटि तङि ऌरेत्वे शपि तिष्ठादेशे रूपम् । मुक्ता-
विति विषयसप्तमी अनूर्ध्वगामित्वं स्फोरयति । ऊर्ध्वगामित्वे तु परस्मैपदमेव ।
उपादिति । मन्त्रकरणार्थं गम्ये उपपूर्वात् स्थाधातोरात्मनेपदमित्यर्थः । तेन 'उपतिष्ठते'
इति रूपम् । पूर्ववत्प्रक्रिया । मन्त्रकरणाभावे उदाहरति-भर्तारमिति । अत्र परस्मैपद-
मेव न त्वात्मनेपदम् । उपाद्देवेति । उपपूर्वात् स्थाधातोरात्मनेपदमित्यर्थः । उपतिष्ठते ।
उपपूर्वात् स्थाधातोर्लटि तङि शपि तिष्ठादेशे रूपम् । आदित्यमिति देवपूजनार्थं चोत-
नायेति भावः । गङ्गा यमुनामुपतिष्ठते । अत्र सङ्गतिकरणार्थं गम्यमाने आत्मनेपद-
मिति भावः । गङ्गा यमुनां सङ्गच्छति इति भावः । रथिकानुपतिष्ठते । मित्रीकरणार्थं
आत्मनेपदं, रूपसिद्धिः प्राग्वत् । पन्थाः स्रुघ्नमुपतिष्ठते । अत्रापि आत्मनेपदमिति भावः ।
वा लिप्सायामिति । उपपूर्वात्स्थाधातोरात्मनेपदं वा स्यात् लिप्सार्थं गम्ये । लिप्सा-
र्थस्तु वार्तिकसामर्थ्याज्ज्ञेयः । उपतिष्ठति-उपतिष्ठते । अत्र पाक्षिकमात्मनेपदम् ।
उद्विभ्यामिति । उत्पूर्वाद्धिपूर्वाच्च तपधातोरात्मनेपदमित्यर्थः । अकर्मकाच्चेत्यतोऽकर्म-
कादिति अनुषज्यते । उत्तपते-वितपते । उत्पूर्वात् विपूर्वाच्च तपधातोस्तङि शपि
रूपे भवतः । स्वाङ्गकर्मिति । स्वस्याङ्गं स्वाङ्गम् । तद्वोधकं यत्पदं तत् कर्म यस्य

प्रायाविष्करण) और स्थेय (विवादपदनिर्णय) अर्थमें । उदोऽनूर्ध्व—'उत्' उपसर्गसे
पर, 'स्था' धातुसे आत्मनेपद हो, अनूर्ध्व कर्ममें (ऊर्ध्वदेशसंयोगानुकूल कर्म
'ऊर्ध्वकर्म' और तद्विन्न 'अनूर्ध्वकर्म' कहा जाता है) । उपान्मन्त्रकरणे—'उप' उप-
सर्गसे पर 'स्था' धातुसे आत्मनेपद हो, मन्त्रकरण (स्तुति) अर्थमें । उपाद्देव—'उप'
उपसर्गसे पर 'स्था' धातुसे आत्मनेपद हो, देवपूजा आदि अर्थमें । वा लिप्सा—'उप' उप-
सर्गसे पर 'स्था' धातुसे आत्मनेपद हो, लिप्सा अर्थमें, विकल्पसे । उद्विभ्यां—'उत्' और
'वि' उपसर्गसे पर अकर्मक 'तप' धातुसे आत्मनेपद हो । स्वाङ्गा—(उक्त सूत्रसे) स्वाङ्गकर्मक

ति वक्तव्यम्) उत्तपते, वितपते पाणिम् । नेह-सुवर्णमुत्तपति । अङो यमहनः । १।३।२८। आङः पराभ्यामाभ्यामात्मनेपदं स्यात् । आयच्छते । आहते । 'अकर्मकात्स्वाङ्गकर्मका' दित्येव । नेह—परस्य शिर आहन्ति । आत्मनेपदेध्वन्यतरस्याम् । २।४।४४। आत्मनेपदेषु परेषु हनो वधादेशो वा स्याल्लुङि । आऽवधिष्ट । आऽवधिषाताम् । आऽवधिषत । हनः सिच् । १।२।१४। हनः सिच् कित् स्यात् । अनुनासिकलोपः । आहत । आहसाताम् । आहसत । यमो गन्धने । १।२।१५। यमः परः सिच् कित् स्याद्गन्धने । गन्धनं—सूचनं, परदोषाविष्करण-

तस्मात् इति भावः । उत्तपते वितपते पाणिम् । अत्र पाणिशब्दस्याङ्गवाचित्वात् । तपधातोश्च पाणि शब्दस्य कर्मत्वादात्मनेपदमिति भावः । सुवर्णमित्यस्य स्वाङ्गवाचित्वाभावाच्चात्मनेपदमिति दिक् । आङो यमहन इति । 'अकर्मकात् 'स्वाङ्गकर्मकात्' इति चानुवर्तते । आङ् पूर्वात् यमो हनश्चात्मनेपदमित्यर्थः । आयच्छते । आङ् पूर्वात् यमधातोः 'आङो यमहनः' इत्यात्मनेपदे तङि टेरेत्वे शपि 'इपुगमि' इति छान्देशे तुकि जरत्वे चत्वे रूपम् । आहते । आङ्पूर्वाहन्तेः 'आङो यमहनः' इति आत्मनेपदे तङि शपि शब्लुकि 'अनुदात्तोप' इति नलोपे 'आहते' इति रूपम् । आत्मनेपदं ध्विति । 'हनो वध' इत्यतः उभयोरप्यनुवृत्तिरत आह हनोवधादेश इति । आवधिष्टेति । आङ्पूर्वाद्धन धातोः 'आङो यमहनः' इत्यात्मनेपदे लुङि तङि टेरेत्वे च्लौ सिचि इडागमे 'आत्मनेपदेषु' इति पाक्षिके वधादेशे 'उपसर्गसमानाकारं पूर्वपदं धातुसंज्ञाप्रयोगके प्रत्यये चिकीर्षिते पृथक्क्रियते' इति नियमेन आङः पृथक्करणाद् वध शब्दात्प्रागटि दीर्घे षत्वे ण्डुत्वे 'आवधिष्ट' इति रूपम् । आवधिषाताम् । 'आ-अ-वध-इ-स्-आताम्' इति स्थितौ सवर्णदीर्घे षत्वे 'आवधिषाताम्' इति रूपम् । एवं 'आवधिषत' अत्राप्यात्मनेपदमिति भावः । वधादेशाभावे । हनः सिच् । किदित्यनुवर्तते अत आह किदिति । हनः परः सिच् कित्स्यादित्यर्थः । आहत । आङ् पूर्वाहनधातोः लुङि 'आङो यमहनः' इत्यात्मनेपदे वधादेशाभावे तङि च्लौ सिचि 'हनः सिच्' इति सिचः कित्वे 'अनुदात्तोपदेश' इति नलोपे 'हस्वाद्ङात्' इति सिचो लोपे अटि दीर्घे 'आहत' इति रूपम् । आहसाताम् । 'आ-अ-हन्-स्-आताम्' इत्यवस्थायां दीर्घे 'हनः सिच्' इति कित्वे 'अनुदात्तोप' इति नलोपे संयोगे 'आहसाताम्' इति रूपम् ।

'तप' धातुसे आत्मनेपद हो, ऐसा कहना चाहिये ।

आङो—'आङ्' उपसर्गसेपर अकर्मक और स्वाङ्गकर्मक 'यम्' धातुसे आत्मनेपद हो ।

आत्मने—'हन्' धातुको 'वध' आदेश हो, लुङ् सम्बन्धी आत्मनेपदके परे, विकल्पसे ।

हनः सिच्—'हन्' धातुसे पर 'सिच्' कित् हो ।

यमो—'यम्' धातुसे पर 'सिच्' कित् हो, गन्धन अर्थमें ।

म् । उदायत । गन्धने किम् ? उदायंस्त पादम् । आकृष्टवानित्यर्थः । समो ग-
म्यृच्छिभ्याम् । १।३।२६। समो गम्यृच्छिभ्यामात्मनेपदं स्यात् । 'अकर्मकाभ्या'-
मित्येव । सङ्गच्छते । वा गमः । १।२।१३। गमः परौ मलादी । लिङ्सिचौ वा
क्रितौ स्तः । सङ्गसीष्ट । सङ्गसीष्ट । समगत । समगंस्त । समृच्छते । अकर्मकाभ्यां
किम् ? ग्रामं सङ्गच्छति । (विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसंख्यानम्) वेत्तेरेव
ग्रहणम् । संवित्ते । संविदाते । वेत्तेर्विभाषा । ७।१।७। वेत्तेः परस्य ज्ञादेशस्या-

आहसत । अत्रापि आत्मनेपदे रूपमवसेयम् । यमो गन्धने । 'हनः सिच्' इत्यतः सिच्
इत्यनुवर्तते किञ्च । उदायतेति । उद् आङ् पूर्वात् यमधातोः लुङि 'आङो यमहनः'
इत्यात्मनेपदे तङि च्लौ सिचि 'यमो गन्धने' इति सिचः क्त्वे 'अनुदात्तोप' इति
नलोपे उदः पृथक्करणात् यमः प्रागटि दीर्घे 'उदायत' इति रूपम् । गन्धनाभावे तु
'उद्-आ-अ-यम्-स्-त' इति स्थिते दीर्घे मस्यानुस्वारे 'उदायंस्त' इति रूपम-
वधेयम् । सम इति । 'अकर्मकाच्च' इत्यतोऽनुवृत्तं विपरिणम्यते । अकर्मकाभ्यां सम्
पूर्वात् गम्यृच्छिभ्यां आत्मनेपदमित्यर्थः । सङ्गच्छते । सम्पूर्वाद्गमः लटि 'समः' इत्या-
त्मनेपदे तङि टेरत्वे शपि 'इपुगमियमां छः' इति ज्ञादेशे तुकि श्चुत्वे जश्त्वे चत्वे
'सङ्गच्छते' इति रूपम् । वा गम इति । 'लिङ् सिचौ' इत्यतो लिङ् सिचाविति । किदि-
तिचानुवर्तते । सङ्गसीष्ट-सङ्गसीष्ट । सम्पूर्वाद्गमो लिङि 'समोगम्' इत्यात्मनेपदे तङि
'लिङः सीयुट्' इति सीयुडागमे 'सुट् तिथोः' इति सुटि 'सम्-गम्-सी-स्-त' इति
जाते 'वा गमः' इति लिङः क्त्वे 'अनुदात्तोपदेश' इति गमो मलोपे समो मस्यानुस्वारे
पत्वे ण्णुत्वे 'संगसीष्ट' इत्येकं रूपम् । यदाकिद्वन्भावो न स्यात्तदा मलोपाभावादनुस्वारे
'संगसीष्ट' इति रूपं भवति । समगतेति । सम्-गम्-स-त इत्यवस्थायां सिचः 'वा ग-
मः' इति क्त्वपत्ते गमो मस्य 'अनुदात्तोप' इति लोपे गमः प्रागडागमे 'समगत' इति
रूपम् । यदा किद्वत्त्वं न स्यात् तदा मस्यानुस्वारे 'समगंस्त' इति रूपम् । समृच्छते ।
सम् पूर्वात् ऋच्छधातोः 'समोगम्' इत्यात्मनेपदे तङि टेरत्वे 'तुदादिभ्यः शः' इति
शप्रत्यये 'समृच्छते' इति रूपम् । विदिप्रच्छीति । सम्पूर्वाद्विदादिभ्य आत्मनेपद-
मित्यर्थः । संवित्ते । सम्पूर्वात्विद् धातोः लटि तङि टेरत्वे शपि शब्लुकि 'संवित्ते' इति
रूपम् । 'सम्-विद्-आताम्' इत्यवस्थायां टेरत्वे 'संविदाते' इत्यस्य सिद्धिः । वेत्तेरिति ।
'शीङो रुट्' इत्यतो रुडिति अनुवर्तते । सम्पूर्वाद्विद्धातोर्लटि 'विदिप्रच्छि', इत्या-

समो—'सम्' उपसर्गसे पर अकर्मक 'गम्' और 'ऋच्छ' धातुसे आत्मनेपद हो ।

वागमः—'गम्' धातुसे पर झलादि लिङ् और सिच् क्ति हो, विकल्पसे ।

विदि—'सम्' उपसर्गसे पर 'विद्' 'प्रच्छ' और 'रुट्' धातुसे आत्मनेपद हो ।

वेत्तेर्वि—'विद्' धातुसे पर ज्ञादेशसम्बन्धी 'अत्' को रुडागम हो, विकल्पसे ।

उतो रुडागमो वा स्यात् । संविदते । संविदते । संपृच्छते । संस्वरते । [अर्त्तिश्रु-
दृशिभ्यश्चेति वक्तव्यम्* । 'अर्त्ति'ति द्वयोरेव ग्रहणम् । अङ्विधौ त्वियत्तेरेवे-
त्युक्तम् । मा समृत । मा समृषाताम् । मा समृषतेति । समार्त्त समार्षाताम् ।
समार्षतेति च—भ्वादेः । इयत्तेस्तु—मा समरत । मा समरेताम् । मा समरन्त ॥
समारत । समारेताम् । समारन्त इति । संश्रुते । संपश्यते ।] अथाऽस्मिन्नक-
र्मकाधिकारे हनिगम्यादीनां कथमकर्मकतेति चेत्, शृणु—

‘धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसंग्रहात् ।

प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया’ ॥ १ ॥

वहति भारम् । नदी वहति । स्यन्दत इत्यर्थः । जीवति । नृत्यति । प्रसि-

त्मनेपदे ज्ञादेशे झलोपे ‘वेत्तेर्विभाषा’ इति रुडागमे ‘संविदते’ इत्येकं रूपम् । रुडा-
गमाभावे ‘संविदते’ इति द्वितीयं रूपम् । तद्वत् ‘संपृच्छते—संस्वरते’ अत्राप्यात्मने-
पदमिति भावः । ननु हनिगम्यादीनां सकर्मकत्वात्कथमकर्मकतेति चेदाह—धातोरर्था-
न्तरेति । धातोरर्थान्तरे वृत्तेरिति—धात्वर्थेनोपसंग्रहात्—प्रसिद्धेः—अविवक्षातः इति वा-
क्यचतुष्टयम् । अकर्मिका क्रियेति सर्वत्र सम्वध्यते । वहति भारमिति । प्रापयतीत्यर्थः ।
अत्र सकर्मकत्वमिति भावः । अर्थान्तरेऽस्याकर्मकत्वमुदाहरति—नदी वहति, स्यन्दते

धातोरर्थान्तरे—यहां पर १—धातोरर्थान्तरे वृत्तेः, २—धात्वर्थेनोपसंग्रहात्, ३—प्र-
सिद्धेः, ४—अविवक्षातः,—इस प्रकार चार वाक्य हैं । ‘अकर्मिका क्रिया’ को प्रत्येक वाक्य-
में अन्वय होता है । केवल ‘कर्मणः’ को प्रथम वाक्यमें अन्वय नहीं होकर द्वितीयसे अन्तिम
चतुर्थ वाक्य तक ही होता है । प्रत्येक वाक्यका अर्थ इस प्रकार है—(१) सकर्मक धातु यदि
अर्थान्तर (अकर्मक क्रियारूप अर्थान्तर) को कहने लगे तो वह अकर्मक हो जाती है । यथा
‘भारं वहति = प्रापयति’ यहां प्रापणार्थक ‘वह’ धातु सकर्मक है, परन्तु यही अर्थान्तर
(स्यन्दतेरूप अर्थमें वृत्ति (प्रवृत्ति) होकर कहीं अकर्मक होती है । यथा ‘नदी वहति =
स्यन्दते (प्रववति)’ । (२) यदि कर्मका धात्वर्थसे उपसंग्रह हो जाय तो धातु अकर्मक हो
जाती है । यथा ‘जीवति’ ‘नृत्यति’ यहां ‘जीव’का प्राणधारण करना और ‘नृत’ का अङ्ग-
विक्षेप करना अर्थ है । परन्तु दोनों जगह प्राणधारण और अङ्गविक्षेप रूप कर्मका धात्वर्थमें ही
अन्तर्भाव होजाता है । अतः ये दोनों धातु सकर्मक नहीं होते । (३) कहीं प्रसिद्ध कर्म रहने पर
भी धातु अकर्मक हो जाती है । यथा ‘मेघो वर्षति’ (अर्थात् मेघो जलं वर्षति) यहां पर जल
रूप कर्म प्रसिद्ध है, परन्तु धातु अकर्मक कही जाती है । (४) कर्मकी अविवक्षा करने पर भी
धातु अकर्मक होजाती है, यथा ‘हितान्न यः संश्रुते स किं प्रभुः’ (हितात् पुरुषात् यः न
संश्रुते=स्व हितं न मन्यते, स किं प्रभुः, कुत्सित इत्यर्थः) यहां पर स्वहित रूप कर्मकी
अविवक्षा करने पर धातु अकर्मक होजाती है । * कोष्ठान्तर्गतः पाठः क्वाचित्कः ।

द्वयथा—मेघो वर्षति । कर्मणोऽविवक्षातो यथा—‘हितान्न यः संश्रुणुते स किंप्रभुः’ । माननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः । १।३। ३६। एवर्थेषु निय आत्मनेपदं स्यात् । शास्त्रे नयते । शास्त्रस्थं सिद्धान्तं शिष्येभ्यः प्रापयतीत्यर्थः । तेन शिष्यसंमाननं फलितम् । उत्सञ्जने—दण्डमुन्नयते । उत्क्षिपतीत्यर्थः । माणवकमुपनयते । विधिना आत्मसमीपं प्रापयतीत्यर्थः । उपनयनपूर्व-केणाध्यापनेन हि उपनेतरि आचार्यत्वं क्रियते । ज्ञाने—तत्त्वं नयते । निश्चिनोतीत्यर्थः । कर्मकरानुपनयते । भृतिदानेन स्वसमीपं प्रापयतीत्यर्थः । विगणनमृणादेनिर्यातनम् । करं विनयते । राज्ञे देयं भागं परिशोधयतीत्यर्थः । शतं विनयते । धर्मार्थं विनियुक्ते इत्यर्थः । (उपसर्गादस्यत्यूहोर्वेति वाच्यम्) बन्धं निरस्यति । निरस्यते । समूहति । समूहते । उपसर्गाद्भ्रस्व ऊहतेः । ७।४।२३। उपसर्गाद्दूहतेर्ह्रस्वः स्यात्, यादौ विङति । ब्रह्म समुह्यात् । अग्निं समुह्य । निसमुपविभ्यो ह्रः । १।३।३०। एभ्यो ह आत्मनेपदं स्यात् । निहयते । स्पर्द्धायामाहुः । १।३।३१। आङो ह आत्मनेपदं स्यात्, स्पर्द्धायाम् । कृष्णश्चाणूरमाह-

इत्यर्थः । जीवति-नृत्यति । जीवेः प्राणधारणमर्थः । नृतेस्त्वङ्गविक्षेपः । उभयत्रापि कर्मणोः धात्वर्थान्तर्भावाच्च सकर्मकत्वमिति भावः । मेघो वर्षति । वर्षणकर्मणो जलस्य प्रसिद्धत्वादकर्मकत्वम् । हिताच्चेत्यत्र स्वहितस्य वस्तुतः कर्मत्वेऽपि तदविवक्षयाऽकर्मकत्वम् । संमाननं । एवर्थेषु निय आत्मनेपदमित्यर्थः । नयते । निधातोर्लटि ‘संमानन’ इति तङि टेरत्वे शपि गुणेऽयादेशे ‘नयते’ इति रूपम् । शास्त्रे इति संभावनस्फोरणाय । एवं उन्नयते-उपनयते-विनयते-इत्यादिष्वात्मनेपदं बोध्यम् । उपसर्गादिति । वार्त्तिकमेतद् । आत्मनेपदं वेत्यर्थः । निरस्यति-निरस्यते । समूहति । समूहते । अत्राप्यात्मनेपदमिति भावः । ब्रह्म-समुह्यात् । अत्र सम्-ऊह-या-त् इत्यवस्थायां ‘उपसर्गाद्भ्रस्वः’ इति ह्रस्वे ‘समुह्यात्’ इति रूपम् । ल्यबन्तमुदाहरति-समुह्येति । अत्रापि ह्रस्व इत्यर्थः । निसमुपेति । नि, सम्-उप-वि-एभ्यः परो यो ह्रैज् धातुस्तस्मादात्मनेपदमित्यर्थः । निपूर्वात् ह्रैज् धातोर्लटि ‘निसमुप’ इत्यात्मनेपदं शे-

संमाननो—संमानन, उत्सर्जन, आचार्यकरण, ज्ञान, भृति, विगणन और व्यय रूप अर्थ गम्यमान हो तो ‘नी’ धातुसे आत्मनेपद हो । उपसर्गा—उपसर्गसे पर ‘अस्’ और ‘ऊह्’ धातुसे आत्मनेपद हो, विकल्पसे । उपसर्गाद्भ्रस्व—उपसर्गसे पर ‘ऊह्’ धातुके अच् को ह्रस्व हो, यकारादि कित्-ङित् प्रत्ययके परे । निसमुप—नि, सम्, उप और वि उपसर्गसे पर ‘ह्रैज्’ धातुसे आत्मनेपद हो, परगामी क्रियाफलमें । स्पर्द्धाया—‘आङ्’ उपसर्गसे पर ‘ह्रैज्’

यते । स्पर्द्धायां किम् ? पुत्रमाह्वयति । उदश्वरः सकर्मकात् । १।३।५३। उत्पूर्वात्सकर्मकाच्चरतेरात्मनेपदं स्यात् । धर्ममुच्चरते । उल्लङ्घ्य गच्छतीत्यर्थः । समस्तृतीयायुक्तात् । १।३।५४। तृतीयान्तेन युक्तात्सम्पूर्वाच्चरतेरात्मनेपदं स्यात् । रथेन सञ्चरते । दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे । १।३।५५। समो दाणस्तृतीयान्तेन युक्तादुक्तं स्यात्तृतीया चेच्चतुर्थ्यर्थे । दास्या संयच्छते कामी । उपाद्यमः स्वकरणे । १।३।५६। उत्पूर्वाद्यम आत्मनेपदं स्यात्स्वकरणे । स्वकरणं—स्वीकारः । भार्यामुपयच्छते । विभाषोपयमने । १।२।१६। यमः सिच् कित्वा स्याद्विवाहेऽर्थे । रामः सीतामुपायत, उपायंस्त वा । उदबोढेत्यर्थः । ज्ञाश्रुस्मृदशां सनः । १।३।५७।

अयादेशे 'निह्वयते' इति रूपम् । एवं संह्वयते-विह्वयते-इत्यादि । स्पर्द्धायामिति । 'निस-मुपविभ्यो ह्वः' इत्यतः 'ह्व' इत्यनुवर्तते । आङ्पूर्वात् ह्वेज धातोरात्मनेपदमित्यर्थः । चाणूरमाह्वयते । अत्र आ-ह्वे-अ-ते-इति जातेऽयादेशे रूपम् । स्पर्द्धाभावे आह्वयति । उदश्वरः सकर्मकात् । उत्पूर्वाच्चरधातोः सकर्मकादात्मनेपदमित्यर्थः । धर्ममुच्चरते । उत्पूर्वात् चर्धातोर्लटः स्थाने 'उदश्वरः सकर्मकात्' इति आत्मनेपदे टेरेत्वे च तत्सिद्धिः । समस्तृतीयेति । सकर्मकादिति निवृत्तम् । सम्पूर्वात् तृतीयान्तसमभिव्याहृताच्चरधातो-रात्मनेपदमित्यर्थः । रथेन सञ्चरते । अत्र सम्पूर्वकचरधातुर्वर्तते, रथेन इति तृतीयान्तेन च युक्तः, तस्माद् 'समस्तृतीयायुक्तात्' इत्यनेनात्मनेपदम् । दाणश्च सा । 'समस्तृतीयायुक्तात्' इत्यनुवर्तते । तदाह—सम्पूर्वादिति । दास्या संयच्छने कामी । 'अशिष्टव्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे तृतीया' इति वार्तिकेन दास्या इत्यत्र चतुर्थ्यर्थे तृतीया, सतश्च दास्या इति तृतीयान्तयुक्तात्सम्पूर्वाद्दाणधातोर्लोटि तत्स्थाने प्रथमपुरुषैकवचनविवक्षायां 'दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे' इत्यात्मनेपदत्वात्तत्प्रत्यये शपि अनुबन्धलोपे 'पाद्माध्मा' इत्यादिना दाणो यच्छादेशे 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे टेरेत्वे च कृते तत्सिद्धिः । उपाद्यम इति । स्वीकारार्थे उपाद्यम आत्मनेपदमित्यर्थः । उपयच्छते । उपपूर्वाद्यमो लटि 'उपाद्यमः' इत्यात्मनेपदे तद्धि शपि टेरेत्वे 'इषुगमि' इति च्छादेशे तुकि श्चुत्वे जश्त्वे चत्वे रूपम् । विभाषेति । विवाहार्थे सिचः कित् । 'असंयोत्' इत्यतस्तदनुवृत्तेः । उपायत-उपायंस्त । 'उप-आ-अ यम्-स्-त' इति स्थितौ दीर्घे सिचः सस्य 'विभाषोपयमने' इति वा कित्त्वे 'अनुदात्तोप' इति मलोपे 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सलोपे 'उपायत'

धातुसे आत्मनेपद हो, यदि स्पर्द्धा गम्यमान रहं । उदश्वरः—'उत्' उपसर्गसे पर सकर्मक 'चर्' धातुसे आत्मनेपद हो । समस्तृ—तृतीयान्तसे युक्त 'सम्' उपसर्गक 'चर्' धातुसे आत्मनेपद हो । दाणश्च—तृतीयान्तसे युक्त 'सम्' उपसर्गक 'दाण' धातुसे आत्मनेपद हो, वह तृतीया यदि चतुर्थीके अर्थमें रहे ।

उपाद्यमः—'उप्' उपसर्गक 'यम्' धातुसे आत्मनेपद हो, स्वीकार अर्थमें । विभाषा—'यम्' धातुसे पर सिच् कित् हो, विकल्पसे, विवाह अर्थमें । ज्ञाश्रुस्मृ—सन्नन्त

सन्नन्तानामेषां प्राग्वत् । धर्मं जिज्ञासते । शुश्रूषते । सुस्मर्यते । दिदृक्षते ॥ नाऽ-
नोर्ज्ञः । १।३।५८। अनुपूर्वाज्ज्ञानातेः सन्नन्तादात्मनेपदं न स्यात् । पुत्रमनुजिज्ञा-
सति । प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु । १।३।६४। प्रयुङ्क्ते । उपयुङ्क्ते । (स्वरा-
द्यन्तोपसर्गादिति वाच्यम्) उयुङ्क्ते । नियुङ्क्ते । अयज्ञपात्रेषु किम् ? द्वन्द्व-
न्यङ्घ्रि पात्राणि प्रयुनक्ति । समः क्षणुवः । १।३।६५। सम्पूर्वात्क्षणव आत्मनेपदं
स्यात् । संचणुते शस्त्रम् । गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्नप्रकथनो-
पयोगेषु कृञः । १।३।३२। एषु कृञ आत्मनेपदं स्यात् । गन्धनं-हिंसा ।
उत्कुरुते । सूचयतीत्यर्थः । अवक्षेपणं-भर्त्सनम् । श्येनो वर्तिकामुदाकुरुते ।
भर्त्सयतीत्यर्थः । हरीमुपकुरुते । सेवते । परदारान्प्रकुरुते । तेषु सहसा प्रवर्तते ।
एधोदकस्योपस्कुरुते । गुणमाधत्ते । कथाः प्रकुरुते । प्रकथयतीत्यर्थः । शतं प्रकु-
रते । धर्मार्थं विनियुङ्क्ते । एषु किम् ? कटं करोति । इत्यात्मनेपदप्रकरणम् ।

इति रूपम् । यदा किद्वत्त्वं न स्यात् तदा 'उपायंस्त' इति रूपम् । ज्ञाश्रु इति । सन्नन्ता-
नामेषामात्मनेपदमित्यर्थः । जिज्ञासते । ज्ञाधातोः सनि 'सन्त्यङोः' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे
ह्रस्वे अभ्यासचत्वं 'सन्त्यतः' इत्यभ्यासेत्वे ततो लटि 'ज्ञाश्रु' इत्यात्मनेपदे तडि शपि
पररूपे 'जिज्ञासते' इति रूपम् । शुश्रूषते । श्रुधातोः सनि दीर्घे द्वित्वे ह्रलो लोपे ह्रस्वे
आत्मनेपदे तडि शपि टेरेत्वे रूपम् । एवं सुस्मर्यते-दिदृक्षते-अत्राप्यात्मनेपदं बोध्यम् ।
नानोरिति । अनुपूर्वाज्ज्ञाधातोः सनि सति तत आत्मनेपदं नेत्यर्थः । अनुजिज्ञासति,
अत्र परस्मैपदमेवेति भावः । प्रेपाभ्यामिति । अयज्ञपात्रेऽर्थे प्रोपाभ्यां युजेरात्मनेपदमि-
त्यर्थः । प्रयुङ्क्ते । प्रपूर्वात् युजो लटि 'प्रोपाभ्यां' इत्यात्मनेपदे तडि टेरेत्वे 'रूधादिभ्यः
श्नम्' इति शनमि मित्वादन्त्यादचः परत्वे अङ्गोपेऽनुस्वारे परसवर्णे तत्सिद्धिः ।
'उपयुङ्क्ते' अत्राप्यात्मनेपदं बोध्यम् । 'स्वराद्यन्तेति' । येषामादिः स्वरः येषां चान्ते
स्वर एतादृगभ्युपसर्गभ्यः परो यो युजधातुस्तस्मादात्मनेपदमित्यर्थः । तेन
'उयुङ्क्ते, नियुङ्क्ते' इत्यादावात्मनेपदमेवेति भावः । समः क्षणव इति । सम्पूर्वात्
क्षणधातोरात्मनेपदमित्यर्थः । इत्यात्मनेपदप्रकरणम् ।

ज्ञा, श्रु, स्मृ, और दृश् धातुसे आत्मनेपद हो । नाऽनोर्ज्ञः—'अनु' उपसर्गसे पर 'ज्ञा' धातुसे
आत्मनेपद नहीं हो । प्रोपाभ्यां—'प्र' और 'उप' उपसर्गसे पर 'युज्' धातुसे आत्मनेपद हो,
यज्ञपात्रसे भिन्न प्रयोगमें । स्वराद्यन्तो—स्वरादि और स्वरान्त उपसर्गसे पर 'युज्' धातुसे
आत्मनेपद हो, अयज्ञपात्रमें—ऐसा कहना चाहिये । समः क्षणवः—'सम्' उपसर्गसे पर 'क्षण'
धातुसे आत्मनेपद हो । गन्धनावक्षेपण-गन्धनादि अर्थों में 'कृञ्' धातुसे आत्मनेपद हो ।
इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें आत्मनेपदप्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ परस्मैपदप्रकरणम्

‘शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्’ । ‘श्वि’ । श्वयति । विभाषा श्वेः । ६।१।३०।
 श्वयतेः संप्रसारणं वा स्याद्विडि, यङि च । शुशाव । शुशुवतुः । (श्वयतेर्लि-
 ट्यभ्याशलक्षणप्रतिषेधः । शिश्वाय । शिश्वियतुः । शिश्वियुः । शूयात् । ‘जृस्त-
 न्भ्व’त्यङ् वा । श्वयतेरः । ७।४।१८। श्वयतेरिक्कारस्य अकारः स्यात्-अङि ।
 अश्वत् । अश्वः । ‘विभाषा घेट्श्वयो’रिति चङ् वा । अशिश्वियत् । अश्वयीत् ।
 अनुपराभ्यां कृञः । १।३।७९। अनुपराभ्यां कृञः कर्तृगे फले, गन्धनादौ च
 परस्मैपदं स्यात् । अनुकरोति । पराकरोति । अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः । १।३।८०।
 अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः परस्मैपदं स्यात् । क्षिप प्रेरणे । स्वरितेत् । अभिक्षिपति ।

शेषादिति । उक्तादन्यः शेषस्तस्मात् शिवधातोर्लिटि तिपि शपि गुणेश्यादेशे
 ‘श्वयति’ इति रूपम् । विभाषेति । ‘इग्यणः संप्रसारण’मित्यतः संप्रसारणमिति लभ्यते ।
 शुशावेति । श्विधातोर्लिटि ‘विभाषा श्वेः’ इति संप्रसारणे तिपि णलि ‘संप्रसारणाच्च’
 इति पूर्वरूपे द्वित्वे वृद्धावादेशे ‘शुशाव’ इति रूपम् । ‘शुशु-अनुस्’ इत्यवस्थायां
 ‘अचिशु’ इत्युवङि रुवे विसर्गे ‘शुशुवतुः’ इति रूपम् । शुशुवुरित्यादीनि रूपाणि ।
 यदा संप्रसारणं न स्यात्तदा द्वित्वे हलादिशेषत्वे वृद्धावादेशे ‘शिश्वाय’ इति रूपम् ।
 शिश्वियतुः शिश्वियुः । अत्र ‘अचिशु’ इतीयङिति भावः । शूयादिति । अत्रापि संप्रसा-
 रणं दीर्घं चेति बोध्यम् । श्वयतेरः । अङि परतःश्वयतेरकारादेशः । श्विधातोर्लिङि तिपि
 ‘इतश्च’ इलोपे च्लौ ‘जृस्तम्भु’ इति वाङि ‘श्वयतेरः’ इत्यत्वेऽटि ‘अश्वत्’ इति
 रूपम् । अङभावे ‘विभाषा’ इति चङि द्वित्वे हलो लोपे अटि इयङि ‘अशिश्वियत्’
 इति रूपम् । यदा चङपि न स्यात्तदा सिचि इडागमे ‘अस्तिसिच’ इति
 तस्येडागमे ‘इट ईटि’ सलोपे गुणेश्यादेशेऽटि ‘अश्वयीत्’ इति तृतीयं रूपम् ।
 गन्धनादाविति । गन्धनावच्चेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु । इत्य-
 र्थः । अनुकरोति । पराकरोति । अत्र ‘गन्धनावच्चेपण’ इति आत्मनेपदे प्राप्ते
 ‘अनुपराभ्यां कृञः’ इत्यपवादभूतेनानेन परस्मैपदम् । अभिप्रत्यतिभ्य इति ।

शेषात्कर्तरि—आत्मनेपदनिमित्तसे हीन जो धातु, उससे कर्तामें परस्मैपद हो ।
 विभाषाश्वेः—‘श्वि’ धातुको संप्रसारण हो, लिट्-यङ्के परे, विकल्पसे । श्वयतेर्लिटि—‘श्वि’
 धातुके अभ्यासको ‘लिट्’के परे सम्प्रसारण नहीं हो । (ऐसा कहना चाहिये) ।
 श्वयतेरः—‘श्वि’ धातुके इकारको अकार आदेश हो, ‘अङ्’के परे । अनुपराभ्यां—‘अनु’
 और ‘परा’ उपसर्गसे पर ‘कृञ्’ धातुसे परस्मैपद हो कर्तृगामिनी क्रियाफल में तथा गन्धनादि
 अर्थमें भी । अभिप्रत्यतिभ्यः—अभि, प्रति और अति उपसर्गसे पर ‘क्षिप्’ धातुसे परस्मै-

प्राद्वहः । १।३।८१। प्राद्वहतेः परस्मैपदं स्यात् । प्रवहति । परेर्मृषः । १।३।८२। परिपूर्वान्मृष्यतेः कर्तृगेऽपि फले परस्मैपदं स्यात् । परिमृष्यति । व्याङ्परिभ्यो रमः । १।३।८३। व्याङ्परिभ्यो रमः परस्मैपदं स्यात् । विरमति । आरमति । परिरमति । उपाच्च । १।३।८४। उपपूर्वाद्रमेः परस्मैपदं स्यात् । देवदत्तो यज्ञदत्तमुपरमति । उपरमयतीत्यर्थः । अन्तर्भावितण्यर्थोऽयम् । विभाषाऽकर्मकात् । १।३।८५। उपाद्रमेरकर्मकात् परस्मैपदं वा स्यात् । उपरमति । उपरमते । निवर्तत इत्यर्थः । बुधयुधनशजनेङ्प्रुद्रुसुभ्यो णेः । १।३।८६। एभ्यो ण्यन्तेभ्यः परस्मैपदं स्यात् । 'णिचश्चे'त्यस्यापवादः । बोधयति पद्मम् । बोधयति काष्ठानि । नाशयति दुःखम् । जनयति सुखम् । प्रावयति । प्रापयतीत्यर्थः । द्रावयति । विलापयतीत्यर्थः । स्त्रावयति । स्यन्दयतीत्यर्थः । क्रीङ्जीनां णौ । ६।१।४८। क्रीङ्जीनां णौ आत्वं स्यात् । अध्यापयति । णौ च संश्रद्धोः । २।४।५१। सन्परे, चङ्परे च णौ इङो गाङ् वा स्यात् । अध्यजीगपत् । अध्यापिपत् । कापयति ।

अभि प्रति अति इत्येवं पूर्वात् द्विपः परस्मैपदं स्यादित्यर्थः । प्राद्वह इति । अपूर्वाद्ब्रह्मतेः परस्मैपदम्भवतीत्यर्थः । परेर्मृष इति । परिपूर्वाद् मृपतेः परस्मैपदम्भवति । व्याङ् परिभ्यो रम इति । वि आङ् परि इत्येवं पूर्वाद्रमतेः परस्मैपदम्भवति । उपाच्चेति । रम इत्येव । उपपूर्वाद्रमतेः परस्मैपदं भवति । ननु विरामार्थकत्वात् कथं सकर्मकतेत्यत आह—उपरमयतीत्यर्थ इति । ननु णिजभावात् कथमयमर्थो लभ्यते इत्यत आह—अन्तर्भावितण्यर्थोऽयमिति । धातूनामनेकार्थत्वादिति भावः । विभाषेति । 'उपाच्च' इत्यत उपादिति लभ्यते । उपरमति—उपरमते । अत्र परस्मैपदं वा, रूपसिद्धिः सरला । बुधयुधेति । ण्यन्तेभ्य एभ्यः परस्मैपदं स्यादित्यर्थः । बोधयति । बुधधातोर्णौ 'पुगन्त' इति गुणे धातुत्वे लटि 'बुधयुध' इति परस्मैपदत्वे तिपि शपि गुणोऽयादेशो रूपम् । एवं बोधयति—नाशयति—जनयति—प्रावयति—द्रावयति—श्रावयति—इत्यादिषु परस्मैपदमेवेति भावः । रूपसिद्धिः बोधयतिवदवधेया । क्रीङ् जीनामिति । णौ परत एषां धातूनामाकारान्तादेशः स्यादित्यर्थः । अध्यापयति । अधिपूर्वादिङः णौ 'क्रीङ्जीनां' इत्यात्वे यणि

पद हो । प्राद्वहः—'प्र' उपसर्गसे पर 'वह्' धातुसे परस्मैपद हो । परेर्मृषः—'परि' उपसर्गक 'मृष' धातुसे परस्मैपद हो । व्याङ्परिभ्यो—वि, आङ् और परि उपसर्गसे पर 'रम्' धातुसे परस्मैपद हो । उपाच्च—'उप' उपसर्गसे पर 'रम्' धातुसे परस्मैपद हो । विभाषाऽकर्मकात्—'उप' उपसर्गसे पर अकर्मक 'रम्' धातुसे परस्मैपद विकल्पसे हो । बुधयुधनश—बुधादि ण्यन्त धातुसे परस्मैपद हो । क्रीङ्जीनां णौ—'क्री' धातु, 'इङ्' धातु और 'जी' धातुको आत्व हो, 'णि' के परे । णौ च संश्रद्धोः—'सन्' परक और 'चङ्'

जापयति । निगरणचलनार्थेभ्यश्च । १।३।८७। निगरणार्थेभ्यश्चलनार्थेभ्यश्च ण्यन्ते-
भ्यः परस्मैपदं स्यात् । निगारयति । चलयति । (अदेः प्रतिषेधः) आदयते
देवदत्तेन । अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात् । १।३।८८। अणौ यो धातुरकर्म-
कश्चित्तवत्कर्तृकश्च तस्माण्यन्तात्परस्मैपदं स्यात् । शेते कृष्णः, तं गोपी शाययति ॥
न पादभ्याङ्यमाङ्यसपरिमुहुरुचिनृतिवदवसः । १।३।८९। एभ्यो ण्यन्तेभ्यः

‘अध्यापि’ इति जाते ‘बुधयुध’ इति परस्मैपदे तिपि शपिं गुणेऽयादेशे ‘अध्यापयति’ इति
रूपम् । णौचेति । विकल्पेन गाडादेशं विधत्ते । अध्यजीगपत् । अधिपूर्वादङिः णौ लुङि
तिपि ‘इतश्च’ इलोपे ‘णौ च संश्रद्धोः’ इङो विभाषया गाडादेशे आदन्तत्वात्पुगागमे
‘अधि-गापि त्’ इति जाते च्लौ ‘णिश्चि’ इति चङि चङ्परणौ उपधाया ह्रस्वत्वे
‘अचि-ग-प्-इ-अ-त्’ ततो द्वित्वे चत्वे ‘सन्त्यतः’ इतीत्वे ‘दीर्घोक्तितः’ इति दीर्घे
जकारात्प्रागाडागमे यणि ‘णेरनिटि’ इति गेलोपे ‘अध्यजीगपत्’ इति रूपम् । यदा
गाडादेशो न स्यात्तदा ‘अधि-इ-इ-अ-त्’ इति स्थिते ‘क्रीड्जीनां णौ’ इत्यात्वे पुकि
‘आडजादीनां’ इत्यादि ‘आडश्च’ वृद्धौ यणि पिशब्दस्य द्वित्वे गेलोपे ‘अध्यापिपत्’
इति रूपम् । क्रापयति । डुक्रीञ्धातोर्णौ ‘क्रीड्जीनां’ इत्यात्वे पुकि लटि तिपि शपि,
गुणेऽयादेशे रूपम् । एवं जापयति । अत्रापि णौ आत्वमित्यर्थः । निगरणेति । निगर-
णचलनार्थेभ्यो ण्यन्तेभ्यः धातुभ्यः परस्मैपदमित्यर्थः । निपूर्वात् गधातोर्णौ वृद्धौ
शपिं गुणेऽयादेशे ‘निगारयति’ इति रूपम् । चलयति । चलधातोर्णौ अल्लोपे लटि
तिपि शपिं गुणेऽयादेशे रूपम् । आदयत इति । अद्धातोर्णौ ‘अत उपधायाः’
इति वृद्धौ लटि तङि शपिं गुणेऽयादेशे ढेरेत्वे ‘आदयते’ इति रूपम् । अणाविति ।
अण्यन्तावस्थायां यः कर्मरहितः चेतनकर्तृवांश्च तस्माद्धातोर्ण्यन्ते परस्मैपदमित्यर्थः ।
अण्यन्तदशां प्रतिपादयते—‘शेते कृष्ण’ इति । अत्र शीङ् धातुरकर्मकः कृष्णरूपचेतन-
कर्तृवान्-च । ण्यन्तदशां स्मारयति—तं गोपी शाययति । शीङ्धातोर्णौ वृद्धौ ‘शायि’
इति रूपे लटि ‘अणौ’ इति परस्मैपदत्वे तिपि शपिं गुणेऽयादेशे ‘शाययति’ इति
रूपम् । न पादमिति । अणावितिप्राप्तं परस्मैपदं निषेधयति । ण्यन्तेभ्यो धातुभ्यः सूत्र-
पठितेभ्यो न परस्मैपदमित्यर्थः । पा-दम-आपूर्वकम्-आ-यस्-परिमुह-रुच्-नृत्-वद्-

परक ‘णि’ के परे ‘इङ्’ धातुको ‘गाड्’ आदेश हो, विकल्पसे । निगरण—निगरणार्थक और चल-
नार्थक ण्यन्त धातुसे परस्मैपद हो । अदेः प्रतिषेधः—ण्यन्त ‘अद्’ धातुसे परस्मैपद नहीं हो ।

अणावकर्म—अण्यन्तावस्थामें अकर्मक और चित्तवत् (चेतन) कर्तृक धातुसे ण्यन्ताव-
स्थामें आत्मनेपद हो ।

न पादभ्याङ्—ण्यन्त पा, दमि, आङथम्, आङथस, परिमुह, रुचि, नृति, वद
और वस धातुओंसे परस्मैपद नहीं हो ।

परस्मैपदं न स्यात् । पाययते । 'मितां ह्रस्वः' । दमयते । आयामयते । आया-
सयते । परिमोहयते । रोचयते । नर्तयते । वादयते । वासयते । (धेट उपसंख्यान-
नम्) धापयते । अकर्त्रभिप्राये 'शेषा'दिति परस्मैपदं स्यादेव । वत्सान् पाय-
यति पयः । इति परस्मैपदप्रकरणम् ।

अथ भावकर्मप्रकरणम्

भावकर्मणोः । ३।१।१३। भावकर्मणोर्लस्य तडानौ स्तः । सार्वधातुके यक्
। १।३।६७। भावकर्मवाचिनि सार्वधातुके परे धातोर्यक् स्यात् । भावः-भावना,
उत्पादना, क्रिया । सा च धातुत्वेन सकलधातुवाच्या भावार्थकलकारेणानूयते ।
युष्मदस्मद्भ्यां सामानाधिकरण्याभावात्प्रथमः पुरुषः । तिङ्वाच्यक्रियाया अद्रव्य-
रूपत्वेन द्वित्वाद्यप्रतीतेर्न द्विवचनादिकम् । किन्तु-एकवचनमेवोत्सर्गतः । त्वया
वस=एभ्यो णौ आदन्तात् युकि, अदुपधस्य वृद्धौ उकारः ककारोपधयोः 'पुगन्त' इति गुणे
लटि 'नपाद' इति परस्मैपदनिषेधे तडि ढेरेत्वे शपि गुणेश्यादेशे 'पाययते-दमयते-
आयामयते-आयासयते-परिमोहयते-रोचयते-नर्तयते-वादयते-वासयते । धेट इति ।
ण्यन्तात् धेट् धातोः परस्मैपदं नेत्यर्थः । धापयते । धेट् धातोर्णौ 'आदेच उपदेशेऽशिति'
इत्याच्चे पुकि लटि परस्मैपदे प्राप्ते तं 'धेट 'उपसंख्यानम्' इति धेट उपसंख्यानात्
परस्मैपदनिषेधे तडि शपि गुणेश्यादेशे ढेरेत्वे 'धापयते' इति रूपम् । अकर्त्रर्थे
परस्मैपदं स्यादेवोक्ताभावेन शेषत्वात् 'शेषात्कर्तरि' इति प्रतिपादनाच्च । वत्सान् पाय-
यति । अत्र पाधातोर्णौ 'आतो युक् चिण्कृतोः' इति युकि 'शेषात्' इति परस्मैपदत्वे
तिपि शपि गुणेश्यादेशे 'पाययति' पयः, इति रूपम् ॥ इति परस्मैपदप्रक्रिया ॥

तिङ्वाच्येति । सत्त्वं-द्रव्यम्, लिङ्गसंख्यानव्ययोग्यम् । तिङ्वाच्या या भावना क्रिया
सा असत्त्वरूपा लिङ्गसंख्यानव्ययोग्या, शब्दशक्तिस्वभावात् । ततश्च तस्यां तिङ्वाच्य-
भावनायां द्वि त्वबहुत्वयोरप्रतीतेः 'युवाभ्यां युष्माभिर्वा आस्यते' इत्यादौ न द्विवचनं
बहुवचनं चेत्यर्थः । किन्तु एकवचनमेवेति । तिङ्वाच्यभावलकारस्येति शेषः । त्वया मयेति ।

धेट उपसंख्यानम्—ण्यन्त 'धेट' धातुसे परस्मैपद नहीं हो ।

इस प्रकार इन्दुमती टीकामें परस्मैपदप्रकरण समाप्त हुआ ।

भावकर्मणोः—भाववाच्य और कर्मवाच्यमें लकारके स्थानमें आत्मनेपद हो ।

सार्वधातुके—भाववाची और कर्मवाची सार्वधातुकके परे रहते धातुसे 'यक्' प्रत्यय हो ।

२४ म० कौ०

मया अन्यैश्च-भूयते । बभूवे । स्य-सिच्-सीयुट्-तासिषु भावकर्मणोरूप-
देशेऽज्जनग्रहदशां वा चिण्वदिट् च । ६।४।६२। उपदेशे योऽच् तदन्तानां,
हनादीनां च चिणीवाऽङ्गकार्यं वा स्यात्स्यादिषु परेषु, भावकर्मणोर्गम्यमानयोः
स्यादीनामिडागमश्च । चिण्वद्भावपक्षेऽयमिट् । चिण्वद्भावाद् वृद्धिः । भाविता । भविता ।
भाविष्यते । भविष्यते । भूयताम् । अभूयत । भूयेत । भाविषीष्ट । भविषीष्ट ।
चिण् भावकर्मणोः । ३।१।६६। च्लेशिण् स्याद्भावकर्मवाचिनि 'त' शब्दे परे ।
अभावि । अभाविष्यत । अभविष्यत । अकर्मकोऽप्युपसर्गवशात्सकर्मकः । अनुभू-
यते आनन्दश्चैत्रेण, त्वया मया च । अनुभूयेते । अनुभूयन्ते । त्वमनुभूयसे ।
अहमनुभूयै । अन्वभावि । अन्वभाविषाताम् । अन्वभविषाताम् । णिलोपः । भाव्यते ।

त्वत्कर्तृकं मत्कर्तृकम् अन्यकर्तृकं भवनमित्यर्थः । भूयते । भूधातोः 'लः कर्मणि च भावे
चाकर्मकेभ्यः' इति भावरूपे अर्थे 'वर्तमाने लट्' इति लट्लकारे अटि गते, 'भाव-
कर्मणोः' इति आत्मनेपदे प्राप्ते तत्र एकवचनविवक्षायां ते, 'तिङ्शित् सार्वधातुकम्'
इति सार्वधातुकसंज्ञायां 'सार्वधातुके यक्' इति यकि, कस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते
किञ्चाद् गुणाभावे 'दित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे च कृते 'भूयते' इति रूपम् ।
स्यसिच् । अच् हन् ग्रह इश् एपां द्वन्द्वात् षष्ठी । उपदेश इत्यच एव विशेषणम्, नेत-
रेषाम्, अव्यभिचारात् । तदाह—उपदेशे योऽजिति । अजित्यस्य उपदेशान्वयित्वेऽपि
सौत्रः समासः । अजिति लुप्तषष्ठीकं वा । चिण्वदिति सप्तम्यन्ताद्वृत्तिः, स्यसिच्सीयुट्-
तासिष्वित्युपमेयतः सप्तमीदर्शनात् । तदाह—चिणीवेति । अङ्गकार्यमिति । अङ्गस्येत्य-
धिकृतत्वादिति भावः । अयमिडिति । सेट्कस्य वलादित्वलक्षण इट् तु स्यादेवेति भावः ।
अभावि । भूधातोः 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' इति भावे 'लुङ्' इति
भूतार्थे लुङि कृते, लः स्थाने 'भावकर्मणोः' इति ते, 'च्लि लुङि' । इति च्लौ,
च्लेः स्थाने 'चिण्भावकर्मणोः' इति चिणि, चस्य णस्य चेत्संज्ञायां लोपे च
'अचो ङिति' इति वृद्धौ, 'एचोऽयवायावः' इत्यावादेशे 'चिणो लुङ्' इति
तशब्दस्य लुकि, 'लुङ्लुङ्लुङ्चवहुदात्तः' इत्यङ्गस्याडागमे 'अभावि' इति रूपम् ।
भाव्यते । भूधातोः 'हेतुमति च' इति णिचि, णस्य चस्य चेत्संज्ञायां लोपे च 'अचो
ङिति' इति वृद्धौ, एचोऽयवायावः' इत्यावादेशे, 'भावि' इति जाते 'सना

स्यसिच्—उपदेशावस्थामे जो अच्, तदन्त जो धातु, उसको तथा हन्, ग्रह और
इश् धातुओंको 'चिण्' के परे जो २ अङ्गकार्य होते हैं वे कार्य स्य, सिच्, सीयुट् और
तासूके परे भाव तथा कर्मका अर्थ गम्यमान रहने पर विकल्पसे हों, एवं स्य, सिच्, सीयुट्
और तासूको चिण्वद्भावपक्षमें इट्का आगम भी हो ।

चिण्भाव—'च्लि'के स्थानमें चिण् आदेश हो, भाव और कर्मवाची 'त' शब्दके परे

भावयाञ्चक्रे । भावयाम्बभूवे । भावयामासे । चिण्वदिट् आभीयत्वेनासिद्धत्वाणि-
लोपः । भविता । भावयिता । भाविष्यते । भावयिष्यते । भाव्यताम् । अभाव्यत ।
भाव्येत । भाविषीष्ट । भावयिषीष्ट । अभावि । अभावयिषाताम् । अभाविषाताम् ।
बुभूष्यते । बुभूषाञ्चक्रे । बुभूषिता । बुभूषिष्यते । बोभूय्यते ॥ 'अकृतसार्व-

द्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायाम् 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' इति कर्मणि
'वर्तमाने लट्' इति लटि, 'भावकर्मणोः' इत्यात्मनेपदे ते 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्'
इति सार्वधातुकत्वे 'सार्वधातुके यक्' इति यकि, कस्येत्संज्ञायां लोपे च 'आर्धधा-
तुकं शेषः' इत्यार्धधातुकसंज्ञायाम् 'णेरनिटि' इति णिलोपे 'दित आत्मनेपदानां
टेरे' इति टेरेत्वे च कृते 'भाव्यते' इति । भावयाञ्चक्रे । भूधातोः 'हेतुमति च' इति
णिचि, णस्य चस्य चेत्संज्ञायां लोपे च 'अचो ङिति' इति वृद्धौ, 'एचोऽयवायावः'
इत्यावादेशे 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायाम् 'परोचे लिट्' इति कर्मणि
लिटि, 'कास्यनेकाच आम् वक्तव्यः' इत्यामि, आम् 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधा-
तुकत्वात् 'णेरनिटि' इति णिलोपे प्राप्ते तम्बाधित्वा 'अयामन्तास्वाय्येन्विप्पुषु'
इति णेरयादेशे 'भावयाम् लिट्' इति जाते, 'आम्' इति लिटो लुकि, 'कृञ्चानुप्रयु-
ज्यते लिटि' इति लिट्प्रकृतोऽनुप्रयोगे कृते 'भावयाम् कृ लिट्' इति भूते लिटो लः
स्थाने 'भावकर्मणोः' इत्यात्मनेपदे ते 'लिटस्तद्धयोरेशिरेच' इति एशि, अनुबन्ध-
कार्ये 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे, अभ्यासत्वे, उरदत्त्वे, रपरे हलादिशेषे,
चुत्वे, यणि, मस्यानुस्वारे, परसवर्णे च कृते 'भावयाञ्चक्रे' इति । अभावि । भूधातोः
'हेतुमति च' इति णिचि, अनुबन्धलोपे, 'अचो ङिति' इति वृद्धौ, आवादेशे
'भावि' इति जाते, तस्य 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायां 'लः कर्मणि च भावे
चाकर्मकेभ्यः' इति कर्मणि 'लुङ्' इति लुङि, अनुबन्धलोपे लः स्थाने 'भावक-
र्मणोः' इति ते, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'चिण्भावकर्मणोः' इति च्लेश्चिणि, अनु-
बन्धलोपे, 'णेरनिटि' इति णिलोपे, 'चिणो लुक्' इति तशब्दस्य लोपे 'लुङ्लङ्-
लुङ्चवडुदात्तः' इति अङ्गस्याडागमे, 'अभावि' इति रूपम् । बुभूषाञ्चक्रे । 'बुभूष'
इति सन्नन्तं प्रसाध्य 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायां 'परोचे लिट्'
इति लिटि, 'कास्यनेकाच आम् वक्तव्यः' इति आमि, 'आम्' इति लिटो लुकि,
'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्प्रकृतोऽनुप्रयोगे, लिटो लः स्थाने ते, तस्य स्थाने
एशि 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे, अभ्यासत्वे, अभ्यासकार्ये च कृते आमो
मस्य अनुस्वारे परसवर्णे च कृते, यणि च कृते 'बुभूषाञ्चक्रे' इति रूपम् । बुभूषाञ्च-
क्राते, बुभूषाञ्चक्रिरे । इत्यादि । बोभूय्यते । भूधातोः 'धातोरेकाचो हलादेः क्रिया-
समभिहारे यङ्' इति यङि, ङलोपे 'सन्त्यङोः' इति द्वित्वे, अभ्यासत्वे, अभ्यासकार्ये
'गुणो यङ्लुकोः' इति अभ्यासस्य गुणे, 'बोभूय' इति जाते, 'सनाद्यन्ता धातवः'

धातुकयोर्दीर्घः' । स्तूयते विष्णुः । स्ताविता । स्तोता । स्ताविष्यते । स्तोष्यते । अस्तावि । अस्ताविषाताम् । अस्तोषाताम् । 'गुणोर्त्ति'ति गुणः । अर्यते । स्मर्यते । 'ऋच्छत्यृता'मिति गुणः । आरे । अस्मरे । परत्वाभित्यत्वाच्च गुणो, रपरे च कृतेऽजन्तत्वाभावेऽपि उपदेशग्रहणाच्चिष्वदिट् । आरिता । अर्त्ता । स्मारिता । स्मर्त्ता । नलोपः । स्रस्यते । सखंसे । इदितस्तु-नन्यते । इज्यते । तनोतेर्यकि । ६।४।४४। तनोतेर्यकि अदन्तादेशो वा स्यात् । तायते-तन्यते । तपोऽनुतापे च । ३।१।६५। तपश्च्लेश्विण्ण स्यात्, कर्मकर्तरि, अनुतापे च ।

इति धातुसंज्ञायां 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' इति कर्मणि 'वर्तमाने लट्' इति वर्तमानेऽर्थे लटि, भावकर्मणोः' इत्यात्मनेपदे प्रथमपुरुषैकवचनविवक्षायां ते, 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति तस्य सार्वधातुकसंज्ञायां 'सार्वधातुके यक्' इति यकि, 'अतो लोपः' इति यङोऽकारस्य लोपे, 'दित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे च कृते 'बोभूय्यते' इति रूपम् । स्तूयते विष्णुरिति । ष्टुञ् स्तुतौ, इति धातोः कर्मणि लटि, 'धात्वादेः षः सः' इति पस्य सत्वे, निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्य-पायः' इति न्यायेन षटुत्वे गते, 'भावकर्मणोः' इति लटस्ते 'सार्वधातुके यक्' इति यकि, कगते, 'अकृतसार्वधातुकयोः' इति स्तु इत्यस्य दीर्घे 'दित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे च कृते 'स्तूयते' इति रूपम् । अस्तावि । स्तुधातोः कर्मणि लुङि, 'भाव-कर्मणोः' इति लुङस्ते, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'चिण्भावकर्मणोः' इति च्लेश्विणि, अनुबन्धलोपे, वृद्धौ आवादेशे 'चिणो लुक्' इति तशब्दस्य लोपे, अङ्गस्य अडागमे, 'अस्तावि' इति रूपम् । अस्ताविषाताम् । स्तुधातोः कर्मणि लुङः स्थाने आतामि, च्लौ, च्लेः सिचि, इचि गते, 'स्यसिच्सीयुद्तासिषु भावकर्मणोः' इति चिष्व-ज्ञावे, इडागमे च, चिष्वज्ञावात् वृद्धौ, आवादेशे, सिचः सस्य पत्वे, अङ्गस्याडागमे, 'अस्ताविषाताम्' इति रूपम् । चिष्वज्ञावाभावपक्षे—अस्तोषाताम् । अर्यते । ऋ गतौ, इत्यस्माद् धातोः कर्मणि लुङस्ते 'सार्वधातुके यक्' इति यकि, कगते 'आर्धधातुकं शेषः' इति यक आर्धधातुकसंज्ञायाम् 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे प्राप्ते, 'विडति च' इत्यनेन तस्य निषेधे, 'गुणोर्त्तिसंयोगाद्योः' इत्यनेन गुणे अकारे जाते 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे टेरेत्वे च कृते 'अर्यते' इति रूपम् । तनोतेरिति । 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' इत्यतः आदिति, 'ये विभाषा' इत्यतो विभाषेति चानुवर्तते । तदाह—आकारोऽन्तादेशो वा स्यादिति । तपोऽनुतापे चेति । 'च्लेः सिच्' इत्यतः च्लेरिति 'चिण् ते पदः' इत्यतः चिण् इति 'न रुधः' इत्यतो नेति चानु-

तनोतेर्यकि—'तन्' धातुको आकारान्त आदेश हो, यक्के परे, विकल्पसे ।

तपोऽनुतापे—'तप्' धातुसे पर 'च्लि'को चिण् नहीं हो, कर्म-कर्ता और अनुताप अर्थमें ।

अन्वतप्त पापेन । 'धुमास्ये'तीत्वम् । दीयते । धीयते । ददे । दधे । आतो
युक्चिण्कृतोः । ७।३।३३। आदन्तानां युगागमः स्याच्चिणि, ङिति कृति च ।
दायिता । दाता । दायिषीष्ट । दासीष्ट । अदायि । अदायिपाताम् । 'स्याधो-
रिच्चे'तीत्वम् । अदिपाताम् । शम्यते मोहो मुकुन्देन । चिण्णमुलोर्दीर्घोऽन्यत-
रस्याम् । ६।४।१३। चिण्परे णमुल्परे च णौ मितामुपधाया दीर्घो वा स्यात् ।
शामिता । शमिता । शमयिता । शामिष्यते । शमिष्यते । शमयिष्यते । ण्यन्तत्वा-
भावे—शम्यते मुनिना । नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः । ७।३।३४।

वर्तते । चकारात् 'अचः कर्मकर्तरि' इत्यतः कर्मकर्तरीति समुच्चीयते । तदाह—
तपश्चलेरित्यादि । अन्वतप्त पापेन । अनुपूर्वकतपधातोः कर्मणि लुङि, 'भावकर्मणोः' इति
लुङस्ते, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'चिण् भावकर्मणोः' इति च्लेः स्थाने चिणि प्राप्ते,
'तपोऽनुतापे च' इत्यनेन तस्य निषेधे, 'च्लेः सिच्' इति सिचि कृते इचि गते,
'झलो झलि' इति सिचः सस्य लोपे, अङ्गस्याडागमे अनोरुकारस्य यणि च कृते
'अन्वतप्त' इति रूपम् । आतो युगिति । 'अङ्गस्य' इत्यधिकृतम् । तदन्तविधिः । 'अचो
ङिति' इत्यतो 'ङिति' इत्यनुवृत्तं कृत एव विशेषणम्, न तु चिणः तस्य णित्वा-
व्यभिचारात् । तदाह—आदन्तानामिति । अदायि । दाधातोः कर्मणि लुङि, 'भाव-
कर्मणोः' इति लुङस्ते, 'च्लि लुङि' इति च्लौ 'चिण्भावकर्मणोः' इति च्लेः चिणि,
अनुबन्धलोपे, 'आतो युक् चिण्कृतोः' इति युकि, कगते, 'लुङ्लङ्लृङ्च्वङुदात्तः'
इति अङ्गस्य अडागमे 'चिणो लुक्' इति तशब्दस्य लुकि, 'अदायि' इति रूपम् ।
शम्यते । शमधातोः कर्मणि लकारे 'भावकर्मणोः' इत्यात्मनेपदे तङि टेरत्वे 'सार्वधातुके
यक्' इति यकि 'शम्यते' इति रूपम् । चिण्णमुलोरिति । अन्यतरस्यामिति विकल्पस्फो-
रणाय । 'मितां ह्रस्वः' इत्यतो मितामिति । शमधातोर्णौ शमीत्यतो लुटि तङि 'लुटः
प्रथमस्य' इति डादेशे तासि टेलोपे मित्रात् नित्यं ह्रस्वे प्राप्ते तं बाधित्वा 'चिण्ण-
मुलोः' इति वा दीर्घे 'शामिता' 'शमिता' इति रूपे भवतः । यदा चिण्वद्भावो
न स्यात्तदा गेलोपाभावे गुणेश्यादेशे 'शमयिता' इति रूपम् । शमिष्यते । शमधा-
तोर्णौ लृटि तङि टेरत्वे स्यविकरणे 'स्यसिच्' इति चिण्वद्भावे 'चिण्णमुलोः' इति वा
दीर्घे इति गेलोपे 'शामिष्यते' 'शमिष्यते' इति रूपे । यदा चिण्वद्भावो न स्यात्तदा
गुणेश्यादेशे 'शमयिष्यते' इति रूपम् । नोदात्त इति । 'चिण्णमुलोः' इत्यतः चिणादयो-

आतो—आदन्त धातुको 'युक्'का आगम हो, चिण्के परे और ङित्-णित्-कित्के परे ।
चिण्णमुलोः—'मित्' धातुओंकी उपधाको दीर्घ हो, चिण्परक और णमुल्परक 'णि'के
परे, विकल्पसे ।

नोदात्तो—'आङ्' उपसर्गक 'चम्' धातुसे भिन्न जो मान्त उदात्तोपदेश, उसकी उपधाको

उदात्तोपदेशस्य मान्तस्य उपधाया वृद्धिर्न स्याच्चिणि, ङिति कृति च, न त्वाचमेः । अशमि । अदमि । उदात्तोपदेशस्येति किम् ? अगमि । मान्तस्येति किम् ? अवादि । अनाचमेरिति किम् ? आचामि । (अनाचमिकमिवमीनामिति वक्तव्यम्) अकामि । अवामि । भज्यते । भज्जेश्च चिणि । ६।४।३३ । भज्जेश्च चिणि नलोपो वा स्यात् । अभाजि । अभजि । लभ्यते । विभाषा चिण्णमुलोः । ७।१।६६ । लभेर्नुम् वा स्याच्चिण्णमुलोः परतः । अलम्भि । अलाभि । इति भावकर्मप्रकरणम् ।



ऽनुवर्तन्ते । शमधातोर्लुङि तङि च्लौ 'चिण्भावकर्मणोः' इति चिणि अडागमे 'अ-शम्-इ-त' इति जाते 'चिणो लुक्' तलोपे 'अशमि' इति रूपम् । अत्र चिणो णित्वेनोपधाया दीर्घे प्राप्तेऽपि 'नोदात्तोपदेशस्य' इति न वृद्धिरिति भावः । एवं अदमि अत्रापि पूर्ववदवसेयम् । उदात्तोपदेशेति सूत्रेऽभावे सति अनुदात्तोपदेशस्य गमधातोरपि चिणि दीर्घनिषेधापत्तिः स्यात्तेन च 'अगमि' इति रूपापत्तिः । अतः उदात्तोपदेशस्यैवेति पठनीयम् । तेन गमधातोर्मान्तत्वेऽपि न दीर्घनिषेध इति भावः, तेन 'अगमि' इति निर्वाधम् । मान्तस्येति पदाभावे वदधातोरपि उदात्तोपदेशत्वेन दीर्घनिषेधः स्यादतस्तदावश्यकम् । तेन वदधातोरुदात्तत्वेऽपि मान्तत्वाभावाच्च दीर्घनिषेधः । अतः 'अवादि' इत्यपि निर्विकल्पम् । इति भावकर्मप्रकरणम् ।



वृद्धि नहीं हो, चिण्के परे और ङित्, णित्, कृतके परे । अनाचमि—'आङ्' उपसर्गक चम्, कम् और वम् धातुसे भिन्न जो मान्त उदात्तोपदेश धातु, उसकी उपधाको वृद्धि नहीं हो ऐसा कहना चाहिये । भज्जेश्च—'भज' धातुके नकारका लोप हो, 'चिण्'के परे, विकल्पसे । विभाषा—'लभ्' धातुको नुम् हो, चिण् और णमुलके परे, विकल्पसे ।

नोटः—(१) कर्मवाच्यमें कर्तासे तृतीया और कर्मसे प्रथमा विभक्ति होती है तथा क्रिया कर्मके अनुसार समझना चाहिये (१४२ पृ० देखो) कहा भी हैः—
कर्मवाच्यप्रयोगे तु तृतीया कर्तृकारके । कर्मणि प्रथमा प्रोक्ता कर्माधीनं क्रियापदम् ॥

(२) अकर्मक धातुसे भाववाच्यमें प्रत्यय होता है तथा कर्तासे तृतीया विभक्ति होती है और क्रिया सर्वत्र प्रथम पुरुषके एकवचनकी होती है—कर्ताके साथ क्रियाका कोई सम्बन्ध नहीं रहता । कहा भी हैः—

प्रयोगे भाववाच्यस्य तृतीया कर्तृकारके । प्रथमः पुरुषश्चैकवचनं स्यात् क्रियापदे ॥

(३) कर्तृवाच्यमें कृदन्तकी क्रिया कर्ताका विशेषण और कर्मवाच्यमें कर्मका विशेषण होती है और भाववाच्यमें नपुंसक लिंगका एकवचनान्त होती है यथा, कर्तृवाच्य—'अस्मान् उक्तवान्' । कर्मवाच्य—'तेन वयम् उक्ताः' । भाववाच्य—'तेन उक्तम्' ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें भावकर्मप्रकरण समाप्त हुआ ।



अथ कर्मकर्तृप्रकरणम्

यदा कर्मैव कर्तृत्वेन विवक्षितं, तदा सकर्मकाणामप्यकर्मकत्वात्कर्तारि, भावे च लकारः । कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः । ३।१।८७। कर्मस्थया क्रियया तुल्यक्रियः कर्ता कर्मवत्स्यात् । कार्यातिदेशोऽयम् । तेन यक्, आत्मनेपदं, चिण् चिण्व-दिट् च स्युः । पच्यते फलम् । भिद्यते काष्ठम् । अपाचि । अभेदि । भावे—

सकर्मकाणामप्यकर्मकत्वादिति । ये छिदिभिदिप्रभृतय एककर्मकाः, तत्र कर्मणः कर्तृ-त्वविवक्षायां 'वृक्षः छिनत्ति' इत्यादौ प्राक् सकर्मकत्वेऽपि सम्प्रति कर्मणः कर्तृत्वविव-क्षायां सकर्मका एते इत्यर्थः । कर्तरि भावे च लकार इति । न तु कर्मणि, असम्भवात् । अत एव अकर्मकेभ्यो भावे कर्तरि च ल इत्युक्तमिति भावः । कर्मवत्कर्मणेति । 'कर्तरि शप्' इत्यतः कर्तरि त्यनुवृत्तं प्रथमया विपरिणम्यते । तुल्या क्रिया यस्य सः, तुल्य-क्रियः कर्ता । कर्मणा इत्यनेन कर्मकारकस्था क्रिया विवक्षिता, क्रियायाः कर्मकारकेण तुल्यत्वस्य तत्क्रियामादायैव उपपाद्यत्वात् । तदाह—कर्मस्थस्येत्यादिना । कर्मणः कर्तृ-त्वेन विवक्षायां कर्ता कर्मवदिति यावत् । कार्यातिदेशोऽयमिति । यद्यपि शास्त्रातिदेशो कार्यातिदेशो वा न फलभेदः । तथापि शास्त्रातिदेशस्यापि कार्यातिदेशार्थत्वान्मुख्य-त्वात् कार्यातिदेश एवाश्रयणीय इत्यर्थः । तेनेति । स्युरित्यन्त्रान्वेति । कर्मवत्स्ववचनेन कर्मकार्याणि 'सार्वधातुके यक्' इति यक्, 'भावकर्मणोः' इति आत्मनेपदम्, 'चिण् भावकर्मणोः' इति चिण्, 'स्यसिचसीयुट्तासिषु' इति चिण्वत्त्वम्, तत्संनियोग-शिष्टः इट् च स्युरित्यर्थः । कर्मणः कर्तृत्वविवक्षायां कर्तरि विहितानि शास्त्राण्येव न स्युरित्यर्थः । पच्यते फलमिति । 'कालः फलं पचति' इत्यत्र यदा सौकर्यातिशयं द्योत-यितुं कर्तृव्यापारो न विवक्ष्यते, तदा कर्मण एव कर्तृत्वात् पचधातुरकर्मकः । तस्मात् 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' इति कर्तृरूपेऽर्थे वर्तमानक्रियायां 'वर्तमाने लट्' इति लटि, 'कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः' इति कर्मवद्भावात् आत्मनेपदे ते, सार्वधातुके यक्' इति यकि कस्येत्संज्ञायां लोपे च जाते 'दित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे

कर्मवत्कर्म—कर्ममें वर्तमान जो क्रिया, उसके समान ही क्रिया है जिसकी ऐसा जो कर्ता, वह कर्मवत् हो ।

नोटः—कर्म ही यदि कर्ता हो, अर्थात् क्रियाका कर्तृत्व यदि कर्ममें आरोपित हो तो 'कर्मकर्तामें' होता है और कर्मकर्ता में प्रथमा विभक्ति होती है—अन्य कर्म पद नहीं रहता तथा क्रियाका रूप कर्मवाच्यकी क्रियाके तुल्य होता है । यथा—'काष्ठं भिद्यते स्वयमेव' । कहा भी हैः—

क्रियमाणं तु यत् कर्म स्वयमेव प्रसिध्यति । सुकरैः स्वैर्गुणैः कर्तुः 'कर्मकर्ते'ति तद्विदः ॥

(कार्य करनेके समय जो 'कर्मकारक' कर्ताके सुखकर निज गुणोंसे स्वयं ही सिद्ध होता है, उसे 'कर्मकर्ता' कहते हैं) ।

मिचते काष्ठेन । (भूषावाचिनां, किरादीनां, सन्नन्तानां च यक्चिणौ, चिण्वदिट् च नेति वक्तव्यम्) अलङ्कुरुते कन्या । अलमकृत । अवकिरते हस्ती । अवाकीर्ष्ट । अवाकरिष्ट । गिरते । अगीर्ष्ट । अगरिष्ट । आद्रियते । आदृत । किरादिस्तुदाद्यन्तर्गणः । विकीर्षते कटः । अचिकीर्षिष्ट । तपस्तपः-

च 'पच्यते' इति रूपम् । कर्तरि लकारे कर्तृस्त्वत्वात् कर्तृवाचकफलशब्दात् प्रथमा । भावे-मिचते काष्ठेनेति । कर्तृव्यापारस्याविवक्षायां भिदोऽकर्मकत्वात्, भिदः 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' इति भावे 'वर्तमाने लट्' इति लटि, लः स्थाने 'भावकर्मणोः' इत्यात्मनेपदे ते, 'सार्वधातुके यक्' इति यकि, कस्येत्संज्ञायां लोपे च यकः क्त्वात् 'विडति च' इति गुणाभावे 'दित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे च कृते 'मिचते' इति रूपम् । अत्र कर्तुरनभिहितत्वात् 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' इति तृतीयेति भावः । भूषावाचिनां चेति । भूषाकर्म-किरादि-सन् एषां द्वन्द्वः । आत्मनेपदादन्यत्कर्म कार्यमिति लभ्यते । भूषाकर्म क्रिया येषां वाच्यतया ते भूषावाचिनः धातवः । भूषणक्रियावाचिनामिति यावत् । अलङ्कुरुते कन्या । स्वयमेवान्यप्रयत्नं विना भूषणक्रियावती, इति तदर्थः । अत्र भूपार्थकत्वात् कर्मकर्तरि तडेव न तु यक् । अलमकृत । अत्र तडेव न तु चिण् । लुटि 'अलंकर्ता' इत्येव न तु चिण्वदिट् । अवकिरते हस्ती । हस्तिनमवकिरति कुसुमादिः । इत्यत्र मुख्यकर्तरि लकारः । हस्तिनः कर्मत्वम् । तस्य कर्तृत्वविवक्षायां स्वयमेव पुरुषप्रयत्नं विना वृत्तादिसमीपं गच्छन् पुष्पादिभिरवकीर्णवान् भवतीत्यर्थः । अत्रापि तडेव न तु यगादि । अवाकीर्ष्ट । अवपूर्वात् कृधातोरुलुङि तडि च्लौ सिचि 'ऋत इद्धातोः' इतीत्वे रपरत्वे 'हलि च' इति दीर्घे 'लिङ्सिचोः' इति वेडभावे षत्वे ण्डुत्वे अटि दीर्घे 'अवाकीर्ष्ट' इति रूपम् । इट्पच्चे गुणे रपरत्वे 'अवाकरिष्ट' इति द्वितीय रूपम् । किरादीन् उदाहरति-गिरते । ओदनः स्वयमेवेति शेषः । गृधातोस्तडि 'ऋत इद्धातोः' इति इकारे रपरत्वे शपि रूपम् । अगीर्ष्ट । गृधातोरुलुङि तडि च्लौ सिचि 'लिङ्सिचोः' इति इडभावे दीर्घे षत्वे ण्डुत्वेऽटि अगीर्ष्टेति रूपम् । इट् पच्चे गुणे रपरत्वे षत्वे ण्डुत्वे 'अगरिष्ट' इति रूपम् । आद्रियते । अतिथिमिति मुख्यकर्तरि । इङ् आदरणे अस्माद्धातोरुलुङि तडि टेरेत्वे तुदादित्वाच्चे 'रिङ्शयमिलङ्छु' इति रिङादेशे इयङि 'आद्रियते' इति रूपम् । आदृत । इधातोरुलुङि तडि च्लौ सिचि 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सलोपे 'उश्च' इति क्त्वेन गुणाभावे रूपम् । अत्र न चिणिति भावः । विकीर्षते । स्वयमेवेच्छाविषय इत्यर्थः । कृधातोः सनि 'ऋत इद्धातोः' इतीत्वे

भूषावाचिनां—भूषावाची धातु, किरादि धातु और सन्नन्त धातुओंसे यक्, चिण्, तथा चिण्वदिट् नहीं हो, कर्मकर्ता में ।

तपस्तपः—तपःकर्मक जो 'तप्' धातु, उसका ही कर्ता कर्मवत् हो—अन्य तप् धातुका

कर्मकस्यैव । ३।१।८८। तपःकर्मकस्यैव तपः कर्ता कर्मवत्स्यात् । तप्यते तप-
स्तापसः । अर्जयतीत्यर्थः । अतस्त । तपःकर्मकस्यैवेति किम् ? उत्तपति सुवर्णं
सुवर्णकारः । (सकर्मकाणां प्रतिषेधो वक्तव्यः) अजाः प्रामं नयति । (दुहि-
पच्योर्वहुलं सकर्मकयोरिति वाच्यम्) न दुहस्नुनमां यक्चिणौ । ३।
१।८९। एषां कर्मकर्तरि यक्चिणौ न स्तः । शप् । तस्य लुक् । गौः पयो दुग्धे ।
अचः कर्मकर्तरि । ३।१।९२। अजन्ताच्छ्लेश्चिण्वा स्यात्कर्मकर्तरि । तशब्दे परे ।
अकारि । अकृत । दुहश्च । ३।१।९३। तथा । अदोहि । पत्ने कसः । अदुग्ध ।

रपरत्वे दीर्घे द्वित्वे ह्रस्वे हलो लोपेऽभ्यासस्य च चत्वे पत्वे धातुत्वे तडि ढेरेत्वे शे पररूपे
'चिकीर्षते' इति । अचिकीर्षिष्ट । 'चिकीर्ष' इति सन्नन्ताल्लुङि तडि च्लौ
सिचि इटि पत्वे ण्ठुत्वे 'अल्लोपेऽटि 'अचिकीर्षिष्ट' इति रूपम् । अत्रापि किरादीनां
तुदाद्यन्तर्गणत्वात् श एवेति भावः । तपस्तप इति । आद्यं तप इति पष्ठयन्तम् । तपः-
कर्मकस्यैव तपधातोरिति लभ्यते । 'कर्तरि शप्' इत्यनुवृत्तं प्रथमया विपरिणम्यते ।
कर्मवत्कर्मणा इत्यतः कर्मवदिति । तप्यते तपस्तापस इति ॥ अत्र तपिरर्जनार्थः । प्राजा-
पत्यादि कृच्छ्राद्यात्मकं तपः संपादयतीत्यर्थः । मुख्यकर्तरि लकारः । संपादनस्यात्मक-
तृस्थत्वात् तपोरूपकर्मस्थत्वाभावात् 'कर्मवत्' इत्यप्राप्तं कर्मवत्त्वमनेन सूत्रेण
विधीयते । तेन यगात्मनेपदादि । 'अतस्त' इति लुङि रूपम् । अजां प्रामं नयति । अत्र न
कर्मवदिति भावः, कर्मणो विद्यमानत्वात् । दुहिपच्योरिति । अनयोर्वा कर्मवद्भाव इत्यर्थः ।
न दुहेति । एषां यक्चिणौ नेत्यन्वयः । शप् स्यादित्यर्थः । गौः पयो दुग्धे । दुह्धातोर्लटि
तडि ढेरेत्वे शपि शल्लुकि 'झपस्तथोः' इति धत्वे 'वा द्रुहेति' घत्वे 'झलां जश्'
इति गत्वे 'दुग्धे' इति रूपम् । अच इति । 'च्लेः सिच्' इत्यतः सिजिति 'दीपजन'
इत्यतोऽन्यतरस्यामिति । अकारि । कृधातोर्लुङि तडि च्लौ 'अचः कर्मकर्तरि' इति
चिणि णित्वाद् वृद्धौ 'चिणो लुक्' इति तलोपेऽटि 'अकारि' इति रूपम् । यदा न चिण्
स्यात्तदा अकृतसूत इत्यवस्थायां 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सलोपे 'अकृत' इति द्वितीयं रूपम् ।
दुहश्चेति । दुहश्च्लेश्चिण्वा कर्मकर्तरि ते परे इत्यर्थः । अदोहि । दुहधातोर्लुङि तडि
च्लौ 'दुहश्च' इति वा चिणि 'पुगन्त' इति गुणेऽटि 'चिणो लुक्' इति लुकि 'अदोहि'
इति रूपम् । चिणभावे कसे 'दादेः' इति घत्वे 'लुग्वा' इति कसलुकि 'झपस्तथोः'
इति तस्य धत्वे जश्त्वे 'अदुग्ध' इति । अत्र न गुणः 'लिङ्सिचौ' इति कित्वात् ।

कर्ता नहीं । सकर्मका — सकर्मक धातुओंका कर्ता कर्मवत् नहीं हो । दुहिपच्योः — सकर्मक
दुह् और पच् धातुका कर्ता कर्मवत् हो, विकल्पसे । न दुहस्नु — दुह्, स्नु और नस् धातुके
कर्मकर्तामें यक्-चिण् नहीं हो । अचः कर्म-कर्मकर्तामें अजन्त धातुसे पर 'चिल्' को चिण्
हो, तशब्दके परे, विकल्पसे । दुहश्च-कर्मकर्तामें 'दुह्' धातुसे 'चिल्' को चिण् हो, विकल्पसे,

‘लुग्वेति’ पक्षे लुक् । अधुक्षत । उदुम्बरः फलं पच्यते । कुषिरजोः प्राचां श्यन्परस्मैपदं च । ३।१।९०। अनयोः कर्मकर्तरि न यक्, किन्तु श्यन्परस्मैपदं च । आत्मनेपदापवादः । कुप्यति, कुप्यते पादः । रज्यति, रज्यते वन्नम् । यगविषये तु नास्य प्रवृत्तिः । कोषिषीष्ट । रंक्षीष्ट ॥ इति कर्मकर्तृप्रकरणम् ।

अथ लकारार्थप्रकरणम्

अभिज्ञावचने लृट् । ३।२।११२। स्मृतिबोधिन्पुपपदे भूतानद्यतने धातोलृट् स्यात् । लङोऽपवादः । वस, निवासे स्मरसि कृष्ण ! गोकुले वत्स्यामः ? । एवं बुध्यसे, चेतयसे इत्यादिप्रयोगेऽपि । न यदि । ३।२।११३। यद्योगे उक्तं न स्यात् । अभिजानासि कृष्ण यद्वने अभुञ्जमहि ? । विभाषा साकाङ्क्षे । ३।२।११४।

यदा ‘लुगवा दुह’ इति क्सलुङ् न स्यात्तदा ‘अधुक्षत’ इति रूपम् । पच्यते अत्र यक् तडौ । कुषिरजोरिति । श्यन्नित्यनेन यवार्थते । परस्मैपदमित्यनेन तडो निवृत्तिः । कुप्यति । कुपधातोः लटि ‘कुषिरजोः’ इति परस्मैपदत्वे श्यनि तिपि ‘कुप्यति’ इति रूपम् । श्यनः शित्वेन डित्वाच्च गुणः । तदभावे ‘कुप्यते’ इति रूपम् । अत्र न कर्मवन्नाव इति भावः । इति कर्मकर्तृप्रक्रिया ।

अभिज्ञावचन इति । अभिज्ञा—स्मृतिः, सा उच्यते बोध्यते, अनेनेति विग्रहः । तदाह —स्मृतिबोधिन्पुपपदे इति । स्मृतिबोधकपदे समीपे प्रयुज्यमाने सतीत्यर्थः । ‘भूते’ इत्यधिकृतम् । ‘अनद्यतने लङ्’ इत्यतोऽनद्यतने इत्यनुवर्तते । तदाह—भूतानद्यतने इति । लङोऽपवाद इति । ‘अनद्यतने लृट्’ इत्यस्यापवाद इत्यर्थः । स्मरसीति । हे कृष्ण गोकुले अवसामेति यत् तत् स्मरसि इत्यर्थः । अत्र वाक्यार्थः कर्म । कृतं गोकुलवासं स्मरसीति यावत् । एवमिति । स्मरसि इति पदयोग इव बुध्यसे इत्यादि स्मृतिबोधकपदयोगेऽपि लृडित्यर्थः । उक्तं नेति । ‘अभिज्ञावचने’ इति लृट् न भवतीत्यर्थः । अभिजानासीति । वने अभुञ्जमहीति यत् तत् तशब्दके परे । कुषिरजोः—कुष् और रज् (रञ्ज्) धातुसे कर्मकर्तामै यक् नहीं हो किन्तु श्यन् और परस्मैपद हो । (प्राचां) विकल्पसे ।

इस प्रकार ‘इन्दुमती’ टीकामें कर्मकर्तृप्रकरण समाप्त हुआ ।

अभिज्ञावचने—स्मृतिबोधक पद उपपद रहने पर भूत-अनद्यतन अर्थमें धातुसे ‘लृट्’ लकार हो । न यदि—स्मृतिबोधक पद उपपद रहने पर ‘यत्’के योगमें ‘लृट्’ लकार नहीं हो । विभाषा—यात्वर्य यदि लक्ष्यलक्ष्यभावसे साक्षाक्षित हो तो—स्मृतिबोधक पद उपपद

उक्तविषये लट् वा स्याद्व्यलक्षणभावेन साकाङ्क्षश्चेद्वात्यर्थः । स्मरसि कृष्ण ।
वने वत्स्यामस्तत्र गाश्चारयिष्यामः ? । वासो लक्षणं, चारणं लक्ष्यम् । पक्षे लङ् ।
'परोक्षे लिट्' । चकार । उत्तमपुरुषे चित्तविक्षेपादिना परोक्ष्यम् । 'सुप्तोऽहं
किल विललाप' । अत्यन्तापह्ववे लिङ् वक्तव्यः । कलिङ्गेष्ववात्सीः ? ।
नाहं कलिङ्गान् जगाम । प्रश्ने चाऽऽसन्नकाले । ३।२।११७। आसन्नकाले
पृच्छ्यमानेऽर्थे लिङ्विषये लङ्लिटौ स्तः । अगच्छत्किम् ? । जगाम किम् ? । आस-
न्नकाले किं ? कंसं जघान किम् ? । लट् स्मे । ३।२।११८। लिटोऽपवादः । यजति स्म
युधिष्ठिरः । अपरोक्षे च । ३।२।११९। अपरोक्षे भूतानद्यतने लट् स्यात्स्मयोगे ।
एवं स्म पिता ब्रवीति । ननौ पृष्टप्रतिवचने । ३।२।१२०। ननानुपपदे पृष्टप्रतिवचने
भूते लट् स्यात् । अकार्षीः किम् ? । ननु करोमि भोः । नन्वोर्विभाषा । ३।२।१२१।

स्मरसीत्यर्थः । विभाषेति । आकाङ्क्षया सहितः साकाङ्क्षो धात्वर्थस्तर्हि वा लुडिति भावः ।
कथमहं चकारेति चेदाह—चित्तविक्षेपात्पारोक्ष्यमिति । 'सुप्तोऽहं किल विललाप' अत्र
सुप्तावस्थायां चित्तस्य विक्षेपात्पारोक्ष्ये लिडिति भावः । अत्यन्तेति । कलिङ्गेष्ववात्सी-
रतस्त्वं न सहवासयोग्य इति प्रश्ने 'नाहं कलिङ्गान् जगाम । अत्रात्यन्तापह्ववो निषेधो
व्यज्यतेऽतो लिट् । प्रश्ने इति । पञ्चवर्षाभ्यन्तरिकः काल आसन्नकालः । अगच्छत्
किम् । जगाम किम् । अत्र केवलं लिङ्विषये लङ्लिटोः प्रयोगः । लट् स्मे । स्मेत्य-
व्ययम् । तद्योगे लिङ्विषये लट् स्यादित्यर्थः । यजति स्मेति । स्मशब्दो भूतकालद्यो-
तकः । अपरोक्षे चेति । अद्यः परं परोक्षं तस्मिन् । तदभावे 'स्म' इत्यस्य संबन्धे सति
भूतानद्यतने लङ् लकारः स्यादित्यर्थः । एवमिति । एवं स्म पिता ब्रवीति । अत्र एवम-
ब्रवीदित्यर्थे लट्लकारः इति भावः । ननाविति । भूतार्थे ननुप्रयोगे लुडित्यर्थः । अकार्षीः
किमिति पृष्टम् । तस्य प्रतिवचनमुत्तरम् । ननु अकार्षमित्यर्थे लट् । तेन 'करोमि
भोरि'ति साधु । नन्वोरिति । अत्र वा लुडित्यर्थः । नाकार्षमित्यर्थम् 'न करोमि-नाका-

रदने पर भूतानद्यतन अर्थमें धातुसे 'लट्' लकार हो, विकल्पसे । अत्यन्तापह्ववे—अत्यन्ता-
पह्वव (अत्यन्त छिपाना) अर्थमें धातुसे 'लिट्' लकार हो । प्रश्ने चासन्नकाले—पृच्छ्यमान
अर्थमें लिट् लकारके विषयमें लङ् लकार और लिट् लकार हो, आसन्नकालमें । (पञ्चवर्षा-
भ्यन्तरमासन्नकालम्) । लट्स्मे—'स्म'के योगमें धातुसे लिट्का अपवाद लट् लकार हो ।
अपरोक्षे च—'स्म' के योगमें भूतानद्यतन अपरोक्षकालिक क्रियावाची धातुसे लट् लकार
हो । ननौ पृष्टप्रतिवचने—'ननु' उपपदक भूतकालिक क्रियावाची धातुसे लट् लकार हो,
पृष्टप्रतिवचन (प्रश्नका उत्तर) अर्थमें । नन्वोर्विभाषा—'न' अथवा 'नु' उपपद हो तो

अकार्षीः किम् ? । न करोमि । नाकार्षम् । अहं नु करोमि । अहं न्वकार्षम् । पुरि लुङ् चास्मे । ३।२।१२२। पुरायोगे भूतानद्यतने वा लुङ् स्याच्चाक्षुट्, न तु स्मयोगे । पक्षे यथाप्राप्तम् । वसन्तीह पुरा छात्राः । अवात्सुः, अवसन्, ऊषुर्वा । अस्मे इति किम् ? यजति स्म पुरा । 'भविष्यती'—त्यनुवर्तमाने—यावत्पुरानिपातयोर्लट् । ३।३।४। अनयोरुपपदयोर्भविष्यति लट् स्यात् । यावद् भुङ्क्ते । पुरा भुङ्क्ते । निपातयोः किम् ? यावदास्यते तावद्भोक्ष्यते । करणभूतया—पुरा—यास्यति । विभाषा कदाकह्योः । ३।३।५। कदाकह्योरुपपदयोर्भविष्यति लङ् वा स्यात् । कदा, कर्हि वा भुङ्क्ते, भोक्ष्यते, भोक्ता वा । वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा । ३।३।१३१। वर्त्तमाने ये प्रत्यया उक्तास्ते वर्त्तमानसमीपे भूते, भविष्यति च वा स्युः । कदा आगतोऽसि ? । अयमागच्छामि, आगमं वा । कदा गमिष्यसि ? । एष गच्छामि, गमिष्यामि वा । आशंसायां भूतवच्च । ३।३।१३२। भविष्यत्काले भूतवद्वर्त्तमानवच्च प्रत्यया वा स्युराशंसायाम् । देवश्चेदवर्षीत्, वर्षति, वर्षिष्यति वा, धान्यमवाप्सम, वपामो, वप्स्यामो वा । क्षिप्रवचने लट्

र्षमिति उभयरूपम् । अहं नु करोमि अहं नु अकार्षम् । अत्रापि पूर्ववद्वा लङिति भावः । पुरीति । पुरायोगे भूतानद्यतने वा लुङ् चास्लङित्यर्थः । वसन्ति इह पुरा छात्राः । अत्र पुरायोगे लट् । लङभावे 'अवात्सुः' अवसन् । ऊषुः । यावदिति अनयोर्निपातयोर्योगे भविष्यदर्थे लङिति भावः । भुङ्क्ते—अत्र लटि 'भुजोऽनवने' इत्यात्मनेपदे रूपम् । विभाषेति । कदा, कर्हि, एतयोर्योगे लट् स्यान्नविष्यदर्थे । लङभावे लुट् लृटौ भोक्ता वा भोक्ष्यते इति । आशंसायामिति । भूतकाले भविष्यत् वर्त्तमानवद्वा प्रत्यया आशंसायामित्यर्थः । तेन देवश्चेदिति वाक्ये अवर्षीत्—वर्षति—वर्षिष्यति, वपामः—वप्स्यामः—अवाप्सम' इति भूतार्थे लकारत्रयसिद्धिः । अप्राप्तस्य प्राप्तुमिच्छाऽऽशंसा । क्षिप्रेति । पूर्वविषये भूतार्थे आशंसायामित्यर्थे भवति । आयास्यति—

भूतकालिक क्रियावाची धातुसे लट् लकार हो, पृष्टप्रतिवचन अर्थमें, विकल्पसे । पुरिलुङ्—'पुरा'के योगमें भूतानद्यतनकालिक क्रियावाची धातुसे 'लुङ्' लकार हो, विकल्पसे और लट् भी हो । किन्तु 'स्म' के योगमें नहीं हो । यावत्पुरा—'यावत्' और 'पुरा' निपातके योगमें लट् लकार हो । विभाषा कदाकह्योः—'कदा' और 'कर्हि' के योगमें भविष्यत् अर्थमें धातुसे लट् लकार हो, विकल्पसे । वर्त्तमानसामीप्ये—वर्त्तमान कालमें जो प्रत्यय कहे गये हैं, वे वर्त्तमानके समीप भूत और वर्त्तमानके समीप भविष्यत् कालमें भी हों, विकल्पसे । आशंसायां—आशंसा (अप्राप्तकी प्राप्तीच्छा) गम्यमान हो तो, भविष्यत् कालसे भूतवत् तथा वर्त्तमानवत् प्रत्यय हो, विकल्पसे । क्षिप्रवचने—आशंसा गम्यमान हो तो, क्षिप्रपर्याय

।३।३।१३३। क्षिप्रपर्याये उपपदे पूर्वविषये लट् स्यात् । वृष्टिश्चेत्क्षिप्रमाशु त्वरितं वा-
 आयास्यति, शीघ्रं धान्यं वप्स्यामः । आशंसावचने लिङ् । ३।३।१३४। आशंसा-
 वाचिन्युपपदे भविष्यति लिङ् स्यात्, न भूतवत् । गुरुश्चेदुपेयाद् आशंसे अधीयीय,
 हेतुहेतुमतोर्लिङ् । ३।३।१५६। भविष्यत्यर्थे हेतुहेतुमतोर्लिङ् वा स्यात् । कृष्णं
 नमेच्चेत्सुखं यायात् । कृष्णं नंस्यति चेत्सुखं यास्यति । (भविष्यत्येवेष्ट्यते ।
 नेह-हन्तीति पलायते । इच्छार्थेषु लिङ्लोटौ । ३।३।१५७। इच्छार्थेषूपपदेषु
 धातोर्लिङ्लोटौ वा स्तः । इच्छामि भुञ्जीत, भुङ्क्तां वा भवान् । एवं कामये,
 प्रार्थये । (कामप्रवेदने इति वक्तव्यम्) । नेह, इच्छन्करोति । लिङ् च । ३।
 ३।१५९। समानकर्तृकेषु इच्छार्थेषु उपपदेषु धातोर्लिङ् स्यात् । 'भुञ्जीये' तीच्छति ।
 'विधिनिमन्त्रणे' ति लिङ् । विधिः-प्रेरणं, मृत्यादेर्निकृष्टस्य प्रवर्तनम् । यजेत ।
 निमन्त्रणं-नियोगकरणम्, आवश्यकं श्राद्धभोजनादौ दौहित्रादेः प्रवर्तनम् ।
 इह भुञ्जीत । आमन्त्रणं-कामचारानुज्ञा । इहाऽऽसीत । अधीष्टः-सत्कारपू-
 र्वको व्यापारः पुत्रमध्यापयेत् । संप्रश्नः-संप्रधारणम् । किं भो वेदमधीयीय,
 उत तर्कम् ? । प्रार्थनं-याच्ना । भो भोजनं लभेय । एवं लोट् । प्रैषातिस-
 र्गप्राप्तकालेषु कृत्याञ्च । ३।३।१६३। एष्वर्थेषु कृत्यप्रत्ययाः स्युः । चाह्लोट् ।
 प्रैषो-विधिः । अतिसर्गः-कामचारानुज्ञा । भवता यष्टव्यम् । चाह्लोटोऽनुकर्षणं

वप्स्यामः । इति लृङ्लकारः । आशंसेति । साक्षादाकाङ्क्षावाचिन्युपपदस्य प्रयोगे तु
 भविष्यदर्थे लिङ् स्यात्, भूतवच्च नेति भावः । उपेयात्, अधीयीय, अत्र लिङिति भावः ।
 प्रैषातिसर्गेति । शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थं प्रैषग्रहणं, कृत्या इत्यनेन तदधिकारस्था-
 प्रत्यया उपलक्ष्यन्ते । चकाराल्लोट् इति । यष्टव्यम् । तव्यति तव्ये वा रूपम् ।

उपपदक रहने पर भविष्यत् कालमें लट् लकार हो । आशंसावचने-आशंसावाचक उप-
 पद रहने पर भविष्यत् कालमें 'लिङ्' लकार ही हो, न कि भूतवत् प्रत्यय हो ।

हेतुहेतु-हेतुहेतुमद्भाव (कार्यकारणभाव) गम्यमान हो तो भविष्यत् कालमें लिङ्
 लकार हो, विकल्पसे ।

इच्छार्थेषु लिङ्लोटौ-इच्छार्थे उपपद रहने पर लिङ् और लोट् लकार हो, विकल्पसे ।

कामप्रवेदने-कामप्रवेदन (दूसरोंके प्रति अपना अभिप्राय प्रकटीकरण) अर्थमें ही
 लिङ् लोट् हों-ऐसा कहना चाहिये । लिङ् च-समानकर्तृक इच्छार्थक धातु उपपदमें
 रहे तो लिङ् लकार हो । विधिनिमन्त्रणेति-(इसका अर्थ और विवरण पृ० १५० में देखो)
 प्रैषातिसर्ग-प्रैषादि अर्थोंमें (वक्ष्यमाण) कृत्य प्रत्यय हो और चकारात् लोट् भी हो ।

प्राप्तकालार्थम् । भवान् यजताम् । अहं कृत्यतृचश्च । ३।३।१६९। अहं कृत्यप्र-
त्ययः स्यात्तृचप्रत्ययश्च । चास्त्रिङ् । त्वं कन्यां वहेः । शकि लिङ् च । ३।३।१७२।
शक्तौ लिङ् स्यात् चात्कृत्याः । त्वं भारं वहेः । धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः । ३।४।१।
धात्वर्थानां सम्बन्धे यत्र काले प्रत्यया उक्तास्ततोऽन्यत्रापि स्युः । तिङन्तवाच्यक्रि-
यायाः प्राधान्यात्तदनुरोधेन गुणभूतक्रियावाचिभ्यः प्रत्ययाः । वसन्ददर्श । भूते
लट् । अतीतवासकर्तृकर्तृकं दर्शनमित्यर्थः । सोमयाज्यस्य पुत्रो भविता । सोमेन
यक्ष्यमाणो यः पुत्रस्तत्कर्तृकं भवनम् । क्रियासमभिहारे लोट्, लोटो हिस्वौ,
वा च तध्वमोः । ३।४।२। पौनःपुन्ये, भृशार्थे च द्योत्ये धातोर्लोट् स्यात् । तस्य
च हिस्वौ स्तः । तिङामपवादः । तौ च हिस्वौ, -क्रमेण परस्मैपदाऽऽत्मनेपदसंज्ञौ
स्तः; तिङ्संज्ञौ च । तध्वमोर्विषये तु-हिस्वौ वा स्तः ॥ पुरुषैकवचनसंज्ञे नानयो-
रतिदिश्येते, हि-स्वविधानसामर्थ्यात् । तेन सकलपुरुषवचनविषये परस्मैपदिभ्यो
हिः, -कर्तरि, आत्मनेपदिभ्यः स्वी-भावकर्मकर्तृषु । समुच्चयेऽन्यतरस्याम्

लोटं दर्शयति—यजतामिति । अहं इति । अहार्थे कृत्यप्रत्ययस्तृचप्रत्ययश्च भवति ।
चकाराल्लिङ्गपि । वहेरिति लिङ्गे मध्यमस्यैकवचनम् । शक्तीति । शक्यार्थे गम्ये
लिङ् चात्कृत्याः । त्वं भारं वहेरत्रापि लिङ्गे मध्यमस्यैकवचनम् । भारं वोढुं त्वं
शक्नोसीत्यर्थः । धात्विति । धातुशब्देन धात्वर्थो लक्ष्यते । धात्वोः संबंध इति विग्रह
संबन्धस्य द्विनिष्ठत्वाद् धात्वोरित्येव विग्रहः । काले इति गम्यते । 'वर्तमानसामीप्ये' इ-
त्यादिसूत्रे यस्मिन् काले ये प्रत्यया उक्तास्ते धात्वर्थयोः संबन्धे गम्ये ततोऽन्यस्मिन्नपि
काले स्युरिति यावत् । तथा च 'वसन् ददर्श' इत्यत्र लडादेशः शतृप्रत्ययः भूतकाले
इति सिद्धं भवति । अतीतो यो वासस्तस्य यः कर्ता तत्कर्तृकं दर्शनमिति स्पष्टार्थः ।
क्रियासमभिहारेति । पौनःपुन्यं भृशार्थश्च क्रियासमभिहारस्तस्मिन्द्योत्ये, तध्वमोः परतो
लोटो हिस्वावादेशाविति भावः । समुच्चय इति । समुच्चयस्तु अनेकक्रियाणाम् ।

अहं कृत्यतृचश्च—योग्य कर्ता गम्यमान हो तो धातुसे कृत्य प्रत्यय और तृच प्रत्यय हो
तथा चकारात् लिङ् लकार भी हो । शकि लिङ्—शक्ति अर्थ गम्यमान हो तो 'लिङ्' लकार
हो और चकारात् कृत्यप्रत्यय भी हो । धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः—धात्वर्थोंका सम्बन्ध गम्यमान
हो तो जिस जिस कालमें जो जो प्रत्यय कहे गये हैं वे प्रत्यय उससे भिन्न कालमें भी हों ।

क्रियासमभि—पौनःपुन्य (बारम्बार) और भृश (अतिशय) अर्थ द्योत्य हो तो
धातुसे लोट् लकार हो । और उस लोट्के स्थानमें तिङापवाद 'हि' और 'स्व' आदेश हो तथा
वे 'हि' और 'स्व' क्रमसे परस्मैपदसंज्ञक, आत्मनेपदसंज्ञक और तिङ्संज्ञक भी हों एवं 'त' और
'ध्वम्'के विषयमें 'हि' 'स्व' आदेश विकल्पसे हों । समुच्चये—अनेक क्रियाओंका समुच्चय
द्योत्य हो तो पूर्वोक्त कार्य विकल्पसे हों ।

॥३॥४॥३॥ अनेकक्रियासमुच्चये द्योत्ये प्रागुक्तं वा स्यात् । यथाविध्यनुप्रयोगः पूर्वस्मिन् ॥३॥४॥४॥ आद्ये लोड्विधाने लोट्प्रकृतिभूत एव धातुरनुप्रयोज्यः । समुच्चये सामान्यवचनस्य ॥३॥४॥५॥ समुच्चये लोड्विधौ सामान्यार्थस्य धातोरनुप्रयोगः स्यात् । अनुप्रयोगाद्यथायथं लडादयस्तिबादयश्च । ततः संख्याकालयोः, पुरुषविशेषार्थस्य चाभिव्यक्तिः । (क्रियासमभिहारे द्वे वाच्ये ।) याहि-याहीति-याति । पुनः पुनरतिशयेन वा यानं ह्यन्तस्यार्थः । एककर्तृकं वर्तमानं यानं 'याती'-त्यस्य । 'इति'शब्दस्तु अभेदान्वये तात्पर्यं प्राहयति । एवं—यातः । यान्ति । यासि । याथः । याथ । यात यातेति यूयं याथ । याहि-याहीत्ययासीत् । यास्यति वा । अधीष्वाधीष्वेत्यधीते । 'ध्व' विषये पक्षे—अधीध्वमधीध्वमिति यूयमधीध्वे । समुच्चये तु—सक्तून्पिब धानाः खादेत्यभ्यवहरति । अन्नं भुङ्क्ष्व-दाधिकमास्वादस्वेति-अभ्यवहरते । तध्वमोस्तु-पिवत खादतेति-अभ्यवहरथ । भुङ्क्ष्वमास्वादध्वमिति-अभ्यवहरध्वे । पक्षे हिस्वौ । अत्र समुच्चयीयमानविशेषाणामनुप्रयोगार्थेन सामान्येनाभेदान्वयः । पक्षे—सक्तून् पिबति । धानाः खादति ।

प्रागुक्तमिति । लोट् लोटो हिस्वौ तध्वमोर्विषये इत्यर्थः । यथाविधीति । विधिमनुस्येति 'यथाविधि' । समुच्चय इति । वचनमर्थोऽत आह-सामान्यार्थस्येति । क्रियेति । क्रियासमभिहारे पौनःपुन्ये भृशार्थं च धातोर्द्वे वाच्ये, द्वित्वं वाच्यमित्यर्थः । यदि याहीति । भाष्ये इतिशब्दस्य दर्शनादिति भावः । एककर्तृकेति । यातीति यानकर्तृ-स्तदेकत्वस्य च प्रतीतेरिति भावः । अभेदान्वयं इति । तथा च पुनः पुनरतिशयेन वा यानं तदात्मकमेककर्तृकं वर्तमानं यानमित्यर्थः । तिङन्तेषु सर्वत्र क्रियाविशेष्यक एव बोधः इति सिद्धान्तादेवमुक्तिः । एवमिति । याहि याहि इति यातः । याहि याहि इति यान्ति । एवं सकलपुरुषवचनेषु अवसेयमित्यर्थः । याहि याहीति ययौ । याहि याहीति याता । याहि याहीति यास्यति । याहि याहीति यातु । लोप्मध्यमपुरुष-बहुवचनतादेशविषये लोटो हिभावविकल्प उक्तः । तत्र हिभावपक्षे याहि याहीति यूयं यातेति सिद्धवत्कृत्याभावपक्षे आह—यात यातेति यूयं यातेति । याहि याहीति अयात्-यायात् । लुङ्याह—याहि याहीत्ययासीत्-अयास्यद्वेति । अधीष्वाधीष्वेति अधीते । अधीष्व अधीष्वेति यूयम् अधीध्वे । स्वादेशाभावे । अधीध्वमधीध्वमिति विग्रहः । समुच्चये उदाहरति-सक्तून्पिबति । अत्र इतिशब्देन समुच्चयो गम्यते । तध्वमोरुदाहरति यथाविध्यनु—क्रियासमभिहार अर्थमे लोट्का विधान होने पर उस लोट्के प्रकृतिभूत धातुका ही अनुप्रयोग हो ।

समुच्चये—समुच्चय अर्थमे लोट् विधान होनेपर सामान्यार्थवाची धातुका अनुप्रयोग हो ।

क्रियासमभिहारे—पौनःपुन्य और भृशार्थ द्योत्य हो तो लोडन्त धातुको द्वित्व हो ।

अन्नं भुङ्क्ते । दाधिकमास्वादते । एतेन—

‘पुरीमवस्कन्द, लुनीहि नन्दनं, मुषाण रत्नानि, ह्यमराङ्गनाः ।

विगृह्य चक्रे नमुचिद्विषा बली, य इत्थमस्वास्थ्यमहर्दिवं दिवः’ ॥

—इति (माघपद्यम्) व्याख्यातम् । अवस्कन्दन-लवनादिरूपा भूतानद्यतन-परोक्षा एककर्तृका अस्वास्थ्यक्रियेत्यर्थात् । ‘इह पुनः पुनश्चस्कन्देत्यादिरर्थ’ इति व्याख्यानं भ्रममूलकमेव, द्वितीयसूत्रे ‘क्रियासमभिहारे’ इत्यस्याननुवृत्तेश्च । ‘पुरीमवस्कन्दे’त्यादि मध्यमपुरुषैकवचनमित्यपि केषाञ्चिद् भ्रम एव, पुरुषवचन-संज्ञे इह ने’त्युक्तत्वात् ॥ इति लकारार्थप्रकरणम् ॥

॥ इति मध्यसिद्धान्तकौमुद्यां तिङन्तप्रकरणम् ॥



पदे हिस्वौ बोध्यौ । शेषं सुलभम् । एतेनेति । ‘समुच्चयेऽन्यतरस्यामि’ति ‘समुच्चये सिमान्यवचनस्ये’ति च सूत्रद्वयेन तदुदाहरणप्रदर्शनेन च ‘पुरीमवस्कन्दे’त्या माघकाव्यस्थं श्लोकवाक्यं व्याख्यातमित्यर्थः । पुरीमवस्कन्देति । बली = रावणः, नमुचिद्विषा = इन्द्रेण सह, विगृह्य = विरोधं प्राप्य, पुर्याः = अमरावत्याः, अवस्कन्दनं पीडनं, नन्दनवनस्य लवनं, रत्नानां मोषणम्, अमराङ्गनानां हरणमित्येवं प्रकारेण, अहर्दिवम् = अहन्यहनि, अस्वास्थ्यं चक्रे कृतवानित्यन्वयः । इत्थं शब्दः इति पर्यायो-ऽवस्कन्दनादिक्रियाविशेषाणामस्वास्थ्यक्रियासामान्येऽभेदं ग्राहयति । फलितमाह— अवस्कन्दनलवनादिरूपेति । इति तिङन्तप्रक्रिया समाप्ता ।



पुरीमवस्कन्द—बली रावण इन्द्रसे वैरकर स्वर्गको घेर लिया और नन्दन वनको कईवार उजाड़ डाला, रत्नोंको चुरा लिया तथा देवाङ्गनाओंका (भी) अपहरण किया। इसप्रकार उसने दिन-रात स्वर्ग को अस्वस्थ (अस्त-व्यस्त) कर डाला ।

इस प्रकार ‘इन्दुमती’ टीकामें लकारार्थप्रकरण समाप्त हुआ ।



अथ पूर्वकृदन्तम्

तत्र कृदन्ते कृत्यप्रकरणम् ।

धातोः । ३।१।९१। आ तृतीयाध्यायान्तं ये प्रत्ययास्ते धातोः परे स्युः ।
 'कृदति'ङिति कृत्संज्ञा । वाऽसरूपोऽस्त्रियाम् । ३।१।९४। अस्मिन्धात्वधिकारे-
 ऽसरूपोऽपवादः प्रत्यय उत्सर्गस्य बाधको वा स्यात्, स्यधिकारोक्तं विना ।
 कृत्याः । ३।१।९५। 'णुत्तृवा'वित्यतः प्राक् कृत्यसंज्ञाः स्युः । कर्त्तरि कृत्
 । ३।४।६७। कृत्यप्रत्ययः कर्त्तरि स्यात् । इति प्राप्ते । तयोरेव कृत्यक्तखलार्थाः
 । ३।४।७०। एते भावकर्मणोरेव स्युः । तद्यत्तव्याऽनीयरः । ३।१।९६। धातोरेते
 स्युः । एधितव्यम्, एधनीयं त्वया भावे औत्सर्गिकमेकवचनं, क्लीबत्वं च ।
 चेतव्यश्चयनीयो वा धर्मस्त्वया । (केलिमर उपसंख्यानम्) पचेलिमा माषाः ।

धातोः । आतृतीयेति । आतृतीयाध्यायपरिसमाप्तेरित्यर्थः । तच्च भाष्ये स्पष्टम् ।
 एधितव्यम् । एध वृद्धौ धातुतः 'धातोः' इत्यनेन धातोः परेऽत्र भवितव्यतां विधाय
 'कृदतिङ्' इत्यनेन कृत्संज्ञायां 'कृत्याः' इत्यनेन कृत्यसंज्ञायां 'कर्त्तरि कृत्' इति
 कर्त्तर्यर्थं प्राप्ते 'तयोरेव कृत्यक्तखलार्थाः' इत्यनेन अकर्मकाद् धातोर्भावे सकर्मकाच्च
 धातोः कर्मणि कृत्यक्तखलार्थानां प्राप्तौ सत्याम् 'तव्यत्तव्यानीयरः' इत्यकर्मकादेव
 धातोर्भावे तव्यति कृते, तकारस्य 'हलन्त्यम्' इतीत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति
 लोपे 'एध् तव्य' इति जाते 'आर्धधातुकं शेषः' इति तव्यत आर्धधातुकसंज्ञायाम्
 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इडागमे 'एधितव्य' इति जाते 'कृत्तद्धितसमासाश्च'
 इति प्रातिपदिकसंज्ञायां 'ड्याप्प्रातिपदिकात्' इति स्वादिप्राप्तौ प्रथमैकवचने सौ
 समागते 'भावे औत्सर्गिकं क्लीबत्वम्' इति क्लीबत्वात् 'अतोऽम्' इति सोरमि,
 'अभि पूर्वः' इति पूर्वरूपे च कृते 'एधितव्यम्' इति रूपम् । पचेलिमा माषा इति ।
 पच्धातोः 'तयोरेव कृत्यक्तखलार्थाः' इति कर्मणि, 'केलिमर उपसंख्यानम्' इति

धातोः—(यह अधिकार सूत्र है) तृतीय अध्यायकी समाप्ति पर्यन्त जो (वक्ष्यमाण
 तव्यतादि) प्रत्यय हैं, वे धातुसे परमें हों । वासरूपो—इस धात्वधिकारमें असरूप जो
 अपवाद प्रत्यय, वह उत्सर्गका बाधक हो, विकल्पसे, स्यधिकारोक्त (प्रत्ययों) को छोड़कर ।
 कृत्याः—'णुत्तृचौ' सूत्रसे पूर्व उक्त प्रत्यय कृत्यसंज्ञक हों । कर्त्तरि कृत्—कृत्यप्रत्यय कर्तामें
 हों । तयोरेव कृत्यक्त—कृत्य प्रत्यय, क्त प्रत्यय और खलार्थ प्रत्यय भाव और कर्ममें हो हों ।
 तव्यत्तव्या—तव्यत् प्रत्यय, तव्य प्रत्यय और अनीयर् प्रत्यय धातुसे ही हो (भाव,
 कर्ममें) । केलिमर—धातुसे केलिमर प्रत्यय हो (भाव, कर्ममें)

पक्तव्या इत्यर्थः । भिदेलिमाः सरलाः । कर्मणि प्रत्ययः । (वसेस्तव्यत्कर्त्तरि
णिच्च) वसतीति वास्तव्यः । कृत्यचः ८।४।२९। उपसर्गस्थाञ्चिमित्तात्परस्याऽच
उत्तरस्य कृत्यस्य नस्य गत्वं स्यात् । प्रयाणीयम् । अचः किम् ? प्रमग्नः ।
(निर्विण्णस्योपसंख्यानम्) णेर्विभाषा ८।४।३०। प्राग्वत् । प्रयापणीयम् । अचः
प्रयापनीयम् । हलश्चेजुपधात् ८।४।३१। हलादेरिजुपधाद्धातोः परस्य कृत्स्थ-
ऽचः परस्य णो वा स्यात् । प्रकोपणीयम् । प्रकोपनीयम् । हलः किम् ? प्रोहणीयम् ।
इजुपधात्किम् ? प्रवपणीयम् । इजादेः सनुमः ८।४।३२। सनुमश्चेद्भवति तर्हि
इजादेर्हलन्ताद्विहितो यः कृत्यस्थस्यैव ॥ 'इखि गतौ'—प्रेङ्गणीयम् । इजादेः किम् ?

वार्तिकेन केलिमर्प्रत्यये, ककाररेफयोरित्संज्ञायां लोपे च 'पच एलिम' इति जाते
मिलित्वा 'पचेलिम' इति कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे, 'जसि, विभक्तिकार्ये च तत्सिद्धिः ।
वसेरिति । वस्धातोः कर्त्तरि तव्यत् स्यात् स च णिदित्यर्थः । वास्तव्य इति । वसधातोः
'वसेस्तव्यत्' इति तव्यति णिद्वत्त्वे 'अत उपधाया' इति दीर्घे सौ रूवे विसर्गे रूपम् ।
कृत्यच इति । उपसर्गस्थगत्वनिमित्ताद्योऽच् तस्मात्परो यः कृत्यव्ययस्तस्मिन्यो नकार-
स्तस्य गत्वमित्यर्थः । प्रयाणीयम् । 'प्र-या-अनीय' इति स्थिते गत्वे सौ अमि पूर्वरूपे
प्रयाणीयमिति रूपम् । निर्विण्णस्येति । उपसंख्यानं, गत्वमिति शेषः । णेरिति । उपसर्ग-
स्थाञ्चिमित्तात्परस्य ण्यन्यस्याच उत्तरस्य कृत्स्थस्य नस्य गत्वमित्यर्थः । तच्च विकल्पेन
विभाषाग्रहणात् । प्रपूर्वकयाधातोर्णौ पुकि अनीयरि 'णेरिति' इति णेलोपे 'णेर्वि-
भाषा' इति वा गत्वे सौ अमि पूर्वरूपे 'प्रयापणीयम्' 'प्रयापनीयम्' इति रूपे ।
हलश्चेति । धातोर्विशेषणत्वेनाह—हलादेरिजुपधाद्धातोरिति । प्रवपणीयमिति । प्रपूर्वात्
वपधातोर्नीयरि 'कृत्यच' इति गत्वे सावमि पूर्वरूपे 'प्रवपणीयम्' इति । अत्र नेजुप-
धात्वात् 'हलश्च' इत्यस्य प्रवृत्तिः । प्रकोपणीयम् । अत्र 'हलश्च' इति वा गत्वे 'प्रकोप-
णीयम्, प्रकोपनीय'मिति रूपद्वयमिति भावः । इजादेरिति । 'कृत्यच' इत्यनेनैव सिद्धे
'इजादेः' इति विधानं नियमार्थं तदेवाह—सनुमश्चेद्भवति तर्हि इजादेरेवेति । प्रेङ्गणी-
यमिति । प्रपूर्वाद् इखिधातोः अनीयरि गुणे 'इदितो नुमधातोः' इति नुमि अनुस्वारे

वसेस्तव्यत्—वस् धातुसे तव्यत् प्रत्यय हो, कर्तामें और वह णित् भी हो ।

कृत्यचः—उपसर्गस्थ निमित्तसे पर जो अच्, उससे पर जो कृत्यप्रत्ययका नकार,
उसको णकार हो । निर्विण्णस्योपसंख्यानम्—'निर्विण्ण' में गत्वका उपसंख्यान हो ।
णेर्विभाषा—उपसर्गस्थ निमित्तसे पर ण्यन्तसे विहित जो कृत्यसम्बन्धी नकार, उसको णकार
हो विकल्पसे । हलश्चेजुपधात्—हलादि और इजुपध धातुसे पर अजुत्तर कृत्यस्थ नकारको
णकार हो, विकल्पसे । इजादेः—सनुम् (कृतनुम्) धातुसे पर कृत्यस्थ नकारको यदि
गत्व हो तो इजादि और हलन्त धातुसे विहित कृत्यस्थ नकार को ही हो ।

‘मणि सर्पणे’ । प्रमङ्गनीयम् । वा निसनिक्षनिन्दाम् । ८।४।३३। एषां नस्य णो वा स्यात् कृति । प्रणिंसितव्यम् । न भाभूपूकमिगमिष्यायीवेपाम् । ८।४।३४। एभ्यः कृत्तस्य णो न स्यात् । प्रभानीयम् । प्रभवनीयम् । (ण्यन्तभादीनामुपसंख्यानम्) प्रभापनीयम् । कृत्यल्युटो बहुलम् । ३।३।११३।

कचित्प्रवृत्तिः, कचिदप्रवृत्तिः, कचिद्विभाषा, कचिदन्यदेव ।

विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य, चतुर्विधं बाहुल्यकं वदन्ति ॥

ज्ञात्यनेन-ज्ञानीयं चूर्णम् । दीयतेऽस्मै-दानीयो विप्रः । ऋदुपधाच्चाऽकल्-
पिचृतेः । ३।१।११०। क्यप्स्यात्, वृत्-वृत्यम् । वृथ्-वृद्धम् । क्लृपिचृ-
त्योस्तु-कल्प्यम् । चर्त्यम् । अचो यत् । ३।१।९७। अजन्ताद्घातोर्यत्स्यात् ।
चेयम् । जेयम् । ईद्यति । ६।४।६५। यति परे आतः ईत्स्यात् । गुणः । देयम् ।

परसर्वणे ‘इजादेः’ इति णत्वे सावमि पूर्वरूपे ‘प्रेङ्खणीयमिति’ रूपम् । प्रमङ्गनीय-
मित्येजादित्वाभावाच्च णत्वमिति भावः । वा निसेति । उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्येत्या-
दिपूर्ववदवसेयम् । प्रणिंसितव्यमिति । ‘प्र निस् इत्यव्यम्’ इति स्थितौ ‘वानिस्’ इति वा
णत्वे उभयरूपसिद्धिः । नभाभू इति । एभ्यः कृतो नस्य न णत्वमित्यर्थः । प्रभानीयम् ।
प्रभवनीयम् । ण्यन्तानामपि भादीनां णत्वं निषेधयति । उदाहरति—प्रभापनीयमिति ।
ऋदुपधादिति । ऋदुपधा यस्य धातोरिति तात्पर्यम् । क्लृपिचृतिभिन्नानामृदुपधानां
धातूनां कप्स्यादित्यर्थः । कल्प्यमिति । कृप् धातोः ‘ऋहलोर्ण्यत्’ इति ण्यति
‘पुगन्त’ इति लघूपधगुणत्वे लत्वे सौ अमि पूर्वरूपे ‘कल्प्यम्’ इति साधु । अत्र ऋल्-
वर्णयोर्मिथः सावर्ण्यत्वेऽपि न क्यप् अक्लृपिचृतेरिति निषेधात् । चेयम् । चिञ् चयने
धातोः ‘अचो यत्’ इति यति कृते, अनुबन्धलोपे ‘आर्धधातुकं शेषः’ इत्यार्धधातु-

वा निसनिच्च—निस-निक्ष-निन्द—इन धातुओंके नकारको णत्व हो, कृतप्रत्ययके
परे विकल्पसे ।

न भाभूपू—भा-भू-पू आदि धातुओंसे पर कृतस्थ नकारको णत्व नहीं हो ।

ण्यन्तभादीनाम्—ण्यन्त भादि धातुओंसे पर कृतस्थ नकारको णत्व नहीं हो ।

कृत्यलुटो—कृत्य प्रत्यय और ल्युट् प्रत्यय बहुल प्रकार (निम्न चार प्रकार) से हों ।

कचित् प्रवृत्तिः—कहीं अप्राप्तमें भी प्राप्त हो जाना, कहीं प्राप्तमें भी अप्राप्त होना,
कहीं विकल्पसे प्राप्त होना और कहीं इन तीनोंसे भी भिन्न अर्थात् विकल्पमें भी नित्य ही
प्राप्त हो जाना (यथा ‘तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्’ से बहुलग्रहणात् प्राप्त नित्य अम्भाव) इस
प्रकार अनेक तरहसे सूत्रोंका विधान समझकर उनके चार भेद कहे गये हैं ।

ऋदुपधा—ऋदुपध धातुसे क्यप् प्रत्यय हो, कल्प् चृत् धातुको छोड़कर ।

अचो यत्—अजन्त धातुसे यत् प्रत्यय हो । ईद्यति—‘आत्’ को ‘ईत्’ हो, यत् के परे ।

ग्लेयम् । पौरदुपधात् । ३।१।९८। पवर्गान्ताददुपधाद्यत् । ण्यतोऽपवादः । शप्य-
म् । लभ्यम् । आङो यि । ७।२।६५। आङः परस्य लभेर्नुम् स्याद्यादौ प्रत्यये । आ-
लम्भ्यो गौः । उपात्प्रशंसायाम् । ७।१।६६। उपपूर्वाल्लभेर्नुम् स्यात्प्रशंसायाम् ।
उपलम्भ्यः साधुः । स्तुतौ किम् ? उपलब्धुं शक्यः—उपलम्भ्यः । शकिसहोश्च
। ३।१।९९। शक्यम् । सङ्गम् । गदमदचरयमश्चाऽनुपसर्गे । ३।१।१००। एभ्योऽ-
नुपसर्गेभ्यो यत्स्यात् । गद्यम् । मद्यम् । चर्यम् । (चरेराङि चाऽगुरौ) आचार्यो देशः ।
अगुरौ किम् ? आचार्यो गुरुः । यम्यम् । अवद्यपण्यवर्या गह्वर्यपणितव्यानि-
रोधेषु । ३।१।१०१। अवद्यादयस्त्रयो निपात्यन्ते, क्रमाद् गह्वर्यादिष्वर्थेषु । अवद्यं-
पापम् । पण्यं—विक्रेयम् । शतेन वर्या कन्या । वह्यं करणम् । ३।१।१०२। वह्य-
मिति यत्प्रत्ययान्तं निपात्यते, करणेऽर्थे । वहन्त्यनेनेति—वह्यं शकटम् । बाह्यम-

कत्वे, सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे सौ सोरमि पूर्वरूपे
च तत्सिद्धिः । आङोयीति यि इत्यनेन यकारादि प्रत्यये इति लक्ष्यते । अत आह यकारादौ
प्रत्यये इति । आलम्भ्यो गौरिति । आङ्पूर्वाल्लभधातोः 'पौरदुपधात्' इति यति 'आङो
यि' इति यकारादिप्रत्यये परतः नुमि अनुस्वारे परसवर्णे रुत्वे विसर्गे 'आलम्भ्यः'
इति रूपम् । उपादिति । प्रशंसायामुपपूर्वाल्लभेर्नुमित्यर्थः । उपलम्भ्यः । उप-लम्भ-
धातोः 'पौरदुपधात्' इति यति 'उपात्' इति नुमि अनुस्वारे परसवर्णे सौ
रुत्वे विसर्गे 'उपलम्भ्यः' इति सिद्धम् । शकीति । यत्स्यादित्यर्थः । शक्यम्—सङ्गम् ।
शक्स्सहोर्यति सावमि पूर्वरूपे रूपे भवतः । गदमदेति । यत्स्यादिति शेषः । गद्यम्-
मद्यम्—चर्यम्—यति रूपाणि भवन्ति । चरेरिति । आङ्पूर्वाच्चरधातोः गुरुभिन्नार्थे यत्स्या-
दिति भावः । आचर्य इति । आ-चर्-अस्मात् 'चरेराङि' इति यति सौ रुत्वे विसर्गे
रूपम् । गुरुवाचकत्वे तु—'ऋहलोः' इति ण्यति उपधावृद्धौ सौ रुत्वे विसर्गे 'आचार्यः'
इति रूपं स्यात् । यम्धातोर्यति यम्यमिति रूपम् । अवद्येति । यदन्ता निपात्यन्ते इति
भावः । अवद्यं—पण्यं—वर्या—इत्यादि । वह्यमिति । करणार्थे यद्विधीयते । वहन्त्यनेनेति
वह्यमिति । बाह्यमिति । 'ऋहलोः' इति ण्यति उपधावृद्धौ 'बाह्यम्' इति रूपम् ।

पौरदुपधात्—पदान्त अदुपध धातुसे यत्प्रत्यय हो । ('ण्यत्'का यह अपवादक है) ।
आङो यि—'आङ्'से पर 'लम्' धातुको नुम् हो, यकारादि प्रत्ययकी विवक्षामें ।
उपात्प्रशं—प्रशंसा अर्थ गम्यमान हो तो 'उप' उपसर्गसे पर 'लम्' धातुको नुम् हो,
यकारादि प्रत्ययकी विवक्षामें । शकिसहोश्च—'शक्' और 'सह्' धातुसे 'यत्' प्रत्यय हो ।
गदमदचरयम—उपसर्ग रहित गदादि धातुओंसे 'यत्' प्रत्यय हो । चरेराङि—'आङ्' उप-
सर्गसे पर 'चर्' धातुसे 'यत्' प्रत्यय हो, अगुरु (गुरुसे भिन्न) अर्थमें । अवद्यपण्य—अवद्य,
पण्य आदि शब्द गह्वर्य (निन्दा) आदि अर्थमें निपातन हो । वह्यं करणम्—'वह्य' यह

न्यत् । अर्थः स्वामिवैश्ययोः । ३।१।१०३। 'अर्थ' इति यत्प्रत्ययान्तं निपात्यते, स्वामिवैश्ययोरर्थयोः । अनयोः किम् ? आर्या ब्राह्मणः । उपसर्गा काल्या प्रजने । ३।१।१०४। उपसर्गेति यत्प्रत्ययान्तं निपात्यते, गर्भग्रहणे प्राप्तकाला चेदित्यर्थः । उपसर्गा गौः । गर्भाधानार्थं वृषभेणोपगन्तुं योग्येत्यर्थः । प्रजने काल्येति किम् ? उपसर्गा काशी । प्राप्तव्येत्यर्थः । अजर्यं सङ्गतम् । ३।१।१०५। अजर्यमिति नञ्पूर्वाज्जीर्यतेर्यत्प्रत्ययान्तं निपात्यते, सङ्गतं विशेष्यं चेत् । न जीर्यतीत्यजर्यम्—सतां सङ्गतम् । वदः सुपि क्यप् च । ३।१।१०६। अनुपसर्गे सुप्युपपदे वदेर्भावे क्यप् स्यात् । चाद्यत् । ब्रह्मोद्यम् । ब्रह्मवद्यम् । भुवो भावे । ३।१।१०७। भुवः क्यप् स्याद्भावे । ब्रह्मणो भावो-ब्रह्मभूयम् । हनस्त च । ३।१।१०८। अनुपसर्गे सुप्युपपदे हन्तेर्भावे तकारोऽन्तादेशः स्यात् । चात्क्यप् । ब्रह्मणो हननं-ब्रह्महत्या । एतिस्तुशास्वृद्धजुषः क्यप् । ३।१।१०९। एभ्यः क्यप् स्यात् । ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् । ६।१।७१। ह्रस्वस्य तुगागमः स्यात्पिति कृति । इत्यः । स्तुत्यः । शिष्यः । 'वृ' इति वृजो ग्रहणं, न वृङ् । वृत्यः । वृङ्स्तु-वार्या ऋत्विजः । आहत्यः । जुष्यः । पुनः क्यवुक्तिः परस्याऽपि ण्यतो वाधनार्था । अव-

अर्थ इति । स्वामिवैश्ययोरित्यर्थे ऋधातोर्यदन्तं निपातनम् । उपसर्गा इति । उपपूर्वात्सुधातोर्यन्निपात्यते । उपसर्गा—अत्र 'ऋहलोः' इति ण्यत् । अजर्यमिति । 'न जीर्यतीत्यर्थे' यदन्तं निपात्यते । ब्रह्मोद्यमिति । वदधातोः 'वदः सुपि क्यप् च' इति क्यपि यजादित्वात्संप्रसारणे उत्त्वे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे गुणे सात्वमि पूर्वरूपे 'ब्रह्मोद्यम्' इति रूपम् । यदा यत्स्यात्तदा 'ब्रह्मवद्यम्' इति रूपम् । ब्रह्महत्या । हन् धातोः 'हनस्त च' इति यति नस्य तत्त्वे टापि सौ 'हृङ्' आ-

यत्प्रत्ययान्त शब्द करण अर्थमें निपातन हो । अर्थः स्वामिवैश्ययोः—स्वामी और वैश्य अर्थमें यत्प्रत्ययान्त 'अर्थ' शब्द निपातित हो । उपसर्गा काल्या—गर्भग्रहण प्राप्तकाल अर्थमें 'उपसर्गा' यह यत्प्रत्ययान्त शब्द निपातन हो । अजर्य संगतम्—यदि संगत विशेष्य हो तो नञ्पूर्वक जधातुसे यत्प्रत्ययान्त निष्पन्न 'अजर्यम्' यह शब्द निपातित हो । वदः—अनुपसर्गं सुबन्त उपपदक 'वद्' धातुसे क्यप् प्रत्यय हो, चकारात् 'यत्' भी हो । भुवो भावे—अनुपसर्गं सुबन्त उपपदक 'भू' धातुसे 'क्यप्' प्रत्यय हो 'भाव' अर्थमें । हनस्त—अनुपसर्गं सुबन्त उपपदक 'हन्' धातुको तकारान्त आदेश हो, चकारात् 'क्यप्' भी हो, 'भाव' अर्थमें ।

एतिस्तुशास्वृद्ध—'इण्' आदि धातुओंसे 'क्यप्' प्रत्यय हो ।

ह्रस्वस्य पिति—ह्रस्व को तुक् हो, पित् और कृत् प्रत्ययके परे ।

श्यस्तुत्यः । मृजेर्विभाषा । ३।१।११३। मृजेः क्यच्चा स्यात् । मृज्यः । ऋह-
लोर्ण्यत् । ३।१।१२४। ऋवर्णान्ताद्वलन्ताच्च ण्यत् स्यात् । चजोः कु घिण्यतोः
। ७।३।५२। चजोः कुत्वं स्याद् धितिः, ण्यति च । (निष्ठायामनिट इति वक्त-
व्यम्) तेनेह न । गर्ज्यम् । मार्ग्यः । ओरावश्यक ३।१।१२५। उवर्णान्ता-
द्वातोर्ण्यत् स्यादावश्यक । लाव्यम् । पाव्यम् ।

‘लुम्पेदवश्यमः कृत्ये, तुं काममनसोरपि ।

समो वा हितततयोर्मोसस्य पचि युङ्घजोः’ ॥

अवश्यलाव्यम् । भव्यगेयप्रवचनीयोपस्थानीयजन्याप्लाव्यापात्या वां
। ३।४।६८। एते कृत्यान्ताः कर्तरि वा निपात्यन्ते । भवतीति-भव्यः । भव्यमनेन
वा । भोज्यं भक्ष्ये । ७।३।६६। भोग्यमन्यत् । वचोऽशब्दसंज्ञायाम् । ७।३।६७।
न कुत्वम् । वाच्यम् । वाक्यमन्यत् । राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्या-

भ्यः’ इति सुलोपे ब्रह्मपदेन समस्तत्वे ‘ब्रह्महत्या’ इति । मार्ग्य इति ।
मृजधातोः ‘ऋहलोः’ इति ण्यति ‘मृजेवृद्धिः’ इति वृद्धौ ‘चजोः कु’ इति कुत्वे
‘मार्ग्य’ इति जाते सौ रुत्वे विसर्गे रूपम् । ओरावश्यक इति । उवर्णान्ताण्य-
दिति भावः । पाव्यमिति । पूजधातोः ‘ओरावश्यक’ इति ण्यति वृद्धावावादेशे
सौ अमि पूर्वरूपे ‘पाव्यमिति’ रूपम् । लुम्पेदिति । कृत्येऽवश्यम् मः लुम्पेत् ।
तुं काममनसोरपि लुम्पेत् । हितततयोः समो वा लुम्पेत् । मांसस्यापि अः लुम्पेत्
पचि युङ्घजोरिति । अवश्यलाव्यन् । अवश्यपूर्वात् लुधातोः ‘ओरावश्यक’ इति
ण्यति वृद्धौ आवादेशे सावमि रूपसिद्धिः । भव्यगेयेति । कृत्यान्ता निपात्यन्ते—
भव्य इति । वचोऽशब्देति । कुत्वं नेत्यर्थः । वाच्यमिति । वचधातोः ‘ऋहलोर्ण्यत्’ इति

मृजेर्विभाषा—‘मृज्’ धातुसे ‘क्यप्’ हो, विकल्पसे ।

ऋहलोर्ण्यत्—ऋवर्णान्त और हलन्त धातुसे ‘ण्यत्’ प्रत्यय हो ।

चजोःकु घिण्यतोः—चकार-जकारको कुत्व हो, धित और ण्यत् प्रत्ययके परे ।

निष्ठायामनिटः—निष्ठामें अनिट् धातुके ही चकारको कुत्व हो—ऐसा कहना चाहिये ।

ओरावश्यक—उवर्णान्त धातुसे आवश्यक अर्थमें ‘ण्यत्’ हो ।

लुम्पेदवश्य—कृत्य प्रत्ययके परे ‘अवश्यम्’के मकारका, काम और मनस् शब्दके परे
‘तुम्’ के मकारका, हित और ततः शब्दके परे ‘सम्’के मकारका तथा युङ् और घञ्परक
‘पच्’ धातुके परे ‘मांस’ शब्दके अकारका लोप हो ।

भव्यगेय—कृत्य प्रत्ययान्त भव्यगेय आदि शब्द कर्तामें निपातन हो, विकल्पसे ।
भोज्यं—भक्ष्य अर्थमें ‘भोज्य’ निपातन हो । वचोऽशब्द—‘वच्’ धातुके चकारको कुत्व नहीं
हो, शब्दसंज्ञाको छोड़कर । राजसूयसूर्य—क्यबन्त-राजसूय, सूर्य, मृषोद्य, रुच्य, कुप्य,

उच्यध्याः । ३।१।११४। एते सप्त क्यवन्ता निपात्यन्ते । मिद्योध्यौ नदे । ३।१।११५। नदे किम् ? मेता । उज्झिता । पुष्यशिध्यौ नक्षत्रे । ३।१।११६। अधिकरणे क्यञिनिपात्यते । पुष्यन्त्यस्मिन्नर्थः—पुष्यः । सिध्यन्त्यस्मिन्सिद्धयः । विपूय-विनीयजित्या मुञ्जकल्कहलिषु । ३।१।११७। विपूयो—मुञ्जः । विनीयः—कल्कः । जित्यो—हलिः । प्रत्यपिभ्यां ग्रहेः । ३।१।११८। (छन्दसीति वक्तव्यम्) प्रतिगृह्यम् । अपिगृह्यम् । लोके तु—प्रतिग्राह्यम् । अपिग्राह्यम् । पदाऽस्वैरिवाह्यपक्ष्येषु च । ३।१।११९। अवगृह्यं, प्रगृह्यं—पदम् । अस्वैरी—परतन्त्रः । गृह्यकाः—शुकाः । ग्रामगृह्या—सेना । आर्यैर्गृह्यते—आर्यगृह्यः । तत्पक्षाश्रित इत्यर्थः । विभाषा कृवृषोः । ३।१।१२०। कृवृषोः क्यच्चा स्यात् । कृत्यम् । वृध्यम् । कार्यम् । वर्ध्यम् । युग्यं च पत्रे । ३।१।१२१। युग्यमिति क्यवन्तं निपात्यते, पत्रे । पत्रं—वाहनम् । योग्यमन्यत् । अमावस्यदन्यतरस्याम् । ३।१।१२२। अमोपपदाद्वसेरधिकरणे ण्यत्, वृद्धौ सत्यां पाक्षिको ह्रस्वश्च निपात्यते । अमा सह वसतोऽस्यां चन्द्रार्काविति—अमावस्या, अमावास्या वा । अग्नौ

ण्यति 'अतः उपधायाः' इति वृद्धौ 'चजोः' इति प्राप्तं कुत्वं 'वचोऽशब्दसंज्ञायाम्' इति कुत्वनिपेधे सावमि वाच्यमिति रूपम् । राजसूयेति । क्यवन्तानां निपातनम् । मिद्योध्यौ । एतौ निपात्येते । पुष्यसिध्याविति । अत्रापि क्यवन्तं निपातनम् । विपूयेति । क्यवन्तं निपातनम् । प्रत्येति । क्यप्स्यादित्यर्थः । प्रतिगृह्यम्—अपिगृह्यम् । ग्रहेः क्यपि रूपम् । पदास्वैरीति । ग्रहेः क्यप्स्यादित्यर्थः । विभाषेति । क्यव्वेत्यर्थः । कृत्यम्—वृध्य-मिति । अत्र क्यपि तुकि रूपमवधेयम् । युग्यमिति । वाहनार्थे निपातनम् । अमाव

कृष्टाच्य और अव्यध्य शब्द निपातन हो । मिद्योध्यौ नदे—क्यवन्त—मिद्य और उध्य शब्द निपातित हो, नद अर्थमें । पुष्यसिद्धयौ—अधिकरणमें क्यवन्त पुष्य और सिद्धय शब्द निपातन हो । विपूयविनीय—मुञ्ज, कल्क और हलि अर्थमें क्यवन्त विपूय, विनीय और जित्य शब्द निपातित हो ।

प्रत्यपिभ्याम्—प्रति और अप उपसर्गसे पर ग्रह धातुसे क्यप् प्रत्यय हो और यह क्यप् छन्द (वेद) में हो ऐसा कहना चाहिये । पदाऽस्वैरि—पदादि अर्थमें 'ग्रह्' धातुसे क्यप् प्रत्यय हो । विभाषा कृ—'कृ' तथा 'वृष्' धातुसे क्यप् प्रत्यय हो, विकल्पसे । युग्यं च—पत्र (वाहन) अर्थमें 'युग्यं' निपातित हो । अमावस्य—'अमा' उपपदक 'वस्' धातुसे ण्यत् तथा ण्यत्के परे वृद्धि होनेपर 'वास्' के आकारको पाक्षिक ह्रस्वाभाव भी निपातन हो । अग्नौ—अग्नि (अग्निधारणार्थ स्थलविशेष) अर्थमें परिचाय्य, उपचाय्य (परि, उप उपसर्गक 'चि' धातुसे ण्यत् तथा आयादेश) और समुदा (समुपसर्गक 'वह्' धातुसे

परिचाय्योपचाय्यसमूहाः । ३।१।१३१। अभावेते साधवः । कृतौ कुण्डपा-
य्यसंचाय्यौ । ३।१।१३०। क्रतुविशेषे एतौ निपात्येते । कुण्डेन पीयतेऽस्मिन्
सोमः—कुण्डपाय्यः । संचायतेऽसौ—सञ्चाय्यः । चित्याऽग्निचित्ये च । ३।१।१३२।
एतौ निपात्येते । चित्योऽग्निः । अग्नेश्चयनम्—अग्निचित्या ॥

इति कृदन्ते कृत्यप्रकरणम् ।

अथ कृदन्ते कृत्यप्रकरणम्

ण्वुलृचौ । ३।१।१३३। धातोरेतौ स्तः । 'कर्तरि कृ'दिति कर्त्रर्थे । युवो-
रनाकौ । ७।१।१। 'यु' 'वु' एतयोरनुनासिकयोरेतौ स्तः । कारकः । कर्ता । नन्दि-
ग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः । ३।१।१३४। नन्धादेत्युग्रह्यादेर्णिनिः पचादेर-
हस्यात् । नन्दयतीति नन्दनः । जनार्दनः । लवणः । गणो निपातनाणत्वम् ।

स्यति । निपातनम् । अभाविति । अन्यर्थे निपात्यन्ते । कृताविति । कृत्वर्थे एतद्विपा-
तनम् । चित्येति । एतावपि निपातनेन बोध्यौ । इति कृत्यप्रक्रिया ।

कारकः । करोतीति कारकः इति विग्रहे कृधातोः 'कर्तरि कृत्' इति कर्त्रर्थे
'ण्वुलृचौ' इति ण्वुलि, 'चुद्ध' इति णस्येत्संज्ञायां लस्य 'हलन्त्यम्' इत्य-
नेनेत्संज्ञायां 'तस्य' इत्यनेन णल्योर्लोपे, 'युवोरनाकौ' इत्यनेन वोः स्थाने अका-
देशे, तस्य 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकसंज्ञायां 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'
इति गुणे प्राप्ते, तस्मादधित्वा 'अचो ङ्णिति' इति वृद्धौ, आ इति जाते 'उरण्
रपरः' इति रपरे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे सौ, कृत्वे विसर्गे च 'कारकः' इति
रूपम् । नन्दनः । टुनदि—समृद्धौ, धातोरनुबन्धलोपे, 'इदितो नुम्धातोः' इति
नुमि, उमि गते, मित्वादन्यादचः परे अनुस्वारे, परसवर्णे, 'नन्द' इति जाते, तस्मात्
'हेतुमति च' इति णिचि, अनुबन्धलोपे 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायां
तस्मात् 'नन्दि' इति धातोः 'कर्तरि कृत्' इति कर्त्रर्थे 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो
सम्प्रसारण और दीर्घ-ये साधु (निपातन) हो ।

कृतौ कुण्डपाय्य—क्रतु अर्थमें 'कुण्डपाय्य और 'सञ्चाय्य' निपातित हो ।

चित्याग्नि—अग्न्याधार अर्थमें—'चित्य' और 'अग्निचित्य' शब्द निपातित हो ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें कृत्यप्रकरण समाप्त हुआ ।

ण्वुलृचौ—धातुसे ण्वुल् और लृच् प्रत्यय हो, कर्तामें । युवोरनाकौ—अनुनासिक 'यु'
और 'वु' को क्रमसे 'अन' 'अक' आदेश हों । नन्दिग्रहि—नन्धादिसे 'ल्यु' ग्रह्यादिसे

प्राही । स्थायी । मन्त्री । पचः । आकृतिगणोऽयम् ॥ इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः । ॥३१॥३२॥ एभ्यः कः स्यात् । क्षिपः । बुधः । कृशः । ज्ञः । प्रियः । किरः । आतश्चोपसर्गे ॥३१॥३३॥ प्रज्ञः । सुगलः । पात्राध्माधेट्दृशः शः ॥३१॥३३॥ एभ्यः शः स्यात् । पिवः । जिघ्रः । धमः । धयः । पश्यः । अनुपसर्गा-
लिम्पविन्दधारिपारिवेद्युदेजिचेतिसातिसाहिभ्यश्च ॥३१॥३४॥ लिम्पः ।
विन्दः । धारयः । पारयः । वेदयः । उदेजयः, चेतयः । सातयः । साहयः । अनु-
पसर्गात्किम् ? प्रलिपः । (गवादिषु विन्देः संज्ञायाम्) गोविन्दः । अरविन्दम् ।
ददातिदधात्योर्विभाषा ॥३१॥३५॥ ददः । दधः । पक्षे-वक्ष्यमाणो णः ।
ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः ॥३१॥३६॥ वा स्यात् । ज्वालः । ज्वलः । चालः । चलः ।
श्याऽऽद्वयधाऽऽस्तुसंस्मृतीणवसाऽवहलिहृत्स्विष्वसश्च ॥३१॥३७॥ अव-

त्युणिन्यचः' इति ल्युप्रत्यये, लगते; 'युचोरनाकौ' इति योरनादेशे, तस्य आर्धधातु,
कत्वात् 'गेरनिटि' इति णिलोपे संयोगे विभक्तिकार्ये च कृते तत्सिद्धिः । प्रियः । प्रीणा-
तीति प्रियः, इत्यत्र प्रीधातोः 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इति के प्रत्यये, कगते, 'अचि
रनुधातुभ्रुवाम्' इति इयङि, अङो लोपे, संयोगे, विभक्तिकार्ये च कृते तत्सिद्धम् ।
सुगलः । सुष्टु ग्लायतीति सुगलः । इत्यत्र सुपूर्वकग्लैधातोः 'आतश्चोपसर्गे' इति के,
कलोपे, 'आदेच उपदेशेऽशिति' इत्येकारस्य । आत्वे 'आतो लोप इटि च' इत्याकार-
लोपे संयोगे विभक्तिकार्ये च कृते, 'सुगलः' इति रूपम् । पात्रेति । कर्त्रर्थः
शः स्यादित्यर्थः । पश्यः दृशधातोः शप्रत्यये 'पात्रा' इति पश्यादेशे सौ रुत्वे विसर्गे
रूपम् । जिघ्र इति । 'पात्रा' इति घ्राधातोः शो 'पात्रा' इति जिघ्रादेशे सौ रुत्वे विसर्गे
रूपम् । धम इति । ध्माधातोः 'पात्रा' इति शो 'पात्रा' इति धमादेशे सौ रुत्वे विसर्गे
रूपम् । धय इति । धेट् धातोः शोऽयादेशे रुत्वे विसर्गे रूपम् । अनुपसर्गादिति । शः
स्यादित्यर्थः । लिम्पः, विन्द इति । 'अनुपसर्गात्' इति शो सौ रुत्वे विसर्गे रूपे भवतः ।
शोपेभ्यो ण्यन्तेभ्योऽपि शप्रत्यये गुणेऽयादेशे सौ रुत्वे विसर्गे रूपाणि । गवादिष्विति ।
शः स्यादित्यर्थः । गोविन्दः-अरविन्दम्-शे प्रत्यये रूपे इति ज्ञेयम् । ददाति । ददो वा
इत्यर्थः । पक्षे णः । 'ददः दधः' इति शो रूपम् । ज्वलितोति । पक्षे पंचाद्यच् । णप्रत्यये

'णिनि' और पचादिसे 'अच्' प्रत्यय हो । इगुपध—इगुपध धातु तथा ज्ञा, प्री और कृ धातु,
ओंसे 'क' प्रत्यय हो । आतश्चोपसर्गे—उपसर्ग उपपदक आदन्त धातुसे 'क' प्रत्यय हो ।
पात्राध्मा—पा, घ्रा, ध्मा, धेट् और दृश् धातुओंसे 'श' प्रत्यय हो । अनुपसर्गा—अनुपसर्गक
लिम्प आदि धातुओंसे 'श' प्रत्यय हो । गवादिषु—गवादि उपपदक 'विन्द' धातुसे 'श'
प्रत्यय हो, संज्ञामें । ददातिदधात्योः—'दा' और 'धा' धातुसे 'श' प्रत्यय हो, विकल्पसे ।
ज्वलितिकसन्ते—ज्वलादि कसन्त धातुसे 'ण' प्रत्यय हो, विकल्पसे । श्याद्वयधा—श्यैवादि

श्यायः । आत्-दायः । धायः । व्याधः । आस्त्रावः । संस्त्रावः । अत्यायः । अवसायः ।
 अवहारः । लेहः । श्लेषः । श्वासः । विभाषा ग्रहः । ३।१।१४३। व्यवस्थित-
 विभाषेयम् । तेन-जलचरे प्राहः । ज्योतिषि-ग्रहः । गेहे कः । ३।१।१४४। गृहा-
 ति धान्यादिकमिति—गृहम् । शिल्पिनि षुन् । ३।१।१४५। क्रियाकौशलं
 शिल्पम्, तद्वत्कर्तरि षुन् स्यात् । षः प्रत्ययस्य । १।३।६। प्रत्ययस्य आदिः प
 इत्स्यात् । (नृतिखनिरञ्जिभ्य एव) नर्तकः । खनकः । (असि, अकेऽने
 च रञ्जेर्नलोपो वाच्यः) । रजकः । रजकी । गस्थकन् । ३।१।१४६।
 गायतेस्थकन् स्यात् । गायकः । ण्युट् च । ३।१।१४७। गाय-
 नः । प्रसृत्वः समभिहारे वुन् । ३।१।१४९। एभ्यः समभिहारे वुन्स्यात् ।

उपधाया दीर्घे 'ज्वालः' तदभावे ज्वल इति । 'चालः, चलः' अत्रापि वा णे रूपम् ।
 अवश्यायः । श्याधातोः 'श्याद्बध्नेति' इति णप्रत्यये 'आतो युक्' इति युकि सौ रुत्वे विसर्गे
 रूपम् । दायः धायः, अत्रापि णप्रत्यये युकि सौ रुत्वे विसर्गे रूपम् । व्याधः यणि
 णप्रत्यये 'अत उपधायाः' इत्युपधादीर्घे सौ रुत्वे विसर्गे रूपम् । आस्त्रावः-अत्यायः अत्र
 णौ वृद्धौ रूपम् । शोपं सुकरम् । विभाषेति । णो वा इत्यर्थः । पचेऽच् । ग्रहः-प्राहः । णे
 उपधादीर्घ इति भावः । शेषणीनीति । शिल्पमस्यास्तीति शिल्पी तस्मिन् षुनित्यर्थः ।
 पः प्रत्ययस्य । इत् स्यादित्यर्थः । नर्तकः खनकः । नृत्खनयोः 'शिल्पिनि' इति ष्युनि 'पः
 प्रत्ययस्य' इति इत्वे पलोपे 'युवोरनाकौ' इत्यकि पुगन्तगुणे सौ रुत्वे विसर्गे रूपम् ।
 असीति । एतेषु परेषु रञ्जेर्नलोपः । रजकः । रञ्ज् धातोः 'शिल्पिनि' इति ष्युनि
 'पः प्रत्ययस्य' इति इत्वे पलोपे 'युवोरनाकौ' इति अकादेशे 'असि' इति नलोपे सौ रुत्वे
 विसर्गे रूपम् । गस्थकनिति । गायतेस्थकन् कर्तरि । गाधातोः थकनि सौ रुत्वे
 विसर्गे 'गाथकः' इति रूपम् । ण्युट् चेति ॥ कर्तरि ण्युडपि गायतेरित्यर्थः । गाधातोर्ण्युटि
 'युवो' इत्यनि 'आतो युक्' इति युकि सौ रुत्वे विसर्गे 'गायनः' इति रूपम् । प्रसृत्व
 इति । पौनःपुन्यं श्रुशार्थश्च क्रियासमभिहारः । प्र सृ-ल-एभ्यो वुनि 'युवोः' इत्यकि

धातुओंसे नित्य 'ण' प्रत्यय हो । विभाषा—'ग्रह' धातुसे 'ण' प्रत्यय हो विकल्पसे ।
 गेहे कः—'गेहे' कर्ता हो तो ग्रह धातुसे 'क' प्रत्यय हो । शिल्पिनि—शिल्पी कर्ता हो तो
 धातुसे 'षुन्' प्रत्यय हो । षः प्रत्ययस्य—प्रत्यय संकन्धी आदि पकारकी इत्संज्ञा हो ।
 नृतिखनिर—'नृत्' धातु, 'खन्' धातु और 'रञ्ज्' धातुओंसे ही 'षुन्' प्रत्यय हो ।

असि अकेऽने—'रञ्ज्' धातुके नकारका लोप हो, अक् और अन् प्रत्ययके परे ।
 गस्थकन्—'जे' धातुसे 'थकन्' प्रत्यय हो । ण्युट् च—'जे' धातुसे 'ण्युट्' प्रत्यय भी
 हो । प्रसृत्वः-प्र, सृ तथा ल धातुओंसे 'वुन्' प्रत्यय हो, साधुकारी अर्थमें ।

समभिहारग्रहणेन साधुकारित्वं लक्ष्यते । प्रवकः । सरकः । लवकः । आशिषि च । ३।१।१५०। आशिषि वुन् स्यात् । जीवतात्-जीवकः । तत्रोपपदं सप्तमी-स्थम् । ३।१।९२। सप्तम्यन्ते पदे-‘कर्मणी’त्यादौ-वाच्यत्वेन स्थितं यत् कुम्भादि, तद्वाचकं पदमुपपदसंज्ञं स्यात् । कर्मण्यण् । ३।२।१। कर्मण्युपपदे धातोरण् स्यात् । कुम्भं करोतीति-कुम्भकारः । आतोऽनुपसर्गे कः । ३।२।३। कर्मण्युपपदे आदन्ताद्धातोरनुपसर्गात्कः स्यात् । नाऽण् । अणोऽपवादः । गोदः । कम्बलदः । अनुपसर्गे किम् ? । गोसंदायः । (मूलविभुजादिभ्यः कः) मूलानि विभुजतीति मूलविभुजो रथः । आकृतिगणोऽयम् । महीध्रः । कुध्रः ॥ सुपि स्थः । ३।२।४। सुवन्ते उपपदे स्थाधातोः कः स्यात् । समस्थः । विषमस्थः ‘सुपी’ति योगविभागादन्यस्मादपि । द्वाभ्यां पिवतीति-द्विपः । अम्बा-ऽऽम्ब-गो-भूमि सव्या-ऽप-

गुणेऽयादेशोऽवादेशो रपरत्वे यथायथं च सौ रत्वे विसर्गे ‘प्रवकः-सरकः-लवकः’ इति रूपाणि । आशिषि चेति । वुन् स्यादित्यर्थः । जीवतादिति आशिषः स्फोरणाय । जीवधातोर्बुन्यकि सौ रत्वे विसर्गे रूपम् । अग्रे उपयुक्तामुपपदसंज्ञां विधित्सन्नाह—तत्रोपपदमिति । कुम्भकारः । अत्र कुम्भ इति कर्मणि उपपदे कृधातोः ‘कर्मण्यण्’ इति अणि, गगते, ‘अचो ङिति’ इति वृद्धौ, ‘उरण् रपरः’ इति रपरत्वे, कार इति जाते, ‘कुम्भ अस् कार’ इत्यत्र ‘गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्रागुत्पत्तेः’ इति सुबुत्पत्तेः प्रागेव ‘उपपदमतिङ्’ इति समासे समासत्वात् ‘कृत्तद्धितसमासाश्च’ इति ‘कुम्भ अस् कार’ इत्यस्य प्रातिपदिकत्वात् ‘सुपो धातुप्रातिपदिकयोः’ इति असो लोपे, एकदेशविकृतन्यायेन समुदायात्सौ, रत्वे विसर्गे च ‘कुम्भकारः’ इत्यस्य सिद्धिः । सुपि स्थ इति । सुप्युपपदे स्थाधातोः क इत्यर्थः । समस्थ इति । समं तिष्ठतीत्यर्थः । समं स्थाधातोः ‘सुपि स्थः’ इति कप्रत्यये सुब्लुकि ‘आतो लोप इटि च’ इति आलोपे सौ रत्वे विसर्गे ‘समस्थः’ इति रूपम् । एवं विषमस्थः । अत्रापि क इति भावः । सुपि इति योगो विभज्यते तेन द्वाभ्यां शुण्डदण्डाभ्यां पिवति इत्यर्थे द्वाभ्यां पाधातोः ‘सुपि’ इति योगविभागात्कप्रत्यये ‘आतो धातोः’ इत्यालोपे सुब्लुकि सौ रत्वे विसर्गे ‘द्विपः’ इति रूपम् । अम्बाम्बेति । एभ्यस्थ-

आशिषि च—आशांविषयार्थ-वृत्ति धातुसे ‘वुन्’ प्रत्यय हो (कर्तामें) ।

तत्रोपपदं—सप्तम्यन्त ‘कर्मणि’ इत्यादि पदोंमें वाच्यत्वेन स्थित जो कुम्भादि, तद्वाचक जो पद, उसकी उपपदसंज्ञा हो । कर्मण्यण् कर्म उपपद रहनेपर धातुसे अण् प्रत्यय हो ।

आतोऽनुप—कर्म उपपद रहनेपर अनुपसर्गक आदन्त धातुसे ‘क’ प्रत्यय हो ।

मूलविभुजा—मूलविभुजादिसे ‘क’ प्रत्यय हो । सुपि—सुवन्त उपपदक ‘स्था’ धातुसे ‘क’ प्रत्यय हो ।

अम्बाम्ब—अम्बादि शब्दोंसे पर(नप्रत्ययान्त) ‘स्थ’ संबन्धी सकारको षकार हो ।

द्वि-त्रि-कुशो-कु-शंक-ङ्गु-मञ्जि-पुञ्जि-परमे-वर्हि-र्दिव्य-ग्निभ्यः स्थः । ८।३।९। एभ्यः स्थस्य सस्य षः । द्विष्टः । त्रिष्टः । तुन्दशोकयोः परिमृ-
जापनुदोः । ३।२।५। तुन्दशोकयोः कर्मणोरुपपदयोरभ्यां कः स्यात् । (आलस्य-
सुखाऽऽहरणयोरिति वक्तव्यम्) । तुन्दपरि मृजोऽलसः । शोकापनुदः—सुख-
स्याऽऽहर्ता । प्रे दाज्ञः । ३।२।६। प्रे उपपदे आभ्यां कः स्यात् । सर्वप्रदः ।
पथिप्रज्ञः । समि ख्यः । ३।२।७। समि उपपदे ख्यः कः स्यात् । गोसंख्यः ।
गापोष्टक् । ३।२।८। कर्मण्युपपदे गापोष्टक् स्यात् । सामगः । (पिवतेः सुराशी-
ध्वोरिति वाच्यम्) सुरापी । शीधुपी । अन्यत्र-क्षीरपा ब्राह्मणी । हरतेरनु-
द्यमनेऽच् । ३।२।९। कर्मण्युपपदे हरतेरच् स्यादनुद्यमनेऽर्थे । अंशहरः । अनुद्य-

स्य षत्वमित्यर्थः । द्वयोः त्रिषु च तिष्ठतीति विग्रहे 'सुपिस्थः' इति कप्रत्यये आलोपे
'अम्बाम्ब' इति षत्वे ण्डत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'द्विष्टः' 'त्रिष्टः' इति रूपे भवतः ।
तुन्दशोकयोरिति । कः स्यादित्यर्थः । आलस्येति । एतयोर्गम्यमानयोः सत्येवेति भावः ।
तुन्दपरिमृजोऽलसः । अत्रालस्यस्य गम्यमानत्वात् कप्रत्यये सौ रुत्वे विसर्गे रूपम् ।
एवं शोकापनुदः अत्रापि क एवेति भावः । प्रेदाज्ञ इति । प्रोपसृष्टयोरनयोः क इत्यर्थः ।
सर्वप्रदः-पथिप्रदः । अत्र दाधातोः के आलोपे सुब्लुकि सौ रुत्वे विसर्गे रूपम् ।
समिख्य इति । सम्पूर्वाख्याधातोः कः स्यादित्यर्थः । गोसंख्यः । ख्याधातोः कप्रत्यये
आलोपे सौ रुत्वे विसर्गे रूपम् । गापोरिति । टक्स्यादित्यर्थः । सामगः । साम गायती-
त्यर्थे गाधातोः यकि आलोपे सुब्लुकि सौ रुत्वे विसर्गे 'सामगः' इति रूपम् ।
पिवतेरिति । एतयोरर्थयोर्गम्यमानयोरेव पाधातोऽगित्यर्थः । सुरापी-शीधुपी । सुरा-
शीधु पिवतीत्यर्थे 'गापोष्टक्' इति टकि आलोपे टित्वाद्दीपि सौ ह्रस्वद्विदलोपे
सुरापी-शीधुपी इति रूपे भवतः । हरतेरिति ॥ अच् स्यात् । अंशहरः । अंशं हरतीति
विग्रहे हंधातोः अचि गुणे रपरत्वे सुब्लुकि सौ रुत्वे विसर्गे 'अंशहरः' इति रूपम् ।
शक्तीति ॥ एवमर्थेषु ग्रहेरजित्यर्थः । शक्तिं गृह्णातीत्यर्थेऽचि सौ रुत्वे विसर्गे रूपम् ।

तुन्दशोकयोः—कर्मसंज्ञक 'तुन्द' और 'शोक' उपपदक 'परि' उपसर्गक 'मृज्' धातु
और 'अप' उपसर्गक 'नुद्' धातुसे 'क' प्रत्यय हो । आलस्यसुखाहरणयोः—'तुन्दशोकयोः'
सूत्रसे विहित 'क' प्रत्यय आलस्य और सुखाहरण (सुख पहुँचाना) अर्थमें हो—ऐसा कहना
चाहिये । प्रे दाज्ञः—'प्र' उपपदक 'दा' और 'ज्ञा' धातुसे 'क' प्रत्यय हो ।

समिख्यः—'सम्' उपपदक 'ख्या' धातुसे 'क' प्रत्यय हो ।

गापोष्टक—कर्म उपपदक 'गा' धातुसे 'टक्' प्रत्यय हो ।

पिवतेः—'सुरा' और 'शीधु' कर्म उपपदक 'पा' धातुसे 'टक्' प्रत्यय हो ।

हरतेरनु—कर्मोपपदक 'हन्' धातुसे 'अच्' प्रत्यय हो, अनुद्यम अर्थमें ।

मने किम् ? भारहारः । (शक्तिलाङ्गलाङ्कुशतोमरयष्टिघटघटीधनुष्यु ग्रहेरु-
पसङ्ख्यानम्) शक्तिग्रहः ॥ वयसि च । ३।२।१०। वयसि गम्ये कर्मण्युपपदे-
हरतेरच् स्यात् । उद्यमनार्थं सूत्रम् । कवचहरः कुमारः । आङि ताच्छील्ये
। ३।२।११। आङ् पूर्वाद्धरतेः कर्मण्युपपदेऽच् स्यात्ताच्छील्ये । पुष्पाण्याहरति तच्छी-
लः पुष्पाहरः । अर्हः । ३।२।१२। अर्हतेरच्स्यात्, कर्मण्युपपदे । पूजार्हा ब्राह्मणी ।
स्तम्बकर्णयो रमिजपोः । ३।२।१३। स्तम्बकर्णयोरुपपदयो रमिजपोरच् स्यात् ।
(हस्तिसूचकयोरिति वक्तव्यम्) स्तम्बेरमो हस्ती । कर्णेजपः सूचकः ॥
अधिकरणे शेतेः । ३।२।१५। अधिकरणे उपपदे शेतेरच् स्यात् । खे शेते-खशयः ।
(पार्श्वादिपूपसंख्यानम्) पार्श्वाभ्यां शेते-पार्श्वशयः । पृष्ठशयः । उदरशयः ।
चरेष्टः । ३।२।१६। अधिकरणे उपपदे चरेष्टः स्यात् । कुरुचरः । भिक्षासेना-
ऽऽदायेषु च । ३।२।१७। एपूपपदेषु चरेष्टः स्यात् । भिक्षाचरः । सेनाचरः ।

वयसि चेति । अच् स्यात् । कवचहरः कुमारः अत्र कवचं हरतीति विग्रहेऽचि सुब्लुकि
गुणे रपरत्वे विसर्गे 'कवचहरः' इति रूपम् । आङीति । पुष्पाहरः । पुष्पमाहरतीति
आङ्पूर्वाद्धरतेरचि गुणे रपरत्वे सौ सुब्लुकि रत्वे विसर्गे 'पुष्पपाहरः' इति रूपम् ।
अर्ह इति । अच् स्यादित्यर्थः । पूजार्हा । पूजामर्हतीत्यर्थे सुब्लुकि अचि टापि सौ हल्-
ङ्यादिलोपे 'पूजार्हा' इति रूपम् । स्तम्बकर्णयोः । अच्स्यादित्यर्थः । हस्तीति । अनयो-
रर्थयोरेवाच् । स्तम्बेरमः, कर्णेजपः इति । स्तम्बे रमते-कर्णे जपति इति विग्रहे रमिज-
पिधात्वोः 'स्तम्ब' इत्यचि 'तत्पुरुषे' इत्यलुकि सौ रत्वे विसर्गे रूपे भवतः । अधिकरण
इति । शीङोऽच् स्यात् । खे शेते इत्यर्थे शीङोऽचि सुब्लुकि गुणेऽयादेशे सौ रत्वे विसर्गे
'खशयः' इति रूपम् । पार्श्वादिषु । एष्वप्युपपदेषु शीङोऽजित्यर्थः । पार्श्वाभ्यां शेते इत्य-
र्थे शीङोऽचि सुब्लुकि गुणेऽयादेशे सौ रत्वे विसर्गे 'पार्श्वशयः, एवं पृष्ठशयः उदरशयः

शक्तिलाङ्ग-शक्त्यादि कर्मोपपदक 'ग्रह्' धातुसे 'अच्' प्रत्यय हो । वयसि च-अव-
स्था गम्यमान हो तो कर्मोपपदक 'ह्' धातुसे 'अच्' प्रत्यय हो, उद्यमन अर्थमें ।

आङि ताच्छील्ये- 'आङ्' उपसर्गक कर्मोपपदक 'ह्' धातुसे 'अच्' प्रत्यय हो, ताच्छी-
ल्य अर्थमें । अर्हः-कर्मोपपदक 'अर्ह्' धातुसे 'अच्' प्रत्यय हो ।

स्तम्बकर्णयोः-स्तम्ब और कर्ण उपपदक 'रम्' और 'जप्' धातुसे 'अच्' प्रत्यय हो,
हस्ती और सूचक अर्थमें ।

अधिकरणे शेतेः-अधिकरण उपपदक 'शीङ्' धातुसे 'अच्' प्रत्यय हो ।

पार्श्वादिषु-पार्श्वादि उपपदक 'शीङ्' धातुसे 'अच्' प्रत्यय हो ।

चरेष्टः-अधिकरण उपपदक 'चर्' धातुसे 'ट्' प्रत्यय हो । भिक्षासेना-भिक्षा, सेना

‘आदाये’ति ल्यबन्तम् । आदायचरः । कृजो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु । ३।२।
 २०। एषु द्योत्येषु कृजष्टः स्यात् । अतः कृ-कमि-कंस-कुम्भ-पात्र-कुशा-कर्णी-
 च्वनव्ययस्य । ८।३।४६। अत उत्तरस्याऽनव्ययविसर्गस्य समासे नित्यं सादेशः
 स्यात्करोत्यादिषु । अयस्कारः । अयस्कामः । अयस्कंसः । अयस्कृम्भः । अयस्पा-
 त्रम् । अयः सहिता कुशा-अयस्कृशा । अयस्कणी । अतः किम् ? । गीःकारः ।
 अनव्ययस्य किं ? । स्वःकारः । अनुत्तरपदस्थस्य किं ? । परमयशःकारः ।
 (यशस्करी विद्या) । श्राद्धकरः । वचनकरः । दिवा-विभा-निशा-प्रभा-भा-स्कारा-
 ऽन्ता-ऽनन्ता-ऽऽदि-बहु-नान्दी-किं-लिपि-लिवि-वलि-भक्ति-कर्तृ-चित्र-क्षे-
 त्र-संख्या-जङ्घा-बाह्व-ह-र्यत्त-द्धनु-ररुष्णु । ३।२।२१। एषु कृजष्टोऽहेत्वादावपि ।
 दिवाकरः । विभाकरः । निशाकरः । कस्कादित्वात्सः । भास्करः । बहुकरः ।

इत्यादि । यशस्करी विद्या । यशःकरोतीति विग्रहे यश इति कर्मण्युपपदे, हेतुद्योत्ये कृधातोः
 ‘कृजो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु’ इत्यनेन टे प्रत्यये, टस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते,
 उगताकारस्य आर्धधातुकत्वात् ‘सार्वधातुकार्धधातुकयोः’ इति गुणे अकारे ‘उरण्
 रपरः’ इति रपरत्वे च जाते ‘कर’ इति सम्पन्ने, ‘यशस् अस् कर’ इत्यलौकिकविग्रहे
 ‘उपपदमतिङ्’ इति समासे, कृतद्धितसमासाश्च इति प्रातिपदिकत्वे ‘सुपो धातु-
 प्रातिपदिकयोः’ इति असो लुकि, एकदेशविकृतन्यायेन प्रातिपदिकत्वस्य सत्त्वात्स-
 मुदायात्सो, तस्मिन् परे स्त्रीत्वविवक्षायां ‘टिड्ढाणञ्द्वयसञ्’ इत्यादिना टित्वाद्-
 ङीपि, अनुबन्धलोपे, ‘यचि भम्’ इति भसंज्ञायां ‘यस्येति चे’ति करगतरेफोत्तरव-
 र्तिनः अकारस्य लोपे, संयोगे कृते, ‘हल्ङ्ढाढभ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्’ इति स्
 लोपे, यशसः सकारस्य ‘ससञ्जुपोरुः’ इति रूत्वे ‘खरवसानयोर्विसर्जनीयः’ इति
 विसर्गे, तस्य विसर्गस्य ‘कुप्वोः’ इति जिह्वामूलीये प्राप्ते, तन्वाधित्वा ‘अतः कृक-
 मिंकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णीच्वनव्ययस्य’ इत्यनेन विसर्गस्थ नित्यं सत्त्वे ‘यशस्करी’ इति ।
 दिवाविभेति । ‘कृजो हेतु’ इत्यतः कृज इत्यनुवर्तते । ‘दिवाकृ-ट’ इति स्थिते गुणे
 रपरत्वे सौ रूत्वे विसर्गे दिवाकरः । एवं विभाकरः, निशाकरः अत्रापि टजेव । भास्करः-
 बहुकरः-एवकरः-द्विकरः-अहस्करः-धनुष्करः-अरुष्करः’ इत्यादिष्वपि टे रूपाण्य-

और आदाय कर्मोपपदक धातुसे ‘ट’ प्रत्यय हो । कृजो हेतु—कर्मोपपदक ‘कृ’ धातुसे ‘ट’
 प्रत्यय हो, हेत्वादि अर्थ गम्यमान रहने पर । अतः कृ-कमि—‘अत’से पर अनव्यय सम्ब-
 न्धी विसर्गके स्थानमें सत्त्व हो, कृ, कमि, कंसादि उत्तर पदके परे, समासमें ।

दिवा—दिवा, विभा आदि कर्मोपपदक ‘कृ’ धातुसे अहेत्वादि अर्थमें भी ‘ट’ प्रत्यय हो ।

एककरः । द्विकरः । अहस्करः । धनुष्करः । अरुष्करः । न शब्दश्लोककलह-
गाथावैरचाटुसूत्रमन्त्रपदेषु । ३।२।२३। एषु कृञ्शो न स्यात् । शब्दकारः ।
स्तम्बशकृत्तोरिन् । ३।२।२४। स्तम्बशकृतोः कर्मणोरुपपदयोः कृञ् इन् स्यात् ।
(ब्रीहिवत्सयोरिति वक्तव्यम्) । स्तम्बकरिर्व्रीहिः । शकृत्करिर्वत्सः । हरतेर्दृ-
तिनाथयोः पशौ । ३।२।२५। दृतिनाथयोः कर्मणोरुपपदयोर्हरतेरितिः स्यात्पशौ
कर्त्तरि । दृतिहरिः । नाथ—नासारज्जुं, हरतीति नथाहरिः पशुः । पशौ किं ?
दृतिहारः । नाथहरः । फलेग्रहिंरात्मम्भरिश्च । ३।२।२६। एतौ निपात्येते ।
चात्कुक्षिम्भरिः । चान्द्रास्तु—‘आत्मोदरकुक्षिष्वि’ति पेटुः । ‘ज्योत्स्नाकरम्भमुद-
रम्भरयश्चकोराः’ इति मुरारिः । एजेः खश् । ३।२।२८। ण्यन्तात् एजेः खश्
स्यात् । अरुद्विषदजन्तस्य मुम् । ६।३।६७। अरुषो, द्विपतोऽजन्तस्य च मुम्
स्यात्खिदन्ते, उत्तरपदे, नत्वव्ययस्य । शित्वाच्छवादि । जनमेजयतीति जनमेजयः ।

वसेयानि । न शब्देति । अत्रापि ‘कृञो’ इत्यतए इति कृञ् इत्यनुवर्तते । अत्र न टः-
शब्दकारः । अत्र ‘ऋहलोर्ण्यत्’ इति ण्यति वृद्धौ रपरत्वे सौ रत्वे विसर्गे शब्दकारः
इति रूपम् । स्तम्बशकृत्तोरिति । अनयोरुपपदयोः कृञ् इन् स्यात् । ब्रीहीति । एतयोर-
र्थयोर्योग्यमानयोरिति भावः । स्तम्बं करोति, शकृत् करोतीत्यर्थे इनि गुणे रपरत्वे
सुब्लुकि सौ रत्वे विसर्गे ‘स्तम्बकरिः’ ‘शकृत्करिः’ इति रूपे भवतः । हरतेरिति ।
दृतिं हरति-नाथं हरति इति विग्रहे हृधातोः ‘हरतेः’ इति इनि गुणे सुब्लुकि सौ
रत्वे विसर्गे प्रोक्ते रूपे भवतः । फलेग्रहिरिति । निपातनमेतद् । वातशुनीति ।
खश् स्यादित्यर्थः । वातमजतीति विग्रहे खशि सुब्लुकि ‘अरुः’ इति मुमि जसि
दीर्घे रत्वे विसर्गे ‘वातमजा मृगा’ इति सिद्धम् । खितीति । खिति अव्ययभिन्नस्य
ह्रस्वत्वमित्यर्थः । शुनीं धयतीति विग्रहे ‘वातशुनी’ इति खशि सुब्लुकि ‘खित्य-
नव्ययस्य’ इति ह्रस्वे ‘अरुः’ इति मुमि अनुस्वारे परसवर्णेऽयादेशे सौ रत्वे विसर्गे

न शब्दश्लोक—शब्दादि कर्मोपपदक ‘कृ’ धातुसे ‘ट’ प्रत्यय नहीं हो ।

स्तम्बशकृतोः—स्तम्ब और शकृत् कर्मोपपदक ‘कृञ्’ धातुसे ‘इन्’ प्रत्यय हो ।

ब्रीहि—‘स्तम्बशकृत्तोरिन्’ इस सूत्रसे विहित ‘इन्’ प्रत्यय ब्रीहि और वत्स अर्थ
गम्यमान रहने पर ही हो—ऐसा कहना चाहिये ।

हरतेर्दृति—‘दृति’ और ‘नाथ’ कर्मोपपदक ‘ह’ धातुसे ‘इन्’ प्रत्यय हो, ‘पशु’
यदि कर्त्ता रहे ।

फले ग्रहि—‘फलेग्रहि’ ‘आत्मम्भरि’ और चात् ‘कुक्षिम्भरि’ शब्द भी निपातित हो ।

एजेः खश्—कर्मोपपदक ण्यन्त ‘एज्’ धातुसे ‘खश्’ प्रत्यय हो । अरुद्विष—अरुष्, द्विषत्

(वातशुनीतिलशर्द्धेजघेट्तुदजहातिभ्यः खश्) । वातमजा मृगाः ।
 खित्यनव्ययस्य । ६।३।६६। खिदन्ते उत्तरपदे पूर्वपदस्य ह्रस्वः । ततो मुम् । शुनि-
 न्धयः । तिलन्तुदः । शर्द्धजहा माषाः । नासिकास्तनयोर्ध्माघेटोः । ३।२।२९।
 नासिकास्तनयोरुपपदयोर्ध्माघेटोः खश् स्यात् । (स्तने घेटो, नासिकायां
 धमश्चेति वक्तव्यम्) स्तनन्धयः टित्त्वात्-स्तनन्धयी । नाडीमुष्ट्योश्च । ३।२।
 ३०। ध्माघेटोः खश् स्यात् । (यथासंख्यं नेष्यते) नाडीन्धमः । नाडीन्धयः ।
 मुष्टिन्धमः । मुष्टिन्धयः । उदि कूले रुजिवहोः । ३।२।३१। कूलमुद्रुजः । कूल-
 मुद्रहः । वह्नाभ्रे लिहः । ३।२।३२। वह्=स्कन्धः, तं लेढीति-वहंलिहो गौः ।
 अब्रंलिहो वायुः । परिमाणे पचः । ३।२।३३। प्रस्थम्पचा स्थाली । खारिम्पचः

‘शुनिन्धयः’ । एवं ‘तिलन्तुदः’ अत्रापि खश् । नासिकेति । खश् स्यादित्यर्थः । स्तन-
 धयः । स्तनं घेट्धातोः ‘नासिका’ इति खशि सुब्लुकि अयादेशे ‘अरुः’ इति मुमि
 अनुस्वारे परसवर्णे सौ रुत्वे निसर्गे ‘स्तनन्धयः’ इति रूपम् । स्त्रीत्वे टित्त्वान्डीपि
 ‘स्तनन्धयी’ इति रूपम् । नाडीति । ध्माघेटोः खश् । नाडीं धमति-धयति वा, मुष्टिं
 धमति धयति वा इति विग्रहे ‘ध्माघेटोः नाडीमुष्ट्योश्च’ इति खशि सुब्लुकि ‘खित्य-
 नव्यस्य’ इति ह्रस्वे ‘अरुः’ इति मुमि ‘पात्रा’ इति धमादेशे सौ रुत्वे विसर्गे रूपाणि ।
 उदीति । कूलमुद्रुजति-कूलमुद्रहति इति विग्रहे रुजिवहोः ‘उदिकूले’ इति खशि
 सुब्लुकि ‘अरुः’ इति मुमि रुत्वे विसर्गे ‘कूलमुद्रुजः’ ‘कूलमुद्रहः’ इति रूपे भवतः ।
 वह्नाभ्रे इति । एतयोरुपपदयोर्वहः खशित्यर्थः । वहं लेढीति-अभ्रं लेढीति च विग्रहे
 ‘वह्नाभ्रे लिहः’ इति खशि सुब्लुकि मुमि अनुस्वारे सौ रुत्वे विसर्गे रूपे भवतः ।
 परिमाणे इति । खश् स्यादित्यर्थः । प्रस्थं पचतीति विग्रहे पचः खशि सुब्लुकि ‘अरुः’
 इति मुमि अनुस्वारे टापि सौ हल्ङ्घ्यादिलोपे रूपम् । खारिं पचतीति विग्रहे ‘परि-
 माणे पचः’ इति खशि सुब्लुकि ‘खित्यनव्ययस्य’ इति ह्रस्वे ‘अरुः’ इति मुमि अनु-

और अजन्तको मुमागम हो खिदन्त पदके परे-अव्ययको छोड़कर । वातशुनीति-वातादि
 कर्मोपपदक अजादि धातुओंसे ‘खश्’ प्रत्यय हो । खित्यनव्ययस्य—खिदन्त उत्तरपदके परे
 पूर्वपदको ह्रस्व हो । नासिकास्तनयोः—‘स्तन’ कर्मोपपदक ‘घेट्’ धातु और ‘नासिका’
 कर्मोपपदक ‘ध्या’ धातुसे ‘खश्’ प्रत्यय हो । नाडीमुष्ट्योश्च—‘नाडी’ और ‘मुष्टि’ कर्मोपप-
 दक ‘ध्मा’ धातु और ‘घेट्’ धातुसे ‘खश्’ प्रत्यय हो । यथासंख्यं नेष्यते—‘नाडीमुष्ट्योश्च’
 इस सूत्रमें ‘यथासंख्यं’ परिभाषाकी प्रवृत्ति इष्ट नहीं है । उदि कूले—‘कूल’ कर्मोपपदक
 ‘उत्’ उपसर्गक ‘रुज्’ और ‘वह्’ धातुसे ‘खश्’ प्रत्यय हो । वह्नाभ्रे लिहः—‘वह्’ और
 ‘अभ्र’ कर्मोपपदक ‘लिट्’ धातुसे ‘खश्’ प्रत्यय हो । परिमाणे पचः—परिमाणवाचि कर्मोपप-

कटाहः । मितनखे च । ३।२।३४। एतयोः कर्मणोरुपपदयोः पचेः खश्
स्यात् । मितम्पचा ब्राह्मणी । नखम्पचा यवागूः । विध्वरुषोस्तुदः
। ३।२।३५। विधुस्तुदः । अरुस्तुदः । असूर्यललाटयोर्दशितपोः । ३।२।३६।
'असूर्य'मित्यसमर्थसमासः, दृशिना नञः सम्बन्धात् । असूर्यपश्या राजदाराः ।
ललाटन्तपः सूर्यः । प्रियवशे वदः खच् । ३।२।३८। प्रियंवदः । वशंवदः ।
(गमेः सुपि वाच्यः) मितङ्गमो हस्ती । (विहायसो विह च, खच्च डिङ्वा

स्वारे सौ रुत्वे विसर्गे 'खारिपचः' इति रूपम् । कटाह इति परिमाणार्थद्योतनायेति
बोध्यम् । मितनखे चेति । पचः खश् । मितं पचति-नखं पचतीति विग्रहे 'मितनखे च'
इति खशि 'अरुः' इति मुमि अनुस्वारे टापि सौ.हल्ङ्यादिलोपे 'मितंपचा' 'नखंप-
चा' इति रूपे । परिमाणभिन्नार्थत्वात् पृथगुक्तिः । विध्वरुषोरिति । अनयोरुपपदयोस्तुदः
खशित्यर्थः । विधं तुदति, अरं तुदतीति विग्रहे 'विध्वरुषोः' इति खशि सुब्लुकि 'अरुः'
इति मुमि अनुस्वारे सौ रुत्वे विसर्गे रूपसिद्धिः । असूँति । 'असूर्य' इति-अंसाम-
र्थ्येऽपि समासः, निपातनात् । असूर्य सूर्यं न पश्यन्ति इत्यर्थे-दृशधातोः 'असूर्य'
इति खशि निपातनाब्रजसमासे नलोपे सुब्लुकि 'अरु' इति मुमि अनुस्वारे 'पाद्मा' इति
पश्यादेशे टापि जसि 'प्रथमयोः' इति पूर्वसवर्णे रुत्वे विसर्गे 'असूर्यपश्याः' इति
रूपम् । एवं ललाटंतपः इत्यत्रापि तपधातोः खशि मुमि सौ रुत्वे विसर्गे रूपमवसेयम् ।
प्रियंवदः । प्रियंवदतीति प्रियमिति कर्मण्युपपदे वद्धातोः खचि, खचयोर्लोपे, उपपदसमासे
सुपो लुकि, अरुद्विपजन्तस्य मुम् इति खिदन्ते वद इत्युत्तरपदे पूर्वपदस्य प्रिय इत्यस्य
मुमि, उमि गते, अनुस्वारे परसवर्णे च कृते समुदायस्य विभक्तिकार्ये च तत्सिद्धिः ।
गमेः सुपीति । सुबन्तोपपदे गम्धातोः खच् वाच्य इत्यर्थः । मितंगमो हस्तीति । मितं
गच्छतीति विग्रहे 'गमेः सुपि वाच्यः' इति खचि सुब्लुकि 'अरुः' इति मुमि
अनुस्वारे परसवर्णे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे सौ रुत्वे विसर्गे रूपम् । विहायस इति ।
अत्रापि गमेरित्यनुकृष्यते । तेन विहायस्पूर्वाङ्गमेः खच् तस्य वा डित्वमित्यर्थः ।

दके 'पच्' धातुसे 'खश्' प्रत्यय हो ।

मितनखे च—'मित' और 'नख' कर्मोपपदक 'पच्' धातुसे 'खश्' प्रत्यय हो ।

विध्वरुषोस्तुदः—'विधु' और 'अरु' कर्मोपपदक 'तुद' धातुसे 'खश्' प्रत्यय हो ।

असूर्यललाटयोः—'असूर्य' और 'ललाट' कर्मोपपदक 'दृश्' धातु और 'तप्' धातुसे
'खश्' प्रत्यय हो ।

प्रियवशेः—'प्रिय' और 'वश' कर्मोपपदक 'वद' धातुसे 'खच्' प्रत्यय हो ।

गमेः—सुबन्त कर्मोपपदक 'गम्' धातुसे 'खच्' प्रत्यय हो —ऐसा कहना चाहिये ।

विहायसो—'विहायस' उपपदक 'गम्' धातुसे 'खच्' हो और विहायस् शब्दको 'विह' आदेश

वाच्यः) विहङ्गमः । विहङ्गः । भुजङ्गमः । भुजङ्गः ॥ द्विषत्परयोस्तापेः । ३।२।३९। खचि ह्रस्वः । ६।४।९४। खचि परे णौ उपधायाः ह्रस्वः स्यात् । द्विषन्तं परं वा तापयति-द्विषन्तपः । परन्तपः । वाचि यमो व्रते । ३।२।४०। खच् । वाचंयम पुरन्दरौ च । ६।३।६९। वाक्पुरोरमन्तत्वं निपात्यते । वाचंयमो मौनव्रती । व्रते किम् ? । अशक्त्यादिना वाचं यच्छतीति वाग्यामः । पूःसर्वयोर्दारिसहोः । ३।२।४१। खच् स्यात् । पुरं दारयतीति पुरन्दरः । सर्वसहः । भगं दारयतीति

विहादेशश्च नित्यः । विहायसा गच्छतीत्यर्थे 'विहायसः' इति खचि विहादेशे सुब्लुकि 'अरुः' इति मुम्यनुस्वारे परसवर्णे खचो ङिप्पच्चे ङिप्स्वसामर्थ्यादमोलोपे सौ रुत्वे विसर्गे 'विहङ्गः' इत्येकं रूपम् । यदा ङिप्स्वं न स्यात्तदा 'विहङ्गमः' इति द्वितीयं रूपम् । 'तद्वत्' भुजाभ्यां भुजैर्वा गच्छतीति विग्रहे खचि खचो वा ङिप्स्वपच्चे टेलोपे सौ रुत्वे विसर्गे 'भुजङ्गः' तदभावे 'भुजङ्गमः' इति द्वितीयं रूपम् । द्विषदिति एतयोः परयोस्तापेः खच् स्यादित्यर्थः । 'खचि ह्रस्वेति । खचि परे णातुपधायाः ह्रस्वत्वमित्यर्थः । द्विषन्तं परं वा तापयतीति विग्रहे खचि सुब्लुकि 'द्विषन्-तापि-अ, 'परं-तापि-अ' इति जाते 'खचि ह्रस्वः' इति ह्रस्वत्वे 'णेरनिटि' इति णेलोपे 'अरुः' इति मुमि अनुस्वारे परसवर्णे सौ रुत्वे विसर्गे अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य 'न लोपः' इति नलोपे 'द्विषन्तपः' परन्तपः' इति रूपे भवतः । वाचाति । व्रतार्थे गम्ये वाक्शब्दोपपदे यमप्रातोः खच् स्यादित्यर्थः । वाचंयमेति । निपातनसामर्थ्यात् खचि परतोऽमन्तत्वमवसेयम् । वाचंयम इति । वाचं यच्छतीति विग्रहे 'वाचि यमो व्रते' इति खचि 'वाचंयमपुरन्दरौ च' इति निपातनादमन्तत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'वाचंयमः' इति उदाहरणम् । व्रताभावे तु वाग्याम इति । वाचं यच्छतीति विग्रहे णौ खचि सुब्लुकि जश्त्वे उपधादीर्घे सौ रुत्वे विसर्गे 'वाग्यामः' इति रूपम् । पूःसर्वयोर्दारिसहोः । एतयोरुपपदयोः दारिसहोः खच्स्यादित्यर्थः । पुरन्दरः-सर्वसहः । पुरं दारयति, सर्वं सहति इति विग्रहे 'पूःसर्वयोः' इति खचि 'खचि ह्रस्वः' इति दारेह्रस्वत्वे सुब्लुकि 'अरुः' इति मुमि अनुस्वारे सौ रुत्वे विसर्गे 'पुरन्दरः' 'सर्वसहः' इति रूपे भवतः । 'कथं भगंदरेति'

होतथा वह 'खच्' ङित् हो, विकल्पसे-ऐसा कहना चाहिये । द्विषत्परयोस्तापे-द्विषत् और 'पूर' कर्मोपपदक ण्यन्त 'तप्' धातुसे 'खच्' प्रत्यय हो । खचि ह्रस्वः- 'खच्' परक 'णि' के परे धातुकी उपधाकी ह्रस्व हो । वाचि यमो व्रते- 'वाच्' उपपदक 'यम्' धातुसे 'खच्' प्रत्यय हो, व्रत अर्थमें । वाचंयमपुरन्दरौ च-खच् प्रत्यय निष्पन्न 'वाच्+यम' 'पुर+दार' ऐसी स्थितिमें वाच् और पुर को अमन्तत्व निपातन हो । पूःसर्वयोर्दारिसहोः- 'पूर' और 'सर्व' कर्मोपपदक ण्यन्त 'ट्' धातु तथा 'सह' धातुसे 'खच्' प्रत्यय हो ।

भगन्दर इति कथम् ? । बाहुलकात् । सर्व-कूला-ऽअ-करीषेषु कषः । ३।२।४२।
 सर्वकषः खलः । कूलकृषा नदी । अग्रकृषो वायुः । करीषकृषा वात्या । मेघर्त्ति-
 भयेषु कृजः । ३।२।४३। मेघङ्करः । ऋतिङ्करः । भयङ्करः । 'भय'शब्देन तदन्त-
 विधिः । अभयङ्करः । क्षेम-प्रिय-मद्रेऽण् च । ३।२।४४। एषु कृजोऽण् स्यात् ।
 चात्खच् । क्षेमङ्करः । क्षेमकारः । प्रियङ्करः । प्रियकारः । मदङ्करः । मदकारः । कथं
 तर्हि 'अल्पाभ्याः क्षेमकराः' इति ? कर्मणः शेषत्वविवक्षायां पचाद्यच् । एवं गङ्गाधर-
 भूधरादयः । आशिते भुवः करणभावयोः । ३।२।४५। खच् स्यात् । आशितो भव-
 त्यनेन—आशितम्भव ओदनः । आशितस्य भवनम्—आशितम्भवः । संज्ञायां

बाहुलकात् खचि मुमि रूपमिति भावः । सर्वकूलेति । एषूपपदेषु सत्सु कषधातोः खच् ।
 सर्वकष इति । सर्वं कपतीति विग्रहे 'सर्वकूल' इति खचि सुब्लुकि मुम्यनुस्वारे पर-
 सवर्णे रुत्वे विसर्गे रूपम् । एवं 'कूलकृषा' अत्रापि खचि मुमि टापि सौ हल्ङ्यादिलोपे
 रूपं बोध्यम् । अग्रकषः' अत्रापि खचि मुमि रूपम् । 'करीषं कषा' अत्र खचि मुमि
 टापि सौ हल्ङ्यादिलोपे रूपसिद्धिः । मेघर्त्तिभयेष्विति । एषूपपदेषु कृजः खच् स्यादि-
 त्यर्थः । मेघङ्करः—ऋतिङ्करः—भयङ्करः इति । मेघं—ऋतिं—भयं—वा करोतीति विग्रहे खचि
 सुब्लुकि 'अरुः' इति मुमि गुणे रपरस्वे सौ रुत्वे विसर्गे रूपाणि । 'येन विधिः' इति
 भाष्ये स्पष्टोक्तवान्नयशब्देन तदन्तविधिस्तेन भयान्तादपि खजित्यर्थः । 'अभयङ्करः'
 अत्र खचि मुमि गुणे सौ रुत्वे विसर्गे 'अभयङ्करः' इति रूपम् । क्षेत्रेति । एषूपपदेषु
 कृजः खजणौ । क्षेमङ्कः । क्षेमं करोतीति विग्रहे कृजः 'क्षेमप्रिय' इति चकारात्खचि
 मुमि अनुस्वारे परसवर्णे गुणे सौ रुत्वे विसर्गे 'क्षेमङ्करः' इति रूपम् । यदाण् स्यात्तदा
 वृद्धौ मुमभावे सौ रुत्वे विसर्गे 'क्षेमकारः' । एवं मदङ्करः—मदकारः, प्रियङ्करः—प्रियकारः
 इति रूपाणि बोध्यानि । कथं 'क्षेमकराः' इति पचाद्यचि गुणे रूपं स्यादित्यर्थः । एवं
 गङ्गाधरः भूधरः अत्रापि पचाद्यजेवेति भावः । आशित इति । एतदुपपदाद्भुवः खच्
 स्यादित्यर्थः । आशितोपपदे करणभावयोरर्थे भूधातोः खजित्यर्थः । आशितो भवत्य-
 जेनेति करणार्थे भूधातोः 'आशिते भुवः करणभावयोः' इति खचि सुब्लुकि 'अरुः'
 इति मुमि अनुस्वारे परसवर्णे गुणेऽच्चादेशे सौ रुत्वे विसर्गे 'आशितम्भवः' इति
 रूपम् । भावार्थे तु आशितस्य भवनमिति विग्रहः, रूपसिद्धिः प्राग्वत् । संज्ञायामिति ।

सर्वकूला—कर्मसंज्ञक सर्व, कूल, अग्र और करीष सुबन्त उपपदक 'कष' धातु से 'खच्' प्रत्यय हो ।

मेघर्त्ति—मेघ, ऋति और भय कर्मोपपदक 'कृ' धातुसे 'खच्' प्रत्यय हो ।

क्षेम—क्षेम, प्रिय और मद कर्मोपपदक 'कृ' धातुसे 'अण्' और 'खच्' प्रत्यय भी हो ।

आशिते—सुबन्त आशितशब्द उपपदक 'भू' धातुसे 'खच्' प्रत्यय हो, करण और भावमै ।

संज्ञायां—कर्मोपपदक भृ, तृ आदि धातुओंसे 'खच्' प्रत्यय हो, संज्ञामै ।

भृतृवृजिधारिसहितपिदमः । ३।२।४६। खच् स्यात् । विरवं बिभर्तीति विश्वम्भरः ।
 रथन्तरं साम । शत्रुञ्जयो हस्ती । युगन्धरः पर्वतः । शत्रुंसहः । शत्रुन्तपः ।
 अरिन्दमः । गमश्च ३।२।४७। सुतङ्गमः । अन्तात्यन्ताध्वदूरपारसर्वानन्तेषु
 ङः । ३।२।४८। गमेर्ङः स्यात् । अन्तगः । (सर्वत्र पन्नयोरिति वाच्यम्)
 सर्वत्रगः । पन्नं = पतितं गच्छतीति पन्नगः । (उरसो लोपश्च) उरसा गच्छ-
 तीति-उरगः । (सुदुरोरधिकरणे) सुखेन गच्छत्यत्र-सुगः । दुर्गः ।

सुबन्तोपपदेषु सूत्रनिर्दिष्टधातुषु सत्सु संज्ञायां खजित्यर्थः । विश्वमिति ।
 वस्तुतस्तु संज्ञायां न विग्रहः । किन्तु विश्वमिति सुबन्तोपपदमिति स्फोरणा-
 येदमित्यवसेयम् । भृधातोः 'संज्ञायाम्' इति खचि मुणे रपरत्वे सुब्लुकिं 'अरुः' इति
 मुमि सौ रुत्वे विसर्गे 'विश्वम्भरः' इति रूपम् । एवं रथन्तरं साम । शत्रुञ्जयो हस्ती ।
 युगंधरः पर्वतः । शत्रुन्तपः । अरिन्दमः इत्यादिषु खचि मुमि रूपमिति बोध्यम् ।
 गमश्चेति । सुबन्तोपपदाद्गमधातोः खजित्यर्थः । सुतोपपदाद्वितीयान्तात् गम-
 धातोः 'गमश्च' इति खचि 'अरुः' इति मुमि अनुस्वारे परसवर्णे सौ रुत्वे विसर्गे च
 कृते 'सुतङ्गमः' इति रूपम् अन्तात्यन्तेति । डविधानसामर्थ्यात् खचो निवृत्तिः ।
 'गमश्च' इत्यतो गम इति, अत आह—गमेर्ङ इति । एषूपपदेषु गमेर्ङः स्यादित्यर्थः ।
 अन्तग इति । अन्तमन्ते वा गच्छन्तीत्यर्थे 'अन्ता' इति डप्रत्यये डित्सामर्थ्यादट्ढेलोपे
 सौ रुत्वे विसर्गे 'अन्तगः' इति रूपम् । सर्वत्रेति । एतयोरुपपदयोर्गमेर्ङ इत्यर्थः ।
 सर्वत्रगः, पन्नगः । एतयोरुपपदयोः गमधातोः 'सर्वत्रपन्नयोरिति वाच्यम्' इति
 वार्तिकेन डप्रत्यये डित्त्वादट्ढेलोपे सौ रुत्वे विसर्गे 'सर्वत्रगः' 'पन्नगः' इति रूपे
 भवतः । उरस इति । उरसपूर्वपदाद्गमधातोर्ङः स्यात्तत्पूर्वस्योरसोऽन्तलोपश्चेत्यर्थः ।
 उरसा गच्छतीति विग्रहे गमधातोः डप्रत्यये 'उरसो लोपश्च' इति सलोपे टेलोपे सौ
 रुत्वे विसर्गे रूपम् । सुदुरोरिति । अधिकरणार्थे गम्यमाने सुदुरोः पूर्वपदयोः सतोः
 गमधातोर्ङ इति भावः । सुगः दुर्गः इति । सुदुरपूर्वपदाद् गमधातोर्ङप्रत्यये टेलोपे

गमश्च—कर्मोपपदक 'गम्' धातुसे 'खच्' प्रत्यय हो, संज्ञामें ।

अन्तारयन्ता—अन्तादि सुबन्तोपपदक 'गम्' धातुसे 'ङ' प्रत्यय हो ।

सर्वत्र—'सर्वत्र' और 'पन्न' कर्मोपपदक 'गम्' धातुसे 'ङ' प्रत्यय हो, ऐसा कहना चाहिये ।

उरसो—सुबन्त 'उरस्' शब्दोपपदक 'गम्' धातुसे 'ङ' प्रत्यय हो और 'टि' का लोप भी हो ।

सुदुरोरधि—'सु' और 'दुर' उपपदक 'गम्' धातुसे 'ङ' प्रत्यय हो, अधिकरण अर्थमें ।

(अन्यत्रापि दृश्यत इति वाच्यम्) ग्रामगः । (डे च विहायसो विहादेशो वाच्यः) विहगः । आशिषि हनः । ३।२।४९। हन्तेः कर्मण्युपपदे डः स्यादाशिषि । शत्रुं वध्यात्-शत्रुहः । आशिषि किम् ? शत्रुघातः । (दारावाहनोऽणन्तस्य च टः संज्ञायाम्) दारुशब्दे उपपदे आङ्पूर्वाद्धन्तेरण् स्यादृकारश्चाऽन्तादेशो वक्तव्य इत्यर्थः । दार्वाघाटः । (चारौ वा) चार्वाघाटः । चार्वाघातः ॥ अपे क्लेशतमसोः । ३।२।५०। क्लेशतमसोः कर्मणोरुपपदयोरुपपूर्वाद्धन्तेर्ङः । अनाशौरर्थमिदम् । क्लेशापहः पुत्रः । तमोपहः सूर्यः । कुमारशीर्ष-

सौ रुत्वे विसर्गे 'सुगः' 'दुर्गः' इति रूपे भवतः । अन्यत्रापीति । अन्यस्मिन्नप्युपपदे अधिकरणार्थं गम्धातोर्ङः दृश्यते इति भावः । ग्रामगः । ग्रामे गच्छतीत्यर्थे गम्धातोर्ङप्रत्यये टेलोपे सौ रुत्वे विसर्गे 'ग्रामगः' इति रूपम् । डे चेति । विहायसः परस्य गम्धातोर्ङः स्यात् । तत्पूर्वस्य विहायसो विहादेश इत्यर्थः । विहग इति । विहायसि गच्छतीत्यर्थे गम्धातोर्ङप्रत्यये विहायसो विहादेशे टेलोपे सौ रुत्वे विसर्गे 'विहगः' इति रूपम् । आशिषि हन इति । सुबन्तोपपदे हन्धातोराशीरर्थे डः स्यादित्यर्थः । शत्रुं वध्यादित्यर्थे हन्धातोः 'आशिषि हनः' इति ङप्रत्यये टेलोपे सुब्लुकि सौ रुत्वे विसर्गे 'शत्रुहः' इति रूपम् । आशीरर्थाभावे 'शत्रुहन्' इति स्थिते घञि 'हनस्तोऽचिण्णलोः' इति नस्य तत्त्वे 'अत उपधायाः' इत्युपधादीर्घे 'होहन्तेः' इति कुत्वेन घत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'शत्रुघातः' इति रूपम् । दारेति । स्पष्टोऽर्थः । दार्वाघाट इति । दारु पूर्वपदाद्धन्धातोः दारावाहनः इति अण्प्रत्यये 'दारु-आ-हन्-अ' इति स्थिते टकारान्तादेशे 'हो हन्तेः' इति कुत्वेन हस्य घत्वे यणि 'अत उपधायाः' इति उपधादीर्घे सौ रुत्वे विसर्गे 'दार्वाघाटः' इति रूपम् । चारौ वेति । चारूपपदे आहन्धातोरण्टकारश्चान्तादेश इत्यर्थः । चारु-आ-हन्-अ इति स्थिते टकारान्तादेशे 'हो हन्तेः' इति घत्वे यणि उपधादीर्घे सौ रुत्वे विसर्गे 'चार्वाघाटः' इति । यदा टकारान्तादेशो न स्यात्तदा 'हनस्तो' इति तत्त्वे घत्वे उपधादीर्घे सौ रुत्वे विसर्गे 'चार्वाघातः' इति ॥ क्लेशापहः—तमोपह इति । क्लेशान् तमांसि चापहन्ति इत्यर्थं 'अपेक्लेशतमसोः' इति

अन्यत्रापि—अन्यान्य सुबन्तोपपद रहने पर भी 'गम्' धातुसे 'ङ' प्रत्यय हो—ऐसा कहना चाहिये । डे च विहायसो—'ङ' प्रत्ययके परे विहायस्को विह आदेश हो—ऐसा कहना चाहिये । आशिषि—सुबन्तोपपदक 'हन्' धातुसे 'ङ' प्रत्यय हो, आशिषि अर्थमें ।

दारावाहनो—सुबन्त 'दारु' शब्दोपपदक आङ् पूर्वक 'हन्' धातुसे 'अण्' प्रत्यय हो और टकारान्त आदेश भी हो । चारौ वा—सुबन्त 'चारु' शब्दोपपदक आङ्पूर्वक 'हन्' धातुसे 'अण्' प्रत्यय हो और टकारान्त आदेश हो, विकल्पसे । अपे क्लेश—'क्लेश' और 'तमस्' कर्मोपपदक 'हन्' धातुसे 'ङ' प्रत्यय हो । कुमारशीर्ष—'कुमार' और 'शिरस' कर्मो-

योर्णिनिः । ३।२।५१। कुमारशीर्षयोः कर्मणोरुपपदयोर्हन्तेर्णिनिः स्यात् । कुमार-
घाती । शिरसः शीर्षभावो निपात्यते । शीर्षघाती । लक्षणे जायापत्योष्टक्
। ३।२।५२। जायापत्योः कर्मणोरुपपदयोर्हन्तेष्टक् स्याल्लक्षणवति कर्त्तरि । जाया-
घ्नो ना । पतिघ्नी स्त्री । अमनुष्यकर्तृके च । ३।२।५३। अमनुष्यकर्तृकेऽर्थे वर्त-
मानादन्तेः कर्मण्युपपदे टक् स्यात् । जायाघ्नस्तिलकालकः । पतिघ्नी पाणिरेखा ।
पित्तघ्नं घृतम् । अमनुष्येति किम् । आखुघातः शूद्रः । अथ कथं 'बलभद्रः
प्रलम्बघ्नः' 'शत्रुघ्नः', कृतघ्न इत्यादि ? । मूलविभुजादित्वात्सिद्धम् । चोरघातो नग-
रघातो हस्तीति तु बाहुलकादण् । शक्तौ हस्तिकपाटयोः । ३।२।५४। शक्तौ

दप्रत्यये टेलोपे सौ रुत्वे विसर्गे 'क्लेशापहः' तमोपहः' इति रूपे भवतः । कुमारेति ।
एतयोः कर्मणोरुपपदयोर्णिनिः स्यादित्यर्थः । स च हन्तेरेवेति भावः । कुमारं हन्तीति
विग्रहे कुमारमिति द्वितीयान्तोपपदात् 'कुमारशीर्षयोर्णिनिः' इति णिनिप्रत्यये 'हनस्तो'
इति तत्वे 'होहन्तेः' इति घत्वे सुब्लुकि सौ 'सौ च' इत्युपधादीर्घे सोलोपे 'नलोपः'
इति नलोपे 'कुमारघाती' इति रूपम् । तद्वत् शिरः हन्तीति विग्रहे णिनिरित्यादि-
बोध्यम् । लक्षण इति । एतयोरुपपदयोः हन्तेष्टगित्यर्थः 'आशिषिहनः' इत्यतो हन
इत्यनुवर्तते । लक्षणं चिह्नं तस्मिन् द्योत्ये हन्तेष्टगित्यर्थः । जायाघ्नो ना । जायां
हन्तीति विग्रहे टकि टक्योलोपे सुब्लुकि 'जायाहन्-अ' इति स्थिते 'गमहन' इत्युप-
धालोपे 'हो हन्तेः' इति कुत्वेन घत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'जायाघ्नो ना' इति रूपम् ।
एवं पतिघ्नी स्त्री । टकि सुब्लुकि उपधालोपे घत्वे 'टिट्ढाणञ्' इति ङीप् सौ
'हलङ्घादि' लोपे 'पतिघ्नी' इति रूपम् । अमनुष्येति । न विद्यते मनुष्यः कर्ता यस्य
तस्मिन् । अमनुष्यकर्तृके अर्थे हन्तेष्टगित्यर्थः । पतिघ्नी=पाणिरेखा । जायाघ्नस्तिलकः ।
पित्तघ्नं घृतम् । रूपसिद्धिः प्राग्वत् । अमनुष्येति किम् । तदभावे 'लक्षणे' इत्यनेनैव
निर्वाहप्रसंगे तत्सूत्रवैयर्थ्यापत्तिः स्यात् । आखुघातः आखून् हन्तीति विग्रहे 'कर्मण्यण्'
इति अणि सुब्लुकि 'हनस्तो' इति तत्वे 'हो हन्तेः' इति घत्वे उपधादीर्घे सौ रुत्वे विसर्गे
'आखुघातः' इति रूपं सिध्यति । प्रलम्बघ्नकृतज्ञयोः सिद्धिमाह—'मूलविभुजा-
दित्यः क' इति कप्रत्यये 'गमहन' इति उपधालोपे 'हो हन्तेः' इति घत्वे सौ रुत्वे
विसर्गेऽनयोः रूपसिद्धिः फलति । चोरघातः, नगरघातः इति तु बाहुलकादणि बोध्या-
विति भावः । शक्तौ हस्तिकपाटयोः । शक्तौ द्योत्ये मनुष्यकर्तृके हन्तेष्टः

पपदक 'हन्' धातुसे 'णिनि' प्रत्यय हो और 'शिरस्' को 'शीर्ष' निपातन हो ।

लक्षणे जाया—'जाया' और 'पति' कर्मोपपदक 'हन्' धातुसे 'टक्' प्रत्यय हो, लक्षण-
वत् कर्ता गम्यमान रहे तो । अमनुष्य—कर्मसंबन्ध सुबन्तोपपदक 'हन्' धातुसे 'टक्' प्रत्यय
हो, मनुष्यकर्तृकसे भिन्न अर्थमें । शक्तौ हस्ति—'हस्ति' और 'कपाट' कर्मोपपदक 'हन्'

गम्यायां हस्तिकपाटयोः कर्मणोरुपपदयोर्हन्तेष्टक् । मनुष्यकर्तृकार्यमिदम् । हस्तिघ्नो ना । कपाटघ्नश्चोरः । 'कवाटे'ति पाठान्तरम् । पाणिघताडघौ शिल्पिनि ३।२।५५। एतौ निपात्येते, शिल्पिनि कर्तरि । पाणिघः । ताडघः । शिल्पिनि किं ? पाणिघातः । (राजघ उपसङ्ख्यानम्) राजानं हन्ति-राजघः । आढ्यसु-भगस्थूलपलितनग्नान्धप्रियेषु च्यर्थेष्वच्वौ कृजः करणे ख्युन् ३।२।५६। एषु च्यर्थेष्वच्यन्तेषु कर्मसूपपदेषु कृजः ख्युन् । अनाढ्यमाढ्यं कुर्वन्त्यनया-आढ्य-ङ्करणौ । अच्वौ किम् ? आढ्यकुर्वन्त्यनेन । कर्तरि भुवः खिष्णुच्छुकजौ ३।२।५७। आढ्यादिषु च्यर्थेष्वच्यन्तेषु भवतेरतौ स्तः । अनाढ्य आढ्यो भवति-आढ्यम्भविष्णुः । आढ्यम्भावुकः । सत्सूद्विषद्रुहदुहयुजविदभिदच्छिदजि-नीराजामुपसर्गेऽपि किप् ३।२।६१। एभ्यः किप्स्यादुपसर्गे सत्यसति च सुप्यु-पपदे । युसत् । 'सदिरप्रते'रिति षः । उपनिषत् । अण्डसूः । प्रसूः । मित्रद्विट् ।

गित्यर्थः । हस्तिघ्नो ना, हस्तिनं हन्तीति विग्रहे हन्धातोष्टकि सुब्लुकि 'गमहन' इत्युपधालोपे 'हो हन्तेः' इति घत्वे नलोपे सौ रुत्वे विसर्गे 'हस्तिघ्नः' इति रूपं भवति । पाणिघताडघौ । एतौ निपात्येते शिल्पवति । शिल्पाभावेऽणि 'पाणि-घातः' इति रूपम् । राजघेति । राजानं हन्तीत्यर्थे 'राजघः' इति निपात्यते । आढ्यसुभ-गेति ख्युनित्यर्थः । अनाढ्यमाढ्यं कुर्वन्ति अनयेतिविग्रहे ख्युनि सुब्लुकि 'आढ्य-कृ-यु' इति स्थिते आर्धधातुकत्वादगुणे रपरत्वे 'युवोरनाकौ' इत्यनि खिच्चात्पूर्वपदस्य 'अरुः' इति मुमि अनुस्वारे परसवर्णे नस्य णत्वे ङीपि सौ हल्ङ्यादिलोपे 'आढ्यङ्क-रणी' इति रूपम् कर्तरीति । 'आढ्यसुभग' इत्यतः च्यर्थेष्वचवाविति अनुवर्तते अत आह—आढ्यादिष्विति । अनाढ्यः आढ्यो भवति आढ्यम्भविष्णुः । च्यर्थे भूधातोः खिष्णुचि गुणे इडागमे 'अरुः' इति मुमि अनुस्वारे सौ रुत्वे विसर्गे 'आढ्यम्भविष्णुः । अनाढ्यः आढ्यो भवति 'आढ्यम्भावुकः' भूधातोः खुकनि जित्वाद्वृद्धौ आवादेशे 'अरुः' इति मुमि अनुस्वारे परसवर्णे सौ रुत्वे विसर्गे 'आढ्यम्भावुकः' इति रूपम् । सत्सूद्विषेति । अपिसामर्थ्यादिसत्युपसर्गेऽपीति ज्ञायते । दिवि सीदति इति

धातुसे 'टक्' प्रत्यय हो, मनुष्यवत्तु अर्थमें ।

पाणिघ—शिल्पी यदि कर्ता हो तो 'पाणिघ' और 'ताडघ' निपातन हो ।

राजघ—'राजघ' यह निपातन हो । आढ्य-च्यर्थक (अभूततद्भावार्थक) अच्यन्त कर्म-संज्ञक आढ्य, सुभग, स्थूल, पलित, नग्न, अन्ध और प्रिय उपपदक 'कृज्' धातुसे 'ख्युन्' प्रत्यय हो । कर्तरि भुवः-च्यर्थक अच्यन्त आढ्यादि कर्मोपपदक 'भू' धातुसे 'खिष्णुच्' और 'खुकज्' प्रत्यय हो; कर्तामें । सत्सूद्विषद्रु-उपसर्ग अथवा अनुपसर्ग सुबन्त उपपदक सदादि-धातुओंसे

प्रद्विट् । मित्रध्रुक् । प्रध्रुक् । गोधुक् । प्रधुक् । अश्वयुक् । प्रयुक् । वेदवित् । नि-
वित् । इत्यादि । (अग्रग्रामाभ्यां नयतेर्णो वाच्यः) अग्रणीः । ग्रामणीः ।
भजो णिवः । ३।२।६२ । भजेरुपसर्गेऽनुपसर्गेऽपि सुबन्ते उपपदे च णिवः स्यात् ।
अंशभाक् । प्रभाक् । अदोऽनन्ते । ३।२।६८ । अदेरनन्ते सुबन्त उपपदे विट्

। विग्रहे सद्भातोः 'सत्सू' इति क्पिपि 'उपदेशेऽनुनासिक इत्' इति इकारस्य, ततः
'लशक्वतद्धिते' इति कस्य च इत्संज्ञायां लोपे वस्य 'अपृक्त' इति अपृक्तसंज्ञायां
'वेरपृक्तस्य' इति वलोपे सुब्लुकि 'दिव उत्' इति उदन्तादेशे यणि सौ हल्ङ्थादि-
लोपे 'द्युसत्' इति रूपम् । उपनिषद् उपनिपूर्वात् सद्भातोः 'सत्सू' इति क्पिपि
क्पिपः सर्वापहारिलोपे 'सदिरप्रतेः' इति षत्वे सौ हल्ङ्थादिलोपे 'उपनिषत्' इति
रूपम् । अण्डसूः, प्रसूः । अण्डं सूते इति विग्रहे अण्डमिति द्वितीयान्तोपपदात् तथा
प्रपूर्वात् षड्धातोः 'सत्सू' इति क्पिपि क्विपो लोपे 'धात्वादेः यः सः' इति सत्वे सुब्लुकि
सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'अण्डसूः' 'प्रसूः' इति रूपे भवतः । मित्रद्विट् प्रद्विट् मित्रं
द्वेष्टीति विग्रहे मित्रमिति कर्मोपपदात् तथा प्रपूर्वाच्च द्विप् धातोः क्विपि क्विपो लोपे
सुब्लुकि सौ हल्ङ्थादिलोपे जश्त्वेन ङत्वे 'वाचसाने' इति टत्वे 'मित्रद्विट्-
प्रद्विट्' इति रूपे भवतः । मित्रध्रुक्-प्रध्रुक् । मित्रं द्रुहति इति विग्रहे कर्मोपपदात्
प्रपूर्वाच्च द्रुहधातोः क्विपि क्विपो लोपे सुब्लुकि सौ 'वाद्रुह' इति वा कुत्वेन घत्वे
'एकाचो' इति भप्त्वेन घत्वे हल्ङ्थादिलोपे जश्त्वे वा चत्वे 'मित्रध्रुक्-मित्रध्रुग्-
प्रध्रुक् प्रधुग्' इति रूपाणि भवन्ति । यदा कुत्वं न स्यात्तदा 'हो ङः' इति ङत्वे जश्त्वेन
ङत्वे वा टत्वे 'मित्रध्रुङ्-मित्रध्रुट्-प्रध्रुङ्-प्रध्रुट्' इति रूपाणि भवन्ति । 'गोधुक्, प्रधुक्' इति ।
गां दोग्धीति कर्मोपपदात् प्रपूर्वाच्च द्रुहधातोः क्पिपि क्पिपो लोपे सुब्लुकि सौ 'दादेः'
इति घत्वे 'एकाचो' इति भप्त्वे गत्वे कत्वे 'हल्ङ्थाद्यभ्यो' इति सोलापे 'गोधुक्-प्रधुक्'
इति रूपे सिध्यतः । अश्वयुक्-प्रयुक् । अश्वं युनक्ति इति कर्मोपपदात् प्रपूर्वाच्च युजिर्
धातोः क्पिपि क्पिपो लोपे सुब्लुकि सौ 'चोः कुः' इति कत्वे 'अश्वयुक् प्रयुक्' इति रूपे
सिद्धिं व्रजतः । वेदवित्-निवित् । वेदं वेदान् वा वेत्ति इति । कर्मोपपदात् निपूर्वाच्च
विद्धातोः क्पिपि क्पिपो लोपे सुब्लुकि सौ हल्ङ्थादिलोपे दस्य वा चत्वे 'वेदविद्'
वेदवित्, निविद्-निवित्' इति रूपाणि सिध्यन्ति । अग्रग्रामाभ्यामिति । अग्रं ग्रामं वा
नयति इति विग्रहे कर्मोपपदान्नयतेः 'सत्सू' इति क्पिपि क्पिपो लोपे सुब्लुकि 'अग्र-
ग्रामाभ्यां नयतेर्णो वाच्यः' इति नस्य णत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'अग्रणीः' 'ग्रामणीः' इति
रूपे साधुनी । भजो णिवरिति । सोपपदान्नजो णिवः स्यादित्यर्थः । अंशभाक्-प्रभाक् ।

'किप्' प्रत्यय हो । अग्रग्रामाभ्यां—अग्र तथा ग्राम शब्दसे पर 'ना' धातुके नकारको
णकार हो । भजो णिवः—उपसर्ग या अनुपसर्ग सुबन्त उपपदक 'भज्' धातुसे 'णिव' प्रत्यय
हो । अदोऽनन्ते—अन्न शब्दसे भिन्न सुबन्त कर्मोपपदक 'अद्' धातुसे 'विट्' प्रत्यय हो ।

स्यात् । आममत्तीति—आमात् । सस्यात् । अनन्ने किम् ? । अत्रादः ।
 क्रव्ये च । ३।२।६९। कर्मसञ्ज्ञके क्रव्यशब्दे उपपदे अदेर्विट् । पूर्वण सिद्धे वचनं
 वाऽसरूपेति प्राप्ताऽण्वाधनार्थम् । क्रव्यात्—आममांसमक्षकः । दुहः कप् घश्च
 । ३।२।७०। दुहेः सुप्युपपदे कप् स्यात् । घश्चाऽन्तादेशः । कामदुधा । अन्येभ्यो-
 ऽपि दृश्यन्ते । ३।२।७५। मनिन् कनिप् वनिप् विच् एते प्रत्यया धातोः स्युः ।
 नेङ् वशि कृति । ७।२।८। वशादेः कृत इण् स्यात् । सुशर्मा । प्रातरित्वा ।
 विड्वनोरनुनासिकस्याऽऽत् । ६।४।४१। अनुनासिकस्याऽऽत् स्याद्विड्वनोः
 परयोः । विजायते इति विजावा । ओण् अपनयने । अवावा । रोट् । रेट् ।

अंशं भजते इति कर्मोपपदात् प्रपूर्वाच्च भजधातोः 'भजो णिवः' इति णिवप्रत्यये ण्वेलोपे
 णित्त्वादुपधावृद्धौ सुब्लुकि सौ हल्ङ्यादिलोपे 'चोः कुः' इति कुत्वे वा कत्वे 'अंशभाग्'
 'अंशभाक्' 'प्रभाग्' 'प्रभाक्' इति रूपाणि संसिध्यन्ति । अदोऽनन्न इति । अत्रेतर-
 भक्त्यर्थेऽद्धातोः विट् स्यादित्यर्थः । आमात्-सस्यात् । आमं सस्यं वा अत्तीति विग्रहे
 अद्धातोः विटि विटो लोपे सुब्लुकि सौ 'हल्ङ्याभ्यो' इति सुब्लुकि सवर्णदीर्घे वा
 चत्वे 'आमात्-सस्यात्' इत्यनयोः सिद्धिः । क्रव्येचेति । क्रव्यमाममांसं तदस्ति इति
 अर्थेऽनन्ने इति प्राक्तनेनैव सिद्धं सूत्रमिदं 'वासरूप' इति प्राप्तमणं बाधते । क्रव्यात् ।
 क्रव्यमस्ति इति विग्रहे 'क्रव्ये च' इति-विटि विटो लोपे सुब्लुकि सौ हल्ङ्यादिलोपे
 सवर्णदीर्घे वा चत्वे 'क्रव्याद्-क्रव्यात्' इति रूपे भवतः । दुहः कप् घश्चेति । दुहधातोः
 सोपपदात् कप् स्यात् घश्चाऽन्तादेश इत्यर्थः । कामदुधा । कामं दोग्धीति विग्रहे कर्मो-
 पपदात् दुहधातोः कपि कपयोलोपे हस्य घत्वे कित्त्वाद्गुणाभावे सुब्लुकि 'अजा-
 च्यतष्टाप्' इति टापि सौ हल्ङ्यादिलोपे च कृते 'कामदुधा' इति रूपं भवति ।
 सुशर्मा । सुष्ठु शृणाति सुशर्मा इत्यत्र सुपूर्वकशृधातोः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति
 मनिनि, इनो लोपे 'शृ मन्' इति जाते, मनिनः 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुक-
 त्वात् 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे, 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे, 'आर्धधा-
 तुकस्येङ्वलादेः' इति इटि प्राप्ते, 'नेङ्वशि कृति' इत्यनेन निषिद्धे उपपदसमासे,
 समासत्वात्प्रातिपदिकत्वे सावागते, उलोपे 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति नान्त-
 स्योपधाया दीर्घत्वे, 'हल्ङ्याभ्यः' इति स्लोपे, 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य'

क्रव्ये च—कर्मसंज्ञक क्रव्य शब्दोपपदक 'अद्' धातुसे 'विट्' प्रत्यय हो । दुहः—सुबन्त
 उपपदक 'दुह्' धातुसे 'कप्' प्रत्यय हो और धातु सम्बन्धी हकारको भी घकार हो ।
 अन्येभ्यो—आकारान्त धातु से भिन्न धातुसे भी मनिन्, वनिप्, वनिप् और विच् प्रत्यय हों ।
 नेङ्वशि—वशादि कृतप्रत्ययको इट् नहीं हो । विड्वनो—अनुनासिकको आत् (आकार

सुगण् । किप् च । ३।२।७६। अयमपि दृश्यते । उखासत् । पर्णध्वत् । बाह्व्रट् ।
 अन्तः । ८।४।२०। पदान्तस्याऽनितेर्नस्य णत्वं स्यादुपसर्गस्थाच्चिमित्तात्परश्चेत् । हे
 प्राण् । (आशासः कावुपधाया इत्वं वाच्यम्) आशीः । इत्वोत्त्वे । गीः ।
 पूः । 'मो नो धातोः' । प्रतान् । प्रशान् । गमः कौ । ६।४।४०। गमः कौ
 अनुनासिकलोपः स्यात् । अङ्गगत् । (गमादीनामिति वक्तव्यम्) पुरीतत् ।
 संयत् । (ऊङ् च गमादीनामिति वक्तव्यम्) लोपश्च । अग्रेणूः । अग्रेभूः ।

इति नलोपे, 'सुशर्मा' इति रूपम् । पर्णध्वत् । पर्णात् ध्वंसते इति विग्रहः । 'किप्
 च' इति किपि, किपः सर्वापहारे, 'अनिदितां हल उपधायाः क्लिति' इति नलोपे,
 उपपदसमासे, सुपो लुकि, समुदायात्सौ, तस्य लोपे 'वसुत्तंसुध्वम्' इति सस्य दत्त्वे
 चत्वं 'पर्णध्वत्' इति । हे प्राण् । प्रपूर्वाद्नधातोः 'किप् च' इति किपि किपो लोपे
 दीर्घे 'अन्तः' इति णत्वे सौ हल्ङ्यादिलोपे हे 'प्राण्' इत्यस्य सिद्धिः । आशास इति ।
 आङ्पूर्वात् शासतेः किप् स्यात् उपधाया इत्वं चेति भावः । आशास् धातोः
 किपि किपो लोपे 'आशासः' इत्युपधाया इदादेशे 'आशिस' इति जाते सौ सोर्लोपे
 सस्य रुत्वे 'वोरुपधायाः' इति दीर्घे विसर्गे च कृते 'आशीः' इति रूपम् । गीः
 पूः । ग् पु अनयोः किपि तल्लोपे 'ऋत इद्धातोः' इति प्रथमस्येत्वे तथापरस्य
 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' इति उति रपरत्वे सौ हल्ङ्यादिलोपे 'वीः' इति दीर्घे विसर्गे च कृते
 'गीः' 'पूः' इत्युभयोः सिद्धिः । प्रतान्, प्रशान् । प्रपूर्वात् तमः शमश्च किपि किपो लोपे
 सौ सोर्लोपे 'मोनो धातोः' इति नत्वे नान्तत्वादुपधादीर्घे 'प्रतान् प्रशान्' इति रूपे
 भवतः । गमः क्वाविति । 'अनुदात्तोपदेश' इत्यतो अनुनासिकलोप इति । कौ परतो
 गमोऽनुनासिकलोप इत्यर्थः । अङ्गगत् । अङ्गं गच्छति इत्यर्थे 'किप् च' इति किपि
 तल्लोपे 'गमः कौ' इत्यनुनासिकलोपे सुब्लुकि 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इति तुकि
 किरवादन्यावयवे सौ हल्ङ्यादिलोपे 'अङ्गनात्' इति रूपम् । गमादीनामिति ।
 कावनुनासिकलोपः स्यादित्यर्थः । पुरीतत् । पुरिः हृदयाख्यः मांसपिण्डविशेषः तं तनोति
 आच्छादयति इति विग्रहे किपि किपो लोपे 'गमादीनां' इति वार्तिकेन अनुनासिक-
 लोपे 'ह्रस्वस्य' इति तुकि 'नहिवृति' इति दीर्घे सौ हल्ङ्यादिलोपे 'पुरीतत्' इति
 रूपम् । संयदिति । संपूर्वाद् यम् धातोः किपि किपो लोपे 'गमादीनाम्' इति अनुना-

आदेश) हो, बिट् और वन् के परे । किप् च—सामान्यतया सभी धातुओं से क्विप् प्रत्यय हो
 (ऐसा देखा जाता है) । अन्तः—उपसर्गस्थ निमित्तसे पर पदान्त 'अन्' धातुके नकारको
 णत्व हो । आशासः—आङ् पूर्वक 'शास्' धातु की उपधाको इत्व हो, क्विप् के परे ।

गमः कौ—'गम्' धातुके अनुनासिकका लोप हो, क्विप् के परे । गमादीनाम्—गमादि
 धातुओंके अनुनासिक का लोप हो, क्विप् के परे—ऐसा कहना चाहिये । ऊङ् च गमा-गमादि

स्थः क च । ३।२।७७। स्थाधातोः सुप्युपपदे कः स्यात् । चाक्किप् । शंस्थः । शंस्थाः । सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये । ३।२।७८। अजात्यर्थे सुबन्ते उपपदे धातोर्णिनिः स्यात्ताच्छील्ये द्योत्ये । उष्णभोजी । शीतभोजी । मनः । ३।२।८२। सुपि मन्यतेर्णिनिः स्यात् । दर्शनीयमानी । आत्ममाने खश्च । ३।२।८३। स्वकर्मके मनने वर्तमानान्मन्यतेः सुपि खश् स्यात् । चाण्णिनिः । पण्डितमात्मानं मन्यते-पण्डितंमन्यः । पण्डितमानी । इच एकाचोऽम् प्रत्ययवच्च । ६।३।६८। इजन्ता-

सिकलोपे 'ह्रस्वस्य' इति तुकि सौ हल्ङ्धादिलोपे 'संयत्' इति रूपम् । ऊङ्वेति । चकारादनुनासिकलोपः स्यादित्यर्थः । ऊङ्विति तु उपधाया आदेशः । गच्छतीति गूः भ्रमति इति भ्रूः । गमभ्रमोः क्पि क्पिपो लोपे 'ऊङ् च' इति अनुनासिकलोपे अकारस्य ऊङादेशे सौ रुत्वे विसर्गे 'गूः' 'भ्रूः' इति रूपे भवतः । स्थः क चेति । स्था धातोः कः स्याच्चाक्किप् । शं तिष्ठतीति विग्रहे स्थाधातोः कप्रत्यये 'आतो लोप इटि च' इत्यालोपे सौ रुत्वे विसर्गे 'शंस्थः' इति रूपम् । यदा क्पिप् स्यात्तदा क्पिपो लोपे सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'शंस्थाः' इति रूपमापद्यते । उष्णभोजी । उष्णं भोक्तुं शीलमस्यास्तीति उष्णमिति जातिभिन्ने कर्मण्युपपदे भुज् धातोः 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' इति णिनि, गगते आर्धधातुकसंज्ञायां 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति लघूपधगुणे, उपपदसमासे, सुपो लुकि, समुदायात्सौ, उगते, 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इत्युपधायाः दीर्घत्वे 'हल्ङ्धा-दभ्यः' इति सलोपे, 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपे, 'उष्णभोजी' इति रूपम् । आत्ममाने खश्चेति । आत्मानं मन्यते इति स्वकर्मके मनने वर्तमानान्मन्यतेः सुपि खश् स्याच्चाण्णिनिः । पण्डितंमन्य इति । पण्डितमात्मानं मन्यत इत्यर्थे 'आत्माने खश्च' इति खशि खशोरित्वे लोपे सुब्लुकि 'अरुः' इति मुन्यनुस्वारे परसवर्णे शित्वात्सार्व धातुकसंज्ञायाम् 'दिवादिभ्यः श्यन्' इति श्यनि सौ रुत्वे विसर्गे 'पण्डितंमन्यः' इति रूपम् । पण्डितमानी । पण्डितं-मन्-णिनि इत्यवस्थायां सुब्लुकि 'अत उपधायाः'

धातुओंसे 'उङ्' प्रत्यय हो और धातुके अन्तका लोप हो—ऐसा कहना चाहिये ।

स्थः क च—सुबन्त उपपदक 'स्था' धातुसे 'क' प्रत्यय और चात् क्विप् प्रत्यय भी हो ।
सुप्यजातौ—अजात्यर्थक सुबन्त उपपद रहनेपर धातुसे 'णिनि' प्रत्यय हो, ताच्छील्य-अर्थमें ।

मनः—सुबन्त उपपदक (दिवादिस्थ) 'मन्' धातुसे 'णिनि' प्रत्यय हो ।

आत्ममाने—सुबन्त उपपदक स्वकर्मक मनन अर्थमें वर्तमान (दिवादिस्थ) 'मन्' धातुसे 'खश्' प्रत्यय और चकारात् 'णिनि' प्रत्यय भी हो ।

इच् एकाचो—इजन्त जो एकाच् सुबन्त, उनसे 'अम्' हो और वह अम् स्वादि ('द्वितीयैकवचन') अम्के समान हो, खिदन्त उत्तरपदके परे ।

देकाचोऽस्यात्स च स्वाद्यम्बत्, खिदन्ते परे । 'औतोऽमृशसोः' । गामन्यः ।
 'वाऽमृशसोः' स्त्रियमन्यः । स्त्रीमन्यः । नृ-नरमन्यः । भुवंमन्यः । श्रियमात्मानं
 मन्यते—श्रिमन्यं कुलम् । भाष्यकारप्रयोगाच्छ्रीशब्दस्य ह्रस्वो, सुममोरभावश्च । भूते । ३।
 २।८४। अधिकारोऽयं 'वर्तमाने ल'ङिति यावत् । करणे यजः । ३।२।८५। करणे
 उपपदे भूतार्थाद्यजेर्णिनिः स्यात्कर्तरि । सोमेनेष्टवान्—सोमयाजी । कर्मणि हनः
 । ३।२।८६। कर्मण्युपपदे भूतार्थाद्वन्तेर्णिनिः स्यात् । पितृव्यघाती । ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु

इत्युपधादीर्घे सौ 'सौ च' इति दीर्घे हलङ्घ्यादिलोपे 'नलोपः' इति न लोपे 'पण्डित-
 मानी' इति रूपं प्रसिध्यति । इच इति । इजन्तादेकाचोऽम् स च स्वाद्यम्बत्स्यात्
 खिदन्ते परे इत्यर्थः । गामन्यः गामात्मानं मन्यते इत्यर्थे 'आत्ममाने खश्च' इति खशि
 'दिवादिभ्यः श्यन्' इति श्यनि सुब्लुकि 'गो-मन्-य-अ' इति स्थितौ 'इच एकाचोऽ-
 म्रत्ययवच्च' इति अमि 'औतोमृशसोः' इति आकार एकादेशे सौ रुत्वे विसर्गे
 'गामन्यः' इति रूपम् । स्त्रियमन्यः । स्त्रियमात्मानं मन्यते इत्यर्थे 'आत्ममाने खश्च'
 इति खशि श्यनि सुब्लुकि 'इच एकाचो' इति पूर्वपदादमि प्रत्ययवत्त्वे 'वामृशसोः'
 इति वेयङि 'अमि पूर्व' इति पूर्वरूपत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'स्त्रियमन्यः—स्त्रीमन्यः'
 इति रूपे भवतः । नरमन्यः । 'नरं-मन्-य-अ' इति स्थिते सुब्लुकि 'इच एकाचो'
 इति पूर्वपदादमि सर्वनामस्थानसंज्ञायां गुणे रपरत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'नरमन्यः'
 इति रूपम् । भुवंमन्यः ॥ 'भुवं-मन्-य-अ' इति जाते सुब्लुकि पूर्वपदाद् 'इच एका-
 चो' इति अमि 'अचि रनु' इत्युवङि सौ रुत्वे विसर्गे 'भुवंमन्यः' इति रूपम् ।
 (श्रिमन्यं कुलमिति । श्रियमात्मानं मन्यते इति विग्रहे 'आत्ममाने खश्च' इति खशि
 सुब्लुकि भाष्यकारप्रयोगात् श्रीशब्दस्य ह्रस्वत्वेऽमोऽभावत्वे श्यनि सौ 'अतोऽम्'
 इत्यमि 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपे रूपम्) भूते । वर्तमाने लङिति यावत् ये प्रत्यया
 चक्ष्यन्ते भूते स्युरित्यर्थः । अधिकारबलादिति शेषः । सोमयाजी । सोमेनेति करणे उप-
 पदे भूतार्थे कर्तर्यर्थे यज्धातोर्णिनि प्रत्यये, णगते 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ, उपप-
 दसमासे सुपो लुकि, 'सोमयाजिन्' इति भूते तस्मात्सौ, उलोपे, 'सौ च इति
 नान्तस्योपधाया दीर्घत्वे, 'हलङ्घ्याभ्यः' इति सलोपे, 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य'
 इति नलोपे च कृते 'सोमयाजी' इति सिद्धम् । कर्मणि हनः । कर्मण्युपपदे हन्धातो-
 र्णिनिः स्यात्कर्तरि भूते इत्यर्थः । पितृव्यघाती । पितृव्यं हतवानित्यर्थे हन्धातोः

भूते—'वर्तमाने लट्' तक यह अधिकार है । करणे यजः—करण (संज्ञक सुबन्त)
 उपपदक 'यज्' धातुसे भूतकालमें 'णिनि' प्रत्यय हो, कर्तामें ।

कर्मणि—कर्मसंज्ञक सुबन्त उपपदक 'हन्' धातुसे भूतकालमें 'णिनि' प्रत्यय हो, कर्तामें ।

ब्रह्मभ्रूण—ब्रह्मादि कर्मोपपदक 'हन्' धातुसे भूतकालमें 'किप्' प्रत्यय हो, कर्तामें ।

क्विप् । ३।२।८७। ब्रह्मादिषूपपदेषु भूतार्थाद्वन्तेः क्विप्स्यात् । ब्रह्महा । भ्रूणहा ।
वृत्रहा । 'क्विप्चे'त्येव सिद्धे 'ब्रह्मादिष्वेव' 'क्विवेवे'ति द्विविधनियमार्थमिदम् । एव-
मग्रेऽपि । सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृजः । ३।२।८९। स्वादिषु कर्मसूपपदेषु कृजः
क्विप्स्याद्भूते । सुकृत् । कर्मकृत् । पापकृत् । मन्त्रकृत् । पुण्यकृत् । सोमे सुजः
। ३।२।९०। सोमे कर्मण्युपपदे सुनोतेः क्विप्स्याद्भूते । सोमसुत् । अग्नौ चेः । ३।
२।९१। अग्नौ कर्मण्युपपदे चिनोतेः क्विप्स्याद् भूते । अग्निचित् । कर्मण्यग्न्या-
ख्यायाम् । ३।२।९२। कर्मण्युपपदे कर्मण्येव कारके चिनोतेः क्विप् स्यात् ।
अग्न्याधारस्थलविशेषस्याऽऽख्यायाम् । श्येन इव चितः—श्येनचित् । कर्मणीनि-

'कर्मणि हनः' इति णिनि प्रत्यये सुब्लुकि 'हनस्तोऽचिण्णलोः' इति तत्त्वे 'हो हन्तेः'
इति घत्वे उपधादीर्घत्वे 'पितृव्यघातिन्' इति जाते सौ 'सौ च' इति उपधादीर्घत्वे
हलङ्यादिलोपे 'नलोपः' इति नलोपे 'पितृव्यघाती' रूपं स्पष्टं सिध्यति । ब्रह्मभ्रूणेति ।
णिनेर्निवृत्तिः क्विप्विधानात् । 'कर्मणि हनः' इत्यतो हन इति अनुपज्यते । एतेषूपपदेषु
हनः क्विप् स्यादित्यर्थः । ब्रह्महा-वृत्रहा-भ्रूणहेति । ब्रह्म-वृत्रं-भ्रूणं वा हतवानित्यर्थे
'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्' इति क्विपि क्विपो लोपे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे सौ सोः सर्वना-
मस्थानत्वात् 'सौ च' इति दीर्घे हलङ्यादिलोपे 'नलोपः' इति नलोपत्वे 'ब्रह्महा-वृत्र-
हा-भ्रूणहा' इति रूपाणि भवन्ति । सुकर्मति । क्विप् स्यादित्यर्थः । सुकृत्-कर्मकृत्-पाप-
कृत्-मन्त्रकृत्-पुण्यकृत् इति । सु-कर्म-पापं-मन्त्रं पुण्यं वा कृतवानित्यर्थे 'सुकर्म' इति
क्विपि क्विपो लोपे क्विप् पित्वात् 'ह्रस्वस्य' इति तुकि सुब्लुकि सौ हलङ्यादिलोपे
प्रोक्तानि रूपाणि भवन्तीत्यवधेयम् । सोमे सुज इति । क्विप्स्यादित्यर्थः । सोमं सुतवान्
इत्यर्थे 'सोमे सुजः' इति क्विपि क्विपो लोपे 'ह्रस्वस्य' इति तुकि सुब्लुकि हलङ्या-
दिलोपे 'सोमसुत्' इति रूपम् । अग्निचिदिति । अग्निं चित्त्वान् इत्यर्थे 'अग्नौ चेः'
इति क्विपि क्विपो लोपे 'ह्रस्वस्य' इति तुकि सुब्लुकि सौ हलङ्यादिलोपे 'अग्निचित्'
इति रूपं भवति । कर्मणीति । भूते इति शेषः । श्येनचित् । श्येन इव चित् इत्यर्थे
चिञ् धातोः क्विपि क्विपो लोपे सुब्लुकि 'ह्रस्वस्य' इति तुकि सौ हलङ्या-

सुकर्मपाप—'सु' और कर्मसंज्ञक 'कर्मादि' उपपदक 'कृ' धातुसे भूतकालमें 'क्विप्' प्रत्यय हो-
कर्तामें । सोमे सुजः—'सोम' कर्मोपपदक 'सुञ्' धातुसे भूतकालमें 'क्विप्' प्रत्यय हो, कर्तामें ।

अग्नौ चेः—'अग्नि' कर्मोपपदक 'चि' धातुसे भूतकालमें 'क्विप्' प्रत्यय हो, कर्तामें ।

कर्मण्य—कर्मसंज्ञक सुबन्त उपपद रहने पर कर्मकारकमें ही 'चि' धातुसे 'क्विप्' प्रत्यय
हो, यदि अग्न्याधार स्थलविशेषकी आख्या गम्यमान रहे ।

कर्मणीनि—कर्म उपपदक 'वि' पूर्वक 'नी' धातुसे भूतकालमें 'इनि' प्रत्यय हो ।

विक्रियः । ३।२।९३। कर्मण्युपपदे विपूर्वात्क्रीणातेरिनिः स्यात् । (कुत्सितग्र-
हणं कर्त्तव्यम्) सोमविक्रयी । घृतविक्रयी । दशोः कनिप् । ३।२।९४। दशोः
कनिप् स्यात् कर्मणि भूते । पारं दृष्टवान्-पारदृष्ट्वा । राजनि युधिकृजः । ३।२।
९५। राजञ्छन्दे कर्मण्युपपदे युध्यतेः, करोतिश्च कनिप् स्यात् । 'युधि'रन्तर्भावित-
ण्यर्थः । राजानं योधितवान्—राजयुध्वा । राजकृत्वा । सहे च । ३।२।९६। सहे
उपपदे युधिकृजोः कनिप्स्यात् । सहयुध्वा । सहकृत्वा ॥ सप्तम्यां जनेर्ङः । ३।२।
९७। सप्तम्यन्ते उपपदे जनेर्ङः स्यात् । तत्पुरुषे कृति बहुलम् । ६।३।१४।
तत्पुरुषे समासे कृदन्ते उत्तरपदे बहुलं ङेरलुक् । सरसिजम् । सरोजम् । उप-
सर्गो च संज्ञायाम् । ३।२।९८। उपसर्गो उपपदे जनेर्ङः स्यात्संज्ञायाम् । प्रजा ।
अनौ कर्मणि । ३।२।१००। अनुपूर्वाज्जनेः कर्मण्युपपदे ङः स्यात् । पुमांसमनु-
रुध्य जाता-पुमनुजा । अन्येष्वपि दृश्यते । ३।२।१०१। अन्येष्वपि कारकेषूप-

दिलोपे 'श्येनचित्' इति रूपं साधु । सोमविक्रयी-घृतविक्रयी । सोमं-विक्री-
घृतं-विक्री—'कर्मणि' इति इनि प्रत्यये सुब्लुकि गुणेऽयादेशे सौ 'सौचे'ति
दीर्घे ह्रस्व्यादिलोपे नलोपे 'सोमविक्रयी-घृतविक्रयी' इति रूपे भवतः ।
सोमघृतयोः विक्रयः विक्रेतुः कुत्सितत्वं द्योतयति । तयोर्विक्रयणस्य निषेधात् ।
सरसिजम् सरसि जातम् सरसिजम्, अत्र सप्तम्यन्ते सरसि इत्युपपदे जन्धातोः
'सप्तम्यां जनेर्ङः' इति ङे, 'जुट्' इति डस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते अ इत्यवशिष्टे,
द्वित्वसामर्थ्यादभस्यापि ढेलोपे, उपपदसमासे, 'कृतद्धितसमासाश्च' इति प्रातिपदि-
कसंज्ञायां 'सुपोधातुप्रातिपदिकयोः' सप्तम्याः—ङेलोपे प्राप्ते, 'तत्पुरुषे कृति बहु-
लम्' इति ङेरलुकि, एकदेशविकृतन्यायेन समुदायस्य प्रातिपदिकत्वात्सौ, 'अतो-
ऽम्' इति सोरमि, 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपे 'सरसिजम्' इति रूपम् । अनौ कर्मणि ।
'सप्तम्यां जनेर्ङः' इत्यतो ङ इति । भूतार्थवृत्तेरिति शेषः । 'पुमनुजा' पुमांसमनुरुध्य

कुत्सित—उपर्युक्त 'क्री' धातुसे कुत्सित (निन्दित) अर्थमे वा 'इनि' प्रत्यय हो ।
दशोः कनिप्—कर्मोपपदक 'दृश्' धातुसे भूतकालमे 'क्वनिप्' प्रत्यय हो ।
राजनि—कर्मसंज्ञक 'राजन्' शब्द उपपदक 'युध्' तथा 'कृज्' धातुसे 'क्वनिप्' प्रत्यय हो ।
सहे च—'सह' शब्दोपपदक 'युध्' और 'कृज्' धातुसे 'क्वनिप्' प्रत्यय हो ।
सप्तम्यां—सप्तम्यन्त उपपदक 'जन्' धातु से 'ङ' प्रत्यय हो । तत्पुरुषे-तत्पुरुष
समासमे कृदन्त उत्तर पदपरक 'ङि' विभक्तिका अलुक् हो, बहुलता (विकल्प) से ।
उपसर्गो च—उपसर्गो उपपदक 'जन्' धातुसे 'ङ' प्रत्यय हो संज्ञामे ।
अनौ कर्मणि—कर्मोपपदक 'अनु' पूर्वक 'जन्' धातुसे 'ङ' प्रत्यय हो ।
अन्येष्वपि—कर्मसे अन्य भी अर्थात् कारक मात्र उपपदक 'जन्' धातुसे 'ङ' प्रत्यय हो,

प्रदेषु जनेर्डः स्यात् । अजः । द्विजः । ब्राह्मणजः । 'अपि'शब्दः सर्वोपाधिव्यभि-
चारार्थः । तेन धात्वन्तरादपि, कारकान्तरेष्वपि क्वचित् । परितः खाता—परिखा ।
पञ्चम्यामजातौ । ३।२।९। जातिशब्दवर्जिते पञ्चम्यन्ते जनेर्डः स्यात् । संस्का-
रजः । अदृष्टजः । क्तक्वत् निष्ठा । १।१।२६। एतौ निष्ठासंज्ञौ स्तः । निष्ठा
। ३।२।१०२। भूतार्थवृत्तेर्धातोर्निष्ठा स्यात् । तत्र—'तयोरेवे'ति भावकर्मणोः क्तः ।
'कर्तरि कृ'दिति कर्तरि-क्तवतुः । स्नातं मया । स्तुतस्त्वया विष्णुः । विष्णुर्विश्वं
कृतवान् ॥ अदो जग्धिर्त्यसि किति । २।४।३६। व्यपि तादौ किति च ।
इकार उच्चारणार्थः । जग्धम् ॥ निष्ठायामप्यदर्थे । ६।४।६०। प्यदर्थो भावक-
र्मणी, ततोऽन्यत्र निष्ठायां क्षियो दीर्घः स्यात् ॥ क्षियो दीर्घात् । ८।२।४६। निष्ठा-

जाता इत्यर्थे 'अनौ कर्मणि' इति जन्धातोर्डप्रत्यये डित्वाट्टेलोपे सुब्लुकि 'संयो-
गान्तस्य लोप' इति सलोपे अदन्तत्वाद्यापि सौ हल्ङ्यदिलोपे 'पुसनुजा' इति रूपं
भवति । अन्येष्वपाति । अन्येष्वप्युपपदेषु भूतार्थवृत्तेर्जन्धातोर्डः स्यादित्यर्थः । द्विजः
ब्राह्मणजः । द्विजातः, ब्राह्मणाज्जातः इति भूतार्थवृत्तेः जन्धातोः 'अव्येष्वपि दृश्यते'
इति डप्रत्यये डित्वाट्टिलोपे सुब्लुकि सौ रुत्वे विसर्गे द्विजः-ब्राह्मणजः इति रूपे
भवतः । अपिग्रहणसामर्थ्यात्कारकान्तरादपि डः इत्यर्थः । धात्वन्तरादपीत्यपिशब्देन
बुध्यते अत आह—प. खान् परिपूर्वात् खन् धातोर्भूतार्थवृत्तेः 'अव्येष्वपि' इति ड
प्रत्यये डित्वाट्टेलोपे 'अजाचतष्टाप्' इति टापि हल्ङ्यदिलोपे 'परिखा' इति रूपं
प्रभवति । पञ्चम्यामजातावान् । संस्कारजः-अदृष्टज इति । संस्काराज्जातः, अदृष्टाज्जातः
इत्यर्थे 'पञ्चम्याम्' इति जन्धातोर्डप्रत्यये टिलोपे सुब्लुकि सौ रुत्वे विसर्गे 'संस्का-
रजः 'अदृष्टजः' इति रूपे भवतः । अदो जग्धिरिति । अदो जग्धिरादेशः स्यात्त्यपि
तादौ किति च । इकारस्य प्रयोजनं दर्शयति—उच्चारणार्थ इति । जग्धमिति । अद्धातोः
'निष्ठा' इति क्तप्रत्यये कलोपे 'अदो जग्धिर्त्यसिकिति' इति जग्धादेशे 'क्षपस्तथोः'
इति तस्य धत्वे 'क्षरो क्षरि सवर्णे' इति पूर्वधलोपे 'जग्ध' इति जाते कृदन्तत्वात्प्रा-
तिपदिकत्वे सौ अमि पूर्वरूपे 'जग्धम्' इति रूपम् । निष्ठायामिति । भावकर्मभ्या-
मन्यस्मिन्नर्थे निष्ठायाः परत्वे क्षियो दीर्घः स्यात् । क्षियो दीर्घात् । दीर्घीकृतात् क्षियः

तथा सूत्रोपात्त अपिशब्दात् अन्यान्य धातुओंसे भी सुबन्त मात्र उपपद रहनेपर 'ड' प्रत्यय हो ।
पञ्चम्यामजातौ—जातिवाचकसे भिन्न पञ्चम्यन्त उपपदक 'जन्' धातुसे 'ड' प्रत्ययहो ।
क्तक्वत्—'क्त' और 'क्तवतु' को निष्ठासंज्ञा हो । निष्ठा—भूतार्थवृत्ति धातुसे निष्ठा
(क्त और क्तवतु) प्रत्यय हो । अदो जग्धि—'अद्' को 'जग्धि' आदेश हो, व्यपके परे
और तादि कित्के परे । निष्ठाया—भावकर्मसे अन्य अर्थमें निष्ठा प्रत्ययके परे 'क्षि' धातुको
दीर्घ हो । क्षियो दीर्घात्—दीर्घान्त 'क्षि'से पर निष्ठाके तकारको नकार आदेश हो ।

तस्य नः । क्षीणवान् । भावकर्मणोस्तु क्षितः कामो मया ॥ (ऊर्णोतेर्णुवद्भावा-
वाच्यः) । तेन एकाच्चात्वाच्चेट् । ऊर्णुतः ॥ रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः
। ८।२।४२। रदाभ्यां परस्य निष्ठातस्य नो निष्ठापेक्षया पूर्वस्य धातोर्दस्य च । शृ-
शीर्णः । भिन्नः । छिन्नः । संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः । ८।२।४३। यण्व-
त्संयोगादेरादन्ताभिष्ठातस्य नः । द्राणः । ग्लानः ॥ ह्वादिभ्यः । ८।२।४४। एक-
विंशतेर्लूजादिभ्यः प्राग्वत् । लूनः । ज्या—‘प्रहिज्या’ । हलः । ६।४।२। अङ्गावयवा-
द्धलः परं यत्संप्रसारणं तदन्तस्याङ्गस्य दीर्घः । जीनः ॥ (दुग्धोर्दीर्घश्च) दु-
गतौ । दूनः ॥ गु पुरीषोत्सर्गे । गूनः । (पूजो विनाशे) । पूना यवाः ।

परस्य निष्ठासंज्ञकस्य तस्य नः स्यादित्यर्थः । क्षीणवान् । क्षिधातोः ‘निष्ठा’ इति
क्तवतु प्रत्यये कस्येत्संज्ञालोपयोः ‘निष्ठायामण्यदर्थे’ इति दीर्घत्वे ‘क्षियो दीर्घात्’ इति
नत्वे णत्वे सौ सर्वनामस्थानत्वे ‘उगिदचाम्’ इति नुमि ‘सर्वनामस्थाने’ इति उपधाया
दीर्घत्वे ‘क्षीणवान् त सु’ इति जाते उलोपे ‘हल्ङ्याब्भ्यो’ इति सलोपे संयोगान्त-
लोपे तस्यासिद्धत्वाच्चलोपाभावे ‘क्षीणवान्’ इति रूपम् । क्षित इति । क्षिधातोः क्त-
प्रत्यये सौ रुत्वे विसर्गे रूपम् । ऊर्णोतेरिति । णुमाश्रित्य कार्याण्यवधेयानि न ऊर्णोति-
माश्रित्येत्यर्थः । ऊर्णुतः । उर्णुञ् धातोः क्तप्रत्यये णुवद्भावेन एकाच्चात् इडभावे
सौ रुत्वे विसर्गे ‘ऊर्णुतः’ इति रूपम् । भिन्नः । भिद्धातोः ‘निष्ठा’ इति क्ते कलोपे,
‘रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः’ इति निष्ठातस्य भिदो दस्य च नत्वे, किंत्वाद्-
गुणाभावे विभक्तिकार्ये च तत्सिद्धिः । छनः । छञ् छेदने धातोः ‘निष्ठा’ इति क्ते,
कलोपे, ‘ह्वादिभ्यः’ इति निष्ठातकारस्य नत्वे, विभक्तिकार्ये च तत्सिद्धिः । हलः ।
दिग्योगे पञ्चम्येषा । हलः परस्येति लभ्यते । ‘सम्प्रसारणस्य’ इति सूत्रमनुवर्तते ।
अङ्गस्येत्यधिकृतमिहानुवृत्तमावर्त्यते । एकमवयवपष्ठयन्तं हल इत्यत्रान्वेति,
अङ्गावयवाद्धल इति लभ्यते । द्वितीयन्तु स्थानषष्ठयन्तं सम्प्रसारणेन विशेष्यते ।
तदन्तविधिः । ‘दलोपे’ इत्यतो दीर्घ इत्यनुवर्तते । तदाह—अङ्गावयवादित्यादिना ।
दुग्धोरिति । किति तकारे दुग्धधात्वोः दीर्घत्वं वाच्यमित्यर्थः । दूनः गूनः इति ।

ऊर्णोते—‘ऊणु’ धातुको णुवद्भावो हो । रदाभ्यां निष्ठातो नः—रेफ-दकारसे पर निष्ठा
संबन्धी तकारको नकार आदेश हो और निष्ठासे पूर्व धातु संबन्धी तकार उसको भी नकार
आदेश हो । संयोगादेरातो—यण्वान् जो संयोगादि आकारान्त धातु, उससे पर जो निष्ठा
संबन्धी तकार, उसको नकार आदेश हो । ह्वादिभ्यः—एकविंशति (२१) ह्वादि धातुओंसे पर
निष्ठा संबन्धी तकारको नकार आदेश हो । हलः—अंगावयव हल्से पर जो सम्प्रसारण,
तदन्त जो अङ्ग, उसको दीर्घ हो । दुग्धोर्दीर्घ—‘दु’ और ‘गु’ धातुसे पर निष्ठा संबन्धी तकारको
नकार आदेश हो और दु-गुके उकारको दीर्घ भी हो । पूजो विनाशे—‘पूञ्’ धातुसे पर

विनष्टा इत्यर्थः । पूतमन्यत् । (सिनोतेर्ग्रासकर्मकर्तृकस्य) । सिनो ग्रासः ।
ग्रासेति किम् ? सिता पाशेन सूकरी । कर्मकर्तृकेति किम् ? सितो ग्रासो देवदत्तेन ।
ओदितश्च । ८।२।४५। प्राग्वत् । भुजो, भुग्नः । दुश्चोश्चि, उच्छूनः । *Ind*
द्रवमूर्तिस्पर्शयोः श्यः । ६।१।२४। द्रवस्य मूर्तौ, काठिन्ये, स्पर्शं चार्थे
श्यैङ्गः सम्प्रसारणं स्यान्निष्ठायाम् । श्योऽस्पर्शं । ८।२।४७। श्यैङ्गो निष्ठा-
तस्य नः स्यादस्पर्शोऽर्थे । शीनं घृतम् । अस्पर्शं किम् ? शीतं जलम् ।

दुधातोः गुधातोश्च 'निष्ठा' इति क्तप्रत्यये 'दुग्धोर्दीर्घश्च' इति दीर्घत्वे चकारेण तस्य
नत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'दूनः' 'गूनः' इति रूपे भवतः । पूजो विनाश इति । विनाशार्थं क्ते
परतः तस्य नत्वमित्यर्थः । पूनाः यवाः । पूज् धातोः क्तप्रत्यये 'पूजो विनाशे' इति
तस्य नत्वे जसि दीर्घत्वे रुत्वे विसर्गे 'पूनाः' इति रूपम् । यवाः इति विनाशार्थ-
स्फोरणायेति बोध्यम् । अन्यत्र न नत्वमत आह—पूतमिति । सिनोतेरिति । ग्रासार्थं
कर्मकर्तृकस्य सिनोतेः परस्य क्तस्य नत्वमित्यर्थः । सिनो ग्रासः । पिज् धातोः क्तप्रत्यये
'सिनोतेः' इति तस्य नत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'सिनः' इति रूपम् । अन्यत्र तु
सितेत्यादि । कर्मकर्तृकस्यैव भवति । अन्यथा सितो ग्रासो देवदत्तेनेत्यादौ नत्व-
प्रसंगात् । कर्मकर्तृके तु यदा ग्रासो दध्यादिव्यञ्जनेन स्वयं बद्धो भवति इति
भावार्थेऽन्यकर्तृकाभावाच्च दोष इत्यर्थः । उच्छूनः । उदुपसर्गकदुश्चिधातोः 'निष्ठा'
इति क्तप्रत्यये, कलोपे, 'आदिर्जिदुडवः' इति टोरित्संज्ञायां लोपे च 'उपदेशेऽज-
नुनासिक इत्' इति ओकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'श्चि त' इति स्थिते 'ओदितश्च'
इति तकारस्य नत्वे, 'पूर्वत्रासिद्धम्' इति तस्यासिद्धत्वात् 'वचिस्वपियजादीनां
किति' इति सम्प्रसारणे, 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'शु न' इति भूते 'हलः'
इति सम्प्रसारणस्य दीर्घे 'श्वीदितः' इति इडागमाभावे, 'शश्छोऽर्ति' इति छत्वे,
उदः तकारस्य श्चुत्वेन चकारे, कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे सौ उलोपे सस्य रुत्वे
रेफस्य विसर्गत्वे च 'उच्छूनः' इति रूपम् । द्रवमूर्तीनि मूर्तिश्च स्पर्शश्च मूर्तिस्पर्शौ ।
द्रवस्य मूर्तिस्पर्शौ तयोरिति व्यासवाक्यम् । मूर्तित्वम्—काठिन्यम् । स्पर्शत्वं =
त्वङ्मात्रग्राह्यत्वम् । श्योऽस्पर्शं । श्यैङ्गः श्य इति निर्देशः । तस्य नत्वं स्यादित्यर्थः ।
शीनम् । श्यैङ्गधातोः क्तप्रत्यये 'द्रवमूर्ति' इति सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति
पूर्वरूपे 'श्योऽस्पर्शं' इति नत्वे सौ अमि पूर्वरूपे 'शीनम्' इति रूपम् । घनीभूत-

निष्ठाके तकारको नकार हो, विनाश अर्थमें । सिनोतेर्ग्रा—'ग्रास' रूप कर्मकर्तृक 'पिज्' धातुसे
पर निष्ठाके तकारको नकार आदेश हो । ओदितश्च—ओदित धातुसे पर निष्ठा के तकारको
नकार आदेश हो । द्रवमूर्ति—द्रव पदार्थकी कठिनता और स्पर्श अर्थमें 'शीङ्' धातुको
सम्प्रसारण हो, निष्ठामें । श्योऽस्पर्शं—'श्यैङ्ग' धातुसे पर निष्ठाके तकारको नकार आदेश हो,

द्रवमूर्तिस्पर्शयोरिति किम् ? संश्यानो वृश्चिकः, शीतात्संकुचित इत्यर्थः । प्रतेश्च । ६।१।२५। संप्रसारणं निष्ठायाम् । प्रतिशीनः । विभाषाऽभ्यवपूर्वस्य । ६।१।२६। तथा । अभिश्यानं घृतम् । अभिशीनम् । अवश्यानः—अवशीनो वृश्चिकः । व्यवस्थितविभाषेयम् । तेनेह न-समवश्यानः ॥ अञ्चोऽनपादाने । ८।२।४८। निष्ठातस्य नः । यस्य विभाषा । ७।२।१५। यस्य क्वचिद्विभाषयेड्विहितस्ततो निष्ठाया इण् न । 'उदितो वे'ति क्त्वायां वेट्त्वादिह नेट्-समकनः । अनपादाने किम् ? उदकमुदकं कृपात् । दिवोऽविजिगीषायाम् । ८।२।४९। धूनः । विजिगीषायां तु घृतम् । निर्वाणोऽवाते । ८।२।५०। अवाते इति च्छेदः । निपूर्वाद्वातेर्निष्ठातस्य नत्वं स्याद्

मित्यर्थः । स्पर्शे तु शीतं जलम् । संकुचितार्थे तु न संप्रसारणं किन्तु 'आदेच' इति आत्वे तस्य नत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'संश्यानो वृश्चिकः' इति रूपं भवति । प्रतेश्चेति । प्रतिपूर्वात् श्यैङ् संप्रसारणं स्यान्निष्ठायाम् । प्रतिशीन इति । प्रतिपूर्वात् श्यैङ्धातोः क्तप्रत्यये 'प्रतेश्च' इति संप्रसारणे पूर्वरूपे तस्य 'श्योऽस्पर्शे' इति नत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'प्रतिशीनः' इति रूपम् । विभाषेति । श्यैङ् संप्रसारणं वा स्यादित्यर्थः । अभिश्यानमिति । अभिपूर्वात् श्यैङ् धातोः क्तप्रत्यये 'विभाषाऽभ्यवपूर्वस्य' इति संप्रसारणाभावे आत्वे तस्य नत्वे सौ अमि पूर्वरूपे 'अभिश्यानम्' इति रूपम् । संप्रसारणे तु 'अभिशीनम्' इति स्यात् । रूपसिद्धिः प्राग्वत् । एवम्—अवश्यानः, अवशीनः इत्यादावपि वैभाषिकं संप्रसारणमवधेयम् । समवश्यान इत्यादौ श्यैङोऽवपूर्वत्वादपि न संप्रसारणम् । व्यवस्थितविभाषितत्वात् । अञ्चोऽनपादान इति । अपादानमिन्नार्थे अञ्चो निष्ठातस्य नः स्यादित्यर्थः । यस्येति । आर्धधातुकापेक्षया यस्येति षष्ठी । यदीयार्धधातुकस्येत्यर्थः । समकनः । सम्पूर्वादञ्चतेः क्तप्रत्यये क्तस्य कित्त्वेनोपधाभूतस्य नस्य लोपे 'चोः कुः' इति चस्य कत्वे तस्य 'अञ्चोऽनपादाने' इति नत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'समकनः' इति रूपम् । उदकमिति रूपे तु न नत्वं कृपादिति अपादानत्वस्य विद्यमानत्वात् । दिव इति । दिवः परस्य निष्ठातस्य नत्वं जिगीषाया अभावे । धून इति । दिवः क्तप्रत्यये कलोपे 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' इत्यूठि यणि तस्य 'दिवोऽविजिगीषायाम्' इति नत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'धूनः' इति रूपम् । विजिगी-

स्पर्शसे भिन्न अर्थमे ।

प्रतेश्च—प्रति उपसर्गसे पर 'श्यैङ्' धातुको संप्रसारण हो, निष्ठामें ।

विभाषा—'अमि' और 'अव' उपसर्गक 'श्यैङ्' धातुको संप्रसारण हो, विकल्पसे ।

अञ्चोऽनपादाने—'अञ्च्' धातुसे पर निष्ठाके तकारको नकार हो, अपादानसे भिन्नमें ।

यस्य विभाषा—जिस धातुको विकल्पसे कहीं भी इट् विधान किया गया हो, उससे पर निष्ठाको इट् नहीं होता । दिवोऽवि—'दिव्' धातुसे पर निष्ठाके तकारको नकार हो, यदि विजयकी इच्छा गम्यमान नहीं रहे । निर्वाणो—'नि' पूर्वक 'वा' धातुसे पर निष्ठाके

वातश्चेत्कर्ता न । निर्वाणोऽग्निर्मुनिर्वा । वाते तु-निर्वातो वातः । शुषः कः । ८।२।
 ५१। निष्ठातस्य कः । शुष्कः । पचो वः । ८।२।५२। पक्वः । क्षायो मः । ८।२।
 ५३। क्षामः । स्तयः प्रपूर्वस्य । ६।१।२३। प्रात् स्तयः संप्रसारणं निष्ठायाम् । प्रस्त्यो-
 ऽन्यतरस्याम् । ८।२।५४। निष्ठातस्य मो वा । प्रस्तीमः । प्रस्तीतः । प्रात्किम् ?
 स्त्यानः ॥ अनुपसर्गात् फुल्लक्षीवकृशोल्लाघाः । ८।२।५५। एते निपात्यन्ते । विक-
 ला, फुल्लः । निष्ठातस्य लत्वं निपात्यते । कवत्वेकदेशस्यापीदं निपातनमिष्यते,
 उद्दीचापफुल्लवान् । अनुपसर्गात्किम् ? । आदितश्च । ७।२।१६। आकारेतो निष्ठायाम् इण् ।
 ति च । ७।४।८९। चरफलो रत् उत् तादौ किति । प्रफुल्लः । प्रक्षीवितः । प्रकृशितः ।
 प्रोल्लाधितः ॥ (उत्फुल्लसंफुल्लयोरुपसंख्यानम् ।) नुदविदोन्दन्नाग्राह्य-
 भ्योऽन्यतरस्याम् । ८।२।५६। निष्ठातस्य नः । नुजः । नुत्तः । विजः । वित्तः ।

धायां 'धूतम्' इत्येव, न नत्वमिति भावः । निर्वाणोऽवात इति । निपूर्वाद् वाधातोः क्ते
 तस्य नत्वे णत्वे निपातनमिदम् इति भावः । वाते तु 'निर्वातः' इत्येव ।
 स्तय इति । 'स्त्यै' इत्यस्य कृतास्वस्य स्तय इति पष्ठयन्तम् । 'प्यङ्गः संप्रसारणम्' इत्यतः
 संप्रसारणमिति 'स्फायः स्फी' इत्यतः निष्ठायामिति चानुवर्तते । प्रस्त्य इति । प्रस्त्य
 इति पञ्चमी । प्रपूर्वात्स्यैधातोरेत्यर्थः । निष्ठातस्य 'म' इति शेषः । प्रस्तीम इति ।
 प्रपूर्वात्स्यैधातोः क्तप्रत्यये 'स्तयः प्रपूर्वस्य' इति संप्रसारणे 'संप्रसारणाच्च' इति पूर्व-
 रूपे 'हलः' इति दीर्घे 'प्रस्त्यो' इति वा मत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'प्रस्तीमः' 'प्रस्तीतः'
 इति । प्रपूर्वादन्यत्र तु न संप्रसारणमकारौ तेन 'स्त्यानः' इत्येवेति । फुल्लः । फलधा-
 तोः क्तप्रत्यये 'तिच' इति उत्वे तस्य निपातांस्त्वत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'फुल्लः' इति । यद्य-
 पि कवतौ त इति अवयवस्तथापि संज्ञासामर्थ्यात्स्यादेव लत्वमत आह-फुल्लवानिति ।
 आदितश्च । यस्य धातोराकार इत्संज्ञकस्ततः परस्य निष्ठातकारस्य न नत्वमित्यर्थः ।
 प्रफुल्लः । प्रपूर्वात्फलधातोः क्तप्रत्यये तस्य आर्धधातुकत्वेन वलादीटि प्राप्ते
 'आदितश्च' इति निषेधे 'ति च' इति उदादेशे सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'प्रफुल्लः'

तकारको नकार आदेश हो, यदि वायु कर्ता नहीं रहे । शुषः कः—'शुष्' धातुसे पर निष्ठाके
 तकारको ककार आदेश हो । पचो वः—'पच्' धातुसे पर निष्ठाके तकारको वकार आदेश हो ।
 क्षायो मः—'क्षै' धातुसे पर निष्ठासम्बन्धी तकारको मकार आदेश हो । स्तयः प्रपूर्वस्य—'प्र'
 पूर्वक 'स्त्यै' धातुको संप्रसारण हो, निष्ठामें । प्रस्त्योऽन्यतरस्याम्—'प्र' पूर्वक 'स्त्यै'
 धातुसे पर निष्ठासम्बन्धी तकारको मकार आदेश हो, विकल्पसे । अनुपसर्गात्—उपसर्ग
 रहित 'फुल्ल' आदि शब्द निपातन हो । आदितश्च—आकारेत्संज्ञक धातुसे पर निष्ठाको इट्
 नहीं हो । ति च—चर और फल धातुके अकारको 'उत्' आदेश हो, तादि कित् प्रत्ययके परे ।
 उत्फुल्ल-उत्फुल्ल, संफुल्लका निपातन हो । नुदविदो—नुदादि धातुओंसे पर निष्ठाके

उन्दी—श्रीदितो निष्ठायाम् । ७।२।१४। श्वयतेरीदितश्च निष्ठाया इण् न ।
 उञः । उतः, इत्यादि । न ध्याख्यापृमूर्च्छिमदाम् । ८।२।५७। एभ्यो निष्ठा-
 तस्य नो न । ध्यातः । ख्यातः । पूर्तः । राह्लोपः । ६।४।२१। राह्ल्वोलोपः
 स्यात् कौ मलादावनुनासिकादौ च प्रत्यये । मूर्तः । मत्तः ॥ वित्तो भोगप्रत्यययोः
 । ८।२।५८। विन्दतेनिष्ठान्तस्य निपातोऽयं भोग्ये प्रतीते चायं । वित्तः पुरुषः ।
 अनयोः किम् ? विञः । भित्तं शकलम् । ८।२।५९। भिन्नमन्यत् । ऋणमाध-

इति । नुदेति । एभ्यो वा निष्ठातस्य नत्वमित्यर्थः । नुन्नः । विन्नः । नुदविदोः कप्र-
 त्यये 'नुदविद' इति वा-तस्य नत्वे सौ रुत्वे विसर्गे पक्षे चत्वेन तत्वे 'नुन्नः-नुत्तः-
 विन्नः-वित्तः' इति रूपाणि सिध्यन्तीति बोध्यम् । श्रीदित इति । 'नेड्वशि' इत्यतो
 नेति लभ्यते । उन्न इति । उन्दीधातोः कप्रत्यये 'श्रीदितः' इत्यनेन तस्येडागमनिषेधे
 'नुदविदोन्द' इति वा नत्वे तदभावे चत्वे उपधानलोपे सौ रुत्वे विसर्गे 'उन्नः' पक्षे
 'उत्तः' इति रूपे भवतः । न ध्याख्याति । एभ्यो धातुभ्यः परस्य कप्रत्ययस्य ('संयो-
 गादेरातः' इत्यादिना प्राप्तं नत्वं नेत्यर्थः । ध्यातः-ख्यातः-पूर्तः । ध्या-ख्या-पृ एभ्यो
 धातुभ्यः कप्रत्यये पृधातोः 'उदोष्ठ्य' इत्युत्त्वे रपरत्वे 'हलि च' इति दीर्घे सौ रुत्वे
 विसर्गे च विहिते 'ध्यातः-ख्यातः-पूर्तः' इति रूपाणि भवन्ति । मूर्तः ।
 मुर्छा धातोः कप्रत्यये आदिस्वात् 'आदितश्च' इतीडभावे 'राह्लोपः' इति
 छलोपे 'हलि च' इति दीर्घत्वे 'रदाभ्याम्' इत्यनेन तस्य नत्वे प्राप्ते 'न ध्याख्या'
 इति नत्वनिषेधे सौ रुत्वे विसर्गे 'मूर्तः' इति रूपम् । मत्त इति । मदीधातोः कप्रत्यये
 'श्रीदितः' इडभावे चत्वेन तत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'मत्तः' इति रूपम् । अत्रापि 'रदाभ्यां'
 इति प्राप्तं नत्वं 'न ध्याख्या' इत्यनेन वार्यते इति भावः । वित्त इति । भोग्ये प्रतीते
 च विद्धातोः कप्रत्ययान्तो नत्वरहितोऽयं निपात इति दिक् । भोगप्रत्यययोर्भिन्नार्थं
 तु 'रदाभ्यां' इति पूर्वपरयोर्दकारतकारयोर्नत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'विन्नः' इति रूपम् ।
 भित्तमिति । भिद्धातोः शकलार्थं नत्वरहितं निपातनमिदम् । शकलान्तरार्थं तु भिन्न-
 मिति स्यात् । 'रदाभ्यां' इति दतयोर्नत्वे रूपम् । ऋणमाधमर्ण्ये । अधमं दुःखप्रदमृणं
 यस्य सः अधमर्णस्तस्य भावस्तस्मिन् । ऋधातोः कस्य नत्वं णत्वं च निपात्यते इति

तकारको नकार आदेश हो, विकल्पसे । श्रीदितो—'श्रि' धातु और ईदित धातुसे पर निष्ठा
 संबन्धी तकारको इडागम नहीं हो । न ध्याख्या—ध्या, ख्या आदि धातुओंसे पर निष्ठाके
 तकारको नकार नहीं हो । राह्लोपः—रेफसे पर छकार-वकारका लोप हो, किपूके परे और
 झलादि अनुनासिकादि प्रत्ययके परे । वित्तो—निष्ठान्त विन्दतिको 'वित्त' निपातन हो,
 भोग्य और प्रसिद्ध अर्थमें । भित्तं-भित्तं अर्थात् भिद् धातुसे पर निष्ठाके तकारको नत्वाभाव
 निपातन हो, शकल (खंड) अर्थमें । ऋणमा—'ऋ' धातुसे पर निष्ठाके तकारको नकार

‘नोपधादि’त्यत्र हि क्त्वैव संबध्यते । निष्ठा शीङ्स्विदिमिदिक्ष्विदिधृषः । १।२। १६। सेट् किञ् । शयितः । (आदिकर्मणि निष्ठा वक्तव्या ।) आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च । ३।४।७। चाङ्गावकर्मणोः । विभाषा भावादिकर्मणोः । ७। २।१७। आदितो निष्ठाया इङ् वा । प्रस्वेदितश्चैत्रः । प्रस्वेदितं तेन । विविदेति भ्वादिभ्यश्च गृह्यते; जीङ्घ्रिः साहचर्यात् । स्विद्यतेस्तु ‘स्विदित’ इत्येव । जिमिदाजिचिदादिवादी भ्वादी च । प्रमेदितः । प्रक्ष्वेदितः । प्रधर्षितः । धर्षितं तेन । सेट् किम् ? प्रस्विजः । प्रस्विजं तेन—इत्यादि । मृषस्तितिक्षायाम् १।२।२०। सेण् निष्ठा किञ् । मर्षितः । तितिक्षायां किम् ? अपमृषितं वाक्यम्, अविस्पष्टमित्यर्थः । उदुपधान्नावादिकर्मणोरन्यतरस्याम् । १।२।२१। उदुपधात्परा भावादिकर्मणोः सेणिनष्ठा वा किञ् । द्युतितम्, द्योतितम् । मुदितम्, मोदितं साधुना । प्रद्योतितः, प्रद्यु-

क्त्वा च’ इति क्त्वनिषेधे गुणेऽवादेशे सौ रुत्वे विसर्गे च कृते ‘पवितः’ ‘पूतः’ इति रूपद्वयं साधु । निष्ठेति । ‘न क्त्वा सेट्’ इत्यतो नेति सेडिति चानुवर्तते । शयित इति । शीङ्धातोः क्तप्रत्यये इटि ‘निष्ठा शीङ्’ इति क्त्वनिषेधे गुणेऽवादेशे रुत्वे विसर्गे ‘शयितः’ इति रूपम् । आदीति । दीर्घकालग्यासक्तायाः कटाद्युत्पादनक्रियायाः आरम्भकालविशिष्टोऽंशः आदिकर्म । तत्र विद्यमानाद्धातोर्निष्ठा वक्तव्येत्यर्थः । तत्र आद्येषु क्रियाक्षणेभ्यः भूतेष्वपि क्रियाया भूतत्वाभावाद् भूते विहिता निष्ठा न प्राप्तेत्यर्थमारम्भः । आदिकर्मणि क्त इति । ‘तयोरेव’ इत्यतो भावकर्मणोश्चकारेणानुवृत्तिः । विभाषेति । ‘आदितश्च’ इत्यतः आदित इति ‘श्रीदितः’ इत्यतो निष्ठाग्रहणम् । ‘नेङ्वशि’ इत्यतो नेति चानुवर्तते । प्रस्वेदितः चैत्रः । प्रपूर्वात् स्विद्धातोः ‘आदिकर्मणि निष्ठा वाच्या’ इति क्तप्रत्यये ‘विभाषा भावादिकर्मणोः’ इति इटि ‘निष्ठा शीङ्’ इति क्त्वनिषेधे ‘पुगन्त’ इति गुणे सौ रुत्वे विसर्गे ‘प्रस्वेदितः’ इति रूपं सिध्यति । चैत्रकर्तृका आरम्भमाणप्रस्वेदनक्रिया इत्यर्थः । प्रस्वेदितम् । पूर्ववद्रूपसिद्धिर्बोद्ध्या । स्विदितः । क्तप्रत्यये ‘विभाषा भावा’ इति इटि क्त्वनिषेधाभावे सौ रुत्वे विसर्गे ‘स्विदितः’ इति रूपम् । प्रमेदितः—प्रक्ष्वेदितः—प्रधर्षितः । प्रपूर्वेभ्यो जिमिदा—जिचिदा—धृषधातुभ्य ‘आदिकर्मणि’ इति क्तप्रत्यये ‘विभाषा’ इति वेटि ‘निष्ठा शीङ्’ इति क्त्वनिषेधे गुणे सौ रुत्वे विसर्गे च विहिते ‘प्रमेदितः’ ‘प्रक्ष्वेदितः’ ‘प्रधर्षितः’ इति रूपाप्यवसे-

निष्ठा शीङ्—‘पूङ्’ धातुसे पर सेट् क्त्वा और निष्ठा कित् नहीं हो । आदिक—आदि कर्म (क्रिया-प्रारम्भ) में भी निष्ठा हो—ऐसा कहना चाहिए । आदिकर्मणि क्तः—आदि कर्ममें जो ‘क्त’ वह कर्ता और भाव-कर्ममें हो । विभाषा भावादि—आदि कर्ममें और भावमें आदित् धातुसे विहित निष्ठाको इट् हो, विकल्पसे । मृषस्तितिक्षा—तितिक्षा (क्षमा) अर्थमें ‘मृष्’ धातुसे पर सेट् निष्ठा कित् नहीं हो । उदुपधान्नाव—उदुपध धातुसे पर

तितः । प्रमुदितः, प्रमोदितः साधुः । उदुपधात्किम् ? विदितम् । भावेत्यादि किम् ?
रुचितं कार्षापणम् । सेट् किम् ? कुष्टम् । (शब्द्विकरणेभ्य एवेष्ट्यते) नेह-गुह्यते-
गुधितम् ॥ निष्ठायां सेटि । ६।४।५२। शोर्लोपः । भावितः । भावितवान् । दृढः
स्थूलबलयोः । ७।२।२०। स्थूले बलवति च निपात्यते । दधातेर्हिः । ७।४।४२।
तादौ किति । निहितम् । दो दद् घोः । ७।४।४६। घुसंज्ञस्य दा इत्यस्य दद्
तादौ किति । चर्त्वम् । दत्तः । गत्यर्थार्कर्मकश्चिषशीङ्स्थासवसजनरु-
हजीर्यतिभ्यश्च । ३।४।७२। एभ्यः कर्तरि क्तः स्याद्भावकर्मणोश्च । गङ्गां प्राप्तः ।
ग्लानः सः । लक्ष्मीमाश्लिष्टो हरिः । शेषमधिशयितः ॥ द्यतिस्यतिमास्थामित्ति
किति । ७।४।४०। एषामित्तादौ किति । वैकुण्ठमधिष्ठितः । शिवमुपासितः । हरि-

यानि । गत्यर्थेति । गत्यर्थ-अकर्मक-शिल्प-शीङ्-स्था-आस-वस्-जन-रुह-जीर्यति-
गुप्तां दशानां द्वन्द्वः । 'लः कर्मणि च भावे च' इत्यतो भावे इति कर्मणि इति च ।
'आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च' इत्यतः कर्तरीति चानुवर्तते । कर्तरीत्येवानुवृत्तौ भाव-
कर्मणोर्न स्यादिति तयोरपि अनुवृत्तिः । गङ्गां प्राप्तः । कर्तरि क्तः । आप्लृ = व्याप्तौ ।
उपसर्गवशाद्गतौ वर्तते । अकर्मकमुदाहरति-ग्लानेः । ग्लाधातोरकर्मकत्वात् क्तप्रत्यये
'संयोगादेरातो धातोर्यन्वतः' इति निष्ठातस्य नत्वे सौ रुत्वे विसर्गे रूपम् ।
आश्लिष्ट इति । आलङ्कितवानित्यर्थः । अत्रापि आङ्पूर्वात् क्तप्रत्यये रूपम् । शेषं सुक-
रम् । ननु शीङादीनामकर्मकत्वादेव सिद्धे तेषां पुनर्ग्रहणं व्यर्थमित्यत आह शेषमधि-
शयितः । शेषे शयितवान् इत्यर्थः । 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' इत्यनेन शेषस्य कर्मत्वम् ।
तेन सकर्मकत्वादपि क्तः सिद्धः । अधिपूर्वात् शीङ्धातोः क्तप्रत्यये बलादित्वादिङा
गमे गुणेऽयादेशे 'अधिशयितः' इति रूपम् । द्यतिस्यति । एषामित् तकारादिकित्प्र-
त्यये परतः । अधिष्ठितः । अधिपूर्वात्स्थाधातोः क्तप्रत्यये 'द्यतिस्यति' इति स्थाधातोः
इत्वे षत्वे ष्टुत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'अधिष्ठितः' इति रूपम् । 'अधिशीङ्' इति
वैकुण्ठस्य कर्मत्वम् । उपासितः । उपपूर्वादस्यतेः क्तप्रत्यये 'द्यतिस्यति' इतीकारादेशे

भावार्थक तथा आदिकर्मार्थक सेट् निष्ठा कित् गङ्गा हो, विकल्पसं । शब्द्विकरणेभ्यः—यद्
वैकल्पिक कित्त्वा निषेध शब्द्विकरण (स्वादि) धातुओंसे ही इष्ट है । निष्ठायां—सेट्
निष्ठाके परे 'णि' का लोप हो । दृढः स्थूल—स्थूल और बलवान् अर्थमें 'दृढ' निपातन हो ।
दधातेर्हि—'धा' धातुको 'हि' आदेश हो, तादि कित् प्रत्ययके परे । दो दद्धोः—घुसंज्ञक
'दा' धातुको 'दद्' आदेश हो, तादि कित् प्रत्ययके परे । गत्यर्थार्कर्मक—गत्यर्थक
अकर्मक, शिल्प, शीङ्, स्था, आस, वस, जन, रुह और ज धातुओंसे भाव, कर्म और कर्तामें,
भी 'क्त' प्रत्यय हो । द्यतिस्यति—दो अवखण्डने, घो अन्तर्कर्मणि, मा माने, माङ् माने
मेङ् प्रणिदाने, घा गतिनिवृत्तौ—इन धातुओंको इत्त्व हो, तादि कित् प्रत्ययके परे ।

दिनमुपोषितः । राममनुजातः । गरुडमारूढः । विश्वमनुजीर्णः । पक्षे—प्राप्ता गङ्गा तेनेत्यादि । क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः । ३।४।७६। एभ्योऽधिकरणे क्तः । चाद्यथाप्राप्तम् ।

मुकुन्दस्यासितमिदमिदं यातं रमापतेः ।

भुक्तमेतदनन्तस्येत्युच्योर्गोप्यो दिदृक्षवः ॥ १ ॥

पक्षे—आसेरकर्मकत्वात्कर्तरि भावे च—आसितो मुकुन्दः, आसितं तेन । (गत्यर्थेभ्यः कर्तरि कर्मणि च) रमापतिरिदं यातः, तेनेदं यातम् ।

सुवादिकार्ये 'उपासितः' इति रूपम् । उपोषितः । उपपूर्वात् वसधातोः क्तप्रत्यये 'वसतिष्णुधोरिट्' इतीटि यजादित्वात्संप्रसारणेनोकारे गुणे सस्य पत्वे सुवादिकार्ये 'उपोषितः' इति रूपम् । अनुजातः । अनुपूर्वाज्जनधातोः क्तप्रत्यये नस्यात्वे दीर्घे सुवादिकार्ये रूपम् । आरूढः । आङ्पूर्वादुहधातोः क्तप्रत्यये 'हो ङः' इति हस्य ङत्वे 'क्षपस्तथोः' इति तस्य धत्वे ष्टुत्वेन धस्य ङत्वे 'ढो ढे लोपः' इति पूर्वढलोपे 'ढलोपे पूर्वस्य' इति उकारस्य दीर्घत्वे सुवादिकार्ये च कृते 'आरूढः' इति रूपं राध्नोति । अनुजीर्णः । जृधातोः कर्तरि क्तप्रत्यये 'ऋत इद्धातोः' इतीकारान्तादेशे रपरत्वे 'हलि च' इति दीर्घत्वे 'रदाभ्याम्' इति तस्य नत्वे 'रपाभ्यां' इति णत्वे सुवादि-कार्ये च कृते 'अनुजीर्णः' इति साध्यं साध्नोति । कर्तरि प्रत्ययाभावपक्षे तु प्राप्ता गंगा तेनेति प्रक्रियावाक्यमेवेति भावः । क्तोऽधिकरण इति । ध्रौव्य-गतिः-प्रत्यवसानं च एषामर्थः तेषामिति भावः । ध्रौव्यार्थेभ्यः गत्यर्थेभ्यः प्रत्यवसानार्थेभ्यश्च इति यावत् । ध्रुवस्य भावः ध्रौव्यं = स्थैर्यमिति यावत् । स्थिरीभवनम्—उपवेशनशयनादिक्रियेति यावत् । ध्रौव्यस्योदाहरणमुदाहरति—मुकुन्दस्यासितमिदमिति । आस्यतेऽस्मिन्निति आसनमित्यर्थः । गत्यर्थमुदाहरति—इदं यातं रमापतेः । यायते गम्यतेऽस्मिन्निति यातं मार्ग इत्यर्थः । भुक्तमेतदनन्तस्येति । भुज्यतेऽस्मिन्निति भुक्तं भोजनस्थानमि-त्यर्थः । 'अधिकरणवाचिनश्च' इति त्रिष्वपि कर्तरि षष्ठी । अधिकरणे प्रत्ययाभावपक्षे न कर्मणि क्तः । आसितः=आसितवानित्यर्थः । कर्तरि क्तः । आसितं तेन, भावे क्तः । गत्यर्थेभ्य इति । तेषां सकर्मकतया भावेऽसंभवात्कर्तरि कर्मण्येव क्तः । यातः कर्तरि क्तः ।

क्तोऽधिकरणे—ध्रौव्यादि अर्थवाचक धातुओंसे अधिकरण अर्थमें 'क्त' प्रत्यय हो, चकारात् यथाप्राप्त (भावादि) अर्थोंमें भी 'क्त' प्रत्यय हो ।

मुकुन्द—यह स्थान रमापति भगवान् मुकुन्द (कृष्ण) के बैठनेका है और यह उनके जानेका है और यह उनके भोजन करनेका है—इस प्रकार (कृष्णकां) अन्वेषण करती हुई गोपीगण कह रही थीं ।

गत्यर्थेभ्यः—गत्यर्थक धातुओंसे कर्ता और कर्ममें 'क्त' प्रत्यय हो ।

(भुजेः कर्मणि) अनन्तेनेदं भुक्तम् । 'वर्तमाने' इत्यधिकृत्य । जीतः क्तः । ३।२।१८७।
द्विषणः ॥ मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च । ३।२।१८८। राज्ञो मतः । इष्टः । बुद्धः ।
विदितः । पूजितः । अर्चितः । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । 'शीलितो रक्षितः क्षान्त
आक्रुष्टो जुष्ट इत्यपि' इत्यादि । नपुंसके भावे क्तः । ३।३।११४। क्लीबत्व-
विशिष्टे भावे कालसामान्ये क्तः । जल्पितं । हसितम् ॥ सुयजोर्ध्वनिप् । ३।२।
१०३। भूते । सुत्वा । यज्वा । जीर्यतेरतृन् । ३।२।१०४। जरन् । जरन्तौ ।

यातम् कर्मणि क्तः । भुजधातोः कर्मणि क्तः, भुक्तम् । मण्डूकप्लुतिमाश्रयन् दर्शयति-
वर्तमाने इत्यधिकृत्येति जीतः क्तः । जि इत् यस्य तस्माद्वर्तमानक्रियावृत्तेः क्तः स्यादि-
त्यर्थः । द्विषणः जिचिबुद्धिधातोः 'जीतः क्तः' इति वर्तमाने क्तप्रत्यये 'रदाभ्यां' इति
नत्वे 'आदितश्च' इति इडागमनिपेधेणत्वे णत्वे सुबादिकार्ये रूपसिद्धिः । मतिबुद्धात् ।
मतिरिच्छा पृथग्रहणात् । मतः ॥ मनधातोः वर्तमाने क्तप्रत्यये 'अनुदात्तोपदेश' इति
नलोपे सुबादिकार्ये रूपसिद्धिः । इष्ट इति । इषधातोर्वर्तमाने क्तप्रत्यये 'तीपसहेति'
चेट्कत्वादिङभावे णत्वे सुबादिकार्ये रूपम् । बुद्धः । बुधधातोः क्तप्रत्यये 'क्षपस्तथोः'
इति धत्वे 'क्षलां जश् क्षशि' इति दत्वे सुबादिकार्ये 'बुद्धः' इति रूपम् । समुच्चय-
मुदाहरति—शीलितः । रक्षितः । शीलरक्षाभ्यां क्तप्रत्यये वलादित्वादिति सुबादि-
कार्ये रूपे राध्नुतः । क्षान्तः । क्षमधातोः क्तप्रत्ययेऽनुस्वारे परसवर्णे सुबादिकार्ये
'क्षान्तः' इति रूपम् । आक्रुष्टः । जुष्टः आङ्पूर्वात्क्रुशधातोः जुष्धातोश्च क्तप्रत्यये 'व्रश्च'
इति पत्वे णत्वे सुबादिकार्ये च कृते 'आक्रुष्टः' 'जुष्टः' इति साध्यरूपे साध्नुतः ।
नपुंसक इति भावस्तु क्लीबत्वविशिष्टः । जल्पितं—हसितम् जल्प-हसधातुभ्यां 'नपुंसके'
इति क्तप्रत्यये वलादित्वादिति सुबादिकार्ये रूपे भवतः । सुयजोरिति । भूताधिकार-
स्थत्वाद् भूते क्तः इत्यर्थः । सुत्वा । सुधातोः भूतार्थे 'सुयजोः' इति ड्वनिपि 'ह्रस्वस्य'
इति तुकि सौ 'सर्वनामस्थाने' इति दीर्घे ह्रस्व्यादिलोपे 'नलोपः' इति नलोपे
'सुत्वा' इति रूपम् । यज्वा । अत्रापि ड्वनिपि सुबादिकार्ये रूपं बोध्यम् । जरन् इति ।
जुधातोः अतृन्प्रत्यये ऋनयोलोपे गुणे रपरत्वे 'जरत्' इति जाते सौ 'उगिदचाम्' इति
नुमि संयोगान्तलोपे तस्यासिद्धत्वेन नलोपाभावे 'जरन्' इति रूपम् । वासरूपविधि-

भुजेः—'भुज्' धातुसं कर्म 'क्त' प्रत्यय हो ।

जीतः क्तः—जीदित् धातुसे वर्तमानमें 'क्त' प्रत्यय हो ।

मतिबुद्धि—मति-बुद्धि-पूजार्थक धातुओंसे वर्तमान कालमें 'क्त' प्रत्यय हो ।

नपुंसके—नपुंसकत्व विशिष्ट भाव और कालसामान्य अर्थमें धातुसे 'क्त' प्रत्यय हो ।

सुयजोर्ध्वनिप्—'सु' और 'यज्' धातुसे भूतकालमें ड्वनिप् प्रत्यय हो ।

जीर्यतेरतृन्—'जृ' धातुसे भूतसामान्यमें 'अतृन्' प्रत्यय हो ।

वासरूपन्यायेन निष्ठापि । जीर्णः । जीर्णवान् । छन्दसि लिट् । ३।२।१०५।
 लिटः कानञ्वा । ३।२।१०६। कसुश्च । ३।२।१०७। भूतसामान्ये छन्दसि
 लिट् । तस्य कानच्कसू वा स्तः । 'तजानावात्मनेपदम्' । चक्राणः । 'म्बोश्च' ।
 जगन्वान् । क्वयस्तु बाहुलकास्त्रोकेऽपि प्रयुज्यते । 'तं तस्थिवांसं नगरोपकण्ठे'
 'ध्रेयांसि सर्वाण्यधिजग्मुपस्ते' इत्यादि । वस्वेकाजादघसाम् । ७।२।६७।
 कृतद्विवचनानामेकाचामादन्तानां षसेश्च वसोरिट् स्थानान्येषाम् । आदिवान् ।
 आरिवान् । ददिवान् । जक्षिवान् । एषां किम् ? बभूवान् । भाषायां सदवस-

ना क्तवत्त्वरपि सिद्धि साधयति—जीर्णः । जधातोः क्तप्रत्यये 'ऋत इत्' इति इकारे
 रपरत्वे 'हलि च' इति दीर्घे 'रदाभ्याम्' इति तस्य नत्वे 'रषाभ्याम्' इति णत्वे सुवादि-
 कार्यैरूपसिद्धिः फलति । जीर्णवान् । क्तवत् प्रत्यये 'ऋत इत्' इतीति रपरत्वे 'हलि च'
 इत्युपधादीर्घे 'रदाभ्यां' इति नत्वे 'रषाभ्याम्' इति णत्वे सौ 'अत्वसन्त' इति दीर्घे
 'उगिदचाम्' इति जुमि हल्ङ्यादिलोपे संयोगान्तलोपे तस्यासिद्धत्वेन नलोपाभावे
 'जीर्णवान्' इति रूपस्य सिद्धिः । जगन्वान् । गम् धातोः लिटि, 'कसुश्च' इति
 लिटो लः स्थाने कसौ, कस्य उकारस्य चत्संज्ञायां लोपे च कृते 'गम् + वस्' इति भूते
 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे, अभ्याससंज्ञायां 'हलादिः शेषः' इति मलोपे,
 'कुहोश्चुः' इति गस्य जकारे 'जगम् वस्' इति जाते, 'म्बोश्च' इति मस्य नत्वे,
 कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे तस्मात्सौ, उलोपे, 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' इति
 जुमि, उमि गते, मित्रादन्यादचः परे जाते 'जगन्वन्सस्' इति भूते, 'सान्तमहतः
 संयोगस्य' इति सान्तसंयोगस्योपधाया दीर्घे 'हल्ङ्याभ्याम्' इति सलोपे, 'संयोगान्त-
 स्य लोपः' इति सलोपे, संयोगान्तस्य लोपस्य असिद्धत्वात् नलोपाभावे 'जगन्वान्'
 इति । क्वयः—कालिदासादयः । तस्थिवांसम् । स्थाधातोः लिटः कसुः, द्वितीयैक-
 वचने उगित्वान्नुम् 'सान्तमहत' इति दीर्घः । अधिजग्मुष इति । अधिपूर्वाद्भमेर्लिटः
 क्वसुः 'गमहन' इत्युपधालोपः शसि वसोः संप्रसारणम्, पूर्वरूपम्, पत्वम् ।
 वस्व इति । कृतेऽपि द्वित्वे एकाच एव येऽवशिष्यन्ते तेषामित्यर्थः । आदिवानिति ।
 अद्धातोर्लिटि लिटः 'कसुश्च' इति कसुप्रत्यये द्वित्वे पूर्वोभ्यासत्वे हलो लोपे 'अत
 आदेः' इति दीर्घे सवर्णदीर्घे आद-वस्-इति जाते 'वस्वेकाजादघसाम्' इति इटि सौः
 उगित्वान्नुमि 'सान्तमहतः' इति दीर्घे हल्ङ्यादिलोपे सलोपे 'आदिवान्' इति
 रूपम् । आरिवान् । ऋधातोः कसुप्रत्यये द्वित्वादिकार्ये आर्-वस् इति जाते 'वस्वेका'

छन्दसि लिट्—वेदमें भूतसामान्यमें लिट् लकार हो । लिटः कानञ् वा कसुश्च—उस
 लिट् के स्थानमें 'कानच्' और 'क्वसु' आदेश हो, विकल्पसे । वस्वे—कृतद्विवचन एकाच्
 आदन्त धातुसे पर और षसादेशसे पर ही 'वसु' को इट् हो, अन्यको नहीं । भाषायां—सद-

श्रुवः । ३।२।१०८। सदादिभ्यो भूतसामान्ये भाषायां लिङ् वा स्यात्, तस्य च नित्यं कसुः । 'निषेदुषीमासनबन्धधीरः' 'अध्युषुषस्तामभवज्जनस्य' । शुश्रुवान् ॥ उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च । ३।२।१०९। एते निपात्यन्ते । उपपूर्वादिणो लिङ् वा, तस्य कसुः । इट्, उपेयिवान् । नात्रोपसर्गस्तन्त्रम् । ईयिवान् । नञोऽ- र्शनातेः कसोरिङ्भावश्च । अनश्वान् । अनोर्वचः कर्तरि कानच् । वेदस्यानुवचनं कृतवाननूचानः । लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे । ३।२।१२४। अथप्रथमान्तेन सामानाधिकरण्ये लट् एतौ वा स्तः । शबादि, पचन्तं चैत्रं पश्य । आने मुक् । ७।२।८२। अङ्गस्यातः । पचमानं चैत्रं पश्य । लङित्यनुवर्तमाने पुनर्लङ्ग्रहणात्प्रथमासमानाधिकरण्येऽपि कचित् । सन्दिजः ॥ ईदासः । ७।२।८३।

इति इटि सुवादिकार्ये 'आरिवान्' इति रूपम् । इडिवान् । दाधातोर्लिङि कसुप्रत्यय- द्वित्वादिकार्ये 'ददा-वस्' इति जाते 'वस्वे' इति इटि 'आतो लोप इटि च' इति आलोपे सुवादिकार्ये कृते 'ददिवान्' रूपम् । निषेदुषीमिति । निपूर्वात्सदेर्लिङि कसौ द्वित्वे 'अत एकहल्' इत्येत्वेऽभ्यासलोपत्वे वसोः संप्रसारणे पूर्वरूपे पत्वे ङीपि अमि- पूर्वरूपे निषेदुषीमित्यस्य सिद्धिः । अध्युपुष इति । अधिपूर्वात् वसधातोः लिङि कसौ यजादिस्वात्संप्रसारणे पूर्वरूपे उस् इत्यस्य द्वित्वे हलादिशेषत्वे सवर्णदीर्घे अध्युष्वस् इति जाते शसि वसोः संप्रसारणे पूर्वरूपे रुत्वे विसर्गे च कृते 'अध्युपुषः' इति सिद्धम् । शुश्रुवानिति । शुधातोर्लिङि क्वसौ द्वित्वे हलादिशेषत्वे सौ उगित्त्वाननुमिः 'सान्तमहतः' इति दीर्घे सस्य लोपे संयोगान्तलोपे 'शुश्रुवान्' इति रूपम् । उपेयिवा- निति । निपात्यन्ते । उपपूर्वादिणधातोः लिङि क्वसौ निपातनसामर्थ्यात् उपेयिवा- निति रूपम् । यदोपसर्गनिबन्धनं न स्यात्तदा 'ईयिवान्' इति रूपम् । सन् द्विजः । अस्—भुवि धातोः 'वर्तमाने लट्' इति लटि, 'लटः शतृशानचावप्रथ- मासमानाधिकरणे' इत्यनेन प्रथमासमानाधिकरणेऽपि लटो लः स्थाने शतृप्रत्यये, अनुबन्धलोपे, सार्वधातुकसंज्ञायां शपि, 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति शपो लुकि, 'अस-अत्' इति जाते 'सार्वधातुकमपित्' इति अतः सार्वधातुकस्य ङित्वात् 'श्न- सोरत्त्वलोपः' इति असोऽकारस्य लोपे, कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे सौ, उलोपे 'उगिदच्'।

वस और शु धातुओंसे भाषा (लोक) में भूतसामान्यमें विकल्पसे लिट् लकार हो और उस लिट्के स्थानमें नित्य 'कसु' आदेश हो ।

उपेयिवान्—उपेयिवान्, अनाश्वान् और अनूचान शब्द निपातन हो ।

लटः शतृ—लट्के स्थानमें शतृ और शानच् आदेश हों, अप्रथमा-समानाधिकरणमें ।

आने मुक्—अङ्गावयव अतको 'मुक्' का आगम हो, 'आन्'के परे ।

ईदासः—'आस्' धातुसे पर 'आन' को 'ईत्' हो ।

‘आनस्य । ‘आदेः परस्य’ आसीनः ॥ विदेः शतुर्वसुः । ७।१।३६। वेत्तेः परस्य शतुर्वसुरादेशो वा । विद्वान्, विदन् । तौ सत् । ३।२।१२७। तौ शतृशानचौ सत्संज्ञौ स्तः । लृटः सद्वा । ३।३।१४। करिष्यन्तं करिष्यमाणं परस्य । ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश् । ३।२।१२९। अग्नौ जुह्वानः । कवचं विभ्राणः । शत्रं निघ्नानः ॥ आकवेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु । ३।२।१३४। क्रिपमभिव्याप्य वक्ष्यमाणास्तच्छीलादिषु कर्तृषु बोध्याः । तुन् । ३।२।१३५।

‘सर्वनामस्थानेऽधातोः’ इति जुमि, उमि गते, मिस्वादन्यादचः परे जाते ‘सन्त् स’ इति भूते ‘हल्ङ्याढभ्यः’ इति सलोपे, ‘संयोगान्तस्य लोपः’ इति तलोपे ‘सन्’ इति रूपम् । ईदात् इति । ‘आने मुक्’ इत्यत आन इति । तच्च विपरिणम्यतेऽत आह—आनस्येति । आसः परस्य आनस्य ईदादेशः स्यादित्यर्थः । आतीन इति । आहपूर्वादसधातोः लटि शानचि शपि ‘अदिप्रभृतिभ्यः’ इति लुकि ‘आस् आन’ इति जाते ‘ईदासः’ इति आकारस्येति सौ रुत्वे विसर्गे ‘आसीनः’ इति रूपं भवति । विद्वान् । विद्धातोर्लटः शतरि तस्य ‘विदेः शतुर्वसुः’ इति वसुरादेशो उगते, ‘विद्वस्’ इति जाते, कृदन्तत्वात् सौ, उलोपे, ‘उगिदचाम्’ इति जुमि उमि गते, ‘सान्तमहतः संयोगस्य’ इत्युपधाया दीर्घे ‘हल्ङ्याढभ्यः’ इति सलोपे ‘संयोगान्तस्य लोपः’ इति सलोपे ‘विद्वान्’ इति रूपम् । विदन् । विदो लटि, लटः शतरि, अनुबन्धलोपे, शपि, शपो लुकि, ‘विदत्’ इति भूते तस्मात्सौ उलोपे, ‘उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः’ इति जुमि, उमि गते, मिस्वादन्यादचः परे ‘हल्ङ्याढभ्यः’ इति सलोपे, ‘संयोगान्तस्य लोपः’ इति तकारस्य लोपे ‘विदन्’ इति रूपम् । ताच्छील्येति । तत् शीलमस्य तस्य भावस्तस्मिन् । धातोर्नित्यधिकृतमेव । अग्नौ जुह्वानः जुधातोर्लोटि ताच्छील्ये ‘ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्’ इति चानशि शिस्वात्सार्वाधातुकत्वे शपि ‘जुहोत्यादिभ्यः श्लुः’ इति लुकि श्लौ इति द्वित्वेऽभ्यासकार्ये यणि सौ रुत्वे विसर्गे ‘जुह्वानः’ इति रूपम् । वयोवचनमुदाहरति—विभ्राण इति । भृधातोः ‘ताच्छील्य’ इति चानशि शपि श्लौ द्वित्वेऽभ्यासकार्ये यणि सौ रुत्वे विसर्गे रूपम् । निघ्नान इति निपूर्वाद्धन्तेश्चानशि शपि शब्लुकि उपधालोपे ‘हो हन्तेः’ इति कुत्वेन

विदेः शतुः—‘विद्’ धातुसे पर ‘शतृ’ के स्थानमें ‘वसु’ आदेश हो, विकल्पसे ।

तौ सत्—शतृ और शानच् ‘सत्’ संज्ञक हो ।

लृटः—सद्वा—लृट् के स्थानमें शतृ और शानच् विकल्पसे हों । ताच्छील्य—ताच्छीः स्यादि अर्थमें धातुसे कर्तामें ‘चानश्’ प्रत्यय हो । आकवेस्तच्छील—वक्ष्यमाण ‘आजमास’ सूत्रसे विहित ‘क्विप्’ को व्याप्त करके (वहाँ तक) जो प्रत्यय कहें गये हैं, वे तच्छीलादि कर्ता अर्थ में हो । तुन्—धातुसे ‘तुन्’ प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें ।

कर्ता कटाक्ष ॥ स्पृह्णिगृहिपतिदयिनिद्रातन्द्राश्रद्धाभ्य आलुच् । ३।२।१५८।
 आयास्यक्षुरादावदन्ताः । स्पृहयालुः । (शीङो वाच्यः) । शयालुः ।
 अलंकृञ् निराकृञ् प्रजनोत्पचोत्पतोन्मदरुच्यपत्रपवृत्तुवृधुसहचर इष्णुच् ।
 ३।२।१३६। अलङ्करिणुः । ग्लजिस्थश्च गस्तुः । ३।२।१३९। गिदयं नतु
 कित् । तेन स्थ ईत्वं न । ग्लास्तुः । गित्वाञ् गुणः । जिणुः । स्थास्तुः । चाद् भुवः ।
 'भ्रयुकः किती'त्यत्र गकारप्रश्लेषाच्चेद् । भूणुः । असिगृधिधृषिक्षिपेः क्तुः

घत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'निघ्नान' इति प्रसिध्यति । कर्ता कटाक्ष । करोति
 तच्छील इत्यस्मिन्नर्थे कृधातोः 'तृन्' इति तृनि, नलोपे, 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्ध-
 धातुकत्वे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे अकारे, 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे,
 'कतृ' इति भूते 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इति प्रातिपदिकत्वे सौ, उलोपे, 'सुडनपुंसक-
 स्य' इति सः सर्वनामस्थानसंज्ञायाम् 'ऋदुशनस्पुरदंसोऽनेहसाञ्च' इत्यनङि, अङो
 लोपे, 'ङिच्च' इत्यनेन ऋस्थाने जाते 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' इति उपधायाः
 दीर्घे 'हृङ्याभ्यः' इति सलोपे, 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपे 'कर्ता'
 इति रूपम् । स्पृहिगृहीति । एभ्य आलुच् स्यादित्यर्थः । स्पृहयालुरिति । स्पृहिधातोः
 आलुचि गुणोऽयादेशे सौ रुत्वे विसर्गे 'स्पृहयालुः' इति रूपं भवति । गीङो
 वाच्य इति । आलुच् वाच्य इत्यर्थः । शयालुरिति । शीङ्धातोरालुचि गुणोऽयादेशे सुवा-
 दिकार्ये 'शयालुः' इति राधनोति । अलंकृञ् इति । एभ्य इष्णुच् स्यादित्यर्थः । अलङ्करि-
 णुः । अलंपूर्वात्कृञ् इष्णुचि गुणे रपरत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'अलंकरिणुः' इति साधनो-
 ति । ग्लजिस्थेति । गस्तुः प्रत्ययो वाच्य एषामित्यर्थः । ग्लास्तुः, स्थास्तुः । ग्लैस्थाधात्वोः
 गस्तुप्रत्यये सौ रुत्वे विसर्गे 'ग्लास्तुः' 'स्थास्तुः' इति रूपे भवतः । जिणुः । जिधातोः
 गस्तुप्रत्यये सस्य पत्वे घृत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'जिणुः' इति रूपं भवति । भूणुः । भूधा-

स्पृहिगृहि—प्यन्त स्पृहि, गृहि, पति और दयि धातुसे एवं निपूर्वक 'द्रा' धातुसे,
 तद् पूर्वक 'द्रा' धातुसे और 'अत्' इत्यव्ययपूर्वक 'धा' धातुसे 'आलुच्' प्रत्यय हो,
 तच्छीलादि अर्थमें ।

(तद् पूर्वक 'द्रा' धातुसे आलुच् और 'तद्' शब्दको नान्तत्व निपातन भी समझना चाहिये)
 शीङो वाच्यः—'शीङ्' धातुसे (भी) आलुच् प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें ।

अलंकृञ्—अल पूर्वक 'कृञ्' धातु, निराङ् पूर्वक 'कृञ्' धातु, प्रपूर्वक 'जन्' धातु,
 उत् पूर्वक 'पच्' 'पत्' और 'मद' धातु, अप पूर्वक 'त्रप' धातु तथा वृत्, वृध्, सद् और चर्
 धातुओंसे 'इष्णुच्' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें ।

ग्लजिस्थश्च—ग्ला, जि, स्था और (चकारात्) भू धातुसे 'गस्तु' प्रत्यय हो, तच्छी-
 लादि अर्थमें । असिगृधि—असादि धातुओंसे 'क्तु' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें ।

॥३॥१४०॥ त्रस्तुः । गृध्नुः । क्षिप्नुः । शमित्यष्टाभ्यो धिनुण्
 ॥३॥१४१॥ उकार उच्चारणार्थ इति काशिका । अनुबन्ध इति भाष्यम् ।
 तेन शमिनितरा शिमिनीतरेत्यत्र 'उगितश्चे'ति ह्रस्वविकल्पः । न चैवं शमी शमिनावि-
 त्यादौ नुम्प्रसङ्गः । क्लृप्प्रहणमपकृष्य क्लृप्प्रहणमेव तद्विधानात् । 'नोदात्तोपदेशस्ये'ति
 वृद्धिनिषेधः । शमी । तमीत्यादि । सम्पृचानुरुधाङ्यमाङ्यसपरिस्सं-
 स्तृजपरिदेविसंज्वरपरिक्षिपपरिरटपरिवदपरिदहपरिमुहदुषद्विषदुहदु-
 ह्युजाक्रीडविविचत्यजरजभजातिचरापचरामुषाभ्याहनश्च ॥३॥१४२॥
 धिनुण् स्यात् । सम्पर्कीत्यादि । वौ कषलसकत्थस्रम्भः ॥३॥१४३॥
 विकाषी । अपे च लघः ॥३॥१४४॥ चादौ । अपलाषी । विलाषी । चलन-
 शब्दार्थादकर्मकाद्युच् ॥३॥१४८॥ चलनार्थाच्छब्दार्थाच्च युच् स्यात् । चलनः ।

तोः स्तुप्रत्यये षत्वे ष्टुत्वे सौ रुत्वे विसर्गे 'भूष्णुः' इति रूपम् । त्रमीति । पुभ्यः वनुः
 प्रत्ययः स्यात् । त्रस्तुः-गृध्नुः-धृष्णुः-क्षिप्नुः । त्रसिगृधिपक्षिपधातुभ्यः वनुप्रत्यये क-
 लोपे सौ रुत्वे विसर्गे रूपाणि प्रभवन्ति । शमित्येति । शमादिभ्यो दिवादिस्थेभ्योऽष्टाभ्यो
 धिनुणस्यादित्यर्थः । शमिनीतरा । शमधातोर्धिनुणि घकारोकारणकाराणामित्वे 'उगित-
 श्चे'ति ङीप् 'शमिनीतरे'ति रूपम् । शमी । तमी । शमतमोः धिनुणि घकारोकारणकारा-
 णामित्वे सौ 'सौ च' इति दीर्घत्वे नलोपे 'शमी' 'तमी' इति भवतः । सपृचेति । पुभ्यो
 धिनुण् स्यादित्यर्थः । संपर्की । संपृचशब्दात् धिनुणि 'चजोः' इति कत्वे घकारोकारण-
 काराणामित्वे लोपे सौ 'सौ च' इति दीर्घे ह्रस्व्यादिलोपे 'नलोपः' इति नलोपे च कृते
 'संपर्की' इति रूपम् । वाविति । धिनुण् स्यादिति भावः । विकाषी । विपूर्वात् कषधातो-

शमित्यष्टाभ्यो—(दिवादिस्थ) शम्, तम्, दम्, धम्, भ्रम्, क्षम्, क्लम्, मद्—इन
 आठ धातुओंसे 'धिनुण्' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें ।

सम्पृचानु—सम् पूर्वक 'पृच्' धातु, अनु पूर्वक 'रुध' धातु, आङ् पूर्वक 'यम्' और
 'यस्' धातु, परिपूर्वक 'स्तृ' धातु, सम् पूर्वक 'स्तृज्' धातु, परिपूर्वक 'देव्' धातु, सम्पूर्वक
 'ज्वर' धातु, परिपूर्वक क्षिप्, रट्, वद्, दह् और 'मुह' धातु तथा दुष्, द्विष्, दुह्, डह्
 और युज् धातु, आङ्पूर्वक 'क्रीड्' धातु, वि पूर्वक 'विच्' धातु, तथा त्यज्, रज् और भज्
 धातु अति और अप पूर्वक 'चर्' धातु, आङ् पूर्वक 'मुष्' धातु और अमि, आङ् पूर्वक 'इन्'
 धातुसे 'धिनुण्' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें ।

वौ कष—'वि' पूर्वक कष, लस्, कत्थ और स्रम्भ धातुसे 'धिनुण्' प्रत्यय हो, तच्छी-
 लादि अर्थमें । अपे चलघः—'अप्' और (चकारात्) 'वि'पूर्वक 'लघ्' धातुसे 'धिनुण्'
 प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें । चलनशब्दा—चलनार्थक और शब्दार्थक अकर्मक धातुओंसे

चोपनः । कम्पनः । शब्दनः । रवणः । अकर्मकात्किम् ? पठिता विद्याम् । अनुदा-
त्तेतश्च हलादेः । ३।२।१४९। अकर्मकायुच् । वर्तनः । वर्धनः । अनुदात्तेतः
किम् ? भविता । हलादेः किम् ? एधिता । अकर्मकात्किम् ? वसिता वस्त्रम् ।
निन्दहिंसक्लिशखादविनाशपरिक्षिपपरिरटपरिवादिव्याभाषासूजो वुञ्
। ३।२।१४६। एभ्यो वुञ् । निन्दकः । हिंसकः, इत्यादि । देविक्रुशोश्चोपसर्गे
। ३।२।१४७। आदेवकः । आक्रोशकः । उपसर्गे किम् ? देवयिता । क्रोष्टा । लष-
पतपदस्थाभ्रवृषहनकमगमशृभ्यः उकञ् । ३।२।१५४। लाषुकः । पातुकः ॥
जल्पभिक्षकुट्टलुण्टवृङ्गः घाकन् । ३।२।१५५। जल्पाकः । सनाशंसभि-

र्विणुणि णित्वेन 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ सौ 'सौ च' इति दीर्घे सलोपे नलोपे 'वि-
कापी' इति रूपम् । अपे चेति । विणुण् स्यादिति भावः । अपलापी-विलापी । अपपूर्वा-
द्विपूर्वाच्च लपधातोः 'अपे च लप' इति विणुणि अनुबन्धलोपे उपधावृद्धौ सुवादि-
कार्ये 'अपलापी-विलापी' इति भवतो रूपे इति ज्ञेयम् । चलनेति । एभ्यो युच् । चल-
नः-चोपनः-कम्पनः-शब्दनः-रवणः । चल चुप-कम्प शब्द-रु एभ्यो धातुभ्यः 'चलनार्थ'
इति युचि 'युवोः' इत्यनि इगुपधानां गुणे सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'चलनः' 'चोपनः'
'कम्पनः' 'शब्दनः' 'रवणः' इति साधूनि साध्नुवन्ति । निन्देति । एभ्यो वुञ् । निन्दकः-
हिंसकः । निन्दहिंसयोः वुजि 'युवोः' इत्यकि सुवादिकार्ये 'निन्दकः' 'हिंसकः' इति रूपे
साधुत्वं गच्छतः । देवीति । वुञ् स्यात् । आदेवकः-आक्रोशक इति । आङ्पूर्वात् दिवक्रुशोः
वुजि अकि पुगन्तगुणे सुवादिकार्ये च कृते 'आदेवकः-आक्रोशकः' रूपे भवतः । लषपतेति ।
एभ्य उकञ् स्यादित्यर्थः । लाषुकः-पातुक इति । लषपतोरुक्कि 'अत उपधाया' इति

'युच्' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें ।

अनुदा—हलादि अनुदात्तेत अकर्मक धातुओंसे 'युच्' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें ।

निन्दहिंस—निन्दादि धातुओंसे 'वुञ्' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें ।

उदाहरण—निन्द-निन्दकः । हिंस-हिंसकः । क्लिश-क्लेशकः । खाद—खादकः ।

विनाश-विनाशकः । परिक्षिप-परिक्षेपकः । परिरट-परिराटकः । परिवादि-परिवादकः ।
व्याभाष-व्याभाषकः । असूय (कण्ड्वादियङन्त)-असूयकः ।

देविक्रुशो—सोपसर्गक 'दिक्' और 'क्रुश्' धातुसे 'वुञ्' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें ।

लषपत—लषादि धातुओंसे 'उकञ्' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें ।

उदाहरण—लाषुकः । पातुकः । पादुकः । स्थायुकः । भाषुकः । वर्णुकः । घातुकः ।
कामुकः । गामुकः । शारुकः ।

जल्पभिक्ष—जल्पादि धातुओंसे 'पाकन्' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें । सनाशंस-। न्

क्ष उः । ३।२।१६८। चिकीर्षुः । आशंसुः । भिक्षुः । स्थेशभासपिसकसो वरच् । ३।२।१७५। स्थावरः । भास्वरः, इत्यादि । यश्च यङ्कः । ३।२।१७६। यातेर्यङन्ता-
 वरच् । अतो-लोपः । तस्यावः परस्मिन्निति स्थानिवद्भावे प्राप्ते । न पदान्तद्विर्व-
 चनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घजश्चर्विधिषु । १।१।५८। पदस्य चरमा-
 वयवे द्विर्वचनादौ च कर्तव्ये परनिमित्तोऽजादेशो न स्थानिवत् । इति यलोपं प्रति
 स्थानिवत्त्वनिषेधात् 'लोपो व्योर्वली'ति यलोपः । अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वमाश्रित्याल्लोपे
 प्राप्ते । (वरे लुप्तं न स्थानिवत्) यायावरः । भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिपृजु-
 ग्रावस्तुवः क्तिप् । ३।२।१७७। विभ्राट् । भाः । धूः । विद्युत् । ऊर्क् । पूः । दशि-

वृद्धौ सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'लापुकः' 'पातुकः' इति रूपे भवतः । चिकीर्षुः । कर्तुमि-
 च्छतीति विग्रहे सन्नन्तात् चिकीर्ष शब्दात् 'सनाशंसमिच्च उः' इति उप्रत्यये
 तस्यार्धधातुकत्वात् 'अतो लोपः' इत्यकारलोपे संयोगे कृते विभक्तिकार्यं च कृते
 'चिकीर्षुः' इति रूपम् । आशंसुः । आङ्पूर्वकशंसधातोः 'सनाशंसमिच्च उः' इति उप्र-
 त्यये विभक्तिकार्यं च कृते तत्सिद्धिः । एवं मिच्च धातोः उप्रत्यये कृते 'भिक्षुः' इति
 रूपम् । स्थेशेति । एभ्यो वरच् स्यात् । स्थावर इति । स्थाधातोः वरचि सौ रुत्वे विसर्गे
 च कृते 'स्थावरः' इति रूपम् । एवम् 'ईश्वरः' इत्यादि । यश्चेति वरच् स्यादित्यर्थः ।
 न पदान्तेति । स्थानिवद्भावो नेत्यर्थः । वरे लुप्तमिति । वरप्रत्यये परतो यल्लुप्तं तस्य
 स्थानिवद्भावो नेत्यर्थः । यायावर इति 'या' धातोः 'धातोरेकाच' इति यङि 'सन्न्यङोः'
 द्वित्वे वरचि 'अतो लोपः' इति अल्लोपे तस्य स्थानिवद्भावामावेन 'लोपो व्योः' इति यलोपे
 आल्लोपस्य कर्तव्ये अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वे प्राप्ते 'वरे लुप्तम्' इति स्थानिवद्भावनिषेधे सौ
 रुत्वे विसर्गं च कृते 'यायावरः' इति । विभ्राट् । विशेषेण भ्राजते तच्छीलः इत्यर्थे
 वि उपसर्गपूर्वकभ्राजधातोः क्तिपि, इकारे गते 'लशक्तद्धिते' इति कस्य 'हल्-
 न्त्यम्' इति पस्य च इत्संज्ञायां लोपे च कृते 'वेरपृक्तस्य' इत्यनेन वस्य लोपे
 च कृते 'विभ्राज्' इति भूते कृदन्तत्वाप्रातिपदिकत्वे सौ उगते सस्य 'हल्-
 ङ्याव्' इति लोपे 'वश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छ्र्क्षां षः' इति जस्य षत्वे 'झलां
 जशोऽन्ते' इति पस्य ङत्वे 'वाऽवसाने' इति वा टत्वे 'विभ्राट्' इति । भाः ।

(सन्नन्त) आशंसु और भिक्षु धातुसे 'उ' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें । स्थेशभास-स्था,
 ईश, भास्, पिस और कस् धातुसे 'वरच्' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें । यश्च यङ्कः-यङन्त
 'या' धातुसे 'वरच्' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें । न पदान्त-पदका चरमावयव कार्य
 कर्तव्यमें तथा द्विर्वचनादि कार्य-कर्तव्यमें-परनिमित्तक अजादेश स्थानिवत् नहीं हो ।
 वरे लुप्तं-वरच् प्रत्ययके परे लोपको स्थानिवद्भाव नहीं हो । भ्राजभास-भ्राज्, भास्,
 धुर्वि, द्युत्, ऊर्जि, पू, जु, ग्रावस्तु-इन धातुओंसे 'क्तिप्' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें ।

ग्रहणस्यापकर्षणाज्जवतेर्दीर्घः । जूः । प्रावस्तुत् । (किञ्चिप्रच्छयायतस्तुकटप्र-
जुश्रीणां दीर्घोऽसंप्रसारणं च) वक्तीति वाक् । पृच्छतीति प्राट् । आयतं स्तौतीति
आयतस्तुः । कटं प्रवते कटप्रूः । जरुक्तः । श्रयति हरिमिति श्रीः । (ध्यायतेः संप्र-
सारणं च) । धीः ॥ दाम्नीशसयुयुजस्तुतुदसिसिचमिहपतदशनहः करणे
। ३।२।१८२। दावादेः घ्नू करणेऽर्थे । दान्त्यनेन दात्रम् । नेत्रम् ॥ तितुत्रतथसि-
सुसरकसेपु च । ७।२।९। एषां दशानां कृत्प्रत्ययानामिण् । शस्त्रम् । योत्रम् ।
योक्त्रम् । स्तोत्रम् । तोत्रम् । सेत्रम् । सेक्त्रम् । मेढ्रम् । पत्रम् । दंष्ट्रा । नद्धी ।
हलसूकरयोः पुवः । ३।२।१८३। पूङ्पूजोः करणे घ्नू । तच्चेत्करणं हलसूकरयो-
रवयवः । हलस्य सूकरस्य वा-पोत्रम् , सुखमित्यर्थः । अर्तिलूधूसूखनसहचर-
इत्रः । ३।२।१८४। अरित्रम् । लवित्रम् । धवित्रम् । सवित्रम् । खनित्रम् । सहित्रम् ।

भास् धातोः 'आजभासधुर्विद्युतो' इत्यादिना विवपि, क्षिपः सर्वस्यापहारे
कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे सौ, उलोपे हल्ङ्यादिना सलोपे भासः सस्य रुत्वे रेफस्य
विसर्गत्वे च 'भाः' इति रूपम् । कटप्रूः । कटपूर्वकप्रुधातोः 'किञ्चिप्रच्छयायतस्तु-
कटप्रु' इत्यादिना क्षिपि धातोर्दीर्घत्वे च कृते क्षिपो लोपे विभक्तिकार्यं च तत्सिद्धिः ।
दाम्ना । दाप् , नी, शस्, यु, युज, स्तु, तुद्, सि, सिच्, मिह, पत, दश, नह, एषां
त्रयोदशानां द्वन्द्वः । 'दाप् लवने' इत्यस्य पकारस्य स्थाने 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको
वा' इति कृतमकारस्य निर्देशः । दात्रम् । दाप्धातोः 'दाम्नीशसयुयुजस्तुतुदसिसिच-
मिहपतदशनहः करणे' इति द्विनि नलोपे, 'पः प्रत्ययस्य' इति षस्येत्संज्ञायाम् ,
'तस्य लोपः' इति पलोपे, दात्र इत्यवशिष्टे विभक्तिकार्यं च कृते तत्सिद्धम् । मेढ्रम् ।
मिह सेचने धातोः 'दाम्नीशसयुयुजस्तुतुदसिसिचमिहपतदशनहः करणे' इति
द्विनि, अनुबन्धलोपे, 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकत्वे 'पुगन्तलघूपधस्य च'
इति लघूपधगुणे 'मेह + त्र' इति भूते 'हो ङः' इति हस्य ङत्वे 'झयस्तथोर्धोऽधः'

किञ्चि—वचादि धातुओंसे 'किप्' प्रत्यय हो, अच्को दीर्घ हो तथा संप्रसारणका
अभाव हो । ध्यायतेः—'ध्वै' धातुसे क्विप् और संप्रसारण हो ।

दाम्नीशस—दाप् , नी, शस् , यु, युज् , स्तु, तुद् , सि, सिच् , मिह् , पत् , दश्
और नह् धातुसे करण अर्थमें 'घ्नू' प्रत्यय हो ।

तितुत्रतथ—ति, तु, त्र, त, थ, सि, सु, सर, क और स इन् दशों कृत्प्रत्ययोंको
इट् नहीं हो ।

हलसूकरयोः—पूङ् और पूज् धातुसे 'घ्नू' प्रत्यय हो, करण में, वह करण यदि हल
और सूकरका अवयव हो ।

अर्तिलू—ऋ, लृ, धृ, सू, खन् , सह् और चर् धातुओंसे 'इत्र' प्रत्यय हो, करणमें ।

चरित्रम् । पुवः संज्ञायाम् । ३।२।१८५। पवित्रम् ॥ इति पूर्वकृदन्तप्रकरणम् ॥

इति तस्य धत्वे 'घुना ष्टुः' इति धस्य ढत्वे 'ढो ढे लोपः' इति पूर्वढस्य लोपे विभक्तिकार्यं च कृते तत्सिद्धिः । इति पूर्वकृदन्तम् ।

पुवः संज्ञायां—पूङ् और पूञ् धातुसे करणमें 'इत्र' प्रत्यय हो, संज्ञामें ।

नोटः—'कृत्' प्रत्यय क्रिया या धातुके अन्तमें प्रयुक्त होते हैं और उनके योगसे बने शब्द 'कृदन्त' कहलाते हैं । (कृदन्तके निम्न मुख्य पांच प्रत्ययों पर ध्यान दो)

(१) तच्च-अनीयर्—इनके प्रयोगमें कर्तासे तृतीया अथवा पठो विभक्ति होती है । सकर्मक धातुसे ये प्रत्यय होनेपर तीनों लिङ्ग और तीनों वचन होते हैं, और अकर्मक धातुसे होनेपर केवल नपुंसक लिङ्ग और एकवचन ही प्रयुक्त होते हैं । यथा—'तेन पाठः पठितच्चः' । 'तेन आसितच्चम्' । 'त्वयेदं कर्तव्यम्', करणीयं वा' । प्रायः 'विधि' अर्थमें ही इसका प्रयोग होता है ।

(२) क्त—'क्त' प्रत्यय भूतकालमें होता है और 'क्त' प्रत्ययान्त क्रियाके साथ कर्तासे तृतीया और कर्मसे प्रथमा विभक्ति होती है तथा कर्मके लिङ्गके अनुसार ही क्तप्रत्ययान्त पदका लिङ्ग होता है । जैसेः—तेन माला निर्मिता । मया फलं भक्षितम् । अकर्मक धातुसे 'क्त' प्रत्यय प्रायः नपुंसक लिङ्गमें होता है (मया हसितम्) । कुछ धातुयें ऐसी भी हैं जिनसे 'क्त' प्रत्यय कर्तामें होता है । 'गत्यर्थाकर्मक०' (पृ० २०० देखो) कभी कभी 'क्त' प्रत्ययान्त शब्द विशेषण रूपसे भी प्रयुक्त होता है । यथाः—'वनं गतो रामः' ।

(३) क्तवतु—'क्तवतु' प्रत्यय भी भूतकालमें होता है, परन्तु यह कर्तामें ही होता है और कर्तृवाच्यके अनुसार कर्ता और कर्मसे विभक्तियाँ भी होती हैं । जैसेः—'अहं पुस्तकं पठितवान्' । 'तौ पुस्तकं पठितवन्तौ' ।

(४) क्त्वा—जब एक क्रियाके बाद दूसरी क्रिया की जाती है तब प्रथम क्रियासे 'क्त्वा' प्रत्यय किया जाता है और क्त्वा प्रत्ययान्त क्रिया अव्यय रूपसे प्रयुक्त होती है तथा कर्म आदि मुख्य (द्वितीय) क्रियाके समान ही होते हैं । यथाः—'शत्रून् जित्वा निवर्तते' । 'क्त्वा' प्रत्ययान्त क्रियाके पूर्व यदि कोई उपसर्ग रखा जाय तो 'क्त्वा' के स्थान पर 'य' हो जाता है । जैसेः—विजित्य, निहरय, आदि ।

(५) तुमुन्—(उत्तर कृदन्त देखो) जब एक क्रिया करनेके लिए दूसरी क्रिया की जाती है, तब प्रथम क्रियासे 'तुमुन्' प्रत्यय होता है और वह अव्यक्त हो जाता है । 'तुमुन्' प्रत्ययान्त क्रियाके कर्मादि भी मुख्य क्रियाके समान ही होते हैं परन्तु कर्ताका सम्बन्ध मुख्य क्रियासे ही होता है । जैसेः—'इन्द्रियाणि जेतुमुपक्रमते' ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें पूर्वकृदन्त प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ उणादिप्रकरणम्

कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण् । करोतीति कारः । वायुः । पायुर्गुदम् । जायुरौषधम् । मायुः पित्तम् । स्वादुः । साध्नोति परकार्यमिति साधुः । अश्नुते—आशु शोघ्रम् । हरिमितयोर्द्वुवः । द्रु गतौ । अस्मात् हरिमितयोरुपपदयोः कुः स च डित् । हरिभिर्द्रव्यते हरिद्रुवृक्षः । मितं द्रवतीति मितद्रुः समुद्रः । शते च । शतधा द्रवतीति शतद्रुर्नदीभेदः । अन्दूदृभूजम्बूकफेलूककर्मन्धूदिधिषूः । एते कूप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । शमेर्ढः । बाहुलकात् इत्संज्ञा ढस्य एयादेश इट् च न भवति । 'शण्डः स्यात्पुंसि गोपतौ' । शण्डः । कमेरठः । 'कमठः कच्छपे पुंसि भाण्डभेदे नपुंसकम्' इति मेदिनी । रमेर्वृद्धिश्च । रामठं हिङ् । शमेः खः । शङ्खः । कणेष्टः । कण्ठः ।

हरिद्रुः । द्रु गतावस्माद्धातोः 'हरिमितयोः' इति कूप्रत्यये कलोपे ङित्त्वसामर्थ्यादभस्य टेलोपत्वे सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'हरिद्रुः' इति । मितद्रुः । एवं मितं द्रवति अत्रापि द्रुधातोः कूप्रत्यये ङित्वाट्टेलोपे सौ रुत्वे विसर्गे च कृते 'मितद्रुरिति रूपं भवति । शत इति । द्रुवः कुः स्यादित्यर्थः । ङित्त्वेति शेषः । शतद्रुः । शतधा द्रवति इति वाक्ये द्रुधातोः कूप्रत्यये कलोपे ङित्वाट्टिलोपे सौ रुत्वे विसर्गे 'शतद्रुरिति सिध्यति । अन्दू-इति । निपात्यन्ते कूप्रत्ययान्ताः । शण्ड इति । शमेर्ढप्रत्यये मस्यानुस्वारे परसवर्णे सुवादिकार्ये रूपमेतद् । अत्रार्धधातुकत्वाद् वलादित्वाच्च ढस्येति प्राप्ते तथा च 'आयनेयीनी' इति ढस्यैयादेशे प्राप्ते 'उणादयो बहुलम्' इति बाहुलकत्वाच्च भवतः इति भावः । कोपं प्रमाणयति—शण्डः स्यादिति । कमेरिति । कमधातोरठप्रत्यये सुवादिकार्ये 'कमठः' इति रूपम् । कोपप्रमाणेन समर्थयति—'कमठः कच्छप' इति । रमेरिति । अठोऽनुवर्तते । रमेरठः स्याद् वृद्धिश्चेत्यपि । रामठमिति । रमधातोरठप्रत्यये वृद्धौ सुवादिकार्ये 'रामठम्' इति । शमेरिति । खः प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । शमधातोः खप्रत्ययेऽनुस्वारे परसवर्णे सुवादिकार्ये 'शङ्खः' इति ।

कृवापाजि—कृ, वा, पा, जि, मि, स्वद्, साध्, अश्-इन् धातुओंसे 'उण्' प्रत्यय हो । हरिमितयो—हरि और मित उपपदक 'द्रु' धातुसे 'कु' प्रत्यय हो और वह डित् हो । शते च—शत उपपदक 'द्रु' धातुसे 'कु' प्रत्यय हो और वह डित् हो । अन्दू—अन्दू, इन्मू, आदि 'कू' प्रत्ययान्त शब्द निपातन हो । शमेर्ढः—शम् धातुसे 'ढ' प्रत्यय हो । और बाहुलकात् 'चुद्र' से उस 'ढ' की इत्संज्ञा 'आयनेयी' से एयादेश अथवा वलाद्यार्धधातुकत्वात् 'ढ' को इट् नहीं हो । कमेरठः—'कम्' धातुसे 'अठ' प्रत्यय हो । रमेर्वृद्धि—'रम्' धातुसे 'अठ' प्रत्यय हो और चकारात् धातुको वृद्धि हो । शमेः खः—'शम्' धातुसे 'ख' प्रत्यय हो । कणेष्टः—'कण्' धातुसे 'ठ' प्रत्यय हो ।

अमन्ताडुः । अमिति प्रत्याहारः । 'दण्डोऽस्त्री लगुडेऽपि स्यात्' इत्यमरः । 'रण्डा मूषिकपण्यां च विधवायां च योषिति' इति मेदिनी । 'खण्डोऽस्त्री शकले नेश्विका-रमणिभेदयोः' इति मेदिनी । मन ज्ञाने । 'मण्डः पश्चाद्भुले शाकभेदे स्त्रीयं तु वस्तुनि' । इति मेदिनी । पतिचण्डिभ्यामालञ् । 'पातालं नागलोके स्याद्विवरे वडवानले' इति मेदिनी । चण्डालो मातङ्गः । प्रज्ञादित्वादणि चाण्डालोऽपीत्युज्ज्वलदत्तः । तन्न; 'कुलालवरुडकर्मारनिषादचण्डालमित्राऽमित्रेभ्यश्छन्दसि' इति चण्डालशब्दात्स्वार्थेऽणं विदधता वार्तिकेन तद्भाष्येण च सह विरोधात् । गन्गम्यद्योः । गङ्गा । अद्गः पुरोडाशः । भृजः किन्नुट् च । भृजो गन्कितस्यात्तस्य नुट् च । 'भृङ्गाः षिङ्गाऽलिधूम्याटाः' । शृणातेर्ह्रस्वश्च । शृङ्गम् । अर्तिस्तुषुहृष्टृक्षिभुभायावापदियक्षिनीभ्यो मन् । एभ्यश्चतुर्दशभ्यो मन् । अर्मश्चक्षूरोगः । स्तोमः संघातः । सोमः । होमः । समो गमनम् । धर्मः । क्षेमं कुशलम् । क्षौमम् । भाम आदित्यः । यामः ।

अमन्तादिति । 'अमण्डनम्' इति अमप्रत्याहारोऽपेक्षते । डः स्यादित्यर्थः । दण्ड इति । दमधातोः डप्रत्यये सुवादिकार्ये 'दण्ड' इति रूपं साध्नोति । रण्डेति । रमधातोः 'अमन्तात्' इति डप्रत्ययेऽनुस्वारे परसवर्णे टापि सुवादिकार्ये च कृते 'रण्डा' इति रूपम् । कोशेन प्रमाणयति । खण्डः, मण्डः । खन्-मन्धातोः 'अमन्तात्' इति डप्रत्यये सुवादिकार्ये रूपे भवतः । मेदिनीकोषेण प्रमाणयति । पति-चण्डोति । पातालं, चण्डालः । पतिचण्डिभ्यां आलङ्प्रत्यये उपधावृद्धौ सुवादिकार्ये उभयरूपसिद्धिः । चाण्डालमिति तु प्रज्ञादित्वादणि बोध्यम् । वस्तुतस्तु चाण्डाल इति उज्ज्वलदत्तोक्तं न साधु प्रमाणाभावात् । चण्डालं प्रमाणेन समर्थयति । गनिति । गमिअदिभ्यां गन्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । गङ्गा इति । गमधातोः गन्प्रत्यये मस्यानुस्वारे परसवर्णे टापि सौ ह्रस्व्यादिलोपे 'गङ्गा' इति रूपम् भवति । अद्ग इति । अद्धातोः गन्प्रत्यये सुवादिकार्ये 'अद्गः' इति रूपं भवति । भृङ्गा इति । भृज् धातोः किनि नुटि नस्यानुस्वारे परसवर्णे कित्त्वेन गुणाभावे सुवादिकार्ये 'भृङ्गा' इति रूपम् । कोशेन प्रमाणयति । शृणातेरिति । किन्नुटावनुवर्तते । शृणातेः किन् स्यात् नुट् चा-गमः, तस्मिन् परतः ह्रस्वश्चेत्यर्थः । शृङ्गमिति । शृधातोः किनि नुटि ह्रस्वे सुवादि-

अमन्ता—अमन्त धातुर्भासे 'ड' प्रत्यय हो ।

पतिचण्डिभ्यां—'पट्' और 'चण्ड' धातुसे 'आलञ्' प्रत्यय हो ।

गन्गम्यद्योः—'गम्' और 'अद्' धातुसे गन् प्रत्यय हो । भृजः किन्नुट्—'भृज्'

धातुसे गन् प्रत्यय हो, और वह 'गन्' कित् हो तथा उस 'गन्' को नुडागम भी हो ।

शृणाते—'शृ' धातुसे 'गन्' प्रत्यय और नुट् हो तथा वह नुट् कित् हो और धातुको ह्रस्व हो । अर्तिस्तुषु—ऋ, स्तु, षु, इ, ए, धृ, क्षि, क्षु, भा, या, वा, पद्, यक्ष, नी—इन

चामः शोभनदुष्टयोः । पद्मम् । यक्ष्मो रोगराजः । नेमः । अवतेष्टिलोपश्च । मन्प्रत्य-
यस्यायं टिलोपो न प्रकृतेः । अन्यथा ङिदित्येव ब्रूयात् । ज्वरत्वरस्त्रिव्यविम-
चामुपधायाश्च । ६।४।२० । एषामुपधावकारयोरूठ् क्वौ मलादावनुनासिकादौ च
प्रत्यये । अत्र कङ्ठितीति नानुवर्तते । अवतेस्तुनि कृते ओतुरिति दर्शनात् । स्वरादि-
पाठादव्ययत्वम् । अवतीति ओम् । प्रसेरा च । प्रासः ॥ अविसिविसिशुभिभ्यः
कित् । एभ्यो मन् । ऊमं नगरम् । स्यूमो रश्मिः । सिमः सर्वः । शुष्मममिसमीरयोः ।
घर्मः । वृधातोर्निपातोऽयम् । ग्रीष्मः । प्रसतेर्निपातोऽयम् ॥ अशूप्रुषिलटिकणि-
खटिविशिभ्यः कन् । अश्वः । 'प्रुष्वः स्यादतुसूर्ययोः' । लद्धा पक्षिमेदः फलं च ।
कण्वं पापम् । खद्धा । विश्वम् । कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः ।
यौति इति युवा । वृषा इन्द्रः । तक्षा राजा । धन्वा मरुः । धन्व शरासनम् । युवा
सूर्यः । प्रतिदीव्यत्यस्मिन् प्रतिदिवा दिवसः । उषिकुषिगार्तिभ्यः स्थन् । ओष्ठः ।

कार्यं च कृते 'शृङ्गमि'ति । ओमिति । अवधातोः 'अवतेः' इति मनि तत्प्रत्ययस्य
टिलोपे अवो वकारस्य 'ज्वरत्वर' इत्यूठि गुणे सावव्ययत्वात्सुलोपे 'ओम्' इति
सिध्यति । प्रसेरिति । प्रसधातोर्मन्प्रत्ययः स्याद्धातोराकारान्तादेशश्चेत्यर्थः । ग्रामः ति ।
प्रसधातोर्मनि धातोराकारान्तादेशे सवर्णदीर्घे सुबादिकार्ये 'ग्रामः' इति रूपम् ।
अवीति । एभ्यो मन् स्यात्स च किदित्यर्थः । ऊमं स्यूम इति । अवसिग्योर्मन्प्रत्यये 'ज्वर-
त्वर' इति उपधावकारयोरूठि सुबादिकार्ये रूपे भवतः । सिमः । पिधातोर्मनि
रूपमेतत् । अशू इति । एभ्यः कन् स्यादित्यर्थः । अश्वः-प्रुष्वः-लद्धा-कण्वं-खद्धा-विश्वम् ।
अशू-प्रुषि-लटि-कणि-खटि-विशिभ्यः कनि कनोलोपे सुबादिकार्ये च कृते रूपाण्यव-
सेयानि । कनीनि । युवादिभ्यः कनिन् स्यादित्यर्थः । युवा-वृषा-तक्षा-धन्वा-युवा-
प्रतिदिवा । यु-वृषि-तक्षि-राजि-धन्वि-द्यु-प्रतिदिवादिभ्यः कनिनि युधातोर्वृद्धिः,
सौ 'सर्वनामस्थाने' इति दीर्घे सस्य लोपे नलोपे रूपाणि भवन्ति । उपीति । एभ्यस्थन्
स्यादित्यर्थः । ओष्ठः-कोष्ठः-गाथा-अर्थ इति । उषि-कुषि-गा-ऋभ्यः थन्प्रत्यये

चतुर्दश धातुओंसे 'मन्' प्रत्यय हो । अवतेष्टि—'अव्' धातुसे 'मन्' प्रत्यय हो और मन्
प्रत्ययान्तकी 'टि' का लोप हो । ज्वरत्वर—ज्वर्, त्वर्, त्रिव्, अव्, मव्—इन धातु-
ओंकी उपधा और वकारको ऊठ् हो 'कि' के परे और झलादि अनुनासिकादि प्रत्ययके परे ।
अविसिवि—अव्, सिव्, सि, शु—इन धातुओंसे 'मन्' प्रत्यय हो और वह कित् हो ।
अशू प्रुषि—अश्, प्रुष्, लट्, कण्, खट्, विश्—इन धातुओंसे 'कन्' प्रत्यय हो ।
कनिन्—यु, वृष्, तक्ष्, राज्, धन्वि, द्यु, और प्रतिपूर्वक दिव् धातुसे 'कनिन्' प्रत्यय हो ।
उषिकुषि—उष् आदि धातुओंसे 'थन्' प्रत्यय हो ।

कोष्ठम् । गाथा । अर्थः 'अर्थोऽभिधेयैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु' इत्यमरः । पातृतुदिच-
चिरिचिसिचिभ्यस्थक् । 'पीथो रविर्धृतं पीथम्' । 'तीर्थं शास्त्राध्वरक्षेत्रोपायोपाध्या-
यमन्त्रिषु । अवतारर्षिजुष्टाम्भःस्त्रीरजःसु च विश्रुतम्' इति विश्वः । तुत्थोऽग्निः ।
उत्थं सामभेदः । रिक्थम् । बाहुलकादृचेरपि—'रिक्थमृक्थं धनं वसु' । सिक्थम्
ग्लानुदिभ्यां डौः । ग्लौः । नौः । च्विरव्ययम् । डौरित्येव । ग्लौः करोति ।
'कृन्मेजन्तः' इति सिद्धे नियमार्थमिदम्—उणादिप्रत्ययान्तश्च्यन्त एवेति । गमेडौः ।
'गौर्नोऽऽदित्ये बलीवर्दे किरणक्रतुभेदयोः । स्त्री तु स्याद्विशि भारत्यां
भूमौ च सुरभावपि । नृस्त्रियोः स्वर्गवज्राभ्युरश्मिदृग्वाणत्तोमसु' इति ।
बाहुलकात् द्युतेरपि डोः । 'द्यौः स्त्री स्वर्गान्तरिक्षयोः' ॥ रातेडैः । राः । भ्रमेश्च डूः ।
भ्रूः । चाद्रमेः, अग्रेगूः । उन्देर्नलोपश्च । चाद्युच् । ओदनः । गमेर्गश्च । चाद्युच् ।
गगनम् । कृपृवृजिमन्दिनिधाजः क्युः । किरणः । पुरणः समुद्रः । वृजनमन्त-

'पुगन्त' गुणे सुबादिकार्ये रूपाणि भवन्ति । पति । एभ्यः थगित्यर्थः । पीथः—
तीर्थः—तुत्थः—उत्थं—रिक्थं—सिक्थमिति । पा-तृ-तुदि-वचि-रिचि-सिचिभ्यः थकि
कलोपे पादीनां क्रमशः 'घुमास्था' इति ईत्वे 'ऋत इद्धातोः' इतीति रपरत्वे
चत्वे 'वचिस्वपि' इति सम्प्रसारणे पूर्वरूपे कृत्वे सुबादिकार्ये रूपाणि प्रभवन्ति ।
कोशप्रमाणैः प्रमाणयति । ऋचेरपि कचित् थक् । तेन ऋक्थमित्यपि साधु । ग्लेति ।
एभ्यो डौः प्रत्ययः । ग्लै-नुदिभ्यां डौप्रत्यये ग्लैधातोरात्वे डिच्वाट्टिलोपे सुबा-
दिकार्ये 'ग्लौः नौः' उभयरूपप्रसिद्धिः । च्विरिति । डावन्तच्विरित्यर्थः । तेन कृजोऽ-
नुप्रयोगे 'ग्लौकरोति' इत्यस्य सिद्धिः । गमेरिति । गम्धातोर्डौप्रत्यये डिच्वाट्टिलोपे
सुबादिकार्ये 'गौः' इति रूपं भवति । भ्रमेश्चेति । भ्रमधातोर्डौप्रत्यये डिच्वाट्टिलोपे
सुबादिकार्ये भ्रूरिति रूपम् । उन्देरिति । युचि 'ओदन' इति रूपम् । गमेरिति । गमे-
युच् स्यात् गश्चान्तादेश इत्यर्थः । गगनमिति गम्धातोर्युचि मस्य गत्वे 'युवोः' इत्य-
नादेशे सुबादिकार्ये च कृते 'गगनम्' इत्यस्य सिद्धिः । कृपृ इति । एभ्यः क्युः स्यात् ।

पातृतुदि—'पा' आदि धातुओंसे 'थक्' प्रत्यय हो ।

ग्लानुदि—ग्लै धातु और नुद् धातुसे 'डौ' प्रत्यय हो ।

च्विरव्य—'डौ' प्रत्ययान्त शब्दस्वरूप यदि च्यन्त हो तो वह अव्ययसंज्ञक हो ।

गमेडौ—'गम्' धातुसे 'डो' प्रत्यय हो । रातेडैः—'रा' धातुसे 'डै' प्रत्यय हो ।

भ्रमेश्च—'भ्रम्' धातुसे 'डू' प्रत्यय हो ।

उन्देर्नलो—'उन्द' धातुके नकारका लोप हो और चकारात् 'युच्' प्रत्यय हो ।

गमेर्गश्च—'गम्' धातुको गकारान्त आदेश हो और चकारात् 'युच्' प्रत्यय भी हो ।

कृपृवृजि—क, प, वृज्, मन्द् और निपूर्वक धा धातुसे 'क्यु' प्रत्यय हो ।

रिक्षम् । मन्दनं स्तोत्रम् । निधनं कुलनाशयोः । धृषेर्धिष् च संज्ञायाम् । धिषणो गुरुः । धिषणा धीः । तृन्तृचौ शंसिक्षदादिभ्यः संज्ञायां चानिटौ । शंसेः क्षदादिभ्यश्च क्रमात्तृन्तृचौ स्तः, तौ चाऽनिटौ । शंस्ता । शंस्तरौ । शंस्तरः । क्षदिः सौत्रो धातुः । 'क्षता स्यात्सारथौ द्वाःस्थे वैश्यायामपि शूद्रजे' । बहुलमन्यत्रापि । मन्, मन्ता । हन्, हन्ता । इत्यादि । नप्तृ नेष्टृ त्वष्टृ होतृ पोतृ भ्रातृ जामातृ मातृ पितृ दुहितृ । एते तृजन्ता निपात्यन्ते । नप्ता । इत्यादि । सुज्यसेर्कृन् । स्वसा । यतेर्बृद्धिश्च । 'भार्यास्तु भ्रातृवर्गस्य यातरः स्युः परस्परम्' । नञि च नन्देः । न नन्दतीति ननान्दा । इह वृद्धिर्नानुवर्तत इत्येके । 'ननान्दा तु स्वसा पत्युर्ननान्दा नन्दिनी च सा' इति शब्दार्णवः । दिवेर्कृन् । देवा, देवरः । 'स्वामिनौ देवदेवरौ' । नयतेर्ङिच्च । ना । नरौ । नरः । अर्चिंशुचिहुस्त्पिच्छादिच्छ-दिभ्य इतिः । अर्चिः 'अर्चिः शोचिरुभे क्लीवे प्रकाशो योत आतपः' । हविः सर्पिः । इस्मन्त्रन्किपु च । ६।४।९७ छादेः ह्रस्वः स्यात् । छदिः पटलं । छदिः । वृंहेर्न-

शंस्ता । शंसधातोः तृनि नलोपे सौ 'ऋदुशनस्' इत्यनङि 'अप्तृन्' इति दीर्घत्वे हल्ङ्यादिलोपे नलोपे च कृते 'शंस्ता' इति । बहुलमिति । तृन्तृचौ स्त इत्यर्थः । मन्ता । हन्ता । मन्होस्तृन्तृचौ सौ 'ऋदुशनस्' इत्यनङि 'अप्तृन्तृच्' इति दीर्घे 'सलोपे नलोपे च कृते 'मन्ता, हन्ता' इत्यनयोः संसिद्धिः । नप्त् इति । तृजन्ता एते निपात्यन्ते । नप्ता इत्यादिरूपाणि भवन्ति । अचीति । एभ्य इतिर्वाच्य इत्यर्थः । अर्चिः-शोचिः-हविः । ऋ-शुच-हु एभ्यः इसिप्रत्यये गुणे सुबा-दिकार्ये रूपाणि भवन्ति । इस्मनिति । एषु परेषु छादेर्ह्रस्वः स्यादित्यर्थः । छादेर्धातोः 'अर्चिंशुचि' इति इसि धातोः ह्रस्वत्वे सुवादिकार्ये 'छदिः' इति रूपम् । छद्धातोरिसि 'पुगन्त' गुणे सुवादिकार्ये 'छदिः' इति । व्युतेरिति । व्युत्धातोरिसिन् प्रत्यय आदेशश्च

धृषेर्धिष्—'धृष्' धातुसे 'क्यु' प्रत्यय और 'धिष्' आदेश हो, संज्ञामें । तृन्तृचौ—शंसादि और क्षदादि (सौत्र) धातुओंसे 'तृन्' 'तृच्' प्रत्यय हों, संज्ञामें और वे अनिट् भी हों । बहुलमन्य—बाहुलकात् अन्य धातुओंसे भी तृन्-तृच् आदि प्रत्यय हों । नप्तृ-नप्तृ-नेष्टृ आदि तृजन्त निपातन हो । सावसेर्कृन्—'सु' उपपदक 'अस' धातुसे ऋन् प्रत्यय हो । यतेर्बृद्धिश्च—'यत्' धातुसे 'ऋन्' प्रत्यय हो और चकारात् वृद्धि भी हो । नञि च नन्देः—'नञ्' उपपदक 'नन्द' धातुसे 'ऋन्' प्रत्यय हो और चकारात् वृद्धि भी हो । दिवेर्कृन्—'दिक्' धातुसे 'ऋ' प्रत्यय हो । नयतेर्ङिच्च—'नो' धातुसे 'ऋ' प्रत्यय हो और चकारात् वद् 'ङित्' हो । अर्चि-भर्चादि धातुओंसे 'इसि' प्रत्यय हो । इस्मन्—इ-सादि प्रत्ययके परे छादि धातुकी उपधाकी ह्रस्व हो । वृंहेर्न—'वृंह' धातुसे 'इसि'

लोपश्च । बर्हिर्ना कुशशुष्मणोः । द्युतेरिसिन्नादेश्च जः । ज्योतिः । जनेरुसिः ।
 'जनुर्जननजन्मानि' इत्यमरः । अर्तिपृवपियजितनिधनितपिभ्यो नित् । अरुः ।
 परुग्रन्थिः । वपुः । यजुः । तनुः । धनुः । धनुरस्त्रियाम् । 'तपुः सूर्याग्निशत्रुषु' ।
 एतेर्णिच्च । आयुः, आयुषी । चक्षेः शिच्च । चक्षुः । मुहेः किच्च । मुहुः । मुह-
 रव्ययम् । पानीविधिभ्यः पः । पाति रक्षत्यस्मादात्मानमिति पापम् । तथोगा-
 त्पापः । नेपः पुरोहितः । वेष्पः पानीयम् । स्तुवो दीर्घश्च । स्तूपः समुच्छ्रायः ।
 सुशृभ्यां निच्च । चात्कित् । सूपः । बाहुलकादुत्त्वम् । शूर्पः । कुयुभ्यां च । कुव-

जः स्यादिति भावः । ज्योतिः । द्युत्धातोरिसिन् प्रत्यये आदेर्दकारस्य जत्वे 'पुगन्त'
 गुणे सौ हल्ङ्वादिलोपे सस्य रुक्वे विसर्गे 'ज्योतिः' इति रूपम् । जनेरिति । जन्धातो-
 रुसि प्रत्यये सुबादिकार्ये 'जनुः' इति रूपम् । अर्तीति । एभ्य उसिः स्यात्स च निदित्यर्थः ।
 अरुः-परुः-यजुः-तनुः-धनुः-तपुः । ऋ-पृ-यज-तन्-स्वप्-धन-तपेभ्यः उसिप्रत्यये
 गुणादिसुबादौ च कार्ये रूपाणि प्रभवन्ति । एतेरिति । इण्धातोर्उस् स्यात्स च णिदि-
 त्यर्थः । आयुः । इधातोरुसि णित्वेन वृद्धावायादेशे सौ सलोपे सस्य रुक्वे विसर्गे
 'आयुः' इति रूपम् । चक्षेरिति । उस् स्यात् स च शित् । चक्षुः । चक्षधातोः उसि
 सौ सलोपे रुक्वे विसर्गे रूपम् । मुहेरिति । उस् स्यात्स च कित् । मुहधातोरुसि कित्वेन
 गुणाभावे सोः हल्ङ्वादिलोपे रुक्वे विसर्गे 'मुहुः' । पानीति । एभ्यः पप्रत्ययः ।
 पापः, नेपः, वेष्पः । पा, नी, विष्-धातोः पप्रत्यये नीधातोः विष्धातोश्च गुणे सुबादि-
 कार्ये रूपाणि भवन्ति । स्तुव इति । पप्रत्ययः स्यात्तस्मिन्परतो धातोर्दीर्घत्वमित्यर्थः ।
 स्तूप इति । स्तुधातोः पप्रत्यये दीर्घत्वे सुबादिकार्ये च कृते 'स्तूपः' इति रूपम् ।
 सुशृभ्यामिति । पः स्यात्स च नित्-किच्च । सुधातोः पप्रत्यये दीर्घत्वे सौ रुक्वे विसर्गे
 सूपः इति रूपम् । शूर्प इति । शृधातोः पप्रत्यये बाहुलकादुत्त्वे रपरत्वे 'हलि च'
 इति दीर्घे सुबादिकार्ये 'शूर्पः' इति रूपम् । कुयुभ्यामिति । पः स्याद्दीर्घं चेत्यर्थः ।

प्रत्यय हो और चात् नलोप भी हो । द्युतेरिसि—'द्युत्' धातुसे 'इसिन्' प्रत्यय हो
 और आदि दकारको जकार आदेश भी हो । जनेरुसिः—'जन्' धातुसे 'उसि' प्रत्यय हो ।
 अर्तिपृ—अर्ति (ऋ) आदि धातुओंसे 'उसि' प्रत्यय हो और वह 'नित्' हो । एतेर्णिच्च—
 'इण्' धातुसे 'उसि' प्रत्यय हो और वह 'णित्' हो । चक्षेः शिच्च—'चक्षिङ्' धातुसे 'उसि'
 प्रत्यय हो और वह 'शित्' हो । मुहेः किच्च—'मुह' धातुसे 'उसि' प्रत्यय हो और वह
 'कित्' हो । पानीवि—पा-नी आदि धातुओंसे 'प' प्रत्यय हो । स्तुवो—'स्तु' धातुसे 'प'
 प्रत्यय हो और चकारात् दीर्घ भी हो । सुशृभ्यां—'शृ' और 'श' धातुसे 'प' प्रत्यय हो
 और वह नित्-किच्च हो तथा धातुको दीर्घ भी हो ।

कुयुभ्यां—'कु' तथा 'यु' धातुसे 'प' प्रत्यय हो और धातुको दीर्घ भी हो ।

न्ति मण्डका अस्मिन्निति कूपः । युवन्ति बध्नन्ति अस्मिन्पशुमिति यूपः । खष्पशि-
 ल्पशष्पवाष्पकरूपपर्यन्तल्पाः । सप्तैते पप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । स्तनिहृषिपु-
 षिगदिमदिभ्यो णेरित्नुच् । अयामन्तेति णेरय् । स्तनयित्नुः । हर्षयित्नुः ।
 पोषयित्नुः । गदयित्नुः वावदूकः । मदयित्नुः मदिरा । अशोः सरः । अक्षरम् ।
 वसेश्च । वत्सरः । सपूर्वाच्चित् । संवत्सरः । परिवत्सरः । कृशृशलिक्लिग-
 दिभ्योऽभच् । करभः । शरभः । शलभः । कलभः करिशावकः । गर्दभः । ऋषि-
 वृषिभ्यां कित् । ऋषभः । वृषभः । रासिवल्लिभ्यां च । रासभः । वल्लभः ।
 नियोमिः । नेमिः । अर्तेरुच्च । ऊर्मिः । भुवः कित् । भूमिः । अङ्गेर्नलोपश्च ।

कूपः यूपः । कुयुवोः पप्रत्यये दीर्घत्वे सुबादिकार्ये च कृते 'कूपः' 'यूपः' इति रूपे
 भवतः । खष्पति । पप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । स्तनयित्नुः-हर्षयित्नुः-पोषयित्नुः-
 गदयित्नुः-मदयित्नुः । स्तनि-हृषि-पुषि-गदि-मदिभ्य इत्नुच्प्रत्यये गुणेऽयादेशे
 सुबादिकार्ये तत्सिद्धिः । अक्षरम् । अशूधातोः सरप्रत्यये 'व्रश्च' इति शस्य पत्वे 'षढोः
 कः सि' इति कत्वे 'आदेश' इति सस्य पत्वे उभयोः संयोगे ऋत्वे सुबादि-
 कार्ये 'अक्षरम्' इति रूपं साधु । वसेश्चेति । सरः प्रत्ययः स्यात् । वसूधातोः
 सरप्रत्यये 'सः स्यार्धधातुके' इति पूर्वसस्य तत्वे सुबादिकार्ये रूपं बोध्यम् ।
 कृशृशलीति । एभ्योऽभच्प्रत्ययः स्यात् । करभः-शरभः-शलभः-कलभः-गर्दभः । कृ-शृ-
 शल्-कल्-गर्द-धातुभ्योऽभचि गुणे रपरत्वादिकार्ये सुबादिकार्ये च कृते रूपाणि
 सिद्धिं गच्छन्ति । ऋषीति । आभ्यामभच्स्यात्स च कित् । ऋषभः, वृषभ इति । ऋषिवृ-
 षिभ्यामभचि कित्त्वेन गुणाभावे सुबादिकार्ये रूपे भवतः । रासीति । आभ्यामभच्
 स्यात् स च न कित् । रासभः वल्लभ इति । रासि-वल्लिभ्यामभचि सुबादिकार्ये उभयोः
 सिद्धिः । निय इति । मिः स्यादिति भावः । नेमिः । नीधातोर्मिप्रत्यये 'सार्वधातु' इति
 गुणे सौ रुत्वे विसर्गे 'नेमिः' इति साधु । अर्तेरिति । मिः प्रत्ययः स्याद्वातोः ऊदादेशः

खष्पशिल्प-खष्पादि 'प' प्रत्ययान्त निपातन हो ।

स्तनिहृषि-ण्यन्त स्तनादि धातुओंसे 'इत्नुच्' प्रत्यय हो ।

अशोः सरः—'अश्' धातुसे 'सर्' प्रत्यय हो । वसेश्च—'वस्' धातुसे भी 'सर' प्रत्यय
 हो । (वत्सरः—'सः स्यार्धधातुके' इति तत्त्वम्) सपूर्वाच्च—'सम्' इत्युपसर्गपूर्वक 'वस्'
 धातुसे 'सर्' प्रत्यय हो और वह 'चित्' हो । कृशृशलि—'कृ' आदि धातुओंसे 'अभच्'
 प्रत्यय हो । कृषिवृषिभ्यां—'कृष्-वृष्' धातुसे 'अभच्' प्रत्यय हो और वह 'कित्' हो ।
 रासिवल्लि—'रास्' और 'वल्ल' धातुसे 'अभच्' प्रत्यय हो । नियोमिः—'नी' धातुसे 'मि'
 प्रत्यय हो । अर्तेरुच्च—'ऋ' धातुसे 'मि' प्रत्यय हो और चकारात् धातुको 'ऊत्' हो ।
 भुवः कित्—'भू' धातुसे 'मि' प्रत्यय हो और वह 'कित्' हो । अङ्गेर्नलोपश्च—'अङ्'

अग्निः । वहिश्चिश्चुयुद्गुल्लाहात्वरिभ्यो नित् । वहिः । श्रेणिः । श्रोणिः । यो-
निः । द्रोणिः । ग्लानिः । हानिः । तूर्णिः । पातेर्डतिः । पतिः । सूडः किः ।
सूरिः । अदिशदिभूशुभिभ्यः किन् । अद्रिः । शद्रिः शर्करा । भूरि प्रचुरम् ।
शुभिः ब्रह्मा । वलिमलितनिभ्यः कयन् । वलयः । मलयः । तनयः । माछा-
ससिभ्यो यः । माया । छाया । सस्यम् । बाहुलकात्सव्यं दक्षिणवामयोः । ज-
नेर्यक् । 'ये विभाषा' । जन्यं युद्धम् । जाया भार्या । सर्वधातुभ्य इन् ।
पचिरग्निः । तुडिः । तुण्डिः । वलिः । वटिः । यजिः । काशत इति काशिः । य-
तिः । मल्लिः, मल्ली । केलिः । 'मसी परिणामे'—मसिः । बोधिः । नन्दिः । कलिः ॥

स्यादित्यर्थः । ऊर्मिः । ऋधातोः मिप्रत्यये धातोः ऊदादेशे रपरत्वे सुबादिकार्ये 'ऊर्मिः'
इति रूपम् । भुव इति । मिः स्यात् स च कित् । भूमिः । भूधातोर्मिप्रत्यये कित्त्वेन
गुणाभावे सुबादिकार्ये 'भूमिः' इति रूपम् । अङ्गे रिति । अङ्गधातोर्निः स्यात् धातोर्न-
लोपश्चेत्यर्थः । अग्निः । अङ्गधातोर्निप्रत्यये धातोर्नलोपे सौ रुत्वे विसर्गे 'अग्निः' इति ।
बहीति । एभ्यो निः स्यात् स च नित् । वहिः—श्रेणिः—श्रोणिः—योनिः—द्रोणिः—ग्लानिः—
हानिः—तूर्णिः । वहि—श्चि—श्चु—यु—द्गु—ल्लै—हा—त्वरिभ्यो निप्रत्यये योग्यत्वेन गुणादिकार्ये
सुबादिषु कृतेषु रूपाणि बोध्यानि । पातेरिति । डतिः स्यात् । पतिः । पाधातोर्डतिप्र-
त्यये डित्वाट्टिलोपे सुबादिकार्ये 'पतिः' इति रूपम् । सूडः । किः स्यात् । सूधातोः
किप्रत्यये कलोपे सुबादिषु 'सूरिः' इति । अदीति । एभ्यः किन् स्यात् । अद्रिः—
शद्रिः, भूरिः—शुभिः । अद—शद—भू—शुभधातुभ्यः किनि सुबादिकार्ये साधूनि ।
वलीति । एभ्यः कयन् स्यात् । वलयः—मलयः—तनयः । वलिमलितनिभ्यः कयन्प्रत्यये
सुबादिकार्ये रूपाण्यवसेयानि । माछेति । एभ्यो यः स्यात् । माया—छाया । मा—छाधा-
त्वोर्यप्रत्यये टापि सुबादिकार्ये 'माया—छाया' इति उभयरूपसिद्धिः । मस्यमिति ।
ससिधातोर्यप्रत्यये सावमि पूर्वरूपे सस्यमित्यस्य सिद्धिः । जनेरिति । यक् स्यात् ।
जन्यं, जाया । जनधातोर्यकि 'ये विभाषा' इति आत्वाभावे सावमि पूर्वरूपे प्रथमं
रूपम् । सति आकारे टापि सुबादिकार्ये द्वितीयं रूपम् । सर्वेति । इन् स्यात् ।
पचिः—तुडिः—तुण्डिः—वलिः—वटिः—यजिः—काशिः—यतिः—मल्लिः—केलिः—मसिः—बोधिः—नन्दिः—

धातुसे 'नि' प्रत्यय हो और नका(का) लोभ भी हो । वहिश्चि—वहादि धातुसे 'न' प्रत्यय
हो और वह नित् हो । पातेर्डतिः—'पा' धातुसे डति प्रत्यय हो । सूडः किः—'सूड'
धातुसे 'कि' प्रत्यय हो । अदिशदि—'अद्' आदि धातुसे 'किन्' प्रत्यय हो । वलिम्—'वल्'
आदि धातुओंसे 'कयन्' प्रत्यय हो । माच्छा—'मा' आदि धातुओंसे 'य' प्रत्यय हो ।
जनेर्यक्—'जन्' धातुसे 'यक्' प्रत्यय हो । सर्वधातु—सभी धातुओंसे 'इन्' प्रत्यय हो ।

‘हरिर्विष्णावहाविन्द्रे भेके सिंहे हये रवौ । चन्द्रे कीले प्लवङ्गे च यमे वाते च की-
र्तितः ॥’ इति । इगुपधात्कित् । ऋषिः । शुचिः । मनेरुच्च । मुनिः । जनिघ-
सिभ्यामिण् । जनिर्जननम् । घासिर्भक्ष्यमग्निश्च । अच इः । रविः । तरिः ।
पविः । कविः । अरिः । कुडिकम्प्योर्नलोपश्च । कुडिर्देहः । कपिः । इषेः कसुः ।
इक्षुः । कृषेर्वर्णः । नक् स्यात् । कृष्णः । दाभाभ्यां नुः । दानुः दाता । भानुः ।
विषेः किञ्च । विष्णुः । सितनिजनिगमिमसिसच्यविधाञ्कृशिभ्यस्तुन् ।
सेतुः । तन्तुः । जन्तुः । गन्तुः । मस्तु दधिमण्डम् । सक्तुः । ओतुः । धातुः ।

कलिः । पच-तुड-तुण्ड-वल-घट-यज-काश-पत-मल्ल-किल्-मस्-बुध-नन्द-कल्-ए-
भ्यो धातुभ्यः ‘सर्वधातुभ्य इन्’ इति इनि सुवादिकार्ये रूपाणि राध्नुवन्ति । इगुपधा-
दिति । इगुपधाद्विहितो य इन् स किस्स्यात् । ऋषिः-शुचिः । ऋप्-शुचोरिनि कित्त्वेन
गुणाभावे सुवादिकार्ये उभयरूपसंसिद्धिः । मनेरिति । मनेरिन् स्याद्वातोत्तरकारस्योदा-
देशः । मुनिः । मनधातोरिनि प्रत्ययेऽकारस्य उदादेशे सुवादिकार्ये रूपम् । जनीति ।
आभ्यामिण् स्यात् । जनिः-घासिः । जन्घसोरिनि ‘जनिवध्योश्च’ इति वृद्धिप्रतिषेधे
घसधातोर्बुद्धौ सुवादिकार्ये रूपयोः सिद्धिः । अच इः । अजन्ताद्वातोः स्यादित्यर्थः ।
रविः-तरिः-पविः-कविः-अरिः । रु-त-पू-कु-ऋ एभ्य इप्रत्यये गुणे सुवादिकार्ये
रूपाणां संसिद्धिः । कुडीति । इः स्यात् नलोपश्चेत्यर्थः । कुडिः-कपिः । कुण्डि-कपि-
भ्याम् इप्रत्यये नलोपे सुवादिकार्ये उभयोर्निष्पत्तिः । इषेरिति । इक्षुः । इपधातोः
कसुप्रत्यये ‘पढोः’ इति पस्य कवे सस्य षत्वे सुवादिकार्ये ‘इक्षुः’ इति रूपम् ।
कृषेरिति । वर्णांथे गम्ये कृषेः नक् स्यादित्यर्थः । कृष्ण । कृषधातोर्नकि सुवादिकार्ये
‘कृष्णः’ इत्यस्य साधुत्वम् । दाभेति । नुः स्यात् । दानुः-भानुः ॥ दाभाभ्यां नुप्रत्यये
सुवादिकार्ये ‘दानुः भानुः’ इत्यनयोः निष्पत्तिः । विषेरिति । विषधातोर्नुः स्यात्स च
कित् । विष्णुः । विषधातोः नुप्रत्यये ‘रषाभ्याम्’ इति णत्वे कित्त्वेन गुणाभावे सुवादि-
कार्ये ‘विष्णुः’ इति रूपम् । सितेति । एभ्यस्तुन् स्यात् । सेतुः-तन्तुः-जन्तुः-गन्तुः-
मस्तु-सक्तुः-ओतुः-धातुः-क्रोष्टा । सि-तनि-जनि-गमि-मसि-सचि-अवि-धाञ्-

इगुपधात्—इगुपध धातुसे पर ‘इन्’ प्रत्यय ‘कित्’ हो । मनेरुच्च—‘मन्’ धातुसे इन्
प्रत्यय हो और वह ‘कित्’ हो तथा ‘मन्’ के अकारको उकार आदेश हो । जनिघसि—‘जन्’
और ‘घसू’ धातुसे ‘इण्’ प्रत्यय हो । अच् इः—अजन्त धातुसे ‘इ’ प्रत्यय हो ।
कुण्डि—‘कुण्ड’ और ‘कम्प्’ धातुसे ‘इ’ प्रत्यय हो और धातुके नकारका लोप हो ।

इषेः कसुः—‘इष्’ धातुसे ‘कसु’ प्रत्यय हो । कृषे—‘कृष्’ धातुसे ‘नक्’ प्रत्यय हो, वर्ण
अर्थमें । दाभाभ्यां—‘दा’ और ‘भा’ धातुसे ‘नु’ प्रत्यय हो । विषेः—‘विष्’ धातुसे ‘नु’ प्रत्यय
हो और वह ‘कित्’ हो । सितनि—‘सि’ आदि धातुओंसे ‘तुन्’ प्रत्यय हो ।

क्रोष्टा । अवितृस्तृतन्त्रिभ्य ईः । अवीनारी रजस्वला । तरीः । स्तरीः । तन्त्रीः ।
यापोः किद् द्वे च । ययीरश्वः । 'पपीः स्यात्सोमसूर्ययोः । चातप्रमीः । निपातोऽयम् ।
लक्ष्मेर्मुट् च । लक्ष्मीः । सर्वधातुभ्यो मनिन् । कर्म । चर्म । भस्म । जन्म ।
शर्म । स्थाम । बृंहेर्नोऽच्च । नकारस्य अकारः । 'ब्रह्म तत्त्वं तपो वेदो ब्रह्मा विप्रः
प्रजापतिः' । नामन् सीमन् व्योमन् रोमन् लोमन् पाप्मन् ध्यामन् । सप्तैते
निपात्यन्ते । साऽतिभ्यां मनिन्मनिणौ । साम । आत्मा । हनिमशिभ्यां सि-
कन् । 'हंसिका हंसयोषिति' । मक्षिका । गिर उडच् । गरुडः । शूद्भसोऽ-
दिः । शरत् । 'दरदृष्टदयकूलयोः' । भसज्जनम् । त्यजितनियजिभ्यो डित् ।

ऋशिभ्यो धातुभ्यस्तुनि गुणादिकार्ये सुवादिकार्ये रूपाणि संसिध्यन्ति । अवीति ।
पृथ्य ईः स्यात् । अवीः-तरीः-स्तरीः-तन्त्रीः । अव-तृ-स्तृ-तन्त्रिभ्यो धातुभ्य ईप्रत्यये
गुणादौ सुवादौ च कार्ये रूपाण्यवसेयानि । यापोरिति । यापोरीः स्यात्तयोर्द्वित्वं
किञ्च चेत्यर्थः । ययीः । पपीः । यापाभ्याम् ईप्रत्यये धातोर्द्वित्वेऽभ्यासकार्ये ईप्रत्ययस्य
किञ्चेन 'आतो लोप इति च' इत्यालोपे सुवादिकार्ये उभयरूपस्य निष्पत्तिः । चातप्र-
मीः । चातप्रभ्यां माधातोरीप्रत्ययो निपात्यते । लक्ष्मेर्मुट् चेति । लक्ष्माधातोरीप्रत्यये
मुडागमे सुवादिकार्ये 'लक्ष्मीः' इति रूपम् । सवैति । मनिन् स्यात् । कर्म-चर्म-भस्म-
जन्म-शर्म-स्थाम । कृ-चर-भस्-जन-शू-स्थाभ्यो धातुभ्यो मनिनि सुवादिकार्ये
रूपाणि बोध्यानि । बृंहेरिति । मनिन् स्यात् नकारस्याकारः । ब्रह्मा । बृंहधातोर्मनिनि
नकारस्याकारे यणि 'ब्रह्मन्' इति जाते सुवादिकार्ये 'ब्रह्मा' इति । नामक्षिति । एते
निपात्यन्ते मनिन्नन्ताः । सातिभ्यामिति । क्रमशः साऽतिभ्यां मनिन्मनिणौ स्तः ।
साधातोर्मनिनि अतधातोर्मनिणि णिच्चेनोपधावृद्धौ सुवादिकार्ये 'साम-आत्मा' एते
निष्पद्येते । हनीति । सिकन् स्यात् । हंसिका-मक्षिका । हनिमशिभ्यां सिकनि नस्यानु-
स्वारे पत्वे 'षढोः' इति कत्वेऽपरसकारस्य पत्वे टापि सुवादिकार्ये 'हंसिका' 'मक्षिका'
इत्युभयोर्निष्पत्तिः । गिर इति । गृधातोर्गुडचि गुणे सुवादिकार्ये 'गरुडः' इति रूपम् ।
शूद्भेति । अदिः स्यादिकारोच्चारणार्थः । शरत्-दरत्-भसत् । शूद्भसेभ्योऽतृप्रत्यये

अवितृ-अवादि धातुओंसे 'ई' प्रत्यय हो । यापोः—'या' और 'पा' धातुसे 'ई' प्रत्यय हो तथा
द्वित्व हो और वह 'किट्' भी हो । चातप्रमी—यह निपातन हो । लक्ष्मेर्मुट्—'लक्ष्' धातुसे 'ई'
प्रत्यय और 'मुट्' का आगम हो । सर्वधातु—धातुमात्रसे 'मनिन्' प्रत्यय हो । बृंहेर्नो—'बृंह'
धातुसे 'मनिन्' और नकारको अकार आदेश हो । नामन्—नामन् आदि शब्द निपातन हो ।

सातिभ्यां—'सो' और 'अत्' धातुसे 'मनिन्' तथा मनिण् प्रत्यय हो । हनि—'हन्'
और 'मश्' धातुसे 'सिकन्' प्रत्यय हो । गिर उडच्—'गृ' धातुसे 'उडच्' प्रत्यय हो ।
शूद्भ—'श' आदि धातुओंसे 'अदि' प्रत्यय हो । त्यजितनि—'त्यज्' आदि धातुओंसे

त्यद् । तद् । यद् । एतेस्तुट् च । एतद् । युष्यसिभ्यां मदिक् । त्वम् ।
अहम् । इन्देः कमिर्नलोपश्च । इदम् । कायतेर्ङिमिः । किम् । सर्व-
धातुभ्यः घृन् । वल्लम् । अल्लम् । शाल्लम् । अमिचिमिदिशसिभ्यः कत्रः ।
अन्त्रम् । चित्रम् । मित्रम् । शल्लम् । पुवो ह्रस्वश्च । पुत्रः । स्त्यायतेर्ङट् ।
ल्लो । सूचेः स्मन् । सूक्ष्मम् । पातेर्ङुम्सुन् । पुमान् । वसेस्तिः ।
'वस्तिर्नाभिरधो द्वयोः' । सावसेः । स्वस्ति । वौ तसेः । 'वितस्तिर्द्वादशाङ्गुलः'

गुणे सुवादिकार्ये रूपाणां सिद्धिः । त्यजोति । अदिः स्यात्स च ङित् । त्यद्-तद्-यद् ।
त्यजि-तनि-यजिभ्योऽदिः ङित्त्वं ङित्वाट्टिलोपे सुवादिकार्ये 'त्यद्-तद्-यद्' इति
रूपाणां संसिद्धिः । एतेरिति । इणधातोर्दिः स्यात्तुडागमश्च । इ-अत् इत्यत्र गुणे
तुडागमे सुवादिकार्ये 'एतद्' इति । युष्येति । मदिक्प्रत्ययः स्यात् । त्वम्-अहम् ।
युप् अस् धात्वोः मदिकि रूपयोः सिद्धिः । इन्देरिति । कमिः स्यान्नस्य लोपश्च । इदम् ।
इन्दधातोः कमिप्रत्यये नलोपे 'इदम्' इति रूपम् । कायतेरिति । ङिमिः स्यात् ।
कैधातोर्ङिमिः ङित्वाट्टिलोपे सुवादिकार्ये 'किम्' इति रूपम् । सर्वेति । घृन् स्यात् ।
वल्लम्-अल्लम्-शाल्लम् । वस-अस्-शास्पृभ्यो धातुभ्यः घृनि 'पः प्रत्ययस्य' इति
षलोपे नैमित्तकापाये सुवादिकार्ये रूपाणां निष्पत्तिः । अमीति । कत्रः स्यादित्यर्थः ।
अन्त्रम्-चित्रम्-मित्रम्-शल्लम् । अमिचिमिदिशसिभ्यः कत्रप्रत्यये सुवादिकार्ये रूपाण्य-
वधेयानि । पुव इति । कत्रः स्याद् ह्रस्वश्च । पुत्रः । पूधातोः कत्रप्रत्यये ह्रस्वत्वेऽसुवादि-
कार्ये 'पुत्रः' इत्यस्य सिद्धिः । स्त्यायतेरिति । ङट् स्यात् । स्त्रीः । स्तयैधातोः ङट्प्रत्यये
ङित्वाट्टिलोपे षलोपे ङित्वान् ङीपि सुवादिकार्ये रूपस्य संसिद्धिः । सूचेरिति । स्मन् स्या-
त् । सूचधातोः स्मन् 'चोः कुः' इति कुत्वे पत्वे चत्वे सुवादिकार्ये सूक्ष्मम् इति रू-
पम् । वसेरिति । वस् धातोः तिः स्यात् । वस्तिः । वस्धातोस्तिप्रत्यये सुवादिकार्ये

'अदि' प्रत्यय हो और वह 'ङित्' भी हो । एतेस्तुट्—'इण्' धातुसे 'अदि' प्रत्यय हो और
'तुट्' का आगम भी हो । युष्यसिभ्यां—'युष्' और 'अस्' धातुसे 'मदिक्' प्रत्यय हो ।

इन्देः—'इन्द्' धातुसे 'कमि' प्रत्यय हो और धातुके नकारका लोप हो ।
कायते—'कै' धातुसे 'ङिमि' प्रत्यय हो । सर्वधातु—सभी धातुओंसे 'घृन्' प्रत्यय हो ।
अमि—'अम्' आदि धातुओंसे 'कत्र' प्रत्यय हो । पुवो—'पू' धातुसे 'कत्र' प्रत्यय और
धातुको ह्रस्व हो । स्त्यायतेर्ङट्—'स्तयै' धातुसे 'ङट्' प्रत्यय हो । सूचेः स्मन्—'सूच्'
धातुसे 'स्मन्' प्रत्यय हो । पातेर्ङुम्सुन्—'पा' धातुसे ङुम्सुन् प्रत्यय हो ।
वसेस्तिः—वस्धातुसे 'ति' प्रत्यय हो । सावसेः—'सु' उपपदक 'अस्' धातुसे 'ति'
प्रत्यय हो । वौ तसेः—'वि' उपसर्गक 'तस्' धातुसे 'ति' प्रत्यय हो ।

इत्यमरः । सर्वधातुभ्योऽसुन् । चेतः । सरः । पयः । सदः । इत्यादि । अशे-
र्देवने युट् च । देवने-स्तुतौ । यशः । उब्जेर्वले वलोपश्च । ओजः ।
अयतेः स्वाङ्गे शिरः कित् । अयतेः शिर आदेशोऽमुन्किच्च । शिरः । अर्ते-
रुच्च । उरः । भूरक्षिभ्यां कित् । भुवः । रजः । वसेर्णिच्च । वासो वक्षम् ।
चन्देरादेश्च छः । छन्दः । पचिवचिभ्यां सुट् च । 'पक्षसी तु स्मृतौ
पक्षौ' । वक्षः । नञि हन एह च । अनेहा । अनेहसौ । विधाजो वेध च ।

रूपस्य निष्पत्तिः । चेतः । सरः । पयः । चित्त-सृ-पि इति धातुभ्यः असुनि गुणे
सुबादिकार्ये त्रयाणां सिद्धिः । अशेरिति । असुन्स्यात् धातोर्युडागमश्च । यशः ।
अशधातोरसुनि युटि सुबादिकार्ये 'यशः' इत्यस्य सिद्धिः । उब्जेरिति । उब्जेरसुन्
स्याद्वलोपश्च । उब्जधातोरसुनि वलोपे 'पुगन्त' इति गुणे सुबादिकार्ये 'ओजः'
इति रूपसिद्धिः । अयतेरिति । असुन्स्यात् धातोः शिरादेशोऽसुनः कित्वमित्यर्थः ।
शिरः । श्रिधातोरसुनि शिरादेशे कित्वेन गुणाभावे सुबादिकार्ये 'शिरः' इत्यस्य
संसिद्धिः । अर्तेरिति । असुन्स्यात् । उकारादेशश्च । उरः । ऋधातोरसुनि उका-
रादेशे रपरत्वे सुबादिकार्ये 'उरः' इति रूपम् । भूरञ्जोति । असुन् स्यात् स च कित् ।
भुवः रजः । भूरञ्जोरसुनि कित्वेन गुणाभावे नलोपे सुबादिकार्ये 'भुवः, रजः' इत्य-
नयोर्निष्पत्तिः । वसेरिति । असुन् स्यात्स च णित् । वासः । वस्धातोरसुनि 'अत
उपधायाः' इत्युपधादीर्घत्वे सुबादिकार्ये 'वासः' इति रूपम् । चन्देरिति । असुन्
स्यात् आदेश्च चस्य छः । छन्दः । चन्दधातोरसुनि चस्य छत्वे सुबादिकार्ये 'छन्दः'
इति रूपं प्रभवति । पचीति । असुन्स्यात्सुट् च । पक्षः । वक्षः । पचवचभ्यामसुनि
सुडागमे च 'चोः कुः' इति चस्य कत्वे सस्य पत्वे संयोगे कृत्वे सुबादिकार्ये 'पक्षः-
वक्षः' उभयोः संसिद्धिः । नञीति । हनः असुन् स्यादेहादेशश्च । अनेहा । न हन्तीति

सर्वधातुभ्यो—धातुमात्रसे 'असुन्' प्रत्यय हो ।

अशेर्देवने—'अश्' धातुसे 'असुन्' प्रत्यय हो और 'युट्' का आगम हो, देवन
(स्तुति) अर्थमें । उब्जेर्वले—'उब्ज्' धातुसे 'असुन्' प्रत्यय हो और वकारकालोप हो, 'बल्'
अर्थमें । अयतेः—'अि' धातुसे 'असुन्' प्रत्यय हो और वह 'कित्' हो तथा 'अि' को 'शिर'
आदेश भी हो, स्वाङ्ग अर्थमें । अर्तेरुच्च—'ऋ' धातुसे 'असुन्' हो और धातुको 'उत्' हो ।

भूरक्षिभ्यां—'भू' और 'रब्ज्' धातुसे 'असुन्' प्रत्यय हो और वह 'कित्' हो ।

वसेर्णिच्च—'वस्' धातुसे 'असुन्' प्रत्यय हो और वह 'णित्' हो ।

चन्देरादेश्च—'चन्द' धातुसे 'असुन्' हो और धातुके आदिको छत्त्व हो ।

पचिवचि—'पच्' और 'वच्' धातुसे 'असुन्' प्रत्यय और 'सुट्' का आगम भी हो ।

नञि हन—'नञ्' उपपदक 'हन्' धातुसे 'असुन्' हो और धातुको 'एह्' आदेश हो ।

विधाजो—'वि' उपसर्गक 'धा' धातुसे 'असुन्' हो और प्रकृतिको 'वेध' आदेश भी हो ।

वेधाः । चन्द्रे मो ङित् । चन्द्रोपपदान्माङोऽसिः स च ङित् । चन्द्रमाः । उपः
कित् । उपः । सत्तेरप्पूर्वादसिः । अप्सराः । प्रायेणायं भूमि, अप्सरसः । वशोः
कनसिः । उशना । अदि भुवो ङुतच् । अद्भुतम् । गुधेरूमः । गोधूमः ।
तृहेः कनो हलोपश्च । तृणम् । उदि चेडैसिः । उच्चैः । नौ दीर्घश्च । नीचैः ।
पूजो यण्णुक् ह्रस्वः । यत्प्रत्ययः । पुण्यम् । उदि ङणातेरजलौ पूर्वपदान्त्य-
लोपश्च । उदरम् । ङित्छनेर्मुट् स चोदात्तः । अच् अल् च ङिदातोर्मुट् ।

नञ्पूर्वात् हन्धातोः सुनि एहादेशे 'नलोपो नञः' नलोपे नुटि सुवादिकार्ये
'अनेहा' इति रूपम् । वेधाः । विपूर्वाद्धाधातोः सुनि धातोर्वेधादेशे सुवादिकार्ये
कृते 'वेधाः' इत्यस्य निष्पत्तिः । चन्द्र इति । चन्द्रपूर्वान्माङोऽसुनि ङित्वेन
टिलोपे सुवादिकार्ये 'चन्द्रमा' इति प्रभवति । उप इति । असुन्स्यात्स च
कित् । उपः । उपधातोः सुनि कित्वेन गुणाभावे सुवादिकार्ये 'उप' इति रूपम् ।
सत्तेरिति । अपपूर्वात्सुधातोः सिः स्यात् । अप्सरसः । अपपूर्वात्सुधातोः सि गुणे बहुत्वे
जसादिकार्ये 'अप्सरसः' इति रूपम् । वशेरिति । उशना । वशधातोः कनसि कित्वेन
संप्रसारणे सुवादिकार्ये 'उशना' इति रूपम् । अद्भुत इति । ङुतच् स्यात् । अद्पूर्वा-
द्भुवः ङुतच् प्रत्यये ङित्वाट्टिलोपे सुवादिकार्ये 'अद्भुतम्' इति रूपम् । गुधेरिति ।
गुधधातोः रूमप्रत्यये 'पुगन्त' इति गुणे सुवादिकार्ये 'गोधूमः' इति रूपम् ।
तृहरिति । कनः स्यात् हलोपश्च । तृणम् । तृहधातोः कनप्रत्यये हलोपे 'ऋवर्णात्' इति
णत्वे सुवादिकार्ये 'तृणम्' इति रूपम् । उदीति । उद्पूर्वाच्चिधातोर्ङैसिप्रत्यये ङित्वा-
ट्टिलोपे सुवादिकार्ये 'उच्चैः' इति रूपम् । नौ दीर्घश्चेति । निपूर्वाच्चिधातोर्ङैसिः स्यात्
नेर्दीर्घश्च । नीचैः । पृथिति । यत्स्यात् पुगागमो ह्रस्वश्च । पुण्यम् । पुधातोर्यति
पुगागमे पूधातोर्ह्रस्वत्वे सुवादिकार्ये 'पुण्यम्' इत्यस्य सिद्धिः । उदीति । अच् स्यात्
पूर्वपदान्त्यलोपश्च । उदरम् । उद्पूर्वात् दधातोर्चप्रत्यये धातोर्जादेशे रपरत्वे

चन्द्रे मो—चन्द्रोपपदक 'माङ्' धातुसे 'असि' प्रत्यय हो और वह 'ङित्' हो ।

उपः कित्—'उप' धातुसे 'असि' प्रत्यय हो और वह 'कित्' हो ।

सत्तेर—'अप्' पूर्वक 'सु' धातुसे 'असि' प्रत्यय हो । वशोः—'वश्' धातुसे 'कनसि'
प्रत्यय हो । अदि—'अद्' पूर्वक 'भू' धातुसे 'ङुतच्' प्रत्यय हो । गुधेरूमः—'गुध'
धातुसे 'ऊम' प्रत्यय हो । तृहेः कनो—'तृह' धातुसे 'कन' प्रत्यय हो और धातुके हकारका
लोप हो । उदि चेडैसिः—'उत्' पूर्वक 'चि' धातुसे 'ङैसि' प्रत्यय हो । नौ दीर्घश्च—'नि'
उपसर्गक 'चि' धातुसे 'ङैसि' प्रत्यय और 'नि'को दीर्घ हो । पूजो यत्—'पू' धातुसे 'यत्'
प्रत्यय और 'णुक्' का आगम हो तथा धातुके अकारको ह्रस्व भी हो । उदिङणा—'उत्'
उपसर्गक 'ङ' धातुसे 'अच्' तथा 'अल्' प्रत्यय हो और 'उत्' के अन्त्यका लोप हो ।

ङित्छने—'खन्' धातुसे 'अच्' और 'अल्' प्रत्यय हो तथा 'मुट्' का आगम हो और

मुखम् । अमेः सन् । अंसः । मुहेः खो मूर्च । मूर्खः । नहेर्हलोपश्च । नखः । शीङो ह्रस्वश्च । शिखा । माङ ऊखो मय च । मयूखः । जनेष्टन्नलोपश्च । जटा । क्लिशोरन् लो लोपश्च । केशः । फलेरितजादेशश्च पः । पलितम् । कृञादिभ्यः संज्ञायां वुन् । करकः । कटकः । नरकः, नरकम् । 'नरको नारकोऽपि च' इति द्विरूपकोशः । चीकयतेराद्यन्तविपर्ययश्च । कीचकः । जनेररन्नष्ट च । जठरम् । हर्यतेः कन्यन् हिर च । हिरण्यम् । कृञः पासः । कर्पासः ।

सुवादिकार्ये 'उदरम्' इत्यस्य सिद्धिः । डिति । डित्त्वनेर्मुडागमः स्यात् । अजलिति । खनधातोर्चप्रत्यये डित्वाट्टिलोपे मुडागमे सुवादिकार्ये 'मुखम्' इति रूपं भवति । अमेरिति । अमधातोः सन् स्यात् । अंसः । अमधातोः सन्प्रत्यये अनुस्वारे सुवादिकार्ये 'अंसः' इति रूपसिद्धिः । मुहेरिति । मुहेः खः स्यात् मूर्चादेशश्च । नहेरिति । खः स्यात् हलोपश्च । नखः । नहधातोः खप्रत्यये हलोपे सुवादिकार्ये 'नखः' इति । शीङ इति । खः स्याद्धातोः ह्रस्वश्च । शिखा । शीङ्धातोः खप्रत्यये धातोर्ह्रस्वत्वे टापि सुब्लुगादिकार्ये 'शिखा' इति रूपं भवति । माङ इति । माङ्धातोर्खप्रत्ययः स्याद्धातोः मयादेशश्च । मयूखः । माधातोर्खे मयादेशे सुवादिकार्ये 'मयूख' इत्यस्य सिद्धिः । जनेरिति । टन्स्यान्नलोपश्चेत्यर्थः । जटा । जनधातोष्टन्प्रत्यये नलोपे टापि सुवादिकार्ये 'जटा' इति रूपम् । क्लिशेरिति । अन् स्यात् ललोपश्च । क्लिश्वाधातोरनि ललोपे 'पुगन्त' गुणे सुवादिकार्ये 'केशः' इति रूपम् । फलेरिति । इतच् स्यादादेशश्च पकारः । पलितम् । फलधातोरितचि फस्य पत्वे सुवादिकार्ये च कृते 'पलितम्' इति सिध्यति । कृञादीति । वुन्स्यात् । करकः । कटकः । नरकः । कृ-कट-नृभ्यो वुकि अकादेशे गुणादौ सुवादिकार्ये च कृते रूपाणां संसिद्धिः । चीकयतेरिति । वुन् स्यात्, चीकयोः अचसहितयोर्विपर्यय इत्यर्थः । कीचकः । चीकधातोर्वुनि अकादेशे विपर्ययत्वे सुवादिकार्ये 'कीचकः' इति । हर्यतेरिति । कन्यन्प्रत्ययो हिरश्चादेशः । ह्रधातोः कन्यनि हिरादेशे सुवादिकार्ये 'हिरण्यम्'

वह उदात्त हो । अमेः सन्—'अम्' धातुसे 'सन्' प्रत्यय हो । मुहेः खो—'मुह्' धातुसे 'ख' प्रत्यय और मुह्को 'मूर्' आदेश हो । नहेर्हलोपश्च—'नह्' धातुसे 'ख' प्रत्यय और धातुके इकारका लोप हो । शीङो—'शीङ्' धातुसे 'ख' प्रत्यय हो और ह्रस्व भी हो ।

माङ् ऊखो—'माङ्' धातुसे 'ऊख' प्रत्यय और 'माङ्' को 'मय' आदेश हो ।

जनेष्टन्—'जन्' धातुसे 'टन्' प्रत्यय और नकारका लोप हो । क्लिशोरन्—'क्लिश्' धातुसे 'अन्' प्रत्यय और लकारका लोप हो । फलेरितच्—'फल्' धातुसे 'इतच्' प्रत्यय और धातुसंबन्धी फकारको पकार हो । कृञादिभ्यः—'कृञ्' आदि धातुसे 'वुन्' प्रत्यय हो संज्ञामे । चीकयते—'चीक' धातुसे 'वुन्' प्रत्यय हो और धातुके आदि-अन्त अक्षरका विपर्यय भी हो । जनेररन्—'जन्' धातुसे 'अरन्' प्रत्यय हो और धातुके नकारको ठकार आदेश हो । हर्यतेः—'हर्य' धातुसे 'कन्यन्' प्रत्यय और 'हर्य' को 'हिर' आदेश हो कृञः पासः—'कृ' धातुसे 'पास' प्रत्यय हो ।

वित्वादित्वात्कर्पासम् । ऊर्णोतेर्ङः । ऊर्णा । दधातेर्यत् जुट् च । धान्यम् ॥
चतेरुनन् । चत्वारः । प्राततेररन् । प्रातः । अमेस्तुट् च । अन्तः । दहेर्गो
लोपो दश्च नः । दहेर्गप्रत्ययो धातोरन्त्यस्य लोपो दस्य नः । नगः । हन्तेरच्
घुर च । घोरम् । तरतेर्ङिः । त्रयः । त्रीन् । ग्रहेरनिः । ग्रहणिः । प्रथेरमच् ।
प्रथमः । चरेश्च । चरमः । मङ्गेरलच् । मङ्गलम् । इत्युणादिप्रकरणम् ।

इति रूपम् । कृञ इति । कृधातोः पासः स्यात् । कर्पास इति । कृधातोः पासप्रत्यये
गुणे रपरत्वे सुवादिकार्ये 'कर्पासः' इति भवति । ऊर्णोतेरिति । ङः स्यात् ।
ऊर्णुधातोर्ङप्रत्यये टेलोपे टापि सुवादिकार्ये 'ऊर्णा' इत्यस्य सिद्धिः । दधातेरिति ।
धाधातोर्त्यप्रत्यये नुडागमे सुवादिकार्ये 'धान्यम्' इति रूपम् । प्राततेरिति ।
प्रपूर्वादतधातोः अरनि सुवादिकार्ये 'प्रातः' इति रूपम् । अमेरिति । अमधातोः
अरनि तुटि सुवादिकार्ये 'अन्तः' इति रूपम् । दहेरिति । दहधातोः गप्रत्यये हलोपे
दस्य नत्वे सुवादिकार्ये 'नगः' इति रूपम् । हन्तेरिति । अच्प्रत्ययः स्यात् घुरचादेश-
श्चेत्यर्थः । हन्धातोरचि घुरचादेशे सुवादिकार्ये 'घोरम्' इति । तरतेरिति । ङिः स्यात् ।
तृधातोः ङिप्रत्यये ङित्वाट्टिलोपे 'त्रि' इति जाते जसि गुणेऽयादेशे रुवे विसर्गे
रूपम् । ग्रहेरिति । ग्रहधातोरनिप्रत्यये सुवादिकार्ये रूपम् । प्रथेरिति । अमच् स्यात् ।
प्रथधातोरमचि सुवादिकार्ये प्रथमः इति । चरेश्चेति । अमच् स्यात् । चरधातोरमचि
सुवादिकार्ये 'चरमः' इति रूपम् । मङ्गेरिति । अलच् । मङ्गधातोरलचि सुवादिकार्ये
'मङ्गलम्' इति सिध्यति । इत्युणादिः ।

कृञः—'कृ' धातुसे 'पास' प्रत्यय हो । उर्णोतेर्ङः—'ऊर्ण' धातुसे 'ङ' प्रत्यय हो ।
दधातेर्यत्—'धा' धातुसे 'यत्' प्रत्यय और 'जुट्' का आगम हो । चतेरुनन्—'चत्'
धातुसे 'उरन्' प्रत्यय हो । प्राततेररन्—'प्र' उपसर्गक 'अत्' धातुसे 'अरन्' प्रत्यय हो ।
अमेस्तुट् च—'अम्' धातुसे 'अरन्' प्रत्यय और 'तुट्' का आगम हो । दहेर्गो—'दह्'
धातुसे 'ग' प्रत्यय, धातुके अन्त्यका लोप और धातुके दकारको नकार आदेश हो ।
हन्तेरच्—'हन्' धातुसे 'अच्' प्रत्यय और धातुको 'घुर' आदेश भी हो ।
तरतेर्ङिः—'तृ' धातुसे 'ङि' प्रत्यय हो । ग्रहेरनिः—'ग्रह्' धातुसे 'अनि' प्रत्यय हो ।
प्रथेरमच्—'प्रथ' धातुसे 'अमच्' प्रत्यय हो ।
चरेश्च—'चर्' धातुसे भी 'अमच्' प्रत्यय हो ।
मङ्गेरलच्—'मङ्ग' धातुसे 'अलच्' प्रत्यय हो ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें उणादिप्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ उत्तरकृदन्तप्रकरणम्

उणादयो बहुलम् । ३।३।१। एते वर्तमाने संज्ञायां च बहुलं स्युः । केचिदवि-

हिता अप्यूहाः ।

‘संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे ।

कार्याद्विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु’ ॥

दाशगोघ्नौ संप्रदाने । ३।४।७३। एतौ निपात्येते । दाशन्ति तस्मै दाशः ।

गां हन्ति तस्मै गोघ्नः अतिथिः । तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्

क्रियायां क्रियार्थायामुपपदे भविष्यत्यर्थे धातौरेतौ स्तः । मान्तत्वाद-

व्यत्यम् । कृष्णं द्रष्टुं याति । कृष्णं दर्शको याति । कालसमयवेलासु

तुमुन् । ३।३।१६७। कालः समयो वेला अनेहा वा भोजुम् ॥ भावे । ३।३।१८।

सिद्धावस्थापन्ने धात्वर्थे वाच्ये ‘धातौर्घञ्’ । पाकः ॥ अकर्तरि च कारके

संज्ञास्त्विति । संज्ञासु-अनादिसंज्ञासु । धातुरूपाणि उद्भूयन्ते इति शेषः,
यथा—‘हृषेरुलच्’ इति विहितमुलच्प्रत्ययं दृष्ट्वा शङ्किः प्रकृतिरुद्भूते तेन शङ्कुलेति
सिद्ध्यति । कार्याद्विद्यादिति । ऋफिद् इत्यादौ गुणप्रतिषेधादिकार्यानुरोधात् अनुबन्धं
ककारादिकं विद्यादित्यर्थः । एतच्छास्त्रमुणादिष्विति । एतत् सर्वमुणादिषु शास्त्रं शासि-
तव्यमित्यर्थः । दाशगोघ्नाविति ॥ अण्णन्तं निपातनमेतत् । दशहन धात्वोः निपात-
नादणि उपधाया दीर्घलोपौ घत्वे सौ-रुत्वे विसर्गे ‘दाशः-गोघ्नः’ इति रूपे भवतः ।
संप्रदानार्थे एव, तेन दाशन्ति तस्मै-गां हन्ति इति विग्रहवाक्ये भवतः । पाकः ।
पचधातोः ‘भावे’ इति घञि, ‘लशक्वतद्धिते’ इति घस्य ‘हलन्त्यम्’ इति जस्य
चेत्संज्ञायां लोपे च ‘पच्+अ’ इति जाते, ‘अत उपधायाः’ इति अकारस्य वृद्धौ,
‘चजोः कुघिण्यतोः’ इति चस्य कुत्वे, कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे, सौ, उगते, सस्य

उणादयो—धातुसे वर्तमान कालमें और संज्ञामें उणादि प्रत्यय हो, बहुल प्रकारसे
(बहुल ग्रहणका लक्षण पृ० ३८७ में देखो)

संज्ञासु—संज्ञा (इत्यादि शब्दों) में धातुकी कल्पना करनी चाहिये और फिर उससे
प्रत्ययकी कल्पना करनी चाहिये । तथा प्रयोगोंमें गुणाभाव अथवा वृद्धि आदि कार्योंको
देखकर प्रत्ययोंसे अनुबन्ध (कित्, छित्, णित्, जित् आदि) की कल्पना भी करनी
चाहिये—यही उणादिमें विशेषता कही गई है ।

दाशगोघ्नौ—‘दाश’ और ‘गोघ्न’ निपातन हों, संप्रदानमें । तुमुन्ण्वुलौ—क्रियार्थक
क्रिया उपपद रहने पर भविष्यत् अर्थमें धातुसे ‘तुमुन्’ और ‘ण्वुल्’ प्रत्यय हों ।

कालसमय—काल, समय और वेला उपपद रहने पर धातुसे ‘तुमुन्’ प्रत्यय हो ।
भावे—सिद्धावस्थापक धात्वर्थवाच्य हो तो धातुसे ‘घञ्’ प्रत्यय हो । कर्तरि च—कर्तृभिन्न

संज्ञायाम् । ३।३।१९। कर्तृभिन्ने कारके घञ् ॥ घञि च भावकरणयोः । ६।४।२७। रज्जेर्नलोपः । रागः । अनयोः किम् ? रज्यत्यस्मिन्निति रङ्गः ॥ निवासचितिशरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः । ३।३।४१। एषु चिनोतेर्घञ् , आदेश्च कः । उपसमाधानं राशीकरणम् । निकायः । आकायम् । कायः । गोमयनिकायः ॥ एरच् । ३।३।५६। इवर्णान्तादच् । चयः ॥ ऋदोरप् । ३।३।५७। ऋदन्तादुवर्णान्तादप् । करः । गरः । शरः । यवः । लवः । स्तवः । पवः । (घञर्थे कविधानम्) प्रस्थः । विघ्नः ॥ डिव्तः किन्नः । ३।३।८८। भावे, स्वभावात् ॥ कत्रेर्मम् नित्यम् । ४।४।२०। किन्न प्रत्ययान्तान्मप् निर्वृतेऽर्थे । पाकेन निर्वृतं पक्वित्रमम् । डुवप्-उप्त्रिमम् ॥ टिव्तोऽथुच् । ३।३।८९। अयमपि भावे । टुवेपृ कम्पने-वेपथुः । श्वयथुः । यजयाच- यतविच्छप्रच्छरक्षो नङ् । ३।३।९०। यज्ञः । याच्या । यत्नः । विश्नः । प्रश्नः ।

रुत्वे च 'पाकः' इति रूपम् । निकायः । निपूर्वकविधातोः 'निवासचितिशरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः' इति घञि, आदेः—चेश्चकारस्य कुंत्वे, घकारजकारयोर्लोपो 'नि कि + अ' इति भूते अस्य आर्धधातुकत्वात् 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे, 'एचोऽयवायावः' इति अयादेशे 'निकय + अ' इति जाते 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ, कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे, सौ, उलोपे, रुत्वे विसर्गे च, 'निकायः' इति जायते । करः । कृधातोः 'ऋदोरप्' इत्यपि, पगते, आर्धधातुकसंज्ञायाम्, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे अकारे, 'उरण् रपरः' इति रपरे च जाते, संयोगे कृते, विभक्तिकार्यं च 'करः' इति रूपम् । एवमेव गृधातोः 'ऋदोरप्' इत्यपि कृते बोध्यम् । विघ्नः । विपूर्वकहन्धातोः 'घञर्थे कविधानम्' इति के, कलोपे, आर्धधातुकसंज्ञायाम्, 'गमहनजनखनघसां लोपः विडति' इत्युपधाकारस्य लोपे, 'होहन्तेर्णिन्नेषु' इति हस्य कुत्वेन घत्वे, विभक्तिकार्यं च कृते, 'विघ्नः' इति रूपम् । यज्ञः । यज्धातोः 'यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्' इति नङि प्रत्यये, डलोपे, 'स्तोः श्रुना श्रुः' इति श्रुत्वेन नस्य अत्वे जज्ञोः संयोगेन ज्ञे जाते, विभक्तिकार्यं च तत्सिद्धिः । याच्या । याच्धातोः 'यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्' इति नङि, डलोपे, श्रुत्वे टापि, विभ-

कारक अर्थमें धातुसे 'घञ्' प्रत्यय हो, संज्ञामें । घञि च—'रञ्ज्' धातुके नकारका लोप हो, घञ् प्रत्ययके परे—भाव और करणमें । निवास—निवासादि अर्थमें 'चिञ्' धातुसे 'घञ्' प्रत्यय हो और धातुके आदि चकारको ककार भी हो । एरच्—इवर्णान्त धातुसे 'अच्' प्रत्यय हो । ऋदोरप्—ऋवर्णान्त और उवर्णान्त धातुसे 'अप्' प्रत्यय हो । घञर्थे—घञर्थ में 'क' प्रत्यय हो । डिव्तः किन्नः—'डु' इत्संज्ञक धातुसे 'किन्न' प्रत्यय हो, भावमें ।

कत्रेर्मम्—'किन्न' प्रत्ययान्तसे तद्धित संज्ञक 'मप्' प्रत्यय हो, निर्वृत्त अर्थमें ।

टिव्तोऽथुच्—'टिवत्' धातुसे 'अथुच्' प्रत्यय हो, भावमें । यजयाच—यज्, याच,

रद्धः ॥ स्वपो नन् ।३।३।९। स्वप्नः ॥ उपसर्गे घोः किः ।३।३।९२। प्रधिः ।
 उपाधिः ॥ स्त्रियां क्तिन् ।३।३।९४। स्त्रीलिङ्गे भावादौ क्तिन् । घञोऽपवादः ।
 कृतिः । स्तुतिः । (ऋत्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद्वक्तव्यः) तेन नत्वम्,
 कीर्णिः । गीर्णिः । धूनिः । लूनिः । पूनिः ॥ (संपदादिभ्यः क्तिप्) । सम्पत् ।
 विपत् । आपत् । (क्तिन्नपीष्यते) संपत्तिः । विपत्तिः । आपत्तिः ॥ ऊतियूतिजू-
 तिसातिहेतिकीर्तयश्च ।३।३।९७। एते निपात्यन्ते ॥ कृजः ।३।३।१००। क्यप् ।
 कृत्या ॥ श च ।३।३।१००। कृजः शः । चात् क्तिन् । प्रकरणम्—प्रक्रिया ।
 कृतिः । इच्छा ।३।३।१०१। इषेनिपातोऽयम् ॥ अ प्रत्ययात् ।३।३।१०२। प्रत्य-
 यान्तेभ्यः स्त्रियामकारप्रत्ययः । चिकीर्षा । पुत्रकाम्या ॥ गुरोश्च हलः ।३।३।१०३।

क्तिकार्ये च तस्सिद्धिः । एवं सर्वत्र । कृतिः । करणं कृतिः, इत्यत्र कृधातोः 'स्त्रियां
 क्तिन्' इति क्तिनि, कस्य नस्य च लोपे, क्तिन्वाद्गुणाभावे, विभक्तिकार्ये च तस्सि-
 द्धिः । कीर्णिः । कृधातोः 'स्त्रियां क्तिन्' इति क्तिनि, कनयोलोपे, क्तिन्वाद्गुणाभावे,
 'ऋत् इद्धातोः' इति इत्वे, 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे 'हलि च' इति दीर्घे 'कीर्ति'
 इति जाते, 'ऋत्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद्वाच्यः' इति निष्ठावद्भावेन 'रदाभ्यां निष्ठातो
 नः पूर्वस्य च दः' इति तस्य नत्वे, 'रपाभ्यां णो नः समानपदे' इति नस्य णत्वे,
 विभक्तिकार्ये च कृते 'कीर्णिः' इति । चिकीर्षा । कृ धातोः सनि, नगते, 'इको झल्'
 इति सनः क्तिन् 'अञ्जनगमां सनि' इति दीर्घे, 'ऋत् इद्धातोः' इति इत्वे, 'उरण्
 रपरः' इति रपरत्वे, 'हलि च' इति दीर्घे 'सन्यङोः' इति द्वित्वे, अभ्यासत्वे, अभ्या-
 सकार्ये सनः सस्य पत्वे च जाते, 'चिकीर्ष' इति भूते 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातु-
 संज्ञायाम् तस्मात् चिकीर्षधातोः 'अप्रत्ययात्' इति अप्रत्यये, 'अतो लोपः' इति

यत्, विच्छ्, 'प्रच्छ् और रक्ष् धातुसे 'नङ्' प्रत्यय हो । स्वपोनन्—स्वप् धातुसे नन्
 प्रत्यय हो । उपसर्ग—उपसर्ग उपपदक घुसंज्ञक धातुसे 'कि' प्रत्यय हो । स्त्रियां क्तिन्—
 भाव और कर्तृभिन्न कारक अर्थमें धातुसे 'क्तिन्' प्रत्यय हो, स्त्रीलिङ्गमें । ऋत्वा—'ऋ'
 धातु तथा स्वादि धातुओंसे पर जो 'क्तिन्' वह निष्ठावद् हो । सम्पदा—सम्पदादि धातुओं
 से स्त्रीलिङ्ग भावमें 'क्तिप्' प्रत्यय हो ।

क्तिन्नपीष्यते—सम्पदादिसे 'क्तिन्' प्रत्यय भी हो ।

ऊतियूति—ऊति, यूति, जूति, साति, हेति, कीर्त्ति—इन शब्दोंका निपातन हो ।

कृजः—'कृज्' धातुसे 'क्यप्' प्रत्यय हो—स्त्रीलिङ्गमें । श च—'कृज्' धातुसे 'श'
 प्रत्यय हो और चकारात् 'क्तिन्' प्रत्यय भी हो—स्त्रीलिङ्गमें । इच्छा—'इष्' धातुसे 'इच्छा'
 यह निपातन हो । अ प्रत्ययात्—प्रत्ययान्तसे 'अ' प्रत्यय हो, स्त्रीलिङ्गमें ।

गुरोश्च—गुरुमान् इलन्त धातुसे स्त्रीलिङ्गमें 'अ' प्रत्यय हो ।

गुरुमतो हलन्तात्त्रियामप्रत्ययः । ईहा । ऊहा ॥ पिङ्गिदादिभ्योऽङ् । ३।३।१०४।
 जृप्, 'ऋदृशोऽङि गुणः' । जरा । त्रपूप्, त्रपा । मिदा । विदारण एवायम् ।
 भित्तिरन्या । छिदा । मृजा । (क्रपेः संप्रसारणं च) । कृपा ॥ आतश्चोपसर्गे
 । ३।३।१०६। अङ् स्यात् । उपदा । अन्तर्धा ॥ ण्यासश्चान्थो युच् । ३।३।१०७।
 अस्यापवादः । कारणा ॥ रोगाख्यायां ण्वुल् बहुलम् । ३।३।१०८। प्रच्छदिका ।

सनोऽकारलोपे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे टापि, अनुबन्धलोपे सवर्णदीर्घे, तस्मात् सौ,
 उलोपे, 'हल्ङ्यादिभ्यो दीर्घात्' इति सलोपे कृते 'चिकीर्षा' इति रूपम् । पुत्रकाम्या ।
 आत्मानं पुत्रमिच्छति इत्यर्थे 'काम्यच्च' इति काम्यचि, चलोपे, पुत्रकाम्य इति
 भूते, 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायाम्, तस्मात् पुत्रकाम्य इति धातोः
 'अप्रत्ययात्' इति अप्रत्यये, 'अतो लोपः' इति काम्यगताकारलोपे अप्रत्ययेन
 संयोगे कृते, कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे, टापि, अनुबन्धलोपे, सवर्णदीर्घे विभक्तिकार्ये
 च तत्सिद्धिः । पिङ्गिदादीनि ॥ पकार इदेषां ते पितस्तेभ्य इत्यर्थः । तथा मिदादिग-
 णपठितेभ्यश्चाङ् स्यादिति स्पष्टः सूत्रार्थः । जरेनि ॥ साधयति-जृप् धातोः पित्वात्
 'पिङ्गिदादिभ्योऽङ्' इत्यङि 'ऋदृशोऽङि गुणः' इति गुणेऽकारान्तत्वात् 'अजाद्यतष्टाप्'
 इति टापि सवर्णदीर्घे सौ 'हल्ङ्यादिलोपे' 'जरा' इति रूपम् । एवं त्रपेत्थपि । मिदादि-
 गणमुदाहरति । एवं मिदादिष्वपि 'पिङ्गिदादिभ्योऽङ्' इत्यङि टापि सौ हल्ङ्यादि
 लोपे रूपाणि बोध्यानि । क्रपेरिति । चकारादङपि स्यादिति बोध्यम् । केवलस्य संप्र-
 सारणस्याप्रयुक्तत्वात् । कृपा । क्रपधातोरङि सम्प्रसारणेन रेफस्य ऋत्वे, 'संप्रसार-
 णाच्च' इति पूर्वरूपे डित्वेन गुणाभावे टापि सौ हल्ङ्यादिलोपे 'कृपा' इति रूप-
 सिद्धिः । अतश्चेति । 'पिङ्गिदादिभ्यः' इत्यतो अङिति अनुवर्तते । उपसर्गेण युक्तादाका-
 रान्ताद्धातोरङ् स्यादिति भावः । उपदेति । उपपूर्वाद्धातोः 'आतश्चोपसर्गे' इति अङि
 'आतो लोप इति च' इत्यालोपे टापि सौ 'हल्ङ्यादिलोपे' 'उपदा' इति रूपं प्रभवति ।
 अन्तर्धा । अन्तः पूर्वाद्धातोः 'अन्तःशब्दस्याङ्किविधिनत्वपूपसर्गात्वं वाच्यम्' इति
 वार्तिकेनोपसर्गात्वे 'आतश्च' इत्यङि 'आतो लोप' इत्यालोपे टापि सवर्णदीर्घे
 सौ हल्ङ्यादिलोपे 'अन्तर्धा' इति रूपं भवति । रोगाख्यायेति । रोगस्य आख्या
 नामधेयं तस्मिन् द्योत्ये धातोः ण्वुल् स्यात्, बहुलम्-कचिद्वृत्तिः कचिदप्रवृत्तिः
 कचिद्विभाषा कचिदन्यदेव । विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुल्यं वदन्ति ।

पिङ्गिदादिभ्योऽङ्-प्रकारेत्संज्ञक धातु और मिदादि धातुओंसे स्त्रीलिङ्गभावमें 'अङ्'
 प्रत्यय हो । क्रपेः सम्प्रसारणं च-क्रप् धातुसे स्त्रीलिङ्गभावमें 'अङ्' प्रत्यय और धातुको
 सम्प्रसारण हो । आतश्चोप-उपसर्गोपपदक आदन्त धातुसे स्त्रीलिङ्गभावमें 'अङ्' प्रत्यय हो ।
 ण्यासश्चान्थ-ण्यन्त धातु 'आस्' धातु और 'श्चान्थ' धातुसे 'युच्' प्रत्यय हो, स्त्रीलिङ्ग
 और भावमें । रोगाख्यायां-प्रत्ययान्त समुदाय यदि रोगविशेषकी संज्ञा हो तो, धातुसे

प्रवाहिका । विचर्चिका । कचिञ्, -शिरोत्तिः । (धात्वर्थनिर्देशे ण्वुत्व्यक्तव्यः) आसिका । (इक्षितपौ धातुनिर्देशे) । पचिः । पचतिः । (वर्णात्कारः) निर्देश इत्येव । अकारः । ककारः । (रादिफः) । रेफः ॥ नपुंसके भावे क्तः । ३।३।११४। ल्युट् च । ३।३।११५। हसितम् । हसनम् ॥ करणाधिकरण-योश्च । ३।३।११७। ल्युट् । अनुमानः । अनुमानी ॥ पुंसि संज्ञायां घः प्रा-येण । ३।३।११८। छादेर्घेऽन्व्युपसर्गस्य । ६।४।९६। द्विप्रभृत्युपसर्गहीनस्य छादे-र्हसो धे । दन्तच्छदः । आकुर्वन्त्यस्मिन्नित्याकरः ॥ अवे तृहोर्घञ् । ३।३।१२०।

इति विस्तरः । प्रवहदिका-प्रवाहिका । प्रपूर्वात् छृदवहोः 'रोगाख्यायाम्' इति ण्वुलि 'युवोः' इत्यकि शिस्वेन आर्धधातुकत्वाच्च 'अत उपधा' इति 'पुगन्त' इति वृद्धिगुणौ टापि 'प्रत्ययस्थात्' इति इस्वे सौ हल्ङ्यादिलोपे रूपे भवतः । विचर्चिका । विपूर्वात् चर्च धातोः 'रोगाख्यायाम्' इति ण्वुलि अकि टापि इस्वे सौ हल्ङ्यादिलोपे 'विचर्चिका' इति रूपं भवति । कचिञ्चेति बाहुलकप्रवृत्तिं दर्शयति—शिरोत्तिः । अत्र न ण्वुल्, बाहुलकात् । धात्वर्थेति । धातोरर्थो धात्वर्थस्तस्मिन्निर्दिश्ये धातोः ण्वुल् वक्तव्य इत्यर्थः । उदाहरति—प्रासिकेति । असुधातोः 'धात्वर्थ' इति ण्वुलि उपधादीर्घे 'युवोः' इत्यकि टापि 'प्रत्ययस्थात्' इतीकारे सौ हल्ङ्यादिलोपे 'आसिका' इति रूपम् । इक्षितप्राप्तिः । केवलं धातुनिर्देशेऽनुबन्धरहिते एतौ क्तः । पचिः पचतिः । 'ह्रस्वचष्' इति धातुस्वरूपत्वेऽपि अनुबन्धरहितात् पचस्वरूपात् इति सौ क्त्वे विसर्गे 'पचिः' इति रूपम् । यदा शितप्स्यात्तदा शिस्वेन सार्व-धातुकत्वात् 'उदादिभ्यः शः' इति शविकरणे सौ क्त्वे विसर्गे 'पचतिः' इति रूपम् । वर्णात्तिः । वर्णवृद्ध अल्मात्रावच्छेदकधर्मवत्त्वम् । तस्मिन् द्योत्ये कौरप्रत्ययः स्यादित्यर्थः । अकारः-ककारः । अत्रालमात्रावच्छेदको यो धर्मः 'अत्वं कत्वं' धर्मः तद्धर्मवन्तो अकौ तयोर्द्योत्ये कारप्रत्यये सौ क्त्वे विसर्गे 'अकारः' 'ककारः' इति । रादिफः । रकारस्य रत्वधर्मावच्छिन्नत्वेन तद्धर्मवत्त्वात्कारप्रत्यये प्राप्ते तस्मादित्वात् ह्रस्वप्रत्यये 'आट्गुणः' इति गुणे सौ क्त्वे विसर्गे 'रेफः' इति रूपसिद्धिः ।

'ण्वुल्' प्रत्यय हो, बहुल प्रकारसे । धात्वर्थनिर्देशो—धात्वर्थके निर्देशमें धातुसे ण्वुल् प्रत्यय हो । इक्षितपौ—धातुके निर्देशमें धातुसे 'इक्' और 'शितप्' प्रत्यय हों । वर्णात्कारः—वर्णके निर्देशमें वर्णसे 'कार' प्रत्यय हो ।

रादिफः—रकारके निर्देशमें 'र' से 'रफ' प्रत्यय हो । नपुंसके—धातुसे 'क्त' प्रत्यय हो, नपुंसकमें और भावमें । ल्युट् च—धातुसे 'ल्युट्' प्रत्यय भा हो, नपुंसक और भावमें । करणाधि—करण और अधिकरण अर्थमें धातुसे 'ल्युट्' प्रत्यय हो । पुंसिसंज्ञायां—पुंलिङ्गमें संज्ञामें धातुसे प्रायः 'घ' प्रत्यय हो, करण और अधिकरण अर्थमें । छादेर्घे—द्विप्रभृति उप-सर्गहीन अंगावयव 'छाद्' की उपधाकी ह्रस्व हो, 'वि' के परे । अवे तृहोर्घञ्—अवपूर्वक

अवतारः । अवस्तारो जवनिका ॥ हलश्च । ३।३।१२१। हलन्ताद्धञ् । घापवादः ।
रमन्ते योनिनोऽस्मिन्निति रामः । अपमृज्यतेऽनेन व्याध्यादिकमित्यपामार्गः ॥
ईषद्दुःसुपु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल् । ३।३।१२६। एषु दुःखसुखार्थेषूपपदेषु ख-
ल् । 'तयोरेवे'ति भावे कर्मणि च । कृच्छ्रे-दुष्करः कटो भवता । अकृच्छ्रे-ईषत्करः ।
सुकरः ॥ आतो युच् । ३।३।१२८। खलोऽपवादः । ईषत्पानः सोमो भवता ।
दुष्पानः । सुपानः ॥ आवश्यकआधमर्ण्ययोर्णिनिः । ३।३।१७०। अवश्यं कारी ।
शतं दायी ॥ कृत्याश्च । ३।३।१७१। तथा धातोः । अवश्यं हरिः सेव्यः । शतं
देयम् ॥ क्तिच् क्तौ च संज्ञायाम् । ३।३।१७४। आशिषि । वातिर्वायुः । शिवो
देयादेनं शिवदत्तः ॥ अलंखत्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा । ३।४।१८।

अवतारः । अवोपसर्गपूर्वकं तू धातोः 'अवेस्तस्त्रोर्घञ्' इति घञि, घस्य अस्य चेतसं-
ज्ञायां लोपे च अस्य 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकत्वे 'सार्वधातुकार्धधातु-
कयोः' इति गुणे, रपरि, 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ, विभक्तिकार्ये च 'अवतारः'
इति सिद्धम् । अपामार्गः । अपोपसर्गकं मृज् धातोः 'हलश्च' इति घञि, अनुबन्ध-
लोपे 'मृजेवृद्धिः' इति वृद्धौ, 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे, 'चजोः कुविण्यतोः' इति
जस्य कुत्वेन गत्वे, 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्' इति उपाकारस्य दीर्घे, कृद-
न्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे, सौ, उलोपे, सस्य रुत्वे, रेफस्य विसर्गे च 'अपामार्गः' इति ।
कृत्याश्चेति । 'कृत्याः' इत्यधिकारस्थाः तव्यानीयरादिप्रत्ययाः धातोः स्युरिति भावः ।
सेव्यः । सिव् धातोर्ण्यति 'पुगन्त' इति गुणे सौ रुत्वे विसर्गे 'सेव्यः' इति रूपम् ।
देयमिति । दाधातोः 'अचो यत्' इति यति 'ईद्यति' इतीति गुणे सौ 'अतोऽम्' इत्यमि
'अमिपूर्वः' इति पूर्वरूपे 'देयम्' इति । क्तिजात । धातोराशीरर्थे एतौ स्तः संज्ञायाम् ।
वातिः । वाधातोः 'क्तिच् क्तौ' इति क्तिप्रत्यये कलोपे सौ रुत्वे विसर्गे 'वातिः' इति ।
शिवदत्त इति । शिवो देयादेनमिति आशीरर्थे शिवपूर्वाद्वाधातोः 'क्तिच् क्तौ च संज्ञा-

'न' और 'स्त' धातुसे प्रायः 'घञ्' प्रत्यय हो, पुंलिङ्ग और संज्ञामें । हलश्च—करण और
अधिकरण अर्थमें हलन्त धातुसे 'घञ्' प्रत्यय हो, पुंलिङ्ग और संज्ञामें ।

ईषद्दुःसुपु—दुःखार्थक तथा सुखार्थक ईषदादि उपपद रहनेपर धातुसे 'खल्' प्रत्यय
हो, भाव और कर्ममें । आतो युच्—दुःखार्थक और सुखार्थक ईषदादि उपपद रहनेपर
आदन्त धातुसे 'युच्' प्रत्यय हो (यह 'खल्' का अपवादक है) आवश्यक—आवश्यक
और आधमर्ण्य (लेन-देन) अर्थ गम्यमान रहने पर धातुसे कर्ता अर्थमें 'णिनि' प्रत्यय हो ।
कृत्याश्च—आवश्यक और आधमर्ण्य अर्थमें धातुसे 'कृत्य' प्रत्यय हो । क्तिच् क्तौ च—
आशीर्वाद अर्थमें धातुसे 'क्तिच्' और 'क्त' प्रत्यय हो, संज्ञामें ।

अलंखत्वोः—प्रतिषेधार्थक 'अलम्' तथा 'खलु' उपपदक धातुसे 'क्त्वा' प्रत्यय हो,

प्रवाहिका । विचर्चिका । कचिन्न, शिरोरिति । (धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल्यक्तव्यः)
 आसिका । (इक्शितपौ धातुनिर्देशे) । पचिः । पचतिः । (वर्णात्कारः)
 निर्देश इत्येव । अकारः । ककारः । (रादिफः) । रेफः ॥ नपुंसके भावे क्तः
 ।३।३।११४। ल्युट् च ।३।३।११५। हसितम् । हसनम् ॥ करणाधिकरण-
 योश्च ।३।३।११७। ल्युट् । अनुमानः । अनुमानी ॥ पुंसि संज्ञायां घः प्रा-
 येण ।३।३।११८। छादेर्घेऽन्धुपसर्गस्य ।६।४।९६। द्विप्रभृत्युपसर्गहीनस्य छादे-
 र्हस्वो घे । दन्तच्छदः । आकुर्वन्त्यस्मिन्नित्याकरः ॥ अवे तृस्त्रोर्घञ् ।३।३।१२०।

इति विस्तरः । प्रच्छदिका-प्रवाहिका । प्रपूर्वात् छृदवहोः 'रोगाख्यायाम्' इति
 ण्वुलि 'युवोः' इत्यकि णिस्त्वेन आर्धधातुकत्वाच्च 'अत उपधा' इति 'पुगन्त'
 इति वृद्धिगुणौ टापि 'प्रत्ययस्थात्' इति इत्वे सौ हल्ङ्यादिलोपे रूपे भवतः ।
 विचर्चिका । विपूर्वात् चर्च धातोः 'रोगाख्यायाम्' इति ण्वुलि अकि टापि इत्वे सौ
 हल्ङ्यादिलोपे 'विचर्चिका' इति रूपं भवति । कचिन्नेति बाहुलकप्रवृत्तिं दर्शयति—
 शिरोरिति । अत्र न ण्वुल्, बाहुलकात् । धात्वर्थेति । धातोरर्थो धात्वर्थस्तस्मिन्निर्दिश्ये
 धातोर्ण्वुल् वक्तव्य इत्यर्थः । उदाहरति—प्रासिकेति । असूधातोः 'धात्वर्थ' इति
 ण्वुलि उपधादीर्घे 'युवोः' इत्यकि टापि 'प्रत्ययस्थात्' इतीकारे सौ हल्ङ्यादिलोपे
 'आसिका' इति रूपम् । इक्शितपाविति । केवलं धातुनिर्देशेऽनुबन्धरहिते एतौ
 स्तः । प्राकः पचतिः । 'डुपचष्' इति धातुस्वरूपत्वेऽपि अनुबन्धरहितात् पचस्वरू-
 पात् इकि सौ रुत्वे विसर्गे 'पचिः' इति रूपम् । यदा शितप्स्यात्तदा शिस्त्वेन सार्व-
 धातुकत्वात् 'तुदादिभ्यः शः' इति शविकरणे सौ रुत्वे विसर्गे 'पचतिः' इति रूपम् ।
 वर्णादिति । वर्णत्वञ्च अलमात्रावच्छेदकधर्मवत्त्वम् । तस्मिन् द्योत्ये कारप्रत्ययः
 स्यादित्यर्थः । अकारः-ककारः । अत्रालमात्रावच्छेदको यो धर्मः 'अत्वं कत्वं' धर्मः
 तद्धर्मवन्तौ अकौ तयोर्द्योत्ये कारप्रत्यये सौ रुत्वे विसर्गे 'अकारः' 'ककारः' इति ।
 रादिफः । रकारस्य रत्वधर्मावच्छिन्नत्वेन तद्धर्मवत्त्वात्कारप्रत्यये प्राप्ते तन्वाधित्वा
 इफप्रत्यये 'आद्गुणः' इति गुणे सौ रुत्वे विसर्गे 'रेफः' इति रूपसिद्धिः ।

'ण्वुल्' प्रत्यय हो, बहुल प्रकारसे । धात्वर्थनिर्देशे—धात्वर्थके निर्देशमें धातुसे ण्वुल् प्रत्यय
 हो । इक्शितपौ—धातुके निर्देशमें धातुसे 'इक्' और 'शितप्' प्रत्यय हो । वर्णात्कारः-
 वर्णके निर्देशमें वर्णसे 'कार' प्रत्यय हो ।

रादिफः—रकारके निर्देशमें 'र' से 'इफ' प्रत्यय हो । नपुंसके—धातुसे 'क्त' प्रत्यय
 हो, नपुंसकमें और भावमें । ल्युट् च—धातुसे 'ल्युट्' प्रत्यय भा हो, नपुंसक और भावमें ।
 करणाधि—करण और अधिकरण अर्थमें धातुसे 'ल्युट्' प्रत्यय हो । पुंसिसंज्ञायां—पुंलिंगमें
 संज्ञामें धातुसे प्रायः 'घ' प्रत्यय हो, करण और अधिकरण अर्थमें । छादेर्घे—द्विप्रभृति उप-
 सर्गहीन अंगावयव 'छाद्' की उपधाकी ह्रस्व हो, 'घि' के परे । अवे तृस्त्रोर्घञ्—अवपूर्वक

अवतारः । अवस्तारो जवनिका ॥ हलश्च । ३।३।१२१। हलन्ताद्धञ् । घापवादः ।
रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति रामः । अपमृज्यतेऽनेन व्याध्यादिकमित्यपामार्गः ॥
ईषद्दुःसुपु कृच्छाकृच्छार्थेषु खल् । ३।३।१२६। एषु दुःखसुखार्थेषूपपदेषु ख-
ल् । 'तयोरेवे'ति भावे कर्मणि च । कृच्छ्रे-दुष्करः कटो भवता । अकृच्छ्रे-ईषत्करः ।
सुकरः ॥ आतो युच् । ३।३।१२८। खलोऽपवादः । ईषत्पानः सोमो भवता ।
दुप्पानः । सुपानः ॥ आवश्यकआधमर्ण्ययोर्णिनिः । ३।३।१७०। अवश्यं कारी ।
शतं दायी ॥ कृत्याश्च । ३।३।१७१। तथा धातोः । अवश्यं हरिः सेव्यः । शतं
देयम् ॥ क्तिच् क्तौ च संज्ञायाम् । ३।३।१७४। आशिषि । वातिर्वायुः । शिवो
देयादेनं शिवदत्तः ॥ अलंखत्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा । ३।४।१८।

अवतारः । अवोपसर्गपूर्वकं त धातोः 'अवेस्तस्त्रोर्धञ्' इति घञि, घस्य जस्य चेतसं-
ज्ञायां लोपे च अस्य 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकत्वे 'सार्वधातुकार्धधातु-
कयोः' इति गुणे, रपरि, 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ, विभक्तिकार्ये च 'अवतारः'
इति सिद्धम् । अपामार्गः । अपोपसर्गकं मृज् धातोः 'हलश्च' इति घञि, अनुबन्ध-
लोपे 'मृजेवृद्धिः' इति वृद्धौ, 'उरण् रपरिः' इति रपरत्वे, 'चजोः कुविण्यतोः' इति
जस्य कुत्वेन गत्वे, 'उपसर्गस्य घन्यमनुष्ये बहुलम्' इति उपाकारस्य दीर्घे, कृद-
न्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे, सौ, उलोपे, सस्य रुत्वे, रेफस्य विसर्गे च 'अपामार्गः' इति ।
कृत्याश्चेति । 'कृत्याः' इत्यधिकारस्थाः तन्यानीयरादिप्रत्ययाः धातोः स्युरिति भावः ।
सेव्यः । सिव् धातोर्पर्यति 'पुगन्त' इति गुणे सौ रुत्वे विसर्गे 'सेव्यः' इति रूपम् ।
देयमिति । दाधातोः 'अचो यत्' इति यति 'ईयति' इतीति गुणे सौ 'अतोऽम्' इत्यमि
'अमिपूर्वः' इति पूर्वरूपे 'देयम्' इति । क्तिजात । धातोराशीरर्थे एतौ स्तः संज्ञायाम् ।
वातिः । वाधातोः 'क्तिच् क्तौ' इति क्तिप्रत्यये कलोपे सौ रुत्वे विसर्गे 'वातिः' इति ।
शिवदत्त इति । शिवो देयादेनमिति आशीरर्थे शिवपूर्वादाधातोः 'क्तिच् क्तौ च संज्ञा-

'न' और 'स्त' धातुसे प्रायः 'घञ्' प्रत्यय हो, पुंलिङ्ग और संज्ञामें । हलश्च—करण और
अधिकरण अर्थमें हलन्त धातुसे 'घञ्' प्रत्यय हो, पुंलिङ्ग और संज्ञामें ।

ईषद्दुःसुपु—दुःस्वार्थक तथा सुखार्थक ईषदादि उपपद रहनेपर धातुसे 'खल्' प्रत्यय
हो, भाव और कर्ममें । आतो युच्—दुःस्वार्थक और सुखार्थक ईषदादि उपपद रहनेपर
आदन्त धातुसे 'युच्' प्रत्यय हो (यह 'खल्' का अपवादक है) आवश्यक—आवश्यक
और आधमर्ण्य (लेन—देन) अर्थ गम्यमान रहने पर धातुसे कर्ता अर्थमें 'णिनि' प्रत्यय हो ।
कृत्याश्च—आवश्यक और आधमर्ण्य अर्थमें धातुसे 'कृत्य' प्रत्यय हो । क्तिच् क्तौ च—
आशीर्वाद अर्थमें धातुसे 'क्तिच्' और 'क्त' प्रत्यय हो, संज्ञामें ।

अलंखत्वोः—प्रतिषेधार्थक 'अलम्' तथा 'खलु' उपपदक धातुसे 'क्त्वा' प्रत्यय हो,

प्राचामिति पूजार्थम् । प्रतिषेधयोरलंखत्वोरुपपदयोः क्त्वा । 'दो दद् घोः' । अलं दत्त्वा । 'धुमास्था' इतीत्त्वम् । पीत्वा खलु । अलंखत्वोः किम् ? मा कार्पीः । प्रतिषेधयोः किम् ? अलङ्कारः ॥ समानकर्तृकयोः पूर्वकाले । ३।४।२१। समानकर्तृकयोर्धात्वर्थयोः पूर्वकाले विद्यमानाद्धातोः क्त्वा । 'अव्ययकृतो भावे' । भुक्त्वा व्रजति । द्वित्वमन्त्रम् । स्नात्वा भुक्त्वा पीत्वा व्रजति ॥ न क्त्वा सेट् । १।२।१८। सेट् क्त्वा किञ्च । शयित्वा । सेट् किम् ? कृत्वा ॥ रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च । १।२।२६। इवर्णोवर्णोपधाद्धलादेरलन्तात्परौ क्त्वासनौ सेटौ वा कितौ स्तः । द्युतित्वा । द्योतित्वा । लिखित्वा । लेखित्वा । व्युपधात्किम् ? वर्तित्वा । रलः किम् ? सेवित्वा । हलादेः किम् ? एषित्वा । सेट् किम् ? भुक्त्वा ॥ उदितो वा । ७।२।५६। उदितः पुरस्य क्त्व इड् वा । शमित्वा । शान्त्वा । देवित्वा । 'छ्वोः शूडनुनासिके चे'ति ऊट् । द्यूत्वा । दधातेहिः । हित्वा ॥ जहातेश्च क्त्वा । ७।४।४३। हित्वा । हाडस्तु-हात्वा ॥ समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् । ७।१।३७। अव्ययपूर्वपदेऽनञ्समासे क्त्वो ल्यवादेशः । तुक्, प्रकृत्य । अनञ् किम् ? अकृत्वा । पर्युदासाश्रयणाज्ञेह, -परम-

याम्' इति क्तप्रत्यये 'शिव-दा-त' इति जाते 'दो दद्धोः' इति दधादेशे 'खरिच' इति तत्त्वे सौ स्त्वे विसर्गे 'शिवदत्तः' इति रूपम् । अलं दत्त्वेति । दानेन किञ्चिदपि साध्यं नास्तीत्यर्थः । अत्र साध्यते—अलं पूर्वकदाधातोः 'अलंखत्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा' इति क्त्वाप्रत्यये कलोपे 'दोदद्घोः' इति दधातोर्दधादेशे 'खरि च' इति दस्य तत्त्वे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे सौ समागते 'क्त्वातोऽनुक्कसुनः' इति अव्यय-संज्ञायाम् 'अव्ययादाप्सुपः' इति सोर्लुकि च कृते 'अलं दत्त्वा' इति । द्युतित्वा, द्योतित्वा । द्यूत् धातोः 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' इति क्त्वाप्रत्यये कलोपे, 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकत्वे, 'आर्धधातुकस्येड्वल्लादेः' इति इडागमे, 'न क्त्वा सेट्' इति किञ्चननिषेधे प्राप्ते 'रलोव्युपधाद्धलादेः संश्च' इति क्त्वाप्रत्ययस्य वैकल्पिके क्त्वे, 'किङ्ति च' इति गुणनिषेधे च जाते, 'द्युतित्वा' इति । किञ्चाभावपक्षे-

भावमें । (यहाँ सूत्रमें 'प्राचा' ग्रहण विकल्पार्थक नहीं है, प्रत्युत पूजार्थक है)

समानकर्तृकयोः—समानकर्तृक धात्वर्थों में पूर्वकालिक क्रियावाची धातुसे 'क्त्वा' प्रत्यय हो, भावमें । न क्त्वा—'इट्' सहित 'क्त्वा' 'किट्' नहीं हो । रलोव्युपधात्—इवर्णोवर्णोपध हलादि रलन्त धातुओंसे पर सेट् 'क्त्वा' और 'सन्' कित हो, विकल्पसे । उदितो—उदित धातुसे पर 'क्त्वा' को इट् हो, विकल्पसे । जहातेश्च—'हा' (ओहाक्) धातुको 'हि' आदेश हो, 'क्त्वा' प्रत्ययके परे । समासेऽनञ्—अव्यय पूर्वपदक 'अनञ्'

कृत्वा ॥ वा ल्यपि । ६।४।३८। अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपः ।
 स च व्यवस्थितः । (मान्तानिटां वा) । (नान्तानिटां नित्यम्) । आगम्य,
 आगत्य । प्रहत्य । अदो जग्धिः । प्रजग्ध्य ॥ न ल्यपि । ६।४।६९। घुमास्थे-
 तीत्वम् । प्रधाय । प्रमायेत्यादि ॥ आभीक्ष्ण्ये णमुल् च । ३।४।२२। पौनः-
 पुन्ये द्योत्ये क्त्वाविष्ये णमुल् क्त्वा च ॥ नित्यवीप्सयोः । ८।१।४। आभीक्ष्ण्ये
 वीप्सायां च द्योत्ये पदस्य द्वित्वं स्यात् । आभीक्ष्ण्ये तिङन्तेष्वव्ययसंज्ञककृदन्तेषु

‘पुगन्तलघूपधस्य च’ इति गुणे कृते ‘द्योतित्वा’ इति । वा ल्यपीति । ‘अनुदात्तोपदेश-
 वनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि विडति’ इति सर्वमनुवर्तमाने ल्यपि पर-
 तस्तु तद्विभाषया प्रवर्तते । विभाषाऽपि व्यवस्थितरूपेण गृह्यते । विभाषाया व्यव-
 स्थितिं दर्शयति—मान्तानिटां वेति । मान्तधातुरनितश्चेत्तस्य ल्यपि परतो वाऽनु-
 नासिकलोप इत्यर्थः । नान्तानिटां नित्यमिति । ये धातवो नान्ताः अपि चानिटः तेषा-
 मनुनासिकस्य नित्वं लोप इति भावः । आगत्येति । आङ्पूर्वादङ्गमधातोः ‘समान’
 इति क्त्वाप्रत्यये ‘समासेऽनञ्’ इति ल्यवादेशे ‘आगम्य-य’ इति जाते ‘मान्तानिटां
 वा’ इति वा मलोपे ‘ह्रस्वस्य’ इति तुकि सौ ‘अव्ययादाप् सुपः’ इति सोल्लोपे
 ‘आगत्य’ इति रूपम् । यदा मलोपो न स्यात्तदा ‘आगम्य’ इत्येव रूपं भवति ।
 प्रहृत्येति । प्रपूर्वादङ्गधातोः क्त्वाप्रत्यये ‘समासे’ ल्यपि ‘नान्तानिटां नित्यम्’ इति
 नलोपे ‘ह्रस्वस्य’ इति तुकि सौ ‘अव्ययत्वात्सुलोपे ‘प्रहत्य’ इति रूपं प्रभवति ।
 प्रजग्ध्य । प्रपूर्वादङ्गधातोः क्त्वाप्रत्यये ल्यपि ‘अदो जग्धिर्यपृति किति’ इति जग्धा-
 देशे सौ अव्ययत्वात्सुलोपे ‘प्रजग्ध्य’ इति रूपस्य सिद्धिः । नल्यपीति । ‘घुमास्था’ इति
 सर्वमनुवर्तते । तदीत्वं ल्यपि परतो नेत्यर्थः । प्रमाय । प्रपूर्वाभ्यां दामाभ्यां
 क्त्वाप्रत्यये ल्यपि ‘घुमास्था’ इतीत्वे प्राप्ते ‘न ल्यपि’ इत्यनेन निषेधे सौ अव्ययात्स-

समाप्तमे ‘क्त्वा’ के स्थानमे ‘ल्यप्’ । आदेश हो । वा ल्यपि—अनुदात्तोपदेश धातु, वन
 धातु और तनोत्यादि धातुओं के अनुनासिक का लोप हो, ‘ल्यप्’ के परे, विकल्पसे ।

सच व्यवस्थितः—‘वा ल्यपि’ से अनुनासिकका लोप व्यवस्थित (निश्चित) हो ।
 उसीका निरूपण करते हैं—मान्तानिटां वा—पूर्वोक्त अनुदात्तोपदेशादि धातुगत मान्त
 अनिट् धातुओंके अनुनासिकका लोप विकल्पसे हो, और ‘नान्तानिटां’—नान्त अनिट्
 धातुओंके तथा वनादि धातुओं के अनुनासिक का लोप नित्य हो ।

न ल्यपि—‘ल्यप्’ के परे घुसंज्ञक धातु, ‘मा’ धातु और स्थादि धातुओं के आकारको
 ईत्वं नहीं हो । आभीक्ष्ण्ये-पौनःपुन्य अर्थ द्योत्य हो तो धातुसे ‘ण्वुल्’ प्रत्यय, और ‘क्त्वा’
 प्रत्यय हो । नित्यवीप्सयोः—पौनः पुन्य और वीप्सा अर्थ द्योत्य हो तो पदको द्वित्व हो ।

च । पचति पचति । स्मारं स्मारं नमति गुरुम् । स्मृत्वा स्मृत्वा । पायम् २ ।
 भोजम् २ । श्रावम् २ । अन्यथैवंकथमित्थसु सिद्धाप्रयोगश्चेत् । ३।४।२७।
 एषु कृञो णमुल्स्यात् सिद्धोऽप्रयोगोऽस्य एवभूतश्चेत्कृञ् । व्यर्थत्वात्प्रयोगानर्ह
 इत्यर्थः । अन्यथाकारम् । एवकारम् । कथंकारम् । इत्थंकारं भुङ्क्ते, इत्थं भुङ्क्ते
 इत्यर्थः । सिद्धेति किम् ? शिरोऽन्यथा कृत्वा भुङ्क्ते ॥ यावति विन्दजावोः । ३।४।
 ३०। यावद्वेदं भुङ्क्ते । यावत्क्षभते तावदित्यर्थः । यावज्जीवमधीते ॥ निमूलसमू-
 लयोः कषः । ३।४।३४। कर्मण्युपपदे ॥ कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः
 । ३।४।४६। यस्माणमुलुक्तः स एवानुप्रयोक्तव्यः । निमूलकापं कषति । समूलकापं
 कषति । निमूलं समूलं कषतीत्यर्थः ॥ शुष्कचूर्णरुक्षेषु पिषः । ३।४।३५।

लोपे प्रदाय-प्रमाय अनयोः सिद्धिः । स्मारं-स्मारम् । स्मृधातोः 'आभीक्ष्ये णमुल्
 च' इति णमुलि, णकारोकारलकारलोपे 'स्मृ-अम्' इत्यवशिष्टे, 'अचो ङिति' इति
 वृद्धौ, रपरे च 'स्मारम्' इति जाते, 'नित्यवीप्सयोः' इति द्वित्वे, कृदन्तत्वात्प्राति-
 पदिकत्वासौ, 'कृन्मेजन्तः' इत्यव्ययत्वे, 'अव्ययादाप्सुपः' इति सुपो लुकि,
 मस्यानुस्त्रारे च 'स्मारं स्मारं नमति शिवम्' इति सिद्धम् । अन्यथाकारम्, अन्यथा,
 पूर्वकृधातोः 'अन्यथैवंकथमित्थसु सिद्धाप्रयोगश्चेत्' । इति णमुलि, अनुबन्धलोपे,
 'अचो ङिति' इति वृद्धौ, अव्ययत्वात्सुपो लुकि 'अन्यथाकारम्' इति रूपम् ।
 एवमेव 'एवङ्कारम्' इत्यादि । यावति विन्दजावोः । यावच्छब्दे उपपदे विन्दतेः जीव-
 तेश्च णमुल् स्यादित्यर्थः । 'अकर्मधातुभिर्योगे' इति यावत् शब्दस्य कर्मत्वाद्द्वितीया ।
 यावद्वेदं भुङ्क्ते । यावन्तं कालं विन्दति तावन्तं कालं भुङ्क्ते इत्यर्थः । यावत्पूर्वात्
 विन्दधातोः 'यावति विन्दजीवोः' इति णमुलि णमुल् आर्थधातुकत्वात् 'पुगन्त' इति
 गुणे सौ मान्तत्वादव्ययत्वे सोल्लोपे 'यावद्वेदं भुङ्क्ते' इत्यस्य सिद्धिः । यावज्जीव-
 मधीते । यावन्तं कालं जीवति तावन्तं कालम् अधीते इत्यर्थः । जीवधातोः 'यावति
 विन्दजीवोः' इति णमुलि 'यावज्जीवम्' इति जाते सौ मान्तत्वादव्ययत्वे 'अव्यया-
 दाप्सुपः' इति सुब्लुकि 'यावज्जीवम्' इति रूपम् । निमूलेति । निमूले समूले च
 कर्मण्युपपदे कषेर्णमुल् इत्यर्थः । कषादिष्विति । 'निमूल' इत्यतः 'उपमाने कर्मणि च
 इत्यन्तं इति यावत् । निमूलकापं-समूलकापं-कषति । निमूल समूलञ्च कषति इत्यर्थः

अन्यथैव—अन्यथा, एवम्, कथम् या इत्थम् अव्यय उपपदक 'कृञ्' धातुसे 'णमुल्'
 प्रत्यय हो, यदि वह 'कृञ्' धातु व्यर्थ होनेसे प्रयोगानर्ह हो रहा हो तो ।

यावति—'यावत्' इत्यव्यय उपपदक विन्द (विट्प्रलामे) धातु और जीव धातुसे 'णमुल्'
 प्रत्यय हो । निमूलसमूलयोः—कर्मसंज्ञक निमूल या समूल उपपदक 'कष' धातुसे 'णमुल्'
 प्रत्यय हो । कषादिषु—कषादि धातुओंमें जिस धातुसे णमुल् कहा गया है, उसी धातुको
 अनुप्रयोग हो । शुष्कचूर्ण—कर्मसंज्ञक शुष्कादि उपपदक 'पिष्' धातुसे 'णमुल्' प्रत्यय हो ।

एषु कर्मसु पिषेर्णमुल् । शुष्कपेषं पिनष्टि । शुष्कं पिनष्टीत्यर्थः । चूर्णपेषम् ।
 रूक्षपेषम् ॥ समूलाकृतजीवेषु हन्कृञ्ग्रहः । ३।४।३६। कर्मणीत्येव ।
 समूलघातं हन्ति । अकृतकारं करोति । जीवग्राहं गृह्णाति, जीवन्तं गृह्णातीत्यर्थः ।
 करणे हनः । ३।४।३७। पादघातं हन्ति, पादेन हन्तीत्यर्थः ॥ स्नेहने
 पिषः । ३।४।३८। सिन्हाते येन तस्मिन्करणे पिषेर्णमुल् । उदपेषं पिनष्टि, उदकेन
 पिनष्टीत्यर्थः ॥ हस्ते वर्तिग्रहाः । ३।४।३९। हस्तार्थे करणे । हस्तवर्तं वर्तयति ।
 करवर्तम्, हस्तेन गुलिकां करोतीत्यर्थः । हस्तग्राहं गृह्णाति । करग्राहम् । पाणि-
 ग्राहम् ॥ स्वे पुषः । ३।४।४०। करण इत्येव । 'स्वे' इत्यर्थग्रहणम् । तेन स्वरूपे
 पर्यायि विशेषे च णमुल् । स्वपोषं पुष्णाति । धनपोषम् । गोपोषम् ॥

कपधातोर्णमुलि 'सुपोधातु' इति सुब्लुकि 'अत उपधायाः' उपधावृद्धौ सौ मान्त-
 त्वादव्ययत्वे सुब्लुकि 'निमूलकापम्' 'समूलकापम्' अनयोः सिद्धिः । शाब्दबोधस्तु
 निमूलसमूलाभिन्नं कपणमिति स्वरूपात्मकः । शुष्केति । एषु कर्मसूपपदेषु पिषधा-
 तोर्णमुल् स्यात् । शुष्कपेषं-चूर्णपेष-रूक्षपेषमिति । शुष्कं-चूर्णं-रूक्षं च पिनष्टि
 इति विग्रहे पिषधातोः 'शुष्कचूर्ण' इति णमुलि 'सुपो धातु' इति सुब्लुकि 'पुगन्त'
 इति गुणे सौ अव्ययत्वात्सुब्लुकि शुष्कपेषं-चूर्णपेषं-रूक्षपेषं पिनष्टि इति रूपाणि
 भवन्ति । अर्थास्तु-शुष्कं पिनष्टि-चूर्णं पिनष्टि-रूक्षं पिनष्टि' इति । समूलेति ।
 एषूपपदेषु हन् कृञ् ग्रहेभ्यो णमुल् स्यादित्यर्थः । करणे हन इति । पादेन हन्ति
 इत्यर्थे पादेनेति करणोपपदात् हनधातोर्णमुलि सुब्लुकि 'हनस्तो' इति तकारान्तादेशे
 'हो हन्तेः' हस्य घत्वे उपधावृद्धौ सौ अव्ययत्वात्सुलोपे 'पादघातं हन्ति' इति रूपम् ।
 स्नेहने पिष इति । 'करणे हनः' इत्यतः करणे इत्यनुषज्यते । अत आह-सिन्हाते येन करण-
 भूतेन द्रव्येण तस्मिन्नुपपदे पिष धातोर्णमुलित्यर्थः । उदपेषम् । उदकेन पिनष्टि इत्यर्थे
 करणपूर्वात् पिषः 'स्नेहने पिषः' इति णमुलि 'सुपो धातु' इति सुब्लुकि सौ मान्त-
 त्वादव्ययत्वे सोर्लोपे 'उदपेषं पिनष्टि' इत्यस्य सिद्धिः । हस्ते वर्तिग्रहोरिति । 'करणे हनः'
 इत्यतः करणे इत्यनुषज्यते । हस्तार्थे करणे उपपदे वर्तिग्रहोर्णमुल् स्यादित्यर्थः ।
 हस्तवर्तं-करवर्तं । हस्तेन-करणेन वर्तयति इत्यर्थे वृत्तधातोर्णमुलि सुब्लुकि
 'पुगन्त' इति गुणे सौ सोर्लोपे हस्तवर्तं-करवर्तम् इति । स्वपोष पुष्णाति । स्वेन

समूला—समूलादि कर्मोपपदक हनादि धातुओंसे 'णमुल्' प्रत्यय हो ।

करणे हनः—करणसंज्ञक सुबन्त उपपदक 'हन्' धातुसे 'णमुल्' प्रत्यय हो ।

स्नेहने—स्नेहनवाचक करणसंज्ञक सुबन्त उपपद रहने पर 'पिष' धातुसे 'णमुल्'
 प्रत्यय हो । हस्ते वर्ति—हस्तार्थक करण उपपदक ण्यन्त 'वृत्' धातु और 'प्रह' धातुसे
 'णमुल्' प्रत्यय हो । स्वे पुषः—स्व (धन) वाचक करणसंज्ञक सुबन्त उपपद रहने पर

समासत्तौ ।३।४।५०। तृतीयासप्तम्योर्णमुल् सन्निकर्षे । केशप्राहं युध्यन्ते । हस्त-
प्राहं युध्यन्ते ॥ स्वाङ्गे तस्प्रत्यये कृभ्वोः ।३।४।६१। क्त्वाणमुलौ स्तः ।
मुखतः कृत्य, मुखतः कृत्वा, मुखतः कारम्, मुखतोभूय, मुखतो भूत्वा, मुखतो-
भावम् ॥ इत्युत्तरकृदन्तप्रकरणम् ॥ इति कृदन्तप्रक्रिया समाप्ता ॥



अथ कारकप्रकरणम्

प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा ।२।३।४६। नियतोप-

पुष्णाति इत्यर्थे पुषधातोः 'स्वे पुषः' इति णमुलि सुब्लुकि 'पुगन्त' इति गुणे सौ
मान्तत्वादव्ययत्वे सोर्लोपे 'स्वपोष' इत्यस्य सिद्धिः । धनेन पुष्णातीत्यर्थः । पर्याये
उदाहरति—धनपोषं पुष्णाति—धनेन पुष्णातीत्यर्थे करणोपपदात्पुषधातोः 'स्वे पुषः'
इति णमुलि 'पुगन्त' इति गुणे सुब्लुकि सौ अव्ययत्वे सोर्लोपे 'धनपोष' इति
साधनोति । विशेषमुदाहरति—गोपोषमिति । गवां पुष्णाति इत्यर्थे पुषधातोः 'स्वे पुषः'
इति णमुलि सुब्लुकि 'पुगन्त' इति गुणे सौ अव्ययादिकार्ये 'गोपोष' इति रूपसिद्धिः ।
समासत्ताविति । समासत्तिपदं विवृणोति—सन्निकर्षे गम्यमाने इति । सन्निकर्षोऽव्ययधा-
नेन संयोगः । केशप्राहमिति । सन्निकर्षपरमेतत् । अत्यन्तं सन्निहिता युध्यन्ते
इत्यर्थः । केशैः केशेषु वा गृहीत्वा इति सन्निहितार्थे 'समासत्तौ' इति णमुलि सुब्लुकि
'अत उपधायाः' इत्युपधादीर्घत्वे सौ अव्ययत्वात्सुलोपे 'केशप्राहं' इति साधनोति ।
॥ इति कृदन्तप्रक्रिया समाप्ता ॥



प्रातिपदिकार्थलिङ्गेति । पदस्पदमिति प्रतिपदम्, प्रतिपदं भवं प्रातिपदिकम्,
तस्यार्थः प्रातिपदिकार्थः । स च लिङ्गश्च परिमाणं च वचनं च प्रातिपदिकार्थलि-
ङ्गपरिमाणवचनानि । तान्येवेति प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रं तस्मिन्
'द्वन्द्वादौ द्वन्द्वमध्ये द्वन्द्वान्ते च श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इति भाष्यो-

'पुष्' धातुसे 'णमुल्' प्रत्यय हो । समासत्तौ—यदि सन्निकर्षं अथ गम्यमान् हो तो—
तृतीयान्त और सप्तम्यन्त उपपदक धातुसे 'णमुल्' प्रत्यय हो ।

स्वाङ्गे तस्प्रत्यये—स्वाङ्गवाचो 'तस्' प्रत्ययान्त उपपदक 'कृ' धातु या 'भू' धातुसे
'क्त्वा' और 'णमुल्' प्रत्यय हो ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें उत्तरकृदन्त प्रकरण समाप्त हुआ ।



प्रातिपदिकार्थ—प्रातिपदिकार्थ मात्रमें, लिंग मात्रकी अधिकतामें परिमाण मात्रमें और

स्थितिकः प्रातिपदिकार्थः । मात्रशब्दस्य प्रत्येकं योगः । प्रातिपदिकार्थमात्रे लिङ्ग-
मात्राद्याधिक्ये सङ्ख्यामात्रे च प्रथमा । प्रातिपदिकार्थमात्रे—उच्चैः । नीचैः । कृष्णः ।
श्रीः । ज्ञानम् । लिङ्गमात्रे—तटः । तटी । तटम् । परिमाणमात्रे—द्रोणो ब्रीहिः ।
वचनं सङ्ख्या । एकः । द्वौ । बहवः ॥ सम्बोधने च । २।३।४७। प्रथमा । हे

कत्या द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणमात्रपदस्य प्रत्येकमन्वयात्प्रातिपदिकार्थमात्र इत्याद्यर्थः
सम्पद्यते । नियतोपस्थितिक इति । नियता-व्यापिका उपस्थितिर्यस्य स नियतोप-
स्थितिकः । यस्मिन्प्रातिपदिके उच्चारिते सति यस्यार्थस्य नियमेनोपस्थितिः स प्रातिप-
दिकार्थः । मात्रशब्दस्येति । 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इति

संख्या मात्रमें प्रथमा विभक्ति होती है । सम्बोधने च—सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति हो ।

नोटः—'भवेद्विभक्तिः प्रथमा कर्तृवाच्यस्य कर्तरि । सम्बुद्धौ नाममात्रे च कर्मवा-
च्यस्य कर्मणि ॥ क्वचिद्व्यययोगे च प्रथमा कथ्यते बुधैः ।'

'कारके'—इस अधिकार सूत्रका भी पाठ है (कारकविधायक प्रत्येक सूत्रमें इसका
अधिकार जाता है । अतः सर्वत्र पहले कारकसंज्ञा होकर ही कर्मादि संज्ञा होगी) ।

क्रियाका जो साक्षात् जनक हो, उसे कारक कहते हैं । (साक्षात्—'क्रियाजनकत्वं
कारकत्वम् ।

निदुष्टलक्षणः—'क्रियानिष्ठविशेष्यतानिरूपिताऽभेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतासमा-
नाधिकरणविशेष्यतानिरूपिताऽभेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारताश्रयत्वम् ।

कारक छं होते हैं—कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण ।

१. क्रियासंपादनके विषयमें जो स्वतन्त्र (प्रधान) भावसे विवक्षित रहता है उसे
'कर्ता' कहते हैं ('क्रियासम्पादकः कर्ता') कर्ता से प्रथमा विभक्ति होती है ।

२. संज्ञाके जिस रूप पर क्रियाके व्यापारका, फल पड़ता है, उसे कर्म कहते हैं
(कर्तृवृत्तिव्यापारप्रयोज्यफलवत्प्रकारकेच्छानिरूपितविषयताश्रयत्वं कर्म) कर्मसे
द्वितीया विभक्ति होती है ।

३. जो क्रियाके व्यापारमें कर्ताका सहायक हो अर्थात् क्रियासिद्धिमें जो अत्यन्त उपका-
रक हो उसे 'करण' कहते हैं । करणसे तृतीया विभक्ति होती है ।

४. (क) जिसको स्वसत्त्व निवृत्तिपूर्वक कोई वस्तु दी जावे उसे 'सम्प्रदान' कहते हैं ।
सम्प्रदानमें चतुर्थी विभक्ति होती है ।

(ख) जिस आकांक्षासे कोई कार्य किया जावे अर्थात् जो क्रियाकी प्रवृत्तिका फल हो उसे
भी सम्प्रदान कहते हैं । (जैसे—मुक्तये हरिं भजति—मुक्तिके लिये हरिका भजन करता है)

५. परस्पर वियुक्त होने वाले पदार्थोंमें जो स्थिर हो अर्थात् जिससे विश्लेष (विभाग)
अथवा दूर गमन सम्पन्न हो, उसे 'अपादान' कहते हैं । अपादानमें पञ्चमी विभक्ति होती है ।

६. क्रियाश्रयभूत कर्ता और कर्म जिसमें अवस्थान करें उसे 'अधिकरण' कहते हैं ।
अधिकरणमें सप्तमी विभक्ति होती है । सम्बो—सम्बोधनमें प्रथमा विभक्ति हो ।

राम ॥ कर्तुरीप्सिततमं कर्म । १।४।४९। कर्तुः क्रिययाऽऽप्नुमिष्टतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् ॥ कर्मणि द्वितीया । २।३।२। अनुक्ते । हरिं भजति । अभिहिते तु कर्मादौ प्रथमैव । हरिः सेव्यते । लक्ष्म्या सेवितो हरिः । शतेन क्रीतः शत्यः अश्वः । प्राप्तानन्दश्चैत्रः । अभिधानं च प्रायेण तिङ्कृतद्वितसमासैः । कचिचिपातेनाभिधानम् । 'क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः' ॥ अकथितं च । १।४।५१। अपादानादिविशेषैरविवक्षितं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् ।

दुहयाचपचदण्डरुधिप्रच्छिचिब्रूशासुजिमथमुषाम् ।

कर्मयुक्स्यादकथितं तथा स्यान्नीहृक्चहाम् ॥

गां दोग्धि पयः । वलिं याचते वमुषाम् । तण्डुलानोदनं पचति । गर्गान् शतं दण्डयति । व्रजमवरुणद्वि गाम् । माणवकं पन्थानं पृच्छति । वृक्षमवचिनोति फलानि । माणवकं धर्मं ब्रूते शास्ति वा । शतं जयति देवदत्तम् । सुधां क्षीर-
न्यायादिति भावः । दुह्याच् पच् इति । दुह प्रपूरणे । दुयाच् याच्यायाम् । हुपचष् पाके । दण्ड दण्डनिपातने । रुधिर आवरणे । प्रच्छ जीप्सायाम् । चिञ् चयने । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि । शासु अनुशिष्टौ । जि जये । मन्थ विलोडने । मुष् स्तेये । णीञ् प्रापणे । हृञ् हरणे । कृष् विलेखने । वह प्रापणे । एषां धातूनां कर्मणा युक्तं कर्माकथितं कर्म इत्युच्यते इत्यर्थः । गां दोग्धि पयः । अत्र 'गोः पयो दोग्धि' इति अपादानस्याविवक्षितत्वात् 'अकथितञ्च' इति कर्मसंज्ञायां 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीयायां कृतायां 'गां पयो दोग्धि' इति । वलिशब्दे अपादानत्वस्याविवक्षितत्वात् 'अकथितञ्च' इति कर्मसंज्ञायाम् 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीयायां कृतानां 'वलिं याचते वमुषाम्' इति । तण्डुलैरोदनम्पचति इत्यत्र करणस्याविवक्षितत्वात् 'अकथितञ्च' इति कर्मसंज्ञायाम् 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीयायाम् 'तण्डुलानोदनं पचति' इति । गर्गान् शतं दण्डयति । अत्र गर्गोभ्यः इति अपादानस्याविवक्षितत्वात् कर्मसंज्ञायां

कर्तुरीप्सित—कर्ताको क्रियाद्वारा प्राप्त करनेमें जो इष्टतम हो, वह कारकसंज्ञक होकर कर्मसंज्ञक हो । कर्मणि द्वितीया—अनुक्त कर्ममें द्वितीया हो । तथायुक्तं—इप्सिततमकी ही तरह क्रियाजन्य फलसे युक्त अनीप्सित भी कारकसंज्ञक होकर कर्मसंज्ञक हो ।

अकथितं च—अपादानादि विशेषसे अविवक्षित जो कारक वह कर्मसंज्ञक हो ।

दुह्याच्—१. दुह प्रपूरणे, २. दुयाच् याच्याम्, ३. हुपचष् पाके, ४. दण्ड दण्डनिपातने, ५. रुधिर आवरणे, ६. प्रच्छ जीप्सायाम्, ७. चिञ् चयने, ८. ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि, ९. शासु अनुशिष्टौ, १०. जि अभिमवे, ११. मन्थ विलोडने, १२. मुष् स्तेये, १३. णीञ् प्रापणे, १४. हृञ् हरणे, १५. कृष् विलेखने, १६. वह प्रापणे—इन धातुओंके कर्मके साथ जो युक्त है वही 'अकथित कर्म' होता है ।

निधिं मथ्नाति । देवदत्तं शतं मुष्णाति । ग्राममजां नयति, हरति, कर्षति, वहति वा ।
अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा । वलिं भिक्षते वसुधाम् । माणवकं धर्मं भाषते, अभिधत्ते, वक्ती-
त्यादि । (अकर्मकधातुभिर्योगे देशः कालो भावो गन्तव्योऽध्वा च कर्म-
संज्ञक इतिवाच्यम्) । कुरुन् स्वपिति । मासमास्ते । गोदोहमास्ते । क्रोशमास्ते ॥
गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्मकर्मकाणामणि कर्ता स गौ । १।४।५२।
गत्याद्यर्थानां शब्दकर्मणाकर्मकाणां चाणौ यः कर्ता स गौ कर्म स्यात् ।

शत्रूनगमयत् स्वर्गं वेदार्थं स्वानवेदयत् ।

आशयच्चामृतं देवान् वेदमध्यापयद्विधिम् ।

आसयत् सलिले पृथ्वीं यः स मे श्रीहरिर्गतिः ॥

द्वितीया । शत्रुनिधि । शत्रवः स्वर्गमगच्छन् तान् श्रीहरिः स्वर्गमगमयत् । अत्रा-
प्यन्तावस्थायां शत्रवः कर्तारस्ते प्यन्तावस्थायां कर्माभवन् । स्वर्गकर्मकं शत्रुनिष्ठं
यद्गमनं तदनुकूलो यन्निष्ठो व्यापारः स श्रीहरिर्मे गतिरितिवाक्यार्थः । वेदार्थमिति ।
स्वे वेदार्थमविदुरित्यप्यन्तावस्थायां कर्तृभूतं 'स्वे' इति पदं 'स्वान् वेदार्थं अवेदयत्'
इति प्यन्तदशायां कर्म भवति । फलं च 'कर्मणि द्वितीये'ति । वेदार्थकर्मकं स्वनिष्ठं
यद्वेदनं तदनुकूलो यन्निष्ठो व्यापारः स श्रीहरिर्मे गतिरित्यन्वयः । आशयदिति । देवा
अमृतमारुन् तान् श्रीहरिराशयत् । अत्रापि अप्यन्तदशायां देवाः कर्तारस्त एव
प्यन्ते कर्मभूताः । अत एव द्वितीया । अमृतकर्मकं देवनिष्ठं यदशनं तदनुकूलो

अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा—कैयटने ऐसी व्याख्या की है । अतः पूर्वोक्त दुहायर्थक धातुओं
के कर्मके साथ जो युक्त हो वह भी 'अकथित कर्म' होता है ।

अकर्मक—अकर्मक धातुओंके योगमें देश, काल, भाव (क्रिया) तथा गन्तव्य मार्ग—
इनकी कर्मसंज्ञा हो ।

गतिबुद्धि—१. गत्यर्थक, २. बुद्ध्यर्थक, ३. भक्षणार्थक, ४. शब्दकर्मक और ५. अकर्मक
धातुओंकी अप्यन्तावस्थाका जो कर्ता वह प्यन्तावस्थामें कर्मसंज्ञक हो ।

शत्रूनगमयत् स्वर्गम्—१ का उदाहरण । शत्रवः (युद्धे मृताः) स्वर्गमगच्छन्, हरि-
स्तान् प्रेरितरिति (हरिः) शत्रूनगमयत्स्वर्गम् । ('स्वर्गकर्मकं शत्रुनिष्ठं यद्गमनं तदनुकूलो
यन्निष्ठो व्यापारः स श्रीहरिः मे गतिरस्तु') ऐसा वाक्यार्थ हुआ ।

वेदार्थं स्वानवेदयत्—२. का उदाहरण । स्वे=स्वकीयाः, वेदार्थमविदुः, तान् हरिः वेदा-
र्थमवेदयत् । आशयच्चामृतं देवान्—३ का उदाहरण । देवाः अमृतम् आरुन्, हरिः तान्
अमृतम् आशयत् । वेदमध्यापयद्विधिम्—४. का उदाहरण । विधिः वेदमध्यैत, तं ब्रह्माणं
हरिः वेदम् अध्यापयत्=अपठयत् । आसयत् सलिले पृथ्वीम्—५. का उदाहरण । सलिले
(जले) पृथ्वी आस्ते तां पृथ्वीं हरिः आसयत्=अस्थापयत् (स श्रीहरिः मे गतिरस्तु)

(नीवह्योर्न) । नाययति वाहयति वा भारं भृत्येन ॥ (नियन्तृकर्तृकस्य वहेरनिषेधः) । वाहयति रथं वाहान्सूतः । (आदिखाद्योर्न) आदयति खादयति वा अन्नं वटुना ॥ (भक्षेरहिंसार्थस्य न) । भक्षयत्यन्नं वटुना । अहिंसार्थस्य किम् ? भक्षयति वलीवर्दान् सस्यम् ॥ (जल्पतिप्रभृतीनामुपसङ्ख्यानम्) । जल्पयति भाषयति वा धर्मं पुत्रं देवदत्तः । (दृशेश्च) ।

यन्निष्ठो व्यापारः स श्रीहरिर्मे गतिः । वेदामति । विधिवेदमधीतवान् तं अध्यापयत् । अत्राप्यण्यन्तदशायां कर्तृभूतं विधिरिति पदं ण्यन्ते कर्मतां गतमत एव द्वितीया । वेदकर्मकं विधिनिति यदध्ययनं तदनुकूलो यन्निष्ठो व्यापारः स श्रीहरिर्मे गतिरित्यर्थः । आसयदिति । सलिले पृथ्वी आस्ते, तां आसयत् । पृथ्व्या अप्यन्तकन्याः ण्यन्ते कर्मत्वं द्वितीया चेत्यर्थः । सलिलाधिकरणकं पृथ्वीनिष्ठं यदसनं तदनुकूलो यन्निष्ठो व्यापारः स श्रीहरिर्मे गतिः । नीवह्योरिति । नीवह्योरण्यन्तावस्थायां विद्यमानो यः कर्ता तस्य ण्यन्ते प्राप्तं यत्कर्मत्वं तन्नेत्यर्थः । नाययति भारं भृत्येन । अत्र कर्तुः । भृत्येत्यस्य ण्यन्ते कर्मत्वाभावेन कर्तरि तृतीयैवेति भावः । नियन्तृ । नियन्ता कर्ता यस्य स नियन्तृकर्तृकः तस्य वहेरण्यन्तदशायां स्थितस्य कर्तुर्ण्यन्ते यः कर्मत्वनिषेधः 'नीवह्योर्न' इत्यनेन प्राप्तः स न स्यात्किन्तु ण्यन्ते कर्मत्वं स्यादेवेत्यर्थः । वाहयतीति । वाहारथं वहन्ति तान्सूतः वाहयति । अत्राप्यन्ते वाहा कर्तारस्ते ण्यन्ते कर्मीभूताः । रथकर्मकं वाहनिष्ठं यद्वहनं तदनुकूलव्यापारवान्सूत इत्यर्थः । आदीति । अप्यन्तकर्तुर्ण्यन्ते कर्मत्वं नेत्यर्थः । तेन वटुनेत्यत्र कर्तरि तृतीयैव न तु कर्मणि द्वितीया । भक्षेरिति । प्रयोज्यकर्तुर्ण्यन्ते कर्मत्वं नेत्यर्थः । तेन वटुनात्र कर्तरि तृतीया । यदा हिंसार्थः स्यात्तदा—वलीवर्दानत्र ण्यन्ते कर्मतां गतत्वाद्द्वितीया युक्तैव । जल्पतीति । एवमपि धातूनामण्यन्ते विद्यमानस्य कर्तुर्ण्यन्ते कर्मत्वमुपसङ्ख्यानमित्यर्थः । भाषयतीति । 'पुत्रो धर्मं भाषते' अत्राप्यन्ते कर्ता पुत्र इति तस्य ण्यन्ते कर्मत्वे देवदत्तस्तं भाषयति इति प्रयोगः । धर्मकर्मकः पुत्रनिष्ठो यो भाषणव्यापारस्तत्प्रयोक्ता देवदत्तः ।

नीवह्योर्न—'नी' धातु और 'वह' धातुकी अप्यन्तावस्थाका जो कर्ता वह ण्यन्तावस्थामें कर्मसंज्ञक नहीं हो । नियन्तृ-नियन्तृकर्तृकका निषेध नहीं हो । अर्थात्-नियन्तृ (सूत-सारथि) कर्तृक 'वह' धातुको अप्यन्तावस्थाका जो कर्ता, वह ण्यन्तावस्थामें कर्मसंज्ञक होता ही है । आदिखाद्योर्न—(ण्यन्त) 'आदि' और 'खादि' धातुके प्रयोज्य कर्ता कर्मसंज्ञक नहीं हो । भक्षेरहिंसार्थस्य न—अहिंसार्थक 'भक्ष' धातुकी अप्यन्तावस्थाका जो कर्ता वह ण्यन्तावस्थामें कर्मसंज्ञक नहीं हो ।

जल्पतिप्रभृतीनामुपसङ्ख्यानम्—जल्पादि धातुओंके अप्यन्तावस्थाका जो कर्ता वह ण्यन्तावस्थामें कर्मसंज्ञक हो । दृशेश्च—ज्ञानसामान्यार्थक धातुका जो अप्यन्तावस्थाका कर्ता वह ण्यन्तावस्थामें कर्मसंज्ञक हो ।

दर्शयति हरिं भक्तान् ॥ (शब्दायतेर्न) । शब्दाययति देवदत्तेन ॥ हृकोरन्यतर-
स्याम् । १।४।५३। हृकोरणौ यः कर्ता स णौ वा कर्म स्यात् । हारयति 'कारयति' भृत्यं
भृत्येन वा कटम् । (अभिवादिदृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम्) । अभिवादयते
दर्शयते देवं भक्तं भक्तेन वा ॥ अधिशीङ्स्थासां कर्म ॥ १।४।४६। अधिपूर्वाणा-
मेषामाधारः कर्म स्यात् । अधिशेते, अधितिष्ठति, अध्यास्ते वा वैकुण्ठं हरिः ॥
अभिनिविशश्च ॥ १।४।४७। अभिनीत्येतत्सङ्घातपूर्वस्य विंशतेराधारः कर्म स्यात् ।
अभिनिविशते सन्मार्गम् । क्वचिन्न, -पापेऽभिनिवेशः ॥ उपान्वध्याङ्वसः ॥ १।४।
४८। उपादिपूर्वस्य वसतेराधारः कर्म स्यात् । उपवसति, अनुवसति, अधिवसति,
आवसति वा वैकुण्ठं हरिः । (अभुक्त्यर्थस्य न) । वने उपवसति ।

उभसर्वतसोः कार्यौ, धिगुपर्यादिषु त्रिषु ।

द्वितीयास्त्रेडितान्तेषु, ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ।

दृशेरिति । अस्यापि कर्तुर्ण्यन्ते कर्मत्वमित्यर्थः । भक्ता हरिं पश्यन्ति तान् दर्शयति ।
इति ण्यन्तक्रियायां भक्तानां कर्मत्वमिति भावः । शब्दायतेरिति । कर्तुर्ण्यन्ते कर्मत्वं
नेत्यर्थः । तेन देवदत्तेनेति कर्तरि तृतीया । हृकोरिति । वा कर्तुर्ण्यन्ते कर्मत्वम् । सति
कर्मत्वे भृत्यमिति कर्मणि द्वितीया कर्तरि तु तृतीयैव । अभिवादीति । आत्मनेपदेऽ-
नयोर्ण्यन्ते कर्तुः कर्मत्वमिति भावः । तेन भक्तेत्यस्य कर्मत्वपक्षे द्वितीया, तदभावे
कर्तरि तृतीया । अथीति । 'आधारोधिकरणम्' इत्यत आधार इति । कर्मत्वे द्वितीया
अत एव वैकुण्ठमिति साधु । उभसर्वतमोरिति । तसन्तयोरुभसर्वयोः आधारभूतयोर्द्वि-

शब्दायतेर्न—(क्यङ् प्रत्ययान्त) 'शब्दाय' धातुका जो अण्यन्तावस्थाका कर्ता वह
अण्यन्तावस्थामें कर्मसंज्ञक नहीं हो ।

हृकोरन्य—'हृ' धातु और 'कृ' धातुके अण्यन्तावस्थाका कर्ता अण्यन्तावस्थामें कर्मसंज्ञक
हो, विकल्पसे ।

अभिवादयति—आत्मनेपद परक अभि उपसर्गक अण्यन्त 'वादि' और 'दृश' धातुके
अण्यन्तावस्थाका कर्ता अण्यन्तावस्थामें विकल्पसे कर्मसंज्ञक हो—ऐसा कहना चाहिये ।

अधिशीङ्—अधि पूर्वक 'शीङ्' धातु, 'स्था' धातु और 'आस्' धातुका जो आधार
वह कर्मसंज्ञक हो ।

अभिनिविशश्च—'अभिनि' एतत् संघात (सम्मिलित) पूर्वक जो 'विश्' धातुका
आधार, वह कर्मसंज्ञक हो । उपान्वध्याङ्वसः—उप, अनु, अधि और आङ् पूर्वक 'वस्',
धातुका जो आधार, वह कर्मसंज्ञक हो । अभुक्त्यर्थस्य तु न—अभुक्त्यर्थक अर्थात् भोजन-
निवृत्त्यर्थक 'वस्' धातुका जो आधार, वह कर्मसंज्ञक नहीं हो ।

उभसर्वतसोः—तस् प्रत्ययान्त 'उभ' (य) शब्द और 'सर्व' शब्दके प्रयोगमें तथा

३० म० कौ०

उभयतः कृष्णं गोपाः । सर्वतः कृष्णम् । धिक्कृष्णाभक्तम् । उपर्युपरि लोकं हरिः ।
 अध्यधिलोकम् । अधोऽधोलोकम् । अभितः परितः समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि)
 अभितः कृष्णम् । परितः कृष्णम् । ग्रामं समया । निकषा लङ्काम् । हा कृष्णाभक्तम् ।
 ऋते कृष्णम् । बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित् ॥ अन्तराऽन्तरेण युक्ते । २।३।४।
 द्वितीया । अन्तरा त्वां मां वा हरिः । अन्तरेण हरिं न सुखम् ॥ कर्मप्रवचनीयाः
 । १।४।८३ इत्यधिकृत्य ॥ अनुलक्षणे । १।४।८४ लक्षणे द्योत्ये अनुः कर्मप्रवच-
 नीयसंज्ञः स्यात् । गत्युपसर्गसंज्ञापवादः ॥ कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया । २।३।८।
 जपमनु प्रावर्षत् । हेतुभूतजपोपलक्षितं वर्षणमित्यर्थः ॥ तृतीयार्थे । १।४।८५।
 अनुरुक्तसंज्ञः । नदीमन्ववसिता सेना । नद्या सह संवद्वेत्यर्थः । हीने । १।४।८६।
 अनुरुक्तसंज्ञः । अनु हरिं सुराः, हरेर्हीना इत्यर्थः ॥ उपोऽधिके च । १।४।८७।
 अधिके हीने च द्योत्ये उपेत्यव्ययं प्राग्वत् । अधिके सप्तमी वक्ष्यते । होने—उप हरि

तीया कार्ये । धिगादिषु चोपपदेष्वपि तथा आग्नेडितान्तेषु द्वितीया कार्या । कृष्णमिति
 द्वितीया । कृष्णाभक्तादिष्वपि द्वितीयायाः साधुत्वमेवेति भावः । अभितः । एषां-
 प्रयोगेऽपि द्वितीया स्यात् । तेन कृष्णादीनां द्वितीयान्तत्वम् । अन्तरेति आभ्यां प्रयोगे
 द्वितीया स्यात् । त्वां मामादिषु द्वितीया । कर्मप्रवचनीया इति । अधिकारोऽयम् ।
 अनुरिति । कर्मप्रवचनीयेत्यनुषज्यते । गत्यादीनामपवादः । कर्मेति । द्वितीयां विधत्ते ।
 जपमनु । अनोलक्षणे कर्मप्रवचनीयत्वे 'कर्मप्रवचनीययुक्ते' इति द्वितीयायां प्रयोग-
 सिद्धिः । हेतुभूतजपोपलक्षितं वर्षणमित्यर्थः । तृतीयार्थे इति । अनोः कर्मप्रवचनी-
 यत्वम्, तथा सति द्वितीया । नदीमन्ववसिता इत्यत्र तृतीयेत्यर्थः । हीन इति । हीनार्थे
 गम्येऽनोः कर्मप्रवचनीयत्वं स्यात्तस्माद्द्वितीया चेत्यर्थः । अनुहरिमिति । हरिमित्यत्र
 द्वितीया । उपोऽधिक इति । चकाराद्धीनेऽपि अत आह—अधिके हीने चेति । उपहरिम् । अत्र
 हीनार्थे कर्मप्रवचनीयत्वे द्वितीया । लक्षण इति । प्रत्यादीनां लक्षणादिषु कर्मप्रवच-

'धिक्' शब्दके योग और आग्नेडित (द्विरुक्त=द्विवचन) के योगमें द्वितीया करनी चाहिये ।
 इससे अन्यत्र भी प्रयोगके अनुसार कहीं देखी जाती है (जैसे—अभितः परितः० इत्यादि)
 अभितः परितः—अभितः, परितः, समया, निकषा, हा और प्रति शब्दोंके योगमें
 भी द्वितीया हो ।

अन्तरा—अन्तरा और अन्तरेण शब्दके योगमें द्वितीया हो । कर्मप्रवचनीयाः—यह
 अधिकार सूत्र है । अनुलक्षणे—'लक्षणा' द्योत्य हो तो 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो ।
 कर्मप्रवचनीययोगे—कर्मप्रवचनीयके योगमें द्वितीया हो । तृतीयार्थे—तृतीयार्थमें 'अनु'
 की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हो । हीने—हीन अर्थ द्योत्य होनेपर 'अनु'की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हो ।
 उपोऽधिके च—अधिक अर्थ द्योत्य होनेपर 'उप' इस अव्ययकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो ।

सुराः ॥ लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः । १ । ४ । ९० ।

उक्तसंज्ञाः स्युः । लक्षणे-वृक्षं प्रति पर्यनु वा विद्योतते विद्युत् । इत्थंभूताख्याने-
भक्तो विष्णुं प्रति पर्यनु वा । भागे-लक्ष्मीर्हरिं प्रति पर्यनु वा, हरेर्भाग इत्यर्थः ।
वीप्सायाम्-वृक्षं वृक्षं प्रति पर्यनु वा सिद्ध्यति । एषु किम् परिषिद्ध्यति ॥ अभिर-
भागे । १।४।६१। भागवर्जे लक्षणादावभिरुक्तसंज्ञाः स्यात् । हरिमभि वर्तते । भक्तो
हरिमभि । देवं देवमभिसिद्ध्यति । अभागे किम् ? यदत्र ममभिध्यात्तदीयताम् ॥

सुः पूजायाम् । १।४।९४। सुसिक्तम् । सुस्तुतम् । अनुपसर्गत्वाच्च षः । पूजायां
किम् ? सुषिक्तं किं तवात्र । क्षेपोऽयम् ॥ अतिरतिक्रमणे च । १।४।९५। चात्पू-
जायामतिरुक्तसंज्ञाः । अति देवान्कृष्णः ॥ कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे । २।३।५।
इह द्वितीया स्यात् । मासं कल्याणी । मासमधीते । मासं गुडधानाः । क्रोशं कुटिला
नदी । क्रोशमधीते । क्रोशं गिरिः । अत्यन्तसंयोगे किम् ? मासस्य द्विरधीते । क्रोश-
स्यैकदेशे पर्वतः । स्वतन्त्रः कर्ता । १।४।९४। इति कर्तृसंज्ञा ॥ साधकतमं

नीयत्वं स्यादित्यर्थः । वृक्षं प्रति । भक्तो विष्णुम् । लक्ष्मीर्हरिः । वृक्षं वृक्षम् । अत्र क्रमशः
लक्षणेत्थंभूतभागवीप्सासु गम्यमानासु प्रत्ययादीनां योगे वृक्षादीनां कर्मप्रवचनीयत्वे
द्वितीयेत्यर्थः । अभिरिति । 'लक्षणे' इति सूत्रं भागवर्जमनुवर्तते । तदेव स्मारयति—
हरिमभि । भक्तो हरिः, देवं देवम् । अत्र क्रमशः लक्षणेत्थंभूताख्यानवीप्सासु अमेः कर्मप्र-
वचनीयत्वे तद्युक्तानां हर्यादीनां द्वितीयेत्यर्थः । सुः पूजायामिति । कर्मप्रवचनीयसंज्ञाः
स्यात् । सुसिक्तम् । सुस्तुतम् । अनयोः सुशब्दस्य पूजायां कर्मप्रवचनीयत्वाद् द्वितीया ।
अतिरिति । चात्पूजायामपि । अतिक्रमणार्थं पूजायां चातिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञकः ।
अतिदेवानिति । अतेर्योगे कर्मप्रवचनीययुक्तत्वाद्वितीया । कालाध्वनोरिति । अत्यन्त-
संयोगः—निरन्तरसंयोगः । द्वितीया स्यादित्यर्थः । तेन मासादिषु सर्वेषु द्वितीया
सिद्धा । कालाध्वनोर्गम्यमानत्वात् । अत्यन्तसंयोगाभावे एकदेशार्थं द्विरादिषु चोप-

लक्षणेत्थं—लक्षणादि अर्थोंमें प्रति, परि और 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो ।

अभिरभागे—भागवर्ज लक्षणादि अर्थोंमें 'अभि'की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो ।

सुः पूजायाम्—पूजा अर्थमें 'सु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो ।

अतिरिति—अतिक्रमण और पूजा अर्थमें 'अति'की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो ।

कालाध्वनो—कालवाचक और अध्व वाचकके अत्यन्त संयोगमें द्वितीया हो ।

नोटः—'कर्तृ'वाच्यप्रयोगे तु द्वितीया कर्तृकारके ।

धिकप्रतीत्यादिभिर्योगे क्रियायाश्च विशेषणे ॥

ऋतेविनादिभिश्चैव द्वितीया समता मता ।

स्वतन्त्रः कर्ता—क्रियामें स्वातन्त्र्येण विवक्षित जो अर्थ वह कर्तृसंज्ञक हो ।

साधकतमं—क्रियाकी सिद्धिमें जो अत्यन्त उपकारक हो, वह करणसंज्ञक हो ।

करणम् । १।४।४२। क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं करणसंज्ञं स्यात् ॥ कर्तृकरण-
योस्तृतीया । २।३।१८। अनभिहिते कर्तरि करणे च तृतीया स्यात् । रामेण
बाणेन हतो वाली ॥ (प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्) । प्रकृत्या चारुः ।
प्रायेण याज्ञिकः । गोत्रेण गार्ग्यः । समेनैति । विषमेणैति । द्विद्रोणेन धान्यं
क्रीणाति । पञ्चकेन पशून्पृह्णाति । सुखेन दुःखेन वा यातीत्यादि ॥ दिवः कर्म
च । १।४।४३। दिवः साधकतमं कर्मसंज्ञं स्याच्चात्करणसंज्ञं च । अक्षैरक्षान्वा
दीव्यति ॥ सहयुक्तेऽप्रधाने । २।३।१९। सहार्थेन युक्तेऽप्रधाने तृतीया । पुत्रेण
सहागतः पिता । एवं साकंसार्धसमयोगेऽपि । विनापि तद्योगे तृतीया । वृद्धो
यूनेति निर्देशात् ॥ येनाङ्गविकारः । २।३।२०। येनाङ्गेन विकृतेनाङ्गिनो विकारो
लक्ष्यते ततस्तृतीया । अक्षणा काणः, अक्षिसंबन्धिकाणत्वविशिष्ट इत्यर्थः ॥
अपवर्गे तृतीया । २।३।६। अपवर्गः फलप्राप्तिः, तस्यां द्योत्यायां कालाध्वनोरत्य-
न्तसंयोगे तृतीया स्यात् । अह्ना क्रोशेन वाऽनुवाकोऽधीतः । अपवर्गे किम् ? मास-

पदेषु न द्वितीयेति स्पष्टमेव । प्रकृत्यादिभ्य इति । तृतीया वाच्येति भावः । प्रकृत्या-
चारुः । प्रकृतिशब्दात्तृतीया । एवं प्रायेण-गोत्रेण-समेन-विषमेण-द्विद्रोणेन-पञ्चकेन-
सुखेन-दुःखेन इत्यादि प्रकृत्यादिगणकेभ्यो तृतीयेति बोध्यम् । दिव इति । चकारा-
त्करणमित्यवधेयम् । अक्षैरक्षान् । कर्मसंज्ञायां द्वितीया, करणत्वे तृतीयेति भावः ।
सहेति । सहेत्यनेन तदर्थस्य विवक्षा व्याख्यानात् । पुत्रेणेत्यत्र सहयोगत्वात्तृतीया ।
एवं समादिषु । तदर्थानामयोगेऽपि तृतीया । प्रमाणयति-वृद्धो यूनेति । येनेति ।
येन विकारंयुक्तेनावयवेन विकारो गम्यते । तद्वाचकपदात्तृतीयेति भावः । अक्षणा
काणः । अत्र विकृतमङ्गं 'अक्षि' तेनैवाङ्गेन काणत्वं ज्ञायतेऽतोऽक्षिशब्दात्तृतीयेति
भावः । अपवर्ग इति । 'कालाध्वनोः' इत्यनुवर्तते । फलप्राप्तिद्योत्यायां तृतीयेत्यर्थः ।
अह्ना-क्रोशेन । अहन् क्रोशयोः कालाध्ववाचकयोस्तृतीया । अत्र फलप्राप्तिरध्ययन-

कर्तृकरणयोः—अनुक्त कर्ता और करणमें तृतीया हो ।

प्रकृत्यादिभ्यः—प्रकृत्यादिसे तृतीया हो ।

दिवः कर्म च—'दिव' का जो साधकतम कारक वह कर्मसंज्ञक हो और (चकारात्)
करणसंज्ञक भी हो । सहयुक्ते—सहार्थकसे युक्त अप्रधानमें तृतीया हो ।

येनाङ्गविकारः—जिस अङ्गके विकृत होने पर अङ्गीका विकार लक्षित हो उस अङ्गसे
तृतीया हो । अपवर्गे—फलकी प्राप्ति द्योत्य हो तो कालवाचक और अध्ववाचकसे
तृतीया हो ।

मधीतो नायातः ॥ हेतौ । १।३।२३। तृतीया । दण्डेन घटः ॥ इत्थंभूतलक्षणे ।
 १।३।२१। तृतीया । जटाभिस्तापसः, जटाज्ञाप्यतापसत्वविशिष्ट इत्यर्थः ॥
 संज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि । २।३।२२। संपूर्वस्य जानातेः कर्मणि तृतीया । पित्रा
 पितरं वा संजानीते ॥ कर्मणा यमभिप्रैति स संप्रदानम् । १।४।३२। दानस्य
 कर्मणा यमभिप्रैति स संप्रदानसंज्ञः ॥ चतुर्थी संप्रदाने । २।३।१३। अनुक्ते ।
 विप्राय गां ददाति । (क्रियया यमभिप्रैति स संप्रदानम्) पत्ये शेते ॥ परिक्रयणे
 संप्रदानमन्यतरस्याम् । १।४।४४। नियतकालं भृत्या स्वीकरणं परिक्रयणं,

लाभरूपा । हेताविति । हेत्वर्थे तृतीया स्यात् । दण्डेन घटः । दण्डशब्दात् तृती-
 येति गम्यते । इत्थमिति । इत्थंभूतमेतत्प्रकारकं लक्षणं चिह्नं तस्मिन्विषये तृतीये-
 त्यर्थः । जटाभिरिति । तापसत्वात्तुमाने जटेति लिङ्गमिति तस्मात्तृतीया । अनुमान-
 स्वरूपं तु—अयं तापसः, जटानां सत्वात् । संज्ञ इति । तृतीयेति लभ्यते । पित्रा पितर
 वेति । पितृशब्दात् कर्मभूतात् पाक्षिकायां तृतीयायां तदभावे च द्वितीयायामुभयरूप-
 सिद्धिः । परिक्रयण इति । परिक्रयणं व्याचष्टे—नियतकालं भृत्या स्वीकरणमिति । साध-

हेतौ—हेत्वर्थं (हेत्वर्थवाचकसे) तृतीया हो ।

नोटः—यहां 'हेतु' पदसे फल का भी ग्रहण होता है । अतः 'अध्ययनेन वसति'
 यहां पर वासरूप फल अध्ययनमें होनेसे तृतीया होती है । 'दण्डेन घटः' यहां पर करणमें
 तृतीया इसलिये नहीं होती कि 'हेतु' और 'करण' के लक्षणोंमें किञ्चित् वैषम्य है । तथाहि—
 'द्रव्य-गुण-क्रियात्मककार्यत्रयनिरूपित-निर्व्यापार-संव्यापारवृत्ति च यत् तद्धेतुत्वम्'
 और 'क्रियाजनकमात्रवृत्तिव्यापारवद्वृत्ति च यत् तत् करणत्वम्' । 'दण्डेन घटः'
 यहां पर जो दण्डरूप हेतु है उसमें व्यापार तो है पर क्रियाजनकत्वका अभाव है । अतः वह
 करण नहीं हुआ । एवं 'पुण्येन दृष्टो हरिः' यहां पर जो पुण्यरूप हेतु है, उसमें हरिदर्शनजनक-
 त्वरूप क्रियाजनकता है, परन्तु वह व्यापारवान् नहीं है । अतः वह भी करण नहीं होसका ।

इत्थंभूतलक्षणे—जिस लक्षण (ज्ञापक) से किसी विशेष रूपको प्राप्त हो जाय, उस
 लक्षणसे तृतीया हो ।

संज्ञोन्यतरस्यां—'सम्' पूर्वक 'ज्ञा' धातुके कर्मसे तृतीया हो, विकल्पसे ।

नोटः—'तृतीया करणे चैव कर्मवाच्यस्य कर्तरि । सहार्थैश्च तथा हेतौ प्रकृत्यादिभ्य
 पृथक् च । ऊनार्थैर्वारणार्थैश्च सदृशार्थैस्तथैव च । अङ्गिनो विकृतिर्येन तृतीयास्यात्तदङ्गत्तः॥'

'कर्मणा—दानके कर्मसे जिसको सम्बन्धित करना इष्ट हो, वह सम्प्रदानसंज्ञक होता
 है । चतुर्थी—अनुक्त संप्रदानमें चतुर्थी हो । क्रियया—क्रियाके साथ जिसको सम्बन्ध
 करना इष्ट हो, वह भी सम्प्रदानसंज्ञक होता है । परिक्रयणे—परिक्रयणमें साधकतम जो
 कारक वह सम्प्रदानसंज्ञक हो ।

तस्मिन्साधकतमं कारकं संप्रदानं वा । शतेन शताय वा परिक्रीतः ॥ (तादर्थ्यं चतुर्थी वाच्या) मुक्तये हरिं भजति ॥ (उत्पातेन ज्ञापिते च) । वाताय कपिला विद्युत् ॥ नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलं वषट्कारो गच्छ ॥ २ । ३ । १६ । एभिर्योगे चतुर्थी स्यात् । हरये नमः । प्रजाभ्यः स्वस्ति । अग्रये स्वाहा । पितृभ्यः स्वधा । अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम् । तेन दैत्येभ्यो हरिरलं, प्रभुः, समर्थः, शक्त इत्यादि ॥ भ्रुवमपायेऽपादानम् ॥ १॥४॥२४॥ अपायो विश्लेषः, तस्मिन् साध्ये भ्रुवमवधिभूतमपादानम् ॥ अपादाने पञ्चमी ॥ २॥३॥२८॥ ग्रामादायाति । धावतोऽश्वात्पतति इत्यादि ॥ जनिकर्तुः प्रकृतिः ॥ १॥४॥३०॥ जायमानस्य हेतुरपादानं

कतमस्य कारकस्य सम्प्रदानत्वं वेत्यर्थः । तृतीयार्थे चतुर्थी वा । शतेन शतायेति । शतशब्दस्य साधकतमत्वेन तृतीयायां प्राप्तायां 'परिक्रयणे' इति सम्प्रदानत्वे चतुर्थी इति भावः । तादर्थ्यं इति । तस्य धातोर्योऽर्थस्तस्य भावस्तस्मिन्नित्यर्थः । मुक्तये इति । मुक्त्यु मोक्षणे इति धातोर्यो दुःखोच्छेदरूपोऽर्थस्तत्र विषये चतुर्थी । मुक्तये—दुःखोच्छेदायेति भावः । उत्पातेन आधिदैविकममङ्गलमुत्पातः, तज्ज्ञापकाद्वातादिशब्दात्तृतीयेत्यर्थः । अत आह—वाताय कपिला विद्युदिति भावः । भ्रुवमपाये । भ्रुगतिस्थैर्ययोः । अस्मात्पचाद्यचि, कुटादित्वान्ङित्वे, उवङ् । भ्रुवस्थैर्ये इति केचित् । तत्रेगुपधेति कः । भ्रुवं स्थिरम् । अपायशब्देन विवक्षितमाह—विश्लेष इति । एवं च प्रकृतधात्वर्थानाश्रयत्वे सति तज्जन्यविभागाश्रयो भ्रुवमिति फलितम् । जनिकर्तुरिति । 'भ्रुवमपायेऽपादानम्' इत्यतोऽपादानमिति । ब्राह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते । जायमानाः प्रजाः तासां हेतुर्ब्रह्मा तस्यापादानत्वे पञ्चमी । ल्यब्लोप इति । पञ्चमः

तादर्थ्यं चतुर्थी—तादर्थ्यं (उसके लिये) अर्थमें चतुर्थी हो ।

उत्पातेन—उत्पातसे जो सूचित किया जाय, उससे चतुर्थी हो ।

नमःस्वस्ति—नमः स्वस्ति आदिके योगमें चतुर्थी हो ।

उपपदविभक्तेः—उपपदविभक्तिसे कारक विभक्ति बलवती होती है ।

नोटः—'पदमाश्रित्योत्पन्ना या विभक्तिः सा उपपदविभक्तिः' 'क्रियामाश्रित्योत्पन्ना या विभक्तिः सा कारकविभक्तिः' ।

अलमिति—'नमः स्वस्ति' सूत्रमें पर्याप्त्यर्थक अर्थात् शक्ति-सामर्थ्यवाची 'अलम्' शब्दका ग्रहण है ।

नोटः—सम्प्रदाने चतुर्थी स्यात् तादर्थ्यं च क्रियायुक्ते ।

रुच्यर्थानां प्रियमाणे नमोयोगे च सा भवेत् ॥'

भ्रुवमपाये—अपाय (विश्लेष = विभाग) में जो अवधिभूत (स्थिर) रहे, उसकी अपादानसंज्ञा हो । अपादाने पञ्चमी—अपादानमें पञ्चमी हो । जनिकर्तुः—जायमानका हेतु

स्यात् । ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते ॥ (ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च) ।
 प्रासादात्प्रेक्षते । आसनात्प्रेक्षते । प्रासादमारुह्य, आसने उपविश्य प्रेक्षत इत्यर्थः ।
 विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् । २।३।२५। गुणे हेतावल्लीलिङ्गे पञ्चमी वा स्यात् ।
 जाड्यात् जाड्येन वा बद्धः । गुणे किम् ? धनेन ? कुलम् । अस्त्रियां किम् ? बुद्ध्या
 मुक्तः । विभाषेति योगविभागादगुणे स्त्रियां च क्वचित्, धूमादग्निमान् ।
 नास्ति घटोऽनुपलब्धेः ॥ पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् । २।३।३२।
 एभिर्योगे तृतीया स्यात् । पञ्चमीद्वितीये च । पृथग् रामेण रामाद् रामं वा । एवं
 विना, नाना ॥ अन्यारादितरर्तदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते । २।३।२९।
 अन्य इत्यर्थग्रहणम् । इतरग्रहणं प्रपञ्चार्थम् । अन्यो भिन्न इतरो वा कृष्णात् ।
 आराद् वनात् । ऋते कृष्णात् । पूर्वो ग्रामात् । दिशि दृष्टः शब्दो दिक्शब्दः ।
 तेन सम्प्रति देशकालवृत्तिना योगेऽपि भवति । चैत्रात्पूर्वः फाल्गुनः । प्राक् प्रत्यग्वा
 ग्रामात् । आच् । दक्षिणा ग्रामात् । आहि, दक्षिणाहि ग्रामात् ॥ अपपरी वर्जने
 । १।४।८८। एतौ वर्जनार्थे कर्मप्रवचनीयसंज्ञौ स्तः ॥ आङ् मर्यादावचने । १।४।

स्यात् । प्रासादात्-आसनात्-इति कर्माधिकरणयोः पञ्चमीति भावः । विभाषेति ।
 पञ्चमी वेत्यर्थः । तदभावे तृतीया । जाड्यात् जाड्येन वा । अत्र वैभाषिकपञ्चमीत्वे
 उभयरूपसिद्धिः । अत्र 'विभाषा' इति योगो विभज्यते तेनागुणेऽपि क्वचित् ।
 धूमादग्निमानित्यादौ प्रयोगोपलब्धेः । पृथगिति । तृतीया विधीयते पञ्चमीद्वितीये
 लभ्येते । तेन रामशब्दाद्विभक्तित्रयम् । अन्येति । एषां योगे पञ्चमी स्यात् । उदा-
 हरति-अन्यः कृष्णात्-आराद्वनात्-ऋते 'कृष्णात्-पूर्वो ग्रामात्-इत्यादिषु पञ्चम्याः
 साधुत्वमेव । दिक्शब्दं व्याचष्टे-दिशि दृष्टः शब्दः दिक्शब्दः तेन देशकालयोर्यत्पौर्वा-
 पर्यमित्यादि तत्रापि पञ्चम्येवेति भावः । उदाहरति-चैत्रात्-ग्रामादिति । आचमुदाह-
 रति-दक्षिणा ग्रामात्, आहि-दक्षिणाहि । अत्रापि ग्रामशब्दात् पञ्चमी । अपेति 'कर्मप्रव-
 चनीय' इत्यधिकारस्थत्वादनयोः कर्मप्रवचनीयत्वम् । आङ् इति । अयमपि मर्यादायां
 कर्मप्रवचनीयसंज्ञः । कर्मप्रवचनीयत्वे द्वितीया प्रासा तां बाधनाय पञ्चमी विधत्ते पञ्चम्य-

अपादान संशक हो । ल्यब्लोपे—'ल्यप्' के लोपमें ल्यबन्तार्थके प्रति कर्म या अधिकरणमें
 पञ्चमी हो । विभाषा—हेतु और अस्त्रीलिङ्ग जो गुणवाचक शब्द, उससे पञ्चमी हो, विकल्पसे ।
 पृथग्विना—'पृथक्', विना और नानाके योगमें तृतीया तथा पञ्चमी और द्वितीया भी हो ।
 अन्यारादित—अन्य (अन्यार्थक शब्द), आरात्, इतर, ऋते, दिक्शब्द, अञ्चूत्तरपद,
 आच् और आहिके योगमें पञ्चमी हो । अपपरी वर्जने—वर्जन अर्थमें अप और परिकी
 कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो । आङ् मर्यादा—मर्यादा और अभिविधि अर्थमें आङ्की कर्मप्रवच-

८९। आङ् मर्यादायामुक्तसंज्ञः । वचनग्रहणादभिविधावपि ॥ पञ्चम्यषाङ्प-
रिभिः । २।३।१०। एतैः कर्मप्रवचनीयैर्योगे पञ्चमी । अप हरेः, परि हरेः संसारः ।
परिरत्र वर्जने, साहचर्यात् । लक्षणादौ तु—हरिं परि । आ मुक्तेः संसारः । आ सक-
लाद्ब्रह्म ॥ प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः । १।४।९२। एतयोरर्थयोः प्रतिरुक्तसंज्ञः
स्यात् ॥ प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात् । २।३।११। अत्र कर्मप्रवचनीयैर्योगे
पञ्चमी । प्रद्युम्नः कृष्णात् प्रति । तिलेभ्यः प्रतियच्छति माषान् ॥ षष्ठी शेषे । २।३।
५०। कारकप्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्तः स्वस्वामिभावादिशेषः, तत्र षष्ठी । राज्ञः पुरुषः ।
कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठयेव । सतां गतम् । सर्पिषो जानीते ।
मातुः स्मरति । एधो दकस्योपस्कुरुते । भजे शम्भोश्चरणयोः । फलानां तृप्तः ॥ कर्तृ-
कर्मणोः कृति । २।३।६५। कृद्योगे कर्तरि कर्मणि च षष्ठी । कृष्णस्य कृतिः । जगतः
कर्ता कृष्णः । गुणकर्मणि वेद्यते । नेताऽश्वस्य क्षुण्णं क्षुधनस्य वा । कृति किम् ? तद्धिते

पाठिति । एषां योगे पञ्चमी स्यात् । कर्मप्रवचनीयत्वेन अपहरेः परिहरे आमुक्तेः इत्यादौ
पञ्चमीति ज्ञेयम् । प्रतिरिति । अनयोरर्थयोः प्रतेः कर्मप्रवचनीयत्वं वाच्यम् । प्रतिनिधि ।
पञ्चमी विधीयते । प्रद्युम्नः कृष्णात्प्रति—तिलेभ्य इति । प्रतिनिधिप्रतिदानयोरर्थे पञ्चमीति
भावः । एधोदकस्योपस्कुरुते । एधः = काष्ठं, दकस्य = उदकस्य उपस्कुरुते = गुणमाधत्ते
इति तदर्थः । एधशब्द अकारान्तः पुल्लिङ्गः, 'कारके' इति सूत्रे 'एधाः पच्यन्ते' इति
भाष्यप्रयोगात् । सान्तः क्लीबोऽपि । गुणकर्मणि तु वेद्यते । नेताश्वस्येत्यत्र वा षष्ठी ।
उभयेति । 'कृति' इत्यनुकृष्यते उभयप्राप्ताविति तद्विशेषणं अतः स्मारयति—उभयोः

नीय संज्ञा हो । पञ्चम्यपां—कर्मप्रवचनीय संज्ञक अप्, आङ् और परिके योगमें पञ्चमी हो ।

प्रतिः प्रतिनिधि—प्रतिनिधि और प्रतिदान अर्थमें प्रतिकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो ।,

प्रतिनिधि—जिसका प्रतिनिधि हो तथा जिसका प्रतिदान हो उससे पञ्चमी हो, कर्म-
प्रवचनीय संज्ञक (प्रति) के योगमें ।

नोटः—'अपादाने ल्यबर्थे' च योगे पूर्वादिभिस्तथा । उत्कर्षे पञ्चमी ज्ञेया हेत्वर्थे
तु विभाषया ॥ ऋते विनादिभिर्योगे पञ्चमी च स्मृता बुधैः ।

षष्ठी शेषे—कारक और प्रातिपदिकार्थसे भिन्न स्वस्वामिभावादि (जन्यजनकभावादि)
सम्बन्ध 'शेष' कहाता है, उस शेषमें षष्ठी हो ।

कर्तृकर्मणोः—'कृत्' के योगमें कर्ता और कर्ममें षष्ठी हो ।

गुणकर्मणि—गौण कर्ममें विकल्पसे षष्ठी हो ।

नोटः—'अकथितं च' इस सूत्रसे जिसकी कर्मसंज्ञा होती है वह गौण कर्म कहाता है
(पृष्ठ ४६२ देखो)

मा भूत् । कृतपूर्वी कटम् । उभयप्राप्तौ कर्मणि । २।३।६६। उभयोः प्राप्त्यस्मि-
 न्कृति तत्र कर्मण्येव षष्ठी । आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन ॥ कृत्यानां कर्तरि
 वा । २।३।७१। षष्ठी । मया मम वा सेव्यो हरिः ॥ कस्य च वर्तमाने । २।३।
 ६७। वर्तमानार्थस्य कस्य योगे षष्ठी । 'न लोके'ति वक्ष्यमाणनिषेधस्यापवादः । राज्ञां
 मतः बुद्धः पूजितो वा ॥ अधिकरणवाचिनश्च । २।३।६८। कस्य प्रयोगे षष्ठी ।
 इदमेषां शयितम् ॥ न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृणाम् । २।३।६९। एषां योगे षष्ठी
 न । लादेशः । कुर्वन्-कुर्वाणो वा सृष्टि हरिः । उः-हरि दिदृक्षुः, अलङ्करीष्णुर्वा ।
 उक्-दैत्यान् धातुको हरिः । (कमेरनिषेधः) । लक्ष्म्याः कामुको हरिः । अव्ययम्-
 जगत्सृष्ट्वा । निष्ठा-दैत्यान् हतवान् विष्णुः । विष्णुना हता दैत्याः । खलर्थः-ईषत्करः

प्राप्तिर्यस्मिन् कृतीति । तत्र कर्मण्येव षष्ठी, न तु कर्तरि । आश्चर्यो गवां दोहः । अत्र
 कर्मीभूतस्य गोपदस्यैव षष्ठीविभक्त्यन्तत्वम् । कृत्यानामिति । कर्तरि वा षष्ठीत्यर्थः ।
 तदभावे तृतीयैव । 'मया मम वा सेव्यो हरिः' अत्र ण्यत्प्रत्ययान्तेन कृदन्तेन योगात्
 अहंकर्तृवाचकस्य पाक्षिकी षष्ठी तदभावे तृतीया । कस्येति । वर्तमानार्थे विहितस्य
 क्तप्रत्ययान्तस्य योगे षष्ठी स्यात् । 'राज्ञां मतो बुद्धः पूजितो वा' अत्र वर्तमाने विहितस्य
 क्तान्तस्य 'अतः-बुद्धः-पूजितः' इत्यादीनां योगे राज्ञामिति षष्ठी । अधिकरणेति । अधि-
 करणार्थे विहितस्य कस्य योगे षष्ठी स्यात् । इदमेपासु आसितम्, शयितं वा, अत्रासित-
 शयितादीनां क्तान्तानाम् अधिकरणवाचित्वात् तेषां योगे एषामिति षष्ठीपदमिति
 भावः । न लोकेति । ल्-उ-उक्-अव्यय-निष्ठा-खलर्थ-तृन्-येषां-योगे षष्ठी नेत्यर्थः ।
 शत्रुज्ञानचातुदाहरति—कुर्वन्-कुर्वाणो वा सृष्टि हरिः । अनयोर्योगे हरिरिति
 प्रथमैव नापि कर्मणि षष्ठी सृष्टिमिति द्वितीयान्तस्य युक्तत्वात् । उः । सनाशंस
 इत्यादिना विहित उप्रत्ययः । हरिं दिदृक्षुः । अत्रापि न कर्मणि नापि कर्तरि षष्ठी । उक्-
 दैत्यान् धातुकः अत्रापि न षष्ठी इति भावः । कमेरनिषेधः । कमेर्योगे प्राप्तः षष्ठीनिषेधो
 नेत्यर्थः । तेन लक्ष्म्याः कामुकः अत्र षष्ठीभवत्येव वार्तिकवलात् । जगत्सृष्ट्वा ।
 अत्र क्त्वाप्रत्ययस्य 'तसिल्लादिषु' इति अव्ययत्वात् षष्ठीप्रतिषेधात् । निष्ठा-दैत्या-
 न् हतवान् विष्णुः, विष्णुना हता दैत्याः । अत्र न षष्ठी, निष्ठासंज्ञत्वेन सूत्रनिषेधात् ।

उभयप्राप्तौ—जिस 'कृत' के योगमें जहाँ कर्ता और कर्म दोनोंमें एक साथ षष्ठी प्राप्त
 हो, वहाँ कर्ममें ही षष्ठी हो ।

कृत्यानां—कृत्य प्रत्ययके योगमें कर्तामें विकल्पसे षष्ठी हो । कस्य च वर्तमाने-वर्त-
 मानार्थक 'क्त' के योगमें षष्ठी हो । अधिकरण—अधिकरणवाची 'क्त' के योगमें षष्ठी हो ।

न लोका—लादेश, उक्, अव्यय, निष्ठा, खलर्थ और तृन् के प्रयोगमें षष्ठी नहीं हो ।

कमेरनिषेधः—कमु धातुके योगमें षष्ठीका निषेध नहीं हो ।

प्रपञ्चो हरिणा । तृन्निति प्रत्याहारः । शतृशानचाविति तृशब्दादारभ्य आ तृनो नकारात् । शानन्-सोमं पवमानः । चानश्-आत्मानं मण्डयमानः । शतृ-वेदमधीयन् । तृन्-कर्ता लोकान् । (द्विषः शतुर्वा) । मुरस्य मुरं वा द्विषन् । (सर्वोऽयं कारकषष्ठ्याः प्रतिषेधः) । शेषे षष्ठी तु स्यादेव । ब्राह्मणस्य कुर्वन् । नरकस्य जिष्णुः । अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः । २।३।७०। भविष्यत्यकस्य भविष्यदाधमर्ण्यार्थेनश्च योगे षष्ठी न । सतः पालकोऽवतरति । ब्रजं गामी । शतं दायी । (निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां विभक्तीनां प्रायदर्शनम्) किं निमित्तं वसति । केन निमित्तेन । कस्मै निमित्तायेत्यादि । एवं-किं कारणं, को हेतुः, किं प्रयोजनमित्यादि । प्रायग्रहणादसर्वनाम्नः प्रथमाद्वितीये न स्तः । ज्ञानेन निमित्तेन हरिः सेव्यः । ज्ञानाय निमित्तायेत्यादि ॥ षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन । २।३।३०। ग्रामस्य दक्षिणतः, पुरः, पुरस्तात्, उपरि, उपरिष्ठात् ॥ एनपा द्वितीया । २।३।३१। एनपेति योगविभागात्षष्ठ्यपि ।

खल्यर्थः-ईपत्करः प्रपञ्चो हरिणा । अत्र 'ईपद्दुःसुपु' इत्यादिना खलप्रत्ययस्य विहितत्वेन षष्ठ्या निषेधः । 'तृन्' इति प्रत्याहारात्मकं रूपं तदेव परिस्फोरयति-शानन्-सोमं पवमानः-चानश्-आत्मानं मण्डयमानः, शतृ-वेदमधीयन्, तृन्-कर्ता लोकान् इत्यादीनां योगे न षष्ठीति भावः । द्विष इति । शतुर्योगे वा षष्ठीति भावः । मुरस्य मुरं वा द्विषन्, अत्र कर्मणि वा षष्ठीति भावः । अकेनोरिति । भविष्यत्यकस्य भविष्यदाधमर्ण्यार्थेनश्च योगे षष्ठी न भवति । सतः पालकोऽवतरति-ब्रजं गामी-शतं दायी-एषु खन्शतयोर्द्वितीयान्तत्वमेव न तु षष्ठ्यन्तत्वमिति भावः । निमित्तेति । निमित्तवाचकानां पदानां योगे सर्वासां विभक्तीनां प्रायेण दर्शनं भवति इति भावः । किं निमित्तम्, केन निमित्तेन कस्मै निमित्ताय, कस्मात् निमित्तात्, कस्य निमित्तस्य, कस्मिन् निमित्ते, इति प्रथमादि सप्तम्यन्तानां विभक्तीनां प्रायः प्रयोगोपलब्धिः । षष्ठ्यनमर्थेति । अतस्तन्तानां योगे षष्ठी स्यात् । ग्रामस्य दक्षिणतः, अत्र ग्रामपदात्षष्ठी । एवं तद्विज्ञानां योगेऽपि षष्ठी । एनपेति ।

द्विषः शतुर्वा—'द्विष' धातुसे विहित 'शतृ' प्रत्ययके योगमें षष्ठीका निषेध विकल्पसे हो । अकेनो—भविष्यत् अर्थक 'अक' और भविष्यत् आधमर्ण्यार्थक 'इन्' के योगमें षष्ठी नहीं हो । निमित्तपर्याय—निमित्त पर्यायके प्रयोगमें प्रायः सभी विभक्तियां देखी जाती हैं ।

षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन—'अतसर्थ' प्रत्ययके योगमें षष्ठी हो ।

नोटः—दिग्देशकालरूप अर्थ है जिसका, ऐसा जो प्रत्यय, वह 'अतसर्थ प्रत्यय' कहा जाता है । वे अस्ताति प्रभृति पाँच प्रत्यय हैं ।

('दिक्शब्देभ्य' इत्यादि सूत्र 'प्राग्वीय' प्रकरण) में देखो)

एनपा द्वितीया—एनवन्तके योगमें द्वितीया और षष्ठी भी हो ।

दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा । एवमुत्तरेण । दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम् । ॥२॥३॥४॥ एतैर्योगे षष्ठी पञ्चमी च । दूरं, निकटं वा ग्रामस्य-ग्रामाद्वा ॥ दिवस्त-
दर्थस्य ॥२॥३॥५॥ द्यूतार्थस्य क्रयविक्रयरूपव्यवहारार्थस्य च दिवः कर्मणि षष्ठी ।
शतस्य दीव्यति । तदर्थस्य किम् ? ब्राह्मणं दीव्यति, स्तौतीत्यर्थः ॥ विभाषोप-
सर्गे ॥२॥३॥५॥ शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति ॥ आधारोऽधिकरणम् ॥१॥४॥४॥
कर्तृकर्मद्वारा तन्निष्ठक्रियाया आधारः कारकमधिकरणसंज्ञः स्यात् ॥ ससम्यधिक-
रणे च ॥२॥३॥६॥ चादूरान्तिकार्थेभ्यः । औपश्लेषिको वैषयिकोऽभिव्यापकश्चेत्या-
धारस्त्रिधा । कटे आस्ते, स्थाल्यां पचति । मोक्षे इच्छास्ति । सर्वस्मिन् आत्मास्ति ।

पष्ठीप्राप्तौ वचनमिदम् । योगविभागात् । षष्ठ्यपि । दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा ।
अत्र द्वितीया, पक्षे षष्ठी । एवम् उत्तरेणेति बोध्यम् । दूरान्तिकार्थैरिति । दूरान्तिका-
र्थानां योगे षष्ठी स्यात्पक्षे पञ्चमी । ग्रामस्य-ग्रामाद् वा दूरं निकटमित्यर्थः । दिव
इति । द्यूतार्थस्येत्यादिना धातोरर्थः स्फोरितः । कर्मणि षष्ठीति स्पष्टमेव । शतस्य दी-
व्यति । अत्र शतस्येति कर्मणि षष्ठी । विभाषेति । उपसर्गयुक्तात् दिवः कर्मणि वा षष्ठी-
त्यर्थः । शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति । अत्र शतस्येति षष्ठी, तदभावे द्वितीया । औपश्ले-
षिकः । उपसमीपे श्लेषः—सम्बन्ध उपश्लेषः, तत् कृतमौपश्लेषिकम् । अयं प्रथम
आधारः । अस्योदाहरणम्—कटे आस्ते । वैषयिकः—विषये भवो वैषयिकः । अस्यो-
दाहरणम्—मोक्षे इच्छा अस्ति । अत्र कर्तृभूतेच्छागतां सत्ताक्रियां प्रति मोक्षस्य विष-
यतासम्बन्धपुरस्कारेण इच्छाद्वाराधारत्वादधिकरणम् । अभिव्यापकः—अभि—सर्वतो
भावेन व्याप्नोतीति अभिव्यापकः । य आधारः सर्वमभिव्याप्नोति सोऽभिव्यापक
इत्युच्यते । अस्योदाहरणम्—सर्वस्मिन्नात्मास्ति । सर्वस्मिन्नभिव्याप्य आत्मा वर्तत
इत्यर्थः । अत्र आत्मरूपकर्तृगतां सत्ताक्रियां प्रति कृत्स्नव्याप्तिं पुरस्कृत्य आत्मद्वारा

दूरान्तिकार्थैः—दूरार्थक और अन्तिकार्थकके योगमें षष्ठी हो, विकल्पसे । पक्षमें
पञ्चमी हो ।

दिवस्तदर्थस्य—द्यूतार्थक और क्रय-विकयरूप व्यवहारार्थक 'दिव्' धातुके कर्ममें षष्ठी
हो । विभाषोपसर्गे—द्यूतार्थक और क्रय-विक्रय रूप व्यवहारार्थक जो उपसर्गक 'दिव्'
धातु, उसके कर्ममें विकल्पसे षष्ठी हो ।

नोटः—'षष्ठी भवति सम्बन्धे कृदन्ते कर्तृकर्मणोः । तृतीया स्यात् तथा षष्ठी
कृत्यानां कर्तृकारके ॥ तुल्यार्थयोगे षष्ठी स्यात् तृतीया च विभाषया ।'

आधारोऽधिकरणम्—कर्ता और कर्मके द्वारा जो कर्तृ-कर्मनिष्ठ क्रियाका आधार वह
कारक संज्ञक होकर अधिकरण संज्ञक हो । ससम्यधिकरणे—अनुक्त अधिकरणमें सप्तमी हो ।

चनस्य दूरेऽन्तिके वा । (क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसंख्यानम्) । अधीतो व्याकरणे । (साध्वसाधुप्रयोगे च) । साधुः कृष्णो मातरि । असाधुर्मातुले । (निमित्तात्कर्मयोगे) ।

‘चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम् ।

केशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः’ ॥

यस्य च भावेन भावलक्षणम् २।३।३७ यस्य क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते ततः सप्तमी । गोषु दुह्यमानासु गतः ॥ षष्ठी चानादरे २।३।३८ अनादराधिक्ये भावलक्षणे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः । रुदति-रुदतो वा प्रात्राजीत् । रुदन्तं पुत्रादिकमनाहत्य संन्यस्तवानित्यर्थः ॥ स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च २।३।३९ एभिर्योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः । गवां गोषु वा स्वामी ॥ आयुक्तकुशलाभ्यां चासेवायाम् २।३।४० आभ्यां योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः । आयुक्तो व्यापारितः । आयुक्तः कुशलो वा हरिपूजने-हरिपूजनस्य वा । आसेवायां किम् ? आयुक्तो गौः शक्ते,

सत्ताधारत्वात्सर्वस्याधिकरणत्वम् । क्तस्येति । सप्तम्या उपसंख्यानमित्यर्थः । अधीतो । व्याकरणे । अत्र व्याकरणपदस्य सप्तमी अधितीत्यस्येन्विहितत्वात् । साधु इति । अनयोर्योगे सप्तमी स्यात् । तेन मातरि-मातुले अत्र सप्तमी सिद्धा । निमित्तादिति । निमित्तवाचकात्पदात् सप्तमीत्यर्थः । चर्मणि-दन्तयोः-केशेषु-सीम्नि-इत्यादिनिमित्तवाचकेभ्यः पदेभ्यः सप्तमीत्वं सिद्धम् । यस्य चेति । भावः क्रियेति, अत आह—क्रिययां क्रियान्तरं लक्ष्यत इति । गमनक्रियया गोदोहनक्रियोपलक्ष्यते अतस्तस्मात्पदात्सप्तमी, न तु षष्ठीति भावः । षष्ठी चेति । रुदति रुदतो वेत्यत्र षष्ठीसप्तम्यौ । स्वामीति । एभिर्योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः । गवां गोषु स्वामीत्यादिरूपाणि अवधेयानि । आयुक्तेति । अनयोर्योगे विभक्तिद्वयं स्यात् । आयुक्तः कुशलो वा हरिपूजने, अत्र

चकारात् दूरार्थक और अन्तिकार्थकसे भी सप्तमी हो । क्तस्येन्विषयस्य—इन्प्रत्ययका विषय (प्रकृति) जो ‘क्त’ उसके योगमें कर्ममें भी सप्तमी हो । साध्वसाधु—साधु और असाधुके प्रयोगमें सप्तमी हो । निमित्तात्कर्मयोगे—कर्मके साथ यदि फलका योग हो तो, निमित्त (फल) वाचक से सप्तमी हो । यस्य च भावेन—जिसकी क्रियासे क्रियान्तर लक्षित हो, उससे सप्तमी हो । षष्ठी चानादरे—अनादरका आधिक्य गम्यमान होने पर जिसकी क्रियासे क्रियान्तर लक्षित हो, तद्वाचकसे षष्ठी और सप्तमी हो ।

स्वामी—स्वामी, ईश्वर, अधिपति, दायाद, साक्षी, प्रतिभू और प्रसूतके योगमें षष्ठी और सप्तमी हो ।

आयुक्त—आयुक्तके योगमें षष्ठी या सप्तमी हो, आसेवा अर्थमें ।

ईषयुक्त इत्यर्थः । यतश्च निर्धारणम् २।३।४१। जातिगुणक्रियासंज्ञाभिः समुदाया-
देकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणं यतस्ततः षष्ठीसप्तम्यौ स्तः । नृणां-नृषु वा ब्राह्मणः
श्रेष्ठः । गवां-गोषु वा कृष्णा गौर्वहुक्षीरा । गच्छतां गच्छत्सु वा धावन् शीघ्रः ।
छात्राणां-छात्रेषु वा मैत्रः पटुः ॥ पञ्चमी विभक्ते २।३।४२। विभागो विभक्तम् ।
निर्धार्यमाणस्य यत्र भेद एव तत्र पञ्चमी । माथुराः पाटलिपुत्रेभ्य आढ्यतराः ॥
साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः २।६।४३। मातरि साधुनिपुणो वा ।
अर्चायां किम् ? निपुणो राज्ञो भृत्यः । इह तत्त्वकथने तात्पर्यम् ॥ (अप्रत्यादिभि-
रिति वक्तव्यम्) । साधुनिपुणो वा मातरं प्रति परि, अनु वा ॥ अधिरीश्वरे
१।४।९७। स्वस्वामिभावसंबन्धेऽधिः कर्मप्रवचनीयः ॥ यस्मादधिकं यस्य चेश्व-
रवचनं तत्र सप्तमी २।३।९। अत्र कर्मप्रवचनीययुक्ते सप्तमी । उप परार्थे हरे-
गुणाः, परार्थादधिका इत्यर्थः । ऐश्वर्ये तु स्वस्वामिभ्यां पर्यायेण सप्तमी । अधि भुवि
रामः । अधि रामेः भूः ॥ इति कारकप्रकरणम् ।

हरिपूजनात् षष्ठी वा सप्तमीति बोध्यम् । यतश्चेति । निर्धारणत्वं च जातिगुणक्रिया-
संज्ञाभिः समुदायादेकशेषस्य पृथक्करणत्वम् । तत्पदात् षष्ठीसप्तम्यौ । साधुनिपुणेति ।
मातरि साधुनिपुणो वा, अत्रार्चायां सप्तमी । इति विभक्त्यर्थाः ।

यतश्च—जहासे निर्धारण (पृथक्करण) हो, तद्वाचकसे षष्ठी या सप्तमी हो ।

पञ्चमी—निर्धार्यमाण (अलग किये जाने वाले) का जिससे भेद (विभाग) हो,
तद्वाचकसे पञ्चमी हो । साधुनिपुणा—साधु और निपुणके योगमें सप्तमी हो, अर्चामें ।
किन्तु प्रतिके योगमें नहीं हो । अप्रत्यादिभिः—प्रति (ही नहीं) परि और अनुके योग
रहनेपर (भी) साधु या निपुणके योगमें सप्तमी नहीं हो ।

अधिरीश्वरे—स्व-स्वामिभाव संबन्धमें 'अधि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो ।

यस्मादधिकं—जिससे अधिक हो तद्वाचक शब्दसे सप्तमी नित्य हो और जिससे
ईश्वर वचन-विवक्षित हो तद्वाचक शब्दसे पर्यायेण सप्तमी हो ।

नोट—'आधारे च तथा भावे विभक्तिः सप्तमी भवेत् ।

अनादरे च निर्धारे षष्ठी स्यात् सप्तमी तथा ॥'

शुद्ध करो—बालकं वसति । स काश्यां गच्छति । पितुः सह आगच्छति । इदं मम
रोचते । स मां क्रुध्यति । यत्नस्य विना किं स्यात् ? मानवैर्ब्राह्मणः श्रेष्ठः । छात्रस्य पणं
यच्छति । गुरोर्नमः । स आचार्यं विभेति ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें कारक प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ समासप्रकरणम्

तत्र केवलसमासः

समासः पञ्चधा । तत्र समसनं समासः । स च विशेषसंज्ञाविनिर्मुक्तः केवल-
समासः प्रथमः । प्रायेण पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावो द्वितीयः । प्रायेणोत्तरपदार्थ-
प्रधानस्तत्पुरुषस्तृतीयः । तत्पुरुषभेदः कर्मधारयः । कर्मधारयभेदो द्विगुः । प्रायेणान्य-
प्रदार्थप्रधानो बहुव्रीहिश्चतुर्थः । प्रायेणोभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः पञ्चमः ॥ समर्थः
पदविधिः । २।१।१। पदसंबन्धी यो विधिः स समर्थाश्रितो बोध्यः ॥ प्राक्कडारात्
समासः । २।१।३। 'कडाराः कर्मधारये' इत्यतः प्राक् समास इत्यधिक्रियते ॥
सह सुपा । २।१।४। सुप् सुपा सह वा समस्यते । समासत्वात्प्रातिपदिकत्वे सुपो
लुक् । परार्थाभिधानं वृत्तिः । कृतद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्च वृत्तयः ।

तत्रेति । पञ्चविधेषु समासेष्वित्यर्थः । समसनम् । इत्यस्य मिलनमित्यर्थः । तच्च
पृथगर्थपदानामेकार्थोपस्थितिजनकत्वरूपमित्यर्थः । विशेषसंज्ञाविनिर्मुक्त इति । विशेष-
श्चाश्च ताः संज्ञाः विशेषसंज्ञा, अव्ययीभावादयस्ताभिर्विनिर्मुक्तो रहितो विशेष-
संज्ञाविनिर्मुक्तः । अव्ययीभावादिविशेषसंज्ञारहितः केवलसमास इत्यभिधीयते ।
समर्थः पदविधिः । सामर्थ्यं द्विविधम् । व्यपेक्षारूपम्, एकार्थीभावरूपञ्च । तत्र
स्वार्थपर्यवसायिनां पदानाम् आकाङ्क्षादिवशात्परस्परसम्बन्धरूपा व्यपेक्षा । सा च
राजः पुरुषः इत्यादि वाक्ये एव । स्वार्थपर्यवसायिनां पदानां विशेषणविशेष्यभावा-
च्चगाह्यैकोपस्थितिजनकत्वमेकार्थीभावत्वम् । तच्च 'राजपुरुष' इत्यादिवृत्तावेव ।
सह सुपा । 'सुबामन्त्रिते' इत्यतः सुबित्यनुवर्तते । सुवन्तं सुवन्तेन सहोच्चारितं
समाससंज्ञं भवतीति फलति । पदार्थाभिधानं वृत्तिरिति । प्रत्ययान्तभविणाऽपरपदा-

समासः पञ्चधा—समास पांच प्रकारके होते हैं—१. केवल समास, २. अव्ययीभाव
समास, ३. तत्पुरुष समास, ४. बहुव्रीहि समास और ५. द्वन्द्व समास ।

नोट :—'एकार्थवाचकतां प्राप्तो भिन्नार्थकाऽनेकपदसमूहः समासः' ।

दो या अधिक पदोंके एकपदीकरणको समास कहते हैं ।

विशेष—विशेषसंज्ञाविनिर्मुक्त अर्थात् तत्पुरुष, अव्ययीभावादि विशेषसंज्ञा रहितको
'केवल समास' कहते हैं । यथा—पूर्वं भूतः—भूतपूर्वः ।

समर्थः पदविधिः—पदसंबन्धी जो विधि वह समर्थाश्रित हो ।

प्राक्कडारात्—'कडाराः कर्मधारये' इस सूत्रसे पूर्व 'समास' यह अधिकार है ।

सह सुपा—(समर्थ) सुवन्तका सुवन्तके साथमें समास हो ।

(वृत्त्यर्थान्नोपकं वाक्यं विप्रदः = 'कृतद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्च वृत्तयः')

वृत्त्यर्थवबोधकं वाक्यं विग्रहः । स च लौकिकोऽलौकिकश्च द्विधा । तत्र पूर्वं भूत इति लौकिकः, पूर्वं अम् भूत सु इत्यलौकिकः । भूतपूर्वः । भूतपूर्वं चरडिति निर्देशात्पूर्वनिपातः ॥ (इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च) । वागर्थौ इव वागर्थविव ।

इति केवलसमासः ॥

अथ अव्ययीभावप्रकरणम्

अव्ययीभावः । २ । १ । ५ । अधिकारोऽयं प्राक् तत्पुरुषात् । अव्ययं

र्थान्तर्भावेण वा यो विशिष्टोऽर्थः स परार्थः, सोऽभिधीयते येन तत्परार्थाभिधानमित्यर्थः । वृत्त्यर्थवबोधकमिति । वृत्तीनां पञ्चविधानामर्थस्यावबोधकं वाक्यं विग्रह इत्यर्थः । भूतपूर्वः । पूर्व+अम्, भूत+सु इत्यलौकिकविग्रहे 'सह सुपा' इति समासे जाते समासत्वात् 'कृतद्धितसमासाश्च' इति प्रातिपदिकसञ्ज्ञायाम् 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति सुपो लुकि 'पूर्व+भूत' इत्यवशिष्टे अत्र 'प्रथमानिदिष्टं समास उपसर्जनम्' इति द्वयोरध्युपसर्जनसञ्ज्ञायाम् 'उपसर्जनं पूर्वम्' इति त्रिनिगमकाऽभावात् उभयोरपि पूर्वनिपाते प्राप्ते 'भूतपूर्वं चरट्' इति निर्देशात् भूतशब्दस्य पूर्वनिपाते, 'एकदेशविकृत' न्यायेन प्रातिपदिकत्वात्सौ, सत्वे विसर्गे च तत्सिद्धिः । इति केवलसमासः ।

अव्ययीभावः । अधिकारोऽयमिति । एकसंज्ञाऽधिकारेऽपि अनया संज्ञया समास-संज्ञा न बाध्यते इति 'प्राक्कारात्' इत्यत्रोक्तम् । अव्ययं विभक्त्योपेत्यादि । अव्यय-

मर्थावबोधकं वाक्यं विग्रहः' इति तात्पर्यम्)

इवेन समासो—'इव' शब्दके साथ समास हो, पर विभक्तिका लोप नहीं हो ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें केवलसमास समाप्त हुआ ।

अव्ययीभावः—तत्पुरुष समाससे पूर्व अव्ययीभावका अधिकार है ।

(अव्ययीभाव समास विधायक सूत्रसे अव्ययीभाव संज्ञा भी समासके साथ २ होगी)

नोटः—अव्ययीभाव समास निष्पन्न शब्द नपुंसक लिङ्ग ही होता है और उसके उत्तर पञ्चमी विभक्तिको छोड़कर सभी स्वादि विभक्तियोंके स्थानमें 'अम्' हो जाता है । केवल अकारान्त शब्दके उत्तर तृतीया और सप्तमीके स्थानमें विकल्पसे 'अम्' होगा । यथा—अधिगोपं कृष्णः । अधिगोपं कृष्णौ ॥ अधिगोपम्, अधिगोपेन वा कृष्णेन । अधिगोपं कृष्णाय । अधिगोपात् कृष्णात् । अधिगोपं कृष्णस्य । अधिगोपम्, अधिगोपे वा कृष्णे ।

विभक्तिसमीपसमृद्धिवृद्धयर्थाभावात्ययासंप्रतिशब्दप्रादुर्भावपश्चाद्य-
थानुपूर्व्ययौगपद्यसादृश्यसंपत्तिसाकल्यान्तवचनेषु । २।१।६। विभक्त्य-
र्थादिषु वर्तमानमव्ययं सुवन्तेन नित्यं समस्यते । प्रायेणाविग्रहो नित्यसमासः ।
प्रायेणास्वपदविग्रहो वा । विभक्तौ—हरि ङि अधि इति स्थिते ॥ प्रथमा-
निर्दिष्टं समास उपसर्जनम् । १। २। ४३। समासशास्त्रे प्रथमानिर्दिष्टमुपसर्जनं
स्यात् ॥ उपसर्जनं पूर्वम् । २।२।३०। समासे उपसर्जनं प्राक् प्रयोज्यम् । इत्यधेः
प्राक् प्रयोगः । सुपो लुक् । एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां स्वाधु-
त्पत्तिः । अव्ययीभावश्चेत्यव्ययत्वात्सुपो लुक् । अधिहरि ॥ अव्ययीभावश्च

मिति शब्दनिर्देशः । विभक्त्यादिरर्थनिर्देशः । उच्यन्ते इति वचनाः । कर्मणि ल्युट् ।
विभक्तिः, समीप, समृद्धि, वृद्धि, अर्थाभाव, अत्यय, असम्प्रति, शब्दप्रादुर्भाव,
पश्चात्, यथा, आनुपूर्व्य, यौगपद्य, सादृश्य, सम्पत्ति, साकल्य, अन्त, एतेषां षोड-
शानां द्वन्द्वः । ते च ते वचनाश्च इति विग्रहः । विभक्त्यर्थादिषु वाच्येष्वित्यर्थः ।
अव्ययीभावः, समासः, इति चाधिकृतम् । तदाह—विभक्त्यर्थादिष्विति । प्रथमानिर्दिष्ट-
मिति । अत्र समासपदं लक्षणया समासविधायकशास्त्रपरम् । तथा च समासविधा-
यकशास्त्रे प्रथमान्ततयोच्चारितं यत्पदं तदुपसर्जनसम्बन्धमिति निष्कृष्टोऽर्थः । उपस-
र्जनं पूर्वमिति । अत्र सूत्रे लौकिकोपसर्जनं शास्त्रीयोपसर्जनं च गृह्यते । पूर्वमित्यस्य
पूर्वं प्रयोज्यमित्यर्थ इति भावः । अधिहरि । हरौ इत्यधिहरि, अत्र 'हरि ङि अधि'

विशेष जानकारीके लिये निम्न(१) टिप्पणी (समासचन्द्रिका) देखो

अव्ययं विभक्ति—विभक्त्यर्थादिमें वर्तमान जो अव्यय, वह समर्थ सुवन्तके साथ
नित्य समस्त हो । (यही अव्ययीभाव कहलाता है)

प्रथमानिर्दिष्टं—समास शास्त्रमें प्रथमानिर्दिष्टकी उपसर्जन संज्ञा हो ।

नोटः—समास शास्त्र याने समासविधायक सूत्र, उस सूत्रघटक जो प्रथमान्त पद,
तन्निर्दिष्ट समस्यमान जो 'प्रथमान्त' हो, उसकी उपसर्जन संज्ञा हो । उदाहरण देखो—
'अधिहरि' । यहाँ समासशास्त्र हुआ 'अव्ययं विभक्ति' यह शास्त्र (सूत्र), इस सूत्रघटक
प्रथमान्त पद हुआ 'अव्ययम्' यह पद, इससे निर्दिष्ट हुआ 'अधि', इसलिए अधिकी
उपसर्जनसंज्ञा होती है—'हरि' की नहीं ।

उपसर्जनं पूर्वम्—समासमें उपसर्जनका पूर्व प्रयोग हो ।

अव्ययीभावश्च—अव्ययीभाव समास नपुंसक लिंग हो ।

(१) प्रायेण पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः । 'उन्मत्तगङ्गम्' इत्यादौ अव्ययीभावेऽपि
पूर्वपदार्थप्राधान्याभावात् प्रायेण इत्युक्तम् । स द्विधा नित्यानित्यभेदात् । स्वघटकान्यपद-
विग्रहो नित्यसमासः । स्वघटकपदविग्रहोऽनित्यसमासः ॥ तत्र नित्ये केवलनित्यो यथा—

२।४।१८। नपुंसकं स्यात् । गाः पातीति गोपाः, तस्मिन्नित्यधिगोपम् ॥ नाव्य-
यीभावादतोऽमृत्वपञ्चम्याः । २।४।८३। अदन्तादव्ययीभावात्सुपो न लुक्,
तस्य पञ्चमीं विना अमादेशः । कृष्णस्य समीपम् उपकृष्णम् ॥ तृतीयासप्तम्योर्ब-
हुलम् । २।४।८४। अदन्तादव्ययीभावात् तृतीयासप्तम्योर्बहुलमम्भावः । उपकृष्णेन-
उपकृष्णम् । बहुलग्रहणात् सुमद्रमुन्मत्तगङ्गमित्यादौ नित्यमम्भावः । मद्राणां समृद्धिः
सुमद्रम् । यवनानां व्यृद्धिर्दुर्यवनम् । मक्षिकाणामभावो निर्मक्षिकम् । हिमस्यात्ययोऽति-
हिमम् । निद्रा संप्रति न युज्यतेऽतिनिद्रम् । हरिशब्दस्य प्रकाशः इतिहरि । विष्णोः
पश्चादनुविष्णु । योग्यतावीप्सापदार्थानतिवृत्तिसादृश्यानि स्यथार्थाः । रूपस्य योग्यमनु-
रूपम् । अर्थमर्थं प्रति प्रत्यर्थम् । शक्तिमनतिक्मस्य यथाशक्ति ॥ अव्ययीभावे

इति स्थिते 'अव्ययं विभक्ति०' इति समासे 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्'
इत्यधीत्यस्योपसर्जनसञ्ज्ञायाम् 'उपसर्जनं पूर्वम्' इत्यधीत्यस्य पूर्वनिपातत्वे
'अधिहरि ङि' इति जाते समासत्वात्प्रातिपदिकत्वे 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः'
इति छेर्लुकि, एकदेशविकृतन्यायेन प्रातिपदिकत्वात्समुदायात्सौ, अव्ययीभावश्च
इत्यव्ययत्वात् 'अव्ययादाप्सुपः' इति सोर्लुकि च कृते 'अधिहरि' इति । अधिगोः
पम् । गोपि, इत्यधिगोपम्—इत्यत्र 'गोपा ङि अधि' इति स्थिते 'अव्ययं विभक्ति०'
इति समासे, सुब्लुकि 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' इति अधीत्यस्योपस-
र्जनसञ्ज्ञायाम्, 'उपसर्जनं पूर्वम्' इति तस्य पूर्वनिपाते, एकदेशविकृतन्यायेन
प्रातिपदिकत्वात् सौ, 'अव्ययीभावश्च' इत्यनेन क्लीबत्वात् 'ह्रस्वो नपुंसके
प्रातिपदिकस्य' इति गोपा इत्यस्य ह्रस्वत्वे, 'अव्ययीभावश्च' इत्यनेनाव्ययत्वात्
'अव्ययादाप्सुपः' इति सोर्लोपे प्राप्ते, तस्माद्वित्वा 'नाव्ययीभावादतोऽमृत्वपञ्चम्याः'
इति सोरमि, 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपे च 'अधिगोपम्' इति रूपम् । विष्णोः पश्चादनु-
विष्णु । अनु इत्यव्ययं पश्चादर्थं वर्तते इत्यर्थः । सूत्रे यथाशब्देन तदर्थो लक्ष्यते ।
यथार्थं विद्यमानमव्ययं समस्यते इति लभ्यते इत्यभिप्रेत्याह—योग्यतेति । यथाशक्ति ।

नाव्ययी—अदन्त अव्ययीभावसे पर 'उप्' का लुक् नहीं हो, किन्तु पञ्चमीविभक्ति को
छोड़कर अन्य समी विभक्तियों को 'अम्' आदेश हो जाय ।

तृतीया—अदन्त अव्ययीभावसे पर तृतीया और सप्तमीको बहुलप्रकार (विकल्प) से
अम्भाव (अम् आदेश) हो ।

अव्ययीभावे—'सह' को 'स' आदेश हो, अव्ययीभाव समासमें, किन्तु कालवाचक

दिशोर्मध्यम्—अपदिशम् । कृष्णस्य समीपम्=उपकृष्णम् । मद्राणां समृद्धिः सुमद्रम् । यव-
नानां व्यृद्धिः=दुर्यवनम् (विगता ऋद्धिः व्यृद्धिः) । मक्षिकाणामभावः=निर्मक्षिकम् । हिम-

चाकाले । ६।३।८१। सहस्य सः स्यादव्ययीभावे न तु काले । हरेः सादृश्यं सहस्रि ।
कालेतु—सहपूर्वाहम् । ज्येष्ठस्यानुपूर्व्येणेत्यनुज्येष्ठम् । चक्रेण युगपत्सचक्रम् ॥ सहस्रः
सख्या ससखि । क्षत्राणां संपत्तिः सक्षत्रम् । तृणमप्यपरित्यज्य सतृणमस्ति । अग्नि-
प्रत्यपर्यन्तमधीते सारिनि ॥ यथाऽसादृश्ये । २।१।७। असादृश्ये एव यथाशब्दः
समस्यते । नेह—यथा हरिस्तथा हरः ॥ यावदवधारणे । २।१।८। यावन्तः
श्लोकास्तावन्तोऽच्युतप्रणामा इति यावच्छ्लोकम् ॥ सुप्प्रतिना मात्रार्थे । २।१।९।
शाकस्य लेशः शाकप्रति ॥ विभाषा । २।१।११। अधिकारोऽयम् ॥ अपपरि-

अत्र यथेत्यव्ययं पदार्थानतिक्रमे वर्तत इत्यर्थः । तेन सह 'अव्ययं विभक्तिः' इत्या-
दिना समासे, प्रातिपदिकत्वे, 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति सुपो लुकि, 'प्रथ-
मानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' इति उपसर्जनसञ्ज्ञायाम् 'उपसर्जनं पूर्वं' इति पूर्व-
निपाते, समुदायात् सौ, 'अव्ययीभावश्च' इत्यव्ययत्वात् 'अव्ययावाप्सुपः' इति
सोर्लुकि च तत्सिद्धिः । यथाऽसादृश्य इति । सादृश्यमिच्छार्थे यथाशब्दः समस्यते सो-
ऽव्ययीभावः । यथा हरिरित्यत्र हरिहरयोः सादृश्यावगमाच्च समासः । यावदिति । अव-
धारणार्थे गम्ये यावत् शब्दः समस्यते सोऽव्ययीभावः । यावच्छ्लोकम् । 'यावन्तः
श्लोकाः तावन्तः प्रणामा' इति विग्रहे अव्ययीभावसमासे सुल्लुकि 'प्रथमानिर्दिष्टम्'
इति यावत् उपसर्जनत्वे पूर्वनिपाते सौ 'नाव्ययीभावात्' इत्यमि पूर्वरूपे यावच्छ्लो-
कम् इत्यस्य सिद्धिः । सुप्प्रतिनेति । मात्रार्थे गम्ये सुवन्तं प्रतिना समस्यते । शाक-
स्य लेशः शाकप्रति, अत्र मात्रार्थे समासे 'प्रथमानिर्दिष्टम्' इति सुवन्तस्योपसर्ज-
नत्वे तस्य पूर्वनिपाते सौ, अव्ययीभावात् अव्ययत्वासुल्लुकि, 'शाकप्रति' इति
रूपम् । विभाषा । अधिकारोऽयम् । एषैव महाविभाषेति कथ्यते । अपपरीति । पञ्च-
म्यन्तेन एते समस्यन्ते सोऽव्ययीभावः । विभाषाधिकारात्पक्षे पञ्चम्यन्तं वाक्यम् ।

परे रहनेपर नहीं हो ।

यथाऽसादृश्ये—असादृश्यमें ही 'यथा' शब्द समस्त हो । यावदवधारणे—अवधारण
अर्थमें 'यावत्' शब्द समस्त हो । सुप्प्रतिना—मात्रार्थमें वर्तमान 'प्रति' के साथ समर्थ
सुवन्तका समास हो ।

विभाषा—यह अधिकार सूत्र है । अपपरिवहि—अप, परि, वहिस् और अब्—ये पञ्च-

स्यात्ययः = अतिहिमम् । निद्राऽसम्प्रति = अतिनिद्रम् (निद्रा न युज्यत इत्यर्थः) । हरि-
शब्दस्य प्रकाशः = इतिहरि । रूपस्य योग्यम्—अनुरूपम् । हरेः सादृश्यं—सहस्रि । सदृशः
सख्या = ससखि । क्षत्राणां सम्पत्तिः = सक्षत्रम् । यावन्तः श्लोकास्तावन्तः = यावच्छ्लोकम्
(अच्युतप्रणामाः) । शाकस्य लेशः = शाकप्रति । अक्षेण विपरीतं वृत्तम् = अक्षपरि ।
शलाकया विपरीतं वृत्तं = शलाकापरि ।

बहिरञ्चवः पञ्चम्या । २।१।१२। अपविष्णु संसारः—अप विष्णोः । परिविष्णु—
परि विष्णोः । बहिर्वनम्—बहिर्वनात् । प्राग्वनम्—प्राग्वनात् ॥ तिष्ठद्गुप्रभृतीनि
च । २।१।१७। एतानि निपात्यन्ते । तिष्ठन्ति गावो यस्मिन्काले स तिष्ठद्गु दोहन-
कालः ॥ पारे मध्ये षष्ठ्या वा । २।१।१८। पारमध्यशब्दौ षष्ठ्यन्तेन सह वा
समस्येते । एदन्तत्वं चानयोर्निपात्यते । पारेगङ्गम् । गङ्गापारम् । मध्येगङ्गम् ।
गङ्गामध्यम् । महाविकल्पेन वाक्यमपि ॥ संख्या वंश्येन । २।१।१९। वंशो
द्विधा—विद्यया जन्मना च । तत्र भवो वंश्यः । तद्वाचिना सह संख्या समस्यते ।
द्वौ मुनी वंश्यौ—द्विमुनि । व्याकरणस्य त्रिमुनि । विद्यातद्वतामभेदविवक्षायां—

अपविष्णु । अप विष्णोरिति विग्रहे परि विष्णोरिति विग्रहे च 'अपपरि' इति समासे
सुब्लुकि अपपर्योरुपसर्जनत्वे पूर्वनिपाते सौ अव्ययत्वात्सुब्लुकि प्रयोगसिद्धिस्तद-
भावे वाक्यमिति भावः । एवं बहिर्वनम्, प्राग्वनम् । अत्रापि पञ्चम्यन्तेन समस्तत्वे
पूर्वनिपाते सौ 'नाव्ययी' इत्यमि पूर्वरूपे रूपसिद्धिः । 'तिष्ठद्गु' इति । एतानि निपा-
त्यन्ते । तिष्ठद्गु । तिष्ठन्ति यावो यस्मिन् इति विग्रहे निपातनात्समासे सुब्लुकि
तिष्ठत् शब्दस्य पूर्वनिपाते सौ अव्ययत्वात्सुब्लुकि 'तिष्ठद्गु' इति रूपसिद्धिः । पारे
मध्ये षष्ठ्या वेति । षष्ठ्यन्तेन वा पारमध्यौ समस्येते ! एदन्तत्वं निपातनात् । पक्षे
विभाषाधिकारात् षष्ठ्यन्तं वाक्यमपि । पारेगङ्गम्—मध्येगङ्गम् । पारमध्ययोगङ्गापदेन
समस्तत्वे सुब्लुकि 'प्रथमा०' इति उपसर्जनत्वे पूर्वनिपाते सौ नपुंसकत्वे ह्रस्वे
'नाव्ययी' इत्यमि पूर्वरूपे रूपसिद्धिः । पक्षे गङ्गापारम्—गङ्गामध्यम् । अत्र गङ्गायाः
पारं मध्यं वा इत्यत्र 'षष्ठी' इति समासे सुब्लुकि सुपि अमि रूपे भवतः । तदभावे
विभाषाधिकारात् 'गङ्गायाः पारम्' 'गङ्गायाः मध्यम्' इति वाक्यद्वयमपि
साधु । संख्येति । वंशे भवो वंश्यः । तद्वाचिना संख्यावाचकः समस्यते ।
द्विमुनि—त्रिमुनि । अत्र द्वित्रिपदयोर्मुनिपदेन समासे सुब्लुकि संख्यावो-
चक्रयोः पूर्वनिपाते नपुंसकत्वे सौ सुब्लुकि 'द्विमुनि—त्रिमुनि' इति प्रयोगद्वयं साधु ।

न्यन्त के साथ समस्त हो । तिष्ठद्गु—तिष्ठद्गु प्रभृति निपातन हो । पारेमध्ये—पार
और मध्य शब्द षष्ठ्यन्तके साथ समस्त हों, विकल्पसे (समासके साथ ही साथ एदन्तत्व
भी निपातन होता है) ।

संख्यावंश्येन—वंश्यवाची सुबन्तके साथ संख्यावाचक समर्थ सुबन्त समस्त हो ।

तत्र नित्ये क्रियान्वितो नित्योऽव्ययीभावो यथा—हरा इति = अधिहरि (तिष्ठति
ब्रह्मोण्डम्) । विष्णोः पश्चात् = अनुविष्णु (प्रकाशते ब्रह्मा) । शक्तिमनतिक्रम्य = यथा-
शक्ति (ददाति देवदत्तः) । नृगमध्यपरित्यज्य = सतृणम् (अग्नि देवदत्तः) । अग्निप्रत्य-
यव्यन्तं = साभि (अवीते छात्रः) । उ०उत्पानुपूर्व्येण = अनुज्येष्ठम् (संस्कृतं ग्याः पुत्राः) ।

त्रिमुनि व्याकरणम् । एकविंशतिभारद्वाजम् ॥ नदीभिश्च । २।१।२०। नदीभिः संख्या वा समस्यते । समाहारे चायमिष्यते । सप्तगङ्गम् । द्वियमुनम् ॥ अन्यपदार्थे च संज्ञायाम् । २।१।२१। अन्यपदार्थे सुबन्तं नदीभिः सह नित्यं समस्यते संज्ञायाम् । विभाषाऽधिकारेऽपि वाक्येन संज्ञाऽनवगमादिह नित्यसमासः । उन्मत्तगङ्गं नाम देशः । लोहितगङ्गम् ॥ तद्धिताः । ४।१।७६। आ पञ्चमसमाप्तेरधिकारोऽयम् ॥ अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः । ५।४।१०७। शरदादिभ्यष्टच् स्यात्समासान्तोऽव्ययीभावे । शरदः समीपम्—उपशरदम् । प्रतिविपाशम् । शरद् । विपाश् । अनस् । मनस् । उपानह् । दिव् । हिमवत् । अनड्डह् । दिश् । दृश् । विश् । चेतस् । चतुर् । त्यद् । तद् । यद् । कियत् । 'जराया जरस् च' । उपजरसम् ॥ अनश्च । ५।४।१०८। अन्नन्तादव्ययीभावाष्टच् ॥ नस्तद्धिते । ६।४।१४४। नान्तस्य भस्य टेलोपस्तद्धिते । उपराजम् । अध्यात्मम् ॥ नपुंसकादन्यतरस्याम्

त्रिमुनि व्याकरणमिति । अत्र विद्यायाः तद्वृत्तां चाभेदविवक्षायामेव तत्प्रयोगसिद्धिः । एकविंशतिभारद्वाजम् । अत्रापि समासे सुब्लुकि सौ नपुंसकत्वे सुब्लुकि रूपसिद्धिः । उपजरसमिति । जरायाः समीपमित्यर्थः । सामीप्ये उपेत्यव्ययस्य जरायाः इति पष्ठन्तेन अव्ययीभावसमासे कृते टच्, सुब्लुक्, उपेत्यस्य पूर्वनिपातः टचो विभक्तित्वाभावात् तस्मिन् परेऽप्राप्ते जरसि, 'जराया जरस् च' अनेन जरस्, टजन्ताद्यथायथं सुपः अस्माव इति भावः । उपराजमिति । राज्ञः समीपमित्यर्थः । सामीप्ये उपेत्य-

नदीभिश्च—नदीवाचक सुबन्तकं साथ संख्यावाचक समर्थ सुबन्त समस्त हो, विकल्पसे । समाहारे—नदीवाचक का यह समास समाहारमें ही इष्ट है । अन्यपदार्थे च—अन्यपदार्थमें वर्तमान जो सुबन्त वह नदीवाचक समर्थ सुबन्तके साथ नित्य समस्त हो, संज्ञामें ।

तद्धिताः—पञ्चम अध्यायकी समाप्ति पर्यन्त यह अधिकार है ।

अव्ययीभावे शरत्—शरदादिसे समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो, अव्ययीभावमें ।

जराया—'जरा' शब्दको 'जरस्' आदेश हो और चकारात् 'टच्' प्रत्यय भी हो, अव्ययीभावमें । अनश्च—अन्नन्त अव्ययीभावसे समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो ।

नस्तद्धिते—नान्त भसंज्ञक 'टि' का लोप हो, तद्धितके परे । नपुंसकादन्य—अन्नन्त

अनित्ये केवलोऽनित्योऽव्ययीभावो यथा—गङ्गाया अनु = अनुगङ्गम् । (गङ्गादैर्ध्व-सदृशदैर्ध्वोपलक्षितमित्यर्थः) । गङ्गायाः पारः = पारेगङ्गम् । गङ्गायाः मध्यं = मध्येगङ्गम् । तिष्ठन्ति गावो यस्मिन् = तिष्ठद्गु (दोहनकालः) ।

अथ अनित्ये क्रियान्वितोऽनित्योऽव्ययीभावो यथा—अर्थमर्थं प्रति=प्रत्यर्थम् (उपदिशति गुरुः) । वनाद्बहिः = बहिर्वनम् (संचरन्ति व्याघ्राः) वनात् प्राक् = प्राग्वन्

। ५।४।१०२। अन्नन्तं यत् क्लीवं तदन्तादव्ययीभावाद्वाच् वा स्यात् । उपचर्मम्—
उपचर्म ॥ झयः । ५।४।१११। मयन्तादव्ययीभावाद्वाच् वा स्यात् । उपसमित्—
उपसमिधम् ॥ नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः । ५।४।११०। वा टच् स्यात् ।
उपनदम् । 'यस्येति चे'ति ह्रलोपः । उपनदीत्यादि ॥ गिरेश्च सेनकस्य । ५।४।११२।
टच् वा स्यात् । उपगिरम् । उपगिरि ॥ (प्रतिपरसमनुस्योऽक्ष्णः) टच् स्यात् ।
अक्ष्णोऽभिमुखं प्रत्यक्षम् । अक्ष्णः परं परोक्षम् । अत एव समासः । परोक्षे लङिति
निपातनात्परस्यौकार इत्यादि ॥ इत्यव्ययीभावप्रकरणम् ॥

स्याव्ययीभावः । 'अनश्च' इति टच् । सुब्लुक्, टिलोपः, उपराजशब्दाद्यथायथं
सुप्, अम्भावः । टचि परे 'अव्ययानां भमात्रे टिलोपः' इत्यस्याप्रवृत्तिः, टजन्त-
स्यैवाव्ययीभावसमासत्वेन अव्ययत्वात् । अतो 'नस्तद्धिते' इत्यारम्भः । नदीपौर्ण-
मास्येति । टच् समासान्तो वेत्यर्थः । उपनदम् । नद्याः समीपमित्यर्थे समासे सुब्लुकि
उपस्य पूर्वनिपाते 'उपनदी' इति जाते टचि भसंज्ञायां 'टिः' इति ईलोपे सौ नपुंस-
कत्वे 'नाव्ययी' इत्यमि पूर्वरूपे रूपम् । टजभावे ह्रस्वे सुब्लुकि 'उपनदि' इति
द्वितीयं रूपम् । गिरेश्चेति । सेनकमहर्षेर्मते गिर्यन्ताद्वा टच् । उपगिरम्-उपगिरि ।
पूर्वचद्रूपसिद्धिः । प्रतीति । अक्षिशब्दात् टच् स्यात् । प्रत्यक्षम्-परोक्षम् । अक्ष्णोऽभि-
मुखं अक्ष्णः परमित्यर्थे च समासान्तविधानसामर्थ्यात्समासे सुब्लुकि प्रत्यक्षि-
परोक्षि इति जाते 'परोक्षे लिट्' इति निपातनात् ओकारे 'प्रतिपर' इति टचि भसं-
ज्ञायां 'टिः' इति टेलोपे सावमि पूर्वरूपे सिद्धिः ॥ इत्यव्ययीभावः ॥

जो क्लीव, तदन्त जो अव्ययीभाव, उससे समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो, विकल्पसे ।

झयः—झयन्त अव्ययीभावसे समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो, विकल्पसे ।

नदीपौर्ण—नदी, पौर्णमासी और आग्रहायणी शब्दसे अव्ययीभावमें समासान्त 'टच्'
प्रत्यय हो, विकल्पसे । गिरेश्च—गिरि शब्दान्त अव्ययीभावसे समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो,
विकल्पसे । प्रतिपर—प्रति, पर, सम् और अनुसे पर जो 'अक्षि' शब्द, उससे अव्ययीभाव
समासमें समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो, विकल्पसे ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें अव्ययीभाव प्रकरण समाप्त हुआ ।

(चरन्ति पशवः) । अग्नेः अभि = अभ्यग्नि । अग्निं प्रति = प्रत्यग्नि (पतन्ति शलभाः) ।
वनमनु = अनुवनं (गतोऽग्निः, वनस्य समीपं गत इत्यर्थः) मुक्तेः आ = आमुक्ति
(संसारः, मुक्तिं मर्यादीकृत्य संसारस्तिष्ठतीत्यर्थः) । बालेभ्य आ = आबालं (हरि-
भक्तिः, बालानभिग्याप्य हरिभक्तिमुक्तये प्रभवतीत्यर्थः) । इत्यव्ययीभावः ।

अथ तत्पुरुषसमासप्रकरणम्

तत्पुरुषः । २।१।२२। अधिकारोऽयं प्राग्बहुव्रीहेः ॥ द्विगुश्च ॥ २।१।२३।
तत्पुरुषसंज्ञः ॥ द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः ॥ २।१।२४।
द्वितीयान्तं श्रितादिप्रकृतिकैः सुबन्तैः सह वा समस्यते । कृष्णं श्रितः—कृष्णश्रितः ।

तत्पुरुषः । प्रागति । 'शेषो बहुव्रीहिः' इत्यतः प्रागित्यर्थः । कृष्णश्रितः । 'कृष्ण
अम् श्रित सु' इत्यलौकिकविग्रहे 'द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः' इति
समासे 'कृतद्धितसमासाश्च' इति प्रातिपदिकत्वे, 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति
सुपो लुकि, 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' इति द्वितीयान्तस्य कृष्णमित्यस्यो-
पसर्जनसंज्ञायाम्, 'उपसर्जनं पूर्वम्' इति पूर्वनिपाते, एकदेशविकृतन्यायेन

तत्पुरुषः—बहुव्रीहिके पूर्व तत्पुरुषका अधिकार है ।

नोटः—तत्पुरुषमें जितने समासविधायक सूत्र हैं, उन सबसे समासके साथ साथ तत्पु-
रुपसंज्ञा भी होगी ।

द्विगुरच—द्विगु समास भी तत्पुरुषसंज्ञक हो ।

नोटः—तत्पुरुषका भेद 'कर्मधारय' और कर्मधारयका भेद 'द्विगु' समास कहलाता है ।

तत्पुरुष—जिस समासमें समस्त पदका अन्तिम खण्ड प्रधान हो और सभी खण्ड
सम्बोधन तथा कर्ताको छोड़कर अन्य किसी भी कारककी विभक्तिका अर्थ लेकर परस्पर
सम्बद्ध हों, उसे तत्पुरुष समास कहते हैं । जैसे—शोकाकुलः । मधुरमिश्रः आदि ।

कर्मधारय—जिस तत्पुरुष समासमें विशेष्य-विशेषण या उपमान-उपमेयके समा-
नाधिकरण (विशेष्य-विशेषणभावापन्न) का बोध हो, उसे कर्मधारय समास कहते हैं ।
(इसमें उत्तर पदका अर्थ प्रधान रहता है) जैसे—दीर्घाकारः । चन्द्रमुखः, आदि ।
कर्मधारय समासमें दोनों पदोंमें सम्बन्धको व्यक्त करनेवाले शब्दके लुप्त रहनेपर वह
समास 'मध्यमपदलोपी समास' कहलाता है । जैसे—'पर्णनिर्मिता शाला पर्णशाला'
'शाकप्रियः पार्थिवः शाकपार्थिवः' आदि । द्विगु—कर्मधारय-सामासिक शब्दका पूर्व
पद संख्यावाचक होनेसे वह समास द्विगु समास कहलाता है । यह समास अधिकतर
समाहार अर्थमें और एकवचनान्त नपुंसकलिङ्ग होता है । इसके बहुतसे समस्त पद अनि-
यमितरूपसे बनते हैं । जैसे—त्रिलोकी । पञ्चगवम्, आदि । विशेष जानकारीके लिए
निम्न (१) टिप्पणीमें 'समासचन्द्रिका' देखो ।

द्वितीयाश्रिता-द्वितीयान्त पद, श्रितादिप्रकृतिक सुबन्तके साथ समस्त हो, विकल्पसे ।

(१) प्रायेणोत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषः । (अतिमालः, निष्कोशाम्बः. इत्यादावुत्तर-
पदार्थप्राधान्याभावात्प्रायेणेति) स द्विधा व्यधिकरणः समानाधिकरणश्चेति । तत्र भिन्नवि-
भक्तिकपदघटितो व्यधिकरणः । सोपि द्विधा अनित्यो नित्यश्च । तत्रानित्यः सप्तविधः ।

इत्यादि ॥ तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन । २।१।३०। तृतीयान्तं तृतीया-
न्तार्थकृतगुणवचनेनार्थेन च सह प्राग्वत् । शङ्कुलया खण्डः-शङ्कुलाखण्डः । धान्ये-
नार्थो-धान्यार्थः । तत्कृतेति किम् ? अक्षणा काणः ॥ पूर्वसदृशसमोनार्थकलह-
निपुणमिश्रश्लक्ष्णैः । २।१।३१। तृतीयान्तमेतैः प्राग्वत् । मासपूर्वः । मातृ-
सदृशः । पितृसमः । ऊनार्थे-माषेणं कार्षापणम् । माषविकलम् । वाक्कलहः ।
आचारनिपुणः । गुडमिश्रः । आचारश्लक्ष्णः ॥ (अवरस्योपसंख्यानम्) ।
मासावरः ॥ अन्नेन व्यञ्जनम् । २।१।३४। संस्कारकद्रव्यवाचकं तृतीयान्तमन्नेन

प्रातिपदिकत्वात्सौ, रत्वे, विसर्गे च तत्सिद्धिः । शङ्कुलाखण्डः । 'शङ्कुला टा खण्ड
सु' अत्र 'तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन' इति समासे प्रातिपदिकत्वे, सुपो लुकि,
तृतीयान्तस्य प्रथमानिर्दिष्टत्वात्पूर्वनिपाते, समुदायात्सौ, सस्य रत्वे, रेफस्य विस-
र्गत्वे च तत्सिद्धिः । धान्यार्थः । 'धान्य टा अर्थ सु' इत्यलौकिकविग्रहवाक्ये 'तृतीया
तत्कृतार्थेन गुणवचनेन' इति समासे, प्रातिपदिकत्वे, सुपो लुकि, तृतीयान्तस्य
पूर्वनिपाते समुदायात्सौ, रत्वे, विसर्गे च तत्सिद्धिः । अक्षणा काण इति । नहि अक्षणा
काणत्वं कृतम्, किन्तु रोगादिनेति भावः । पूर्वसदृशेति । पूर्व-सदृश-सम-ऊनार्थ-
कलह-निपुण-मिश्र-श्लक्ष्ण-एतैः सह तृतीयान्तं पदं समस्यते स तत्पुरुष इत्यर्थः ।
मासपूर्वः-मातृसदृशः-पितृसमः-आचारनिपुणः-माषेणम्-माषविकलम्-वाक्कलह-
गुणमिश्रः-आचारश्लक्ष्णः । एषु मासेन पूर्वः-मात्रा सदृशः-पित्रा समः-आचारेण
निपुणः-माषेण ऊनम्-माषेण विकलम्-वाक्का कलहः-गुणेन मिश्रः-आचारेण श्लक्ष्णः
इति विग्रहेषु तृतीयान्तैः सह समासे सुब्लुकि, तृतीयान्तस्योपसर्जनत्वे पूर्वनिपाते
समासत्वात्प्रातिपदिकत्वे सुवादिकार्ये रूपाणां संसिद्धिः । अवरस्येति । तृतीयान्तेन
समसनमुपसंख्यानमित्यर्थः । मासावरः । मासेनावर इत्यर्थे वार्तिकबलात्समासे
सुब्लुकि मासस्य पूर्वनिपाते सुवादिकार्ये रूपसिद्धिः । अन्नेनेति । संस्कारकद्रव्य-
वाचकं व्यञ्जनम् । तृतीयान्तं तदन्नवाचकेन समस्यते । रथ्योदनम् । दध्नोपसिक्तमोद-

तृतीया-तृतीयान्त पद, तृतीयान्तार्थकृत गुणवचनके साथ और अर्थ शब्दके साथ समस्त
हो, विकल्पसे । पूर्वसदृश-तृतीयान्त पद, पूर्वादि प्रकृतिक समर्थ सुबन्तके साथ समस्त
हो, विकल्पसे । अवरस्योप-तृतीयान्त पद, अवर प्रकृतिक समर्थ सुबन्तके साथ समस्त
हो, विकल्पसे । अन्नेन-संस्कारद्रव्य वाचक तृतीयान्त पद, समर्थ सुबन्तके साथ समस्त
तत्त्वमित्येषु १. प्रथमातत्पुरुषो यथा-अथ पिप्पल्याः = अधपिप्पली । पूर्व कायस्य-
पूर्वकायः । प्राप्नो ग्रामं = प्राप्तग्रामः । आपन्नो देवान् = आपन्नदेवः । २ द्वितीयातत्पुरुषो
यथा-कृष्णं श्रितः = कृष्णश्रितः । पितरौ प्राप्नः = पितृप्राप्तः । रामान् आपन्नः = रामापन्नः ।
३. तृतीयातत्पुरुषो यथा-शङ्कुलया खण्डः = शङ्कुलाखण्डः । मासेन पूर्वः = मासपूर्वः । पितृभ्यां

सह प्राग्वत् । दध्ना उपसिक्तमोदनं दध्योदनम् ॥ भक्ष्येण मिथ्रीकरणम् । २।१।
 ३५। गुडेन मिश्रा धानाः—गुडधानाः ॥ कर्तृकरणे कृता बहुलम् । २।१।३२।
 कर्तरि करणे च तृतीया कृदन्तेन बहुलं प्राग्वत् । हरिणा त्रातो हरित्रातः ।
 नखभिन्नः ॥ (कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्) । नखनिभिन्नः ॥
 चतुर्थी तदर्थार्थवलिहितसुखरक्षितैः । २।१।३६। चतुर्थ्यन्तार्थाय यत्तद्वाचिना-
 र्थादिभिश्च चतुर्थ्यन्तं वा प्राग्वत् । यूपाय दारु—यूपदारु । तदर्थेन प्रकृतिविकृति-
 भाव एवेष्यते । तेनेह न—रन्धनाय स्थाली । अश्वघासादयस्तु पृथीतत्पुरुषाः ॥
 (अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्) । द्विजायायं

नमित्यर्थं समासे पूर्वनिपाते यणि सुवादिकार्ये प्रयोगसिद्धिः । पक्षे वाक्यमपि ।
 नखनिभिन्नः । नखैर्निभिन्नः—नखनिभिन्नः इत्यत्र कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि
 ग्रहणात् 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इति [समासे, प्रातिपदिकसंज्ञायाम् 'सुपो
 धातुप्रातिपदिकयोः' इति सुपो लुकि, नखस्य पूर्वनिपाते विभक्तिकार्यं च तत्सिद्धिः ।
 चतुर्थी तदर्थार्थ । प्रत्ययग्रहणपरिभाषया चतुर्थीत्यनेन चतुर्थ्यन्तं गृह्यते । तदर्थ, अर्थ,
 वलि, हित, सुख, रक्षित एषां द्वन्द्वः । चतुर्थ्यन्तम् एतैः पङ्क्तिभिः समस्यते, स
 तत्पुरुष इति फलितम् । तदर्थेत्यत्र तच्छब्देन चतुर्थ्यन्तार्थो विवक्षितः तस्मै
 चतुर्थ्यन्तार्थाय इदं तदर्थम् । 'अर्थेन नित्यसमासः' इति वक्ष्यमाणः समासः ।
 चतुर्थ्यन्तवाच्यप्रयोजकं यत् तत् तदर्थमिति पर्यवस्यति । तदाह—चतुर्थ्यन्तार्थावे-
 त्यादिना । रन्धनायेति । पाकायेत्यर्थः । स्थास्यश्चतुर्थ्यन्यवाच्यपाकार्थत्वेऽपि प्रकृति-

हो, विकल्पसं । भक्ष्येण—मिथ्रीकरण वाचक तृतीयान्त पद, भक्ष्य वाचक समथ सुबन्तके
 साथ समस्त हो, विकल्पसे । कर्तृकरणे—कर्ता और करणमें जो तृतीया, वह कृदन्तके साथ
 बहुल प्रकारसे समस्त हो । कृद्ग्रहणे—कृत् ग्रहणमें गतिकारक पूर्वका भी ग्रहण हो ।

चतुर्थी—चतुर्थ्यन्तार्थके लिये जो है, तद्वाचक जो समर्थ सुबन्त उसके साथ और
 अर्थादि प्रकृतिक समर्थ सुबन्तके साथ चतुर्थ्यन्त समस्त हो, विकल्पसे ।

नोटः—'यूपाय दारु यूपदारु' यहां पर 'यूपाय' यह चतुर्थ्यन्त है, इसका अर्थ हुआ
 'यूप' इसके लिये जो ('दारु') है, तद्वाचक समर्थ सुबन्त हुआ 'दारु सु' इसके साथ
 चतुर्थ्यन्त 'यूपाय' का समास होता है ।

अर्थेन—अर्थ शब्दके साथ चतुर्थ्यन्तका नित्य समास हो और विशेष्यलिङ्गता भी हो ।

सदृशः=पितृसदृशः । मधुरेः मिश्रः=मधुरामिश्रः । ४. चतुर्थीतत्पुरुषो यथा—यूपाय दारु=
 यूपदारु । पितृभ्यां वलिः=पितृवलिः । गोभ्यो हितं=गोहितम् । ५. पञ्चमीतत्पुरुषो यथा—चो-
 राङ्ग्यं—चोरभयम् । पितृभ्यां भीतः=पितृभीतः । पापेभ्योऽपेतः—पापापेतः । ६. षष्ठीतत्पुरुषो
 यथा—भुवनस्य धरः=भुवनधरः । राज्ञः पुरुषः=राजपुरुषः । पित्रोर्भक्तः=पितृभक्तः ।

द्विजार्थः स्रपः । द्विजार्था यवागूः । द्विजार्थं पयः । भूतबलिः । गोहितम् । गोसुखम् ।
गोरक्षितम् ॥ पञ्चमी भयेन । २।१।३७। चोराद् भयं चोरभयम् ॥ स्तोका-
न्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन । २।१।३९। पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः । ६।३।२।
अलुगुत्तरपदे । स्तोकान्मुक्तः । अल्पान्मुक्तः । अन्तिकादागतः । अभ्याशादागतः ।
दूरादागतः । विप्रकृष्टादागतः । कृच्छ्रादागतः ॥ षष्ठी । २।२।८। सुवन्तेन प्राग्वत् ।
राज्ञः पुरुषः—राजपुरुषः । याजकादिभिश्च । २।२।९। षष्ठ्यन्तं समस्यते । वक्ष्य-
माणस्यापवादः । ब्राह्मणयाजकः । देवपूजकः । याजक, पूजक, परिचारक, परि-
वेपक, स्नातक, अध्यापक, उत्पादक, उद्वर्तक, होतृ, पोतृ, भर्तृ, रथगणक,

विकृतिभावविरहान्न समासः । द्विजार्था यवागूरिति । द्विजायेयमिति विग्रहः । अर्थ-
शब्दस्य नित्यपुंलिङ्गत्वेऽपि 'परबलिङ्गम्' इति पुंलिङ्गं बाधित्वा अनेन विशेष्य-
लिङ्गानुसारेण स्त्रीलिङ्गता । चोरभयम् । 'चोर ङसि भय सु' इत्यत्र 'पञ्चमी भयेन'
इति समासे सुपो लुकि, पञ्चम्यन्तस्य पूर्वनिपाते समुदायात्सौ, विभक्तिकार्यं च
तत्सिद्धिः । स्तोकान्तिक । स्तोक, अन्तिक, दूर, एतदर्थकानि, कृच्छ्र एतानि पञ्चम्य-
न्तानि कप्रत्ययान्तेन समस्यन्त इत्यर्थः । अर्थग्रहणं स्तोकान्तिकदूरेषु सम्बध्यते ।
स्तोकान्मुक्तः । 'स्तोक ङसि, मुक्त सु' इत्यत्र 'स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन'
इति समासे, प्रातिपदिकत्वासुपो लुकि प्राप्ते, 'पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः' इति
पञ्चम्या अलुकि, 'टाङसिङ्सामिनात्स्याः' इति ङसेरादादेशे सवर्णदीर्घे, समुदायात्सौ,
रुवे विसर्गे च तत्सिद्धिः । राजपुरुषः । 'राजन् असु पुरुष स्' इत्यलौकिकविग्रह-
वाक्ये 'षष्ठी' इत्यनेन समासे सति 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति सुब्लुकि
अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिं प्रत्ययलक्षणेनाश्रित्य 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपे,
'विभक्तिकार्यं च कृते 'राजपुरुषः' इति सिद्धम् । याजकादिभ्यश्चेति । याजकादिगण-
पठितैः षष्ठ्यन्तं समस्यते । ब्राह्मणयाजकः, देवपूजकः । ब्राह्मणस्य याजकः—देवस्य
पूजकः इति विग्रहे 'याजकादिभ्यश्च' इति समासे सुब्लुकि षष्ठ्यन्तस्य पूर्वनिपाते

पञ्चमी भयेन—भयप्रकृतिक समर्थ सुवन्तके साथ पञ्चम्यन्त समस्त हो, विकल्पसे ।

स्तोकान्तिक—क्तान्त प्रकृतिक समर्थ सुवन्तके साथ स्तोकादि समस्त हो, विकल्पसे ।

पञ्चम्याः—स्तोकादिसे पर पञ्चमीका अलुक् हो, उत्तरपदके परे ।

षष्ठी—समर्थ सुवन्तके साथ षष्ठ्यन्तका समास हो । याजकादिभिश्च—याजकादि-

नराणां पतिः = नरपतिः । ७. सप्तमीतत्पुरुषो यथा—अक्षेपु शौण्डः=अक्षशौण्डः । कर्मणि
कुशलः = कर्मकुशलः । कपालयोः सिद्धः = कपालसिद्धः । इत्यनित्यव्यधिकरणः ।

अथ नित्यः । स द्विविधः । सुवन्तसमासः कृदन्तसमासश्चेति । तत्र नित्ये व्यधिकरणे

पत्तिगणक, इति याजकादिः ॥ (गुणात्तरेण तरलोपश्च) । तरवन्तं यद् गुणवाचि तेन समासः । सर्वेषां श्वेततरः सर्वश्वेतः । सर्वेषां महत्तरः—सर्वमहान् ॥ न निर्धारणे । २।२।१०। षष्ठी न समस्यते । नृणां द्विजः श्रेष्ठः ॥ पूरणगुण-सुहितार्थसद्व्ययतव्यसमानाधिकरणेन । २।२।११। पूरणार्थैः सदादिभिश्च षष्ठी न समस्यते । पूरणे—सतां षष्ठः । गुणे—काकस्य काष्ण्यम् । सुहितार्थास्तु-पत्यर्थाः फलानां सुहितः । सत्-द्विजस्य कुर्वन् कुर्वाणो वा । ब्राह्मणस्य कृत्वा । पूर्वोत्तरसाहचर्यात् कृदव्ययमेव गृह्यते । तेन तदुपरीत्यादि सिद्धम् । ब्राह्मणस्य कर्त-

सुबादिकार्ये 'ब्राह्मणयाजकः' 'देवपूजकः' इति रूपे भवतः । गुणादिति । गुणात् गुणवाचकात् यः तरप् तेन तरवन्तेन समासस्तरपो लोपश्चेत्यर्थः । सर्वश्वेतः । सर्वेषां श्वेततर इति विग्रहे 'गुणात्' इति समासे सुब्लुकि तरपो लोपे सुबादिकार्ये 'सर्वश्वेतः' इति रूपम् । सर्वमहान् । सर्वेषां महत्तरः सर्वमहानिति विग्रहे समासे सुब्लुकि तरपो लोपे षष्ठ्यन्तस्य पूर्वनिपाते सुबादि-कार्ये 'सर्वमहान्' इति रूपम् । न निर्धारण इति । 'षष्ठी' इत्यतः षष्ठीत्यनुवर्तते । षष्ठी न समस्यते निर्धारणे । नृणां द्विजः श्रेष्ठः, अत्र नृषु द्विजस्य श्रेष्ठत्वेन निर्धारण-त्वान्न समास इत्यर्थः । पूरणेति । अत्रापि षष्ठीत्यनुवर्तते 'न निर्धारणे' इत्यतो नेति च । क्रमशः उदाहरति । पूरणे 'सतां षष्ठः' अत्र षण्णां पूरणः षष्ठ इति पूरणार्थप्रत्य-यत्वेन न समासः । गुणे 'काकस्य काष्ण्यम्' अत्र कृष्णे गुणस्तस्य भावः काष्ण्यम् इति गुणेन न समासः । सुहितार्थास्तुपत्यर्थाः 'फलानां सुहितः' अत्र सुहितस्य योगे न समासः । सत्-द्विजस्य कुर्वन्-कुर्वाणः' अत्र शतृशानचोः 'तौ सत्' इति सत्संज्ञाविधानान्न तेन षष्ठ्यन्तस्य समासः । अव्ययम्-ब्राह्मणस्य कृत्वा 'कृत्वातो-सुन्कसुनः' इति क्त्वाप्रत्ययस्याव्यये परिगणनात् न तेन समासः । कृदव्ययस्यैव ग्रहणं भवति न तद्धितस्य, तेन 'तदुपरि' इत्यादीनां सिद्धिः संभवत्येवेति भावः । तव्य-ब्राह्मणस्य-कर्तव्यम्' इति तव्यान्तेन न समासः । समानाधिकरणानां समा-

प्रकृतिक समर्थ सुबन्तके स्त्री षष्ठ्यन्तका समास हो, विकल्पसे । गुणात्तरेण—तरवन्त जो गुणवाची शब्द, उसके साथ षष्ठ्यन्त समस्त हो और तरप् प्रत्ययका लोप भी हो ।

न निर्धारणे—निर्धारणमें ('यतश्च निर्धारणे' से विहित) जो षष्ठी, वह सुबन्तके साथ समस्त नहीं हो ।

पूरणगुण—पूरण, गुण और सुहितार्थक प्रत्यय तथा सत् (शतृ-शानच्), अव्यय, तव्य और समानाधिकरणके साथ षष्ठी समस्त नहीं हो ।

तत्पुरुषे सुबन्तसमासो यथा—द्विजायाऽयं = द्विजार्थो (वेदः) । पितृभ्यामियं = पित्रार्थो (पजा) । देवेभ्य इदं = देवार्थम् (हविः) । अतिक्रान्तो मालाम्=अतिमालः । अवकुष्ठः

व्यम् । तक्षकस्य सर्पस्य ॥ क्तेन च पूजायाम् । २।२।१२। मतिबुद्धीति सूत्रेण विहितो यः क्तस्तदन्तेन षष्ठी न समस्यते । राज्ञां मतो बुद्धः पूजितो वा ॥ अधिकरणवाचिना च । २।२।१३। क्तेन षष्ठी न समस्यते । इदमेषामासितं गतं भुक्तं वा ॥ कर्मणि च । २।२।१४। उभयप्राप्तौ कर्मणीति या षष्ठी सा न समस्यते । आश्वर्यो गवां दोहोऽगोपेन ॥ तुजकाभ्यां कर्तरि । २।२।१५। कर्त्रर्थतुजकाभ्यां षष्ठ्या न समासः । अपां स्रष्टा । वज्रस्य भर्ता । ओदनस्य पाचकः ॥ कर्तरि च । २।२।१६। कर्तरि षष्ठ्या अकेन न समासः । भवतः शायिका ॥ पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिककरणे । २।२।१७। अवयविना सह पूर्वादयः समस्यन्ते, एकत्वसंख्याविशिष्टश्चेदवयवी । षष्ठीसमासापवादः । पूर्वं कायस्य-पूर्वकायः । अपरकायः । एकदेशिना किम् ? पूर्वं नाभेः कायस्य । एकाधिकरणे किम् ? पूर्वश्छात्राणाम् । अर्थं नपुंसकम् । २।२।२। समांशवाच्यर्थशब्दो नित्यं क्लीबे स प्राग्वत् । अर्थं पिप्पल्याः-

नमधिकरणं ययोर्येषां वा तैर्न समासः । अधिकरणेति । वतान्तेन षष्ठी न समस्यते । अत्र 'षष्ठी' इत्यतः षष्ठीति 'न निर्धारणे' इत्यतो नेति च तथा 'क्तेन' इत्यतः क्तेनेति च अनुवर्तनेन अधिकरणवाचिनेन क्तस्य विशेषणम् । अधिकरणार्थे विहितेन क्तेन षष्ठ्यन्तं न समस्यते । तेनेदमेषामासितमित्यादि न समस्यते । कर्मणि चेति । 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' इति षष्ठी न समस्यते । 'गवां दोहः' अत्र न समस्यते । उभयप्राप्तकर्मणः षष्ठ्या निषेधात् । तुजेति । अत्रापि 'षष्ठी' इत्यनुवृत्तं विपरिणम्यते । अपां स्रष्टा-वज्रस्य भर्ता । अत्र तुजन्तस्य स्रष्टृपदस्य भर्तृपदस्य च 'ओदनस्य पाचकः' इत्यत्राकन्तस्य न षष्ठ्यन्तेन समासः । कर्तरि चेति । कर्तरि षष्ठ्या न समासः । अत्राकेति चानुवर्तते । भवतः शायिका । अत्राकन्तत्वे न समासः । निषेधात् ।

क्तेन—'गतिबुद्धिपूजार्थेभ्यः' इति सूत्रसे विहितं जो 'क्त' तदन्तके साथ षष्ठी समस्त नहीं हो । अधिकरण—अधिकरणवाची जो 'क्त' तदन्तके साथ षष्ठी समस्त नहीं हो ।

कर्मणि च—'उभयप्राप्तौ कर्मणि' इति सूत्रसे विहितं जो षष्ठी, वह समस्त नहीं हो ।

तुजकाभ्यां—कर्त्रर्थक 'तृच्' और 'अक्' के साथ षष्ठी समस्त नहीं हो ।

कर्तरि च—कर्तामें विहितं जो षष्ठी वह 'अक्' के साथ समस्त नहीं हो ।

पूर्वापरा—यदि एकत्व संख्याविशिष्ट अवयवी हो तो, अवयववाची के साथ पूर्वादि समर्थ भुवन्त समस्त हो, विकल्पसे । अर्थं नपुंसकम्—समांशवाची नित्य नपुंसक अर्थ

कोकिल्या = अवकोकिलः । परिग्लानोऽध्ययनाय = पर्यध्ययनः । निष्क्रान्तः कोशाम्ब्याः = निष्कोशाम्बिः । नित्ये व्यधिकरणे तत्पुरुषे कृदन्तसमासो यथा—प्रकर्षेण नीतः=प्रणीतः । सम्यक् मतः = संमतः । अनुलक्ष्येण गतः = अनुगतः । दुःखेन जेयः = दुर्जयः । सुखेन गम्यः =

अर्धपिप्पली ॥ (एकविभक्तावषष्ठ्यन्तवचनम्) । इत्युपसर्जनसंज्ञावाधाद्ध्रस्वो न । क्लीवे किम् ? ग्रामार्धः । द्रव्यैक्य एव । अर्धं पिप्पलीनाम् ॥ द्वितीयतृतीय-चतुर्थतुर्याष्वन्यतरस्याम् । २।२।३। एतान्येकदेशिना सह प्राग्वद्वा । द्वितीयं भिक्षायाः—द्वितीयभिक्षा । एकदेशिना किम् ? द्वितीयं भिक्षाया भिक्षुकस्य । अन्यतर-स्यांग्रहणसामर्थ्यात् पूरणगुणेति निषेधं बाधित्वा पक्षे षष्ठीसमासः । भिक्षाद्वितीयम् ॥ प्राप्तापन्ने च द्वितीयया । २।२।४। पक्षे—द्वितीयाश्रितेति समासः । प्राप्तो जीवनं

अर्धपिप्पली । 'अर्धं सु पिप्पली ङस्' इत्यत्र 'अर्धं नपुंसकम्' इति समासे समास-स्वाप्तातिपदिकत्वेन सुपो लुकि, 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' इत्युपसर्जन-संज्ञायाम् 'उपसर्जनपूर्वम्' इति अर्धशब्दस्य पूर्वनिपाते समुदायात्सौ विभक्तिकार्यं तत्सिद्धिः । अत्र पिप्पलीशब्दस्य विग्रहे नियतविभक्तिकत्वेऽपि 'एकविभक्तावषष्ठ्यन्तवचनम्' इति निषेधादुपसर्जनत्वाभावात् ह्रस्व इति भावः । एकविभक्ताविति । 'एकविभक्ति चापूर्वनिपाते' इत्युपसर्जनसंज्ञावाधेऽपष्ठ्यन्तमिति ज्ञेयम् । तेन षष्ठ्यन्तस्योपसर्जनत्वाभावात् ह्रस्वादिकार्यं नेति । द्वितीयतृतीयेति । 'पूर्वपरा' इत्यतः एकदेशिनेति अनुषज्यते । अन्यतरस्यामिति विकल्पः । द्वितीयभिक्षा । द्वितीयं भिक्षाया इति विग्रहे 'द्वितीय' इत्यनेन समासे 'प्रथमा' इति द्वितीयस्यो-पसर्जनसंज्ञायां 'उपसर्जनं पूर्वम्' इति तस्य पूर्वनिपाते सुब्लुकि सुवादिकार्यं रूपम् । महाविभाषयैव सिद्धेऽन्यतरस्यांग्रहणसामर्थ्यात् 'पूरणगुण' इति निषेधं बाधित्वा षष्ठीसमासः । भिक्षाद्वितीयम् । भिक्षाया द्वितीयं इति विग्रहे 'षष्ठी' इति समासे सुब्लुकि भिक्षापदस्योपसर्जनत्वे पूर्वनिपाते सुवादिकार्यं रूपम् । प्राप्तेति । पुते

शब्द, समर्थं सुबन्तके साथ समस्त हो, विकल्पसे । एकविभक्ताव—एकविभक्ति चापूर्वनिपाते' इस सूत्रसे नियत विभक्त्यन्त षष्ठ्यन्तकी उपसर्जनसंज्ञा नहीं हो ।

द्वितीय—द्वितीयादि सुबन्त एकदेशी (अवयवी) के साथ समस्त हो, विकल्पसे ।
नोटः—'द्वितीयं भिक्षाया भिक्षुकस्य' यहां पर 'द्वितीय' का अवयवी 'भिक्षुक' नहीं है, किन्तु 'भिक्षा' है । अतः भिक्षुकके साथ 'द्वितीयं' का समास नहीं होगा । किन्तु भिक्षाके साथ हो सकता है और 'द्वितीयभिक्षा भिक्षुकस्य' ऐसा वाक्य भी बन सकता है ।

प्राप्तापन्ने च—प्राप्त और आपन्न शब्दोंका द्वितीयान्तके साथ समास हो, विकल्पसे

सुगमः । विशेषेण नेयः = विनेयः । अधिकं पाति = अधिपः । परितोऽटनं = पर्यटनम् । अभितो गमनम् = अभिगमनम् । आसमन्तात्कर्षणम् = आकर्षणम् । कुम्भं करोति = कुम्भकारः । द्वाभ्यां पिवति = द्विपः । पङ्कज्जातं = पङ्कजम् । आखूनामुत्थानम् = आखूत्थः । स्वर्गे तिष्ठति = स्वर्गस्थः । कुरुषु चरति = कुरुचरः । दूरं पश्यति = दूरदर्शी । इति नित्यः ।

प्राप्तजीवनः । जीवनप्राप्तः । आपन्नजीवनः । जीवनापन्नः । इह सूत्रे द्वितीयया अ-
 इति छित्त्वा अकारोऽपि विधीयते । तेन जीविकां प्राप्ता स्त्री प्राप्तजीविका । आपन्न-
 जीविका ॥ कालाः परिमाणिना । २।२।५। परिच्छेद्यवाचिना सुवन्तेन सह कालाः
 समस्यन्ते । मासो जातस्य यस्य स मासजातः ॥ सप्तमी शौण्डैः । २।१।४०।
 सप्तम्यन्तं शौण्डादिभिः प्राग्वत् । अक्षेषु शौण्डः-अक्षशौण्डः । शौण्ड, धूर्तः,
 कितव, व्याड, प्रवीण, संवीत, अन्तर, अधि, पटु, पण्डित, कुशल, चपल, निपुण,
 इति शौण्डादिः ॥ द्वितीया तृतीयेत्यादियोगविभागादन्यत्रापि द्वितीयादीनां प्रयोग-
 वशात्समासो ज्ञेयः ॥ दिक्संख्ये संज्ञायाम् । २।१।५०। विशेषणं विशेष्येण
 बहुलमित्येव सिद्धे संज्ञायामेवेति नियमार्थं सूत्रम् । पूर्वेषु कामशमी । सप्तर्षयः ।
 तेनेह न, उत्तरा वृक्षाः । पञ्च ब्राह्मणाः ॥ तद्वितार्थोत्तरपदसमाहारे च

पदे द्वितीयान्तेन समस्यते पूर्वनिपातनायेदम् । प्राप्तजीवनः-आपन्नजीवनः । प्राप्तः-
 आपन्नः जीवनमिति विग्रहे 'प्राप्तापन्ने च द्वितीयया' इति समासे सुब्लुकि प्राप्ता-
 पन्नयोः पूर्वनिपाते सुवादिकार्ये रूपे भवतः । तदभावे 'द्वितीयाश्रित' इति समासे
 द्वितीयान्तस्य पूर्वनिपाते 'जीवनप्राप्तः-जीवनापन्नः' इति रूपे भवतः । तदभावे
 विभाषाधिकारात् पृष्ठयन्तं वाक्यमपि । स्त्रीत्वेऽपि उदाहरति । अत्र 'प्राप्तापन्ने च
 द्वितीयया' इति सूत्रे द्वितीयया-अ इति पदं छिद्यते । तेन जीविकां प्राप्ता-आपन्ना
 वा जीविकाप्राप्ता जीविकापन्ना इति प्रकृतं साध्यते । काला इति । परिमाणं परि-
 च्छेदकमस्यास्तीति परिमाणी-परिच्छेद्यस्तेन कालवाचकाः समस्यन्ते । मासजातः ।
 मासो जातस्य अस्य इति विग्रहे परिच्छेदकं मासः परिमाणं तत् अस्यास्ति स
 जातः परिच्छेद्यस्तद्वाचकपदं जात इति तेन समासे सुब्लुकि सुवादिकार्ये
 'मासजातः' इत्यस्य सिद्धिः । अक्षशौण्डः । 'अक्ष सुप् शौण्ड सु' इत्यत्र 'सप्तमी
 शौण्डैः' इति समासे सप्तम्यन्तस्य प्रथमानिर्दिष्टत्वात्पूर्वनिपाते सुपो लुकि, विभक्तिः

और द्वितीयान्तको अकार आदेश भी हो । कालाः परिमाणिना—परिच्छेद्यवाची सुवन्तके
 साथ कालवाची सुवन्तका समास हो, विकल्पसे । सप्तमी शौण्डैः—शौण्डादि प्रकृतिक समर्थ
 सुवन्तके साथ सप्तम्यन्त समस्त हो, विकल्पसे । दिक्संख्ये-दिग्वाची और संख्यावाचीका संज्ञामें
 ही समानाधिकरण समर्थ सुवन्तके साथ समास हो, विकल्पसे । तद्वितार्थो—तद्वितार्थके,

अथ समानाधिकरणस्तत्पुरुषः । स द्विविधः । नित्यानित्यमेवात् । नित्योऽपि त्रेधा-
 कृदन्तसमासः, सुवन्तसमासः, संख्यापूर्वपदश्चेति । तत्र नित्ये समानाधिकरणे तत्पुरुषे
 कृदन्तसमासो यथा—उत्तानः शेते-उत्तानशयः । अवमूर्धा शेते-अवमूर्धशयः । (अवनतो

॥२॥१॥५१॥ तद्धितार्थे विषये उत्तरपदे च परतः समाहारे च वाच्ये दिक्संख्ये प्राग्वत् । पूर्वस्यां शालायां भवः—पौर्वशालः इति समासे कृते । (सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः) ॥ दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां जः ॥४॥२॥१०७॥ अस्माद्भावाद्यर्थे जः स्यादसंज्ञायाम् ॥ तद्धितेष्वचामादेः ॥७॥२॥११७॥ अिति णिति च तद्धिते अचामादेरचो वृद्धिः स्यात् । 'यस्येति च' । पौर्वशालः । पूर्वा शाला प्रिया यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहौ कृते प्रियाशब्दे उत्तरपदे पूर्वयोस्तत्पुरुषः । तेन शालाशब्दे आकार उदात्तः । पूर्वशालाप्रियः । दिक्षु समाहारो नास्त्यनभिधानात् ॥ (संख्यायास्तद्धितार्थे) । षण्णां मातृणामपत्यं षाण्मातुरः । 'मातुरुस्तख्यासंभद्रपूर्वायाः' इति वक्ष्यमाणोऽण् । पञ्च गावो धनं यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहौ अवान्तरतत्पुरुषस्य विकल्पे प्राप्ते ॥ (द्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यसमासवचनम्) ॥ गोर-तद्धितलुकि ॥५॥४॥९२॥ गोऽन्तात्तत्पुरुषादृच् स्यात्समासान्तो न तु तद्धितलुकि । पञ्चगवधनः ॥ संख्यापूर्वो द्विगुः ॥२॥१॥५२॥ तद्धितार्थेत्यत्रोक्तः संख्यापूर्वो द्विगुः ॥

कार्ये च कृते तत्सिद्धिः । पौर्वशालः । पूर्वस्यां शालायां भवः इत्यर्थे 'तद्धितार्थोत्तर-पदसमाहारे च' इति समासे कृते 'दिक्पूर्वपदात्' इति अप्रत्यये कृते 'यस्येति च' इत्याकारलोपे 'तद्धितेष्वचामादेः' इति आदिवृद्धौ, 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' इति 'पूर्वा' इत्यस्य पुंवत्त्वे, समुदायस्य एकदेशविकृतन्यायेन प्राति-पदिकत्वात्सौ, कृत्वे विसर्गे च 'पौर्वशालः' इति । पञ्चगवधनः । पञ्च गावो धनं यस्य स पञ्चगवधनः—इत्यत्र 'पञ्चन्-जस्, गो-जस्, धन सु' ॥ इति त्रिपदे बहु-व्रीहौ अवान्तरपञ्चगोशब्दयोः 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इति वा समासे प्राप्ते 'द्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यसमासवचनम्' इति नित्ये समासे कृते 'सुपो विषयमे उत्तर पदके परे समाहार वाच्यमे दिग्वाचक और संख्यावाचकका समास हो, विकल्पसे। सर्वनाम्नो—सर्वनामको वृत्तिमात्रमे पुंवद्भाव हो । दिक्पूर्वपदा—दिक्पूर्वपदक (समास) से भवादियर्थोंमें 'ज' प्रत्यय हो, असंज्ञामें । तद्धितेष्वचामादेः—अचोंके मध्य में आदि अचूको वृद्धि हो, अित्-णित्-तद्धित प्रत्ययके परे । द्वन्द्वतत्पुरुषयोः—समासचर-भावयव उत्तरपदके परे अवान्तर द्वन्द्व और तत्पुरुषको नित्य हो समास होता है ।

गोरतद्धित—गोन्त तत्पुरुषसे समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो, परन्तु तद्धितलुक्में नहीं हो । संख्यापूर्वो—'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इस सूत्रसे विहित संख्यापूर्वकका समास

मूर्धा यस्य सोऽवमूर्धा । अधोमुखः शोते इत्यर्थः) । पूर्वः सरति—पूर्वशरः । नित्ये समानाधिकरणे तत्पुरुषे सुबन्तसमासो यथा—कुत्सितः पुरुषः=कुपुरुषः । कुत्सितोऽश्वः=कदम्बः । ईषदुष्णं=क्षोष्णं, कनोष्णम् । कुत्सितः सखा=किसखा । प्रगत आचार्यः=प्राचार्यः ।

द्विगुरेकवचनम् । २।४।१। द्विवर्धः समाहार एकवत्स्यात् ॥ स नपुंसकम् । २।४।१७। समाहारे द्विगुर्द्वन्द्वश्च नपुंसकं स्यात् । पञ्चानां गवां समाहारः—पञ्च-गवम् ॥ विशेषणं विशेष्येण बहुलम् । २।१।५७। भेदकं भेदेन समानाधिकरणेन बहुलं प्राग्वत् । नीलमुत्पलं—नीलोत्पलम् । बहुलप्रहणात्कचिजित्यम्,—कृष्णसर्पः । कचिज्,—रामो जामदग्न्यः ॥ (अपरस्यार्धे पञ्चभावो वक्तव्यः) । अपर-श्चासावर्धश्च पथार्धः ॥ सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः । २।१।६१। सह समस्यन्ते । सदैवः ॥ आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः । ६।३।४६। महावैयाकरणः ॥ तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः । १।२।४२। पुंव-त्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु । ६।३।४२। कर्मधारये जातीयदेशीययोश्च परतो

धातुप्रातिपदिकयोः' इति सुपो लुकि, पञ्चनशब्दस्य नकारस्य 'नलोपः प्रातिप-दिकान्तस्य' इति लोपे 'पञ्चगो' इत्यस्मात् 'गोरतद्धितलुकि' इति टचि, अनुव-न्धलोपे अवादेशे 'पञ्चगव' इति बहुव्रीहावन्तरे जाते बहुव्रीहिसमासस्यापि प्राति-पदिकत्वात् सोर्लोपे, समुदायात् सौ, रुत्वे विसर्गे च तत्सिद्धिः । पञ्चगवम् । पञ्चानां गवां समाहारः इत्यत्र 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इति समासे सुपो लुकि, पञ्चनशब्दस्य नलोपे 'गोरतद्धितलुकि' इति टचि, टच्योर्लोपे, 'पञ्च गो अ' इति भूते 'एचोऽयवायावः' इत्यवादेशे, 'संख्यापूर्वो द्विगुः' इति द्विगुसंज्ञायाम्, 'द्विगुरेकवचनम्' इति एकवचने सौ, 'स नपुंसकम्' इति नपुंसकत्वात्सोरमि, पूर्व-रूपत्वे च विहिते 'पञ्चगवम्' इति सिद्धम् । घनश्यामः । अत्र घनशब्दो घनसदृशे लाक्षणिकः । 'घन सु श्याम सु' अत्र 'उपमानानि सामान्यवचनः' इति समासे, सुपो लुकि, उपमानवाचकस्य घनशब्दस्य पूर्वनिपाते, विभक्तिकार्ये च तत्सिद्धिः ।

द्विगुसंज्ञक हो । द्विगुरेकवचनम्—द्विवर्ध समाहार एकवत् हो । स नपुंसकम्—समाहारमें द्विगु और द्वन्द्व नपुंसक लिङ्ग हो । विशेषणं—विशेषण (भेदक) और विशेष्य (भेद्य), समानाधिकरण समर्थ सुबन्तके साथ बहुलप्रकारसे समस्त हो । अपरस्यार्धे—अपरको पञ्च भाव (पञ्चादेश) हो, अर्द्ध शब्दके परे । सन्महत्परमो—सदृशदि प्रकृतिक सुबन्तका पूज्यमान प्रकृतिक समर्थ सुबन्तके साथ समास हो, विकल्पसे । आन्महतः—'महत' शब्दको आकारान्त आदेश हो, समानाधिकरण और जातीयर् प्रत्ययके परे । तत्पुरुषः समानाधि—समानाधि-करण तत्पुरुष कर्मधारय संज्ञक हो । पुंवत्कर्म—भाषितपुंस्कसे पर ऊङ्का अभाव है जिसमें,

अपगतो धर्मः = अपधर्मः । परागतो जयः = पराजयः । निर्गतं जलं = निर्जलम् । विगतो मार्गः = विमार्गः । नित्ये समानाधिकरणे तत्पुरुषे संख्यापूर्वपदो यथा—सप्त ऋषिसंज्ञ-काः = सप्तर्षयः ।

भाषितपुंस्कात्पर ऊङभावो यस्मिस्तथाभूतं पूर्वं पुंवत् । पूरणीप्रियादिष्वप्राप्तः
 पुंवद्भावोऽनेन विधीयते । महानवमी । कृष्णचतुर्दशी । महाप्रिया । पूज्यमानैः किम् ?
 उत्कृष्टो गौः, पङ्कादुद्धृत इत्यर्थः ॥ उपमानानि सामान्यवचनैः । २।१।५५।
 घनश्यामः ॥ उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे । २।१।५६। पुरुषो
 व्याघ्र इव पुरुषव्याघ्रः । सामान्याप्रयोगे किम् ? पुरुषो व्याघ्र इव शूरः ॥
 (शाकपार्थिवादीनामुत्तरपदलोपश्च) । शाकप्रियः पार्थिवः शाकपार्थिवः ।
 देवब्राह्मणः ॥ कडाराः कर्मधारये । २।२।३८। कडारादयः शब्दाः कर्म-
 धारये वा पूर्वं प्रयोज्याः । कडारजैमिनिः । जैमिनिकडारः ॥ मयूरव्यंसकाद-
 यश्च । २।१।७२। एते निपात्यन्ते । मयूरो व्यंसको-मयूरव्यंसकः । व्यंसको=धूर्तः ।
 उदक् च अवाक् च-उच्चावचम् । निश्चितं च प्रचितं च-निश्चप्रचम् । नास्ति
 किंचन यस्य सः-अकिंचनः ॥ (आख्यातमाख्यातेन क्रियासातत्ये) । अशनीत

शाकपार्थिवादीनामिति । 'वर्णो वर्णेन' इति सूत्रभाष्ये इदं वार्तिकं पठितम् ।
 शाकप्रियः पार्थिवः शाकपार्थिवः । शाकः प्रियः यस्य स शाकप्रियः । 'वा प्रियस्य'
 इति प्रियशब्दस्य परनिपातः । शाकप्रियश्चासौ पार्थिवश्च इति विग्रहे बहुव्रीहिगर्भो
 विशेषणसमासः । तत्र पूर्वखण्डे बहुव्रीहौ उत्तरपदस्य प्रियाशब्दस्य लोपः ।
 कडारा इति । पूर्वनिपातनायेदम् । तच्च पूर्वनिपातनं विभाषयेति बोध्यम् । कडार-
 जैमिनिः-जैमिनिकडारः । कडारश्चासौ जैमिनिरचेति विग्रहे 'कडाराः' इति निपात-
 शास्त्रविधानात्समासे कडारस्य वा पूर्वनिपाते सुवादि कार्ये उभयरूपसिद्धिः ।
 मयूरेति । निपातनमेतेषाम् । मयूरव्यंसकः निपातनात्समसनम् । उच्चावचम् । उद-
 क्चावाक्चेति विग्रहे निपातनादुच्चावचादेशे रूपम् । निश्चप्रचम् । निश्चितं च
 प्रचितं चेति विग्रहे निश्चप्रचादेशे सुवादि कार्ये रूपम् । आख्यातमिति । क्रियायाः

येसा जो पूर्वपद, उसको पुंवद्भाव हो, कर्मधारय समास और जातीयर् तथा देशीयर्
 प्रत्ययके परे । उपमानानि—उपमानवाची जो सुबन्त, वह समानाधिकरण सामान्यधर्म
 वाचक समर्थ सुबन्तके साथ समस्त हो । उपमितं—उपमेय वाचक जो सुबन्त, वह उपमान
 वाचक व्याघ्रादि प्रकृतिक समर्थ सुबन्तके साथ समस्त हो, यदि साधारण धर्मका प्रयोग नहीं
 रहे । शाकपार्थिवादीनां—शाकपार्थिवादिकी सिद्धिके लिये उत्तर पदका लोप हो ।

कडाराः—'कडार' आदि शब्दोंका कर्मधारय समासमें विकल्पसे पूर्वनिपात हो ।

मयूर—मयूरव्यंसकादि निपातन हो । आख्यात-आख्यात (तिङन्त) का आख्यात

अथ अनित्यः समानाधिकरणः । स द्विविधः । नञ्त्तत्पुरुषः कर्मधारयश्चेति । तत्र
 नञ्त्तत्पुरुषो यथा—न ब्राह्मणः = अब्राह्मणः । न अश्वः = अनश्वः ।

पिवतेत्येवं सततं यत्राभिधीयते सा-अशनीतपिवता । पचतभृज्जता । खादतमोदता । नास्ति कुतो भयं यस्य सः-अकुतोभयः । अन्यो राजा-राजान्तरम् । चिदेव-चिन्मात्रम् ॥ नञ् । २।२।६। सुपा प्राग्वत् । नलोपो नञः । ६।३।७३। नञो नस्य लोप उत्तरपदे । न ब्राह्मणः-अब्राह्मणः । तस्मान्नुडचि । ६।३।७४। लुप्तनकाराञ्च उत्तरपदस्याजादेर्नुट् । अनश्वः । नैकधेत्यादौ तु नशब्देन सह सुप्सुपेति समासः । कुगतिप्रादयः । २।२।१८। एते समर्थेन नित्यं समस्यन्ते । कुत्सितः पुरुषः-कुपुरुषः ॥ ऊर्यादिच्चिडचश्च । १।४।६१। ऊर्यादयश्च्यन्ता डाजन्ताश्च क्रियायोगे गतिसंज्ञाः स्युः । ऊरीकृत्य । उररीकृत्य । शुक्लीकृत्य । पटपटाकृत्य । (कारिकाशब्द-

सातत्यं तस्मिन् । क्रियाया अविरतौ आख्यातमाख्यातेन समस्यते स तत्पुरुष इत्यर्थः । अशनीतपिवता-पचतभृज्जता-खादतमोदता । अत्र क्रियाया एव बोधा-त्तस्याश्च स्त्रीत्वाद्वादादिकार्ये रूपाणि । अकुतोभयः-राजान्तरम्-चिन्मात्रम्-इत्यादि मयूरव्यंसकादित्वात्साधूनि । अनश्वः । 'न अश्व सु' इत्यत्र 'नञ्' इति समासे सुपो लुकि, नञः पूर्वनिपाते, 'नलोपो नञः' इति नकारस्य लोपे 'अ अश्व' इति जाते 'तस्मान्नुडचि' इति अश्वगताकारस्य नुटि, उटि गते, टित्वादाद्यावयवे भूते 'अ न् अश्व' इति जाते, संयोगे कृते विभक्तिकार्ये च तत्सिद्धिः । ननु 'नैकधा' इत्यत्रापि नन्वसमासे 'नलोपो 'नञः' इति नकारस्य लोपे 'तस्मान्नुडचि' इति नुटि, अनेकधेत्येव स्यादित्यत आह-नैकधेत्यादौ त्विति । एतदर्थमेव 'नञ्' इति सूत्रे 'नलोपो नञः' इति सूत्रे च अकारानुबन्धग्रहणमिति भावः । ऊरीकृत्य । ऊरीत्यव्ययमङ्गीकारे, तस्य 'ऊर्यादिच्चिडचश्च' इति गतिसंज्ञायाम् 'कुगति-प्रादयः' इति 'कृत्वा' इत्यनेन सह गतिसमासे 'समासेऽनन्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' इति 'क्त्वा' इत्यस्य स्थाने ल्यपि, लपयोरित्संज्ञायाम् लोपे च 'ऊरीकृ य' इति भूते 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इति तुगागमे उकि गते, कित्वादन्त्या-वयवे जाते, तस्मात्सौ, 'अव्ययादाप्सुपः' इति सुपो लोपे च तत्सिद्धम् ।

(तिङन्त) के साथ समास हो, क्रियाके सातत्य (नैरन्तर्य) गम्यमान रहनेपर ।

नञ्—'नञ्' का यमर्थं सुबन्तके साथ समास हो, विकल्पसे । नलोपो—'नञ्' के नकार-का लोप हो, उत्तर पदके परे । तस्मान्नुडचि—लुप्तनकारक 'नञ्' से परे अजादि उत्तर पदको नुट् हो । कुगति—कु, गति और प्रादिका समर्थं सुबन्तके साथ नित्य समास हो ।

ऊर्यादि—ऊरी आदि शब्दकी तथा च्यन्त और डाजन्तकी क्रियाके योगमें गतिसंज्ञा हो ।

कारिका—कारिका शब्दकी क्रियाके योगमें गतिसंज्ञा हो ।

अथ कर्मधारयः । स द्वेधा । केवलो द्विगुश्चेति । तत्र केवलो नवधा । तेषु नवविधेषु-

३२ म० कौ०

स्योपसंख्यानम्) । कारिका=क्रिया, कारिकाकृत्य ॥ अनुकरणं चानितिपरम् । १।४।६२। खाट्कृत्य । अनितिपरं किम् ? खाडिति कृत्वा निरष्टीवत् ॥ आदरानादरयोः सदसती । १।४।६३। सत्कृत्य । असत्कृत्य । भूषणेऽलम् । १।४।६४। अलंकृत्य । भूषणे किम् ? अलं कृत्वौदनं गतः, पर्याप्तमित्यर्थः । अनुकरणमित्यादित्रिसूत्री स्वभावात्कृञ्विषया ॥ अन्तरपरिग्रहे । १।४।६५। अन्तर्हृत्य, मध्ये हृत्वेत्यर्थः । अपरिग्रहे किम् ? अन्तर्हृत्वा गतः, हतं परिगृह्य गत इत्यर्थः ॥ कणेमनसी श्रद्धाप्रतीयाते । १।४।६६। कणेहृत्य पयः पिबति । मनोहृत्य । कणेशब्दः सप्तमीप्रतिरूपको निपातोऽभिलाषातिशये वर्तते । मनःशब्दोऽप्यत्रैव ॥

कारिकाकृत्य । कारिकां कृत्वा इति विग्रहे 'कारिकाशब्दस्य' इति गतित्वे 'कुगतिप्रादयः' इति समासत्वे सुब्लुकि 'समासेऽनञ्' इति ल्यपि तुकि कित्त्वेन गुणाभावे सुबादिकार्ये 'कारिकाकृत्य' इति प्रयोगसिद्धिः । अनुकरणमिति । गतिसंज्ञा स्यात् । खाट्कृत्य । खाट् कृत्वा इति विग्रहे 'अनुकरणम्' इति गतित्वे 'कुगति' इति समासे सुब्लुकि 'समासे' इति ल्यपि तुकि सुबादिकार्ये 'खाट्कृत्य' इति सिध्यति । आदरेति । सत्-असत्-एतौ गतिसंज्ञौ स्तः । सत्कृत्य-असत्कृत्य । सत्-असत् कृत्वा इति विग्रहे 'आदरानादरयोः' इति गतित्वे 'कुगति' इति समासे सुब्लुकि 'समासेऽनञ्' इति ल्यपि तुकि सुबादिकार्ये 'सत्कृत्य-असत्कृत्य' इति रूपे भवतः । भूषणेऽलमिति । गतिसंज्ञा स्यात् । अलंकृत्य । अलं कृत्वेति विग्रहे 'कुगतिप्रादयः' इति समासे सुब्लुकि 'समासे' इति ल्यपि तुकि सुबादिकार्ये 'अलंकृत्य' इति रूपं प्रभवति । अन्तरेति । अपरिग्रहार्थेऽन्तः गतित्वं स्यात् । 'अन्तः हृत्वा' इत्यर्थे 'अन्तः' इति गतित्वे 'कुगति' इति समासे सुब्लुकि 'समासे' इति ल्यपि तुकि सुबादिकार्ये 'अन्तर्हृत्य' इति रूपं भवति । कणेमनसीति । गतिसंज्ञौ स्तः । कणेहृत्य-मनोहृत्य । कणे-हृत्वा मनो हृत्वा

अनुकरणं चानितिपरम्—'इति' परकसे भिन्न अनुकरणकी क्रिया (कृञ् धातु) के योगमें गतिसंज्ञा हो ।

आदरा—आदर और अनादर अर्थमें सत् और असत्की क्रिया (कृञ् धातु) के योगमें गतिसंज्ञा हो ।

भूषणे—भूषण अर्थमें क्रियाका योग रहने पर 'अलम्' की गतिसंज्ञा हो ।

अन्तरपरिग्रहे—अपरिग्रह अर्थमें 'अन्तर्' शब्दकी गतिसंज्ञा हो ।

कणेमनसी—कणे और मनः शब्दकी गतिसंज्ञा हो, श्रद्धाके अप्रतीयात अर्थमें (मन-

१—विशेषणपूर्वपदो यथा—कृष्णश्चासौ सर्पश्च=कृष्णसर्पः । पीता चासौ लता च =

पुरोऽव्ययम् । १।४।६७। पुरस्कृत्य ॥ अस्तं च । १।४।६८। अस्तमिति मान्तमव्ययं गतिसंज्ञं स्यात् ॥ अस्तंगत्य ॥ अच्छ गत्यर्थवदेषु । १।४।६९। अव्ययमित्येव । अच्छगत्य । अच्छोद्य, अभिमुखं गत्वा उक्त्वा चेत्यर्थः । अव्ययं किम् ? जलमच्छं गच्छति ॥ अदोऽनुपदेशे । १।४।७०। अदःकृत्य । अदःकृतम् । परं प्रत्युपदेशे प्रत्युदाहरणम्, अदः कृत्वा, अदः कुरु ॥ तिरोऽन्तर्धौ । १।४।७१। तिरोभूय ॥ विभाषा कृञि । १।४।७२। तिरसोऽन्यतरस्याम् । ८।३।४२। सो वा स्यात्कुञ्चोः ।

इति विग्रहे 'कणेमनसी' इति गतित्वे 'कुगति' इति समासे सुब्लुकि 'समासे' इति ल्यपि तुकि सुवादिकार्यं च कृते 'कणेहत्य-मनोहत्य' इति रूपे भवतः । पुर इति । गतिसंज्ञं स्यादित्यर्थः । पुरस्कृत्य । पुरः कृत्वा इति विग्रहे 'पुरोऽव्ययम्' इति गतित्वे 'कुगति' इति समासे सुब्लुकि 'समासे' इति ल्यपि तुकि सुवादिकार्यं 'नमस्पुरसो-गंत्योः' इति विसर्गस्य नित्यं सकारे 'पुरस्कृत्य' इति रूपसिद्धिः । अस्तं चेति । गतिसंज्ञं स्यादिति भावः । अस्तंगत्य । अस्तं गत्वा इति विग्रहे 'अस्तं च' इति गतित्वे 'कुगति' इति समासे सुब्लुकि ल्यपि तुकि सुवादिकार्यं रूपसिद्धिः । अच्छगत्येति । गतिसंज्ञं स्यात् । अच्छगत्य-अच्छोद्य । अच्छेत्यस्य 'अच्छगत्यर्थ' इति गतिसंज्ञात्वे 'कुगति' इति समासे 'सुपो धातु' इति सुब्लुकि 'अच्छ-गत्वा, अच्छ-उक्त्वा' इति स्थिते 'समासेऽनञ्' इति ल्यपि सुवादिकार्यं 'अच्छगत्य' 'अच्छोद्य' इति भवतो रूपे । अद इति । उपदेशमित्रार्थेऽदो गतिसंज्ञं स्यात् । अदःकृत्य । अदः कृत्वेति विग्रहे सुब्लुकि 'समासेऽनञ्' इति ल्यपि तुकि सुवादिकार्यं भवति रूपम् । तिर इति । अन्तर्धौ तिरो गतित्वं स्यात् । तिरोभूय । 'तिरो भूत्वा' इति विग्रहे 'तिरः' इति गतित्वे 'कुगति' इति समासे सुब्लुकि ल्यपि सुवादिकार्यं 'तिरोभूय' इति प्रभवति रूपम् । विभाषेति । तिरसः कृञि वा गतित्वमित्यर्थः । तिरसो । सोपदादावित्यतः 'स' इत्यनुवर्तते, कुञ्चोरिति, विसर्जनीयस्येति च । इण इति निवृत्तम्, असम्भवात् । तत्सन्नियो-गात् ष इति च । तदाह—सो वा कुञ्चोरिति । उपाजेकृत्येति । गतिसंज्ञापक्षे गतिसमासे

माना कार्ये करनेपर) पुरोऽव्ययम्—'पुरः' इस अव्यय की गतिसंज्ञा हो ।

अस्तञ्च—'अस्तम्' इस मान्त अव्ययकी गतिसंज्ञा हो । अच्छ गत्यर्थ—'अच्छ' इस अव्ययकी गतिसंज्ञा हो, गत्यर्थक धातु और वद् धातुके परे । अदोऽनुपदेशे—'अदस्' शब्द की गतिसंज्ञा हो, अनुपदेशमें ।

तिरोऽन्तर्धौ—'तिरस्' शब्दकी गतिसंज्ञा हो, अन्तर्द्धि (छिपना) अर्थमें ।

विभाषा—'कृञ्'के योगमें 'तिरस्' शब्दकी विकल्पसे गतिसंज्ञा हो ।

तिरसोऽन्य—'तिरस्' शब्द सम्बन्धी विसर्गको सत्त्व हो, कवर्ग-पवर्गके परे विकल्पसे ।

पीतलता । नीलं च तदुत्पलं च=नीलोत्पलम् । २—विशेषणोत्तरपदो यथा-वैयाकरणश्चासौ

तिरःकृत्य, तिरस्कृत्य, तिरःकृत्वा ॥ उपाजेऽन्वाजे । १।४।७३। एतौ कृञि वा गतिसंज्ञौ । उपाजेकृत्य, अन्वाजेकृत्य, उपाजे कृत्वा, अन्वाजे कृत्वा; दुर्बलस्य बलमाधायेत्यर्थः ॥ साक्षात्प्रभृतीनि च । १।४।७४। कृञि वा गतिसंज्ञानि स्युः ॥ (च्यर्थ इति वक्तव्यम्) । साक्षात्कृत्य, साक्षात्कृत्वा । लवणंकृत्य, लवणं कृत्वा । मान्तत्वं निपातनात् ॥ अनत्याधान उरसिमनसी । १।४।७५। उरसिकृत्य, उरसि कृत्वा, अभ्युपगम्येत्यर्थः । मनसिकृत्य, मनसि कृत्वा, निश्चित्येत्यर्थः । अत्याधानमुपश्लेषणम्, तत्र न, उरसि कृत्वा पाणिं शेते ॥ मध्ये पदे निवचने च । १।४।७६। एते कृञि वा गतिसंज्ञाः स्युरनत्याधाने । मध्येकृत्य, मध्ये कृत्वा । पदेकृत्य, पदे कृत्वा । निवचनेकृत्य, निवचने कृत्वा, वाचं नियम्येत्यर्थः ॥ नित्यं हस्ते पाणावुपयमने । १।४।७७। कृञि । उपयमनं विवाहः । स्वीकारमात्रमित्यन्ये ॥

क्वो ल्यप् । अन्वाजेकृत्येति तथैव । उपाजे, अन्वाजे इत्यव्यये दुर्बलस्य बलाधाने वर्तते । तदाह—दुर्बलस्येति । साक्षात्प्रभृतीनि च । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—कृञि वेति । साक्षादित्यव्ययम् । च्यर्थ इति । अभूततद्भावे गम्ये सतीति वक्तव्यमित्यर्थः । साक्षात्कृत्येति । अप्रत्यक्षं प्रत्यक्षं कृत्वेत्यर्थः । गतित्वपक्षे क्वो ल्यप् । सुब्लुकमाशङ्क्याह—मान्तत्वमिति । लवणम्, उष्णम्, शीतम्, उदकम्, आद्यम्, इति पञ्चानां साक्षात्प्रभृतिगणे मान्तत्वं निपात्यत इत्यर्थः । अनत्याधाने । उरसि मनसि इति विभक्तिप्रतिरूपके अव्यये गतिसंज्ञे वा स्तः अनत्याधाने । उरसि कृत्वेति । गतित्वपक्षे क्वो ल्यप् । इहापि नात्याधानं गम्यत इत्याह—निश्चित्येत्यर्थः । मध्येपदे । गतित्वे तदभावे च त्रयाणामेदन्तत्वं निपात्यते । निवचनेकृत्येति । वचनाभावं कृत्वेत्यर्थः । तदाह—वाचं नियम्येत्यर्थ इति । वचनस्य अभावः निवचनम् । अर्थाभावे अव्ययीभाव इति भावः । गणौकृत्येति । कन्यां स्वीकर्तुं पाणिं गृहीत्वेत्यर्थः । औद-

उपाजेऽन्वाजे—विभक्तिप्रतिरूपक 'उपाजे' और 'अन्वाजे' निपातकी 'कृञ्' के योगमें गतिसंज्ञा हो, विकल्पसे । 'साक्षात्प्रभृतीनि च'—'च्यर्थ इति वाच्यम्'—'कृञ्' के योगमें साक्षात्प्रभृति गणपठितकी विकल्पसे गतिसंज्ञा हो, च्यर्थ (अभूत-तद्भाव अर्थ) में ।

अनत्याधाने—'कृञ्' के योगमें 'उरसि' और 'मनसि' की विकल्पसे गतिसंज्ञा हो, अत्याधान (उपश्लेष या सम्पर्क) से भिन्न अर्थमें । मध्ये पदे—मध्ये, पदे और निवचने की 'कृञ्' के योगमें विकल्पसे गतिसंज्ञा हो, अत्याधानसे भिन्न अर्थमें ।

नित्यं हस्ते—हस्ते और पाणौ की 'कृञ्' के योगमें नित्य गतिसंज्ञा हो, उपयम (विवाह

खसूचिश्च = वैयाकरणखसूचिः । मयूरो व्यंसकः = मयूरव्यंसकः (व्यंसको धूर्तः) । ३-उपमानपूर्वपदो यथा-शङ्ख इव पाण्डुः=शङ्खपाण्डुः । घन इव श्यामः=घनश्यामः । ४-उपमानो-

हस्तेकृत्य । पाणौकृत्य ॥ प्राध्वं बन्धने । १।४।७८। प्राध्वमित्यव्ययम् । प्राध्वंकृत्य, बन्धनेनाकूलं कृत्वेत्यर्थः । प्रार्थनादिना त्वानुकूल्यकरणे—प्राध्वं कृत्वा ॥ जीविकोपनिषदावौपम्ये । १।४।७९। जीविकामिव कृत्वा, जीविकाकृत्य । औपम्ये किम् ? जीविकां कृत्वा । प्रादिग्रहणमगत्यर्थम् । सुपुरुषः ॥ (प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया) । प्रगत आचार्यः—प्राचार्यः ॥ (अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया) । अतिक्रान्तो मालामिति विग्रहे ॥ एकविभक्तिचापूर्वनिपाते । १।२।४४। विग्रहे यन्नित्यतविभक्तिकं तदुपसर्जनं, न तु तस्य पूर्वनिपातः ॥ गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य । १।२।४८। उपसर्जनं यो गोशब्दः स्त्रीप्रत्ययान्तं च तदन्तस्य प्रातिपदिकस्य ह्रस्वः । अतिमालः ॥ (अवादयः कृष्टाद्यर्थे तृतीयया) । अवक्रुष्टः कोकिलया—अवक्रो-किलः ॥ (पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या) । परिग्लानोऽध्ययनाय—पर्यध्ययनः ॥ (निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या) । निष्क्रान्तः कौशाम्ब्या—निष्कौशाम्बिः ॥

न्तत्वं च निपात्यते । प्राध्वं बन्धने । प्राध्वमित्यव्ययम् । बन्धने गम्ये प्राध्वमित्यव्ययं गतिसंज्ञं स्यादित्यर्थः । जीविकोपनिष । उपमैव औपम्यं, तस्मिन् विषये जीविकाशब्दः उपनिषच्छब्दश्च कृजो योगे गतिसंज्ञौ स्तः । जीविकामिवेति । अशनपा-नादिजीवनोपायो जीविका, तामिव अवश्यं कृत्वेत्यर्थः । उपनिषदमिव कृत्वेति । उप-निषद् वेदान्तभागः, तामिव रहसि ग्राह्यत्वेन कृत्वेत्यर्थः । उपनिषत्कृत्वेति । गतिसमासे क्त्वो ल्यप् । उभयत्रापि सुब्लुक् । तदेवं 'कुगति प्रादयः' इत्यन्त्यगतिसमासाः प्रपञ्चिताः । ननु गतिग्रहणेनैव सिद्धे प्रादिग्रहणं व्यर्थमित्यत आह—प्रादिग्रहणमगत्यर्थमिति । निष्कौशाम्बिः । अत्र 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' इति समासे सुपो लुकि

या स्वीकार) अर्थम् । प्राध्वं बन्धने—बन्धन अर्थम् 'कृज्' के योगमें 'प्राध्वस्' अव्ययकी नित्य गतिसंज्ञा हो । जीविकोप—जीविका और उपनिषत् की 'कृज्' के योगमें नित्य गति-संज्ञा हो, उपमा अर्थम् ।

प्रादयो—गताद्यर्थमें प्रादिका प्रथमान्तके साथ नित्य समास हो ।

अत्यादयः—क्रान्ताद्यर्थमें अत्यादिका द्वितीयान्तके साथ नित्य समास हो ।

एकविभक्ति—विग्रहमें जो नियत विभक्त्यन्त है, उसकी उपसर्जन संज्ञा हो, परन्तु पूर्वनिपात नहीं हो । गोस्त्रियो—उपसर्जनं जो गोशब्द और स्त्रीप्रत्ययान्त, तदन्त प्राति-पदिकको ह्रस्व हो । अवादयः—कृष्टाद्यर्थमें तृतीयान्तके साथ अवादिका नित्य समास हो ।

पर्यादयो—ग्लानाद्यर्थमें चतुर्थ्यन्तके साथ पर्यादिका नित्य समास हो ।

निरादयः—क्रान्ताद्यर्थमें पञ्चम्यन्तके साथ निरादिका नित्य समास हो ।

त्तरपदो यथा-नरः सिंह इव=नरसिंहः । चरणः पङ्कजमिव=चरणपङ्कजम् । ५-विषयपूर्वपदो

तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् । ३।१।१२। उपपदमतिङ् । २।१।१९। उपपदं समर्थेन नित्यं समस्यते । अतिङन्तश्चायं समासः । कुम्भं करोतीति कुम्भकारः । अतिङ् किम् ? मा भवान् भूत् । माङि लुङिति सप्तमीनिर्देशान्माङुपपदम् ॥ (गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः) । व्याघ्री । कच्छपी । अश्वक्रीतीत्यादि॥ अमैवाव्ययेन । २।२।२०। अमैव तुल्यविधानं यदुपपदं तदेवाव्ययेन सह समस्यते । स्वाङुकारम् । 'स्वाङुमि णमुल्' इति णमुल् । नेह । 'कालसमयवेलासु तुमुन्' । कालः

'एकविभक्तिचापूर्वनिपाते' इत्युपसर्जनसंज्ञायाम्, 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इति ह्रस्वत्वे विभक्तिकार्यं च कृते 'निष्कौशाम्बिः' इति रूपम् । कुम्भकारः । कुम्भं करोतीत्यर्थे 'कर्मण्यण्' इत्यणि 'कुम्भ अस् कृ अण्' इत्यलौकिकविग्रहे 'अचो ङिति' इति वृद्धौ 'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' इति कुम्भशब्दस्योपपदसंज्ञायाम् 'उपपदमतिङ्' इति समासे सुपो लुकि, 'कुम्भकार' इति भूते समासत्वात्प्रातिपदिकत्वे विभक्तिकार्यं च कृते 'कुम्भकारः' इति रूपम् । व्याघ्री । विशेषेण आ समन्ताज्जिघ्रतीति 'व्याघ्री' इत्यत्र 'गतिश्च' इति गतित्वात् सुबुत्पत्तेः पूर्वं 'कुगतिप्रादयः' इति समासे 'व्याघ्र' इति जाते 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' इति ङीप्, ङपयोर्लोपे 'व्याघ्र ई' इति भूते 'यचि भम्' इति भसंज्ञायाम् 'यस्येति च' इति अलोपे, संयोगे विभक्तिकार्यं च कृते 'व्याघ्री' इति । अश्वक्रीती । अश्वेन क्रीता अश्वक्रीती इत्यत्र 'गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनम्, प्राक् सुबुत्पत्तेः' इति परिभाषया सुबुत्पत्तेः प्राक् 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इति समासे, सुपो लुकि, 'क्रीतात्करणपूर्वात्' इति ङीप् ङपयोर्लोपे 'अश्वक्रीत-ई' इति जाते भसंज्ञायां यस्येति लोपे विभक्तिकार्यं च तत्सिद्धिः । सुबन्तेन समासे तु टाप् स्यादिति भावः । अमैवाव्ययेनेति । अमैवेत्यनन्तरं तुल्यविधानमित्यध्याहार्यम् । 'तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्याम्' इति तृतीया । अमैव तुल्येति । अग्रत्ययमात्रविधायकशास्त्रेण अमैव सह यस्य उपपदसंज्ञा विधीयते तदुप-

तत्रोपपदं—सप्तम्यन्त 'कर्मणि' इत्यादि पदों में वाच्यत्वेन स्थित (पदोंका वाच्य) जो कुम्भादि, तद्वाचक जो पद (कुम्भ-आदि), उसकी उपपदसंज्ञा हो (और उपपदसंज्ञा होने पर ही वक्ष्यमाण अणादि प्रत्यय हों) । उपपदमतिङ्—उपपद सुबन्तका तिङन्त भिन्न समर्थके साथ नित्य समास हो ।

गतिकारकोप—गति, कारक और उपपद संज्ञक का सुबुत्पत्तिसे पूर्व ही कृदन्तके साथ समास हो । अमैवाव्ययेन—'अम्' ही के साथ तुल्य विधान है जिसका, ऐसा जो

यथा-घट इति शब्दः—घटशब्दः (घटविषयकः शब्द इत्यर्थः) । देवा इति बुद्धिः=देवबुद्धिः (देव-

समयो वेला वा भोक्तुम् । अमैवेति किम् ? अग्रे भोजं, अग्रे भुक्त्वा । विभाषाग्रे प्रथमपूर्वेष्विति क्त्वाणमुलौ । अमा चान्येन च तुल्यविधानमेतत् ॥ तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम् २।२।२१। उपदंशस्तृतीयायामित्यादीन्युपपदान्यमन्तेनाव्ययेन सह वा समस्यन्ते । मूलकेनोपदंशं भुङ्क्ते—मूलकोपदंशम् । उपदंशस्तृतीयायामिति णमुल् ॥ क्त्वा च २।२।२२। तृतीयाप्रभृतीन्युपपदानि क्त्वान्तेन सह वा समस्यन्ते । उच्चैःकृत्य, उच्चैः कृत्वा ॥ अव्ययेऽयथाभिप्रेताख्याने कृजः क्त्वाणमुलौ तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याव्ययादेः १५४।८६। संख्याव्ययादेरङ्गुल्यन्तस्य तत्पुरुषस्य समासान्तोऽच् स्यात् । द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य द्व्यङ्गुलम् । निरङ्गुलम् ॥ अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः १५४।८७। एभ्यो रात्रेरच् स्यात् । चात् संख्याव्ययादेः । अहर्ग्रहणं द्वन्द्वार्थम् ॥ रात्राह्नाहाः पुंसि २।४।२९। एते पुंस्येव । अहश्च रात्रिश्चाहोरात्रः । सर्वरात्रः । पूर्वात्रः । संख्यातरात्रः । (संख्यापूर्व

पदमव्ययेन समस्यते । पूर्वसूत्रेणैव सिद्धे नियमार्थमिदमित्याह—तदेवेति । भोक्तुमिति । यद्यपि 'कालसमयवेलासु' इति सप्तमीनिर्देशात् कालसमयवेलानामुपपदत्वम् । तथापि कालादीनामुपपदसंज्ञा तुमुना तुल्यविधानेनैव, न त्वमा । अतः कालादीनामुपपदत्वेऽपि न समास इत्यर्थः । तृतीयाप्रभृतीनां तृतीयाशब्देन 'उपदंशस्तृतीयायाम्' इत्यारभ्य 'अन्वच्यानुलोम्ये' इत्यन्तसूत्रोपात्तान्युपपदानि विवक्षितानि । अमेति, अव्ययेनेति चानुवर्तते, एवकारस्तु नानुवर्तते, अस्वरितत्वात् । अमेत्येतदव्ययविशेषणम् । तदाह—उपदंशस्तृतीयायामित्यादिना । क्त्वा चेति । तृतीयाप्रभृतीनीति पूर्वसूत्रमनुवर्तते, क्त्वन्ति तृतीयार्थे प्रथमा । तदाह—तृतीयेति । अव्ययेऽयथेति । 'अव्ययेऽयथाभिप्रेताख्याने कृजः क्त्वाणमुलौ' इति सूत्रेणेत्यर्थः । सर्वरात्रः । सर्वा चासौ रात्रिश्चेति विग्रहे 'विशेषणं विशेष्येण' इति समासे, सुपो लुकि, 'अहस्सर्वैकदेशः' इत्यचि, भसंज्ञायाम् यस्येति लोपे 'रात्राह्नाहाः पुंसि' इति पुंस्त्वे सौ,

उपपद, उसीका अव्ययके साथ समास हो । तृतीया—तृतीया प्रभृति उपपदका अमन्त अव्ययके साथ समास हो, विकल्पसे । क्त्वा च—तृतीया प्रभृति उपपदका क्त्वान्तके साथ भी समास हो, विकल्पसे ।

तत्पुरुषस्या—संख्यादि और अव्ययादि अङ्गुल्यन्त तत्पुरुषसे समासान्त 'अच्' प्रत्यय हो । अहःसर्वैकदेश—अहरादि और संख्याव्ययादि पूर्वपदक रात्रि शब्दान्त तत्पुरुषसे समासान्त 'अच्' प्रत्यय हो । रात्राह्नाहाः—रात्र, अह और अहः शब्दान्त जो द्वन्द्व और तत्पुरुष वह पुल्लिङ्गमें ही हो । संख्यापूर्व—संख्यापूर्वक 'रात्र' शब्द नपुंसक हो ।
विषयिणी बुद्धिः) ६—अवधारणापूर्वपदो यथा—विधैव धनं=विधाधनम् । ७—अवधार-

रात्रं क्लीबम्) । द्विरात्रम् । अतिक्रान्तो रात्रिम्-अतिरात्रः ॥ राजाहःसखिभ्य-
 ष्टच् ॥ ५।४।९१। एतदन्तात्तत्पुरुषाष्टच् । परमराजः । कृष्णसखः ॥ अह्वष्टखोरेच
 । ६।४।१४५। टिलोपः । परमाहः ॥ अह्वोऽह्व एतेभ्यः ॥ ५।४।८८। सर्वादिभ्योऽह-
 न्शब्दस्याह्वादेशः समासान्ते परे । अह्वोऽदन्तात् ॥ ८।४।७। अदन्तपूर्वपदस्था-
 निमित्तादह्वो नस्य णः । सर्वाहः । पूर्वाहः ॥ न संख्यादेः समाहारे ॥ ५।४।८९।
 अह्वोऽह्वादेशो न । द्वयहः ॥ उत्तमैकाभ्यां च ॥ ५।४।९०। अह्वोऽह्वादेशो न ।
 उत्तमशब्दोऽन्त्यार्थः । पुण्यशब्दमाह ॥ (पुण्यसुदिनाभ्यामहः क्लीबतेष्ठा) ।
 पुण्याहम् । सुदिनाहम् । एकाहः ॥ अग्राख्यायामुरसः ॥ ५।४।९३। टच् ।

रुत्वे विसर्गे च तत्सिद्धिः । परमराजः । परमश्चासौ राजा चेति विग्रहः । विशेषणं
 विशेष्येण बहुलम् इति समासः । 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति समासान्तष्टच् ।
 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः । अह्वष्टखोरिति । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—टिलोप इति ।
 टेरित्यनुवर्तते, 'अह्वोपोऽनः' इत्यस्मात् लोप इति चेति भावः । अह्वोऽह्व एतेभ्य इति ।
 पूर्वसूत्रे अहस्सर्वैकदेशसंख्यातपुण्यशब्दा निर्दिष्टाः । तत्र चकारेण संख्याव्यये अनु-
 कृष्टे । अहन्शब्दवर्जं ते सर्वे एतच्छब्देन परामृश्यन्ते, न त्वहश्शब्दः, अहश्शब्दात्
 परस्य अहन्शब्दस्य तत्पुरुषे असम्भवादित्यभिप्रेत्य व्याचष्टे—'वादिभ्य इति । समा-
 सान्ते पर इति । एतत्तु प्रकरणाद्बन्धम् । अह्वोऽदन्तात् । 'पूर्वपदात्संज्ञायाम्' इत्यतः
 पूर्वपदादित्यनुवर्तते । तच्च अदन्तादित्यत्रान्वेति । 'रषाभ्यां नो णः' इति पकारवर्जमनु-
 वर्तते । पूर्वपदादित्यनेन पूर्वपदस्थादिति विवक्षितम् । तदाह—अदन्तपूर्वेति । सर्वाह
 इति । सर्वमहरिति विग्रहे 'पूर्वकाल' इति समासे 'राजाहस्सखिभ्यः' इति 'टच्'
 अह्वादेशः, णत्वं 'रात्राह्वाहाः' इति पुंस्त्वम् । अह्वादेश इति । 'अह्वोऽह्वः' इत्यतस्तदनु-
 वर्तते इति भावः । पुण्याहमिति । पुण्यमहरिति विग्रहे विशेषणसमासः, टच्, टिलोपः,

राजाहःसखिभ्यः—राजन् शब्दान्त और अहन् शब्दान्त तत्पुरुषसे समासान्त 'टच्'
 प्रत्यय हो । अह्वष्ट—अहन् शब्द की 'टि' का लोप 'ट' और 'ख' प्रत्ययके परे हो, अन्यके
 परे नहीं । अह्वोऽह्वः—सर्व, एकदेश, संख्यात और पुण्य शब्दसे पर 'अहन्' शब्दको 'अह'
 आदेश हो, समासान्त प्रत्ययके परे । अह्वोऽदन्तात्—अदन्त पूर्वपदस्थ निमित्तसे पर 'अहन्'
 शब्दके नकारको णत्व हो । न संख्यादेः—समाहारमें वर्तमान संख्यादि 'अहन्' शब्दको
 अह्वादेश नहीं हो । उत्तमैकाभ्यां—उत्तम अर्थात् पुण्य शब्द और एक शब्दसे पर 'अहन्'
 शब्दको अह्वादेश नहीं हो । पुण्यसुदिना—पुण्य और सुदिन शब्दसे पर जो अहन् शब्द
 वह नपुंसकलिंग हो ।

अग्राख्या—अग्राख्या में उरःशब्दान्त तत्पुरुषसे समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो ।

णोत्तरपदो यथा—पुरुषः कुञ्जर इव=पुरुषकुञ्जरः । ८—क्रमिकोभयपदो यथा—पीतश्चासौ

अश्वानामुर इव—अश्वोरसम्, मुख्योऽश्व इत्यर्थः ॥ ग्रामकौटाभ्यां च तक्ष्णः । १५।४।९५। ग्रामतक्षः । कौटतक्षः ॥ अतेः शुनः । १५।४।९६। अतिश्वो वराहः ॥ उपमानादप्राणिषु । १५।४।९७। अप्राणिविषयोपमानवाचिनः शुनष्टच् । आकर्षः श्वेव-आकर्षश्च ॥ उत्तरमृगपूर्वाच्च सक्थनः । १५।४।९८। चादुपमानात् । उत्तरसक्थम् । मृगसक्थम् । पूर्वसक्थम् । फलकमिव सक्थि-फलकसक्थम् ॥ नावो द्विगोः । १५।४।९९। द्विनावम् । त्रिनावम् ॥ अर्धाच्च । १५।४।१००। अर्धनावम् ॥ खार्याः प्राचाम् । १५।४।१०१। द्विगोरर्धाच्च खार्याष्टज्वा । द्विखारम्,

‘पुण्यसुदिनाभ्यां’ इति क्लीबत्वम् । एकाह इति । एकमहरिति विग्रहे ‘पूर्वकाल’ इति समासः । टच्, टिलोपः । अग्राख्यायामिति । पञ्चम्यर्थे सप्तमी । अग्रं प्रधानं तद्वाची य उरश्शब्दः तदन्तात्तत्पुरुषादृच् स्यादित्यर्थः । अश्वानामुर इव । उरो यथा प्रधानं तथेत्यर्थः । अश्वोरसमिति । उरस्शब्देन मुख्यवाचिना षष्ठीसमासः । टच्, ‘परवस्त्रि-ङ्गम्’ इति नपुंसकत्वम् । ग्रामकौटाभ्यामिति । ग्रामकौटाभ्यां परो यस्तच्चनृशब्दः तदन्तात्तत्पुरुषादृच् स्यादित्यर्थः । अतेः शुन इति । अतीत्यन्यथात् परो यः श्वन्-शब्दः तदन्तात्तत्पुरुषादृच् स्यादित्यर्थः । अतिश्व इति । श्वानमतिक्रान्त इति विग्रहः । ‘अत्यादय’ इति समासः । टचि, टिलोपः । श्वापेक्षयाधिकवेगवान् वराह इत्यर्थः । आकर्षः श्वेवेति । आकृष्यते कुसूलादिगतधान्यमनेनेत्याकर्षः । पञ्चावयवदारुविशेषः । ‘उपमितं व्याघ्रादिभिः’ इति समासः । टच्, टिलोपः, ‘आकर्षश्च’ इति रूपम् । उत्तरमृगेति । उत्तर-मृग-पूर्व-पुण्यः उपमानाच्च परो यः सक्थिशब्दः तदन्तात्तत्पुरुषादृच् स्यादित्यर्थः । उत्तरसक्थमिति । उत्तरं सक्थीति विग्रहः । पूर्व सक्थीति विग्रहे ‘पूर्वकाल’ इति समासः । फलकसक्थमिति । फलकमिव सक्थीति विग्रहे ‘मयूरव्यंसका-दित्वात्समासः । सर्वत्र टच्, टिलोपः । द्विनावमिति । समाहारद्विगुः, टच्, आवादेशः, ‘स नपुंसकम्’ इति नपुंसकम् । अर्धाच्चेति । अर्धशब्दात्परो यो नौशब्दः, तदन्तात्तत्पुरुषादृजित्यर्थः । अर्धनावमिति । ‘अर्धं नपुंसकम्’ इति समासः । टच्, आवादेशः ।

ग्राम—ग्राम और कोटसे पर तक्षन् शब्दान्त तत्पुरुषसे समासान्त ‘टच्’ प्रत्यय हो । अतेः शुनः—‘अति’ से पर ‘श्वन्’ शब्दान्त तत्पुरुषसे समासान्त ‘टच्’ प्रत्यय हो । उत्तर—उत्तर, मृग, और उपमानपूर्वक ‘सक्थि’ शब्दान्त तत्पुरुषसे समासान्त ‘टच्’ प्रत्यय हो । नावो द्विगोः—‘नौ’ शब्दान्त द्विगुसे समासान्त ‘टच्’ प्रत्यय हो, अतद्धित लुक्में ।

अर्धाच्च—‘अर्ध’ शब्दसे पर नौ शब्दान्त तत्पुरुषसे समासान्त ‘टच्’ प्रत्यय हो ।

खार्या—द्विगु समासमें और अर्ध शब्दसे पर खारी शब्दसे समासान्त टच् प्रत्यय हो ।

प्रतिबद्धश्च = पीतप्रतिबद्धः (आदौ पीतः पश्चात्प्रतिबद्ध इत्यर्थः) । स्नातश्चासावनुल्लिप्तश्च =

द्विखारि । अर्धखारम्, अर्धखारि । द्वित्रिभ्यामञ्जलेः । ५।४।१०२। द्वयञ्जलम्, द्वयञ्जलि ॥ ब्रह्मणो जानपदाख्यायाम् । ५।४।१०४। ब्रह्मान्तात्तत्पुरुषाट्च् । सुराष्ट्रे ब्रह्मा सुराष्ट्रब्रह्मः ॥ कुमहद्भ्यामन्यतरस्याम् । ५।४।१०५। कुब्रह्मः । कुब्रह्मा । महाब्रह्मः । महाब्रह्मा । 'प्रकारवचने जातीयर्' । महाप्रकारो महाजातीयः ॥ द्वयष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः । ६।३।४७। आत्स्यात् । द्वादश । अष्टादश । अबहुव्रीह्यशीत्योः किम् ? द्वित्राः । द्वयशीतिः ॥ (प्राक्शतादिति वक्तव्यम्) । नेह,—द्विशतम् ॥ त्रेख्ययः । ६।३।४८। त्रिशब्दस्य त्रयसादेशः

कलीवत्वं लोकात् । द्वयञ्जलमिति । द्वयोरञ्जल्योः समाहार इति विग्रहे द्विगुः, टच् 'यस्येति च' 'स नपुंसकम्' । द्वयञ्जलोति । समाहारे द्विगुः । टजभावे सति नपुंसकह्रस्वत्वम् । ब्रह्मणो जानपदाख्यायाम् । जनपदे भवो जानपदः भावप्रधानो निर्देशः । सुराष्ट्रब्रह्म इति । ब्रह्मा विग्रहः । सप्तमीति योगविभागात् समासः । टच् टिलोपः 'परवल्लिङ्गम्' इति पुंस्त्वम् । कुब्रह्म इति । 'कुगतिप्रादयः' इति समासः । टच् टिलोपः । कुब्रह्मेति । टजभावे रूपम् । महाब्रह्म इति । महांश्चासौ ब्रह्मा चेति विग्रहः 'सन्महत्' इत्यादिना समासः । 'आन्महत्' इत्यात्वम् । सवर्णदीर्घः । 'कुमहद्भ्याम्' इति टच् । टिलोपः, 'परवल्लिङ्गम्' इति पुंस्त्वम् । महाब्रह्मेति । टजभावे रूपम् । अष्टादशेति । अष्टौ च दश चेति द्वन्द्वः । अष्टाधिका दशेति वा । द्वित्रा इति । द्वौ वा त्रयो वेति विग्रहः । 'संख्यायान्यया' इति बहुव्रीहिः । बहुव्रीहौ संख्येये 'डच्' इति डच् । बहुव्रीहित्वाद्ब्र द्विशब्दस्य आत्वं न । द्वयशीतिमिति । द्वौ चाशीतिश्चेति समाहारद्वन्द्वः । स्त्रीत्वं लोकात् । अत्राशीतिपरकत्वात् द्विशब्दस्यात्वं न । प्राक्शतादिति । 'द्वयष्टनः संख्यायाम्' इत्येतत् शतप्रभृतिसंख्याशब्दे परे न भवतीति वक्तव्यमित्यर्थः । द्विशतमिति । द्वौ च शतं चेति समाहारद्वन्द्वः । द्वयधिकं शतमिति वा । एवं द्विसहस्रमित्यत्रापि । त्रेख्यय इति । प्राक्शतात् संख्याशब्दे उत्तरपदे परतः त्रे स्थाने त्रयस् आदेशः स्यादित्यर्थः । सन्धिबेलादिषु । त्रयोदशेति पाठात्

द्वित्रिभ्यां—'दि' और 'त्रि' शब्दसे पर अञ्जलि शब्दान्त द्विगुसे समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो । ब्रह्मणो जानपदा—ब्रह्मान्त तत्पुरुषसे समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो, समाससे यदि जानपदत्व (अमुकदेशवासित्व) बोध होता हो । कुमहद्भ्यां—'कु' और 'महद्' से पर ब्रह्मन् शब्दान्त तत्पुरुषसे समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो, विकल्पसे ।

द्वयष्टनः—दि और अष्टन् शब्दको आत्व हो, संख्याके परे । परन्तु बहुव्रीहिमें और अशीतिके परे आत्व नहीं हो । प्राक्शता—'शत' शब्दसे पूर्व जो संख्यावाचक शब्द, उनके परे ही यह (पूर्वोक्त) आत्व हो । त्रेख्ययः—'त्रि' शब्दको 'त्रयस्' आदेश हो

स्नातानुलिप्तः (पूर्व स्नातः पश्चादनुलिप्तः इत्यर्थः) । ९—मध्यमपदलोपी यथा—शाक

स्यात्पूर्वविषये । त्रयोदश । त्रयोविंशति ॥ विभाषा चत्वारिंशत्प्रभृतौ सर्वेषाम् । १६।३।४९। द्व्यष्टनोद्धेश्च प्रागुक्तं वा चत्वारिंशदादौ परे । द्विचत्वारिंशत्, द्वाचत्वारिंशत् । अष्टचत्वारिंशत्, अष्टाचत्वारिंशत् । त्रिचत्वारिंशत्, त्रयश्चत्वारिंशत् । एवं पञ्चाशत्-षष्टि-सप्तति-नवतिषु ॥ परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः । १२।४।२६। कुक्कुटमयूर्याविमौ । मयूरीकुक्कुटाविमौ । अर्धपिप्पली ॥ (द्विगु-प्राप्तापञ्चालंपूर्वगतिसमासेषु न) । पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः—पञ्चकपालः पुरोडाशः । प्राप्तो जीविकां—प्राप्तजीविकः । आपन्नजीविकः । अलंकुमारिः । अत एव ज्ञापकात् समासः । निष्कौशाम्बिः ॥ पूर्ववदश्ववडवौ । १२।४।२७। द्वित्व-मतन्त्रम् । अश्ववडवौ । अश्ववडवान् ॥ अपथं नपुंसकम् । १२।४।३०। तत्पुरुष इत्येव । अन्यत्र तु अपथो देशः । कृतसमासान्तग्रहणान्नेह,—अपन्थाः ॥ (अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः) पञ्चमूली ॥ (आवन्तो वा) ।

सकारान्तोऽयमादेश इति भावः । त्रयोदशेति । त्रयश्च दश चेति, त्र्यधिका दशेति वा विग्रहः । सुब्लुकि त्रिशब्दस्य त्रयस्, रुत्वम्, उत्त्वम्, आद्गुणः । एवं त्रयोविंशतिरित्यपि । सर्वेषामिति । द्व्यष्टनोद्धेश्चेत्यर्थः । पूर्ववदश्ववडवौ । अश्वश्च वडवा च इति द्वन्द्वे परवल्लिङ्गं बाधित्वा पूर्ववल्लिङ्गार्थमिदम् । अश्ववडवाविति द्वन्द्वः पूर्वपदस्य लिङ्गं लभते इत्यर्थे बहुवचने विभक्त्यन्तरे च न स्यादित्यत आह—द्वित्वमतन्त्रमिति । अपथं नपुंसकमिति । न पन्था इति विग्रहे नञ्समासे नञो नस्य लोपे 'ऋक्पूः' इत्यप्रत्यये टिलोपे अपथशब्दः, स नपुंसकमित्यर्थः । परवल्लिङ्ग-तापवादः । तत्पुरुष इत्येवेति । 'परवल्लिङ्गम्' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । अकारान्तेति । अकारान्तम् उत्तरपदं यस्येति विग्रहः । 'स नपुंसकम्' इत्यस्यापवादः । पञ्चमूलीति । समाहारद्विगुः, स्त्रीत्वं, 'द्विगोः' इति ङीप् । आवन्तो वेति । स्त्रियां

पूर्व (सूत्र तथा वार्तिक) के विषयमें । विभाषा—द्वि, अष्टन् और त्रि शब्दको प्रागुक्त (आत्वादि) कार्य विकल्पसे हों, (शतसे पूर्व) चत्वारिंशत् प्रभृति संख्यावाचक शब्दके परे ।

परवल्लिङ्गं—द्वन्द्व और तत्पुरुषमें पर पदकी तरह ही लिङ्ग हो ।

द्विगुप्राप्ता—द्विगु समास और प्राप्त, आपन्न तथा अलम् पूर्वक समास और गति समासको पर पदकी तरह लिङ्ग नहीं हो । पूर्ववदश्व—अश्व और वडवाको तत्पुरुष समासमें पूर्वपदके समान ही लिङ्ग हो । अपथं—'अपथ' शब्द तत्पुरुषमें नपुंसक लिङ्ग हो । अकारान्तोत्तर—अकारान्तोत्तर पदक द्विगु, ङीलिङ्ग हो । आवन्तो वा—आवन्तोत्तर द्विगु, विकल्पसे ङीलिङ्ग हो ।

प्रियः पार्थिवः = शाकपार्थिवः । देवपूजको ब्राह्मणः=देवब्राह्मणः । इति केवलः कर्मधारयः ।

पञ्चखट्वम्, पञ्चखट्वी ॥ (पात्राद्यन्तस्य न) । पञ्चपात्रम् । त्रिभुवनम् ।
चतुर्युगम् ॥ छाया बाहुल्ये । १२।४।२२। छायान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकं स्यात् पूर्व-
पदार्थबाहुल्ये । इच्छूणां छाया-इच्छुच्छायम् ॥ सभाराजाऽमनुष्यपूर्वा । १२।४।२३।
राजपर्यायपूर्वोऽमनुष्यपूर्वश्च सभान्तस्तत्पुरुषो नपुंसकं स्यात् । इनसभम् । ईश्वर-
सभम् । अमनुष्यशब्दो रूढ्या रक्षःपिशाचादीनाह । रक्षसभम् । पिशाचसभम् ॥
विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम् । १२।४।२५। एतदन्तस्तत्पुरुषः
क्लीवं वा । ब्राह्मणसेनम् । ब्राह्मणसेना, इत्यादि ॥ अशाला च । १२।४।२४।
संघातार्था या सभा तदन्तस्तत्पुरुषः क्लीवं स्यात् । स्त्रीसभम्, स्त्रीसंघात इत्यर्थः ।
अशाला किम् ? धर्मसभा, धर्मशालेत्यर्थः ॥ अर्धर्चाः पुंसि च । १२।४।३१।
अर्धर्चादयः पुंसि क्लीवे च स्युः । अर्धर्चः, अर्धर्चम् । एवं ध्वजतीर्थशरीरमण्डपयूष-
देहाङ्कुशकलशसूत्रपात्रादयः सामान्ये नपुंसकम् । मृदु पचति । प्रातः कमनीयम् ॥
इति तत्पुरुषसमासप्रकरणम् ।

चेति वक्तव्यमित्यर्थः । पञ्चखट्वामिति । समाहारद्विगुः । नपुंसकत्वे ह्रस्वः । पञ्च-
खट्वोति । उपसर्जनह्रस्वत्वे अदन्तत्वात् 'द्विगोः' इति ङीप् । पात्राद्यन्तस्य नेति ।
पात्रादिर्गणः । तदन्तस्य समाहारद्विगोः न स्त्रीत्वमिति वक्तव्यमित्यर्थः । पञ्चपात्र-
मित्यादि । स्त्रीत्वाभावे 'स नपुंसकम्' इति नपुंसकत्वमिति भावः । इति तत्पुरुषः ॥

पात्राद्यन्तस्य—पात्राद्यन्त द्विगु समास स्त्रीलिङ्गमे नहीं हा । छाया—छायान्त
तत्पुरुष नपुंसक लिङ्ग हो, पूर्वपदार्थके बाहुल्यमें । सभाराजा—राजपर्याय पूर्वक और अम-
नुष्य पूर्वक समासान्त तत्पुरुष, नपुंसकलिङ्ग हो । विभाषा—सेनाद्यन्त तत्पुरुष विकल्पसे
नपुंसक लिङ्ग हो । अशाला च—संघातार्थक समाशब्दान्त तत्पुरुष नपुंसक लिङ्ग हो ।

अर्धर्चा—अर्धर्चादि गणपठित शब्द पुलिङ्ग और नपुंसक लिङ्गमें हों ।

सामान्ये—सामान्यमें नपुंसक हो । अर्थात् किसी लिङ्ग विशेषकी विवक्षा नहीं करके
केवल लिङ्ग सामान्यकी ही विवक्षा हो तो नपुंसक लिङ्ग हो ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें तत्पुरुषसमास प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ द्विगुः । त्रयाणां लोकानां समाहारः = त्रिलोकी । त्रयाणां भुवनानां समाहारः =
त्रिभुवनम् । चतुर्णां युगानां समाहारः = चतुर्युगम् । पञ्चानां गवां समाहारः = पञ्चगवम् ।
षण्णां करिणां समाहारः = षट्करि । द्वादशानां धेनूनां समाहारः = द्वादशधेनु । पञ्चानां सरितां
समाहारः = पञ्चसरित् । इति तत्पुरुषः ।

अथ बहुव्रीहिसमासप्रकरणम्

शेषो बहुव्रीहिः । २।२।२३। अधिकारोऽयं प्राप्तद्वन्द्वात् ॥ अनेकमन्यपदार्थे । २।२।२४। अनेकं प्रथमान्तमन्यपदार्थे वर्तमानं वा समस्यते स बहुव्रीहिः ॥ सप्तमी-विशेषणे बहुव्रीहौ । २।२।२५। सप्तम्यन्तं विशेषणं च बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात् ॥ हलन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम् । ६।३।९। हलन्ताददन्ताच्च सप्तम्या अलुक् ॥ कण्ठेकालः । अत एव ज्ञापकाद्व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः । प्राप्तमुदकं यं स प्रातोदको ग्रामः । ऊढरथोऽनड्वान् उपहृतपशू रुद्रः । उद्धृतौदना स्थाली । पीताम्बरो हरिः ।

शेषो बहुव्रीहिरिति उक्तादन्यः शेषः । 'द्वितीया श्रित' इत्यादिना (शास्त्रेण) यस्य त्रिकस्य (विभक्तेः) विशिष्यसमासो नोक्तः स शेषः, प्रथमान्त इत्यर्थः । कण्ठेकालः । कण्ठे कालः इत्यत्र 'अनेकमन्यपदार्थे' इत्यनेन (ज्ञापकात्) बहुव्रीहिसमासे, 'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' इति सप्तम्यन्तस्य पूर्वनिपाते, समासत्वात्प्राप्तिः ।

शेषो बहुव्रीहिः—द्वन्द्व समाससे पूर्व बहुव्रीहिका अधिकार है ।

नोटः—बहुव्रीहि समासमें जितने समास विधायक सूत्र हैं, सभीसे समासके साथ ही साथ बहुव्रीहिसंज्ञा भी होगी ।

अनेकमन्य—अन्य पदार्थमें वर्तमान जो अनेक प्रथमान्त वे (परस्पर) समस्त हों, विकल्पसे और वह समास बहुव्रीहि संज्ञक हो ।

नोटः—जिन समस्त शब्दोंमें किसीकी प्रधानता न हो, प्रत्युत समस्त शब्दसे कोई विशेष अर्थ प्रतिभासित हो जाय, उसे बहुव्रीहि समास कहते हैं । जैसे—पीताम्बर, पीला हो अंबर जिसका (विष्णु भगवान्) । चन्द्रमुखी—चन्द्र—सा मुख हो जिसका (सुन्दरी स्त्री) इत्यादि । बहुव्रीहि समाससे निष्पन्न विशेषणमें विशेषणसूचक प्रत्यय प्रायः नहीं रहता । जैसे—'निर्धन' और 'निरपराध' । बहुव्रीहिमें 'निर्धनी' और 'निरपराधी' हो जाता है । शब्दान्तरकी विशेषणता या विशेष अर्थ नहीं होने पर बहुव्रीहि समासके शब्द यत्र तत्र कर्म-धारय व द्विगु समासमें परिणत हो जाते हैं । जैसे—'पीताम्बर' यहां 'पीला वस्त्र' ऐसा अर्थ होने पर (पीतश्चासौ अम्बरः) कर्मधारय समास होता है । एवं 'चतुर्भुज' का अर्थ 'विष्णु' न होकर 'चार भुजायें' ऐसा अर्थ होने पर (चतुर्णां भुजानां समाहारः) द्विगु समास होता है । (और बातें समासचन्द्रिका (१) की टिप्पणीमें देखो) ।

सप्तमी विशेषणे—सप्तम्यन्त तथा विशेषणका बहुव्रीहिमें पूर्व निपात हो ।

हलन्तात्—संज्ञामें हलन्त और अदन्तसे पर सप्तमीका लुक् नहीं हो ।

(१) प्रायेण समासघटकपदार्थान्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः । (द्वित्रा इत्यादौ समासघटकपदार्थप्राधान्यात् प्रायेणेत्युक्तम्) स पञ्चविधः । सामान्यलक्षणः, संख्योत्तरपदः, अन्तरालविषयकः, व्यतिहारविषयकः, सहयोगविषयकश्चेति । तत्र सामान्यलक्षणो द्वेषः ।

वीरपुरुषको ग्रामः ॥ (प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः) ।
 प्रपतितपर्णः प्रपर्णः ॥ (नजोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः) । अवि-
 द्यमानपुत्रोऽपुत्रः । स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रिया-
 मपूरणीप्रियादिषु । ६।३।३४। उक्तपुंस्कात्पर ऊङ्भावो यत्र तथाभूतस्य स्त्रीवाच-
 कशब्दस्य पुंवाचकशब्दस्येव रूपं स्यात् समानाधिकरणे स्त्रीलिङ्गे उत्तरपदे, न तु पूरण्यां

पदिकसंज्ञायां 'हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम्' इति सप्तम्याः अलुकि, सुपो लुकि,
 समुदायात्सौ, रुत्वे विसर्गे च तत्सिद्धिः । वीरपुरुषो ग्रामः । वीराः पुरुषाः यस्मिन्
 इति विग्रहः । अत्र 'अनेकमन्यपदार्थे' इति समासे, सुपो लुकि, 'शेषाद्विभाषा'
 इति कपि, समुदायात्सौ, रुत्वे, विसर्गे च तत्सिद्धिः । प्रादिभ्यः । प्रादिभ्यः परं
 यद्धातुजप्रकृतिकप्रथमान्तं तस्य अन्येन प्रथमान्तेन बहुव्रीहिर्वाच्यः, तत्र बहुव्रीहौ
 प्रादिभ्यः परस्य उत्तरपदस्य धातुजस्य लोपश्च विकल्पेन वाच्य इत्यर्थः । प्रपतितपर्ण
 इति । प्रकृष्टं पतितं प्रपतितम् । 'प्रादयो गताद्यर्थे' इति समासः । प्रपतितं पर्ण
 यस्मादिति बहुव्रीहिः । प्रपर्ण इति । प्रपतितेति पूर्वपदे धातुजस्य उत्तरपदस्य लोपे
 रूपम् । नजोऽस्त्यर्थानाम् । नजः परेषामस्त्यर्थवाचिनां सुब्रन्तानां बहुव्रीहिर्वाच्यः ।
 तत्रास्त्यर्थवाचिनामुत्तरपदभूतानां लोपश्च वा वक्तव्य इत्यर्थः । अविद्यमानपुत्र इति ।
 न विद्यमान इति नञ्समासः । नजो नलोपः । अविद्यमानः पुत्रो यस्येति बहुव्रीहिः ।
 अपुत्र इति । अस्त्यर्थकविद्यमानशब्दस्य लोपे रूपम् । स्त्रियाः पुंवत् । भाषितः पुमान्
 यस्मिन्नर्थे प्रवृत्तिनिमित्तं स भाषितपुंस्कशब्देनोच्यते । तस्य प्रतिपादको यः शब्दः
 सोऽपि भाषितपुंस्कः । ऊङोऽभावोऽनूङ् । भाषितपुंस्कादनूङ् यस्मिन् स्त्रीशब्दे स
 भाषितपुंस्कादनूङ्स्त्रीशब्दः । स्त्रियामिति सप्तम्यन्तमपि न स्त्रीप्रत्ययपरं किन्तु
 स्त्रीलिङ्गरूपम् । तच्च 'अलुगुत्तरपदे' इत्यधिकृते उत्तरपदेऽन्वेति । तदाह—स्त्रीलिङ्ग

प्रादिभ्यो—प्रादिस पर जो धातुज (पतितादि), तत्प्रकृतिभूत जो प्रथमान्त, तदन्त
 जो प्रपतितादि पद, उनका पदान्तरके साथ समास हो और प्रादिसे पर पतितादि उत्तर
 पदका विकल्पसे लोप हो ।

नजो—'नञ्' से पर अस्त्यर्थक सुब्रन्तोंका बहुव्रीहि समास हो, और उत्तरपदस्थ अस्त्य-
 र्थक शब्दोंका विकल्पसे लोप हो ।

स्त्रियाः पुंवत्—भाषित पुंस्कासे पर ऊङ् प्रत्ययका अभाव है जिसमें, ऐसा जो स्त्री-
 वाचक शब्द, उसका पुंवाचकके समान रूप हो, समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग उत्तर पदके परे ।
 किन्तु पूरण प्रत्ययान्त और प्रियादिके परे यह पुंवद्भाव नहीं हो ।

समानाधिकरणो व्यधिकरणश्च । तत्र समानाधिकरणोऽपि द्वेधा द्विपदी बहुपदश्च । स द्विवि-
 धोऽपि प्रत्येकं षड्विधः द्वितीयाबहुव्रीहिः, तृतीयाबहुव्रीहिः, चतुर्थीबहुव्रीहिः, पञ्चमीबहुव्रीहिः,

प्रियादौ च परतः । गोस्त्रियोरिति ह्रस्वः । चित्रगुः । रूपवद्भार्यः । अनूङ्ः किम् ? वामोरुभार्यः । पूरण्यां तु ॥ अप्पूणीप्रमाणयोः । ५।४।११६। पूरणार्थ-प्रत्ययान्तं यत्स्त्रीलिङ्गं तदन्तात्प्रमाण्यन्ताच्च बहुव्रीहेरप् स्यात् । कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणां ताः—कल्याणीपञ्चमा रात्रयः । स्त्री प्रमाणी यस्य स—स्त्रीप्रमाणः । पुंवद्भावाप्रतिषेधोऽप्रत्ययश्च प्रधानपूरण्यामेव । रात्रिः पूरणीवाच्या चेत्युक्तोदाहरणो मुख्या । अन्यत्र तु—नद्यृतश्च । ५।४।१५३। नद्युत्तरपदाद्दन्तोत्तरपदाच्च बहुव्रीहेः कप् । पुंवद्भावः । केऽणः । ७।४।१३। ह्रस्वः । इति प्राप्ते ॥ न कपि । ७।४।१४। अणो ह्रस्वो न । कल्याणपञ्चमीकः पक्षः । अत्र तिरोहितावयवभेदस्य पक्षस्यान्यपदार्थतया रात्रिर-

उत्तरपदे इति । ह्रस्व इति । चित्रा गावो यस्येति विग्रहे बहुव्रीहिसमासे सुब्लुकि सति अनेकमिति प्रथमान्तनिर्दिष्टतया, विग्रहे नियतविभक्तिकतया वा उपसर्जनत्वे सति चित्रगोशब्दे ओकारस्य 'गोस्त्रियोः' इत्युकारो ह्रस्व इत्यर्थः । चित्रगुः । चित्रा गौर्यस्य इति विग्रहे 'अनेकमन्यपदार्थे' इति समासे सुपो लुकि, 'स्त्रिया पुंवद्भाषितपुंस्कादनुङ्समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु' इति 'चित्रा' इत्यस्य पुंवद्भावे गोशब्दस्य 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इति ह्रस्वत्वे विभक्तिकार्यं च तत्सिद्धिः । रूपवद्भार्यः । रूपवती भार्या यस्य इति विग्रहे 'अनेकमन्यपदार्थे' इति बहुव्रीहिसमासे सुपो लुकि, 'स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्' इति पूर्वपदस्य पुंवद्भावे, उत्तरपदस्य 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इति ह्रस्वत्वे विभक्तिकार्यं च तत्सिद्धिः । नद्यृतश्च । नदी च ऋच्चेति समाहारद्वन्द्वरूपञ्चमी । 'बहुव्रीहौ सक्थ्यच्णोः' इत्यतो बहुव्रीहोर्वित्यनुवृत्तं पञ्चम्या विपरिणम्यते । तदाचिसमुत्तरपदं नद्यृत्यां विशेष्यते । तदन्तविधिः । 'उरःप्रभृतिभ्यः' इत्यतः कञित्यनुवर्तते । तदाह—नद्युत्तरपदादिति । नद्यन्तोत्तरपदादित्यर्थः । ह्रस्वः स्यादिति । 'शृद्धप्राप्' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । न कपि । अणो ह्रस्व इति । 'केऽणः' इत्यतः 'शृद्धप्राप्' इत्यतश्च तदनुवृत्तेरिति भावः । रात्रिरः

अप्पूणी—पूरणार्थं प्रत्ययान्त जो स्त्रीलिङ्ग, तदन्त बहुव्रीहिसे और प्रमाण्यन्त बहुव्रीहिसे समासान्त 'अप्' प्रत्यय हो । नद्यृतश्च—नद्युत्तरपदक और ऋदन्तोत्तरपदक बहुव्रीहिसे समासान्त 'कप्' प्रत्यय हो ।

केऽणः—'क' प्रत्ययके परे 'अण्' को ह्रस्व हो । न कपि—'कप्' प्रत्ययके परे 'अण्'

पष्ठीबहुव्रीहिश्चेति । द्वितीयाबहुव्रीहिर्यथा—प्राप्त उदकं यं स प्राप्तोदकः (ग्रामः) । गतः क्रुद्धः सिंहो यं सः गतक्रुद्धसिंहः (करी) ।

तृतीयाबहुव्रीहिर्यथा—जितः कामो येन सः=जितकामः (शिवः) । अजिता विख्याता संपत् येन सः = अजितविख्यातसम्पत् । चतुर्थीबहुव्रीहिर्यथा—उपहतः पशुः यस्मै सः=

प्रधानम् । बहुकर्तृकः । अप्रियादिषु किम् ? कल्याणप्रियः । प्रिया । मनोज्ञा । कल्याणी । सुभगा । दुर्भगा । भक्तिः । सचिवा । स्वसा । कान्ता । क्षान्ता । समा । चपला । दुहिता । बाला । वामा । अबला । तनया । (सामान्ये नपुंसकम्) । दृढं भक्तिर्दस्य सः—दृढभक्तिः । स्त्रीत्वविवक्षायां तु—दृढाभक्तिः ॥ तसिलादिष्वाकृत्व-
सुचः । ६।३।३५। तसिलादिषु कृत्वसुजन्तेषु स्त्रियाः पुंवत् । परिगणनं कर्तव्यम् । त्रतसौ । तरप्तमपौ । चरट्जातीयरौ । कल्पन्देशीयरौ । रूपपाशपौ । थाल् । तिल्-
ध्यनौ । एषु परेषु स्त्रियाः पुंवत् । बह्वीषु इति बहुत्र । बहुत इत्यादि ॥ (त्वत्त्वलो-
गुणवचनस्य) शुक्लत्वम् । शुक्लता ॥ (भस्याऽढे तद्धिते) हस्तिनीनां समूहो
हास्तिकम् । अढे किम् ? रौहिणेयः । (कुक्कुट्यादीनामण्डादिषु) । कुक्कुटाण्डम् ।

प्रधानमिति । रात्रेः तत्प्रवेशाभावात् अप्राधान्यमिति भावः । बहुकर्तृक इति । बहवः
कर्तारो यस्येति विग्रहः । कल्याणीप्रिय इति । कल्याणी प्रिया यस्येति विग्रहः ।
तसिलादिष्विति । 'स्त्रियाः पुंवत्' इत्यनुवर्तते । आ कृत्वसुच इत्याङ् अभिविध्यर्थकः,
तमभिन्न्याप्येत्यर्थः । तदाह—तसिलादिषु कृत्वसुजन्तेष्विति । 'पञ्चम्यास्तसिल्' इत्या-
रभ्य 'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' इत्येतत्पर्यन्तसूत्रविहितेष्वित्यर्थः ।
परिगणनमिति । अव्याप्यतिव्यासिपरिहारायेत्यर्थः । बह्वीषु बहुत्र इति । बह्वीषु इत्यर्थे
बह्वीशब्दात् 'सप्तम्यास्त्रल्' इति त्रलि पुंस्त्वे ङीषो निवृत्तौ बहुत्रेति रूपमित्यर्थः ।
बहुत इति । 'पञ्चम्यास्तसिल्' इति बह्वीशब्दात् तसिल्, पुंस्त्वात् ङीषो निवृत्ति-
रिति भावः । त्वत्त्वलोरिति । त्वप्रत्यये तल्प्रत्यये च परे गुणोपसर्जनद्रव्यवाचिनः
पुंस्त्वं वक्तव्यमित्यर्थः । भस्याऽढे इति । ढमिन्ने तद्धिते परे स्त्रियाः पुंस्त्वं वक्तव्य-
मित्यर्थः । परिगणितेष्वनन्तर्भावाच्चनम् । हास्तिकमिति । 'तस्य समूहः' इत्यधि-
कारे 'अचित्तहस्तिधेनोः' इति ठक् । ठस्येकः । पुंस्त्वे सति नान्तलक्षणङीषो
निवृत्तिः । 'नस्तद्धिते' इति टिलोप इति भावः । रौहिणेय इति । 'वर्णादिनुदात्तात्'
इति रोहितशब्दात् ङीप्, तकारस्य नकारश्च । रोहिण्याः अपत्यमित्यर्थे 'स्त्रीभ्यो'
ढक् एयादेशः । 'भस्य' इति पुंस्त्वे ङीष्कारयोः निवृत्तिः स्यादिति भावः । कुक्कु-

को हस्व नहीं हो ।

सामान्ये—सामान्य लिंगकी विवक्षामें नपुंसक हो ।

तसिलादि—तसिलादिसे कृत्वसुच् पर्यन्त प्रत्ययके परे स्त्रीवाचक शब्द का पुंवद्भाव हो ।

त्वत्त्वलोगुण—'त्व' और 'तल्' प्रत्ययके परे गुणवाचक शब्द को पुंवद्भाव हो ।

भस्याऽढे—भसंज्ञकको पुंवद्भाव हो, 'ढ' प्रत्ययभिन्न तद्धित प्रत्ययके परे ।

कुक्कुट्यादीनां—कुक्कुटी आदि शब्दको पुंवद्भाव हो, अण्डादि उत्तर पदके परे ।

उपहृतपशुः (रुद्रः) । प्रदत्ताः सुन्दरा अश्वा यस्मै सः = प्रदत्तसुन्दराश्वः । पञ्चमीबहुव्रीहि-

मृगपदम् । मृगक्षीरम् । काकशावः ॥ क्यङ्मानिनोश्च । ६।३।३६। पुंवत् । एनी-
वाचरति-एतायते । श्येनीवाचरति-श्येतायते । दर्शनीयां स्त्रियं मन्यते-दर्शनीयमा-
निनी ॥ न कोपधायाः । ६।३।३७। स्त्रियाः पुंवत् । पाचिकाभार्यः । रसिकाभार्यः ।
मद्रिकायते । मद्रिकामानिनी । (कोपधप्रतिषेधेतद्धितबुग्रहणम्) । नेह-पाकभार्यः ।

ट्यादीनामिति । पुंवत्त्वं वक्तव्यमिति शेषः । असमानाधिकरणार्थमिदमिति सूचयन्
पष्ठोसमासमुदाहरति—कुङ्कुट्या अण्डमिति । पुंवत्त्वेन जातिलक्षणङीपो निवृत्तिरिति
भावः । क्यङ् मानिनोश्चेति । क्यङि मानिनि च उत्तरपदे परत इत्यर्थः । एनीवेति ।
एता चित्रवर्णा । 'वर्णादनुदात्ता' इति ङीप् नकारश्च । 'उपमानादाचारे' इत्यनुव-
र्तमाने 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' इति एनीशब्दात् क्यङि पुंवत्त्वेन ङीवन्त्वयोर्निवृत्तौ,
'अकृत्सावधानुकयोः' इति दीर्घे 'एतायते' इति रूपम् । श्येनीवेति । श्येतशब्दः
श्वेतस्यार्थः । क्यङादिपूर्ववत् । दर्शनीयमानिनीति । दर्शनीयामिति द्वितीयान्ते उपपदे
'सुप्यजातौ णिनि'रित्यनुवर्तमाने 'मनः' इति णिनिप्रत्ययः, उपपदसमासः,
सुब्लुक्, असमानाधिकरणेऽपि मनिन्शब्दे उपपदे परे अनेन पुंवत्त्वे टापो निवृत्तौ
'ऋन्नेभ्यः' इति ङीपि दर्शनीयमानिनीति रूपम् । पाचिकाभार्य इति । पाचिका
भार्या यस्येति विग्रहः । पचो ण्युल् । अकादेशटाबिस्त्वानि, पुंवत्त्वे टाबिस्त्वयोर्नि-
वृत्तिः स्यात् । रसिकेति । रसोऽस्यास्तीति रसिका, 'अत इनिठनौ' इति ठन् ।
ठस्येकः । टाप्, पुंवत्त्वनिषेधः । पुंवत्त्वे तु टापो निवृत्तिः स्यात् । मद्रिकायते इति ।
मद्राख्ये देशविशेषे भवा मद्रिका, 'मद्रवृज्योः कन्' टाप् इत्त्वम् । मद्रिकेवाचरती-
त्यर्थः । 'क्यङ्मानिनोश्च' इति पुंवत्त्वं प्रासमिह निषिध्यते । मद्रिकामानिनीति । मद्रिकां
मन्यते इत्यर्थे 'मनश्च' इति णिनिः । उपपदसमासः । इहापि 'क्यङ्मानिनोश्च' इति
पुंवत्त्वं प्रासं निषिध्यते । उभयत्रापि पुंवत्त्वे टाबिस्त्वयोर्निवृत्तिः स्यात् । तद्धितबुग्रह-
णमिति । तद्धितसम्बन्धी बुसम्बन्धी च यः ककारः तदुपधायाः स्त्रिया न पुंवत्त्व-
मिति फलति । मद्रिकायते इति तद्धितकोपधोदाहरणम् । पाचिकाभार्य इति तु
बुसम्बन्धिकोपधोदाहरणम् । पाकेति । अयं तद्धितस्य बुग्रत्ययस्य वा न ककारः

क्यङ्मानि—क्यङ् और मानिनि प्रत्ययके परे स्त्रीवाचक शब्दको पुंवद्भाव हो ।

न कोपधायाः—कोपध स्त्रीवाचक शब्दको पुंवद्भाव नहीं हो ।

कोपधप्रतिषेधे—कोपधके पुंवद्भाव-प्रतिषेधमें तद्धितका और 'बु' का ही ग्रहण हो ।

यथा—उद्धृत ओदनो यस्याः सा=उद्धृतोदना (स्थाली) । सम्पादितं भूरि धनं यस्मा-
त्तत् = संपादितभूरिधनम् (चातुर्यम्) । षष्ठीबहुव्रीहियंथा, पुँल्लिङ्गे—पीताम्बरं यस्य
सः = पीताम्बरः (विष्णुः) । एको ग्रामो ययोस्तौ = एकग्रामौ (पान्थौ) । एको गुरुर्धेवां
ते = एकगुरुवः (शिष्याः) । स्त्रीलिङ्गे—रक्तं वस्त्रं यस्याः सा = रक्तवस्त्रा (स्त्री) । एकं

संज्ञापूरणयोश्च । ६।३।३८। न पुंवत् । दत्ताभार्यः । पञ्चमीभार्यः ॥ वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्यारक्तविकारे । ६।३।३९। वृद्धिशब्देन विहिता या वृद्धिस्तद्धेतुर्यस्तद्धितोऽरक्तविकारार्थस्तदन्ता स्त्री न पुंवत् । स्त्रीभार्यः । रक्तेतु-काषायकन्थः ॥ विकारे तु-हैममुद्रिकः ॥ स्वाङ्गाच्चेतः । ६।३।४०। स्वाङ्गाच्च ईकारस्तदन्तात्स्त्री न पुंवत् । सुकेशीभार्यः । स्वाङ्गात्किम् ? पटुभार्यः । ईतः किम् ? अकेशभार्यः ॥

इति नात्र पुंवस्वनिषेध इति भावः । दत्ताभार्य इति । दत्ताशब्दस्य संज्ञात्वेन दानक्रियां पुरस्कृत्यैव स्त्रियां पुंसि च संज्ञाभूतः प्रवृत्तः, अतस्तस्य भाषितपुंस्त्वत्वात् पुंवस्वे प्राप्ते निषेधोऽयमित्यर्थः । पञ्चमीभार्य इति । पञ्चमी भार्या यस्येति विग्रहः । अत्र 'स्त्रियाः पुंवत्' इति प्राप्तं निषिध्यते । वृद्धिनिमित्तस्य च । वृद्धेर्निमित्तं हेतुरिति विग्रहः । रक्तं च विकारश्चेति समाहारद्वन्द्वः । ततो नञ्त्तत्पुरुषः । रक्तविकारभिन्नेऽर्थे विद्यमानस्येत्यर्थः । वृद्धिशब्देन विहितैव वृद्धिरिह विवक्षिता, व्याख्यानात् । तदाह-वृद्धिशब्देनेत्यादिना । तदन्तेति । प्रत्ययग्रहणपरिभाषालभ्यम् । स्त्रीभार्य इति । सुक्तो देशः 'तत्र भव' इत्यण् 'यस्येति च' इत्यकारलोपः । गिरवादादिवृद्धिः 'टिड्ढाणञ्' इति ङीप् । स्त्रीभार्या यस्येति विग्रहः । 'स्त्रियाः पुंवत्' इति प्राप्तमिह निषिध्यते । रक्ते त्विति । रक्तेऽर्थे विद्यमानस्य तद्धितस्य न पुंवस्वनिषेध इत्यर्थः । काषायकन्थ इति । कषायो गैरिको धातुविशेषः, तेन रक्ता कषायी 'तेन रक्तं रागात्' इत्यणि 'यस्येति च' इति लोपः, आदिवृद्धिः, 'टिड्ढाणञ्' इति ङीप् । पुंवस्वे ङीपो निवृत्तिः । अत्राणः तद्धितस्य रक्तार्थकत्वात् न पुंवस्वनिषेधः । विकारे त्विति । विकारार्थं विद्यमानस्य तद्धितस्य न पुंवस्वनिषेध इत्यर्थः । हैममुद्रिक इति । हैमी मुद्रिका यस्येति विग्रहः । पुंवस्वे ङीपो निवृत्तिः । अत्राणस्तद्धितस्य विकारार्थकत्वाच्च पुंवस्वनिषेधः । स्वाङ्गाच्चे इति ईत इति छेदः । तदाह—स्वाङ्गाच्च ईकार इति । सुकेशीभार्य इति । सु शोभनाः केशाः यस्याः सा सुकेशी, 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्' इति ङीप् 'स्त्रियाः पुंवत्' इति प्राप्तस्य निषेधः । पटुभार्य इति । पटुवी भार्या यस्येति विग्रहः । पटुत्वस्य अस्वाङ्गत्वाच्च पुंवस्वनिषेधः । किंतु पुंवस्वे 'वोतो गुणवचनात्' इति ङीपो निवृत्तिरिति भावः । अकेशभार्य इति । अविद्यमानाः केशाः यस्याः सा अकेशा 'नञोऽस्त्यर्थानाम्' इति बहुव्रीहिः, विद्य-

संज्ञापूरणयोश्च—संज्ञावाचक और पूरण प्रत्ययान्त खीलिङ्ग शब्दका पुंवद्भाव नहीं हो । वृद्धिनिमित्तस्य—वृद्धिशब्देन विहित जो वृद्धि तद्धेतु जो रक्तविकारार्थक भिन्न तद्धित, तदन्त खीवाचक शब्दको पुंवद्भाव नहीं हो । स्वाङ्गाच्चेतः—स्वाङ्ग वाचकते पर जो ईकार, तदन्त खीवाचक शब्दको पुंवद्भाव नहीं हो ।

मन्दिरं ययोः ते=एकमन्दिरे (जाये) । चारुणि भूषणानि यासां ताः=चारुभूषणा (स्त्रियः) । नपुंसके—चित्राः मित्तयो यस्य तत् = चित्तमिति (गृहम्) । अनर्घ्याणि रत्नानि

(अमानिनीति वक्तव्यम्) । सुकेशमानिनी ॥ जातेश्च । ६।३।४१। न पुंवत् ।
ब्राह्मणीभार्यः । शूद्राभार्यः ॥ संख्ययाऽव्ययासन्नादुराधिकसंख्याः संख्येये ।
।२।२।२५। संख्येयार्थया संख्ययाऽव्ययादयः समस्यन्ते स बहुव्रीहिः ॥ बहुव्रीहौ
संख्येये डजबहुगणात् । ५।४।७३। संख्येये यो बहुव्रीहिस्तस्माड्बच् समासान्तः ।
दशानां समीपे ये सन्ति ते-उपदशाः । अवहुगणात् किम् ? उपबहवः । उपगणाः ॥
ति विंशतेडिति । ६।४।१४२। विंशतेर्भस्य टेलोपो डिति । आसन्नविंशाः, विंशतेरा-

मानशब्दस्य लोपश्च । स्वाङ्गत्वेऽपि न डीप् 'सहनञ्विद्यमान' इति निषेधात् । अतष्टा-
वेव । स्वाङ्गत्वेऽपि ईकाराभावान्न पुंवस्वनिषेधः । किंतु पुंवस्वे टापो निवृत्तिरिति भावः ।
अमानिनीति । 'स्वाङ्गाच्च' इति निषेधः मानिन्शब्दे परतः न भवतीति वक्तव्यमित्यर्थः ।
सुकेशमानिनीति । सुकेशीं मन्यते इत्यर्थे 'सनश्च' इति णिनिः, उपधावृद्धिः, उपपदसमा-
सः, सुव्लक्, पुंवस्वे डीपो निवृत्तिरिति भावः । ब्राह्मणीभार्य इति । पुंवस्वनिषेधान्न
शार्ङ्गरवादिङीनो निवृत्तिः । शूद्राभार्य इति । 'शूद्रा चामहत्पूर्वा' इति जातिलक्षण-
ङीपोऽपवादप्राप् । पुंवस्वनिषेधान्न टापो निवृत्तिः । संख्येयेति । शेषग्रहणम्, अनेकम-
न्यपदार्थे इति च निवृत्ते । बहुव्रीहिरित्यनुवर्तते 'सुप्सुपा' इति च । संख्येये इत्येतत्
संख्येयेत्यन्नावेति । संख्यया परिच्छेद्यं संख्येयम्, तत्रार्थे विद्यमानया संख्येयेति
लभ्यते । संख्याशब्दश्चायं न स्वरूपपरः, किन्तु प्रकादिशतान्तशब्दपरः । तदाह—
संख्येयार्थया संख्येयेति । अव्ययादय इति । अव्यय आसन्न अदूर अधिक संख्या एते
सुवन्ता इत्यर्थः । बहुव्रीहौ संख्येय इति । 'संख्ययाव्यय' इति विहित इति शेषः ।
तस्मादिति । बहुव्रीहविति पञ्चम्यर्थे ससमीति भावः । डच्स्यात् इति । समासान्तस्त-
द्धितश्चेति ज्ञेयम् । उपदेश इति । दशानां समीपे ये सन्तीति विग्रहः । 'संख्ययाव्यय'
इति बहुव्रीहिः । सुव्लक् उपदशन्शब्दाड्बच्चि 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः ।
उपबहवः, उपगणा इति । बहूनां समीपे ये सन्तीति, गणानां समीपे ये
सन्तीति च विग्रहः । 'बहुगणवतुडिति संख्या' इति संख्यात्वात् 'संख्ययाव्यय' इति
समासः । अवहुगणात् इति निषेधान्न डच् । ति विंशतेडिति । तीति लुप्तपष्ठीकम् ।

अमानिनीति—'मानिन्' शब्दके परे पुंवङ्गावका निषेध नहीं हो ।

जातेश्च—जातिवाचक शब्दसे पर जो स्त्रीप्रत्यय, तदन्तको पुंवङ्गाव नहीं हो ।

संख्यया—संख्येयार्थक संख्यावाचक शब्दके साथ अव्ययादि समस्त हो और वह बहु-
व्रीहि संज्ञक हो ।

बहुव्रीहौ—संख्येयार्थक संख्यावाचक शब्दके साथ निष्पन्न बहुव्रीहिसे समासान्त 'डच्'
प्रत्यय हो, बहु और गणशब्दान्तको छोड़कर । ति विंशते—मसंज्ञक 'विंशति' शब्दके 'ति' का
ययोस्ते = अनर्घ्यरत्ने (कटके) । भूरि सत्त्वं येषां तानि = भूरिसत्त्वानि (शस्त्राणि) ।

सज्ञा इत्यर्थः । अदूरत्रिंशाः । अधिकचत्वारिंशाः । द्वौ वा त्रयो वा-द्वित्राः ॥
 दिङ्नामान्यन्तराले । २।२।२६। दिशो नामान्यन्तराले वाच्ये प्राग्वत् । दक्षिण-
 स्याः पूर्वस्याश्च दिशो यदन्तरालं-दक्षिणपूर्वा ॥ तत्र तेनेदमिति सरूपे । २।२।२७।
 सप्तम्यन्ते ग्रहणविषये सरूपे पदे तृतीयान्ते च प्रहरणविषये इदं युद्धं प्रवृत्तमित्यर्थे
 समस्येते कर्मव्यतिहारे ॥ इच् कर्मव्यतिहारे । ५।४।१२७। अन्येषामपि
 दृश्यते । ६।३।१३७। दीर्घः । केशेषु केशेषु गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तं-केशाकेशि ।

‘मस्य’ इत्यधिकृतम् । ‘अल्लोपोऽनः’ इत्यस्मात्लोप इत्यनुवर्तते । आसन्नविंश इति ।
 विंशतिसंख्यासन्नसंख्यावन्त इत्यर्थः । डचि कृते ‘आसन्नविंशति-अ’ इति स्थिते
 तिलोपे सवर्णदीर्घं बाधित्वा ‘अतो गुणे’ इति पररूपे आसन्नविंशशब्दः अदन्तः ।
 अदूरत्रिंशा इति । त्रिंशतः अदूरा इति विग्रहः । त्रिंशत्संख्याया अदूरसंख्यावन्त
 इत्यर्थः । डचि टिलोपः । अधिकचत्वारिंशा इति । चत्वारिंशतोऽधिका इति विग्रहः ।
 चत्वारिंशत्संख्याया अधिकसंख्यावन्त इत्यर्थः । डचि टिलोपः । द्वित्रा इति । वार्थे
 बहुव्रीहिः । द्वित्र्यन्यतरा इत्यर्थः । डचि टिलोपः । दिङ्नामानि । नामानीत्यनन्तरं
 सुबन्तानि परस्परमिति शेषः । प्राग्वदिति । समस्यन्ते स च बहुव्रीहिरित्यर्थः ।
 दक्षिणपूर्वेति । स्त्रीत्वं लोकात् । तत्र तेनेति । समास इति, बहुव्रीहिरिति चाधिकृतम् ।
 तत्र इत्यनेन सप्तम्यन्ते पदे विवक्षिते । ग्रहणविषये इति प्रथमाद्विवचनान्तं तद्विशेष-
 णमध्याहार्यम् । सरूपे इति प्रथमाद्विवचनान्तं पदविशेषणम् । ग्रहणविषये प्रहरण-
 विषये इति तु सप्तम्यन्तयोस्तृतीयान्तयोश्च यथासंख्यमन्वेति । इदम् इत्यर्थनिर्देशः ।
 युद्धं प्रवृत्तमिति तद्विशेष्यमध्याहार्यम् । कर्मव्यतिहारे द्योत्ये इत्यप्यध्याहार्यम् ।
 तदाह—सप्तम्यन्ते इति । प्रथमाद्विवचनमिदम् । ग्रहणविषये इति । गृह्यते अस्मिन्निति
 ग्रहणं केशादि, अधिकरणे ल्युट्, तत् विषयो वाच्यं ययोस्ते; ग्रहणविषये,
 ग्रहणवाचके इति यावत् । प्रहरणविषये इति । प्रहियते अनेनेति प्रहरणं दण्डादि, तत्
 विषयः वाच्यं ययोस्ते प्रहरणविषये, प्रहरणवाचके इति यावत् । समासान्त इति ।
 तद्धित इत्यपि ज्ञेयम् । दीर्घ इति । ‘ढ्रलोपे’ इत्यत अनुवर्तते इति भावः । केशाके
 शीति । केशेषु केशोऽप्यनयोर्ग्रहणाद्यन्तर्भावेन वृत्तिघटकयोः समासे सति सुब्लुक्,
 लोप हो, ‘डित्’ प्रत्ययके परे । दिङ्नामा—अन्तराल वाच्य हो तो दिङ्नामोका समास हो ।
 तत्र तेनेदं—सप्तम्यन्त और तृतीयान्त ग्रहणविषयक जो दो सरूप पद, वे—इदं युद्धं प्रवृ-
 त्तम् (यह युद्ध आरम्भ हुआ) इस अर्थमें समस्त हों, कर्मव्यतिहारमें । इच् कर्म-
 कर्मव्यतिहारमें बहुव्रीहिसे समासान्त ‘इच्’ प्रत्यय हो । अन्येषामपि—कर्मव्यतिहार
 बहुव्रीहिमें ‘इच्’ प्रत्ययके परे पूर्वपदको दीर्घ भी हो ।

नीलमुज्ज्वलं वपुर्यस्य सः = नीलोज्ज्वलवपुः (कृष्णः) । सप्तमीबहुव्रीहिर्यथा—वीराः

दण्डैर्दण्डैश्च प्रहृत्येदं युद्धं प्रवृत्तं-दण्डादण्डि । मुष्टीमुष्टि ॥ तेन सहेति तुल्य-
योगे । २।२।२८। तुल्ययोगे वर्तमानं सहेत्यन्तं तृतीयान्तेन प्राग्वत् ॥ वोपसर्ज-
नस्य । ६।३।८२। बहुव्रीहेरवयवस्य सहस्य सः स्याद्वा । पुत्रेण सह-सपुत्रः, सहपुत्रो
वाऽऽगतः ॥ प्रकृत्याशिषि । ६।३।८३। सहशब्दः । स्वस्ति राज्ञे सहपुत्राय, सहा-
मात्याय ॥ (अगोवत्सहत्वेति वक्तव्यम्) । सवत्साय । सहलाय ॥ बहुव्रीहौ
सकथ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच् । ५।४।११३। स्वाङ्गाच्चि सकथ्यन्ताद्बहुव्रीहेः पच् ।
दीर्घसकथः । जलजाक्षी । स्वाङ्गात्किम् ? दीर्घसकथि शकटम् । स्थूलाक्षा
वेणुयष्टिः । अक्ष्णोऽदर्शनादिति वक्ष्यमाणोऽच् । द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः । ५।४।११५।

पूर्वपदस्य दीर्घः, इच्समासान्तः । 'यस्येति च' इत्यकारलोपः । अव्ययत्वात्सुब्लुगिति
भावः । दण्डैश्चेति । अस्य दण्डैः सः, तस्य दण्डैरयमित्येवं परस्परं प्रहृत्य स्थितयोरिदं
युद्धं प्रवृत्तमिति विग्रहार्थः । दण्डादण्डीति । दण्डैर्दण्डैरित्यनयोः प्रहरणाद्यन्तर्भावेन
समासघटकयोः समासे सति सुब्लुक्, पूर्वपदस्य दीर्घः, इच्, 'यस्येति च' इति
अकारलोपः । अव्ययत्वात् सुब्लुक् । मुष्टीमुष्टीति । अस्य मुष्टिभिः सः, तस्य मुष्टि-
भिश्चायमित्येवं परस्परं प्रहृत्य स्थितयोरिदं युद्धं प्रवृत्तमिति विग्रहः । मुष्ट्या मुष्ट्या
इत्यनयोः समासे सति सुब्लुगादि पूर्ववत् । तुल्ययोग इति । युगपत्कालिकक्रियायोगे
इत्यर्थः । तृतीयान्तेनेति । तेनेत्यनेन तत्त्वाभावादिति भावः । प्राग्वदिति । समस्यते स
बहुव्रीहेरित्यर्थः । असमानाधिकरण्यार्थं कवभावार्थं चेदम् । वोपसर्जनस्य । उत्तरपदे
इत्यधिकृतम् । 'सहस्य सः संज्ञायाम्' इत्यतः सहस्य स इत्यनुवर्तते । उपसर्जनम-
स्यास्तीत्युपसर्जनः, मत्वर्थे अर्शआद्यच् । उत्तरपदाक्षिसमासो विशेष्यम् । उपसर्जन-
वत्तः समासस्येत्यर्थः । सपुत्र इति । सभावे रूपम् । पुत्रेण युगपत् आगत इत्यर्थः ।
प्रकृत्येति । स्वभावेन स्थितः स्यादित्यर्थः । सभावो नेति यावत् । अगोवत्सेति । गोवत्स-

तेन सहेति-तुल्ययोगमें वर्तमान 'सह' शब्दका तृतीयान्तके साथ समास हो, विकल्पसे।
वोपसर्जनस्य—बहुव्रीहिके अवयव 'सह' को 'स' आदेश हो, विकल्पसे ।

प्रकृत्याशिषि—आशीर्वाद अर्थमें 'सह' शब्द प्रकृतिवत् रहे—'स' आदेश नहीं हो ।

अगोवत्स—गो-वत्सादिके परे 'सह' शब्दको प्रकृतिभाव नहीं हो अर्थात् 'सह' को 'स'
आदेश हो जाय । बहुव्रीहौ—स्वाङ्गाच्चि सकथ्यन्त और अक्ष्यन्त बहुव्रीहिसे समासान्त 'षच्'
प्रत्यय हो । द्वित्रिभ्यां—'दि-त्रि' शब्दसे पर 'मूर्धन्' शब्दसे 'ष' प्रत्यय हो, बहुव्रीहिमें ।

पुरुषाः यस्मिन् सः = वीरपुरुषकः (ग्रामः) । खड्गिनः कुण्डलिनः वीरा यस्मिन् तत् =
खड्गिकुण्डलिवीरं (सैन्यम्) । व्यधिकरणो यथा—चक्रं पाणौ यस्य सः = चक्रपाणिः

आभ्यां मूर्ध्नः षः स्याद्बहुव्रीहौ । द्विमूर्धः । त्रिमूर्धः ॥ अन्तर्वहिभ्यां च लोम्नः । ५।४।११७। अप् स्यात् । अन्तर्लोमः । बहिर्लोमः ॥ पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः । ५।४।१३८। हस्त्यादिर्वजितादुपमानात्परस्य पादस्य लोपः । व्याघ्रस्येव पादावस्य—व्याघ्रपात् । ग्रहस्त्यादिभ्यः किम् ? हस्तिन इव पादौ यस्य हस्तिपादः । कुसूलपादः ॥ संख्यासुपूर्वस्य । ५।४।१४०। पादशब्दस्य लोपः । द्विपात् । सुपात् ॥ उद्विभ्यां काकुदस्य । ५।४।१४८। लोपः । उक्ताकुत् । विकाकुत् । पूर्णाद्विभाषा । ५।४।१४९। पूर्णकाकुत् , पूर्णकाकुदः ॥ सुहृद्दुर्हृदौ मित्रमित्रयोः । ५।४।१५०। सुहृन्मित्रम् । दुर्हृदमित्रः ॥ (नेतुर्नक्षत्रे अव्यक्तव्यः) । मृगो नेता यासां रात्रीणां ता मृगनेत्रा रात्रयः ॥ अञ् नासिकायाः संज्ञायां नसंचास्थूलात् । ५।४।११८। नासिकान्ताद्बहुव्रीहेरच् नासिकाशब्दश्च न संप्राप्नोति, न तु स्थूलपूर्वात् ॥ पूर्वपदात्संज्ञायामगः । ८।४।३। पूर्वपदस्याङिमित्तात्परस्य नस्य

हलेषु परतः सहस्य प्रकृतिभावो नेत्यर्थः । नेतुर्नक्षत्र इति । नक्षत्रे विद्यमानो यो नेतृशब्दः तदन्ताद्बहुव्रीहेरप्यव्यक्तव्य इत्यर्थः । नेता नायकः । मृगो नेतेति । मृगः—मृगशीर्षम् । रात्रिनेता चन्द्रः । तद्योगान्नक्षत्रस्यापि बोध्यम् । मृगनेत्रा इति । मृगनेतृशब्दादप् , ऋकारस्य यण् रेफः, टाप् । अञ् नासिकाया इति । अच् इति च्छेदः । नासिकाया इत्यस्य बहुव्रीहेर्विशेषणत्वात् तदन्तर्विधिमभिप्रेत्याह—नासिकान्तादिति । नसमित्यनन्तरं प्राप्नोतीत्यध्याहार्यम् । उपस्थितत्वाच्चासिकाशब्द इति लभ्यते । तदाह—नासिकाशब्दश्च न संप्राप्नोतीति । पूर्वपदात् । 'रषाभ्याम्' इत्यनुवृत्तम् । पूर्वपद-

अन्तर्वहि—'अन्तर्' और 'वहिस' शब्दसे पर 'लोमन्' शब्दसे 'अप्' प्रत्यय हो ।

पादस्य—हस्त्यादि मित्र उपमानवाचीसे पर पादशब्दान्त (समासान्त प्रत्यय) का लोप हो, बहुव्रीहिमें । संख्या—'संख्या' और 'सु'पूर्वक पाद शब्दका समासान्त (प्रत्यय) लोप हो, बहुव्रीहिमें । उद्विभ्यां—'उत्' और 'वि' उपसर्गसे पर 'काकुद' शब्दका समासान्त लोप हो, बहुव्रीहिमें । पूर्णाद्विभाषा—'पूर्ण' शब्दसे पर 'काकुद' शब्दका समासान्त लोप विकल्पसे हो, बहुव्रीहिमें ।

सुहृद्दुर्हृदौ—'मित्र' और 'अमित्र' अर्थमें 'सुहृत्' और 'दुर्हृत्' ये क्रमसे निपातन हो, अर्थात् 'सु' तथा 'दुर्' से पर हृदयको हृद्भाव निपातन हो ।

नेतुर्नक्षत्रे—नक्षत्रमें वर्तमान नेतृ शब्दसे समासान्त 'अप्' प्रत्यय हो, बहुव्रीहिमें । अञ् नासिकायाः—स्थूलपूर्वकसे मित्र नासिकान्त बहुव्रीहिसे समासान्त 'अच्' प्रत्यय हो तथा नासिका शब्दको 'नस्' आदेश हो, संज्ञामें । पूर्वपदात्संज्ञायां—पूर्वपदस्थ निमित्तसे

(विष्णुः) । मनुष्याज्जन्म यस्य सः = मनुष्यजन्मा । साध्याभाववति न वृत्तिर्यस्य सः =

णः, न तु गकारव्यवधाने । दुरिव नासिका यस्य द्रुणसः ॥ (खुरखराभ्यां वा नस्) । खुरणाः । खरणाः । पक्षे,—अजपीष्यति । खुरणसः । खरणसः ॥ उपसर्गाच्च । ५।४।११६। उन्नसः ॥ (वेग्रो वक्तव्यः) । विगता नासिकाऽस्य विग्रः ॥ (ख्यश्च) विह्यः ॥ नज्दुःसुभ्यो हलिसक्थ्योरन्यतरस्याम् । ५।४।१२१। अहलः, अहलिः । असक्थः, असक्थिः । एवं दुःसुभ्याम् । शक्त्योरिति पाठान्त-

शब्देन पूर्वपदस्थं लक्ष्यते । 'रपाभ्याम्', इत्यनेन लब्धो रेफः पश्च प्रत्येकमन्वेति, तदाह—पूर्वपदस्थान्निमित्तादिति । रेफकारात्मकादित्यर्थः । अग इति पञ्चम्यन्तम् । गकारभिन्नात्परस्येत्यर्थः । गकारात्परस्य नेति यावत् । द्रुणस इति । बहुव्रीहिरेच् । नासिकाशब्दस्य नसादेशः, णत्वम् । खुरेति । खुरखराभ्यां परस्य नासिकाशब्दस्य बहुव्रीहौ संज्ञायां नसादेशो वेति वक्तव्यमित्यर्थः । प्रकृतत्वादेव सिद्धे नसादेशवचनम् अच्प्रत्ययानुवृत्तिनिवृत्त्यर्थम् । खुरणा इति । खुराविव नासिके यस्येति विग्रहः नसादेशः । 'पूर्वपदात्संज्ञायाम्' इति णत्वम् । 'अत्वसन्तस्य' इति दीर्घः । खरणा इति । खररूपा नासिका यस्येति विग्रहः । उपसर्गाच्च । असंज्ञार्थमिदम् । नस इति । उन्नता नासिका यस्येति विग्रहः । 'उपसर्गाच्च' इत्यच्, नासिकाया नस् । वेरिति । वेः परो यो नासिकाशब्दः स आदेशं प्राप्नोतीति भावः । विग्र इति । विगता नासिका यस्येति विग्रहः । प्रकृतवार्तिकेन नासिकाशब्दस्य ग्रादेश इति भावः । नज्दुःसुभ्य इति । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—अच् स्यादिति । अहलः अहलिरिति । अविद्यमानः हलिः यस्य स इति विग्रहः । हलिशब्द इदन्तो हलपर्यायः । तदन्तादचि 'यस्येति च' इति इकारलोपे तदभावे च रूपम् । असक्थः, असक्थिरिति । अविद्यमानं सक्थि यस्येति विग्रहः । एवं दुःसुभ्यामिति । दुर्हलः, दुर्हलिः । दुस्सक्थः, दुस्सक्थिः ।

पर नकारको णकार हो, संज्ञामें, पर गकारके व्यवधानमें नहीं हो । खुरखराभ्यां—खुर और खर शब्दसे पर नासिका शब्दको विकल्पसे 'नस्' आदेश हो । पक्षेऽजपि—पक्षमें (एकवार) खुर और खर शब्दसे पर नासिका शब्दको 'नस्' आदेश और समासान्त 'अच्' प्रत्यय भी हो । उपसर्गाच्च—उपसर्गसे पर नासिका शब्दान्त बहुव्रीहिसे समासान्त 'अच्' प्रत्यय हो और नासिका शब्दको 'नस्' आदेश हो, असंज्ञामें ।

वेग्रो वक्तव्यः । ख्यश्च—'वि' उपसर्गसे पर नासिका शब्दको 'ग्र' आदेश हो और 'ख्य' आदेश भी हो । नज्दुःसुभ्यो—नज्, दस् और सु से पर जो हलि तथा सक्थि शब्द,

साध्याभाववद्वृत्तिः ॥ अथ द्विपदे बहुपदे च बहुव्रीहौ प्रत्येकं यथासंभवं नव भेदाः—विशेषणपूर्वपदः, विशेषणोत्तरपदः, उपमानपूर्वपदः, उपमानोत्तरपदः, विषयपूर्वपदः अवधारणपूर्वपदः, अवधारणोत्तरपदः, क्रमिकोभयपदः, मध्यमपदलोपी चेति । विशेषणपूर्वपदो यथा—नीलः कण्ठो यस्य सः=नीलकण्ठः (शिवः) । विशेषणोत्तरपदो यथा—अग्रयः

रम् । अशक्तः, अशक्तिः ॥ नित्यमसिच प्रजामेधयोः । ५।४।१२२। नञ्दुःसुभ्य
इत्येव । अप्रजाः । अमेधाः । दुर्मेधाः । सुमेधाः ॥ धर्मादनिच् केवलात् । ५।४।१२४।
केवलपूर्वपदाद्यो धर्मशब्दस्तदन्ताद्बहुव्रीहेरनिच् कल्याणधर्मा । केवलात् किम् ?
परमः स्वो धर्मो यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहौ मा भूत् । परमस्वधर्मः ॥ (इच्छकर्मव्य-
तिहारैः) । केशाकेशि । मुसलामुसलि ॥ प्रसंभ्यां जानुनोर्बुः । ५।४।१२९। प्रबुः ।
संभुः ॥ ऊर्ध्वाद्विभाषा । ५।४।१३०। ऊर्ध्वञ्जुः । ऊर्ध्वजानुः ॥ ऊधसोऽनङ्
५।४।१३१। कुण्डोष्नी ॥ धनुषश्च । ५।४।१३२। धनुरन्ताद्बहुव्रीहेरनङादेशः ।

नित्यमसिजिति । 'नञ्दुःसुभ्यो हलिसवध्योः' इति सूत्रात् 'नञ्दुःसुभ्य' इत्यनुवर्तते ।
नञ्दुःसुभ्यां पराभ्यां प्रजामेधाशब्दाभ्यां नित्यमसिच् समासान्तः स्यात्, स
तद्धित इत्यर्थः । असिचः चकार इत्, इकार उच्चारणार्थः । अप्रजा इति । अविद्यमाना
प्रजा यस्येति विग्रहः । 'नञोऽस्त्यर्थानाम्' इति समासः । असिचि, 'यस्येति च'
इकारलोपादप्रजशब्दात् सुबुत्पत्तिः । सौ तु 'अत्वसन्तस्य' इति दीर्घः ।
'हलङ्घ्याप्' इति सुलोपः । कल्याणधर्मेति । कल्याणो धर्मो यस्येति विग्रहः । अनिचि
'यस्येति च' इत्यकारलोपः । इच् कर्मेति । समासान्तः स्यात् स च तद्धितः । 'केशाक-
शीति । पूर्व व्याख्यातम् । प्रसंभ्यामिति । प्र-सम्-भ्यां परस्य जानुशब्दस्य जुरादेश
इत्यर्थः । प्रबुः । 'प्रादिभ्यो धातुजस्य' इति समासः । संभुरिति । संगते जानुनी
यस्येति विग्रहः । ऊर्ध्वाद्विभाषेति । ऊर्ध्वशब्दात् परो यो जानुशब्दः तस्य जुरा-
देशो वा स्यात् बहुव्रीहावित्यर्थः । ऊर्ध्वञ्जुरिति । ऊर्ध्वे जानुनी यस्येति विग्रहः ।
ऊधसोऽनङ् । 'बहुव्रीहौ सवध्यचणोः' इत्यतो बहुव्रीहावित्यनुवर्तते, तच्च पृथ्वा विप-
रिणम्य ऊधस इत्यनेन विशेष्यते, तदन्तविधिः । कुण्डोष्नीति । कुण्ड इव ऊधो यस्याः

तदन्त बहुव्रीहिसे समासान्त 'अच्' प्रत्यय हो, विकल्पसे । नित्यमसिच्—नञादिसे पर
जो प्रजा और मेधा शब्द तदन्त बहुव्रीहिसे नित्य ही समासान्त 'असिच्' प्रत्यय हो ।

धर्मादनिच्—केवल (एक पद मात्र) पूर्वपदसे पर जो धर्म शब्द, तदन्त बहुव्रीहिसे
समासान्त 'अनिच्' प्रत्यय हो ।

इच्छकर्मव्यतिहारैः—कर्मव्यतिहारमै ('तत्र तेनेदमिति सरूपे' इस सूत्रसे विहित)
बहुव्रीहिसे समासान्त 'इच्' प्रत्यय हो । प्रसंभ्यां—प्र और सम् उपसर्गसे पर जानुशब्दको
समासान्त 'ञु' आदेश हो, बहुव्रीहिमें । ऊर्ध्वाद्विभाषा—ऊर्ध्व शब्दसे पर जानु शब्दको
समासान्त 'ञु' आदेश विकल्पसे हो, बहुव्रीहिमें । ऊधसो—ऊधोन्त बहुव्रीहिसे समासान्त
'अनङ्' आदेश हो, खोलिङ्गमें । धनुषश्च—धनुरन्त बहुव्रीहिसे समासान्त 'अनङ्' आदेश
आहिताः येन सः=अग्नयाहितः (ब्राह्मणः) । गतं शीघ्रं यस्य सः=गतशीघ्रः (वायुः) ।
उपमानपूर्वपदो यथा—पद्मे इव नेत्रे यस्य सः=पद्मनेत्रः (विष्णुः) । उपमानोत्तरपदो

शार्ङ्गधन्वा ॥ वा संज्ञायाम् । ५।४।१३३। शतधन्वा, शतधनुः ॥ जायाया निङ्
 ५।४।१३४। जायान्तस्य बहुव्रीहेर्निष्ठादेशः ॥ लोपो व्योर्वलि । ६।१।६६। युवति-
 र्जाया यस्य युवजानिः ॥ गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः । ५।४।१३५। उद्गन्धिः ।
 पूतिगन्धिः । सुगन्धिः ॥ उपमानाच्च । ५।४।१३७। पद्मस्येव गन्धोऽस्य पद्मगन्धिः ॥
 वयसि दन्तस्य दत् ॥ ५।४।१४१। संख्यासुपूर्वस्येत्येव । द्विदन् । चतुर्दन् ॥
 अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यश्च । ५।४।१४५। एभ्यो दन्तस्य दत् वा । कुड्म-

सा इति विग्रहः । अनङि कृते ङीपि अल्लोपोऽन इति भावः । धनुषश्चेति । 'ऊधसोऽ-
 नङ्' इत्यतोऽनङ् इत्यनुवर्तते । 'बहुव्रीहौ सक्थ्यचणोः' इत्यतो बहुव्रीहावित्यनुवर्तते,
 तच्च पठ्यथा विपरिणम्य ऊधसः इत्यनेन विशेष्यते, तदन्तविधिः । तदाह—धनुर-
 न्तादित्यादिना । शार्ङ्गधन्वेति । शृङ्गस्येदं शार्ङ्गं 'तस्येदम्' इत्यण्, तत् धनुर्यस्येति
 विग्रहः । समासे शार्ङ्गधनुश्शब्दे सकारस्यानङ्, ङकार इत्, अकार उच्चारणार्थः,
 उकारस्य यण् इति भावः । वा संज्ञायाम् । 'धनुषश्च' इत्युक्तः अनङ् संज्ञायां वा स्या-
 दित्यर्थः । युवजानिरिति । जायाशब्दे यकाराकारस्य निङ् । ङकार इत् । 'लोपो व्योः'
 इति यकारलोपः । युवतिशब्दस्य पुंवत्वात् तिप्रत्ययस्य निवृत्तिः, नलोप इति भावः ।
 गन्धस्येदुत् गन्धस्य इत् इति छेदः । उत् पूति सु सुरभि एतेभ्यः परस्य गन्धस्येका-
 रोऽन्तादेशः स्यादित्यर्थः । उद्गन्धिरिति । उद्गतो गन्धो यस्येति विग्रहः । एवं सर्वत्र ।
 उपमानाच्चेति । उपमानवाचि पूर्वपदात् परस्यापि गन्धशब्दस्य इकारोऽन्तादेशः
 स्याद् बहुव्रीहावित्यर्थः । पद्मस्येवेति । फलितार्थकथनमिदम् । पद्मगन्ध इव गन्धो
 यस्येति विग्रहः । द्विदन्ति । द्वौ दन्तौ यस्येति विग्रहः । दन्तस्य दन्नादेशः । ऋकार
 इत् । उगित्त्वानुम् । सुलोपः । संयोगान्तलोपः । तस्यासिद्धत्वादुपधादीर्घो न । चतु-
 र्दन्ति । चत्वारो दन्ता यस्येति विग्रहः । दन्नादि पूर्ववत् । अग्रान्त इति । अग्रः-अग्रश-

हो । वा संज्ञायां—धनुरन्त बहुव्रीहिसे संज्ञामे विकल्परसे समासान्त 'अनङ्' आदेश हो ।
 जायायां निङ्—जायान्त बहुव्रीहिको समासान्त 'निङ्' आदेश हो ।

लोपो व्योर्वलि—यकार-वकारका लोप हो, 'वल्' के परे । गन्धस्येदुत्-उपादिसे पर
 जो गन्ध शब्द, तदन्त बहुव्रीहिको समासान्त इकारान्तादेश हो । उपमानाच्च-उपमानवाची
 पूर्वपदसे पर जो गन्ध शब्द तदन्त बहुव्रीहिको समासान्त इकारान्तादेश हो ।

वयसि—वय (अवस्था) गन्धमान रहने पर संख्या तथा सु पूर्वक दन्त शब्दको
 समासान्त 'दत्' आदेश हो, बहुव्रीहिमें । अग्रान्त—आग्रादिसे पर दन्त शब्दको समासान्त
 'दत्' आदेश हो, बहुव्रीहिमें, विकल्परसे ।

यथा—गतमुड्डीनमिव यस्य सः=गतोड्डीनः (अश्वः) । विषयपूर्वपदो यथा—न भवेत्
 इति बुद्धिः यस्य सः=नभवेद्बुद्धिः । शिव इति शब्दो यस्य सः=शिवशब्दः (तपस्वी)

लाप्रदन्तः । कुड्मलाप्रदन् ॥ उरःप्रभृतिभ्यः कप् । ५।४।१५१। व्यूहोरस्कः ।
 प्रियसर्पिष्कः ॥ (अर्थाञ्जः) । अनर्थकम् । नञः किम् ? अपार्थम् । इनः
 स्त्रियाम् । ५।४।१५२। इञ्जन्ताद्बहुव्रीहेः कप् । बहुदण्डिका नगरी ॥ (अनिन्स्म-
 न्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति) । बहुवाग्मिका ॥
 शेषाद्विभाषा । ५।४।१५४। अनुक्तसमासान्ताद्बहुव्रीहेः कच्चा । महायशाः,
 महायशस्कः । अनुक्तेत्यादि किम् ? व्याघ्रपाद् ॥ आपोऽन्यतरस्याम् । ७।४।१५।
 कपि ह्रस्वः । बहुमालाकः, बहुमालकः, बहुमालः ॥ न संज्ञायाम् । ५।४।१५५।

व्दोऽन्तेऽवसाने यस्य सः अग्रान्त इत्यभिप्रेत्योदाहरति—कुड्मलाप्रदन्ति । कुड्म-
 लानां मुकुलानाम् अग्राणि तानीव दन्ता यस्येति विग्रहः । एवं शुद्धदन्-शुद्धदन्तः,
 शुभ्रदन्-शुभ्रदन्तः । वृषदन्-वृषदन्तः । वराहदन्-वराहदन्तः इति । अर्थाञ्ज-
 इति । गणसूत्रम् । नञः परो योऽर्थशब्दस्तदन्ताद् बहुव्रीहेः कप् स्यादिति
 तदर्थः । अनर्थकम् । अविद्यमानोऽर्थो यस्येति विग्रहः । अपार्थम् । अपगतोऽर्थो यस्मा-
 दिति विग्रहः । अत्र नञपूर्वकत्वात् न नित्यः कविति भावः । इनः स्त्रियाम् । इञ्जन्तात्
 कप् स्यात् बहुव्रीहवित्यर्थः । बहुदण्डिका नगरी । दण्डोऽस्यास्तीति दण्डी 'अत
 इनि ठनौ' इति इनिः । बहवः दण्डिनो यस्यामिति विग्रहः । बहुवाग्मिकेति ।
 वागस्यास्तीति वाग्मी । 'वाचो ग्मिनिः' इति ग्मिनिप्रत्ययः । नकारादिकार उच्चारणा-
 र्थः । तद्धितत्वात् गकारस्य नेत्संज्ञा, चकारस्य कुत्वम्, जश्त्वम्, वाग्मीति रूपम् ।
 बहवो वाग्मिनो यस्यामिति विग्रहः । ऋपीति । 'न कपि' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः ।
 बहुमालाक इति । बह्व्यो माला यस्येति विग्रहः । ह्रस्वपक्षे बहुमालक इति भवति । कषो
 वैकल्पिकत्वात् पक्षे बहुमालः । सर्वत्र 'स्त्रियाः पुंवत्' इति पुंवत्त्वम् । न संज्ञायाम् ।

उरः प्रभृतिभ्यः—उरः प्रभृत्यन्त बहुव्रीहिसे समासान्त 'क' प्रत्यय हो ।

अर्थाञ्जः—नञ्से पर जो अर्थ शब्द, तदन्त बहुव्रीहिसे समासान्त 'कप्' प्रत्यय हो ।

इनः स्त्रियाम्—इन्नन्त बहुव्रीहिसे समासान्त 'कप्' प्रत्यय हो, खीलिङ्गमे ।

अनिन्स्मन्—अर्थवान् या अनर्थक भी (सूत्रोक्त) अन्, इन्, अस् और मन्से
 तदन्तविधि हो । शेषाद्विभाषा—अनुक्त समासान्त शेषाधिकारस्थ बहुव्रीहिसे समासान्त
 'कप्' प्रत्यय हो, विकल्पसे । आपोन्यतरस्यां—'कप्' प्रत्ययके परे आवन्तको ह्रस्व हो,
 विकल्पसे । न संज्ञायाम्—'शेषाद्विभाषा' इस सूत्रसे प्राप्त 'कप्' संज्ञामें नहीं हो ।

अहमित्यभिमानो यस्य सः=अहमभिमानः (मूर्खः) । अवधारणात्पूर्वपदो यथा—यश
 एव धनं यस्य सः=यशोधनः (विद्वान्) । अवधारणोत्तरपदो यथा—भक्षितं जगदेव येन
 सः=भक्षितजगत् (मृत्युः) । क्रमिकोभयपदो यथा—गर्वितः पराजितो येन सः=गर्वित-
 पराजितः (राजा) ।

शेषादिति प्राप्तः क्वन् । विश्वे देवा अस्य-विश्वेदेवः । ईयसश्च । ५।४।१५६। ईय-
सन्तोत्तरपदान् कप् । बहुवः श्रेयांसोऽस्य बहुश्रेयान् । गोस्त्रियोरिति ह्रस्वे प्राप्ते ॥
(ईयसो बहुव्रीहेर्न) । बहुश्रेयसी । बहुव्रीहेः किम् ? अतिश्रेयसिः ॥ वन्दिते
भ्रातुः । ५।४।१५७। पूजार्थभ्रात्रन्तात् कप् । प्रशस्तो भ्राताऽस्य प्रशस्तभ्राता ।
सुभ्राता । वन्दिते किम् ? मूर्खभ्रातृकः । नद्युतश्चेति कप् ॥ (सर्वनामसंख्येय-
योर्बहुव्रीहौ पूर्वनिपातः) । सर्वश्चेतः । द्विशुक्लः ॥ (संख्याया अल्पीयस्याः) ।

शेषादिति प्राप्त इति । 'अनन्तरस्य' इति न्यायात् 'शेषाद्विभाषा' इति विहितस्य कप्
पुत्राय निषेधः, न तु व्यवहितस्य 'नद्युतश्च' इत्यादिकप् इति भावः । विश्वेदेवा
अस्येति । अत्र संज्ञायां समासस्य नित्यत्वात् लौकिकविग्रहप्रदर्शनं चिन्त्यमेव ।
ईयसश्चेति । बहुश्रेयसीशब्दे श्रेयसीशब्दस्यैव प्रत्ययग्रहणपरिभाषया ईयसन्तत्वादाह-
ईयसन्तोत्तरपदादिति । बहुव्रीहिणा उत्तरपदादित्याक्षिप्यत इति भावः । न कविति ।
'न संज्ञेयसोः' इति वक्तव्ये पृथक्योगकरणात् नित्यस्य वैकल्पिकस्य च कपोऽयं
निषेध इति भावः । श्रेयांस इति । अतिशयेन प्रशस्ता इत्यर्थः । 'द्विवचनविभज्य'
इति ईयसुन् । 'प्रशस्यस्य श्रः' इति श्रः, 'आद्गुणः' इति गुणः । बहुश्रेयानिति ।
शैषिकः कग्निपिध्यते । ह्रस्वे प्राप्ते इति । बहुवः श्रेयस्यः यस्येति बहुव्रीहिः । तत्र
ईयसो बहुव्रीहेरिति । ईयसन्तात् बहुव्रीहेः परस्य स्त्रीप्रत्ययस्य ह्रस्वो नेति वाच्य-
मित्यर्थः । बहुश्रेयसीति । 'नद्युतश्च' इति नित्यः कविह निषिध्यते, लिङ्गविशिष्टपरि-
भाषया ईयसग्रहणेन स्त्रीप्रत्ययान्तश्रेयसीशब्दस्यापि ग्रहणादिति भावः । बहुव्रीहेः
किमिति । ईयसो बहुव्रीहेः इत्यत्रेति शेषः । अतिश्रेयसिरिति । श्रेयसीमतिक्रान्त इति
तत्पुरुषोऽयमिति भावः । प्रशस्तभ्रातेति । 'नद्युतश्च' इति प्राप्तः कविह निषिध्यते ।
सुभ्रातेति । सु शोभनो भ्राता यस्य स इति विग्रहः । अत्रापि 'नद्युतश्च' इति प्राप्तस्य
कपो निषेधः । सर्वनामसंख्ययोरिति । बहुव्रीहौ पूर्वनिपातस्येति शेषः । सर्वश्चेत इति ।

ईयसश्च—ईयसन्तोत्तर पदके बहुव्रीहिसे 'कप्' नहीं हो ।

ईयसो—ईयसन्त बहुव्रीहिमें उपसर्जन ह्रस्व नहीं हो ।

वन्दिते—पूजितार्थक भ्राजन्त बहुव्रीहिसे 'कप्' नहीं हो । सर्वनाम—सर्वनाम और
संख्यावाचकका बहुव्रीहिमें पूर्वनिपात हो । संख्याया अल्पी—अल्प (न्यून) संख्यावाचक

मध्यमपञ्चलोपी यथा—खरस्य मुखमिव मुखं यस्य सः—खरमुखः । हरिणस्याक्षिणी इव
अक्षिणी यस्याः सा = हरिणाक्षी । न विद्यमानः पुत्रो यस्य सः = अपुत्रः, अविद्यमान-
पुत्रो वा । प्रपतितं पर्णं यस्य सः = प्रपर्णः, प्रपतितपर्णो वा । इति नव भेदाः ।

अथ संख्योत्तरपदो यथा—दशानां समीपे ये सन्ति ते = उपदशः (नव एकादश

द्वित्राः ॥ (द्वन्द्वेऽपि) । द्वादश ॥ (वा प्रियस्य) । गुडप्रियः । प्रियगुडः ॥
 (गड्वादेः परा सप्तमी) । गडुकण्ठः । कचिन्न, -वहेगडुः ॥ निष्ठा । २।२।३६।
 निष्ठान्तं बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात् । कृतकृत्यः ॥ (जातिकालसुखादिभ्यः परा
 निष्ठा वाच्या) । सारङ्गजग्धी । मासजाता । सुखजाता ॥ वाऽऽहिताग्न्या-
 दिषु । २।२।३७। आहिताग्निः, अग्न्याहितः । आकृतिगणोऽयम् ॥
 इति बहुव्रीहिसमासप्रकरणम् ।

सर्वः श्वेतः यस्येति विग्रहः । उभयोरपि गुणवचनत्वेन विशेषणविशेष्यभावे काम-
 चारात् अन्यतरस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते सर्वनामत्वात् सर्वशब्दस्यैव पूर्वनिपातः । उप-
 सर्जनत्वेऽपि भूतपूर्वगत्या सर्वनामत्वम् । दिशुक्त इति । द्वौ शुक्लौ यस्येति विग्रहः ।
 उभयोरपि कामचारेण पूर्वनिपाते प्राप्ते संख्यात्वात् द्विशब्दस्यैव पूर्वनिपातः ।
 संख्याया अल्पीयस्या इति । न्यूनाधिकसंख्यावाचकशब्दानां समासे न्यूनसंख्यायाः
 पूर्वं प्रयोग इति वक्तव्यमित्यर्थः । द्वित्रा इति । द्वौ वा त्रयो वेति विग्रहे 'संख्या-
 न्यय' इति बहुव्रीहिः । द्वादशेति । द्वौ च दश च इति द्वन्द्वः । वा प्रियस्येति । बहुव्रीहौ
 पूर्वं प्रयोगो वक्तव्य इत्यर्थः । गड्वादेः परा सप्तमीति । बहुव्रीहौ योज्येति वक्तव्यमिति
 शेषः । गडुकण्ठः । गडुः कण्ठे यस्येति विग्रहः । गडुर्नाम ग्रीवादिगतो दुर्मासगोलः ।
 कचिन्नेति । व्याख्यानमेवान्न शरणम् । इति बहुव्रीहिः ।

का बहुव्रीहिर्मे पूर्वनिपात हो । द्वन्द्वेऽपि—द्वन्द्व समासमें भां अल्प संख्यावाचकका पूर्व-
 निपात हो । वा प्रियस्य—बहुव्रीहिमें 'प्रिय' का पूर्व निपात हो, विकल्पसे ।

गड्वादे—बहुव्रीहि में सप्तम्यन्तका 'गडु' आदिसे पर प्रयोग हो ।

निष्ठा—निष्ठान्तका बहुव्रीहिमें पूर्व प्रयोग हो । जातिकाल—जातिवाचक, कालवाचक
 और सुखादिसे पर निष्ठान्तका बहुव्रीहिमें पर प्रयोग हो । वाहिता—आहिताग्न्यादि
 शब्दोंमें निष्ठान्तका पूर्वप्रयोग हो, विकल्पसे ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें बहुव्रीहि प्रकरण समाप्त हुआ ।

चेत्यर्थः) । आसन्ना विंशतेः = आसन्नविंशः । विंशतः अदूराः = अदूरविंशः । चत्वारिंशतोऽ-
 धिकाः = अधिकचत्वारिंशः । द्वौ वा त्रयो वा = द्वित्राः । द्विरावृत्ताः दश = द्विदशः । अन्तराल-
 विषयको यथा—दक्षिणस्याः पूर्वस्याश्च दिशोऽन्तरालं दिग् = दक्षिणपूर्वा (आग्नेयीत्यर्थः) ।
 व्यतिहारविषयको यथा—केशेषु केशेषु गृहीत्वेदं प्रवृत्तं = केशकेशि (झोंटाझोंटी) ।
 दण्डैश्च दण्डैश्च प्रहृत्येदं प्रवृत्तं = दण्डादण्ड (युद्धम्) । सहपूर्वपदो यथा—पुत्रेण सह
 यः सः = सपुत्रः (आगतः पिता) । शिष्यैः सह = सशिष्यः । इति बहुव्रीहिः ॥

अथ द्वन्द्वसमासप्रकरणम्

चार्थे द्वन्द्वः । २।२।२९। अनेकेषु वन्तं चार्थे वर्तमानं वा समस्यते, स द्वन्द्वः ।
समुच्चयान्वाचयेतरेतरयोगसमाहाराश्चार्थाः । तत्रेश्वरं गुरुं च भजस्वेति परस्परनिर-
पेक्षस्यानेकस्यैकस्मिन्नन्वयः समुच्चयः । भिक्षामट गां चानयेति अन्यतरस्यानुषङ्गि-
त्वेनान्वयोऽन्वाचयः । अनयोरसामर्थ्यात् समासो न । धवखदिरौ छिन्धीति मिलिता-
नामन्वय इतरेतरयोगः । संज्ञापरिभाषमिति । समूहः समाहारः ॥ राजदन्तादिषु
परम् । २।२।३१। एषु पूर्वप्रयोगार्हं परं स्यात् । दन्तानां राजा-राजदन्तः । (धर्मा-
दिष्वनियमः) । अर्थधर्मा-धर्मार्थौ । दम्पती-जम्पती-जायापती । जायाशब्दस्य
दम्भावो जम्भावश्च वा निपात्यते । आकृतिगणोऽयम् ॥ द्वन्द्वे धि । २।२।३२। द्वन्द्वे
धिसंज्ञं पूर्वं स्यात् । हरिहरौ ॥ अजाद्यदन्तम् । २।२।३३। ईशकृष्णौ । अल्पाच्त्त-
रम् । २।२।३४। शिवकेशवौ ॥ (ऋतुनक्षत्राणां समाक्षराणामानुपूर्व्येण) ।

मिलितानामिति । परस्परापेक्षितानां समुदितानामेकस्मिन् क्रियापदेऽन्वयो यत्र,
तत्रेतरेतरयोगः परस्परसाहचर्यं चार्थः प्रत्येतन्व इत्यर्थः । समूह इति । परस्पर-
साहित्यमित्यर्थः । धवखदिरौ । धवश्च खदिरश्च 'धवखदिरौ' इत्यत्र इतरेतरयोगत्वात्
'चार्थे द्वन्द्वः' इति द्वन्द्वसमासे सुपो लुकि, विभक्तिकार्ये च कृते 'धवखदिरौ' इति ।
अजाद्यदन्तमिति । अजाद्यदन्तं पूर्वं प्रयोज्यमित्यर्थः । ईशकृष्णाविति । अत्र कृष्ण-
स्यादन्तत्वेऽपि अजादित्वाभावाच्च पूर्वनिपातः । अल्पाच्त्तरमिति । अल्पः अल्पसंख्यः
अच् यस्य तदल्पाच्, तदेवाल्पाच्त्तरम् । अत्र निपातनात् स्वार्थे तरप्, कुत्वाभावश्च ।
अल्पसंख्याचकं पदं द्वन्द्वे पूर्वं प्रयोज्यम् । शिवकेशवौ । शिवस्याल्पाच्त्तरत्वात्पूर्वनिपातः ।

चार्थे द्वन्द्वः—चार्थे (इतरेतरयोग और समाहार अर्थ) में वर्तमान अनेक समर्थ
सुबन्तका समास हो, विकरसे और वह समास द्वन्द्वसंज्ञक हो ।

नोटः—जिस समासमें सभी पद प्रधान हों और उनके बीचका योजक अव्यय (च)
लुप्त रहे, उसे द्वन्द्वसमास कहते हैं । (निम्न टिप्पणी (१) देखो)

राजदन्तादिषु—राजदन्तादिमें पूर्वप्रयोगार्हका पर प्रयोग हो । धर्मादि—धर्मादिमें पूर्व
निपातका कोई नियम नहीं है । द्वन्द्वेऽपि—द्वन्द्वमें धिसंज्ञकका पूर्व निपात हो ।

अजाद्यदन्तम्—अजादि जो अदन्त, उसका द्वन्द्वमें पूर्व निपात हो ।

अल्पाच्त्तरम्—द्वन्द्वमें अल्प 'अच्' का पूर्व प्रयोग (निपात) हो ।

ऋतुनक्षत्राणां—समाक्षर (तुल्य संख्यक अक्षरवाले) ऋतु तथा नक्षत्रवाचक शब्दका

(१) द्वन्द्वो द्विविधः । इतरेतरयोगद्वन्द्वः, समाहारद्वन्द्वश्चेति । समासषट्कसर्वपदार्थ-
प्रधान इतरेतरयोगद्वन्द्वः । समासषट्कपदार्थसमूहप्रधानः समाहारद्वन्द्वः । तत्रेतरेतरयोग-

हेमन्तशिशिरवसन्तः । कृत्तिकारोहिण्यौ । समाक्षराणां किम् ? ग्रीष्मवसन्तौ ॥ (लघ्वक्षरं पूर्वम्) । कुशकाशम् । (अभ्यर्हितं च) तापसपर्वतौ ॥ (वर्णानामानुपूर्व्येण) । ब्राह्मण-क्षत्रिय-विट्-शूद्राः ॥ (आतुर्ज्यायसः) । युधिष्ठिरार्जुनौ ॥ द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् । २।४।२। एषां द्वन्द्व एकवत् । पाणिपादम् । मार्दङ्गिकपाणविकम् । रथिकाश्वारोहम् ॥ अध्ययनतोऽविप्रकृष्टाख्यानाम् । २।४।५। अध्ययनेन प्रत्यासन्ना आख्या येषां तेषां द्वन्द्व एकवत् । पदकक्रमकम् । जातिरप्राणिनाम्

ऋतुनक्षत्राणामिति । समानसंख्याचकानां ऋतूनां नक्षत्राणां च द्वन्द्वे आनुपूर्व्येण क्रमेण निपातो वक्तव्य इत्यर्थः । हेमन्तशिशिरवसन्तः । त्रयाणामृतूनामानुपूर्व्यं लोकप्रसिद्धम् । एवं कृत्तिकादिनक्षत्राणामपि । ग्रीष्मवसन्ताविति । विपमाक्षरत्वाच्च वसन्तस्य पूर्वनिपातः । किन्तु अल्पाक्षरात् ग्रीष्मस्य पूर्वनिपातः । लघ्वक्षरं पूर्वमिति । लघु अक्षरमच्यस्य तत् द्वन्द्वे पूर्व प्रयोज्यमिति वक्तव्यमित्यर्थः । कुशकाशमिति । समाहारद्वन्द्वोऽयम् । अभ्यर्हितश्चेति । श्रेष्ठः पूर्वः प्रयोज्य इति । वक्तव्यमित्यर्थः । तापसपर्वताविति । पर्वतस्य स्थावरजन्मतया तापसस्य तदपेक्षया अभ्यर्हितत्वं बोध्यम् । वर्णानामिति । एषां क्रमेण पूर्वनिपातः । आतुर्ज्यायस इति । ज्येष्ठआतुः पूर्वनिपात इत्यर्थः । द्वन्द्वश्च प्राणि । प्राणितूर्यसेनाङ्गानीति द्वन्द्वगर्भपष्टीसमासः । द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणोऽङ्गशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते इत्यभिप्रेत्याह—एषामिति । प्राण्यङ्गानां तूर्याङ्गानां सेनाङ्गानान्वेत्यर्थः । द्वन्द्व इति । समाहारद्वन्द्व इत्यर्थः । पाणिपादमिति । पाण्योः पादयोश्च समाहारः इति विग्रहः । अत्र समाहारे एकत्वम् । 'स नपुंसकम्' इति नपुंसकत्वं च । मार्दङ्गिकवैणविकम् । मृदङ्गवैणवशब्दौ वाद्यविशेषपरौ । इह तु तद्वादनेऽपि वर्तते । मृदङ्गवादनं शिल्पमस्येत्यर्थे 'शिल्पम्' इति ठक् । मार्दङ्गिकपाणविकयोः समाहार इति विग्रहः । तूर्याङ्गत्वादेकवचनम् । रथिकाश्वारोहम् । रथेन चरन्तीति रथिकाः । पर्पादिभ्यः छन् । रथिकानामश्वारोहाणाञ्च समाहार इति विग्रहः । सेनाङ्गत्वादेकवचनम् । पूर्ववन्नपुंसकम् । अध्ययनत इति । अध्ययनत इति तृतीयार्थे तसिः । पदकक्रमकमिति । पदानि

द्वन्द्वे आनुपूर्वी (यथाक्रम) से पूर्व प्रयोग हो । लघ्वक्षरं—लघु (ह्रस्व) अक्षरवाले पदका द्वन्द्वमें पूर्व प्रयोग हो । अभ्यर्हितं—अभ्यर्हित (पूज्य) का द्वन्द्वमें पूर्व प्रयोग हो ।

वर्णानामानु—ब्राह्मणादि वर्णोंका द्वन्द्वमें आनुपूर्वी (यथाक्रम) से पूर्व प्रयोग हो ।

आतुर्ज्यायसः—द्वन्द्वमें बड़े भाईका पूर्व प्रयोग हो ।

द्वन्द्वश्च प्राणि—प्राण्यंग, तूर्याङ्ग और सेनाङ्ग वाची द्वन्द्व एकवत् हो ।

अध्ययनतोऽवि—अध्ययनसे जिनकी आख्या (संज्ञा) प्रत्यासन्न (निकट) हो, उनका द्वन्द्व एकवत् हो । जातिरप्राणिनाम्—प्राणिसे भिन्न जातिवाचियोंका द्वन्द्व एकवत् द्वन्द्वो यथा—सहितौ लक्ष्मीश्च नारायणश्च=लक्ष्मीनारायणौ । सहितौ हरश्च पार्वती च =

।२।४।६। प्राणिवर्ज्यजातिवाचिनां द्वन्द्व एकवत् । धानाशङ्कुलि । प्राणिनां तु-विट्-
शूद्राः ॥ विशिष्टलिङ्गो नदीदेशोऽग्रामाः ।२।४।७। ग्रामवर्जनदीदेशवाचिनां
भिन्नलिङ्गानां द्वन्द्व एकवत् । उद्धयश्च इरावती च उद्धयेरावती । गङ्गाशोणम् ।
कुरवश्च कुरुक्षेत्रं च-कुरुकुरुक्षेत्रम् ॥ क्षुद्रजन्तवः ।२।४।८। एषां द्वन्द्व एकवत् ।
यूकालिक्षम् । आ नकुलाक्षुद्रजन्तवः ॥ येषां च विरोधः शाश्वतिकः ।२।४।९।
एषां प्राग्वत् । अहिनकुलम् । गोव्याघ्रम् । काकोलूकमित्यादौ परत्वात् 'विभाषा वृद्धे'ति
प्राप्तं चकारेण वाध्यते ॥ शूद्राणामनिरवसितानाम् ।२।४।१०। अवहिष्कृतानां
शूद्राणां द्वन्द्वः प्राग्वत् । तक्षायस्कारम् । पात्रादवहिष्कृतानां तु—चण्डालमृतपाः ॥
गवाश्वप्रभृतीनि च ।२।४।११। यथोच्चारितानि तथैव साधूनि । दासीदास-

अधीयते पदकाः । क्रमान् अधीयते क्रमकाः । 'क्रमादिभ्यो बुन्' । पदकानां क्रमकाणा-
ञ्च समाहार इति विग्रहः । जातिरप्राणिनामिति । जातिरिति पृष्टीबहुवचनस्थाने व्यत्य-
येन प्रथमा । जातिवाचिनामित्यर्थः । धानाशङ्कुलीति । धानाश्च शङ्कुल्यश्च तासां
समाहार इति विग्रहः । जातिवाचित्वादेकवचनम् । नपुंसकत्वाद्भ्रस्व इति भावः ।
विट्शूद्राः । विशश्च शूद्राश्चेति विग्रहः । विशिष्टलिङ्ग इति । ग्रामवाचकभिन्नाः भिन्न-
लिङ्गकाः ये नदीवाचिनः ये देशवाचिनश्च तेषां द्वन्द्वः एकवत् स्यात् इति तात्पर्यार्थः ।
उद्धयश्चेति । उद्धयो नाम नदविशेषः, इरावती नाम काचिन्नदी । तयोर्नदीवि-
शेषवाचकत्वादेकत्वम् । नदीशब्देन नदस्यापि ग्रहणात्, अन्यथा भिन्नलिङ्गत्वासम्भ-
वादिति भावः । यूकालिक्षम् । यूकाश्च लिच्छाश्चेति विग्रहः । एकत्वं नपुंसकह्रस्वत्वञ्च ।
आनकुलादिति । नकुलपर्यन्ताः क्षुद्रजन्तवः इति भाष्यादिति भावः । प्राग्वदिति ।
समाहारद्वन्द्वः एकवदित्यर्थः । अहयश्च नकुलाश्चेति विग्रहः । अनयोः स्वाभाविक
विरोधः प्रसिद्धः । चकारेणेति । येषां चेति चकारेणेत्यर्थः । अवहिष्कृतानामिति । 'यैर्भुक्तं
पात्रं क्षारोदकप्रक्षालनेन संस्कारेणापि न शुध्यति ते निरवसिताः चाण्डालादयः ।
यैस्तु भुक्तं पात्रं संस्कारेण शुध्यति तेऽनिरवसिताः' इति भाष्ये स्पष्टम् । प्राग्वदिति ।
समाहारद्वन्द्वः एकवदित्यर्थः । तक्षायस्कारमिति । तक्षानश्च अयस्काराश्चेति विग्रहः ।
चण्डालमृतपा इति । एतद्भुक्तपात्रस्य संस्कारेणापि नास्ति शुद्धिरिति भावः । गवाश्व-
प्रभृतीनि च । यथा गणे पठितानि तथैव साधूनीत्यर्थः । दासीदासमिति । अत्रैकवत्त्वि-

हो । विशिष्टलिङ्गो—ग्रामवर्ज देशवाची और नदीवाचीसे भिन्न लिङ्गका द्वन्द्व एकवत् हो ।
क्षुद्रजन्तवः—क्षुद्र जन्तुओंका द्वन्द्व एकवत् हो । येषां च—जिनका (परस्पर) सदासे ही
स्वाभाविक वैर है, उनका द्वन्द्व एकवत् हो । शूद्राणां—अवहिष्कृत शूद्रोंका द्वन्द्व एक-
वत् हो । गवाश्च—गवाश्व प्रभृति जैसा गणमें पठित है, वैसा ही साधु हो ।

हरपार्वत्यौ । सहितौ रामश्च कृष्णश्च=रामकृष्णौ । सहितानि घटश्च कुड्यं च कुसूलं च =

मित्यादि ॥ विभाषा वृक्षमृगतृणधान्यव्यञ्जनपशुशकुन्यश्ववडवपूर्वा-
पराधरोत्तराणाम् । २।४।१२। वृक्षादीनां सप्तानां द्वन्द्वः, अश्ववडवेत्यादि द्वन्द्व-
त्रयं च प्राग्वद्वा । वृक्षादौ विशेषाणामेव ग्रहणम् । प्लक्षन्यग्रोधम्—प्लक्षन्यग्रोधाः ।
रुरुपृषतम्—रुरुपृषताः । कुशकाशम्—कुशकाशाः । ब्रीहियवम्—ब्रीहियवाः ।
दधिघृतम्—दधिघृते । गोमहिषम्, गोमहिषाः । शुक्रवकम्—शुक्रवकाः । अश्व-
वडवम्—अश्ववडवौ । पूर्वापरम्—पूर्वापरे । अधरोत्तरम्, अधरोत्तरे ॥ (फल-
सेनावनस्पतिमृगशकुनिशुद्रजन्तुधान्यतृणानां बहुप्रकृतिरेव द्वन्द्व एक-
वदिति वाच्यम्) बदराणि चामलकानि च—बदरामलकम् । नेह—बदरा-
मलके । रथिकाश्वारोहावित्यादि ॥ न दधिपय आदीनि । २।४।१४। नैक-
वत्स्युः । दधिपयसी । इध्मावर्हिषी । निपातनादीर्घः—ऋक्सामे । वाङ्मनसे ॥

यमः । 'पुमान् स्त्रिया' इत्येकशेषस्तु निपातनान्न । प्राग्वद्वेति । विकल्पेन एकवदित्य-
र्थः । वृक्षादाविति । वृक्षविशेषवाचिनां तृणविशेषवाचिनां धान्यविशेषवाचिनां पशुवि-
शेषवाचिनां चेत्यर्थः । वृक्षद्वन्द्वमुदाहरति—प्लक्षेति । प्लक्षाश्च न्यग्रोधाश्चेति विग्रहः ।
मृगद्वन्द्वमुदाहरति—रुरुपृषतमिति । रुरवश्च पृषताश्चेति विग्रहः । तृणद्वन्द्वमुदाहरति-
कुशेति । कुशाश्च काशाश्चेति विग्रहः । धान्यद्वन्द्वमुदाहरति—ब्रीहिति । ब्रीहयश्च यवा-
श्चेति विग्रहः । व्यञ्जनद्वन्द्वमुदाहरति—दधीति । दधि च घृतं च इति विग्रहः । पशु-
द्वन्द्वमुदाहरति—गावश्च महिषाश्चेति विग्रहः । शकुनिद्वन्द्वमुदाहरति—शुकेति । शुकाश्च
वकाश्चेति विग्रहः । अश्ववडवादिद्वन्द्वमुदाहरति—अश्ववडवमिति । अश्वश्च वडवा-
श्चेति विग्रहः । 'पूर्ववदश्ववडवौ' इति अश्ववडवावित्यत्र पूर्वपदवत्, पुल्लिङ्गता ।
फलसेनेति । एकवद्भावप्रकरणशेषभूतमिदं वार्तिकम् । 'द्वन्द्वश्च प्राणि' इत्यादिसूत्रैः
फलसेनादीनां द्वन्द्व एकवद्भवन् बहुवचनान्तावयवक एव एकवत् भवति, नत्वेक-
द्विवचनान्तावयवक इत्यर्थः । बदराणि चेति । बदरीफलानि आमलकीफलानि चेत्यर्थः ।
बदरामलके । बदरं चामलकं चेति विग्रहः । रथिकाश्वारोहाविति । अत्र सेनाङ्गवेऽपि
नैकवत्त्वम् । नैकवत्स्युरिति । एषां समाहारद्वन्द्वो नास्तीत्यर्थः । दधिपयसी । दधि च
पयश्चेति विग्रहः । 'जातिरप्राणिनाम्' इति नित्यमेकवत्त्वं प्राप्तं बाधित्वा व्यञ्जनद्व-
न्द्वत्वाद्विकल्पः प्राप्तः, सोऽपि न भवति । इध्मावर्हिषी । इध्मं च वर्हिश्चेति विग्रहः ।

विभाषा वृक्ष—वृक्षादि सार्तोका तथा अश्ववडवादि तीनों का द्वन्द्व एकवत् हो,
विकल्पसे । फलसेना—फलादिका बहुवचनान्त प्रकृतिक द्वन्द्व एकवत् हो । न दधिपयः—
दधिपयसादि द्वन्द्व एकवत् नहीं हो ।

षट्कुल्यकुसूलानि । सहिताः षटौ च पटौ च—षटपटाः । सहितानि कुण्डलानि च कटके च

आनङ् ऋतो द्वन्द्वे ।६।३।२५। विद्यायोनिसम्बन्धवाचिनामृदन्तानां द्वन्द्व
 आनङ् स्यादुत्तरपदे । होतापोतारौ । मातापितरौ । पुत्रे इत्यनुवृत्तेः—पितापुत्रौ ॥
 देवताद्वन्द्वे च ।६।३।२६। इहोत्तरपदे पूर्वपदस्यानङ् । मित्रावरुणौ ॥ (वायुशब्द-
 प्रयोगे प्रतिषेधः) । अग्निवायू-वाय्वग्नी ॥ ईदग्नेः सोमवरुणयोः ।६।३।२७।
 देवताद्वन्द्व इत्येव ॥ अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः । ८।३।८२। अग्नेः परेषामेषां सस्य
 पः समासे । अग्निष्टुत् । अग्निष्टोमः । अग्नीषोमौ । अग्नीवरुणौ ॥ इद् वृद्धौ
 ।६।३।२८। वृद्धिमत्युत्तरपदे अग्नेरिदादेशो देवताद्वन्द्वे । अग्रामरुतौ देवते अस्य-

दीर्घ इति । इध्मशब्दस्येति शेषः । ऋत्सामे । ऋक् च साम चेति विग्रहः । 'अचतुर'
 इत्यादिनाऽच् समासान्तः । वाङ्मनसे । वाक् च मनश्चेति विग्रहः, पूर्ववत्समासान्तः ।
 विद्यायोनिसम्बन्धवाचिनामिति । विद्यासम्बन्धवाचिनां योनिसम्बन्धवाचिनां चेत्यर्थः ।
 ऋदन्तानाम् इति । बहुव्ययेन ऋतः इत्येकवचनम् । ऋदन्तसर्वावयवकान्ताना-
 मित्यर्थः । उत्तरपदे इति । 'अलुगुत्तरपदे' इत्यधिकारादिति भावः । होतापोताराविति ।
 होता च पोता चेति विग्रहः । मानापितराविति । पितृपितामहा इत्यादौ तु नानङ् ।
 ऋदन्तसर्वावयवकत्वाभावादिति भावः । मित्रावरुणाविति । इह ऋदन्तत्वाभावात्
 पूर्वैणाग्राप्ते विधिरयम् । वायुशब्देति । वायुशब्दस्य पूर्वपदत्वेनोत्तरपदत्वेन वा प्रयोगे
 सत्यानङ् प्रतिषेधो वक्तव्य इत्यर्थः । ईदग्नेः । इत्येवेति । देवताद्वन्द्वे इत्यनुवर्तते
 एवेत्यर्थः । सोमशब्दे वरुणशब्दे च उत्तरपदे परे अग्नेरीदादेशः स्यात् देवताद्वन्द्वे
 इत्यर्थः । अग्नेः परेषामिति । पः स्यादिति 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' इत्यनुवृत्तेरिति भावः ।
 अग्निष्टुदिति । ऋतुविशेषोऽयम् । अग्निष्टोम इति । स्तोत्रविशेषकस्य संस्थाविशेषस्य
 च नाम । अग्नीषोमाविति । अग्निश्च सोमश्चेति विग्रहः । ईत्वषत्वे । अग्नीवरुणाविति ।
 अग्निश्च वरुणश्चेति विग्रहः । ईद्वृद्धौ । अग्नेरिति 'देवताद्वन्द्वे इति चानुवर्तते, वृद्धि-
 शब्देन वृद्धिमल्लभ्यते, देवताद्वन्द्वे केवलवृद्धिरुपोत्तरपदासंभवात् । तदाह-वृद्धिमतीति ।

आनङ् ऋतो द्वन्द्वे-विद्यासम्बन्धवाची और योनिसम्बन्धवाची ऋदन्तको द्वन्द्वमें 'आनङ्'
 आदेश हो, उत्तर पदके परे । देवता द्वन्द्वे-देवतावाची शब्दको द्वन्द्वमें 'आनङ्' आदेश हो,
 उत्तर पदके परे । वायुशब्दप्रयोगे-द्वन्द्वमें देवतावाची 'वायु' का प्रयोग रहनेपर 'आनङ्'
 आदेश नहीं हो । ईदग्नेः-सोम और वरुण उत्तर पदके परे अग्नि के इकारको 'ईत्' आदेश
 हो, देवता द्वन्द्वमें । अग्नेः स्तुत्-अग्निसे पर 'स्तुत्' आदिके सकारको षत्व हो, समासमें ।
 इद्वृद्धौ-वृद्धिमान् उत्तर पदके परे अग्नि के इकारको इकार ही आदेश हो, देवता द्वन्द्वमें ।

ताटक्के च = कुण्डलकटकताटक्कानि । सहितौ अग्निश्च सोमश्च=अग्नीषोमौ । सहिते यौश्च
 भूमिश्च=द्यावाभूमी । सहितौ मित्रश्च वरुणश्च=मित्रावरुणौ । समाहारद्वन्द्वो यथा-पाणी-

आग्निमस्तु कर्म । अग्नीवरुणौ देवते अस्य—आग्निवारुणम् । 'देवताद्वन्द्वे च'ेत्यु-
भयपदवृद्धिः । (विष्णौ न) । अग्नावैष्णवम् ॥ दिवो द्यावा । ६।३।२९। देव-
ताद्वन्द्वे उत्तरपदे । द्यावाभूमी ॥ मातरपितराबुदीचाम् । ६।३।३२। उदीचां
किम् ? मातापितरौ ॥ द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्समाहारे । ५।४।१०६। चवर्गान्ताहप-
हान्ताच्च द्वन्द्वाट्च समाहारे । वाक्त्वचम् । त्वक्स्त्रजम् । समीदृषदम् । वाक्त्विषम् ।
छत्रोपानहम् । समाहारे किम् ? प्रावृट्शरदौ । इति द्वन्द्वसमासप्रकरणम् ।

अग्नमस्तुविति । अग्निश्च मरुच्चेति विग्रहः । 'देवताद्वन्द्वे च' इत्यानङ् । अग्निमस्तुं
कर्मेति । 'साऽस्य देवता' इत्यण् । तद्धितान्तप्रातिपदिकावयवत्वात् सुपो लुक् ।
अग्नीवरुणाविति । 'ईदग्नेः' इतीत्वम् । अग्निवारुणमिति । 'सास्य देवता' इत्यण् ।
ननु 'तद्धितेष्वचामादेः' इत्यादेरचो वृद्धिविधानात् कथमुत्तरपदस्यावृद्धिरित्यत
आह—देवताद्वन्द्वे चेत्युभयपदवृद्धिरिति । विष्णौ नेति । विष्णुशब्दे परे अग्नेरिकारो नेति
वक्तव्यमित्यर्थः । अग्नावैष्णवमिति । अग्निश्च विष्णुश्च अग्नाविष्णू । 'देवताद्वन्द्वे
च' इत्यानङ् । अग्नाविष्णू देवते अस्य इत्यर्थे 'सास्य देवता' इत्यण् । अग्नावैष्णवं
हविः । 'देवताद्वन्द्वे च' इत्युभयपदवृद्धिः । इत्वाभावादानङेव । द्यावाभूमी इति ।
द्यौश्च भूमिश्चेति विग्रहः । मातरपितराबुदीचामिति । उदीचां मते 'मातरपितरा'विति
भवतीत्यर्थः । अत्र मातृशब्दस्यारङादेशो निपात्यते । मातापितराविति । अरङ्भावे
'आनङ्' इत्यानङ् । इति द्वन्द्वसमासः ।

विष्णौ न—वृद्धिमत् 'विष्णु' शब्द उत्तर पदके परे अग्निको 'इत्' आदेश नहीं हो ।

दिवो द्यावा—'दिव्' शब्दको 'द्यावा' आदेश हो, उत्तर पदके परे ।

मातरपितरौ—'मातरपितरौ' इस द्वन्द्वमें मातृशब्दको 'अरङ्' आदेश हो, पश्चिमी
आचार्योंके मतसे । द्वन्द्वाच्चुद—अवर्गान्त, दकारान्त, पकारान्त और हकारान्त द्वन्द्वसे
समासान्त 'ट्च्' प्रत्यय हो, समाहारमें ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें द्वन्द्व प्रकरण समास हुआ ।

च पादौ च मुखं च एतेषां समाहारः=पाणिपादमुखम् । शङ्खश्च पटहश्च अनयोः समाहारः=
शङ्खपटहम् । रथिकाश्च अश्वारोहाश्च गजस्थाश्च एतेषां समाहारः = रथिकाश्वारोहगजस्थम् ।

अथैकशेषसमासप्रकरणम्

(विरूपाणामपि समानार्थानाम्) । वक्रदण्डश्च कुटिलदण्डश्च—वक्रदण्डौ-
कुटिलदण्डौ ॥ वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः । १२।६५। यूना सहोक्ता
गोत्रं शिष्यते गोत्रयुवप्रत्ययमात्रकृतं चेत्तयोः कृत्स्नं वैरूप्यं स्यात् । गार्ग्यश्च
गार्ग्यायणश्च—गार्ग्यौ । वृद्धः किम् ? गर्गगार्ग्यायणौ । यूना किम् ? गर्गगार्ग्यौ ।

विरूपाणामिति । 'सरूपाणाम्' इत्यनेन सूत्रेणार्थभेदेऽपि शब्दैकरूप्ये एकशेष
उक्तः, एकार्थकत्वे विरूपाणामप्येकशेषो वक्तव्य इत्यर्थः । वक्रदण्डश्चेति । अत्र
शब्दवैरूप्येऽप्यर्थैक्यात् अन्यतरः शिष्यत इति भावः । वृद्धो यूना । रूपतो
ऽर्थतश्च भेदेऽपि प्राप्त्यर्थमिदम् । यूनेति । 'जीवति तु वंश्ये युवा' इति वक्ष्यमाण-
युवप्रत्ययान्तनेत्यर्थः । सहोक्ताविति । अध्याहारलब्धमेतत् । गोत्रमिति । वृद्धशब्देन
'अपत्यं पौत्रप्रभृतिगोत्रम्' इति सूत्रोक्तं गोत्रं विवक्षितम् । अपत्यमन्तरितं वृद्धमिति
पूर्वाचार्यपरिभाषितत्वादिति भावः । शिष्यत इति । शेष इति कर्मणि घञन्तमनुवर्तत
इति भावः । तल्लक्षण इति । सः गोत्रप्रत्ययः युवप्रत्ययश्च लक्षणं निमित्तं यस्येति
विग्रहः । विशेषः वैलक्षण्यम् । तथा च गोत्रयुवप्रत्ययान्तयोर्विशेषः वैरूप्यं तल्लक्षण-
श्चेत् गोत्रयुवप्रत्ययनिमित्तकश्चेदित्यर्थः । अन्यनिमित्तको न चेदित्यर्थः सिद्धः । तदाह-
गोत्रयुवेति । कृत्स्नमिति । एवकारलभ्यमिदम् । गार्ग्यश्चेति । गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः ।
'गर्गादिभ्यो यञ्' । गार्ग्यायण इति । गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः । तस्यापत्यं युवा गार्ग्या-
यणः । 'यजिजोश्च' इति फक् । गार्ग्याविति । अत्र गार्ग्यशब्दस्य गार्ग्यायणशब्दस्य
च गोत्रयुवप्रत्ययकृतमेव वैरूप्यमिति गोत्रप्रत्ययान्तो गार्ग्यशब्दः शिष्यत इति
भावः । गर्गगार्ग्यायणाविति । गर्गश्च गार्ग्यायणश्चेति विग्रहः । अत्र गर्गशब्दस्य
गार्ग्यायणशब्दस्य च युवप्रत्ययमात्रकृतवैरूप्येऽपि गोत्रप्रत्ययान्तत्वाभावान्नैकशेष
इति भावः । गर्गगार्ग्याविति । अत्र गर्गशब्दस्य गार्ग्यशब्दस्य च गोत्रप्रत्ययमात्र-
कृतवैरूप्येऽपि गोत्रप्रत्ययान्तो गार्ग्यशब्दो न शिष्यते यूना । सहोक्त्यभावादिति

विरूपाणामपि—समानार्थक विरूपोका भी एकशेष(१) हो, विभक्तिके परे ।

वृद्धो यूना—युवप्रत्ययान्तके साथ उक्त गोत्रप्रत्ययान्तका शेष हो, यदि गोत्रप्रत्यय
और युवप्रत्ययमात्रकृत ही उनका कृत्स्न (सभी तरहका) वैरूप्य रहे तो ।

(१) द्वन्द्वापवाद एकशेषः । स द्वेधा । सरूपसंबन्धी विरूपसंबन्धी चेति । तत्र
सरूपसम्बन्धी यथा—रामश्च रामश्च = रामौ । विप्रश्च विप्रश्च विप्रश्च = विप्राः । शूद्रा च
शूद्रा च=शूद्रे । नदी च नदी च नदी च=नद्यः । नेत्रं च नेत्रं च=नेत्रे । पद्मं च पद्मं च पद्मं

कृत्स्नं किम् ? गार्ग्यवात्स्यायनौ ॥ स्त्री पुंवच्च । १।२।६६। यूना सहोक्तौ वृद्धा स्त्री शिष्यते तदर्थश्च पुंवत् । गार्गी च गार्ग्यायणौ च—गर्गाः ॥ पुमान् स्त्रिया । १।२।६७। स्त्रिया सहोक्तौ पुमान् शिष्यते, तल्लक्षण एव विशेषश्चेत् । हंसी च हंसश्च—हंसौ ॥ भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम् । १।२।६८। भ्राता च स्वसा च—भ्रातरौ । पुत्रश्च दुहिता च—पुत्रौ ॥ नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्

भावः । गार्ग्यवात्स्यायनादिति । गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः, चत्सस्य गोत्रापत्यं वात्स्यः । गर्गादित्वाद्यञ् । वत्सस्यापत्यं युवा वात्स्यायनः । 'यजिजोश्च' इति फक् । गार्ग्यश्च वात्स्यायनश्चेति विग्रहः । अत्र गार्ग्यशब्दस्य वात्स्यायनशब्दस्य च न गोत्रयुवप्रत्ययमात्रकृतवैरूप्यम्, प्रकृतिवैरूप्यस्य गोत्रयुवप्रत्ययमात्रकृतत्वाभावात् । अतो गोत्रप्रत्ययान्तो गार्ग्यशब्दः न शिष्यत इति भावः । स्त्रीपुवच्च । वृद्धो यूनेत्यनुवर्तते । वृद्धेति स्त्रीलिङ्गेन विपरिणम्यते । तदाह—यूना सहोक्तौ वृद्धा स्त्री शिष्यत इति । गोत्रप्रत्ययान्तः स्त्रीवाचकः शब्दः शिष्यत इति भावः । स्त्रीत्वस्य वैरूप्यकारणस्याधिकस्य सत्त्वात् पूर्वेणाप्राप्ते वचनमिदम् । तदर्थं इति । तस्य शिष्यमाणस्य स्त्रीवाचकगोत्रप्रत्ययान्तस्यार्थः पुमानिव स्यादित्यर्थः । गार्गी चेति । गर्गस्यापत्यं स्त्रीत्यर्थः । गर्गादियजन्तत्वात् 'यजश्च' इति ङीप् । गार्ग्यायणौ चेति । गर्गाद्यजन्तात् यून्यपत्ये 'यजिजोश्च' इति फक् । गर्गा इति । अत्र स्त्रीत्वकृतवैरूप्याधिक्येऽपि गोत्रप्रत्ययान्तः स्त्रीवाचको गार्गीशब्दः शिष्यते । स पुंवत् । पुमान् स्त्रिया । तल्लक्षण एवेति । 'वृद्धो यूना' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । हंसी चेति । अत्र पुंस्त्वस्त्रीत्वमात्रकृतवैरूप्यात् पुंलिङ्गे हंसशब्दः शिष्यते । स्त्रीत्वपुंस्त्वकृतवैरूप्यादेव 'सरूपाणाम्' इत्यस्याप्राप्तिः । मातृमातरावित्यत्र जननीवाचकपरिच्छेत्तृवाचकमातृशब्दयोस्तु नायमेकशेषः । एकविभक्तौ सरूपाणामित्यनुवर्त्य एकविभक्तौ सरूपाणां स्त्रीत्वपुंस्त्वेतरकृतवैरूप्यरहितानामित्याश्रयणात् । इह च मातरावित्यत्र 'अप्तुन्' इति दीर्घतदभावाभ्यामपि वैरूप्यात् । अत एव हंसश्च वरटा चेत्यत्रापि नेत्यलन् । भ्रातृपुत्रौ । भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्यां सहोक्तौ क्रमात् भ्रातृपुत्रौ शिष्येते । स्वरूपतोऽपि वैरूप्यादप्राप्तौ वचनम् । नपुंसकम् । अन्यतरस्यां ग्रहणम् एकवदित्यनेनैवान्वेति, आनन्तर्यात्, नत्वेकशेषेणे-

स्त्रीपुंवच्च—युवप्रत्ययान्तके साथ उक्ति (सहविवक्षा) में वृद्धा स्त्री (गोत्र प्रत्ययान्त स्त्रीवाचक शब्द) का शेष हो और स्त्रीवाचकको पुंवद्भाव हो । पुमान् स्त्रिया—स्त्रीवाचक के साथ पुंवाचककी सह विवक्षामें पुंवाचकका शेष हो, यदि स्त्रीत्व और पुंस्त्वमात्र कृत ही उनका वैरूप्य रहे तो । भ्रातृपुत्रौ—स्वसाके साथ भ्राताकी सहविवक्षामें भ्राताका शेष हो और दुहिताके साथ पुत्रकी सहविवक्षामें पुत्रका शेष हो । नपुंसक—अनपुंसकके

च=पञ्चानि । विरुपसम्बन्धी यथा—ब्राह्मणश्च ब्राह्मणी च = ब्राह्मणौ । नरश्च नार्यश्च =

।२।६९। अक्लीवेन सहोक्तौ क्लीवं शिष्यते, तच्च वा एकवत् स्यात्तल्लक्षण एव विशेषश्चेत् । शुक्लः पटः, शुक्ला शाटी, शुक्लं वस्त्रम्, तदिदं शुक्लम्-तानीमानि शुक्लानि ॥ पिता मात्रा ।१।२।७०। मात्रा सहोक्तौ पिता वा शिष्यते । माता च पिता च-पितरौ-मातापितरौ ॥ श्वशुरः श्वश्र्वा ।१।२।७१। श्वश्र्वा सहोक्तौ श्वशुरो वा शिष्यते । श्वश्रूश्च श्वशुरश्च-श्वशुरौ-श्वश्रूश्चशुरौ ॥ त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम् ।१।२।७२। सर्वैः सहोक्तौ त्यदादीनि शिष्यन्ते । स च देवदत्तश्च-तौ ॥ (त्यदादीनां मिथः सहोक्तौ यत्परं तच्छिष्यते) । स च यश्च-यौ ॥ (पूर्वशेषोऽपि

स्याह—तच्चेति । तल्लक्षण एवेति । नपुंसकत्वानपुंसकत्वमात्रकृतवैरूप्यं चेदित्यर्थः । शुद्धःपटः, शुक्ला शाटी, शुक्लं वस्त्रमिति । पटशब्दसमभिव्याहारात् शुक्लशब्दः पुंलिङ्गः, शाटीशब्दसमभिव्याहारात् स्त्रीलिङ्गः, वस्त्रशब्दसमभिव्याहारे तु नपुंसकलिङ्गः । 'गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणिलिङ्गास्तु तद्वति, इत्यमरः । तच्च स च इदं च तत् । अयं च इयं च इदं च इदम् । शुक्लश्च शुक्ला च शुक्लं च शुक्लम् । अत्र नपुंसकान्येव शिष्यन्ते एकवच्च भवन्ति । तानीमानिशुक्लानीति । नपुंसकत्वे एकशेषे सति एकवत्त्वाभावे रूपाणि । पिता मात्रा । 'पुमान् स्त्रिया' । इत्यत्र सरूपाणामित्यनुवृत्तेरप्राप्ताविदं वचनं विकल्पार्थं च । मातापितराविति । 'पितुर्दशगुणं माता गौरवेणातिरिच्यते' इति स्मृत्या मातुरभ्यर्हितत्वात्पूर्वनिपातः । 'आनङ्कृतः' इत्यानङ् । श्वशुरः श्वश्र्वा । श्वश्र्वा अपि मातृतुल्यत्वोक्तेरभ्यर्हितत्वम् । 'श्वश्रूः पूर्वजपत्नी च मातृतुल्या प्रकीर्तिता' इति स्मृतेः । इह तल्लक्षणग्रहणानुवृत्तिः स्पष्टार्था, 'श्वशुरः श्वश्र्वा' इति शब्दग्रहणात् । त्यदादीनि । सर्वैरिति । त्यदादिभिरेव तरेऽश्चेत्यर्थः । नाविति । अत्र देवदेवदत्तशब्दो निवर्तते । तच्छब्दस्तु शिष्यते । तद्देवदत्ताविति न भवति । सर्वैः किम् ? प्रत्यासत्या त्यदादिभिरेव सहोक्तावित्यर्थो मा भूदित्येतदर्थम् । त्यदादीनां मिथ इति । आप्ये स्थितमेतत् । यत् परमिति । त्यदादिगणे यत् परं पठितं तच्छिष्यत इत्यर्थः । शब्दपरविप्रतिषेधाश्रयणादिति भावः । स च यश्च यौ । त्यदादिगणे

साथ नपुंसककी उत्किमे नपुंसकका शेष हो तथा वह नपुंसक एकवत् हो, विकल्पसे, यदि उसका नपुंसकत्व और अनपुंसकत्व मात्र कृत ही वैरूप्य रहे तो । पितामात्रा—माताके साथ पिताकी सहविवक्षामें पिताका शेष हो, विकल्पसे । श्वशुरः—श्वश्रूके साथ श्वशुरकी सहविवक्षामें श्वशुरका शेष हो, विकल्पसे । त्यदादीनि—त्यदादिके साथ अन्य सभी शब्दोंकी सहविवक्षामें त्यदादिका नित्य शेष हो । त्यदादीनां मिथः—त्यदादिके साथ त्यदादिकी (ही) सहविवक्षा रहने पर त्यदादिगणमें जो शब्द पर रहे, उसीका शेष हो ।

पूर्वशेषोऽपि—कहीं २ पर त्यदादिके पूर्वपठित शब्दोंका भी शेष होता देखा गया है ।

नराः । भ्रातरश्च त्वसत्श्च=भ्रातरः । पुत्राश्च दुहिता च=पुत्राः । नीलं च नीला च नीलश्च=

दृश्यते) । इति भाष्यम् । स च यश्च—तौ ॥ (त्यदादितः शेषे पुंनपुंसकतो लिङ्गवचनानि) । सा च देवदत्तश्च—तौ । तच्च देवदत्ता च यज्ञदत्तश्च—तानि ॥ ग्राम्यपशुसंघेष्वतरुणेषु स्त्री । १।२।७३। एषु सहविवक्षायां स्त्री शिष्यते । गाव इमाः । ग्राम्येति किम् ? रुच इमे । पशुग्रहणं किम् ? ब्राह्मणा इमे । संघेषु किम् ? एतौ गावौ । अतरुणेषु किम् ? वत्सा इमे ॥ (अनेकशफेष्विति वाच्यम्) । अश्वा इमे ॥ इत्येकशेषसमासप्रकरणम् ।

यच्छब्दस्य तच्छब्दादूर्ध्वं पाठात् परत्वात् स एव शिष्यते इति भावः । पूर्वशेषोऽपीति । परशब्दस्येष्टवाचित्वात् क्वचित्पूर्वमपि शिष्यत इति भावः । अत्र 'द्विपर्यन्तानाम्' इति न भवति । अहं च भवांश्चावामिति भाष्योक्तेः । त्यदादित इति । आद्यादित्वात् पष्ठ्यर्थे तसिः । त्यदादीनां स्त्रीशेषेऽपि सहविवक्षितेषु यः पुमान् यच्च नपुंसकम् तद्वशेन लिङ्गप्रातिपादकानि भवन्तीत्यर्थः । कानीत्याकाङ्क्षायामर्थास्त्यदादीन्येव सम्वध्यन्ते । सा च देवदत्तश्च ताविति । अत्र तच्छब्दः शिष्यते, समभिव्याहृतदेवदत्तशब्दलिङ्गश्च । देवदत्तशब्दस्तु निवर्तत एव । ग्राम्यपशु । पृष्विति । तरुणभिन्नेषु ग्राम्याणां पशूनां संघेष्वित्यर्थः । गौश्च गौश्च गौश्च इति पुल्लिङ्गस्त्रीलिङ्गेषु गोशब्देषु सहविवक्षितेषु 'पुमान् स्त्रिया' इत्येतद्वाधित्वा स्त्री शिष्यत इति भावः । इमा इति । अनुप्रयोगे रूपभेदः फलमिति भावः ॥ इत्येकशेषः ।

त्यदादितः—खीलिंग त्यदादिके शेष होने पर भी, सहविवक्षित पुल्लिङ्ग अथवा नपुंसकलिङ्ग शब्दको तरह ही उस शिष्ट खीलिंग त्यदादिका भी लिंग और वचन होता है ।

नोटः—त्यदादिके शेषमें पुल्लिङ्ग और नपुंसक दोनों यदि सहविवक्षित हो तो परत्वात् नपुंसकके अनुसार ही लिंग-वचन होते हैं । एवं द्वन्द्व और तत्पुरुषके 'विशेषण जो त्यदादि हैं, उनमें पूर्वोक्त वार्तिक नहीं लगता—क्योंकि वे विशेष्य लिङ्ग ही होते हैं ।

ग्राम्यपशु—अतरुण (जवान) जो ग्राम्य पशुका संघ, उनकी सहविवक्षामें स्त्री-वाचकका शेष हो । अनेक-‘ग्राम्यपशु’ इस सूत्रसे उसी स्त्रीवाचकका शेष हो, जो अनेकशफ (चौरे हुए खुर) वाला हो ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें एकशेष प्रकरण समाप्त हुआ ।

नीलानि, नीलं वा । शुक्लश्च शुक्लं च=शुक्ले, शुक्लं वा । माता च पिता च=पितरौ, माता-पितरौ, मातरपितरौ वा । अशुरश्च अश्रूश्च=अशुरौ, अश्रूश्चाशुरौ वा । अजश्च अजा च=अजे ॥ इत्येकशेषः ।

अथ समासान्तप्रकरणम्

ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे । १५४।७४। ऋगाद्यन्तस्य समासस्य अप्रत्ययो-
 ऽन्तावयवः, अक्षे या धूस्तदन्तस्य न । अर्थर्चः । अनृचवहृचावध्येतयैव । नेह—
 अनृक् साम । वहृक् सूक्तम् । विष्णुपुरम् । विमलापं सरः ॥ द्व्यन्तरूपसर्गभ्योऽप
 ईत् ॥ ६।३।९७। द्वीपम् । अन्तरीपम् । प्रतीपम् । समीपम् । (अवर्णान्ताद्वा) । प्रेपम्—
 प्रापम् ॥ ऊदनोर्देशे । ६।४।९८। अनूपो देशः । राजधुरा । अक्षे तु—अक्षधूः ।
 दृढधूरक्षः । सखिपथः । रम्यपथो देशः ॥ अच् प्रत्यन्ववपूर्वत्सामलोमनः । १५।४।
 ७५। प्रतिसामम् । अनुसामम् । अवसामम् । प्रतिलोमम् । अनुलोमम् । अवलोमम् ।

द्व्यन्तरूप । द्वि अन्तर् उपसर्ग एतेभ्यः परस्य अकारप्रत्ययान्तस्याऽक्षद्वयेत्यर्थः ।
 द्वीपम् । द्वयोः पार्श्वयोर्गता आपः यस्मिन्निति विग्रहः । व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः ।
 अकारप्रत्ययः, ईत्वं, सवर्णदीर्घश्च । अन्तरीपमिति । अन्तर्गता आपो यस्मिन्निति
 विग्रहः । प्रतीपमिति । प्रतिकूला आपो यस्मिन्निति विग्रहः । समीपमिति । संगता
 आपो यस्मिन्निति विग्रहः । अवर्णान्ताद्देति अवर्णान्तादुपसर्गात् परस्य आपस्य ईत्वं
 वा वक्तव्यमित्यर्थः । प्रेपम्, प्रापम् । प्रगता आपो यस्येति विग्रहः । ऊदनोर्देश इति ।
 अनोः परस्यापस्य ऊत्स्याद्देशे । अनूपो देश इति अनुकूला आपो यस्मिन्निति विग्रहः ।
 अप्रत्ययः, ऊत्वं, सवर्णदीर्घश्च । अच्प्रत्यन्वव । प्रति-अनु-अव-एतत्पूर्वत्सामलोमान्ता-
 त्समासादच्स्यादित्यर्थः । प्रतिसाममिति । प्रतिगतं सामेति विग्रहः । अच्, 'नस्तद्धित'
 इति टिलोपः । अनुसाममिति । अनुगतं सामेति विग्रहः । अच्, टिलोपः । अवसाममिति ।
 अवकृष्टं सामेति विग्रहः । अच्, टिलोपः । प्रतिलोममिति । प्रतिगत लोमेति विग्रहः ।
 अनुलोममिति । अनुगतं लोमेति विग्रहः । अवलोममिति । अवगतं लोमेति विग्रहः ।

ऋक्पूरब्धूः—ऋगाद्यन्त समासका अन्तावयव 'अ' प्रत्यय हो । परन्तु अक्षक धूरी-
 वाचक जो धूः शब्द, तदन्त समासमें 'अ' प्रत्यय नहीं हो । अनृचवहृचा—अनृच और
 वहृच समासमें अध्येता अर्थ गम्यमान होने पर हो समासान्त 'अ' प्रत्यय हो ।

द्व्यन्तरूप—'द्वि' आदिसे पर कृतसमासान्त 'अप' के आदि अकारको ईत्त्व हो ।

अवर्णा—अवर्णान्त उपसर्गसेपर कृतसमासान्त 'अप' के आदि अकारको ईत्त्व हो,
 विकल्पसे ।

ऊदनोर्देशे—अनु उपसर्गसे पर कृतसमासान्त 'अप' के आदि अकारको 'ऊत्' हो
 देश अर्थमें ।

अच्प्रत्यन्वव—प्रत्यादि पूर्वक सामन्त और लोमन्त समाससे समासान्त 'अच्'
 प्रत्यय हो ।

(कृष्णोदकपाण्डुसंख्यापूर्वाया भूमेरजिप्यते) कृष्णभूमः । उदग्भूमः । पाण्डु-
भूमः । द्विभूमः । त्रिभूमः प्रासादः ॥ (संख्याया नदीगोदावरीभ्यां च) । पञ्च-
नदम् । सप्तगोदावरम् । अजिति योगविभागादन्यत्रापि—पञ्चनाभः ॥ अक्षणोऽदर्श-
नात् । ५।४।७६। अचक्षुःपर्यायादक्षणोऽच् स्यात् । गवामश्वीव—गवाक्षः ॥ अचतुर-
विचतुरसुचतुरस्त्रीपुंसधेन्वनड्डहक् सामवाङ्मनसाक्षिभ्रुवदारगवोर्वष्ट्री-
वपदष्टीवनक्तदिवरात्रिदिवाहर्दिवसरजसनिःश्रेयसपुरुषायुषद्वथायुष-
ज्यायुषर्ग्यजुषजातोक्षमहोक्षवृद्धोक्षोपशुनगोष्ठश्वाः । ५।४।७७। एते पञ्चविं-
शतिरजन्ता निपात्यन्ते । आद्यास्त्रयो बहुव्रीहयः । अविद्यमानानि चत्वार्यस्य—अच-
तुरः । विगतानि चत्वार्यस्य—विचतुरः । सुचतुरः ॥ (ऽयुपाभ्यां चतुरोऽजि-
प्यते) । त्रिचतुराः । चतुर्णां समीपे—उपचतुराः । तत एकादश द्वन्द्वाः—स्त्रीपुंसौ ।
धेन्वनड्डहौ । ऋक्सामे । वाङ्मनसे । अक्षिणी च भ्रुवौ च—अक्षिभ्रुवम् । दाराश्च

सर्वत्राच्, टिलोपः । कृष्णोदगिति । नेदं वार्तिकम् । किन्तु 'अच्प्रत्यये'त्यत्र 'अच्'इति योग-
विभागमूलामियुक्तोक्तिरेषा । कृष्णेति । कृष्णा भूमिः यस्य, उदीची भूमिः यस्य, पाण्डुः
भूमिः यस्य, द्वे भूमौ यस्य, तिस्रो भूमयो यस्येति च विग्रहः । प्रासादः सर्वत्र विशेष-
ण्यः । संख्याया इति । संख्यायाः परो यो नदीशब्दः गोदावरी शब्दश्च ताभ्यामजि-
प्यत इत्यर्थः । पञ्चनदमिति । पञ्चात्रां नदीनां समाहार इत्यर्थः । सप्तगोदावरमिति ।
सप्तानां गोदावरीणां समाहार इति विग्रहः । 'नदीभिश्च' इत्यन्यथीभावः । अचि
'यस्येति च' इति लोपः । 'नान्यथीभावात्' इत्यम् । पञ्चनाभ इति । पञ्च नामौ
यस्येति विग्रहः । अचतुर इति । नजोऽस्त्यर्थानामिति अविद्यमानपदलोपः । विचतुर
इति । विगतानि चत्वारि यस्येति विग्रहः । 'न पूजनात्' इति निषेधो बाध्यते ।
त्र्युपाभ्यामिति । त्रि उप आभ्यां परो यश्चतुःशब्दस्तस्मादजिप्यते । त्रिचतुरा इति । त्रयो
वा चत्वारो वेति विग्रहः । 'संख्ययान्ययासञ्च' इति बहुव्रीहिः । 'बहुव्रीहौ संख्येये
डच्' इति डच् बाधित्वा अच् । डचि तु टिलोपः स्यात् । उपचतुरा इति । त्रयः पञ्च
वेत्यर्थः । 'संख्ययान्यय' इति बहुव्रीहिः । अच । स्त्रीपुंसाविति । स्त्री च पुमांश्चेति
विग्रहः । अच् । धेन्वनड्डहौ । धेनुश्च अनड्वाश्चेति विग्रहः । अच् । ऋक्साम इति । ऋक्

कृष्णोदक—कृष्णादि पूर्वक भूमि शब्दान्त समाससे समासान्त अच् प्रत्यय हो ।

संख्याया नदी—संख्यापूर्वक नद्यन्त और गोदावर्यन्त समाससे समासान्त अच्
प्रत्यय हो । अक्षणोऽदर्श—अक्षुपर्यायसे भिन्न अक्षिशब्दान्त समाससे समासान्त अच्
प्रत्यय हो । अचतुर—अचतुर, विचतुर आदि शब्द अजन्त निपातन हों ।

त्र्युपाभ्यां—'त्रि' और 'उप' से पर चतुर् शब्दान्त समाससे अच् प्रत्यय हो ।

गावश्च—दारगवम् । ऊरु च अष्टीवन्तौ च—ऊर्वष्टीवम् । निपातनाटिलोपः । पद-
ष्टीवम् । निपातुनात्पादशब्दस्य पद्मावः । नक्तं च दिवा च—नक्तंदिवम् । रात्रौ च
दिवा च—रात्रिंदिवम् । रात्रेर्मान्तत्वं निपात्यते । अहनि च दिवा च—अहर्दिवम् ।
वीप्सायां द्वन्द्वो निपात्यते—अहन्यहनीत्यर्थः । सरजसमिति साकल्येऽव्ययी-
भावः । बहुव्रीहौ तु—सरजः पङ्कजम् । निश्चितं श्रेयो—निःश्रेयसम् । तत्पुरुष
एव । नेह—निःश्रेयान्पुरुषः । पुरुषस्यायुः—पुरुषायुषम् । ततो द्विगू-द्वयायुषम् ।
त्रयायुषम् । ततो द्वन्द्वः—ऋग्यजुषम् । ततस्त्रयः कर्मधारयाः—जातोक्षः । महोक्षः ।
वृद्धोक्षः । शूनः समीपम्—उपशुनम् । टिलोपाभावः सम्प्रसारणं च निपात्यते ।

च साम चेति विग्रहः । अच्, टिलोपः । बाह्वनस इति । वाक् च मनश्चेति विग्रहः ।
अच् । अक्षिभ्रुवमिति । अच्, प्राण्यङ्गत्वादेकवचम् । दारगवमिति, समाहारद्वन्द्वादच् ।
ऊर्वष्टीवमिति । प्राण्यङ्गत्वादेकवचम् । पदष्टीवमिति । पादौ चाष्टीवन्तौ चेति द्वन्द्वादच् ।
प्राण्यङ्गत्वादेकवचम् । नक्तंदिवमिति । नक्तमिति मान्तमव्ययम् । दिवेत्याकारान्तमव्य-
यम् । नक्तंदिवेति द्वन्द्वादच् । 'यस्येति च' इत्याकारलोपः । 'अव्ययीभावश्च' इत्यव्य-
यत्वम्, नपुंसकत्वं च । 'नाव्ययीभावात्' इत्यम्भावः । मान्तत्वमिति । रात्रौ च दिवा
चेति द्वन्द्वे कृते सुब्लुकि कृते रात्रेर्मान्तत्वं निपात्यत इत्यर्थः । 'यस्येति च' इति आका-
रलोपः, अम्भावश्च । अहर्दिवमिति । द्वन्द्वे कृते सुब्लुकि, 'रोऽसुपि' इति रत्वम्, अच्
'यस्येति च' इत्याकारलोपः, अम्भावश्च । वीप्सायां द्वन्द्वो निपात्यत इति । 'नित्यवी-
प्सयोः' इति वीप्सायां द्विवचने कृते एकशेषं बाधित्वा द्वन्द्वो निपात्यत इत्यर्थः ।
सरजसमिति । रजोऽप्यपरित्यज्य इत्यस्वपदविग्रहः । रजः धूलिः । साकल्ये सहशब्दस्य
रजश्शब्देनाव्ययीभावः । 'अव्ययीभावे चाकाले' इति सहशब्दस्य सभावः । अच् ।
अव्ययीभाव इति । भाष्ये तथा वचनात् अव्ययीभावस्य ग्रहणमिति भावः । सरजः
पङ्कजमिति । रजोभिः परागैः सहेति विग्रहः । 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः ।
'वोपसर्जनस्य' इति सहस्य सः । बहुव्रीहित्वात् नाच् । निःश्रेयसमिति । कर्मधारयादच् ।
निःश्रेयानिति । निश्चितं श्रेयो यस्येति बहुव्रीहित्वान्नाच् इति भावः । 'ईयसश्च' इति
निपेधाच्च कप् । पुरुषायुषमिति । पृष्टीसमासात् अजिति भाष्यम् । द्वयायुषन्, त्रयायुष-
मिति । द्वयोरायुषोः समाहार इति, त्रयाणामायुषां समाहार इति च विग्रहः ।
'तद्धितार्थे' इति द्विगोरच् । ऋग्यजुषमिति । ऋचश्च यजूंषि च एषां समाहार इति
समाहारद्वन्द्वः । जातोक्ष इति । जातश्चासौ उच्चा चेति विग्रहः । अचि सत्युच्चन् शब्दे
टिलोपः । महोक्ष इति । महंश्चासावुच्चा चेति विग्रहः । 'आन्महतः' इत्यात्वम् ।
अचि टिलोपः । वृद्धोक्ष इति । वृद्धश्चासावुच्चा चेति विग्रहः । अचि, टिलोपः । उपशुन-

गोष्ठे श्वा—गोष्ठश्च ॥ ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः । ५।४।७८। अच् । ब्रह्म-
वर्चसम् । हस्तिवर्चसम् ॥ (पल्यराजभ्यां च) पल्यवर्चसम् । राजवर्चसम् ॥
अवसमन्धेभ्यस्तमसः । ५।४।७९। अवतमसम् । सन्तमसम् । अन्धतमसम् ॥
अन्ववतसाद्रहसः । ५।४।८१। अनुरहसम् । अवरहसम् । सप्तरहसम् ॥
प्रतेरुरसः सप्तमीस्थात् । ५।४।८२। उरसि इति—प्रत्युरसम् ॥ अनुगवमायामे
। ५।४।८३। एतन्निपात्यते दीर्घत्वे । अनुगव यानम् । 'यस्य चायाम्' इति समासः ॥
उपसर्गाद्ध्वनः । ५।४।८५। प्रगतोऽध्वानं—प्राध्वो रथः ॥ न पूजनात् । ५।४।

मिति । अव्ययीभावात् अच् । गोष्ठश्च इति । सप्तमीसमासादजिति भाष्यम् । अत एव
भाष्यात् सप्तमीसमासः । टिलोपः । ब्रह्मवर्चसमिति । ब्रह्माणो वर्च इति विग्रहः ।
हस्तिवर्चसमिति । हस्तिनो वर्च इति विग्रहः । पल्यराजभ्यामिति । आभ्यां परो यो
वर्चश्शब्दः तस्मादपि अजिति वक्तव्यमित्यर्थः । पल्यवर्चसमिति । पलं मांसं तदर्हतीति
पल्यः, मांसभोजीत्यर्थः । तस्य वर्च इति विग्रहः । राजवर्चसमिति । राज्ञो वर्च इति
विग्रहः । अवसमन्धेभ्य । अव-सम् अन्ध एभ्यः परो यस्तमश्शब्दस्तस्मादच्
स्यादित्यर्थः । अवतमसमिति । अवहीनं तम इति विग्रहः । प्रादिसमासः । संतमस-
मिति । संततं तमः इति विग्रहः । प्रादिसमासः । अन्धतमसमिति । कर्मधारयादच् ।
अन्ववतसादिति । अनु-अव-तप्त-एतेषां समाहारद्वन्द्वः । एभ्यः परो यो रहश्शब्दः
तस्मादच् स्यादित्यर्थः । रहः—अप्रकाशप्रदेशः । अनुरहसं प्रति । अनुगतं रह इति
विग्रहः । अवरहसमिति । अवहीनं रहः इति विग्रहः । उभयत्र प्रादिसमासः । तप्तरह-
समिति । तप्तं रहः इति विग्रहः । प्रतेरुरसः । सप्तम्यर्थे द्योतकतया वर्तत इति सप्त-
मीस्थम् । सप्तम्यर्थद्योतकात् प्रतेः परो यः उरश्शब्दः, तस्मादच् स्यादित्यर्थः ।
उरसीति । अनेन यदुच्यते तदेव प्रत्युरसमित्यनेनोच्यत इत्यर्थः । सप्तम्यर्थद्योतकः
प्रतिः । तस्य विभक्त्यर्थे विद्यमानस्य 'अव्ययं विभक्ति' इत्यादिना अव्ययीभाव
इति भावः । अनुगवं यानमिति । अनुगोशब्दादचि अवादेश इति भावः । गोदैर्घ्य-

ब्रह्महस्तिभ्यां—ब्रह्म और हस्ति से पर वचस् शब्दान्त समाससे अच् प्रत्यय हो ।

पल्यराजभ्याञ्च—पल्य और राजन् शब्दसे पर वर्चस् शब्दान्त समाससे अच् प्रत्यय हो ।

अवसमन्धेभ्यः—अवादिसे पर तमस् शब्दान्त समाससे अच् प्रत्यय हो ।

अन्ववतसात्—अन्वादिसे पर रहस् शब्दान्त समाससे अच् प्रत्यय हो ।

प्रतेरुरस्—सप्तम्यर्थमे वर्तमान प्रति से उरस् शब्दान्त समाससे अच् प्रत्यय हो ।

अनुगवमायामे—आयाम् (लंबाई) अर्थ गम्यमान रहने पर 'अनुगव' निपातन हो ।

उपसर्गाद्ध्वनः—उपसर्गसे पर अध्वन् शब्दान्त समाससे अच् प्रत्यय हो ।

न पूजनात्—पूजनार्थक शब्दसे पर जो (राजादि) शब्द, तदन्तसे समासान्त प्रत्यय

६९। पूजनार्थात्परेभ्यः समासान्ता न स्युः । सुराजा । अतिराजा । (स्वतिभ्यामेव) ।
नेह—परमराजः ॥ किमः क्षेपे । ५।४।७०। कुत्सितो राजा—किंराजा । किंसखा ।
किंगौः ॥ नजस्तत्पुरुषात् ५।४।७१। अराजा । तत्पुरुषात्किम् ? अधुरं शकटम् ॥
पथो विभाषा ५।४।७२। अपथम्—अपन्थाः । तत्पुरुषादित्येव—अपथो देशः ।
इति समासान्तप्रकरणम् ।

अथालुक्समासप्रकरणम्

अलुगुत्तरपदे । ६।३।१। इत्यधिकृत्या ॥ ओजःसहोऽम्भस्तमसस्तृतीयायाः

सहस्रदैर्घ्यकं यानमित्यर्थः । किमः क्षेपे । किंराजा किंसखेति । इह 'राजाहस्सखिभ्यः' ।
इति टच् न भवति । 'किं क्षेपे' इति समासः । किंगौरिति । इह 'गोरतद्धितलुकि'
इति न टच् । नजस्तत्पुरुषात् । नञ्पूर्वपदात्तत्पुरुषात् समासान्तो नेति यावत् । अरा-
जेति ! अत्र 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति टच् न । 'नज्' इति समासः । अधुरं
शकटमिति । अविद्यमाना धूर्यस्येति विग्रहः । नञ्पूर्वपदत्वेऽपि अतत्पुरुषत्वात् । 'ऋक्पूः'
इति समासान्तस्य न निषेधः । पथो विभाषेति । पथिन् शब्दात्तत्पुरुषात् टच् वा
नेत्यर्थः । अपथमिति । न पन्था इति विग्रहे नञ्तत्पुरुषः । 'ऋक्पूः' इत्यप्रत्यये सति
'नस्तद्धिते' इति टिलोपः । 'पथः संख्याव्ययादेः' इति नपुंसकत्वम् । अपन्था इति ।
अप्रत्ययाभावे रूपम् । तत्पुरुषादित्येवेति । अनुवर्तते एवेत्यर्थः । अपथो देश इति ।
अविद्यमानः पन्था यस्येति विग्रहः । बहुव्रीहिस्त्वात् 'ऋक्पूः' इत्यप्रत्ययस्य पाक्षि-
कोऽपि न निषेधः । इति समासान्तप्रकरणम् ।

अथालुक्समासो निरूप्यते—अलुगुत्तरपदे । नायं विधिः राजपुरुष इत्यादावति-
प्रसङ्गात्, 'पञ्चभ्याः स्तोकादिभ्यः' इत्याद्यारम्भाच्च । ओजस । ओजस् सहस् अम्भस्
तमस् एषां समाहारद्वन्द्वः । एभ्यः परस्यास्तृतीयाया अलुक् स्यादुत्तरपदे इत्यर्थः ।

नहीं हो । स्वतिभ्यामेव—पूजनार्थक 'सु' और 'अति' शब्दसे पर ही राजादि शब्दान्तसे
समासान्त प्रत्यय नहीं हो—ऐसा समझना चाहिये । किमः क्षेपे—निन्दार्थक 'किन्' शब्दसे
पर राजादि शब्दान्त समाससे समासान्त प्रत्यय नहीं हो । नजस्तत्पुरुषात्—नञ् पूर्वपदक'
तत्पुरुष समाससे समासान्त प्रत्यय नहीं हो । पथो विभाषा—नञ् पूर्वक 'पथिन्' शब्दान्त
तत्पुरुषसे समासान्त प्रत्यय विकल्पसे हो ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें समासान्त प्रकरण समाप्त हुआ ।

अलुगुत्तरपदे—यह अधिकार सूत्र है(१) । ओजःसहो—(समास होनेपर भी) ओजस्

(१) उक्तेषु समासेष्वेव अलुक् समासः कथ्यते । तथा—उरसि लोमानि यस्य

।दि३।३। ओजसाकृतमित्यादि ॥ (अञ्जस उपसंख्यानम्) । अञ्जसाकृतम् ॥
 आत्मनश्च ।दि३।दि। तृतीयाया अलुक् ॥ (पूरणे इति वक्तव्यम्) । पूरणप्रत्य-
 यान्ते उत्तरपदे इत्यर्थः । आत्मनापञ्चमः ॥ वैयाकरणाख्यायां चतुर्थ्याः ।दि३।२।
 आत्मन इत्येव । आत्मनेपदम् । आत्मनेभाषा ॥ परस्य च ।दि३।८। परस्मैपदम् ।
 परस्मैभाषा । हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम् ।दि३।९। हलदन्तादिति डेरलुक् ।
 त्वचिसारः ॥ गवियुधिभ्यां स्थिरः ।८।३।९। सस्य षः । गविष्ठिरः । युधिष्ठिरः ।

ओजसाकृतमिति । 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इति समासः । ओजो दीप्तौ बले' इत्यमरः ।
 अञ्जसा उपसंख्यानमिति । अञ्जशब्दात् तृतीयाया अलुक् उपसंख्यानमित्यर्थः ।
 अञ्जसाकृतमिति । अञ्जशब्दः आर्जवे वर्तते, यथा—चेत्रज्ञोऽञ्जसा नयतीत्यादौ तथा
 दर्शनात् । आत्मनश्चेति । चकारस्तृतीयाया अलुगिति चानुकुप्यत इत्याह—
 आत्मनस्तृतीयाया अलुगिति । उत्तरपदे परे इति शेषः । पूरणे इति वक्तव्यमिति । नात्र
 पूरणशब्दो गृह्यते, किन्तु स्वरितत्वबलेन पूरणाधिकारविहितप्रत्ययग्रहणात् ।
 आत्मनापञ्चम इति । आत्मा पञ्चम इत्यर्थः । वैयाकरणाख्यायाम् । आत्मन इत्येवेति ।
 अनुवर्तत एवेत्यर्थः । न च 'आत्मनश्च' इत्यस्य वार्तिकत्वे कथमिह सूत्रे एतदनुवृत्ति-
 रिति वाच्यम् । 'सोऽपदादौ' इति सूत्रे पठितस्य 'काश्येरोरेवेति वाच्यम्' इति
 वार्तिकस्य 'इणः षः' इति सूत्रेऽनुवृत्तिवदुपपत्तेः । व्याकरणे भवा वैयाकरणी सा
 चासावाख्या च वैयाकरणाख्या तस्यां या चतुर्थी तस्या अलुगित्यर्थः । पूर्वा-
 चार्यकृतमात्मनेपदस्य संज्ञान्तरमिदं धातुपाठे प्रसिद्धम् । परस्य च । वैयाक-
 रणाख्यायां परशब्दस्यापि चतुर्थ्या अलुगित्यर्थः । हलदन्तात् । त्वचिसार इति ।
 अत एव ज्ञापकाद्व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः । गवियुधिभ्यामिति । गवियुधिभ्यां परस्य
 स्थिरस्य सस्य ष इत्यर्थः । युधिष्ठिर इति । युध्धातोर्भावे क्पि, युध्शब्दात्सप्तम्ये-

आदिसे पर तृतीया विभक्तिका लुक् नहीं हो, उत्तर पदके परे । (उत्तर पद समासके चर-
 मावयवमें रूढ़ है) । अञ्जस—अञ्जस् शब्दसे पर तृतीयाका लुक् नहीं हो, उत्तर पदके
 परे । आत्मनश्च, पूरणे इति—आत्मान् शब्दसे पर तृतीयाका लुक् नहीं हो, पूरण प्रत्ययान्त
 उत्तर पदके परे । वैयाकरणा—आत्मन् शब्दसे पर चतुर्थीका अलुक् हो, उत्तर पदके परे,
 वैयाकरणकी आख्या (संज्ञा) में । परस्य च—पर शब्दसे पर (सी) चतुर्थका अलुक् हो,
 उत्तर पदके परे, वैयाकरणकी आख्यामें । हलन्तात्—हलन्त और अदन्तसे पर सप्तमीका
 अलुक् हो, संज्ञामें । गवियुधिभ्यां—गवि और युधिसे पर स्थिरके सकारको पत्व हो ।

उरसिष्ठोमा । प्रावृषि जातः = प्रावृषिजः । काले जातः = कालेजः । दिवि जातः = दिविजः ।

अरण्येतिलकः । अत्र संज्ञायामिति सप्तमीसमासः ॥ (हृदयभ्यां च) । हृदिस्पृक् । दिविस्पृक् ॥ मध्याद्गुरौ । ६।३।११ । मध्येगुरुः ॥ (अन्ताच्च) । अन्तेगुरुः । अमूर्धमस्तकात्स्वाङ्गादकामे । ६।३।१२ । कण्ठेकालः । उरसिलोमा । अमूर्धमस्तकात्किम् ? मूर्धशिखः । अकामे किम् ? मुखे कामोऽस्य—मुखकामः ॥ तत्पुरुषे कृति बहुलम् । ६।३।१४ । स्तम्बेरमः । कर्णेजपः ॥ शयवासवासिष्वकालात् । ६।३।१८ । वा लुक् । खेशयः—खशयः । ग्रामेवासः—ग्रामवासः—ग्रामेवासी—ग्रामवासी ॥ षष्ठ्या आक्रोशे । ६।३।२१ । चौरस्य कुलम् । आक्रोशे किम् ? ब्राह्मणकुलम् ॥ (वाग्दिकपश्यद्भ्यो युक्तिदण्डहरेषु) । वाचोयुक्तिः । दिशो-

कवचनम् । हलन्तत्वादलुक्, पत्वं च । पाण्डवस्य धर्मपुत्रस्य नामेदम् । हृदयभ्या-
च्चेति । हृदयशब्दात् दिवशब्दाच्च सप्तम्या अलुक्वक्तव्य इत्यर्थः । असंज्ञार्थमिदम् ।
हृदिस्पृगिति । 'पहन्' इति डौ हृदयस्य हृदादेशः, हृदयं स्पृशतीत्यर्थः । दिविस्पृगिति ।
दिवं स्पृशतीत्यर्थः । मध्याद्गुराविति । गुरुशब्दे परे मध्यशब्दात् सप्तम्या अलुक्
स्यादित्यर्थः । असंज्ञार्थमिदम् । अन्ताच्चेति । सप्तम्या अलुक् स्यात् गुरौ परे इत्यर्थः ।
अमूर्धमस्तकात् । मूर्धमस्तकशब्दवर्जितात् स्वाङ्गवाचकात् सप्तम्या अलुक् स्यात्,
न तु कामशब्दे उत्तरपदे इत्यर्थः । कण्ठेकाल इति । शिवस्य नाम । उरसिलोमेति ।
कस्यचिन्नाम । अत एव ज्ञापकाद् व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः । तत्पुरुषे कृति ।
तत्पुरुषे सप्तम्या बहुलमलुक् स्यात् कृदन्ते उत्तरपदे संज्ञायामित्यर्थः । स्तम्बेरम इति ।
तृणसमूहः स्तम्बः, तस्मिन् रमते इति स्तम्बेरमो हस्ती । कर्णेजप इति । कर्णे जपति
परदोषमुपांशु आविष्करोति इति कर्णेजपः पिशुनः । 'स्तम्बकरणयो रमिजपोः'
इत्यच्, उपपदसमासः । शयवास । शय-वास-वासिन् एतेषु परेषु कालमिच्छात् सप्त-
म्या अलुक् स्यादित्यर्थः । षष्ठ्या आक्रोशे । अलुगुत्तरपदे इति शेषः । आक्रोशो निन्दा ।
वाग्दिक । वाक् दिक् पश्यत् एतेभ्यः परस्याः षष्ठ्या अलुक् स्यात् युक्ति-दण्ड-हर-

हृदयभ्यां च - हृद् और दिवसे पर सप्तमीका अलुक् हो । मध्याद्गुरौ—मध्यसे पर
सप्तमीका अलुक् हो, गुरु उत्तर पदके परे । अन्ताच्च—अन्त शब्दसे पर सप्तमीका अलुक्
हो, गुरु उत्तर पदके परे । अमूर्धमस्त—मूर्ध और मस्तकसे भिन्न स्वाङ्गवाची शब्दसे पर
सप्तमीका अलुक् हो, काम शब्द भिन्न उत्तर पदके परे । तत्पुरुषे—कृदन्त उत्तर पदके परे
तत्पुरुष समासमें सप्तमीका बहुल प्रकारसे अलुक् हो, संज्ञामें । शयवास—शय, वास और
वासिन् उत्तर पदके परे कालभिन्न हलन्त और अदन्त शब्दसे सप्तमीका अलुक् हो, विकल्पसे ।

षष्ठ्या आक्रोशे—षष्ठीका अलुक् हो, उत्तर पदके परे, निन्दामें ।

वाग्दिकपश्य—वाक् आदिसे पर षष्ठीका अलुक् हो, युक्त्यादि उत्तर पदके परे ।

अप्सु योनिरुत्पत्तिर्यस्य सः = अप्सुयोनिः । ग्रामे वसतीति = ग्रामेवासी, ग्रामवासी ।

दण्डः । पश्यतोहरः ॥ (आमुष्यायणामुष्यपुत्रिकामुष्यकुलिकेति च) ।
 (देवानांप्रिय इति च मूर्खे) । अन्यत्र देवप्रियः ॥ (शेषपुच्छलाङ्गूलेषु
 शुनः) । शुनःशेषः । शुनःपुच्छः । शुनोलाङ्गूलः ॥ (दिवश्च दासे) । दिवोदासः ।
 ऋतो विद्यायोनिसंबन्धेभ्यः । ६।३।२३ । होतुरन्तेवासी ॥ विभाषा स्वसृ-
 पत्योः । ६।३।२४ । ऋदन्तात्पष्ठया वा अलुक् ॥ मातुःपितृभ्यामन्यतरस्याम्

एतेषु क्रमादुत्तरपदेषु परेष्वित्यर्थः । वाचोयुक्तिरिति । शब्दप्रयोग इत्यर्थः । दिशोदण्ड
 इति । अधिकरणस्य शेषत्वविवक्षायां पठ्ठी । पश्यतोहर इति । पश्यन्तमनादस्य हरती-
 त्यर्थः । अमुष्येति । अमुष्यापत्यमित्यर्थे 'नडादिभ्यः फक्' इति फकि आयज्ञादेशे आदि-
 वृद्धौ तद्धितान्तत्वात् प्रातिपदिकतया तदवयवत्वात् प्राप्तस्य सुब्लुको निपेधे नस्य
 णत्वे आमुष्यायण इति रूपमित्यर्थः । देवानामिति । दिवु क्रीडायाम् । देवाः क्रीडा-
 सक्ताः मूर्खाः, तेषाम् प्रियोऽपि मूर्ख एव, मूर्खप्रियस्यावश्यं मूर्खत्वादिति 'अजेर्वा'
 इत्यत्र कैयटः । शेषपुच्छेति । तार्तिकमिदम् । पष्ठया अलुगिति शेषः । शुनश्शेष इति ।
 शुनः शेष इव शेषो यस्येति विग्रहः । शुनःपुच्छ इति । शुनः पुच्छमिव पुच्छम् यस्ये-
 ति विग्रहः । एवं शुनोलाङ्गूल इत्यपि । दिवश्च दासे इति । तार्तिकम् । पष्ठया अलुगि-
 ति शेषः । दिवोदास इति । कश्चिद्वाजर्षिरयम् । ऋतो विद्या । एकत्वे बहुवचनम् ।
 विद्यासंबन्धयोनिसंबन्धवाचिनः ऋदन्तात् पष्ठया अलुक् । होतुरन्तेवासीति । ऋग्वेद्वि-
 हितकर्मविशेषकर्ता होता । अतो होतृशब्दः विद्यासम्बन्धग्रवृत्तिनिमित्तक इति भावः ।
 विभाषा स्वसृपत्योः । ऋदन्तादिति । विद्यासम्बन्धयोनिसंबन्धान्यतरवाचिनः पष्ठया
 अलुक्त्वा स्वसृपत्योः परयोरित्यर्थः । मातुः पितृभ्याम् । 'मातृपितृभ्यां स्वसा' इति
 पूर्वसूत्रात् स्वसेत्यनुवर्तते । पष्ठयर्थे प्रथमा । 'सहेः साढस्सः' इति सूत्रात् स इति

आमुष्या—(अमुष्य पुत्रः) 'आमुष्यायणः' यहाँ पठ्ठीका अलुक् और 'नडादित्वात् फक्
 निपातन हो एवम् (अमुष्य पुत्रस्य भावः) 'आमुष्यपुत्रिका' और (अमुष्य कुलस्य भावः)
 'आमुष्यकुलिका' यहाँ पठ्ठीका अलुक् और 'द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च' से मनोज्ञादित्वात् वुञ् निपा-
 तन भी हो । देवानां प्रियः—मूर्खे अर्थमें 'देवानाम्प्रियः' यहाँ पठ्ठीका अलुक् निपातन हो ।
 शेषपुच्छ—शेष, पुच्छ और लांगूल उत्तर पदके परे श्वन् शब्दसे पर पठ्ठीका
 अलुक् हो । दिवश्च दासे—दिव शब्दसे पर पठ्ठीका अलुक् हो, दास उत्तर पदके परे ।

ऋतो विद्या—विद्यासंबन्धवाची और योनिसम्बन्धवाची ऋदन्तसे पर पठ्ठीका अलुक् हो,
 उत्तर पदके परे । विभाषा—स्वसृ और पति शब्द उत्तर पदके परे ऋदन्तसे पर पठ्ठीका
 अलुक् हो, विकल्पसे ।

मातुःपितृभ्यां—'मातुर्' और 'पितुर्' से पर स्वसृके सकारको पत्व हो, विकल्पसे,
 वने चरतीति=वनेचरः । अन्ते वसतीति=अन्तेवासी । त्वचि सारं यस्य सः=त्वचिसारः ॥

[८।३।८५] आभ्यां परस्य स्वसुः सस्य षः समासे । मातुःष्वसा-मातुःस्वसा ।
पितुःष्वसा-पितुःस्वसा । लुक्पक्षे तु—मातृपितृभ्यां स्वसा [८।३।८६] स्वसुः
सस्य षः समासे । मातृष्वसा । पितृष्वसा । असमासे तु—मातुः स्वसा । पितुः
स्वसा ।
इत्यलुक्समासप्रकरणम् ।

अथ समासाश्रयप्रकरणम्

घरूपकल्पचेलङ्ब्रुवगोत्रमतहतेषु ड्योऽनेकाचो ह्रस्वः । ६।३।४३।
भाषितपुंस्काद्यो ङी तदन्तस्यानेकाचो ह्रस्वः स्यात्, घरूपकल्पप्रत्यये चेलडादिषु
चोत्तरपदेषु । ब्राह्मणितरा । ब्राह्मणितमा । ब्राह्मणिरूपा । ब्राह्मणिकल्पा । ब्राह्मणि-
पठयन्तं पदमनुवर्तते । 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' इत्यधिकृतम् । तदाह—स्वसुः सस्येति ।
मातुः पितुरिति पठयन्ताभ्यामित्यर्थः । समासे इति । 'समासेऽङ्गुलेः सङ्गः' इत्यतस्तद-
नुवृत्तेरिति भावः । मातुःष्वसा, पितुःष्वसेति अलुकि पत्वे रूपम् । मातुःस्वसा,
पितुःस्वसेत्यलुकि पत्वाभावे रूपम् । लुक्पक्षे त्विति । विशेषो वच्यत इति शेषः । मातृ-
पितृभ्यां स्वसा । स्वसुरिति । सूत्रे पठयर्थे प्रथमेति भावः । मातृष्वसा, पितृष्वसेति । लुक्प-
क्षे नित्यमेव पत्वम् । आदेशप्रत्ययसकारत्वाभावादप्राप्ते विधिरयम् । पत्वविधौ
समासग्रहणानुवृत्तेः फलं दर्शयति—असमासे त्विति । वाक्ये वैकल्पिकं पत्वमपि
नास्तीत्यर्थः ।
इत्यलुक्समासप्रकरणम् ।

अथ समासाश्रयविधिः निरूप्यते—घरूप । उत्तरपदे इत्यधिकृतं चेलडादिष्वन्वेति,
नतु घरूपकल्पेषु घशब्दवाच्यतरसमपोः रूपकल्पपानां प्रत्ययत्वात् । 'स्त्रियाः पुंवत्'
इत्यतो भाषितपुंस्कादित्युनुवृत्तम् । ड्य इति तदन्तग्रहणं केवलस्यानेकाचत्वाभावात् ।
तदाह—भाषितपुंस्काद्यो ङी इति । ब्राह्मणितरा । ब्राह्मणितमेति । अतिशायने तरसमपौ ।
न च 'तसिलादिषु' इति पुंवत्त्वेन ङीपो निवृत्तिः शङ्क्या, 'जातेश्च' इति निषेधात् ।
ब्राह्मणिरूपेति । प्रशंसायां रूपम् । ब्राह्मणिकल्पेति । 'ईपदसमासौ' इति कल्पम् । ब्राह्मणि-

समासमै । मातृपितृभ्यां—'मातृ' और 'पितृ' से पर स्वसुके सकारको पत्व हो, समासमै ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें अलुक्समास समास हुआ ।

घरूपकल्प—घ (तरप्-तमप्), रूप और कल्प प्रत्ययके परे तथा चेलडादि उत्तर

अथ समासे लिङ्गमुच्यते—अव्ययीभावेऽव्ययं नपुंसकम् । तत्पुरुषे द्वन्द्वे च परपदार्थ-
लिङ्गम्, बहुव्रीहौ अन्यपदार्थलिङ्गम् । एकशेषे तु अनियमः ।

चेली । ब्राह्मणिब्रुवा । ब्राह्मणिगोत्रेत्यादि । ब्रूः पचाद्यचि वच्यादेशगुणयोरभावो निपात्यते । ड्यः किम् ? दत्तातरा । भाषितपुंस्कात्किम् ? आमलकीतरा । कुवली-तरा ॥ नद्याः शेषस्यान्यतरस्याम् । ६।३।४४। अड्यन्तनद्याः ड्यन्तैकाचश्च घादिषु ह्रस्वो वा । ब्रह्मबन्धुतरा-ब्रह्मबन्धूतरा । स्त्रितरा—स्त्रीतरा ॥ (कृञ्छद्या न) लक्ष्मीतरा ॥ उगितश्च । ६।३।४५। उगितः परा या नदी तदन्तस्य घादिषु ह्रस्वो वा स्यात् । विदुषितरा । ह्रस्वाभावपक्षे पुंवत् । विद्वत्तरा ॥ पादस्य पदाज्यातिगोषहतेषु । ६।३।५२। एषूत्तरपदेषु पादस्य पद इत्यदन्तादेशः स्यात् । पादाभ्याम् अजतीति पदाजिः । पदातिः ॥ (अज्यतिभ्यां पादे च) इतीण् प्रत्ययः । पदगः । पदोपहतः ॥ पद्यत्यतदर्थे । ६।३।५३। पादस्य पत् स्यादतदर्थे

चेलीति । 'चिल वसने' तस्मादचि चेलडिति । पचादौ पठितम् । टिच्वात् ङीप् । इत्यादीति । ब्राह्मणिमता ब्राह्मणिहता । ब्रूज इति । ब्रूजधातोरचि कृते 'ब्रुवो वचिः' इति वच्यादेशस्य लघूपधगुणस्य च अभावो निपात्यत इत्यर्थः । आमलकीतरेति । आमलकी-शब्दस्य वृच्चवाचित्वे नित्यस्त्रीलिङ्गत्वात् भाषितपुंस्कात्त्वाभावेन न ह्रस्व इति भावः । कुवलीतरेति । वृच्चविशेषे नित्यस्त्रीलिङ्गोऽयमिति भावः । नद्याः शेषस्यान्यतरस्याम् । उक्तादन्यः शेषः । ड्यन्तस्यानेकाच इति पूर्वसूत्रे स्थितम्, तदन्वत्वं च अनेकाचो ड्यन्तत्वाभावे ड्यन्तस्यानेकाच्त्वाभावेऽपि संभवति । तदाह—अड्यन्तनद्याः इत्यादि । 'ऊङुतः' इति ब्रह्मबन्धुशब्दः ऊङन्तः । भाषितपुंस्कस्येति तु नेहानुवर्तत इत्यभिप्र-त्योदाहरति—स्त्रीतरेति । कृञ्छद्या नेति । कृदन्ता या नदी तस्या ह्रस्वो नेति वाच्यमित्यर्थः । लक्ष्मीतरेति । 'लक्ष्मेर्मुट् च' इति औणादिके ईप्रत्यये मुडागमे च लक्ष्मीशब्दः कृदन्त इति भावः । उगितश्च । विदुषितरेति । 'विदेः शतुर्वसुः' इति वसु-प्रत्ययः । उगिदन्तमिदम् । अनेकाच्त्वात् नद्याः शेषत्वस्याप्राप्तेरिदमिति भावः । विद्वत्तरेति । पुंवत्वे ङीपो निवृत्तौ विद्वत्तरेति रूपमित्यर्थः । पादस्य पद । पद इति लुप्त-प्रथमाकम् पृथक्पदम् । एष्विति । आजि, आति, ग, उपहत इत्येतेष्वित्यर्थः । अदन्त इति । उत्तरसूत्रे पदिति हलन्तस्य ग्रहणादिति भावः । अजतीति । 'अज गतिच्चेप-णयोः' । पदातिरिति । पादाभ्यामततीति विग्रहः । 'अत गतौ' अज्यतिभ्यामिति । पादे उपपदे अजधातोरतधातोश्च इण् स्यादिति तदर्थः । पदग इति । पादाभ्यां गच्छती-

पदको परे भाषितपुंस्कासे पर जो ङी, तदन्त अनेकाचको ह्रस्व हो । नद्याः शेष—अड्यन्त नदीसंज्ञक और ड्यन्त एकाचको ह्रस्व हो, घादिके परे, विकल्पसे । कृञ्छद्या न—नदी-संज्ञक कृदीकारको ह्रस्व नहीं हो । उगितश्च—उगितसे पर जो नदीसंज्ञक ईकार, तदन्तको ह्रस्व हो, घादिके परे, विकल्पसे । पदस्य—पादको अदन्त 'पद' आदेश हो, आज्यादि उत्तर पदके परे । पद्यत्यदर्थे—पादको हलन्त 'पद' आदेश हो, अतदर्थक यत् प्रत्ययके परे ।

यति । पादौ विध्यन्ति-पद्याः शर्कराः । 'विध्यत्यधनुषे'ति यत् । अतदर्थं किम् ? पादार्थमुदकं पाद्यम् । 'पादार्थाभ्यां चे'ति यत् ॥ उदकस्योदः संज्ञायाम् । ६।३।५७। उत्तरपदे । उदमेघः ॥ (उत्तरपदस्य चेति वक्तव्यम्) क्षीरोदः ॥ पेपं-वासवाहनधिषु च । ६।३।५८। उदपेपं पिनष्टि । उदवासः । उदवाहनः । उदधिर्घटः ॥ एकहलादौ पूरयितव्येऽन्यतरस्याम् । ६।३।५९। उदकुम्भः-उदककुम्भः । एकेति किम् ? उदकस्थाली । पूरयितव्येति किम् ? उदकपर्वतः ॥ मन्थौदनसक्तुविन्दुवज्रभारहारवीचधगाहेषु च । ६।३।६०। उदमन्थः-

त्यर्थः । 'गमश्च' 'अन्तात्यन्ताध्वदूरपारसर्वानन्तेषु डः' इति सूत्रस्थेन 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति वार्तिकेन गमधातोः डः । तदन्ते गशब्दे परे पादस्यादन्तः पदादेशः । दकारान्तादेशे तु पद्ग इति स्यात् । पदोपहत इति । पादाभ्यामुपहत इति विग्रहः । अत्रापि दकारान्तादेशे पदुपहत इति स्यात् । प्राबमिति । 'पादार्थाभ्यां च' इति तादर्थ्यं यत् प्रत्ययः । उदकस्योदः । उदकशब्दस्य उद इत्यादेशः स्यात् उत्तरपदे संज्ञायामित्यर्थः । उदमेघ इति । उदकपूर्णमेघसादृश्यात् कस्यचिदियं संज्ञा । उत्तरपदस्य चेति । उत्तरपदस्य उदकशब्दस्य उद इत्यादेशः स्यात् संज्ञायामित्यर्थः । क्षीरोद इति । क्षीरम् उदकस्थानीयं यस्येति विग्रहः । क्षीरोदम् सरः इति त्वसाध्वेव, असंज्ञात्वात् । पेपंवास । पेपमिति णमुलन्तमव्ययम् । तस्मिन्वासिवाहनधिषु च परतः उदकशब्दस्य उदः स्यादित्यर्थः । असंज्ञार्थं वचनम् । उदपेपं पिनष्टीति । उदकेन पिनष्टीत्यर्थः । 'स्नेहने पिपः' इति णमुल् । कपादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः । उदवास इति । उदकस्य वास इति विग्रहः । उदवाहन इति । 'करणे ल्युट्' । उदकस्य वाहक इत्यर्थः । उदधिर्घट इति । उदकं धीयतेऽस्मिन्निति विग्रहः । 'कर्मण्यधिकरणे च' इति किप्रत्ययः । असंज्ञात्वस्फोरणाय घट इति विशेष्यम् । एकहलादौ । हलत्वस्य एकैकवर्णधर्मत्वादेव सिद्धे एकग्रहणादसंयुक्तत्वं लभ्यते । पूरयितव्यं पूरणार्हं कुम्भादि, असंयुक्तहलादौ पूरयितव्यवाचके उत्तरपदे परे उदकस्य उद इत्यादेशः स्यादित्यर्थः । मन्थौदन । उदकस्य उदादेशो वेति शेषः । अपूरयितव्यार्थं वचनम् । उदमन्थः-उदकमन्थ इति । उदकमिश्रो मन्थ इति विग्रहः । द्रवद्रव्यसंपृक्ताः सक्तवो मन्थः । भर्जितयवपिष्टानि

उदकस्योदः—उदकको 'उद' आदेश हो, उत्तर पदके परे, संज्ञामें ।

उत्तरपदस्य च—उत्तरपदस्य उदकको भी 'उद' आदेश हो, संज्ञामें । पेपंवास—पेपम् आदि उत्तर पदके परे भी उदकको उद आदेश हो, (असंज्ञामें) एकहलादौ—पूर्ण करने योग्य एक (असंयुक्त) हलादि (पात्रवाची) उत्तर पदके परे उदकको 'उद' आदेश हो, असंज्ञामें विकल्पसे । मन्थौदन—मन्थादि उत्तरपदके परे उदकको उद आदेश हो, विकल्पसे ।

३५ म० कौ०

उदकमन्यः । उदौदनः—उदकौदनः ॥ इको ह्रस्वोऽङ्यथो गालवस्य ६।३।६१।
 इगन्तस्याङ्यन्तस्य ह्रस्वो वा उत्तरपदे । ग्रामणिपुत्रः—ग्रामणीपुत्रः । इकः
 किम् ? रमापतिः । अङ्य इति किम् ? गौरीपतिः ॥ व्यङ्गः संप्रसारणं
 पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे ६।१।१३। व्यङ्गन्तस्य पूर्वपदस्य संप्रसारणं स्यात् पुत्रपत्योः
 परतः ॥ संप्रसारणस्य ६।३।१३९। दीर्घः स्यादुत्तरपदे । कौमुदागन्ध्यायाः पुत्रः
 कौमुदगन्धीपुत्रः । कौमुदन्धीपतिः ॥ इष्टकेषीकामालानां चित्तूलभारिपु
 ६।३।६५। इष्टकादीनां तदन्तानां च चितादिषु, ह्रस्वः स्यात् । इष्टकचित्तम्

सक्तवः । उदौदनः, उदकौदन इति । उदकमिश्र इत्यर्थः । इको ह्रस्वः । अङ्य इति च्छेदः ।
 ग्रामणीपुत्र इति । कर्मधारयः षष्ठीसमासो वा, नीधातोरीकारोऽयं न तु ङीप्प्रत्यय
 इति भावः । व्यङ्गः संप्रसारणम् । प्रत्ययग्रहणपरिभाषया व्यङ्ग इति तदन्तग्रहणम् ।
 तदाह—व्यङ्गन्तस्य पूर्वपदत्वेति । तस्य सूत्रस्य उत्तरपदाधिकारस्थत्वेऽपि तत्पुरुषग्र-
 हणेन पूर्वपदलोभ इति भावः । संप्रसारणस्य दीर्घ इति । ‘ह्रलोपे’ इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति
 भावः । उत्तरपदे इति । ‘अलुगुत्तरपदे’ इति तदधिकारादिति भावः । कौमुदगन्ध्यायाः
 पुत्र इति । विग्रहवाक्यमिदम् । कुमुदगन्ध इव गन्धो यस्य सः कुमुदगन्धिः । ‘सप्त-
 म्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रीहिर्वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः’ इति बहुव्रीहिः । कुमुदगन्धशब्दे
 पूर्वखण्डे उत्तरस्य गन्धशब्दस्य लोपश्च । ‘उपमानाच्च’ इति इत्यम् । कुमुदगन्धेरपत्यं
 स्त्री इत्यर्थे तस्यापत्यमित्यण् । ‘अणिजोरनार्पयोः’ इति तस्य व्यङ्गादेशः । ‘यस्येति
 च’ इति यकारलोपे आदिवृद्धिः । यङश्चाप् । कौमुदगन्ध्या शब्द इति भावः ।
 कौमुदगन्ध्यायाः पुत्र इति षष्ठीसमासः । सुब्लुकि कौमुदगन्ध्यापुत्र इति स्थिते
 व्यङ्गः संप्रसारणेन यकारस्य इकारः तस्य तदुत्तराकारस्य च ‘संप्रसारणाच्च’ इति
 पूर्वरूपेण इकारे ‘संप्रसारणस्य’ इति दीर्घे ‘कौमुदगन्धीपुत्र’ इति रूपमिति भावः ।
 ‘हलः’ इति दीर्घस्य तु नात्र प्रसक्तिः, संप्रसारणात् पूर्वस्य हलः संप्रसारणनिमित्तनिरु-
 पिताङ्गावयवत्वाभावात् । कौमुदगन्धीपतिरिति । कौमुदगन्ध्यायाः पतिरिति विग्रहः,
 पूर्ववत् प्रक्रिया । इष्टकेषीका । उत्तरपदे इत्यधिकृतम्, तल्लब्धं पूर्वपदम् इष्टकादिभिर्वि-
 शेष्यते । तदन्तविधिः । व्यपदेशिवद्भावात् तेषामपि ग्रहणम् । उत्तरपदाधिकारस्यापि
 पदाधिकाराभ्युपगमात् ‘पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च’ इति वचनेन वा तेषां
 ग्रहणम् । ‘इको ह्रस्वः’ इत्यतः ह्रस्व इत्यनुवर्तते । तदाह—इष्टकादीनां तदन्तानां चेति ।
 इष्टकचित्तमिति । इष्टकाभिश्चित्तमिति विग्रहः । कर्तृकरणे कृता इति समासः । तदन्त-

इको ह्रस्वो—अङ्यन्त इगन्तको ह्रस्व हो, उत्तर पदके परे, विकल्पसे । व्यङ्गः सम्प्र—व्यङ्गन्त
 पूर्वपदको सम्प्रसारण हो, पुत्र और पति शब्द उत्तर पदके परे । सम्प्रसारणस्य—सम्प्र-
 सारणको दीर्घ हो, उत्तर पदके परे । इष्टकेषीका—इष्टकादि और इष्टकाद्यन्त पूर्वपदको क्रमसे

पक्षेष्टकचितम् । इपीकतूलम् । मुञ्जेपीकतूलम् । मालधारी । उत्पलमालभारी ॥ ज्यो-
तिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवचनवन्धुषु । ६।३।८५।
समानस्य सः । सज्योतिः ॥ चरणे ब्रह्मचारिणि । ६।३।८६। ब्रह्मचारिण्युत्तर-
पदे समानस्य सत्वरणे समानत्वेन गम्यमाने । चरणः शाखा । ब्रह्म वेदः, तद-
ध्ययनार्थं व्रतमपि ब्रह्म, तच्चरतीति ब्रह्मचारी । स ब्रह्मचारी इत्यादि । तीर्थे ये
। ६।३।८७। यादौ प्रत्यये विवक्षिते समानस्य सः । सतीर्थ्यः एकगुरुकः । 'समान-
तीर्थे वासी'ति यत्प्रत्ययः ॥ विभाषोदरे । ६।३।८८। सोदर्यः । समानोदर्यः ॥
दृग्दृशवतुषु । ६।३।८९। सदृक् । सदृशः ॥ (दृक्षे च) । सदृक्षः ॥

विधेः । प्रयोजनमाह—पक्षेष्टकचितमिति । इपीकतूलमिति । इपीकायास्तूलमिति
विग्रहः । तूलमग्रं, क्षप्पमित्यन्वे । मुञ्जेपीकतूलमिति । मुञ्जेपीकायास्तूलमिति विग्रहः ।
मालभारीति । 'सुप्यजातौ' इति णिनिः । ज्योतिर्जनपद । अत्रल्लन्दोर्थं वचनमिदम् ।
सज्योतिरिति । समानं ज्योतिर्यस्येति विग्रहः । एवं सजनपदः, सरात्रिः, सनाभिः,
सनामा, सगोत्रः, सरूपः, सस्थानः, सवर्णः, सवयाः, सवचनः, सवन्धुः । चरणे ब्रह्म-
चारिणि । समानस्येति स इति चानुवर्तते । उत्तरपदे इत्यधिकृतम् । तदाह—ब्रह्म-
चारिण्युत्तरपदे समानस्य सः स्यादिति । चरणे इति सप्तमी समानस्येत्यत्रान्वेति । चरणे
विद्यमानस्येत्यर्थः । फलितमाह—चरणे समानत्वेन गम्यमाने इति । तत्र चरणपदं
व्याचष्टे—चरणः शाखेति । वैदिकप्रसिद्धिरेवान्न मूलम् । ब्रह्मचारिपदं निर्वक्तुमाह—ब्रह्म-
वेद इति । 'वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म' इत्यमरः । तच्चरणार्थमिति । तस्य वेदस्य चरणम्
अध्ययनं तच्चरणं व्रतमपि ब्रह्मशब्देन विवक्षितमित्यर्थः । गौण्या वृत्त्येति शेषः ।
तच्चरतीति । तत् व्रतं चरति अनुतिष्ठतीत्यर्थे ब्रह्मचारिशब्द इत्यर्थः । 'सुप्यजातौ'
इति णिनिः । तीर्थे ये । यशब्दात् अकारान्तात्सप्तम्येकवचनम्, अकारो न विवक्षितः,
प्रत्यय इति विशेष्यमध्याहार्यम् । 'यस्मिन् विधिः' इति तदादिविधिः । तदाह—
यादौ प्रत्यये इति । सतीर्थ्ये इति । समाने तीर्थे वासीत्यर्थः । अत्र सामीप्ये सप्तमी ।
समानशब्दस्त्वेकपर्यायः । तीर्थशब्दो गुरौ । तदाह—एकगुरुक इति । तद्वितार्थे समास-
प्रवृत्तये तद्वितं दर्शयति—समानेति । 'निपानागमयोस्तीर्थशृषिजुष्टजले गुरौ' इत्यमरः ।
विभाषोदरे । उदरशब्दे परे समानस्य सभावो वा स्यादित्यर्थः । दृग्दृशवतुषु । समानस्य

ह्रस्व हो, चितादि उत्तर पदके परे । ज्योतिर्जनपद—समानको 'स' आदेश हो, 'ज्योतिस्'
आदि उत्तर पदके परे । चरणे—चरण (शाखा) की समानता गम्यमान होने पर समान को
'स' आदेश हो, ब्रह्मचारी उत्तर पदके परे । तीर्थे ये—यदि प्रत्ययकी विवक्षामें समानको
'स' आदेश हो, तीर्थ उत्तर पदके परे । विभाषोदरे—यदि प्रत्ययकी विवक्षामें समानको
'स' आदेश हो, उत्तर पदके परे, विकल्पस । दृग्दृश—समानको 'स' आदेश हो
दृक्, दृश और वतु के परे । दृक्षे च—दृक्ष उत्तर पदके परे भी समानको 'स' आदेश हो ।

इदं किमोरीशकी । ६।३।१०। इदृशवतुषु । ईदृक्—ईदृशः । कीदृक्—कीदृशः ॥
 (वक्षे च) । ईदृक्षः । कीदृक्षः ॥ अपष्टयतृतीयास्थस्यान्यस्य दुगाशीराशा-
 स्थास्थितोत्सुकोतिकारकरागच्छेषु । ६।३।११। अन्यशब्दस्य दुगागमः स्यादा-
 शीरादिषु परेषु । अन्यदाशीः । अन्यदाशा । अन्यदास्था । अन्यदास्थितः । अन्यदु-
 त्सुकः । अन्यदूतिः । अन्यद्रागः । अपष्टीत्यादि किम् ? अन्यस्यान्येन वाशीः
 अन्याशीः ॥ (कारके छे च नायं निषेधः) । अन्यस्य कारकोऽन्यत्कारकः ॥
 अन्यस्यायमन्यदीयः ॥ अर्थे विभाषा । ६।३।१००। अन्यदर्थः—अन्यार्थः ॥
 कोः कत्तत्पुरुषेऽचि । ६।३।१०१। अजादावुत्तरपदे । कुत्सितोऽश्वः कदश्वः ।
 कदन्नम् । तत्पुरुषे किम् ? कूट्रो राजा ॥ (त्रौ च) । कत्त्रयः । रथवदयोश्च

स इति शेषः । सदृक् सदृश इति । समानो दृश्यते इत्यर्थे 'समानान्ययोश्च' इति दृशोः
 किन् कञ् च । वृक्षे चेति । समानस्य सत्वमिति शेषः । सदृक्ष इति । 'क्सोऽपि वाच्यः'
 इति दृशोः कसः । इदं किमोरीशकी । ईश् की इति द्वे पदे । ईदृक् ईदृश इति । इदमिव
 दृश्यते इत्यर्थे त्यदादिषु दृशोः किन्-कजौ । ईशः शिखं सर्वादेशत्वात् । वृक्षे चेति ।
 इदं किमोरीशकी वक्तव्यौ इति शेषः । अपष्टयतृतीयास्थस्य । अपष्टयाम् अतृतीयायां च
 परतस्तिष्ठतीति अपष्टयतृतीयास्थः, तस्य, अपष्टीतृतीयान्तस्येत्यर्थः । आशीरादिष्विति ।
 आशीः, आशा, आस्था, आस्थित, उत्सुक, ऊति, कारक, राग, छ इत्येतेषु इत्यर्थः । दुकि
 ककार इत् । उकार उच्चारणार्थः । कित्वादन्तावयवः । अन्यदाशीरित्यादयः कर्मधा-
 रयाः । नायं निषेध इति । 'अपष्टयतृतीयास्थस्य' इति निषेधः कारकच्छयोर्नास्तीत्यर्थः ।
 अर्थे विभाषा । भाष्योक्तमिदम् । अन्यस्य दुगिति शेषः । कोः कत्तत्पुरुषेऽचि । कत् इति
 छेदः । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—अजादावुत्तरपदे इति । कदश्वः कदन्नमिति । 'कुगति' इति
 समासः । कूट्रो राजेति कुत्सितः उष्ट्रो यस्येति बहुव्रीहित्वात् न कदादेशः । त्रौ चेति ।
 त्रिशब्दे परे कदादेशो वक्तव्य इत्यर्थः । उत्तरपदस्याजादित्वाभावात् वचनम् ।

इदं किमो—'इदम्' को 'ईश्' और 'किम्' को 'का' आदेश हो दृक्, दृश और वतुके
 परे । इच्छे च—पूर्वोक्त 'ईश्' और 'की' आदेश वृक्षके परे भी हो । अपष्टय—पष्टयन्त
 और तृतीयान्तसे भिन्न 'अन्य' शब्दको 'दृक्' का आगम हो, 'आशीः' आदिके परे ।

कारके—कारक और छ प्रत्ययसे पर पष्टयन्त और तृतीयान्त अन्य शब्दको भी दृक् का
 आगम हो—'अपष्टयतृतीयास्थस्य' यह निषेध नहीं लगे । अर्थे—अर्थ शब्द उत्तर
 पदके परे अन्य शब्दको दुगागम हो, विकल्पसे । कोः कत्तत्पुरुषे—तत्पुरुष समासमें
 'कु' को 'कत्' आदेश हो, अजादि उत्तर पदके परे । त्रौ च—'कु' को 'कत्' आदेश हो,
 त्रिशब्द उत्तर पदके परे । रथवदयोश्च—रथ और वद उत्तर पदके परे 'कु' को 'कत्'

दा३।१०२। कद्वयः । कद्वदः ॥ तृणे च जातौ ।दा३।१०३। कत्तृणम् ॥
का पथ्यक्षयोः ।दा३।१०४। कापथम् । काक्षः ॥ ईषदर्थे ।दा३।१०५। ईषज्जलं
काजलम् ॥ विभाषा पुरुषे ।दा३।१०६। कुपुरुषः—कापुरुषः ॥ कवं चोष्णे
।दा३।१०७। उष्णशब्दे उत्तरपदे कवं का च वा स्यात् । कोष्णम्—कवोष्णम् ।
कदुष्णम् ॥ पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् ।दा३।१०९। पृषोदरप्रकाराणि शिष्टैर्य-
थोच्चारितानि तथैव साधूनि । पृषत उदरं पृषोदरम् । तलोपः । वारिवाहको बला-
हकः । पूर्वपदस्य वः उत्तरपदादेशश्च लत्वम् ॥ 'भवेद्गर्णागमाद्वंसः सिंहो वर्णविपर्ययात् ।

रथवदयोश्च । कोः कत्तत्पुरुषे इति शेषः । कद्वयः । कद्वद इति । 'कुगति' इति समासः ।
वदतीति वदः कुरिसितो वदः कद्वदः । तृणे च जातौ । तृणशब्दे कोः कत्स्यात् जातौ
वाच्यायाम् । कत्तृणमिति । तृणजातिविशेषोऽयम् । 'अस्त्री कुशं कुथो दर्भः पवित्रमथ
कत्तृणम्' इत्यमरः । का पथ्यक्षयोः । पथिन्, अक्ष, अनयोः परतः कोः का इत्यादेशः
स्यादित्यर्थः । कापथमिति । कुरिसितः पन्था इति विग्रहः । 'ङुगतिप्रादयः' इति समासः ।
'ऋक्पूः' इत्यप्रत्ययः । 'पथः संख्याव्ययादेः' इति नपुंसकत्वम् । कापथ इति पाठे तु
बहुव्रीहिः । ईषदर्थे । ईषदर्थे विद्यमानस्य कोः का इत्यादेशः स्यादित्यर्थः । ईषज्जलं का-
जलमिति । ईषज्जलमिति विग्रहे 'कुगति' इति समासः । विभाषा पुरुषे । कोः का
इत्यादेश इति शेषः । कवं चोष्णे । कवं का च वेति । विभाषेत्यनुवृत्तेरिति भावः
उभयाभावे कदादेशः । तथा च रूपत्रयम् । तदाह—कोष्णम् कवोष्णम् कदुष्णम् ।
पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् । आदिशब्दो न प्रभृतिवाची, गणपाठे पृषोदरादिपाठस्यादर्श-
नात् । यथोपदिष्टपदस्य वैयर्थ्याच्च । किन्तु प्रकारवाची । तदाह—पृषोदरप्रकाराणीति ।
प्रकारः सादृश्यं, तच्च शास्त्रोक्तलोपागमादेशादिरहितत्वेन बोध्यम् । व्याकरणशास्त्रा-
गृहीतानीति यावत् । उपपूर्वको दिशिरुच्चारणार्थः । भावे क्तः । उपदिष्टमुपदेशः उच्चा-
रणम् । तदनतिक्रम्य यथोपदिष्टम् । पदार्थानतिवृत्तावव्ययीभावः । शिष्टैरित्यध्याहा-
र्यम् । तथा च फलितमाह—शिष्टैर्यथोच्चारितानि तथैव साधूनीति । शिष्टास्तु शब्दतत्त्व-
साक्षात्कारवन्तः योगिन इति भाष्यकैयटयोः स्पष्टम् । तलोप इति । षष्ठीसमासे
सुबलुकि तलोपे 'आद्गुणः' इति भावः । पूर्वपदस्येति । वारिवाहकशब्दे वारिशब्दस्य

आदेश हो, तत्पुरुषमें । तृणे च—जाति गम्यमान होने पर तृण उत्तर पदके परे भी 'कु'
को 'कत्' आदेश हो, तत्पुरुष में । का पथ्यक्षयोः—'कु' को 'का' आदेश हो, पथिन् और
अक्ष शब्द उत्तर पदके परे । ईषदर्थे—ईषत् (किंचित्) अर्थमें 'कु' को 'का' आदेश
हो, उत्तर पदके परे । विभाषा—पुरुष उत्तर पदके परे विकल्पसे 'कु' को 'का' आदेश हो ।
कवं चोष्णे—उष्ण शब्द उत्तर पदके परे 'कु' को 'कव' और 'का' आदेश हो,
विकल्पसे । पृषोदरा—पृषोदरादिका उच्चारण जैसे शिष्टोने किया है, वैसे ही साधु हों ।

भवेद्गर्णा—'हन्' धातुसे (पचादित्वात्) 'अच्' प्रत्यय होने पर 'सकागम' और

गूढोत्मा वर्णविकृतेर्वर्णनाशात्पृषोदरम् ॥ मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम् । ६।३।११९। दीर्घः स्यात् । अमरावती । अनजिरादीनां किम् ? अजिरवती । बह्वचः किम् ? ग्रीहिमती । संज्ञायामित्येव । नेह, -वलयवती ॥ शरादीनां च । ६।३।१२०। शरावती ॥ उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम् । ६।३।१२२।

घकारः सर्वादेशः । बाहकशब्द उत्तरपदं तदादेर्वकारस्य लकारादेश इत्यर्थः । अवेद्वर्णा-
गमाद्धंस इति । हसधातोः पचाद्यचि अनुस्वारागमे हंस इति रूपमित्यर्थः । हनधातो-
रचि सगागमे 'नश्चापदान्तस्य' इति अनुस्वार इत्यन्ये । सिंहो वर्णविपर्ययादिति ।
'हिसि हिंसायाम्' इत्यतः पचाद्यचि इदित्वान्नुम् । 'नश्च' इत्यनुस्वारः । हकारस्य
सकारः, सकारस्य हकारश्च । सिंह इति रूपमित्यर्थः । यद्यपि हंससिंहयोरुणादौ
व्युत्पत्तिरुक्ता । तथाप्युणादिसूत्राणां शाकटायनप्रणीतत्वेन शास्त्रान्तरत्वादिह व्युत्पा-
दनं न दोष इत्याहुः । गूढोत्मा वर्णविकृतेरिति । गूढः आत्मा यस्येति बहुव्रीहौ उत्तरप-
दादेराकारस्य उकारे आद्गुणे रूपमिति भावः । वर्णनाशात्पृषोदरमिति । पृषत् उदरमि-
त्यत्र तकारलोपे सति आद्गुणे पृषोदरमिति भवतीत्यर्थः । मतौ मनुष्यस्य परे
बह्वचो दीर्घः स्यात् संज्ञायां न त्वजिरादीनामित्यर्थः । अमरावतीति । इन्द्रनगर्याः
संज्ञेयम् । अमरा यस्यां सन्तीति विग्रहः । 'मादुपधायाम्' इति, 'संज्ञायां' इति वा
मस्य वः । अजिरवतीति । नदीविशेषस्य संज्ञेयम् । वलयवतीति । अनजिरादिवेद-
व्यसंज्ञात्वान्न दीर्घ इति भावः । शरादीनां च । मतौ दीर्घः संज्ञायामिति शेषः । अवह-
च्छत्वात्पूर्वेण न प्राप्तिः । शरावतीति । शरा अस्यां सन्तीति विग्रहः । नदीविशेषस्य
नाम । उपसर्गस्य । परीपाक इति । पचेर्भावे घञ्, उपधावृद्धिः । 'चजोः कु विण्यतोः'

'नश्चापदान्तस्य झलि' से अनुस्वार होनेसे 'हंस' बनता है । 'हिस' धातुसे 'अच्' प्रत्यय होनेपर 'वर्णविपर्यय' (हकार=सकारका स्थान व्यत्ययास=हेरफेर) होनेसे 'सिंह' बनता है । 'गूढं आत्मा यस्य' इस बहुव्रीहिमें 'वर्णविकार' । (उत्तर पदके आदि वर्ण आकारको उकार) होनेसे गुण होकर 'गूढोत्मा' बनता है । एवं 'पृषत् + उदरम्' यहाँपर 'वर्णनाश' (तकारका नाश = दर्शनाभाव) होनेपर गुण होकर 'पृषोदरम्' बनता है । इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना ।

नोटः—'इस' धातुसे अच् होने पर अनुस्वाररूप वर्णका आगम होनेसे 'हंस' बनता है—ऐसा जो लिखा है; प्रायः वह गलत है । क्योंकि अनुस्वार वर्ण नहीं कहलाता (५० १० देखो) वैयाकरण शब्दको नित्य मानते हैं अतः 'वर्णनाश' या 'वर्णलोप' की जगह सर्वत्र वर्णका दर्शनाभाव समझना चाहिये ।

मतौ बह्वचो—अजिरादिसे भिन्न बह्वचो दीर्घ हो, मनुष्यके परे, संज्ञामें ।

शरादीनां च—शरादिको दीर्घ हो; मनुष्यके परे, संज्ञामें । उपसर्गस्य—उपसर्गको बहुल

परीपाकः, परिपाकः । अमनुष्ये किम् ? निषादः ॥ नरे संज्ञायाम् । ६।३।१२९।
विश्वानरः ॥ मित्रे चर्षौ । ६।३।१३०। विश्वामित्रः ॥ शुनो दन्तदंष्ट्राकर्ण-
कुन्दवराहपुच्छपदेषु दीर्घो वाच्यः) । श्वादन्तः ॥ प्रनिरन्तः शरेश्चप्ल-
क्षाम्रकार्ण्यखदिरपीयूक्षाम्योऽसंज्ञायामपि । ८।४।५। एभ्यः परस्य वनस्य नस्य
णत्वम् । प्रवणम् ॥ विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः । ८।४।६। दूर्वावणम् , दूर्वावनम् ।
शिरीषवणम् , शिरीषवनम् । (द्वयच्चेत्यञ्भ्यामेव) । नेह-देवदारुवनम् । (इरिका-
दिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः) इरिकावनम् । मिरिकावनम् । वाहनमाहितात् । ८।४।

इति कुत्वम् । निषाद इति । पुलिन्दो नाम मनुष्यजातिविशेषः । निषीदत्यस्मिन्
पापमिति निषादः । 'हलश्च' इत्यधिकरणे घञ् । दौवारिके प्रतीहारशब्दे दीर्घस्त्वप्रा-
माणिकः । यद्वा प्रतीहारो द्वारम् तत्स्थत्वात् मनुष्ये गौणः । नरे संज्ञायाम् । विश्वस्य
दीर्घ इति विशेषः । 'विश्वस्य वलुराटोः' इति पूर्वसूत्रात् विश्वस्येत्यनुवर्तते । मित्रे चर्षौ ।
मित्रशब्दे परे विश्वस्य दीर्घः स्यात् ऋषौ वाच्ये इत्यर्थः । शुनो दन्तेति श्वन्शब्दस्य
दन्तादिषु परतः दीर्घ इत्यर्थः । श्वादन्त इति । शुनो दन्त इति विग्रहः । श्वादंष्ट्रा ।
पष्टीसमासः, दीर्घान्त एव दंष्ट्रा शब्दो वार्तिके पठ्यत इति केचित् । ह्रस्वान्त इत्यन्ये ।
श्वादंष्ट्रः बहुव्रीहिरयम् । श्वाकर्णः, श्वाकुन्दः, श्वावराहः, श्वापुच्छम् , श्वापदः ।
प्रनिरन्तः । एभ्य इति । प्र, निर्, अन्तर्, शर, इक्षु, प्लक्ष, आम्र, कार्ण्य, खदिर, पीयूषा,
इत्येतेभ्य इत्यर्थः । वनस्येति । 'वनं पुरगा' इत्यतः तदनुवृत्तेरिति भावः । प्रवणमिति ।
प्रकृष्टं वनमिति विग्रहः । प्रादिसमासः । विभाषौषधि । ओषधिवनस्पतिभ्यः परस्य
वनस्य यो नकारस्तस्य णत्वं वेत्यर्थः । ओषधिभ्य उदाहरति—दूर्वावणमिति । वनस्प-
तिभ्य उदाहरति—शिरीषवणमिति । देवदारुवनमिति । प्रत्युदाहरणम् । इरिकादिभ्य इति ।
एभ्यः परस्य वनस्य णत्वप्रतिषेध इत्यर्थः । वाहनमाहितात् । वाहने आधीयते वहना-

प्रकारसे दीर्घ हो घञन्त उत्तर पदके परे, मनुष्यवाच्यसे भिन्न अर्थमें । नरे संज्ञायाम्—
विश्वको दीर्घ हो, नर उत्तर पदके परे, संज्ञामें । मित्रे चर्षौ—ऋषिको संज्ञा वाच्य हो तो,
विश्व शब्दको दीर्घ हो, मित्र उत्तर पदके परे ।

शुनो दन्त—श्वन् शब्दको दीर्घ हो, दन्त, दंष्ट्रा, कर्ण, कुन्द, वराह, पुच्छ और पद
उत्तर पदके परे ।

प्रनिरन्तः—प्र, निर्, अन्तर्, शर, इक्षु, प्लक्ष, आम्र, कार्ण्य, खदिर और पीयूषासे
पर वनके नकारको णकार हो, असंज्ञामें ।

विभाषौषधि—ओषधि तथा वनस्पति वाचकसे पर वनके नकारको णत्व हो, विकल्पसे ।

द्वयच्—द्वयच्क् या त्र्यच्क् जो ओषधि और वनस्पति वाचक शब्द, उनसे पर ही
वनके नकारको णत्व हो । इरिकादिभ्यः—इरिकादिसे पर वनके नकारको णत्व नहीं हो ।

वाहन—आहित अर्थात् उठाकर जो ले जाया जावे, तद्वाची पूर्वपदमें स्थित रेफ या

८। आरोग्य यदुह्यते तद्वाचिस्थानिमित्ताद्वाहननकारस्य णत्वम् । इक्षुवाहनम् । आहि-
ताकिम् ? इन्द्रवाहनम् ॥ पानं देशे । ८।४।९। पूर्वपदस्थानिमित्तात्परस्य पानस्य
नस्य णः । क्षीरं पानं येषां ते क्षीरपाणा उशीनराः । सुरापाणाः प्राच्याः ॥
वा भावकरणयोः । ८।४।१०। क्षीरपाणम्, क्षीरपानम् ॥ प्रातिपदिकान्तनुम्बि-
भक्तिषु च । ८।४।११। पूर्वपदस्थानिमित्तात्परस्य एषु स्थितस्य नस्य णो वा । प्राति-
पदिकान्ते,—माषवापिणौ । नुमि, ब्रीहिवापेण । विभक्तौ,—माषवापेण । पक्षे,—माषवा-
पिनावित्यादि ॥ कुमति च । ८।४।१३। कर्गवत्युत्तरपदे प्राग्वत् । हरिकामिणौ ।
हरिकामाणि । हरिकामेण ॥ पदव्यवायेऽपि । ८।४।३८। णत्वं न । माषकुम्भवापेण ।

य यत् न तु स्वयमेवारोहुं शक्नोति तदाहितम् । तदाह—आरोग्येति । निमित्तादिति ।
रेफषकारान्यतरस्मादित्यर्थः । पानं देशे । पानमिति पष्ठ्यर्थं प्रथमेत्यभिप्रेत्याह—
पानस्येति । उशीनरा इति । देशविशेषे बहुवचनान्तोऽयम् । वा भावकरणयोः । भावे
करणे च यः पानशब्दः तस्य उक्तविषये णो वा स्यादित्यर्थः । आदेशार्थं वचनम् ।
क्षीरपाणम् । क्षीरपानमिति । क्षीरस्य पानमिति विग्रहः । भावे करणे वा ल्युट् ।
पानक्रिया, पानपात्रं वेत्यर्थः । प्रातिपदिकान्त इति । उदाहरणं वच्यत इति
शेषः । माषवापिणाविति । माषान् वपेते इति विग्रहः । 'बहुलमाभीक्ष्ण्ये'
इति जातावपि सुप्युपपदे णिनिः । उपपदसमासः । वापिन् शब्दस्य कृदन्त-
त्वेन प्रातिपदिकत्वात् तदन्तनस्य णत्वमिति भावः । कुमति च । प्राग्वदिनि ।
प्रातिपदिकान्तनुम्बिभक्तिस्थस्य नस्य नित्यं णत्वं स्यादित्यर्थः । अनेकादुत्तरपदार्थ-
मिदम् । हरिकामिणाविति । 'बहुलमाभीक्ष्ण्ये' इति णिनिः, प्रातिपदिकान्तत्वाणत्वम् ।
हरिकामाणीति । अजन्तलक्षणानुमो नित्यं णत्वम् । हरिकामेणेति । विभक्तिस्थस्योदाह-
रणम् । माषकुम्भवापेनेति । माषाणां कुम्भः माषकुम्भः, तस्य वापः । अत्र निमित्त-

षकार निमित्तसे पर वाहनके नकारको णत्व हो । पानं देशे—पूर्वपदस्थ निमित्तसे पर पानं
के नकारको णत्व हो, देश अर्थ यदि गम्यमान रहे ।

• वा भाव—पूर्वपदस्थ निमित्तसे पर ल्युडन्त भाव-करणवाची पान शब्दके नकारको
णत्व हो, विकल्पसे । प्रातिपदि—पूर्वपदस्थ निमित्तसे पर प्रातिपदिकान्त नकार, नुमस्थ
नकार और विभक्तिस्थ नकारको णत्व हो, विकल्पसे । कुमति च—कर्गवत् (कवर्गादि)
उत्तरपदके परे प्रातिपदिकान्त नकार, नुमस्थ नकार और विभक्तिस्थ नकारको णत्व हो ।

पदव्यवायेऽपि—पूर्वपदस्थ निमित्तसे पर पदान्तर व्यवधान रहने पर प्रातिपदिकान्त
नकार, नुमस्थ नकार और विभक्तिस्थ नकारको णत्व नहीं हो ।

नोटः—सूत्रमें 'अपि' का अर्थ है 'सति' अर्थात् 'पदव्यवाये सति' ।

(अतद्धित इति वक्तव्यम्) । आर्द्रगोमयेण । शुष्कगोमयेण ॥ पारस्करप्रभृ-
तीनि च संज्ञायाम् । ६।१।१५७। एतानि समुट्कानि निपात्यन्ते । पारस्करः ।
किष्किन्धा ॥ (तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च) ।
तात्पूर्वं चत्वेन दकारोऽपि बोध्यः । तद्बृहतोर्दकारतकारौ लुप्येते, करपत्योस्तु सुट् ।
चोरदेवतयोरिति समुदायोपाधिः । तस्करः । बृहस्पतिः ॥ (प्रायस्य चित्तिचि-
त्तयोः) । प्रायश्चित्तिः । प्रायश्चित्तम् । वनस्पतिरित्यादि । आकृतिगणोऽयम् ।

इति समासाश्रयविधिप्रकरणम् ।

कारिणोः पकारनकारयोः कुम्भपदेन व्यवधानात् न णत्वम् । शुष्कगोमयेणेति । पात्पर-
स्योदाहरणम् । पारस्करप्रभृतीनि च । पारस्कर इति । पारं करोतीति विग्रहः । कृजो हेत्विति-
टः । किष्किन्धेति । किं किमपि वानरसैन्यं धत्ते इति किष्किन्धा । 'आतोऽनुपसर्गे कः' ।
टाप्, निपातनात् किमो द्वित्वम् । मलोपः सुट् षत्वं च । रूढशब्दा एते कथञ्चिद्व्यु-
त्पाद्यन्ते । एषामवयवार्थो न विचारणीयः । तद्बृहत्तोरिति । पारस्करादिगणसूत्रमेतत् ।
तद्बृहत्ते तकारस्यान्त्यस्याभावादाह—तात्पूर्वमपि । तलोपश्चेत्यत्र तकारात्पूर्व-
मित्यर्थः । तत् चौर्यं करोतीति विग्रहः । बृहस्पतिरिति । बृहती वाक् तस्याः पतिः
इति विग्रहः । कुक्कुटयादीनामण्डादिष्विति पुंस्त्वम् । तलोपः सुट् । 'वाग्धि बृहती
तस्या एष पतिः' इति च्छन्दोगब्राह्मणम् । प्रायस्य चित्तिचित्तयोरिति । गणसूत्रमिदम् ।
प्रायस्य चित्तिः चित्तं वेति विग्रहः । 'प्रायः पापं विजानीयाच्चित्तं तस्य विशोधनम् ।'
इति स्मृतिः । वनस्पतिरिति । वनस्य पतिरिति विग्रहः । आकृतिगणोऽयमिति ।
तेन क्षतात्पराणि परश्शतानीत्यादि सिद्धम् । इति समासाश्रयविधिप्रकरणम् ।

अतद्धिते—व्यवधायक पदसे पर तद्धित (प्रत्यय) रहनेसे णत्वका निषेध नहीं हो । अर्थात्
तद्धितके परे णत्व होता ही है । पारस्कर—पारस्कर प्रभृति सुट्सहित निपातन हो, संज्ञामें
तद्बृहतो—कर तथा पति उत्तर पदके 'तद्' के दकारका और 'बृहत्' के तकारका
लोप हो तथा कर और पतिको सुट् हो, समुदायसे यदि चोर और देवता अर्थ गम्यमान रहे ।
प्रायस्य—'प्राय' से पर चित्ति और चित्तको सुट् का आगम हो ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें समासाश्रय प्रकरण समाप्त हुआ ।

तद्धितप्रकरणम्

अथापत्यादिविकारान्तार्थसाधारणप्रत्ययाः

समर्थानां प्रथमाद्धा । ४।१।८२। इदं पदत्रयमधिक्रियते, प्राग्दिश इति यावत् ॥ प्राग्दीव्यतोऽण् । ४।१।८३। तेन दीव्यतीत्यतः प्रागणधिक्रियते ॥ अश्व-पत्यादिभ्यश्च । ४।१।८४। एभ्योऽण् स्यात्प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु । अश्वपतेरपत्यादि-आश्वपतम् । गाणपतम् ॥ दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्यः । ४।१।८५। प्राग्दी-व्यतीयेष्वर्थेषु । दितेरपत्यादि दैत्यः । अदितेरादित्यस्य वा आदित्यः ॥ (यणो मयो द्वे वाच्ये ।) मय इति पञ्चमी यण इति षष्ठीति पक्षे यस्य द्वित्वम् ॥ हलो यमां यमि लोपः । ८।४।३४। वा स्यात् । इत्यसति लोपे द्वित्वे च सति त्रियं रूपम् । असति लोपे द्वित्वलोपयोर्वा द्वियम् । द्वित्वाभावे लोपे च सति एक्यम् ।

प्राग्दीव्यतोऽण् । 'तेन दीव्यति खनति जयति जितम्' इति सूत्रस्थदीव्यतिशब्दैक-देशस्यानुकरणमिह दीव्यच्छब्दः । तेन च तद्धटितं तस्मिन् लक्ष्यते । तदाह—तेन दीव्यतीत्यतः प्रागणधिक्रियते इति । तथा च तस्यापत्यमित्याद्युत्तरसूत्रेषु केवलमर्थनि-र्देशपरेषु विधेयप्रत्ययविशेषार्थसंयुक्तेषु किं भवतीत्याकाङ्क्षायामणित्युपतिष्ठत इति लभ्यते । कस्माद्भवतीत्याकाङ्क्षायां 'समर्थान्प्रथमात्' इति प्रकृतिविशेषो लभ्यते । यत्र तु विधेयः प्रत्ययविशेषः श्रूयते तत्राणिति नोपतिष्ठते, अणित्यस्यौत्सर्गिकतया विशेषिकेण इत्यादिना बाधात् । आश्वपतम् । 'अश्वपतेरपत्यम्' इत्यर्थे 'तस्यापत्यम्' इत्यपत्यार्थे 'अश्वपत्यादिभ्यश्च' इति अणि, 'अश्वपति ङस् अण्' इति जाते 'कृतद्धि-तंसमासाश्च' इति तद्धितान्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे, 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति सुपो लुकि, णलोपे, 'यचि भम्' इति भत्वे, 'यस्येति च' इति इकारलोपे, 'तद्धितेष्व-चामादेः' इत्यादिवृद्धौ कृतायाम्, 'आश्वपत' इति जाते, ततः सौ, सोरमि, पूर्वरूपे च 'आश्वपतम्' इति सिद्धम् । आदित्य इति । अदितिशब्दात् जाताद्यर्थे 'दित्यदि-त्यादित्यपत्युत्तरपदाण्यः' इति ण्ये प्रत्यये, णगते आदिवृद्धौ, 'यस्येति च' इति

समर्थानां—'प्राग्दिशो विभक्तिः' इति सूत्र पर्यन्त 'समर्थानां, प्रथमात्, वा, इन तीनों पदोंका अधिकार है । प्राग्दीव्यतोऽण्—'तेन दीव्यति खनति जयति जितम्' इस सूत्र तक 'अण्' का अधिकार है । अश्वपत्यादि—अश्वपत्यादिसे 'अण्' प्रत्यय हो, प्राग्दीव्यतीय (अपत्य, देवता, भव, जात आदि) अर्थोंमें, विकल्पसे । दित्यदित्या—दित्यादि और पत्युत्तरपदसे 'ण्य' प्रत्यय हो, प्राग्दीव्यतीय अर्थोंमें, विकल्पसे । यणो मयो—यणसे पर मय् और मय्से पर यण्को द्वित्व हो । हल्लोयमां—हल्से पर यम् का लोप हो, यम्के परे, विकल्पसे ।

प्राजापत्यः ॥ (देवाद्यञौ) । दैव्यम्, दैवम् ॥ (वहिषष्टिलोपो यञ्च) ।
बाह्यः ॥ (ईकक् च) ॥ किति च । ७।२।११८। किति तद्धितेऽचामादेरचो
वृद्धिः । बाहीकः ॥ (गोरजादिप्रसङ्गे यत्) । गोरपत्यादि गव्यम् ॥ उत्सा-
दिभ्योऽञ् । ४।१।८६। औत्सः ॥ इत्यपत्यादिविकारान्तार्थसाधारणप्रत्ययाः ॥

अथापत्याधिकारप्रकरणम्

स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नजौ भवनात् । ४।१।८७। धान्यानां भवन इत्यतः प्राग-
र्थेष्वाभ्यामेतौ स्तः । स्नैणः । पौस्नः ॥ तस्यापत्यम् । ४।१।९२। षष्ठ्यन्तात्कृतसन्धिः

इकारलोपे, ततः सौ 'आदित्यः' इति रूपम् । आदित्यशब्दात् ण्ये, आदिवृद्धौ,
'यस्येति च' इति अलोपे, 'हलो यमां यमि लोपः' इति मकारस्य लोपे विभक्ति-
कार्ये च 'आदित्यः' इति रूपम् । इत्यपत्यादिविकारान्तार्थसाधारणप्रत्ययाः ।

स्त्रैणः । स्त्रिया अपत्यम्, स्त्रीषु भवः, स्त्रीणां समूहः इत्यादिविग्रहः । स्त्री
ङस् इत्यस्मात् 'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नजौ भवनात्' इति नजि, सुपो लुकि, अगते,
'तद्धितेष्वचामादेः' इत्यादिवृद्धौ, 'अट्कुप्वाङ्नुमि'ति णत्वे विभक्तिकार्ये च
'स्नैणः' इति रूपम् । पौस्नः । पुंसोऽपत्यम्, पुंसि भवः, पुंसां समूहः, इत्यादि-
विग्रहः । पुस्नश्च शब्दात् स्नजि, 'स्वादिप्स्वसर्वनामस्थाने' इति पदत्वात्संयोगान्तलोपः,

देवाद्यञ्—देव शब्दसे 'यञ्' और 'अञ्' प्रत्यय हो, प्राग्दीव्यतीय अर्थोंमें, विकल्पसे ।

वह्निषष्टि—वह्निष् शब्दसे 'यञ्' प्रत्यय और वह्निष्की टिका लोप भी हो, प्राग्दीव्यतीय
अर्थोंमें विकल्पसे । ईकक् च—वह्निष् शब्दसे ईकक् प्रत्यय भी हो । किति च—अचोंके
मध्यमें आदि अचको वृद्धि हो, कित् तद्धितके परे । गोरजादि—गो शब्दसे अजादि
प्रत्ययके प्रसङ्गमें 'यत्' प्रत्यय हो, प्राग्दीव्यतीय अर्थोंमें ।

उत्सादिभ्यो—उत्सादिसे 'अञ्' प्रत्यय हो, प्राग्दीव्यतीय अर्थोंमें ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें अपत्यादिविकारान्तार्थसाधारण प्रत्यय समाप्त हुआ ।

स्त्रीपुंसा—'धान्यानां भवने क्षेत्रे' इससे पूर्व अर्थोंमें स्त्री शब्दसे नञ् प्रत्यय और
पुम्स् शब्दसे स्नज् प्रत्यय हो, विकल्पसे ।

तस्यापत्यम्—षष्ठ्यन्त कृतसन्धि समर्थ सुबन्तसे अपत्य अर्थमें उक्त (अण्-ण्य-नञ्-
स्नज् आदि) प्रत्यय तथा वक्ष्यमाण (इआदि) प्रत्यय हों, विकल्पसे ।

समर्थादपत्येऽर्थे उक्ता वक्ष्यमाणाश्च प्रत्यया वा स्युः ॥ ओर्गुणः । ६।४।१४६।
 उवर्णान्तस्य भस्य गुणस्तद्धिते । ओरोदिति वक्तव्ये गुणोक्तिः 'संज्ञापूर्वको विधिर-
 नित्य' इति ज्ञापयितुम् । तेन स्वायंभुवमित्यादि सिद्धम् । उपगोरपत्यम्—अपौगवः ।
 आश्वपतः । दैत्यः । औत्सः । छैनः । पौस्नः ॥ अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् ।
 ॥४।१।१६२। अपत्यत्वेन विवक्षितं पौत्रादि गोत्रसंज्ञं स्यात् ॥ एको गोत्रे
 ॥४।१।१९३। गोत्रे एक एवापत्यप्रत्ययः स्यात् । उपगोर्गोत्रापत्यम्—अपौगवः ॥
 गर्गादिभ्यो यञ् ॥४।१।१०५। गोत्रापत्ये । गर्गस्य गोत्रापत्यं—गार्ग्यः ।
 चात्स्यः ॥ यञ्जोश्च ॥२।४।६४। गोत्रे यञ्जन्तमजन्तं च तदवयवयोरेतयोर्लुक् ।
 तत्कृते बहुत्वे, न तु स्त्रियाम् । गर्गाः । वत्साः ॥ गोत्रेऽलुगचि ॥४।१।८९।
 अजादौ प्राग्दीव्यतीये विवक्षिते गोत्रप्रत्ययस्यालुक् स्यात् । गर्गाणां छात्राः । वक्ष्य-

आदिवृद्धिः । स्त्रेणः । पौस्न इति । स्त्रिया अपत्यं, पुंसोऽपत्यमिति विग्रहः । 'स्त्रीपुं-
 साभ्यां नञ्सनञौ भवनात्' इति । नञ् स्नञौ, अणोऽपवादः । अपत्यं पौत्रप्रभृति
 गोत्रम् । पौत्रप्रभृति अपत्यं गोत्रं गोत्रसंज्ञकमित्यर्थः । पौत्रप्रभृतिषु साक्षादपत्यत्वाभा-
 वादाह—अपत्यत्वेन विवक्षितमिति । एको गोत्रे । पौत्रादौ प्रत्येकपुरुषं प्रत्ययप्राप्त्या
 शततमे सन्ताने एकोनशतप्रत्ययानामापत्तिरतो नियमार्थं सूत्रम् । तदाह—एक एव
 अपत्यप्रत्यय इति । एकोनशतं प्रत्यया नेष्टाः, किन्त्वेक एव प्रत्ययः इष्ट इति भावः ।
 गोत्रेऽलुगचि । अलुगिति च्छेदः । प्राग्दीव्यत इत्यनुवृत्तेः प्रत्ययाधिकाराच्च प्राग्दीव्य-
 तीये प्रत्यये इति लब्धम् । अचीति तद्विशेषणं तदादिविधिः । विषयसप्तम्येषा न तु
 परसप्तमी । तदाह—अजादावित्यादिना । गोत्रप्रत्ययस्येति । गोत्रार्थप्रत्ययस्येत्यर्थः ।
 लुकः प्रत्ययादर्शनत्वात् प्रत्ययस्येति लब्धम् । गर्गाणां छात्रा इति । वक्ष्यमाणोदाहर-
 णविग्रहप्रदर्शनमिदम् । गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः । गर्गादिभ्यो यञ् । गर्गस्य गोत्रा-
 पत्यानीति बहुत्वविवक्षायां यञि कृते तस्य 'यञ्जोश्च' इति लुकि गर्गा इति भवति ।

ओर्गुणः—उवर्णान्त भसंज्ञकको गुण हो, तद्धितको परे । अपत्यं पौत्र—अपत्यत्वेन
 विवक्षित जो पौत्र, प्रपौत्रादि, वे गोत्रसंज्ञक हों ।

एको गोत्रे—गोत्रमें एक ही प्रत्यय हो । अर्थात् गोत्रमें—पुत्रका पुत्र, उसका पुत्र
 इत्यादि परम्परासे अनेक अपत्य प्रत्यय नहीं होते हैं ।

गर्गादिभ्यो—पष्ठञन्त गर्गादि समर्थसे यञ् प्रत्यय हो, गोत्रापत्य अर्थमें ।

यञ्जोश्च—यञन्त और अजन्तका अवयव जो 'यञ्' और 'अञ्' उसका लुक् हो,
 गोत्र प्रत्ययकृत बहुत्व रहनेपर । परन्तु स्त्रीलिङ्गमें लुक नहीं हो । गोत्रेऽलुगचि—अजादि

माणो वृद्धाच्छः ॥ आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति । ६।४।१५१। हलः परस्यापत्य-
यस्य लोपस्तद्धिते, नत्वाकारे । गार्गीयाः । अनाति किम् ? गार्गीयणः । प्राग्दीव्य-
तीये किम् ? गर्गेभ्यो हितं गर्गीयम् । अचि किम् ? गर्गेभ्य आगतं गर्गरूप्यम् ॥
जीवति तु वंश्ये युवा । ४।१।१६३। वंश्ये पित्रादौ जीवति पौत्रादेर्यदपत्यं चतु-
र्यादि तद्युवसंज्ञमेव स्यान्न तु गोत्रसंज्ञम् ॥ गोत्राद्यून्यस्त्रियाम् । ४।१।१६४। यून्य-
पत्ये विवक्षिते गोत्रप्रत्ययान्तादेव प्रत्ययः स्यात्, स्त्रियां तु न युवसंज्ञा ॥ यजि-
जोश्च । ४।१।१७१। गोत्रे यौ यजिजौ तदन्तात्फक् ॥ आयनेयीनीयियः फढ-
खलुघां प्रत्ययादीनाम् । ७।१।२। प्रत्ययादेः फस्य आयन् ढस्य एय् खस्य ईन् छस्य
ईय् घस्य इय् स्युः । गर्गस्य युवापत्यं-गार्गीयणः ॥ अत इज् । ४।१।१६५। अप-

वृद्धाच्छ इति । गार्ग्यशब्दादुक्तेऽर्थे छ् प्रत्यय इत्यर्थः । छस्य ईयादेशः तस्मिन् भवि-
ष्यति अजादौ परे 'यजजोश्च' इति प्राप्तो लुङ् न भवति । तथा गार्ग्य ईय इति
स्थिते 'यस्येति च' इति यजोऽकारस्य लोपे गार्ग्य ईय इति स्थिते परिशिष्टस्य यजो
यकारस्य लोपमाह—आपत्यस्य च । अनातीति च्छेदः । 'ढे लोपोऽकद्रवाः' इत्यतो लोप
इत्यनुवर्तते । 'सूर्यतिप्य' इत्यतो य इति पष्ठयन्तमनुवर्तते । 'हलस्तद्धितस्य' इत्यतो
हल इति पञ्चम्यन्तमनुवर्तते । तदाह—हलः परस्यापत्ययस्येति । अपत्यार्थकयकार-
स्येत्यर्थः । यजो लुकि तु आदिवृद्धिर्न स्यादिति भावः । गार्गीयमिति । 'तस्मै हितम्'
इति गार्ग्यशब्दाच्छः । तस्य प्राग्दीव्यतीयत्वाभावात् तस्मिन् परे 'यजजोश्च' इति
यजो लुग्भवत्येवेति नादिवृद्धिरिति भावः । गर्गरूप्यमिति । 'हेतुमनुष्येभ्यः' इति
रूप्यप्रत्ययः । तस्य प्राग्दीव्यतीयत्वेऽप्यजादित्वाभावात्तस्मिन् परे यजोऽलुग् न ।
गार्गीयणः । गर्गस्य युवापत्यं, गार्ग्यस्य गोत्रापत्यमित्यत्र 'जीवति तु वंश्ये युवा'
इति युवसंज्ञायां 'यजिजोश्च' इति यजन्ताद् गार्ग्यशब्दात्फकि, कलोपे, 'आय-
नेयीनीयियः फढखलुघां प्रत्ययादीनाम्' इति फस्य स्थाने आयनि कृते, 'गार्ग्य
आयन् अ' इति जाते, 'यचि भम्' इति भत्वे, 'यस्येति च' इति गकारोत्तरवर्त्य-
कारलोपे संयोगे, 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति नस्य णत्वे, विभक्तिकार्ये च

प्राग्दीव्यतीयकी विवक्षामें गोत्र प्रत्ययका अलुक् हो । आपत्यस्य च—हलसे पर अपत्यार्थक
यकारका लोप हो, आकार भिन्न तद्धित प्रत्ययके परे । जीवति तु—वंशमें-पिता आदिके
जीवित रहने पर पौत्र आदिका अपत्य जो चतुर्थ (प्रपौत्र) आदि, उसकी युवसंज्ञा ही हो-
गोत्रसंज्ञा नहीं हो । गोत्राद्यून्य—युवा अपत्य विवक्षित होनेपर गोत्रप्रत्ययान्तसे ही प्रत्यय
हो । और स्त्रीलिंगमें युवसंज्ञा नहीं हो । यजिजोश्च—गोत्रमें जो यज् और इज्, तदन्तसे
फक् प्रत्यय हो । आयनेयी—प्रत्ययके आदिभूत 'फ' आदिको यथाक्रमसे आयन् आदि
आदेश हों । अत इज्—अदन्त प्रातिपदिकसे इज् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें ।

त्येऽर्थे । दाक्षिः ॥ बाह्वादिभ्यश्च । ४।१।९६। बाह्विः । औडलोमिः । औडलोमी ॥
 (लोम्नोऽपत्येषु बहुष्वकारो वक्तव्यः) । बाह्वादेरपवादः । उडलोमाः । आहू-
 तिगणोऽयम् ॥ अनृप्यानन्तर्ये विदादिभ्योऽञ् ॥ ४।१।१०४। ये त्वत्रानृपयस्ते-
 भ्योऽपत्येऽन्यत्र तु गोत्रे । विदस्य गोत्रं वैदः । वैदौ । विदाः । पुत्रस्यापत्यं
 पौत्रः । पौत्रौ । यजोश्चेति सूत्रे प्रवराध्यायप्रसिद्धं गोत्रं, तेनेह न, पौत्राः । एवं
 दौहित्रादयः ॥ शिवादिभ्योऽण् ॥ ४।१।११२। अपत्ये, शैवः । गाङ्गः ॥ ऋष्य-
 न्धकवृष्णिङ्कुरुभ्यश्च । ४।१।११४। ऋषिभ्यः—वासिष्ठः । वैश्वामित्रः । अन्ध-
 केभ्यः—श्वाफल्कः । वृष्णिभ्यः—वासुदेवः । कुरुभ्यः—नाकुलः । साहदेवः ॥
 मातुरुत्संख्यासम्भद्रपूर्वायाः । ४।१।११५। संख्यादिपूर्वस्य मातृशब्दस्य उदादेशः
 स्यादण् प्रत्ययश्च । द्वैमातुरः । पाण्मातुरः । भाद्रमातुरः ॥ स्त्रीभ्यो ढक् ॥ ४।१।१२०।

कृते 'गार्ग्यायणः' इति रूपम् । उडलोमाः । उडलोम्नोऽपत्यानि पुंसांसः इति विग्रहः ।
 अत्र उडलोमन्शब्दात् बहुत्वे 'लोम्नोऽपत्येषु बहुष्वकारो वक्तव्यः' इति अप्रत्यये,
 'नस्तद्धिते' इति टिलोपे विभक्तिकार्यं च तत्सिद्धिः । अनृप्यानन्तर्ये । अनृपीति
 लुसपञ्चमीकम् । 'विदादिभ्योऽञ्' इति द्विरावर्तते । तथा च 'अनृप्यानन्तर्ये विदा-
 दिभ्योऽञ्' इति कृत्स्नमेकं वाक्यम् । 'विदादिभ्योऽञ्' इति वाक्यान्तरम् । तत्र
 द्वितीयं वाक्यं व्याचष्टे—अन्यत्र तु गोत्रे इति । गोत्रे विवक्षिते विदादिभ्योऽञ् स्यादि-
 त्यर्थः । अत्र प्रथमं वाक्यं कृत्स्नसूत्रं व्याचष्टे—ये त्विति । अनृषिभ्यो विदादिभ्यः
 अनन्तरापत्ये अञ् स्यादित्युत्तरार्थः । विदादौ हि ऋषयः अनुपयश्च पठिताः । तत्र ये
 अनुपयः तेभ्योऽनन्तरापत्ये अजिति फलितमिति भावः । वैदः । विदस्य गोत्राप-
 त्यम् वैदः इत्यत्र 'अनृप्यानन्तर्ये विदादिभ्योऽञ्' इत्यजि, भवे, अकारलोपे,
 आद्यचो वृद्धौ, विभक्तिकार्यं च कृते 'वैदः' इति । पुंमेव पुत्रस्यापत्यम् 'पौत्रः' ।
 दुहितुरपत्यम् 'दौहित्रः' इत्यादौ विदादिभ्योऽञ् बोध्यः । द्वैमातुरः । द्वयोर्मात्रो-
 रपत्यम् 'द्वैमातुरः' इत्यत्र 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इति समासे सुपो लुकि,
 'मातुरुत्संख्यासम्भद्रपूर्वायाः' इति मातुरुदादेशे अणि च 'द्वि मातुर् अ' इति
 जाते 'तद्धितेष्वचामादेः' इत्याद्यचो वृद्धौ संयोगे विभक्तिकार्यं च कृते 'द्वैमा-

बाह्वादिभ्यश्च—बाह्वादित्से इञ् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें । लोम्नोऽपत्ये—लोमन्
 शब्दसे बहुत्वविशिष्ट अपत्य अर्थमें अकार प्रत्यय हो । अनृप्यानन्तर्ये—विदादि गणपठित
 ऋषियोंसे गोत्र अर्थमें और ऋषि भिन्नोसे अपत्य अर्थमें अञ् प्रत्यय हो ।

शिवादिभ्यो—शिवादित्से अण् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें । ऋष्यन्धक—ऋष्यादित्से
 अण् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें । मातुरुत्—संख्यादि पूर्वक मातृ शब्दको उक्त आदेश हो,
 और अण् प्रत्यय भी हो । स्त्रीभ्यो ढक्—स्त्रीप्रत्ययान्तसे ढक् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें ।

स्त्रीप्रत्ययान्तेभ्यो ढक् । वैनतेयः ॥ कन्यायाः कनीन च । ४।१।११६। चादण् ।
कानीनो व्यासः, कर्णश्च ॥ राजश्वशुराद्यत् । ४।१।१३७। (राज्ञो जातावेव) ॥
ये चाभावकर्मणोः । ६।४।१६८। यादौ तद्धिते अन् प्रकृत्या स्याज् तु भावकर्म-
णोः । राजन्यः । श्वशुर्यः । जातावेवेति किम् ? ॥ अन् । ६।४।१६७। प्रकृत्याणि
परे । राजनः ॥ क्षत्राद्व्यः । ४।१।१३८। क्षत्रियः । जातावित्येव । क्षत्रिरन्यः ॥
रेवत्यादिभ्यष्टक् । ४।१।१४६। ठस्येकः । ७।३।१०। अज्ञात्परस्य ठस्येकादेशः ।
रैवतिकः ॥ गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्चफञ् । ४।१।९८। व्रातचफजोरस्त्रियाम्
। ५।३।११३। व्रातवाचिभ्यश्चफजन्तेभ्यश्च स्वार्थे, व्यप्रत्ययः स्यात् । कौजायन्यः ।
कौजायन्यौ । बहुत्वे लुग्वक्ष्यते । ब्राध्नायन्यः ॥ नडादिभ्यः फक् । ४।१।९९।

तुरः' इति सिद्धम् । कानीनः । कन्यायाः अपत्यम् 'कानीनः' इत्यत्र 'कन्या-
याः कनीन च' इति अणप्रत्यये कन्यास्थाने कनीनादेशे; भत्वे 'यस्येति च'
इत्यलोपे, आद्यचो वृद्धौ, विभक्तिकार्ये च 'कानीनः' इति रूपम् । गोत्रे कुञ्जा-
दिभ्यश्चफञ् । स्पष्टम् । इजोपवादः । चफजि चजावितौ । व्रातचफजोः । व्रातश्च
चफञ् इति द्वन्द्वाद्वयस्येन पञ्चम्यर्थे पष्ठी । तदाह—व्रातवाचिभ्य इति । स्वार्थे व्यः
स्यादिति । 'पूर्वाभ्योऽग्रामणीपूर्वात्' इत्यतः व्यः इत्यनुवर्तते । स च स्वार्थिकः,
'व्यादयः प्राखुनः' इति स्वार्थिकेषु परिगणनादिति भावः । कौजायन्य इति । कुञ्जस्य
गोत्रापत्यमिति विग्रहः, चफजि चजावितौ आयज्ञादेशः, आदिबृद्धिः, ततो व्यः, जकार
इत् 'यस्येति च' इत्यकारलोपः । ब्राध्नायन्य इति । ब्रध्नस्य गोत्रापत्यमिति
विग्रहः । चफजादि पूर्ववत् । नडादिभ्यः फक् । इजोऽपवादः । आश्वायन इति ।
अश्वस्य गोत्रापत्यमिति विग्रहः । इजपवादः फञ् । इतश्चानिजः । अस्त्रीप्रत्ययान्ता-

कन्यायाः—कन्या शब्दको कनीन आदेश हो और चकारात् अण् प्रत्यय भी हो,
अपत्य अर्थमें । राजश्वशु—राजन् शब्द और श्वशुर शब्दसे यत् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें ।

राज्ञो जाता—जातिवाच्य होने पर ही राजन् शब्दसे यत् प्रत्यय हो ।

ये चाभाव—यकारादि तद्धितके परे 'अन्' प्रकृतिवत् हो, किन्तु भाव और कर्मार्थक
प्रत्ययके परे नहीं हो । अन्—अण् प्रत्ययके परे अन् प्रकृतिवत् हो । क्षत्राद्व—क्षत्र शब्दसे
'घ' प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें—समुदायसे जाति यदि गम्यमान रहै । रेवत्यादिभ्यः—रेव-
त्यादिसे 'ठक्' प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें । ठस्येकः—अङ्गसे पर 'ठ' को 'इक्' आदेश हो ।

गोत्रे—गोत्र अर्थमें कुञ्जादिसे 'चफञ्' प्रत्यय हो । व्रातचफजो—व्रातवाचीसे और
चफजन्तसे स्वार्थमें 'व्य' प्रत्यय हो । नडादिभ्यश्च—नडादिसे फक् प्रत्यय हो, गोत्र

गोत्र इत्येव । नाडायनः । चारायणः । अनन्तरो नाडिः ॥ अश्वादिभ्यः फञ् । ४।१।११०। गोत्रे आश्वायनः ॥ इतश्चानिजः । ४।१।१२२। इकारान्ताद्व्यचोऽपत्ये ढक्, न त्विजन्तात् । दौलेयः । नैधेयः । आत्रेयः । आत्रेयौ ॥ अत्रिभृगुकुत्सवसिष्ठगोतमाङ्गिरोभ्यश्च । २।४।६५। एभ्यो गोत्रप्रत्ययस्य लुक् स्यात् तत्कृते बहुत्वे, न तु स्त्रियाम् । अत्रयः । भृगवः । कुत्साः । वसिष्ठाः । गोतमाः । अङ्गिरसः । शुभ्रादिभ्यश्च । ४।१।१२३। शौत्रेयः ॥ कल्याण्यादीनामिनङ् । ४।१।१२६। एषामिनङ् स्यात्, ढक् च । कल्याणिनेयः । बान्धकिनेयः ॥ कुलटाया वा । ४।१।१२७। इनङ्मात्रं विकल्प्यते, ढक् तु नित्यः पूर्वणैव । कौलटेयः, कौलटिनेयः । सती भिक्षुक्यत्र कुलटा ॥ चटकाया ऐरक् । ४।१।१२८। (चटकादिति वाच्यम्) । प्रातिपदिकग्रहणो लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणमिति सिध्यति । चटकस्य

र्थमिदम् । दुलिः निधिश्च कश्चित् । आत्रेय इति । अत्रिः प्रसिद्धः । परत्वादयमृष्यणमपि बाधत इति भावः । अत्रिभृगु० । पूर्वसूत्राद्गोत्र इति, तत्र यदनुवृत्तं तच्च सर्वमिहानुवर्तते । तदाह—एभ्यो गोत्रेति । अत्रेः, भृगोः, कुत्सस्य, वसिष्ठस्य, गोतमस्य, अङ्गिरसश्च अपत्यानि पुंमांस इति विग्रहः । तत्र अत्रेः 'इतश्चानिजः' इति ढकोऽनेन लुक् । इतरेभ्यस्तु ऋष्यण् इति बोध्यम् । लुकि आदिबृद्धेर्निवृत्तिः । कल्याण्यादीनामिति । इनङि ङकार इत् । कल्याणिनेय इति । कल्याण्या अपत्यमिति विग्रहः । बान्धकिनेय इति । बन्धक्या अपत्यमिति विग्रहः । अत्र गणे स्त्रीप्रत्ययान्ता एव पठ्यन्ते । तेभ्यो ढक् सिद्ध एव । इनङेव तु विधीयते । कुलटाया वा । इनङ्मात्रमिति । व्याख्यानादिति भावः । पूर्वणैवेति । 'स्त्रीभ्यो ढक्' इत्यनेनेत्यर्थः । कुलानि गृहाणि अटतीति कुलटा । शकन्द्वादित्वात्पररूपम् । चटकाया ऐरक् । चटकाशब्दादपत्ये ऐरक् प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । चटकादिति वाच्यम् । सूत्रे चटकाया इत्यपनीय चटकादिति वाच्यमित्यर्थः ।

अर्थम् । अश्वादिभ्यः—अश्वादित्से फञ् प्रत्यय हो, गोत्र अर्थम् । इतश्चानिजः—इनन्तसे मित्र इकारान्त द्व्यचकसे ढक् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थम् । अत्रिभृगु—अत्रि, भृगु आदित्से पर गोत्र प्रत्ययकृत बहुत्व हो तो गोत्र प्रत्ययका लुक् हो, स्त्रीलिंगमें छोड़कर ।

शुभ्रादिभ्यश्च—शुभ्रादिसे ढक् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थम् । कल्याणा—कल्याणादिके अन्तको इनङ् आदेश हो और ढक् प्रत्यय भी हो, अपत्य अर्थम् । कुलटाया वा—कुलटा शब्दको विकल्पसे इनङ् आदेश हो और पूर्वसूत्र अर्थात् 'स्त्रीभ्यो ढक्' से नित्य ढक् प्रत्यय भी हो, अपत्य अर्थम् । चटकायाः—चटका शब्दसे ऐरक् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थम् ।

चटकात्—चटक शब्दसे ऐरक् प्रत्यय हो—ऐसा कहना चाहिये । क्योंकि 'लिङ्गविशिष्ट' परियावासे 'चटका' शब्दका भी ग्रहण हो ही जायगा ।

चटकाया वा अपत्यं—चाटकैरः ॥ (स्त्रियामपत्ये लुग् वक्तव्यः) । तयोरेव
 स्त्र्यपत्यं = चटका ॥ गोधाया ढक् ॥ ४११२२॥ गौधेरः । शुभ्रादित्वाड्ढक् ।
 गौधेयः ॥ क्षुद्राभ्यो वा ॥ ४११२३॥ अङ्गहीनाः शीलहीनाश्च क्षुद्राः, ताभ्यो ढक्
 वा । पक्षे—ढक् । काणेरः, काण्येयः । दासेरः, दासेयः ॥ पितृष्वसुश्छण् ।
 ४११२२॥ अणोऽपवादः । पैतृष्वस्त्रीयः ॥ ढकि लोपः ॥ ४११२३॥ अत एव
 ज्ञापकाड्ढक् । पैतृष्वसेयः । मातृष्वसुश्च ॥ ४११२४॥ पितृष्वसुर्यदुक्तं
 तदस्यापि स्यात् । मातृष्वस्त्रीयः, मातृष्वसेयः ॥ कुलात्स्वः ॥ ४११२२॥
 कुलीनः । तदन्तादपि, उत्तरसूत्रे अपूर्वपदादिति लिङ्गात् । आढ्यकुलीनः ॥
 अपूर्वपदादन्यतरस्यां यङ्ढकजौ ॥ ४११२४०॥ कुलादित्येव । पक्षे—खः ।
 कुल्यः, कौलेयकः, कुलीनः । महाकुलादञ्खजौ ॥ ४११२४१॥ माहाकुलः, माहा-
 कुलीनः, महाकुलीनः ॥ दुष्कुलाड्ढक् ॥ ४११२४२॥ वा । पक्षे—खः । दौष्कुलेयः,

तयोरिति चटकस्य चटकायाश्चेत्यर्थः । गोधाया ढक् । गौधेरिति गोधाया अपत्यमिति
 विग्रहः । ढक् ढकारस्य ईयादेशे 'लोपो व्योः' इति यलोपः, किन्त्वादादिवृद्धिरिति भावः ।
 क्षुद्राभ्यो वा । अङ्गहीना इति चक्षुरादिकतिपयावयवविकला इत्यर्थः । शीलहीना इति ।
 सद्वृत्तहीना इत्यर्थः । यथेष्टपुरुषसञ्चारिण्य इति यावत् । पितृष्वसुश्छण् । पैतृष्वस्त्रीय
 इति पितृष्वसुरपत्यमिति विग्रहः । छस्य ईयादेशे आदिवृद्धिः । सकाराहकारस्य यण् ।
 ढकि लोपः पितृष्वसुरित्यनुवर्तते । अलोन्त्यपरिभाषया अन्त्यस्य लोपः । कुलात्स्वः ।
 अपत्ये इति शेषः । कुलान इति खस्य ईयादेशः । तदन्तादपीति । आढ्यकुलीन इति ।
 आढ्यकुलशब्दात् कर्मधारयात्स्वः । कुले आढ्यत्वप्रतीतिरत्र फलम् । कुलीनशब्देन
 कर्मधारये तु तदप्रतीतिरिति भेदः । अपूर्वपदादन्यतरस्याम् । कुलादित्येवेति । पूर्वपदरहि-
 तात् कुलादपत्ये यङ्ढकजौ वा स्त इत्यर्थः । पक्षे ख इति यङ्ढकजोरभावपक्षे इत्यर्थः ।
 दुष्कुलाड्ढक् अन्यतरस्यां ग्रहणानुवृत्तेरिति भावः । पक्षे ख इति । तथा सति आदिवृद्धि-

स्त्रियामपत्ये—स्त्र्या अपत्यमे परेक्का लुक् हो । गोधायाः—गाधासं अपत्य अर्थमें ढक्
 प्रत्यय हो । क्षुद्राभ्यो—क्षुद्राओंसे अपत्य अर्थमें ढक् प्रत्यय हो, विकल्पसे । पितृष्वसु
 पितृष्वसु शब्दसे अपत्य अर्थमें छण् प्रत्यय हो । ढकि लोपः—पितृष्वसु शब्दके अन्त्यका
 लोप हो, ढक् प्रत्ययके परे । मातृष्वसुश्च—'पितृष्वसु' शब्दसे जो २ कार्य विधान किये
 गये हैं, वे सब कार्य 'मातृष्वसु' शब्दसे भी हों । कुलात्स्वः—कुलसे तथा कुलान्त शब्दसे
 भी ख प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें । अपूर्वपदा—पूर्वपदरहित कुल शब्दसे अपत्यार्थमें यत्
 और ढकन् प्रत्यय हो, विकल्पसे ।

महाकुला—महाकुल शब्दसे अञ् और खञ् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें विकल्प से ।
 दुष्कुलात्—दुष्कुल शब्दसे अपत्य अर्थमें ढक् प्रत्यय हो, विकल्पसे ।

३६ म० कौ०

दुष्कुलीनः ॥ स्वसुश्रूः । ४।१।१४३। स्वस्त्रीयः ॥ आतुर्व्यञ्च ॥ ४।१।१४४।
 चाच्छः । आतुर्व्यञ्चः, आत्रोयः । मनोजातावज्यतौ पुक् च ॥ ४।१।१६१।
 समुदायार्थो जातिः । मानुषः, मनुष्यः ॥ (तक्षणोऽण उपसंख्यानम्) ॥ षपूर्व-
 हन्धृतराज्ञामणि । ६।४।१३५। एषामपि तद्धितेऽनोऽकारलोपः ॥ ताक्ष्णः ॥
 तिकादिभ्यः फिञ् ॥ ४।१।१५४ तैकायनिः ॥ वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्
 । १।१।७३। यस्य समुदायस्याचां मध्ये आदिश्चद्विस्तद्वृद्धसंज्ञं स्यात् ॥ उदीचां
 वृद्धादगोत्रात् ॥ ४।१।१५७। आम्रगुप्तायनिः । प्राचां तु-आम्रगुप्तिः ॥ प्राचाम-
 वृद्धात्फिन्बहुलम् ॥ ४।१।१६०। ग्लुचुकायनिः ॥ जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ्
 । ४।१।१६८। जनपदक्षत्रिययोर्वाचकादञ् अपत्ये । पाञ्चालः ॥ (क्षत्रियसमान-

नेति भावः । आतुर्व्यञ्च । तंकारः 'तित्स्वरितम्' इति स्वार्थ इति बोध्यम् । मनोजातो ।
 मनुशब्दस्य अञ् यत् एतौ प्रत्ययौ स्तस्तयोः परयोः मनुशब्दस्य पुगागमश्च प्रकृतिप्र-
 त्ययसमुदायेन जातौ गम्यायामित्यर्थः । तदाह—समुदायार्थो जातिरिति । नात्रापत्यग्र-
 हणं संबध्यत इति भावः । अन्यथा मानुषा इत्यत्र 'यजजोश्च' इति लुक् स्यादिति
 बोध्यम् । तैकायनिरिति । फिञि आयञ्चादेशः । वृद्धिर्यस्य । अचामिति बहुत्वमने-
 कत्वोपलक्षणम्, तेन शालाशब्दस्यापि वृद्धत्वं सिध्यति । व्यपदेशिवत्त्वेन ज्ञाशब्द-
 स्यापि वृद्धत्वम् । उदीचां वृद्धादगोत्रात् । वृद्धसंज्ञकात् अगोत्रप्रत्ययान्तात्फिञ् स्यात्
 उदीचां मते इत्यर्थः । प्राचामवृद्धात् । अवृद्धसंज्ञकात् अपत्ये बहुलं फिन् स्यादित्यर्थः ।
 प्राचां ग्रहणं पूजार्थम् । ग्लुचुकायनिरिति । ग्लुचुकस्यापत्यमिति विग्रहः । अवृद्धात्फिञ् ?

स्वसुश्रूः—स्वसु शब्दसे छ प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें ।

आतुर्व्यञ्च—आतुश्शब्दसे व्यत् प्रत्यय हो, और चकारात् छ प्रत्यय भी हो अपत्य अर्थमें ।

मनोजाता—मनु शब्दसे अञ् प्रत्यय तथा यत् प्रत्यय हो और सन्नियोगशिष्टेन मनुको
 पुक्का आगम भी हो, समुदायसे यदि जाति वाच्य रहे । तक्ष्णोऽण्—तक्षन् शब्दसे अण् प्रत्यय
 हो, अपत्य अर्थमें । षपूर्वहन्—षकारपूर्वक अन्, हन् और धृतराजन् सम्बन्धी असंज्ञक
 अण्के अकारको लोप हो, अण्के परे । तिकादिभ्यः—तिकादिसे फिञ् प्रत्यय हो, अपत्य
 अर्थमें । वृद्धिर्यस्य—जिस 'अच्' समुदायके अर्चोंके मध्यमें आदि (अच्) की वृद्धि हो, उस
 समुदायकी वृद्धसंज्ञा हो । उदीचां—गोत्रसे भिन्न वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिकसे अपत्य अर्थमें
 फिञ् प्रत्यय हो, उदीच्य आचार्योंके मतसे । प्राचाम्—वृद्ध संज्ञकसे भिन्न प्रातिपदिकसे
 अपत्य अर्थमें बहुल प्रकारसे फिन् प्रत्यय हो, प्राचीन आचार्योंके मतसे । जनपद—जनपद
 (देश) वाचक 'जनपद' शब्दके समान जो क्षत्रियवाचक शब्द, उससे अञ् प्रत्यय हो,
 अपत्य अर्थमें । ('पञ्चाल' देशका तथा राजाका भी नाम है)

क्षत्रियसमान—क्षत्रिय—समान वाचक जो जनपद शब्द, उसके राजाके अपत्यवत्

शब्दाज्जनपदात्तस्य राजन्यप्रत्ययवत्) । पञ्चालानां राजा पाञ्चालः ॥ (पुरोरण्
वक्तव्यः) । पौरवः ॥ द्व्यञ्मगधकलिङ्गसूरमसादण् ॥ १४११७० ॥ द्व्यच् ।
आङ्गः । वाङ्गः । मागधः । (पाण्डोडर्थण्) पाण्डथः ॥ वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ज्यङ्
॥ १४११७१ ॥ वृद्धात्, -आम्बष्ठथः । इत्, -आवन्त्यः । कौसल्यः । अजादस्याप्रत्ययम्
अजाद्यः । कुरुनादिभ्यो ण्यः ॥ १४११७२ ॥ कौरव्यः । नैपथ्यः ॥ ते तद्राजाः
॥ १४११७३ ॥ अजादयस्तद्राजसंज्ञाः स्युः ॥ तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम् ।
२॥ १४१६२ ॥ बहुष्वर्थेषु तद्राजस्य लुक् तत्कृते बहुत्वे, न तु स्त्रियाम् । पञ्चाला
इत्यादि ॥ कम्बोजाल्लुक् ॥ १४११७५ ॥ तद्राजस्य कम्बोजः । कम्बोजौ । (कम्बो-
जादिभ्य इति वक्तव्यम्) । चोलः । शकः । केरलः । यवनः ॥ अणिजोर-
नार्षयोर्गुरुपोत्तमयोः ष्यङ् गोत्रे ॥ १४११७८ ॥ व्यादीनामन्त्यमुत्तमं, तस्य

राजदन्तिः । द्व्यञ्मगधकलिङ्ग । अङ्गोऽपवाद इति । 'जनपदशब्दा'दिति विहितस्याजोपवाद
इत्यर्थः । द्व्यञ्जिति । उदाह्रियते इति शेषः । अङ्ग वङ्ग सुहृ इत्येते द्व्यच् देशक्षत्रिय-
वाचिनः । अङ्गस्याप्रत्ययमिति विग्रहः । पाण्डोडर्थणिति । वाच्य इति शेषः । इह श्वेत-
गुणवाचिनो युधिष्ठिरपितृवाचिनश्च पाण्डोर्न ग्रहणम् । जनपदादित्युक्तेः, तस्य च
पाण्डुदेशाधिपतिराजत्वाभावात् । पाण्डथ इति । पाण्डोरप्रत्ययं पाण्डुदेशस्य राजा
वेत्यर्थः । वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ज्यङ् । जनपदक्षत्रियोभयवाचकाद् वृद्धसंज्ञकात् इदन्तात्
कोसलात् अजादाच्चाप्रत्यये ष्यङ् इत्यर्थः । वृद्धादिति । उदाह्रियते इत्यर्थः । आम्बष्ठथ
इति । आम्बष्ठशब्दः जनपदक्षत्रियोभयवाचकः । तस्य समीपमुपोत्तममिति ।
सामीप्येऽव्ययीभाव इति भावः । गुरु उपोत्तमम्-उत्तमसमीपवर्ति ययोरिति विग्रहः ।
प्रातिपदिकादित्यधिकृतं षष्ठीद्विवचनेन विपरिणम्यते । उपोत्तमगुरुवर्णकयोः प्रातिप-

प्रत्यय हो । पुरोरण्—पुर शब्दसे अण् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें । द्व्यञ्मगध—जनपद
और क्षत्रियवाची द्व्यच् और मगधादिसे अपत्य अर्थमें अण् प्रत्यय हो ।

पाण्डोडर्थण्—पाण्डुसे ङथण् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें । वृद्धेत्को—जनपद और
क्षत्रियवाची वृद्धादि शब्दसे ष्यङ् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें । कुरुनादिभ्यो—जनपद और
क्षत्रियवाची कुरु शब्द तथा नकारादि शब्दोंसे ण्य प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें ।

ते तद्राजा—'जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्' इत्यादि सूत्रोंसे विहित अणादि प्रत्ययकी तद्राज
संज्ञा हो । तद्राजस्य—बहुत्व अर्थमें तद्राजसंज्ञक प्रत्ययका स्त्रीलिङ्गसे भिन्नमें लुक् हो, यदि
तद्राज प्रत्ययार्थ कृत बहुत्व रहे । कम्बोजा—कम्बोजसे पर तद्राजसंज्ञक प्रत्ययका लुक् हो ।

कम्बोजादिभ्यः—पूर्वोक्त सूत्रमें कम्बोजादिसे पर तद्राजसंज्ञक प्रत्ययका लुक् हो—ऐसा
कहना चाहिये । अणिजो—गोत्र में विहित जो अनार्ष अण् और इञ्, तदन्त जो गुरुपोत्तम

समीपमुपोत्तमम् । गोत्रे यावणिजौ विहितावनाषौ तदन्तयोर्गुरुपोत्तमयोः प्रातिप-
दिकयोः स्त्रियां ष्यङादेशः । 'यङश्चाप्' कुमुदगन्धेर्गोत्रापत्यं स्त्री-कौमुदगन्ध्या ।
वाराह्या । अनार्षयोः किम् ? वासिष्ठी । गुरुपोत्तमयोः किम् ? औपगवी । गोत्रे
किम् ? अहिच्छत्रे जाता-आहिच्छत्री ॥ इत्यपत्याधिकारप्रकरणम् ।

अथ.रक्तावर्थकप्रकरणम्

तेन रक्तं रांगात् । ४।२।१। कषायेण रक्तं वस्त्रं-कापायम् । माजिष्ठम् । रागा-
त्किम् ? देवदत्तेन रक्तं वस्त्रम् ॥ लाक्षारोचनाट्ठक् । ४।२।२। लाक्षिकः । रौच-
दिकयोरिति लभ्यते । 'अणिजोः' इत्यनेन प्रत्ययग्रहणपरिभाषया अणिजन्तयोर्ग्रह-
णम् । गोत्रे इत्येतत् अणिजोरन्वेति । ऋषेरविहितौ अनापौ । इदमपि अणिजोर्विशेष-
णम् । स्त्रियामित्यधिकृतम् । तदाह—गोत्रे यावणिजावित्यादिना । आदेश इति ।
स्थानषष्ठीनिर्देशादादेशत्वलाभः । कुमुदगन्धेरिति । कुमुदगन्ध इव गन्धो यस्येति
विग्रहः । 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रीहिर्वाच्यः उत्तरपदलोपश्च' इति बहुव्रीहिः,
पूर्वखण्डे उत्तरपदस्य गन्धशब्दस्य लोपश्च । 'उपमानाच्च' इति इत्वम् । कुमुदग-
न्धेरपत्यं स्त्रीति विग्रहे अण् 'यस्येति च' इति इकारलोपः । आदिवृद्धिः, कौमुद-
गन्धशब्दः, तत्र धकारादणोऽकार उत्तमः, तत्समीपवर्ती गुरुः गकारादकारः, 'संयोगे
गुरु' इत्युक्तेः । एवं च गुरुपोत्तमं प्रातिपदिकं कौमुदगन्धेत्यणन्तं, तदवयवस्य अणः
ष्यङादेशो 'यङश्चाप्' इति चापि कौमुदगन्ध्याशब्द इत्यर्थः । इजन्तस्योदाहरति—
वाराहोति । वराहस्यापत्यं स्त्रीति विग्रहः, अत इज् । अकारलोपः । वाराहिशब्दः । तत्र
इकार उत्तमः । रेफादाकार उत्तमसमीपवर्ती गुरुः । इजः इकारस्य ष्यङादेशे चाविति
भावः । वासिष्ठीति । ऋष्यणन्ताः । औपगवीति । अणन्तत्वेऽपि गुरुपोत्तमत्वाभावाच्च
ष्यङ् । आहिच्छत्रोति । जातार्थे अणयं, न तु गोत्र इति न ष्यङ् ।

इत्यपत्याधिकारः ॥

लाक्षारोचनाट्ठक् । अणोऽपवादः । लाक्षिक इति । पठ इति शेषः । लाक्ष्या रक्त
इति विग्रहः । रौचनिक इति । रोचनया रक्त इति विग्रहः । शाकलिक इति । शकलं
प्रातिपदिक उसको ष्यङ् आदेश हो, स्त्रीलिङ्गमे ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें अपत्याधिकार समाप्त हुआ ।

तेन रक्तं—राग (रङ्ग) वाचक तृतीयान्तसे अण् प्रत्यय हो, 'रक्त' अर्थमें ।

लाक्षारोचना—रागवाचक तृतीयान्त लाक्षा और रोचना शब्दसे ठक् प्रत्यय हो,

निकः ॥ (शकलकर्दमाभ्यामुपसंख्यानम्) । शकलिकः । कर्दमिकः ॥
 (नील्या अन्) । नील्या रक्तं नीलम् ॥ (पीतात्कन्) पीतकम् ॥
 (हरिद्रामहारजनाभ्यामञ्) । हरिद्रम् । माहारजनम् ॥ नक्षत्रेण युक्तः
 कालः । १४।२।३। (तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राणि यलोप इति वाच्यम्) । पुष्येण
 युक्तं-पौषमहः ॥ लुवविशेषे १४।२।४। पूर्वेण विहितस्य लुप् षष्ठिदण्डात्मकस्य
 कालस्यावान्तरविशेषश्चेन्न गम्यते । अथ पुष्यः ॥ दृष्टं साम १४।२।७। तेनेत्येव ।
 वसिष्ठेन दृष्टं-वासिष्ठं साम । वामदेवाङ् डथ्यङ् डथ्यौ १४।२।९। वामदेवेन दृष्टं साम-

रागद्रव्यविशेषः । शकलिक इति । शकलेन रक्तः इति विग्रहः । कर्दमिक इति ।
 कर्दमेन रक्त इति विग्रहः । नील्या अनिति । वक्तव्य इति शेषः । अणोऽपवादः ।
 नीली ओषधिविशेषः । पीतात्कनिति । अणोऽपवादः । पीतं हरितालकादिद्रव्यम् ।
 हरिद्रामेति । अणोऽपवादः । स्वरे विशेषः । हरिद्रा प्रसिद्धा, महारजनं नाम रागद्र-
 व्यविशेषः । पौषमहः । पुष्येण युक्तं पौषम् इत्यत्र 'नक्षत्रेण युक्तः कालः'
 इत्यणि, सुपो लुकि, 'पुष्य अ' इति जाते, 'यचि भम्' इति भत्वे 'यस्येति च'
 इति अकारलोपे, 'तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राणि यलोप इति वाच्यम्' इति वार्ति-
 केन यलोपे, संयोगे, आद्यचो वृद्धौ, विभक्तिकार्ये च तस्मिन् । अथ पुष्य-
 इति । अद्येत्यव्ययम्, अहोरात्रवाचि अधिकरणशक्तिप्रधानम् । इह तु अधि-
 करणशक्तिविनिर्मुक्तः अहोरात्रः कालो विवक्षितः । तथा च अयमहोरात्रः पुष्ययुक्तच-
 न्द्रमसा युक्त इत्यर्थः । अहर्वा रात्रिर्वेति विशेषानवगमादणो लुप् । वामदेवाङ् डथ्यङ् डथ्यौ ।
 तृतीयान्तात् वामदेवशब्दात् दृष्टमित्यर्थे डथत्, डथ एतौ प्रत्ययौ स्यातां दृष्टंसामचेदि-
 त्यर्थः । वामदेवम् । वामदेवशब्दात् प्रकृतसूत्रेण डथत् डतयोलोपः, डित्वाट्टिलोपः ।

'रक्त' अर्थमें । शकलकर्द—शकल और कर्दम शब्दसे ठक् प्रत्यय हो, रक्त अर्थमें ।

नील्या अन्—तृतीयान्त 'नीली' शब्दसे अन् प्रत्यय हो, रक्त अर्थमें ।

पीतात्कन्—पीत शब्दसे कन् प्रत्यय हो, रक्त अर्थमें । हरिद्रा—हरिद्रा और महा-
 रजन शब्दसे अञ् प्रत्यय हो, रक्त अर्थमें । नक्षत्रेण युक्तः—नक्षत्रविशेषयुक्त चन्द्रवाचक
 तृतीयान्त पुष्यादि शब्दोंसे युक्त अर्थमें यथाविहित अणादि प्राग्दीव्यतीय प्रत्यय हों, जो
 युक्त हो वह यदि काल रहे तो । तिष्यपुष्य—तिष्य और पुष्यके यकारका लोप हो, नक्षत्र
 संबंधी अण्के परे । लुवविशेषे—'नक्षत्रेण युक्तः कालः' इससे विहित प्रत्ययका लुप् हो,
 यदि षष्ठिदण्डात्मक (२४ घंटा) कालका कोई अवान्तर (काल) विशेष गम्यमान नहीं
 होता रहे । दृष्टं साम—तृतीयान्तसे दृष्ट अर्थमें अणादि प्राग्दीव्यतीय प्रत्यय हो, जो दृष्ट
 है वह यदि साम रहे तो ।

वामदेवा—वामदेव शब्दसे डथ और डथ प्रत्यय हो, दृष्ट साम अर्थ में ।

वामदेव्यम् । परिवृतो रथः । ४।२।१०। वन्नैः परिवृतः—वान्नो रथः ॥ तत्रोद्धृत-
तममन्त्रेभ्यः । ४।२।११। शरावे उद्धृतः—शाराव ओदनः ॥ संस्कृतं भक्षाः ।
४।२।१६। सप्तम्यन्तादण् स्यात्संस्कृतेऽर्थे यत्संस्कृतं भक्षाश्चेत्ते स्युः । भ्राष्ट्रे सं-
स्कृताः—भ्राष्ट्रा यवाः ॥ शूलोखाद्यत् । ४।२।१७। अणोऽपवादः । शूले संस्कृतं—
शूल्यं मांसम् । उख्यम् ॥ दध्नष्टक् ४।२।१८। दध्नि संस्कृतं—दाधिकम् ॥ साऽ-
स्मिन्पौर्णमासीति । ४।२।२१। 'इति'शब्दात् 'संज्ञायाम्' इति लभ्यते । पौषी
पौर्णमासी अस्मिन्-पौषो मासः ॥ साऽस्य देवता । ४।२।२२। इन्द्रो देवताऽस्येति—
ऐन्द्रं हविः । पाशुपतम् । बार्हस्पत्यम् । त्यज्यमानद्रव्ये उद्देश्यविशेषो देवता, मन्त्रस्तु-
त्या च । ऐन्द्रो मन्त्रः ॥ कस्येत् । ४।२।२५। कशब्दस्य इदादेशः स्यात्प्रत्ययसंनि-
योगेन । यस्येति लोपात्परत्वादादिवृद्धिः । को ब्रह्मा देवताऽस्य-कायं हविः । श्रीदेवताऽस्य-
श्रायम् ॥ शुक्राद्धन् । ४।२।२६। शुक्रियम् ॥ सोमादृचण् । ४।२।३०। सौम्यम् ॥

शूलोखाद्यत् । समाहारद्वन्द्वत्पञ्चमी । तत्रेति संस्कृतं भक्षा इति चानुवर्तते । सप्तम्यन्ता-
च्छूलशब्दादुखाशब्दाच्च 'संस्कृतं भक्षाः' इत्यर्थे यत् स्यादित्यर्थः । दध्नष्टक् । सप्तम्य-
न्तादधिशब्दात् 'संस्कृतं भक्षाः' इत्यर्थे ठक् स्यादित्यर्थः । अणोऽपवादः । दाधिकमिति ।
ठक् इकादेशे 'यस्येति च' इति इकारलोपः । इह दध्नि अधिकरणे संस्कारो लवणा-
दिना भवति । साऽस्मिन्पौर्णमासीत । तत्र इति संस्कृतं भक्षाः इति च निवृत्तम् ।
सा पौर्णमासी अस्मिन्नित्यर्थे प्रथमान्तात्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । इति शब्दादिति । एतच्च
भाष्ये स्थितम् । पौषीति । पुष्येण युक्ता पौषी पौर्णमासी, सा यस्मिन् मासे स पौषो
मासः । पौषीशब्दादणि 'यस्येति च' इति ईकारलोपः । एवं मघाभिर्युक्ता
पौर्णमासी माघी यस्मिन् स माघो मासः । तथा फाल्गुन इत्यादि ।
कस्येत् । 'साऽस्य देवता' इति विहिते कशब्दादण् प्रत्यये परे तत्सन्नियोगेन प्रकृतेरि-

परिवृतो—तृतीयान्तसे परिवृत अर्थमें प्राग्दीव्यतीय अणादि प्रत्यय हो, जो परिवृत है वह यदि
रथ रहे तो । तत्रोद्धृत—पात्रवाची सप्तम्यन्तसे यथाविहित अणादि प्रत्यय हो उद्धृत अर्थमें ।
संस्कृतं भक्षा—सप्तम्यन्तसे अण् प्रत्यय हो, संस्कृत अर्थमें, जो संस्कृत हो वह यदि 'भक्ष'
रहे तो । शूलोखाद्यत्—सप्तम्यन्त शूलादि शब्दोंसे यत् प्रत्यय हो, संस्कृत अर्थमें, जो संस्कृत
हो वह यदि भक्ष रहे तो । दध्नष्टक्—सप्तम्यन्त दधि शब्दसे ठक् प्रत्यय हो, 'संस्कृतं भक्षाः'
इस अर्थमें । सास्मिन्—'अस्मिन्' अर्थात् सप्तम्यर्थमें पौर्णमासीवाचक प्रथमान्तसे अणादि
प्रत्यय हो, संज्ञामें । सास्य देवता—'अस्य' षष्ठ्यर्थमें देवतावाचक प्रथमान्तसे अणादि
प्रत्यय हो । कस्येत्—'क' शब्दको इकारादेश हो, प्रत्ययके सन्नियोगमें । शुक्राद्धन्—'अस्य'
अर्थमें देवतावाचक प्रथमान्त शुक शब्दसे घन् प्रत्यय हो । सोमादृचण्—'अस्य' अर्थमें

वाय्वृत्तुपिबुधसो यत् । ४।२।३१। वायव्यम् । ऋतव्यम् ॥ रीड् ऋतः ।
 ७।४।२७ अकृद्यकारेऽसार्वाधातुक्यकारे च्चौ च परे ऋदन्ताङ्गस्य रीडादेशः ।
 'यस्येति च' । पित्र्यम् । उषस्यम् ॥ द्यावापृथिवीशुनासीरमरुत्वदग्नीषोम-
 वास्तोष्पतिगृहमेधाच्छ च । ४।२।३२। चायत् । द्यावापृथिवीयम्, द्यावापृथि-
 व्यम् । शुनासीरीयम्, शुनासीर्यम् ॥ अग्नेर्ढक् । ४।२।३३। अग्नेर्ढक् स्यात्
 साऽस्यदेवतेत्यर्थः । आग्नेयम् । महाराजप्रोष्ठपदाट्ठञ् । ४।२।३५। माहा-
 राजिकम् । प्रौष्ठपदिकम् ॥ देवताद्वन्द्वे च । ७।३।२१। अत्र पूर्वोत्तरपदयोरायचो
 वृद्धिर्भिति णिति किति च । आग्निमारुतम् ॥ नेन्द्रस्य परस्य । ७।३।२२। सौमेन्द्रः ।

कारोऽन्तादेश इत्यर्थः । तथा च कशब्दादणि प्रकृतेरिकारे अन्तादेशे वृद्धौ आयादेशो
 कायमिति सिद्धम् । द्यावापृथिवी । द्यावापृथिवी, शुनासीर, मरुत्वत्, अग्नीषोम, वा-
 स्तोष्पति, गृहमेध, पृतेभ्यः ह्यो यच्च स्यादित्यर्थः । अणः पत्युत्तरपदण्यस्य चापवादः ।
 द्यावापृथिवीयम् । द्यावापृथिवी देवता अस्येति विग्रहः । शुनासीरीयमिति ।
 शुनो-वायुः, सीरः-आदित्यः, शुनश्च सीरश्च शुनासीरौ । 'देवताद्वन्द्वे च' इत्या-
 नङ् । शुनासीरावस्य स्त इति शुनासीरः । शुनासीरो देवता अस्येति विग्रहः ।
 महाराजप्रोष्ठपदाट्ठञ् । माहाराजिकमिति । महाराजो वैश्रवणः, सः देवता अस्येति
 विग्रहः । प्रौष्ठपदिकमिति । प्रोष्ठपदो देवता अस्येति विग्रहः । देवताद्वन्द्वे च । 'मृजे-
 वृद्धिः' इत्यतो वृद्धिरित्यनुवर्तते । 'अचो ङिति' इत्यतः । 'ङितितीति' 'किति च'
 इति सूत्रं चानुवर्तते । 'तद्धितेष्वचामादेः' इत्यतः अचामादेरिति 'ह्रस्वगसिन्ध्वन्ते
 पूर्वपदस्येति' 'उत्तरपदस्य च' इति सूत्रं चानुवर्तते । तदाह—अत्रेत्यादिना । आग्नि-
 मारुतमिति । अग्निश्च मरुच्च अग्नामारुतौ 'देवताद्वन्द्वे च' इत्यानङ् । अग्नामारुतौ
 देवता अस्य आग्निमारुतम् । अग्नि अनेन उभयपदादिवृद्धिः । अलौकिके विग्रहवाक्ये
 एवम् आनङ् वाधित्वा 'इद्वृद्धौ' इति इत्त्वम् । नेन्द्रस्य परस्येति । 'देवताद्वन्द्वे च'
 इत्युक्ता उभयपदवृद्धिः, उत्तरपदस्य इन्द्रशब्दस्य नेत्यर्थः । सौमेन्द्र इति चरुरिति

देवतावाचक सोम शब्दसे ङयण् प्रत्यय हो । वाय्वृत्तु—'अस्य' अर्थमें देवतावाचक प्रथमान्त
 वायु आदि शब्दसे यत् प्रत्यय हो । रीडृत्तः—ऋदन्त अङ्गको रीड् आदेश हो, कृद्भिन्न
 यकार और असार्वाधातुक यकारके परे तथा च्वि प्रत्ययके परे । द्यावापृथि—'अस्य' अर्थमें
 देवतावाचक प्रथमान्त द्यावापृथिवी आदि शब्दसे 'छ' और 'यत्' प्रत्यय हो । अग्नेर्ढक्—
 'अस्य' अर्थमें देवतावाचक प्रथमान्त अग्नि शब्दसे ढक् प्रत्यय हो । महाराज—'अस्य'
 अर्थमें देवतावाचक प्रथमान्त महाराज और प्रोष्ठपद शब्दसे ठञ् प्रत्यय हो । देवता—
 देवता और इन्द्र अर्थमें पूर्वपद तथा उत्तर पदके आदि अच्को वृद्धि हो, ङित, णित और
 कितके परे । नेन्द्रस्य—परपदस्थ इन्द्र शब्दको वृद्धि नहीं हो ।

परस्य किम्? ऐन्द्राग्नः ॥ दीर्घाच्च वरुणस्य ॥ ७।३।२३। न वृद्धिः । ऐन्द्रावरुणम् । दीर्घात्किम्? आग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत ॥ पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः ॥ ४।२।३६। एते निपात्यन्ते । पितुर्भ्राता-पितृव्यः । मातुर्भ्राता-मातुलः । मातुः पिता मातामहः । पितुः पिता-पितामहः । तस्य समूहः ४।२।३७। काकानां समूहः-काकम् । वकानां समूहः-वाकम् । भिक्षादिभ्योऽण् ॥ ४।२।३८। भैक्षम् । गर्भिणीनां समूहो गर्भिणम् । इह भस्याडे इति पुंवद्भावे कृते ॥ इनण्यनपत्ये ॥ ६।४।१६४। अनपत्यार्थेऽणि इन् प्रकृत्या । तेन नस्तद्धिते इति टिलोपो न । युवतीनां समूहः-यौवनम् ॥ गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्रराजराजन्यराजपुत्रवत्समनुष्याजाम्बुज् ॥ ४।२।३९। ग्लुचुकायनीनां समूहः-ग्लौचुकायनकम् । औक्षकमित्यादि । 'आपत्यस्य चे'ति यलोपे प्राप्ते (प्रकृत्याऽके राजन्यमनुष्ययुवानः) । राजन्यकम् । मानुष्यकम् । (वृद्धाच्चेति वक्तव्यम्) । वार्धकम् ॥ केदाराद्यञ्च ।

शेषः । तैत्तिरीये—'सौमेन्द्रं श्यामाकं चरुम्' इति छान्दसम् । दीर्घाच्च वरुणस्य । ऐन्द्रावरुणमिति । इन्द्रवरुणौ देवता अस्येति विग्रहे द्वन्द्वः । आनड् । इन्द्रावरुणशब्दादणि-दीर्घाकारात्परत्वात् वरुणस्य नादिवृद्धिः । आग्निवारुणमिति । 'इद्वृद्धौ' इत्यग्नेरानडं बाधित्वा इत्वे कृते दीर्घात्परत्वाभावाग्निपेधाभावे सति 'देवताद्वन्द्वे च' इत्युभयपदवृद्धिरिति भावः । गर्भिणम् । गर्भिणीनां समूहः । 'गर्भिणम्' इत्यत्र 'स्त्रीभ्यो ढक्' इति ढकि प्राप्ते तं प्रवाच्य 'भिक्षादिभ्योऽण्' इत्यणि सुपो लुकि, भत्वे, भत्वात् 'भस्याडे तद्धिते' इति पुंवद्भावे कृते 'गर्भिण् अ' इति जाते 'नस्तद्धिते' इति नान्तटिलोपे प्राप्ते 'इनण्यनपत्ये' इत्यणि इनः प्रकृतिभावे वृद्धौ विभक्तिकार्ये च कृते तस्सिद्धिः । गोत्रोक्षोष्ट्रौ । गोत्र, उक्चन्, उष्ट्र, उरभ्र, राजन्, राजन्य, राजपुत्र, वत्स, मनुष्य, अज एतेभ्यः इत्यर्थः । प्रकृत्याऽके राजन्यमनुष्ययुवान इति । अके परे राजन्य, मनुष्य, युवन् एते प्रकृत्या स्युरिति वक्तव्यमित्यर्थः । केदाराद्यञ्च ।

दीर्घाच्च—दीर्घसे पर वरुण शब्दको दीर्घ नहीं हो । पितृव्य—पितृव्य, मातुल, मातामह और पितामह शब्द निपातन हो ।

तस्य समूहः—समूह अर्थमें यथाविहित प्राग्दीन्यतीय अणादि प्रत्यय हों । भिक्षादिभ्यो—भिक्षादिसे समूह अर्थमें अण् प्रत्यय हो । इनण्यनपत्ये—अनपत्यार्थक अण् प्रत्ययके परे 'इन्' प्रकृतिवत् रहे । गोत्रोक्षो—गोत्र प्रत्ययान्त और उक्ष आदिसे समूह अर्थमें बुज् प्रत्यय हो ।

प्रकृत्या—(वुज्स्थानिक) 'अक' के परे राजन्यादि प्रकृतिवत् रहें ।

वृद्धाच्च—वृद्ध शब्दसे समूह अर्थमें वुज् प्रत्यय हो । केदारा—केदार शब्दसे

।४।२।४०। चाद् बुञ् । कैदार्यम्, कैदारकम् । (गणिकाया यजिति वक्तव्यम्) ।
गाणिक्यम् ॥ ठञ् कवचिनश्च ।४।२।४१। चात्केदारादपि । कवचिनां समूहः
कावचिकम् । कैदारिकम् ॥ ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल् ।४।२।४२। ग्रामता । जनता ।
बन्धुता । तलन्तं ब्रियाम् ॥ (गजसहाय्याभ्यां चेति वक्तव्यम्) । गजता ।
सहायता ॥ (अहः खः क्रतौ) । अहीनः क्रनुरित्यर्थः ॥ अचित्तहस्तिधेनो-
ष्ठक् ।४।२।४३। इसुसुक्तान्तात्कः । ७।३।५१। इस् उस् उक् त एतदन्तात्परस्य
उस्य कः । साक्तुकम् । हास्तिकम् । धैनुकम् ॥ केशाश्वाभ्यां यञ्छावन्यतर-
स्याम् ।४।२।४८। पत्ते ठगणौ । कैश्यम्, कैशिकम् । अश्वीयम्, आश्वम् ।
पाशादिभ्यो यः ।४।२।४९। पाश्या । तृण्या । धूम्या । वन्या । वात्या ॥ खल्लगो-

कैदार्यम्-कैदारकमिति । केदाराणां समूह इति विग्रहः । गणिकाया यञ् । यञ् ग्रह-
णात् बुजो निवृत्तिः । गाणिक्यमिति । गणिकानां समूहः इति विग्रहः । ठञ् कवचि-
नश्च । केदारादपीति । कवचिन्शब्दात् केदारशब्दाच्च समूहे ठञ् स्यादित्यर्थः ।
कावचिकमिति । ठञ् इकादेशः टिलोपः । अहीनः । अहः समूहः 'अहीनः' इत्यत्र
'अहः खः क्रतौ' इति खे, सुपो लुकि, 'अहन् ख' इति जाते 'आयनेयीनीयियः
फढखछघां प्रत्ययादीनाम्' इति खस्य ईनादेशे 'अहन् ईन् अ' इति जाते भत्वे,
'नस्तद्धिते' इति टिलोपे, संयोगे विभक्तिकार्ये च कृते 'अहीनः' इति रूपम् ।
केशाश्वाभ्याम् । समूह इत्येव । केशाद्यञ् वा अश्वाच्छो वेत्यर्थः । पक्षे इति । केशा-
द्यजभावे 'अचित्त' इति ठक् । अश्वात् छाभावे अणित्यर्थः । कैश्यम्, कैशिकमिति ।
केशानां समूह इति विग्रहः । क्रमेण यण्ठकौ । अश्वीयम्, आश्वमिति । क्रमेण
छाणौ । पाशादिभ्यो यः । समूह इत्येव । पाशेत्यादि । पाशानां तृणानां धूमानां

यञ् प्रत्यय और चकारात् बुञ् प्रत्यय भां हो । गणिकाया—गणिका शब्दसे समूह अर्थमें
यञ् प्रत्यय हो । ठञ्—कवचिन् शब्द और केदार शब्दसे समूह अर्थमें ठञ् प्रत्यय हो ।
ग्रामजन—ग्राम, जन और बन्धु शब्दसे समूह अर्थमें तल प्रत्यय हो ।

तलन्त—तलन्तशब्द स्त्रीलिङ्गमें हो ।

गजसहाया—गज और सहाय शब्दसे भी समूह अर्थ में तल प्रत्यय हो—ऐसा कहना
चाहिये । अहः खः—क्रतु अर्थ में अहन् शब्दसे ख प्रत्यय हो । अचित्त—अचित्त (अप्राणी)
वाचक शब्द, हस्ति शब्द और धेनु शब्दसे ठक् प्रत्यय हो, समूहार्थमें । इसुसु—इसन्त,
उसन्त, उगन्त और तान्तसे पर 'ठ' को 'क' आदेश हो । केशाश्वा—समूह अर्थमें केश
शब्दसे 'यञ्' और अश्व शब्दसे 'छ' प्रत्यय हो, विकल्पसे । विकल्प पक्षमें क्रमसे ठक् और
अण् भी हो । पाशादिभ्यो—पाशादिसे 'य' प्रत्यय हो, समूह अर्थमें । खल्लगो—खल, गो

रथात् । ४।२।५०। खत्या । गव्या । रथ्या ॥ इनित्रकटथचश्च । ४।२।५१। खला-
दिभ्यः क्रमात्स्युः । खलिनी । गोत्रा । रथकटथा ॥ (खलादिभ्य इनिर्वक्तव्यः) ।
डाकिनी । कुडुम्बिनी । आकृतिगणोऽयम् ॥ तदस्यां प्रहरणमिति क्रीडायां णः
। ४।२।५७। दण्डः प्रहरणमस्यां क्रीडायां-दाण्डा । मौष्टा ॥ घञः साऽस्यां क्रियेति
ञः । ४।२।५७। घञन्तात् क्रियावाचिनः प्रथमान्तादस्यामित्यर्थे स्त्रीलिङ्गे अप्रत्ययः ॥
श्येनतिलस्य पाते जे । ६।३।७१। अनयोर्मुम् स्यात् अप्रत्यये परे पातशब्दे उत्तर-
पदे । श्येनपाता मृगया । तैलपाता स्वधा । श्येनतिलस्य किम् ? दण्डपातोऽस्यां

वनानां वातानां च समूह इति विग्रहः । स्त्रीत्वम् लोकात् । नलगोरथात् । समूह
इत्येव । खल, गो, रथ एभ्यो यः स्यादित्यर्थः । खत्या गव्या रथ्येति । खलानां गवां रथानां
समूह इति विग्रहः । यद्यपि पाशादिष्वेव एषां पाठो युक्तस्तथापि उत्तरसूत्रे
एषामेवानुवृत्त्यर्थं पृथक् पाठः । इनित्रकटथचश्च । स्युरिति । इनि त्र कटथच् एते स्यु-
रित्यर्थः । खलिनीति । खलानां समूह इति विग्रहः । इनिप्रत्यये नकारादिकार
उच्चारणार्थः । स्त्रीत्वं लोकात् । नान्तत्वान्डीप् । गोत्रेति । गवां समूह इति विग्रहः ।
गोशब्दात् त्रः । स्त्रीत्वं लोकात्, टाप् । रथकटथेति । रथानां समूह इति विग्रहः ।
कट्यचि ककारस्य नेचम्, अतद्धित इत्युक्तः । स्त्रीत्वाद्वाप् । खलादिभ्य इनिर्वक्तव्य
इति । 'इनित्रकटथचश्च' इति सूत्रे इनिग्रहणमकृत्वा 'गोरथात्त्रकट्यचौ' इत्येवं सूत्रं कृत्वा
खलादिभ्य इनिः इति पृथक्कर्तव्यमित्यर्थः । तदस्याम् । तद् अस्यां क्रीडायां प्रहरण-
मित्यर्थे प्रथमान्तात् प्रहरणवाचकात् णप्रत्ययः स्यात् इत्यर्थः । प्रहियते अनेन इति
प्रहरणआयुधम् । दाण्डेति । अणितु ङीप् स्यादिति । मौष्टेति । मुष्टिः प्रहरणमस्यां क्रीडाया-
मिति विग्रहः । घञः सास्यां । अस्यामित्यनन्तरं मृगयायामित्यादि स्त्रीलिङ्गं विशेष्य-
मध्याहार्यम् । सा क्रिया अस्यां मृगयादिक्रियायामित्यर्थे घञन्तप्रकृतिकप्रथमा-
न्तात्क्रियावाचिनो जः स्यादित्यर्थः । फलितमाह-घञन्तादित्यादिना । तत्प्रयोजनमनु-
पदमेव वचयते । श्येनतिलस्यपाते जे । मुम्स्यादिति । 'अरुद्धिषत्' इत्यतः तदनुवृत्ते-
रिति भावः । अप्रत्यये इति । अप्रत्यये परे यः पातशब्दः तस्मिन्नित्यर्थः ।

और रथ शब्दोंसे 'य' प्रत्यय हो, समूह अर्थमें । इनित्र—खल शब्दसे इनि, गो शब्दसे त्र
और रथ शब्दसे कटथच् प्रत्यय हो, समूह अर्थमें । खलादिभ्यः—खलादि (खल-गो-
रथ) से इनि प्रत्यय हो, ऐसा कहना चाहिये ।

तदस्यां—प्रहरणवाचक प्रथमान्तसे 'ण' प्रत्यय हो, 'तस्यां प्रहरणम्' इस अर्थमें,
जो प्रथमान्त है, वह यदि क्रीडा रहे तो । घञः—क्रियावाचक प्रथमान्त घञन्तसे स्त्रीलिङ्गमें
'ज' प्रत्यय हो, 'अस्याम्' इस अर्थमें । श्येन—श्येन शब्द और तिल शब्दसे मुम्का

तिथौ वर्तते-दाण्डपाता तिथिः । तदधीते तद्वेद । ४।२।५६। न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच् । ७।३।३। पदान्ताभ्यां यकारवकाराभ्यां परस्याचो न वृद्धिः, किंतु ताभ्यां पूर्वौ क्रमादेचावागमौ स्तः । व्याकरणमधीते वेत्ति वा-वैयाकरणः ॥ क्रमादिभ्यो वुन् । ४।२।६१। क्रमकः । पदकः । शिक्षकः । मीमांसकः ॥ क्रतूकथादिसूत्रान्ताट्ठक् । ४।२।६०। क्रतुविशेषवाचिनामेवेह ग्रहणम् । तेभ्यो मुख्यार्थेभ्यो वेदितरि, तत्प्रतिपादकग्रन्थवरेभ्यस्त्वध्येतरि । अग्निष्टोमिकः । वाजपेयिकः । उक्थं सामविशेषः, तल्लक्षणपरो ग्रन्थविशेषो लक्षणयोक्यम्, तदधीते वेद वा-औक्थिकः ॥ (मुख्यार्थात्तूकथशब्दादुगणौ नेष्येते) । नैयायिकः । वार्तिकः ।

श्येनपातेति । पतनं पातः । भावे घञ् । श्येनपातशब्दात् घञन्तात् । जः । यद्यपि पातशब्द एव घञन्तः तथापि कृद्ग्रहणपरिभाषया श्येनपातशब्दस्यापि ग्रहणं बोध्यम् । श्येनस्य पात इति कृद्योगपष्ठ्या समासः । तथा च श्येनपातशब्दस्यादिवृद्धिः । तैलम्पाता न्वधति । स्वधाशब्दः स्त्रीलिङ्गः पित्र्यक्रियायां वर्तते, 'नमः स्वधायै' इत्यादि दर्शनात् । स्वधेत्यनेन क्रीडायामिति नानुवर्तते इति सूचितम्, तदस्यामिति प्रकृते पुनरस्यामिति ग्रहणात् । क्रतूकथादि । 'तदधीते तद्वेद' इत्यर्थयोः क्रतु-उक्थादि सूत्रान्त एभ्यः ठक् स्यादित्यर्थः । क्रतुविशेषवाचिनामेवेति । न तु क्रतुशब्दस्यैवेत्यर्थः । अन्यथा उक्थादिगण एव क्रतुशब्दमपि पठेदिति भावः । ननु क्रतुविशेषाणां कथमध्ययनम्, अक्षरग्रहणात्मकत्वाभावात्, इत्यत आह-तेभ्य इति । अग्निष्टोमादिशब्दाः क्रतुविशेषेषु मुख्याः । तत्प्रतिपादकग्रन्थेषु तु गौणाः । तत्र क्रतुविशेषात्मकमुख्यार्थकेभ्यः अग्निष्टोमादिशब्देभ्यः वेदितरि । प्रत्ययाः । अग्निष्टोमादि-क्रतुप्रतिपादकग्रन्थेषु लक्षणया विद्यमानेभ्यस्तु तेभ्यः अध्येतरीत्यर्थः । अग्निष्टोमिक इति । अग्निष्टोमं क्रतुं वेत्ति तत्प्रतिपादकग्रन्थमधीते इति वार्थः । उक्थशब्दः सामसु मुख्यः । सामलक्षणग्रन्थे प्रातिशाख्ये तु गौणः । तत्र गौणार्थकादेव उक्थशब्दात् ठगित्याह-उक्थं सामविशेष इति । अग्निष्टोमस्तोत्रात्परं यस्साम गीयते इति वृत्तिकृद्वृत्तेरिति भावः । मुख्यार्थादिनि । सामवाचिनः उक्थशब्दात्तु न ठक् तस्मिन्निषिद्धे 'तदधीते' इत्यण् च न भवतीत्यर्थः । ठकमुदाहरति-नैयायिक इति ।

आगम हा 'ज' प्रत्ययकं परे और 'पात' शब्द उत्तर पदके परे । तदधीते-द्वितीयान्तसे 'अधीते' और 'वेद' अर्थमें अणादि प्रत्यय हो । न य्वाभ्यां-पदान्त यकार, वकारसे पर 'अच्' को वृद्धि नहीं हो, किन्तु यकारसे पूर्व 'ये' और वकारसे पूर्व 'औ' का आगम हो । क्रमादिभ्यो-क्रमादिसे 'वुन्' प्रत्यय हो, अधीते और वेद अर्थमें । क्रतूकथादि-क्रतुविशेषवाची शब्दोंसे वेदिता अर्थमें और क्रतु प्रतिपादक ग्रन्थ वाची शब्दों से अध्येता अर्थमें ठक् प्रत्यय हो । मुख्यार्थां-मुख्यार्थ (सामविशेष) वाची उक्थ शब्दसे ठक् और अण् प्रत्यय

लौकायतिकः ॥ (सूत्रान्तात्त्वकल्पादेरेवेत्यते) । सांग्रहसूत्रिकः । अकल्पादेः किम् ? काल्पसूत्रः ॥ (विद्यालक्षणकल्पान्ताच्चेति वक्तव्यम्) । वायसविकः । गौलक्षिकः । पाराशरकल्पिकः ॥ (अङ्गक्षत्रधर्मत्रिपूर्वाद्विद्यान्तान्नेति वक्तव्यम्) । आङ्गविद्यः । क्षात्रविद्यः । धर्मविद्यः । त्रिविधा विद्या त्रिविद्या, तामधीते वेद वा-त्रैविद्यः ॥ रक्तार्थकप्रकरणम् ।

अथ चातुरर्थिकप्रकरणम्

तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि ।४।२।६७। उदुम्बराः सन्त्यस्मि-
न्देशे-औदुम्बरो देशः ॥ तेन निर्वृत्तम् ।४।२।६८। कुशाम्ब्रेन निर्वृत्ता-

ठकि ऐजागमः । न्यायमधीते वेद वेत्यर्थः । वार्तिकः । वृत्तिमधीते वेद वेत्यर्थे ठकि आदिवृद्धौ रपरस्वम् । सांग्रहसूत्रिक इति । संग्रहाख्यं सूत्रमधीते वेत्ति वेत्यर्थः । विद्यालक्षणेति । विद्या लक्षण कल्प एतदन्तादपि उक्तेऽर्थे ठगित्यर्थः । अङ्गेति । अङ्ग, क्षत्र, धर्म, त्रि एतत्पूर्वकाद्विद्यान्तात् समासात् ठक् नेत्यर्थः । तत्तश्च अणव । त्रिविद्या । त्रिविधा विद्या इति विग्रहः, शाकपार्थिवादिवाद्विधाशब्दस्य लोप इति भावः । तिस्रो विद्यास्त्रिविद्या इति न विग्रहः, 'दिवसंख्ये संज्ञायाम्' इति नियमात् । नापि तिस्रो विद्या अधीते वेद वेति तद्वितार्थे द्विगुः, तथा सति तद्वितस्य द्विगुनिमित्ततया 'द्विगोर्लुगनपत्ये' इति लुगापत्तेः । तिसृणां विद्यानां समाहार इति द्विगुरप्यत्र निर्वाध एव । रक्ताधिकारः इति ।

औदुम्बरो देशः । उदुम्बराः सन्त्यत्र देशे औदुम्बरः इत्यत्र 'तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि' इत्यणि भूवे भत्वादलोपे वृद्धौ, विभक्तिकार्ये च 'औदुम्बरो देशः' इति ।

इष्ट नहीं है । सूत्रान्तात्—सूत्रान्तसे विहित जो ठक् वह अकल्पादिसे ही होता है ।

विद्यालक्षण—विद्यान्त, लक्षणान्त और कल्पान्तसे भी ठक् हो, अधीते और वेद अर्थमें ।

अङ्गक्षत्र—अङ्गादि पूर्वक विद्यान्तसे ठक् प्रत्यय नहीं हो ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें रक्ताद्यर्थक प्रकरण समाप्त हुआ ।

तदस्मिन्नस्तीति—अस्त्युपाधिक प्रथमान्तसे 'अस्मिन्' अर्थमें यथाविहित अणादि प्रत्यय हों, यदि उस प्रत्ययान्त नामक कोई देश हो तो । तेन निर्वृत्तम्—तृतीयान्त निर्वृत्त अर्थमें यथाविहित अणादि प्रत्यय हों, यदि प्रत्ययान्त नामक कोई देश हो तो ।

कौशाम्बी । नगरी ॥ तस्य निवासः । ४।२।६१। शिवीनां निवासो
देशः—शैवः ॥ अदूरभवश्च । ४।२।७०। विदिशाया अदूरभवं-वैदिशम् ॥
बुञ्छण्कठजिलसेनिरढञ्पययफक्फिजिञ्ज्यककठकोऽरीहणकृशाश्व-
श्यकुमुदकाशतृणप्रेक्षाशमसखिसंकाशवलपक्षकर्णसुतंगमप्रगदिन्वराह-
कुमुदादिभ्यः । ४।२।८०। एभ्यः सप्तदशभ्यः सप्तदश क्रमात्स्युश्चातुरर्थ्याम् ।
अरीहणादिभ्यो बुञ् , अरीहणेन निर्वृत्तम्-अरीहणकम् । कृशाश्वादिभ्यश्छण् , -
काशाश्वीयम् । ऋश्यादिभ्यः कः, ऋश्यकम् । कुमुदादिभ्यश्छञ् , -कुमुदिकम् ।
काशादिभ्य इलः, -काशिलः । तृणादिभ्यः सः, -तृणसम् । प्रेक्षादिभ्य इनिः, -प्रेक्षी ।
अश्मादिभ्यो रः, -अश्मरः । सख्यादिभ्यो ढञ् , -साख्यम् । संकाशादिभ्यो

कौशाम्बी । कृशाश्वेन निर्वृत्ता 'कौशाम्बी' इत्यत्र 'तेन निर्वृत्तम्' इत्यणि, वृद्धौ,
भत्वे अलोपे, 'कौशाम्ब' इति जाते 'टिड्ढाणञ्' इत्यणन्तत्वाद् ङीप् ङपयोर्लोपे,
भत्वे अलोपे संयोगे, विभक्तिकार्यं च कृते 'कौशाम्बी नगरी' इति सिद्धम् । बुञ्छण् ।
बुञ्, छण्, क, ठच्, इल, स, इनि, र, ढञ्, पय, य, फक्, फिज्, इज्, न्य, कक्, ठक्
एतेषां सप्तदशानां द्वन्द्वात् प्रथमावहुवचनम् । अरीहण, कृशाश्व, ऋश्य, कुमुद, काश,
तृण, प्रेक्ष, अश्मन्, सखि, सङ्काश, वल, पक्ष, कर्ण, सुतङ्गम, प्रगदिन्, वराह, कुमुद
एतेषां सप्तदशानां द्वन्द्वः । एते आद्यः येषामिति बहुव्रीहेः पञ्चमीवहुवचनम् । यथा-
संख्यावगमाय कुमुदशब्दयोरेकशेषो न कृतः । प्रगदिन् शब्दे नलोपाभावस्तु इकारा-
न्तत्वभ्रमनिरासाय । द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्य आदिशब्दस्य अरीहणादिषु प्रत्येकमन्वयः ।
तथा च अरीहणादिभ्यो बुञ् कृशाश्वादिभ्यः छण् इत्येव सप्तदशवाक्यानि संपन्नानि ।
तदाह—सप्तदशभ्य इति । अरीहणादिसप्तदशगणेभ्यः बुजादयः प्रत्ययाः क्रमात्स्युरित्य-
र्थः । चतुर्थ्यामिति । 'तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नास्ति । तेन निर्वृत्तम् । तस्य निवासः ।
अदूरभवश्च' इति चतुर्ध्वेषु प्रथमोच्चरितात्तद्विभक्त्यन्तात्तथायोगप्रत्यया इति फलि-
तम् । एतेषु गणेषु चेतनवाचका अचेतनवाचकाश्च सन्ति । तत्र यथायोगं चतुरर्थ्याः
अन्वयः । प्रेक्षीति । प्रेक्षते इति प्रेक्षः तेन निर्वृत्तमित्यर्थः । प्रेक्षा निर्वृत्तमिति वा । पथः

तस्य निवासः—पष्ठ्यन्तसे 'निवास' अर्थमेव यथाविहित अणादि प्रत्यय ह्ये, यदि
प्रत्ययान्त किसी देशकी संज्ञा रहे । अदूर—पष्ठ्यन्तसे 'अदूरभव' यथाविहित अणादि
प्रत्यय ह्ये, यदि वह प्रत्ययान्त किसी देशकी संज्ञा रहे ।

बुञ्छण्—पूर्वोक्त चतुरर्थी (चारों अर्थों) में अरीहणादिसे 'बुञ्' कृशाश्वदिसे छण्,
ऋश्यादिसे क, कुमुदादिसे ठच्, काशादिसे इल, तृणादिसे स, प्रेक्षादिसे इनि, अश्मादिसे
र, सख्यादिसे ढञ्, संकाशादिसे पय, वलादिसे य, पक्षादिसे फक्, कर्णादिसे फिज्
सुतङ्गमादिसे इज्, प्रगदिनादिसे न्य, वराहादिसे कक् और कुमुदादिसे ठक् प्रत्यय हो ।

ण्यः,—सांकाश्यम् । बलादिभ्यो यः,—बल्यम् । पक्षादिभ्यः फक्,—पक्षायणः ।
 (पथः पन्थ च) पान्थायनः । कर्णादिभ्यः फिन्,—कर्णायनिः । सुतंगमादिभ्य
 इन्,—सौतंगमिः । प्रगद्यादिभ्यो व्यः,—प्रागद्यः । वराहादिभ्यः कक्,—वाराहकः ।
 कुमुदादिभ्यष्टक्,—कौमुदिकः ॥ जनपदे लुप् । ४।२।८१। जनपदे वाच्ये
 चातुरथिकस्य लुप् ॥ लुपि युक्तवद्व्यक्तिवचने । १।२।५१। लुपि सति
 प्रकृतिवत्लिङ्गवचने स्तः । पञ्चालानां निवासो—जनपदः पञ्चालाः । कुरवः ।
 अङ्गाः । कलिङ्गाः ॥ वरणादिभ्यश्च । ४।२।८२। अजनपदार्थ आरम्भः ।
 वरणानामदूरभवं नगरं—वरणाः । शर्कराया वा । ४।२।८३। अस्माच्चातुर-
 थिकस्य वा लुप्स्यात् ॥ ठक् छौ च । ४।२।८४। शर्कराया एतौ स्तः । कुमुदादौ
 वराहादौ च पाठसामर्थ्यात्पक्षे ठक्कौ । वाग्रहणसामर्थ्यात्पक्षे औत्सर्गिकोऽण् ,
 तस्य लुक्विकल्पः । षड् रूपाणि—शर्करा, शार्करिकम्, शार्करम्, शर्करीयम्,
 शर्करिकम्, शार्करकम् । नद्यां मतुप् । ४।२।८५। चातुरथिकः । इक्षुमती ॥ कु-
 मुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप् । ४।२।८७। झयः । ८।२।१०। मतोर्मस्य वः । कुमु-
 दान् । नड्वान् ॥ मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः । ८।२।११। मवर्णावर्णा-
 न्तान्मवर्णावर्णोपधाच्च यवादिवर्जितात्परस्य मतोर्मस्य वः । वेतस्वान् ॥ नडशा-
 दाड्ढ्वलच् । ४।२।८८। नड्वलः । शाद्वलः । शिखाया वलच् । ४।२।८९।

पन्थ च इति पञ्चादिगणसूत्रमिदम् । कुमुदानिति । कुमुदाः अस्मिन्सन्तीति विग्रहः । ड्म-
 तुपि, डिच्वाट्टिलोपः । 'कुमुद्वान् कुमुदप्राये' इत्यमरः । नड्वानिति । नडाः अस्मिन्
 सन्तीति विग्रहः । 'कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्' इति ड्मतुपि, डिच्वाट्टिलोपः । वेतस्वा-
 न् । वेतसाः अस्मिन् सन्ति इति विग्रहे वेतसशब्दात्प्रथमान्तात् 'कुमुदनडवेतसेभ्यो
 ड्मतुप्' इति ड्मतुपि, अनुबन्धलोपे, सुब्लुकि च, 'वेतसमत्' इति स्थिते, डिच्वाट्टिलोपे,
 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' इति मस्य वत्वे 'वेतस्वत्' इति जाते तस्मात्सौ

जनपदे—जनपद वाच्य हो तो चातुरथिक प्रत्ययका लुप् (लोप) हो । लुपि युक्त—लुप्
 होनेपर प्रकृतिकी तरह ही लिंग और वचन हो । वरणादिभ्यः—वरणादिसे पर चातुरथिक
 प्रत्ययका लुप् हो । शर्कराया—शर्करा शब्दसे पर चातुरथिक प्रत्ययका लुप् हो, विकल्पसे ।
 ठक्छौ च—शर्करा शब्दसे ठक् और छ प्रत्यय हो, चारो अर्थोंमें । नद्यां—नद्यर्थकसे
 मतुप् प्रत्यय हो, चारों अर्थोंमें । कुमुद—कुमुदादिसे ड्मतुप् प्रत्यय हो चारों अर्थोंमें ।
 झयः—झयन्तसे पर मतुप्के मकारको बकार आदेश हो । मादुपधाया—यवादि वर्जित
 मवर्णान्त, अवर्णान्त और अवर्णोपधसे पर मतुप् के मकारको बकार आदेश हो ।
 नडशादा—नड और शादसे ड्वलच् प्रत्यय हो, चारों अर्थोंमें । शिखाया—शिखा

शिखावलम् ॥ उत्करादिभ्यश्छः । ४।२।१०। उत्करीयः ॥ नडादीनां कुक् च । ४।२।११। नडकीयम् ॥ (कुञ्जा ह्रस्वत्वं च) । कुञ्जकीयः ॥ (तक्षन्नलोपश्च) । तक्षकीयः ॥ इति चातुरर्थिकप्रकरणम् ।

अथ शौषिकप्रकरणम्

शेषे । ४।२।१२। अपत्यादिचतुरर्थ्यन्तादन्योऽर्थः शेषः, तत्राणादयः स्युः । चक्षुषा गृह्यते-चाक्षुषं रूपम् । श्रावणः शब्दः । श्रौपनिषदः पुरुषः । दृपदि पिष्टाः-दार्षदाः

‘उगिदचां सर्वनामस्थाने’ इति -नुमि, उमि गते, मित्रादन्त्यादचः परे, ‘हल्ङ्ङ्या-भ्यः’ इत्यनेन सुलोपे, ‘अत्वसन्तस्य चाधातोः’ इत्युपधादीर्घे ‘संयोगान्तस्य लोपः’ इति तलोपे च कृते ‘वेतस्वान्’ इति रूपम् । शिखावलः । शिखाऽस्यास्तीत्यत्र ‘शिखा-या वलच्’ इति वलचि, चलोपे, सुपो लुकि, विभक्तिकार्ये च कृते ‘शिखावलः’ इति सिद्धम् । उत्करादिभ्यश्छः । चातुरर्थिक इति शेषः । उत्करीय इति । देशविशेषो-यम् । उत्करेण निर्वृत्तमिति वा, तस्य निवासः, तस्य अदूरभव इति वा । नडादीनां कुक् च । नडादिभ्यः छः स्यात् चातुरर्थिकः प्रकृतेः कुक् च । कुञ्जा ह्रस्वत्वं चेति । नडा-दिगणसूत्रम् । कुञ्जाशब्दाच्छः, प्रकृतेः कुक्, आकारस्य ह्रस्वश्च । कुञ्जकीय इति । कुञ्जा अस्मिन् सन्तीत्यादि विग्रहः । तक्षन्नलोपश्च । इदमपि गणसूत्रम् । तक्षन् शब्दात् छः कुक्, नकारस्य लोपश्च । इति चातुरर्थिकाः ।

चाक्षुषं रूपमिति । चक्षुषा गृह्यते चाक्षुषम् इत्यत्र ‘शेषे’ इत्यणि, सुपो लुकि, ‘तद्धितेष्वचामादेः’ इत्याद्यचो वृद्धौ विभक्तिकार्ये च ‘चाक्षुषम्’ इति रूपम् । श्रावणः शब्दः । श्रावणेन गृह्यते इति विग्रहः । अणि, आद्यचो वृद्धौ, अलोपे, विभक्तिकार्ये च

शब्दसे वलच् प्रत्यय हो, चारों अर्थोंमें । उत्करा—उत्करादिसे छ प्रत्यय हो, चारों अर्थोंमें ।

नडादीनां—नडादिसे छ प्रत्यय और कुक् का आगेमे भी हो । कुञ्जा—कुञ्जा शब्दसे छ प्रत्यय हो और कुञ्जाके आकारको ह्रस्व भी हो । तक्षन्नलो—तक्षन् शब्दसे छ प्रत्यय और तक्षन्के नकारका लोप भी हो ।

इसप्रकार ‘इन्दुमती’ टीकामें चातुरर्थिक प्रकरण समाप्त हुआ ।

शेषे—अपत्यादि चतुरर्थ्यन्त अर्थोंसे भिन्न जो शेष (जात, भव, आगत, गृह्यते, पिष्ट आदि) अर्थ, उन अर्थोंमें तत्तत् प्रकृतियोंसे पूर्वोक्त अणादि प्रत्यय और वक्ष्यमाण घादि प्रत्यय हों ।

सक्तवः । उलूखले क्षुण्णः—औलूखलो यावकः । अश्वैरुह्यते—आश्वो रथः । चतुर्भि-
रुह्यते—चातुरं शकटम् । चतुर्दश्यां दृश्यते—चातुर्दशं रक्षः । 'तस्य विकार' इत्यतः
प्राक् शेषाधिकारः ॥ राष्ट्रवारपाराद् घञौ । ४।२।९३। आभ्यां घञौ स्तः । राष्ट्रे
जातादि राष्ट्रियः । अवारपारीणः ॥ (अवारपाराद्विगृहीतादपि विपरीता-
च्चेति वक्तव्यम्) । अवारीणः । पारीणः । पारावारीणः । इह प्रकृतिविशेषात्
घादयष्टुष्टुलन्ताः प्रत्यया उच्यन्ते, तेषां जातादयोऽर्थविशेषाः समर्थविभक्त्यश्च
वक्ष्यन्ते ॥ ग्रामाद्यखञौ । ४।२।९४। ग्राम्यः, ग्रामीणः ॥ नद्यादिभ्यो ढक्
। ४।२।९७। नादेयम् । माहेयम् । वाराणसेयम् । दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक्
। ४।२।९८। दाक्षिणात्यः । पाश्चात्यः । पौरस्त्यः ॥ द्युप्रागपागुदकप्रतीचो
यत् । ४।२।१०१। दिव्यम् । प्राच्यम् । अपाच्यम् । उदीच्यम् । प्रतीच्यम् ॥
अव्ययात्यप् । ४।२।१०४। (अमेहकृतसिन्नेभ्य एव) । अमात्यः । इहत्यः ।
कृत्यः । ततस्त्यः । तत्रत्यः ॥ (त्यब् नेर्भ्रुव इति वाच्यम्) नित्यः ॥ (नि-
सो गते) ह्रस्वात्तादौ तद्धिते । ८।३।१०१। ह्रस्वादिणः सस्य पस्तादौ तद्धिते ।

तत्सिद्धिः । राष्ट्रिय इति । राष्ट्रे जातः, राष्ट्रे भवः, इत्यादिरर्थो यथायोगं बोध्यः ।
सप्तम्यन्तात् राष्ट्रशब्दात् घे, सुपो लुकि, 'आयनेयीनीयियः' इति घस्य इयादेशे,
भत्वे, अलोपे, विभक्तिकार्ये च तत्सिद्धिः । अवारीणः अवारे जातः 'अवारीणः' इत्यत्र
'अवारपाराद् विगृहीतादपि विपरीताच्चेति वक्तव्यम्' इति खे खस्थाने ईनादेशे
भत्वे अलोपे नस्य णत्वे विभक्तिकार्ये च तत्सिद्धिः । एवं पारे जातः 'पारीणः' इत्यत्रापि
बोध्यम् । पारावारीणः । पारावारे जातः 'पारावारीणः' इत्यत्र विपरीतत्वात्खे, खस्य
ईनादेशे शेषपूर्ववत् । ह्रस्वात्तादौ । इण्कोरित्यतः इण्ग्रहणमनुवर्तते । 'सहेः साडः स'

राष्ट्रावार—राष्ट्र शब्दसे 'व' और अवारपार शब्दसे 'ख' प्रत्यय हो, शेष
(जातादि) अर्थोंमें । अवारपारा—'विगृहीत और विपरीत' अर्थात् अवार शब्दसे, पार
शब्दसे और पारावार शब्दसे भी पूर्वोक्त 'ख' प्रत्यय हो—ऐसा कहना चाहिये ।

ग्रामाद्यखञौ—ग्राम शब्दसे 'य' और 'खञ्' प्रत्यय हो, जातादि अर्थोंमें ।

नद्यादिभ्यो—नद्यादिसे ढक् प्रत्यय हो, शेष (जातादि) अर्थोंमें ।

दक्षिणापश्चात्—दक्षिणा, पश्चात् और पुरस् शब्दोंसे त्यक् प्रत्यय हो, जातादि अर्थोंमें ।

द्युप्रागपा—दिव्, प्राञ्, अराञ् और उदञ् शब्दोंसे यत् प्रत्यय हो, जातादि अर्थोंमें ।

अव्यया—अव्ययसे त्यप् प्रत्यय हो, जाताद्यर्थोंमें । अमेह—अमा, इह, क, तसि,

त्र—इन अव्ययोंसे ही त्यप् प्रत्यय हो । त्यब्नेर्भ्रुव—'नि' रूप अव्ययसे त्यप् प्रत्यय हो,

भ्रुव अर्थमें । निसो गते—'निस्' रूप अव्ययसे त्यप् प्रत्यय हो, गत अर्थमें ।

ह्रस्वात्तादौ—ह्रस्व इण्से पर सकारको षत्व हो, तकारादि तद्धित प्रत्ययको परे ।

निर्गतौ वर्णाश्रमेभ्यो निष्ठयः—चाण्डालादिः ॥ (अरण्याणः) । आरण्याः सुमनसः ।
(दूरादेत्यः) दूरेत्यः ॥ (उत्तरादाहञ्) । औत्तराहः । ऐषमोह्यः श्वसोऽन्यः
तरस्याम् । ४।२।१०५। एभ्यस्त्यच्चा । पक्षे वक्ष्यमाणौ ट्युट्युलौ । ऐषमस्त्यम्, ऐष-
मस्तनम् । ह्यस्त्यम्, ह्यस्तनम् । श्वस्त्यम्, श्वस्तनम् । पक्षे शौवस्तिकं वक्ष्यते ॥
वृद्धाच्छः । ४।२।११४। शालीयः । त्यदादीनि च । १।१।७४। वृद्धसंज्ञानि स्युः । तदीयः ।
(वा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा) देवदत्तीयः, दैवदत्तः । भावत्कः ॥ सिति च

इत्यतः स इति षष्ठ्यन्तमनुवर्तते । अपदान्तस्य मूर्धन्यः इति च । तदाह—हत्वा-
दिण इति । निष्ठय इति । त्यपि सस्य पत्वे तकारस्य ष्टुत्वेन टः । अरण्याण इति ।
वक्तव्य इति शेषः । आरण्याः सुमनस इति । 'स्त्रियः सुमनसः पुष्पम्' इत्यमरः । अरण्ये
भाव इत्यर्थे णप्रत्यये टापि आरण्या इति रूपम् । अणि तु ङीप् स्यादिति भावः ।
दूरादेत्य इति । वक्तव्य इति शेषः । दूरेत्य इति । दूरादागतः, दूरे भव इति वार्थः ।
दूरादित्यव्ययात् एत्यप्रत्यये 'अव्ययानां भमात्रे' इति टिलोपः । उत्तरादाहञिति । वाच्य
इति शेषः । औत्तराह इति । उत्तरस्मादागतः उत्तरस्मिन् भव इति वार्थः । औत्तर
इति त्वसाधुः । ऐषमोह्य । एभ्य इति । ऐषमस्, ह्यस्, श्वस् एतेभ्य इत्यर्थः । वक्ष्यमाणा-
विति । 'सायञ्चिरं प्राह्णे प्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च' इत्यनेनेति शेषः । ऐषमस्त्यमि-
ति । ऐषमस् इत्यव्ययं वर्तमाने संवत्सरे वर्तते । तत्र भवमित्यर्थः । 'परुत्परार्थे पमोऽब्दे-
पूर्वे पूर्वतरे यति । इत्यमरः । ऐषमस्तनमिति । ट्युट्युलौ वा । टावितौ, य्वोरनादेशः, तस्य
तुट्, ट इत्, उकार 'उच्चारणार्थः, टित्त्वादाद्यवयवः । ह्यस्त्यम् । ह्यस् इत्यव्ययं गतेऽङ्गि ।
तत्र भवमित्यर्थः । श्वस्त्यम्—श्वस्तनमिति । श्वस् इत्यव्ययमनागतेऽङ्गि । तत्र भवमित्यर्थः
'ह्यो गतेऽनागतेऽङ्गि श्वः' इत्यमरः । पक्षे इति । 'श्वसस्तुट् च' इति ठनि ठस्य इकादेशे
तुडागमे 'द्वारादीनां च' इत्येजागमे 'शौवस्तिकम्' इत्यपि वक्ष्यमाणं रूपमित्यर्थः ।
वृद्धाच्छः । वृद्धसंज्ञकात् छः स्यात् जातादिष्वर्थेषु । अणोऽपवादः । शालीय इति । शाला-
यां जात इत्यादिरर्थः । एवं तदीयः । त्यदादीनि च । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—वृद्धसंज्ञानि
स्युरिति आदेरचो वृद्धिसंज्ञकत्वाभावादारम्भः । सिति च । सकारः इत् यस्य सः सित् ।

अरण्याणः—अरण्यसे 'ण' प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें । दूरादेत्यः—दूर शब्दसे एत्य
प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें । उत्तराह—उत्तर शब्दसे आहञ् प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें ।
ऐषमोह्यः—ऐषमस्, ह्यस् और श्वस्से पर त्यप् प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें विकल्पसे ।
वृद्धाच्छः—'वृद्ध' से छ प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें । त्यदादीनि—त्यदादिकी 'वृद्ध'
संज्ञा हो । वा नाम—नामधेयकी वृद्धसंज्ञा हो विकल्पसे ।

नोटः—'भवतष्टक् छसौ'—भवत् शब्दसे ठक् और छस् प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें ।
उदाहरण—'भावत्कः' ।

सिति च—सित् प्रत्ययके परे पूर्वकी पदसंज्ञा हो ।

३७ म० कौ०

१।४।१६। तद्धिते पूर्व पदं स्यात् । जश्त्वम् । भवदीयः । वृद्धादित्यनुवृत्तेः शत्रन्ताद-
 शेव । भावतः । काश्यादिभ्यश्चञ्जिठौ । ४।२।११६। इकार उच्चारणार्थः । काशिकी,
 काशिका । वैदिकी, वैदिका ॥ (आपदादिपूर्वपदात्कालान्तात्) । आपदादिराकृति-
 गणः । आपत्कालिकी, आपत्कालिका । धन्वयोपधाद्बुञ् । ४।२।१२१। धन्वविशेष-
 वाचिनो यकारोपधाच्च देशवाचिनो वृद्धाद् बुञ् स्यात् । ऐरावतं धन्व-ऐरावतकः ।
 सांकाश्यकाम्पित्यशब्दौ बुञ्छणादिसूत्रेण ण्यान्तौ । सांकाश्यकः । काम्पित्यकः ॥
 नगरात्कुत्सन्प्रावीण्ययोः । ४।२।१२८। कुत्सने प्रावीण्ये च नगरशब्दाद्बुञ् स्यात् ।
 नागरकश्चौरः, शिल्पी वा । 'कुत्सन्-' इति किम् ? नागरा ब्राह्मणाः ॥ अरण्या-
 न्मनुष्ये । ४।२।१२९। बुञ् स्यात् । औपसंख्यानिकणस्यापवादः । (पथ्यध्याय-
 न्यायविहारमनुष्यहस्तिष्विति वाच्यम्) । आरण्यकः पन्थाः, अध्यायः,
 न्यायः, विहारः, मनुष्यः, हस्ती वा ॥ गर्तोत्तरपदाच्छः । ४।२।१३७। देश इत्येव ।

तस्मिन् परे पूर्व पदं स्यादित्यर्थः । काश्यादिभ्यश्चञ्जिठौ । ठञ् जिठ इति प्रत्ययौ स्तः ।
 जिठप्रत्यये जि इति 'समुदायस्य आदिर्जिठुडवः' इति इत्संज्ञायां प्रयोजनाभावात्
 अकार एव इत् तस्य जित्स्वरः प्रयोजनम् । ठञ् एव विधौ तु डीप् स्यात् । टाप् न
 स्यात् । नन्वेवं सति इठप्रत्यये ठस्य इकादेशो न स्यात् । अङ्गात् परत्वाभावादित्यत
 आह—इकार उच्चारणार्थ इति । काशिकीति । काश्यां जातादिरित्यर्थः । ठञन्तानूडीप् ।
 काशिकेति । जिठप्रत्यये इकादेशो टाप् । वैदिकी—वैदिकेति । वेदिर्देशविशेषः । आप-
 दादिपूर्वपदात्कालान्तादिति । गणसूत्रम् । ठञ्जिठावित्येव । आपदादिरिति । आपत् आ-
 दिर्यस्य इति विग्रहः । आपत्कालिकी । आपत्कालिकेति । ठजि डीप्, जिठे टाप् । धन्वयो-
 पधाद्बुञ् । ऐरावतं धन्वेति । ऐरावताख्यं धन्वेत्यर्थः । धन्व मरुप्रदेशः । समानौ मरुध-
 न्वानौ इत्यमरः । ऐरावतक इति । ऐरावताख्ये मरुप्रदेशे भव इत्यर्थः । बुञ्, अकादेशः ।
 साङ्काश्यकः, काम्पित्यक इति । साङ्काश्ये काम्पित्ये च भव इत्यर्थः । नगरात्कुत्सन् ।
 नागराः ब्राह्मणा इति । कन्यादिषु माहिष्मतीसाहचर्येण संज्ञाभूतस्यैव नगरशब्दस्य
 ग्रहणम् । अतो न ढकञ् । गर्तोत्तरपदाच्छः । देशे इति । शेषपूरणम् । देशवाचि-

काश्यादिभ्यः—काश्यादिसे ठञ् और जिठ प्रत्यय हो, जाताअर्थमें । आपदादि—
 आपदादि पूर्वपदक कालान्त सुबन्तसे ठञ् और जिठ प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें ।

धन्वयोपधा—धन्व-विशेषवाची और यकारोपध देशवाची वृद्धसे बुञ् प्रत्यय हो,
 जातादि अर्थमें । नगरात्—नगर शब्दसे बुञ् प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें—कुत्सन् और
 प्रावीण्य यदि गम्यमान रहे । अरण्यान्—अरण्य शब्दसे बुञ् प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें ।

पथ्यध्याय—पन्था, अध्याय, न्याय, विहार, मनुष्य और हस्ती अर्थ गम्यमान रहने
 पर ही अरण्य शब्दसे बुञ् प्रत्यय हो । गर्तोत्तर—गर्तोत्तरपदक देशवाची सुबन्तसे छ

वृकगतीयम् । गहादिभ्यश्च । ४।२।१३८। गहीयः ॥ युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च । ४।३।१। चाच्छः । पच्चेऽण् । युवयोर्युष्माकं वाऽयं-युष्मदीयः । अस्मदीयः ॥ तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ । ४।३।२। युष्मदस्मदोरेतावादेशौ स्तः खञि अणि च । यौष्माकीणः, आस्माकीनः । यौष्माकः, आस्माकः ॥ तवकममकावेकवचने । ४।३।३। एकार्थवाचिनोर्युष्मदस्मदोस्तवकममकौ स्तः खञि अणि च । तावकीनः, तावकः । मामकीनः, मामकः । छे तु— । प्रत्ययोत्तरपदयोश्च । ७।२।९८। मपर्यन्तयोरेकार्थवाचिनोस्त्वमौ स्तः प्रत्यये उत्तरपदे च । त्वदीयः । मदीयः । त्वपुत्रः । मध्यान्मः । ४।३।८। मध्यमः ॥ अ सांप्रतिके । ४।३।९। मध्यशब्दादप्रत्ययः सांप्रतिकेऽर्थे । उत्कर्षापकर्षहीनः 'मध्यः' वैयाकरणः ।

न इति यावत् । वृकगतीयमिति । वृकगतीं नाम देशः । तत्र भव इत्यर्थः । तावकीनः । तव अयं 'तावकीनः' इत्यत्र 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्' इति खञि, सुपो लुकि, 'तवकममकावेकवचने' इति युष्मद्-स्थाने तवकादेशे खस्य ईनादेशे भत्वे अलोपे संयोगे विभक्तिकार्यं च कृते 'तावकीनः' इति । अण्पच्चे 'तवकममकावेकवचने' इति युष्मदस्तवकादेशे भत्वे अलोपे वृद्धौ संयोगे विभक्तिकार्यं च 'तावकः' इति सिद्धम् । मामकीनः । 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्' इति खञि, 'तवकममकावेकवचने' इति अस्मदो ममकादेशे खस्य ईनादेशे भत्वे अलोपे, विभक्तिकार्यं च तत्सिद्धिः । पच्चे अणि ममकादेशे च 'मामकः' इति । छे त्विति । एकार्थवृत्तयोर्विशेषो वक्ष्यत इति शेषः । त्वपुत्रः । मत्पुत्रः । तव पुत्रः त्वत्पुत्रः, मम पुत्रः मत्पुत्रः इति षष्ठीतत्पुरुषसमासे कृते सुपो लुकि, अत्र 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इति त्वादेशे मादेशे च 'त्व अद् पुत्र' इति 'म अद् पुत्र' इति च जाते 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे 'खरि च' इति दस्यं तकारे 'त्वत्पुत्रः' 'मत्पुत्रः' इति द्वे स्तः । अ सांप्रतिके । अ इति लुप्तप्रथमाकम् । मध्यादित्यनुवर्तते । तदाह—मध्यशब्दादित्यादि । संप्रतीत्यव्ययम् । उत्कर्षापकर्षहीनत्वात्मकसाम्ये वर्तते । तैत्तिरीये 'अनाप्तश्चतुरात्रोऽतिरिक्तः । पद्मात्रोऽथवा एष संप्रति यज्ञो यत्प-

प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें । गहादिभ्यः—यथासंभव देशवाची गहादिसे छ प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें । युष्मदस्मदो—युष्मद्-अस्मद् शब्दोंसे खञ् और 'छ' प्रत्यय हो, विकल्पसे । (विकल्प पक्षमें अण् होगा)

तस्मिन्नणि—खञ् प्रत्यय और अण् प्रत्ययके परे युष्मद्-अस्मद् शब्दको 'युष्माक' और 'अस्माक' आदेश हों । तवक—एकार्थवाची युष्मद्-अस्मद् शब्दको 'तवक' 'ममक' आदेश हों खञ् और अण् प्रत्ययके परे । प्रत्ययोत्तर—प्रत्ययके परे और उत्तर पदके परे एकार्थवाची युष्मद्-अस्मद् शब्दके मपर्यन्त भागको 'त्व' 'म' आदेश हो । मध्यान्म—मध्य शब्दसे 'म' प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें । अ सां—मध्य शब्दसे 'अ' प्रत्यय हो, साम्प्रतिक

मध्यं दारु नातिहस्वं नातिदीर्घमित्यर्थः ॥ द्वीपादनुसमुद्रं यञ् ॥४॥३॥१०॥
 समुद्रसमीपे यो द्वीपस्तद्विषयाद्द्वीपशब्दाद्यञ् स्यात् । द्वैप्यम्, द्वैप्या ॥ काला-
 ट्ठञ् ॥४॥३॥११॥ मासिकम् । सांवत्सरिकम् । (अव्ययानां भमात्रे टिलोपः)
 सायंप्रातिकः । पौनःपुनिकः । कथं तर्हि 'शार्वरस्य तमसो निषिद्धये' इति का-
 लिदासः, 'अनुदितौषसरागा' इति भारविः, समानकालीनं प्राक्कालीनमित्यादि च ?
 'अपभ्रंशा एवैते' इति प्रामाणिकाः । 'तत्र जात' इति यावत्कालाधिकारः ॥ श्राद्धे
 शरदः ॥४॥३॥१२॥ ठञ् स्यात् । ऋत्वणोऽपवादः । शरदि भवं शारदिकं श्राद्धम् ॥
 विभाषा रोगातपयोः ॥४॥३॥१३॥ शारदिकः शारदो वा रोग आतपो वा ॥
 निशाप्रदोषाभ्यां च ॥४॥३॥१४॥ ठञ् वा । नैशिकम्, नैशम् । प्रादोषिकम्,
 प्रादोषम् ॥ श्वसस्तुट् च ॥४॥३॥१५॥ श्वसष्ठञ् वा तुट् च ॥ द्वारादीनां
 च ॥७॥३॥१६॥ एषां, न वृद्धिरैजागमश्च । शौवस्तिकम् ॥ सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्यो-

श्रावः । इत्यत्र तथा दर्शनात् । संप्रतिशब्दात् स्वार्थे विनयादित्वाट् ठञि सांप्रतिक-
 म् । द्वीपादनु । अनुसमुद्रमिति । सामीप्ये अव्ययीभावः । अनुसमुद्रमिति ससम्यन्तम्,
 विद्यमानादित्यध्याहार्यम् । तदाह—समुद्रस्य समीपे इति । द्वैप्येति । 'यजश्च' इति
 ङीप् तु न, अनपत्याधिकारस्थात् नेति तन्निषेधात् । श्राद्धे शरदः । ठञ् स्यादिति ।
 शेषपूरणमिदम् । ननु 'कालाट्ठञ्' इत्येव सिद्धे किमर्थमिदमित्यत आह । ऋत्वण
 इति । 'सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्' इति वक्ष्यमाणस्येत्यर्थः । विभाषा रोगातपयोः ।
 ठञिति शरद इति चानुवर्तते । निशाप्रदोषाभ्यां च । ठञ् वा । शेषपूरणम् । 'कालाट्ठञ्'
 इति नित्यं प्राप्ते विकल्पोऽयम् । श्वसस्तुट् च । तुटि टकार इत् । उकार उच्चारणार्थः ।
 द्वारादीनां च । 'न उवाभ्याम्' इति सूत्रं पदान्ताभ्यामिति वर्जमनुवर्तते, 'मृजेवृद्धिः'
 इत्यतो वृद्धिरिति च । तदाह—एषां न वृद्धिरैजागमश्चेति । द्वारादीनां नादिवृद्धिः,

(उचित) अर्थम् । द्वीपादनु—समुद्रके समीपस्थ द्वीपबोधक द्वीप शब्दसे 'यञ्' प्रत्यय हो,
 जातादि अर्थम् । कालाट्ठञ्—कालवाचकसे ठञ् प्रत्यय हो, जातादि अर्थम् ।

अव्ययानां—भसंज्ञक अव्ययकी 'टि' का लोप हो । श्राद्धे शरदः—श्राद्ध अर्थ
 अमिधेय हो तो—कालवाची शरद् शब्दसे ठञ् प्रत्यय हो, जातादि अर्थम् । विभाषा-रोग
 तथा आतप अर्थ अमिधेय हो तो—कालवाची शरद् शब्दसे ठञ् प्रत्यय विकल्पसे हो, जातादि
 अर्थम् । निशाप्रदोषाभ्यां—कालवाची निशा और प्रदोष शब्दसे ठञ् प्रत्यय हो, जातादि
 अर्थम्, विकल्पसे । श्वसस्तुट्—कालवाची श्वस् शब्दसे ठञ् प्रत्यय हो, विकल्पसे और उस
 ठञ्को तुट्का आगम भी हो । द्वारादीनां—द्वारादिको आदिवृद्धि नहीं हो किन्तु यकार-
 वकारके पूर्व ऐच्चा आगम हो । सन्धिवेला—कालवाची सन्धिवेलादिसे तथा ऋतु और

ऽण् । ४।३।१६। सन्धिवेलायां भवं-सान्धिवेलम् । ग्रैष्मम् । तैषम् । सन्धिवेला । सन्ध्या । अमावास्या । त्रयोदशी । चतुर्दशी । पौर्णमासी । प्रतिपत् ॥ प्रावृष पण्यः । ४।३।१७। प्रावृषेण्यः ॥ वर्षाभ्यष्टक् ॥ ४।३।१८। वर्षासु साधु वार्षिकं वासः ॥ सर्वत्राण् च तलोपश्च ॥ ४।३।२२। हेमन्तादण् तलोपश्च वेदलोकयोः । चकारात्पक्षे ऋत्वण् । हेमन्ते भवं हेमन्तं वसनम् ॥ सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्य-ष्ठ्युट्थुलौ तुट् च ॥ ४।३।२३। सायमित्यादिभ्यश्चतुर्भ्योऽव्ययेभ्यश्च कालवाचिभ्य-ष्ठ्युट्थुलौ स्तः, तयोस्तुट् च । सायं भवं सायंतनम् । चिरंतनम् । प्राह्णे प्रगयोरेदन्तत्वं

किन्तु वकारयकाराभ्यां पूर्वौ ऐजागमौ स्त इत्यर्थः । अत्र यकारवकारयोः पदान्तत्वात् 'न ट्वाभ्याम्' इत्यप्राप्ते वचनमिदम् । औपस्तिकमिति । श्वस् इत्यव्ययात् जाताद्यर्थे ठञि इकादेशे तुडागमे वकारात्पूर्वमेजागमेन औकारः । अकारस्य न वृद्धिः । सन्धिवेला । ठञोऽपवादः । तैषमिति । तिष्ये भवादीत्यर्थः । 'तिष्यपुष्ययोर्नचत्राणि' इति यलोपः । तिष्ये जातः इत्यर्थे 'श्रविष्ठाफल्गुनी' इति लुग्वच्यते । सन्धिवेलादिगणं पठति । सन्धिवेलेत्यादि । प्रावृषेण्य इति । प्रावृट् वर्पतुः । तत्र भवादिरित्यर्थः । जाते तु ठप् वच्यते । प्रक्रियालाघवार्थं णकारोच्चारणम् । वर्षाभ्यष्टक् । तृतीयतौ वर्षाशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः, 'अप्सुमनःसमासिकतावर्षाणाम् बहुत्वम्' इति लिङ्गानुशासनसूत्रात् । 'स्त्रियां प्रावृट् स्त्रियां भूग्नि वर्षाः' इत्यमरः । वर्षाशब्दाज्जाताद्यर्थे ठञित्यर्थः । वर्षासु साध्विति । हितकारीत्यर्थः । सर्वत्राण् च । छन्दसीत्यनुवृत्तिनिवृत्त्यर्थं सर्वत्र ग्रहणम् । लोके वेदे चेत्यर्थः । 'हेमन्ताच्च' इति पूर्वसूत्रात् हेमन्तादित्यनुवर्तते । तदाह—हेमन्तादित्यादिना । ननु । 'सर्वत्राण् तलोपश्च' इत्येव सिद्धः प्रथमचकारो व्यर्थ इत्यत आह—चकारादिति । 'हेमन्त' इत्यत्र तकारात् प्राक् नकारस्यानुस्वारपरसवर्णौ स्थितौ । तत्र तकाराकारसमुदायस्य लोप इति पक्षे अञ्जिति प्रकृतिभावाच्च टिलोपः । तकारस्यैव लोप इति पक्षे तु अकारस्य 'यस्येति च' इति लोपे तस्य आभीयत्वेनासिद्धत्वात् स्थानिवत्त्वाद्वा न टिलोपः । हेमन्तमिति । ऋत्वणि रूपम् । अत्र न

नक्षत्र वाचकसे अण् प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें ।

प्रावृष—कालवृत्ति प्रावृट् शब्दसे पण्य प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें । वर्षाभ्यः—कालवृत्ति वर्षाशब्दसे ठक् प्रत्यय हो, शेष अर्थमें ।

सर्वत्राण्—हेमन्त शब्दसे अण् प्रत्यय और तकारका लोप हो, सर्वत्र (लोक और वेदमें) । चकारात् केवल अण् भी हो अर्थात् पक्षमें तलोप नहीं हो । सायं चिरं—सायम्, चिरम्, प्राह्णे, प्रगे और कालवाची अव्ययोंसे टथु और टथुल् प्रत्यय हो तथा तुट्का आगम भी हो ।

निपात्यते । प्राहेतनम् । प्रगेतनम् । दोषातनम् । दिवातनम् । (चिरपरुत्परा-
रिभ्यस्तौ वक्तव्यः) । चिरतनम् । परुतनम् । परारितनम् । (अग्रादिपश्चाद्वि-
मच्) । अग्रिमम् । आदिमम् । पश्चिमम् । (अन्ताच्च) । अन्तिमम् ॥ विभाषा
पूर्वाह्णापराह्णाभ्याम् । ४।३।२४। आभ्यां व्युद्युलौ वा स्तः, तयोस्तुट् च । पक्षे
ठञ् । पूर्वाहेतनम्, पौर्वाह्निकम् । अपराहेतनम्, आपराह्निकम् ॥ तत्र जातः
। ४।३।२५। सप्तमीसमर्थाज्जात इत्यर्थेऽणादयो घादयश्च स्युः । स्रुध्ने जातः स्रौध्नः ।
स्रौत्सः । राष्ट्रियः । अवारपारीण इत्यादि ॥ प्रावृषष्टप् । ४।३।२६। एण्यस्याप-
वादः । प्रावृषिकः ॥ प्रायभवः । ४।३।३६। तत्रेत्येव । स्रुध्ने प्रायेण बाहुल्येन
भवति—स्रौध्नः ॥ संभूते । ४।३।४१। स्रुध्ने संभवति स्रौध्नः ॥ कोशाड्ढञ्

तलोपः, तस्य एतत्सूत्रप्रतिपदोक्तानां संनियोगशिष्टत्वादिति भावः । चिरपरुत्प-
रादिभ्य इति । चिर, परुत्, परारि, एभ्यः लप्रत्यय इत्यर्थः । चिरतनमिति । ट्युट्युलौ-
रेव प्राप्तयोर्वचनम् । लप्रत्ययपक्षे मान्तत्वं न भवति । ट्युट्युलभ्यां तस्य संनि-
योगशिष्टत्वात् । परुदिति परारीति चान्वयं पूर्वस्मिन् पूर्वतरे च वत्सरे क्रमाद्वर्तते ।
अग्रादीति । वार्तिकमिदम् । अग्र आदि पश्चात् एभ्यः डिमच् स्यादित्यर्थः । पश्चिममिति ।
'अन्ययानां भमात्रे' इति टिलोपः । अन्ताच्च । इदमपि वार्तिकम् । विभाषा पूर्वाह्णा ।
पक्षे ठञिति । तथा सति न तुट् तस्य ट्युट्युलभ्यां संनियोगशिष्टत्वादिति भावः ।
तदेवं 'राष्ट्रावार' इत्यारभ्य एतदन्तैः सूत्रैः राष्ट्रादिप्रकृतिविशेषेभ्यः घादयः प्रत्यय-
विशेषाः अनुक्रान्ताः । अथ तेषां प्रत्ययानामर्थविशेषान् प्रकृतीनां च विभक्तिविशेषान्
दर्शयितुमुपक्रमते—तत्र जात इति । राष्ट्रियः । अत्र 'तत्र जात' इति सूत्रोक्तार्थं
'राष्ट्रावारपाराद्धखौ' इति घे 'आयनेयीनीयियः फढखच्छ्वाम्' इति घस्य
इयादेशे सुपो लुकि, भत्वे अलोपे विभक्तिकार्यं च तत्सिद्धिः । अवारपारीणः अवार-
पारे जातः 'अवारपारीणः' इत्यत्र 'तत्र जातः' इति सूत्रोक्तार्थं 'राष्ट्रावारपारा-
द्धखौ' इति खे 'आयनेयीनीयियः' इति खस्य ईनादेशे सुपो लुकि भत्वे अलोपे

चिरपरुत्—चिरादिसे 'ल' प्रत्यय हो—ऐसा कहना चाहिये । अग्रादि—अग्रादि
और पश्चसे डिमच् प्रत्यय हो । अन्ताच्च—अन्तसे डिमच् प्रत्यय हो, शेष अर्थमें ।

विभाषा—पूर्वाह्ण और अपराह्ण शब्दोंसे ट्यु और ट्युल् प्रत्यय हो, तथा तुट्का
आगम भी हो, विकल्पसे । तत्र जातः—तत्र (सप्तम्यन्त समर्थसे) जात अर्थमें अणादि प्रत्यय
और घादि प्रत्यय हो । प्रावृषः—प्रावृष् शब्दसे ठप् प्रत्यय हो, जात अर्थमें ।

प्रायभवः—प्रायभव अर्थमें सप्तम्यन्तसे यथाविहित अणादि और घादि प्रत्यय हो ।

संभूते—संभूत अर्थमें सप्तम्यन्तसे अणादि और घादि प्रत्यय हो । कोशा—सप्तम्यन्त

।४।३।४२। कौशेयं वज्रम् ॥ तत्र भवः ।४।३।५३। सृष्टे भवः—सौधः ।
 श्रौत्सः । राश्रियः ॥ दिगादिभ्यो यत् ।४।३।५४। दिश्यम् । वर्ग्यम् ॥ शरी-
 रावयवाच्च ।४।३।५५। दन्त्यम् । कण्ठ्यम् ॥ इतिकुक्षिकलशिबस्त्यस्त्यहे-
 र्दञ् ।४।३।५६। दातैयम् । कलशिर्घटः, तत्र भवं कालशेयम् । वास्तेयम् ॥ ग्रीवा-
 भ्योऽणच् ।४।३।५७। चात् ढञ् । ग्रैवेयम्, ग्रैवम् ॥ गम्भीराञ्ज्यः ।४।३।५८।
 गम्भीरे भवं-गाम्भीर्यम् ॥ अव्ययीभावाच्च ।४।३।५९। परिमुखे भवं-परिमु-
 ख्यम् ॥ (परिमुखादिभ्य एवेष्ट्यते) । नेह, -श्रौपकूलः ॥ अन्तःपूर्वपदाट्ठ-
 ञ् ।४।३।६०। अव्ययीभावादित्येव । वेश्मनि इति अन्तर्वेश्मम्, तत्र भवम् अन्तर्वे-
 श्मिकम् । अन्तर्गणिकम् । (अध्यात्मादेष्टुञिष्ट्यते) ॥ अध्यात्मं भवम् -आध्यात्मि-

विभक्तिकार्यं च कृते तत्सिद्धिः । इतिकुक्षि । भवं इत्यर्थे इति, कुक्षि, कलशि, बस्ति,
 अस्ति, अहि एतेभ्यः । सप्तम्यन्तेभ्य इति शेषः । दातैयमिति । इतौ भवमित्यर्थः ।
 ढञ् एयः आदिवृद्धिः रपरत्वम् । इतिश्रर्मभस्त्रिका । ग्रीवाभ्योऽणच् । 'शरीरावय-
 वाच्च' इति यतोऽपवादः । ग्रीवाशब्दोऽयं धमनीसंघे वर्तते । तत्र उद्भूतावयव-
 भेदसंघविवक्षायां बहुवचनान्तात्प्रत्यय इति सूचयितुं बहुवचनम् । तिरोहिता-
 वयवभेदविवक्षायां तु एकवचनान्तादप्यण्डजौ स्त एव । गम्भीराञ्ज्यः । गाम्भीर्यमिति ।
 यञ्विधौ तु स्त्रियां 'प्राचां ण्फ तद्धितः' इति ण्फः स्यात् । अव्ययीभावाच्च । ञ्य इति
 शेषः । परिमुखादिभ्य इति । यच्चपीदं वार्तिकं भाष्ये न दृष्टं तथापि दिगादिगणपाठानन्तरं
 परिमुखादिगणपाठसामर्थ्यादिहान्व्ययीभावपदं परिमुखादिपरमिति गम्यते । न ह्यष्टा-
 ध्याय्यां परिमुखादिगणस्य कार्यान्तरमस्ति, औपकूल इति । उपकूलं भव इत्यर्थः ।
 अव्ययीभावत्वेऽपि परिमुखाद्यनन्तर्भावात् न ञ्यः । अन्तःपूर्वपदाट्ठञ् । वेश्मनी-
 त्यन्तर्वेश्ममिति । विभक्त्यर्थे अव्ययीभावः । 'अनश्च' इति टच् । अन्तर्वेश्मिकमिति ।
 ठञ् इक, सुव्लुक्, टिलोपः, आदिवृद्धिः । अन्तर्गणिकमिति । गणे इत्यन्तर्गणम् । तत्र

कोश शब्दसे संभूत (संभव) अर्थमें ढञ् प्रत्यय हो । तत्र भवः—सप्तम्यन्तसे भावार्थमें
 अणादि प्रत्यय और घादि प्रत्यय हों । दिगादि—दिगादि सप्तम्यन्तसे यत् प्रत्यय हो,
 भवार्थमें । शरीरा—शरीरावयववाची सप्तम्यन्तसे यत् प्रत्यय हो, भवार्थमें ।

इति कुक्षि—सप्तम्यन्त इति, कुक्षि आदि शब्दोंसे ढञ् प्रत्यय हो, भवार्थमें ।

ग्रीवा—सप्तम्यन्त ग्रीवा शब्दसे अञ् प्रत्यय हो, भवार्थमें । गम्भीरा—सप्तम्यन्त
 गम्भीर शब्दसे ञ्य प्रत्यय हो, भवार्थमें । अव्ययी—अव्ययीभावसंज्ञक सप्तम्यन्तसे ञ्य
 प्रत्यय हो, भव अर्थमें । परिमुखा—अव्ययीभावसंज्ञक परिमुखादि सप्तम्यन्तसे ही ञ्य
 प्रत्यय हो—ऐसा समझना चाहिये । अन्तः पूर्व—अन्तःपूर्वपदक अव्ययीभावसे ठञ् प्रत्यय
 हो, 'तत्र भवः' इसके विषयमें । अध्यात्मादेः—अध्यात्मादिसे ठञ् प्रत्यय हो, 'तत्र भवः'

कम् ॥ अनुशतिकादीनां च । ७।३।२०। एषामुभयपदवृद्धिर्जिति णिति किति च । आधिदैविकम् । आधिभौतिकम् । ऐहलौकिकम् । पारलौकिकम् । आकृतिगणो-
 ऽयम् ॥ जिह्वामूलाल्लुलेश्छः । १४।३।६२। जिह्वामूलीयम् । अङ्गुलीयम् ॥ वर्गा-
 न्ताच्च । १४।३।६३। कवर्गीयम् ॥ तत आगतः । १४।३।७४। सुध्नादागतः-सौध्नः ।
 ठगायस्थानेभ्यः । १४।३।७५। शौल्कशालिकः ॥ विद्यायोनिस्वन्धेभ्यो वुञ् ।
 १४।३।७७। औपाध्यायकः । पैतामहकः ॥ ऋतष्ठञ् । १४।३।७८। वुञोऽपवादः ।
 हौतृकम् । मातृकम् । भ्रातृकम् ॥ पितुर्यञ्च । १४।३।७९। चाट्ठञ् । रीडृतः यस्येति
 लोपः । पितृयम्, पैतृकम् ॥ गोत्रादङ्गवत् । १४।३।८०। विदेभ्य आगत—वैदः ।
 गार्गम् । दाक्षम् । औपगवकम् ॥ हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः । १४।३।८१।
 समादागत—समरूप्यम् । पत्ते-गहादित्वाच्छः । समीयम् । देवदत्तीयम् । देवदत्त-

भवमित्यर्थः । आध्यात्मिकमिति । आत्मनीत्यध्यात्मम् । तत्र भवमित्यर्थः । ऋतष्ठञ् ।
 ऋदन्ताद्विद्यायोनिस्वन्धवाचिन इत्यर्थः । 'तत आगतः' इत्येव । हौतृकम्,
 भ्रातृकमिति । उक्तः परत्वात् ठस्य कः । पितुर्यञ्च । यति प्रक्रियां दर्शयति—रीडृत
 इति । गोत्रादङ्गवत् । अङ्के ये प्रत्ययाः ते 'तत आगतः' इत्यर्थेऽपि भवन्तीत्यर्थः । विदेभ्य
 आगतमिति । विग्रहप्रदर्शनम् । अत्र 'यजजोश्च' इति बहुत्वे अजो लुकि विदेभ्य इति
 निर्देशः । वैदमिति । 'सङ्घाङ्गलक्षणेष्वन्यजिजामण्' इत्युक्तेरजन्तादिहाप्यर्थे अणि
 विवक्षिते 'गोत्रेऽलुगचि' इत्यजो लुङ्निवृत्तौ वैदशब्दादण् । 'वद्यज्जृद्व्राह्मण'
 इति द्वयलक्षणस्य ठकोऽपवादः । गार्गमिति । यजन्तादण् । दाक्षमिति । इजन्तादण् ।
 औपगवकमिति । उपगोरपत्यमौपगवः । तस्मादागतमित्यर्थः । 'गोत्रचरणाद्वुञ्' इति
 वुञ् । यद्यपि तस्येदमित्यर्थे अयं वुञ् विहितः तथाप्यन्यजिजन्तादङ्केऽपि स एष्ट इति
 तस्याप्यत्रार्थे अतिदेशो भवति । न हि 'सङ्घाङ्ग' इति प्रतिपदोक्तस्याण एवान्नाति-

इसके विषयमें । अनुशति—अनुशतिकादिके उभय पदको वृद्धि हो, जित,—णित् और
 कितके परे । जिह्वा—सप्तम्यन्त जिह्वामूल और अङ्गुलि शब्दसे 'छ' प्रत्यय हो, भव अर्थमें ।
 वर्गान्ता—सप्तम्यन्त वर्गान्त शब्दसे 'छ' प्रत्यय हो, भव अर्थमें ।

तत आगतः—पञ्चम्यन्तसे आगत अर्थमें यथाविहित अणादि प्रत्यय और घादिप्रत्यय हो ।

ठगाय—आयस्थान (चुंगी-चौकी) वाची पञ्चम्यन्तसे ठक् प्रत्यय हो, आगत अर्थमें ।

विद्यायोनि—विद्या और योनि स्वन्धवाची सप्तम्यन्तसे वुञ् प्रत्यय हो, आगत अर्थमें ।

ऋतष्ठञ्—विद्या-योनिस्वन्धवाची पञ्चम्यन्त ऋदन्तसे ठञ् प्रत्यय हो, आगत अर्थमें ।

पितुर्यञ्च—पञ्चम्यन्त पितृ शब्दसे यत् प्रत्यय हो, आगत अर्थमें । गोत्रा—अपत्य
 प्रत्ययान्त पञ्चम्यन्तसे अङ्कवत् प्रत्यय हो, आगत अर्थमें । हेतुमनु—हेतु और मनुष्य वाचकसे

रूप्यम् ॥ मयट् च । ४।३।८२। समयम् ॥ प्रभवति । ४।३।८३। हिमवतः प्रभवति-हैमवती गङ्गा ॥ विदूराब्ज्यः । ४।३।८४। विदूरात्प्रभवति-वैदूर्यो मणिः ॥ तद्गच्छति पथिदूतयोः । ४।३।८५। सुघ्नं गच्छति-सौघ्नः पन्था दूतो वा ॥ अभिनिष्क्रामति द्वारम् । ४।३।८६। सुघ्नमभिनिष्क्रामति-सौघ्नं कान्यकुब्जद्वारम् ॥ अधिकृत्य कृते ग्रन्थे । ४।३।८७। शारीरकमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः-शारीरकीयः । 'शारीरकं भाष्यम्' इति त्वभेदोपचारात् ॥ सोऽस्य निवासः । ४।३।८९। सुघ्नो निवासोऽस्य-सौघ्नः । तेन प्रोक्तम् । ४।३।१०२। पाणिनिना प्रोक्तं-पाणिनीयम् ॥ पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः । ४।३।११०। णिनिः स्यात् । पारा-

देशः । किन्तु अङ्के दृष्टस्य सर्वस्यापि, व्याख्यानादिति भावः । हैमवती गङ्गा । अत्र 'प्रभवति' इत्यणि, सुपो लुकि, 'तद्धितेष्वचामादेः' इत्याद्यचो वृद्धौ संयोगे हैमवत इति जाते 'टिड्ढाणञ्' इति ङीप्, ङपयोर्लोपे भत्वे अलोपे संयोगे विभक्तिकार्ये च कृते 'हैमवती गङ्गा' इति सिद्धम् । पाराशर्यं । णिनिः स्यादिति । उक्तविषये इति शेषः । मण्डूकप्लुत्या णिनिरेवानुवर्तते इति भावः । पाराशर्येण प्रोक्तं

रूप्य प्रत्यय हो, आगत अर्थमें, विकल्पसे । मयट्-हेतुवाचक और मनुष्यवाचक पञ्चम्यन्तसे मयट् प्रत्यय हो, आगत अर्थमें । प्रभवति-प्रभवति' अर्थमें पञ्चम्यन्तसे यथा-विहित अणादि प्रत्यय और घादि प्रत्यय हों ।

विदूरा-पञ्चम्यन्त विदूर शब्दसे ण्य प्रत्यय हो, 'प्रभवति' अर्थमें ।

नोटः-'वैदूर्यः' अत्र भाष्यम्-बालवायो विदूरश्च प्रकृत्यन्तरमेव वा । न वै तत्रेति चेद् ग्र्याजित्वरीवदुपचारयेत् ॥' बालवाय शब्दसे 'व्य' प्रत्यय हो और बालवायको विदूरादेश हो । अथवा नगरवाची विदूर शब्दकी तरह पर्वतवाची प्रकृत्यन्तर भी विदूर शब्द है; उससे ही व्य प्रत्यय हो । 'न वै तत्रेति चेद्' अगर पर्वतवाची नहीं है ऐसा कहें तो 'जित्वरीवत्' अर्थात् वैश्यसमाजमें वाराणसीका नाम जैसे 'जित्वरी' शब्दसे व्यवहृत होता है, वैसे वैशाकरणोंके समाजमें विदूर शब्दका पर्वतमें व्यवहार किया जाता है-ऐसा समझना चाहिये ।

तद्गच्छति-द्वितीयान्तसे गच्छति अर्थमें यथाविहित अणादि प्रत्यय और घादि प्रत्यय हों, जो जाता है, वह यदि मार्ग या दूत हो तो । अभिनिष्क्राम-द्वितीयान्तसे अभिनिष्क्रामति अर्थमें यथाविहित अणादि और घादि प्रत्यय हो, जो अभिनिष्क्रामति (उस ओर निकलता है), वह यदि द्वार हो तो ।

अधिकृत्य-द्वितीयान्तसे 'अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः' इस अर्थमें यथाविहित अणादि और घादि प्रत्यय हों । सोऽस्य-प्रथमान्तसे 'अस्य निवासः' इस अर्थमें यथाविहित अणादि और घादि प्रत्यय हों । तेन प्रोक्तम्-तृतीयान्तसे प्रोक्त अर्थमें यथाविहित अणादि और घादि प्रत्यय हों । पाराशर्य-तृतीयान्त पाराशर्यसे 'प्रोक्तं भिक्षुसूत्रम्' इस अर्थमें, तथा तृतीयान्त

शर्येण प्रोक्तं भिक्षुसूत्रमधीयते—पाराशरिणो भिक्षवः । शैलालिनो नटाः । कर्मन्द-
कृशाश्वदिनिः । १४।३।१११। कर्मन्देन प्रोक्तं भिक्षुसूत्रमधीयते—कर्मन्दिनो
भिक्षवः । कृशाश्विनो नटाः । उपज्ञाते १४।३।११५। पाणिनिना उपज्ञातं—पाणिनी-
यम् ॥ तस्येदम् १४।३।१२०। उपगोरिदम्—औपगवम् ॥ (समिधामाधाने
षेण्यण्) सामिधेन्यो मन्त्रः ॥ रथाद्यत् १४।३।१२१। रथ्यं चक्रम् ॥ पत्रपूर्वा-
दञ् १४।३।१२२। अश्वरथस्येदम्—आश्वरथम् ॥ हलसीराट्ठक् १४।३।१२४।
हालिकम् । सैरिकम् ॥ गोत्रचरणाद्बुञ् १४।३।१२६। औपगवचक्रम् ॥ (चरणा-
द्धर्माग्नाययोरिति वक्तव्यम्) । काठकम् ॥ संघाङ्कलक्षणेऽव्यभिजामण्
१४।३।१२७। (घोषग्रहणमपि कर्तव्यम्) । अञ्, -वैदः संघोऽङ्को घोषो
वा । वैदं लक्षणम् । यञ्, -गार्गः, गार्गम् । इञ्, -दाक्षः, दाक्षम् । परम्परासं-
न्योऽङ्कः । साक्षात् लक्षणम् ॥ इति शैषिकप्रकरणम् ।

भिक्षुसूत्रमित्यर्थे, शिलालिना प्रोक्तं नटसूत्रमित्यर्थे च तृतीयान्ताणिनिः स्यादिति
यावत् । भिक्षवः संन्यासिनः, तदधिकारिकं सूत्रं भिक्षुसूत्रं व्यासप्रणीतं प्रसिद्धम् ।
पाराशर्येणेति । पाराशरशब्दाद्गर्गादित्वात् गोत्रे यजि पाराशर्यः—व्यासः । इह त्वन-
न्तरापत्ये गोत्रत्वारोपाद्यञ् । तेन प्रोक्ते भिक्षुसूत्रे णिनिः, ततोऽध्येतृप्रत्ययस्य लुक् ।
इति शैषिकाः ।

शिलालीसे 'प्रोक्तं नटसूत्रम्' इस अर्थमें णिनि प्रत्यय हो । कर्मन्द—तृतीयान्त कर्मन्दसे
'प्रोक्तं भिक्षुसूत्रम्' अर्थमें और तृतीयान्त कृशाश्वसे 'प्रोक्तं नटसूत्रम्' अर्थमें इति प्रत्यय हो ।
उपज्ञाते—तृतीयान्तसे उपज्ञात (विना उपदेशेन ज्ञात) अर्थमें यथाविहित अणादि
और घादि प्रत्यय हो । तस्येदम्—षष्ठ्यन्तसे 'इदम्' इस अर्थमें यथाविहित अणादि और
घादि प्रत्यय हो । समिधा—षष्ठ्यन्त समित शब्दसे आधान अर्थमें षेण्यण् प्रत्यय हो ।
रथाद्यत्—षष्ठ्यन्त रथ शब्दसे 'इदम्' अर्थमें यत् प्रत्यय हो । पत्रपूर्वा—पत्र (वाहन)
पूर्वक षष्ठ्यन्त रथ शब्दसे 'इदम्' अर्थमें अञ् प्रत्यय हो । हलसीरा—षष्ठ्यन्त हल और
सीरसे 'इदम्' अर्थमें ठक् प्रत्यय हो । गोत्रचरणा—गोत्र प्रत्ययान्त और चरण (शाखा-
ध्येतृ) वाचक षष्ठ्यन्तसे 'इदम्' अर्थमें बुञ् प्रत्यय हो । चरणात्—चरण (शाखाध्येतृ)
वाचकसे जो पूर्वोक्त बुञ् कहा गया है, वह धर्म और आग्नाय (वेदाभ्यास) में ही हो ।
संघांक, घोषग्रहणमपि—अजन्त, यजन्त और इजन्त षष्ठ्यन्तसे 'इदम्' अर्थमें अण्
प्रत्यय हो, संघादि यदि इदन्त्वेन विवक्षित रहे तो ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें शैषिक प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ प्राग्दीव्यतीयप्रकरणम्

तस्य विकारः । १४।३।१३४। (अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः) ।
अश्मनो विकारः—आश्मः । मास्मनः । मार्तिकः ॥ अवयवे च प्राण्योषधिवृ-
क्षेभ्यः । १४।३।१३५। चाद्विकारे । मयूरस्य विकारोऽवयवो वा—मायूरः । मौर्वम्
काण्डं भस्म वा । पैप्पलम् ॥ त्रपुजतुनोः पुक् । १४।३।१३८। आभ्यामण् एतयोः
पुक् च । त्रापुषम् । जातुषम् ॥ ओरञ् । १४।३।१३९। देवदारवम् ॥ अनुदात्ता-
देश्च । १४।३।१४०। अञ् । कापित्थम् । दाधित्थम् ॥ पलाशादिभ्यो वा

तस्य विकारः । विक्रियते इति विकारः, कर्मणि घञ् । प्रकृतेरवस्थान्तरात्मिका
विक्रिया, तस्यामित्यर्थः । तस्येति षष्ठ्यन्तात् विकारेऽर्थे अणादयः साधारणा
वक्ष्यमाणाश्च वैशेषिका यथाविहितं स्युरित्यर्थः । अश्मनो विकार इति । विकारार्थक-
प्रत्यये परे अश्मन् शब्दस्य टिलोपो वक्तव्य इत्यर्थः । 'अन्' इति प्रकृतिभावा-
पवादः । आश्मः । अश्मनो विकारः—आश्मः, इत्यत्र 'तस्य विकारः' इत्यणि
'नस्तद्धिते' इति टिलोपे प्राप्ते 'अन्' इति टिलोपाभावे 'अश्मनो विकारे टिलोपो
वक्तव्यः' इति वार्तिकेन टिलोपे संयोगे 'तद्धितेष्वचामादेः' इति वृद्धौ विभक्ति-
कार्ये च कृते 'आश्मः' इति सिद्धम् । त्रपुजतुनोः पुक् । त्रापुषम् । जातुषम् । त्रपुणो
जतुनश्च विकार इत्यर्थः । ओरञ् । उवर्णान्तादञ् स्यादित्यर्थः । प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः
अवयवे विकारे च, इतरेभ्यस्तु विकारे । देवदारवम् । देवदारोः अवयवो विकारो वेत्यर्थः ।
अनुदात्तादेश्च । विकारे अजिति शेषः, 'अवयवे च' इति सूत्रमप्यत्र संबध्यते ।
कापित्थम् । कपित्थस्यावयवो विकारो वेत्यर्थः । 'कपित्थे तु दधित्थप्राहिमन्मथाः'
इत्यमरः । पलाशादिभ्यो वा । अजिति शेषः । अवयवे चेत्येव । शम्बाः ष्लञ् । शमी-
शब्दो गौरादिङीपन्तः । तस्मात्षष्ठ्यन्तादवयवे विकारे ष्लञ् स्यादित्यर्थः । पकार-

तस्य विकारः—षष्ठ्यन्तसे विकार अर्थमे अणादि प्रत्यय हो । अश्मनो—अश्मन्
शब्दकी 'टि' का लोप हो, विकारार्थक प्रत्ययके परे । अवयवे—प्राणो, ओषधि और वृक्ष-
वाचीसे अवयव और विकार अर्थमें तथा इनसे अतिरिक्त अर्थवाचीसे केवल विकार अर्थमें
अणादि प्रत्यय हो । (यह अधिकार सूत्र है) ।

त्रपुजतु—त्रपु और जतु प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे अण् प्रत्यय हो और पुक्का आगम भी
हो, विकार अर्थमें । ओरञ्—उवर्णान्तसे अञ् प्रत्यय हो, विकार और अवयव अर्थमें ।

अनुदात्ता—अनुदात्तादि प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे अञ् प्रत्यय हो, विकारादि अर्थमें ।

पलाशा—पलाशादि—प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे अञ् प्रत्यय हो, विकारादि अर्थमें,
विकल्पसे ।

॥४३॥१४१॥ अञ् । पालाशम् । खादिरम् ॥ शम्याः प्लञ् ॥४३॥१४२॥ शमीलं
 भस्म ॥ मयङ्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः ॥४३॥१४३॥ प्रकृतिमात्रा-
 न्मयङ्वा स्याद्विकारावयवयोः । अश्ममयम्, आश्मनम् । अभक्ष्येत्यादिकम् । मौद्गः
 सूपः । कार्पासमाच्छादनम् ॥ नित्यं वृद्धशरादिभ्यः ॥४३॥१४४॥ आम्रमयम् ।
 शरमयम् । (एकाचो नित्यम्) । वाङ्मयम् ॥ गोश्चपुरीषे ॥४३॥१४५॥ गोम-
 यम् ॥ एण्या ढञ् ॥४३॥१५१॥ ऐण्यम् । एणस्य तु, ऐणम् ॥ गोपयस्योत्
 ॥४३॥१६०॥ गव्यम् । पयस्यम् । फले लुक् ॥४३॥१६३॥ विकारावयवप्रत्य-
 यस्य ॥ लुक् तद्धितलुकि ॥६५॥७॥ उपसर्जनस्त्रीप्रत्ययस्य । आमलक्याः फलम्-
 आमलकम् ॥ प्लक्ष्मादिभ्योऽण् ॥५३॥१६४॥ विधानसामर्थ्याच्च लुक् । प्लक्षम् ॥
 न्यग्रोधस्य च केवलस्य ॥७३॥५॥ अस्य न वृद्धिरैजागमश्च । नैयग्रोधम् ॥
 जम्बा वा ॥४३॥१६५॥ अण् फले । जाम्बवम् । पक्षे-ओरञ् । तस्य लुक् ।

लकारावितौ । 'अनुदात्तादेश्च' इत्यजोऽपवादः । शमीलमिति । शम्या विकार इत्यर्थः ।
 फले लुक् । आमलकमिति । फलितस्य वृक्षस्य फलमवयवो विकारश्च । तस्मिन्मयतो
 लुकि 'लुक्तद्धितलुकि' इति छीपो लुक् । प्लक्ष्मादिभ्योऽण् । विकारे अवयवे चेति
 शेषः । तत्र शिष्टककन्धशब्दयोरुवर्णान्तत्वादि प्राप्ते प्लक्ष्मन्यग्रोधादीनाम् अनु-
 दात्तादित्वादिति प्राप्ते अणिवधिः । न्यग्रोधस्य च केवलस्य । 'नय्वाभ्यां' इत्युत्तरसूत्र-
 मिदम् । अस्येति । केवलस्य न्यग्रोधस्येत्यर्थः । जम्बा वा । जाम्बवमिति । जम्बाः
 फलमित्यर्थः । अजो लुकि विशेष्यानुसारेण नपुंसकत्वात् ह्रस्व इति भावः ।

शम्या—शमीसे प्लञ् प्रत्यय हो, विकार और अवयव अर्थमें । मयट्—मक्ष और
 आच्छादन वाच्यसे भिन्न प्रकृतिमात्र (सर्वप्रकृतिक) षष्ठ्यन्तसे भाषा (लोक) में मयट्
 प्रत्यय हो, विकार और अवयव अर्थमें, विकल्पसे । नित्यं—वृद्ध और शरादिसे नित्य ही मयट्
 प्रत्यय हो, विकार और अवयव अर्थमें । एकाचो—एकाचसे नित्य मयट् प्रत्यय हो, विकार
 और अवयव अर्थमें । गोश्च—गोशब्द प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे मयट् प्रत्यय हो, पुरीष अर्थमें ।
 एण्या—एणी प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे ढञ् प्रत्यय हो, विकार और अवयव अर्थमें ।
 गोपय—गो और पयस् प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे यट् प्रत्यय हो, विकारादि अर्थमें ।
 फले—विकारार्थक और अवयवार्थक प्रत्ययका लुक् हो, फलरूप अर्थ विवक्षित रहे तो ।
 लुक्तद्धित—तद्धितका लुक् होने पर स्त्री प्रत्ययका लुक् हो । प्लक्ष्मा—प्लक्ष्मादि
 प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे अण् प्रत्यय हो, फलरूप अर्थ यदि विकारावयवत्वेन विवक्षित रहे ।
 न्यग्रोधस्य—केवल (पदान्तर रहित) न्यग्रोधके आदि अचूको वृद्धि नहीं हो, किन्तु
 यकारसे पूर्व ऐच्का आगम हो, जित्-णित्-कित्के परे । जम्बा—जम्बू शब्दसे अण

जम्बु ॥ लुप् च ४।३।१६६। जम्बुवाः फलप्रत्ययस्य लुब्बा स्यात् । लुपि युक्तवत् ।
जम्बुः ॥ (फलपाकशुषामुपसंख्यानम्) । ब्रीहयः । मुद्गाः । (पुष्पमूलेषु
बहुलम् ।) मल्लिकायाः पुष्पं-मल्लिका । जात्याः पुष्पं-जाती । विदार्या मूलं—
विचारी । बहुलग्रहणान्नेह, -पाटलानि पुष्पाणि । साल्वानि मूलानि । बाहुलकात्कचि-
ल्लुक्-अशोकम्, करवीरम् ॥ हरीतक्यादिभ्यश्च ४।३।१६७। फलप्रत्ययस्य
लुप् । (हरीतक्यादीनां लिङ्गमेव प्रकृतिवत्) । हरीतक्याः फलानि-हरीतक्यः ॥
इति प्राग्दीव्यतीयप्रकरणम् ।



लुप् च । लुकैव सिद्धे लुबिधेः फलमाह—युक्ति युक्तवदिति । जम्बुरिति । जम्बुवाः फल-
मित्यर्थः । फलप्रत्ययस्य लुपि युक्तवत्त्वेन विशेष्यलिङ्गवचने बाधित्वा स्त्रीत्वमेकव-
चनं चेत्यर्थः । तथा च जम्बुवाः फलान्यपि जम्बूरेव । फलपाकेति । फलपाकेन
शुष्यन्तीति फलपाकशुषः ओषधयः, तद्वाचिभ्यः परस्य फलप्रत्ययस्य लुप् उपसंख्या-
नमित्यर्थः । ब्रीहय इति । ब्रीह्याख्यानामोपधीनां फलानीत्यर्थः । एवं मुद्गाः । बिल्वा-
द्याणो लुप् । युक्तवद्भावात् पुंस्त्वम्, न तु विशेष्यनिघ्नत्वम् । पुष्पमूलेषु बहुलमिति ।
वार्तिकमिदम् । विकारावयवप्रत्ययस्य लुप् स्यादिति शेषः । पुष्पं मल्लिकेति । 'अथ
द्वितीयं प्रागीपात्' इत्यनुवृत्तौ 'मादीनां च' इति फिट् सूत्रेण मध्योदात्तो मल्लिकाशब्दः ।
ततः 'अनुदात्तादेश्च' इत्यजोऽनेन लुप् । युक्तवत्त्वास्त्रीत्वम् । जातीति । 'लघावन्ते'
इत्यन्तोदात्तो जातिशब्दः । ततः 'अनुदात्तादेश्च' इत्यजोऽनेन लुप्, युक्तवत्त्वास्त्री-
त्वम् । विदारीति । जातिङीषन्तमिदम् । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तम् । अनुदात्तादिस्वादञि
तस्य लुप्, युक्तवत्त्वात् स्त्रीत्वम् । पाटलानीति । बिल्वादिस्वादण् । एवं साल्वानि ।
हरीतक्यादीनामिति । वार्तिकमिदम् । एषा प्रकृतिलिङ्गमेव लुप्तप्रत्ययार्थे अतिदिश्यते,
न तु प्रकृतिवचनमपीत्यर्थः । इति प्राग्दीव्यतीयाः ।



प्रत्यय ही, फलरूप विकारावयव अर्थमें, विकल्पसे । लुप् च—जम्बू शब्दसे विहित फलार्थ
प्रत्ययका लुप् हो, विकल्पसे । लुपि युक्तवत्—लुप् होनेपर प्रकृतिकी तरह ही लिङ्ग और
वचन हो । फलपाक—फलके परिपाकसे सूखनेवाला ओषधि वाचकसे फलार्थक प्रत्ययका
लुप् हो । पुष्पमूलेषु—पुष्प और मूलमें विकारावयवार्थक प्रत्ययका बहुलतासे लुप् हो । ।

हरीतक्या—हरीतक्यादिसे विहित फलार्थक प्रत्ययका लुप् हो ।

हरीतक्यादीनां—हरीतक्यादिका लिङ्ग ही प्रकृतिवत् हो—वचन नहीं ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें विकारार्थक प्रकरण समाप्त हुआ ।



अथ ठगधिकारप्रकरणम्

प्राग्वहतेष्टम् । १४।४।१। तद्वहतीत्यतः प्राक् ठगधिक्रियते । (तदाहेति माशब्दादिभ्य उपसंख्यानम्) । माशब्दः कारि इति य आह सः— माशब्दिकः ॥ (आहौ प्रभूतादिभ्यः) । प्रभूतमाह—प्राभूतिकः । पार्याप्तिकः ॥ (पृच्छतौ सुस्नातादिभ्यः) । सुस्नातं पृच्छति—सौस्नातिकः । सौखशायनिकः ॥ अनुशतिकादिः ॥ (गच्छतौ परदारादिभ्यः) । पारदारिकः । गौरुतल्पिकः ॥ तेन दीव्यति खनति जयति जितम् । १४।४।२। अक्षैर्दीव्यति जयति जितं वा—आक्षिकः । अभ्रथा खनति—आभ्रिकः ॥ संस्कृतम् । १४।४।३। दध्ना संस्कृतं—दाधिकम् । मारिचिकम् ॥ तरति । १४।४।५। उड्डपेन तरति—औड्डपिकः ॥ गोपुच्छाट्टञ्

प्राग्वहतेष्टम् । वहतीत्येकदेशेन 'तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्' इति सूत्रं परामृश्यते इत्यभिप्रेत्याह—तद्वहतीत्यत इति । तदाहेति । इतिशब्दो व्युत्क्रमेण तच्छब्दानन्तरं द्रष्टव्यः । तदित्याहेत्यर्थे माशब्द-स्वागत इत्यादिशब्देभ्यः ठक् उपसंख्यानमित्यन्वयः । तदित्यनेन वाक्यार्थो विवक्षितः । इतिशब्दस्तस्य वाक्यार्थस्य कर्मत्वं गमयतीति । आहविति । आहेतिपदैकदेशादिकारस्य उच्चारणार्थो निर्देशः । तदिति पूर्ववार्तिकादनुवर्तते । आहेत्यर्थे द्वितीयान्तेभ्यः प्रभूतादिभ्यष्टगवाच्य इत्यर्थः । पार्याप्तिक इति । पर्याप्तमाहेत्यर्थः । पृच्छताविति । तदित्यनुवर्तते । पृच्छतीत्यर्थे द्वितीयान्तेभ्यः सुस्नातादिभ्यः षगवाच्य इत्यर्थः । सौखशायनिक इति । सुखशयनं पृच्छतीत्यर्थः । अनुशतिकादिरिति । सुखशयनशब्द इति शेषः । ततश्च 'अनुशतिकादीनां च' इति पूर्वोत्तरपदयोरदिवृद्धिरिति भावः । गच्छताविति । तदित्यनुवर्तते । गच्छत्यर्थे परदारादिभ्यो द्वितीयान्तेभ्यः ठगित्यर्थः । पारदारिक इति । परदारान् गच्छतीत्यर्थः । गौरुतल्पिक इति । गुरुतल्पं गच्छतीत्यर्थः । गुरुतल्पो गुरुस्त्री । गोपुच्छाट्टञ् । तरतीत्यर्थे तृतीयान्तादिति शेषः । नौद्वयचछन् । ठनिति च्छेदः । घुत्वकृतः सस्य पकारः । तरतीत्यर्थे नौशब्दात् द्वयचश्च तृतीयान्तात् ठनि-

प्राग्वहते—'तद्वहति रथयुग' इति सूत्रं तत्र 'ठक्'का अधिकार है । तदाहेति—कर्मसंज्ञक 'मा' शब्दादिसे 'आह' अर्थमें ठक् प्रत्यय हो । आहौ—द्वितीयान्त प्रभूतादिसे आह अर्थमें ठक् प्रत्यय हो । पृच्छतौ—द्वितीयान्त सुस्नातादिसे पृच्छति अर्थमें ठक् प्रत्यय हो । गच्छतौ—द्वितीयान्त परदारादिसे गच्छति अर्थमें ठक् प्रत्यय हो । तेन दीव्यति—तृतीयान्तसे दीव्यति—आदि अर्थोंमें ठक् प्रत्यय हो । संस्कृतम्—तृतीयान्तसे संस्कृत अर्थमें ठक् प्रत्यय हो । तरति—तृतीयान्तसे तरति अर्थमें ठक् प्रत्यय हो । गोपुच्छाट्—गोपुच्छ प्रकृतिक तृतीयान्तसे तरति अर्थमें ठक् प्रत्यय हो ।

४।४।६। गौपुच्छिकः ॥ नौद्वयच छन् ४।४।७। नाविकः । घटिकः ॥ चरति ४।४।८। हस्तिना चरति-हास्तिकः । दध्ना भक्षयति-दाधिकः । शकटेन चरति-शाकटिकः ॥ पर्पादिभ्यः छन् ४।४।१०। पर्पेण चरति-पर्पिकः । येन पोठेन पङ्कवध्वरन्ति सः-पर्पः । अश्विकः रथिकः ॥ श्वगणाट्ठञ् च ४।४।११। चाच्छन् ॥ श्वादेरिञि ४।३।८। ऐज् न । श्वाभञ्जिः ॥ (इकारादाविति वाच्यम्) । श्वगणेन चरति-श्वागणिकः, श्वागणिकी, श्वगणिकः । श्वगणिकी ॥ वेतनादिभ्यो जीवति ४।४।१२। वेतनेन जीवति-वैतनिकः । धानुष्कः ॥ हरत्युत्सङ्गादिभ्यः ४।४।१५। उत्सङ्गेन हरति-आत्सङ्गिकः ॥ भस्त्रादिभ्यः छन् ४।४।१६। भस्त्रया हरति-भस्त्रिकः । षित्वाद्

त्यर्थः । नाविक इति । नावा तरतीत्यर्थः । घटिक इति । घटेन तरतीत्यर्थः । आश्विकः । अक्षशब्दात्तृतीयान्तात् दीव्यति, खनति, जयति, जितम्, इत्येतेषु अर्थेषु 'तेन दीव्यतिखनतिजयतिजितम्' इति सूत्रेण ठकि कृते 'अक्ष भिस् ठक्' इति जाते कलोपे 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति भिसो लुकि, 'ठस्येकः' इति ठस्य इकादेशे 'यचि भम्' इति भसंज्ञायाम् 'यस्येति च' इति अलोपे 'किति च' इति आद्यचो वृद्धौ प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ, सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गत्वे च 'आक्षिकः' इति । श्वगणाट्ठञ् च । उक्तविषये इति शेषः । श्वगणशब्दात्तृतीयान्ताच्चरतीत्यर्थे ठञ् छन् च स्यादित्यर्थः । श्वागणिक इत्युदाहरणं वक्ष्यति । तत्र श्वन्शब्दस्य द्वारादि-त्वादेजागमे प्राप्ते—। श्वादेरिञि । 'न कर्मव्यतीहारे' इत्यतो नेत्यनुवर्तते । अङ्गस्येत्यधिकृतम् । श्वन्शब्दः आदिर्यस्येति विग्रहः । श्वन्शब्दपूर्वपदस्याङ्गस्य इजि परे नैजागम इत्यर्थः । श्वाभञ्जिरिति । 'अत इज्' । इकारादाविति वाच्यमिति । इजीति परित्यज्य इकारादाविति वाच्यमित्यर्थः । इजि तु व्यपदेशिवत्त्वेन इकारादित्वम् । श्वागणिक इति । छनि रूपम् । वेतनादिभ्यो जीवति । जीवतीत्यर्थे तृतीयान्तेभ्यः ठगिति शेषः । वैतनिक इति । वेतनेन जीवतीत्यर्थः । धानुष्क इति । धनुषा जीवतीत्यर्थः । उत्सन्तात्परत्वाट्ठस्य कः । 'इणः पः' इति पत्वम् । हरत्युत्सङ्गादिभ्यः । हरतीत्यर्थे तृतीयान्तेभ्यः उत्सङ्गादिभ्यः ठक् स्यादित्यर्थः । भस्त्रादिभ्यः छन् । छनितिच्छेदः । हरतीत्यर्थे तृतीया-

नौद्वयचः—'नौ' तथा द्वयच् प्रकृतिक तृतीयान्तसे तरति अर्थमें ठन् प्रत्यय हो ।

चरति—तृतीयान्तसे चरति अर्थमें ठक् प्रत्यय हो । पर्पादिभ्यः—पर्पादि प्रकृतिक तृतीयान्तसे चरति अर्थमें छन् प्रत्यय हो । श्वगणात्—श्वगण प्रकृतिक तृतीयान्तसे चरति अर्थमें ठञ् और छन् प्रत्यय हो । श्वादेरिञि—इज् प्रत्ययके परे श्वादिसे ऐच्का आगम नहीं हो ।

इकारा—इकारादि तद्धितके परे—श्वादिको ऐच् नहीं हो—ऐसा कहना चाहिये ।

वेतना—वेतनादि प्रकृतिक जीवति अर्थमें ठक् प्रत्यय हो । हरत्युत्—उत्संगादि प्रकृतिक तृतीयान्तसे हरति अर्थमें ठक् प्रत्यय हो । भस्त्रादिभ्यः—भस्त्रादि प्रकृतिक तृतीयान्तमें

भक्षिकी ॥ विभाषा विवधात् ॥४४॥१७॥ छन् । पक्षे ठक्, विवधेन हरति—
 विवधिकः । एकदेशविकृतत्वाद्द्विवधादपि । वीवधिकः । विवधवीवधशब्दौ उभयतो
 बद्धशिक्ष्ये स्कन्धबाह्ये काष्ठे वर्तते ॥ निर्वृत्तेऽक्षयूतादिभ्यः ॥४४॥१९॥ अक्ष-
 यूतेन निर्वृत्तम् आक्षयूतिकं वैरम् ॥ संसृष्टे ॥४४॥२२॥ दध्ना संसृष्टं दाधिकम् ॥
 लवणाल्लुक् ॥४४॥२४॥ लवणेन संसृष्टो लवणः सूपः ॥ मुद्गादण् ॥४४॥२५॥
 मौद्ग ओदनः ॥ उञ्छति ॥४४॥२२॥ बदराण्युञ्छति वादरिकः ॥ रक्षति
 ॥४४॥३३॥ समाजं रक्षति—सामाजिकः ॥ शब्ददुर्दुरं करोति ॥४४॥३४॥ शब्दं
 करोति—शान्दिकः । दार्दुरिकः ॥ पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति ॥४४॥३५॥ स्वरूपस्य
 पर्यायाणां विशेषाणां च ग्रहणम् । मत्स्यपर्यायेषु मीनस्यैव । पक्षिणो हन्ति—
 पाक्षिकः । शाकुनिकः । मायूरिकः । मारित्यकः । मैनिकः । शाकुलिकः । मार्गिकः ।
 हारिणिकः । सारङ्गिकः ॥ धर्मं चरति ॥४४॥४१॥ धार्मिकः ॥ (अधर्माच्चेति
 वक्तव्यम्) । आधर्मिकः ॥ तदस्य पण्यम् ॥४४॥५१॥ अप्रूपाः पण्यमस्य—

न्तेभ्यो भक्षादिभ्यः छन् स्यादित्यर्थः । विभाषा विवधात् । हरतीत्यर्थं तृतीयान्तात्
 छनिति शेषः । निर्वृत्तऽक्षयूतादिभ्यः । निर्वृत्तमित्यर्थे तृतीयान्तेऽभ्योऽक्षयूतादिभ्यः
 ठगित्यर्थः । संसृष्टे । संसृष्टमित्यर्थे तृतीयान्तात् ठगित्यर्थः । लवणाल्लुक् । पूर्वसूत्रविहि-
 तस्येति शेषः । मुद्गादण् । तेन संसृष्टमित्यर्थे तृतीयान्तादिति शेषः । मौद्ग ओदन इति ।
 मुद्गैः संसृष्ट इत्यर्थः । मीनस्यैवेति । मत्स्यपर्यायेषु मीनस्यैव ग्रहणम्, न त्वनिमिषादि-
 शब्दानामित्यर्थः । पाक्षिक इति । स्वरूपस्योदाहरणम् । शाकुनिक इति । पक्षिपर्यायस्य ।
 मायूरिक इति । पक्षिविशेषस्य । तथा मारित्यकः, मैनिकः, शाकुलिक इति क्रमेण स्वरू-
 पपर्यायविशेषाणामुदाहरणम् । तथा मार्गिकः, हारिणिकः, सारङ्गिकः, इति क्रमेण

हरति अर्थमें छन् प्रत्यय हो । विभाषा—विवध प्रकृतिक तृतीयान्तसे हरति अर्थमें छन् प्रत्यय
 हो, पिकल्पसे । निर्वृत्ते—अक्ष-यूतादि प्रकृतिक तृतीयान्तसे निर्वृत्त अर्थमें ठक् प्रत्यय हो ।

संसृष्टे—तृतीयान्तसे संसृष्ट अर्थमें ठक् प्रत्यय हो । लवणा—लवण प्रकृतिक तृतीया-
 न्तसे संसृष्ट अर्थमें विहित ठक् प्रत्ययका लुक् हो । मुद्गादण्—तृतीयान्त मुद्ग शब्दसे
 संसृष्ट अर्थमें अण् प्रत्यय हो । उञ्छति—द्वितीयान्तसे उञ्छति अर्थमें ठक् प्रत्यय हो ।

रक्षति—द्वितीयान्तसे रक्षति—अर्थमें ठक् प्रत्यय हो । शब्द—शब्द और दुर्दुर प्रकृतिक
 द्वितीयान्तसे करोति अर्थमें ठक् प्रत्यय हो । पक्षिमत्स्य—पक्षि—मत्स्यादि प्रकृतिक द्वितीयान्तसे
 हन्ति अर्थमें ठक् प्रत्यय हो । धर्मं चरति—धर्म प्रकृतिक द्वितीयान्तसे चरति अर्थमें ठक्
 प्रत्यय हो । अधर्मा—अधर्म प्रकृतिक द्वितीयान्तसे भी चरति अर्थमें ठक् प्रत्यय हो—ऐसा
 कहना चाहिये । तदस्य—‘अस्य पण्यम्’ अर्थमें प्रथमान्तसे ठक् प्रत्यय हो ।

आपूपिकः ॥ लवणाट्ठञ् । ४।४।५२। लावणिकः ॥ शिल्पम् । ४।४।५५। मृदङ्ग-
वादनं शिल्पमस्य-मादङ्गिकः ॥ प्रहरणम् । ४।४।५७। असिः प्रहरणमस्य—
आसिकः । धानुष्कः ॥ शक्तियष्टयोरीकक । ४।४।५९। शाक्तीकः । याष्टीकः ॥
अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः । ४।४।६०। अस्ति परलोक इत्येवं मतिर्यस्य सः—
आस्तिकः । नास्तीति मतिर्यस्य सः—नास्तिकः । दिष्टमिति मतिर्यस्य सः—दैष्टिकः ॥
शीलम् । ४।४।६१। अपूपमक्षणं शीलमस्य-आपूपिकः ॥ छत्रादिभ्यो णः ।
४।४।६२। गुरोर्दोषाणामावरणं छत्रं, तच्छीलमस्य-छात्रः ॥ तत्र नियुक्तः ।
४।४।६९। आकरे नियुक्त आकरिकः ॥ निकटे वसति । ४।४।७३। नैकटिको
भिधुः । इति ठगधिकारप्रकरणम् ।



स्वरूपपर्यायविशेषाणामुदाहरणम् । प्रहरणम् । तदिति प्रथमासमर्थादस्येति षष्ठ्यर्थे
ठक् प्रत्ययो भवति । यत्तत्प्रथमासमर्थं प्रहरणं चेत्तन्नवति । प्रहियतेऽनेनेति प्रहरण-
मायुधम् । आसिकः असिः प्रहरणमस्य 'आसिकः' इत्यत्र 'प्रहरणम्' इति ठकि,
ठस्येकादेशे सुपो लुकि, 'यचि भमि'ति भत्वे, अलोपे, संयोगे, वृद्धौ विभक्तिकार्ये च
तत्सिद्धिः । शक्तियष्टयोरीकक । शक्तियष्टिशब्दाभ्यां प्रथमान्ताभ्यां प्रहरणवाचिभ्यामस्ये-
त्यर्थे ईकक स्यादित्यर्थः । अस्ति नास्ति । अस्तीति मतिरस्यास्ति नास्तीति मतिरस्या-
स्ति, दिष्टमिति मतिरस्यास्तीत्यर्थेषु क्रमेण अस्तीत्यस्मात् नास्तीत्यस्मात् दिष्टमित्य-
स्माच्च प्रथमान्ताट्ठगित्यर्थः । अस्तिनास्तिशब्दौ निपातौ । यद्वा वचनादेव आख्याता-
प्रत्ययः । 'देवं दिष्टं भागधेयम्' इत्यमरः । इति ठगधिकारः ।



लवणा—लवण शब्दसे ठञ् प्रत्यय हो, 'अस्य पण्यम्' इस अर्थमें । शिल्पम्—'अस्य
शिल्पम्' इस अर्थमें प्रथमान्तसे ठक् प्रत्यय हो । प्रहरणम्—'अस्य प्रहरणम्' इस अर्थमें
प्रथमान्तसे ठक् प्रत्यय हो । शक्ति—शक्ति और यष्टि शब्दसे ईकक प्रत्यय हो, 'अस्य प्रहर-
णम्' इस अर्थमें । अस्तिनास्ति—अस्ति, नास्ति और दिष्ट शब्दोंसे 'इति मतिर्यस्य' इस
अर्थमें ठक् प्रत्यय हो । शीलम्—प्रथमान्तसे 'अस्य शीलम्' अर्थमें ठक् प्रत्यय हो ।

छत्रादिभ्यो—छत्रादिसे 'अस्य शीलम्' अर्थमें ण प्रत्यय हो । तत्र नियुक्तः—सप्तम्य-
न्तसे नियुक्त अर्थमें ठक् प्रत्यय हो । निकटे—निकटप्रकृतिक सप्तम्यन्तसे 'वसति' अर्थमें
ठक् प्रत्यय हो ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें ठगधिकार प्रकरण समाप्त हुआ ।



अथ प्राग्घतीयप्रकरणम्

प्राग्घिताद्यत् । ४।४।७५। 'तस्मै हितम्' इत्यतः प्राग् यदधिक्रियते ॥ तद्व-
हति रथयुगप्रासङ्गम् । ४।४।७६। रथं वहति-रथ्यः । युग्यः । प्रासङ्ग्यः ॥
धुरो यड्ढकौ । ४।४।७७। धुर्यः, धौरेयः ॥ हलसीराट्ठक् ४।४।८१। हलं वहति-
हालिकः । सैरिकः ॥ विध्यत्यधनुषा । ४।४।८३। द्वितीयान्ताद्विध्यतीत्यर्थे यत्
स्यात्, न चेत्तत्र धनुः करणम् । पादौ विध्यन्ति-पद्याः शर्कराः ॥ नौवयोधर्मविष-
मूलमूलसीतातुलाभ्यस्तार्यतुल्यप्राप्यवध्यानाभ्यसमसमितसंमितेषु । ४।
४।९१। नावा तार्य-नाव्यं जलम् । वयसा तुल्यः-वयस्यः । धर्मेण प्राप्य-धर्म्यम् ।
विषेण वध्यः-विध्यः । मूलेन आनाभ्यं-मूल्यम् । मूलेन समः-मूल्यः । सीतया
समितं-सीत्यं क्षेत्रम् । तुलया संमितं-तुल्यम् ॥ तत्र साधुः । ४।४।९८। सामसु
साधुः-सामन्यः । अप्रघः । कर्मण्यः । शरण्यः ॥ सभाया यः । ४।४।१०५। सभ्यः ।

इति प्राग्घतीयप्रकरणम् ॥

रथ्यः । रथं वहति 'रथ्यः' इत्यत्र 'तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्' इति यति, तलोपे
सुपो लुकि 'यचि भम्' इति भत्वे 'यस्येति च' इति अकारलोपे संयोगे विभक्ति-
कार्ये च कृते 'रथ्यः' इति सिद्धम् । हलसीराट्ठक् । आभ्यां द्वितीयान्ताभ्यां
वहतीत्यर्थे ठगित्यर्थः । विध्यत्यधनुषा । तदिति द्वितीयान्तमनुवर्तते । अधनुपेति
सप्तम्यर्थे वृतीया । धनुषः अभावः अधनुः तस्मिन् सतीत्यर्थः । अर्थाभावे नञ्
तत्पुरुषः, अर्थाभावे अन्ययीभावेन अयं विकल्प्यत इत्युक्तत्वात् । द्वितीयान्ताद्विध्य-
तीत्यर्थे यत्स्याद्धनुषः करणस्याभावे सतीत्यर्थः । इति प्राग्घितीयाः ।

प्राग्घितात्—'तस्मै हितम्' इति सूत्र तक 'यत्' का अधिकार है । तद्वहति—रथादि-
प्रकृतिक द्वितीयान्तसे 'वहति' अर्थमें यत् प्रत्यय हो । धुरो यड्ढकौ—धुर-प्रकृतिक
द्वितीयान्तसे वहति अर्थमें यत् प्रत्यय और ढक् प्रत्यय हो ।

हलसीराट्—हल और सीर-प्रकृतिक द्वितीयान्तसे 'वहति' अर्थमें ढक् प्रत्यय हो ।
विध्यत्य—वेधमें यदि धनुषकरण नहीं हो तो—द्वितीयान्तसे 'विध्यति' अर्थमें यत्
प्रत्यय हो । नौवयो—नावादि प्रकृतिक वृतीयान्तसे तार्यादि अर्थोंमें यत् प्रत्यय हो ।
तत्र साधु—सप्तम्यन्तसे साधु अर्थमें यत् प्रत्यय हो । सभायाः—सभा-प्रकृतिक सप्त-
म्यन्तसे साधु अर्थमें 'य' प्रत्यय हो ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें प्राग्घितीय प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ आर्हिये छयदधिकारप्रकरणम्

प्राक् क्रीताच्छः । ५।१।१। तेन क्रीतमित्यतः प्राक् छोऽधिक्रियते ॥ उगवा-
दिभ्यो यत् । ५।१।२। प्राक् क्रीतादित्येव । उवर्णान्ताद्गवादिभ्यश्च यत् स्याच्छ-
स्यापवादः ॥ (नाभि नभं च) नभ्यः अक्षः । नभ्यम्-अञ्जनम् । रथनाभावेवे-
दम् ॥ (शुनः संप्रसारणं वा च दीर्घत्वम्) । शुन्यम् । शून्यम् ॥
(ऊधसोऽनङ् च) ऊधन्यः ॥ कम्बलाच्च संज्ञायाम् । ५।१।३। यत् ।
कम्बल्यम्-ऊर्णापलशतम् । संज्ञायां किम् ? कम्बलीया ऊर्णा ॥ विभाषा हवि-
रपूपादिभ्यः । ५।१।४। आमिद्यं दधि, आमिक्षीयम् । पुरोडाश्यास्तण्डुलाः, पुरो-
डाशीयाः । अपूप्यम् । अपूपीयम् ॥ तस्मै हितम् । ५।१।५। वत्सेभ्यो हितो
वत्सीयो गोधुक् । शङ्कुव्यं दारु । गव्यम् । हविष्यम् ॥ शरीरावयवाद्यत् । ५।१।६।

रथनाभावेवेदमिति । शरीरावयवविशेषवाचिनामिशब्दात् 'शरीरावयवाद्यत्' इति
वक्ष्यमाणः केवलो यत्, न तु नभादेश इति भावः । शुनः संप्रसारणमिति । गवादिगण-
सूत्रम् । श्वन्शब्दाद्यस्यात् प्रकृतेः संप्रसारणम्, तस्य संप्रसारणस्य पाक्षिकं दीर्घत्वमि-
त्यर्थः । शुन्यम्, शून्यमिति । शुने हितमित्यर्थः । ऊधसोऽनङ् चेति । इदमादिगण-
सूत्रम् । ऊधस्शब्दात् यत्स्यात् प्रकृतेरनङादेशश्चेत्यर्थः । आदेशे ङकार इत् नकाराद-
कार उच्चारणार्थः, द्विवादान्तादेशः । कम्बलाच्च । कम्बलशब्दात् यत्स्यात् प्राक्क्री-
तीयेष्वर्थेषु संज्ञायामित्यर्थः । कम्बल्यम्-ऊर्णापलशतमिति कम्बलाय हितमित्यर्थः ।
विभाषा हविः । हविर्विशेषवाचिभ्यः अपूपादिभ्यश्च प्राक्क्रीतीयेष्वर्थेषु यद्वा स्यादित्यर्थः ।
पत्ते छः । आमिद्यं दधीति । आमिद्यायै हितमित्यर्थः । तसे पयसि दधिनि निक्षिप्ते सति
यद्धनीभूतं निष्पद्यते सा आमिचेत्युच्यते । शङ्कुव्यम् । शङ्कुवे हितं 'शङ्कुव्यम्' इत्यत्र
'प्राक् क्रीताच्छः' इति छे प्राप्ते तं सम्बाध्य 'उगवादिभ्यो यत्' इति यति, तगते
'सुपो लुकि, 'यचि भम्' इति भत्वे भत्वादे 'ओर्गुणः' इति गुणे 'वान्तो

प्राक् क्रीतात्—'तेन क्रीतम्' इति सूत्रं तत्र 'छ' का अधिकार है । उगवा—उवर्णान्तसे
और गवादिसे यत् प्रत्यय हो, हितादि अर्थोंमें । नाभि—नाभि शब्दसे यत् प्रत्यय हो और
नामिको नभ आदेश हो । शुनः—श्वन् शब्दसे यत् प्रत्यय और श्वन्को संप्रसारण हो तथा
संप्रसारणको विकल्पसे दीर्घ भी हो । ऊधसो—ऊधस् शब्दसे यत् प्रत्यय हो और ऊधस्को
अनङ् आदेश हो । कम्बलाच्च—संज्ञामें कम्बल शब्दसे यत् प्रत्यय हो, हितादि अर्थोंमें ।

विभाषा—हविर्विशेषवाचीसे और अपूपादिसे विकल्प करके यत् प्रत्यय हो, हितादि
अर्थोंमें । तस्मै हितम्—चतुर्थ्यन्तसे हित अर्थमें यथाविहित पूर्वोक्त और वक्ष्यमाण प्रत्यय
हों । शरीरावयव—शरीरावयववाची चतुर्थ्यन्तसे हित अर्थमें यत् प्रत्यय हो ।

दन्त्यम् । कण्ठ्यम् । नस्यम् । नाभ्यम् ॥ अजाविभ्यां थ्यन् । ५।१।८।
 अजथ्या यूथिः । अविथ्या ॥ आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात्तः । ५।१।९।
 आत्माध्वानौ खे । ६।४।१६९। प्रकृत्या स्तः । आत्मने हितम्-आत्मनीनम् ।
 विश्वजनीनम् । (कर्मधारयादेवेथ्यते) । अन्यत्र-विश्वजनीयम् । (पञ्चजनादु-
 पसंख्यानम्) । पञ्चजनीनम् । 'कुमति च' इति णः । मातृभोगीणः ॥
 (आचार्यादणत्वं च) । आचार्यभोगीणः ॥ इति छयतोः पूर्णोऽवधिः ॥

अथ आर्हाये ठजधिकारप्रकरणम्

प्राग्वतेष्टज् । ५।१।१८। तेन तुल्यमित्यतः प्राक् ठजधिक्रियते ॥ आर्हा-
 दगोपुच्छसंख्यापरिमाणाट्ठक् । ५।१।१९। तदर्हतीत्येतदभिव्याप्य ठजधिकार-

यि प्रत्यये' इत्यवादेशे विभक्तिकार्ये च कृते 'शङ्कव्यम्' इति । अजाविभ्यां थ्यन् ।
 अजश्च अविश्चेति द्वन्द्वः । अविशब्दस्य धित्वेऽपि 'अजाद्यदन्तम्' इत्यजशब्दस्य पूर्व-
 निपातः । अजथ्या यूथरिति । अजेभ्यः अजाभ्यो वा हितेत्यर्थः । लिङ्गविशिष्टपरिभाषया
 अजाशब्दादपि थ्यन्, तसिलादिष्विति पुंवस्त्वम् । अविथ्येति । अविभ्यो हितेत्यर्थः ।
 स्त्रीत्वं लोकात् । आचार्यादिति । आचार्यशब्दात्परस्य भोगीनशब्दस्य नस्य णत्वा-
 भावो वाच्य इत्यर्थः । न च असमानपदस्थत्वादेवात्र णत्वस्याप्रसक्तैस्तन्निषेधो व्यर्थ
 इति वाच्यम्, मातृभोगीणादौ णत्वज्ञापनार्थत्वात् । इति छयदधिकारप्रकरणम् ।

आर्हादगोपुच्छसंख्यापरिमाणाट्ठक् । 'तदर्हती'ति सूत्रगते अर्हतिशब्दे एकदेशानु-
 करणमर्हेति, तच्च तद्धटितसूत्रपरम् । आहभिव्यासौ, व्याख्यानात् । तदाह—तदर्ह-
 तीति । इत्येतदभिव्याप्येति । इदमपि सूत्रं प्रत्ययविशेषाश्रवणे उपतिष्ठते । अत्र

अजाविभ्यां—अज और अवि-प्रकृतिक चतुर्थ्यन्तसे हित अर्थमें यत् प्रत्यय हो ।

आत्मन्—आत्मादि-प्रकृतिक चतुर्थ्यन्तसे हित अर्थमें ख प्रत्यय हो ।

आत्माध्वानौ—'ख' प्रत्ययके परे आत्मन् और अध्वन् प्रकृतिवत् रहें ।

कर्मधारया—विश्वजनसे कर्मधारय समासमें ही ख प्रत्यय हो । पञ्चजना—पञ्चजन
 प्रकृतिक चतुर्थ्यन्तसे भी हित अर्थमें ख प्रत्यय हो । आचार्यात्—आचार्यसे पर (भोगीनके)
 नकारको णत्व नहीं हो ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें छयदधिकार प्रकरण समाप्त हुआ ।

प्राग्वते—'तेन तुल्यं वतिः' इस सूत्र तक 'ठज्' का अधिकार है । आर्हाद—'तदर्हति'
 इस सूत्र तक ठजधिकारमें ठजपवादक 'ठक्' का अधिकार है—गोपुच्छादिको छोड़कर ।

मध्ये ठञोऽपवादष्टगधिक्रियते । गोपुच्छादीन्वर्जयित्वा ॥ असमासे निष्का-
दिभ्यः । ५।१।२०। आर्ह्यादित्येतत् तेन क्रीतमिति यावदनुवर्तते । निष्कादिभ्योऽ-
समासे ठक् आर्ह्येष्वर्थेषु । निष्केण क्रीतमिति-नैष्किकम् । समासे तु ठञ् ॥ परि-
माणान्तस्यासंज्ञाशाणयोः । ७।३।१७। उत्तरपदवृद्धिर्निदादौ । परमनैष्किकः ॥
शताच्च ठन्यतावशते । ५।१।२१। शतेन क्रीतम्-शत्यम्, शतिकम् । अशते
किम् ?—संख्याया अतिशदन्तायाः कन् । ५।१।२२। आर्ह्येऽर्थे । शतं परि-
माणमस्य शतकः सङ्घः । बहुकः । त्यन्तायास्तु-साप्ततिकः । शदन्तायाः-चात्वारि-
शत्कः ॥ वतोरिड्वा । ५।१।२३। वत्त्वन्तात्कन इड् वा । तावत्कः, तावतिकः ॥ कंसा-
ट्टिठन् । ५।१।२५। कंसिकः ॥ (अर्धाच्चेति वक्तव्यम्) अर्थिकः ॥ अध्यर्थपू-

संख्यापरिमाणयोः पृथग्रहणात् संख्या न परिमाणम् । असमास इति । यावदिति ।
'तेन क्रीतम्' इत्येतत्पर्यन्तमित्यर्थः । ठगिति । पूर्वसूत्रात्तदनुवृत्तेरिति भावः ।
आर्ह्येष्विति । 'तदर्हति' इत्येतत्पर्यन्तमतिक्रान्तेषु 'तेन क्रीतम्' इत्याद्यर्थेष्वित्यर्थः ।
नैष्किकमिति । निष्केण क्रीतमित्यर्थः, यथायोगं क्रीताद्यर्थान्वयः । समासे तु ठञिति ।
परमनिष्कादिशब्दादित्यर्थः । शेषपूरणेन तद्व्याचष्टे-उत्तरपदवृद्धिः स्यादिति । उत्त-
रपदस्य आदेरचो वृद्धिः स्यादित्यर्थः । निदादावेति । जिति णिति किति चेत्यर्थः ।
परमनैष्किक शते । परमनिष्केण क्रीतमित्यर्थः । समासत्वाद्ठगभावे औत्सर्गिकपृष्ठ ।
स्वरे विशेषः । शताच्च ठन्यतावशते । आर्ह्येष्वर्थेषु शताट्ठन्यतौ स्तः, न तु
शतेऽर्थे इत्यर्थः । उत्तरसूत्रप्राप्तकनोऽपवादः । संख्यायाः । तिश्च शच्च तिशतौ, तौ
अन्ते यस्याः सा तिशदन्ता, न तिशदन्ता अतिशदन्ता, द्वन्द्वगर्भवद्बुग्रीहिगर्भो नञ्-
तत्पुरुषः । साप्ततिक इति । सप्तस्या क्रीत इत्यर्थः । 'तेन क्रीतम्' इति ठञ् । चत्वारि
शत्क इति । चत्वारिशता क्रीतमित्यर्थः । 'तेन क्रीतम्' इति ठञ्ठस्य तकारात्पर
त्वात्कः । वतोरिड्वा । वतोरित्यनेन प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तदन्तं गृह्यते । कञ्जिति
प्रथमान्तमनुवृत्तम् । वतोः इति पञ्चमी, 'तस्मादित्युत्तरस्य' इति परिभाषया पष्ठ-
न्तं प्रकल्पयति, तदाह—वत्त्वन्तादिति । तावतिक इति । तावता क्रीत इत्यर्थः ।
'यत्तदेतेभ्यः' इति वतुप्, 'बहुगणवतु' इति संख्यासंज्ञायां 'संख्याया अतिशदन्तायाः'
इति कन्, तस्य इट्, टित्वादाद्यवयवः । कंसात् इत्यादि स्पष्टम् । अध्यर्थपूर्वाद् द्विगो-

असमासे—असमासमे निष्कादिसे ठक् प्रत्यय हो, आर्ह्य, क्रीत आदि अर्थोंमें ।

परिमाणा—परिमाणान्तके उत्तरपदको वृद्धि हो, निदादिके परे—संज्ञा और शाणको
छोड़कर । शताच्च—शन शब्दसे आर्ह्य, क्रीत आदि अर्थोंमें ठन् प्रत्यय और यत् प्रत्यय
हो, यदि शतका अभिधेय नहीं रहे । संख्याया—त्यन्त, शदन्तसे भिन्न संख्यायाचकसे कन्
प्रत्यय हो, आर्ह्यादि अर्थमें । वतोरिड्—त्वन्तसे विहित कन् प्रत्ययको इडागम हो, विकल्प-
से । कंसाट्टिठन्—कंस शब्दसे टिठन् प्रत्यय हो, आर्ह्य अर्थमें । अर्धाच्च—अर्थ शब्दसे

वाद् द्विगोलुगसंज्ञायाम् । ५।१।२८। अध्यर्धपूर्वाद् द्विगोश्च परस्यार्हीयस्य लुक् ।
अध्यर्धकंसम् । संज्ञायां तु-पाञ्चकलापिकम् ॥ तेन क्रीतम् । ५।१।३७। ठञ्, गोपु-
च्छेन क्रीतं-गोपुच्छिकम् । साप्ततिकम् । ठक्, नैष्ठिकम् ॥ तस्येश्वरः । ५।१।४२।
सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ स्तः । 'अनुशतिकादीनां चे'ति वृद्धिः । सर्वभूमेरीश्वरः-
सार्वभौमः ॥ तदस्य परिमाणम् । ५।१।५७। प्रस्थः परिमाणमस्य-प्रास्थिको राशिः ।
(स्तोमे ङविधिः) । पञ्चदश मन्त्राः परिमाणमस्य पञ्चदशः । सोमयागेषु च्छन्दोगैः
क्रियमाणा पृष्ठयादिसंज्ञिका स्तुतिः स्तोमः ॥ पङ्क्तिर्विंशतित्रिंशच्चत्वारिंशत्पञ्चा-
शत्षष्टिसप्तत्यशीतिनवतिशतम् । ५।१।५९। एते रुढिशब्दा निपात्यन्ते ॥
तदहति । ५।१।६३। श्वेतच्छत्रमहति-श्वेतच्छत्रिकः ॥ दण्डादिभ्यो यत् ।
५।१।६६। एभ्यो यत् । दण्डमहति-दण्ड्यः । अर्घ्यः । वध्यः ॥ तेन निर्वृत्तम् ।
५।१।७९। अह्ना निर्वृत्तम्-आह्निकम् ॥ इति ठञ्ठकोरवधिः ॥

रिति । आर्हीयस्येति । प्रत्यासत्तिलभ्यम् । अध्यर्धकंसमिति । अध्यारूढमर्धं यस्मिन् तत्
अध्यर्धम् । 'प्रादिभ्यो धातुजस्य' इति बहुव्रीहौ पूर्वखण्डे उत्तरपदलोपः । सार्ध-
मित्यर्थः । अध्यर्धेन कंसेन क्रीतमिति विग्रहः । तद्वितार्थे द्विगुः, 'संख्याया अतिशद-
न्तायाः' इति कन् । तस्यानेन लुगिति भावः । पाञ्चकपालिकम् । पञ्च कपालाः परि-
माणमस्येति विग्रहे 'तद्वितार्थ' इति द्विगुः, 'तदस्य' इति ठञ् । तदस्य परिमाणम् ।
अस्मिन्नर्थे प्रथमान्ताद्यथाविहितप्रत्ययाः स्युरित्यर्थः । (इति प्राग्वतीयाः) ।

इति ठञोऽवधिः ।

टिठन् प्रत्यय हो उक्त अर्थमें । अध्यर्ध—अध्यर्ध पूर्वकसे पर और द्विगुसं पर आर्हीय प्रत्यय
का लुक् हो, असंज्ञामें । तेन क्रीतम्—तृतीयान्तसे क्रीत अर्थमें यथाविहित ठक्, ठञ्
आदि आर्हीय प्रत्यय हो । तस्येश्वरः—सर्वभूमि और पृथिवी-प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे अण्
और अञ् प्रत्यय हो, ईश्वर अर्थमें । तदस्य—'अस्य परिमाणम्' इस अर्थमें प्रथमान्तसे यथा-
विहित ठञादि प्रत्यय हो । स्तोमे—स्तोम अभिधेय हो तो 'अस्य परिमाणम्' इस अर्थमें
'ङ' प्रत्यय हो । पङ्क्तिर्वि—पङ्क्ति, विंशति आदि दश रुढि शब्द निपातन हो ।

तदहति—द्वितीयान्तसे 'अहति' अर्थमें ठञ् प्रत्यय हो । दण्डादिभ्यः—दण्डादि-प्रकृतिक
द्वितीयान्तसे यत् प्रत्यय हो, अहति अर्थमें । तेन निर्वृत्तम्—कालवाची तृतीयान्तसे
निर्वृत्त अर्थमें ठञ् प्रत्यय हो ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें आर्हीयप्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ भावकर्मार्थकप्रकरणम्

तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः । ५।१।११५। ब्राह्मणेन तुल्यं ब्राह्मणवत् अधीते । क्रिया चेत् किम् ? गुणतुल्ये मा भूत् । पुत्रेण तुल्यः स्थूलः ॥ तत्र तस्येव । ५।१।११६। मथुरायामिव मथुरावत्सुप्ने प्राकारः । चैत्रस्येव चैत्रवत् मैत्रस्य गावः ॥ तस्य भावस्त्वतलौ । ५।१।११९। प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारो भावः ॥ गोर्भावो गोत्वम्, गोता । (त्वान्तं क्लीबम्) (तलन्तं स्त्रियाम्) । आचत्वात् । ५।१।१२०। 'ब्रह्मणस्त्वः' इत्यतः प्राक् त्वतलावधिक्रियेते । अपवादैः सह समावेशार्थमिदम् । चकारो नञ्स्नञ्भ्यामपि समावेशार्थः । स्त्रिया भावः—स्त्रैणम्, स्त्रीत्वम्, स्त्रीता । पौंसन्म्, पुंस्त्वम्, पुंस्ता ॥ पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा । ५।१।१२२। वाचनमणादिसमावेशार्थम् ॥ र ऋतो हलादेर्लघोः । ६।४।१६१। इष्टमेयस्सु ॥

ब्राह्मणवत् । ब्राह्मणेन तुल्यं 'ब्राह्मणवत्' इत्यत्र 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इति वतौ, इलोपे, सुपो लुकि, 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इति प्रातिपदिकत्वे सौ समागते 'तसिलादिष्वाकृत्वसुचः' इति अव्ययत्वे, 'अव्ययादाप्सुपः' इति सोर्लुकि च 'ब्राह्मणवत्' इति भवति । तत्र तस्येवेति । तत्रेवेति तस्येवेति चार्थे सप्तम्यन्तात् षष्ठ्यन्ताच्च वतिः स्यादित्यर्थः । प्रकृतिजन्यबोध इति । त्वतलप्रत्ययौ यत् उत्पत्स्येते तस्मात्प्रकृतिभूतशब्दात् व्यक्तिबोधे जायमाने यत् जात्यादिकं विशेषणतया भासते तद्व्यक्तिविशेषणं भावशब्देन विवक्षितमित्यर्थः । वाचनमणादिसमावेशार्थमिति । पृथुमृदुप्रभृतिषु 'इगन्ताच्च लघुपूर्वात्' इत्यणः, चण्डखण्डादिषु गुणवचनलक्षण्यजः, बालवत्सादिषु वयोवचनलक्षण्यस्य अजश्च औत्सर्गिकस्य समावेशार्थमित्यर्थः । प्रथिमा । अत्र 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' इतीमनिचि, इचो लोपे 'पृथु इमन्' इति जाते 'र ऋतो हलादेर्लघोः' इति ऋकारस्य स्थाने रेफादेशो भत्वे, भत्वात् 'टेः' इति थकारोत्तरवर्त्युकारलोपे संयोगे 'प्रथिमन्' इति जाते, तद्धितान्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे सौ, सोर्लोपे, उपधादीर्घे नलोपे च कृते 'प्रथिमा' इति रूपम् । पच्चे-अणि सुपो लुकि,

तेन तुल्यं—चूनीयान्तसे तुल्य अर्थमें वति प्रत्यय हो, जो तुल्य हो, वह यदि क्रिया रहे तो । तत्र तस्येव—सप्तम्यन्त और षष्ठ्यन्तसे इवार्थमें वति प्रत्यय हो ।

तस्य भावः—षष्ठ्यन्तसे भाव अर्थमें त्व और तल् प्रत्यय हों । त्वान्तं क्लीबं—'त्व' प्रत्ययान्त शब्द नपुंसकलिङ्ग होते हैं । तलन्तं—'तल्' प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं ।

आ च त्वात्—'ब्रह्मणस्त्वः' इस सूत्र तक 'त्व' और 'तल्' का अधिकार है ।

पृथ्वादिभ्यः—पृथ्वादि प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे भाव अर्थमें 'इमनिच्' प्रत्यय हो, विकल्पसे । र ऋतो—हलादि लघु ऋकारको 'र' आदेश हो, इष्टन्, इमनिच् और इयसुन् प्रत्ययके

टेः । ६।४।१५५। लोप इष्टमेयस्सु । (पृथुमृदुभृशकृशदृढपरिवृढानामेव र-
त्त्वम्) । पृथोर्भावः—प्रथिमा, पार्थवम् । अदिमा, मार्दवम् ॥ वर्णदृढादिभ्यः व्यञ्च्
। ५।१।१२३। चादिमनिच् । शौक्ल्यम्, शुक्लिमा । दाढर्थम्, द्रढिमा ॥
गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च । ५।१।१२४। चाद्भावे । जडस्य कर्म
भावो वा—जाड्यम् । ब्राह्मण्यम् । आकृतिगणोऽयम् ॥ (चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे
उपसंख्यानम्) । चातुर्वर्ण्यम् । चातुराश्रम्यम् । त्रैस्वर्यम् । षाड्गुण्यम् । सैन्यम् ।
सान्निध्यम् । सामीप्यम् । औपम्यम् । त्रैलोक्यमित्यादि ॥ स्तेनाद्यन्नलोपश्च
। ५।१।१२५। नेति संघातग्रहणम् । स्तेनस्य भावः कर्म वा—स्तेयम् ॥
सख्युर्यः । ५।१।१२६। सख्यम् ॥ कपिज्ञात्योर्ढक् । ५।१।१२७। कापेयम् ।
ज्ञातेयम् ॥ पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् । ५।१।१२८। सैनापत्यम् । पौरोहि-
त्यम् । (राजाऽसे) । राजन्शब्दोऽसमासे यकं लभत इत्यर्थः । राज्ञो भावः
कर्म वा—राज्यम् । समासे तु ब्राह्मणादित्वात् घ्यञ्, आधिराज्यम् ॥ प्राणभृज्जाति-

आद्यचो वृद्धौ, रपरे च भत्वात् 'ओर्गुणः' इति गुणे अवादेशे विभक्तिकार्ये च
'पार्थवम्' इति । चतुर्वर्णादीनामिति । चतुर्वर्णादिभ्यः स्वार्थे व्यञ्च् उपसंख्यानमि-
त्यर्थः । स्तेनाद्यन्नलोपश्च । यदिति च्छेदः । स्तेनशब्दात् षष्ठ्यन्तात् भावे कर्मणि
चार्थे यत्स्यादित्यर्थः । नेतिसंघानग्रहणमिति । नलोपश्चेत्यत्र नेत्यकार उच्चारणार्थो
न भवति । किन्तु नकाराकारसंघातग्रहणमित्यर्थः । स्तेयमिति । स्तेनशब्दात् यत्प्र-
त्यये सति नेति संघातस्य लोप इति भावः । राजाऽसे इति । पुरोहितादिगणसूत्र-
मिदम् । राजा असे इति च्छेदः । स इति समासस्य प्राचां संज्ञा । तदाह—राज-
न्शब्द इति । राज्ञामिति । यकि टिलोपः 'ये चाभावकर्मणोः' इति प्रकृतिभावस्तु न,

परे । टेः—भसंज्ञक 'टि' का लोप हो, इष्टनादि प्रत्ययके परे । वर्णदृढा—वर्णवाची
और दृढादि षष्ठ्यन्तसे भाव अर्थमें व्यञ्च् प्रत्यय और इमनिच् प्रत्यय भी हो ।

गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः—गुणोपसर्जन द्रव्यवाची और ब्राह्मणादि-प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे
कर्म और भाव अर्थमें व्यञ्च् प्रत्यय हो । चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे उपसंख्यानम्—चतुर्वर्णादि
प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे स्वार्थमें व्यञ्च् प्रत्यय हो । स्तेनाद्यत्—स्तेन-प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे भाव
और कर्म अर्थमें यत् प्रत्यय हो और स्तेनके नकारका लोप भी हो । सख्युर्यः—सखि शब्द
प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे भाव और कर्म अर्थमें 'य' प्रत्यय हो । कपिज्ञात्यो—कपि और ज्ञाति
रूप षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकसे भाव और कर्म अर्थमें ढक् प्रत्यय हो । पत्यन्त—पत्यन्त और
पुरोहितादिप्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे भाव और कर्ममें यक् प्रत्यय हो । राजाऽसे—असमासमें
राजन् शब्दप्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे भाव-कर्म अर्थमें यक् प्रत्यय हो । प्राणभृज्जाति—प्राणि-

वयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ् । ५।१।१२९। प्राणभृज्जातिः,—आश्वम्, औष्ट्रम् ।
वयोवचनम्,—कौमारम् । औद्गात्रम् । औचेत्रम् । सौष्ठवम् ॥ हायनान्तयुवा-
दिभ्योऽण् । ५।१।१३०। द्वैहायनम् । त्रैहायनम् । यौवनम् । स्याविरम् ।
(श्रोत्रियस्य यत्नोपश्च) श्रोत्रम् । कुशलचपलनिपुणपिशुनकुतूहलक्षेत्रज्ञा युवा-
दिषु ब्राह्मणादिषु च पठ्यन्ते । कौशल्यम्, कौशलमित्यादि ॥ इगन्ताच्च ल-
घुपूर्वात् । ५।१।१३१। शुचेर्भावः कर्म वा-शौचम् । मौनम् । योपधाद्गुरु-
पोत्तमाद्बुञ् । ५।१।१३२। रामणीयकम् । आभिधानीयकम् ॥ (सहायाद्वा) ।

अभावकर्मणोरिति पर्युदासात् । समासे त्विति । अधिको राजा अधिराजा प्रादिस-
मासः । असे इति पर्युदासाद्यगभावे ब्राह्मणादित्वात् ण्यञि आधिराज्यमिति रूप-
मित्यर्थः । यक्प्यञोः स्वरे विशेषः । प्राणभृज्जाति । प्राणभृतः—प्राणिनः, तज्जाति-
वाचिभ्यो वयोविशेषवाचिभ्य उद्गात्रादिभ्यश्च षष्ठ्यन्तेभ्यः भावकर्मणोः अजित्य-
र्थः । प्राणभृज्जातीति । उदाहरणसूचनम् । एवं वयोवचनेति । हायनान्त । हायना-
न्तेभ्यः युवादिभ्यश्च षष्ठ्यन्तेभ्यः भावकर्मणोः अण् स्यादित्यर्थः । द्वैहायनमिति ।
द्वैहायनस्य भावः कर्म वेति विग्रहः । वयोवचनलक्षणस्य अजोऽपवादः । एवं त्रैहायन-
मिति । यौवनमिति । अनिति प्रकृतिभावान्न टिलोपः । श्रोत्रियस्येति । वार्तिकमिदम् ।
श्रोत्रियशब्दात् षष्ठ्यन्तात् भावकर्मणोः अण् प्रकृतेर्यलोपश्चेत्यर्थः । येति संघात-
ग्रहणम् । श्रोत्रमिति । छन्दोऽधीते इत्यर्थे छन्दःशब्दात् घप्रत्यये तस्य इयादेशे
प्रकृतेः श्रोत्र इत्यादेशे 'यस्येति च' इत्यल्लोपे श्रोत्रियशब्दः । श्रोत्रियस्य भावः
कर्म वेत्यर्थे श्रोत्रियशब्दादणि यकाराकारसंघातस्य लोपे रेफादिकारस्य 'यस्येति च'
इति लोपे श्रोत्रमिति रूपम् । इगन्ताच्च । लघुः पूर्वोऽवयवो यस्येति विग्रहः । पूर्वत्वं
च इगवधिकमेव गृह्यते, व्याख्यानात् । तथा च लघुः पूर्वो य इक् तदन्तात्प्रातिप-
दिकात् षष्ठ्यन्तात् भावकर्मणोरण् स्यादित्यर्थः । गुणवचनेत्यादेरपवादः । योपधात् ।
योपधात् गुरूपोत्तमात् प्रातिपदिकात् षष्ठ्यन्ताद्भावकर्मणोर्बुजित्यर्थः । रामणीयक-
मिति । रमणीयशब्दाद्बुञ् । आभिधानीयकमिति । अभिधानीयशब्दाद्बुञ् । सहाया-

जातिवाची, वयोवाची और उद्गात्रादि प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे भाव-कर्म अर्थमें अञ् प्रत्यय हो ।
हायनान्त—हायनान्त और युवादिप्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे भाव-कर्म अर्थमें अण् प्रत्यय हो ।
श्रोत्रियस्य—श्रोत्रियप्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे भाव-कर्म अर्थमें अणू प्रत्यय और श्रोत्रियके
अञ्चिश्चिष्ट 'य' का लोप भी हो । इगन्ताच्च—लघुपूर्वक इगन्त षष्ठ्यन्तसे भाव-कर्म अर्थमें
अण् प्रत्यय हो । योपधात्—गुरूपोत्तम जो यकारोपध, तत्प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे भाव-कर्म
अर्थमें बुञ् प्रत्यय हो । सहाया—सहाय-प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे भाव-कर्म अर्थमें बुञ् प्रत्यय
हो, विकल्पसे ।

साहाय्यम्, साहायकम् ॥ द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च ॥१॥१३३॥ शैष्योपाध्या-
यिका । मानोज्ञकम् ॥ इति भावकर्मार्थकप्रकरणम् ।

अथ पाञ्चमिकप्रकरणम्

धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् ॥१॥१॥ मुद्रानां भवनं क्षेत्रं-मौद्गीनम् ॥
ब्रीहिशाल्योर्दक् ॥१॥२॥ त्रैहेयम् । शालेयम् ॥ यवयवकषष्टिकाद्यत् ॥१॥
२॥३॥ यव्यम् । यवक्यम् । षष्टिक्यम् ॥ विभाषा तिलमाषोमाभङ्गाण्यभ्यः
॥१॥२॥४॥ यत् । पक्षे खञ् । तिल्यम्, तैलीनम् । माध्यम्, माषीणम् । उम्यम्,
औमीनम् । भङ्ग्यम्, भाङ्गीनम् । अणव्यम्, आणवीनम् ॥ तत्सर्वादेः पथ्यङ्ग-
कर्मपत्रपात्रं व्याप्नोति ॥१॥२॥७॥ सर्वादेः पथ्याद्यन्तात् द्वितीयान्तात्खः । सर्वपथान्

द्वेति । वुजिति शेषः । पक्षे ब्राह्मणादित्वात् प्यञ् । द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च । द्वन्द्वात् मनो-
ज्ञादिभ्यश्च षष्ठ्यन्तेभ्यः वुजित्यर्थः । शैष्योपाध्यायिकेति । शिष्यश्च उपाध्यायश्चेति
द्वन्द्वाद् वुञ्, स्त्रीत्वं लोकात् । इति नञ्स्नजोरधिकारः ।

यवयवक । यव, यवक, षष्टिक, एभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्यो भवने क्षेत्रे यत्स्यादित्यर्थः ।
खञोऽपवादः । धान्यानामित्यनुवृत्तेरिहापि षष्ठ्येव समर्थविभक्तिः । विभाषा तिल ।
तिल, माष, उमा, भङ्ग, अणु एभ्यो धान्यविशेषवाचिभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्यो यद्वा स्या-
दित्यर्थः । 'उमा स्यादतसी जुमा' इत्यमरः । अणव्यमिति । अणुर्धान्यविशेषः । यति
ओर्गुणः 'वान्तो यि' इत्यवादेशः । तत्सर्वादेः । पथिन्, अङ्ग, कर्मन्, पत्र, पात्र एषां
समाहारद्वन्द्वात् पञ्चम्यर्थे द्वितीया । प्रातिपदिकविशेषणत्वात्तदन्तविधिः । ग्रहणव-
त्ता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्तीति निषेधस्तु न, केवलानामेषां सर्वादित्वस्यासंभ-
वात् । तदिति तु द्वितीयान्तं व्याप्नोतीत्यत्रान्वेति । ततश्च तद्व्याप्नोतीत्यर्थे सर्व-
शब्दपूर्वपदकेभ्यः पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्रान्तेभ्यः खः स्यादित्यर्थः फलति । तदाह—सर्वा-

द्वन्द्व—द्वन्द्व और मनोज्ञादि—प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे भाव-कर्म अर्थमें वुञ् प्रत्यय हो ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें भावकर्मार्थक प्रकरण समाप्त हुआ ।

धान्यानां—धान्यवाची षष्ठ्यन्तसे 'भवने क्षेत्रम्' इस अर्थमें खञ् प्रत्यय हो ।

ब्रीहिशाल्यो—ब्रीहि-शालि-प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे उक्त (भवने क्षेत्रम्) अर्थमें ढक्
प्रत्यय हो । यवयवक—यवादि षष्ठ्यन्तसे यत् प्रत्यय हो, उक्त अर्थमें ।

विभाषा तिल—तिलादि-प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे उक्त अर्थमें यत् प्रत्यय हो, विकल्पसे ।

तत्सर्वादेः—पथ्याद्यन्त सर्वादि द्वितीयान्तसे 'व्याप्नोति' अर्थमें 'ख' प्रत्यय हो ।

व्याप्नोति-सर्वपथीनः । सर्वाङ्गीणः । सर्वकर्मीणः । सर्वपत्रीणः । सर्वपात्रीणः ॥ हैय-
ङ्गवीनं संज्ञायाम् । १५।२।२३। नवनीते निपातोऽयम् ॥ तस्य पाकमूले पीत्वा-
दिकर्णादिभ्यः कुणव्जाहचौ । १५।२।२४। पीलूनां पाकः-पीलुकुणः । कर्णस्य मूलं
कर्णजाहम् ॥ पक्षात्तिः । १५।२।२५। मूले इत्यनुवर्तते । पक्षस्य मूलं-पक्षतिः । तेन
वित्तश्चुचुपचणपौ । १५।२।२६। यकारः प्रत्यययोरादौ लुप्तनिर्दिष्टः, तेन चस्य नेत्त्वम् ।
विद्यया वित्तो-विद्याचुचुः । विद्याचणः ॥ वेः शालच्छङ्कटचौ । १५।२।२८। क्रिया-
विशिष्टसाधनवाचकात्स्वार्थे । विस्तृतम् । विशालम् । विशङ्कटम् ॥ संप्रोदश्च
कटच् । १५।२।२९। सङ्कटम् । प्रकटम् । उत्कटम् । चाद्-विकटम् ॥ (अलावूतिलो-
माभङ्गाभ्यो रजस्युपसंख्यानम्) अलावूनां रजः-अलावूकटम् । तिलकटम् ॥

देरित्यादिना । सर्वपथानिति । 'ऋक्पूः' इति समासान्तः । तस्य पाकमूले । पाकमूले
इति समाहारद्वन्द्वात् सप्तमी । पाकः परिणामः । षष्ठ्यन्तेभ्यः । पीत्वादिभ्यः पाके-
ऽर्थे कुणप् कर्णादिभ्यस्तु मूलेऽर्थे जाहजित्यर्थः । कुणपस्तद्धितत्वात् ककारस्य नेत्संज्ञा ।
जाहचस्तु जकारस्य प्रयोजनाभावात् नेत्संज्ञा । पक्षात्तिः । मूले इत्यनुवर्तते इति ।
पूर्वसूत्रे पाकमूल इति समासनिर्दिष्टत्वेऽप्येकदेशे स्वरितत्वप्रतिज्ञानादिति भावः ।
तस्येत्यनुवर्तते । पक्षशब्दात् षष्ठ्यन्तात् मूलेऽर्थे तिप्रत्ययः स्यादित्यर्थः । तेन वित्तः ।
तृतीयान्तात् वित्त इत्यर्थे चुचुपचणपौ भवत इत्यर्थः । वित्तः प्रसिद्धः । चस्य नेत्वम्,
उपदेशे आदित्वाभावादिति भावः । वेः शालच्छङ्कटचौ । क्रियाविशिष्टति । क्रियाविशिष्ट-
कारकवाचकात्स्वार्थे शालच् शङ्कटच् प्रत्ययौ स्त इति यावत् । इदं च भाष्ये स्पष्टम् ।
संप्रोदश्च कटच् । सं, प्र, उत् एभ्यश्च क्रियाविशिष्टसाधनवाचिभ्यः स्वार्थे कटच् ।
स्यादित्यर्थः । चाद्वेरपि । संकटं संहतमित्यर्थः । निबिडीकृतमिति यावत् । उत्कटमिति ।
उन्नतमित्यर्थः । अधिकमिति यावत् । रूढशब्दा एते कथञ्चित् व्युत्पाद्याः । अला-
वूतिलेति । अलावू, तिल, उमा, भङ्गा, इत्येभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्यो रजसि अभिधेये कटचः

हैयङ्गवीनं-नवनीत अर्थमे 'हैयङ्गवीनम्' यह निपातन हो ।

नोटः-ह्योगोदोहस्य विकारो हैयङ्गवीनम् । यहाँ 'ह्योगोदोह'को 'हियङ्गु' आदेश
और 'खञ्' प्रत्यय निपातन होता है ।

तस्य पाकमूले-पीत्वादि षष्ठ्यन्तसे पाक अर्थमें 'कुणप्' प्रत्यय हो और कर्णादि
षष्ठ्यन्तसे मूल अर्थमें 'जाहच्' प्रत्यय हो । पक्षात्तिः-षष्ठ्यन्त पक्ष शब्दसे मूल अर्थमें
'ति' प्रत्यय हो । तेन वित्तः-तृतीयान्तसे वित्त अर्थमें चुचुप् और चणप् प्रत्यय हो ।

वेः शालच्-क्रियाविशिष्ट साधन (कारक) वाचक 'वि' शब्दसे शालच् प्रत्यय और
शङ्कटच् प्रत्यय हो, स्वार्थमें । संप्रोदश्च-क्रियाविशिष्ट-कारकवाची सम्, प्र और उद् से
कटच् प्रत्यय हो, स्वार्थमें । अलावू-षष्ठ्यन्त अलावू आदिसे कटच् प्रत्यय हो, रज अर्थमें ।

(गोष्ठजादयः स्थानादिषु पशुनामभ्यः) गवां स्थानं-गोगोष्ठम् ॥ (संघाते कटच्) । अवीनां संघात-अविकटः ॥ (विस्तारे पटच्) अविपटः ॥ (द्वित्वे गोयुगच्) द्वावुष्ट्रौ-उष्ट्रगोयुगम् (षट्त्वे षड्गवच्) । अश्वषड्गवम् ॥ (स्नेहे तैलच्) तिलतैलम् । सर्षपतैलम् ॥ अवात्कुटारच्च । ११२।३०। चात् कः । टच् । अवकुटारः । अवकटः ॥ नते नासिकायाः संज्ञायां टीटज्जाटज्भ्रटचः । ११२।३१। अवादित्येव । नतं नमनम्, नासिकाया नतम्-अवटीटम् । अवनाटम् । अवभ्रटम् । तद्योगान्नासिका अवटीटा । पुरुषोऽप्यवटीटः ॥ उपाधिभ्यां

उपसंख्यानमित्यर्थः । विकारप्रत्ययानामपवादोऽयम् । रजः चूर्णरेणुः । गोष्ठजादय इति । पशुनामभ्यः स्थानादिष्वर्थेषु गोष्ठजादयः प्रत्यया वक्तव्या इत्यर्थः । गोष्ठजादीनां प्रत्ययानां स्थानादीनां चार्थानां प्रपञ्चनपराणि (संघाते कटच्) इत्यादीनि 'शाकटशाकिना' वित्यन्तानि षड्वार्तिकानि । तेषु चतुर्षु पशुनामभ्य इत्यनुवर्तते । अप्रसृतावयवः समूहः सङ्घातः, प्रसृतावयवस्तु विस्तारः । द्वित्व इति । प्रकृत्यर्थगतद्वित्वे इत्यर्थः । द्वावुष्ट्रौ उष्ट्रगोयुगम् इति । द्वयवयवकसंघाताभिप्रायमेकवचनम् । द्वयं युग्यमित्यादिवत् । अवात्कुटारच्च । क्रियाविशिष्टसाधनवाचकादवात्स्वार्थे कुटारच्च स्यादित्यर्थः । अवकुटार इति । अवाचीने विद्यमानादवात् कुटारचि अवकुटार इति रूपम् । नते नासिकायाः । अवादित्येवेति । अवशब्दात् नासिकाया अवनतेऽर्थे टीटच्, नाटच्, भ्रटच्, एते प्रत्ययाः स्युरित्यर्थः । 'णम प्रह्वत्वे' इति धातोर्भावे क्तप्रत्यये नतशब्द इत्यभिप्रेत्याह-नतं नमनमिति । प्रह्वत्वमित्यर्थः । ननु यदि नासिकायाः नमनमवटीटं तर्हि अवटीटा नासिकेति कथमित्यत आह-तद्योगादिति । नमनयोगात्तत्र लाक्षणिकमिति भावः । पुरुषोऽप्यवटीट इति । तादृशनासिकायोगादिति भावः । उपाधिभ्याम् । उप, अधि आभ्यां यथासंख्यमासन्नारूढयोर्वर्तमानाभ्यां स्वार्थे त्यक्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । आसन्नं समीपम् । आरूढम्-उच्चम् ।

गोष्ठजादयः—पशुनामादि-प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे स्थानादि अर्थे न गोष्ठ जादि प्रत्यय हो । संघाते—पशुनामादि प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे संघात अर्थमें कटच् प्रत्यय हो । विस्तारे—पशुनामादि प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे विस्तार अर्थमें पटच् प्रत्यय हो । द्वित्वे गोयुगच्—पशुनामादि प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे षट्त्व अर्थमें षड्गवच् प्रत्यय हो । स्नेहे तैलच्—षष्ठ्यन्तसे स्नेह अर्थमें तैलच् प्रत्यय हो । अवात्कुटार—क्रियाविशिष्ट कारकवाची अव शब्दसे कुटारच् प्रत्यय और कटच् प्रत्यय हो । नते नासि—नासिकाका नमन अर्थमें विद्यमान अव शब्दसे टीटच्, नाटच् और भ्रटच् प्रत्यय हो, स्वार्थमें । उपाधिभ्यां—आसन्न (समीपवर्ती) और आरूढ (उपरि वर्तमान) अर्थमें उप और

त्यक्त्रासन्नाकृढयोः । १५।२।३४। पर्वतस्यासन्नं स्थलम्-उपत्यका । आलुढं
स्थलम्-अधित्यका ॥ कर्मणि घटोऽठच् । १४।२।३५। कर्मणि घटते इति-कर्मठः ॥
तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच् । १५।२।३६। तारकाः संजाता अस्य-
तारकितं नभः । पण्डितः । आकृतिगणोऽयम् ॥ प्रमाणे द्वयसज्दधनञ् मात्रचः
१५।२।३७। ऊरु प्रमाणमस्य-ऊरुद्वयसम् , ऊरुदधनम् , ऊरुमात्रम् ।

‘प्रथमश्च द्वितीयश्च ऊर्ध्वमाने मतौ मम ।

ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाणं तु सर्वतः ।

आयामस्तु प्रमाणं स्यात् संख्या बाह्या तु सर्वतः ॥ ४ ॥

पुरुषहस्तिभ्यामण् च । १५।२।३८। पुरुषः प्रमाणमस्य-पौरुषम् , पुरुषद्वयसम् ।

उपत्यका, अधित्यकेति । स्त्रीत्वं लोकात् । अत्र ‘प्रत्ययस्थात्’ इति इत्वं तु न,
‘त्यकनश्च’ इत्युक्तेः । कर्मणि घटोऽठच् । सप्तम्यन्तात् कर्मन्शब्दात् घट इत्यर्थे
अठच्स्यादित्यर्थः । घटशब्दस्य कलशपर्यायत्वभ्रमं वारयति—कर्मणि घटत इति ।
व्याप्रियत इत्यर्थः । तथा चात्र घटशब्दो यौगिको घटमाने वर्तत इति भावः । कर्मठ
इति । अठचि ‘नस्तद्धिते’ इति टिलोपः । अठचि ठस्य अङ्गात्परत्वाभावादिकादेशा-
भाव इति भावः । पुरुषहस्तिभ्यामण् च । उक्तविषये इति शेषः । चात् द्वयसजाद-

अधि शब्दसे त्यकन् प्रत्यय हो, स्वार्थमें । कर्मणि घटो—कर्मन् शब्द-प्रकृतिक सप्तम्यन्तसे
‘घटते’ अर्थमें अठच् प्रत्यय हो । तदस्य—तारकादि प्रकृतिक प्रथमान्तपदसे ‘अस्य संजातम्’
अर्थमें इतच् प्रत्यय हो । प्रमाणे—प्रमाण अर्थमें वर्तमान प्रथमान्तपदसे ‘अस्य’ इस
पष्ठार्थसे निर्दिष्ट प्रमेय अर्थमें द्वयसच् , दधनच् और मात्रच् प्रत्यय हो ।

प्रथमञ्च—प्रथम (द्वयसच् प्रत्यय) और द्वितीय (दधनच् प्रत्यय) ऊर्ध्वभाग (ऊंचाईसे
नापना) अर्थमें ही हो-ऐसा मेरा (ग्रन्थकार का) मत है ।

ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं—‘ऊर्ध्वमान’ या ‘उन्मान’ ये दोनों नाम ऊंचाईसे नापनेका
है । परिमाणन्तु सर्वतः—जो सभी तरहसे याने पात्रादिमें भर-भर कर अथवा सेर,
पसेरी आदिसे तौलकर या लकड़ी आदिसे नदी, तालाब आदिमें जलादिका थाह लेकर
नापा जाय, उसे परिमाण कहते हैं । आयामस्तु प्रमाणं स्यात्—आयाम = लम्बाई-
चौड़ाई आदि का नाप ‘प्रमाण’ कहलाता है । जैसे—एक हाथ, दो हाथ, एक लग्गी, दो
लग्गी आदि । संख्या बाह्या तु सर्वतः—और इन सबसे संख्या (गिनती) भिन्न है ।

नोटः—उपर्युक्तसे सिद्ध हुआ कि मात्रच् प्रत्यय प्रमाण अर्थमें अर्थात् परिच्छेद मात्रमें
हो और ‘द्वयसच्’ तथा ‘दधनच्’ प्रत्यय ऊर्ध्वमान या उन्मान अर्थमें ही हों ।

पुरुष—प्रमाणोपाधिक पुरुष और हस्तिन् शब्दसे अस्य (पष्ठार्थ) में अण् प्रत्यय हो

हास्तिनम्, हस्तिद्वयसम् । यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप् ॥ ५१२।३९॥ यत्परिमाणमस्य-
 यावान् । तावान् । एतावान् ॥ किमिदंभ्यां वो घः ॥ ५१२।४०॥ आभ्यां वतुव्वस्य च
 यः ॥ इदं किमोरीशूकी ॥ ६।३।९०॥ दृग्दृशवतुषु । कियान् ॥ किमः संख्याप-
 रिमाणे ङिति च ॥ ५१२।४१॥ चाद्वतुप् , तस्त च घः । का संख्या येषां ते-कति ।
 कियन्तः ॥ संख्याया अवयवे तयप् ॥ ५१२।४२॥ पञ्च अवयवा अस्य पञ्चतयं दाह ॥
 द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा ॥ ५१२।४३॥ द्वयम् , द्वितयम् । त्रयम् , त्रितयम् ॥ उभा-
 दुदात्तो नित्यम् ॥ ५१२।४४॥ उभशब्दात्तयपोऽयच् स्यात् , स चाद्युदात्तः । उभ-
 यम् ॥ तदस्मिन्नधिकमिति दशान्ताद्दुः ॥ ५१२।४५॥ एकादश अधिका अस्मिन्-
 एकादशम् , (शतसहस्रयोरेवेष्ट्यते) । नेह,—एकादश अधिका अस्यां विंशतौ ।
 (प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः समानजातीयत्व एवेष्ट्यते) नेह—एकादश मापा अधिका
 अस्मिन् सुवर्णशते ॥ शदन्तविंशतेश्च ॥ ५१२।४६॥ ङः स्यादुक्तेऽर्थे । त्रिंशदधिका-

यस्तयः । तदस्मिन्नधिकम् । तदधिकमस्मिन् इति विग्रहे प्रथमान्तात् दशन् शब्दा-
 न्तात् समासात् अस्मिन्नित्यर्थे ङप्रत्ययः स्यादित्यर्थः । प्रत्ययविधौ तदन्तविधि-
 प्रतिषेधादन्तग्रहणम् । अत एव निर्देशात् पञ्चम्यर्थे सप्तमीत्याहुः । एकादश अधिकाः
 अस्मिन्निति । अस्मादित्यर्थः । अस्मिन् उपश्लिष्टा इति वा । शदन्तविंशतेश्च । शेष-
 पूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—ङः स्यादुक्तेऽर्थे इति । दशान्तत्वाभावात् पूर्वोणाप्राप्तिः । त्रिंश-

और चकारात् द्वयसच्, दघ्नच् तथा मात्रच् प्रत्यय भी हों । यत्तदेतेभ्यः—परिमाणो-
 पाधिक यत्, तत् और एतत् शब्दोंसे अस्य अर्थमें वतुप् प्रत्यय हो । किमिदंभ्यां—परिमा-
 णोपाधिक किम् शब्द और इदम् शब्दसे वतुप् प्रत्यय हो और वतुप्के वकारको घकार हो ।

इदं किमो—इदम् शब्दको ईंश् आदेश और किम् शब्दको 'की' आदेश हो, इक्,
 इश् और वतु (प्) प्रत्ययके परे । किमः संख्या—संख्याका परिमाण (परिच्छेद-इयत्ता)
 विषयक प्रश्न अर्थमें वर्तमान किम् शब्दसे ङिति प्रत्यय हो और चकारात् वतुप् प्रत्यय और
 वतुप्के वकारको घकार भी हो । संख्याया—अवयवमें वर्तमान जो संख्या तदाचक
 प्रथमान्त समर्थसे षष्ठ्यर्थमें तयप् प्रत्यय हो । द्वित्रिभ्यां—द्वि और त्रि से पर तयप्को
 अयच् आदेश हो, विकल्पसे । उभादुदात्तो—उभ शब्दसे पर तयप्को नित्य अयच् हो
 और वह अयच् आद्युदात्त हो ।

तदस्मिन्नधि—‘अस्मिन्’ अर्थमें दशन् शब्दान्त-प्रकृतिक प्रथमान्तसे ‘ङ’ प्रत्यय हो,
 जो प्रथमान्त है, वह यदि अधिक रहे तो । शतसहस्रयोः—शत या सहस्र ही जब प्रत्ययार्थ
 हो, तब ही ‘ङ’ प्रत्यय इष्ट होता है । प्रकृति—प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थका समानजातीय
 होने पर ही यह ‘ङ’ प्रत्यय इष्ट होता है, अन्यत्र नहीं । शदन्त—शदन्त और विंशति प्रकृतिक

अस्मिन् त्रिंशं शतम्, विंशम् ॥ तस्य पूरणे डट् ।५।२।४८। संख्याया
इत्येव । एकादशानां पूरणः—एकादशः ॥ नान्तादसंख्यादेर्मट् ।५।२।४९। डटो
मडागमः । पञ्चानां पूरणः—पञ्चमः । नान्तात्किम् ? विंशः । असंख्यादेः किम् ?
एकादशः ॥ षट्कृतिकतिपयचतुरां शुक् ।५।२।५१। डटि । षण्णां पूरणः—
षष्ठः । कतिथः । कतिपयशब्दस्यासंख्यात्वेऽपि अतएव ज्ञापकात् डट् । कतिपयथः ।
चतुर्थः ॥ (चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च) । तुरीयः, तुर्यः ॥ बहुपूग-
गणसंघस्य तिथुक् ।५।२।५२। डटि, बहुतिथः ॥ वतोरिथुक् ।५।२।५३।
डटि, यावतिथः ॥ द्वेस्तीयः ।५।२।५४। डटोऽपवादः । द्वयोः पूरणः—द्वितीयः ॥
त्रेः संप्रसारणं च ।५।२।५५। तृतीयः । इह 'हल' इति दीर्घो न । द्वितीयतृतीयेति
निर्देशात् ॥ विंशत्यादिभ्यस्तमडन्यतरस्याम् ।५।२।५६। एभ्यो डटस्तमडा-
गमो वा स्यात् । विंशतितमः, विंशः । एकविंशतितमः, एकविंशः ॥ नित्यं शता-
दिमासार्धमाससंवत्सराच्च ।५।२।५७। शतस्य पूरणः—शततमः । मासादेरत

मिति । डे सति 'डे' इति टिलोपः । विंशमिति । विंशतिः अस्मिन्नधिका इति त्रिग्रहः ।
चतुर इति । वार्तिकमिदम् । चतुरशब्दात् षष्ठ्यन्तात् पूरणे छयतौ स्तः । आद्यक्षर-
लोपश्चेति । च इति संघातस्य लोपश्चेत्यर्थः । बहुपूगगण । बहु, पूरा, गण, संघ
एषां डटि तिथुगागमः स्यादित्यर्थः । ककार इत् । उकार उच्चारणार्थः । कित्वा-
दन्त्यादचः परः । वतोरिथुक् । डटीति । वतुवन्तस्य इथुगागमः स्यात् डटीत्यर्थः ।
यावतिथ इति यावतां पूरण इति त्रिग्रहः । 'बहुपूगगणे'ति संख्यात्वात् 'तस्य
पूरणे' इति डटि प्रकृतेरिथुक् । विंशत्यादिभ्यस्तमडन्य० । तमटि टकार इत्, मकारा-
दकार उच्चारणार्थः । नित्यं शतादिमासार्धमाससंवत्सराच्च । शतादिभ्यः मासात्
अर्धमासात् संवत्सराच्च परस्य डटो नित्यं तमडागमः स्यादित्यर्थः ।

प्रथमान्तसे 'ड' प्रत्यय हो, 'अस्मिन् अधिकम्' इस अथमे । तस्य पूरणे—संख्याया-
र्थक संख्यावाची षष्ठ्यन्तसे पूरण (अवयव) अर्थमें 'डट्' प्रत्यय हो । नान्तादसं—असं-
ख्यादि जो नान्त संख्यावाची, उससे पर 'डट्' को मट्का आगम हो । षट्कृति—षट्-
आदिको शुक्का आगम हो, डट्के परे । चतुरश्छ—चतुर् प्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थसे 'छ'
प्रत्यय और 'यत्' प्रत्यय हो तथा चतुर्के आद्यक्षर—चकारका लोप भी हो । बहुपूग—बहु
आदिको तिथुक्का आगम हो डट्के परे । वतोरिथुक्—वतुप् प्रत्ययान्तको इथुक्का
आगम हो डट्के परे । द्वेस्तीयः—'द्वि' शब्दप्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे तीय प्रत्यय हो, पूरण
अर्थमें । त्रेः सम्प्र—'त्रि' शब्दप्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे तीय प्रत्यय हो और 'त्रि' को संप्रसारण
भी हो, पूरण अर्थमें । विंशत्या—विंशत्यादिसे पर 'डट्' को 'तमट्' आगम हो, विकल्पसे ।
नित्यं शतादि—शतादि, मास, अर्धमास और संवत्सरसे पर डट्को नित्य ही तमट्

एव ज्ञापकात् ङट् । मासतमः ॥ षष्ठ्यादेश्चासंख्यादेः । १५।२।५८। षष्ठितमः ।
 संख्यादेस्तु 'विंशत्यादिभ्यः' इति विकल्प एव । एकषष्ठः, एकषष्ठितमः ॥ मतौ छः
 सूक्तसाम्नोः । १५।२।५९। मत्वर्थे छः । अच्छावाकशब्दोऽस्मिन्नस्ति—अच्छावाकीयं
 सूक्तम् । वारवन्तीयं साम ॥ श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते । १५।२।८४। श्रोत्रियः । 'वा' इत्यनु-
 वृत्तेः—छान्दसः ॥ आद्धमनेन भुक्तमिनिठनौ । १५।२।८५। आद्धी, आद्धिकः ॥
 पूर्वादिनिः । १५।२।८६। पूर्व—कृतमनेन पूर्वी ॥ सपूर्वाच्च । १५।२।८७। कृतपूर्वी ॥
 इष्टादिभ्यश्च । १५।२।८८। इष्टमनेन—इष्टी । अधीती ॥ अनुपद्यन्वेष्टा । १५।२।९०।

माननम् इति । मासस्य पूरणः अर्धमासादिरवयवः । षष्ठ्यादेश्चासंख्यादेः । असंख्या-
 पूर्वात् षष्ठ्यादेः परस्य ङटो नित्यं तमङागमः स्यादित्यर्थः । 'विंशत्यादिभ्यः' इति
 विकल्पस्यापवादः । एकषष्ठः—एकषष्ठितमः । संख्यादित्वाच्चित्यस्य तमटोऽभावे 'विंश-
 त्यादिभ्यः' इति ङटस्तमङ् विकल्पः । तमङभावे ङटि 'यस्येति च' इति इकारलोपे
 एकषष्ठ इति रूपम् । मतौ छः सूक्तसाम्नोः । मनुशब्दो मत्वर्थे लाक्षणिक इत्याह—
 मत्वर्थे रिति । अच्छावाकीयं सूक्तम् । अच्छावाकशब्दः अस्यास्ति अस्मिन्नस्तीति वा
 विग्रहः । अच्छावाकशब्दयुक्तमित्यर्थः । अच्छावाकशब्दात् शब्दस्वरूपपरात् प्रथ-
 मान्ताच्छः । वारवन्तीयं सामेति । अश्वं नत्वा वारवन्तमित्यस्या ऋच्यध्यूढमित्यर्थः ।
 एवमस्य वामीयमित्यपि । 'अस्य वामस्ये'त्यस्य एकदेशानुकरणमस्यवामेति ।
 तस्माच्छः । अस्यवामशब्दसंयुक्तमित्यर्थः । प्रकृतिवदनुकरणमित्यस्यानित्यत्वात् सुपो
 लुक् । आद्धमनेन । प्रथमान्तात् आद्धशब्दात् भुक्तमनेनेत्यर्थे इनिठनौ स्त इत्यर्थः ।
 आद्धसाधनद्रव्ये आद्धशब्दो लाक्षणिकः । इनिप्रत्यये नकारादिकार उच्चारणार्थः ।
 अनुपद्यन्वेष्टा । पदस्य पश्चादनुपदम् । पश्चादर्थे अव्ययीभावः । सप्तम्या अम्भावः ।

आगम हो । षष्ठ्यादेः—असंख्यादि जो षष्ठ्यादि संख्यावाचक शब्द, उनसे पर ङट् को
 नित्य ही तमट् का आगम हो । मतौ छः—सूक्त और साम अभिधेय हो तो, प्रातिपदिकसे
 मत्वर्थमें छ प्रत्यय हो । श्रोत्रियं—'छन्दोऽधीते' इस अर्थमें 'श्रोत्रियन्' यह निपातन हो
 ('श्रोत्रियन्' का नकार स्वार्थ है) आद्धमनेन—सुक्तोपाधिक प्रथमान्त आद्ध शब्दसे
 'अनेन' अर्थमें इनि और ठन् प्रत्यय हो ।

पूर्वादिनिः—'अनेन कृतम्' इस अर्थमें पूर्व शब्दसे इनि प्रत्यय हो ।

सपूर्वाच्च—सपूर्वक पूर्वान्त प्रातिपदिकसे 'अनेन कृतम्' इस अर्थमें इनि प्रत्यय हो ।

इष्टादिभ्यः—इष्टादिसे 'अनेन' अर्थमें इनि प्रत्यय हो ।

अनुपद्य—अनुपद शब्दसे 'अन्वेष्टा' अर्थमें इनि प्रत्यय निपातन हो ।

अनुपदमन्वेष्टा-अनुपदी गवाम् ॥ साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम् । ५।२।११।
साक्षाद् द्रष्टा—साक्षी । इति पाञ्चमिकप्रकरणम् ।

अथ मत्वर्थीयप्रकरणम्

तदस्यास्त्यस्मिन्निति मनुप् । ५।२।१४। गावोऽस्यास्मिन्वा सन्ति-गोमान् ॥
तसौ मत्वर्थे । १।४।१९। तान्तसान्तौ भसंज्ञौ स्तो मत्वर्थे प्रत्यये परे । वसोः संप्रसारणम् । विदुश्मान् । गुणवचनेभ्यो मनुपो लुगिष्ठः । शुक्लो गुणोऽस्यास्ति-शुक्लः पटः । कृष्णः ॥ प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम् । ५।२।१६। चूडालः, चूडवान् ।

अनुपदमित्यस्मात् अन्वेष्टरि अर्थे इतिप्रत्ययो निपात्यते । साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम् । साक्षादित्यव्ययम्, इह शब्दस्वरूपपरम् लुप्तपञ्चमीकम् । साक्षादित्यव्ययात् द्रष्टर्यर्थे इति स्यादित्यर्थः । साक्षीति । यः कर्मणि स्वयं न व्याप्रियते, किन्तु कर्म क्रियमाणं पश्यति, सोऽयं साक्षीत्युच्यते । साक्षादित्यव्ययादिनिः प्रत्ययः 'अव्ययानां भमात्रे' इति टिलोपः । इति पाञ्चमिकाः ।

तदस्यास्त्यस्मिन्निति मनुप् । तदिति प्रथमासमर्थविभक्तिः । अस्यास्मिन्निति प्रत्ययार्थः । अस्तीति प्रकृतिविशेषणम् । इतिकरणो विवक्षार्थः । तदिति प्रथमासमर्थोदस्येति पष्ठयर्थे अस्मिन्निति सप्तम्यर्थे वा मनुप् प्रत्ययो भवति, यत्तत्प्रथमासमर्थमस्ति चेत्तद्भवति । अस्त्यर्थोपाधिकं चेत्तद्भवतीत्यर्थः । 'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशयाने । संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मनुवाच्यः' । भूमिनि तावत्—गोमान् । निन्दायाम्—कुट्टी । प्रशंसायां—रूपवती कन्या । नित्ययोगे—हीरिणो वृक्षाः । अतिशयाने—उदरिणी कन्या । संसर्गे—दण्डी । अस्तिविवक्षायाम्—अस्तिमान् । गोमान् । गावोऽस्यास्मिन्वा सन्ति गोमान् इत्यत्र 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मनुप्' इति मनुपि, उपो लोपे सुपो लुकि सौ च 'गोमत् सु' इति जाते 'अत्वसन्तस्य' इत्युपधादीर्घत्वे 'उगिदचाम्' इति नुमि उमो लोपे 'गोमान् त् सु' इति जाते

साक्षाद्—'साक्षात्' इति अव्ययसे द्रष्टा अर्थमेव इति प्रत्यय हो, संज्ञा गन्धमान रहने पर । इति प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें पाञ्चमिक प्रकरण समाप्त हुआ ।

तदस्यास्त्यस्मिन्—अस्त्यर्थोपाधिक प्रथमान्तसे अस्य और अस्मिन् अर्थोंमें मनुप् प्रत्यय हो । तसौ—तकारान्त और सकारान्तकी भसंज्ञा हो, मत्वर्थीय प्रत्ययके परे । गुणवचने—गुणवाचकसे पर मनुप्का लुक् हो । प्राणिस्था—प्राणिस्थ आदन्तसे

६६ म० कौ०

प्राणिस्थात्किम् ? शिखावन्दीपः । प्राण्यङ्गादेव । नेह, -मेधावान् ॥ सिध्मादिभ्यश्च । ॥ १२।१७। लज्वा । सिध्मलः, सिध्मवान् । (वातदन्तवलललाटानामूङ् च) । वातूलः । दन्तूलः । बलूलः । ललाटूलः ॥ वत्सांसाभ्यां कामवले ॥ १२।१८। लज्वा यथासंख्यं कामवति बलवति चार्थे । वत्सलः । अंसलः ॥ फेनादिलच् ॥ १२।१९। चाल्लच् । अन्यतरस्यां ग्रहणं मनुष्यमुच्चयार्थमनुवर्तते । फेनिलः, फेनलः, फेनवान् ॥ लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः । ॥ १२।१००। लोमादिभ्यः शः, -लोमशः, लोमवान् । रोमशः, रोमवान् । पामादिभ्यो नः, -पामनः । (अङ्गात्कल्याणे) । अङ्गना ॥ (लक्ष्म्या अच्च) । लक्ष्मणः ॥ (पिच्छादिभ्य इलच्) पिच्छिलः, पिच्छवान् । उरसिलः, उरस्वान् । प्रज्ञाश्रद्धाऽर्चाभ्यो णः । ॥ १२।१०१। प्राज्ञो व्याकरणे । प्रज्ञा । श्राद्धः । आर्चः । (वृत्तेश्च) वार्तः ॥

सोलोपे 'संयोगान्तस्य लोपः' इति तलोपे च कृते 'गोमान्' इति । सिध्मादिभ्यश्च । लज्वा इति । मत्वर्थे इति शेषः । वातदन्तवलललाटानामूङ् चेति । सिध्मादिगणसूत्रमिदम् । एभ्यो लच् प्रकृतेरूङ् चादेशः । ङकारस्तु आदेशत्वसूचनार्थः । अन्यथा प्रत्ययत्वशङ्का स्यात् । वातूलः । एवं दन्तूलः, बलूलः, ललाटूलः । वत्सांसाभ्यां कामवले । लच् स्यादिति । मत्वर्थे इति शेषः । कामवल्लशब्दौ तद्वति । लाक्ष्णिकावित्यभिप्रेत्याह—कामवति बलवति चेति । फेनादिलच् । मत्वर्थे इति शेषः । चाल्लजिनि । संनिहितत्वादिति भावः । नन्वेवं सति मनुप् नैव स्यादित्यत आह—अन्यतरस्यां ग्रहणमिति । सिध्मादिसूत्रे व्याख्यातमिदम् । प्रज्ञाश्रद्धार्चाभ्यो णः । प्रज्ञा, श्रद्धा, अर्चा एभ्यो मत्वर्थे णप्रत्ययः स्यादित्यर्थः । प्राज्ञो व्याकरणे इति । प्रज्ञानं प्रज्ञा । स्त्रियामित्यधिकारे प्रपूर्वकात् ज्ञाधातोः 'आतश्चोपसर्गे' इति भावे अङ् । प्रज्ञा अस्यास्तीति विग्रहः । श्राद्ध इति । श्रद्धा अस्यास्तीति विग्रहः । आर्च इति । अर्चा अस्यास्तीति विग्रहः । वृत्तेश्चेति ।

मत्वर्थमे लच् प्रत्यय हो, विकल्पसे । प्राण्यङ्गा—प्राण्यङ्गवाचक प्राणिस्थ आदन्तसे ही पूर्वोक्त लच् प्रत्यय हो । सिध्मा—सिध्मादिसे लच् प्रत्यय हो, मत्वर्थमे । वातदन्त—वात, दन्त आदिसे लच् प्रत्यय और उङ् का आगम हो, विकल्पसे । वत्सां—वत्स और अंससे लच् प्रत्यय हो । क्रमसे यदि कामवान् और बलवान् अर्थ गम्यमान रहे ।

फेनादि—फेनसे इलच् प्रत्यय और चकारात् लच् प्रत्यय भी हो, विकल्पसे (विकल्प पक्षमें मनुप् हो) लोमादि—मत्वर्थमे लोमादिसे 'श' प्रत्यय, पामादिसे 'न' प्रत्यय और पिच्छादिसे 'इलच्' प्रत्यय और मनुप् भी हो । अंगात्—अंग शब्दसे 'न' प्रत्यय हो, कल्याण अर्थमे । लक्ष्म्या—लक्ष्मी शब्दसे 'न' प्रत्यय हो और लक्ष्मीको अकारान्त आदेश भी हो । पिच्छा—पिच्छादिसे इलच् प्रत्यय हो । प्रज्ञाश्रद्धा—प्रज्ञादिसे मत्वर्थमे ण प्रत्यय और मनुप् भी हो । वृत्तेश्च—वृत्तिसे भी मत्वर्थमे ण प्रत्यय और चकारात् मनुप् भी हो ।

तपःसहस्राभ्यां विनीनी । १२।१०२। विनीन्योरिकारो नकारपरित्राणार्थः ॥
 तपस्वी । सहस्री ॥ अण् च । १२।१०३। तापसः । साहस्रः ॥ (ज्योत्स्नादिभ्य
 उपसंख्यानम्) ज्यौत्स्नः । तामिस्त्रः ॥ सिकताशर्कराभ्यां च । १२।१०४।
 सैकतो घटः । शार्करः ॥ देशे लुविलचौ च । १२।१०५। चादण् मनुप् च ।
 सिकताः सन्त्यस्मिन्देशे-सिकताः, सिकतिलः, सैकतः, सिकतावान् । एवं शर्करा
 इत्यादि ॥ दन्त उन्नत उरच् । १२।१०६। उन्नता दन्ता अस्य-दन्तुरः ॥ ऊष-
 सुषिमुष्कमधो रः । १२।१०७। ऊषरः । सुषिरः । मुष्कोऽण्डः, मुष्करः । मधुरः ।

चार्तिकमिदम् । मत्वर्थे णप्रत्यय इति शेषः । वार्त इति । वृत्तिरस्यास्तीति विग्रहः ।
 तपःसहस्राभ्यां विनीनी । विनिश्च इनिश्चेति द्वन्द्वः । मत्वर्थे इति शेषः । यथासंख्यम-
 न्वयः । विनिप्रत्यये इनि प्रत्यये च नकारादिकारौ उच्चारणार्थौ । ननु नकारयोः इत्संज्ञा
 कुतो न स्यात् । न च प्रयोजनाभावः, निस्स्वरस्यैव फलत्वादित्यत आह—विनीन्योरि-
 कारो नकारपरित्राणार्थ इति । तथा च उपदेशे अन्त्यत्वाभावान्नेत्संज्ञेति भावः । अण्
 च । तपस्सहस्राभ्यां मत्वर्थ इति शेषः । भिकनाशर्कराभ्यां च । मत्वर्थे अणिति शेषः ।
 सैकनो घट इति । सिकता अस्य सन्तीति विग्रहः । देशे लुपो वच्यमाणत्वात् घट इति
 विशेषणम् । 'अप्सुमनःसमासिकतावर्पाणां बहुत्वं च' इति लिङ्गानुशासनसूत्रात्
 सिकताशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः । देशे लुविलचौ च । पूर्वसूत्रविहितस्याणो लुप्
 इलच् स्यादित्यर्थः । चादणिति । संनिहितत्वादिति भावः । तर्हि अपवादेन मुक्त
 उत्सर्गस्याप्रवृत्तेर्मनुप् नैव स्यादित्यत आह—मनुप्चेति । समुच्चयार्थकान्यतरस्यां
 ग्रहणानुवृत्तेरिति भावः । सिकता इति । सिकताशब्दात् नित्यं बहुवचनान्तादणो
 लुपि प्रातिपदिकावयवत्वात् सुपो लुकि युक्तवद्भावाद्विशेष्यस्य देशस्य एकवेऽपि
 बहुवचनमिति भावः । ऊषसुषि । ऊष, सुषि, मुष्क, मधु एषां समाहारद्वन्द्वात् पञ्च-
 म्येकवचनम् । सौत्रं पुंस्त्वम् । एभ्यो मत्वर्थे रप्रत्ययः स्यादित्यर्थः । ऊपर इति । ऊपः
 क्षारमृत्तिकाविशेषोऽस्यास्तीति विग्रहः । सुषिर इति । सुषिः विलम् अस्यास्तीति

तपःसहस्राभ्यां—तपस् और सहस्र शब्दसे यथाक्रमेण विनि प्रत्यय और इनि प्रत्यय
 तथा मनुप् भी हो । अण च—तपस् और सहस्र शब्दसे (पूर्वोक्त प्रत्यय और) अण
 प्रत्यय भी हो । ज्योत्स्नादि—ज्योत्स्नादिसे भी अण् प्रत्यय और मनुप् प्रत्यय हो ।

सिकता—सिकता और शर्करा शब्दसे अण् प्रत्यय और मनुप् प्रत्यय भी हो ।

देशे लुवि—देश यदि अभिधेय हो तो—सिकता और शर्करा शब्दसे मत्वर्थीय प्रत्ययका
 लुप् हो और इलच् प्रत्यय भी हो । चकारात् अण् और मनुप् भी हो । दन्त उन्नत—उन्नतो-
 पाधिक दन्त शब्दसे मत्वर्थमें उरच् प्रत्यय हो । ऊषसुषि—ऊषादिसे 'र' प्रत्यय और

(रप्रकरणे खमुखकुञ्जेभ्य उपसंख्यानम्) । खरः । मुखरः । कुञ्जो हस्ति-
 हनुः, कुञ्जरः ॥ (नगपांसुपाण्डुभ्यश्च) नगरम् । पांसुरः । पाण्डुरः ॥ (कच्छ्वा
 ह्रस्वत्वं च) कच्छुरः ॥ द्युद्रुभ्यां मः । १५।२।१०८। द्युमः । द्रुमः । केशाद्वो-
 ऽन्यतरस्याम् । १५।२।१०९। प्रकृतेनान्यतरस्यां ग्रहणेन मतुपि सिद्धे पुनर्ग्रहणं इनि-
 ठनोः समावेशार्थम् । केशवः, केशी, केशिकः, केशवान् । (अन्येभ्योऽपि दृश्यते)
 मणिवो नागविशेषः । हिरण्यवो निधिविशेषः ॥ (अर्णसो लोपश्च) अर्णवः ॥
 गाण्डयजगात्संज्ञायाम् । १५।२।११०। ह्रस्वदीर्घयोर्यणा तन्त्रेण निर्देशः । गाण्डि-
 वम्, गाण्डीवम्, अर्जुनस्य धनुः । अजगवं पिनाकः ॥ काण्डाण्डादीरन्नीरचौ
 । १५।२।१११। काण्डीरः । आण्डीरः ॥ रजःकृष्यासुतिपरिषदो वलच् । १५।२।११२।
 रजस्वला स्त्री । कृषीवलः । 'वले' इति दीर्घः । आसुतीवलः, शौण्डिकः । परिप-

विग्रहः । नगपांसिविति । वार्तिकमिदम् । नगरमिति । जातिविशेषवाची । अत एव
 नगरीत्यत्र ङीप् । पांसुर इति । पांसुः अस्यास्तीति विग्रहः । पाण्डुर इति । पाण्डुः
 शुक्लवर्णः, सः अस्यास्तीति विग्रहः । कच्छ्वा इति । कच्छ्वाशब्दाद् रप्रत्ययः प्रकृतेर्ह्रस्वश्च
 अन्तादेश इत्यर्थः । कच्छुरः शुनां रोगविशेषः । द्युद्रुभ्यां मः । 'दिव उत्' इति कृतोत्व-
 स्य दिव्शब्दस्य द्यु इति निर्देशः । दिव्शब्दात् द्रुशब्दाच्च मः प्रत्ययः स्यादित्यर्थः ।
 द्युमः, द्रुमः इति । रुढशब्दावेतौ । गाण्डयजगात् संज्ञायाम् । ह्रस्वदीर्घयोरिति । गाण्डिशब्द-
 स्य गाण्डीशब्दस्य च कृतयणोः गाण्डय इति युगपन्निर्देशः । 'ख्यत्यात् परस्य' इत्यत्र
 खितिखीती शब्दयोश्च यथेत्यर्थः । ततश्च गाण्डिशब्दात् गाण्डीशब्दात् अजगशब्दात्
 मत्वर्थेऽवप्रत्ययः स्यादित्यर्थः । रुढशब्दत्वादिह न मतुप्समुच्चयः । काण्डाण्डादीरन्नी-
 रचौ । काण्ड, आण्ड आभ्याम् ईरन् ईरच् इति प्रत्ययौ मत्वर्थे स्त इत्यर्थः । रजःकृषि ।
 रजस्, कृषि, आसुति, परिषद् एभ्यो मत्वर्थे वलच् स्यादित्यर्थः । आसुतीवल इति ।

मतुप् भी हो । रप्रकरणे—'र' प्रत्ययके प्रकरणमें ख, मुख और कुञ्जसे भी 'र' प्रत्ययका
 विधान हो तथा मतुप् भी हो । नगपांसु—नगादिसे भी 'र' प्रत्यय और मतुप् हो ।

कच्छ्वा—कच्छसे 'र' प्रत्यय और कच्छ्वाको ह्रस्व भी हो । द्युद्रुभ्यां—दिव् और द्रु
 शब्दसे 'म' प्रत्यय और मतुप् भी हो । केशाद्वो—केश शब्दसे 'व' प्रत्यय हो, विकल्पसे ।
 पक्षमें इनि, ठन् और मतुप् प्रत्यय भी हो । अन्येभ्योऽपि—अन्य (प्रकृत्यन्तर) से भी
 मत्वर्थमें 'व' प्रत्यय हो । अर्णसो—अर्णस् शब्दसे 'व' प्रत्यय और अर्णस्के अन्य
 सकारका लोप हो । गाण्डयजगात्—गाण्डी और अजगसे मत्वर्थमें 'व' प्रत्यय हो,
 संज्ञामें । काण्डाण्डा—काण्ड शब्दसे 'ईरन्' और आण्ड शब्दसे 'ईरच्' प्रत्यय हो ।

रजःकृ—रजसादिसे वलच् प्रत्यय और मतुप् भी हो ।

द्वलः। पर्वदिति पाठान्तरम्। पर्वद्वलम्। (अन्येभ्योऽपि दृश्यते)। भ्रातृवलः। पुत्रवलः। शत्रुवलः ॥ दन्तशिखात्संज्ञायाम् । ५।२।११३। दन्तावलो हस्ती । शिखावलः केकी ॥ अत इनिठनौ । ५।२।११५। दण्डी, दण्डिकः ॥ ब्रीह्यादिभ्यश्च । ५।२।११६। ब्रीही, ब्रीहिकः ॥ तुन्दादिभ्य इलच्च् । ५।२।११७। चादिनिठनौ मतुप् च । तुन्दिलः, तुन्दी, तुन्दिकः, तुन्दवान् । उदर पिचण्ड यव ब्रीहि इति तुन्दादिः ॥ रूपादाहतप्रशंसयोर्यप् । ५।२।१२०। आहतं रूपमस्यास्तीति-रूप्यः कार्षापणः । प्रशस्तं रूपमस्यास्तीति-रूप्यो गौः । (अन्येभ्योऽपि दृश्यते) । हिम्याः पर्वताः । गुण्या ब्राह्मणाः ॥ अस्मायामेधास्त्रजो विनिः । ५।२।१२१। यशस्वी, यशस्वान् । मायावी, मायावान् । ब्रीह्यादिपाठात् मायी, मायिकः । स्रग्वी ॥ (शृङ्गवृन्दाभ्यामारकन्) । शृङ्गारकः । वृन्दारकः ॥ (फलबर्ह्या-

‘पुञ् अभिपवे’ । आङ् पूर्वात् स्त्रियां क्तिन् ‘वले’ इति दीर्घः । अन्येभ्योऽपीति । वार्तिकमिदम् । रजःकृपि इत्यादिसूत्रोपात्तादन्येभ्योऽपि वलच् दृश्यत इत्यर्थः । भ्रातृवलः । डूलोपे इत्यतः अण इत्यनुवृत्तेः ‘वले’ इति न दीर्घः । दन्तशिखात्संज्ञायाम् । समाहारद्वन्द्वात् पञ्चमी । दन्तशब्दात् शिखाशब्दाच्च मत्वर्थे वलच् स्यात्संज्ञायामित्यर्थः । तुन्दादिभ्य इलच् । मतुप्चेति । समुच्चयार्थकान्यतरस्यां ग्रहणानुवृत्तेरिति भावः । उदरादयश्चत्वारस्तुन्दादिगणपठिताः । रूपादाहत । आहतेति भावे क्तः । आहतविशेषणकात् प्रशंसाविशेषणकाच्च रूपशब्दात् मत्वर्थे यप् स्यादित्यर्थः । आहतं रूपमिति । आहतेन निष्पन्नं स्वरूपं यस्येति विग्रहे रूपशब्द इत्यर्थः । रूप्यः कार्षापण इति । परिमाणविशिष्टः रजतसुवर्णादिर्मुद्रिकाविशेषयुक्तः कार्षापणः इत्युच्यते । तत्स्वरूपं च स्वर्णकारकृता हनननिष्पाद्यमिति बोध्यम् । रूप्यो गौरिति । प्रशस्तरूपसंपन्ना इत्यर्थः । हिम्याः पर्वता इति । भूग्नि यप् बहुलं, हिममेवस्तीति विग्रहः । गुण्या ब्राह्मणा इति । प्रशंसायां यप् । प्रशस्तगुणसम्पन्ना इत्यर्थः । शृङ्गवृन्दाभ्यामिति । फलबर्ह्याभ्यामिति ।

अन्येभ्यो—अन्य (प्रकृत्यन्तर) से भी वलच् प्रत्यय हो ।

दन्त—दन्त और शिखा शब्दसे वलच् प्रत्यय हो, संज्ञामें ।

अत इनि—अदन्त प्रातिपदिकसे इनि और ठन् प्रत्यय हो और पक्षमें मतुप् भी हो ।

ब्रीह्या—ब्रीह्यादिसे इनि, ठन् और मतुप् भी हो । तुन्दादिभ्यः—तुन्दादिसे इलच् प्रत्यय और चकारात् इनि, ठन् और मतुप् भी हो । रूपादा—आहत और प्रशंसा विशिष्ट अर्थमें रूप शब्दसे यप् प्रत्यय और मतुप् भी हो । अन्येभ्यो—अन्य (प्रकृत्यन्तर) से भी यप् प्रत्यय हो । अस्माया—असन्त प्रातिपदिकसे तथा माया, मेधा और स्रज् शब्दोंसे विनि प्रत्यय हो (और मतुप् भी हो) शृङ्गवृन्दा—शृङ्ग और वृन्द शब्दसे आरकन् प्रत्यय हो (और मतुप् भी हो) फल—फल और बर्ह शब्दसे इनच् प्रत्यय हो ।

भ्यामिनच्) । फलिनः । बर्हिणः ॥ (हृदयाच्चालुरन्यतरस्याम्) हृदयालुः, हृदयी, हृदयिकः, हृदयवान् ॥ (शीतोष्णतृप्रेभ्यस्तदसहने) शीतं न सहते शीतालुः । उष्णालुः । तृपः पुरोडाशः, तं न सहते तृप्रालुः ॥ (तप्पर्वमरुद्भ्याम्) । पर्वतः । मरुतः ॥ ऊर्णाया युस् ॥ ५।२।१२३। ऊर्णायुः ॥ वाचो गिमनिः ॥ ५।२।१२४। वाग्मी ॥ आल्लजाटचौ बहुभाषिणि ॥ ५।२।१२५। (कुत्सित इति वक्तव्यम्) । कुत्सितं बहु भाषते—वाचालः, वाचाटः । यस्तु सम्यग्वहु भाषते स वाग्मी इत्येव ॥ स्वामिन्नैश्वर्ये ॥ ५।२।१२६। ऐश्वर्यवाचकात् स्वशब्दान्मत्वर्थे आमिनच् । स्वामी ॥ अर्शादिभ्योऽच् ॥ ५।२।१२७। अर्शांसि अस्य विद्यन्ते—अर्शसः । आकृतिगणोऽयम् ॥ वातातीसाराभ्यां कुक् च ॥ ५।२।१२९। चा-

हृदयाच्चालुरन्यतरस्यामिति च । वार्तिकत्रयमिदम् । तथोक्तत्वात् । चुटू इति चकारस्येत्संज्ञा । अन्यतरस्यां ग्रहणाच्चालोरभावे इनिठनौ । समुच्चयार्थकान्यतरस्यां ग्रहणानुवृत्तेर्मनुबपि । तथा चात्र चत्वारः प्रत्ययाः । तदाह—हृदयालुरित्यादि । ‘शीतोष्णतृप्रेभ्यस्तदसहने’ इति वार्तिकमर्थतः संगृह्णाति—शीतेति । शीत, उष्ण, तृप एभ्यः द्वितीयान्तेभ्यः न सहते, इत्यर्थे चालुः स्यादित्यर्थः । तप्पर्वमरुद्भ्यामिति । वार्तिकमिदम् । पर्वमरुद्भ्यां तप् वक्तव्य इत्यर्थः । ऊर्णाया युस् । ऊर्णाशब्दात् युसप्रत्ययः स्यादित्यर्थः । आल्लजाटचौ । वाचशब्दात् आलच् आटच् एतौ मत्वर्थे बहुभाषिणीत्यर्थः । गिमिनोऽपवादः । यस्तु सम्यगिति । न च अवहु, अकुत्सितं च यो वदति तत्रापि वाग्मीत्येव न संभवतीति, भाष्यबलेन पूर्वसूत्रस्य सम्यक् बहुभाषिण्येव प्रवृत्तेरभ्युपगमादिति भावः । स्वामिन्नैश्वर्ये । ऐश्वर्ये इति प्रकृतिविशेषणमित्यभिप्रेत्याह—ऐश्वर्यवाचकादिति । आमिनजिति । निपात्यत इति शेषः । स्वामीति । स्वम् ऐश्वर्यं तद्वानित्यर्थः । नियन्तेति यावत् । ऐश्वर्येत्युक्तेर्धनवानित्यर्थे स्वामीति न भवति । वातातीसाराभ्यां कुक् च । चादिरिति । वात अतीसार आभ्यां मत्वर्थे इनिः स्यात् प्रकृतेः कुक् इत्यर्थः । कुकि ककार इत् । उकार उच्चारणार्थः । किस्वादन्तावयवः । वातकीति । वातरोगवानित्यर्थः ।

हृदयाच्चालु—हृदय शब्दसे आलु प्रत्यय हो, विकल्पसे । पक्षमें इनि, ठन् और मटुप् भी हो । शीतोष्ण—शीतादि शब्दोंसे आलु प्रत्यय हो, असहने अर्थमें ।

तप्पर्व—पर्व और मरुद् शब्दोंसे तप् प्रत्यय हो । ऊर्णाया—ऊर्णा शब्दसे युस् प्रत्यय हो । वाचो—वाच् शब्दसे गिमनि प्रत्यय हो । आल्लजा—वाक् शब्दसे बहुभाषी अर्थमें आलच् और आटच् प्रत्यय हो । कुत्सिते—निन्दा गम्यमान होनेपर ही वाक् शब्दसे बहुभाषी अर्थमें आलच् और आटच् प्रत्यय हों—ऐसा कहना चाहिये । स्वामिन्नै—ऐश्वर्य अर्थमें ‘स्वामिन्’ यह निपातन हो अर्थात् ऐश्वर्यवाचक शब्दमे आमिनच् प्रत्यय हो ।

अर्श आ—अर्शस् आदि प्रातिपदिकसे अच् प्रत्यय हो । वाताती—वात और अतीसार

दिनिः । वातकी । अतीसारकी ॥ (पिशाचाच्च) । पिशाचकी ॥ हस्ताज्जातौ । १।२।१३३। हस्ती । वर्णाद् ब्रह्मचारिणि । १।२।१३४। वर्णी । कंशंभ्यां बभयु-
स्ति तुतयसः । १।२।१३८। कमित्युदकमुखयोः । शमिति सुखे । आभ्यां सप्त
प्रत्ययाः स्युः । युस्यसोः सकारः पदत्वार्थः । कंवः, कंभः, कंयुः, कंतिः, कंतुः, कंतः,
कंयः । एवं शंव इत्यादि ॥ तुन्दिबलिबटेर्भः । १।२।१३९। तुन्दिभः । बलिभः ।
वटिभः ॥ अहंशुभमोर्युस् । १।२।१४०। अहंयुः, अहङ्कारवान् । शुभंयुः, शुभान्वितः ।
इति मत्वर्थीयप्रकरणम् ।

अथ प्राग्विदशीयप्रकरणम्

प्राग् दिशो विभक्तिः । १।३।१। 'दिक्शब्देभ्य' इत्यतः प्राग्वक्ष्यमाणाः प्रत्य-

अतीसारकीति । अतीसाररोगवानित्यर्थः । पिशाचाच्चेति । वार्तिकमिदम् । पिशा-
चादिनिः प्रकृतेः कुक्चेत्यर्थः । हस्ताज्जातौ । हस्तान्मत्वर्थे इतिरेव, समुदायेन जाति-
विशेषे गम्ये इत्यर्थः । वर्णाद् ब्रह्मचारिणि । वर्णशब्दात् मत्वर्थे इतिरेव, समुदायेन
ब्रह्मचारिणि गम्ये इत्यर्थः । वर्णीति । वर्णः ब्राह्मणादितत्तद्वर्णोचितवसन्तादिकाले उप-
नयनम् । सोऽस्यास्तीति विग्रहः । कंशंभ्याम् । व, भ, युस्, ति, तु, त, यस् एषां
सप्तानां द्वन्द्वात् प्रथमाबहुवचनम् । सप्त प्रत्ययाः स्युरिति । मत्वर्थे इति शेषः । पदत्वार्थ
इति । अन्यथा कम् इत्यस्मात् युप्रत्यये यप्रत्यये च कृते भत्वात् पदत्वाभावादनु-
स्वारो न स्यादिति भावः । तुन्दिबलि । तुन्दि, बलि, वटि एभ्यो मत्वर्थे भ प्रत्ययः
स्यादित्यर्थः । समाहारद्वन्द्वात् पञ्चम्येकवचनम् । पुंस्त्वमार्षम् । वटिभ इति । 'वट
वेष्टने' वटनं वटिः अस्यास्तीति विग्रहः । इति मत्वर्थीयाः ।

प्राग्विदशो विभक्तिः । दिक्शब्देन तद्वटितं सूत्रं विवक्षितमित्यभिप्रेत्याह — दिक्शब्दे-

शब्दोऽसे इति प्रत्यय और कुक् का आगम भी हो । पिशाचाच्च—पिशाच शब्दसे भी इति
प्रत्यय और कुक् का आगम हो । हस्ताज्जा—समुदायसे जाति अभिधेय हो, तो हस्त शब्दसे
इति प्रत्यय हो मत्वर्थमे । वर्णाद्—ब्रह्मचारी अभिधेय हो तो वर्ण शब्दसे इति प्रत्यय हो ।
कंशंभ्यां—'कम्' और 'शम्' से व, भ, युस्, ति, तु, त, यस्—ये सात प्रत्यय हों ।
तुन्दिबलि—तुन्दि, बलि, और वटि से 'भ' प्रत्यय हो । अहंशुभ—अहम् और शुभम्से
युस् प्रत्यय हो ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें मत्वर्थीय प्रकरण समाप्त हुआ ॥

प्राग्विदशो—'दिक्शब्देभ्यः सप्तमी—' इस सूत्रसे पूर्व तक जो वक्ष्यमाण प्रत्यय हैं, वे

या विभक्तिसंज्ञाः स्युः । अथ स्वार्थिकाः प्रत्ययाः ॥ किंसर्वदामबहुभ्योऽद्वयादिभ्यः । १५।३।२। किमः सर्वनाम्नो बहुशब्दाच्चेति प्राग्विदशोऽधिक्रियते ॥ पञ्चम्यास्तसिल् १५।३।७। पञ्चम्यन्तेभ्यः किमादिभ्यस्तसिल् वा ॥ कुतिहोः । ७।२।१०४। किमः कुस्तादौ हादौ च विभक्तौ । कुतः, कस्मात् ॥ इदम् इश् १५।३।३। प्राग्विशीये । इतः ॥ एतदोऽन् १५।३।५। एतदः प्राग्विशीये । अनेकाल्त्वात्सर्वादेशः । अतः । इतः । अमुतः । यतः । ततः । बहुतः । द्वादेस्तु-द्वाभ्याम् ॥ पर्यभिभ्यां च । १५।३।९। तसिल् । परितः, सर्वत इत्यर्थः । अभितः, उभयत इत्यर्थः ॥ सप्तम्यास्त्रल् १५।३।१०। कुत्र । यत्र । तत्र । बहुत्र । इदमो हः । १५।३।११। त्रलोऽपवादः ।

अथ इत्यत इति । विभक्तिसंज्ञका इति । तत्फलं तु 'न विभक्तौ तुस्माः' इति निषेधः, त्यदाद्यत्वम्, इदम् 'ऊडिदंपदादि' इति स्वरश्च । स्वार्थिका इति । स्वीयप्रकृत्यर्थे भवा इत्यर्थः । किंसर्वनाम् । अद्वयादिभ्य इति छेदः । प्राग्विदश इत्यनुवर्तते । तदाह—प्राग्विदशोऽधिक्रियत इति । पञ्चम्यास्तसिल् । किमादिभ्य इति । किंसर्वनाम्बहुभ्य इत्यर्थः । वा स्यादिति । 'समर्थानाम्' इत्यतो वाग्रहणस्यानुवृत्तेरिति भावः । कुतिहोः । कु इति लुप्तप्रथमाकम् । 'किमः कः' इत्यस्मात् 'किमः' इत्यनुवर्तते । 'अष्टन आ' इत्यतो विभक्ताविति । तिश्च ह च तयोरिति द्वन्द्वः, इकार उच्चारणार्थः । ताभ्यां विभक्तिर्विशेष्यते । तदादिविधिः, तदाह—किमः कुः स्यादित्यादिना । कुतः । कस्मादिति कुतः इत्यत्र 'पञ्चम्यास्तसिल्' इति तसिलि इलोपे सुपो लुकि, प्राग्विदशो विभक्तिः' इति तसिलो विभक्तित्वे 'कु तिहोः' इति किमः क्वादेशे कु तस् इति जाते 'कृत्तद्धित-समासाश्च' इति प्रातिपदिकत्वात्सुबुत्पत्तौ 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' इति अव्ययत्वे 'अव्ययादाप्सुपः' इति सुपो लुकि, सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गत्वे च 'कुतः' इति सिद्धम् । सप्तम्यास्त्रल् । किमादिभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यः अद्वयादिभ्यस्त्रलित्यर्थः । कुत्र । कस्मिन्निति 'कुत्र' इत्यत्र 'सप्तम्यास्त्रल्' इति त्रलि, ललोपे, 'कुतिहोः' इति किमः क्वादेशे विभक्तिकार्ये च कृते 'कुत्र' इति । इदमो हः । इदं शब्दात् सप्तम्यन्तात् हप्रत्य-

विभक्तिसंज्ञक हो । [किंसर्व—'दिक्शब्देभ्यः सप्तमी—' इस सूत्रसे पूर्वतक 'किम्-सर्वनाम्बहुभ्योऽद्वयादिभ्यः' यह अधिकार है । पञ्चम्यास्तल्—पञ्चम्यन्त किम् आदिसे तसिल् प्रत्यय हो, विकल्पसे । कु तिहोः—किम्को कु आदेश हो, तादि और हादि विभक्तिके परे । इदम् इश्—इदम्को इश् आदेश हो, प्राग्विशीय प्रत्ययके परे । एतदोऽन्—एतदको अन् आदेश हो, प्राग्विशीय (विभक्तिसंज्ञक) प्रत्ययके परे । पर्यभिभ्यां—सर्व और उभयके अर्थमें वर्तमान परि और अभिसे तसिल् प्रत्यय हो । सप्तम्यास्त्रल्—सप्तम्यन्त किमादिसे त्रल् प्रत्यय हो, विकल्पसे । इदमो—सप्तम्यन्त इदम् शब्दसे 'ह' प्रत्यय हो, विकल्पसे ।

इह ॥ किमोऽत् ॥ १५३१२॥ वा स्यात् ॥ क्वाति ॥ ७२॥ १०५ किमः । क, कुत्र ॥ इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते ॥ १५३१४॥ पञ्चमीसप्तमीतरविभक्त्यन्तादपि तसिलादयो दृश्यन्ते । इशिग्रहणाद्भवदादियोग एव । स भवान् । ततो भवान् । तत्र भवान् । तं भवन्तम् । ततो भवन्तम् । तत्र भवन्तम् । एवं दीर्घायुः । देवानां प्रियः । आयुष्मान् ॥ सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दाः ॥ १५३१५॥ सप्तम्यन्तेभ्य एभ्यः कालार्थेभ्यः स्वार्थे दा स्यात् ॥ सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि ॥ १५३१६॥ दादौ प्राग्दिशीये सर्वस्य सो वा । सर्वस्मिन् काले-सदा, सर्वदा । एकदा । अन्यदा । कदा । यदा । तदा । काले किम् ? सर्वत्र देशे ॥ इदमो हिंल् ॥ १५३१६॥ सप्तम्यन्तात् । एतेतौ रथोः ॥ १५३१४॥ इदम 'एत' 'इत्' एतौ स्तौ रेफादौ । अस्मिन् काले एतर्हि । काले किम् ? इह देशे ॥ अधुना ॥ १५३१७॥ इदमो निपातोऽयम् ॥ दानीं च ॥ १५३१८॥ इदमो दानीं प्रत्ययः काले । इदानीम् ॥ तदो

यः स्यादित्यर्थः । इह । अस्मिन्निति 'इह' अत्र 'सप्तम्यास्त्रल्' इति त्रलि प्राप्ते तम्बाधित्वा 'इदमो हः' इति हे कृते इदमः 'इदम इश्' इति इशादेशे शलोपे शित्वात्सर्वादेशे च कृते रूपम् । कस्मिन्निति 'क्' इत्यत्र 'किमोऽत्', इत्यति तलोपे सुपो लुकि 'किम् अ' इति जाते 'क्वाति' इति किमः क्वादेशे 'क् अ' इति जाते भत्वे अलोपे संयोगे विभक्तिकार्ये च तत्सिद्धम् । इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते । पञ्चमीसप्तमीतरविभक्तिभ्योऽपीत्यर्थः । फलितमाह—पञ्चमीसप्तमीतरविभक्त्यन्तादपीति । स भवान् ततोभवानिति । स भवानिति ततो भवान् इत्यत्र 'इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति तसिलि, सुपो लुकि, तद् तस् भवान् इति जाते 'त्यदादीनामः' इत्यत्वे 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे सस्य रुत्वे रोरुत्वे गुणे च कृते 'ततो भवान्' इति । अधुना । 'इदम्' इति 'सप्तम्या' इति 'काले' इति चानुवर्तते । तदाह—इदम इति । तदो दा च । सप्तम्यन्तात्

किमोऽत्—सप्तम्यन्त किम् शब्दसे अत् प्रत्यय हो, विकल्पसे । क्वाति—किम्को 'क्' आदेश हो, अत् प्रत्ययके परे । इतराभ्यो—पञ्चमी, सप्तमी विभक्तिसे इतर जो प्रथमादि विभक्ति, तदन्तसे भी 'त्र, तसिल्' आदि प्रत्यय होते हैं । सर्वैकान्य—कर्तामें वर्तमान सप्तम्यन्त—सर्व, एक, अन्य आदिसे 'दा' प्रत्यय हो, स्वार्थमें । सर्वस्य—सर्वको 'स' आदेश हो, विकल्पसे, दकारादि प्राग्दिशीय प्रत्ययके परे । इदमो—सप्तम्यन्त इदम् शब्दसे हिंल् प्रत्यय हो, काल अर्थमें, विकल्पसे । एतेतौ—इदम्को एत् और इत् आदेश हो, रेफादि और थकारादि प्राग्दिशीय प्रत्ययके परे । अधुना—कालवाची सप्तम्यन्त इदन् शब्दसे अधुना प्रत्यय हो, स्वार्थमें । दानीञ्च—कालवाची सप्तम्यन्त इदम् शब्दसे दानीम् प्रत्यय हो, स्वार्थमें । तदो दा—कालवाची सप्तम्यन्त तद् शब्दसे दा और दानीम् प्रत्यय हो ।

दा च ।५।३।१९। तदा, तदानीम् ॥ अनद्यतने हिंलन्यतरस्ताम् ।५।३।२१।
 कर्हि, कदा । यर्हि, यदा । तर्हि, तदा ॥ एतेतौ रथोः ।५।३।४। एत इत एतौ
 स्तो रेफादौ थकारादौ च प्राग्दिशीये । एतस्मिन्काले एतर्हि ॥ सद्यःपरुत्परायै-
 षमःपरेद्यव्यद्यपूर्वेद्युरन्येद्युरन्यतरेद्युरितरेद्युरपरेद्युरधरेद्युरभयेद्युरुत्तरे-
 द्युः ।५।३।२२। एते निपात्यन्ते । (द्युश्चोभयाद्वक्तव्यः) उभयद्युः । प्रकारवचने
 थाल् ।५।३।२३। प्रकारवृत्तिभ्यः किमादिभ्यस्थाल् । तेन प्रकारेण तथा । यथा ॥
 इदमस्थमुः ।५।३।२४। थालोऽपवादः ॥ (एतदो वाच्यः) अनेन एतेन वा
 प्रकारेण इत्यम् ॥ किमश्च ।५।३।२५। केन प्रकारेण कथम् ।
 इति प्राग्दिशीयप्रकरणम् ।

कालवृत्तेः तदशब्दात् दाप्रत्ययः दानीं प्रत्ययश्च स्यादित्यर्थः । सद्यःपरुत् । 'समानस्य
 सभावो यस्य चाहनि' इति भाष्यवाक्यमिदम् । अहवृत्तेः समानशब्दात् ससम्यन्तात्
 यस्प्रत्ययः समानस्य सभावश्च निपात्यत इत्यर्थः । सद्यः । समानेऽहनि, इत्यर्थः । प्रकारव-
 चने । किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्य इति वर्तते । ससम्याः, कालः, इति च निवृत्तम् ।
 सामान्यस्य विशेषो भेदकः प्रकारः, प्रकृत्यर्थविशेषणं चैतत् । प्रकारवृत्तिभ्यः किंसर्व-
 नामबहुभ्यः स्वार्थे थाल् प्रत्ययो भवति । तथा । तेन प्रकारेण 'तथा' इत्यत्र 'प्रकार-
 वचने थाल्' इति थालि, ललोपे, सुपो लुकि, 'त्यदादीनामः' इत्यस्वे, 'अतो गुणे'
 इति पररूपत्वे च कृते 'तथा' इति रूपम् । एवं येन प्रकारेण इति 'यथा' इत्यत्रापि
 बोध्यम् । इदमस्थमुः । इदशब्दात्प्रकारवृत्तेः थमुप्रत्ययः स्यादित्यर्थः । प्रत्यये उकार
 उच्चारणार्थः । मकारस्य उपदेशे अन्त्यत्वाभावान्नेत्वम् । इत्यम् । अनेन प्रकारेण
 'इत्थम्' इत्यत्र 'इदमस्थमुः' इति थमौ, सुपो लुकि, 'इदम् थम्' इति जाते 'एतेतौ
 रथोः' इति थपरत्वादिदम इतादेशे च कृते 'इत्थम्' इति । इति प्राग्दिशीयाः ।

अनद्यतने—अनद्यतन कालवाची सप्तम्यन्त किम् सर्वनाम आदिसे हिल् प्रत्यय हो,
 विकल्पसे । एतदः—एतद् शब्दको एत-इत् आदेश हों, रेफादि और थकारादि प्रत्ययके परे ।

सद्यःपरुत्—सद्य आदि चतुर्दश शब्द निपातनसे सिद्ध हों । द्युश्चो—उभयसे द्युस्
 प्रत्यय भी हो, अहन् अमिधेय रहने पर । प्रकार—प्रकारवृत्ति किमादि शब्दोंसे थाल्
 प्रत्यय हो, स्वार्थमें ।

इदमस्थमुः—प्रकारवृत्ति, इदम् शब्दसे थमु प्रत्यय हो, स्वार्थमें । एतदोऽपि—
 प्रकारवृत्ति इदम् शब्दसे भी थमु प्रत्यय हो, स्वार्थमें । किमश्च—प्रकारवृत्ति किम् शब्दसे
 भी थमु प्रत्यय हो, स्वार्थमें ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें प्राग्दिशीय प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ स्वार्थिकप्रकरणम्

दिक्छन्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः । ५।-
३।२७। सप्तम्याद्यन्तेभ्यो दिशि रूढेभ्यो दिग्देशकालवृत्तिभ्यः स्वार्थेऽस्तातिः ॥
पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम् । ५।३।३६। एभ्योऽस्तात्यर्थेऽसिस्तद्योगे
चैषां पुर् अघ् अक् इत्यादेशाः स्युः ॥ अस्ताति च । ५।३।४०। पूर्वादीनां पुरादयः
स्युः । पूर्वस्यां पूर्वस्याः पूर्वा वा दिक्, -पुरः, पुरस्तात् । अधः, अधस्तात् । अवः,
अवस्तात् ॥ विभाषाऽवरस्य । ५।३।४१। अस्तातौ अक् वा स्यात् । अवस्तात्, अवर-
स्तात् । एवं देशे काले च । दिशि रूढेभ्यः किम् ? ऐन्द्रयां वसति । सप्तम्याद्यन्तेभ्यः
किम् ? पूर्वं प्रामं गतः । दिगादिवृत्तिभ्यः किम् ? पूर्वस्मिन् गुरौ वसति । 'अस्ताति
च' इति ज्ञापकादसिरस्तातिं न बाधते ॥ दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच् । ५।३।२८।

दिक्छन्देभ्यः । सप्तम्याद्यन्तेभ्य इति । सप्तमी पञ्चमी प्रथमान्तेभ्यः इत्यर्थः । रूढेभ्य
इति । शब्दग्रहणलभ्यमिदम् । अस्तातिप्रत्यये इकार उच्चारणार्थः । तकारान्तः
प्रत्ययः । 'संख्याया विधार्थे धा' इति सूत्रपर्यन्तमिदं सूत्रमस्तातिवर्जमनुवर्तते ।
अत्र विभक्तीनां दिगादीनां च न यथासंख्यं, व्याख्यानात् । पूर्वाधरावराणाम् । असीति
लुप्तप्रथमाकम् । पुर् अघ् अक् एषां द्वन्द्वात् प्रथमाबहुवचनम् । अस्तीत्यर्थे इति ।
दिग्देशकालवृत्तिभ्य इत्यर्थः । अस्ताति च । अस्तातीति लुप्तसप्तमीकम् । अस्तातीति
तकारान्तात् सप्तम्येकवचनं वा । पुरस्तादिति । पूर्वशब्दात् अस्तातिप्रत्ययः प्रकृतेः पुर
आदेशः । अधः, अधस्तादिति । अधरशब्दात् असिप्रत्यये अस्तातिप्रत्यये च प्रकृतेः
अध् आदेशो रूपम् । अव इति । अवरशब्दात् असिप्रत्यये प्रकृतेः अव् आदेशो रूपम् ।
विभाषाऽवरस्य । 'अस्ताति च' इति पूर्वसूत्रादस्तातीत्यनुवर्तते । तदाह—अस्ताताविति ।
एवमिति । पूर्वस्मिन् पूर्वस्मात् पूर्वो वा देशः कालो वा पुरः पुरस्तादित्यादि । पूर्वस्मि-
न् गुराविति । पूर्वकालिकाध्यापनकर्तरीत्यर्थः । ननु दिक्छन्देभ्यः इति सामान्यविहितस्य
परादिशब्देषु सावकाशस्य अस्तातेः पूर्वाधरावरशब्देषु असिना विशेषविहितेन बाधः
स्यादित्यत आह—अस्ताति चेतीति । दक्षिणोत्तराभ्याम् । दिग्देशकालवृत्तिभ्यामिति शेषः ।

दिक्छन्देभ्यः—दिक्, देश और कालमें वर्तमान सप्तम्यन्त, पञ्चम्यन्त और प्रथमान्त
दिक् शब्दसे अस्ताति प्रत्यय हो, स्वार्थमें । पूर्वाधरा—पूर्व, अधर और अवरसे 'अस्ताति'
के अर्थमें असि प्रत्यय हो और असिके योगमें पूर्वादिको यथाक्रमसे पुर, अघ् और अक्
आदेश भी हों । अस्ताति च—'अस्ताति' प्रत्ययके परे भी पूर्वादिको पुरादि आदेश हो ।

विभाषा—अस्ताति प्रत्ययके परे 'अवर' को 'अव्' आदेश विकल्पसे हो ।

दक्षिणो—दिग्देशकालमें वर्तमान सप्तम्यन्त, पञ्चम्यन्त और प्रथमान्त दिग्वाची दक्षिण

अस्तातेरपवादः । दक्षिणतः । उत्तरतः ॥ विभाषा परावराभ्याम् । १।३।३७।
 परतः, परस्तात् । अवरतः, अवरस्तात् ॥ अञ्चेर्लुक् । १।३।३०। अञ्चत्यन्ता-
 दिक्शब्दादस्तातेर्लुक् स्यात् । प्राक् । उदक् ॥ उपर्युपरिष्ठात् । १।३।३१।
 निपातावेतौ ॥ पश्चात् । १।३।३२। तथा ॥ उत्तराधरदक्षिणादातिः । १।३।३४।
 उत्तरात् । अधरात् । दक्षिणात् ॥ एनवन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः । १।३।३५।
 उत्तरादिभ्य एनच्चा स्यादवध्यवंधिमतोः सामीप्ये । पञ्चम्यन्तात् न । उत्तरेण । अध-
 रेण । दक्षिणेन । पक्षे-यथास्वं प्रत्ययाः । इह केचिद्विक्शब्दमात्रादेनपमाहुः । पूर्वेण
 ग्रामम् ॥ दक्षिणादाच् । १।३।३६। अस्तातेर्विषये । दक्षिणा वसति । 'अपञ्चम्याः'
 इत्येव । दक्षिणादागतः ॥ आहि च दूरे । १।३।३७। चादाच् । दक्षिणाहि ।
 दक्षिणा ॥ उत्तराच्च । १।३।३८। उत्तराहि, उत्तरा ॥ संख्याया विधार्थे धा

दक्षिणतः, उत्तरत इति । न चातसुजेव प्रत्ययोऽस्तु । दिग्वर्तित्वे तु 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे'
 इति पुंवत्वेनैव दक्षिणतः इत्यादिसिद्धमिति वाच्यम्, स्पष्टार्थत्वात् । उत्तरादिभ्य
 इति । उत्तराधरदक्षिणादित्यनुवर्तत इति भावः । अदूरे इत्येतद्व्याचष्टे—अवध्य-
 वधिमतोः सामीप्ये इति । पञ्चम्यन्तादिति । पञ्चम्यन्तान्न भवतीत्यर्थः । यथास्वमिति ।
 एनवभावे पक्षे अस्ताति असिः आतिश्चेत्यर्थः । दिक्शब्दमात्रादिति । अञ्चत्यन्तात्
 नेदम्, व्यवस्थितविभाषाश्रयणात् । तेन प्राचेन ग्राममित्यादि न भवतीत्याहुः ।
 दक्षिणादाच् । अस्तातेर्विषये इति । एतेन अदूरे इति नानुवर्तत इति सूचितम् । एवं च
 आचप्रत्यये, उत्तराधरदक्षिणादित्यादि प्रत्यये, 'दक्षिणोत्तराभ्याम्' इत्यतसुचि च त्रीणि
 रूपाणि । आहि च । दक्षिणशब्दादिति शेषः । चादाजिति । तथा दूरे उक्तरूपत्रयेण
 सह चत्वारि रूपाणीति भावः । उत्तराच्च । आच् आहि चेति शेषः । अतसुचा
 आतिना च चत्वारि रूपाणि । संख्याया विधार्थे धा । विधाशब्दस्यार्थः प्रकारः

या उत्तर शब्दसं अतसुच् प्रत्यय हो, स्वार्थमें । विभाषा परा—अस्तातिके अर्थमें दिग्वाची
 पर और अवरसे अतसुच् प्रत्यय हो, विकल्पसे । अञ्चे—अञ्चत्यन्त दिक् शब्दसे पर
 अस्ताति प्रत्ययका लुक् हो । उपर्युपरि—अस्तातिके अर्थमें उपरि और उपरिष्ठात्
 निपातन हों । पश्चात्—अस्तातिके अर्थमें पश्चात् यह निपातन हो । उत्तराधर—उत्तरादिसे
 अस्तातिके अर्थमें आति प्रत्यय हो । एनवन्य—अस्तातिके अर्थमें उत्तरादिसे एनप् प्रत्यय
 हो, यदि अवधि और अवधिमानका सामीप्य रहे । किन्तु पञ्चम्यन्तसे यह एनप् नहीं हो ।

दक्षिणा—अस्ताति प्रत्ययके विषयमें पञ्चम्यन्तसे भिन्न दक्षिण शब्दसे आच् प्रत्यय हो ।

आहि च—अपञ्चम्यन्त दक्षिण शब्दसे अस्तातिके अर्थमें आहि और आच् प्रत्यय हो,
 अवधिसे अवधिमान यदि दूर रहे तो । उत्तरा—अपञ्चम्यन्त उत्तर शब्दसे भी अस्ताति
 अर्थमें आहि और आच् प्रत्यय हो, अवधिसे अवधिमान यदि दूर हो । संख्या—क्रिया-

।१।३।४२। क्रियाप्रकारार्थे वर्तमानात् संख्याशब्दात्स्वार्थे वा स्यात् । चतुर्धा ॥
एकाद्वौ ध्यमुञ्जन्यतरस्याम् ।१।३।४४। ऐक्यम्, एकधा ॥ द्वित्र्योश्च
धमुञ् ।१।३।४५। आभ्यां धा इत्यस्य धमुञ् वा । द्वैधम्, द्विधा । त्रैधम्,
त्रिधा ॥ एधाच्च ।१।३।४६। द्वेधा । त्रेधा ॥ याप्ये पाशप् ।१।३।४७। कुत्सितो
भिषक्-भिषक्पाशः ॥ (तीयादीकक् स्वार्थे वा वाच्यः) । द्वैतीयिकः,
द्वितीयः । तार्तीयिकः, तृतीयः ॥ (न विद्यायाः) । द्वितीया, तृतीया विद्येत्येव ॥
एकादाकिनिच्चासहाये ।१।३।५२। चात्कन्लुक् । एकः । एकाकी । एककः ॥
भूतपूर्वे चरट् ।१।३।५३। आढ्यो भूतपूर्वः-आढ्यचरः ॥ षष्ठ्या रूप्य च ।

विधार्थः । 'विधा विधौ प्रकारे च' इत्यमरः । सामान्यस्य भेदको विशेषः प्रकारः । स
चाभिधानस्वभावात् क्रियाविषयक एव गृह्यते । तदाह-क्रियाप्रकारेति । चतुर्थेति ।
गच्छतीत्यादिक्रियापदमध्याहार्यम् । चतुष्प्रकारा गमनादिक्रियेति बोधः । नवधा द्र-
व्यमित्यादावपि भवतीत्यादिक्रियापदमध्याहार्यम् । एकाद्वौ ध्यमुञ्जन्यतरस्याम् । एकात्
धः इति छेदः । धाशब्दस्य ध इति षष्ठ्येकवचनम् । एकशब्दात् परस्य धाप्रत्ययस्य
ध्यमुञ्जादेशः स्यादित्यर्थः । ऐक्यमिति । न च एकशब्दात् ध्यमुञ् प्रत्ययः स्वतन्त्रो
विधीयताम् । न तु धाप्रत्ययस्यादेश इति वाच्यम्, तथा सति अधिकरणविधान एव
संनिहितत्वादापत्तेः । द्वित्र्योश्च धमुञ् । षष्ठी पञ्चम्यर्थे । ध इति, अन्यतरस्यामिति
चानुवर्तते । तदाह-आभ्यामिति । परस्येति शेषः । एधाच्च । द्वित्रिभ्यां परस्य धाप्र-
त्ययस्य एधाजित्यादेशः स्यादित्यर्थः । पञ्चम्यास्तसिल् इत्यारभ्य एधाच्च इत्यन्तैर्वि-
हितप्रत्ययान्तानामव्ययत्वम् । याप्ये पाशप् । याप्यः कुत्सितः, 'निकृष्टप्रतिकृष्टावरेफ-
याप्यावमाधमाः' इत्यमरः । कुत्सिते विद्यमानात् स्वार्थे पाशप् स्यादित्यर्थः । प्रवृत्ति-
निमित्तकुत्सायामिदम् । अप्रवृत्तिनिमित्तकुत्सायामपि कुत्सित इति वक्ष्यमाणं भवती-
ति भाष्ये स्पष्टम् । तीयादीकगिति । वार्तिकमिदम् । न विद्याया इति । वार्तिकमिद-
मपि तत्रैव स्थितम् । विद्यावृत्तेः तीयप्रत्ययान्तादीकक् नेत्यर्थः । एकादाकिनिच्चा-
सहाये । असहायवाचकादेकशब्दात् स्वार्थे आकिनिच्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । भूतपूर्वे चरट् ।

प्रकारमें विद्यमानसंख्यावाचक शब्दसे 'धा' प्रत्यय हो, स्वार्थमें । एकाद्वौ-एक शब्दसे पर
'धा' प्रत्ययको 'ध्यमुञ्' आदेश हो, विकल्पसे । द्वित्र्योश्च-द्वि, त्रि शब्दसे पर 'धा' को
धमुञ् आदेश हो, विकल्पसे । एधाच्च-द्वि, त्रि शब्दसे पर 'धा' को 'एधाच्' आदेश हो,
विकल्पसे । याप्ये-याप्य (कुत्सित) अर्थमें विद्यमान प्रातिपदिकसे स्वार्थमें पाशप् प्रत्यय हो ।

तीयादी-तीय प्रत्ययान्तसे ईकक् प्रत्यय हो, स्वार्थमें, विकल्पसे । न विद्यायाः-विद्या
अर्थमें वर्तमान तीय प्रत्ययान्तसे ईकक् प्रत्यय नहीं हो । एकादा-असहायवाची एक
शब्दसे स्वार्थमें 'आकिनिच्' प्रत्यय और चकारात् कन् और लुक् भी हो । भूतपूर्वे-भूतपूर्व
अर्थमें वर्तमान प्रातिपदिकसे स्वार्थमें चरट् प्रत्यय हो । षष्ठ्या-षष्ठयन्त प्रातिपदिकसे

१५।३।५४। षष्ठ्यन्ताद्भूतपूर्वेऽर्थे रूप्यः स्याच्चरट् च । कृष्णस्य भूतपूर्वो गौः—कृष्ण-
 रूप्यः, कृष्णचरः ॥ अतिशयने तमविष्णौ १५।३।५५। अतिशयविशिष्टार्थवृत्तेः
 स्वार्थे एतौ स्तः । अयमेषामतिशयेनाढ्यः—आढ्यतमः । लघुतमः, लघिष्ठः ॥ तिङश्च
 १५।३।५६। तिङन्तादतिशये द्योत्ये तमप् स्यात् ॥ तरप्तमपौ घः ११।१।२२।
 किमेत्तिङव्ययघादाभ्वद्रव्यप्रकर्षे १५।४।११। किम् एदन्तात्तिङोऽव्ययाच्च यो
 घस्तदन्तादासुः स्याज्ज तु द्रव्यप्रकर्षे । किन्तमाम् । प्राहेतमाम् । प्रगेतमाम् । पच-
 तितमाम् । उच्चैस्तमाम् । द्रव्यप्रकर्षेतु, —उच्चैस्तमस्तः ॥ द्विवचनविभज्योपपदे
 तरवीयसुनौ १५।३।५७। द्वयोरेकस्याऽतिशये विभक्तव्ये चोपपदे सुप्तिङन्तादेतौ स्तः।
 पूर्वयोरपवादः । अयमनयोरतिशयेन लघुः—लघुतरः, लघीयान् । उदीच्याः प्राच्येभ्यः
 पटुतराः, पटीयांसः ॥ अजादी गुणवचनादेव १५।३।५८। इष्टनीयसुनौ ।
 नेह, —पाचकतरः, पाचकतमः ॥ प्रशस्यस्य श्रः १५।३।६०। इष्टेयसोः परतः ॥

भूतपूर्वे वर्तमानात् प्रातिपदिकात् स्वार्थे चरट् स्यादित्यर्थः । षष्ठ्या रूप्य
 च । रूप्येति लुप्तप्रथमाकम् । भूतपूर्वे इत्यनुवर्तते । षष्ठ्यन्ताद् भूतपूर्वे इति । भूतपूर्-
 वेऽर्थे विद्यमानात् षष्ठ्यन्तादित्यन्वयः । भूतपूर्वे इत्यनुवृत्तं हि श्रुतत्वात् षष्ठ्या विशेष-
 णम् । भूतपूर्वे सम्बन्धे या षष्ठी तदन्तात् स्वार्थे रूप्यः स्यादिति फलति । यथा-
 श्रुते तु स्वार्थिकप्रकरणविरोधः । कृष्णरूप्य इति । भूतपूर्वगत्या कृष्णसम्बन्धी गौरि-
 त्यर्थः । अजादी । तरप्तमपौ इष्टनीयसुनौ चेति चत्वारः प्रत्ययाः अनुक्रान्ताः । तेषां
 मध्ये यौ अजादी इष्टनीयसुनौ तावित्यर्थः । तदाह—इष्टनीयसुनाविति । पाचकतरः,
 पाचकतम इति । क्रियाशब्दादाभ्यामिष्टनीयसुनौ नेति भावः । गुणवचनादजादी एवेति
 विपरीतनियमव्यावृत्त्यर्थः एवकारः । तेन पटुतरः पटुतमः इत्यादि सिद्धम् ।

भूतपूर्व अर्थमें रूप्यप् प्रत्यय और चरट् प्रत्यय भी हो । अतिशयने—अतिशय अर्थमें
 विद्यमान प्रातिपदिकसे स्वार्थमें तमप् प्रत्यय और इष्टन् प्रत्यय हो । तिङश्च—अतिशय अर्थ
 द्योत्यमें तिङन्तसे 'तमप्' प्रत्यय हो । तरप्तमपौ—तरप् और तमप् प्रत्ययकी घसंज्ञा हो ।

किमेत्तिङ्—किम् शब्द और एदन्त प्रातिपदिक, तिङन्त तथा अव्ययसे पर जो घ,
 तदन्तसे 'आसु' प्रत्यय हो द्रव्यप्रकर्षसे भिन्नमें ।

द्विवचन—द्वयर्थ प्रातिपदिक और विभक्तव्य (जिसका विभाग किया जाय, वह) उप-
 पद रहनेपर दोमेंसे एकका अतिशय द्योत्य हो तो, सुबन्त और तिङन्तसे तरप् प्रत्यय और
 ईयसुन् प्रत्यय हों । अजादी—अजादि इष्टन् और ईयसुन् प्रत्यय, गुणवचनसे ही होते हैं ।

प्रशस्य—प्रशस्यको 'श्र' आदेश हो, इष्टन् और ईयसुन् प्रत्ययके परे ।

प्रकृत्यैकाच् । ६।४।१६३। इष्टादिव्वेकाच् प्रकृत्या स्यात् । श्रेष्ठः । श्रेयान् ॥ ज्य च
 ॥५।३।६१। प्रशस्यस्य ज्यादेश इष्टेयसोः । ज्येष्ठः । ज्यादादीयसः । ६।४।१६०।
 'आदेः परस्य' । ज्यायान् । वृद्धस्य च ॥५३।६२। ज्यादेश अजाद्योः । ज्येष्ठः,
 ज्यायान् ॥ अन्तिकवाढयोर्नेदसाधौ ॥५।३।६३। अजाद्योरिष्टेयसोः । नेदिष्ठः ।
 नेदीयान् । साधिष्ठः, साधीयान् ॥ स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रशुद्राणां यणादिपरं
 पूर्वस्य च गुणः । ६।४।१५६। एषां यणादिपरं लुप्यते, पूर्वस्य च गुण इष्टादिषु ।
 स्थविष्ठः । दविष्ठः । यविष्ठः । हसिष्ठः । क्षेपिष्ठः । क्षोदिष्ठः । एवमीयसुन् । ह्रस्वक्षिप्र-

वृद्धस्य च । शेषपूरणं सूत्रं व्याचष्टे—ज्यादेश अजाद्योरिति ॥ इष्टन्नीयसुनोरित्यर्थः ।
 ज्येष्ठ इति । अयमनयोरिति शयेन वृद्ध इत्यर्थः । अन्तिकवाढयोः । अजाद्योरिति । शेष-
 पूरणमिदम् । अन्तिकवाढ अनयोः इष्टेयसुनोः परतः नेद, साध एतावादेशौ स्त
 इत्यर्थः । साधिष्ठः साधीयानिति । अयमनयोरिति शयेन वाढ इत्यर्थः । वाढो भृशः ।
 'भृशप्रतिज्ञयोर्बाढम्' इत्यमरः । 'अतिवेलभृशात्यर्थातिमात्रोद्गाढनिर्भरम्' इति च ।
 स्थूलदूर । एपामिति । स्थूल, दूर, युवन्, ह्रस्व, क्षिप्र, शुद्र, इत्येतेपामित्यर्थः । यणा-
 दिति । यण आदिर्यस्येति विग्रहः । परमिति यणादीत्यस्य विशेषणम्, परभूतं
 यणादीत्यर्थः । लुप्यत इति । 'अल्लोपोऽन' इत्यतोऽनुवृत्तं लोपपदमिह कर्मणि घञ-
 न्तमाश्रीयत इत्यर्थः । भावसाधनत्वे परमित्यनेन सामानाधिकरण्यसम्भवात् । पूर्व-
 स्येति । पूर्वत्वं यणपेक्षया बोध्यम् । इष्टादिष्विति । तुरिष्टेमेयसु इत्यतस्तदनुवृत्ते-
 रिति भावः । स्थविष्ठ इति । स्थूल शब्दादिष्ठनि लङ् इत्यस्य लोपे उकारस्य गुण ओ-
 कारः अवादेशः इति भावः । ओर्गुणस्तु न प्रवर्तते, यणादिलोपस्याभीयत्वेनासिद्ध-
 त्वात् । एवमग्रेऽपि । दविष्ठ इति । दूरशब्दादिष्ठनि रङ् इत्यस्य लोपे उकारस्य गुणे
 अवादेशः । यविष्ठ इति । युवन् शब्दादिष्ठनि वज्रित्यस्य लोपे उकारस्य गुणे अवा-
 देशः । परमित्यनुक्तौ यु इत्यस्यापि यणादेर्लोपः स्यात् । क्षेपिष्ठ इति । क्षिप्रशब्दा-
 दिष्ठनि रङ् इत्यस्य लोपे इकारस्य गुणः । 'इको गुणवृद्धी' इत्युक्तेः न पकारस्य
 गुणः । क्षोदिष्ठ इति । शुद्रशब्दादिष्ठनि रङ् इत्यस्य लोपः उकारस्य गुणः ।

प्रकृत्यैकाच्—इष्टन्, इमनिच् और ईयसुन् प्रत्ययके परे असंज्ञक एकाच् प्रकृतिवत् हो।
 ज्य च—प्रशस्यको 'ज्य' आदेश हो, इष्टन् और ईयसुन् प्रत्ययके परे । ज्यादा—'ज्य'से पर
 ईयस् (ईयसुन्) को आकार आदेश हो । वृद्धस्य च—वृद्धको 'ज्य' आदेश हो, अजादि
 (इष्टन्-ईयसुन्) प्रत्ययके परे । अन्तिक—अन्तिकको 'नेद' आदेश और वाढको 'साध'
 आदेश हों, अजादि (इष्टन्-ईयसुन्) प्रत्ययके परे । स्थूल—स्थूलादिके यणादिरूप पर
 भागका लोप हो और यणादिसे पूर्वभागको गुण हो, इष्टन्, इमनिच् और ईयसुन्

क्षुद्राणां पृथ्वादित्वात्—हसिमा, चेपिमा, क्षोदिमा ॥ प्रियस्थिरस्फिरोरुबहुलगुरु-
वृद्धतृप्रदीर्घवृन्दारकाणां प्रस्थस्फवर्बहिगर्वर्षित्रवृद्राघिवृन्दाः । ६।४।१५७।
प्रियादीनां प्रादयः स्थुरिष्ठादिषु । प्रेष्ठः । स्थेष्ठः । स्फेष्ठः । वरिष्ठः । बंहिष्ठः ।
गरिष्ठः । वर्षिष्ठः । त्रिष्ठः । द्राघिष्ठः । वृन्दिष्ठः । एवमीयसुन् । प्रेयान् । प्रियोरुब-
हुलगुरुदीर्घाणां पृथ्वादित्वादिमनिच्, 'प्रेमा' इत्यादि ॥ बहोर्लोपो भू च बहोः
। ६।४।१५८। बहोः परयोऽरिमेयसोर्लोपः स्याद्वहोश्च भूरादेशः । भूमा । भूयान् ॥ इष्टस्य
यिट् च । ६।४।१५९। बहोः परस्य इष्टस्य लोपो यिडागमश्च । भूयिष्ठः । विन्मतोर्लुक्
। ५।३।६५। इष्टेयसोः परतः । अतिशयेन त्वग्वान्, त्वचिष्ठः, त्वचीयान् ॥ प्रशंसायां

प्रियादीनामिति । प्रिय, स्थिर, स्फिर, उरु, बहुल, गुरु, वृद्ध, तृप्र, दीर्घ, वृन्दारक
प्रां दशानामित्यर्थः । प्रादय इति । प्र, स्थ, स्फ, वर्, बंहि, गर्, वर्षि, त्रप्,
द्राघि, वृन्द एते दशेत्यर्थः । इष्ठादिभित्ति । इष्टेमेयस्स्वित्यर्थः । 'तुरिष्टेमेयःसु'
इत्यतः तदनुवृत्तेरिति भावः । प्रेष्ठ इति । प्रियशब्दादिष्ठनि प्रकृतेः प्रादेशः । आभी-
यत्वेनासिद्धत्वादकारोच्चारणसामर्थ्याच्च न टिलोपः । आद्गुणः । स्थेष्ठ इति ।
स्थिरशब्दादिष्ठनि प्रकृतेः स्थादेशः । प्रकृतिभावान्न टिलोपः । स्फेष्ठ इति । स्फिर-
शब्दस्य इष्ठनि स्फादेशः । वरिष्ठ इति । उरुशब्दात् इष्ठनि वर् आदेशः । बंहिष्ठ इति ।
बहुलशब्दस्य बंहिइत्यादेशः । इकार उच्चारणार्थः । अन्यथा आभीयत्वेनासिद्ध-
त्वात् उच्चारणसामर्थ्याद्वा इकारस्य लोपो न स्यात् । गरिष्ठ इति । गुरुशब्दस्य
इष्ठनि गर् आदेशः । वर्षिष्ठ इति । वृद्धशब्दस्य इष्ठनि वर्षिरादेशः बंहिवदिकार उच्चा-
रणार्थः । त्रिष्ठ इति । तृप्रशब्दस्य इष्ठनि त्रप् आदेशः अटुपधः । तृपधातोस्तृप्त्यर्थ-
कादौणादिके रकि तृप्रशब्दः । द्राघिष्ठ इति । दीर्घशब्दस्य इष्ठनि द्राघिरादेशः । बंहि-
वदिकार उच्चारणार्थः । वृन्दिष्ठ इति । वृन्दारकशब्दस्य इष्ठनि वृन्द आदेशः । अकार
उच्चारणार्थः । एवमीयसुन्निति । प्रेयान्, स्थेयान्, स्फेयान्, वरीयान्, बंहीयान्,
गरीयान्, वर्षीयान्, त्रपीयान्, द्राघीयान्, वृन्दीयान् । अत्र इमनिजनुवृत्तेः प्रयोज-
नमाह—प्रियोऽ इति । सुबन्तात्तिङन्त च्चेति । शेषपूरणमिदम् । 'तिङश्च' इत्यनुवृत्तम् ।

प्रत्ययके परे । प्रियस्थिर—प्रिय, स्थिर, स्फिर, उरु, बहुल, गुरु, वृद्ध, तृप्र, दीर्घ और
वृन्दारकको यथाक्रमसे प्र, स्थ, स्फ, वर्, बंहि, गर्, वर्षि, त्रप्, द्राघि और वृन्द आदेश
हो, इष्टन्, इमनिच् और ईयसुन् प्रत्ययके परे । बहोर्लोपो—बहुसे पर इमनिच् और
ईयसुन् प्रत्यय (के आदि) का लोप हो और बहुको 'भू' आदेश भी हो । इष्टस्य—बहुसे
पर इष्टन् प्रत्यय (के आदि) का लोप हो और बहुको 'भू' आदेश तथा इष्टन्को 'यिट्' का
आगम भी हो । विन्मतो—विन् और मतुप् का लोप हो इष्टन् तथा ईयसुन् प्रत्ययके परे ।

प्रशंसायां—प्रशंसा अर्थमें वर्तमान सुबन्त और तिङन्तसे स्वार्थमें 'रूपप्' प्रत्यय हो ।

रूपम् । १३।६६। सुबन्तात्तिङन्ताच्च । प्रशस्तः पटुः पटुरूपः । पचतिरूपम् ॥ ईषदस-
मासौ कल्पवृक्षदेशीयरः । १३।६७। ईषदूनो विद्वान्-विद्वत्कल्पः । विद्वद्देश्यः ।
विद्वद्देशीयः । पचतिकल्पम् ॥ विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात् ॥ १३।६८।
ईषदूनः पटुर्वहुपटुः । पटुकल्पः । सुपः किम् ? यजतिकल्पम् ॥

(अथ प्राग्वीयप्रकरणम्)

प्राग्वीवात्कः । १३।७०। इवे प्रतिकृतावित्यतः प्राक्काधिकारः ॥ अव्ययसर्व-
नाम्नामकच् प्राक् टेः । १३।७१। कापवादः । तिङ्श्वेत्यनुवर्तते ॥ कस्य च दः
। १३।७२। कान्ताव्ययस्य दादेशोऽकच्च ॥ अज्ञाते । १३।७३। कस्यायमश्वः-अश्वकः ।
उच्चकैः । नीचकैः । सर्वकैः । पचतकि । धक्ति ॥ कुत्सिते । १३।७४। कुत्सितोऽ-
श्वः-अश्वकः ॥ अल्पे । १३।८५। अल्पं तैलं-तैलकम् । ह्रस्वो वृक्षः-वृक्षकः ॥ (अ-
स्मिन् प्रकरणे हलादौ प्रत्यये द्वितीयादयः परस्य लोपो वा वाच्यः) ।
देवदत्तकः । देवकः । (लोपः पूर्वपदस्य च) । दत्तकः । (विनापि प्रत्ययं पूर्वो-
प्रातिपदिकादिति च । 'घकाल' इत्यादिलिङ्गात् सुबन्तादिति लभ्यत इति भावः ।
प्रशंसाविशिष्टे स्वार्थे वर्तमानात् तिङन्तात् सुबन्ताच्च रूपविति फलितम् ।

लोपः पूर्वपदस्य चेति । विभाषेति शेषः । अनजादाविति तु नात्र संब-
ध्यते । तदाह-रुक्त इति । कनि देवशब्दलोपे रूपम् । अप्रत्यये तथैवेष्ट-

ईषदसमासौ—ईषत् असमासि (थोड़ी-सी कमी) अर्थमें वर्तमान प्रातिपदिकसे
कल्पम् और देश्य तथा देशीयर् प्रत्यय हो । विभाषा—ईषत् असमासि अर्थमें वर्तमान
सुबन्तसे बहुच् प्रत्यय विकल्पसे हो और वह प्रकृतिसे पूर्व ही हो ।

प्राग्वीवात्कः—'इवे प्रतिकृतौ' इस सूत्रसे पूर्व तक 'क' प्रत्ययका अधिकार है ।

अव्यय—अव्यय, सर्वनाम और तिङन्तकी 'टि' से पूर्व ही अकच् प्रत्यय हो, प्राग्वी-
यादि अर्थोंमें । कस्य च—ककारान्त अव्ययको 'द' आदेश हो और उससे अकच् प्रत्यय
भी हो । अज्ञाते—अज्ञात अर्थमें वर्तमान सुबन्त और तिङन्तसे क, अकच् आदि प्रत्यय हो
स्वार्थमें । कुत्सिते—कुत्सित अर्थमें वर्तमान प्रातिपदिकसे स्वार्थमें यथाविहित् कादि
प्रत्यय हों । अल्पे—अल्प अर्थमें वर्तमान प्रातिपदिकसे स्वार्थमें यथाविहित् कादि प्रत्यय हों ।

नोटः—'ह्रस्वो वृक्षः-वृक्षकः' इसके लिये 'ह्रस्वे । १३।८६' (ह्रस्व अर्थमें वर्तमान प्राति-
पदिकसे स्वार्थमें यथाविहित् कादि प्रत्यय हो) इस सूत्रका पाठ भी सि० कौमुदीमें है ।

अस्मिन्—इस (प्राग्वीय प्रत्ययके) प्रकरणमें हलादि प्रत्ययके परे द्वितीय अच्से
परका लोप हो, विकल्पसे । लोपः पूर्व—पूर्व पदका भी लोप हो, प्राग्वीय-हलादि प्रत्ययके
पर, विकल्पसे । विनापि—प्रत्ययके विना भी पूर्वपद तथा उत्तरपदका लोप हो, विकल्पसे ।

४० म० कौ०

त्तरपदयोर्लोपो वाचाच्यः) । सत्यभामा । भामा । सत्या ॥ कुटीशमीशुण्डा-
भ्योरः । १५।३।८८। ह्रस्वा कुटी-कुटीरः । शमीरः । शुण्डारः ॥ कुत्वा डुपच् । १५।
३।८९। ह्रस्वा कुतू-कुतुपः । 'कुतूः कृतेः स्नेहपात्रं ह्रस्वा सा कुतुपः पुमान्' । कासू-
गोणीभ्यां ष्टरच् । १५।३।९०। आयुधविशेषः कासूः, -ह्रस्वा सा कासूतरी । गोणी-
तरी ॥ वत्सोक्षाश्वर्षभेभ्यश्च तनुत्वे । १५।३।९१। वत्सतरः । उक्षतरः । अश्व-
तरः । ऋषभतरः ॥ कियत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच् । १५।३।९२।
अनयोः कतरो वैष्णवः ? । यतरः । ततरः ॥ वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्
। १५।३।९३। जातिपरिप्रश्न इति प्रत्याख्यातमाकरे । कतमो भवतां कठः । यतमः ।
ततमः । वाग्रहणमकज्यम् ॥ एकाच्च प्राचाम् । १५।३।९४। डतरच् डतमच्च स्यात् ।
अनयोरेकतरो मैत्रः । एषामेकतमः । इति प्राग्वीयाः ॥

इति वार्तिकभागं व्याचष्टे—विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्लोपो वा वाच्य इति ।
भामा-सत्या । भामादिशब्दात् ठाजादिप्रत्ययस्याप्यभावे पूर्वोत्तरपदयोः क्रमेण लोपे
रूपम् । कुटीशमी । ह्रस्व इत्येव । कुटीर इति । 'स्वार्थिकाः कचित्प्रकृतितो
लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्ते' इति पुंस्त्वम् । एवं शमीरः, शुण्डार इत्यपि । ह्रस्वा शमी-
शुण्डा चेत्यर्थः । कुत्वा डुपच् । कुतुप इति । कुतूशब्दात् डुपचि डित्वाट्टिलोपः । तत्रापि
कुटीरादिवत् स्त्रीत्वमपहाय पुंस्त्वमेव । तत्र अमरकोशमपि प्रमाणयति—कुतूः
कृतेरिति । कासूगोणीभ्यां ष्टरच् । ह्रस्व इत्येव । कासूतरीति । पिस्वात् ङीषिति भावः ।
'कासूबुद्धे कुवाच्येऽञ्छे' इति नानार्थरत्नमालायाम् । एवं गोणीतरीति । वत्सोक्षा । ह्रस्व
इति निवृत्तम् । वत्स, उक्षन्, अश्व, ऋषभ एभ्यस्तनुत्वविशिष्टवृत्तिभ्यः ष्टरच् प्रत्ययः
स्यादित्यर्थः ।

इति प्राग्वीयाः ।

कुटीशमी—कुटी, शमी और शुण्डा शब्दसे 'र' प्रत्यय हो, ह्रस्वत्व अर्थ द्योत्य हो तो
कुत्वा डुपच्—कुतू शब्दसे डुपच् प्रत्यय हो, ह्रस्वत्व अर्थ द्योत्य रहने पर ।
कासू—कासू और गोणी शब्दसे ष्टरच् प्रत्यय हो, ह्रस्वत्व द्योत्य रहने पर ।
वत्सोक्षा—वत्सादिसे ष्टरच् प्रत्यय हो, तनुत्व (थोड़ापन) अर्थमें । कियत्तदः—दोमें
से एकका निर्धारण (निश्चय) करना हो तो—किम्, यत् और तत् शब्दोंसे डतरच्
प्रत्यय हो । वा बहूनां—बहुतोंमें से एकका निर्धारण करना हो तो—किम्, यत् और तत्
शब्दोंसे डतमच् प्रत्यय हो, विकल्पसे । एकाच्च—एक शब्दसे अपने अपने विषयमें डतरच्
और डतमच् प्रत्यय हों, प्राचीनोंके मतसे ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें प्राग्वीय प्रकरण समाप्त हुआ ।

इवे प्रतिकृतौ । १५।३।१६। कन् स्यात् । अश्व इव प्रतिकृतिः—अश्वकः ॥
शाखादिभ्यो यः । १५।३।१०३। शाखेव शाख्यः । मुख्यः । जघन्यः । अग्रयः । शरण्यः ।
कुशाग्राच्छः । १५।३।१०५। कुशाग्रीया बुद्धिः ॥ तत्प्रकृतवचने मयट् । १५।४।२१।
प्राचुर्येण प्रस्तुतं प्रकृतम्, तस्य वचनं प्रतिपादनम् । भावे अधिकरणे वा ल्युट् । आद्ये—
प्रकृतमन्नं अन्नमयम् । अपूपमयम् । द्वितीये—अन्नमयो यज्ञः । अपूपमयं पर्व ॥
संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच् । १५।४।१७। अभ्यावृत्तिर्जन्म,
क्रियाजन्मगणनवृत्तेः संख्यायाः स्वार्थे कृत्वसुच् । पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते । संख्यायाः किम् ?
भूरिवारान्भुङ्क्ते ॥ द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् । १५।४।१८। कृत्वसुचोऽपवादः । द्विर्भुङ्क्ते ।

इवे प्रतिकृतौ । कन् स्यादिति । 'अवचेपणे कन्' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः ।
इवार्थः उपमानत्वम् । तद्वति वर्तमानात्प्रातिपदिकात्कन् स्यात्प्रतिकृतिभूते उपमेये
इति फलितम् । सृदादिविनिर्मिता प्रतिमा प्रतिकृतिः । अश्वकः । अश्व इव प्रतिकृतिः
'अश्वकः' इत्यत्र 'इवे प्रतिकृतौ' इति कनि नलोपे विभक्तिकार्यं च कृते 'अश्वकः'
इति । प्रतिकृतेः स्त्रीत्वेऽपि 'स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यनुवर्तन्ते' इति
पुंलिङ्गत्वम् । संख्यायाः । अभ्यावृत्तिशब्देन यदि द्वितीयादिप्रवृत्तिर्गृह्यते तदा
चतुर्वारं पाकप्रवृत्तौ त्रिः पचतीति स्यादित्यत आह—अभ्यावृत्तिर्जन्मेति । उपसर्ग-
वशात् 'वृत्तु वर्तने' इति धातोरूपतौ वृत्तिरिति भावः । कृत्वसुचि चकार इत् ।
उकार उच्चारणार्थः 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' इत्यत्र तसिलादिषु पस्मिणनात्
कृत्वोऽर्थानामव्ययत्वम् । पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते इति । पञ्चत्वसंख्याकोत्पत्तिविशिष्टा भोजन-
क्रियेत्यर्थः । संख्यायाः किमिति । गणने वृत्तिः, संख्याशब्दानामेवेति प्रश्नः । भूरिवारान्
भुङ्क्ते इति । भूरिशब्दो बहुशब्दपर्यायः, वारशब्दस्तु समभिव्याहृतक्रियापर्याये काले
वर्तते 'कालाभ्वनोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया । बहुकालेषु कारस्म्येन व्याप्ता
भोजनक्रियेत्यर्थः । भोजनबहुत्वं त्वर्थाद्गम्यते । तथा च वारशब्दोऽयं न गणवाची ।

इवे प्रति—इवार्थमेव वर्तमान प्रातिपदिकसे स्वार्थमेव कन् प्रत्यय हो, जो उपमेय रहे,
वह यदि प्रतिकृति (मूर्ति, तस्वीर आदि) हो तो ।

शाखादिभ्यः—शाखादिसे य प्रत्यय हो, इवार्थमेव । कुशाग्रा—कुशाग्रसे छ प्रत्यय हो,
इवार्थमेव । तत्प्रकृत—'प्राचुर्येण प्रस्तुत' अर्थमेव वर्तमान प्रातिपदिकसे मयट् प्रत्यय हो ।
अथवा प्रकृतिवचन अर्थात् प्राचुर्येण प्रस्तुतका अधिकरण अभिधेय हो तो, प्रातिपदिकसे मयट्
प्रत्यय हो । संख्यायाः—क्रियाजन्मके गणनमेव वर्तमान संख्यावाचक शब्दसे कृत्वसुच्
प्रत्यय हो, स्वार्थमेव । द्वित्रिचतुः—क्रियाजन्मके गणनमेव वर्तमान द्वि, त्रि और चतुर् शब्दसे

त्रिभुङ्क्ते । 'रात्सस्य' । चतुर्भुङ्क्ते ॥ एकस्य सकृच्च । १५।४।१६। सकृदादेशः चात्सुच् । सकृद् भुङ्क्ते ॥ देवतान्तात्तादर्थ्यं यत् । १५।४।२४। तदर्थ एव तादर्थ्यम् । अत एव स्वार्थे ष्यञ् । अग्निदेवतायै इदम्—अग्निदेवत्यम् । पितृदेवत्यम् ॥ पादार्धाभ्यां च । १५।४।२५। पादार्थमुदकं पायम् । अर्थ्यम् ॥ अतिथेऽर्थ्यः । १५।४।२६। अतिथये इदम्—आतिथ्यम् ॥ (नवस्य नू आदेशः लसन्पञ्चाश्च चकन्त्याः) । स्वार्थे । नूलम् । नूतनम् । नवीनम् ॥ (भागरूपनामभ्यो धेयः) । भागधेयम् । रूपधेयम् । नामधेयम् ॥ (आग्नीध्रसाधारणादञ्) । आग्नीध्रम् । साधारणम् ॥ देवात्तल् । १५।४।२७। देव एव देवता ॥ अवेः कः । १५।४।२८। अविरेच अविक्कः ॥

भूरिशब्दोऽपि न संख्याशब्देन गृह्यते, 'बहुगणवतुडतिसंख्या' इत्यत्र बहुग्रहणेन तत्पर्यायस्य असंख्यात्वबोधनात् । अतोऽत्र न कृत्वसुच् । द्वित्रिचतुर्भ्यः । क्रियाभ्या-वृत्तिगणने इत्येव । सुचि चकार इत् । उकार उच्चारणार्थः । पूर्ववदव्ययत्वम् । एकस्य सकृच्च । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—सकृदादेश इति । सकृदभुङ्क्ते इति । एकशब्दात् सुच्, प्रकृतेः सकृदित्यादेशश्च । अत्र एकशब्दः क्रियाविशेषणम् । एकत्वविशिष्टा भुजिक्रियेत्यर्थः । देवतान्तात्तादर्थ्यं यत् । तदर्थ एवेति । तच्छब्देन देवतान्तस्यार्थ उच्यते, तस्मै अयम् तदर्थः । ततः स्वार्थे चतुर्वर्णादित्वात् ष्यजित्यर्थः । देवतान्तात् प्रातिपदिकात् यत्स्यात् प्रकृत्यर्थार्थं वस्तुनि वाच्य इत्यर्थः । त्यज्यमानद्रव्ये उद्देश्यविशेषो देवता मन्त्रस्तुत्या चेत्युक्तं 'सास्यं देवता' इत्यत्र । अतः पितृदेव-त्यम् रक्षोदेवत्यमित्यादौ नाव्यासिः । तदाह—पितृदेवत्यमिति । देवताशब्दस्य देवाः मनुष्याः पितरः असुरा रक्षांसि इत्यादि श्रुतिपुराणादिप्रसिद्धजातिविशेषपरत्वे तु अत्राव्यासिः स्यादिति भावः । पादार्धाभ्यां च । तादर्थ्यं यदिति शेषः । नवीनमिति । नवशब्दात् खप्रत्यये, तस्य ईनादेशो, प्रकृतेर्नूभावे, ओगुणः, अवादेशः । भागरूपेति । वार्तिकमिदम् । आग्नीध्रमिति । अग्नीध्रः शरणम् आग्नीध्रम् । ततः स्वार्थे अग्नि आग्नीध्रमेव । देवात्तल् । तादर्थ्यं इति निवृत्तम् । अत्यन्तस्वार्थिकोऽयं तल् । देवतेति ।

स्वार्थमें सुच् प्रत्यय हो । एकस्य—क्रिया-गणन अर्थमें वर्तमान एक शब्दसे सुच् प्रत्यय हो और एकको सकृत् आदेश भी हो । देवतान्ता—चतुर्थ्यन्त देवतान्त प्रातिपदिकसे तादर्थ्यमें यत् प्रत्यय हो । पादार्धा—पाद तथा अर्ध, प्रातिपदिकसे तादर्थ्यमें यत् प्रत्यय हो । अतिथेऽर्थ्यः—अतिथि-प्रकृतिक चतुर्थ्यन्तसे तादर्थ्यमें व्यप्रत्यय हो ।

नवस्य नू—नव शब्दसे स्वार्थमें तनप्, तनप् जौर ख प्रत्यय हो तथा नवको 'नू' आदेश भी हो । भागरूप—भाग, रूप और नाम शब्दसे धेय प्रत्यय हो, स्वार्थमें ।

आग्नीध्र—आग्नीध्र और साधारणसे अञ् प्रत्यय हो । देवात्तल्—देव शब्दसे स्वार्थमें तल् प्रत्यय हो । अवेः कः—अवि शब्दसे स्वार्थमें 'क' प्रत्यय हो ।

यावादिभ्यः कन् । ५।४।२९। याव एव यावकः । मणिकः ॥ (सर्वप्रातिपदिकेभ्यः स्वार्थे कन्) । बहुतरकम् ॥ मृदस्तिकन् । ५।४।३९। मृदेव मृत्तिका । सस्नौ प्रशंसायाम् । ५।४।४०। रूपपोऽपवादः । प्रशस्ता मृत्-मृत्सा, मृत्सना ॥ प्रज्ञादिभ्यश्च । ५।४।३८। अण् स्यात् । प्रज्ञ एव प्राज्ञः । दैवतः । बान्धवः ॥ पूगाब्जयोऽग्रामणीपूर्वात् । ५।३।११२। स्वार्थे । नानाजातीया अनियतवृत्तयोऽर्थकामप्रधानाः सङ्घाः पूगाः । लोहितध्वज्यः ॥ ज्यादयस्तद्राजाः । ५।३।११९। तद्राजस्येति लुक् । लोहितध्वजाः । व्रातेति च्फञ् । कपोतपाक्यः । कपोतपाकाः । कौजायना इत्यादि ॥ बह्वल्पार्थच्छस्कारकादन्यतरस्याम् । ५।४।४२। बहूनि ददाति बहुशः । अल्पानि अल्पशः । बह्वल्पार्थान्मङ्गलामङ्गलचचनम् । नेह-बहु ददात्यनिष्टेषु । अल्पं ददात्याभ्युदयिकेषु ॥ संख्यैकवचनाच्च

स्वार्थिकत्वेन प्रकृतिलिङ्गात् क्रमात् स्त्रीत्वम् । अवेः कः । अयमपि केवलस्वार्थिकः । 'अवयः शैलमेपाकाः' इत्यमरः । यावादिभ्यः कन् । यावक इति । यवानामयं यावः, ओदनादिः, स एव यावकः । 'यावोऽलक्तो द्वेसामयः' इत्यमरः । सर्वप्रातिपदिकेभ्यः । वार्तिकमिदम्, स्पष्टम् । मृदस्तिकन् । मृदशब्दात् स्वार्थे तिकन् इत्यर्थः । सस्नौ । प्रशस्तायां मृदि वर्तमानात् मृच्छब्दात्स्वार्थे स स्न एतौ प्रत्ययौ स्त इत्यर्थः । लोहितध्वजा इति । 'पूगात्' इति विहितस्य व्यस्य तद्राजत्वात् बहुत्वे लुक् । कौजायना इति । व्रात-च्फजोः, इति विहितस्य व्यस्य लुक् । इत्यादीति । क्षौद्रक्यौ, क्षुद्रकाः, आयुधजीवीति व्यटो लुक् । वार्केण्यः, वार्केण्यौ, वृकाः 'वृकाट् ट्येण्यो लुक्' दामनीयः, दामनीयौ, दामनयः, कौण्डोपरथाः इत्यादौ 'दामन्यादित्रिगर्तपष्ठात्' इति छस्य लुक् । पार्श्वः, पार्श्वौ, पशंवः, यौधेयाः इत्यत्र पश्चादियौधेयाद्यणजोर्लुक् । अभिजित्यः, अभिजित्यौ, अभिजितः, विदमृतः इत्यादौ अभिजिद्विदमृदित्यादि विहितस्य यजो लुगिति भावः । संख्यैकवचनाच्च । संख्या च एकवचनं चेति समाहारात्पञ्चमी । एकत्वविशिष्टोऽर्थः ।

यावादिभ्यः—यावादसं स्वार्थमे कन् प्रत्यय हो । सर्वप्राति—प्रातिपदिक मात्रसे स्वार्थमे कन् प्रत्यय हो ।

मृदस्तिकन्—मृद् शब्दसे स्वार्थमे तिकन् प्रत्यय हो । सस्नौ—प्रशंसा (प्रशस्त) अर्थमे वर्तमान मृद् शब्दसे 'स' प्रत्यय और 'स्न' प्रत्यय हो । प्रज्ञादिभ्यः—प्रज्ञादिसे स्वार्थमे अण् प्रत्यय हो । पूगाब्जयोः—ग्रामणीपूर्वकसे भिन्न पूगवाचकसे व्य प्रत्यय हो, स्वार्थमे । ज्यादयः—'पूगाब्ज्यः' इस सूत्रसे प्रारम्भ करके जो प्रत्यय कहे गये हैं, उनकी 'तद्राज' संज्ञा हो । बह्वल्पा—बह्वर्थक और अल्पार्थक जो कारकाभिधायक शब्द, उनसे शस् प्रत्यय हो, विकल्पसे । बह्वल्पात्—बह्वर्थकसे मङ्गल अर्थमे और अल्पार्थकसे अमङ्गल अर्थमे ही शस् प्रत्यय हो । संख्यैक—कारकाभिधायक संख्यावाची एकवचनान्तसे वीप्सा

वीप्सायाम् । ५।४।४३। द्वौ द्वौ ददाति—द्विशः । माषं माषं—माषशः । परिमाणशब्दा वृत्तावेकार्था एव । संख्यैकवचनात्किम् ? घटं घटं ददाति । वीप्सायां किम् ? द्वौ ददाति । कारकादित्येव । द्वयोर्द्वयोः स्वामी ॥ प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः । ५।४।४४। प्रतिना कर्मप्रवचनीयेन योगे या पञ्चमी विहिता तदन्तात्तसिः । प्रद्युम्नः कृष्णतः । प्रति ॥ (आद्यादिभ्यस्तसेरुपसंख्यानम्) । आदौ आदितः । मध्यतः । पृष्ठतः । पार्श्वतः । आकृतिगणोऽयम् । स्वरेण स्वरतः । वर्णतः ॥ कृभ्वस्तियोगे संपद्यकर्तरि च्विः । ५।४।५०। (अभूततद्भाव इति वक्तव्यम्) । विकारात्मतां प्राप्नुवत्यां प्रकृतौ वर्तमानाद्विकारशब्दात्स्वार्थे च्विर्वा स्यात्करोत्यादिभिर्योगे ॥ अस्य च्वौ । ७।४।३२। अवर्णस्य ईत् स्यात् च्वौ । अकृष्णः कृष्णः संपद्यते, तं करोति—कृष्णीकरोति । गङ्गीभवति । गङ्गीस्यात् ॥ (अव्ययस्य च्वावीत्वं नेति वाच्यम्) । दोषाभूतमहः । दिवाभूता रात्रिः ॥ क्यच्च्योश्च । ६।४।१५२। हलः परस्यापत्ययकारस्य लोपः क्ये च्वौ च परतः ।

उच्यतेऽनेनेत्येकवचनः । एकत्वविशिष्टस्यार्थस्य वचन इति विग्रहः । संख्यावाचकाः तदन्यस्माच्चैकत्वेविशिष्टवाचकात् कारकाभिधायिनः प्रातिपदिकात् वीप्सायां शस् वेत्यर्थः । संख्यावाचिनः उदाहरति—द्वौ द्वौ ददातीति । 'नित्यवीप्सयोः' इति द्विवचनम् । द्विशः इत्यत्र तु न, शसैव वीप्साया उक्तत्वात् । माषं माषं माषश इति । माषं माषमित्यनन्तरं ददातीति शेषः । माषशब्दः परिमाणविशेषवाची । प्रतियोगे विहितेति । 'प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः' इति प्रतेः कर्मप्रवचनीयत्वे तद्योगे 'प्रतिनिधि प्रतिदाने च यस्मात्' इति पञ्चमीविहितस्येत्यर्थः । प्रद्युम्नः कृष्णतः प्रतीति । कृष्णस्य प्रतिनिधिरित्यर्थः । दोषाभूतमहः । दोषेत्याकारान्तमव्ययं रात्रावित्यर्थं वर्तते । अदोषा दोषाभूतमहः—बहुलमेघावरणान्धकारात् दोषाभूतमित्यर्थः । अत्र अव्ययत्वात् ईत्वं नेत्यर्थः । दिवाभूता रात्रिरिति । दिवेत्याकारान्तमव्ययम् अहनीत्यर्थे इह तु अहरित्यर्थे वर्तते । चन्द्रिकातिशयवशात् अहर्भूतेत्यर्थः । क्यच्च्योश्च । 'अह्नोपोऽनः' इत्यस्मात् लोप इति 'हलस्तद्धितस्य' इत्यस्मात् हल इति 'सूर्यतिष्य' इत्यतः य

अर्थसे शस् प्रत्यय हो, विकल्पसे । प्रतियोगे—कर्मप्रवचनीयसंज्ञक प्रतिके योगमें विहित पञ्चम्यन्तसे तसि प्रत्यय हो, विकल्पसे । आद्यादिभ्यः—आद्यादिसे तसि प्रत्यय हो, विकल्पसे ।

कृभ्वस्ति—विकाररूपको प्राप्ति करनेवाली प्रकृतिके अर्थमें वर्तमान विकारवाचक शब्द से स्वार्थमें 'च्वि' प्रत्यय हो, कृ, भू और अस् धातुके योगमें, विकल्पसे । अभूत—अभूत-तद्भाव अर्थमें (अतद्रूपके तद्रूप होनेपर) हो च्वि प्रत्यय हो,—ऐसा कहना चाहिये ।

अस्य च्वौ—अवर्णको ईत्वं हो, च्वि प्रत्ययके परे । अव्ययस्य—च्वि प्रत्ययके परे अव्ययको ईत्वं नहीं हो । क्यच्च्योश्च—हल्से पर आपत्य यकारका लोप हो, क्य और

गार्गीभवति ॥ च्वौ च । ७।४।२६। दीर्घः । शुचीभवति । पदस्यात् ॥ अरु-
र्मनश्चक्षुश्चेतोरहोरजसां लोपश्च । ५।४।२१। चात् च्विः । अरुक्रोति ।
उन्मनीकरोति । उच्चक्रोति । विचेतीकरोति । विरहीकरोति । विरजी-
करोति ॥ विभाषा साति कात्स्न्ये । ५।४।२२। च्वेर्विषये सातिर्वा स्यात्साकल्ये ।
'सात्पदाद्योः' । कृत्स्नं शस्त्रमग्निः संपद्यते-अग्निसाद्भवति, अग्नीभवति ।
कात्स्न्ये किम् ? एकदेशेन शुक्लीभवति पटः । अभिविधौ संपदा च । ५।४।२३।
संपदा कृभ्वस्तिभिश्च योगे सातिर्वा व्याप्तौ । पक्षे-कृभ्वस्तियोगे च्विः, सम्पदा तु
वाक्यमेव । अग्निसात् संपद्यते, अग्निसाद्भवति शस्त्रम्-अग्नीभवति । जलसात्सं-
पद्यते, जलीभवति लवणम् ॥ तदधीनवचने । ५।४।२४। सातिः कृभ्वस्तिभिः संपदा

इति 'आपत्यस्य च' इत्यस्मात् आपत्यस्येति चानुवर्तते । तदाह-इलः परस्येति । गार्गी-
भवतीति । अगाम्यो गाम्यः संपद्यमानो भवतीत्यर्थः । यजन्तात् च्वौ यकारस्य लोपः ।
इत्वम् । वेलोपः । अरुर्मनश्चक्षुः । अरुप्, मनस्, चक्षुप्, चेतस्; रहस्, रजस्,
इत्येतेषामित्यर्थः । पूर्वैर्णैव प्रत्ययसिद्धेस्तत्संनियोगेन अन्यलोप इह विधीयते ।
अरुक्रोतीति । अनरुः अरुः संपद्यते तत् करोतीत्यर्थः । प्रकृतेरन्त्यलोपे उकारस्य 'च्वौ
च' इति दीर्घः । उच्चेतीकरोतीति । अनुच्चेताः उच्चेताः संपद्यते, तं करोतीत्यर्थः ।
च्वौ अन्यलोपः, ईत्वं च । विरजीकरोतीति । रहः विजनप्रदेशः, विशिष्टं रहः विरहः ।
अविरहः विरहः संपद्यते तत् करोतीत्यर्थः । च्वौ अन्यलोपः ईत्वं च । विरजीकरोतीति ।
अविरजाः विरजाः संपद्यते तं करोतीत्यर्थः । अन्यलोपे अस्य च्वौ ईत्वं च । विभाषा
साति । सातीति लुप्तप्रथमाकम् । च्विविषये इति । अभूततद्भावे सम्पद्यकर्तरि कृभ्वस्ति-
योगे इत्यर्थः । अग्निसाद् भवति । कृत्स्नं शस्त्रम् अग्निः सम्पद्यते 'अग्निसात्' इत्यत्र
'कृभ्वस्तियोगे' इति च्वौ, च्वेः सर्वस्य लोपे विभाषा सातिप्रत्यये, इलोपे विभक्तिकार्ये
च कृते 'अग्निसात्' भवति । पक्षे च्वौ, 'च्वौ च' इति दीर्घत्वे 'अग्नीभवति' इति ।
पक्षे इति । सातिप्रत्ययाभावपक्षे कृभ्वस्तियोगे पूर्वेण च्विः, संपदायोगे तु सातेरभावे
वाक्यमेव न तु च्विः, कृभ्वस्तियोग एव तद्विधानादित्यर्थः । संपदायोगे उदाहरति-
अग्निसात्संपद्यत इति । कृभ्वस्तियोगे उदाहरति-अग्निसाद्भवति शस्त्रमिति । अग्निसा-

च्वि प्रत्ययके परे । च्वौ च-च्वि प्रत्ययके परे पूर्वको दीर्घ हो । अरुर्मन-अरुप् आदिके
अन्त्यका लोप हो और चकारात् अरुप् आदिसे च्वि प्रत्यय भी हो । विभाषा-साकल्य
अर्थ गम्यमान हो तो-च्विके विषयमें साति प्रत्यय विकल्पसे हो । अभिविधौ-अभिविधि
(अभिव्याप्ति) अर्थ गम्यमान हो तो-सम्पूर्वक पत् धातु, कृ धातु, भू धातु और अस् धातुके
योगमें च्विके विषयमें साति प्रत्यय हो, विकल्पसे । तदधीन-तदधीन वचनमें (उसके अधीन
है ऐसा कहना हो तो) च्विके विषयमें साति प्रत्यय हो, कृ, भू, अस् और सम्पदके योगमें ।

च योगे । राजसात्करोति । राजाधीनमित्यर्थः ॥ देये त्रा च । ५।४।५५। तदधीने देये त्रा स्यात्सातिश्च कृभ्वादियोगे । विप्राधीनं देयं करोति—विप्रत्राकरोति । विप्रत्रा-संपद्यते । पक्षे—विप्रसात्करोति । देये किम् ? राजसाद्भवति राष्ट्रम् ॥ देवमनुष्य-पुरुषपुरुषमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्वहुलम् । ५।४।५६। एभ्यो द्वितीयान्तेभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यश्च त्रा स्यात् । देवत्रा वन्दे रमे वा । बहुलोक्तेरन्यत्रापि, बहुत्रा जीवतो मनः । अव्यक्तानुकरणाद्द्वयजवरार्धादनितो डाच् । ५।४।५७। द्वयच्, अवरं न्यूनं, न तु ततो न्यूनम् ; अनेकाजिति यावत् । तादृशमर्थं यस्य तस्माद् डाच्, कृभ्वस्तिभिर्योगे ॥ (डाचि विवक्षिते द्वे बहुलम्) । डाचि विवक्षिते द्वित्वम् ॥ (नित्यमात्रेडिते डाचीति वक्तव्यम्) । डाच्परं यदात्रेडितं तस्मिन्परे पूर्वपरयोर्वर्णयोः पररूपं स्यात् । इति तपयोः पः । पटपटाकरोति । अव्यक्तानु-करणात्किम् ? ईषत्करोति । द्वयजवरार्धात्किम् ? श्रत्करोति । अवररेति किम् ? खर-टखरटा करोति । अनितौ किम् ? पटिति करोति ॥ कृञो द्वितीयतृतीयशम्बवी-जात्कृषौ । ५।४।५८। द्वितीयादिभ्यो डाच् कृञ एव योगे कर्षणेऽर्थे । बहुलोक्तेरव्य-क्तानुकरणादन्यस्य डाचि न द्वित्वम् । द्वितीयं तृतीयं कर्षणं करोति, द्वितीया करोति ।

करोति अग्निसात्स्यादित्यप्युदाहार्यम् । एभ्य इति । देव, मनुष्य, पुरुष, पुरु, मर्त्य इत्येतेभ्य इत्यर्थः । अत्यन्तस्वार्थिकोऽयम् । सातीति, कृभ्वस्तियोगे इत्यपि निवृत्तम् । देवत्रावन्दे रमे वेति । देवान् वन्दे, देवेषु रमे वेत्यर्थः । बहुत्राजीवतो मन इति । जीवतो जन्तोर्मनः बहुषु विषयेषु गच्छति, बहून् व्याप्नोतीत्यर्थः । अव्यक्तानुकरणात् । यत्र ध्वनौ अकारादयो वर्णविशेषाः न व्यज्यन्ते स अव्यक्तो ध्वनिः । तस्यानुकरणम् अव्यक्तानु-करणम् । द्वयजवरार्धशब्दं व्याचष्टे—द्वयजिति । द्वावचौ यस्येति विग्रहः । अवरशब्दं व्याचष्टे—न्यूनमिति । द्वयजेव अवरं न्यूनसंख्याकमिति सामानाधिकरण्येनान्वयः ।

देये त्रा च—तदधीने देये (उसके अधीन दातव्य वस्तु) इस अर्थमें 'त्रा' प्रत्यय और 'साति' प्रत्यय भी हो, कृ, भू, अस् और सम्पदके योगमें । देवमनुष्य—द्वितीयान्त तथा सप्तम्यन्त देवादि शब्दोंसे 'त्रा' प्रत्यय हो, बहुल प्रकारसे । अव्यक्तानु—अव्यक्त (ध्वनि) का अनुकरण अनेकाच्से डाच् प्रत्यय हो, कृ-भू-अस् धातुके योगमें ।

डाचि—डाच् प्रत्ययकी विवक्षामें ही (डाच्से पूर्व)-द्वित्व हो, ततः डाच् प्रत्यय हों ।

नित्यमा—डाच्परक मात्रेडितके परे पूर्व और पर वर्णके स्थानमें नित्य ही पररूप हो—ऐसा कहना चाहिये ।

कृञो—कृषि (खेती) अभिधेय हो तो—कृञ्के योगमें द्वितीय, तृतीय, शम्ब और बीज

चृतीयाकरोति । शम्बाकरोति । बीजाकरोति ॥ संख्यायाश्च गुणान्तायाः । १५। १४। १५। द्विगुणाकरोति क्षेत्रम् ॥ समयाच्च यापनायाम् । १५। १४। ६०। कृषाविति निवृत्तम् । समयाकरोति; कालं यापयतीत्यर्थः ॥ सपत्रनिष्पन्नादतिव्यथने । १५। १४। ६१। सपत्राकरोति मृगम् ; सपुङ्गुशरप्रवेशनेन सपत्रं करोतीत्यर्थः । निष्पन्नाकरोति । सपुङ्गुस्य शरस्याऽपरपार्श्वेन निर्गमनानिष्पत्रं करोतीत्यर्थः । अतिव्यथने किम् ? सपत्रं निष्पत्रं वा करोति भूतलम् ॥ निष्कुलान्निष्कोषणे । १५। १४। ६२। निष्कुलाकरोति दाडिमम् । निर्गतं कुलमन्तरवयवानां समूहो यस्मादिति बहुव्रीहौर्वाच् ॥ सुखप्रियादानुलोम्ये । १५। १४। ६३। सुखाकरोति, प्रियाकरोति गुरुम् ; अनुकुलाचरणेनानन्दयतीत्यर्थः । दुःखात्प्रातिलोम्ये । १५। १४। ६४। दुःखाकरोति स्वामिनम् ; पीडयतीत्यर्थः ॥ शूलात्पाके । १५। १४। ६५। शूलाकरोति मांसम् ; शूलेन पचतीत्यर्थः ॥ सत्यादशपथे । १५। १४। ६६। सत्याकरोति भाण्डं वणिक् ; क्रेतव्यमिति

सपत्र । सपत्रशब्दात् निष्पत्रशब्दाच्च अतिव्यथने ङाजित्यर्थः । भूतलमिति । पुङ्गुपर्यन्तं पुङ्गुवर्जं वा शरप्रवेशनेन सपत्रं निष्पत्रं वा भूतलं करोतीत्यर्थः । निष्कुलान्निष्कोषणे । ङाजिति शेषः । निष्कोषणम् अन्तर्गतावयवानां बहिष्करणम् । निष्कुलाकरोति दाडिममिति । निर्गतं कुलं यस्मादिति बहुव्रीहिः । कुलशब्दश्च अन्तरवयवसमूहे वर्तते । तदाह-निर्गतमित्यादि । सुखप्रियादानुलोम्ये । सुखशब्दात्प्रियशब्दाच्च आनुलोम्ये गम्ये ङाच् स्यादित्यर्थः । आराध्यगुर्वादिचित्तानुवर्तनमानुलोम्यम् । सुखाकरोति प्रियाकरोति गुरुमिति । चित्तानुवर्तनेन गुरुं सुखसंपन्नं च प्रियसंपन्नं च करोतीत्यर्थः । दुःखात् । ङाजिति शेषः । आराध्यप्रतिकूलाचरणं प्रातिलोम्यम् । अन्यत्पूर्ववत् । शूलात्पाके । ङाजिति शेषः । शूलाकरोतीति । अत्र करोतिः पाके वर्तते । तदाह-शूलेन पचतीत्यर्थ इति । सत्यादशपथे । ङाजिति शेषः । सत्याकरोति भाण्डमिति । रत्नादिद्रव्यजातमित्यर्थः । सत्यशब्दोऽत्र तथ्ये वर्तते । 'सत्यं तथ्यमृतं सम्यक्' इत्यमरः । क्रेतव्यमिति । एतावतैव मूल्येन इदं क्रयणार्हं नातोऽधिकमूल्येनेत्येवं यथाभूतार्थं

शब्दसे ङाच् प्रत्यय हो । संख्या—संख्यावाचक गुणान्त शब्दसे कृञ्के योगमें ङाच् प्रत्यय हो, कृषिके अभिधेयमें । समयाच्च—यापना (वित्ताना) अर्थ गम्यमान हो तो समय शब्दसे कृञ्के योगमें ङाच् प्रत्यय हो । सपत्र—अत्यन्त पीडन अर्थमें सपत्र और निष्पत्र शब्दसे कृञ्के योगमें ङाच् प्रत्यय हो । निष्कुला—निष्कोषण (निचोड़ना) अर्थमें निष्कुल शब्दसे कृञ्के योगमें ङाच् प्रत्यय हो । सुखप्रिया—आनुलोम्य (अनुकूलता) अर्थमें सुख शब्द और प्रिय शब्दसे कृञ्के योगमें ङाच् प्रत्यय हो । दुःखात्—प्रातिलोम्य (प्रातिकूल्य) अर्थमें दुःख शब्दसे कृञ्के योगमें ङाच् प्रत्यय हो । शूलात्—पाकके विषयमें शूल शब्दसे कृञ्के योगमें ङाच् प्रत्यय हो । सत्याद्—शपथसे भिन्न अर्थमें कृञ्के योगमें सत्य शब्दसे

तथ्यं करोतीत्यर्थः । शपथे तु-सत्यं करोति विप्रः ॥ मद्रात्परिवापणे । ५।४।६७।
मद्रशब्दो मङ्गलार्थः । परिवापणं मुण्डनम् । मद्राकरोति कुमारम् ; माङ्गल्यमुण्ड-
नेन संस्करोतीत्यर्थः ॥ (भद्राच्चेति वक्तव्यम्) । भद्राकरोति । अर्थः प्राग्वत् ।
परिवापणे किम् ? भद्रं करोति ॥ इति स्वार्थिकप्रकरणम् ॥

इति तद्धिताः ।

अथ द्विरुक्तप्रकरणम्

सर्वस्य द्वे । ८।१।१। इत्यधिकृत्य ॥ परेर्वर्जने । ८।१।५। परेर्वर्जनेऽर्थे द्वे
स्तः । परिपरि वङ्गेभ्यो वृष्टो देवः ॥ उपर्यध्यधसः सामीप्ये । ८।१।७। उपर्युपरि
ग्रामम् ; ग्रामस्योपरिष्ठात्समीपे देशे इत्यर्थः । अध्यधि सुखम् ; सुखस्योपरिष्ठात्समी-
पकाले दुःखमित्यर्थः । अधोऽधो लोकम् ; लोकस्याधस्तात्समीपे देशे इत्यर्थः ॥ वा-

वदतीत्यर्थः । सत्यं करोति विप्र इति । शपथं करोतीत्यर्थः । मद्रात्परिवापणे । डाजिति
शेषः । मद्रशब्दो मङ्गलार्थ इति । मङ्गलपर्याय इत्यर्थः । परिवापणं मुण्डनमिति । 'केशा-
न्वपते' इत्यादौ तथा दर्शनादिति भावः । मद्राकरोतीति । भद्रं करोतीति । चेमं करोती-
त्यर्थः । अत्र परिवापणस्याप्रतीतेः न डाजिति भावः । इति तद्धिताः ।

सर्वस्य द्वे । इत्यधिकृत्येति । द्विर्वचनविधयोऽनुक्रंस्यन्त इति शेषः । परेर्वर्जने । वर्जने
वर्तमानस्य परीत्यस्य द्वे स्त इत्यर्थः । परिपरिवङ्गेभ्यो वृष्टो देव इति । पर्जन्य इति
शेषः । 'अपपरी वर्जने' इति परिः कर्मप्रवचनीयः । 'पञ्चम्यपाङ्परिमिः' इति पञ्चमी ।
परि हरेः संसारः इत्यत्र तु, 'परेरसमासे इति वक्तव्यमिति' वार्तिकात् न द्विर्वचनम् ।
उपर्यध्यधसः । 'उपरि-अधि-अधः, एतेषां द्वे स्तः सामीप्ये गम्ये इत्यर्थः । सामीप्यञ्च-
उपर्युपरि ग्राममित्यत्र अधोऽधो लोकमित्यत्र च देशतः । अध्यधि सुखमित्यत्र तु

डाच् प्रत्यय हो । मद्रात्परि—परिवापण (मुण्डन) अर्थमें कृञ्के योगमें मद्र शब्दसे डाच्
प्रत्यय हो । भद्राच्च—कृञ्के योग रहनेपर मुण्डन अर्थमें भद्र शब्दसे डाच् प्रत्यय हो ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें स्वार्थिक प्रकरण समाप्त हुआ ।

सर्वस्य द्वे—यह अधिकार सूत्र है । परेर्वर्जने—वर्जन अर्थमें परिको द्वित्व हो ।
उपर्यध्यधसः—सामीप्यकी विवक्षामें उपरि, अधि और अधस्को द्वित्व हो ।
वाक्यादेः—असूयादि गम्यमान हो तो—वाक्यादिके आमन्त्रितको द्वित्व हो ।

क्यादेरामन्त्रितस्यासूयासंमतिकोपकुत्सनभर्त्सनेषु । ८।१।८। सुन्दर सुन्दर
वृथा ते सौन्दर्यम् । संमतौ-देवदेव वन्द्योऽसि । कोपे,-दुर्विनीतदुर्विनीत इदानीं शास्य-
सि । कुत्सने,-धानुष्कधानुष्क वृथा ते धनुः । भर्त्सने-चोरचोर घातयिष्यामि त्वाम् । एकं
बहुव्रीहिवत् । ८।१।९। द्विरुक्त एकशब्दो बहुव्रीहिवत् । तेन सुब्लोपपुंवद्भावौ ।
एकैकमक्षरम् । इह द्वयोरपि सुपोर्लुकि सति बहुव्रीहिवद्भावादेव प्रातिपदिकत्वात्समु-
दायात्सुप् । तच्च एकवचनमेव । एकैकया आहुत्या । आवाधे च । ८।१।१०। पीडायां
द्वे स्तो बहुव्रीहिवच्च । गतगतः । गतगता ॥ प्रकारे गुणवचनस्य । ८।१।१२।
सादृश्ये द्योत्ये गुणवचनस्य द्वे स्तः । तच्च कर्मधारयवत् । पटुपट्वी । पटुपटुः । पटुसदृशः ।

कालत इति ज्ञेयम् । वाक्यादेः । द्वे स्तः इति शेषः । यद्यपि कोपाद्भर्त्सनम्, असूयया
कुत्सनम्, तथापि विनापि कोपासूये भर्त्सनकुत्सनयोः शिष्यादौ संभवात्पृथक्
ग्रहणम् इति भाष्ये स्पष्टम् । सुन्दरेति । सौन्दर्यमसहमानस्येदं वाक्यम् । देवेति । तव
वन्दनं संमतमित्यर्थः । दुर्विनीतेति । क्रोधाविष्टस्य वाक्यम् । शास्यसीति दुर्विनयस्य
फलमिति शेषः । धानुष्केति । युद्धासमर्थं प्रति निन्देयम् । चोरेति । चोरं प्रति अवाच्य-
वादोऽयम् । एकं बहुव्रीहिवत् । द्विरुक्त इति द्विवचनं प्राप्त इत्यर्थः । एतच्च प्रकरणाद्व्य-
ते, 'वीप्सामात्रविषयमिदम्' इति भाष्याच्च । तेनेति । बहुव्रीहिवत्त्वेन सुब्लोपपुंवद्भावौ
सिध्यत इत्यर्थः । तत्र सुब्लोपमुदाहरति - एकैकमिति । इहेति । एकैकमित्यत्र एकमि-
त्यस्य द्विवचने सति एकमेकमिति स्थिते सुपो लुकि, समुदायात् सुवित्यन्वयः ।
ननु 'यत्र संघाते पूर्वो भागः पदं तस्य चेद्भवति तर्हि समासस्यैव' इति नियमेन
समुदायस्य प्रातिपदिकत्वाभावात् कथमिह सुपो लुक्, कथं वा समुदायात् सुवित्यत
आह-बहुव्रीहिवद्भावादेव प्रातिपदिकत्वादिति । एतच्च सुपोर्लुकीत्यत्र समुदायात्सुवित्यत्र
च मध्यमणिन्यायेनान्वेति । अथ पुंवस्वेऽपि उदाहरति - एकैकया आहुत्येति । एके-
त्यस्य द्विवचने सति एकया एकयेति स्थिते बहुव्रीहिवत्त्वेन समुदायस्य प्रातिपदिक-
त्वात्सुपोर्लुकि पूर्वखण्डस्य पुंवस्वे कृते, समुदायात्पुनस्तृतीयोत्पत्तौ, एकैकयेति रूपम् ।
बहुव्रीहिवत्त्वाभावे तु इह समुदायस्य प्रातिपदिकत्वाभावात् सुपोर्लुक् पूर्वखण्डस्य
पुंवस्वंच न स्यात्, उत्तरपदपरकत्वाभावात्, समासचरमावयवस्यैव उत्तरपदत्वादिति
भावः । आवाधे च । आवाधः-पीडा । तदाह-पीडायामिति । गतगत इति । प्रियां
विना काल इति शेषः । विरहात्पीडयमानस्येयमुक्तिः । बहुव्रीहिवद्भावात्सुब्लोक् ।
गतगता । इह पुंवद्भावः । प्रकारे गुणवचनस्येति । प्रकारशब्दः सादृश्ये, व्याख्यानात् ।
तदाह-मादृश्ये द्योत्ये इति । पटुपट्वीति पट्वीशब्दस्य द्विवचने कर्मधारयवत्त्वात् पुंवत्कर्म

एकं बहु-द्विरुक्त एक शब्द बहुव्रीहिवत् हो । आवाधे च-पीडामें द्वित्व हो और
बहुव्रीहिवद्भाव भी हो । प्रकारे-सादृश्य द्योत्ये रहनेपर गुणवचनको द्वित्व हो और वह

ईषत्पडुरिति यावत् ॥ (आनुपूर्व्ये द्वे वाच्ये) । मूले मूले स्थूलः ॥ (संभ्रमेण प्रवृत्तौ यथेष्टमर्नेकधा प्रयोगो न्यायसिद्धः) । सर्पः सर्पः बुध्यस्व बुध्यस्व । सर्पः सर्पः सर्पः बुध्यस्व बुध्यस्व बुध्यस्व । (कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे वाच्ये समासवच्च बहुलम्) । बहुलप्रहणादन्यपरयोर्न समासवत् । इतरशब्दस्य तु नित्यम् । (असमासवद्भावे पूर्वपदस्थस्य सुपः सुर्वक्तव्यः) । अन्योन्यं विप्रा नमन्ति, अन्योन्यौ, अन्योन्येन कृतम्, अन्योन्यस्मै दत्तमित्यादि । (स्त्रीनपुंसकयो-

धारय' इति पूर्वखण्डस्य पुंवत्त्वे रूपमिति भावः । पडुपडुरिति । 'बोतो गुणवचनात्' इति ङीपभावे पुंसि च द्विवचने रूपम् । पडुसदृश इति । इत्यर्थ इति शेषः । फलितमाह— ईषत्पडुरिति । इह गुणवचनशब्दस्य गुणोपसर्जनद्रव्यवाचित्वमेवेति । आनुपूर्व्ये इति । अत्र वार्तिके कर्मधारयवदिति न संबध्यते, तदुदाहरणे भाष्ये सुबलोपादर्शनादित्यभिप्रेत्योदाहरति—मूले मूले इति । पूर्वपूर्वौ मूलभागः, उत्तरोत्तरमूलभागापेक्षया स्थूल इति यावत् । संभ्रमेणेति । वार्तिकमिदम् । संभ्रमः भयादिकृता त्वरा, तेन प्रवृत्तौ गम्यमानायां यथेष्टम् इच्छानुसारेण अनेकधाशब्दः प्रयोक्तव्य इति वक्तव्यमित्यर्थः । अनेकधेत्युक्तेर्द्वे इति निवर्तते । यथेष्टमित्युक्तेरसकृत्वेऽप्येकस्य प्रयोगः स्यादिति शङ्कां निरस्यति—न्यायसिद्धं इति । यावद्भारं प्रयोगे सति बोद्धा अर्थं प्रत्येति, तावद्भारमेव प्रयोगः । बोधात्मकफलपर्यवसायित्वाच्छब्दप्रयोगस्येत्यर्थः । एतच्च भाष्ये स्पष्टम् । अत्रापि कर्मधारयवत्त्वानतिदेशात् सुबलुक्, भाष्ये तथैवोदाहरणात् । कर्मव्यतिहार इति । क्रियाविनिमयः—कर्मव्यतिहारः, तस्मिन् गम्ये सर्वनाम्नो द्वे स्तः । ते च द्विरुक्ते पदे बहुलं समासवदित्यर्थः । अत्र 'बहुलम्' इति समासवदित्यत्रैवान्वेति । द्विवचनं तु नित्यमेव । अन्यपरयोरिति । अन्यशब्दपरशब्दयोरेव बहुलं समासवत्त्वम् । इतरशब्दस्य तु नित्यमेवेत्यर्थः । असमासवद्भावे इति । इदमन्यपरशब्दयोरेव । इतरशब्दस्य समासवत्त्वस्यैवोक्तत्वात् । सुपः सुरिति । सुविति प्रत्याहारः । सप्तानामपि विभक्तीनां पूर्वपदस्थानां प्रथमैकवचनं सु इत्यादेशो वाच्य इत्यर्थः । अन्योन्यं विप्रा नमन्तीत्यादि । इह अन्यम् अन्यौ इत्यादीनां द्वित्वे पूर्ववत्सुपः सुः । स्त्रीनपुंसकयो-

कर्मधारयवत् भो हो । आनुपूर्व्ये—आनुपूर्वी अर्थात् क्रममे गम्यमान रहे तो—द्विव हो । संभ्रमेण—संभ्रमसे अर्थात् हड़बड़ाहटसे जहां प्रवृत्ति हो वहां यथेष्ट (अनेकधा) प्रयोग करना न्यायसिद्ध है । कर्मव्यतिहारे—कर्मव्यतिहार (क्रियाका विनिमय) अर्थमें सर्वनामको द्वित्व हो और वह समासवत् हो, बहुलतासे । असमास—असमासवद्भावमें पूर्वपदस्थ सुपको 'सु' आदेश हो । स्त्रीनपुं—स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्गमें विद्यमान अन्य, इतर, पर आदिको कर्मव्यतिहारमें जहाँ द्वित्व हो, वहाँ उत्तरपदस्थ विभक्तिको 'आम्' आदेश हो, बहुलतासे ।

रुत्तरपदस्थाया विभक्तेराग्भावो वाच्यः) । अन्योन्याम्, अन्योन्यम्, पर-
स्पराम्, परस्परम्, इतरेतराम्, इतरेतरं वा इमे ब्राह्मण्यौ कुले वा भोजयतः ॥

दलद्वये टावभावः क्लीवे चाद्भुविरहः स्वमोः ।

समासे सोरलुक् चेति सिद्धं बाहुलकात्त्रयम् ॥

रिति । स्त्रीनपुंसकयोर्विद्यमानानाम् अन्यपरेतरपदानां कर्मव्यतिहारे द्वित्वे उत्तरपदस्थ-
विभक्तेः आम् इत्यादेशो बहुलं वक्तव्य इत्यर्थः । अन्योन्यामित्यादि । अन्योन्याम् अन्यो-
न्यं वा इमे ब्राह्मण्यौ कुले वा भोजयतः, परस्परां परस्परं वा इमे ब्राह्मण्यौ कुले वा
भोजयतः, इतरेतराम् इतरेतरं वा इमे ब्राह्मण्यौ कुले वा भोजयतः इत्यन्वयः । तत्र
अन्यामित्यस्य द्वित्वे दलद्वये टावभाव इति वक्ष्यमाणतया पुंवत्वात् टापे निवृत्तौ
समासवत्त्वाभावात्सुपोरलुकि पूर्वपदस्थविभक्तेः सुभावे क्त्वे 'अतो रोः' इत्युत्वे गुणे
उत्तरपदस्थविभक्तेरेनेन आम्भावे अन्योन्यामिति रूपम् । आम्भावविरहे तु पुंवत्त्वा-
ट्टापो निवृत्तौ पूर्वपदस्थविभक्तेः सुभावे पुंस्त्रिङ्गवदेव अन्योन्यमिति रूपम् । इयं
ब्राह्मणी अन्यां ब्राह्मणीं भोजयति, अन्या त्विमामित्येवं विनिमयेन ब्राह्मण्यौ भोजय-
यत इत्यर्थः । इदं कुलं कर्तुं अन्यत्कुलं भोजयति, अन्यत्कुलं कर्तुं इदं कुलमित्येकं
विनिमयेन कुले भोजयतः इत्यर्थः । अत्र अन्यच्छब्दस्य नपुंसकलिङ्गस्य द्वित्वे पूर्व-
पदस्थायाः विभक्तेः सुभावे उत्तरपदस्थविभक्तेः आम्भावे अन्योन्यामिति रूपम् ।
आम्भावविरहे तु 'क्लीवे चाद्भुविरहः स्वमोः' इति वक्ष्यमाणतया पुंवत्वात् अद्भा-
देशाभावे अन्योन्यमिति पुंवदेव रूपमिति बोध्यम् । एवं स्त्रीत्वे परामिति पदस्य द्वित्वे
दलद्वयेऽपि पुंवत्वात् टापो निवृत्तौ पूर्वोत्तरपदस्थविभक्त्योः क्रमेण सुभावे आम्भावे
च परस्परासिति । आम्भावविरहे तु द्वित्वे पुंवत्वाट्टापो निवृत्तौ पूर्वपदस्थविभक्तेः
सुभावे परस्परमिति । नपुंसकत्वे तु परमित्यस्य द्वित्वे पूर्वपदस्थविभक्तेः सुभावे
उत्तरपदस्थविभक्तेराग्भावे परस्परासिति । आम्भावे तु द्वित्वे पूर्वपदस्थविभक्तेः
सुभावे परस्परम् इति । इतरामित्यस्य द्वित्वे पुंवत्वाट्टापो निवृत्तौ उत्तरपदस्थविभ-
क्तेराग्भावे समासवत्त्वात् पूर्वपदस्थविभक्तेर्लुकि इतरेतरासिति । आम्भावविरहे
तु इतरेतरमिति । नपुंसकस्य तु इतरच्छब्दस्य द्वित्वे पुंवत्वादद्भादेशविरहे पूर्व-
पदस्थविभक्तेर्लुकि उत्तरपदस्थविभक्तेराग्भावतदभावाभ्यां रूपद्वयम् । दलद्वये इति ।
स्त्रीलिङ्गेषु अन्यपरेतरशब्देषु कर्मव्यतिहारे द्वित्वे सति पूर्वोत्तरखण्डयोः पुंवत्वाट्टानि-
वृत्तिरित्यर्थः । यद्यपि इतरेतरमित्यत्र समासवत्त्वात्सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे इति पुंवत्वादेव
पूर्वखण्डे टावभावः सिद्धः, तथापि उत्तरखण्डे टावभावार्थं बाहुलकाश्रयणमिति भावः ।
स्त्रीवे इति । अन्योन्यमित्यादौ अद्भादेशविरह इत्यर्थः । समासे सोरिति । कृतद्वित्वस्य

दलद्वये—पूर्व-उत्तर-दोनों दलोंमें टापका अभाव तथा नपुंसकमें सु-अम्को अद्भा-

अन्योन्यमित्यादौ दलद्वये टाप् । 'अदृङ्ङतर-' इत्यदृङ् च प्राप्तः । 'अन्योन्य-
संसक्तमहस्त्रियामम्' । अन्योन्याश्रयः । परस्परसिद्धादृश्यम् । अदृष्टपरस्परैरित्यादौ
सोरलुक् च प्राप्तः । सर्वं बाहुलकेन समाधेयम् ॥ इति द्विरुक्तप्रकरणम् ।

अथ स्त्रीप्रत्ययप्रकरणम्

स्त्रियाम् । १४।१।३। अधिकारोऽयम् । समर्थानामिति यावत् ॥ अजाद्यतष्टाप्
१४।१।४। अजादीनामकारान्तस्य च वाच्यं यत् स्त्रीत्वं तत्र द्योत्ये टाप् स्यात् ।
अजादिभिः स्त्रीत्वस्य विशेषणान्नेह,—पञ्चाजी । अत्र हि समासार्थसमाहारनिष्ठं
स्त्रीत्वम् । अजा । खट्वा । एडका । अश्वा । चटका । मूषिका । बाला ।
वत्सा । होढा । मन्दा । विलाता ॥ (सम्भस्त्राजिनशणपिण्डेभ्यः फलत्वात्) ।
संफला । भल्लफला इत्यादि ॥ (सदच्चाण्डप्रान्तशतैकेभ्यः पुष्पात्) ।

अन्येन समासे पूर्वखण्डस्थस्येत्यर्थः । क्लीवे चादृङ्ङविरहः इत्यस्योदाहरति—अन्यो-
न्यमिति । ननु समासे सोरलुक् चेति कथम् । अन्यपरशब्दयोः समासवत्त्वाभावादि-
त्याशङ्क्य कृतद्वित्वस्यान्येन समासे पूर्वखण्डस्थस्य सोरलुगिति तदर्थमभिप्रेत्य तथै-
वोदाहरति—अन्योन्यसंसक्तमिति । अन्यो अन्येन संसक्तमिति तृतीयासमासः । अहश्च
त्रियामा चेति समाहारद्वन्द्वः । अहश्च रात्रिश्च अन्योन्येन संयुक्तमित्यर्थः । अन्योन्या-
श्रय इति । अन्योऽन्यस्य आश्रय इति पष्ठीसमासः । परस्परसिद्धादृश्यमिति । अच्णा-
सादृश्यमस्त्रिसादृश्यम् । परस्परस्यास्त्रिसादृश्यमिति विग्रहः । इति द्विरुक्तप्रक्रिया ।

सम्भस्त्रेति । 'पाककर्ण' इति सूत्रभाष्ये पठितमिदं वार्तिकमर्थतः संगृहीतम् ।
सम्भ, भस्त्रा, अजिन, शण, पिण्ड, एतेभ्यः परो यः फलशब्दः तस्मादपि 'पाककर्ण'
इति ङीष् न भवति किंतु टावेवेत्यर्थः । सम्भलेति । सम्भृद्धानि फलानि यस्या इति
विग्रहः । भल्लफलेति । भस्त्रा एव फलानि यस्या इति विग्रहः । 'भस्त्रा चर्मप्रसे-

देशका अभाव और समासमें मुञ्जुकूका अभाव—ये तीनों कार्य बाहुलकात् (बहुल ग्रहणसे)
सिद्ध होते हैं ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें द्विरुक्त प्रकरण समाप्त हुआ ।

स्त्रियाम्—'समर्थानां प्रथमाद्वा' इस सूत्र पर्यन्त 'स्त्रियाम्' इस सूत्र का अधिकार है ।
अजाद्यतः—अजादि और अकारान्त वाच्य स्त्रीत्व द्योत्ये होनेपर टाप् प्रत्यय हो ।
संभस्त्रा—सम्भ, भस्त्रा, अजिन, शण और पिण्डसे पर फल शब्दसे स्त्रीत्व द्योत्ये होने
पर टाप् प्रत्यय हो । सदच्—सदादिसे पर पुष्प शब्दसे टाप् प्रत्यय हो, स्त्रीत्व द्योत्ये

सत्पुष्पा । प्राक्पुष्पा । प्रत्यक्पुष्पा ॥ (शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिः) । पुंयोगे तु, -शूद्रा । अमहत्पूर्वा किम् ? महाशूद्रा । कृष्णा । उष्णिहा । देवविशा । ज्येष्ठा-कनिष्ठा-मध्यमेति पुंयोगेऽपि । कोकिला जातावपि ॥ (मूलान्नजः) । अमूला । उगितश्च । ४।१।६। डीप् । भवन्ती । पचन्ती । वनो र च । ४।१।७। वन्नन्ता-त्तदन्ताच्च डीप् स्यात् रश्चान्तादेशः । सुत्वानमतिक्रान्ता-अतिसुत्वरी । अतिधीवरी ।

विकाः इत्यमरः । सद् अच् काण्ड । अयमपि 'पाककर्ण' इति सूत्रपठितवार्त्तिकार्थसंग्रहः । सत्, अच्, काण्ड, प्रान्त, शत, एक एतेभ्यः परो यः पुष्पशब्दः तस्मादपि 'पाक-कर्णपर्णपुष्पफलमूलवालोत्तरपदाच्च' इति डीप् न भवति । किन्तु टावेवेत्यर्थः । सत्पुष्पेति । सन्ति पुष्पाणि यस्य इति विग्रहः । अच् इति लुप्तनकारः अन्वुधातुः गृह्यत इत्यभिप्रेत्य उदाहरति—प्राक्पुष्पेति । प्राञ्चि पुष्पाणि यस्या इति विग्रहः । प्रत्यक्पुष्पेति । प्रत्यञ्चि पुष्पाणि यस्या इति विग्रहः । शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिः । अजा-द्यतः इति प्रकृतसूत्रे पठितं वार्त्तिकमेतत् । शूद्रा जातिः वाच्या चेत् अमहत्पूर्वः शूद्रशब्दः स्त्रियां टाप् लभते । जातिलक्षणाडीपोऽपवादः । शूद्रात् स्वभावायां विधिना ऊढायामुपपन्ना स्त्री शूद्रा । जातिरित्यस्य प्रयोजनमाह—पुंयोगे त्वात् । शूद्रस्य स्त्री इत्येवं पुंयोगात् स्त्रियां वृत्तौ जातिवाचित्वाभावान्न टाप् । किन्तु 'पुंयोगादाख्यायाम्' इति डीपेवेत्यर्थः । महाशूद्राति । महती च सा शूद्रा चेति विग्रहः । 'पुंवत्कर्मधारय' इति पुंवस्त्वम् । अत्र महत्पूर्वत्वाच्च टाप् । किन्तु जातिलक्षणो डीपेव । 'आभीरी तु महाशूद्रा जातिपुंयोगयोः समा' इत्यमरः । ज्येष्ठेति । यदा ज्येष्ठादिशब्दः प्रथमो-त्पन्नादौ वर्तते तदा अदन्तत्वादेव टाप् सिद्धः । यदा तु ज्येष्ठस्य स्त्रीत्वादिविवक्षा तदापि पुंयोगलक्षणं डीपं बाधित्वा टावर्थमिह पाठ इत्यर्थः । कोकिलेति । कोकिल-शब्दस्य जातावपि जातिलक्षणं डीपं बाधित्वा टावर्थमिह पाठ इत्यर्थः । मूलान्नज इति । 'पाककर्ण' इति सूत्रे पठितं वार्त्तिकमेतत् । नजः परो यः मूलशब्दः तस्मात् 'पाककर्ण' इति डीप् न भवति किन्तु टावेवेत्यर्थः । अमूलेति । अविद्यमानं मूलं यस्या इति विग्रहः । 'नजोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' इति बहुव्रीहिः । वनो र च । वनः र च इति च्छेदः । र इति लुप्तप्रथमाकम्, अकार उच्चारणार्थः । चकारात् डीप् समुच्चयते । वन इति पञ्चम्यन्तम् । तेन वन्नप्रत्ययान्तं तदन्तं च विवक्षितम् । प्राति-पदिकादित्यधिकृतम् । तदाह—वन्नन्तादित्यादिना । अन्तादेश इति । प्रकृतेरिति शेषः ।

होने पर । शूद्रा च—महत्पूर्वकसे भिन्न शूद्र शब्दसे टाप् हो, जाति वाच्य रहनेपर ।

ज्येष्ठा—ज्येष्ठ, कनिष्ठ और मध्यमसे पुंयोगमें भी टाप् प्रत्यय हो । कोकिला—कोकिल शब्दसे जाति और पुंयोगमें भी टाप् प्रत्यय हो । मूलान्नजः—'नज्' से पर मूल शब्दसे टाप् प्रत्यय हो । उगितश्च—उगिदन्त प्रातिपदिकसे डीप् हो स्त्रीलिंगमें । वनो र—वन्नन्त

शर्वरी ॥ (वनो न हश इति वक्तव्यम्) । अवावा ब्राह्मणी । राजयुच्चा ॥
 (बहुव्रीहौ वा) । बहुधीवा, बहुधीवरी ॥ पादोऽन्यतरस्याम् । १४।१।८।
 द्विपदी, द्विपात् ॥ टावृचि । १४।१।९। द्विपदा ऋक् । एकपदा ॥ मनः । १४।१।११।

नान्तत्वादेव डीप् प्राप्, तत्संज्ञियोगेन रेफमात्रमिह विधेयम् । अथ वन्नन्तान्तमुदाहरति—सुत्वानमिति । पुञ् अभिपवे, सुयजोर्ध्वनिप्, 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इति तुक् । सुत्वन् शब्दः । सुत्वानमतिक्रान्ता इति विग्रहे 'अत्यादयः' इति समासः । सुब्लुकि डीप् नकारस्य रत्वम्, अतिसुत्वरीति रूपम् । अतिधीवरीति । बहुधाञ्धारणपोषणयोः, 'आतो मनिन्कनिव्वनिपश्च', 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति भाषायामपि कनिप् । घुमास्था इति ईत्वम् । धीवानमतिक्रान्ता इति विग्रहे 'अत्यादयः' इति समासः । डीप् रश्च, अतिधीवरीति रूपम् । शर्वरीति । 'शु हिंसायाम्' 'आतो मनिन्कनिव्वनिपश्च', 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति भाषायामपि वनिप्, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणः, 'वनो र च' इति डीप् रश्च । वन्नन्तस्योदाहरणमेतत् । वनो नेति । पूर्ववत् वन्नन्तं वन्नन्तान्तं च गृह्यते । हश इति पञ्चमी, तेन धातोरित्यधिकृत्य विहितेन वना आह्विसं धातोरित्येतत् विशेष्यते, तदन्तविधिः । डीविति रश्चेति चानुवर्तते । अवावेति । ओणृ इत्यस्मात् वनिपि 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' इति नकारस्य आत्वे ओकारस्यावादेऽसौ अवावन् शब्दः । स्त्रीत्वस्फोरणाय ब्राह्मणीति विशेष्यम् । अत्र ओणृ इति धातोः हशन्तात् वन् विहितः तदन्तत्वात् न डीवत्त्वे, किन्तु राजवद्रूपम् । हशन्तात् धातोः परो यो वन् इति व्याख्याने तु आत्वे सति वनो हशः परत्वाभावात् निषेधो न स्यादिति भावः । वन्नन्तान्तमुदाहरति—राजयुध्वेति । राजानं योधितवतीत्यर्थः । भूते कर्मणि क्विवित्यनुवर्तमाने 'राजनि युधि कृजः' इति कनिप् । कर्मिभूते राजनि उपपदे युधेः कृजश्च कनिविति तदर्थः । उपपदसमासे सुब्लुकि राजयुध्वन् शब्दः । अत्र हशो विहितो वन्, तदन्तो युध्वन् शब्दः, तदन्तो राजयुध्वन् शब्दः, अतो न डीव्रादेशादित्यर्थः । बहुव्रीहौ । इदं वार्तिकम् । वनो र च, इति विधिः बहुव्रीहौ वा स्यादित्यर्थः । 'अनो बहुव्रीहेः' इति निषेधस्यापवादः । बहुधीवरीति । बहुवो धीवानो यस्या इति विग्रहः । बहुधीवेति । डीवत्वयोरभावे राजवद्रूपम् । पादो । अन्तलोपात्मके समासान्ते कृते परिशिष्टः पाद् शब्दः इह गृह्यत इत्यर्थः ।

और वन्नन्तान्त प्रातिपदिकसे डीप् तथा 'र' अन्तादेश हो, स्त्रीलिङ्गमें । वनो न—इसन्त धातुसे विहित जो वन, तदन्तान्तसे डीप् और र अन्तादेश नहीं हो । बहुव्री—बहुव्रीहि समासमें 'वनो र च' से विहित डीप् तथा रादेश विकल्पसे हो । पादोऽन्य—कृतसमासान्त जो पाद शब्द, तदन्त प्रातिपदिकसे डीप् हो, विकल्पसे । टावृचि—ऋक्—वाच्यमें पादन्त प्रातिपदिकसे टाप् प्रत्यय हो, स्त्रीलिङ्गमें । मनः—स्त्रीत्व धोत्य रहनेपर मन्नन्तसे डीप् नहीं हो ।

मन्नन्तान्न डीप् । सीमा । सीमानौ ॥ अनो बहुव्रीहेः ४।१।१२। अन्नन्ताद्बहुव्रीहेर्न डीप् । बहुयज्वा । बहुयज्वानौ ॥ डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम् ॥ ४।१।१३। सूत्रद्वयोपात्ताभ्यां डाप् वा । सीमा । सीमे, सीमानौ । दामे, दामानौ ॥ अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम् ॥ ४।१।२८। अन्नन्ताद्बहुव्रीहेरुपधालोपिनो वा डीप् । पक्षे

द्विपदीति । द्वौ पादौ यस्या इति बहुव्रीहिः । 'संख्यासुपूर्वस्य' इति पादशब्दान्तस्याकारस्य लोपः । डीपि भत्वात् 'पादः पत्', द्विपदीति रूपम् । डीवभावे तु द्विपादिति । टाट्ठचि । प्रातिपदिकादिति शेषः । 'पादोऽन्यतरस्याम्' इत्यतः अनुवृत्तेन पाच्छब्देन प्रातिपदिकादित्यधिकृतस्य विशेषणादिति भावः । 'पादोऽन्यतरस्याम्' इति डीपोऽपवादोऽयम् । द्विपदा ऋगिति । द्वौ पादौ यस्या इति विग्रहः । एकपदेति । एकः पादो यस्या इति विग्रहः । उभयत्रापि टापि पादः पत् । मनः । 'न पट्स्वस्त्रादिभ्यः' इत्यतः नेति 'ऋन्नेभ्यः' इत्यतः डीविति चानुवर्तते । मन इति प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तदन्तं गृह्यते । तदाह—मन्नन्तान्न डीविति । सीमेति । 'पिञ् वन्धने' औणादिको मनिन् प्रकृतेर्दीर्घश्च । सीमन् शब्दात् डीपि निषिद्धे राजवद्रूपम् । डीपि सति तु अल्लोपे सीमनीति स्यादिति भावः । ननु वक्ष्यमाणडापि सीमेति सौ रूपसिद्धेः किं डीविनपेधेनेत्यत आह—सीमानाविति । डापि तु सति सीमे इत्येव स्यादिति भावः । अनो बहुव्रीहेः । अन इति बहुव्रीहेरित्यस्य विशेषणम्, तदन्तविधिः, नेति डीविति च पूर्ववदनुवर्तते । तदाह—अन्नन्तादिति । बहुयज्वा । बहुयज्वानौ । बहवो यज्वानो यस्याम् इति विग्रहे नान्तलक्षणडीपः प्रतिषेधे राजवद्रूपाणि । 'न संयोगात्' इति निषेधान्नायमुपधालोपी । अतोऽत्र 'अन उपधालोपिनः' इति विकल्पो न प्रवर्तितुमर्हति । डाबुभाभ्याम् । उभाभ्यामित्येतद्व्याचष्टे—सूत्रद्वयोपात्ताभ्यामिति 'मन' इति 'अनो बहुव्रीहेः' इति च सूत्रद्वयोपात्तात् मन्नन्तादन्नन्तबहुव्रीहेश्च इत्यर्थः । सीमेति । सीमन् शब्दात् डापि टिलोपे सीमाशब्दात् सोर्हल्लङ्यादिलोपः । डावभावपक्षेऽपि 'मनः' इति डीविनपेधे सौ सीमेत्येव राजवद्रूपम् । तर्हि डाविवधेः किं फलमित्यत आह—सीमेसीमानाविति । मन्नन्तविषये उदाहरणान्त-

अनो बहु—अन्नन्त बहुव्रीहिसे डीप् नहीं हो, खोलिङ्गमें ('स्त्रियाम्' का अधिकार सर्वत्र जा रहा है । यह स्मरण रहे)

डाबुभाभ्यां—'उभाभ्याम्' अर्थात् 'मनः' और 'अनो बहुव्रीहेः' इन दोनों सूत्रोंमें उपात्त जो मन्नन्त प्रातिपदिक और अन्नन्त बहुव्रीहि, उनसे डाप् हो, विकल्पसे ।

अन उपधा—उपधालोपी अन्नन्त बहुव्रीहिसे डीप् हो, विकल्पसे, विकल्प पक्ष में डाप् और डीप् का निषेध भी हो ।

४१ म० कौ०

डावन्निषेधौ । बहुराज्ञी, बहुराज्ञ्यौ । बहुराजे, बहुराजानौ । प्रत्ययस्थात्का-
त्पूर्वस्यात् इदाप्यसुपः । ७।३।४४। प्रत्ययस्थात्ककारात्पूर्वस्यात्कारस्येकारः स्या-
दापि परे, स आप् सुपः परो न चेत् । सर्विका । कारिका । अतः किम् ? नौका ।
प्रत्ययस्थात्किम् ? शक्नोतीति शका । असुपः किम् ? बहुपरिव्राजका नगरी ।
(मामकनरकयोरुपसंख्यानम्) । मामिका । नरिका ॥ (त्यक्त्यपोश्च) ।

रमाह-दामेति । दाधातोरौणादिको मनिन् । पक्षे डाग्निषेधाविति । कदाचित् डीग्निषेधः
कदाचित् डाप् चेत्यर्थः । अन्यतरस्यांग्रहणप्रयोजनमिदम् । अकृते त्वन्यतरस्यांग्रहणे
बहुयज्वादिशब्दे अनुपधालोपिनि सावकाशस्य 'अनो बहुव्रीहेः' इति डीप्प्रतिषेधस्य
'डाबुभाभ्याम्' इति डापश्च बहुराजन् शब्दादाबुपधालोपिनि अनवकाशेन डीपा
वाधः स्यात् । बहुराज्ञीति । डीपि अल्लोपे सोर्हृत्ङ्यादिलोप इति भावः । बहुराजेति
डापि डीग्निषेधे च सौ रूपम् । बहुराज्ञ्याविति । डीप्पक्षे औडि यण् । बहुराजे इति ।
डाप् पक्षे औडि रूपम् । बहुराजानाविति । डीग्निषेधे औडि रूपम् । प्रत्ययस्थात् ।
ककारादिति । क् इति वर्णादित्यर्थः । अकार उच्चारणार्थः, वर्णात्कारः इत्युक्तेः । एवं च
सूत्रे कादित्यत्र अकार उच्चारणार्थ इति सूचितम् । स आविति । इत्त्वविधेः यः परनि-
मित्तत्वेनोपात्तः स आवित्यर्थः । सुपः परो न चेदिति । सूत्रे असुपः पञ्चम्यन्तम्, अस-
मर्थसमासः । आपि सुपः परस्मिन् सति इत्त्वं न भवतीत्यर्थो विवक्षित इति भावः ।
सर्विकेति । सर्वशब्दाद्यापि पूर्वसवर्णदीर्घे सर्वाशब्दः । एकादेशस्य पूर्वान्तत्वेन ग्रहणात्
सर्वनामकार्यम् । ततश्च 'अव्ययसर्वनाम्नाम्' इति टेः प्रागकच् । तत्र ककारादकार-
उच्चारणार्थः । चकार इत् । अक् इति ककारान्तःप्रत्ययः टेः प्राग्भवति । सर्वकाशब्द-
स्मिन् ककारात्पूर्वस्य अत इत्त्वे सर्विकेति रूपम् । शकेति । 'शक्त्वृ शक्तौ' पचाद्यच् टाप् ।
अत्र ककारस्य धात्ववयवस्य प्रत्ययस्थत्वाभावात् ततः पूर्वस्य इत्त्वम् । बहुपरिव्राजके-
ति । परिपूर्वात् व्रजेः ण्वुल् । बहवः परिव्राजकाः यस्यामिति बहुव्रीहिः । सुपो लुकि
बहुपरिव्राजकशब्दात् टाप् । अत्राकारस्य कात्पूर्वस्य इत्त्वं न, प्रत्ययलक्षणेन आपः
सुवपेक्षया परत्वात् । 'न लुमताङ्गस्य' इति निषेधस्तु न, तस्य लुमता लुप्ते प्रत्यये
यदङ्गं तस्य कार्य एव प्रवृत्तेः । इत्त्वं तु टाप्यनाङ्गकार्यमिति नात्र तन्निषेधः । यदि तु
'असुपः' इति पर्युदासात् आश्रीयेत, तर्हि बहुपरिव्राजक इति समुदायस्य सुम्बिभ-
त्वादापः ततः परत्वादित्वं दुर्वारं स्यादिति भावः । मामकेति । मामकनरकशब्दयोः
कात्पूर्वस्य इत्त्वं वक्तव्यमित्यर्थः । मामिकेति । ममेयमिति विग्रहे 'युष्मदस्मदोरन्य-

प्रत्ययस्थात्—प्रत्ययस्थ ककारसे पूर्व अकारको इकार हो, आप्को पर, यदि वह आप्
सुप्से पर नहीं हो । मामक—मामक और नरकके ककारके पूर्व अकारको भी इत्त्व हो ।
त्यक्त्यपोश्च—ककारसे पूर्व त्यक् और त्यक्के अकारको इकार हो, आप्को परे ।

दाक्षिणात्यिका । इहत्याका ॥ न यासयोः । ७३।४५। यत्तदोरस्येन्न । यका । सका । यकाम् । तकाम् ॥ (त्यकनश्च निषेधः) । उपत्यका । अधित्यका ॥ (आशिषि वुनश्च न) । जीवका । भवका ॥ (उत्तरपदलोपे न) । देवदत्तिका—देवका । (क्षिपकादीनां च) । क्षिपका । ध्रुवका । कन्यका ।

तरस्यां खञ् च' इत्यणि 'तवकममकावेकवचने' इति ममकादेशे, आदिवृद्धिः टाप् । 'टिड्ढाणञ्' इत्यादिना ङीप् तु न, 'केवलमामक' इत्यादिना संज्ञाछन्दसोरेव मामकशब्दात् ङीङिनयमात् । ततश्चात्र ककारस्य प्रत्ययस्थत्वाभावात् 'प्रत्ययस्थात्' इत्यग्राहौ वचनमिदम् । त्यक्त्यपोश्चेति । त्यगन्ते त्यजन्ते च प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्याकरस्य इत्वं वक्तव्यमित्यर्थः । उदीचामातः स्थाने इति विकल्पस्यापवादः । दाक्षिणात्यिकेति । दक्षिणस्यां दिशि अदूरे इति विग्रहे 'दक्षिणादाच्' इत्याच्, तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' इत्यव्ययत्वम् । दक्षिणाशब्दात् भवादर्थे 'दक्षिणापश्चात्पुरसस्यक्' इति त्यक् 'किति च' इत्यादिवृद्धिः, दाक्षिणात्यशब्दात् टाप् ततः स्वार्थिकः कः 'केऽणः' इति टापो ह्रस्वः, पुनष्टाप् इत्वमिति भावः । इहत्याकेति । 'अव्ययास्यप्' इति त्यप् टाप्, स्वार्थिकः कः, केणः इति ह्रस्वः, पुनः टाप् । न यासयोः । नात्र कृतटापोः प्रथमान्तयोर्निर्देशः । यत्तदोरित्येव विवक्षितम् । यत्तदोरिति । यका । सका इति । 'अव्ययसर्वनाम्नाम्' इति यत्तच्छब्दयोष्टेः प्रागकचि सौ त्यदाद्यत्वं, पररूपत्वं टाप्, हल्ङ्यादिना सुलोपः । तच्छब्दे 'तदोः सः सौ' इति तकारस्य सकारः । उभयत्रापि 'प्रत्ययस्थात्' इति प्राप्तमित्वमत्र सूत्रे निषिध्यते । अथ 'न यासयोः' इत्यस्य प्रथमान्तानुकरणत्वे किं बाधकमित्यत आह—यकाम्, तकामिति । त्यकनश्च निषेध इति । त्यकन्प्रत्ययान्तस्यापि 'प्रत्ययस्थात्' इति इत्वनिषेधो वक्तव्य इत्यर्थः । उपत्यका, अधित्यकेति । 'उपाधिभ्यां त्यकञ्चासञ्चारूढयोः' इति त्यकन्, टाप्, सोर्हल्ङ्यादि लोपः । 'उपत्यकाद्रेरासञ्चा भूमिरुर्ध्वमधित्यका' । इत्यमरः । आशिषीति । आशिषि यो वुन् तस्य योऽयमेकादेशः तदकारस्य 'प्रत्ययस्थात्' इति इत्वं नेति वक्तव्यमित्यर्थः । जीवका, भवकेति । जीवतात् भवतादित्यर्थः । जीवधातोः भूधातोश्च 'आशिषि च' इति वुन् 'युवोरनाकौ' इति तस्य अकादेशः 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति भूधातोर्लृकारस्य गुणः अवादेशश्च । उत्तरपदेति । उत्तरपदलोपेऽपि इत्वं नेति वक्तव्यमित्यर्थः । देवकेति । देवदत्तशब्दात् स्वार्थे कः । 'ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः' 'अनजादौ च विभाषा लोपो वक्तव्यः' इति दत्तशब्दलोपः । देवशब्दात् टाप् । देवदत्तिकेति तु दत्तपदस्य लोपाभिव्यक्तये उपन्यस्तम् । क्षिपकादीनां चेति । क्षिपकादिशब्दानां

न यासयोः—यत् और तत् सम्बन्धी अकारको इत्व नहीं हो । त्यकनश्च—त्यकन्के अकारको इत्व नहीं हो । आशिषि—आशीरर्थक वुन्के अकारको इत्व नहीं हो ।

उत्तरपद—जहां उत्तरपदका लोप हुआ हो, वहां टाप्के परे ककारसे पूर्व अकारको इत्व नहीं हो । क्षिपका—क्षिपकादिको इत्व नहीं हो ।

चटका (तारका ज्योतिषि) । (वर्णका तान्तवे) । (वर्तका शकुनौ प्राचाम्) (अष्टका पितृदेवत्ये) । (सूतकापुत्रिकावृन्दारकाणां वेति वक्तव्यम्) । एषां वा अकारो भवतीत्यर्थः । सूतका, सूतिकेत्यादि । उदीचामातः स्थाने यकपूर्वायाः । ७।३।४६। यकपूर्वस्य स्त्रीप्रत्ययस्यातः स्थाने योऽत् तस्य कात्पूर्वस्येद्वाऽऽपि परे । केऽण इति ह्रस्वः । आर्यका, आर्यिका । चटकका, चटकिका । आतः किम् ? सांकाश्ये भवा-सांकाशिका । यकेति किम् ? अश्विका ।

मित्वं नेति वक्तव्यमित्यर्थः । क्षिपकादिगणं पठति-क्षिप्केति । क्षिप प्रेरणे । 'इगुपधञा-प्रीकिरः कः' इति कः, किस्वान्न लघूपधगुणः क्षिपाशब्दात् स्वार्थे कः, 'केऽणः' इति ह्रस्वः पुनष्टाप् । भ्रुवकेति । 'भ्रुव स्थैर्ये' कुटादिः क्षिपकेतिवद्भ्रूपम् । यद्वा 'भ्रुव स्थैर्ये' पचाद्यच्, 'गाङ्कुटादिभ्यः' इति ङित्वाच्च गुणः, उवङ् । भ्रुवशब्दात् टाप् ततः स्वार्थिकः कः 'केऽणः' इति ह्रस्वः, पुनष्टाप् । कन्यकेति । कन्याशब्दात् कः 'केऽणः' इति ह्रस्वः पुनष्टाप् । चटकेति । चट भेदने । पचाद्यच् टाप् स्वार्थे कः, 'केऽणः' इति ह्रस्वः पुनष्टाप् । क्षिपकादिराकृतिगणः । तेन अलका, इष्टका इत्यादि । अष्टका पितृदेवत्ये । पितरश्च ता देवताश्च पितृदेवताः तदर्थम् पितृदेवत्यम् । 'देवतान्तात् तादर्थ्ये यत्' इति यत् । पितृर्थे कर्मणि वाच्ये अष्टकेति भवति । 'प्रत्ययस्थात्' इति इत्वं नेत्यर्थः । सूतकेति । अत्र पुत्रिकाशब्दः इकारमध्यः नत्वकारमध्यः स्त्रियां पुत्रशब्दस्य शार्ङ्गरवादित्वेन डी-नन्तत्वादिति कैयटः । उदीचामातः । 'प्रत्ययस्थात्' इति सूत्रमनुवर्तते । यश्च कश्च यकौ तौ पूर्वौ यस्या इति विग्रहः । यकेतिवर्णग्रहणम्, अकारावुच्चारणार्थौ यकपूर्वाया इत्येतत् आत् इत्यस्य विशेषणम् । तेत अर्थगतं स्त्रीत्वमाकारे आरोप्य यकपूर्वाया इति स्त्रीलिङ्गनिर्देशः । तेन आकारस्य स्त्रीवाचकत्वं लभ्यते । तदाह—यकपूर्वस्येत्यादिना । उदीचां ग्रहणं विकल्पार्थमेव । न तु देशतो व्यवस्थार्थम्, इति 'न वेति विभाषा' इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । सांकाशिकेति । सङ्काशेन निर्वृत्तं नगरं साङ्काश्यम् । 'बुञ्छण्कठच्' इत्यादिना सङ्काशादिभ्यो ण्यः, आदिवृद्धिः 'यस्येति च' इत्यकारलोपः साङ्काश्यशब्दात् भवार्थे 'धन्वयोपधाद्वुञ्' अकादेशः 'यस्येति च' इत्यकारलोपः ।

तारका—ज्योति (नक्षत्र) अर्थमें 'तारका' यह रूप हो । अर्थात् नक्षत्र अर्थमें इत्व नहीं हो । वर्णका—तन्तुके विकार अर्थमें 'वर्णका' यह रूप हो । अर्थात् तन्तुविकार अर्थमें इत्व नहीं हो । वर्तका—शकुनि (पक्षी) अर्थमें 'वर्तका'—यह रूप हो । अर्थात् इत्व नहीं हो—ऐसा प्राचीनोंका मत है ।

अष्टका—पितृदेवत्य कर्मवाच्य हो तो, 'अष्टका' यह रूप हो—इत्व नहीं हो ।

सूतका—सूतकादियोंके ककारसे पूर्व अकारको इत्व हो, विकल्पसे ।

उदीचामातः—यकार-ककार पूर्वक स्त्रीप्रत्यय-सम्बन्धी आकारस्थानिक ककारसे पूर्व

स्त्रीप्रत्ययेति किम् ? शुभंयिका ॥ अभाषितपुंस्काच्च । ७।३।४८। एतस्माद्विहित-
 स्यातः स्थानेऽत इद्वा । गङ्गाका, गङ्गिका ॥ आदाचार्याणाम् । ७।३।४९।
 पूर्वविषये । गङ्गाका ॥ अनुपसर्जनात् । ४।१।१४। अधिकारोऽयं यूनस्तिरित्य-
 भिव्याप्य ॥ टिड्ढाणञ्द्वयसज्जदध्नञ्मात्रचतयपठकृठञ्कञ्करपः । ४।१।
 १५। अनुपसर्जनं यट्टिदादि तदन्तं यददन्तं प्रातिपदिकं ततो ङीप् । कुरुचरी । उपस-
 र्जनत्वान्नेह-बहुकुरुचरा । नदट्-नदी । देवट्-देवी । सौपर्णेयी । ऐन्द्री । औत्सी ।
 ऊरुद्वयसी । ऊरुदध्नी । ऊरुमात्री । पञ्चतयी । आक्षिकी । लावणिकी । यादशी ।
 इत्वरौ ॥ (नञ्स्नञ्जीककृष्ण्युस्तरुणतलुनानामुपसंख्यानम्) खैणी ।

टाप् 'प्रत्ययस्थात्' इति नित्यमिच्छम् । इह यकारादकारस्य आकारस्थानिकत्वाभावा-
 दित्वविकल्पो न भवतीति भावः । अधिकेति । अश्वाशब्दात् कः 'केऽणः' इति ह्रस्वः,
 पुनष्टाप्, अश्वकाशब्दः । अत्र अकारस्य आकारस्थानिकत्वेऽपि यकपूर्वकत्वाभावादित्व-
 चविकल्पो न, किन्तु 'प्रत्ययस्थात्' इति नित्यमिच्छमिति भावः । स्त्रीप्रत्ययस्य किमिति ।
 यकपूर्वाया इति स्त्रीलिङ्गनिर्देशलब्धं स्त्रीप्रत्ययस्येति किमर्थमिति प्रश्नः । शुभंयिका ।
 शुभमिति मान्तमव्ययम् । तस्मिन्नुपपदे 'या प्रापणे' इति धातोः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते'
 इति विच् शुभंयाशब्दात् स्वार्थं कः 'केऽणः' इति ह्रस्वः टाप्, शुभंयकाशब्दः । अत्र
 यकारादकारस्य धात्ववयवस्य स्त्रीवाचकत्वाभावादित्वविकल्पो न किन्तु 'प्रत्ययस्थात्'
 इति नित्यमेवेत्वमिति भावः । अभाषितपुंस्काच्च । उदीचामातः स्थाने इत्यनुवर्तते
 अत इदिति च, अभाषितः पुमान् येन इति विग्रहः, विहितस्येत्यध्याहार्यम् । तदाह-
 एनस्मादिति । अभाषितपुंस्कादित्यर्थः । अपूर्वार्थं वचनम् । गङ्गाका गङ्गिकेति । गङ्गाशब्दा-
 त् कः । 'केऽणः' इति ह्रस्वः, इत्त्वविकल्पः । आदाचार्याणाम् । पूर्वविषये इति । अभा-
 पितपुंस्काद्विहितस्यातः स्थाने अत इत्यर्थः । अनुपसर्जनादित्यधिकारस्य उत्तरावधि-
 माह-यूनस्तिरित्यभिव्याप्येति । यूनस्तिः इत्यत्राप्ययमधिकारः न तु ततः प्रागित्यर्थः ।

अकारको इत्व हो, आप्के परे, विकल्पसे । अभाषित—अभाषित पुंस्कासे विहित स्त्रीप्रत्यय-
 सम्बन्धी आकारस्थानिक ककारके पूर्व अकारको इत्व हो, आप्के परे, विकल्पसे ।

आदाचार्या—'अभाषितपुंस्काच्च' इत सूत्रसे विहित आत्स्थानिक अकारको आकार
 आदेश हो, विकल्पसे ।

अनुपसर्ज—'यूनस्तिः' इत सूत्र पर्यन्त इसका अधिकार है । टिड्ढाणञ्—अनुपसर्जन
 जो टिट्-ढ-अण्-अञ्-आदि, तदन्ते जो अदन्त प्रातिपदिक, उससे ङीप् हो, स्त्रीत्व द्योत्य
 रहने पर । नञ्स्नञ्—अनुपसर्जन जो नञादि, तदन्त जो अदन्त प्रातिपदिक, उससे ङीप्

पौंस्त्री । शाक्तीकी । आढ्यङ्करणी । तरुणी । तलुनी ॥ यञश्च । ४।१।१६। यञ-
न्तात्प्रातिपदिकात् ङीप् । अकारलोपे कृते—हलस्तद्धितस्य । ६।४।१२०। हल
उत्तरस्योपधाभूततद्धितस्य लोप ईति । गार्गी ॥ प्राचां ष्फ तद्धितः । ४।१।१७।
यञन्तात्फो वा ॥ षः प्रत्ययस्य । १।३।६। प्रत्ययादिः ष इत्स्यात् । ‘आयनेयीनी’
इत्यायनादेशः । षित्त्वसामर्थ्यात्पिदुर्गैरेति ङीष् । गार्ग्यायणी ॥ वयसि प्रथमे
। ४।१।२०। प्रथमवयोवाचिनोऽदन्तात्त्रियां ङीप् । कुमारी ॥ (वयस्यचरम इति
वाच्यम्) । वधूटी । चिरण्टी ॥ द्विगोः । ४।१।२१। अदन्तात् द्विगोर्ङीप् ।
त्रिलोकी । अजादित्वात् त्रिफला । त्र्यनीका सेना ॥ अपरिमाणविस्ताचितक-
म्बल्येभ्यो न तद्धितलुकि । ४।१।२२। अपरिमाणान्ताद्विस्ताद्यन्ताच्च द्विगोर्ङीप्
तद्धितलुकि । पञ्चभिरश्वैः क्रीता पञ्चाश्वा । आर्हीयष्ठक् । ‘अध्यर्ध-’ इति लुक् ।
द्वौ विस्तौ पचति द्विविस्ता । द्वावाचिता । द्विकम्बल्या । परिमाणान्तात्तु द्वाढकी ।

वयस्यचरम इति । चरमम् अन्त्यम् वयः, तद्धिन्नम् अचरमं, प्रथमे इत्यपनीय अच-
रमे इति वक्तव्यम् इत्यर्थः । अपरिमाण । ‘द्विगोः’ इति ङीविति चानुवर्तते । प्राति-
पदिकादित्यधिकृतमपरिमाणादिभिर्विशेष्यते । तदन्तविधिः । तदाह—अपरिमाणान्ता-
दित्यादि । अध्यर्धेति लुगिति । पञ्चभिरश्वैः क्रीतेति विग्रहे ‘तद्धितार्थ’ इति द्विगुः ।
‘आर्हादगोपुच्छसंख्यापरिमाणाट्ठक्’ इत्यधिकारे ‘तेन क्रीतम्’ इति ठक् ‘अध्यर्ध-’
पूर्वाद्द्विगोर्लुगसंज्ञायाम्’ इति तस्य लुक् । अत्र ‘द्विगोः’ इति ङीप् न भवति,
अपरिमाणान्तद्विगुत्वात् । नन्वत्र ‘द्विगोः’ इति ग्रासङीठिनपेधेऽपि टिड्ढाणञ्’ इति
ठग्नित्तको ङीप् दुर्वारः । द्वाभ्यां शताभ्यां क्रीता द्विशतेत्यत्र ‘सङ्ख्याया अति-
शदन्तायाः’ इति कनः ‘अध्यर्ध’ इति लुकि ‘अपरिमाण’ इति निषेधस्य चरितार्थत्वात्
द्विति चेत् सत्यम्, ‘टिड्ढाणञ्’ इत्यत्र प्रत्यासत्त्या टिड्ढाणजादीनां यः अकारः तद-
न्तमिति विवक्षितम् । पञ्चाश्वशब्दश्चायं षगवयवाकारान्तो न भवतीति न दोषः ।
द्वौ विस्ताविति । ‘सुवर्णविस्तौ हेम्नोऽङ्गे’ इत्यमरः । ‘गुञ्ञाः पञ्चाद्यमाषकः । ते षोडशाश्च
इति च । गुञ्ञापञ्चकं माषपरिमाणम् । माषषोडशकम् अक्षपरिमाणम्, तच्च अशीति-

हो, स्त्रीत्व द्योत्य रहने पर । यञश्च—यञन्त प्रातिपदिकसे ङीप् हो, स्त्रीलिंगमें ।

हलस्त—हल्से पर उपधाभूत तद्धितसम्बन्धी यकारका लोप हो, ईकारके परे ।

प्राचां ष्फ—यञन्त प्रातिपदिकसे ‘ष्फ’ प्रत्यय हो, स्त्रीत्व द्योत्यमें, विवरूपसे और वह
‘ष्फ’ तद्धितसंज्ञक हो । षः प्रत्ययस्य—प्रत्ययके आदि प्रकारकी इत्संज्ञा हो ।

वयसि—प्रथम वयोवाची अदन्त प्रातिपदिकसे ङीप् हो, स्त्रीलिंगमें ।

वयस्यचरमे—चरमवयोभिन्न वयोवाचीसे ङीप् हो—ऐसा कहना चाहिये ।

द्विगोः—अदन्त द्विगुसे ङीप् हो, स्त्रीलिंगमें । अपरिमाण—तद्धितका लुक् हुआ हो

तद्वितलुकि किम् ? समाहारे पञ्चाश्वी ॥ काण्डान्तात्क्षेत्रे । ४।१।२३। क्षेत्रे यः काण्डान्तो द्विगुस्ततो न डीप् तद्वितलुकि । द्वे काण्डे प्रमाणमस्याः—द्विकाण्डा क्षेत्र-भक्तिः । मात्रचः ‘प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यम्’ इति लुक् । क्षेत्रे किम् ? द्विकाण्डी रज्जुः ॥ पुरुषात्प्रमाणेऽन्यतरस्याम् । ४।१।२४। प्रमाणे यः पुरुषस्तदन्ताद् द्विगोर्डीव्वा स्यात् तद्वितलुकि । द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्याः—द्विरुषी, द्विपुरुषा वा परिखा ॥

गुञ्जात्मकम् । तस्मिन् हेमविषये अक्षपरिमाणे सुवर्णविस्तशब्दावित्यर्थः । द्वौ विस्तौ पचतीति विग्रहे ‘तद्वितार्थ’ इति द्विगुः । ‘संभवत्यवहरतिपचति’ इति ठक्, तस्य ‘अध्यर्ध’ इति लुक् ‘द्विगोः’ इति डीपि प्रतिषिद्धे सति टापि द्विविस्ता मूषा । द्विविस्तपरिमाणकहिरण्यं द्रावयतीत्यर्थः । पचिरिह द्रावणे द्रष्टव्यः । द्वाचिचेति । ‘आचितो दश भाराः’ इत्यमरः । द्वावाचितौ वहतीत्यर्थे ‘आढकाचितपात्रात् खोऽन्यतरस्याम्’, ‘द्विगोष्टंश्च’ इति खठनोरभावे प्राग्वतीयष्टञ् । ‘अध्यर्ध’ इति तस्य लुक् । अनेन ‘द्विगोः’ इति डीपि निषिद्धे टापि द्वावाचिता शकटी । द्विकम्बव्येति । कम्ब-लस्य प्रकृतिभूतं द्रव्यं कम्बल्यम् ऊर्णापलशतम् । ‘तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ’ इत्यर्थे ‘कम्बलाच्च संज्ञायाम्’ इति यत्, द्वाभ्यां कम्बल्याभ्यां क्रीतेति विग्रहः । ‘तेन क्रीतम्’ इति ठञः ‘अध्यर्ध’ इति लुक् ‘द्विगोः’ इति डीपि अनेन प्रतिसिद्धे टाप् । काण्डान्तात् क्षेत्रे । ‘द्विगोः’ इति, ‘न तद्वितलुकी’ति चानुवर्तते । तदाह—क्षेत्रे य इत्यादि । द्वे काण्डे इति । ‘षोडशारत्निकायामो, दण्डः काण्डमिति स्मृतिः’ । द्वे काण्डे प्रमाणमस्याः इति विग्रहे ‘तद्वितार्थ’ इति द्विगुसमासे द्विकाण्डशब्दस्य क्षेत्रवर्तित्वे नपुंसकत्वशङ्काव्यु-दासाय क्षेत्रभक्तिरिति विशेष्योपादानम् । द्विकाण्डी रज्जुरिति । पूर्ववत् मात्रचो लुकि ‘द्विगोः’ इति डीप् । क्षेत्रे वृत्तित्वाभावात् न तन्निषेध इति भावः । पुरुषात् । द्विगोरिति तद्वितलुकीति डीविति चानुवर्तते । तदाह—प्रमाणे य इत्यादिना । प्रमाणमायामः ‘आयामस्तु प्रमाणं स्यात्’ इति वचनात् । द्वौ पुरुषाविति । पञ्चहस्तायामः पुरुष इत्यु-च्यते, ‘पञ्चारत्निः पुरुषः’ इति शुक्वसूत्रात् । द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्या इति विग्रहे ‘तद्वि-तार्थ’ इति द्विगुः समासः । ‘प्रमाणे द्वयसज्दध्नजमात्रचः’ इति विहितस्य मात्रचः ‘प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यम्’ इति लुक् । अत्र उक्तरीत्या पुरुषप्रमाणस्य आयामात्म-कस्य ‘अपरिमाण’ इति नित्यं डीग्नपेधे विकल्पार्थमिदं वचनम् । अन्ये तु ‘तदस्य परिमाणम्’ इति ठकः ठगो वा अध्यर्ध’ इति लुक् । तत्र हि उत्तरसूत्रानुरोधात् परि-माणशब्देन परिच्छेदकमात्रं गृह्यते इत्याहुरित्यास्तां तावत् । द्विपुरुषा द्विपुरुषा वा परि-

तो—अपरिमाणान्त और विस्ताधन्त द्विगुसे डीप् नहीं हो । काण्डान्तात्—तद्वित लुक्के विषयमें क्षेत्रमें जो काण्डान्त द्विगु, उससे खीलिंगमें डीप् नहीं हो । पुरुषात्—तद्वितलुक्के विषयमें प्रमाणमें जो पुरुष शब्द, तदन्ते द्विगुसे डीप् हो, खीलिंगमें, विकल्पसे ।

ऊधसोऽनङ् । १५।४।१३१। ऊधोऽन्तस्य बहुव्रीहेरनङ् स्त्रियाम् ॥ बहुव्रीहेरुधसो
 डीष् । ४।१।२५। ऊधोन्ताद्बहुव्रीहेः । कुण्डोष्नी । स्त्रियां किम् ? कुण्डोष्ो धैनु-
 कम् ॥ दामहायनान्ताच्च । ४।१।२७। संख्यादेर्बहुव्रीहेर्दामान्ताद्वायनान्ताच्च
 डीप् । द्विदाम्नी । द्विहायनी बाला ॥ (त्रिचतुर्भ्यां हायनस्य णत्वं वाच्यम्) ।
 (वयोवाचकस्यैव हायनस्य डीप् णत्वं चेष्ट्यते) । त्रिहायणी । चतुर्हायणी ।
 वयसोऽन्यत्र, -त्रिहायना, चतुर्हायना शाला ॥ अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक् । ४।१।३२।
 नान्तत्वान्डीप् । अन्तर्वत्नी, पतिवत्नी । गर्भभर्तृसंयोग एवेष्ट्यते । अन्यत्र तु-

खेति । तिर्यक् द्विपुरुषायतेत्यर्थः । दुर्गं परितः तत्संरक्षणार्थं जलाशयः परिखा । अथ
 कुण्डमिव ऊधो यस्या इति बहुव्रीहौ कुण्डोधस् शब्दः । तत्र विशेषमाह—ऊधसोऽनङ् ।
 'बहुव्रीहौ सक्ध्यचणोः' इत्यतो बहुव्रीहावित्यनुवृत्तं पष्ठथा विपरिणम्यते, ऊधसः
 इत्यनेन विशेष्यते, तदन्तविधिः । तदाह—ऊधोऽन्तस्येति । समासान्तप्रकरणस्थत्वेऽपि
 छित्वाद्दस्यादेशत्वं बोध्यम् । बहुव्रीहेः । ऊधस् इति बहुव्रीहेर्विशेषणम् । तदन्तविधिः,
 स्त्रियामित्यधिकृतम् । तदाह—ऊधोऽन्तादिति । कुण्डोष्नीति । अनङ् कृते डीपि 'अल्लो-
 पोऽनः' इति भावः । 'ऊधस्तु क्लीवमापीनम्' इत्यमरः । डीप्विधेस्तु स्वरे विशेषः
 फलम् । स्त्रियां किमिति । डीप्विधौ स्त्रियामित्यनुवृत्तिः किमर्थेति प्रश्नः । कुण्डोष्ो धैनु-
 कमिति । कुण्डमिव ऊधो यस्येति विग्रहः । नपुंसकत्वस्फोरणाय धैनुकमिति विशेष्यम् ।
 धेनूनां समूह इत्यर्थः । 'अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्', 'इसुसुक्तान्तात् कः' । आदिवृद्धिः
 क्लीवत्वं लोकात् । अत्र स्त्रीत्वाभावात् डीपित्यर्थः । दामहायनान्ताच्च । संख्यादेः डीप्
 चानुवर्तते तदाह—संख्यादेरिति । अव्ययग्रहणं तु नानुवर्तते अस्वरितत्वादिति भावः ।
 द्विदाम्नीति । द्वे दामनी यस्याः इति विग्रहः । डीपि 'अल्लोपोऽनः' इति भावः । द्विहा-
 यनी बालेति । द्वौ हायनौ यस्या इति विग्रहः । अथ त्रिहायणीत्यत्र भिन्नपदत्वात्
 णत्वाप्राप्तावाह—त्रिचतुर्भ्यामिति । नन्वेवमपि द्विहायना शाला इत्यत्रापि डीप् स्यात्,
 त्रिहायना शालेत्यत्र तु डीप् णत्वं च स्यातामित्यत आह—वयोवाचकस्यैव हायनस्येति ।
 इष्ट्यते इति । भाष्यकृतेति शेषः । अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक् । किञ्चसामर्थ्यात् अयमागमः,

ऊधसोऽनङ्—ऊधोन्त बहुव्रीहिको अनङ् आदेश हो, स्त्रीलिङ्गमें । बहुव्रीहे—ऊधोन्त
 बहुव्रीहिसे डीष् हो, स्त्रीलिङ्गमें । दामहाय—दामान्त और हायनान्त संख्यादि बहुव्रीहिसे
 डीप् हो, स्त्रीलिङ्गमें । त्रिचतुर्भ्यां—त्रि और चतुर् शब्दसे पर हायनके नकारको
 णत्व हो ।

वयोवाच—वयोवाचक हायन शब्दसे ही डीप् और णत्व इष्ट है । अन्तर्वत्—अन्तर्वत्
 और पतिवत् को नुक् का आगम हो, स्त्रीलिङ्गमें । गर्भभर्तृ—पूर्वोक्त नुक् का आगम गर्भ और

अन्तरस्त्यस्यां शालायां घटः । पतिमती पृथिवी ॥ पत्युर्नो यज्ञसंयोगे । ४।१।३३।
चसिष्ठस्य पत्नी ॥ विभाषा सपूर्वस्य । ४।१।३४। पतिशब्दान्तस्य नो वा । गृह-
पतिः, गृहपत्नी । दृढपत्नी, दृढपतिः ॥ नित्यं सपत्न्यादिषु । ४।१।३५। सपत्नी ।
एकपत्नी । वीरपत्नी ॥ पूतक्रतोरै च । ४।१।३६। पूतक्रतोः स्त्री-पूतक्रतायी ॥
वृषाकप्यग्निकुसितकुसिदानामुदात्तः । ४।१।३७। एषामुदात्त ऐ आदेशोऽङीप्
च । वृषाकपेः-स्त्री वृषाकपायी । अग्रनायी । कुसितायी । कुसिदायी ॥ मनोरौ वा
। ४।१।३८। मनुशब्दस्यौकारादेशः स्यादुदात्त ऐकारश्च वा, ङीप् च । मनोः स्त्री

न तु ग्रन्थ इति भावः । पतिमती पृथिवीति । जीवन्मृतकायामेव चत्वनिपातनादिह
चत्वाभाव इति भावः । पत्युर्नो । पत्युरिति पठ्यी । न इत्यकार उच्चारणार्थः । स्त्रिया-
मित्यधिकृतम् । विभाषा सपूर्वस्य । पत्युर्नः इत्यनुवर्तते, प्रातिपदिकादित्यनुवृत्तं
पठ्या विपरिणतं पत्युरित्यनेन विशेष्यते । तदन्तविधिः । सपूर्वस्येत्येतत् पतिशब्दान्त-
प्रातिपदिके अन्वेति । पूर्वावयवसहितस्येत्यर्थः । तदाह—पतिशब्दान्तस्येत्यादिना ।
यज्ञसंयोगाभावेऽपि अप्राप्तविभाषेयम् । गृहपतिः—गृहपत्नीति । नत्वपक्षे ‘ऋन्नेभ्यः’
इति ङीप् । अत्र गृहपतिशब्दः पतिशब्दान्तः गृहशब्दात्मकपूर्वावयवसहितश्चेति
भावः । नित्यं सपत्न्यादिषु । विषयसप्तम्येपा । सपत्न्यादिविषये तत्सिद्धयर्थं नित्यं
नत्वमित्यर्थः । सपत्नीति । अत्र समानशब्द एकपर्यायः, पतिशब्दस्तु विवाह-
नियन्धनभर्तृशब्दपर्यायः । वीरपत्नीति । वीरः पतिर्यस्याः इति विग्रहः । सपत्न्यादि-
स्वान्नत्वम् । पूतक्रतोरै च । ऐ इतिलुप्तप्रथमाकम् । पूतक्रतुशब्दात् स्त्रियां ङीप् स्यात्
प्रकृतेरकारोऽन्तादेशश्चेत्यर्थः । पूतक्रतायीति । पूतः क्रतुः येन सः पूतक्रतुः, तस्य स्त्री-
त्यर्थे ङीप्, तकारादुकारस्य ऐकारः, तस्य आयादेश इति भावः । वृषाकप्यग्नि । ऐ चे-
त्यनुवर्तते । तदाह—एषामिति । वृषाकपायीति । ङीप्, प्रकृतेरुदात्तः ऐकारोऽन्तादेशः,
तस्य आयादेशः, तस्य ऐकारस्थानिकत्वात् तद्वाकारोऽप्युदात्तः ‘अनुदात्त पदमेकव-
र्जम्’ इति अवशिष्टानामचामनुदात्तत्वम् । मनोरौ वा । ऐ चेति, उदात्त इति, ङीवि-
ति चानुवर्तते । तदाह—मनुशब्दस्येति । उदात्त ऐकारश्च वेति । औकारः उदात्त ऐकारश्च

भर्ताके संयोगमें ही हो । पत्युर्नो—पति शब्दको नकारादेश हो यज्ञके संयोगमें ।

विभाषा—पतिशब्दान्त प्रातिपदिकको नकारान्त आदेश हो, स्त्रीलिंगमें, विकल्पसे ।

नित्यं—सपत्न्यादि स्थलमें पति शब्दको नित्य ही नकारान्त आदेश हो ।

पूतक्रतो—पूतक्रतु शब्दको स्त्रीलिंगमें ऐकारान्त आदेश और तत्सन्नियोगेन ङीप्
भी हो । वृषाकप्यग्नि—वृषाकपि आदिको उदात्त ऐकारान्त आदेश और ङीप् भी हो ।

मनोरौ वा—मनु शब्दको ङीप्सन्नियोगशिष्टेन औकारान्त आदेश और उदात्त ऐकारान्त
आदेश भी हो, विकल्पसे । (मनोः स्त्री मनावी, मनायी, मनुः)

मनावी । मनायी । मनुः ॥ वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः । ४।१।३५। वर्णवाची योऽनुदात्तान्तस्तोपधस्तदन्ताद्वा ङीप्, तस्य नः । एनी, एता । रोहिणी, रोहिता । विद्गौरादिभ्यश्च । ४।१।४१। ङीष् । नर्तकी । गौरी । अनड्वाही, अनडुही ॥ (पिप्पल्यादयश्च) । आकृतिगणोऽयम् । (मत्स्यस्य ङ्याम्) । यलोपः, मत्सी । जानपदकुण्डगोणस्थलभाजनागकालनीलकुशकामुककवराद्वृत्त्यमत्रावपनाकृत्रिमाश्राणास्थौल्यवर्णानाच्छादनायोविकारमैथुनेच्छाकेशवेशेषु ४।१।४२। एभ्य एकादशभ्यः क्रमाद्वृत्त्यादिष्वर्थेषु ङीष् । जानपदी वृत्तिश्चेत् । अन्या तु जानपदी । अजन्तत्वात् ङीपि आद्युदात्तः । कुण्डी अमत्रं चेत् । कुण्डाऽन्या । गोणी आवपनं चेत् । गोणाऽन्या । स्थली अकृत्रिमा चेत् । स्थलाऽन्या । भाजी श्राणा

वा स्यादित्यर्थः । मनावीति । अत्रौकारोऽनुदात्त एव । मनायीति । 'यद्वै किं च मनुरवदत्' इत्यादौ मनुशब्दः 'भित्त्यादिर्नित्यम्' इत्याद्युदात्तः, 'धान्ये नित्' इत्यतो निदित्यनुवृत्तौ 'श्रस्वृस्निहि' इत्यादिना मनेरुप्रत्ययविधेः । ततश्च शिष्टस्वरेण नकारादुकारः अनुदात्तः । तस्य स्थाने उदात्त ऐकारः, तस्यायादेशः ङीप् चेति भावः । मनुरिति । ऐकारस्य औकारस्य चाभावे तत्संनियोगशिष्टो ङीवपि नेत्युक्तमेव । जानपद । जानपदेत्यादि कवरादित्यन्तमेकं पदम् । समाहारद्वन्द्वात् पञ्चमी । जानपदीति । जनपदे भवेत्यर्थः । वृत्तिश्चेदिति । जीविका गम्या चेदित्यर्थः । कुण्डीति । 'पिठरं स्थात्युखा कुण्डम्' इत्यमरः । 'पात्रामत्रे च भाजनम्' इति च । कुण्डशब्दस्य स्त्रीत्वमपि ङीष्प्रधिसामर्थ्यात् । 'पिठरे तु न ना कुण्डम्' इति विश्वः । कुण्डाऽन्येति । दहनीयेत्यर्थः । आवपनं चेदिति । ओप्यते निक्षिप्यते अस्मिन्नित्यर्थं आङ्पूर्वाद्भवेत्युट् । गोणाऽन्येति । कस्याश्चिदिदं नाम । अकृत्रिमा चेदिति । इदानींतनपुरुषपरिष्कृता भूमिः कृत्रिमा, तद्भिन्नेत्यर्थः । 'स्थलाऽन्येति । कृत्रिमेत्यर्थः । 'स्थलयोदकम् परिगुहन्ति' इति यजुर्वेदे, भाजीति । भज्यते सेव्यते इति कर्मणि घञ्

वर्णादनु—वर्णवाची जो अनुदात्तान्त तोपध, तदन्त जो प्रातिपदिक, उससे ङीप् हो और तकारको नकार आदेश भी हो, स्त्रीलिंगमें, विकल्पसे । विद्गौरा—वित् और गौरादिसे स्त्रीलिंगमें ङीष् हो ।

नोटः—'अनड्वाही'में 'आमनडुहः स्त्रियां वा' (अनडुह् शब्दसे ङीष् और आम् का आगम हो, स्त्रीलिंगमें, विकल्पसे) इस गणसूत्रसे वैकल्पिक आम् समझना चाहिये ।

पिप्पल्यां—'पिप्पल्यादिसे ङीष् हो, स्त्रीलिंगमें ।

मत्स्यस्य—मत्स्यकी उपधासम्बन्धी यकारका लोप हो, 'ङी' के परे । जानपद—कुण्ड, गोण आदि एकादश प्रातिपदिकोंसे ङीष् हो, वृत्त्यादि अर्थोंमें ।

चेत् । भाजाऽन्या । 'यवागूरुष्णिका श्राणा विलेपी तरला च सा' इत्यमरः । नागी
स्थूला चेत् । नागाऽन्या । काली वर्णश्चेत् । कालाऽन्या । नीली अनाच्छादनं
चेत् । नीलाऽन्या, नील्या रक्ता शाटीत्यर्थः । कुशी अयोविकारश्चेत् । कुशाऽन्या । कामुकी
मैथुनेच्छा चेत् । कामुकाऽन्या । कवरी केशानां सन्निवेशश्चेत् । कवराऽन्या ॥
शोणात्प्राचाम् । ४।१।४३। शोणी, शोणा ॥ वोतो गुणवचनात् । ४।१।४४।
उदन्ताद् गुणवाचिनो वा ङीष् । मृद्वी, मृदुः । उतः किम् ? शुचिः । गुणेति
किम् ? आशुः ॥ (खरुसंयोगोपधान्न) खरुः पतिवरा कन्या । पाण्डुः ॥
बह्वादिभ्यश्च । ४।१।४५। वा ङीष् । बह्वी, बहुः ॥ (कृदिकारादक्तिनः) ।
रात्री, रात्रिः ॥ (सर्वतोऽक्तिन्नर्थोऽदित्येके) । शकटी, शकटिः ॥ पुंयोगा-
दाख्यायाम् । ४।१।४८। या पुमाख्या पुंयोगात्त्रियां वर्तते ततो ङीष् । गोपस्य स्त्री-

'घञजन्ताः पुंसि' इति प्रायिकम् । श्राणा चेदिति । 'यवागूरुष्णिका श्राणा' इत्यमरः ।
वर्णश्चेदिति । वर्णः प्रवृत्तिनिमित्तं चेदित्यर्थः । वर्णविशिष्टा चेदिति यावत् ।
अन्यथा कालशब्दस्य 'गुणे शुक्लादयः पुंसि' इति पुंस्त्वापातात् । सूत्रे वर्णा इति
च्छेदः । अर्श आद्यजन्तात् टाप् । कालाऽन्येति । क्रौर्ययुक्तैत्यर्थः । संज्ञाशब्दो वा ।
अनाच्छादनं चेदिति । वस्त्रमिन्नं गवादिकमित्यर्थः । नीलाऽन्येति । नन्वत्राच्छादनस्य
विशेष्यत्वे स्त्रीत्वानुपपत्तिः । पटीत्यस्य विशेष्यत्वेऽपि नीलवर्णवती पटीत्यर्थे ङीष्ः अप्र-
सक्तिरेव । 'नीलादोषधौ', 'प्राणिनि च' इति नियमस्य वच्यमाणत्वादित्यतः, आह—
नील्या रक्तेति । नील्या ओषध्या रागविशेषं प्राप्तेत्यर्थः । कुशाऽन्येति । छन्दोगसूत्रे
प्रस्तोता तु कुशाः कारयेद्यज्ञियस्य वृक्षस्य खदिरस्य दीर्घसूत्रेष्वेके प्रादेशमात्रीः
कुशपृष्ठास्त्वक्तस्समामञ्जते' इति प्रसिद्धा । कामुकीति । कामयितुं शीलमस्या इति
विग्रहे 'लपपत' इत्यादिना कमेरुक्ञ् । मैथुनेच्छावती चेदित्यर्थः । अर्श आद्य-
जन्ताद् टाप् । कामुकान्येति । घनादीच्छावतीत्यर्थः । शोणात् प्राचाम् । 'लोहितो रोहि-
तो रक्तः शोणः कोकनदच्छविः' इत्यमरः । 'वर्णानां तणतिनितान्तानाम्' इति
शोणशब्दः आद्युदात्तः अनुदात्तान्तः । 'अन्यतो ङीष्' इति नित्यं ङीषि प्राप्ते विक-

शोणात्—शोण शब्दसे स्त्रीलिङ्गमें ङीष् हो, प्राचीन आचार्योंके मतसे ।

वोतो—उदन्त गुणवाची प्रातिपदिकसे स्त्रीलिङ्गमें ङीष् हो, विकल्पसे । खरुसं—खरु
शब्दसे तथा संयोगोपध उदन्त गुणवाची प्रातिपदिकसे ङीष् नहीं हो । बह्वादि—बह्वादिकसे
स्त्रीलिङ्गमें ङीष् हो, विकल्पसे । कृदिकारा—क्तिन्—भिन्न कृतसंज्ञक इकारान्त प्राति-
पदिकसे ङीष् हो विकल्पसे । सर्वतो—एके (किन्हीं आचार्यों) के मतसे क्तिन्नर्थ—भिन्न
कृत—अकृत सभी इकारान्त प्रातिपदिकोंसे ङीष् हो—ऐसा समझना चाहिये ।

पुंयोगा—जो पुंवाचक शब्द, पुंयोगसे स्त्रीलिङ्गमें प्रवृत्त हो, उससे ङीष् हो ।

गोपी ॥ (पालकान्ताच्च) । गोपालिका । अश्वपालिका ॥ (सूर्यादेवतायां चाप्वा-
च्यः) । सूर्यस्य स्त्री देवता—सूर्या । देवतायां किम् ? सूरौ, कुन्ती, मानुषीयम् ॥ इन्द्र-
वरुणभवंशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक् ॥ ४११॥४९॥
डीष् च । इन्द्राणी ॥ (हिमारण्ययोर्महत्त्वे) । महद्धिमं हिमानी ॥ (यवा-
दोषे) । दुष्टो यवो यवानी ॥ (यवनान्तिष्याम्) । यवनानां लिपिर्यव-
नानी ॥ (मातुलोपाध्याययोरानुच्वा) । मातुलानी, मातुली । उपाध्यायानी,
उपाध्यायी ॥ (आचार्यादणत्वं च) । आचार्यानी ॥ (अर्यक्षत्रियाभ्यां वा
स्वार्थे) । अर्याणी, अर्या । क्षत्रियाणी, क्षत्रिया, । पुंयोगे तु,—अर्यी । क्षत्रियी ॥
क्रीतात्करणपूर्वात् ॥ ४११॥५०॥ क्रीतान्ताददन्तात्करणादेर्डीष् । वस्त्रक्रीती ।
कचिन्न,—धनक्रीता ॥ बहुव्रीहेश्चान्तोदात्तात् ॥ ४११॥५२॥ क्तान्तान्डीष् । ऊर-

त्पार्थमिदम् । हिमारण्ययोर्महत्त्वे । इदं वार्तिकम् । महत्त्वविशिष्टे हिमे अरण्ये
च वर्तमानयोरानुङ्डीषावित्यर्थः । हिमानी । महद्धिमं 'हिमानी' अत्र 'इन्द्रवरुण-
भव०' इत्यादिना प्राप्तौ आनुङ्डीषौ प्रबाध्य महत्त्वेऽर्थे 'हिमारण्ययोर्महत्त्वे'
इति आनुगागमे, डीषि च कृते, तद्रूपम् । क्रीतात्करणपूर्वात् । प्रातिपदिकादित्यनु-
वृत्तम् अत इत्यनुवृत्तेन क्रीतादित्यनेन च विशेष्यते, तदन्तविधिः । तदाह—
क्रीतान्तादित्यादिना । करणमादिर्यस्येति विग्रहः । प्रातिपदिकशब्दो विशेष्यम्, तेन
करणदेरिति पुंस्त्वमुपपन्नम् । वस्त्रक्रीतीति । वस्त्रैः क्रीता 'वस्त्रक्रीती' अत्र 'क्रीतात्क-
रणपूर्वात्' इति डीषि, 'यस्येति च' इत्यकारलोपः । कचिन्नेति । 'कर्तृकरणे कृता
बहुलम्' इति बहुलग्रहणेन 'गतिकारकोपपदानाम्' इत्यस्य कचिदप्रवृत्त्यवग-
मादिह सुबन्तेन समासः । तत्र च सुपः प्रागेवान्तरङ्गत्वात् टापि सति ततः सुपि
टावन्तप्रकृतिकसुबन्तेन समासे सुब्लुकि धनक्रीता शब्दस्य अदन्तत्वाभावात्
डीषित्यर्थः । बहुव्रीहेश्च । क्तादिति अत इति चानुवर्तते । तदाह—बहुव्रीहेरिति ।

पालका—पालकान्तसे डीष् नहीं हो । सूर्याद् देवता—देवता अर्थमें सूर्य शब्दसे
पुंयोगमें चाप् प्रत्यय हो । इन्द्रवरुण—इन्द्र आदि शब्दोंको आनुक्का आगम हो और
साथ ही साथ डीष् भी हो । हिमारण्ययो—हिम और अरण्य शब्दोंसे महत्त्व अर्थमें ही
आनुक् और डीष् हो । यवादोषे—यव शब्दसे दोष अर्थमें ही आनुक् और डीष् हो ।

यवना—यवन शब्दसे लिपि अर्थमें ही आनुक् और डीष् हो । मातुलो—मातुल और
उपाध्याय शब्दसे आनुक् हो, विकल्पसे । आचार्या—आचार्य शब्दसे पर आनुक्के नकारको
णत्व हो, विकल्पसे । अर्यक्षत्रि—अर्य और क्षत्रिय शब्दसे स्वाधर्ममें विकल्पसे आनुक् और
डीष् हो । क्रीतात्—करणपूर्वक अदन्त क्रीतान्त प्रातिपदिकसे डीष् हो ।

बहुव्रीहेः—अन्तोदात्त क्तान्त अदन्त बहुव्रीहिसे स्त्रीलिङ्गमें डीष् हो ।

भित्री ॥ अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वा । ४।१।५३। पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पोऽयम् । सुरा-
पीती, सुरापीता ॥ स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात् । ४।१।५४। असंयोगोप-
धमुपसर्जनं यत्स्वाङ्गं तदन्ताद्वा ङीष् । अतिकेशी, अतिकेशा । चन्द्रमुखी, चन्द्र-
मुखा । संयोगोपधात्, -सुरल्फा ॥ 'अद्रवं मूर्तिमत्स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम् ।
अतस्त्वं तत्र दृष्टं च तेन चेत्तत्तथा युतम्' ॥ १ ॥ सुस्वेदा ; द्रवत्वात् । सुज्ञाना ;

क्षान्तादिति । क्षान्तान्तादित्यर्थः । ऊरुभित्री । ऊरू भित्री असंयुक्तौ यस्या इति
विग्रहः । 'निष्ठा' इति भिन्नशब्दस्य पूर्वनिपातस्तु न भवति 'जातिकालसुखादिभ्यः
परा निष्ठा वाच्या' इति वार्त्तिकात् । 'जातिकालसुखादिभ्यः' इत्यादिसूत्रेणान्तोदात्त-
मिदम् । अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वा । स्वाङ्गलक्षणमुत्तरसूत्रे वच्यते । अस्वाङ्गं यत् पूर्वपदं
तस्मात् परं यत् क्षान्तं तदन्तात् बहुव्रीहेः ङीष् वा स्यादिति सूत्रार्थः । पूर्वेणेति ।
'बहुव्रीहेश्चान्तोदात्तात्' इति पूर्वसूत्रेण नित्यं ङीषि प्राप्ते तद्विकल्पोऽत्र विधीयत
इत्यर्थः । सुरापीता—सुरापीतेति सुरा पीता ययेति विग्रहः । ऊरुभित्रीतिवत् पूर्व-
निपातः । स्वाङ्गाच्च । उपसर्जनादिति असंयोगोपधादिति च स्वाङ्गादित्यत्रान्वेति ।
स्वाङ्गादित्येतत् अत इत्यनुवृत्तं च प्रातिपदिकादित्यनुवृत्तस्य विशेषणम्, तदन्त-
विधिः । तदाह—असंयोगोपधमित्यादिना । वा ङीषिति । 'अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वा' इत्यतो
वेति 'अन्यतो ङीष्' इत्यतो ङीषित्यस्य चानुवृत्तेरिति भावः । सुस्वेदेति । सु शोभनः

अस्वाङ्गपूर्व—अस्वाङ्ग पूर्वपदसे पर क्षान्त अदन्त बहुव्रीहिसे ङीष् हो, विकल्पसे । स्वाङ्गाच्चोप-
असंयोगोपध, उपसर्जनं जो स्वाङ्गवाची, तदन्त अदन्त प्रादिपादिकसे ङीष् हो, विकल्पसे ।

अद्रवं—स्वाङ्ग तीन प्रकारका है—(१) अद्रवं मूर्तिमत्स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम्—
(न विद्यते द्रवो यस्य तद् 'अद्रवम्') जो द्रववाचक नहीं हो । अतः सु = शोभनः;
स्वेदः—घर्मजः उदकपक्वो यस्याः सा) 'सुस्वेदा' यहाँ ङीष् नहीं हुआ ।

मूर्तिमत्—(स्पर्शवद् द्रव्यपरिमाणं मूर्तिस्तद्वत्) जो मूर्तिमान् हो । अतएव 'सुज्ञाना'
यहाँ ङीष् नहीं हुआ ।

प्राणिस्थम्—प्राणिनि = प्राणवति—जन्तौ, विद्यमानम् । जो प्राणीमें स्थित हो । अतः
'सुसुखा शाला' यहाँ ङीष् नहीं हुआ । अविकारजम्—रोगादिविकाराजन्यम् । जो विकारसे
उत्पन्न नहीं हुआ हो । इसलिये सु = अधिकः, शोकः = श्वयशुः यस्याः सा 'सुशोफा' यहाँ
ङीष् नहीं हुआ ।

(२) अतस्त्वं तत्र दृष्टं च—अतस्त्वं = [सम्प्रति] अप्राणिस्थम् [अपि] च = किन्तु,
तत्र = प्राणिनि, दृष्टं = दृश्यमानं, यत्तदपि स्वाङ्गमित्यर्थः । जो सम्प्रति प्राणीमें स्थित न भी
हो किन्तु कभी भी प्राणीमें देखा गया हो । अतः 'सुकेशी सुकेशा वा रथ्या (गली)' यहाँ
ङीष् सिद्ध हुआ । क्योंकि गलीमें बिखरा हुआ केश सम्प्रति प्राणिस्थ नहीं भी है किन्तु
कभी तो वह केश प्राणिस्थ (प्राणीके मस्तकादिपर) देखा गया था ।

(३) तेन चेत्तत्तथा युतम्—(येनाङ्गेन प्राणिरूपं वस्तु यथा युतं, तेन तत्सदृशेन

अमूर्तत्वात् । सुमुखा शाला ; अप्राणिस्थत्वात् । सुशोफा ; विकारजत्वात् । सुकेशी, सुकेशा वा रथ्या ; अप्राणिस्थस्यापि प्राणिनि दृष्टत्वात् । सुस्तनी, सुस्तना वा प्रतिमा ; प्राणिवत्प्राणिसदृशे स्थितत्वात् ॥ नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गाच्च । ४।१।५५। वा ङीष् । तुङ्गनासिकी, तुङ्गनासिका ॥ (पुच्छाच्च) ।

स्वेदः घर्मजः उदकप्रसवः यस्या इति विग्रहः । स्वेदस्य शोभनत्वं तु दुर्गन्धाभावः । द्रवत्वादिति । न स्वाङ्गत्वमिति शेषः । अतो न ङीषित्यर्थः । मूर्तिमदित्यस्य प्रयोजनमाह—सुज्ञानेति । सु शोभनं ज्ञानं यस्या इति विग्रहः । अमूर्तत्वादिति । न स्वाङ्गत्वमिति शेषः । प्राणिस्थमित्यस्य प्रयोजनमाह—सुमुखा शालेति । सु शोभनं मुखं प्रथमभागः यस्या इति विग्रहः । अप्राणिस्थत्वादिति । न स्वाङ्गत्वमिति शेषः । अविकारजमित्यस्य प्रयोजनमाह—सुशोफेति । सु अधिकः शोफः श्वयथुः यस्या इति विग्रहः । 'शोफस्तु श्वयथुः' इत्यमरः । विकारजत्वादिति । रोगजत्वादित्यर्थः । न स्वाङ्गत्वमिति शेषः । अतस्त्वं तत्र दृष्टं चेति । द्वितीयं स्वाङ्गलक्षणम् । तच्छब्देन प्राणी परामृश्यते । अतस्त्वम्—अप्राणिस्थं, तत्र—प्राणिनि, दृष्टं यत् तदपि स्वाङ्गमित्यर्थः । रथ्येति । रथ्यास्थानां केशानां प्राणिस्थत्वाभावात् पूर्वलक्षणेन स्वाङ्गत्वासिद्धेर्लक्षणान्तरमिति भावः । उक्तलक्षणमुदाहरणे योजयति—अप्राणिस्थस्यापीति । इदानीं प्राणिस्थत्वाभावेऽपि कदाचित् प्राणिस्थत्वादपि स्वाङ्गत्वमित्यर्थः । सुस्तनी सुस्तना वा प्रतिमेति । सु शोभनौ स्तनौ स्तनाकृती अवयवौ यस्या इति विग्रहः । प्रतिमागतयोः स्तनाकृतिकावयवयोः कदाचिदपि प्राणिस्थत्वाभावात् प्राण्यन्तरे अदृष्टत्वाच्च पूर्वलक्षणद्वयस्याप्यप्रवृत्तेर्लक्षणान्तरमिदम् । अथोदाहरणे लक्षणं योजयति—प्राणिवदिति । सप्तम्यन्तादिति । प्राणिवत् प्राणिसदृशे प्रतिमादिद्रव्ये स्थितत्वात् स्वाङ्गमित्यर्थः । 'नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गाच्च । 'अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वा' इत्यतो वेति 'अन्यतो ङीष्' इत्यतो ङीषिति चानुवर्तते । तुङ्गनासिकी—तुङ्गनासिकेति । 'न क्रोडादिवह्वचः

अङ्गेन, तद् = अप्राणिरूपं वस्तु, तथा प्राणिवत्, युतं = युक्तं, चेत् = स्यात्, तदपि (प्राणिनि दृष्टं) स्वाङ्गमित्यर्थः) प्राणीकी तरह ही प्राणीमें स्थित हो । अतएव 'सुस्तनी सुस्तना वा प्रतिमा' (सुन्दर स्तनोंवाली मूर्ति) यहां ङीष् सिद्ध हुआ ।

नोट—'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनान्' इस सूत्रमें स्वस्य = अवयवीभूतस्य, अङ्गं स्वाङ्गम्' ऐसा स्वाङ्गका ग्रहण होगा तो 'सुमुखा शाला' यहां भी ङीष् हो जायगा—मुखस्य शालाङ्गत्वात् । किंच 'सुकेशी रथ्या' यहां पर ङीष् नहीं होगा—केशाङ्गानां रथ्याङ्गत्वाभावात् । तस्मात् अव्याप्ति—अतिव्याप्ति वारणके लिये उक्त सूत्रमें त्रिविध स्वाङ्गोंका ग्रहण किया गया है ।

नासिको—नासिकाद्यन्त स्वाङ्गवाची उपसर्जनसे ङीष् हो, विकल्पसे ।

पुच्छाच्च—पुच्छान्त प्रातिपदिकसे स्त्रीलिंगमें ङीष् हो ।

सुपुच्छी, सुपुच्छा ॥ (कवरमणिविषशरेभ्यो नित्यम्) । कवरपुच्छी ॥
 (उपमानात्पक्षाच्च पुच्छाच्च) उलूकपक्षी शाला । उलूकपुच्छी सेना ॥
 न क्रोडादिवह्वचः । ४।१।५६। क्रोडादेर्वह्वचश्च स्वाज्ञान् ङीष् । कल्याणक्रोडा ।
 आकृतिगणोऽयम् । सुजघना ॥ सहनञ्विद्यमानपूर्वाच्च । ४।१।५७। न ङीष् ।
 सकेशा । अकेशा । विद्यमाननासिका ॥ नखमुखात्संज्ञायाम् । ४।१।५८।
 ङीष् न । शूर्पणखा । गौरमुखा । संज्ञायां किम् ? ताम्रमुखी कन्या ॥
 वाहः । ४।१।६१। वाहन्तात् ङीष् । दित्यौही । दित्यवाट् च मे दित्यौही
 च मे ॥ सख्यशिश्वीति भाषायाम् । ४।१।६२। सखी । अशिश्वी ॥
 जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् । ४।१।६३। जातिवाचि यञ् च स्त्रियां
 नियतमयोपधं ततो ङीष् ॥ 'आकृतिग्रहणा जातिलिङ्गानां च न सर्वभाक् । सकृदा-
 ख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह' ॥१॥ तटी । वृषली । औपगवी । कठी । जातेः

इति बह्वज्जलक्षणाङीप्तिपेधं वाधित्वा 'नासिकोदर' इति विकल्पः । पुच्छाच्चेति ।
 संयोगोपधत्वेऽपि पुच्छशब्दान्तात् नित्यं ङीपिति वक्तव्यमित्यर्थः । कवरमणीति । कवरा-
 दिभ्यः परो यः पुच्छशब्दः तदन्तात् नित्यं ङीपिति वक्तव्यमित्यर्थः । उपमानादिति ।
 उपमानात् परौ यौ पक्षपुच्छशब्दौ तदन्तादपि ङीपित्यर्थः । उलूकपक्षी शालेति । उलूकः
 पक्षिविशेषः, उलूकपक्षाविव पक्षौ पार्श्वे यस्या इति विग्रहः । 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य
 बहुव्रीहिर्वाच्यः उत्तरपदलोपश्च' इति समासः । संयोगोपधत्वादप्राप्ते विधिः ।
 उलूकपुच्छी सेनेति । उलूकपुच्छमिव पुच्छं पश्चिमान्तः यस्याः इति विग्रहः । पूर्ववदेव
 बहुव्रीहिः । 'पुच्छाच्च' इति विकल्पस्यापवादः । वाहः । वाह इति पञ्चम्यन्तं प्राति-

कवरमणि—कवर आदिके परे पुच्छान्त प्रातिपदिकसे नित्य ही ङीष् हो ।

उपमानात्—उपमान वाचकसे पर पक्ष और पुच्छ शब्दान्त प्रातिपदिकसे नित्य ही
 ङीष् हो । न क्रोडादि—स्वांगवाचक जो क्रोडादि और बह्वच्, तदन्त प्रातिपदिकसे ङीष्
 नहीं हो । सहनञ्—सह, नञ् और विद्यमान पूर्वक प्रातिपदिकसे स्त्रीलिङ्गमें ङीष् नहीं
 हो । नखमुखात्—नख-मुखान्त प्रातिपदिकसे संज्ञामें ङीष् नहीं हो ।

वाहः—वाहन्त प्रातिपदिकसे स्त्रीलिङ्गमें ङीष् हो ।

सख्य—भाषा (लोक) में सखी और 'अशिश्वी' ये दोनों ङीप्ति निपातित हो ।

जातेरस्त्री—नित्य स्त्रीलिङ्गसे भिन्न अयोपध जातिवाचीसे ङीष् हो, स्त्रीलिङ्गमें ।

आकृतिग्रहणा जातिः—'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' इस सूत्रमें त्रिविध जातिका
 ग्रहण होता है । उसमें प्रथम लक्षण है (१) 'आकृतिग्रहणा जातिः'—आकृति (स्वरूप)
 देखनेसे ही जो जानी जासके अर्थात् अनुगत-संस्थान (अवयवसन्निवेशविशेष) से ही जो
 अभिव्यंग्य हो सके, वह जाति कहलाती है । यथा—'तटी' 'वटी' आदि ।

किम् ? मुण्डा । अस्त्रीविषयात्किम् ? बलाका । अयोपधात्किम् ? क्षत्रिया ॥ (योप-
धप्रतिषेधे ह्यगवयमुकयमनुष्यमत्स्यानामप्रतिषेधः) । हयी । गवयी ।
मुकयी । मनुषी । मत्सी ॥ पाककर्णपर्णपुष्पफलमूलवालोत्तरपदाच्च
। ४।१।६४। पांकाद्युत्तरपदाज्जातिवाचिनः स्त्रीविषयादपि ङीप् । ओदनपाकी । शङ्कु-
कर्णी । शालपर्णी । शङ्खपुष्पी । दासीफली । दर्भमूली । गोवाली । ओषधिविशेषे रुढा
एते ॥ इतो मनुष्यजातेः । ४।१।६५। ङीप् । दाक्षी ॥ ऊङुतः । ४।१।६६। ऊंका-
रान्तादयोपधान्मनुष्यजातिवाचिनः स्त्रियामूङ् । कुरूः ॥ पङ्गोश्च । ४।१।६८। पङ्गूः ॥
(श्वशुरस्योकाराकारलोपश्च) । चादूङ् । पुंयोगलक्षणङीषोऽपवादः । श्वश्रूः ।

पदिकादित्यनुवृत्तस्य विशेषणम्, तदन्तविधिः । पाककर्णं । 'जातेरस्त्रीविषयात्' इति
पूर्वसूत्रेणैव सिद्धे किमर्थमिदमित्यत आह—स्त्रीविषयादपीति । नियतस्त्रीलिङ्गत्वात्
पूर्वेणाप्राप्तिरिति भावः । जातिवाचित्वं दर्शयितुमाह—ओषधिविशेषे रुढा इति । अव्य-
यव्युत्पत्तिरहिता इत्यर्थः । श्वशुरस्येति । चकारात् ऊङनुकृष्यते । श्वशुरस्य स्त्री इत्यर्थे

(२) 'लिङ्गानां च न सर्वभाक् सकृदाख्यातनिर्ग्राह्य' (असर्वलिङ्गत्वे सति एकस्यां
व्यक्तौ कथनाद् व्यक्त्यन्तरे कथनं विनापि सुग्रहा-जातिरिति) जिससे सब लिंग नहीं होते
हों और एक व्यक्तिमें कहनेपर अन्य व्यक्तियोंमें विना कहे ही जातिका ज्ञान हो सके—वह
भी जाति कहलाती है । 'वृषलत्व' जातिके सिद्ध करनेमें प्रथम लक्षण साधक नहीं हो सका
क्योंकि हस्ताद्यवयवसन्निवेश जैसा वृषल (शूद्र) में है, वैसा ही ब्राह्मणादियोंमें भी देखा
जाता है । अतः 'लिङ्गानां च' इस द्वितीय लक्षण की आवश्यकता हुई । उदाहरण देखो
'वृषली' । यहां एक ही व्यक्तिमें 'वृषलत्व' का ज्ञान कराने पर उसके पुत्र, भाई आदिमें ज्ञान
कराये विना ही वृषलत्व जाति सुग्रह हो जाती है ।

(३) गोत्रञ्च चरणैः सह' (अपत्यप्रत्ययान्तः चकारात् शाखाध्येतृवाची च शब्दो जाति-
कार्यं लभत इत्यर्थः) अपत्य-प्रत्ययान्त शब्द, और शाखाध्येतृवाची जो शब्द, वह भी जाति-
कार्यको प्राप्त हों । उदाहरण देखो 'औपगवी' और 'कठी' । यहां अनुगतसंस्थानव्यङ्गत्वका अभाव
है और उभयत्र सर्वलिङ्गता भी है । अतः 'गोत्रं च' इस तृतीय लक्षणकी भी आवश्यकता हुई ।

योपध—योपध (जातिलक्षण ङीष्) के प्रतिषेधमें हयादिका प्रतिषेध नहीं हो ।

पाककर्ण—पाक, कर्ण, पर्ण, पुष्प, फल, मूल और वालोत्तर पदवाची प्रातिपदिकसे
ङीष्-हो, नित्य स्त्रीलिङ्ग होने पर भी । इतो मनुष्यजातेः—हकारान्त मनुष्यजातिवाचीसे
स्त्रीलिङ्गमें ङीष्-हो । ऊङुतः—उकारान्त अयोपध मनुष्यजातिवाचीसे स्त्रीलिंगमें ऊङ् प्रत्यय हो ।

पङ्गोश्च—पङ्गु शब्दसे स्त्रीलिङ्गमें ऊङ् प्रत्यय हो ।

श्वशुरस्य—श्वशुर शब्दके उकार और अकारका लोप तथा चकारात् ऊङ् प्रत्यय भी
हो, स्त्रीलिङ्गसे । ('पुंयोगादाख्यायाम्' सूत्रसे प्राप्त ङीष्का अपवादक यह वार्तिक है)

ऊरुत्तरपदादौपम्ये । ४।१।६९। उपमानवाचिपूर्वपदमुरुत्तरपदं यत्तस्मादूङ् । कर-
भोरुः ॥ संहितशफलक्षणवामादेश्च । ४।१।७०। संहितोरुः ॥ (संहितसहाभ्यां
चेति वक्तव्यम्) । संहितोरुः । सहोरुः ॥ शार्ङ्गरवाद्यजो डीन् । ४।१।७१।
शार्ङ्गरवादेरजो योऽकारस्तदन्ताच्च जातिवाचिनो डीन् । शार्ङ्गरवी । व्रैदी ॥ (नृन-
रयोर्वृद्धिश्च) नारी ॥ यङश्चाप् । ४।१।७४। यङन्ताच्चाप् । आम्बष्ठ्या । कारी-
षगन्ध्या ॥ (पाद्यञश्चाप् वाच्यः) । पौतिमाध्या ॥ आवट्याच्च । ४।१।७५।
अस्माच्चाप् । 'यञश्च' इति ङीपोऽपवादः । अवटशब्दो गर्गादिः । आवट्या ॥ यूनस्तिः
। ४।१।७७। युवन्शब्दात्तिः । युवतिः । अनुपसर्जनादित्येव । बहुवो युवानो यस्यां
सा बहुयुवा । युवतीति तु यौतेः शत्रन्तात् ङीपि बोध्यम् । इति स्त्रीप्रत्ययप्रकरणम् ।

पुंयोगलक्षणे ङीपि प्राप्ते तदपवाद ऊङ्, तत्संनियोगेन रेफादकारस्य शकारादुका-
रस्य च लोप इत्यर्थः । श्वश्रूः । अत्र श्वशुरशब्दात् 'श्वशुरस्योकाराकारलोपश्च' इत्य-
नेन ऊङि, शकारोत्तरवर्त्युकारस्य अकारस्य च लोपे संयोगे विभक्तिकार्यं च कृते
'श्वश्रूः' इति रूपम् । ऊरुत्तर । ऊरुः उत्तरपदं यस्येति बहुव्रीहिः । प्रातिपदिकादित्य-
नुवर्तते । उत्तरपदेत्यनेन पूर्वपदमाक्षिप्तम् । औपम्ये इति तत्रान्वेति, उपमीयते अनये-
त्युपमा—उपमानम्, उपमैव औपम्यं स्वार्थं प्यञ् । तदाह—उपमानवाचीति । सहि-
तेति । संहित सह आभ्यां परो यः ऊरुशब्दस्तस्मादपि ऊङ् स्यादिति वक्तव्यमित्यर्थः ।
पौतिमाध्येति । पूतिमाषस्यापत्यं स्त्रीत्यर्थः 'गर्गादिभ्यो यञ्' इति यञ् । इति स्त्रीप्रत्ययाः ।

ऊरुत्तर-उपमानवाची पूर्वपदक जो ऊरुत्तरपदक प्रातिपदिक, उससे ऊङ् प्रत्यय हो, स्त्री-
लिङ्गमें । संहितशफ-संहित, शफ, लक्षण और वाम आदिमें है जिसके ऐसा जो ऊरुत्तरपदपरक
प्रातिपदिक, उससे उङ् प्रत्यय हो, स्त्रीलिङ्गमें । संहित-संहित और सहसे पर भी ऊरुत्तर
प्रातिपदिकसे ऊङ् हो, स्त्रीलिङ्गमें । शार्ङ्गरवा—शार्ङ्गरवादिके और 'अञ्' का जो अकार,
तदन्त जातिवाचक प्रातिपदिकसे डीन् प्रत्यय हो, स्त्रीलिङ्गमें । नृनरयोः-नृ और नर शब्द
से डीन् प्रत्यय तथा नृ और नरको वृद्धि भी हो, स्त्रीत्व बोध्यमें । यङश्चाप्—यङन्त
प्रातिपदिकसे चाप् प्रत्यय हो, स्त्रीलिङ्गमें । पाद्यञश्चाप्—षकारसे पर यञन्त प्रातिपदिकसे
चाप् प्रत्यय हो । आवट्याच्च—आवट्यसे चाप् प्रत्यय हो, स्त्रीलिङ्गमें । यूनस्ति—अनुप-
सर्जन युवन् शब्दसे स्त्रीलिङ्गमें 'ति' प्रत्यय हो और वह तद्धितसंज्ञक भी हो ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें स्त्रीप्रत्यय प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ वैदिकप्रकरणम्

षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा । १।४।९। पतिशब्दो विसंज्ञः । चोत्रस्य पतिना व्यम् ।
 इह 'वा' इति योगं विभज्य 'छन्दसि' इत्यनुवर्तते । तेन सर्वे विधयश्छन्दसि वैकल्पिकाः ।
 'बहुलं छन्दसि' इत्यादिरस्यैव प्रपञ्चः ॥ अयस्मयादीनि च्छन्दसि । १।४।२०।
 एतानि छन्दसि साधूनि । भपदसंज्ञाधिकाराद्यथायोगं संज्ञाद्वयं बोध्यम् । तथा च
 वार्तिकम् (उभयसंज्ञान्यपीति वक्तव्यम्) । स सुष्टुभा स ऋक्ता गणेन ।
 पदत्वात्कुत्वम्, भत्वाञ्जत्वाभावः । नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु । अत्र पदत्वाञ्जस्त्वं,
 भत्वात्कुत्वाभावः । 'ते प्राग्धातोः' ॥ छन्दसि परेऽपि । १।४।८१। व्यवहिताश्च
 । १।४।८२। हरिभ्यां याह्योक् आ । आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि ॥ तृतीया च
 होश्छन्दसि । २।३।३। जुहोतेः कर्मणि तृतीया स्याद् द्वितीया च । यवाग्वाऽग्निहोत्रं

षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वेति । 'पतिः समास एव' इत्यतः पतिरित्यनुवर्तते । 'पतिः समास
 एव' इति नियमादसमासे न प्राप्नोतीति वचनमारभ्यते—पतिनेति । धित्वात् 'आहो
 ना' इति नाभावः । षष्ठीति किम् ? 'मया, पत्या जरदष्टिर्यथासः' । छन्दसीति किम् ?
 ग्रामस्य पत्ये । अयस्मयादीनि । आनन्तर्यामिसंज्ञाद्वारेणैव निपातनं प्राप्तमित्याह—
 संज्ञाद्वयमिति । ननु 'अनन्तरस्य' इति न्यायं बाधित्वोभयसंज्ञाविधाने किं प्रमाणमि-
 त्याशङ्क्याह—तथा च वार्तिकमिति । कुत्वमिति । 'चोः कुः' इत्यनेन । जत्वाभाव इति ।
 'भलां जशोऽन्ते' इति प्राप्तस्य । ते प्रागिति । व्याख्यातम् । अस्यापवादमाह—छन्दसी-
 त्यादि । गत्युपसर्गसंज्ञकाश्छन्दसि परे प्रयोक्तव्याः, अपिशब्दात्पूर्वे । व्यव । व्यवहिता
 अपि गत्युपसर्गसंज्ञकाः प्रयोक्तव्याः । सूत्रद्वयस्योदाहरणे आह—हरिभ्यामित्यादि ।
 आयाहीति प्राप्तम् । तृतीया च होश्छन्दसि । 'कर्मणि द्वितीया' इत्यतः कर्मणीति
 वर्तते । अत्र द्वितीयायां प्राप्तायां तृतीया विधीयते; च-शब्दात्सापि भवति । तदाह—
 कर्मणीति । यवाग्वेति । अत्र यवागृशब्दात्तृतीया अग्निहोत्रशब्दाच्च द्वितीया । अग्निहोत्र-
 शब्दो हविर्वाचकः । जुहोतिश्च प्रचेपणार्थः । यवाग्वभिन्नं हविरग्नौ प्रक्षिपतीत्यर्थः ।

षष्ठीयुक्तः—षष्ठ्यन्तसे युक्त पति शब्द विसंज्ञक हो, विकल्पसे ।

अयस्मया—अयस्मयादि वेदमें साधु हो । उभयसंज्ञा—वेदमें असंज्ञा और
 पदसंज्ञा दोनों होती हैं । छन्दसि परेऽपि । व्यवहिताश्च—गतिसंज्ञक और उपसर्ग
 संज्ञकका धातुसे पर और धातुसे व्यवहित भी प्रयोग हों, वेदमें । तृतीया—'हु' धातुके कर्ममें

जुहोति ॥ मन्त्रे श्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशो ण्विन् । ३।२।७१। (श्वेतवहादीनां
डस् पदस्येति वक्तव्यम्) । यत्र पदत्वं भावि तत्र ण्विनोऽपवादो डस् वक्तव्य
इत्यर्थः । श्वेतवाः, श्वेतवाहौ, श्वेतवाहः । उक्थानि उक्थैर्वा शंसति उक्थशा
यजमानः, उक्थशासौ । पुरो दाश्यते दीयते पुरोडाः ॥ अवे यजः । ३।२।७२।
अवयाः, अवयाजौ, अवयाजः ॥ अवयाः श्वेतवाः पुरोडाश्च । ८।२।६७।
एते संयुद्धौ कृतदीर्घा निपात्यन्ते । चादुक्थशाः ॥ लिङ्गर्थे लेट् । ३।४।७। सिव्व-
हुलं लेटि । ३।१।३४। इतश्च लोपः परस्मैपदेषु । ३।४।९७। लेट्स्तिङामितौ
लोपो वा स्यात् परस्मैपदेषु ॥ लेटोऽडाटौ । ३।४।९४। स्तौ वा । तौ च पितौ ॥
(सिव्वहुलं णिङ्गक्तव्यः) । वृद्धिः । प्र ण आरूढि तारिपत् । सुपेशस्करति जो-

मन्त्रे श्वेतवहो । श्वेतादिपूर्वभ्यो वहादिभ्यो ण्विन् स्यात् । अलान्तरिककार्यार्थं निपा-
तनम् । श्वेतशब्दे कर्तृवाचिन्युपपदे वहेः कर्मणि कारके ण्विन् प्रत्ययः उक्थे कर्मणि
करणे चोपपदे शंसतेः प्रत्ययः नलोपश्च । घुरः पूर्वस्य दाश्च दाने इत्यादेर्दत्त्वं कर्मणि
च प्रत्ययः । डस् पदस्येति प्रत्येकमभिसंबध्यते । भाविपदवाश्रयणेन चेदमुच्यते । तदाह-
यत्र पदत्वं भावीति । डसन्तस्येत्यर्थः । श्वेतवा इति । श्वेता एव यं वहन्ति श्वेतवाः
इन्द्रः । 'अत्वसन्तस्य' इति दीर्घः । उक्थशासाविति । नलोपे कृते 'अत उपधाया' इति
वृद्धिः । अवे । योगविभाग उत्तरार्थः । पुरोडाशावयजोर्ण्विन् इत्येकयोरो श्वेतवहादी-
नामप्युत्तरत्रानुवृत्तिः स्यात् । यजेश्चावपूर्वस्यैवानुवृत्तिः स्यात्केवलस्यैवेत्यत इति ।
अवयाः श्वेतवाः । ननु मन्त्रे श्वेतवहेत्यादिना डसि कृते सौ 'अत्वसन्तस्य' इति दीर्घे
रुत्वे च श्वेतवा इत्यादिसिद्धे नार्थोऽनेन योगेनेत्याशङ्क्याह-एते सम्बुद्धाविति । संबुद्धौ
हि 'अत्वसन्तस्य' इति न प्राप्नोति तत्रासम्बुद्धावित्यनुवर्तनात् । लिङ्गर्थे लेट् । विध्या-
दौ हेतुहेतुमद्भावादौ च धातोर्लेट् स्यात् छन्दसि । इतश्च लोप इति । लेट्स्तिङामितौ
लोपो वा स्यात्परस्मैपदेषु । लेटोऽडाटौ लेटः अट् आट् एतावागसौ स्तस्तौ च पितौ ।

तृतीया और चकारात् द्वितीया भा हो । मन्त्रे—श्वेत उपपदक वहु धातुसे, उक्थ उपपदक
शंस धातुसे तथा पुरस् उपपदक दा धातुसे ण्विन् प्रत्यय हो, मन्त्रमें ।

श्वेतवहादीनां—श्वेतवहादिको जहाँ पदत्व की संभावना हो, वहाँ 'ण्विन्' का अप-
वादक 'डस्' प्रत्यय हो । अवे यजः—'अव' उपपदक यज् धातुसे ण्विन् प्रत्यय हो, मन्त्रमें ।

अवयाः—अवयाः, श्वेतवाः, पुरोडाः—ये तानों कृतदीर्घ निपातन हो, वेदमें ।

लिङ्गर्थे—न्धियादि और हेतुहेतुमद्भावादि लिङ्गर्थमें धातुसे लेट् लकार हों, वेदमें ।

सिव्वहुलं—धातुसे सिप् प्रत्यय हो, लेट्के परे, बहुल प्रकारसे । इतश्च—लेट् लकार
सम्बन्धी 'तिङ्' के इकारका लोप हो, परस्मैपदके परे, विकल्पसे । लेटोऽडाटौ—लेट्को अट्
तथा आट्का आगम हो, विकल्पसे और वे अट्-आट् पित हों । सिव्वहुलं—सिप् प्रत्यय

विषद्भि । आ साविषदर्शसानाय । सिप इलोपस्य चाभावे । पताति दिद्युत् । प्रियः
 सूर्ये प्रियो अग्ना भवाति ॥ स उत्तमस्य । ३।४।९८। लेट उत्तमस्य वा लोपः ।
 करवावः, करवाव । टेरेत्वम् ॥ आत ऐ । ३।४।९५। लेट आकारस्य ऐ स्यात् ।
 सुतेभिः सुप्रयसा मादयैते । आतामित्याकारस्य ऐ ॥ वैतोऽन्यत्र । ३।४।९६। लेट
 एकारस्य ऐ स्याद्वा । 'आत ऐ' इत्यस्य विषयं विना । पशूनामीशै । ग्रहा गृह्यान्तै ।
 अन्यत्र किम् ? सुप्रयसा मादयैते ॥ उपसंवादाशङ्कयोश्च । ३।४।९८। पणवन्वे
 आशङ्कायां च लेट् । अहमेव पशूनामीशै । नेज्जिह्वायन्तो नरकं पताम ॥ व्य-
 त्ययो बहुलम् । ३।१।८५। विकरणानां बहुलं व्यत्ययः स्याच्छन्दसि । आण्डा
 शुष्मस्य भेदति । भिनत्तीति प्राप्ते । जरसा मरते पतिः । म्रियत इति प्राप्ते । इन्द्रो
 वस्तेन नेषतु । नयतेलोट् । शप्सिपौ द्वौ विकरणौ । इन्द्रेण युजा तरुषेम वृत्रम् ; तरे-
 मेत्यर्थः । तरतेर्विध्यादौ लिङ् । उः शप् सिप् चेति त्रयो विकरणाः ॥

सुसिङ्गुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलचस्वरकर्तृयङां च ।

व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन ॥

पतामेति । 'स उत्तमस्य' इति सलोपः । भेदतीति । भिदिर्-विदारणे, रौधादिकः
 रनमि प्राप्ते शप् । म्रियत इति । मृङ्-प्राणत्यागे । 'तुदादिभ्यः' इति शे कृते 'रिङ्शय-
 ग्लिङ्छु' इति रिङादेशः, इयङ् । नेषतिविः नयतिव्यत्यर्थः । द्वौ विकरणाविति । अत्र शप्
 न्याय्यः । सिप् तु बाहुलकात् । एतेन 'सेमामविङ्' इत्यादि व्याख्यातम् । अव-
 रक्षणे । अस्मान्नोऽपि शप् प्राप्ते बाहुलकात् सिप् । हेर्धिः पत्वं ण्डुत्वम् । जश्त्वम् ।
 तरुषेमेति तरुष् मसिति जाते यासुट् 'लिङः सलोपोऽनन्त्य' 'नित्यङितः' 'अतो येयः'
 'लोपो न्योर्वलि' 'आद्गुणः' अत्रोप्रत्ययान्तस्य सिपं प्रत्यङ्गत्वात् 'सार्वधातुका' इति
 गुणः प्राप्तः । सिबन्तस्य शप् लिङूपधगुणश्च प्राप्तो बाहुलकान्न भवति । ससिङ्गिति ।

णित् हो, बहुल प्रकारसे । स उत्तमस्य—लेट् लकार-सम्बन्धी उत्तम पुरुषके सकारका लोप
 हो, विकल्पसे । आत ऐ—लेट् लकारसम्बन्धी (आत्मनेपदके आताम् और आधाम् के
 आदि) आकारको ऐकार आदेश हो । वैतोऽन्यत्र—'आत ऐ' इस सूत्रके विषयको छोड़कर
 लेट् सम्बन्धी आकारको ऐकार आदेश हो विकल्पसे । उपसंवादा—उपसंवाद, पणवन्व
 (शर्त, बाजी मारना) और आशंकार्मे लेट् लकार हो । व्यत्ययो—विकरणोंका व्यत्यय
 बहुल प्रकारसे हो, वेदमे ।

सुसिङ्गुपग्रह—सुप्, तिङ्, उपग्रह (परस्मैपद-आत्मनेपद) लिंग, पुरुष, काल

धुरि दक्षिणायाः । दक्षिणस्यामिति प्राप्ते । च्वा॒लं॒ ये अ॒श्व॒यू॒पाय॒ तक्ष॑ति । तक्ष-
न्तीति प्राप्ते । उपग्रहः—परस्मैपदात्मनेपदे । ब्रह्मचारिणमिच्छते । इच्छतीति
प्राप्ते । प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युध्यति । युध्यत इति प्राप्ते । मधोस्त्वृता इवासते । मधुन
इति प्राप्ते । नरः—पुरुषः । अधा॒ स वी॒रैर्द॑शभिर्वि॒यूयाः । वि॒यूया॑दिति प्राप्ते ।
कालः—कालवाची प्रत्ययः । श्वोऽ॒नीना॑धास्यमानेन । लुटो विषये लृट् । तमसो॒ गा
अ॒दुक्ष॑त् । अधुक्षदिति प्राप्ते । मित्र॒ वयं॒ च सूर॑यः । मित्रा वयमिति प्राप्ते । स्वर-
व्यत्ययस्तु वक्ष्यते, कर्तृशब्दः कारकमात्रपरः, तथा च तद्वाचिनां कृतद्धितानां
व्यत्ययः । अन्नादाय । अण्विषये अच् । यङो यशब्दादारभ्य ‘लिङ्याशिष्यङ्’
इति ङकारेण प्रत्याहारः ॥ तेषां व्यत्ययो ‘भेदति’ इत्यादिस्तु इव ॥ छन्दस्युभ-
यथा । ३।४।११७ धात्वधिकारे उक्तः प्रत्ययः सार्वधातुकार्धधातुकोभयसंज्ञः स्यात् ॥
वर्धन्तु॑ त्वा सु॒ष्टुतयः॑ । वर्धयन्त्वित्यर्थः । आर्धधातुक्त्वाणिलोपः ॥ विश्व॑ण्विरे ।

शास्त्रकृपाणिनिराचार्य एषां सुप्प्रभृतीनां व्यत्ययमिच्छति । सोऽपि तथाविधो बाहु-
लकेन सिद्धयति । बहुलस्य भावो बाहुलकम् । मनोज्ञादित्वाद् वुञ् । तत्पुनर्बहुलश-
ब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तं बहुवर्थादानत्वं, चशब्दौ हेतौ । यस्मादेवम् प्रकारो व्यत्ययो
बहुलग्रहणेनैव सिद्धयति, तस्माद्बहुलग्रहणं कृतमित्यर्थः । वियूया इति । ‘यु मिश्रणे’
विपूर्वः । आशिपि लिङ् । आधास्यमानेनेति । आह्पूर्वाद्धातेः ‘लृटः सद्वा’ इत्यनेन
ज्ञानजादेशः । ‘स्यतासी’ इति स्यः । ‘आने मुक्’ इति मुक् । मित्रवयमिति । दीर्घस्य
ह्रस्वव्यत्ययः । स्वरव्यत्ययस्त्विति । गवामिव श्रियसे इत्यत्र ‘तुमर्थे’ इत्यनेन क्सेनि
कृते ‘ग्नित्यादि’ इत्याद्युदात्ते प्राप्ते व्यत्ययनेन मध्योदात्तता । कृतद्धितानामिति । ‘तेन
दीव्यति’ इत्यादौ विधीयमानानां ङगादीनां देवनादिकर्तृत्वादेवमुक्तम् । न त्विह
कारकवाचित्वेऽप्याग्रहः, कृतद्धितमात्रे तात्पर्यात् । तथा च किमो विहितो ङित्य-
च्छब्दादपि भवति । ‘त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः’ । ‘विश्वेदेवासो मरुतो यतिष्ठन’ ।
अन्नादाय इति । अन्नमत्तीत्यन्नादस्तस्मै, अन्ने कर्मण्युपपदेऽदेः कर्मण्यणि प्राप्तेऽच् ।

(कालवाची प्रत्यय), इल्, अच्, स्वर, कर्तृ (कारकवाची कृट्—तद्धित) ओर ‘यङ्’
(यङ्के यकारसे लेकर ‘लिङ्याशिष्यङ्’ के ङकार पर्यन्त ‘यङ्’ प्रत्याहार) इनका शास्त्रकार
वेदमें व्यत्यय चाहते हैं, और वह व्यत्यय बहुलप्रकारसे सिद्ध होता है ।

छन्दस्युभयथाः—वेदमें धात्वधिकारोक्त जो २ प्रत्यय है, वे सार्वधातुक और आर्ध-
धातुक उभय संज्ञक हों ।

सार्वधातुकत्वात् रनः श्चभावश्च, हुश्नुवोरिति यण ॥ तुमर्थे सेसेनसेऽसेन्कसे-
कसेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यैशध्यैन्तवैतवेङ्त्तवेनः । ३।४।९। से, वच्चे
रायः । सेन्, ता वामेपे । असे, शरदो जीवसे धाः । असेन्, नित्वादाद्युदात्तः ।
क्से, प्रेपे । कसेन्, गवामिव श्रियसे । अध्यै-अध्यैन्, जठरं पृणध्यै । पक्षे आद्यु-
दात्तम् । कध्यै-कध्यैन्, आह्वध्यै । शध्यै, राधसः, सह मादयध्यै । शध्यैन्, वायवे
पिवध्यै । तवै, दातवा उ । तवेङ्, सूतवे । तवेन्, कर्तवे ॥ प्रयै रोहिष्यै अव्यथिष्यै
। ३।४।१०। एते निपात्यन्ते । प्रयातुं-रोढुम्; अव्यथितुमित्यर्थः ॥ दृशे विख्ये च
। ३।४।११। निपातौ । द्रष्टुं, विख्यातुमित्यर्थः । कृत्यार्थे तवैकेकेन्यत्वन्ः
। ३।४।१४। धातोरेते स्युः ॥ तवै । अन्वतवै । केन् । अवगाहे । केन्य । दिदक्षेण्यः ।

छन्दस्युभयथेति । लिङ्गः सार्वधातुकसंज्ञाप्यस्ति, तेन यासुट इयादेशः, वलि लोपः ।
तुमर्थे । तुमुनोऽर्थस्तुमर्थो भावः । ननु 'कर्तरि कृत्' इति वचनात् कर्तरि तुमुनो
विधानात् कथं भावोऽर्थ इति चेच्छृणु । 'अव्ययकृतो भावे' इति वचनात्तुमुनो भावे
विधानात् । तुमर्थे पञ्चदश प्रत्यया भवन्ति । वक्षे इति । वचः से कुत्वे परवम् । कप-
संयोगे क्षः । एपे इति । इणो गुणः । नकारो 'भिनित्यानिर्दित्यस्' इत्याद्युदात्तार्थः ।
प्रेपे इति । इणः से किस्वाद्गुणे आद्गुणः । श्रियसे इति । इयङ् निस्वादाद्युदात्तः । इह
मन्त्रे मध्योदात्तः पठ्यते । तत्र बाहुलकात्प्रत्ययस्वरो बोध्यः । आहुवध्यै इति । जुहोते-
रुवङ् । मादयध्यै इति । मदी हर्षे, ण्यन्ताच्छध्यै प्रत्ययः । तस्य भाववाचिसार्वधातुक-
त्वात्सार्वधातुके यकि प्राप्ते व्यत्ययेन शप् गुणायादेशौ । पिवध्यै इति । अत्रापि यक्प्र-
संगे व्यत्ययेन शप् । 'पाप्मा' इति पिवादेशः । दातवा उ इति । ददातेस्तवै आयादेशे
'लोपः शाकल्यस्य' इति यलोपः । सूतवे इति । डिस्वान्न गुणः । कर्तव इति । कृजो
गुणः । कर्तुमित्यर्थः । प्रयै । प्रपूर्वाच्चातेः कैप्रत्ययः । रुहेरिष्यै प्रत्ययः । नष्पूर्वाद्ध्य-
थेश्च । दृशे । योगविभागश्चिन्त्यप्रयोजनः । दृशेः ख्यातेश्च केप्रत्ययः । किस्वाद् दृशेर्न
गुणः । ख्यातेरालोपश्च । कृत्यार्थे । कृत्यानामर्थो भावकर्मणी, तयोरेवेति कृत्यानां भाव-
कर्मणोर्विधानात्, तत्र एते प्रत्ययाः स्युः । यद्यपि कृत्यानामर्थो 'भव्यगेय' इत्यादौ

तुमर्थे—तुमर्थ (भावार्थ) में धातुसे से, सेन्, असे, असेन्, वसे, कसेन्, अध्यै,
अध्यैन्, कध्यै, कध्यैन्, शध्यै, शध्यैन्, तवै, तवेङ् और तवेन् प्रत्यय हों, वेदमें ।

प्रयै रोहिष्यै—प्रयै आदि तुमर्थमें भी निपातित हों, छन्दमें । दृशे विख्ये—दृशे,
विख्ये इन दोनों का तुमर्थमें निपातन हों, वेदमें । कृत्यार्थे—कृत्य प्रत्यय के अर्थमें धातुसे
तवै, केन्, केन्य और त्वन् प्रत्यय हों, वेदमें ।

त्वन् । कर्त्वम् ॥ सृपितृदोः कसुन् । ३।४।१७। तुमर्थे । पुरा क्रूरस्य विसृपो
विरिणिन् । पुरा जत्रुभ्य आतृदः ॥ प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे । ६।१।११५। ऋक्पाद-
मध्यस्थ एङ् प्रकृत्या स्यादति परे, न तु वकारयकारपरेऽति । उपप्रयन्तो अध्वरम् ।
सुजाते अश्वसृते । अन्तःपादं किम् ? एतास एतेऽर्चन्ति । अव्यपरे किम् ?
तेऽवदन् ॥ अव्यादवद्यादवक्रमुरव्रतायमवन्त्ववस्युषु च । ६।१।११६। एषु
व्यपरेऽप्यति एङ् प्रकृत्या । वसुभिर्नो अव्यात् । मित्रमहो अवद्यात् । मा शिवासो
अवक्रमुः । ते नो अव्रत । शतधारो अयं मणिः । ते नो अवन्तु । कुशिकासो

कर्तापि, वह्यं स्नानीयमित्यादौ करणादिरपि, तथापि न तत्र कृत्यत्वेन कर्त्रादिषु
विधानं, किं तर्हि स्वरूपेण । कृत्यतया विधानं तु भावकर्मणोरेवेति भावः । अवगाहे इति ।
गाहू विलोडने । दिवृक्षेण्य इति । इशोः सन्नन्तात्केन्यः । अतो लोपः । कर्त्वमिति ।
कृजः त्वन् । कृत्यमित्यर्थः । यद्यपि 'तुमर्थे सेसेन्' इत्यनेन तुमर्थे तवै विहितस्तथापि
भावभिन्नेऽपि कर्मकारके तवै यथा स्यादित्येवमर्थम् । सृपितृदोः । सृप्ल-गतौ ।
उतृदिर-हिंसानादरयोः । भावलक्षणेऽर्थे वर्तमानयोः सृपितृदोस्तुमर्थे कसुन् । विसृप
इति । गमनादित्यर्थः । प्रकृत्या । पादस्य मध्ये इत्यन्तःपादमित्यव्ययीभावः । अन्तरि-
त्यव्ययमधिकरणशक्तिप्रधानं मध्यमाचष्टे । पादश्चेह ऋक्पाद एव गृह्यते न श्लोकस्य ।
'वा छन्दसि' इत्यतो मण्डूकप्लुत्या छन्दसीति वर्तते । तेनास्य वैदिकत्वं सम्पद्यत
इत्याशयेनाह — ऋक्पादमध्यस्थ इति । 'एङः पदान्तात्' इति सूत्रादेङः इति पञ्चम्यन्त-
मनुवृत्तं प्रथमया विपरिणम्यतेऽन्यस्य कार्यिणोऽसम्भवादित्यभिप्रेत्याह — एङः प्रकृ-
त्येते । सन्धिरूपं विकारं न यातीत्यर्थः । उपप्रयन्तो अध्वरमिति । 'एङः पदान्तादति'
इति प्राप्तम् । अन्तःपादं किमिति । ऋचीत्येव किं नोक्तमित्यर्थः । एतेऽर्चन्तीति । 'कया
मती कुत एतास एतेऽर्चन्ति शुष्णं वृषणो वसूया इति । अत्र एते इति पादस्यान्ते
एङ्स्ति, अंकारश्च परस्य पादस्यादाविति तन्निमित्तिनिमित्तयोः पादामध्यस्थत्वमिति
सत्यपि ऋक्त्वे न प्रकृतिभावः । अव्यात् । एषामनुकरणत्वात्सुवन्तेन समासः । अव
रक्षणे, आशीर्लिङ् । अवद्यादिति पञ्चम्येकवचनान्तम् । अवक्रमुरिति । अवपूर्वस्य क्रमेर्लि-

सृपितृदोः—तुमर्थं (भावलक्षण) में वर्तमान सृपि और तृद धातुसे कसुन् प्रत्यय हो,
वेदमें । प्रकृत्यान्तः—ऋक् पाद मध्यस्थ जो एङ्, वह अत्के परे प्रकृतिवत् रहे । किन्तु
वकार-यकार परक अत्के परे यह प्रकृतिभाव नहीं हो ।

अव्यादवद्या—अव्यात्, अवद्याद्, अवक्रमुः अव्रता, अयम्, अवन्तु और अवस्यु
सम्बन्धी वकार-यकार परक अत्के परे एङ् प्रकृतिवत् रहे, वेदमें ।

अवस्यवः ॥ सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाडयायाजालः । ७।१।३२॥ ऋजवः
 सन्तु पन्थाः । पन्थान इति प्राप्ते । परमे व्योमन् । व्योमनीति प्राप्ते ॥ धीती मती
 सुष्टुती । धीत्या मत्या सुष्टुत्येति प्राप्ते पूर्वसवर्णः । या सुरथा रथीतमोभा । यौ
 सुरथाविति प्राप्ते आ । नताद् ब्राह्मणम् ॥ नतमिति प्राप्ते आत् । यादेव विद्यतात्त्वा ।
 यमिति प्राप्ते । न युष्मे वाजबन्धवः, अस्मे इन्द्रावृहस्पती, युष्मासु अस्मभ्यमिति
 प्राप्ते शे । उरुया, धृणुया । उरुणा धृणुनेति प्राप्ते या । नामा पृथिव्याः । नामा-
 विति प्राप्ते डा । ता अनुष्ठथोच्यावयतात् । आढो डथा । साधुया, साध्विति प्राप्ते
 याच् । वसन्ता यजेत । वसन्त इति प्राप्ते आल् ॥ (इयाडियाजीकाराणामुपसं-
 ख्यानम्) । उर्विया । उरुणेति प्राप्ते इया । सुक्षेत्रिया । सुक्षेत्रिणेति प्राप्ते डियाच् ।

दधुसि द्विर्वचनप्रकरणे छन्दसि वा वचनम् इति द्विर्वचनाभावे रूपम् । अत्रतेति ।
 वृद्ध्वजोः 'मन्त्रे घस-' इति च्छेर्लुक् । 'आत्मनेपदेषु' इति झस्य अदादेशः । अयमिति ।
 इदमः सौ 'इदोऽयं पुंसि' । अवतेर्लोट्—अवन्तु । अवस्यव इति । अवेरसुन् औणादिकः ।
 ततः क्यच् । 'क्याच्छन्दसि' इत्युः । सुपाम् । सुपां स्थाने सुलुक्पूर्वसवर्णआआतशेया-
 डाडयायाच् आल् एते आदेशाः स्युरच्छन्दसि । पन्था इति । 'व्यत्ययो बहुलम्' इत्येव-
 सिद्धमिदम् । उक्तं हि तत्र 'सुसिद्धुप्रह' इत्यादि तस्यैवायं प्रपञ्चः । धीतीत्यादि ।
 धीतीमतीसुष्टुतीशब्देभ्यस्तृतीयैकवचनस्य पूर्वसवर्ण ईकारः प्रमाणत आन्तर्यात्
 सवर्णदीर्घत्वम् । यौ सुरथाविति प्राप्त आ । अनेनादित्यत्राकारोऽपि प्रश्लिष्यत इति
 दर्शितम् । नतादिति । नतशब्दादम् । तस्यादादेशः । 'न विभक्तौ तु' इतीत्संज्ञाप्रति-
 षेधः । या देवेत्यादि । यच्छब्दादम् । न युष्मे इति । युष्मदः सप्तमीबहुवचनस्य शे
 आदेशः । शेषे लोपः । अस्मे इन्द्रेति । शे इति प्रगृह्यत्वादादेशाभावः । नामा इति ।
 डित्वाट्टिलोपः । ता अनुष्ठथेति । षड्विंशतिरस्ये वङ्कथ इति प्रक्रम्य इदमध्वयुप्रपे-
 पठितं, ताः वङ्क्रीः अनुष्ठथाः अनुष्ठानेन अनुक्रमेण गणनया गणयित्वा उच्यावयतात्
 भवान् विशसनं करोतु । पृथक् करोतु भवानित्यर्थः । साधु इति प्राप्ते इति । सोर्लुकि
 प्राप्त इत्यर्थः । वसन्ते इति प्राप्ते आल् इति । पूर्वसवर्णे तु 'अतो गुणे' इति स्यात् ।
 उर्वियेति । उरुदारुशब्दात्तृतीयैकवचनस्येयादेशः । सुक्षेत्रियेति । सुक्षेत्रिन्शब्दात्तृतीयै-

सुपां सुलुक्—'सुप्' के स्थानमें 'सु' लुक्, पूर्वसवर्ण (दीर्घ) आ, आत्, शे, या, डा,
 डथा, आच् और आल् आदेश हो, वेदमें ।

इयाडिया—सुप्के स्थानमें इया, डियाच् और ईकार आदेश हो, वेदमें ।

‘दृति न शुक्लं सरसी शयानम्’ । सरस्यामिति प्राप्ते ई ॥ आज्ञसेरसुक् ॥ ७१॥
 १०॥ ब्राह्मणासः ॥ (तन्वादीनां छन्दसि बहुलम्) तन्वं पुषेम, तनुवं पुषेम ।
 विध्वं पश्य । विधुवं पश्य । स्वर्गो लोकः । सुवर्गो लोकः । त्र्यम्बकम् ।
 त्रियम्बकम् । वरेण्यम् । वरेणियम् । ‘अतो भिस ऐस्’ ॥ बहुलं छन्दसि ॥ ७१॥ १०॥
 अग्निर्देवेभिः ॥ मन्त्रेष्वाङ्ग्यादेरात्मनः । ६।४।१४१ । आत्मञ्छन्दस्यादेर्लोप आ-
 ङि । त्मना देवेषु । अपांभि ॥ (मासश्छन्दसीति वक्तव्यम्) । माङ्गिः । शर-
 ङ्गिः ॥ प्रसमुपोदः पादपूरणे । ८।१।६। एषां द्वे स्तः पादपूरणे । प्रपायमग्निः ।
 संसमिद्युवसे । उपोप मे परामृश । किं नोदुदु हर्षसे ॥ षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारप-
 दपयस्पोषेषु । ८।३।५३ । विसर्गस्य सः स्यात् । वाचस्पति विश्वकर्माणम् । दिवस्यु-
 त्राय सूर्याय । दिवस्पृष्टं भन्दमानः । तमसस्पाारमस्य । परीवीत इळस्पदे । दिवस्पयो
 दिधिषाणाः । रायस्पोषं यजमानेषु । इति वैदिकप्रकरणम् ।



कवचनस्य डियाजादेशः । डित्वाटिटलोपः । आज्ञसेः । जसेरिति पूर्वाचार्याजुरोधेन
 निर्देशः । ब्राह्मणासः । असुकि कृते जसः सकारस्य श्रवणम् । असुकः सकारस्य
 विसर्गः । तन्वादीनाम् । बहुलमियङुवडादेशः स्याच्छन्दसि । तनुवमिति । अधातुत्वाद्-
 प्रास उवङ् विधीयते । तन्वमिति । ‘वा छन्दसि’ इत्यमि पूर्वत्वाभावे यण् । त्र्यम्बकमि-
 ति । त्रीणि अम्बकानि नेत्राणि यस्यासौ त्र्यम्बको रुद्रः । माङ्गिरिति । ‘पहन्नोमास’
 इति मासशब्दस्य मास्आदेशः । प्रसमुपोदः पादपूरणे । समाहारद्वन्द्वः । समासान्त-
 विधेरनित्यत्वाद् ‘द्वन्द्वाच्चुदपहान्तात्’ इति न टच् । इति वैदिकप्रकरणम् ।



आज्ञसे—अवर्णान्त अज्ञसे पर जस्को असुक् का आगम हो । तन्वादीनां—तन्वादिको
 वेदमें इयण्-उवङ् आदेश हो । बहुलं—वेदमें अदन्त अज्ञसे पर भिस्को ऐस् आदेश हो,
 बहुल प्रकारसे । मन्त्रेष्वाङ्ग्यादे—मन्त्रमें आत्मन् शब्दके आदिका लोप हो ।

मासश्छन्दसि—वेदमें मास् शब्दको तकारान्त आदेश हो, मादि प्रत्ययके परे ।

प्रसमुपोदः—पादपूरणार्थक प्र, सम्, उप और उत्तको द्वित्व हो, वेदमें । षष्ठ्याः—
 वेदमें षष्ठी संबन्धी विसर्गको सत्त्व हो, पति, पुत्र, पृष्ठ, पार, पठ, पयस् और पोषके परे ।

इसप्रकार ‘इन्दुमती’ टीकामें वैदिकप्रकरण समाप्त हुआ ।



अथ स्वरप्रकरणम्

धातोः । ६।१।१६२। अन्त उदात्तः स्यात् ॥ अनुदात्तं पदमेकवर्जम् । ६।१।१५८। परिभाषेयं स्वरविधिविषया । यस्मिन्पदे यस्योदात्तः स्वरितो वा विधीयते तमेकमचं वर्जयित्वा शेषं तत्पदमनुदात्ताच्चं स्यात् । गोपायतं नः । अत्र 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वे धातुस्वरेण यकाराकार उदात्तः । शिष्टमनुदात्तम् ॥ उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः । ८।४।६६। इति तकाराकारः स्वरितः ॥ स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम् । १।२।३९। एकश्रुतिः स्यात् । इति नकाराकारः प्रचयः ॥ अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः । ६।१।१६१। यस्मिन्ननुदात्ते उदात्तो

अनुदात्तं पदम् । परिभाषेयमिति । नाधिकारोऽस्वरितत्वात् । 'आद्युदात्तश्च', 'समानोदरे शयित ओ चोदात्तः' इत्यादीनामसंग्रहश्च स्यात् । परिभाषाया लिङ्गापेक्षायामाह-स्वरविधीति । सूत्रे अनुदात्तशब्दोऽर्शआद्यजन्तः, पदसामानाधिकरण्यात् । अत्रानुदात्तस्य क्रियमाणत्वात् तन्निष्ठ उदात्तः स्वरितो वा वर्ज्यत इत्याह—नमेकमिति । यत्तदोर्नित्यसम्बन्धाद्यस्योदात्तस्वरितविधानं तस्यैव वर्जनम् । एकग्रहणं विधीयमानस्योपलक्षणम् । तेन 'तवै चान्तश्च युगपत्' इति द्वयोर्वर्जनम् । इन्द्रावृहस्पती इत्यत्र 'देवताद्वन्द्वे च' इति सूत्रेण पदद्वयस्यापि प्रकृतिस्वरे विधेये त्रयाणां वर्जनम् । वृहस्पतिशब्दो हि वनस्पत्यादित्वाद्युदात्त इति स्थितम् । गोपायतमिति । गुप इत्यस्य 'धातोः' इत्यन्त उदात्तः । ततः आयः प्रत्ययः 'आद्युदात्तश्च' इति प्रत्ययस्वरेणाद्युदात्तः । ततः 'सनाद्यन्ताः' इति धातुसंज्ञायां 'धातोः' इति यकाराकार उदात्तः । स च प्रागुक्तयोरुदात्तयोः सतोः पश्चात्प्रवृत्तत्वात्सतिशिष्टः अतो बलवान् । तस्य 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' इत्यनेनानुदात्तेन शबकारेण सह 'अतो गुणे' इति पररूपे कृते 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' इत्युदात्तः । तसस्तमादेशः । तस्य 'तास्यनुदात्तेन्डिदुपदेशात्' इत्यनेनादुपदेशात्परत्वादनुदात्तत्वम् । तस्य 'उदात्तादनुदात्तस्य' इति स्वरितः । उदात्तादनुदात्तस्य अत्र 'तयोर्व्यावचि' इत्यतः संहितायामित्यनुवर्तते, तेन पदकालेऽनुदात्तमेव । स्वरिति । अनुदात्तानामिति । जातौ बहुवचनम् । तेनैकस्य द्वयोर्वहूनां च भवति । एकस्य पचति । द्वयोः 'अग्निमीले पुरोहितम्' इत्यादि । अनुदात्तस्य । देवशब्दोऽचप्रत्ययान्तः

धातोः—धातुका अन्त उदात्त हो । अनुदात्तं—जिस पदमें जिस (अच्) को उदात्त अथवा स्वरित विधान किया है, उस एक ही 'अच्' को छोड़कर उस पदके अवशिष्ट सभी अच् अनुदात्त होते हैं । उदात्तादनुदात्तस्य—उदात्तसे पर जो अनुदात्त, वह स्वरित हो ।

स्वरितात्—स्वरितसे पर अनुदात्तको एकश्रुति (प्रचय) स्वर हो, संहितामें ।

अनुदात्तस्य च—जिस अनुदात्त अच्के परे उदात्त अच्का लोप हुआ हो, उस अनुदात्तको उदात्त आदेश हो ।

लुप्यते तस्योदात्तः । देवीं वाचम् । अत्र ङीबुदात्तः ॥ आद्युदात्तश्च । ३।१।३।
 प्रत्ययस्याद्युदात्तः स्यात् । कर्तव्यम् ॥ अनुदात्तौ सुप्पितौ । ३।१।४।
 पूर्वस्यापवादः । यज्ञस्य । न यो युच्छति । शक्तिपोरनुदात्तत्वे स्वरितप्रचयौ ॥
 चितः । ६।१।१६३। अन्त उदात्तः स्यात् ॥ (चितः सप्रकृतेर्वहकजर्थम्) ।
 चिति प्रत्यये सति प्रकृतिप्रत्ययसमुदायस्यान्त उदात्तो वाच्य इत्यर्थः । नभन्ता-
 मन्यके समे । यके सरस्वतीमनु । तत्सुते ॥ तद्धितस्य । ६।१।१६४।
 चितस्तद्धितस्यान्त उदात्तः । पूर्वेण सिद्धे अित्स्वरबाधनार्थम् । कौजायनाः ।
 कितः । ६।१।१६५। कितस्तद्धितस्यान्त उदात्तः । यदाग्नेयः ॥ तित्स्वरितम्
 । ६।१।१८५। क नूनम् ॥ उपोत्तमं रिति । ६।१।२१७। रिप्रत्ययान्तस्योपोत्तम-
 मनुदात्तं स्यात् । यदाहवनीये ॥ जित्यादिर्नित्यम् । ६।१।१९७। जित्तस्य
 निदन्तस्य चादिरुदात्तः । यस्मिन्विश्वानि पौस्या । पुंसः कर्मणि ब्राह्मणादित्वात्ष्यञ् ।

त्वात् 'चितः' इत्यन्तोदात्तः । पचादिषु देवडिति पाठात् 'टिड्ढा' इति ङीप् । तस्य
 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' इत्यनुदात्तत्वे 'यस्येति च' इत्यकारलोपः । कर्तव्यमिति । तव्यप्र-
 त्ययः । तव्यतस्तु तित्वास्वरितो वच्यते । युच्छतीति । युच्छ प्रमादे । 'धातोः' इत्य-
 न्तोदात्तः । ततः परः ङप् 'उदात्तादनुदात्तस्य' इति स्वरितः । 'स्वरितात्संहितायामनु-
 दात्तानाम्' इति तिप् प्रचयः । चितः सप्रकृतेरिति । नन्विदं कथं लभ्यमिति चेच्छृणु ।
 चित इत्यवयवादेपा षष्ठी, न कार्यिणः । चिद्योऽवयवस्तस्य सम्बन्धी यः स कार्यी ।
 अथवा चिदस्यास्ति स चितः । अर्शआदेराकृतिगणत्वादच् प्रत्ययः । पष्ठर्थे प्रथमा ।
 तेन चिद्वतः समुदायस्येत्यर्थः । अत्र च लिङ्गमकचश्चित्करणम् । अन्यथा तस्यैकाच्चा-
 दनर्थकं तस्यात् । अन्यके इति । 'अव्ययसर्वनाम्नाम्' इत्यकच् । ततः परादिरुदात्ता ।
 एवं यके तकदित्यत्रापि यत्तच्छब्दादकच् । बहुच उदाहरणं तु बहुपटवः इत्यादि ।

आद्युदात्तश्च-प्रत्ययके आदि उदात्त हो । अनुदात्तौ-सुप् तथा पित् प्रत्यय अनुदात्त हो ।

चितः-चितके अन्त उदात्त हो ।

चितः सप्रकृतेः-चित् यदि प्रत्यय हो तो, प्रकृति-प्रत्यय समुदायके अन्त उदात्त हो
 ऐसा (बहुच् और अकच् प्रत्ययके लिये) कहना चाहिये ।

तद्धितस्य-तद्धितसम्बन्धी चितका अन्त उदात्त हो । कितः-तद्धितसम्बन्धी
 कितका अन्त उदात्त हो । तित्स्वरितम्-तित् स्वरित हो ।

उपोत्तमं-रित् प्रत्ययान्तका उपोत्तम (अन्त्य अच्से पूर्व अच्) अनुदात्त हो ।

जित्यादिर्नित्यम्-जित्त और निदन्तका आदि उदात्त हो ।

सुतेदधिष्व नश्चनः । चायेतेरसुत् । चायेरन्ने ह्रस्वध्वेति चकारादसुनो नुडागमः ॥
 लिति । ६।१।१९३। इत्यादिप्रत्ययात्पूर्वमुदात्तं स्यात् । चिकीर्षकः । अत्र ईकारस्यो-
 दात्तता । इत्यादिप्रयोगमनुसृत्यान्वाख्यातव्यम् । इति स्वरप्रक्रिया ॥

पषा वरदराजेन बालानामुपकारिका ॥

अकारि पाणिनीयानां मध्यसिद्धान्तकौमुदी ॥ १ ॥

कृतिर्वरदराजस्य मध्यसिद्धान्तकौमुदी ॥

तस्याः संख्या तु विज्ञेया खवाणकरवह्निभिः ॥ २ ॥

इति श्रीवरदराजकृता मध्यसिद्धान्तकौमुदी समाप्ता ॥



चिकीर्षक इति । सन्नन्ताण्डुलू तस्याकादेशः । सनोस्तो लोपः । ककारेकार उदात्तः ।
 न चाहोपस्य स्थानिवत्त्वम्, स्वरविधौ तन्निषेधात् ।

इति श्रीकौण्डिन्यकुलावतंसजोशीत्युपाह्वदामोदरात्मजपण्डितसदाशिव-
 शास्त्रिकृतेयं 'पुषा' टीका समाप्ता ।



लिति—लिट् प्रत्ययके परं पूर्वं उदात्त हो ।

ग्रन्थकार महामहोपाध्याय श्री वरदराज मट्टाचार्यने बालकोंके उपकारार्थं पाणिनीय
 व्याकरणको सरलतासे बतानेवाली इस 'मध्यसिद्धान्तकौमुदी' को बनाया है ॥ १ ॥

वरदराज मट्टाचार्य कृत इस 'मध्यसिद्धान्तकौमुदी' की ग्रन्थसंख्या अनुष्टुप् छन्दके
 मानसे ३२५० है ॥ २ ॥

चञ्चच्चन्द्रमरीचिचारुवदनी विम्बोष्ठकान्तामणि-

भक्तिज्ञानप्रसादिताऽऽशुगिरिजा संराजमानाऽवनिम् ।

तुच्छां स्वच्छमना निधाय हृदये पत्युः समचं मुदा

तीर्थद्वारप्रयागदेवसरितस्तीरे वपुर्या जहौ ।

सेयं स्वर्गसुधागलन्मधुरतां मन्दं पिबन्तीत्यहो ?

स्वीयोत्पत्तिसुकीर्तिपूतमिथिला सीतासमा धीमती ।

नाम्ना 'चेन्दुमती' प्रसन्नवदना दिव्यप्रभावा चिरं

लोकानामनुरञ्जिनी विलसतु स्वर्गे सुधावर्षिणी ॥

इति 'दरमङ्गा' मण्डलान्तर्गत 'तरौनी' ग्रामवासि शास्त्रार्थदिवाकरपण्डितराज-

श्रीजयदत्तज्ञाशर्मात्मजपण्डितश्रीमदनन्तलालज्ञाशर्मसूनुना पण्डितश्रीराम-

चन्द्रज्ञाव्याकरणाचार्येण विरचिता 'इन्दुमती' टीका समाप्ता ।



लिङ्गानुशासनम्

अथ स्त्रीलिङ्गाधिकारः

॥३॥ लिङ्गम् । स्त्री । अधिकारसूत्रे एते ॥ ऋकारान्ता मातृदुहितृस्व-
सृयातृननान्दरः । १। एते पञ्चैव स्त्रीलिङ्गाः ॥ अन्यूप्रत्ययान्तो धातुः । २।
अनिप्रत्ययान्त ऊप्रत्ययान्तश्च धातुः स्त्रियां स्यात् । अवनिः । चमूः ॥ मिन्य-
न्तः । ३। मिनिप्रत्ययान्तः स्त्रियाम् । भूमिः । ग्लानिः ॥ क्तिन्नन्तः । ४। कृतिरि-
त्यादि ॥ ईकारान्तश्च । ५। लक्ष्मीः । ऊडावन्तश्च । ६। कुरुः । अजा । च्वन्त-
मेकाक्षरम् । ७। स्त्रीः । भूः ॥ विंशत्यादिरा नवतेः । ८। इयं विंशतिः ॥ तल-

लिङ्गम् । स्त्री । अधिकारसूत्रे इति । उभयोरधिकारसूत्रत्वेऽपि 'लिङ्गम्' इत्याशास्त्रसमा-
प्तेः, द्वितीयस्तु 'ताराधारा' इति यावदिति विवेकः । 'उणादयो बङ्गुलम्' इति संगृही-
तसाधुत्वकानां व्युत्पन्नत्वं शास्त्रान्तरे प्रसिद्धमिति तदभिप्रायेणाह—अन्य इत्यादि । अव-
निः । 'अतिसृष्टधम्यन्यद्यवितृभ्योऽनिः' इत्यनिः । चमूरिति । 'कृषिचमितनिधनिसर्जि-
भ्य ऊः' इत्यूः । द्यूः, अत्र वकारस्य 'छ्वोः' इत्यूट् । मिन्यन्तः । भूमिः । 'नियो मिः'
इत्यतो मिरित्यनुबर्त्य विहितो 'भुवः कित्' इति निः । ग्लानिः । वहिश्चिभ्रयुदुग्लाहा-
त्वरिभ्यो नित्' इति निः । ईकारान्तश्च । अत्र ईकारः प्रत्यय एव पूर्वोत्तरसाहचर्यात् ।
लक्ष्मोरिति । अत्र 'लच्चेमुट् च' इति सूत्रे 'अवितृस्तृतन्त्रिभ्य ईः' इत्यतः ईरित्यस्यानु-
वृत्त्या ईकारः प्रत्ययः । ऊडावन्तश्च । 'ऊङुतः' इत्यूङ् । आब्रग्रहणेन टापडाप्चापां
ग्रहणम् । च्वन्तमेकाक्षरम् । ईकारोऽत्र प्रत्ययः ऊकारसाहचर्यात् । विंशत्यादिरानवतेरिति ।

लिङ्गम्—लिङ्गानुशासन समाप्तिपर्यन्त इति सूत्रका अधिकार है । स्त्री—'ताराधारा' इति
स्त्र्यधिकारान्त सूत्र पर्यन्त इति सूत्रका अधिकार है । ऋकारान्ता—मातृ, दुहितृ, स्वसृ,
यातृ, ननान्दृ—ये पांचो ऋकारान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग हैं । अन्यूप्रत्ययान्तो—'अनि' प्रत्ययान्त
और 'ऊ' प्रत्ययान्त धातु स्त्रीलिङ्ग हैं । मिन्यन्तः—'मि' और 'नि' प्रत्ययान्त धातु
स्त्रीलिङ्ग हैं । क्तिन्नन्तः—'क्तिन्' प्रत्ययान्त धातु स्त्रीलिङ्ग हैं । ईकारान्त—'ई' प्रत्ययान्त
धातु भी स्त्रीलिङ्ग हैं । ऊडावन्त—'ऊङ्' प्रत्ययान्त और आप् (डाप् तथा चाप्)
प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग हैं । च्वन्तमेका—'इ' और 'ऊ' प्रत्ययान्त एकाक्षर शब्द स्त्रीलिङ्ग हैं ।

विंशत्यादि—विंशति (और विंशत्यन्त) से लेकर नवति (और नवत्यन्त) पर्यन्त
संख्यावाचक शब्द स्त्रीलिङ्ग हैं । तलन्तः—'तस्य भावस्त्वतलौ' इति सूत्र-विहित 'तल्'
प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग हैं ।

न्तः । १६। शुक्लता ॥ भाःस्रक्स्त्रग्दिगुष्णिगुधानहः । १७। इयं भाः ॥ स्थूणोर्णे
नपुंसके च । ११। स्थूणा, स्थूणम् ॥ शङ्कुलिराजिकुटयशनिवर्तिभ्रुकुटि-
व्रुटिवलिपङ्क्तयः । १२। एतेऽपि स्त्रियां स्युः । इयं शङ्कुलिः ॥ अप्सुमनस्समा-
सिकतावर्षाणां बहुत्वं च । १३। अवादीनां पञ्चानां स्त्रीत्वं स्याद्बहुत्वं च । आप
इमाः ॥ ताराधाराज्योत्स्नादयश्च । १४। इयं तारा ॥ इति स्यधिकारः ॥

अथ पुंलिङ्गाधिकारः

पुमान् । अयमधिकारः ॥ घञवन्तः । १। पाकः । करः । भावार्थ एवेदम् ॥
घाजन्तश्च । २। विस्तरः । चयः ॥ भयलिङ्गभगपदानि नपुंसके । ३। भय-
विंशत्यादयः 'पङ्क्तिविंशति'—इति सूत्रनिर्दिष्टाः । तलन्तः । 'तस्य भावस्त्वतलो' इति
सूत्रविहिततलप्रत्ययान्तः स्त्रियां स्यात् । भाःस्रक्स्त्रगिति । एते स्त्रियां स्युः । इयं
भा इत्यादि । स्थूणोर्णे इति । एते स्त्रियां क्लीबे च स्तः । इति स्यधिकारः ।

भावार्थ एवेति । भावे यो घञ् तदन्तस्य पुंस्त्वमित्युक्तम् । नपुंसकत्वविशिष्टे भावे
कल्युङ्भ्यां, स्त्रीत्वविशिष्टे तु क्तिन्नादिभिर्वाधेन परिशेषात् । कर्मादौ तु घञाद्यन्तम-
पि विशेष्यलिङ्गम् । तथा च भाष्यम्—'सम्बन्धमनुवर्तिष्यत' इति । भयलिङ्गेत्यादि ।

भाःस्रक्—भास् (तेज), स्रच् (स्रक्) स्रग् (माला), दिश् । (दिशा), उष्णिह्
(साफा-पगड़ी) और उपानह् (जूता) शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं । स्थूणोर्णे—स्थूण-
(लौहमयी प्रतिमा) और ऊर्ण (ऊन) शब्द नपुंसकलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग भी होते हैं ।
शङ्कुलि—शङ्कुलि (पूड़ी), राजि (पंक्ति), कुटि (कुटी) अशनि (वज्र),
वर्ति (वृत्ति), भ्रुकुटि (भौहें) व्रुटि (कमी) वलि (पूजा) और पंक्ति (श्रेणी)
शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं । अप्सुमनस्—अप् (जल), सुमनस् (पुष्प) समा (वर्ष) और
सिकता (बालू) शब्द स्त्रीलिङ्ग और बहुत्व—बहुवचनान्त ही होते हैं । ताराधारा—तारा,
धारा, ज्योत्स्ना (प्रभा, विभा, शोभा) आदि शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें लिंगानुशासनका स्यधिकार प्रकरण समाप्त हुआ ।

पुमान्—पुंलिङ्गाधिकारान्त 'इस्तकुन्ता' सूत्र पर्यन्त इस सूत्रका अधिकार है ।

घञवन्तः—भावार्थक 'घञ्' प्रत्ययान्त और 'अप्' प्रत्ययान्त शब्द पुंलिङ्ग हों ।

घाजन्तश्च—'घ' प्रत्ययान्त, और अच् प्रत्ययान्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं ।

भयलिङ्ग—भय, लिङ्ग, भग और पद शब्द नपुंसकलिङ्ग होते हैं ।

नोटः—'वाजन्तश्च' इस सूत्रका यह सूत्र अपवादक है । (इसीलिये पुंलिङ्गाधिकारमें

मित्यादि ॥ नडन्तः । १४। पुंसि स्यात् । यज्ञ इत्यादि ॥ याच्ना स्त्रियाम् । १५। पूर्व-
स्यापवादः ॥ क्यन्तो घुः । ६। आधिः । निधिः ॥ इषुधिः स्त्री च । ७। चातुंसि ।
इयमयं वा इषुधिः ॥ द्यौः स्त्रियाम् । ८। क्रतुपुरुषकपोलगुल्फमेवाभिधा-
नानि । ९। क्रतुरध्वरः ॥ अभ्रं नपुंसकम् । १०। पूर्वस्यापवादः ॥ उकारान्तः
। ११। अयं पुंसि स्यात् । प्रभुः । विभुः ॥ धेनुरज्जुकुहुसरयुतनुरेणुप्रियङ्गवः

पूर्वस्यापवादोऽयम् । क्यन्तो घुः । किप्रत्ययोऽन्तः परो यस्मात्तादृशो घुसंज्ञको धातु-
स्तद्वदितः पुमानित्यर्थः । द्यौः स्त्रियाम् । अस्य स्वर्गाभिधानत्वात्पुंस्त्वस्य पूर्वेण प्राप्ते-
ऽस्यारम्भः । अभ्रं नपुंसकमिति । मेघाभिधानविषये पूर्वस्यापवाद इत्यर्थः । रुन्तः ।
उकारो नेत्संज्ञकः । मेरुः, सेतुरित्यत्र 'सितनिगमिमसिसच्यविधाज्जुशिभ्यस्तुज्'

इस सूत्रका पाठ किया गया है) अर्थात् भय, लिंग, भग और पद शब्दोंको छोड़कर अन्य
'घ' और 'अच्' प्रत्ययान्त शब्द पुल्लिङ्ग है—ऐसा समझना चाहिये ।

नडन्तः—'नङ्' प्रत्ययान्त शब्द पुल्लिङ्ग है । याच्ना—याच्ना शब्द स्त्रीलिङ्ग है ।

नोटः—पूर्व सूत्रका यह अपवादक है । अतः 'नङ्' प्रत्ययान्त होनेपर भी 'याच्ना'
शब्द पुल्लिङ्ग नहीं हुआ ।

क्यन्तो घुः—'कि' प्रत्यय है अन्त (पर) जिससे, तादृश जो घुसंज्ञक धातु, तद्वदित
जो शब्द, वह पुल्लिङ्ग हो । इषुधिः स्त्री च—'इषुधि' शब्द स्त्रीलिङ्ग और पुल्लिङ्ग दोनों
हों अर्थात् पूर्व सूत्र से नित्य पुल्लिङ्ग ही नहीं हो ।

द्यौः स्त्रियाम्—'द्यौ' शब्द और दिव शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं ।

नोटः—'देवाऽसुरात्मस्वर्गगिरिसमुद्रनखकेशदन्तस्तनभुजकण्ठखड्गशरपङ्काभिधा-
नानि' (देवादिशब्दवाच्यतावच्छेदकशब्दाः पुंसि स्युः) ऐसा सूत्र 'सिद्धान्तकौमुदी' में
कहा गया है । उदाहरण—देवाः = सुराः, असुराः = दैत्याः, आत्मा = क्षेत्रज्ञः, स्वर्गः = नाकः,
गिरिः = पर्वतः, समुद्रः = अक्षिः, नखः = कररुहः, केशः = शिरोरुहः (कचः,) दन्तः =
दशनः, स्तनः = कुचः, भुजः = दोः, कण्ठः = गलः, खड्गः = करवालः, शरः = मार्गणः, पङ्कः =
कर्दमः । इत्यादि । अब देखो ? 'द्यौः स्त्रियाम्' सूत्रका पाठ अगर यहां (पुल्लिङ्गाधिकार में)
नहीं होता तो उपर्युक्त 'देवाऽसुरा' सूत्रसे स्वर्गपर्यायवाची होनेसे 'द्यौ' और 'दिव्' शब्दोंसे
भी पुंस्त्व विधान हो जाता । अतः वरदगजने उपर्युक्त सूत्रको यहां रखा है ।

क्रतुपुरुष—क्रतु (यज्ञ), पुरुष (नर), कपोल (गाल), गुल्फ (घुठ्ठी) और
मेघ (बादल) वाचकशब्द पुं० हैं । अभ्रं नपुं—(मेघवाची) अभ्र शब्द नपुंसक है ।

उकारान्तः—(सामान्यतया) उकारान्त शब्द पुल्लिङ्ग होते हैं ।

धेनुरज्जु—(उकारान्तमें) धेनु (नवप्रसूता गौ), रज्जु (डोरी), कुहु
(अमावस), सरयु (सरयु नदी), तनु (शरीर), रेणु (धूल) और प्रियङ्गु

स्त्रियाम् । १२। इयं घेनुः ॥ रुत्वन्तः । १३। मेरुः । सेतुः ॥ दारुकशेरुजतु-
वस्तुमस्तूनि नपुंसके च । १४। इदं दारु । दारुः ॥ सक्तुर्नपुंसके च । १५।
सक्तु, सक्तुः । अदन्त इत्यधिकृत्य ॥ कोपधः । १६। कोपधोऽकारान्तः पुंसि स्यात्
स्तवकः । कल्कः ॥ चिबुकादीनि नपुंसके । १७। चिबुकम् ॥ टोपधः । १८।
अदन्तः पुंसि । घटः । पटः ॥ किरीटादीनि नपुंसके च । १९। किरीटम् ।
किरीटः ॥ णोपधः । २०। अदन्तः पुंसि । गणः । पाषाणः ॥ ऋणादीनि नपुं-
सके । २१। ऋणम् ॥ कार्षापणादीनि नपुंसके च । २२। चातुपुंसि ॥ थोपधः
। २३। अदन्तः पुंसि । रथः । यूथः ॥ नोपधः । २४। अदन्तः पुंसि । इनः । फेनः ।

इति तुम् । सूर्यवाचकः प्रथमः । दारुकशेरु । जम्बादिस्वाद्युप्रत्ययान्ता एते । कंसं चाप्रा-
णिनि । कंसमिति शब्दस्य निर्देशात् 'नपुंसके च' इत्यस्य सम्बन्धः ।

(काँगुन) शब्द स्त्रीलिंग होते हैं । रुत्वन्तः—'रु' प्रत्ययान्त और 'तुन्' प्रत्ययान्त शब्द
पुंलिंग होते हैं । दारुकशेरु—दारु (लकड़ी), कशेरु (कसेरु), जतु (लाह), वस्तु
(चीज—सामान) और मस्तु (दही का पानी या दही की मलाई) शब्द नपुंसक लिंग
होते हैं । सक्तुर्नपुं—सक्तु (सतुआ) शब्द नपुंसक और पुंलिंग भी होता है ।

कोपधः—अकारान्त कोपध शब्द पुंलिंग होते हैं । चिबुका—अकारान्त चिबुकादि
शब्द नपुंसक लिंग होते हैं । टोपधः—अकारान्त टोपध शब्द पुंलिंग होते हैं ।

किरीटा—अकारान्त टोपध किरीटादि शब्द पुंलिंग और नपुंसक दोनों लिंग होते हैं ।

नोटः—किरीटादिसे—किरीट, मुकुट (ताज), कुट (दुर्ग किला) ललाट, वट (वृक्ष),
विट (कामी, धूर्त), शृङ्गाट (चौराहा), कराट, लोष्ठ (ढेला), कूट (पर्वत की
चोटी, मुद्गर, नगर द्वार) आदि, कपट (बचना), कवाट (किवाड़), कर्पट (रूमाल,
फटा कपड़ा), नट, निकट (समीप), कीट (कीड़ा), और कट (चटाई) हैं ।

णोपध—अकारान्त णोपध शब्द पुंलिंग होते हैं । ऋणादीनि—अकारान्त णोपध
ऋणादि—ऋण (कर्ज), लघण (नमक), पर्ण (पत्ता), तोरण (मेहराब—सजावट)
और उष्ण शब्द न० होते हैं । कार्षापणा—कार्षापणादि—कार्षापण (चवन्नी),
स्वर्ण, सुवर्ण (सोना), व्रण (फोड़ा—फुंसी), चरण (पैर), वृषण (अंडकोश),
विषाण (सींग), चूर्ण और तृण शब्द नपुंसक और पुंलिंग भी होते हैं ।

थोपधः—अकारान्त थोपध शब्द पुंलिंग होते हैं ।

नोटः—थोपध शब्दोंमें—काष्ठ (लकड़ी), पृष्ठ, सिक्थ और उक्थ शब्द नपुंसक
लिंग होते हैं तथा तीर्थ, प्रोथ, यूथ और गाथ शब्द पुंलिंग तथा न० दोनों होते हैं ।

नोपधः—अकारान्त नोपध शब्द पुं० होते हैं ।

जघनादीनि नपुंसके । २५। जघनम् ॥ पोपधः । २६। अदन्तः पुंसि । दीपः । सर्पः ॥ पापादीनि नपुंसके । २७। पापम् ॥ शूर्पकुतपकुणपद्वीपविटपानि नपुंसके च । २८। चात्पुंसि ॥ भोपधः । २९। कुम्भः । सरभः ॥ तलभं नपुंसकम् । ३०। जृम्भं नपुंसके च । ३१। मोपधः । ३२। सोमः । भीमः ॥ रुक्मादीनि नपुंसके । ३३। इदं रुक्ममित्यादि ॥ संग्रामादीनि नपुंसके च । ३४। चात्पुंसि । संग्रामः । संग्रामम् ॥ योपधः । ३५। हयः । समयः ॥ किसलयादीनि नपुंसके । ३६। गोमयादीनि नपुंसके च । ३७। रोपधः । ३८। क्षुरः । खुरः ।

जघना—नोपध शब्दों में जघनादि—जघन, अजिन (चर्म) तुहिन (तुपार-पाला), कानन, वन, वृजिन (क्लेश, पाप), त्रिपिन (वन), वेतन (तनखाह), शासन, सोपान (सीढ़ी), मिथुन, श्मशान, रत्न, निम्न (नीचे) और चिह्न शब्द न० होते हैं ।

नोटः—मान (संमान), यान (सवारी), अभिधान (नाम संज्ञा), नलिन (कमल), पुलिन (नदी-तट), उद्यान (फुलवारी, यगीचा-मैदान), शयन, अशन (भाजन), स्थान, चन्दन, आलान (हाथी बांधने का खूंट), समान, भवन, वसन (वस्त्र), समावन (सत्कार), विभावन (विचार) और त्रिमान शब्द पुं० न० उभयलिंग होते हैं ।

पोपधः—अदन्त पकारोपध शब्द पुं० होते हैं ।

पापादीनि—पापादि—पाप, रूप, उडुप (छोटो नाव, डोंगी), तल्प (शय्या), शिल्प, पुष्प, शष्प (कोमल घास) समीप और अन्तरीप (टापू) शब्द नपुंसक लिङ्ग होते हैं ।

शूर्प—शूर्प (सूप), कुतप (आद्धवेला), कुणप (सुरदा, वदबूझार), द्वीप और विटप (वन) शब्द पुं० न० उभयलिङ्ग होते हैं । भोपधः—अदन्त भकारोपध शब्द पुं० होते हैं ।

तलभं—नलभ शब्द न० है । जृम्भं—जृम्भ (जभाई) शब्द पुं० न० उभयलिङ्ग होते हैं ।

मोपधः—मकारोपध शब्द पुं० होते हैं । रुक्मा—रुक्मादि—रुक्म (सुवर्ण), सिध्म (मुहांसा-रोग), युध्म, र्ध्म (जलाने वाली लकड़ी), गुल्म (सेनाविशेष, झाड़ी, रोग), अध्यात्म और कुंकुम शब्द न० होते हैं । संग्रामादि—संग्रामादि—संग्राम, दाडिम (अनार), कुसुम, आश्रम, क्षेम (कल्याण), श्रौम (रेशमी) होम और उद्दाम (उद्धण्ड) शब्द पुं० न० उभयलिंग होते हैं ।

योपधः—योपध शब्द पुं० होते हैं ।

किसलया—किसलय (नव पल्लव), हृदय, इन्द्रिय और उत्तरीय (द्वि० वस्त्र) शब्द नपुंसकलिङ्ग होते हैं । गोमया—गोमय (गोबर), कपाय, मलय (चन्दन, पर्वत), अन्वय (वंश), और अव्यय (विकार रहित) शब्द पुं० न० उभयलिंग होते हैं ।

अङ्कुरः ॥ द्वारादीनि नपुंसके ॥ १३९ ॥ इदं द्वारम् ॥ शुक्रमदेवतायाम् ॥ १४० ॥
 देवतायां तु शुक्रः ॥ षोपधः ॥ १४१ ॥ वृषः । वृक्षः ॥ शिरीषादीनि नपुंसके ॥ १४२ ॥
 इदं शिरीषम् ॥ सोपधः ॥ १४३ ॥ वायसः । महानसः ॥ पनसविसवुससाह-
 सानि नपुंसके ॥ १४४ ॥ चमसादीनि नपुंसके च ॥ १४५ ॥ चात्पुंसि ॥ कंसं
 चाप्राणिनि ॥ १४६ ॥ कंसः ॥ 'कंसोऽस्त्री पानभाजनम्' । प्राणिनि तु कंस औप्रसेतिः ॥

रोपधः—रकारोपध शब्द पुं० होते हैं । द्वारादीनि—द्वार, अग्र, स्फार (विकसित),
 तक (मठा), वक्र (टेढ़ा), वप्र (चाहार दिवारी), भ्रिप्र (जल्दी), धुद्र (नीच),
 नीर (पानी), तीर (किनारा), दूर, कुच्छ (कष्ट), रन्ध्र (छेद), अस्त्र (आंसू),
 श्वभ्र (गडढा), भीर (डरपोक), गभीर (गंभीर), क्रूर (कठोर), विचित्र (अजाब),
 केयूर (बाजबृन्द, विजायठ), केशर (खेत, कियारी), उदर (पेट), अजल,
 शरीर, कन्दर (गुफा), मन्दार (देववृक्ष, मदार), पञ्जर (पिंजरा), अजर (अवि-
 नश्वर), जठर (पेट), अजिर (आँगन), वैर (विरोध), चामर, पुष्कर (कमल),
 गङ्गर-कुहर (गुफा), कुटीर (कुटिया), कुलीर (क्रेकड़ा), चत्वर (चौक), काश्मीर
 (कुंकुम, देशविशेष), (रस), नीर अम्बर (आकाश, वस्त्र), शिशिर (ठंडा),
 तन्त्र (सिद्धान्त), यन्त्र (मशीन), क्षत्र (चन्निय), क्षेत्र (स्थान, खेत), मित्र,
 कलत्र (स्त्री), चित्र, मूत्र, सूत्र, वक्त्र (मुँह), नेत्र, गोत्र, अङ्गुलित्र (दस्ताना), मल्लत्र,
 शस्त्र, शास्त्र, वस्त्र, पत्र, पात्र और छत्र आदि शब्द नपुंसक लिंग होते हैं ।

नोटः—चक्र, वज्र, अन्धकार, सार, अवार, पार, क्षीर, तोमर (लोहे का दंडा),
 शृङ्गार (झारी), मन्दार, उशीर (खश), तिमिर (अन्धकार) और शिशिर आदि
 रोपध शब्द पुं० न० उभयलिंग होते हैं ।

शुक्रम—देवतासे भिन्न (वीर्य, अग्नि, जेठका महीना आदि) अर्थमें शुक्र शब्द न० है ।

षोपधः—षकारोपध शब्द पुं० होते हैं । शिरीषादीनि—शिरीष (वृक्ष विशेष),
 ऋजीष (तावा), अम्बरीष (भंसार, कंसार), पीयूष (अमृत), पुरीष (विष्टा),
 और किल्विष-कल्मष (पाप), आदि शब्द न० होते हैं ।

नोटः—यूष (वध, मारना), करीष (सूखा गोबर, कंडा, गोइठा), मिष (छल)
 विष और वर्ष आदि षकारोपध शब्द पुं० न० उभयलिंग होते हैं ।

सोपधः—सकारोपध शब्द पुंलिंग होते हैं । पनस—पनस (कटहल), त्रिम (कमल-
 नाल), बुम (भूजा) और साहस शब्द नपुंसक लिंग होते हैं । चमसादीनि—चमस
 (यज्ञपात्र, चमचा), अंस (कंधा), रत्न, नियांस (गोंद, लट्ठा), उपवास, कार्पास,
 वास, मास, कास (खांसी), कांस और मांस आदि सकारोपध शब्द पुं० न० उभय
 लिंग होते हैं । कंस—प्राणीसे भिन्न अर्थमें कंस शब्द भी पुं० और न० लिंग होता है ।

रश्मिदिवाभिधानानि । ४७। अत इति निवृत्तम् ॥ दीधितिः स्त्रियाम् । ४८।
दिनाहनी नपुंसके । ४९। दिनम् । अहः ॥ मानाभिधानानि । ५०। कुब्जः ॥
द्रोणाढकौ नपुंसके च । ५१। चातुंसि ॥ खारीमानिके स्त्रियाम् । ५२। इयं
खारी ॥ दाराक्षतलाजासूनां बहुत्वं च । ५३। इमे दाराः ॥ मरुद्वरुत्तरद-
त्तिवजः । ५४। अयं मरुत् ॥ ध्वजगजमुञ्जपुञ्जाः । ५५। एते पुंसि ॥ वंशांशपुरो-
डाशाः । ५६। अयं वंशः । हृदकन्दकुन्दबुदबुदशब्दाः । ५७। अयं हृदः ॥ अर्ध-
पथिमथ्यभुक्षिस्तम्बनितम्बपूगाः । ५८। अयमर्धः ॥ सारथ्यतिथिकुक्षिबस्ति-
पाण्यञ्जलयः । ५९। पल्लवपल्लवल्कफरेफकटाहनिर्व्यूहमठमणितरङ्गतुर-
ङ्गगन्धस्कन्धमृदङ्गसङ्गसमुद्रपुङ्खाः । ६०। अयं पल्लव इत्यादि ॥ ऋषि-
राशिद्वितिग्रन्थिकृमिध्वनिवलिकौलिमौलिरविकविकपिमुनयः । ६१।

दिनाहनी । दिवसाभिधानाविमौ । खारीमानिके । मानाभिधानत्वात्पुंस्त्वे प्राप्तेऽस्यार-
म्भः । बहुत्वच्चेति । चकारः पुंस्वस्य समुच्चायकः ।

रश्मि—रश्मि (किरण, मयूख) और दिवस (दिन, घस) वाची शब्द पुं०
होते हैं । दीधितिः—दीधिति (किरण) शब्द स्त्रीलिङ्ग होता है । दिनाह—दिन और
अहन् शब्द न० होते हैं । मानाभि—मान (नाप-तौल) वाची शब्द पुं० होते हैं ।

द्रोणाढकौ—द्रोण (पसेरी), और आढक (अद्वैया) शब्द पुं० न० उभयलिङ्ग
हैं । खारी—खारी (२० सेर मानवाचक) शब्द स्त्री० होता है । दारा—दारा, अक्षत,
लाज (लावा) और असु (प्राण) शब्द नित्य बहुवचनान्त पुं० होते हैं । मरुत्—
मरुत् (वायु), गरुत् (पंख), तरद और ऋत्विक् (पुरोहित) शब्द पुं० होते हैं ।

ध्वजगज—ध्वज, गज, मुंज और पुंज (ढेर) शब्द पुं० होते हैं । वंशांश—वश, अंश
(हिस्सा) और पुरोडाश (हविस्) शब्द पुं० होते हैं । हृदकन्द—हृद (बड़ा तालाव)
कन्द—कुन्द (फूल विशेष) और बुदबुद (पानी का बुलबुला) शब्द पुं० होते हैं ।

अर्धपथि—अर्ध, पथिन्, मथिन् (मथनी) ऋभुक्षिन् (इन्द्र) स्तम्ब (खंवा),
नितम्ब (चूतड़), और पूग (सुपारी) शब्द पुलिङ्ग होते हैं । सारथि—सारथि (सूत),
अतिथि (कुक्षि (पेट), बस्ति (मूत्र), पाणि और अञ्जलि शब्द पुं० हैं । पल्लव—पल्लव,
पल्लव (छोटा तालाव) कफ, रेफ (रकार, कृपण, कुत्सित), शेफ (लिङ्ग), कटाह
(कड़ाही, भैंसका बच्चा), निर्व्यूह (खंटी), मठ, मणि, तरङ्ग, तुरङ्ग (घोड़ा), गन्ध,
स्कन्ध, मृदङ्ग, सङ्ग, समुद्र और पुंख (वाणका मूल भाग) शब्द पुं० होते हैं ।

ऋषिराशि—ऋषि, राशि (ढेर), द्विति (मशक), ग्रन्थि, कृमि (कीड़ा), ध्वनि,
वलि, कौलि, मौलि (मस्तक), रवि (सूर्य) कवि, कपि (बन्दर) और मुनि शब्द

एते पुंसि स्युः । अयमृषिः ॥ हस्तकुन्तान्तवातवातदूतधूर्तसूतचूतमुहूर्ताः
॥६२॥ एते पुंसि । अयं हस्त इत्यादि । इति पुंलिङ्गाधिकारः ॥

अथ नपुंसकलिङ्गाधिकारः

नपुंसकम् । अयमधिकारः ॥ भावे ल्युङन्तः । १। ज्ञानम् । हसनम् । भावे
किम् ? पचनः ॥ निष्ठा च । २। भावे या निष्ठा तदन्तं क्लीवं स्यात् । गीतम् ॥ त्व-
ष्यञौ तद्धितौ । ३। शुक्लत्वम्, शौक्ल्यम् । पित्वसामर्थ्यात्पक्षे स्त्रीत्वम् ।
चातुर्यम्, चातुरी ॥ कर्मणि च ब्राह्मणादिगुणवचनेभ्यः । ४। ब्राह्मण्यम् ॥
यद्यद्वयगञ्जण्वुञ्छाश्च भावकर्मणि । ५। एतदन्तानि क्लीवानि । स्तेयम् ।
सख्यम् । (कपिज्ञात्योर्दक्) कापेयम् । सैनापत्यम् । औष्ट्रम् । द्वैहायनम् । पितापुत्रकम् ।

भावेऽल्युङन्त इति । इदं च सूत्रं यद्यपि 'नपुंसके भावे क्तः' 'ल्युट् च' इत्यनेन गता-
र्थं, तथापि स्पष्टार्थमुपात्तम् । एवमन्तग्रहणं चेति बोध्यम् । निष्ठा च । अत्र
निष्ठापदं क्तस्य बोधकम् । इदमपि सूत्रं 'नपुंसके भावे क्तः' इत्यनेन गतार्थम्,
'प्रत्ययग्रहणे तदन्तस्य ग्रहणम्' । त्वष्यञौ तद्धितौ । 'भावे' इत्यनुवर्तते । यद्यपि
'तस्य भावः' इति सूत्रे भावशब्दः 'प्रकृतिजन्यबोधीयप्रकारताश्रयधर्मपरः' । 'भावे
ल्युङन्तः' इत्यत्र तु भावशब्दो भावनाबोधक इति भेदस्तथापि इह भावशब्दः
शब्दाधिकारेण अन्यार्थको द्रष्टव्यः । कर्मणि च : चान्नावे । त्वष्यञादित्याद्यनुवर्तते ।

पुं० होते हैं । हस्त—हस्त, कुन्त (वरछा), अन्त, वात (समूह), दूत, धूर्त, सूत
(सारथी, सूर्य), चूत (आमका वृक्ष, योनि) और मुहूर्त (३ घंटा) शब्द पुं० होते हैं ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें पुंलिङ्गाधिकार समाप्त हुआ ।



नपुंसकम्—यह अधिकार सूत्र है । भावे ल्युङन्तः—भावमें विहित ल्युट् प्रत्ययान्त
शब्द नपुंसक लिङ्ग होते हैं । निष्ठा च—भावमें विहित निष्ठा (क्त, क्तवत्) प्रत्ययान्त शब्द
भी न० होते हैं । त्वष्यञौ—भावमें विहित 'त्व' प्रत्ययान्त और 'ष्यञ्' प्रत्ययान्त तद्धित
शब्द न० होते हैं (ष्यञ् प्रत्ययान्त शब्द पित्वसामर्थ्यात् पक्षमें स्त्री० भी होंगे) ।

कर्मणि च—कर्म तथा चकारात् भावमें भी विहित त्व और ष्यञादि प्रत्ययान्त ब्राह्म-
णादि गुणवचन शब्द न० होते हैं । यद्यद्वयम्—भाव-कर्ममें विहित यत्, य, दक्, यक्,
अञ्, अण्, वुञ् और छ प्रत्ययान्त शब्द न० होते हैं ।

नोटः—'यत्' आदि प्रत्यय विधायक सूत्र इस प्रकार हैं—१. 'स्तेनाद्यत्रलोपश्च'
(स्तेयम्) । २. 'सख्युर्यः' (सख्यम्) । ३. 'कपिज्ञात्योर्दक्' (कापेयम्) । ५. 'पय-

अच्छावाकीयम् ॥ अव्ययीभावः । ६ । अधिहरि ॥ द्वन्द्वैकत्वम् । ७ । पाणि-
पादम् ॥ अनल्पे छाया । ८ । शरच्छायम् ॥ इसुसन्तः । ९ । हविः । सर्पिः । धनुः ॥
अर्चिः स्त्रियां च । १० । इदमियं वार्चिः ॥ छदिः स्त्रियामेव । ११ । इयं छदिः ॥
मुखनयनलोहवनमांसरुधिरकार्मुकविवरजलहलधनान्नाभिधानानि । १२ ।
एषामभिधायकानि क्लीवे स्युः । मुखम् । आननम्, इत्यादि ॥ सीरार्थैर्दनाः पुंसि

इसुसन्तः । 'अर्चिशुचिहुसपिच्छर्दिभ्य इति' 'जनेरुसि' एतयोरुपात्तावेतौ । छदिः
स्त्रियामेवेति यद्यपि छदिरित्यस्येसन्तत्वेन नपुंसकत्वे प्राप्ते विशेषोपादानेन स्त्रिया-
मित्यनेनैव नित्यस्त्रीत्वलाभे सिद्धे एवकारो व्यर्थः, तथापि 'पटलं छदिः' इत्यमरग्रन्थ-
दर्शनेन साहचर्यान्नपुंसकत्वमिति भ्रान्तिः स्यात्तन्निवारणायैवकारः । सीरार्थैर्दनाः

न्तपुगेहितादिभ्यो यक्' (सैनापत्यम्) । ५. 'प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्वात्रादिभ्योऽञ्'
(औद्गम्) । ६. 'हायनान्तयुवादिभ्योऽण्' (द्वैहायनम्) । ७. 'द्वन्द्वमन्तोद्वादिभ्यो जुञ्'
(पितापुत्रकम्) । ८. 'होत्राभ्यश्छः' (अच्छावाकीयम्) ।

अव्ययी—अव्ययीभाव समास निष्पन्न शब्द न० होते हैं । द्वन्द्वैकत्वम्—'द्वन्द्वश्च
प्राणितूयसेनाङ्गानाम्' इस सूत्रसे द्वन्द्व समासमें जिनको एकवद्भाव होता है, वे द्वन्द्व समास
न० होते हैं । अनल्पे—बहुत अर्थमें छाया शब्द न० लिंग होता है ।

इसुसन्तः—इसन्त और उसन्त शब्द न० होते हैं । अर्चिः—इसन्तमें 'अर्चिस्' शब्द
स्त्री० न० उभय लिंग होता है ।

छदिः स्त्रियामेव—इसन्तमें 'छदिस्' शब्द नित्य स्त्री० ही होता है ।

नोटः—सूत्रमें एवकार इसलिये दिया गया है कि 'पटलं छदिः' इस अमरकोशमें पटल
शब्द साहचर्यात् किसी भी हालतमें (वैकल्पिकरूपसे भी) 'छदिस्' को न० समझा जाय ।

मुखनयन—मुख, नयन, लोह, वन, मांस, रुधिर, कार्मुक, विवर, जल, हल, धन
और अन्न शब्द तथा इन द्वादश शब्दोंके पर्यायवाची शब्द न० होते हैं ।

नोटः—उपयुक्त वारहों शब्दोंके पर्यायवाची शब्द इस प्रकार हैं । १. मुख—आनन,
लपन, आस्य, वक्त्र । २. नयन—लोचन, अक्षिन्, नेत्र, चक्षुस् । ३. लोह—कालायस्,
अश्मसार । ४. वन—विपिन, अरण्य, कान्तार । ५. मांस—पिशित, तरस । ६. रुधिर—
रक्त, शोणित । ७. कार्मुक—शरासन, कोदण्ड, धनुष् । ८. विवर—छिद्र, रन्ध्र, श्वभ्र,
निर्व्ययन, रोक, विल । ९. जल—उदक, तोय, नीर, पानीय, सलिल, सरिल, सलिर,
कमल, आपस्, वार, वारि, पयस् कीलाल, अमृत, जीवन, भुवन, वन, कवन्ध, पाथस्,
पुष्कर, सर्वनोमुख, अम्भस्, अर्णस्, क्षोर, अम्बु, शंवर, मेघपुष्प । १०. हल—लांगल,
गोदारण । ११. धन—द्रव्य, वित्त, स्वापतेय, रिक्थ, ऋक्थ, वसु, हिरण्य, द्रविण, धुम्न ।
और १२ अन्न (साधारणतया भोजन)—अशन ।

सीरार्थै—हलपर्यायवाचा 'सार' शब्द, धनपर्यायवाची 'अर्थ' शब्द और अन्नवाची

॥१३॥ वक्त्रनेत्रारण्यगाण्डीवानि पुंसि च ॥१४॥ चात् क्लीबे ॥ अटवी स्त्रियाम् ॥१५॥ पूर्वस्ये त्रिसूत्री बाधिका ॥ लोपधः ॥१६॥ कुशलम् ॥ शीलादीनि पुंसि च ॥१७॥ चात् क्लीबे ॥ शीलम् ॥ शतादिः संख्या ॥१८॥ शतम् ॥ सहस्रम् ॥ शतायुतप्रयुताः पुंसि च ॥१९॥ लक्षा कोटिः स्त्रियाम् ॥२०॥ इयं लक्षा ॥ सहस्रः पुंसि ॥२१॥ मन् द्वयच्कोऽकर्तरि ॥२२॥ मन्प्रत्ययान्तो द्वयच्कः पुंसि स्यात्

पुंसि । सीरशब्दो हलाभिधानः । अर्थशब्दस्तु धनशब्दस्य पर्यायः । ओदनशब्दोऽन्नवाची । 'मिस्साभिस्सटाशब्दौ तु दग्धान्नपराविति तयोः स्त्रीत्वेऽपि न क्षतिरिति । अटवी स्त्रियामिति । अयं वनाभिधानः । संख्येति संख्यावाचीत्यर्थः । लक्षाकोटिरिति ।

'ओदन' शब्द पुं० होते हैं । वक्त्रनेत्र—मुखपर्यायवाची वक्त्र शब्द, नयनवाची नेत्र, शब्द, वनवाची अरण्य शब्द और कामुकवाची गाण्डीव शब्द पुं० न० उभय लिङ्ग होते हैं ।

अटवी—वनपर्यायवाची अटवी शब्द स्त्री० होता है ।

लोपधः—लकारोपध अकारान्त शब्द न० होते हैं ।

नोटः—लकारोपधमें तूल (रूई), उपल (पत्थर चट्टान), ताल (संगीतकी क्रियाविशेष, ताली बजाना, ताल वृत्त, हथेली, ताला, तलवारकी मूठ आदि), कुसूल खंती, अन्नका भंडार गृह), तरल (हारके बीचकी मुख्य मणि, हार, समतल, गहराई, हीरा, लोहा), कम्बल, देवल (मन्दिरका पुजारी—जो देवताके चढ़ावनपर ही अपना निर्वाह करता है ।) और वृषल (शूद्र, घोड़ा, गाजर, सलगम, पापी, पतित, दुष्टात्मा) शब्द नित्य पुं० होते हैं ।

शीलादीनि—लोपधमे शीलादि पुं० न० उभय लिंग होते हैं ।

नोटः—शीलादि—शील (स्वभाव, सदाचार), मूल (जड़, आरम्भ, उत्पत्ति स्थान), मङ्गल (शुभ, कुशल, आरंभ), साल (वृत्तविशेष, छाहरदीवारी), कमल, तल, (सतह, हथेली, तलवा, बांह, थप्पड़, नीचता), मुसल (धान आदि कूटनेका दंडा, गदाका भेद), कुण्डल, पलल (मांस), मृगाल (कमलके डंठल), बाल (केश), बाल (छोटा बच्चा, बालक, केश) निगल (निगलना, खा डालना, घोड़ेकी गर्दन), पलाल (पुआल, भूसी, आमका वृत्त), बिडाल (मार्जार, आखुमुक्क-विलार), खिल (पत्ती जमीन) और शूल (त्रिशूल, चूमनेवाला हथियार, रोगविशेष) ।

शतादि—शत आदि संख्या वाचक शब्द न० होते हैं ।

शतायुत—शत (अनन्तवाची), और अयुत (१० हजार वाची) शब्द पुं० न० उभय लिंग होते हैं ।

लक्षाकोटिः—लक्ष (लाख) और कोटि शब्द स्त्री० होते हैं । सहस्रः—सहस्र शब्द पुं० होता है (क्वचित् न० भी देखा जाता है) मन्द्वयच्कौ—'सर्वधातुभ्यो मनिन्' इस सूत्रसे कर्तासे मित्रमें विहित मनिन् प्रत्ययान्त द्व्यच्क शब्द नपुंसकलिंग होते हैं ।

चात् क्लीवे, न तु कर्तरि । वर्मा, वर्म । अर्कर्तरि किम् ? ददातीति दामा ॥ ब्रह्म-
न्पुंसि च । २३। अयं ब्रह्मा । इदं ब्रह्म ॥ सामरोमणी क्लीवे । २४। पूर्वस्या-
पवादः ॥ असन्तो द्व्यच्कः । २५। यशः । मनः । तपः । अप्सराः स्त्रियाम्
। २६। एता अप्सरसः ॥ व्रजन्तः । २७। पत्रम् । छत्रम् ॥ यात्रामात्राभस्त्राद-
ष्टावरत्राः स्त्रियामेव । २८। इति नपुंसकाधिकारः ॥

अथ स्त्रीपुंसाधिकारः

स्त्रीपुंसयोः । १। अयमधिकारः ॥ गोमणियष्टिमुष्टिपाटलिवस्तिशाल्म-
लित्रटिमसिमरीचयः । २। इयमयं वा गौः ॥ अपत्यार्थतद्धिते । ३। औप-
गवः, औपगवी । इति स्त्रीपुंसाधिकारः ॥

एतयोरपि संख्यावाचकत्वाच्चपुंसकत्वे प्राप्ते इदम् । व्रजन्तः । व्रजप्रत्ययान्तो नपुंसकः
स्यात् । 'सर्वधातुभ्यष्टन्' इति व्रजप्रत्ययो नकारानुबन्धक इति । यात्रामात्रा ।
'हुयामा' इति विहितस्त्रजप्रत्ययोऽपि व्रजग्रहणेन गृह्यत इति नपुंसकत्वे प्राप्तेऽस्यारम्भः ।
एवकारो न्यायसिद्धबाध्यवाधकभावानुवादकः । इति नपुंसकाधिकारः ।

ग्रहन् - 'वृहेर्नोच्च' इति सूत्रे विहित मनिन् प्रत्ययान्त ग्रहन् शब्द पुं० न० उभय
लिंग होते हैं । सामरोमणि—नामन् और रोमन् शब्द न० होते हैं । असन्तो—असन्त
(अमुन् प्रत्ययान्त) द्वच शब्द न० होते हैं । अप्सरा—असन्त अप्सरस शब्द स्त्री० होता है ।

व्रजन्त—'सर्वधातुभ्यष्टन्' इति सूत्रविहित 'व्रन्' प्रत्ययान्त शब्द न० होते हैं ।

यात्रा—'व्रन्' प्रत्ययान्तोर्मे यात्रा, मात्रा, भस्त्रा, दंष्ट्रा और वस्त्रा शब्द स्त्री० होते हैं ।

नोटः—'व्रन्' प्रत्ययान्त—मृत्र, अमित्र, छात्र, पुत्र, मन्त्र, वृत्र मेढ्, और उष्ट्र शब्द
पुं० समझना चाहिये ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें नपुंसकाधिकार समाप्त हुआ ।

स्त्रीपुंसयोः—यह अधिकार सूत्र है । गोमणि—गो, मणि, यष्टि (लाठी, छड़ी), मुष्टि,
पाटलि (पाकड़ि वृक्षविशेष), वस्ति (मूत्राशय), शाल्मलि (सेमरवृक्ष), वुटि,
मसि (स्याही), और मरीचि (किरण), शब्द स्त्रीलिंग और पुंल्लिङ्ग दोनों होते हैं ।

नोटः—मृत्तु, सीधु (गुड़से बनी हुई शराब), कर्कन्धु (वैर—फल), किष्कु (हाथ
भर, वित्ताभर—प्रमाणविशेष), कण्डु (खाज या खुजलाहट) और रेणु (धूल) शब्द
पुं० स्त्री० उभय लिंग होते हैं ।

अपत्यार्थः—अपत्यार्थ तद्धित प्रत्ययान्त शब्द पुं० स्त्री० दोनों होते हैं ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें स्त्रीपुंसाधिकार प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ पुत्रपुंसकाधिकारः

पुत्रपुंसकयोः। अधिकारोऽयम् ॥ घृतभूतमुस्तक्ष्वेलितैरावतपुस्तकवु-
स्तलोहिताः। १। अयं घृतः। इदं घृतम् ॥ कबन्धौषधायुधान्ताः। २। स्पष्टम् ॥
दण्डमण्डखण्डशवसैन्यवपार्श्वाकाशकुशकाशाङ्कुशकुलिशाः। ३। दण्डः,
दण्डम् ॥ इति पुत्रपुंसकाधिकारः ॥



अवशिष्टलिङ्गम्। १। अव्ययं कतियुष्मदस्मदः। २। णान्ता संख्या ॥

अविशिष्टलिङ्गम्। तत्तल्लिङ्गवाचकताप्रयुक्तकार्यविशेषशून्यम्। परवदिति। विशेष्य-

पुत्रपुंसकयोः—यह अधिकार सूत्र है। घृतभूत—घृत, भूत (प्रेत-देवयोनि, प्राणी),
मुस्त (मोथा-घास), क्ष्वेलित (वीरोंका सिंहके समान गर्जना), ऐरावत (इन्द्रका
हाथी), पुस्तक, वुस्त (मांसकी पृथ्वी, कलिया, भूना हुआ मांस) और लोहित (लाल,
मृगविशेष), शब्द पुं० न० उभय लिंग होते हैं।

नोटः—शृङ्ग, अध (पाप), निदाघ (गृष्म ऋतु), उद्यम, शल्य (घाणके नोक)
और दृढ़ (मजबूत स्थिर) वज्र, कुञ्ज, कुथ (गलीचा, कालीन, हाथीका झल),
कूर्च (गट्ठर, मुट्ठीभर कुश, मोरपंख, दाढ़ी), प्रस्थ (पहाड़के ऊपरके समतल मैदान)
दर्प (गर्व), अन्न (भेष), अर्ध, दम् और पुच्छ शब्द पुं० न० उभय लिंग होते हैं।

कबन्ध—कबन्ध (धड़), औषध, और आयु धान्त शब्द पुं० न० उभय लिंग होते हैं।

दण्डमण्ड—दण्ड (दंडा, सजा), मण्ड (सांड), खण्ड (टुकड़ा), शव (मृतक),
सैन्य (लवण), पार्श्व (बगल), काश, अङ्कुश (हाथी हांकने वाला हथियार कांटा)
और कुलिश (वज्र) शब्द पुं० न० उभय लिंग होते हैं।

नोटः—गृह, मेह (प्रमेह, भगन्दर), देह, पट्ट (पट्टी, पीढ़ा, लिखनेकी पटिया,
चौराहा), पटह (ढोल, मृदंग, नगाड़ा, डंका, डिंडोरा पीटनेवाला, बध करनेवाला),
अष्टापद (सुवर्ण), अम्बुद (मेघ) और ककुद (प्राधान, राज-चिह्न, बल, सांडके
डील, पहाड़की चोटी) शब्द पुं० न० उभय लिंग होते हैं।

इसप्रकार 'श्रुतमती' टीकामें पुत्रपुंसकाधिकार प्रकरण समाप्त हुआ।

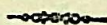


अवशिष्ट—'तत्तल्लिङ्गवाचकताप्रयुक्तकार्यविशेषशून्य' का नाम है 'अवशिष्टलिङ्ग' और
वह है—'अव्यय' (न व्येति—विकारं न प्राप्नोति, इत्यव्ययम्) १४० पृ० देखो।

कतियुष्मद्—कति, युष्मद् और अस्मद् शब्द तीनों लिंगोंमें समान होते हैं।

शिष्टा परवत् । ३। एकः पुरुषः । एका स्त्री । एकं कुलम् ॥ गुणवचनम् । ४।
शुक्लः पटः । शुक्ला पटी । शुक्लं वस्त्रम् ॥ कृत्याश्च । ५। करणाधिकरण-
योर्ल्युट् च । ६। सर्वादीनि सर्वनामानि । ७। स्पष्टार्थेयं त्रिसूत्री ।

इति श्रीवरदराजदीक्षितविरचितपाणिनीयलिङ्गानुशासनसारभूता
लिङ्गानुशासनसूत्रवृत्तिः समाप्ता ॥



चदित्यर्थः । गुणवचनं च । परवदित्यनुवर्तते । कृत्याश्च । कृत्यप्रत्ययान्ताः परवद्बोध्याः ।
सर्वादीनि सर्वनामानि । सर्वनामसंज्ञकानि सर्वादीनि परवद्बोध्यानि । स्पष्टार्थेति ।
लोकव्युत्पत्त्यैव तत्तल्लिङ्गाभिधानसिद्धत्वात् । अतएव 'लिङ्गमसिष्यं लोकाश्च यत्वा-
ल्लिङ्गस्य' इति भगवता भाष्यकृतोक्तम् । तेन यौगिकेषु शब्देषु लोकव्युत्पत्तिरेव
लिङ्गाभिधाने प्रमाणमिति सिद्धम् ।

इति श्रीकौण्डिन्यकुलावतंसजोशीत्युपाह्वदामोदरात्मजपण्डितसदाशिव-
शास्त्रिसंकलितलिङ्गानुशासनविवरणं समाप्तम् ।



णान्ता—पान्त, नान्त संख्यावाचक शब्दोंका लिङ्ग परवत् (विशेष्यवत्) होता है ।
गुणवचनं—गुणवाचक शब्दोंका लिङ्ग भी विशेष्यवत् होता है । कृत्याश्च—कृत्यप्रत्य-
यान्त शब्दोंका लिङ्ग परवत् होता है । करणाधि—करण और अधिकरणमें विहित ल्युट्
प्रत्ययान्त शब्दोंका लिङ्ग परवत् होता है ।

सर्वादीनि—सर्वनामसंज्ञक सर्वादि शब्दोंका लिङ्ग परवत् होता है ।

इस प्रकार पण्डित श्रीरामचन्द्रशा व्याकरणाचार्य कृत 'इन्दुमती' टीकामें
वरदराजविरचित लिङ्गानुशासनप्रकरण समाप्त हुआ ।



श्रीजानकीचरणकज्जमरन्दभृङ्गः श्रीरामचन्द्रसुकृती जनतोपकृत्यै ।
टीकां विधाय वचसा सरलातिरम्यां स्वर्गश्रिताश्च मनसेन्दुमतीं मुमोद ॥



समाप्तश्चायं ग्रन्थः



मध्यकौमुदीस्थगणपाठः

तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च (पृ० ४८३) तिष्ठद्गु, आयतीगवन्, खलेयवम्, खलेबुसम्, लनयवम्, लयमानयवम्, पूतयवम्, पूयमानयवम्, सहृतयवम्, संहियमाणयवम्, संहृतबुसम्, संहियमाणबुसम्, समभूमि, समपदाति, सुपमम्, विपमम्, दुःपमम्, निःपमम्, अपसमम्, आयतीसमम्, पापसमम्, पुण्यसमम्, प्र.क्षम्, प्ररथम्, प्रभृगम्, प्रदक्षिणम्, संप्रति, असंप्रति, इच्प्रत्ययः, समासान्तः । इति तिष्ठद्गवादिः ।

उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे (पृ० ४९६) व्याघ्र, सिंह, ऋक्ष, ऋषभ, चन्दन, वृक, वृष, वराह, हस्तिन्, तरु, कुञ्जर, रुरु, पृषत्, पुण्डरीक, पलाश, कितव, इति व्याघ्रादिराकृतिगणः ।

मयूरव्यंसकादयश्च (पृ० ४९६) मयूरव्यंसक, छात्रव्यंसक, कम्बोजमुण्ड, यवन-मुण्ड । छन्दसि । हस्तेगृह्य, पादेगृह्य, लाङ्गूलेगृह्य, पुनर्दाय, (पहीडादयोऽन्यपदार्थे) एहोडम्, एहिपचम्, एहिवणिजा क्रिया, अपेहिवणिजा, प्रेहिवणिजा, एहिस्वागता, अपेहिस्वागता, एहिद्वितीया, अपेहिद्वितीया, प्रेहिद्वितीया, एहिकटा, अपेहिकटा, प्रेहिकटा, अपहरकरटा, प्रोहिकरटा, प्रोहकदर्मा, प्रेहिकदर्मा, विधमचूडा, उद्धमचूडा, आहरचेला, आहरवनिता, आहरवसना, कुन्तविचक्षणा, उद्धरोत्सजा, उद्धरावसजा, उद्धमविधमा, उत्पतनिपचा, उत्पतनिपात, उच्चावचम्, उच्चनीचम्, आचोपचम्, आचपराचम्, निश्चप्रचम्, अर्किचनः, रनात्वाकालकः, पीत्वास्थिरकः, भुक्त्वासुहितः, प्रोष्यपापीयान्, उत्पत्यपालका, निपत्यरोहिणी, निषण्णश्यामा, अपेहिप्रघसा, एहिविघसा, इहपश्चमी, इहद्वितीया, (जहिकर्मणा बहुलमाभीक्ष्ण्ये कर्तारं चाभिदधाति) जहिकोडः, जहिस्तम्बः, (आख्यातमाख्यातेन क्रियासातत्ये) अशनीतपिवता, पचतभृजता, खादतमोदता, खादतवमता, आहरनिवपा, आहरनिष्किरा, निम्बिलवणा, कुन्धिविचक्षणा, पचलवणा, पचप्रकूटा । आकृतिगणोऽयम् । तेन अकुतोभय, कान्दिशीक, आहोपुरुषिका, अहमहमिका, यदृच्छा, एहिरियाहिरा, उन्मृजविमृजा, द्रव्यान्तरम्, अवश्यकार्यम्, इत्यादि सिद्धम् ।

ऊर्यादिचिचिडाचश्च (पृ० ४९७) ऊरो, उररी, तन्थी, ताली, अताली, वताली, धूली, धूसी, शकला, शंसकला, ध्वंसकला, अंसकला, गुलुगुधा, सजूः, फल, फली, विकली, आकली, आलोछा, केवाली, केवासी, सेवाली, पर्याली, शेवाली, वर्षाली, अश्रूमशा, वशमशा, मत्ससा, मसमसा, वौषट्, वषट्, श्रौषट्, स्वाहा, स्वधा, पाम्पी, प्रादुस्, अत्, आविस्, इत्यूर्यादिः ।

साक्षात्प्रभृतीनि च (पृ० ५००) साक्षात्, मिथ्या, चिन्ता, भद्रा, रोचना, आस्था, अमा, अद्धा, प्राजया, प्राजरूहा, बीजर्या, बीजरूहा, संचर्या, अर्थे, लवणम्, उष्णम्, शीतम्, उदकम्, आर्द्रम्, अग्नौ, वशे, विकसने, विहसने, प्रतपने, प्रादुस्, नमस्, आकृतिगणोऽयम् ।

अर्धर्चाः पुंसि च (पृ० ५०८) अर्धर्चं, गोमय, कषाय, कार्षापण, कुतप, कुसप, कुणप, कपाट, शङ्ख, गूथ, यूथ, ध्वज, कवन्ध, पद्म, गृह, सरक, कंस, दिवस, यूप, अन्धकार, दण्ड, कमण्डलु, मण्ड, भूत, द्वीप, भूत, चक्र, धर्म, कर्म, मोदक, शतमान, यान, नख, नखर, चरण, पुच्छ, दाडिम, हिम, रजत, सक्तु, पिधान, सार, पात्र, घृत, सैन्धव, औषध, आढक, चपक, द्रोण, खलीन, पात्रीव, षष्टिक, वारवाण, प्रोष, कपित्थ, शुष्क, शाल, शील, शुक्ल, (शुष्क) शीघ्र, कवच, रेणु, ऋण, कपट, शीकर, मुसल, सुवर्ण, वर्ण, पूर्व, चमस, क्षीर, कर्प, आकाश, अष्टापद, मङ्गल, निधन, नित्यास, जृम्भ, वृत्त, पुस्त, वुस्त, द्वेडित, शृङ्ग, निगड, खलु, मधु, मूल, स्थूल, शराव, नाल, वप्र, विमान, मुख, प्रग्रीव, शूल, वज्र, कटक, कण्टक, कर्पट, शिखर, कल्क, वल्कल, नटमस्तक, नाटमस्तक, वलय, क्रुसुम, टुग, पङ्क, कुण्डल, किरीट, (कुमुद), अहुंद, अकुश, तिमिर, आश्रय, भूषण, इक्षुस, इक्ष्वास, मुकुल, वसन्त, तडाग, पिटक, विटङ्क, विडङ्क, पिण्याक, माष, कोश, फलक, दिन, दैवतु, पिनाक, समर, स्थाणु, अनीक, उपवास, शाक, कर्पास, विशाल, चपाल, खण्ड, दर, विटप, रण, कल, मृणाल, हस्त, आर्द्र, हल, सूत्र, ताण्डव, गाण्डीव, मण्डप, पटह, सौव, बोध, पाश्च, शरीर, देह, फल, छल, पुर, राष्ट्र, बिम्ब, अम्बर, कुट्टिम, मण्डल, कुक्कुट, कुडप, ककुद, खण्डल, तोमर, तोरण, मञ्जक, प्रञ्जक, पुङ्ख, बाल, छाल, वल्मीक, वर्ष, वस्त्र, वसु, देह, उद्यान, उद्योग, स्नेह, स्तेन, सङ्गम, निष्क, क्षेम, शूक, क्षत्र, छत्र, पवित्र, यौवन, कलह, पालक, वल्कल, कुञ्ज, विहार, लोहित, विषाण, भवन, अरण्य, पुलिन, हल, दृढ, आसन, घेरावत, शूर्प, तीर्थ, लोमश, तमाल, लोह, दण्डक, शपथ, प्रतिसर, दारु, धनुस्, मान, वचस्क, कूर्च, तण्डक, मठ, सहस्र, ओदन, प्रवाल, शकट, अपराह्ण, नीड, शकल, तण्डुल, मुस्तक । इत्यर्धर्चादिः ।
कुक्कुटयादीनामण्डादिषु । (पृ० ५१२) कुक्कुटी, मृगी, काकी । अण्ड, पद, शाव, भ्रुकुस, भृकुटी, इति कुक्कुटयादिरण्डादिश्च ।

पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः (पृ० ५१८) हस्तिन्, कुहाल, अश्व, कशिक, करुत, कटोलक, गण्डोल, कण्डोल, कण्डोलक, अज, कपोत, जाल, गण्ड, महेला, दासी, गणिका, कुसूल, इति हस्त्यादिः ।

उरःप्रभृतिभ्यः कप् (पृ० ५२२) उरस्, सर्पिस्, उपानद्, पुमान्, अनड्वान्, पयः, नौः, लक्ष्मीः, दधि, मधु, शाली, शालि, अर्थात्रजः । इत्युरःप्रभृतिभ्यः ।

वाहिताग्न्यादिषु (पृ० ५२४) आहिताग्निः, जातपुत्रः, जातदन्तः, जातश्मश्रुः, तैलपीतः, घृतपीतः, ऊढमायः, गताथः, आकृतिगणोऽयम् । तेन गडुकण्ठ, अस्थुचत, दण्डपाणि, इत्यादि ज्ञेयम् । इत्याहिताग्न्यादयः ।

राजदन्तादिषु परम् (५२५) राजदन्तः, अग्नेवणम्, लिप्तवासितम्, नम्रमुषितम्, सित्तसंघृष्टम्, मृष्टलुञ्जितम्, अवन्लिन्नपक्वम्, अर्पितोत्तम्, उत्तगाढम्, उल्लखलमुसलम् । तण्डुलकिण्वम्, दृषदुपलम्, आरड्वायनि (नी), आरग्वायनबन्धकी, चित्ररथवाहीकम्, .

अवन्त्यश्मकम्, शूद्रायम्, स्नातकराजानौ, विश्वक्सेनार्जुनौ, अक्षिभुवम्, दारगवम् ।
(धर्मादिषूभयम्) अर्थधर्मौ, धर्मार्थौ, अर्थशब्दौ, शब्दार्थौ, अर्थकामौ, कामार्थौ, वैकारि-
मतम्, गाजवाजम्, गोजवाजम्, गोपालधानीपुलासम्, पुलासककरण्डम्, स्थूलपुलासम्,
स्थलपुलासम्, उशीरबीजम्, सिञ्जास्थम्, चित्रास्वाती, भार्यापती, दम्पती, जन्पती,
जायापती, पुत्रपती, पुत्रपशु, केशश्मश्रु, शिरोबीजम्, शिरोजानु, सर्पिमंथुनी, मधुसर्पिणी,
आद्यन्तौ, अन्तादी, गुणवृद्धी, वृद्धिगुणौ । आकृतिगणोऽयं राजदन्तादिः ।

गवाप्रभृतीनि च (पृ० ५२७) गवाश्वम्, गवाविकम्, गवैडकम्, अजाविकम्,
अजैडकम्, कुञ्जवामनम्, कुञ्जकिरातम्, पुत्रपौत्रम्, श्वचण्डालम्, स्त्रीकुमारम्, दासीमा-
गवकम्, शाटीपटीकम्, शाटीप्रच्छदम्, शाटीपट्टिकम्, उष्ट्रखरम्, उष्ट्रशशम्, मूत्रशकृत्,
मूत्रपुरीषम्, यकृन्मेदः, मांसशोणितम्, दर्भशरम्, दर्भपूतीकम्, अर्जुनशिरीषम्, अर्जुन-
पुरुषम्, तृणोपलम्, दासीदासम्, कुटोकुटम्, भागवतीभागवतम्, एते गवाश्वप्रभृतयः ।

न दधिपयआदीनि (पृ० ५२८) दधिपयसी, सर्पिमंथुनी, मधुसर्पिणी, ब्रह्मप्रजापती,
शिववैश्रवणौ, स्कन्दविशाखौ, परिव्राजककौशिकौ, प्रवर्ग्यापसदौ, शुक्लकृष्णौ, इध्मावर्द्धिणी,
दीक्षातपसी, अध्ययनतपसी, उल्लूखलमुसले, आद्यवसाने, श्रद्धामेधे, ऋक्सामे, वाङ्मनसे,
इति दधिपयआदयः ।

पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् (पृ० ५३९) पृषोदर, पृषोत्थान, बलाहक, जीमूत,
उल्लूखल, पिशाच, वृसी, मयूर, इति पृषोदरादिः ।

मतौ बह्वचोऽनजिरादिनाम् (पृ० ५५०) अजिर, खदिर, पुलिन, हंस, कारण्डव,
चक्रवाक, इत्यजिरादिः ।

शरादीनां च (पृ० ५५०) शर, वंश, धूम, अहि, कपि, मणि, मुनि, शुचि, इनु,
इति शरादिः ।

इरिकादिभ्यः प्रतिषेधो न (पृ० ५५१) इरिका, मिरिका, तिभिरा, इतीरिका-
दिराकृतिगणः ।

अश्वपत्यादिभ्यश्च (पृ० ५५४) अश्वपति, स्थानपति, ज्ञानपति, यज्ञपति, बन्धुपति,
शतपति, धनपति, गणपति, राष्ट्रपति, कुलपति, गृहपति, पशुपति, धान्यपति, धर्मपति,
धन्वपति, सभापति, प्राणपति, क्षेत्रपति, इत्यश्वपत्यादिः ।

उत्सादिभ्योऽञ् (पृ० ५५५) उत्स, उदपान, विकिर, विनद, महानद, महानस,
महाप्राण, तरुण, तल्लन, बष्क, यास, धेनु, पृथ्वी, पङ्क्ति, जगती, त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्,
जनपद, भरत, उशीनर, ग्रीष्म, पीलु, कुण, उदस्थान, देशे, पृषदंश, मल्लकीय, रथन्तर,
मध्यन्दिन, वृहत्, महत्, सत्त्वत्, कुरु, पञ्चाल, इन्द्रावसान, उष्णिह्, ककुभ्, सुवर्ण,
देव, ग्रीष्मादच्छन्दसि, इत्युत्सादिः ।

गर्गादिभ्यो यञ् (५५६) गर्ग, वत्स, वाजासे, संस्कृति, अज, व्याघ्रपात्, विदभृत्,
आचीनयाग, अगस्ति, पुलस्ति, चमस, रेम, अग्निवेश, सङ्ग, शट्, शक, एक, धूम, अवट,

मनस्, धनञ्जय, वृक्ष, विश्वावसु, जरमाण, लोहित, शंसित, वभ्रु, वल्गु, मण्डु, गण्डु, शङ्कु, लिंगु, गुह्ल, मन्तु, मल्लु, आलिगु, जिगीपु, मनु, तन्तु, मनायी, सूनु, कथक, कन्थक, ऋक्ष, वृक्ष, (वृक्ष) तनु, तरुक्ष, तल्लक्ष, तण्ड, वतण्ड, कपि, कत, कुलकत, अनड्डह्, कण्व, शकल, गोकक्ष, अगस्त्य, कण्डिनी, यज्ञवल्क, पर्णवल्क, अभयजात विरोहित, वृषगण, रहू-गण, शण्डिल, (चणक) वर्णक, चुलक, मुद्रल, मुसल, जमदग्नि, पराशर, जातुकर्ण, महित, मन्त्रित, अश्मरथ, शर्कराक्ष, पूतिमाष, स्थूरा, अदरक, (अररक) एलाक, पिङ्गल, कृष्ण, गोलन्द, उल्लक, तितिक्ष, मिषज्, भिष्णज्, भडित, भण्डित, दल्भ, चेकित, चिकित्सित, देवह, इन्द्रह, एकल, पिप्पल, वृहदग्नि, सुलोहिन्, उक्थ, कुटीयु । इति गर्गादिः ।

बाह्यादिभ्यश्च (पृ० ५५८) बाहु, उपबाहु, उपबाहु, निवाहु, शिवाहु, वटाहु, उप-निन्दु, वृषली, वृकला, चूडा, बलाका, मूषिका, कुशला, भगला, (छगला) ध्रुवका, ध्रुवका, सुमित्रा, दुर्मित्रा, पुष्करसद्, अनुहरद्, देवशर्मन्, अग्निशर्मन्, मद्रशर्मन्, सुश-र्मन्, कुनामन्, सुनामन्, पञ्चन्, सप्तन्, अष्टन् । अभितौजसः सलोपश्च । सुधावत्, उदञ्चु, माप, शिरस्, शराविन्, मरीचिन्, क्षेमवृद्धिन्, शृङ्खलतोदिन्, स्वरनादिन्, नगरमदिन्, प्राकारमदिन्, लोमन्, अजीगत, कृष्ण, सुधिष्ठिर, अर्जुन, साम्ब, गद, प्रद्युम्न, राम, उदङ्क । उदकः संशायान् । संभूयोऽम्भसः सलोपश्च । आकृतिगणोऽयम् । तेन सात्यकिः, जाह्नविः, ऐन्द्रशर्मिः, आजधेनविः, इति बाह्यादिः ।

अनुव्यानन्तये विदादिभ्योऽञ् (पृ० ५५८) विद, उर्व, कश्यप, कुशिक, भरद्वाज, उपमन्यु, किलात, किदम्, विश्वानर, (ऋषिपेग) ऋषिपेण, ऋतभाग, ह्यंश्च, प्रियक, आपस्तम्ब, कूचवार, शरद्वत्, शुनक, धेनु, गोपवन, शिशु, विन्दु, (भोगक), भाजन (शमिक) अश्ववत्तान, श्यामक, श्यामाक, श्यावलि, श्यापर्ण, हरित, किदास, वल्लस्क, अर्कजूप, वधयोग, विष्णुवृद्ध, प्रतिबोध, (रधीतर) रचित, रथन्तर, गविष्ठिर, निषाद, शवर, अलस, मठर, (मृडाक) सपाहु, मृदु, पुनर्भू, पुत्र, दुहित्, ननान्द, परस्त्री, परशु च । इति विदादिः ।

शिवादिभ्योऽञ् (पृ० ५५८) शिव, प्रोष्ठ, प्रोष्ठिक, चण्ड, जम्म, भूरि, दण्ड, कुठार, ककुभ, अनभिम्लान, कोहित, सुख, सन्धि, मुनि, ककुत्स्थ, कहोड, कोहड, कहूय, कहय, रोध, कपिखल, खञ्जन, वतण्ड, तृणकर्ण, क्षीरलह, जलहद, परिल, (पथक) पिष्ट, हैहय, गोपिका, कपालिका, जटिलिका, वधिरिका, मञ्जिष्ठा, वृष्णिग, खञ्जार, खञ्जा, रेख, लेख, रिख, आलेखन, विश्रवण, रवण, वर्तनाक्ष, ग्रीवाक्ष, पिटाक, ऋक्षाक, नभाक, ऊर्णनाभ, जरत्कार, पुरोहितिका, सुरोहितिका, आर्यश्वेत, सुपिष्ट, मसुर, कर्ण, मयूरकर्ण, खजुरक, तक्षन्, ऋषिपेग, गङ्गा, विपाश, यस्क, लह्य, द्रुह्य, अयस्थूग, तृणकर्ण, पर्ण, मलन्दन, विरूपाक्ष, भूमि, इला, सपत्नी । द्वयचो नद्याः । त्रिवेणी, त्रिवणं च । इति शिवादिः ।

रेवत्यादिभ्यष्टक् (पृ० ५५९) रेवती, अश्वपाली, मणिपाली, द्वारपाली, वृकवश्रिन्, वृकबन्धु, वृकग्राह, कर्णग्राह, दण्डग्राह, ककुदाक्ष, चामरग्राह, कुक्कुटाक्ष, इति रेवत्यादिः ।

गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्चफञ् (पृ० ५५९) कञ्, ब्रधन, शङ्ख, भस्मक, गण, लोमन्, शठ, शाक, शुण्डा, शुभ, विपाश, स्कन्द, स्कम्भ, इति कुञ्जादिः ।

नडादिभ्यः फक् (पृ० ५५९) नड, चर, वक, मुञ्ज, इतिक, इतिश, उपक, एक, लमक, शलङ्कु, कलङ्क च, सप्तल, वाजप्य, त्रिक, अग्निशर्मन्, वृषगणे, प्राण, नर, सायक, दास, मित्र, दीप, पिङ्गर, पिङ्गल, किङ्कर, किङ्कल, काश्यप, कातर, फातल, काश्य, काव्य, अज, अमुष्य, कृष्णरगौ, ब्राह्मणवासिष्ठे, अमित्र, लिगु, चित्र, कुमार, क्रोष्टु, क्रोष्टं च, लोह, दुर्ग, स्तम्भ, शिशपा, अग्रतृण, शकट, सुमनस, सुमत, निमत, ऋच, जलंधर, अध्वर, शुगन्धर, हंसक, दण्डिन्, इस्तिन्, पिण्ड, पञ्चाल, चमसिन्, सुकृत्य, स्थिरक, ब्राह्मण, चटक, बदर, अश्वल, खरप, लङ्क, इन्ध, अस्र, कामुक, ब्रह्मदत्त, उदुम्बर, शोण, अलोह, दण्डप, इति नडादिः ।

अश्वादिभ्यः फञ् (पृ० ५६०) अश्व, अश्मन्, शंख, शूद्रक, विद, पट, रोहिण, खजूर, पिञ्जूल, मडिल, मण्डिल, मडित, मण्डित, प्रकृत, रामोद, क्षान्त, काश, काण, गोलाङ्क, अर्क, स्वर, वन, पाद, चक्र, कुल, पूल, अविष्ट, वीक्ष, पविन्द, पवित्र, गोमिन्, श्याम, धूम, धूत्र, वारिमन्, विश्वानर, कुट, शप आत्रेये, जन, जड, खड, ग्रीष्म, अह, केत, विशप, विशाल, गिरि, चपल, चुप, दास, वैल्य, प्राच्य, आनन्दुह्य, पुंसि जाते । अर्जुन्, सुमनस्, दुर्मनस्, नम, प्रान्त, ध्वान, आत्रेयभारद्वाजे, भारद्वाजात्रेये, उत्स, आतव, कितव, शिव, खदिर, इत्यश्वादिः ।

शुभ्रादिभ्यश्च (पृ० ५६०) शुभ्र, विष्ट, पुर, ब्रह्मकृत, शतद्वार, शलाथल, शलाकात्र, लेखात्र, विकास, रोहिणी, रुक्मिणी, धर्मिणी, दिश, शालूक, अजवस्ति, शकन्धि, विमातृ, विधवा, शुक, विश, देवतर, शकुनि, शुक, उग्र, शबल, बन्धकौ, सुकण्डु, विश्व, अतिथि, गोदन्त, कुशाम्बु, मकण्ड, शान्ता, हर, पवण्डुरिक, सुनामन्, लक्षणश्यामयोर्वासिष्ठे, गोधा, कृकलास, अणीव, प्रवाहण, भरत, भरम, मृकण्डू, कर्पूर, इतर, अन्यतर, आलोह, सुदत्र, सुदक्ष, सुवक्षस्, सुदामन्, कद्रु, तुद्, अकशाय, कुमारिका, कुठारिका, किशोरिका, अम्बिका, जिह्वाशिन्, परिधि, वायुदत्त, शकल, शलाका, खडूर, कुवेरिका, अशोका, गन्धपिङ्गला, खण्डोन्मत्ता, अनुवृष्टिन्, जरतिन्, बलीवर्दिन्, विग्र, वीज, जीव, श्वन्, अश्मन्, अश्व, अजिर, इति शुभ्रादिराकृतिगणः ।

कल्याण्यादीनामिनङ् (पृ० ५६०) कल्याणी, सुभगा, दुर्भगा, बन्धकी, अनुवृष्टि, अनुसृति, जरती, बलीवर्दी, ज्येष्ठा, कनिष्ठा, मध्यमा, परस्त्री । इति कल्याण्यादिः ।

तिकादिभ्यः फिञ् (पृ० ५६२) तिक, कितव, संज्ञा, वाला, शिखा, उरस्, शाठ्य, सेन्धव, यमुन्द, रूप्य, ग्राम्य, नील, अमित्र, गोरक्ष, कुरु, देवरथ, तैतिल, औरस, कौरव्य, भौरिकी, भौलिकी, मौलीकी, चौपयत, चैत्यत, शकियत, क्षैत्यत, वाजवट, चन्द्रमस्, शुभ, गङ्गा, वरेण्य, सुपामन्, आरब्ध, बाह्यक, स्वरूप, वृष, लोमक, उदन्य, यज्ञ, इति तिकादिः ।

कम्बोजादिलुक् (पृ० ५६३) कम्बोजादिभ्य इति वक्तव्यम् । कम्बोज, चोल, केरल, शक, यवन । इति कम्बोजादिः ।

भिच्चादिभ्योऽण् (पृ० ५६८) भिक्षा, गर्भिणी, क्षेत्र, करीष, अङ्गार, चर्मिन्, धर्मिन् महत्त, युवति, पदाति, पद्मति, अर्थवत्, दक्षिणा, भरत, विषय, श्रोत्र, इति भिच्चादिः ।

पाशादिभ्यो यः (पृ० ५६९) पाश, तृण, धूप, वात, अङ्गार, पाटल, पोत, गल, पिटक, पिटाक, शकट, हल, नट, वन, इति पाशादिः ।

खलादिभ्य इनिर्वक्तव्यः (पृ० ५७०) खल, डाक, कुटुम्ब, शाक, कुण्डलिनी, इति खलादिराकृतिगणः ।

क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक् (पृ० ५७१) उक्थ, लोकायत, न्याय, न्यास, पुनरुक्त, निरुक्त, निमित्त, द्विपद, ज्योतिष, अनुपद, अनुकल्प, यद्य, धर्म, चर्चा, क्रमेतर, इलक्षण, संहिता, पदक्रम, मंत्रवृत्ति, पविष्ट, वृत्ति, संप्रह, गण, गुण, आयुर्वेद । इत्युक्थादिः ।

बुज्जल्लण्कठजिलसेनिरडज्जयय्फक्फिजिज्ज्यककठकोऽरीहणकृशाश्वश्र्यकुमुदकाशतृणप्रेक्षाश्मसखिसंकाशवलपत्तकर्णसुतङ्गमप्रगदिन्वराहकुमुदादिभ्यः (पृ० ५७३)

(१) अरोहण, द्रुषण, दृष्टण, भगल, उलन्द, किरण, सांपरायण, क्रोष्ट्रायण, ओष्ट्रायण, त्रैगतोयन, मैत्रायण, भास्त्रायण, वैमतायन, गौमतायन, सौमतायन, सौसायन, धौमतायन, पेन्द्रायण, कौन्द्रायण, खाडायन, शाण्डिल्यायन, रायस्पोष, विपथ, विपाश, उदण्ड, उदञ्चन, खाण्डवोरण, वोरण, काशकृत्स्न, जान्भवत्, शिशपा, रेवत, विस्व, सुयष्ट, शिरीष, बधिर, जम्बु, खदिर, सुशर्मन्, मलत्, मलन्दन, खण्डु, कलन, यशदत्त, इत्यरीहणादिः ।

(२) कृशाश्व, अरिष्ट, करिश्म, विशाल, लोमश, रोमश, रोमक, शबल, कूटवर्चल, वर्चल, सुकर, सूकर, प्रतर, अदृश, पुराग, पुरग, मुख, धूम, अजिन, विनत, अवनत, विकुट्यास, पराशर, अरुस्, अयस्, मौद्गल्य, युकर, इति कृशाश्वादिः ।

(३) ऋश्य, न्यग्रोध, शर, निर्लीन, निवास, निवात, विधान, निबद्ध, विवद्ध, परिगूढ, उपगूढ, असनि, सित, मत, वेश्मन्, उत्तराश्मन्, अश्मन्, स्थूल, बाहु, खदिर शर्करा, अनडुहू, अरडु, परिवंश, वेणु, वीरण, खण्ड, दण्ड, परीवृत्त, कर्दम, अंश, इत्यृश्यादिः ।

(४) कुमुद, शर्करा, न्यग्रोध, इक्षट, कङ्कट, सङ्कट, गर्त, वीज, परिवाप, निर्यास, शकट, कच, मधु, शिरीष, अश्व, अश्वत्थ, वल्बज, यवास, कूरा, विकङ्कट, दशग्राम, इति कुमुदादिः ।

(५) काश, पाश, अश्वत्थ, पलाश, वीयूक्षा, चरण, वास, नड, वन, कर्दम, कच्छूल, कङ्कट, गुडा, विसर्ग, कर्पूर, वर्वर, मधुर, ग्रह, कपित्थ, जतु, सांपाल, इति काशादिः ।

(६) तृण, नड, मूल, वन, पर्ण, वराण, विल, पुल, फल, अर्जुन, अर्ण, सुवर्ण, बल, चरण, वुस, इति तृणादिः ।

(७) प्रेक्षा, हल्का, बन्धुका, ध्रुवका, क्षिपका, न्यग्रोध, इक्षट, कङ्कट, सङ्कट, कट कूप, वुरु, पुट, मह, परिवाप, यवधि, ध्रुवका, गर्त, कूपक, हिरण्य, इति प्रेक्षादिः ।

(८) अश्मन्, यूथ, ऊष, मोन, नद, दर्भ, वृन्द, गुद, खण्ड, नग, शिखा, कीट, पाम, कन्द, कान्द, कुल, गह्व, गुण, कुण्डल, पीन, गुह, इत्यश्मादिः ।

(९) सखि अग्निदत्त, वायुदत्त, सखिदत्त, गोपिल, भल्ल, पाल, चक्र, चक्रवाक, छगल, अशोक, करवीर, वासव, वीर, पूर, वज्र, कृसीरक, सीहर, सरक, सरस, समर, समल, सुरस, सेह, तमाल, कदल, सप्तल, इति सख्यादिः ।

(१०) संकाश, कपिल, काश्मीर, समीर, शूरसेन, सरक, शूर, सुपन्थिन्, पन्थ च, यूथ, अंश, अङ्ग, नासा, पलित, अनुनाश, अश्मन्, कूट, मलिन, दश, कुम्भ शीर्ष, वितर, समल, सीर, पञ्जर, मन्थ, नल, रोमन्, पुलिन, सुपरि, कटिप, सकर्णक, वृष्टि, तीर्थ, अगस्ति, विकर, नासिका, इति संकाशादिः ।

(११) बल, चुल, नल, दल, वट, लकुल, उरल, पुस, मूल, उल, डुल, वन, कुल, इति बलादिः ।

(१२) पक्ष, तुक्ष, तुष, कण्ड, अण्ड, कम्बलिका, बलिक, चित्र अस्ति, सुपथिन्पन्थ च, कुम्भ, सीरक, सरक, सकल, सरस समल, अतिश्वन्, रोमन्, लोमन्, इस्तिन्, मकर, लोमक, शीर्ष, निवात, पाक, सिंहक, अंकश, सुवर्णक, हंसक, हिसक, कुत्स, बिल, खिल, यमल, हस्तकला, सकर्णक, इति पक्षादिः ।

(१३) कर्ण, वसिष्ठ, अर्क, अर्कलष, द्रुपद, आनडुह्य, पञ्चजन्य, स्फिन्, कुम्भी, कुन्ती, जित्वन्, जीवन्त, कुलिश, आण्डोवत्, जव, जैत्र, आनक, इति कर्णादिः ।

(१४) सुतङ्गम, मुनिचित्त, विप्रचित्त, महाचित्त, महापुत्र, स्वन, श्वेत, खडिक, शुक्र, विप्र, वीजवापिन्, अर्जुन, श्वन्, अजिर, जीव, खण्डिन्, कर्ण, धिग्रह, इति सुतङ्गमादिः ।

(१५) प्रगदिन्, मगदिन्, मददिन्, कविल, खण्डित, गदित, चूडार, मन्दार, मडार, कोविदार, इति प्रगद्यादिः ।

(१६) वराह, पलाश, शिरीष, पिनड, निवड, वलाह, स्थूल, विदग्ध, विजग्ध, विमग्न, निमग्न, बाहु, खदिर, शर्करा, इति वराहादिः ।

(१७) कुमुद, गोमथ, रथकार, दशग्राम, अश्वत्थ, शास्मलि, शिरीष, मुनिस्थल, कुण्डल, कूट, मधुकर्ण, वास, कुन्द, शुचि, कर्ण, इति कुमुदादिः ।

वरणादिभ्यश्च (पृ० ५७४) वरणा, शृङ्गी, शास्मलि, शुण्डी, शयाण्डी, पर्णी, ताम्रपर्णी, गोद, आलिङ्गयायन, जानपदी, जम्बू, पुष्कर, चम्पा, पम्पा, वल्गु, उज्जयिनी, गया, मथुरा, तक्षशिला, उरसा, गोमती, बलभी, इति वरणादिः ।

मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः (पृ० ५७५) यव, दस्मि, ऊर्मि, भूमि, कृमि, कुम्भा, वशा, द्राक्षा, ध्राक्षा, ध्रजि, ध्वजि, निजि, सज्जि, हरित, ककुद्, मरुत्, गरुत्, श्शु, द्रु, मधु, इत्याकृतिगणोऽयम् ।

नद्यादिभ्यो ढक् (पृ० ५७६) नदी, मही, वाराणसी, श्रावस्ती, कौशाम्बी,

वनकौशाम्बा, काशपरी, काशफरी, खादिरी, पूर्वचरी, पाठा, माया, शाल्वा, दावा, सेतकी, वडवाया वृषे, इति नद्यादिः ।

उत्करादिभ्यश्च (पृ० ५७१) उकर, संफल, शफर, पिप्पल, पिप्पलोमूल, अश्मन्, सुवर्ण, खलजिन, तिक, कितव, अणक, त्रैवण, पिचुक, अश्वत्थ, काश, क्षुद्र, भस्त्रा, शाल, जन्या, अजिर, चर्मन्, उत्क्रोश, क्षान्त, खादिर, शूर्पणाय, श्यावनाय, नैवाकव, तृण, वृक्ष, शाक, पलाश, विजिगीषा, अनेक, आतप, फल, संपर, अर्क, गर्त, अग्नि, वैराणक, इडा, अरण्य, निशान्त, पर्ण, नीचायक, शङ्कर, अवरोहित, क्षार, विशाल, वेत्र, अरोहण, खण्ड, वातागार, मन्त्रणार्ह, इन्द्रवृक्ष, नितान्तवृक्ष, आर्द्रवृक्ष, इत्युत्करादिः ।

काश्यादिभ्यष्टञ्जिठौ (पृ० ५७८) काशि, वेदि, चेदि, सांयाति, संवाह, अच्युत, मोदमान, शकुलाद, हस्तिकपु, कुनाम, हिरण्य, कारण, गोवासन, भारङ्गी, अरिन्दम, अरित्र, देवदत्त, दशग्राम, शौवावतान, युवराज, उपराज, देवराज, मोदन, सिन्धुमित्र, दासमित्र, सुधामित्र, सोममित्र, द्यागमित्र, साधमित्र, सधमित्र, आपदादिपूर्वपदात् कालान्तात् । आपद् ऊर्ध्वं तत् । इति काश्यादिः ।

गहादिभ्यश्च (पृ० ५७९) गह, अन्तस्थ, सम, विषम, मध्य, मध्यंदिन, चरण, उत्तम, अङ्ग, वङ्ग, मगध, पूर्वाक्ष, अपरपक्ष, अयमशाख, उत्तमशाख, एकशाख, समान-शाख, एकग्राम, समानग्राम, एकवृक्ष, एकपलाश, इध्वग्र, इध्वनीक, अवस्यन्दन, कामप्रस्थ, खाडायन, काठेरणि, लावेरणि, सौमित्रि, शैशिरि, आसुत, दैवशर्मि, श्रौती, आर्हिसि, आमित्रि, व्याडि, बंजि, आध्यथि, आनृशंसि, शौङ्गि, आग्निशर्मि, भौजि, वाराटकि, वाल्मीकि, क्षेमवृद्धि, आश्वत्थि, औद्वाहमानि, एकविन्दवि, दन्ताग्र, हंस, तन्त्रग्र, उत्तर, अनन्तर, सुखपार्श्वतसोर्लोपः । जनपरयोः कुक् च । देवस्य च । इति गहादिराकृतिगणः ।

द्वारादीनां च (पृ० ५८०) द्वार, स्वर, स्वग्राम, स्वाध्याय, व्यल्कश, स्वस्ति, स्वर, रफ्यकृत्, स्वादु, वृद्ध, श्वस्, श्वन्, स्व । इति द्वारादिः ।

सन्धिवेलाद्यनुनद्धन्नेभ्योऽण् (पृ० ५८०) सन्धिवेला, सन्ध्या, अमावास्या, त्रयोदशी, चतुर्दशी, पौर्णमासा, प्रतिपत् । इति सन्धिवेलादिः ।

दिगादिभ्यो यत् (पृ० ५८३) दिश, वर्ग, पूग, गण, पक्ष, धाम्य, मित्र, मेधा, अन्तर, पथिन्, रहस्, अलाक, उखा, साक्षिन्, देश, आदि, अन्त, मुख, जघन, मेघ, यूथ, उदकात्संज्ञायाम्, न्याय, वंश, वेश, काल, आकाश । इति दिगादिः ।

परिमुखादिभ्य एवेव्यते (पृ० ५८३) परिमुख, परिहनु, पर्योष्ठ, पर्युल्लखल, परिसीर, उपसीर, उपस्थूण, उपकलाप, अनुपथ, अनुपद, अनुगङ्ग, अनुतिल, अनुसीत, अनुसाय, अनुसीर, अनुमाप, अनुयव, अनुयूप, अनुवंश, प्रतिशाख, इति परिमुखादिः ।

अध्यात्मादेष्टञ् (५८०) अध्यात्म, अधिदेव, अधिभूत, इहलोक, इत्यध्यात्मादि-राकृतिगणः ।

अनुशक्तिकादीनां च (पृ० ५८४) अनुशक्तिक, अनुहोड, अनुसंवरण, अनुसंवत्सर,

अङ्गारवेणु, असिहत्य, अस्यहेति, वध्योग, पुष्करसद्, अनुहरत्, कुरुकत, कुरुयञ्जाल, उदकशुद्ध, इहलोक, परलोक, सर्वलोक, सर्वपुरुष, सर्वभूमि, प्रयोग, परस्त्रा, राजपुरुषात् प्यञि, सूत्रनड, आकृतिगणोऽयम् । तेन अधिगम, अधिभूत, अधिदेव, चतुर्विधा इत्यादि । इत्यनुशक्तिकादिः ।

पलाशादिभ्यो वा (पृ० ५८७) पलाश, खदिर, शिशपा, स्यन्दन, पुलाक, करीर, शिरीष, यवास, विकङ्कत, इति पलाशादिः ।

नित्यं वृद्धशरादिभ्यः (पृ० ५५८) शर, दर्भ मृग, कुटो, तूण, सोम, वल्गज, इति शरादिः ।

प्लक्षादिभ्योऽण् (पृ० ५८८) प्यक्ष, न्यग्रोध, इक्षुदो, अश्वत्थ, शिग्रु, रुरु, कक्षतु वृहता, इति प्लक्षादिः ।

हरीतक्यादिभ्यश्च (पृ० ५८९) हरीतकी, कोशातकी, नखरञ्जनी, शष्कण्डी, दाढी, दोढी, श्वेतपाकी, अर्जुनपाकी, द्राक्षा, काला, ध्वाङ्क्षा, गभीका, कण्टकारिका, पिप्पली, चिञ्चा, शेफालिका, इति हरीतक्यादिः ।

तदाहेति माशब्दादिभ्य उपसंख्यानम् (पृ० ५९०) माशब्दः, नित्यशब्दः, कार्यशब्दः—इति माशब्दादिराकृतिगणः ।

आहौ प्रभूतादिभ्यः (पृ० ५९०) प्रभूत, पर्याप्त—इति प्रभूतादिराकृतिगणः ।

पृच्छतौ सुस्नातादिभ्यः (पृ० ५९०) सुस्नात, सुखरात्रि, सुखशयन—इति सुस्नातादिराकृतिगणः ।

गच्छतौ परदारादिभ्यः (पृ० ५९०) परदार, गुरुतल्प, इति परदारादिराकृतिगणः ।

पर्पादिभ्यष्टन् (पृ० ५९१) पर्प, अश्व, अश्वत्थ, रथ, जाल, न्यास, व्याल । पादः पञ्च—इति पर्पादिः ।

वेतनादिभ्यो जीवति (पृ० ५९१) वेतन, वाहन, अर्धवाहन, धनुर्दण्ड, जाल, वेश, उपवेश, प्रेषण, उपवर्ति, मुख, शय्या, शक्ति, उपनिषद्, उपदेश, स्किन्, पाद, उपस्थ, उपस्थान, उपहसन—इति वेतनादिः ।

भस्त्रादिभ्यष्टन् (पृ० ५९१) भस्त्रा, भरट, भरण, शोर्षभार, शोर्षेभार अंसभार, अंसभार—इति भस्त्रादिः ।

निर्वृत्तेऽञ्चयूतादिभ्यः (पृ० ५९२) अश्चयूत, जानुप्रहत, जङ्घाप्रहत, जङ्घाप्रहत, पादस्वेदन, कण्ठकर्मदन, गतानुगत, गतागत, यातोपयात, अनुगत । इत्यञ्चयूतादिः ।

छत्रादिभ्यो णः (पृ० ५९३) छत्र, शिक्षा, प्रोदस्था, बुभुक्षा, चुरा, तितिक्षा, उपस्थान, कृषि, कर्मन्, विश्वधा, तपस्, सत्य, अमृत, विशिखा, विशिका, भक्षा, उदस्थान, पुरोडा, विश्वा, चुक्षा, मन्द्र, इति छत्रादिः ।

उगवादिभ्यो यत् (पृ० ५९५) गो, इप्तिस्, अक्षर, विप, बहिस्, अष्टका, स्लदा, शुन, मेधा, मृत् । नाभि नमं च । शुनः संप्रसारणं वा च दीर्घत्वं, तत्सन्धियोगेन चान्तो-

दात्तत्वम् । ऊधसोऽनङ् च । कूप, खद, दर, खर, असुर, अध्वन्, क्षर, वेद, बीज, दीप्त, इति गवादिः ।

विभाषा हविरपूपादिभ्यः (पृ० ५९५) अपूप, तण्डुल, अभ्यूप, अभ्योष, अवोप, अभ्येप, पृथुक, ओदन, सूप, पूप, किण्व, प्रदीप, मुसल, कटक, कर्णवेष्टक, इर्गल, अर्गल । अन्नविकारेभ्यश्च । यूप, स्थूणा, द्वीप, अश्व, पत्र, इत्यपूपादिः ।

असमासे निष्कादिभ्यः (पृ० ५९७) निष्क, पण, पाद, माष, वाह, द्रोण, षष्टि, इति निष्कादिः ।

दण्डादिभ्यो यत् (पृ० ५९८) दण्ड, मुसल, मधुपर्क, कशा, मेघ, अर्घ, मेधा, सुवर्ण, उदक, वध, युग, गुहा, भाग, इभ, भङ्ग, इति दण्डादिः ।

पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा (पृ० ५९९) पृथु, मृदु, महत्, पट्, तनु, लघु, बहु, साधु, आशु, उरु, गुरु, बहुल, खण्ड, दण्ड, चण्ड, कर्किचन, बाल, वत्स, होड, पाक, मन्द, स्वादु, रुच्य, दीर्घ, प्रिय, वृष, ऋजु, क्षिप्र, क्षुद्र, अणु । इति पृथ्वादिः ।

वर्णद्वयादिभ्यः प्यञ्च (पृ० ६००) दृढ, वृढ, परिवृढ, भृश, कृश, वक्र, शुक्र, चुक्र, आम्र, कृष्ट, लवण, ताम्र, शात, उष्ण, जड, वधिर, पण्डित, मधुर, मूर्ख, मूक, स्थिर । वैय्यातलतमतिमनःशारदानाम् । समो मतिमनसोः । जवन । इति द्वयादिः ।

गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च (पृ० ६००) ब्राह्मण, बाहव, माणव, अहंतो नुम् च । चोर, धूर्त, आराधय, विराधय, अपराधय, उपराधय, एकभाव, द्विभाव, त्रिभाव, अन्यभाव, अक्षत्रज्ञ, संवादिन्, संवेशिन्, संभापिन्, बहुभापिन्, शीर्षधातिन्, विधातिन्, समस्थ, विपमस्थ, परमस्थ, मध्यमस्थ, अनाश्वर, कुशल, चपल, निपुण, पिशुन, कुतूहल, क्षेत्रज्ञ, विश्व, बालिश, अलस, दुःपुरुष, कापुरुष, राजन्, गणपति, अधिपति, गडुल, दयाद, विश्रित, विपम, विपात, निपात । सर्ववेदादिभ्यः स्वार्थे । चतुर्वेदस्योभयपद-वृद्धिश्च । शीर्षार । इति ब्राह्मणादिराकृतिगणः ।

चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे उपसंख्यानम् (पृ० ६००) चतुर्वर्ण, चतुराश्रम, सर्वविष, त्रिलोक, त्रिस्वर, पट्युग, सेना, अनन्तर, सन्निधि, समीप, उपमा, मुख, तदर्थ, इतिह, गणिक । इति चतुर्वर्णादिः ।

पत्यन्तपुराहितादिभ्यो यक् (पृ० ६००) पुरोहित, राजासे, ग्रामिक, पिण्डित, सुहित, बाल, मन्द, खण्डिक, दण्डिक, वर्गिक, कर्मिक, धर्मिक, शिल्पिक, सूतिक, मूलिक, तिलक, अजलिक, अजणिक, रूपिक, ऋषिक, पुत्रिक, अतिक, ह्यनिक, पथिक, पथिक, नागिक, प्रतिक, सारथि, आस्तिक, सूत्रिक, संरक्षक, सूचक, नास्तिक, अजाणिक, शाकर, शाकर, नागर, चूडिक, इति पुरोहितादिः ।

प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ् (पृ० ६००) उद्गात्र, उज्ज्वल, प्रतिहर्तु, प्रशस्त, होतु, पोतु, दत्त, रथगणिक, पतिगणिक, सुष्ठु, दुष्टु- अध्वर्यु, वपू, सुभग, मन्त्रे । इत्युद्गात्रादिः ।

हायनान्तयुवादिभ्योऽण् (पृ० ६०१) युवन् , स्थविर, होतृ, यजमान, पुरपाते, भ्रातृ, कुतुक, श्रमण (श्रवण), कटुक, कमण्डलु, कुली, सुली, दुःली, सुहृदय, दुर्हृदय, सुहृद्, दुर्हृद्, सुभ्रातृ, दुर्भ्रातृ, वृषल, परिव्राजक, सप्रज्ञाचारिन्, अनृशंस, हृदयासे, कुशल, चपल, निपुण, पिशुन, कुतूहल, क्षेत्रज्ञ । श्रोत्रियस्य यलोपश्च । इति युवादिः ।

द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च (पृ० ६०२) मनोज्ञ, प्रियरूप, अभिरूप, कल्याण, मेधाविन्, आढ्य, कुलपुत्र, छान्दस, छात्र, श्रोत्रिय, चोर, धूर्त, विश्वदेव, युवन् , कुपुत्र, ग्रामपुत्र, ग्रामकुलाल, ग्रामड, ग्रामपण्ड, ग्रामकुमार, सुकुमार, बहुल, अवश्यपुत्र, अमुष्यपुत्र, अमुष्यकुल, सारपत्र, शतपत्र, इति मनोज्ञादिः ।

तस्य पाकमूले पीत्वादिकर्णादिभ्यः कृण्वजाहचौ (पृ० ६०३) १. पीलु, कर्कन्धु, कर्कन्धु, शर्मा, करीर, वल, कुवल, वदर, अश्वत्थ, खदिर । इति पीत्वादिः ।

२. कर्ण, अक्षि, नख, मुख, केश, पाद, गुल्फ, भ्रू, शृङ्ग, दन्त, ओष्ठ, पृष्ठ । इति कर्णादिः ।

तदस्य सज्ञातं तारकादिभ्य इतच् (पृ० ६०५) तारका, पुष्प, कर्णक, मञ्जरी, ऋजीप, क्षण, सूत्र, मूत्र, निष्क्रमण, पुरीष, उच्चार, प्रचार, विचार, कुड्मल, कण्टक, मुसल, मुकुल, कुसुम, कुतूहल, स्तवक, स्तवक, किसलय, पल्लव, खण्ड, वेग, निद्रा, मुद्रा, बुभुक्षा, धेनुष्या, पिपासा, श्रद्धा, अभ्र, पुलक, अङ्गारक, वर्णक, द्रोह, त्रोह, सुख, दुःख, उत्कण्ठा, भर, व्याधि, वर्मन्, व्रण, गौरव, शास्त्र, तरङ्ग, तिलक, चन्द्रक, अन्धकार, गर्व, कुमुर, मुकुर, हर्ष, उत्कर्ष, रण, कुवलय, गर्भ, क्षुध्, सोमन्त, ज्वर, गर, रोग, रोमाञ्च, पण्डा, कज्जल, तृष्, कोरक, कलोल, स्थपुट, फल, कञ्चुक, शृङ्गार, अङ्कुर, शैवल, वकुल, श्वभ्र, आराल, कलङ्क, कर्दम, कन्दल, मूर्च्छा, अङ्गार, हस्तक, प्रतिबिम्ब, विघ्नतन्त्र, प्रत्यय-दोक्षा, गर्ज, गर्भादप्राणिनि । इति तारकादिः । आकृतिगणः ।

इष्टादिभ्यश्च (पृ० ६०८) इष्ट, पूर्त, उपासादित, निगदित, परिगदित, परिवदित, निकथित, निपादित, निपठित, संकलित, परिकलित, संरक्षित, परिरक्षित, अर्चित, गणित, अवकीर्ण, आयुक्त, गृहीत, आम्नात, श्रुत, अधीत, अवधान, आसेवित, अवधारित, अवक-ल्पित, निराकृत, उपकृत, उपाकृत, अनुयुक्त, अनुगणित, अनुपठित, व्याकुलित । इतीष्टादिः ।

सिध्मादिभ्यश्च (पृ० ६१०) सिध्म, गड्, मणि, नाभि, बीज, बीणा, कृष्ण, निष्पाव, पांसु, पार्श्व, पशु, हनु, सक्नु, मास, मांस । पाष्णिधमन्योर्दीर्घश्च । वातदन्तबलललाटा-नामूढ् च । जटाघटाकटाकालाः क्षेपे । पर्ण, उदक, प्रज्ञा, सक्थि, कर्ण, स्नेह, शीत, श्याम, पिङ्ग, पित्त, पुष्क, पृथु, स्रु, मण्ड, पत्र, चट, कपि, गण्डु, ग्रन्थि, श्री, कुश, धारा, वर्ष्मन्, श्लेष्मन्, पक्ष्मन्, पेश, निष्पाद्, कुण्ड । क्षुद्रजन्तूपतापयोश्च । इति सिध्मादिः ।

लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः (पृ० ६१०) १ लोमन्, रोमन्, वध्रु, गिरि, कर्क, कपि, मुनि, तर । इति लोमादिः ।

२ पामन्, वामन्, वेमन्, हेमन्, श्लेष्मन्, कट्ट, कट्ट, वलि, सामन्, ऊष्मन्

कृमि । अङ्गात्कल्याणे । शाकीपललोदद्रूणां ह्रस्वत्वं च । विष्वगित्युत्तरपदलोपश्चाकृत-
सन्धेः । लक्ष्म्या अच्च । इति पामादिः ।

३ पिच्छा, उरस्, ध्रुवक, ध्रुवक । जटाघटाकालाः क्षेपे । पर्ण, उदक, पङ्क, प्रज्ञा ।
इति पिच्छादिः ।

ज्योत्स्नादिभ्य उपसंख्यानम् (पृ० ६११) ज्योत्स्ना, तमिस्रा, कुण्डल, कुतप, विसर्प,
त्रिपादिका । इति ज्योत्स्नादिः ।

ब्रीह्यादिभ्यश्च (पृ० ६१३) ब्रीहि, माया, शाला, शिखा, माला, मेखला, केका,
अष्टका, पताका, चर्मन्, कर्मन्, वर्मन्, दंष्ट्रा, संज्ञा, बडवा, कुमारी, नौ, वीणा, बलाका,
यव, खद । शीर्षान्नमः । इति ब्रीह्यादिः ।

अर्शआदिभ्योऽच् (पृ० ६१४) अर्शस्, उरस्, तुन्द, चतुर, पलित, जटा, घटा,
घाटा, अघ, कर्दम, अम्ल, लवण । स्वाङ्गाद्धीनात् । वर्णात्, अर्शआदिराकृतिगणः ।

शाखादिभ्यो यः (पृ० ६२७) शाखा, मुख, शृङ्ग, जघन, मेघ, अभ्र, चरण, स्कन्ध,
स्कन्द, स्कन्द, उरस्, शिरस्, अग्र, शरण । इति शाखादिः ।

यावादिभ्यः कन् (पृ० ६२९) याव, मणि, अस्थि, तालु, जानु, सान्द्र, पीत, त्तन्व ।
ऋता उष्णशीते । पशौ लूनविपाते । अणु निपुणे । पुत्र कृत्रिमे । स्नात् वेदसमाप्तौ । शून्य
रिक्ते । दान कुत्सिते । तनु सूत्रे । ईयसश्च । ज्ञात । अज्ञात । कुमारीक्रीडनकानि च ।
इति यावादिः ।

प्रज्ञादिभ्यश्च (पृ० ६२९) प्रज्ञ, वणिज्, उशिज्, उष्णिज्, प्रत्यक्ष, विदस्, वेदन्,
पोढन्, विद्या, मनस्, श्रोत्र शरीरे, जुहत्, कृष्ण मृगे, चिकीर्षत्, चोर, शत्रु, योध,
चक्षुस, बंसु, एनस्, मरुत्, क्रुञ्च, सत्वत्, दशार्ह, वयस्, व्याकृत, असुर, रक्षस्, पिशाच,
अशनि, कर्पापण, देवता, बन्धु । इति प्रज्ञादिः ।

आद्यादिभ्यस्तसेरुपसंख्यानम् (पृ० ६३०) आदि, मध्य, अन्त, पृष्ठ, पार्श्व,
इत्याद्यादिराकृतिगणः ।

मध्यकौमुदीस्थसूत्राणां सूची



सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
अ		अच्च वेः	७२	अतिथेर्व्यः	६२८	अदेह् गुणः	१६
अकथितं च	४६२	अच्छगात्यर्थ	४९९	अतिरतिक्रमणे	४६७	अदोजग्धिर्व्यसि	४१५
अकर्तरि च	४५०	अच्छत्यन्वव	५३५	अतिशयने तम	६२२	अदोऽनन्ते	४०८
अकः सवर्णे दीर्घः	२४	अजर्यं सङ्गतम्	३८९	अतेः शुनः	५०५	अदोऽनुपदेशे	४९९
अकर्मकाच्च	३५८	अजादो गुण	६२२	अतो गुणे	१०१	अदः सर्वेषां	२२८
अकृत्सार्वधातु	१७३	अजाद्यदन्तम्	५२५	अतो दीर्घो यञि	१४५	अदङ्कुतरादिभ्यः	९२
अकेनोर्मविष्यदा	४७४	अजाद्यतष्टाप्	६३८	अतो भिस ऐस्	५९	अधिकरणवाचिना	४९०
अक्षोऽन्यतर	१८९	अजादेर्द्वितीयस्य	१४६	अतोऽम्	९१	अधिकरणवाचि	४७३
अक्षणोऽदर्शनात्	५३६	अजाविभ्यां	५९६	अतो येयः	१५१	अधिकरणे शेतेः	३९७
अक्षेः स्तुत्स्तोम	५२९	अज्जनगमां	३२९	अतो रोरप्लुता	४७	अधिकृत्य कृते	५८५
अग्नेर्हक्	५६७	अज्ञाते	६२५	अतो लोपः	१६७	अधिरीश्वरे	४७७
अग्नौ चैः	४१३	अज्ञासिकायाः	५१८	अतो ह्रान्तस्य	१७५	अधिशीङ्स्थासां	४६५
अग्नौ परिचाय्यो	३९१	अज्ञेः पूजायां	४२१	अतो ह्लादेल्लघोः	१६०	अधुना	६१७
अग्राख्याया	५०४	अज्ञेर्लुक्	६२०	अतो हेः	१४९	अध्ययनतोऽवि	५२६
अग्रान्तशुद्धशुभ्र	५२१	अज्ञोऽनपादाने	४१८	अतः कृकामिकंस	३९८	अध्यर्धपूर्वाद्	५९७
अचतुरविचतुर	५३६	अज्ञेः सिचि	३१४	अत्पूर्वस्य	१०६	अन उपधालो	६४१
अचस्तास्वत्थल्य	१७२	अङ्कुप्वाङ्नुम्	५८	अत्स्मृदत्वरप्रथ	३१३	अनङ् सौ	७२
अचित्तहस्ति	५६९	अङ्गार्ग्यगालवर	५७	अत्र लोपोऽभ्या	३३२	अनचि च	१३
अचिर ऋतः	८७	अणावकर्मकात्	३६८	अत्रानुनासिकः	४०	अन्त्याधान	५००
अचि विभाषा	३१०	अणिञोरनार्षयोः	५६३	अत्रिभृगुकृत्स	५६०	अनद्यतने लङ्	१५०
अचि शुधातु	७७	अणुदित्सवर्णस्य	१०	अत्रिभृगुकृत्स	५६०	अनद्यतने लुट्	१४७
अचोऽङ्गिति	७३	अण् च	६११	अत्वसन्तस्य	१२२	अनद्यतनेर्हिलन्यद्	१८
अचोऽन्त्यादि.	२२	अत आदेः	१५४	अदभ्यस्तात्	२६०	अनद्यतनेर्हिलन्यद्	१८
अचो यत्	३८७	अत इञ्	५५७	अदर्शनं लोपः	३	अनश्च	४८४
अचो रहाम्यां द्वे	२२	अत इनिठनौ	६१३	अदस औ सुलो	१२७	अनाप्यकः	१०२
अचः	१२०	अत उपधायाः	१५९	अदसो मात्	२८	अनितेः	२५९
अचःकर्मकर्तरि	३७७	अत उत्सार्वधातु	२३४	अदसोऽसेर्दाडु	१२७	अनिदितां हल्	११९
अचः परस्मिन्	३१८	अत एकहल्मध्ये	१६०	अदिप्रभृतिभ्यः	२२७	अनुकरणं	४९८
				अदूरभवश्च	५७३	अनुगवमायामे	५३८

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
अनुदात्तञ्चित् १४३		अन्तरान्तरेण ४६६		अभिनिविशश्च ४६५		अवर्णखसावन १०८	
अनुदात्तपदमेक ६६६		अन्तादिवच्च २३८		अभिनिष्काम ५८५		अर्शआदिभ्यो ६१४	
अनुदात्तस्थचर्दु १८८		अन्तात्यन्ता ४०४		अभिप्रत्यतिभ्यः ३३६		अर्हः ३९७	
अनुदात्तस्य च ६६६		अन्तिकवाढयो ६२३		अभिरभागे ४६७		अर्हे कृत्यतृचश्च ३८२	
अनुदात्तादेश्च ५८७		अन्नेन व्यञ्ज ४८७		अभिविधौ सम्प ६३१		अलुगुतरपदे ५३९	
अनुदात्तेश्च ४३१		अन्यपदार्थे च ४८४		अभ्यस्तस्य च २२४		अलोऽन्त्यस्य १३	
अनुदात्तोपदेश २२९		अन्यथैवंकथमि ४५८		अभ्यासस्यास २३८		अलोन्त्यात्पूर्व ७२	
अनुदात्तौ ६६७		अन्यारादितर ४७१		अभ्यासाच्च २३०		अलंकृञ्जनिराकृ ४२९	
अनुनासिकस्य ३४९		अन्येभ्योपि वृ ४०९		अभ्यासे चर्च १४६		अलंखल्वोः प्र ४५५	
अनुनासिकात्परो ४०		अन्येषामपि वृ ५१६		अमनुष्यकर्तुके ४०६		अल्पे ६२५	
अनुपद्यन्वेष्टा ६०८		अन्येष्वपि वृ ४१४		अमावस्यदन्य ३९१		अल्पात्तरम् ५२५	
अनुपराभ्यां ३६६		अन्ववतसाद्रह ५३८		अभि पूर्वः ५८		अल्लोपोऽनः ९५	
अनुपसर्गाद्वा ३५८		अपत्यं पौत्रप्र ५५६		अमूर्धमस्तकात् ५४१		अवङ् स्फोटाय २६	
अनुपसर्गात्कुल्ल ४१९		अपथं नपुंसकं ५०७		अमैवान्ययेन ५०२		अवद्यपण्यवर्या ३८८	
अनुपसर्गाह्लिम्प ३९३		अपदान्तस्य मूर्द्ध ६१		अस्संबुद्धौ ९९		अवयये च प्रा ५८७	
अनुपसर्जनात् ६४५		अपपरिवहिर ४८२		अम्बाम्बगोभू ३९५		अवयवः इवेत ६५९	
अनुर्लक्षणे ४६६		अपपरो वर्जने ४७१		अम्बार्थनद्योर्ह ७६		अक्समन्धेभ्यः ५३८	
अनुविपर्यभिनि २११		अपरिमाणवि ६४६		अयस्मयादीनि ६५८		अवाच्चालम्ब १५८	
अनुशक्तिकादी ५८४		अपरोक्षे च ३७९		अयङ्यि विङ् ३४२		अवाकुटार ६०४	
अनुस्वारस्य ययि ३६		अपवर्गे तृतीया ४६८		अयामन्तात्वा १९७		अवे तल्लोर्ध्वञ् ४५४	
अनुध्यानन्तर्ये ५५८		अपह्ववे ज्ञः ३५८		अरण्यान्मनुष्ये ५७८		अवे यज्ञः ६५९	
अनेकमन्यपदा ५०९		अपादाने पञ्च ४७०		अरुद्धिपदजन्त ३९९		अवे कः ६२८	
अनेकाल्शिस्तसर्व २५		अपूर्वपदादन्य ५६१		अरुर्मर्शक्षुश्चे ६३१		अव्यक्तानुकर ६३२	
अनो बहुव्रीहेः ६४१		अपृक्त एकाल् ७२		अतिपिपत्योश्च २७५		अव्ययीभावः ४७९	
अनौ कर्मणि ४१४		अपे क्लेशतम ४०५		अतिल्लघूसू ४३३		अव्ययसर्वना ६२५	
अन् ५५२		अपे च लपः ४३०		अतिहोळ्लीरी ३२४		अव्ययात्यप् ५७६	
अन्तरपरिग्रहे ४९८		अपो मि १३१		अर्थवदधातु ५४		अव्ययादाप्सु १४०	
अन्तःपूर्वपदा ५८३		अप्तन्तृच् ७९		अर्थे विभाषा ५४८		अव्ययीभावश्च १४०	
अन्तर्वत्पतित्व ६४८		अप्पूरणीप्रभा ५११		अर्धचाः पुंसि ५०८		अव्ययीभावश्च ४८०	
अन्तरं बहिर्योगो ६५		अप्रत्ययात् ४५२		अर्धाच्च ५०५		अव्ययीभावच्च ५८३	
अन्तः ४१०		अभाषितपुंस्का ६४५		अर्धं नपुंसकम् ४९१		अव्ययीभावे चा ४८१	
अन्तर्वहिन्यां ५१८		अभिज्ञावचने ३७८		अर्यः स्वामि ३८९		अव्ययीभावेऽशर ४८४	

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
अव्ययेऽयथा	५०३	अह्वष्टखोरेव	५०४	आतो लोप इटि	१७६	आमन्त्रितं पूर्वं	११९
अव्ययं विभक्ति	४७९	अह्वोह एतेभ्यः	५०४	आतः	१७७	आमि सर्वना	६३
अव्यादवद्याद	६६३	अह्वोऽदन्तात्	५०४	आत्मनश्च	५५०	आमेतः	१९५
अशनायोदन्य	३४८	आ		आत्मनेपदेष्वन	१९६	आमः	१६७
अशालां च	५०८			आत्मनेपदेष्व	२२४	आम्प्रत्ययवत्	१९३
अश्रोतेश्च	३०१	आ कडारादेका	७०	" "	३६०	आयनेयीनीयि	५५७
अश्वक्षीरवृषल	३४८	आकेस्तच्छील	४२८	आत्मन्विश्च	५९६	आयादय आर्ष	१६७
अश्वपत्यादिभ्य	५५४	आङ् उद्गमने	३५७	आत्ममाने ख	४११	आयुक्तकुशला	४७६
अश्वदिभ्यः	५६०	आङ् मर्यादाभि	४७१	आत्माध्वानौ	५९६	आर्षधातुकं	१४७
अषष्ठ्यरुती	५४८	आङि चापः	८४	आदरानादर	४९८	आर्षधातुकस्ये	१४७
अष्टन आ विभ	१०९	आङि ताच्छ्री	३९७	आदाचार्याणां	६४५	आर्षधातुके	२३१
अष्टाभ्य औश्	१०९	आङो नाऽङ्गियां	७१	आदिकर्मणि	४२२	आर्हादगोपुच्छ	५९६
असमासे नि	५९७	आङो यमहनः	३६०	आदितश्च	४१९	आलजाटचौ	६१४
असंयोजित्	१५६	आङो यि	३८८	आदिरन्त्येन	३	आवट्याच्च	६५७
असांप्रतिके	५७९	आङ्माङोश्च	४५	आदिभिर्दुड	१६२	आवश्यकाम	४५५
असिद्धवदत्रा	२३०	आ च त्वात्	५९९	आदेशप्रत्यय	६१	आशिते भुवः	४०३
असूर्यललाटयोः	४०१	आ च हौ	२७७	आदेच उपदे	१७७	आशिपि लिङ्	१४८
अस्तं च	४९९	आच्छीनद्योः	१३५	आदेशपरस्य	३४	आशिपि च	३९५
अस्ताति च	६१९	आज्जसेरसुक्	६६५	आदगुणः	१६	आशिपि हनः	४०५
अस्तिनास्ति	५९३	आटश्च	७६	आद्यन्तवदेक	१०२	आशंसायां भूत	३८०
अस्तिसिचो	१५५	आङजादीनाम्	१५५	आद्यन्तौ टकि	३८	आशंसावचने	३८१
अस्तेर्भूः	२३५	आङुदत्तमस्य	१४९	आद्युदात्तश्च	६६७	आ सर्वनाम्नः	१२३
अस्थिदधि	९५	आढ्यसुभग	४०७	आधारोऽधिक	४७५	आहस्थः	२७०
अस्मद्युत्तमः	१४४	आण्ण द्याः	७६	आनङ्गतो द्वन्द्वे	५२९	आहि च दूरे	६२०
अस्मायामेधा	६१३	आत ऐ	६६०	आनि लोट्	१४९	इ	
अस्य च्वौ	६३०	आत औ णलः	१७६	आने मुक्	४२७	इकोऽचि विभ	९२
अस्यतिवक्ति	२४०	आतश्चोपसर्गे	३९३	आन्महतः स	४९५	इको झल्	३२९
अस्यतेयुक्	२८९	आतश्चोपसर्गे	४५३	आपत्यस्य च	५५७	इको यणचि	१२
अस्वाङ्गपूर्वप	६५३	आतो छितः	१९२	आपोऽन्यतर	५२२	इकोऽसवर्णे	३०
अहन्	१३३	आतो धातोः	७०	आपञ्चपृथामीत्	३३२	इको हस्वो	५४६
अहंशुभमोयुंसु	६१५	आतोऽनुपसर्गे	३९५	आवाधे च	६३५	इगन्ताच्चलधु	६०१
अहःसर्वकदे	५०३	आतो युक् चि	३७३	आमीक्ष्ये णमु	४५७	इगुपधञाप्रौ	३९३
		आतो शुच्	४५५				

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
इग्यणः संप्र	९८	इदमो हः	६१६	ईपदसमा	६२५	उद्विभ्यां तपः	३५९
इकश्च	३३०	इदितो नुम्	१६२	ईपददुःसुपु	४५५	उद्विभ्यां काकु	५१८
इचर्मव्यतिहारे	५१६	इदुपधस्य चा	४४	ई इल्यधोः	२७६	उपञ्जाते	५८६
इच एकाचो	४११	इदुभ्रथाम्	८७	उ		उपदेशेऽजनु	१६
इच्छा	४५२	इदोऽय् पुंस्ति	१०१	उगवादिभ्यो	५९५	उपदेशेऽज्वतः	१७२
इच्छार्थेषु लिङ्	३८१	इहरिद्रस्य	२६१	उगितश्च	६३९	उपधायां च	१९१
इजादेश्च गुरु	१९३	इदब्रुद्धौ	५२९	उगितश्च	५४४	उपधायाश्च	३१४
इजादेः सनुमः	३८६	इनण्यनपत्ये	५६८	उगिदचां सर्व	१०७	उपपदमतिङ्	५०२
इट् ईटि ।	१५५	इनः स्त्रियाम्	५२२	उच्चैरुदात्तः	४	उपमानाच्च	५२१
इटोऽत्	१९६	इनित्रकटथचश्च	५७०	उच्च्यति	५९२	उपमानाद	५०५
इट् सनि वा	३३५	इन्द्रवरुणम्	६५२	उणादयो बहु	४५०	उपमानादाचारे	३४९
इडत्यतिव्ययती	२२३	इन्द्रे च	२६	उतश्च प्रत्ययाद	१८६	उपमानानि सा	४९६
दणो गा लुङि	२३९	इन्हनुपार्य	१०५	उतो वृद्धिर्लुकि	२३२	उपमितं व्याघ्रा	४९६
इणो यण्	२३८	इरितो वा	१६१	उत्तमैकाभ्याश्च	५०४	उपर्यध्यधसः	६३४
इणः पः	४३	इवे प्रतिकृतौ	६२७	उत्करादिभ्यश्च	५७५	उपर्युपरिष्ठात्	६२०
इणः पीध्वंलुङ्	१९३	इपुगमियमां	१८७	उत्तरमृगपूर्वाच्च	५०५	उपसर्गप्रादुभ्यां	म२३६
इण्कोः	६१	इष्टकेषीकामा	५४६	उत्तराच्च	६२०	उपसर्गस्य घन्य	५५०
इण् निष्ठायां	४२१	इष्टादिभ्यश्च	६०८	उत्तराधरदक्षि	६२०	उपसर्गस्यायतौ	२०८
इतराभ्योऽपि	६१७	इष्टस्य यिट् च	६२४	उत्तरस्यातः	३४०	उपसर्गाच्च	५१९
इतरेतरान्यो	३५५	इसुसुक्तान्तात्	५६९	उत्सादिभ्योऽञ्	५५५	उपसर्गादिसमासे	१६०
इतश्च	१५०	इस्मन्त्रन्	४३९	उद ईत्	१२०	उपसर्गादध्वनः	५३८
इतश्च लोपः	६५९	ई		उदकस्योदःसंज्ञा	५४५	उपसर्गाद्विधातौ	२१
इतश्चानिभः	५६०	ई ब्राध्मोः	३४३	उदक्षरःसकर्म	३६४	उपसर्गादध्रस्व	३६३
इतोऽत्सर्वना	१०८	ई च गणः	३१९	उदःस्थास्तम्भोः	३४	उपसर्गाः क्रिया	२१
इतो मनुष्य	६५६	ईहजनोर्ध्वे च	२६५	उदात्तादनुदात्त	६६६	उपसर्गात्सुनोति	१५७
इत्थंभूतलक्ष	४६९	ईदग्नेः सोम	५२९	उदि कूले रुजि	४००	उपसर्गे च सं	४१४
इदं किमोरी	५४८	ईदासः	४२७	उदितो वा	४५६	उपसर्गेधोः किः	४५२
इदं किमोरीश्	६०६	ईदूदेद्विचनं	२७	उदीचामातः	६४४	उपसर्जनं पूर्वम्	४८०
इदम् इश्	६१६	ईद्यति	३८७	उदीचां वृद्धाद	५६२	उपसर्गाकाल्या	३८९
इदमस्थमुः	६१८	ईयसश्च	५२३	उदुपधाङ्गावादि	४२२	उपसंवादाश्च	६६०
इदमो मः	१०१	ईशः से	२६५	उदोनूर्ध्वकर्मणि	३५९	उपाच्च	३६७
इदमो हिङ्	६१७	ईपदर्थे	५४९	उदोष्ठधपूर्वस्य	५००	उपाजेऽन्वाजे	५००

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
उपाद्यमः	३६४	ऊर्णोतिर्विभाषा	२७१	एकवचनस्य च	११४	परनेकाचोऽसंयो	७७
उपात्प्रतियल	३२०	ऊर्णोतिर्विभाषा	२७२	एकवचनं संयु	५७	एरुः	१४८
उपात्प्रशंसायाम्	३८८	ऊर्ध्वादिभाषा	५२०	एकविभक्तिचा	५०१	एलिङि	१७६
उपाधिभ्यां त्यक	६०४	ऊर्यादिच्चिडा	४९७	एकस्य सकृच्च	६२८	एरच्	४५१
उपान्मन्त्रकरणे	३५९	ऊर्ध्वयुषिमुष्कम्	६११	एकहलादौ पूर	५४५	ऐ	
उपान्वध्याङ्	४६५	ऋ		एकाच उपदेशे	१६८		
उपेयिवानना	४२७	ऋक्पूरब्धूः	५३५	एकाचो द्वे प्रथ	१४६	ओ	
उपोऽधिके च	४६६	ऋच्छत्युताम्	२७६	एकाचो वशो	९७		
उपोत्तमं रिति	६६७	ऋणमाधम	४२०	एकाच्च प्राचाम्	६२६	ओजःसहो	५३९
उभयप्राप्तौ कर्म	४७३	ऋत उत्त	८०	एकादाकिनि	६२१	ओतः इयनि	२८४
उमादुदात्तो	६०६	ऋतश्च	३४६	एकाद्वो ध्यमु	६२१	ओत्	२९
उमे अभ्यस्तम्	१२३	ऋतष्ठञ्	५८४	एकाजुत्तरपदे	१०६	ओतोगार्ग्यस्य	४९
उमौ साम्यासस्य	३२६	ऋतश्चसंयोगादेः	२९९	एको गोत्रे	५५६	ओदितश्च	४१७
उरण् रपरः	१७	ऋतश्चसंयोगा	१८२	एङः कदान्ता	२५	ओमाङोश्च	२४
उरःप्रसृतिभ्यः	५२२	ऋतेरीयङ्	२२७	एङि पररूपम्	२२	ओरञ्	५८७
उरत्	१६७	ऋतो ङिसर्व	७९	एङ् ह्रस्वात्संबुद्धेः	५८	ओरावश्यके	३९०
उर्हत्	३१३	ऋतो भारद्वाज	१७२	एच् इग्रस्वादेशे	९६	ओर्गुणः	५५६
उश्च	२१६	ऋतो विद्यायो	५४२	एचोऽयवायावः	१४	ओसि च	६०
उषविदजागृभ्यो	२३३	ऋत्यकः	३०	एजेः खश्	३९९	ओःपुण्यपरि	३२१
उत्स्यपदान्तात्	१५१	ऋतिवग्दधृक्	१०९	एजेः खश्	३९९	ओः सुपि	८२
	१७७	ऋधुपधाच्चा	३८७	एण्या ढञ्	५८८	औ	
	१८७	ऋदुशनस्पुर	७९	एत ईद्वहु	१२८		
ऊ		ऋदुशोऽङि गु	१८५	एत ऐ	१९५	औङ आपः	८४
		ऋद्वनोः स्ये	१८३	एतत्तदोः सुलो	५२	औतोऽम्शसोः	८३
ऊकालोऽङ्गस्व	४	ऋन्नेभ्यो ङोप्	९०	एतत्तदोः सुलो	५२	औत्	७३
ऊङुतः	६५६	ऋण्यन्धकवृष्णि	५५८	एतदोऽन्	६१६	कः	
ऊतियूतिजूति	४५२	ऋहलोर्ण्यत्	३९०	एतिस्तुशास्	३८९		
ऊदनोर्देशे	५३५	ऋ		एतेतौ रथोः	६१७	कङारः कर्म	४९६
ऊधसोऽनङ्	६४८	ऋत इद्धातोः	३०९	" "	६१८	कणेमनसी	४९८
	५२०		४५१	एतेर्लिङि	२३८	कण्डवादिभ्यो	३५४
ऊरुत्तरपदादौ	६५७	ऋदोरप्	४५१	एत्येधत्यूठ्सु	१९	कन्यायाः कनीन	५५९
ऊर्णया युस्	६१४	ए		एधाच्च	६२१	कपिज्ञात्योर्ढक्	६००
		एकं बहुव्रीहि	६३५	एनपा द्वितीया	४७४	कमेर्णिङ्	१९७
				एनवन्यतरस्या	६२०	कम्बलाच्च संज्ञा	५९५
						कम्बोजाल्लुक्	५६३

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
करणाधिकरण	४५४	कस्कादिपु च	४३	कुत्सिते	६२५	कोःकत्तपुरवे	५४८
करणे यजः	४१२	कस्येत्	५६६	कुन्वोः < क > पो ४२		कोशाड्डन्	५८२
करणे हनः	४५९	कस्य च दः	६२५	कुमति च	५५२	किञ्चित् च	१५२
कर्तरि कर्मव्य	३५५	काण्डाण्डादी	६१२	कुमह्ङ्गयामन्य	५०६	क्तवतूनिष्ठा	४१५
कर्तरि च	४९१	काण्डाण्ताक्षेत्रे	६४७	कुमारशीर्षयोर्णि	४०५	क्तस्य च वर्त	४७३
कर्तरि कृत्	३८५	कानात्रेडिते	४४	कुमुदनडवेतसे	५७४	क्तिचूत्तौ च संवा	४५५
कर्तरि भुवः	४०७	कापथ्यक्षयोः	५४०	कुरुनादिभ्यो	५६६	क्तेन च तूजायां	४९१
कर्तरि शप्	१४४	काम्यच्च	३४९	कुलटाया वा	५६०	क्तोऽधिकरणे च	४२४
कर्तुरीप्सिततमं	४६२	कालसमयवेलासु	४५०	कुलात्त्वः	५६१	क्त्रेर्मन् नित्यम्	४५१
कर्तुः क्यङ्	३५०	कालाट्टञ्	५८०	कुशाग्राच्छः	६२७	क्त्वातोऽनुक्वसु	१४०
कर्तृकरणयोस्तृ	४६८	कालाध्वनोरत्य	४६७	कुपिरजोः प्राचां	३७८	क्त्वा च	५०३
कर्तृकरणेकृता	४८८	कालाः परिमा	४९३	कुहोक्षुः	१५९	क्यचि च	३४७
कर्तृकर्मणोःकृति	४७२	काश्यादिभ्यष्टञ्	५७८	कृजो द्वितीयत्	६३२	क्यङ्मानिनोश्च	५१३
कर्मणा यमभि	४६९	कासूगोणीभ्यां	६२६	कृजो हेतुताच्छी	३९८	क्यञ्योश्च	६३०
कर्मणि घटोऽठच्	६०५	कितः	६६७	कृजः, श च	४५२	क्यस्य विभा	३४९
कर्मणि च	४९१	किति च	५५५	कृजानुप्रयुज्यते	१६७	क्रतौ कुण्डपा	३९२
कर्मणि द्वितीया	४६२	किदाशिधि	१५२	कृचद्वितसमासा	५४	क्रतृकथादिसू	५७१
कर्मणि हनः	४१२	किमश्च	६१८	कृचयचः	३८६	क्रमादिभ्यो	५७१
कर्मणीनि विक्रि	४१३	किमिदंभ्यां	६०६	कृत्यल्लुटो बहुलं	३८७	क्रमः परस्मैप	१७४
कर्मणोरोमन्थत	३५१	किमेत्तिङ्व्यय	६२२	कृत्यार्थे तवैके	६६२	क्रय्यस्तदर्थे	१६
कर्मण्यग्न्याख्या	४१३	किमोऽत्	६१७	कृत्याः	३८५	क्रय्ये च	४०९
कर्मण्यण्	३९५	किमः कः	१०१	कृत्यानां कर्तरि	४७३	क्रियासमभिहा	३८२
कर्मन्दकृशाश्वा	५८६	किमः क्षेपे	५३९	कृत्याश्च	४५५	क्रीडजानां णी	३६७
कर्मप्रवचनीया	४६६	किमःसंख्यापरि	६०६	कृदतिङ्	११०	क्रीडोनुसंपरि	३५६
कर्मप्रवचनीयाः	४६६	किरतौ लवने	३०९	कृन्मेजन्तः	१३९	क्रीतात्करण	६५२
कर्मवत्कर्मणातु	३७५	किरश्च पञ्चम्यः	३३१	कृपो रो लः	२१२	क्रयादिभ्यःश्ना	३०५
कल्याण्यादीना	५६०	कियत्तदोर्निर्दा	६२६	कृन्वस्तियोगे	६३०	क्रिशःक्त्वानि	४२१
कवं चोष्णे	५४९	किंसर्वनामबहु	६१६	कृत्सृष्टुस्तुसु	१७२	कसुश्च	४२६
कषादिपुयथा	४५८	कुगतिप्रादयः	४९७	केऽणः	५११	क्वाति	६१७
कष्टाय क्रमणे	३५१	कुटीशमीशुण्डा	६२६	केऽराचञ्च	५६८	किप्रत्ययस्य	११०
कंशंभ्यां वभयु	६१५	कुतिहोः	६१६	केशाशाभ्यां	५६९	किप् च	४१०
कंसाट्टिठन्	५९७	कुत्वाडुपच्	६२६	केशाद्वोऽन्यतर	६१२	क्षत्राद्धः	५५९

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
क्षय्यजय्यौ	१६	गवियुधिभ्यां	५४०	ग्रहोऽलिति	३०८	चतुर्थी तदर्था	४८८
क्षायो मः	४१९	गस्थकन्	३९४	ग्रामकौटान्यां	५०५	चतुर्थी सम्प्र	४६९
क्षिप्रवचने	३८०	गहादिभ्यश्च	५७९	ग्रामजनवन्धु	५६९	चरणे ब्रह्मचा	५४७
क्षियो दीर्घात्	४१५	गाढ कुटादि	२६५	ग्रामाद्यख्यौ	५७६	चरति	५११
क्षुद्रजन्तवः	५२७	गाढ लिति	२६४	ग्रान्यपशुसंघे	५३४	चरफलोश्च	३४०
क्षुद्राभ्यो वा	५६१	गाण्ड्यजगात्सं	६१२	ग्रीवाभ्योऽण् च	५८३	चरेष्टः	३९७
क्षुम्नादिषु च	३०१	गातिस्थाधुपा	१५२	ग्रोयङि	३४१	चलनशब्दा	४३०
क्षेमप्रियमद्रे	४०३	गापोष्ठक्	३९६	ग्लजिस्थश्च	४२९	चादयोऽसरेवे	२८
क्षसस्याचि	२६८	गिरिश्वसेनकस्य	४८५	घ		चायः कौ	३४२
ख		गुणवचनत्रा	६००	घञः सास्यां	५७०	चार्ये द्वन्द्वः	५२५
खचि ह्रस्वः	४०२	गुणोऽपृक्ते	२७२	घञि च भाव	४५१	चिणो लुक्	२९३
खरवसानयो	४०	गुणो यङ् लुकोऽ३३७		घरूपकल्पचे	५४३	चिण्णमुलोदी	३७३
खरि च	३५	गुणोतिसंयो	१८३	घुमास्थागापा	२६५	चिण् ते पदः	२९४
खलगोरथात्	५६९	गुपूधूपविच्छि	१६६	घेङिति	७२	चिण्भावकर्म	३७०
खार्याः प्राचाम्	५०५	गुसिज्जिङ्गयः	३३६	घ्वसोरेद्भाव	२३६	चित्याग्निचित्ये	३९२
खित्यनव्ययस्य	४००	गुरोरनृतोऽनन्त्य	२७	ङ		चितः	६६७
ख्यात्यात्परस्य	७३	गुरोश्च हलः	४५२	ङमो ह्रस्वादचि	४०	चुद्ध	५७
ग		गेहे कः	३९४	ङसिङसोश्च	७२	चोः कुः	१११
गतिबुद्धिप्रत्यय	४६३	गोतो णित्	८३	ङिसिङयोः स्मा	६२	चौ	१२०
गतिश्च	७८	गोत्रचरणाद्	५८६	ङिच्च	२६	च्लि लुङि	१५२
गत्यर्थार्कर्मक	४२३	गोत्रादङ्कवत्	५८४	ङिति ह्रस्वश्च	८६	च्लेः सिच्	१४२
गदमदचरयम	३८८	गोत्राद्यून्यस्त्रि	५५७	ङेप्रथमयोरम्	११२	च्वौ च	६३१
गन्धनावक्षेपण	३६५	गोत्रे कुञ्जादि	५५९	ङेराभ्यन्तगाम्नीभ्यः	७७	छ	
गन्धस्येदुत्पूति	५२१	गोत्रे लुगाचि	५५६	ङेर्यः	५९	छन्दसिलिट्	४२६
गमश्च	४०४	गोत्रोक्षोष्टोरञ्ज	५६८	ङणोः कुक्कुक्	३८	छन्दस्युभयथा	६५१
गमहनजनखन	१८७	गोधायाङ्क्	५६१	ङयाप्राति	५५	छन्दसि परेऽपि	६५८
गमेरिट् परस्मै	१८८	गोपयसोर्यत्	५८८	च		छन्नादिभ्यो	५९३
गमः कौ	४१०	गोपुञ्छाङ्क्	५९०	चक्षिङः ख्या	२६६	छोदेर्घेऽद्भ्युपस	४५४
गम्भीराब्ज्यः	५५३	गोरतद्धितलु	४९४	चङि	१७८	छायाबासुल्ये	५०८
गर्गादिभ्यो	५५६	गोश्च पुरीषे	५८८	चजोः कुधिण्यश्च	३९०	छे च	४४
गर्गात्तरपदा	५७८	गोस्त्रियोरुप	५०१	चटकाया ऐरक्	५६०	छ्वोः शङनुना	३३२
गवाश्चप्रभृती	५२७	ग्रहिज्यावयि	२२२	चतुरनङुहो	९९		

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
ज		ज्य च	५२३	ठगायस्थानेभ्यः	५८४	तत्पुरुषे कृति	४१४
जक्षित्यादयः	१२३	ज्यादादीयसः	६२३	ठक्कवचिनश्च	५६९	तत्पुरुषः	४८६
जनपदशब्दात्	५६२	ज्योतिर्जनपद	५४७	ठस्येकः	५५९	तत्पुरुषः समा	४९५
जनपदे लुप्	५७४	ज्वरत्वरस्त्रिव्य	४३७	ड		तत्प्रकृतवचने	६२७
जनसनखनां	३१८	ज्वलितिकसन्ते	३९३	डति च	७४	तत्प्रयोजको	३२०
जनिकर्तुः प्रकृ	४७०	झ		डः सि धुट्	३८	तत्र जातः	५८२
जनिवध्योश्च	२९४	झयः	४६५	डाडुभाभ्यामन्य	६४१	तत्र तस्येव	५१९
जपजमदहदश	३४०	"	५७४	डिवतः क्त्रः	४५१	तत्र तेनेदमिति	५१६
जान्वावा	५८८	झयोहोऽन्य	३५	ढ		तत्र नियुक्तः	५९३
जराया जरस	६७	झरो झरिसवर्णे	३५	ढकि लोपः	५६१	तत्र भवः	५८३
जल्पमिक्षुकृ	४३१	झलां जश्	१३	ढोढे लोपः	५१२	तत्र साधुः	५९४
जश्शसोः शिः	९१	झलां जशोऽन्ते	३३	ढू लोपे पूर्वस्य	५१	तत्रोद्धृतममत्रे	५६६
जसि च	७१	झलो झलि	१७१	ण		तत्रोपपदं	५०२
जशः शां	६२	झपस्तथो	१८९	णलुत्तमो वा	१५९	" "	३९५
जहातेश्च	२७६	"	२२०	णचश्च	३११	तत्सर्वादिः पथ्य	६०२
जहातेश्च क्त्व	४५६	झस्य रन्	१९६	णिश्चिद्रुसुभ्यः	२००	तदधीते तद्वेद	५७१
जाग्रोऽविचिण्ण	२६०	जेर्जुस्	१५१	णेरनिटि	२००	तदधीनवचने	६३१
जातिरप्राणिनां	५२६	ज्ञोन्तः	१४४	णेर्विभाषा	३८६	तदर्हति	५९८
जातेरस्त्रोविपया	६५५	ञ		णो नः	१६०	तदस्मिन्नधिक	६०६
जातेश्च	५१५	जीतः क्तः	४२५	णौ गमिरबोधने	३२६	तदस्मिन्नस्तीति	५७२
जानपदकुण्डगो	६५०	जित्यादिर्नित्यं	६६७	णौ चङ्चुपधाया	२०१	तदस्य पण्यम्	५९२
जायानिङ्	५२१	व्यादयस्तद्राजाः	६२९	णौ च संश्च	३२३	तदस्य परिमाणं	५९८
जिघ्रतेर्वा	३२४	ट		" "	३६७	तटस्य सजातं	६०५
जिह्वामूलङ्गुले	५८४	टाडसिङ्गसा	५९	ण्यासथन्थो युच्	४२३	तदस्यास्त्यस्मि	६०९
जीर्यतेररुन्	४२५	टावृचि	६४०	ण्युट् च	३९४	तदस्यांप्रहरण	५७०
जीवति तु वंश्ये	५५७	टिङ्ढाणब्द्वय	६४५	ण्वुलृचौ	३९२	तदोः सः साव	११२
जीविकोपनिष	५०१	टित आत्मने	१९२	त		तदो दा च	६१७
जुसि च	२६१	टेः	९२	तडानावात्मने	१४३	तद्वच्चति पथि	५८५
जुहोत्यादिभ्यः	२७२	टेः	६००	तत आगतः	५८४	तद्राजस्य बहुषु	५६३
जस्तम्भुमुचुम्भु	३०७	ट्वितोऽयुच्	४५१	तत्पुरुषस्याङ्गुले	५०३	तद्वहति रथयुग	५९४
ज्ञाजनोर्जा	२९३	ठ				तद्वितश्चासर्वेचि	१३९
ज्ञाशुस्मृदृशां	३६४	ठक्छौ च	५७४			तद्वितस्य	६६७

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
तद्धिताः	४८४	तस्य पूरणे ङट् ६०७		तुन्दिवलिवटे	६१५	तोळि	३४
तद्धितार्थोत्तरपद ४९३		तस्य भावस्त्व ५९९		तुभ्यमहौ	११४	तोः षि	३३
तद्धितेष्वचामा ४९४		तस्य लोपः ३		तुमर्थे सेसेन ६६२		तौ सत्	४२८
तनादिकृष्ण्य २३४		तस्य विकारः ५८७		तुमुन्नुलौ क्रिया ४५०		त्यदादिपुट्टो	१२३
” ” ३१७		तस्य समूहः ५६८		तुरुस्तुशम्यमः २३७		त्यदादीनामः	७५
तनादिभ्यस्तथा ३१७		तस्यापत्यम् ५५५		तुल्यास्यप्रयत्नं ६		त्यदादीनिच ५३३	
तनूकरणेत्क्षः १९०		तस्येदम् ५८६		तुह्योस्तातङ् १४८		त्यदादीनि च ५७७	
तनोतेर्यकि ३७२		तस्येश्वरः ५९८		तृजकाभ्यां क ४९१		त्रसिगृधिधृषि ४२९	
तनोतेर्विभाषा ३३४		ताकृषील्यवयो ४२८		तृज्वत्क्रोष्टुः ७८		त्रपुजतुनोः	५८७
तपः सहस्राभ्यां ६११		तान्येकवचन १४३		तृणह इम् ३१३		त्रिचतुरोः स्त्रि ८७	
तंपरस्तात्कालस्य १६		तासस्त्योलोपः १४७		तृणे च जातौ ५४९		त्रेस्त्रयः	७५
तपस्तपःकर्मक ३७६		तासि च क्ल २१२		तृतीया च होः ६५८		त्रेस्त्रयः	५०६
तपोऽनुतापे च ३७२		तिकादिभ्यः ५६२		तृतीयातत्कृ ४८७		त्रेः संप्रसारणं ६०७	
तयोरेव कृत्यक्त ३८५		तिङश्च ६२२		तृतीयादिपुमा ९३		त्वमावेकवच ११३	
तरति ५९०		तिङ्छाणित्री १४३		तृतीयाप्रभृती ५०३		त्वामौ द्विती ११६	
तरप्तमपौ घः ६२२		तिङ्शित्सार्व १४४		तृतीयासप्तम्यो ४८०		त्वाहौ सौ ११२	
तवकममकावेक ५७९		ति च ४१९		तृतीया समासे ६६		थ	
तवममौढसि ११५		तितुत्रतथसिमु ४३३		तृतीयार्थे ४६६		थलि च सेटि १६१	
तव्यत्तभ्यानीय ३८५		तित्स्वरितम् ६६७		थन् ४२८		थासः से १९२	
त्तसिलादिष्वा ५१२		तिप्तस्त्रिसिप् १४३		तुफलमजत्रपश्च २१३		थोन्थः १०८	
त्तसौ मत्वर्थे ६०९		तिप्यनस्तेः २६२		ते तद्राजाः ५६३		द	
त्तस्थस्थमिपां १४९		तिरसस्तिर्यलो १२१		तेन क्रीतम् ५९८		दक्षिणादाच् ६२०	
त्तस्माच्छसोनः ५८		तिरसोऽन्यतर ४९९		तेन तुल्यक्रिया ५९९		दक्षिणोत्तरा ६१९	
त्तस्मादित्युत्तरस्य ३४		तिरोऽन्तर्धौ ४९९		तेन दीव्यति ५९०		दक्षिणापश्चा ५७६	
त्तस्मान्नुच्चि ४९७		तिर्विशतेर्दिति ५१५		तेन निर्वृत्तं ५९८		दण्डादिभ्यो ५९८	
त्तस्मान्नुद्धिह १६४		तिष्ठतेरिच् ३२४		तेन निर्वृत्तं ५७२		ददातिदधात्यो ३९३	
तस्मिन्नणि च ५७९		तिष्ठदगुप्रभृती ४८३		तेन प्रोक्तम् ५८५		दधस्तथोश्च २८०	
तस्मिन्निति निर्दि १२		तीर्थे ये ५४७		तेन रक्तं रागात् ५६४		दधातेर्हिः ४२३	
तस्मै हितम् ५९५		त षिसहस्रम् १९१		तेन वित्तश्चुष्पू ६०३		दन्त उन्नत ६११	
तस्य निवासः ५७३		तुदादिभ्यः शः ३०२		तेन सहेतिपु ५१७		दन्तशिखात्सं २१३	
तस्य परमात्रेडितं ४४		तुन्दशोकयोः ३९६		ते प्राग्धातोः १४९		दध्मष्क् ५६६	
तस्य पाकमूले ६०३		तुन्दादिभ्य इल् ६१३		तेमयावेकव ११६		दम्भ इच्च ३३३	

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
दयायासश्च	२०८	दीर्घं च	२७	द्वन्द्वाच्चुदपहा	५३०	धातोरैकाचो	३३७
दश्च	१०२	दुःखात्प्रातिलो	६३३	द्वन्द्वे धि	५२५	धातोस्तन्निमित्त	१५
दश्च	२३५	दुष्कुलाउदक्	५६१	द्वन्द्वे च	६६	धातोः	१४१
दाणश्च सा	३६४	दुहः कब्धश्च	४०९	द्वारादीनां च	५८०	"	३८५
दादेर्धातोर्वः	९७	दुहश्च	३७७	द्विगुरेकवचनम्	४९५	"	६६६
दाधाध्वदाप्	१७८	दुरान्तिकाथैः	४७५	द्विगुश्च	४८६	धातोः कर्मणः	३२८
दानीं च	६१७	दूराद्धूते च	२६	द्विगोः	६४६	धात्वादेः पः सः	९८
दामहायनान्ता	६४८	दृग्दृशवतुप्	५४७	द्वितीयतृतीय	४९२	धान्यानां भवने	६०२
दान्नांशसयुयु	४३३	दृढः स्थूलबल	४२३	द्वितीयादौस्त्वे	१०४	धि च	१९४
दाशानोघ्नौसम्प्र	४५०	दृतिक्कुक्षिकल	५८३	द्वितीयायां च	११३	धुरो यङ्ङकौ	५९४
दिकपूर्वपदाद	४९४	दृशेः कनिप्	४१४	द्वितीयाश्रिताती	४८६	ध्रुवमपायेऽपदा	४७०
दिकशब्देभ्यः	६१९	दृशे विख्येच	६६२	द्वित्रिचतुर्भ्यः	६२७		
दिकसंख्ये सं	४९३	दृष्टं साम	५६५	द्वित्रिभ्यां तय	६०६	न	
दिगादिभ्यो	५८३	देये त्रा च	६३२	द्वित्रिभ्यां प मू	५१७	न कधि	५११
दिङ्नामान्य	५१६	देवताद्वन्द्वे च	५२९	द्वित्रिभ्यामञ्जलेः	५०६	न कचेतेर्यङि	३४०
दित्यदित्या	५५४	देवताद्वन्द्वे च	५६७	द्वित्र्योश्च धमुञ्	६२१	न कोपधायाः	५१३
दिव उट्	१००	देवात्तल्	६२८	द्विवचनेऽचि	१६७	न क्त्वा सेट्	४५६
दिव औट्	१००	देविक्रुशोश्चोप	४३१	द्विवचनविभज्यो	६२२	न क्रोडादिवह	६५५
दिवस्तदर्थस्य	४७५	देशे लुविलचौ	६११	द्विपश्च	२६७	नक्षत्रेण युक्तः	५६५
दिवः कर्म च	४६८	देवतान्तात्ता	६२८	द्विपत्परयोस्ता	४०२	नखमुखात्संज्ञा	६५५
दिवादिभ्यः	२८३	देवमनुष्यपुरु	६३२	द्विपादनुसमुद्रं	५८०	न गतिर्हिसार्थे	३५५
दिवाविमानि	३९८	दोदद्धोः	४२३	द्वेस्तीयः	६०७	नगरात्कुत्सनप्रा	५७८
दिशो धावा	५३०	दोषो णौ	३२६	द्व्यन्भगधकलि	५६३	न हिसंयुद्धयोः	१०४
दिवोऽविजिगी	४१८	द्यतिस्यतिमा	४२३	द्व्यष्टनः संख्या	५०६	न चवाहाहैव	११७
दीङो युडचि	२९२	द्यावापृथिवी	५६७	द्व्यन्तरूपसर्गे	५३५	नञ्	४९७
दीपजनबुध	२९३	द्युतिस्वाप्योः	२०९	द्व्येकयोर्द्विवचने	५५	नअस्तत्पुरुषात्	५३९
दीर्घः इणः कि	२३८	द्युद्रुभ्यां मः	६१२	घ		नञ्दुःसुभ्योहलि	५१९
दीर्घाच्च वरुण	५६८	द्युद्भ्यो लुङि	२०९	धनुषश्च	५२०	नडशादाङ्	५७४
दीर्घाञ्जसि च	६९	द्युप्रागपागुदक्	५७६	धन्वयोपधाङ्	५७८	नडादिभ्यः कक्	५५९
दीर्घात्	४५	द्रवमूर्तिस्पर्शयोः	४१७	धर्मादनिच्केव	५२०	नडादीनां कुक्	५७५
दीर्घोऽकितः	३३८	द्वन्द्वमनोज्ञादि	६०२	धर्मं चरति	५९२	न तिसृचतसृ	८८
दीर्घो लघोः	२०१	द्वन्द्वश्च प्राणित्	५२६	धातुसम्बन्धेप्र	३८२	नतेनासिकायाः	६०४
						न दधिपयआदी	५२८

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
नदीपौर्णमास्या ४८५		न व्याभ्यां पदा ५७१		नानोर्ज्ञः ३६५		निष्ठा ५२४	
नदीमिश्र ४८४		नरे संज्ञायाम् ५५१		नान्तादसंख्या ६०७		निष्ठायामण्यद ४१५	
न दुहस्तुनमां ३७७		न लिङि ३००		नाभ्यस्तस्या २८२		निष्ठाशीङ्स्वि ४२२	
न दृशः १८५		न लुमताङ्गस्य ७४		नाभ्यस्ताच्छ १२३		निष्ठायां सेटि ४२३	
नद्यादिभ्यो ढक् ५७६		न लोकाव्ययनि ४७३		नामन्त्रिते स ११९		निसमुपविभ्यो ३६३	
नद्याः शेषस्या ५४४		नलोपो नञः ४९७		नाभि ६१		निसस्तपताव १७४	
नद्यां मतुप् ५७४		नलोपः प्रातिप ७३		नावो द्विगोः ५०५		नीग्वश्चुस्रसु ३४३	
नद्यृतश्च ५११		नलोपः सुप्स्वर १०५		नाच्ययीभावा ४८१		नीचैरनुदात्तः ५	
नध्याख्यापृमूर्द्धि ४२०		न ल्यपि ४५७		नासिकास्तन ४००		नुगतोऽनु ३४२	
न निर्धारणे ४९०		न वशः ३४२		नासिकोदरौष्ठ ६५४		नुदविदोन्द्र ४१९	
ननौ पृष्ठप्रतिव ३७९		न विभक्तौ ५७		निकटे वसति ५९३		नुम्बिसर्जनीय १२५	
नन्दिग्रहिपचा ३९२		न वृद्धयश्चतु २१०		निकटे वसति ५९३		नृ च ८३	
नन्दाः संयोग २७१		नव्योलिटि २२३		निगरणचलना ३६८		नन्ये ४२	
नन्वोर्विभाषा ३७९		न शब्दश्लोककल ३९९		निजां त्रयाणां २८१		नेटि १७०	
न पदान्तद्विर्व ४३२		न शसददवादि १६५		नित्यं करोतेः ३१९		नेट्यलिटिरधेः २८६	
न पदान्ताट्टोर ३२		नशेर्वा १२४		नित्यं कौटिल्ये ३३८		नेड्वशि कृति ४०९	
नपरे नः ३८		नशोःपान्तस्य २८६		नित्यं कितः १५०		नेदमदसोरकोः १०२	
न पादभ्याङ्ग्य ३६८		नश्च ३९		नित्यमसिच्च ५२०		नेन्द्रस्य परस्य ५६७	
नपुंसकमनपुंस ५३२		नश्चापदान्तस्य ३६		नित्यवीप्सयोः ४५७		नेयङ्वुङ्स्थाना ८९	
नपुंसकस्य श्लचः ९१		नश्चपदान्तस्य ३६		नित्यं वृद्धश ५८८		नेर्गदनदपतपद १५९	
नपुंसकाच्च ९१		नश्चव्यप्रशान् ४२		नित्यं शता ६०७		नेर्विशः ३५५	
नपुंसकादन्यत ४८४		नषट्स्वस्त्रादिभ्यः ९०		नित्यं सपत्न्या ६४९		नोदात्तोपदेश ३७३	
नपुंसके भावे ४२५	}	नसंख्यादेःसमा ५०४		नित्यं हस्तेपा ५००		नोपधायाः १०९	
नपुंसके भावे ४५४		न संख्यायाम् ५२२		निन्दर्हिसक्लि ४३१		नौद्वयचष्टन् ५९१	
न पूजनात् ५३८		न संप्रसारणे १०८		निपात एकाज २८		नौवयोधर्मविष ५९४	
न मकुर्छुराम् ३१९		न संयोगाद्वम १०५		निमूलसमूल ४५८		नः क्ये ३४८	
न भाभूप्रकामि ३८७		नस्तद्धिते ४८४		निरः कुषः ३०९		न्यग्रोधस्य च ५८८	
न भूसुधियोः ७८		नहिद्वृत्तिवृषिच्य १२९		निर्वाणोऽवाते ४१८			
न माङ्गयोगे १५३		नहो धः १२९		निर्वृत्तेःक्षच् ५९२			
न मुने १२८		नाग्लोपिशा ३१५		निवासचित्ति ४५१			
नमः स्वत्तिस्वा ४७०		नाश्चे पूजायां १२१		निशाप्रदोषा ५८०			
न यदि ३७८		नाडीमुष्टयोश्च ४००		निष्कुलानि ६३३			
न यासयोः ६४३		नादिचि ५८		निष्ठा ५१५			

प

पक्षात्तिः ६०३	
पक्षिमत्स्यमृगा ५९२	
पङ्गोश्च ६५६	
पङ्क्तिर्विशति ५९८	

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
पचो वः	४१९	परेर्वर्जने	६३४	पुरुषात्प्रमाणे	६४७	प्रकारे गुणव	६३५
पञ्चमी विभक्ते	४७७	परोक्षे लिट्	१४५	पुरोज्ययम्	४९९	प्रकाशनस्थेया	३५८
पञ्चमी भवेन	४८९	पर्पादिभ्यः	५९१	पुंवत्कर्मधारय	४९५	प्रकृत्यान्तःपाद	६६३
पञ्चन्यपाङ्परि	४७२	पर्याभिभ्यां च	६१६	पुवः संज्ञायान्	४३४	प्रकृत्यैकाच्	६२३
पञ्चन्या अत्	११४	पलाशादिभ्यो	५८७	पुपादिद्युता	१८८	प्रकृत्याशिपि	५१७
पञ्चन्यामजातौ	४१५	पश्याथैश्चाना	११८	पुष्यसिद्धयौ	३९१	प्रज्ञादिभ्यश्च	६२९
पञ्चन्यास्तसिल्	६१६	पश्चात्	६२०	पुंसि संज्ञायां	४५४	प्रज्ञाश्रद्धादर्चा	६१०
पञ्चन्याः स्तो	४८९	पाककर्णपणं पु	६५६	पुंसोऽसुह्	१२६	प्रतिः प्रतिनिधिः	४७२
पतिः समास	७३	पात्राध्माधेट्टु	३९३	पूगाम्भ्योऽग्रा	६२९	प्रतिनिधिप्रति	४७२
पत्यन्तपुरोहि	६००	पात्राध्मास्था	१७६	पूङ्क्ष	४२१	प्रतियोगे पञ्च	६३०
पद्युनो यज्ञसं	६४९	पाणिवताडवौ	४०७	पूङ्गः क्त्वा च	४२१	प्रतेश्च	४१८
पत्रपूर्वादञ्	५८६	पादस्य पदा	५४४	पूतकृतोरै च	६४९	प्रतेरुरसः सप्त	५३८
पथिमथ्यमुक्षा	१०८	पादस्य लोपो	५१८	पूरणगुणसुहि	४९०	प्रत्यभिभ्यां ग्रहेः	३९१
पथो विभापा	५३९	पादः पत्	११९	पूर्णादिभापा	५१८	प्रत्ययलोपे प्रत्यय	७३
पदव्यवायेऽपि	५५२	पादार्धाभ्यां च	६२८	पूर्वत्रासिद्धम्	१८	प्रत्ययः	५५
पदान्तस्य	५९	पादोऽन्यतर	६४०	पूर्वपदात्संज्ञा	५१८	प्रत्ययस्थात्	६४२
पदान्ताद्वा	४५	पानं देशे	५५२	पूर्वपरावरदक्षि	६४	प्रत्ययस्य लुक्	७४
पदास्वैरिवा	३९१	पारस्कारप्रभृती	५५३	पूर्ववत्सनः	३३१	प्रत्ययोत्तरपद	५७९
पदज्ञोमासहृन्निश	६९	पाराशर्याशिला	५८५	पूर्ववदश्वबडवौ	५०७	प्रथमचरमतया	६७
पद्यत्यतदर्थे	५४४	पारेमध्ये पष्ठथा	४८३	पूर्वसदृशसमो	४८७	प्रथमयोः पूर्वस	५७
परबलिङ्गं द्वन्द्व	५०७	पाशादिभ्यो यः	५६९	पूर्वादिनिः	६०८	प्रथमानिर्दिष्टं	४८०
परश्च	५५	पिता मात्रा	५३३	पूर्वाधरावराणा	६१९	प्रथमायाश्च द्विव	११२
परस्मैपदानां	१४६	पितुर्यच्च	५८४	पूर्वापराधरोत्तर	४९१	प्रनिरन्तःशरेक्षु	५५१
परस्य च	५४०	पितृभ्यमातु	५६८	पूर्वादिभ्यो नव	६५	प्रभवति	५८५
परः सन्निकर्षः	११	पितृव्यसुदृच्छण्	५६१	पूर्वाऽभ्यासः	१४६	प्रमाणे द्वयसं	६०५
परिक्रयणे संप्र	४६९	पुगन्तलघूपध	१५६	पूःसर्वयोर्दारि	४०२	प्रथैरोहिभ्यै	६६२
परिनिविभ्यः	१५८	पुच्छभाण्डचो	३५२	पृथग्विनानाना	४७१	प्रशस्यस्य श्रः	६२२
परिमाणान्त	५९७	पुमः खयम्परे	४१	पृथ्वादिभ्य इम	५९९	प्रशंसायां रूप	६२४
परिमाणे पचः	४००	पुमान्निभ्या	५३२	पृषोदरादीनि	५४९	प्रश्ने चासन्न	३७९
परिवृत्तो रथः	५६६	पुंयोगादाख्या	६५१	पेष्वासावाहन	५४५	प्रसंभ्यां जानु	५२०
परिव्यवेभ्यः	३५५	पुरि लुङ् चाऽ	३८०	पोरदुपधात्	३८८	प्रसमुपोदः पा	६६५
परैर्मृपः	३७६	पुरुषहस्तिभ्या	६०५	प्रकारवचने था	६१८	प्रस्त्योऽन्यतर	४१९

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
प्रहरणम्	५९३	प्वादीनां ह्रस्वः ३०७		भजो णिवः	४०८	म	
प्राक्क्रीताच्छः	५९५	फ		भञ्जेश्च चिणि	३७४	मद्रात्परिवापणे	६३४
प्राक्कडारात्स	४७८	फणां च सप्ता २१५		भवतेरः	१४६	मघवा बहुलम्	१०७
प्राक्सितादङ्	१५८	फलेग्रहिरात्म ३९९		मव्यगेयप्रवच	३९०	मपर्यन्तस्य च	११२
प्रागिवात्कः	६२५	फले लुक् ५८८		मस्य टेलोपः	१०८	मतिबुद्धिपूजार्थे	४२५
प्राग्वतेष्टम्	५९६	फेनादिलच् ६१०		मस्त्रादिभ्यः षन् ५९१		मतौ बह्वचोऽन	५५०
प्राग्वहतेष्टक्	५९०	ब		भावकर्मणोः	३६९	मतौ छः सूक्तसा	६०८
प्राग्विधाद्यत्	५९४	बभूथाततन्थ ३००		भावे	४५०	मध्यादगुरौ	५४१
प्राग्विदशो विभ ६१५		बहुगणवतुडति ७४		भाषायां सदव	४२६	मध्यान्मः	५७९
प्राग्वीन्यतोऽण् ५५४		बहुपूगणसंघ ६०७		भिक्षादिभ्योऽण् ५६८		मध्ये पदे निवच	५००
प्राचामवृद्धात् ५६२		बहुलं छन्दसि ६६५		भिक्षासेनादाये ३९७		मनोरौ वा	६४९
प्राचां ष्फ तद्धि ६४६		बहुवचने झल्ये ६०		भित्तं शकलम् ४२०		मनोर्जातावच्य	५६२
प्राणभृज्जातिव ६००		बहुवचनस्य वल्ल ११६		भिद्योद्वयौ नदे ३९१		मनः	६४०
प्राणिस्थादातो ६०९		बहुव्रीहेरुधसो ६४८		भियोऽन्यतर २७३		मनः	४११
प्रातिपदिकान्त ५५२		बहुव्रीहेश्चान्तो ६५२		भीहोभृदुवां	॥	मन्त्रेष्वङ्ग्यादे	६६५
प्रातिपदिकार्थ ४६०		बहुव्रीहौ सक्थ्य ५१७		भुजोऽनवने ३१६		मन्त्रेऽवैतवहो	६५९
प्रादयः	२८	बहुव्रीहौ संल्ये ५१५		भुवो भावे ३८९		मन्थौदनसक्तु	५४५
प्राद्वहः	३६७	बहुपु बहुवचनम् ५७		भुवो बुग्लुङ्लि १४६		मय उजो वो वा ३०	
प्राध्वं बन्धने ५०१		बहुलोपो भू च ६२४		भूतपूर्वे चरट् ६२१		मयट् च	५८५
प्राप्तापन्ने च ४९२		बह्वल्पार्थाच्छस् ६२९		भूते	४१२	मयड्वैतयोर्भा	५८८
प्रायभवः	५८२	बह्वादिभ्यश्च ६५१		भूवादयो धातवः २१		मयूरव्यंसकादयः ४९६	
प्रावृष एण्यः ५८१		बाष्पोष्मभ्यासु ३५१		भूषणलम् ४९८		मस्जिनशोर्झलि २८५	
प्रावृषष्टप् ५८२		बाह्वादिभ्यश्च ५५८		भूसुवोस्तिङि १५२		महाकुलादन्व ५६१	
प्रियवशे वदः ४०१		बुधयुधनशजने ३६७		भृजामित् २७८		महाराजप्रोष्ठपदा ५६७	
प्रियस्थिरस्फिरो ६२४		ब्रह्मणो जान ५०६		भोज्यं भक्ष्ये ३९०		माङि लुङ् १५२	
प्रुसुल्वः समभि ३९४		ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु ४१२		भोमगोअघोअपू ४९		मातरपितराडु ५३०	
प्रे दाङ् ३९६		ब्रह्महस्तिभ्यां ५३८		भ्यसोऽभ्यम् ११४		मातुरुत्संख्यासं ५५८	
प्रेषातिसर्गप्राप्त ३८१		भुव ईट् २७०		अस्जो रोपथ्यो ३०२		मातुः पितुर्भ्यां ५४२	
प्रोपाभ्यां सम ३५७		भुवो वचिः २७०		आजमासमाष ३१२		मातृष्वसुश्च ५६१	
प्रोपाभ्यां युजेर ३६५		भुवः पञ्चानामा २६९		आजमासधुवि ४३२		मातृपितृभ्यां ५४३	
प्लक्षादिभ्योऽण् ५८८		भ		आतुव्यञ्च ५६२		मातृपथायाश्च ५७४	
प्लुतप्रगृह्या अचि २७		भक्ष्येण मिश्री ४८८		आतृपुत्रौ स्वस् ५३२		मान्वधदान्शः ३३६	

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
मितनखे च	४०१	यथाविध्यनुप्र	३८३	यूयवयौ जसि	११३	राष्ट्रावारपारा	५७६
मितां ह्रस्वः	३२७	यथासंख्यमनुदेशः	१४	यूस्त्याख्यौ नदी	७६	रिङ्क्षयगिल्ह	१८४
मित्रे चर्षौ	५५१	यथासादृश्ये	४८२	ये च	३१९	रि च	१४८
मिदचोऽन्त्यात्परः	९१	यमरमनमातां	१७७	ये चाभावकर्म	५५९	रीगुदुपधस्य	३३९
मिदेर्गुणः	२९२	यमोगन्धने	३६०	येनाङ्गविकारः	४६८	रीढृतः	३३८
मोनातिमिनोति	२९३	यरोऽनुनासिके	३३	ये विभाषा	१६६	”	५६७
मुखनासिकावचनो	५	यवयवकषष्टिका	६०२	येषां च विरोधः	५२७	रुद्रिकौ च लु	३४६
मुचोऽकर्मकस्य	३३५	यश्च यङः	४३२	योऽचि	११४	रुदविदमुषत्र	३३०
मुण्डमिश्रलक्षण	३५३	यसोऽनुपसर्गात्	२९०	योपधाद् गुरूपो	६०१	रुदश्च पञ्चम्यः	२५७
मुद्रादण्	५९२	यस्मात्प्रत्ययविधि	५७	यः सौ	१३०	रुदादिभ्यः सा	२५७
मृजेर्विभाषा	३९०	यस्मादधिकं	४७७	र		रुधादिभ्यः इनम्	३१२
मृजेर्वृद्धिः	२४०	यस्य च भावेन	४७६	रक्ततोहलादर्ले	५९९	रुहः पोऽन्यत	३२६
मृदस्तिकन्	६२९	यस्य विभाषा	४१८	रक्षति	५९२	रूपादाहृतप्रशं	६१३
मृपस्तितिक्षायां	४२२	यस्य हलः	३३८	रजःकृष्यासुति	६१२	रेवत्यादिभ्यश्च	५५९
मेघतिमयेपु	४०३	यस्येति च	९१	रथवदयोश्च	५४८	रोगाख्यायां ण्डु	४५३
नेर्निः	१४९	याजकादिभिश्च	४८९	रथाद्यत्	५८६	रोऽसुपि	५०
मोऽनुस्वारः	३६	याडापः	८४	रदाभ्यां निष्ठा	४१६	रो रि	५१
मो नो धातोः	१०१	याप्ये पाशप्	६२१	रधादिभ्यश्च	२८५	रोः सुपि	१०१
मो राजिसमः	३७	यावतिविन्दर्जा	४५८	रधिजमोरचि	२१५	वोरुपधाया दी	१२५
म्रियतेर्लुङ्लिङो	३११	यावत्पुरानिषा	३८०	”	२८६		
न्वोश्च	२०२	यावदवधारणे	४८२	रभेरशब्दिलोः	३२७	ल	
य		यावादिभ्यः कन्	६२९	रलो व्युपधाद्	४५६	लक्षणे जाया	४०६
यङश्चाप्	६५७	यासुट् परस्मैप	१५१	रषाभ्यां नो णः	१०१	लक्षणेत्थंभूता	४६७
यङि च	३४१	युग्यं च पत्रे	३९१	राजदन्तादिषु	५२५	लङः शाकटायन	२३२
यङोऽचि च	३४३	युजेरसमासे	११०	राजनि युधि	४१४	लटः शतृशान	४२७
यङो वा	३४४	युवावौ द्विवचने	११२	राजश्वशुराद्यत्	५५९	लट् स्मे	३७९
यचि भम्	७०	युवोरनाकौ	३९२	राजसूयसूर्यमृषो	३९०	लभेश्च	३२७
यजयाचयत	४५१	युष्मदस्मदोः ष	११५	राजाहःसखिभ्य	५०४	लवणाट्टञ्	५९३
यजञोश्च	५५६	युष्मदस्मदोरना	११४	रात्राहाहाःपुंसि	५०३	लवणाल्लुक्	५९२
यजश्च	६४६	युष्मदस्मदोरन्य	५७९	रात्सस्य	८०	लशक्वतद्धिते	५८
यभिञोश्च	५५७	युष्मद्युपपदे	१४३	राधो हिंसायाम्	३०१	लषपतपदस्त्राम्	४३१
यतश्च निर्धारणं	४७७	युष्मदस्मद्भ्यां	११५	रायो हलि	८४	लस्य	१४२
यत्तदेतेभ्यः परि	६०६	यूनस्तिः	६५७	राखलोपः	४२०	लाक्षारोचना	५६४

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
लिङाशिपि	१५२	लेटोऽडाटौ	६५९	वर्गान्ताच्च	५८४	वा आशम्भलाश	१७४
लिङः सलोपो	१५१	लेटो लङवत्	१४९	वर्णदृढादिभ्यः	६००	वामदेवाङ्क्यङ्	५६५
लिङः सीयुट्	१९६	लेट् च	१४८	वर्णादनुदात्ता	६५०	वामि	८९
लिङ्निमित्ते	१५३	लोपश्चास्यान्य	१८६	वर्णाद् ब्रह्मचा	६१५	वामशसोः	११
लिङ् च	३८१	लोपो यि	२७७	वर्तमानसामी	३८०	वाय्वुपिभुपु	५६७
लिङर्थे लेट्	६५९	लोपो न्योर्व	५२१	वर्तमाने लट्	१४२	वा ल्यपि	४५७
लिङ्सिचावा	२१३		१९६	वर्षाभ्यष्टक्	५८१	वावसाने	६०
लिङ्सिचोरा	३००	लोपः पिवतेरी	३२५	वर्षाभ्वश्च	८२	वा लिटि	२६६
लिटस्तद्वयोरे	१९३	लोपः शाकल्य	१८	वश्चास्यान्यतर	२२२	वा शरि	४६
लिटि धातोरन	१४६	लोमादिपामा	६१०	वसतिधुधोरि	४२१	वाऽसरूपोऽस्त्रि	३८५
लिटि वयो यः	२२२	लोहितादिडा	३५०	वसुसंसुध्वंस्वन	१००	वा सुप्यापिशलेः	२१
लिटः कानज्वा	४२६	लः कर्मणि च	१५१	वसोः संप्रसार	१२६	वा संज्ञायाम्	५२१
लिट् च	१४७	लः परस्मैपदम्	१४३	वस्वेकाजाद्	४२६	वाह ऊट्	९८
लिट्यन्यतर	२२८	ल्युट् च	४५४	वहाभ्रे लिङः	४००	वाहनमाहिता	५५१
लिट्यभ्यासस्यो	२१८	ल्वोदिभ्यः	४१६	वहां करणम्	३८८	वाहिताग्न्यादि	५२४
लिति	६६८	व		वां क्यपः	३५१	वाहः	६५५
लिपिसिचिह्नश्च	२२४	वच उम्	२४०	वाक्यादेराम	६४४	विज इट्	३११
लुगवा दुहदिह	२६८	वचिस्वपियजा	२१८	वा गमः	३६१	विङ्वनोरनुना	४०९
लुक्तंक्षितलुकि	५८८	वचोऽशब्दसं	३९०	वा चित्तविरागे	३२६	वित्तो भोगप्रत्य	४२०
लुङि च	२३१	वतोरिङ्वा	५९७	वाचि यमो व्रते	४०२	विदाङ्कुर्वन्ति	२३४
लुङ्	१५२	वतोरिथुक्	६०७	वाचो गिमनिः	६१४	विदूराब्ज्यः	५८५
लुङ्लङ्लङ्क्ष्व	१५०	वत्सोक्षाश्वर्ष	६२६	वाचंयमपुरंदरौ	४०२	विदेः शतुर्वसुः	४२८
लुङ्सनोर्ध्वस्त्व	२२९	वत्सांसाभ्यां का	६१०	वाजभ्रमुत्रसाम्	२८४	विदो लटो वा	२३३
लुटः प्रथमस्य	१४७	वदः सुपि क्यप्	३८९	वातातीसारा	६१४	विद्यायोनिसं	५८४
लुटि च कल्पः	२१२	वदब्रजहलन्त	१६६	वा द्रुहमुहष्णुह	९७	विधिनिमन्त्र	१५०
लुपसदचरजप	३३९	वनो र च	६३९	वा नपुंसकस्य	१३५	विध्यत्यधनुपा	५९४
लुपि युक्तव	५७४	वन्दिते आतुः	५२३	वा निसनिक्ष	३८७	विध्वस्पोस्तुदः	४०१
लुप् च	५८९	वमोर्वा	२३०	वान्तो यि प्रत्यये	१४	विन्मतोर्लुक्	६२४
लुक्विशेषे	५६५	वयसि च	३९७	वाऽन्यस्य संयो	१७७	विपराभ्यां जेः	३५५
लुभोऽविमोहने	४२१	वयसि प्रथमे	६४६	वा पदान्तस्य	३६	विपूयविनीय	३९१
लटः सदा	४२८	वयसि दन्तस्य	५२१	वा वृहन्तां जा	६२६	विप्रतिषेधे पर	५२
लट् शेषे च	१४८	वरणादिभ्यश्च	५७४	वा भावकरण	५५२	विभक्तिश्च	५७

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
विभाषा	४८२	विभाषा सजिद्व	१८५	वेजः	२२२	शब्ददर्दुरं करो	५९२
विभाषा कदा	३८०	विभाषा सुपो	६२५	वेतनादिभ्यो	५९१	शब्दवैरकलहा	३५२
विभाषाऽङ्कर्म	३६७	विभाषा सेना	५०८	वेत्तेर्विभाषा	३६१	शमामष्टानां	२८८
विभाषा कृञि	४९९	विभाषा स्वसृप	५४२	वेरपृक्तस्य	११०	शम्याः प्लम्	५८८
विभाषाकृष्टपोः	३९१	विभाषा हविर	५४५	वेश्च स्वनो भो	१५८	शमित्यष्टाभ्यो	४३०
विभाषा गुणेऽ	४७१	विभाषेटः	२०९	वेः पादविहरणे	३५७	शयवासवाप्ति	५४१
विभाषा ग्रहः	३९४	विभाषोर्णोः	२७१	वेः शालच्छंकट	६०३	शरादीनां च	५५०
विभाषा घ्राधेट्	१७९	विभाषोदरे	५४७	वैतोऽन्यत्र	६६०	शरीरावयवा	५९५
विभाषा छिद्योः	९५	विभाषोपयमने	३६४	वैयाकरणाख्या	५४०	शरीरावयवाच्च	५८३
विभाषा चत्वा	५०७	विभाषोपसर्गं	४७५	वोतो गुणवच	६५१	शरोऽधि	२२
विभाषा निष्ण	३७४	विभाषोपधिवन	५५१	वोपसर्जनस्य	५१७	शर्कराया वा	५७४
विभाषा चैः	२९८	विरामोऽवसानम्	५५	वो विधूनने जु	३२५	शर्परे विसर्जनी	४६
विभाषा जसि	६६	विशिष्टलिङ्गो	५२७	वौ कपलप	४३०	शर्पूर्वाः खयः	१६१
विभाषा तिल	६०२	विशेषणं विशे	४९५	व्यत्ययो बहुलम्	६६०	शल इगुपधाद	१९१
विभाषा तृतीया	७९	विश्वस्य वसुरा	१११	व्यथो लिटि	२१४	शब्दोऽटि	३५
विभाषा दिक्स	८५	विशत्यादिभ्य	६०७	व्यवहिताश्च	६५८	शसो न	११३
विभाषा धेङ्	१७८	विसर्जनीयस्न	४२	व्याङ् परिभ्यो	३६७	शाखादिभ्यो	६२७
विभाषा पराव	६२०	"	४६	व्योर्लघुप्रत्यन्तरः	४९	शाच्छासाहा	३२४
विभाषा पुरुषे	५४९	बुञ्छणकठञि	५७३	ब्रथभ्रस्जसजम्	१११	शात्	३२
विभाषा पूर्वाङ्का	५८२	वृत्तिर्गतायने	३५७	ब्रातच्छ्रजोरस्त्रि	५५९	शाङ्गवाद्यञो	६५७
विभाषा भावा	४२२	वृद्धस्य च	६२३	ब्रीहिशाल्योर्दक्	६०२	शास इङ्ङ्ह	२६२
विभाषाभ्यवपू	४१८	वृद्धाच्छः	५७७	ब्रीह्यादिभ्यश्च	६१३	शासिवसिधसी	२२८
विभाषा रोगात	५८०	वृद्धिनिमित्तस्य	५१४	श		शा हौ	२६२
विभाषा लांय	२९६	वृद्धिरादैच्	१९	शक्तियष्टथोरी	५९३	शिखाया बलच्	५७४
विभाषा लुङ्	२६५	वृद्धिरेचि	"	शकि लिङ् च	३८२	शि तुक्	३९
विभाषाऽवर	६१९	वृद्धिर्यस्या	५६२	शकिसहोश्च	३८८	शिल्पम्	५९३
विभाषा विवधा	५९२	वृद्धेत्कोसलाजा	५६३	शक्तौ हस्तिक	४०६	शिल्पिनि ध्नुन्	३९४
विभाषा वृक्षमृग	५२८	वृद्धो यूना तलक्ष	५३१	शताच्च ठन्यताव	५९७	शिवादिभ्योऽण्	५५८
विभाषा इवेः	३६६	वृद्धयः स्यस	२१०	शदन्तविंशतेश्च	६०६	शि सर्वनाम	९१
विभाषा सपूर्व	६४९	वृषापक्यग्निङ्कु	६४९	शदेरगतौ तः	३२६	शीङो क्त्	२६३
विभाषा साकां	३७८	वृत्तो वा	२७६	शदेः शितः	३०९	शीङः सार्वाधा	"
विभाषा साति	६३१	वेञो वयिः	२२१	शपद्भ्यनोर्नि	१३५	शीलम्	५९३

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
शुकादन्	५६६	श्वतेरः	३६६	सख्यशिश्वीति	६५५	सभाराजामनु	५०८
शुभादिभ्यश्च	५६०	शुवमघोनाम	१०७	सख्युरसम्बुद्धौ	७३	समर्थः पदविधिः	४७८
शुषः कः	४१९	श्वशुरः श्वश्र्वा	५३३	संज्ञापूरण्योश्च	५१४	समर्थानां प्रथ	५५४
शुष्कचूर्णरूक्षे	४५८	श्वसस्तुट् च	५८०	सख्युर्यः	६००	समयाच्चयापनाद्	३३
शुद्राणामनिर	५२७	श्वदेरिभि	५९२	सत्यापपाशरूप	३१०	समवाये च	३२०
शूलात्पाके	६३३	श्वीदितो निष्ठा	४२०	सत्यादशपथे	६३३	समवप्रविभ्यः	३५८
शूलोखाचत्	५६६	ष		सत्सुद्धिप	४०७	समस्तृतीयायु	३६४
शृद्ध्रां ह्रस्वो	२७५	षः प्रत्ययस्य	३९४	सदिरप्रतेः	१५८	समः क्ष्युवः	३६५
शे मुचादीनां	३०४	"	६४६	"	३०९	समः समि	१२०
शेषात्कर्तरि पर	१४३	षट्चतुर्भ्यश्च	१०१	सदेः परस्यलिटि	३०९	समः सुटि	४०
शेषाद्विभाषा	५२२	षट्कृतिकतिपय	६०७	सद्यः परस्परार्थे	६१८	समानकर्तृकयोः	४५६
शेषे	५७५	षट्भ्यो लुक्	७४	स नपुंसकम्	४९५	समासत्तां	४६०
शेषे प्रथमः	१४४	षटोः कः सि	१८५	सनाशंसमिक्ष	४३१	सुमासेऽन्यपूर्वे	४५६
शेषे लोपः	११२	"	१९०	सनाद्यन्ता धात	१६७	समाहारः स्वरितः	५
शेषे विभाषा	१४५	पपूर्वहन्धृतरा	५६२	सनि च	३३०	समि ख्यः	३९६
शेषो ध्यसखि	७१	षष्ठ्यादेश्चासं	६०८	सनि ग्रहगुहोश्च	३३०	समुच्चयेऽन्यतर	३८२
शेषो बहुव्रीहिः	५०९	षष्ठी	४८९	सनिमीमाषु	३३४	समुच्चये सामा	३८३
शोणात्प्राचाम्	६५१	षष्ठी चानादरे	४७६	सनीवन्तर्धा	३३१	समूलाकृतजांवे	४५९
शसोरल्लोपः	२३५	षष्ठीयुक्तश्चन्द्र	६५८	सन्धिवेलाद्यतु	५८०	समो गम्यृच्छि	३६१
शान्नलोपः	३१३	षष्ठी शेषे	४७२	सन्महत्परमोत्त	४९५	सरूपाणामेकशेष	५६
शनाभ्यस्तयोरा	२६१	षष्ठ्यतसर्थप्रत्य	४७४	सन्यङोः	३२८	सतिशास्त्यत्ति	२६३
श्याद्वयधासुसं	३९३	षष्ठ्या आक्रोशे	५४१	सन्यतः	२०१	सर्वकूलाभ्रकरी	४०३
श्येनतिलस्य	५७०	षष्ठ्याः पतिपुत्र	६६५	सन्वल्गुनि	"	सर्वत्र विभाषा	२५
श्योऽस्पर्शे	४१७	षष्ठ्या रूप्य च	६२१	सपत्ननिष्पत्ता	६३३	सर्वत्राण् च	५८१
श्राद्धमनेन मुक्त	६०८	षिद्धौरादिभ्यश्च	६५०	सपूर्वाच्च	६०८	सर्वनामस्थाने	७२
श्राद्धे शरदः	५८०	षिद्धिदादिभ्यो	४५३	सपूर्वायाः प्रथ	११८	सर्वनाम्नः स्मै	६२
श्रुवः श्रु च	१८६	ष्टुना ष्टुः	३२	सप्तमीविशेषणे	५०९	सर्वनाम्नः स्याद्	८५
श्रोत्रियश्छन्दो	६०८	ष्ठिवृद्धमुचमां शि	१७५	सप्तमी शौण्डैः	४९३	सर्वस्य सोऽन्य	६१७
श्रथुकः किति	२९९	ष्णान्ता षट्	१०९	सप्तम्यधिकरणे	४७५	सर्वस्य द्वे	६३४
श्लिष आलिङ्गने	२८८	ष्यङः सम्प्रसा	५४६	सप्तम्याखल्	६१६	सर्वादीनि सर्व	६५
श्रौ	२७२	स		सप्तम्यां जनेर्दः	४१४	सर्वैकान्यर्किय	६१७
श्रगणाट्टञ्च	५९१	स उत्तमस्य	६६०	सभाया यः	५९४	सवाम्यां नामौ	१९५

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
ससजुषो रुः	४७	सिपि धातो र्वार् २६२		संख्ययाव्ययास	५१५	संहितशफलक्ष	६५७
सस्नौ प्रशंसा	६२९	सिन्वहुलं लेटि	६५९	संख्याया अव	६०६	स्कोः संयोगाद्यो	१११
सःस्यादार्थधातु	३२९	सिवादीनां वा	२८३	संख्यावंश्येन	४८३	स्तन्मः	१५८
सहनञ्विचमा	६५५	सुकर्मपापमन्त्र	४१३	संख्यापूर्वोद्दिगुः	४९४	स्तम्बकर्णयोर	३९७
सहयुक्तेऽप्रधाने	४६८	सुखप्रियादानु	६३३	संख्यायाः क्रिया	६२७	स्तम्बशक्तोरिन्	३९९
सह सुपा	४७८	सुट्तिथोः	१९६	संख्याया अति	५९७	स्तन्मुसिबुसहां	३२३
सहस्य सभिः	१२१	सुडनपुंसकस्य	७०	संख्यायाविधार्थे	६२०	स्तन्मुस्तुन्मुस्क	३०६
सहिवहोरोद	२२०	सुनोतेःत्यसनोः	२९८	संख्यायाश्च गुणा	६३३	स्तुसुधून्यः	२९७
सहे च	४१४	सुप आत्मनः	३४७	संख्याया पूर्वस्य	५१८	स्तोत्राद्यन्नलोपश्च	६००
सहेः साढः सः	१००	सुपां सुलुक्पूर्व	६६४	संख्यैकवचनाच्च	६२९	स्तोकान्तिकदूरा	४८९
साक्षात्प्रभृतीनि	५००	सुपि च	५९	संघाङ्कलक्षणेपु	५८६	स्तोः इनुना इनुः	३१
साक्षाद् द्रष्टरि	६०९	सुपि स्थः	३९५	संज्ञायां भृत्	४०३	स्तौतिणयोरेव	३३२
सात्पदाद्योः	१५७	सुपो धातुप्राति	३४७	संज्ञोऽन्यतरस्यां	४६९	स्त्यः प्रपूर्वस्य	४१९
साधकतमं करणं	४६७	सुपः	५५	संज्ञापूरणयोश्च	५१४	स्त्रियाम्	६३८
साधुनिपुणाभ्यां	४७७	सुप्तिङन्तं पदम्	१२	संपरिभ्यां करो	३१९	स्त्रियां च	९०
सान्तमहतः	१२२	सुप्प्रतिना मात्रा	४८२	संपृचानुरुधाढ्य	४३०	स्त्रियां क्तिन्	४५२
साम आकम्	११५	सुप्यजातौ णिनि	४११	संप्रसारणस्य	५४६	स्त्रियाः	८९
सामन्त्रितम्	११९	सुयजोर्ध्वनिप्	४२५	संप्रसारणाच्च	९८	स्त्रियाः पुंवङ्गा	५१०
सायंचिरं प्राप्ते	५८१	सुविनिर्दुर्भ्यः	२५८	संप्रोदश्च कटच्	६०३	स्त्री पुंवच्च	५३२
सार्वधातुकमपि	१८६	सुहृदुहृद्दौ	५१८	संबुद्धौ शाकल्य	२९	स्त्रीपुंसाभ्यां	५५५
सार्वधातुकार्थ	१४४	सुः पूजायाम्	४६७	संबोधने च	४६१	स्त्रीभ्यो ङक्	५५८
सार्वधातुके यक्	३६९	सृजिदृशोर्ज्ञल्य	१८५	संबुद्धौ च	८४	स्थः कच	४११
सावनडुहः	९९	सुपितुदोः कसुन्	६६३	सम्भूते	५८२	स्वाध्वोरिच्च	२८०
सास्मिन्यौर्णमा	५६६	सेधतेर्गतौ	१५९	संमाननोत्सङ्ग	३६३	स्यादिभ्यसासे	१५८
सास्य देवता	५६६	सेऽसिचिङ्कृत	२८३	संयसश्च	२९०	स्थानिवदादेशो	५९
सिकताशर्करा	६११	सेह्यपिच्च	१४९	संयोगादेरातो	४१६	स्थानेऽन्तरतमः	१३
सिचि च परस्मै	२७६	सोचि लोपे चेत	५३	संयोगान्तस्यलोपः	१३	स्थूलदूरयुव	६२३
सिचि वृद्धिः पर	१७३	सोऽपदादौ	४२	संयोगे गुरु	२७	स्थेशभासपिस	४३२
सिचो यङि	३४१	सोमाट्टयण्	५६६	संज्ञिटीर्जेः	१९१	स्तुक्रमोरनात्म	१७४
सिजभ्यस्तविदि	१५५	सोमे सुजः	४१३	संसृष्टे	५९२	स्नेहने पिधः	४५९
सिति च	५७७	सोऽस्य निवासः	५८५	संस्कृतम्	५९०	स्पर्धायाभाढः	३६३
सिध्मादिभ्यश्च	६१०	सौ च	१०६	संस्कृतं भङ्गाः	५६६	स्पृशोऽनुदको	१२४

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
स्पृहृदिपतिद ४२९		स्वादिभ्यः झनुः २९७		हलदन्ता० ५०९	}	हुञ्जलभ्यो हेधिः २२८	
स्फायः स्फी ४२१		स्वादिभ्यस्सर्वनाम७०		५४०		हुञ्जुवोः सार्व १८६	
स्फुरतिस्फुल्ल्यो ३०७		स्वापेश्चङि ३२४		हलः ४१६		हृक्कोरन्यतर ४६५	
स्मिपूङ्ग्वञ्चशां ३३६		स्वामिन्नैश्चर्ये ६१४		हलः झनः शा ३०६		हेतुमति च ३२१	
स्मोत्तरे लङ् च १५२		स्वामीश्वराधिप ४७६		हलसीराट्ठक् ५९४	}	हेतुमनुष्येभ्यो ५८४	
स्यतासील्लुटोः १४७		स्वे पुषः ४५९		५८६		हेतुहेतुमतो ३८१	
स्यसिचसीयुट् ३७०		स्वौजसमौट् ५४		हलसूकरयोः ४३३		हेतौ ४६९	
स्रवति शृणोति ३२२		ह्र		हलस्तद्धितस्य ६४६		हेमपरे वा ३७	
स्वतन्त्रः ३२०		ह पति १९४		हलादिः शेषः १४६		हेरचङि ३०१	
” ४६७		हनस्त च ३८९		हलि च २७५		हैयंगवीनं सं ६०३	
स्वपिस्यमिब्ये ३४२		हनस्तोऽचिण्ण ३२४		हलि लोपः १०२		हो ङः ९७	
स्वपो नन् ४५२		हनो वध.लिङि २३१		हलि सर्वेषाम् ५०		हो हन्तेऽङिण्णे १०६	
स्वमञ्जातिधना ६४		हनः सिच् ३६०		हलन्ताच्च ३३०		ह्ययन्तक्षणश्च १६६	
स्वमोर्नपुंसकात् ९२		हन्तेः १०६		हलोऽनन्तराः ११		ह्रस्वनद्यापो जुट् ६१	
स्वरतिसूतिसूयः १६९		हन्तेर्जः २३०		हलो यमां यमि ५५४		ह्रस्वस्य गुणः ७१	
स्वरादिनिपात १३७		हरतेरनुद्यमने ३९६		ह्रस्व्याभ्यो दी ७२		ह्रस्वस्य पिति ३८९	
स्वरितवितः १४३		हरतेर्द्वितीयाद्य ३९९		हशि च ४८		ह्रस्वात्तादी ५७६	
स्वरितात्संहिता ६६६		हरत्युत्सङ्गादि ५९१		हस्ताज्जातौ ६१५		ह्रस्वादङ्गात् २१७	
स्वसुदृक् ५६२		हरातक्यादिभ्यः ५८९		हस्ते वर्तिग्रहोः ४५९		ह्रस्वो नपुंसके ९२	
स्वाङ्गाच्चेतः ५१४		हलन्त्यम् ३		हायनान्तयुवा ६०१		ह्रस्वं लघु २७	
स्वाङ्गाच्चोपसर्ज ६५३		हलश्च ४५५		हिनुमीना ३००		ह्रस्वः १४६	
स्वाङ्गे तस्प्रत्यये ४६०		हलश्चेजुपधात् ३८६		हिंसायां प्रतेश्च ३१०		ह्रः संप्रसारणम् ३२५	
				हीने ४६६			



उणादिसूत्रसूची



सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
अङ्गेर्नलोपश्च	४४१	ऊर्णोर्तेर्दः	४४९	चक्षेः शिञ्च	४४०	नामन्सीमन्व्यो	४४४
अच इः	४४३	ऋपिवृषिभ्यां	४४१	चत्तेरन्	४४९	नियो मिः	४४१
अदिमुवो डुत	४४७	एतेर्णिञ्च	४४०	चन्देरादेश्च छः	४४६	नौ दीर्घश्च	४४७
अदिशदिभू	४४२	एतेस्तुट् च	४४५	चन्द्रे मो ङित्	४४७	पचिवचिभ्यां	४४६
अन्दृदृम्भू	४३५	कणेश्च	४३५	चरेश्च	४४९	पतिचण्डिभ्यां	४३६
अभिचिमिदिश	४४५	कनिन्युवृषित	४३७	चाकयतेराद्य	४४८	पातुदिवदि	४३८
अमेस्तुट् च	४४९	कभेरठः	४३५	चित्रव्ययम्	४३८	पातेर्ङितिः	४४२
अमेस्सन्	४४८	कायतेर्ङिभिः	४४५	जनिघसिभ्या	४४३	पातेर्ङुम्भुन्	४४५
अचिशुचिहुस्	४३९	कुडिकम्भ्यो	४४३	जनेररष्ठ च	४४८	पानांघ्रिभ्यः	४४०
अतिपवपियजि	४४०	कुयुभ्यां च	४४०	जनेरुसिः	४४०	पुवो हत्वश्च	४४५
अतिस्तुसुहु	४३६	कृजः पासः	४४८	जनेर्यक्	४४२	पूघो यण्णुम्	४४७
अर्तेरुच्च	४४६	कृजादिभ्यः सं	४४८	जनेष्टन् नलो	४४८	प्रथेरमच्	४४९
अर्तेरुच्च	४४१	कृवापाजि	४३५	अमन्ताड्डः	४३६	प्राततेरन्	४४९
अवतेष्टिलोपश्च	४३७	कृपेर्वर्णे	४४३	ङित्खनेर्मुट् स	४४७	फलेरितजादेश्च	४४८
अवितस्तत	४४४	कपवृजिमन्दि	४३८	तरतेर्ङिः	४४९	बहुज्जमन्यत्रापि	४३९
अविसिविसिशु	४३७	कृशश्लिकलि	४४१	तुन्वृचो शंसि	४३९	बृहेर्नलोपश्च	४३९
अशुप्रुपिलटिक	४३७	क्लिशेरन्लो	४४८	तुहेः कनो हलो	४४७	बृहेर्नोञ्च	४४४
अशेः सरः	४४१	खष्पशिल्प	४४१	त्यजितनियजि	४४४	भुवः कित्	४४१
अशेर्देवने युट्	४४६	गनाम्यद्योः	४३६	दधातेर्यन्नुट् च	४४९	भूरक्षिभ्यां	४४६
इगुपधात् कित्	४४३	गमेर्गश्च	४३८	दहेर्गोलोपो	४४९	भृजः किन्नुट्	४३६
इन्देः कभिर्न	४४५	गमेर्ङोः	४३८	दाभाभ्यां नुः	४४३	अभेश्च इः	४३८
इपेः कसुः	४४३	गिर उडच्	४४४	दिवेर्ऋः	४३९	मङ्गेरलच्	४४९
उदि चेर्ङेसिः	४४७	गुषेरूमः	४४७	द्यतेरिसिन्नादेश्च	४४०	मनेरुच्च	४४३
उदि दृणातेर	४४७	असेरा च	४३७	धृषेधिप् च	४३९	माङ उखो मय्	४४८
उन्देर्नलोपश्च	४३८	अहेरनिः	४४९	नञि च नन्देः	४३९	माद्याससिभ्यो	४४२
उब्जेर्वले	४४६	ग्रीष्मः	४३७	नञि हन एह	४४६	मुहेः फिञ्च	४४०
उपः कित्	४४७	ग्लानुदिभ्यां	४३८	नप्पुनेष्टृत्वष्टृ	४३९	मुहेः खो मूर्च	४४८
उपिकुषिगार्ति	४३७	धर्मः	४३७	नयतेर्ङिञ्च	४३९	यतेर्वृद्धिश्च	४३९
				नहेर्हलोपश्च	४४८		

यापोः किद् ४४४	वहिश्चिश्च ४४२	श्रयतेः स्वाङ्गे ४४६	सुगृभ्यां निच्च ४४०
युयसिभ्यां २४५	वातप्रमी ४४४	सपूर्वाच्चित् ४४१	सूङः क्रिः ४४२
रमेर्बुद्धिश्च ४३५	विधानो वेध च ४४६	सर्तोरपूर्वा ४४७	सूचः स्मन् ४४५
रातेर्देः ४३८	विधेः किच्च ४४३	सर्वधातुभ्यः ४४५	स्तनिहपिपुपि ४४१
रासिवल्लिभ्यां ४४१	वौ तसेः ४४५	सर्वधातुभ्य इन् ४४२	स्तुवो दीर्घश्च ४४०
लक्ष्मेर्मुट् च ४४४	शते च ४३५	सर्वधातुभ्यो म ४४४	स्त्यायतेर्ङट् ४४५
बलिमलितनि ४४२	शमेर्देः ४३५	सर्वधातुभ्योऽसु ४४६	हनिमशिभ्यां ४४४
वशेः कनसिः ४४७	शमेः खः ४३५	सातिभ्यां म० ४४४	हन्तेरच् घुर् च ४४९
वसेणित् ४४६	शीङो ह्रस्वश्च ४४८	सावसेः ४४५	हरिमितयोर्द्ववः ४३५
वसेश्च ४४१	शृणातेर्ह्रस्वश्च ४३६	सितसिजनिग ४४३	हर्यतेः कन्यन्द् ४४८
वसेस्तिः ४४५	शूदभसोऽदिः ४४४	सुच्यसेर्हन् ४३९	

इत्युणादिसूत्रसूची ।

मध्यसिद्धान्तकौमुदीस्थवार्तिकादिसूची

वार्तिकादि पृष्ठम्	वार्तिकादि पृष्ठम्	वार्तिकादि पृष्ठम्	वार्तिकादि पृष्ठम्
अ	अत्यादयः क्रा ५०१	अन्ताच्च ५८२	मेहकतसित्रे ५७६
अकर्मकधातुभि ४६३	अधर्माच्चेति ५९२	अन्यत्रापि दृश्य ४०४	अम्बार्थ ८६
अकारान्तोत्तरप ५०७	अध्यात्मादेष्टभि ५८३	अन्येभ्योऽपि ६१२	अयोगवाहानाम् ५६
अक्षादूहिन्यासु २०	अध्वपरिमाणे च १५	अन्येभ्योऽपि ६१३	अरण्याणः ५७७
अगोवत्सहले ५१७	अनव्ययस्येति ४३	अन्येभ्योऽपिदृ ६१३	अर्तिश्रुदृशि ३६२
अग्रग्रामाभ्यां ४०८	अनाचमिकमिव ३७४	अन्वादेशे नपुंस १३२	अर्थाञ्जनः [ग] ५२२
अग्रादिपश्चाङ्गि ५८२	अनाम्नवतिनगरी ३३	अपरस्यार्थे पश्च ४९५	अर्थेन नित्यस ४८८
अङ्गक्षत्रधर्मात्त्रि ५७२	अनिनस्मन्ग्रह ५२२	अप्रत्यादिभिरि ४७७	अर्धाच्च ५९७
अङ्गात्कल्याणे(ग) ६१०	अनुदात्ताहल ०१६९	अभितःपरितः ४२६	अर्थक्षत्रियाभ्यां ६५२
अजन्तोऽकारवा १७३	अनेकशफे ५३४	अभिवादिदृशो ४६५	अलाबूतिलोमा ६०३
अज्यतिभ्यां ५४४	अन्तरं बहि[ग] ६२	अभुक्त्यर्थस्य तु ४६५	अवरस्योपसं ४८७
अज्जस उपसं ५४०	अन्तरमितिगण ६६	अभूततद्भाव ६३०	अवर्णान्ताद्वा ५३५
अडभ्यासव्यवा ३१०	अन्तःशब्दस्या १५०	अभ्यर्हितं च ५२६	अवादयः क्रुष्टा ५०१
अतद्धित इति ५५३	अन्ताच्च ५४१	अमानिनीति व ५१५	अवारपाराद् ५७६

अव्ययस्य ६३०	आहौ प्रभूतादि ५९०	*ऊदुदन्तैर्यौति १६८	कर्मव्यतिहारे स ३६
अव्ययानां भमा ५८०	इ	ऋ	काण्यादीनां वा ३२५
अश्मनो विकारे ५८७	इकारादाविति ५९१	ऋति सवर्णे ऋ २४	कामप्रवेदन ३८१
अश्ववृषयोर्मथुने ३४८	इक्षितपौ धातु ४५४	ऋतुनक्षत्राणां ५२५	काम्ये रोरेवेति ४३
अष्टका पितृदेव ६४४	इण्वदिक इति २३९	ऋते च तृतीया २०	कारके छे च ५४८
असि अके अने ३९४	इत्वोत्वाभ्यां ३०९	ऋदुपधेभ्यो १८४	कारिकाशब्द ४९७
असंयुक्ता ये ८६	इयाडियाजी ६६४	ऋत्वर्णयोर्मिथः ६	कास्यनेकाच १६७
अस्य सम्बुद्धौ १२७	इर इत्संज्ञा १६१	ऋत्वादिभ्यः ४५२	कुक्कुट्यादीनां ५१२
अस्मिन् प्रकरणे ६२५	इरिकादिभ्यः ५५१	ऋवर्णान्नस्य ण ८३	कुत्तिसत्प्रहणं ४१४
अहरादीनां ५१	इवेन समासो ४७९	ए	कुत्तिसत् इति ६१४
अहः खः क्रतौ ५६९	ई	एकतरात्प्रतिषेधः ९२	कृदिकाराद (ग) ६५१
आ	ईकच् च ५५५	एकतिङ्वाक्यम् ११७	कृद्ग्रहणे (ग) ४८८
आख्यातमाख्या ४९६	ईयसो बहुव्रीहे ५२३	एकदेश [५०] ९६	कृन्नया न ५४४
आगमेः क्षमा ३५६	ईर्यतेस्तृतीय ३२७	एकवाक्ये निघा ११७	किन्नर्पाध्यते ४५२
आग्नीध्रसाधार ६२८	उ	एकविभक्तावप ४९२	कृष्णोदक्पाण्डु ५३६
आढः प्रतिज्ञा ३५८	उत्तरपदलोपे न ६४३	एकाचो नित्यम् ५८८	केलिमर उपसं ३८५
आङि चम इति १७५	उत्तरपदस्य ५४५	एतदोऽपि वा ६१८	कोपधप्रतिषेधे ५१३
आचारेऽवगल्भ ३५०	उत्तरादाहञ् ५७३	एते वांनावादय ११७	किञ्चि रमागम ३०३
आचार्यादणत्वं ५९६	उत्पातेन ज्ञा ४७०	एवेचानियोगे २३	किञ्चित्प्राज्ञादौ २४०
आचार्यादण[ग] ६५२	उत्फुल्लसंफुल्लयो ४१९	ओ	क्तस्योन्विषयस्य ४७६
आदिकर्मणि ४२२	उपमानात्पक्षा ६५५	ओजसोऽन्तर ३५०	क्वपेः संप्र (ग) ४५३
आदिखाद्योर्न ४६४	उपसर्गाणि १३८	ओत्वोष्ठयोः स २४	क्रियया यमभि ४६९
आद्यादिभ्यः ६३०	*उपसर्गेण १५४	औ	क्रियासमभिहा ३८३
आधृषाद्वा ३१६	उपसर्गादस्य ३६३	औः इयां प्रति ९१	क्रुञ्चा ह्रस्व (ग) ५७५
आनुपूर्व्ये द्वे ६३६	उपादेवपूजा ३५९	औत्वप्रतिषेधः १२७	क्वचित्प्रवृत्तिः ३८७
आपदादिपूर्व(ग) ५७८	उभयसंज्ञान्यपी ६५८	क	क्षत्रियसमान ५६२
आवन्तो वा ५०७	*उभयसर्वतसोः ४६५	कच्छ्वाह्रस्वत्वं ६१२	क्विव्रचिप्रच्छि ४३३
आमुष्यायणामु ५४२	उरसो लोपश्च ४०४	कबरमणिविषश ६५५	क्षिपकादीनां ६४३
आलस्यसुखाह ३९६	ऊ	कमेरनिषेधः ४७३	क्षीरलवणयोर्ला ३४८
आशङ्कायां सन्व ३३४	ऊह् चगमादीना ४१०	कमेश्चलेश्च २०१	ख
आशासः क्रावुप ४१०	ऊर्णातिराम् २७१	कम्बोजादिभ्यः ५६३	खरुसंयोगोपधा ६५१
आशिषि नाथ २०२	ऊर्णातिर्णुवद्भावो ४१६	कर्मधारयादेवे ५९६	खर्परं शरि वा ४७
आशिषि जुनश्च ६४३	ऊधसोऽनञ् च ५९५		खलादिभ्य इ ५७०

खुरखराभ्यां ५१९	चर्मणि द्विपि ४७६	तिव्यपुष्य ५६५	द्विपर्यन्तानामे ७५
ख्यश्च ५१९	चारौ वा ४०५	तीयस्य ङित्सु ६७	द्वित्वे गोयुगच् ६०४
ख्यात्रादेशे न ४२	चितः सप्रकृते ६६७	तीयादीकक् ६२१	द्विपः शतुर्वा ४७४
ग	चिरपरुत्परारि ५८२	त्यक्त्यपोश्च ६४२	द्व्यचत्र्यज्भ्यामे ५५१
गच्छतौ परदा ५९०	चीवरादर्जने ३५३	त्यक् नश्च ६४३	घ
गजसहायाम्यां ५६९	च्यर्थ इति वक्त५००	त्यदादितः ५३४	धर्मादिष्वनिय ५२५
गडवादेः परा ५२४	छ	त्यदादीनां ५३३	धात्वर्थनिर्देशे ४५४
गणिकाया ५६९	छत्वममीति ३६	त्यन्नेश्रुं व इति ५७६	छातोर्थान्तरे ३६२
गतिकारकेतर ७८	छन्दसीति ३९१	त्वतलोगुण ५१२	धृज्प्रोञ्जोर्नुग् ३१७
गतिकारकोप ५०२	ज	त्रिचतुर्भ्यां ६४८	छिन्नोति चम्प ३१७
गत्यर्थेभ्यः ४२४	*जक्षिणागृ १२३	त्रौ च ५४८	धेट उपसंख्या ३६९
गमादीनामिति ४१०	जल्पतिप्रभृतीनां ४६४	त्र्युपाभ्यां चतु ५३६	ध्यायतेः ४३३
*गवाक् शब्द १३४	जातिकालमुखां ५२४	त्वान्तं क्लीबं ५९९	न
गभेः सुपि वा० ४०१	ज्योतिरुद्गमन ३५७	द	छिनकारजावनु १८२
गवादिपु ३९३	ज्योत्स्नादिभ्य ६११	दम्भेश्च ३०१	नगपांसुपाण्डु ६१२
गुणात्तरेण तर ४९०	ज्वलहल ३२७	दारिद्रातेरार्थ २६२	नवोऽस्त्यर्थानां ५१०
गौरजादिप्रसङ्गे ५५५	ड	दारावाहनो ४०५	नञ्स्त्वगीकक् ६४५
गोष्ठजादयः ६०४	डाचिवहुलं ६३२	दिवश्च दासे ५४२	नवस्य नू आदे ६२८
घ	डे च विहायसो ४०५	दुग्धोर्दोर्धश्च ४१६	न विधायाः ६२१
घटादयो ३२७	ण	दुरः षत्वणत्वयो १४९	न समासे ३०
घोषग्रहणमपि ५८६	ण्यन्तभादीनां ३८७	दुहिपच्योर्बहुलं ३७७	नानर्थके [प०] १०२
घञर्थे कविधा ४५१	त	*दुह्याच् ४६२	नान्तानिटां ४५७
ङ	तक्ष्णेऽणुप ५६२	दूरादेत्यः ५७७	नाभिनमं (ग) ५९५
ङाबुत्तरपदे १०४	तक्षन्नलोपश्च ५७५	दृक्कारपुनः ८२	नित्यमात्रेडिते ६३२
च	तदाहेति माश ५९०	दृशेश्च ४६४	निमित्तपर्याय ४७४
चटकादिति वा ५६०	तद्बृहतोः ५५३	दृक्षे च ५४७	निमित्तात्कर्म ४७६
चतुरद्वयता ६०७	तनिपत्तिदरि ३३४	दृक्षे च ५४८	नियन्तुकर्तृक ४६१
चतुर्वर्णादीनां ६००	तन्वादीनां ६६५	देवाद्यञ्जौ ५५५	निरादयः क्रा ५०१
चयो द्वितीयाः ३८	तपसः परस्मै ३५१	देवानां प्रिय ५४२	निर्दिश्यमा (प) ६८
चरणाद्धर्माज्ञा ५८६	तप्पर्वमरु ६१४	द्युश्चोभयाद्वक्त ६१८	निर्विण्णस्यो ३८६
चरेराङि चायु ३८८	तलन्तं स्त्रियाम् ५९९	द्वन्द्वतत्पुरुषयो ४९४	निष्ठायामनिट ३९०
चर्करीतश्च २७१	तादर्थ्ये ४७०	द्वन्द्वेऽपि ५२४	निसो गते ५७६
	तारका ज्योति ६४४	द्विगुप्राप्तापन्ना ५०७	नील्या अन् ५६५

नीवद्योर्न ४६४	पूर्वपरावर (ग) ६२	आतुज्यायसः ५२६	लुम्पेदवश्यमः ३९०
नुमचिरतृच्च ८०	पृथुमृदुशक्त ६००	म	लोपः पूर्वपद ६२५
नृतिखनिरञ्चि ३९४	पृच्छतौ सुल्लाता ५९०	मत्स्यस्य ड्या ६५०	लोम्नोऽपत्येषु ५५८
नृनरयोर्वृद्धि (ग) ६५७	प्रकृतिप्रत्ययार्थ ६०६	मस्जेरन्त्यात् ३०७	ल्यब्लोपे कर्म ४७१
नेतुर्नक्षत्रे ५१८	प्रकृत्यादिभ्यः ४६८	मातुलोपाध्या ६५२	व
प	प्रतिपरसमनु (ग) ४८५	मान्तानिटां वा ४५७	वनो न हश् ६४०
पञ्चजनादुप ५९६	प्रत्यये भाषायां ३४	मान्तप्रकृति ३४७	वयस्यचरम ६४६
पथः पन्थ (ग) ५७४	प्रत्ययग्रह (प०) ६३	मामकनरकयोरु ६४२	वयोवाचक ६४८
पथ्यध्याय ५७८	प्रथमलिङ्गग्रहणं ७६	मासच्छन्दसि ६६५	वरे लुप्तं न ४३२
पदाङ्गाधिकारे (प) ६८	प्रथमश्च ६०५	*मुकुन्दस्यासित ४२४	वर्जने खशाब् २६७
परस्परप ३५५	प्रवत्सतरकम्बल २१	मुख्यार्थात्तूक्थ ५७१	वर्णाका तान्तवे ६४४
परिमुखादिभ्य ५८३	प्राक्शताद् २०६	मूलविमुजादि ३९५	वर्णात्कारः ४५४
परौ व्रजेः पः १११	प्रातिपदि (ग) ३५२	मूलान्नयः ६३९	वर्णानामानु ५२६
पर्यादयोगलाना ५०१	प्रादयो गत्याच्च ५०१	य	वर्तका शकुनौ ६४४
पल्यराजभ्यां ५३८	प्रादिभ्यो धातु ५१०	*यजिर्विपिर्वहि २१९	वसेस्तव्यत्क ३८६
पाण्डोर्ध्वण् ५६३	प्रादूहोढोढथेपै २०	यणः प्रतिषेधो १३	वाग्दिक्पश्य ५४१
पातेणौ लुग्व ३२५	प्रायस्य चित्ति ५५३	यणो मयो ५५४	वातदन्तबल ६१०
पात्राद्यन्तस्य न ५०८	फ	यवनाल्लिप्याम् ६५२	वातशुनीतिल ४००
पार्श्वादिपूप ३९७	फलपाकशुपा ५८९	यवलपरे यवला ३७	वा नामधेयस्य ५७७
पालकान्तात् ६५२	फलवर्हाभ्यां ६१३	यवाद्दोषे ६२५	वा प्रियस्य ५२४
पिच्छादिभ्य ६१०	फलसेनावन ५२८	योपधप्रतिषेधे ६५६	वायुशब्दप्रयोगे ५२९
पिप्पल्याद (ग) ६५०	फेनाच्चेति वक्त ३५२	र	वा लिप्सायाम् ३५९
पिबतेः सुराशी ३९६	व	रप्रकरणे ६१२	विदिप्रच्छि ३६१
पिशाचाच्च ६१५	बहिपष्टिलोपो ५५५	राजव उपसं ४०७	विद्यालक्षण ५७२
पीतात्कन् ५६५	बहुव्रीहौ वा ६४०	राजसे (ग) ६००	विनापि प्रत्ययं ६२५
पुच्छाच्च ६५४	भ	राज्ञो जातावेव ५५९	विरूपाणामपि ५३१
पुच्छादुदसने ३५२	भक्षेरर्हिसार्थ ४६४	रादिफः ४५४	विष्णौ न ५३०
पुण्यसुदिनाभ्या ५०४	भद्राच्चेति ६३४	रीगृत्वत्त इति ३३९	विस्तारे पटच् ६०४
*पुर्णामवस्कन्द ३८४	भस्याढे तद्धिते ५१२	रूपरात्रिरथन्त ५१	विहायसो ४०१
पुष्पमूलेषु बहु ५८९	भारूपनाम ६२८	ल	वृग्युदावुवङ् २९२
पूजो विनाशे ४१६	भाण्डात्समाच ३५२	लक्ष्म्या ६१०	वृत्तेश्च ६१०
पूरणे इति वक्त ५४०	भुजेः कर्मणि ४२५	लघ्वक्षरं ५२६	वृद्धाच्चेति वक्त ५६८
पूरोरण् ५६३	भूषावाचिनां ३७६	लुङि वा २६२	वृद्धयौग्वत्तृज् ९३
पूर्वशेषोऽपि ५३३			

वेग्री वक्तव्यः ५१९	श्वयतेलिङ्गभ्या ३६६	संभ्रमेण प्रवृत्तौ ६३६	सूत्रान्तात्तु ५७२
व्रताङ्गोजनत ३५३	श्वशुरस्योकारा ६५६	समिधामाधाने ३५६	सूर्यादेवतायां ६५२
व्रीहिवत्सयो ३९९	श्वेतवहादीनां ६५९	सर्वतोऽक्तिन्नर्था ६५१	संहितैकपदे १५३
श	ष	सर्वत्रपन्नयो ४०४	सेकस्सप् १५६
शकन्धादिषु २३	षट्त्वे षङ्गवच् ६०४	सर्वनाम्नो ४९४	स्तने धेदोनासि ४००
शकलकर्दमा ५६४	षाद्यञश्चाव्वा ६५७	सर्वनामसंख्येय ५२३	स्तोमे ढविधिः ५९८
शक्तिलाङ्गला ३९७	स	सर्वप्रातिपदिके ३४९	स्त्रियामपत्ये लु ५६१
शतसहस्रयो ६०६	सकर्मकाणां प्र ३७७	सर्वप्रातिपदिके ६२९	स्त्रीनपुंसकयोरे ६३६
शत्रूनगमयत् ४६३	संख्यापूर्व ५०३	सर्वप्रातिपदिका ३४८	स्नेहे तैलच् ६०४
शब्दिकरणे ४२३	संख्यायास्त ४९४	सर्वोऽयं कारक ४७४	स्पृशस्पृशकृष्त्तृप्त् २८६
शब्दायतेर्ने ४६५	संख्याया अल्पी ५२३	सहायाद्वा ६०१	स्वमञ्जाति (ग) ६२
शाकपार्थिवादी ४९६	संख्यायां नदी ५३६	सहितसहाभ्यां ६५७	स्वराद्यन्तोप ३६५
शिक्षेर्जिज्ञासा ३५६	सङ्घाते कटच् ६०४	साध्वसाधुप्रयोगे ४७६	स्वाङ्गकर्मकाच्चे ३५९
शीङो वाच्यः ४२९	संज्ञासुधा ४५०	सामान्ये नपुंस ५१२	स्वादीरेरिणोः २०
शीतोष्णत् ६१४	सत्यार्थवेदानां ३५३	सारङ्गः पशु (ग) २३	ह
शुनः संप्रसारणं ५९५	सत्रकक्षकष्टकृच्छ्र ३५१	सिञ्जलोप एकादे १५५	हनुचलन इति ३५१
शुनो दन्त ५५१	सदच्चाण्डप्रा ६३८	सिनोतेर्ग्रासकर्म ४१७	हन्तेर्हिंसायां ३४२
शूद्रा चामह ६३९	सनिष्पुलिल्युटि २६२	सिञ्जलुलं णिद्वा ६५९	हरतेरप्रतिषेधः ३५५
शृङ्गवृन्दाभ्या ६१३	सदृशं १४०	सीमन्तः केश (ग) २३	हरिद्रामहारज ५६५
शेत्तुम्पादीनां ३०६	सन्कयच् १६७	सुदिनदुर्दिननी ३५२	हरीतक्या ५८९
शेषपुच्छलाङ्गू ५४२	संपदादिभ्यः ४५२	सुदुरोरधिकरणे ४०४	हल्यादिभ्योऽग्र ३५३
शैषिकान् ३२९	संपुङ्गानां सो व ४१	सुप्तिष्ठुप ६६०	हस्तिसूचकयो २९७
शितपाशपा ३४५	सम्प्रसारणं (ग) ३२३	सुब्धातुष्ठिबुब्ध २०६	हिमारण्ययोर्म ६५२
श्रन्थिग्रन्थि ३०१	संशुद्धौ नपुंस १३३	सूचिसूत्रिमूत्र्य ३४१	हृदयाच्चातुरन्य ६१४
श्रोत्रियस्य यलो ६०१	सम्भोजनश ६३८	सूतकापुत्रिका ६४४	हृदयभ्यां च ५४१

इति वार्तिकादिसूची ।



मध्यसिद्धान्तकौमुदीस्थधातुसूची

धातुः	पृष्ठम्	धातुः	पृष्ठम्	धातुः	पृष्ठम्
अ		इण् गतौ	२३८	एध वृद्धौ	२९२
अकि लक्षणे	२०५	(ञि) इन्धि दीप्तौ	३१६		
अच्छ व्याप्तौ	१८९	इष इच्छायाम्	३०७	क	
अच्छु गतौ०	२२५	ई		ककि गत्यर्थे	२०५
अञ्जू व्यक्तिब्रक्ष०	३१४	ईड स्तुतौ	२६५	कटे वर्षावरणयोः	२६६
अत सातत्यगमने	१५४	ईर गतौ कम्पने च	"	कथ इलाघायाम्	२०५
अति बन्धने	१६५	ईश ऐश्वर्ये	२६६	कथ वाक्यप्रबन्धे	३१८
अद भक्षणे	२२७	ईह चेष्टायाम्	२०७	कदि आह्वाने०	३६३
अदि बन्धने	१६५	उ		कपि चलने	२०७
अन प्राणने	१५९	उच समवाये	२९१	कमु कान्तौ	१९७
अय गतौ	२०८	उछि उच्छे	३०६	कल गतौ संख्याने	३१९
अर्च पूजायाम्	१६४	उज्ज उत्सर्गे	"	कश गतिशासनयोः	२६५
अर्च पूजायाम्	३१६	उन्दी क्लेदने	३१३	कष हिसार्थे	१९१
अर्द गतौ याचने	१६४	उर्द माने क्रीडायां	२०४	काक्षि कांक्षायाम्	२९०
अर्ह पूजायाम्	३१७	ऊ		काश्च दीप्तौ	२०७
अव रक्षण०	१५६	ऊन परिहाणे	३१९	कु शब्दे	२३८
अश भोजने	३०९	ऊर्णञ् आच्छादने	२७१	कुट कौटिल्ये	३०७
अशू व्याप्तौ	३०१	ऊह वितर्के	२०७	कुथि हिंसासंक्लेश०	१६२
अस् भुवि	२२६	ऋ		कुद्रि अनृतभाषणे	३१२
अस गतिदीप्त्या०	२३५	ऋ गतौ	२७७	कुप भाषार्थे	२९१
असु क्षेपणे	२८९	ऋच्छ गतीन्द्रिय०	३०६	कुप क्रोधे	३१५
आ		ऋज गतिस्थाना०	२०६	कुमार क्रीडायाम्	३१९
आप्ल व्याप्तौ	३०१	ऋजि मर्जने	"	कुर्द क्रीडायाम्	२०४
आस उपवेशने	३६६	ऋति जुगुप्सायां०	२२७	कुशि भाषार्थे	२१५
इ		ऋधु वृद्धौ	२९२	कुष निष्कर्षे	३०९
इक् स्मरणे	२३९	ए		कुस संश्लेषणे	२९०
इङ् अध्ययने	२६४	एजृ दीप्तौ	२०६	कुसि भाषार्थे	३१५
				कृञ् हिंसायाम्	२९९

(इ) कृञ् करणे	३१८	(भि) चिबदा स्नेहन०	१८९	घ	
कृती छेदने	३०५	" "	२१०	घट चेष्टायाम्	२१४
कृती वेष्टने	३१३	ख		घट भाषार्थः	३१५
कृपू सामर्थ्ये	२१२	खनु अवदारणे	२२५	घटि भाषार्थः	"
कृश तनूकरणे	२९१	खष हिंसार्थः	२९१	घुट परिवर्तने	२१०
कृष त्रिलेखने	३०३	खिद परिदेवने	२९४	घुपिर् विशब्दने	३१५
कृ विक्षेपे	३०९	" "	३०५	घृ सेचने	१८४
कृञ् हिंसायाम्	३०७	खिद दैन्ये	३१६	घृणु दीप्तौ	३१८
कृत संशब्दने	३१४	खुद क्रीडायाम्	२०४	घ्रा गन्धोपादाने	१८१
कै शब्दे	३८१	खे खदने	१८१	च	
कनूज् शब्दे	३०७	ख्या प्रकथने	२३३	चक्रासृ दीप्तौ	२६२
क्रदि आह्वाने०	३६३	ग		चक्षिब् व्यक्तायां०	२६६
क्रप कृमायां गतौ	२१४	गडि वदनैकदेशे	१६३	चदि आह्वाने	१६३
क्रमु पादविक्षेपे	१७४	गण संख्याने	३१९	चमु अदने	१७४
(इ) क्रीञ् द्रव्य०	३०५	गद व्यक्तायां वाचि	१५९	चर्व अदने	१९१
क्रुध क्रोधे	२८८	गम्लु गतौ	१८७	चष भक्षणे	२२६
कलदि आह्वाने	१६३	गर्व माने	३२०	चायू पूजानिशा०	२२५
कलमु क्लान्तौ	२८९	गर्ह कुत्सायाम्	२०७	चिञ् चयने	२९८
क्लिदि परिदेवने	१६३	गल्ह कुत्सायाम्	"	चिति स्मृत्याम्	३११
क्लिदू आर्द्रभावे	२९१	गाघ्र प्रतिष्ठा०	२०२	चिती संज्ञाने	१५९
क्लिश्रु विवाधने	३१०	गुद क्रीडायां	२०४	चीव भाषार्थः	३१५
क्लणु हिंसायाम्	३१८	गुप व्याकुलत्वे	२९१	चीवृ आदान०	२२५
क्षमूष सहने	२०१	गुप भाषार्थः	३१५	चुद संचोदने	३१४
क्षमू सहने	३८९	गुपू रक्षणे	१६६	चुर स्तेये	३१०
क्षि क्षये	१७१	गुदं क्रीडायां	२०४	चूप पाने	१९०
क्षिणु हिंसायाम्	३१८	गृ सेचने	१८४	चेष्ट चेष्टायाम्	२०७
(इ) छु शब्दे	२३७	गृधु अभिकाङ्क्षायां	२९२	च्युतिर् आसेचने	१६२
छुदिर् संपेयगे	३१३	गृह ग्रहणे	३२०	छ	
छुध वसुक्षायाम्	२८८	गृ निगरणे	३१०	छद अपवारणे	३१७
छुभ संचलने	२१०	गै शब्दे	३८१	छमु अदने	१७४
छुभ संचलने	२९१	ग्रथि कौटिल्ये	२०४	छदं वमने	३१४
चै क्षये	१८१	ग्रह उपादाने	३०८	छिदिर् द्वैधीकरणे	३१२
चण तेजने	२३७	ग्लै हर्षक्षये	१७७	(उ) छुदिर् दीप्ति०	३१३

छो छेदने

ज

जच्च भक्षहसनयोः

जनी प्रादुर्भावे

जमी गात्रविनामे

जमु अदने

जसु मोक्षणे

जागृ निद्राक्षये

जि जये

जीव प्राणधारणे

जुगि वर्जने

जुपी प्रीतिसेवनयोः

जूष हिंसायाम्

जूभि गात्रविनामे

जू वयोहानौ

जू वयोहानौ

जू क्षये

जू अवबोधने

झ

झमु अदने

झप हिंसार्थः

झष आदनसंवरण०

ट

टिक्क गतौ

टीक्क गतौ

ड

डीङ् विहायसा गतौ

ढ

ढौक्क गतौ

ण

णद् अव्यक्ते शब्दे

णद् भाषायाम्

२८४

णभ हिंसायाम्

णभ हिंसायाम्

णम प्रहृत्वे०

णश अदर्शने

णह बन्धने

णिच्च चुम्बने

णिजि शुद्धौ

णिजिर् शौच०

णिसि चुम्बने

णीञ् प्रापणे

णीव स्थौल्ये

णु स्तुतौ

णुद् प्रेरणे

णू स्तवने

त

तकि कृच्छ्रजीवने

तच्च त्वचने

तच्छ तनूकरणे

तड आघाते

तन्नि कुटुम्बधारणे

तनु विस्तारे

तञ्चू संकोचने

तप सन्तापे

तप दाहे

तसु काङ्क्षायाम्

तर्क भाषार्थः

तसु उपक्षये

तिक्क गतौ

तीक्क गतौ

तीव स्थौल्ये

तु गतिवृद्धि० (सौत्रः)

तुजि भाषार्थः

तुद् व्ययने

२१०

२९१

१८९

२८५

२९६

१९०

२६६

२८१

२६६

२१७

१९१

२३७

३०२

३०७

१६३

१९०

३१४

३१२

३१७

३१४

१७३

३१७

२८९

३१५

२९०

२०५

२०६

१९१

२३७

३१५

३०२

तुभ हिंसायाम्

तुल उन्माने

तुष तुष्टौ

तृष तुष्टौ

तृणु अदने

(ज) तुणिर् हिंसा०

तृप प्राणने

तृप प्राणने

तृप तृप्तौ

तृप तृप्तौ

तृप्फ तृप्तौ

(जि) तृषा पिपा०

तृह हिंसायाम्

त्यज हानौ

त्रकि गत्यर्थः

त्रदि चेष्टायाम्

त्रपूप् लज्जायाम्

त्रसि भाषार्थः

त्रसी उद्वेगे

त्रौक्क गत्यर्थः

त्वच्छ तनूकरणे

(जि) त्वरा सम्भ्रमे

त्सर छद्मगतौ

द

दद् दाने

दध धारणे

दसु उपशमे

दम्भु दम्भने

दरिद्रा दुर्गतौ

दसि भाषार्थः

दसु उपक्षये

(डु) दाञ् दाने

दाण् दाने

२१०

३१५

२८७

१९०

३१८

३१३

२८६

३०१

३०६

३१७

३०६

२९१

३१३

१८९

२०५

१६३

२१३

३१५

२८४

२०५

१९०

२१४

१७६

२१३

२०२

२८९

३०१

२६१

२९०

३१५

२७९

१८२

दाप् लवने	३३३	घृङ् अवस्थाने	३११	पिण् संचूर्णने	३१५
दाश्च दाने	२२६	घृञ् धारणे	२१७	पिसि भाषार्थः	"
दास् दाने	"	घृष प्रहसने	३१८	पीङ् पाने	२९३
दिङ् क्रीडा०	२८३	(ञि) घृषा प्रागल्भ्ये	३०१	पीङ् अवगाहे	३१२
दिह उपचये	२६९	घेट् पाने	१७८	पीव स्थौल्ये	१९१
दीच्च मौण्ड्यादिषु	२०७	ध्मा शब्दाभि०	१८१	पुट संश्लेषणे	३०७
दीङ् क्षये	२९२	ध्यै चिन्तायाम्	१८०	पुट भाषार्थः	३१५
दीपी दीप्तौ	२९४	ध्राचि घोरवा०	१९०	पुथ भाषार्थः	"
(ङ) दु उपतापे	३००	ध्रै तृप्तौ	१८०	पुथि हिंसासंक्ले०	१६२
दुष वैकृत्ये	२८७	ध्वन शब्दने	३२०	पुष पुष्टौ	१९२
दुह प्रपूरणे	२६७	ध्वंसु अवसंसने	२१०	पुप पुष्टौ	२८५
दूङ् परितापे	२९२	ध्वाचि घोरवा०	१९०	पुप पुष्टौ	३०९
इङ् आदरे	३११	ध्वृ हृच्छने	१८४	पूज पूजायाम्	३१४
इप हर्षमोहनयोः	३२७	न		पूज् पवने	३०७
इशिर् प्रेक्षणे	३८४	(ङ) नदि समृद्धौ	१६२	पूर्व पूरणे	१९१
इ विदारणे	३०९	नाथृ याच्योपता०	२०२	पूष वृद्धौ	१९०
दैप् शोधने	१८१	नाष्ट "	"	पृङ् व्यायामे	३११
दो अवखण्डने	२८४	नृती गात्रविक्षेपे	२८२	पृच संयमने	३१६
द्युत दीप्तौ	२०९	प		पृची संपर्चने	२६६
द्यै न्यकरणे	१७९	पच परिग्रहे	१९०	पृङ् सुखने	३०७
द्रा कुत्सायां गतौ	२३३	(ङ) पचष् पाके	२१७	पृथ प्रक्षेपे	३१३
द्राचि घोरवाशिते	१९०	पचि व्यक्तीकरणे	२०६	पृ पालनपूरणयोः	२७५
द्रुह जिघांसायाम्	२८७	पट भाषार्थः	३१५	पृ "	३०९
द्रै स्वप्ने	१८०	पद गतौ	२९४	पृ शोषणे	१८१
द्विष अप्रीतौ	२६७	पद गतौ	३२०	प्रच्छ्र ह्रीप्सायाम्	३१०
ध		पर्द कुत्सिते शब्दे	२०४	प्रथ प्रख्याने	२१४
(ङ) धाञ् धारणे०	२८०	पर्व पूरणे	१९१	प्रथ प्रख्याने	३१३
धाङ् गतिशुद्धयोः	२२७	पा पाने	१७६	प्रस विस्तारे	२१४
धुञ् कम्पने	२९९	पा रक्षणे	२२३	प्रीञ् तर्पणे०	३०५
धूञ् कम्पने	"	पाल रक्षणे	३१४	प्रीञ् तर्पणे	३१८
धूञ् कम्पने	३०८	पिञि भाषार्थाः	३१५	मुषु दाहे	१९२
धूञ् कम्पने	३१७	पिङि संघाते	"	प्लुषु दाहे	"
धूप भाषार्थः	३१५	पिक् अवचये	३०५	प्सा मक्षणे	२३३

व		भेपृ भये	२२६	(वि) मिदा स्नेहने	२९२
वन्ध वन्धने	२०९	अंसु अवसंसने	२९१	मिल सङ्गमने	३०४
वर्ह भाषार्थः	३१५	अंशु अधःपतने	२१०	मीड् हिंसायाम्	२९५
वल्ह "	"	असु अन्वस्थाने	२८९	मीञ् हिंसायाम्	३०५
वाघ लोडने	२०२	अस्ज पाके	३०२	मीव स्थौल्ये	१९१
विदि अवयवे	१६२	आजृ दीप्तौ	२०६	मुच्छ मोक्षणे	३०४
बुध अवगमने	२९४	(ङ) आजृ दीप्तौ	२१४	मुद हर्षे	२०३
बुधिर् बोधने	२२५	(ङ) आजृ दीप्तौ	"	मुर्वी बन्धने	१९१
वृहि भाषार्थः	३१५	अेजृ "	२०६	मुप स्तेवे	३०९
ब्रजू व्यक्तायां०	२६९	(ङ) भ्लाश्च दीप्तौ	२१४	मुस खण्डने	२९०
भ		म		मुह वैचित्ये	२८७
भज सेवयाम्	२१८	मच्च सङ्घाते	१९०	मूत्र प्रस्रवणे	३२०
भजि भाषार्थः	३१५	मघि मण्डने	१६३	मूप स्तेवे	१९०
भडि कल्याणे	३१४	मडि भूषायां हर्षे च	३१४	मृच्च संघाते	"
भदि ", सुखे च	२०३	मत्रि गुप्तभाषणे	३१२	मृग अन्वेपणे	३२०
भक्षो आमर्दने	३१५	मथि हिंसासंक्ले०	१६२	मृड् प्राणत्यागे	३११
भष मर्त्सने	१९२	मदि स्तुतिमोद०	२०३	मृजू शुद्धौ	२४०
भा दीप्तौ	२३३	मदी हर्षे	२८९	मृड सुखने	३०७
भाम क्रोधे	२०१	मनु अवबोधने	३२०	मृश आमर्शने	३०८
भाप व्यक्तायां०	२०७	मन्थ विलोडने	१६४	मृष तितिक्षायाम्	२९६
भिच्च भिक्षायाम्०	"	मर्व पूरणे	१९१	मृना अभ्यासे	१८२
भिदि अवयवे	१६३	मप हिंसार्थः	"	मृद मर्दने	२१४
भिदिर् विदारणे	३१२	मसी परिणामे	२९०	म्लेच्छ अव्यक्तायां०	३१४
(वि) भी भये	२७३	मस्क गत्यर्थः	२०५	म्लै हर्षक्षये	१७७
मुज पालनाऽभ्य०	३१५	(ङ) मस्जो शुद्धौ	३०७	य	
मुजो कौटिल्ये	३०८	मह पूजयाम्	३१९	यज देवपूजादिपु	२१८
भू सत्तायाम्	१४२	माच्चि काङ्क्षायाम्	१९०	यती प्रयत्ने	२०४
भू प्राप्तौ	३१८	माड् माने शब्दे च	२७८	यत्रि संकोचे	३१२
भूष अलङ्कारे	१९१	माड् माने	२९३	यम मैथुने	१८९
भृजी मर्जने	२०६	मान पूजयाम्	३१८	यसु प्रयत्ने	२९०
भृज् मरणे	२१६	मार्ग अन्वेपणे	"	या प्रापणे	२३२
(ङ) भृज् धारण०	२७९	मिजि भाषार्थः	३१५	(ङ) याचृ याच्चा०	२२५
भृशु अधःपतने	२९१	(वि) मिदा स्नेहने	२१०	यु मिश्रणामिश्र०	२३१

युगि वर्जने	१६३	(ओ) लजी त्री०	३११	वस्क गत्यर्थः	२०५
युज संयमने	३१६	लष कान्तौ	२२६	वह प्रापणे	२१९
युजिर् योगे	३१३	(ओ) लरुजी त्रीडा०	३११	वा गतिगन्धनयोः	२३२
युज् बन्धने	३०७	ला आदाने	२३३	वाचि काङ्क्षायाम्	१९०
युध संप्रहारे	२९४	लिप उपदेहे	३०५	विचिर् पृथग्भावे	३१३
यूष हिंसायाम्	१९१	लिह आस्वादने	२६९	विच्छ भाषार्थः	३१५
र		लीङ् श्लेषणे	२९५	विजिर् पृथग्भावे	२८२
रच पालने	१९०	लुजि भाषार्थः	३१५	(ओ) विजी भय०	३११
रधि गत्यर्थः	२०६	लुठ भाषार्थः	"	(ओ) विजी "	३१५
रच प्रतियत्ने	३१९	लुठ विलोडने	२९०	विद ज्ञाने	२३३
रञ्ज रागे	२९६	लुण्ठ स्तेये	३१४	विद सत्तायाम्	२९४
रध हिंसासंराध्योः	२८६	लुथि हिंसासंक्ले०	१६२	विद विचारणे	३१६
रमु क्रीडायाम्	२१५	लुण् छेदने	३०४	विदल्ल लाभे	३१४
रा दाने	२३३	लुभ गार्ध्वे	२९१	विश प्रवेशने	३०८
राजृ दीप्तौ	२२४	लुभ विमोहने	३०६	विष्णु व्याप्तौ	२८२
राघ संसिद्धौ	३०१	लृञ् छेदने	३०७	विस प्रेरणे	२९०
रिचिर् विरेचने	३१३	लृष भाषायाम्	१९०	वी गत्यादिपु	२४०
रिष हिंसार्थः	१९१	लोकृ भाषार्थः	३१५	वीर विक्रान्तौ	३२०
रिष हिंसायाम्	२९१	लोट् "	"	वुगि वर्जने	१६३
रीङ् श्रवणे	२९५	व		वुस उत्सर्गे	२९०
रु शब्दे	२३७	वकि गत्यर्थः	२०५	वृङ् संभक्तौ	३१०
रुच दीप्तावभि०	२१०	वच्च रोषे	१९०	वृजि वर्जने	२६६
रुजो भङ्गे	३०८	वच परिभाषणे	२४०	वृजी वर्जने	"
रुदिर् अश्रुविमो०	२५७	वच "	३१८	वृज् वरणे	२९१
रुधिर् आवरणे	३१२	वज गतौ	१६६	वृज् वरणे	३१६
रुष हिंसायाम्	१९१	वदि अभिवाद०	२०३	वृत्तु वर्तने	२१०
रुष रोषे	२९१	वन सम्भक्तौ	१६५	वृत्तु भाषार्थः	३१५
रुष हिंसार्थः	३१५	वनु याचने	२२०	वृधु वृद्धौ	२११
रुष भूपायाम्	१९१	(डु) वप् वीजसन्ताने	२२१	वृधु भाषार्थः	३१५
रै शब्दे	१८०	वर्ष स्नेहने	२०७	वृश् वरणे	२९१
ल		वष हिंसायाम्	१९१	वज् वरणे	३०८
लधि गत्यर्थः	२०६	वस आच्छादने	२६६	वेज् तन्तुसन्ताने	२२१
लधि भाषार्थः	३१५	वसु स्तम्भे	२९०	(डु) वेपृ कम्पने	२०७

वेष्ट वेष्टने	२०७	शूप प्रसवे	१९१	षिडु तन्नुसन्ताने	२८३
ो वै शोपणे	१८१	श्रु शब्दकुत्सायाम्	२११	षु प्रसवैश्वर्ययोः	२३७
व्यच व्याजीकरणे	३०६	श्रु हिंसायाम्	३०९	पुञ् अभिपवे	२९७
व्यथ भयसंचलनयोः	२१४	श्रै पाके	१८१	पूङ् प्राणिगर्भवि०	२६६
व्यध ताडने	२८४	शो तनूकरणे	२८४	पूङ् प्राणिप्रसवे	२९२
व्यय गतौ	२२६	श्च्युतिर् क्षरणे	१६१	पूद क्षरणे	२०४
व्युप विभागे	२९०	श्रथि शैथिल्ये	२०४	पै क्षये	१८१
व्येञ् संवरणे	२२३	श्मु तपसि खेदे	२८९	पो अन्तकर्मणि	२८४
व्रज गतौ	१६६	श्रम्भु विश्वासे	२१०	ष्टै वेष्टने	१८१
(ओ) व्रश्च छेदने	३०५	श्रा पाके	२३३	ष्टथै शब्दसंघातयोः	१८०
व्रीड् वृणोत्यर्थे	२९६	श्रिञ् सेवायाम्	२१५	ष्टा गतिनिवृत्तौ	१८२
श		श्रिषु दाहे	१९२	ष्णा शौचे	२३३
शक विभापितो०	२९६	श्रीञ् पाके	३०५	ष्णिह प्रीतौ	२८७
शक्ति शक्त्याम्	२०५	श्रु श्रवणे	१८६	प्णु प्रसवणे	२३७
शक्ल शक्तौ	३०१	श्रै पाके	१८१	प्णुह उद्गिरणे	२८७
शदल शतने	३०९	श्चाष्ट कथने	२०६	ष्वष्क गत्यर्थः	२०५
शप आक्रोशे	२९६	श्लिष आलिङ्गने	२८८	(जि) ष्वप् शये	२५८
शमु उपशमे	२८८	श्लिषु दाहे	१९२	(जि) ष्विदा स्नेह०	२१०
शष हिंसार्थः	१९१	श्लोक संघाते	२०५		
(आ) शासु इच्छायां	२६६	श्वकि गत्यर्थः	”	स	
शासु अनुशिष्टौ	२६२	श्वस प्राणने	२५९	साध संसिद्धौ	३०१
शिषि आघ्राणे	१६३	श्विता वर्णे	२०९	सूच पेशुन्ये	३१९
शिप असर्वोपयोगे	१९१	श्विदि श्वेत्ये	२०३	सुत्र वेष्टने	३२०
शिष हिंसार्थः	३१७	ष		सूर्च आदरे	१९०
शिप्लु विशेषणे	३१५	षण संभक्तौ	१६५	सु गतौ	१८४
शीङ् स्वप्ने	२६३	पणु दाने	३१७	सृज विसर्गे	२९५
शुच शोके	१५९	पदलु विशरणग०	३०८	सृप्लु गतौ	१८७
शुध शौचे	२८८	पह मर्षणे	३१६	स्कम्भु रोधने (सौ)	३०६
शुन गतौ	३०७	षिच क्षरणे	३०४	स्कुञ् आप्रवणे	”
शुभ दीप्तौ	२१०	पिञ् बन्धने	२९८	स्कुदि आप्रवणे	२०२
शुल्ब माने	३१५	पिञ् बन्धने	३०६	स्कुम्भु रोधने (सौ)	३०६
शुष शोपणे	२८५	पिध गत्याम्	१५६	स्खद स्खदने	२१४
शूर विक्रान्तौ	३२०	पिधु संराद्धौ	२८८	स्खल संचलने	१७५

स्तन्मु रोधने (सौ)	३०६	स्फुल संचलने	३०७	हिक अव्यक्ते शब्दे	२२४
स्तन्मु " "	"	स्मृ चिन्तायाम्	१८४	हिसि हिंसायाम्	३१३
स्तृम् आच्छादने	२९८	स्यन्दू प्रस्रवणे	२११	हिसि हिंसायाम्	३१७
स्तृम् आच्छादने	३०७	संसु अवसंसने	२१०	हु दानादनयोः	२७२
स्त्यै शब्दसंघातयोः	१८०	स्रम्भु विश्वासे	"	हृम् हरणे	२१७
स्त्यै वेष्टने	१८१	स्मृ शब्दोपतापयोः	१८३	हृष तुष्टौ	२९१
स्पदि किञ्चिच्चलने	२०३	स्वाद आस्वादने	२२४	हाद् अव्यक्ते शब्दे	२०४
स्पश बाधनस्पर्शयोः	२२६	ह		ही लज्जायाम्	२७४
स्फुट विकसने	२०७	हन हिंसागत्योः	२२९	हादी सुखे	२०४
स्फुट विकसने	३०७	(ओ) हाक् त्यागे	२७६	ह्व कौटिल्ये	१८२
स्फुडि परिहासे	३१२	(ओ) हाङ् गतौ	२७८	ह्व संवरणे	१८४
स्फुर संचलने	३०७	हि गतौ वृद्धौ च	३००	ह्वेन् स्पर्धायां शब्दे च	२२४

धातुसूची समाप्ता

प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
पो० बाक्स नं० ८, वाराणसी-१

प्रश्नोत्तरलेखनप्रकारः

विष्णो इह—

विष्णो इह इति स्थिते 'सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनापे' इति प्रगृह्यसंज्ञायां 'प्लुतः प्रगृह्याऽचि नित्यम्' इति प्रकृतिभावे 'विष्णो इह' इति । प्रगृह्यत्वाभावे 'एचोऽयवायावः' इत्यनेन ओकारस्य यथासंख्येन अवादेशे 'विष्ण् अच् इह' इति जाते 'लोपः शाकल्यस्य' इत्यनेन अवर्णपूर्वस्य वकारस्य लोपे 'विष्ण इह' इति जाते 'पूर्वत्रासिद्धम्' इत्यनेन 'लोपः शाकल्यस्य' इति सूत्रस्याऽसिद्धत्वात् वकारस्य विद्यमानत्वेन गुणाप्राप्तौ 'विष्ण इह' इति । लोपाभावपक्षे 'विष्णविह' इति ।

लक्ष्मीच्छाया—

लक्ष्मी छाया इति स्थिते 'छे च' इत्यनेन तुकि (उकावितौ) 'लक्ष्मी त् छाया' इत्यत्र 'झलां जशोन्ते' इत्यनेन तकारस्य दकारे 'स्तोश्चुनाश्चुः' इति दकारस्य जकारे 'खरि चे'ति जकारस्य चकारे परसंयोगे 'लक्ष्मी छाया' इति सिद्धम् ।

सञ्छम्भुः—

सञ् शम्भुः इति स्थिते 'शि तुक्' इत्यनेन तुगागमे ककारस्य 'हलन्त्यम्' इत्यनेन, उकारस्य 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इत्यनेन च इत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे च 'सञ् त् शम्भुः' इति जाते 'शश्छोऽटि' इत्यनेन विकल्पेन शस्य छत्वे 'स्तोश्चुनाश्चुः' इत्यनेन तकारस्य चकारे पुनः 'स्तोश्चुनाश्चुः' इति नस्य जकारे 'सञ्छम्भुः' इति । 'झरो झरि-' इति चकारलोपपक्षे 'सञ्छम्भुः' इति । छत्वाभावे लोपे चाकृते चुत्वे च कृते 'सञ्चश्शम्भुः' इति तुकोऽभावे छत्वाभावे च नकारस्य श्चुत्वेन जकारे च कृते 'सञ् शम्भुः' इति च सिद्धम् ।

तदुक्तम्—'जछौ जचछा जचश्चा जशविंति चतुष्टयम् ।

रूपाणामिह तुक्छत्वचलोपानां विकल्पनात् ॥'

उत्थानम्—

उद् स्थानम् इति स्थिते 'उद्ः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' इत्यनेन प्राप्तः पूर्वसवर्णः कस्य स्याद् इति शङ्कायां 'तस्मादित्युत्तरस्य' इत्यनेन वर्णान्तराव्यवहितस्य परस्य 'स्था' इत्यस्य प्राप्ते सति 'आदेः परस्य' इत्यनेन परस्य 'स्था' इत्यस्य आदिभू-तस्य सकारस्य स्थाने पूर्वसवर्णे निश्चिते तत्स्थाने अघोषमहाप्राणप्रयत्नसाम्यात् तादृशे थकारे जाते 'उद्दथ्थानम् इति दशायां 'झरो झरि सवर्णे' इत्यनेन पूर्वथकारस्य

लोपे 'खरि च' इत्यनेन दकारस्य चत्वे 'उत्थानम्' इति । पक्षे 'क्षरो क्षरिसवर्णे' इत्यस्य वैकल्पिकत्वात् लोपाभावे—'उत्थानम्' इति च सिद्धम् ।

मनोरथः—

मनस् रथः इत्यत्र 'ससजुषो रुः' इति सस्य रुत्वे कृते 'रो रि' [हशि च] इत्युभयोः प्राप्तौ 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' इति सूत्रेण परत्वात् 'रो रि' इत्यस्यैव प्राप्ते 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' इति सूत्रेण 'रो रि' इत्यस्य त्रिपादिस्थत्वेन असिद्धत्वात् 'हशि च' इति उक्ते 'आद्गुणः' इति गुणे 'मनोरथः' इति सिद्धम् ।

संस्कृता—

सम् कर्ता इत्यत्र 'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' इति सूत्रेण सुडागमे अनुबन्ध-लोपे 'सम् स्कृता' इति जाते 'समः सुटि' इत्यनेन अन्त्यस्य मस्य रुत्वे अनुबन्ध-लोपे 'सर्स्कृता' इति जाते 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' इत्यनेन रोः पूर्वमनुनासिके 'सर्स्कृता' इति जाते 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति सूत्रेण रेफस्थाने विसर्गे 'सं पुँकानां सो वक्तव्यः' इति वार्तिकेन विसर्गस्य सकारे च कृते 'संस्कृता' इति । पक्षेऽनुनासिकाभावे 'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' इति सूत्रेण अनुस्वारे जाते 'संस्कृता' इति च सिद्धम् ।

विश्वपः—

विश्वं पातीति विश्वपाः क्तिवन्तः, तस्मात् शसि अनुबन्धलोपे विश्वपा + अस् इत्यवस्थायां 'यचि भस्' इत्यनेन भसंज्ञा ततश्च 'क्तिवन्ता विडन्ता विजन्ताः क्तिवन्ताश्च धातुत्वं न जहतीति' सिद्धान्तानुसारं क्तिवन्तस्य धातुत्वेन 'आतो धातोः' इति-आकारस्य लोपे परसंयोगे 'विश्वपस्' इति, ततश्च सस्य रुत्वे 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति विसर्गे 'विश्वपः' इति सिद्धम् ।

क्रोष्टुः—

क्रोष्टुशब्दात् ङसि विभक्तौ ङकारेकारयोः इत्संज्ञायां लोपे च कृते 'विभाषा तृतीयादिष्वचि' इत्यनेन तुज्जन्नावे 'क्रोष्टु अस्' इति स्थिते 'ऋत उत' इति सूत्रेण पूर्वपरयोः ऋकाराकारयोः स्थाने उदादेशे रपरत्वे 'क्रोष्टुर्स्' इति जाते 'रासस्य' इति सलोपे रेफस्य विसर्गे 'क्रोष्टुः' इति जातम् ।

निर्जरसौ—

निर्जरशब्दात् प्रथमाद्विवचने औ सामागते 'जराया जरसन्यतरस्याम्' इत्यनेन जरसादेशे 'निर्जरसौ' इति । नच सूत्रे जराशब्दस्यैव जरसादेशः प्रोक्तो न तु निर्जरशब्दस्य, इति कथमत्र जरसादेश इति वाच्यम्, 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च' इति परिभाषया तदन्तस्यापि तत्प्रवृत्तेः । नन्वेमपि 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति'

इति परिभाषया निर्दिश्यमानस्य जराशब्दस्यैव जरसादेशप्रवृत्तिरिति चेन्मैवम् ,
'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इति परिभाषया जरशब्दस्याऽपि जरसादेशविधानात् ।

प्रराभ्याम्—

प्रकृत्यो रा = धनं यस्येति बहुव्रीहौ प्ररैशब्दः । तस्य नपुंसकह्रस्वत्वे इकारे 'प्ररि'
इति । तस्मात् प्ररिशब्दात् भ्यामि 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इति परिभाषाबलात्
'रायो हलि' इत्यनेन आत्वे 'प्रराभ्याम्' इति सिद्धम् ।

सर्वस्याम्—

सर्वाशब्दात् छे विभक्तौ 'छेराग्नद्याग्नीभ्यः' इत्यनेन छेरामि 'सर्वा आम्' इति
स्थिते 'सर्वनाम्नः स्याद्ध्रस्वश्च' इत्यनेन स्याटि आवन्तस्य ह्रस्वत्वे च जाते 'सर्वस्या
आम्' इति जाते 'अकः सवर्णे दीर्घः' इत्यनेन दीर्घे 'सर्वस्याम्' इति सिद्धम् ।

आभ्याम्—

इदम् शब्दात् भ्यामि विभक्तौ 'त्यदादीनामः' इति आत्वे 'अतो गुणे' इति
पररूपे 'इदभ्याम्' इति जाते 'हलि लोपः' इत्यनेन इद्भागस्य लोपे प्राप्ते 'अलो-
ऽन्त्यस्य' इत्यनेनान्त्यस्य दस्य लोपे प्राप्ते 'नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरनभ्यासविकारे'
इति परिभाषया अलोन्त्यविध्यभावे इद्भागस्यैव लोपे अ + भ्याम् इति जाते 'सुपि
च' इति दीर्घत्वे प्राप्ते परन्त्वन्न विद्यमानस्याकरस्यादन्तत्वं वर्तते नवेति शङ्कायाञ्च
'आद्यन्तवदेकस्मिन्' इति एकस्मिन्नेवाकारे अन्तवद्भावेन अदन्तत्वं मत्वा दीर्घे कृते
'आभ्याम्' इति सिद्धम् ।

चतसृणाम्—

'चतसृ आम्' इति स्थिते 'त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ' इत्यनेन चतस्रादेशे
'चतसृ आम्' इति जाते 'अचि र् ऋतः' इति ऋकारस्य रेफादेशे प्राप्ते 'नुमचिर-
तृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन' इति पूर्वविप्रतिषेधेन तं बाधित्वा 'ह्रस्वनद्यापो-
नुट्' इति नुटि जाते 'चतसृ नाम्' इति स्थिते 'नामि' इत्यनेन दीर्घे प्राप्ते 'न तिसृ-
चतसृ' इति निषेधे 'ऋवर्णाञ्जस्य णत्वं वाच्यम्' इति वार्तिकेन णत्वे 'चतसृणाम्'
इति सिद्धम् ।

ज्ञानानि—

ज्ञानशब्दात् जश्शोर्विषये 'जश्शशोः सिः' इत्यनेन अनेकालत्वाज्जश्शसोः शित्वे
कृते 'शि सर्वनामस्थानम्' इत्यनेन 'शि' इत्यस्य सर्वनामस्थानसंज्ञायाम् 'नपुंस-
कस्य झलचः' इति नुमि 'मिदचोऽन्त्यात्परः' इति योगेनान्त्याजरूपस्य नस्यान्त्या-
वयवीभूते उकारमकारयोरित्संज्ञायां लोपे च 'ज्ञानम् शि' इति स्थिते शकारस्ये-
त्संज्ञालोपयोः 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' इत्यनेन नान्तोपधायाः दीर्घे 'ज्ञानानि'
इति सिद्धम् ।

सुधिना—

शोभना धीर्यस्य सुधि-कुलम् 'ह्रस्वो नपुंसके' इति ह्रस्वः, तस्मात् टाविभक्तौ अनुबन्धलोपे शोभनधीर्विशिष्टस्वरूपप्रवृत्तिनिमित्तैक्याद् भाषितपुंस्कत्वेन तृतीया-दिषु वैकल्पिके पुंवद्भावे, पुंवत्वे 'सुधिया' इति । पच्चे-असति पुंवद्भावे, आङो नाऽस्त्रियामिति नादेशे सुधिना इति च सिद्धम् ।

प्रतीचः—

प्रति—उपपदात् 'अच् धातोः' 'ऋत्विग्दृक्खगिदगुणिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च' इति किनि तस्य सर्वापहारे प्रत्ययलक्षणेन 'अनिदितां हल उपधायाः क्लिति' इति उपधानकारलोपे प्रति अच् इति स्थिते 'इको यणचि' इत्यनेन यणि 'प्रत्यच्' इति । तस्मात् शसि शकारस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते । 'प्रत्यच् अस्' इति स्थिते 'यचि भम्' इत्यनेन भसंज्ञायाम् 'अचः' इत्यनेन अलोपे 'चौ' इत्यनेन । पूर्वस्या-णो दीर्घे सस्य रुत्वे विसर्गे 'प्रतीचः' इति सिद्धम् ।

अमुना—

अदस्—शब्दात् टाविभक्तौ 'त्यदादीनामः' इत्यनेन अत्वे 'अतो गुणे' इत्यनेन पररूपे 'अदसोऽसेर्दादुदो मः' इत्यनेन अकारस्य उत्त्वे दस्य च मत्वे 'अमु + आ' इति जाते नाभावे कर्तव्ये 'न मुने' इत्यनेन मुत्वस्यासिद्धत्वाभावबोधनात् 'शेषो व्यसलि' इत्यनेन घिसंज्ञायाम् 'आङो नाऽस्त्रियाम्' इत्यनेन टा—इत्यस्य नादेशे 'अमुना' इति सिद्धम् । नच मुत्वस्यासिद्धत्वात् 'सुपि च' इति दीर्घः स्यादिति वाच्यम् 'न मुने' इत्यनेन कृते च नाभावे नासिद्धत्वमित्यस्यापि बोधनात् ।

धनूषि—

धनुष्-शब्दात् जश्शसोर्विषये 'धनुष् अस्' इति स्थिते 'जश्शसोः शिः' इति शौ कृते अनुबन्धलोपे 'शि सर्वनामस्थानम्' इत्यनेन सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'नपुंस-कस्य झलचः' इति नुमि अनुबन्धलोपे 'सान्तमहतः संयोगस्य' इत्यनेन सान्तसंयो-गस्य उपधाया दीर्घे 'नश्चापदान्तस्य झलि' इत्यनुस्वारे 'नुम्विसर्जनीयशर्षवायेऽ-पि' इति सस्य षत्वे संयोगे च कृते 'धनूषि' इति जातम् ।

भवति—

भूसत्तायां धातुः अकर्मकः । तस्मात् 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' इति सूत्रेण 'खले कपोतन्यायेन' कर्तरि दशसु लकारेषु प्राप्तेषु 'वर्तमाने 'लट्' इत्यनेन भूधातोर्वर्तमानक्रियावृत्तित्वात् लटि अनुबन्धलोपे 'भू ल' इति स्थिते 'लस्य' इत्य-धिकृत्य 'तिससङ्क्षि०' इत्यनेन एते अष्टादश लादेशाः प्राप्ताः 'लः परस्मैपदम्' इत्यनेन अष्टादशानामप्येषां परस्मैपदसंज्ञा संजाता, 'तडानावात्मनेपदम्' इत्यनेन तड्प्रत्याहारान्तःपतितानां नवानामात्मनेपदसंज्ञा जाता, एवं तिबादयः परस्मैपद-

संज्ञा, तादयश्च आत्मनेपदसंज्ञा, एषां मध्ये अत्र परस्मैपदसंज्ञिनः प्रत्ययाः स्युः ? किमुतात्मनेपदसंज्ञिनः ? इत्याकाङ्क्षायां 'शेषात्कर्त्तरि परस्मैपदम्' इत्यनेन अस्य ('भू धातोः') आत्मनेपदनिमित्तहीनत्वात् कर्त्तरि परस्मैपदं प्राप्तं, परस्मैपदसंज्ञिनां नवनां मध्यात् कतमेन भाव्यमित्याकांक्षायां—'तिङ्छीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः' इति क्रमात् त्रयाणां त्रिकाणां प्रथम मध्यमोत्तमसंज्ञासु जातासु लब्धप्रथमादि-संज्ञानां तिङ्छयाणां वचनानां प्रत्येकमेकवचन-द्विवचन-बहुवचनसंज्ञासु अत्र प्रथमेन भाव्यम्, उत मध्यमेन, उत उत्तमेन ? इति शङ्कायां 'शेषे प्रथमः' इति प्रथमपुरुषो भवितुं युक्तस्तथापि त्रीणि वचनानि। एषां मध्यात् कतमेन भाव्यमित्याकांक्षायां 'द्वयेकयो-द्विवचनैकवचने' इत्यनेन अत्र एकवचनस्य विवक्षायां प्रथमपुरुषैकवचने तिपि, तिपः पकारस्य इत्संज्ञायां लोपे च 'तिङ् शित्सार्वधातुकम्' इत्यनेन तिपः सार्व-धातुकसंज्ञायां 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इत्यनेन गुणे प्राप्ते 'भृसुवोस्तिङि' इत्यनेन गुणनिषेधे 'कर्त्तरि शप्' इत्यनेन शपि अनुबन्धलोपे, शित्वात् 'तिङ् शित्सार्वधातुकम्' इत्यनेन सार्वधातुकसंज्ञायां 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इत्यनेन ऊकारस्य गुणे 'एचोऽयवायावः' इत्यनेन ओकारस्य अवादेशे 'भवति' इति सिद्धम् ।

एधाञ्चकृषे—

एध्धातोर्लिटि 'इजादेश्च गुरुमतो नृच्छः' इत्यामि 'आमः' इति लिटो लोपे 'कृञ्जानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिटपरके कृञ्जनुप्रयोगे 'एध् आम कृ लिट्' इति जाते लिटः स्थाने थासि 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'एध् आम कृ कृ थास्' इति जाते पूर्वोऽभ्यासः' इति अभ्याससंज्ञायाम् 'उरत्' इत्यनेन अभ्यासञ्चवर्णस्य अत्वे रपरत्वे 'एध् आम कर् कृ थास्' इति स्थिते 'हलादिः शेषः' इत्यनेन रेफस्य लोपे 'कुहोश्चुः' इत्यनेन कस्य चत्वे मकारस्य अनुस्वारे परसवर्णे च कृते 'एधाञ्चकृ थास्' इति स्थिते 'थासः से' इत्यनेन थासः स्थाने से आदेशे 'लिट च' इति आर्धधातु-कत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इटि प्राप्ते 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति निषेधे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे 'एधाञ्चकृषे' इति । अत्र 'असंयोगाह्निट् कित्' इति कित्वात् 'ङ्किटि च' इति गुणनिषेधो बोध्यः ।

आतीत्—

अत्धातोर्लुङि अजादित्वात् 'आडनादीनाम्' इत्यनेन आडागमे 'आटश्च' इति वृद्धौ कृतायां लुङ्स्तिपि 'इतश्च' इतीकारलोपे मध्ये च्लौ तस्य सिचि अनुबन्धलोपे 'आत् स् त्' इति स्थिते 'अस्ति सिचोऽपृक्ते' इतीडागमे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति सिचः इटि 'इटि ईटि' इति सिचो लोपे तस्याऽसिद्धत्वात् सवर्णदीर्घाप्राप्तावपि 'सिजलोप इकादेशे सिद्धो वाच्यः' इति लोपस्यासिद्धत्वात् सवर्णदीर्घे 'आतीत्' इति ।

जघान—

हन्धातोर्लिटि तिपो णलादेशे द्वित्वे हलादिः शेषे च 'हहन् अ' इति स्थिते 'कुहोश्चुः' इत्यनेन अभ्यास-हकारस्य झकारे 'अभ्यासे चर्च' इति जश्त्वेन जकारे 'हो हन्तेर्णिग्जनेषु' इति हस्य घकारे 'अत उपधायाः' इति उपधावृद्धौ 'जघान' इति।

गोपायाञ्चकार—

गुप् धातोः 'परोक्षे लिट्' इति लिटि प्राप्ते तम्बाधित्वा 'घुपूधूपविच्छिपणिप-निभ्यः आयः' इति नित्यमायप्रत्यये प्राप्ते 'आयादय आर्धधातुके वा' इति विकल्पेन आयप्रत्यये कृते तस्यार्धधातुकसंज्ञायां लिटि 'कास्यनेकाच आम् वक्तव्यः' इत्याम्प्रत्यये तस्यार्धधातुकसंज्ञायाम् 'अतो लोपः' इत्यलोपे 'आमः' इति लिटो लुकि लिटः कृत्वात्प्रत्ययलक्षणेन गोपायामित्यस्य कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकत्वेन सुबुत्पत्तौ 'कृन्मे-जन्तः' इत्यव्ययत्वात् 'अव्ययादाप्सुपः' इति तस्यापि लुकि गोपायामित्यवशिष्टे 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परककृञि अनुप्रयुज्यमाने 'गोपायाम् कृ लिट्' इति स्थिते अत्र लिटस्तिपि तिपो णलादेशे अनुबन्धलोपे द्वित्वे अभ्याससंज्ञायाम् 'उरत्' इत्यभ्यासऋवर्णस्य अकारे तस्य रपरत्वे च जाते गोपायाम् 'कर् कृ अ' इति 'भूते 'हलादिः शेषः' इति रलोपे 'कुहोश्चुः' इत्यभ्यासककारस्य चुत्वे मस्यापदान्तत्वादनुस्वारे परसवर्णे जकारे 'अचो ङिति' इति वृद्धिं पारत्वाद्वाधित्वा 'सार्वधातु-कार्धधातुकयोः' इति गुणे 'उरण् रपरः' इति रपरे च जाते 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'गोपायाञ्चकार' इति लिङ्गम्।

अतृणेट्—

तृहधातोर्लङि तिपि अनुबन्धलोपे 'रुदादिभ्यः रनम्' इत्यनेन रनमि शकारम, कारयोरित्संज्ञायां लोपे च कृते 'अट्कुप्वाङ्नुम्वयायेऽपि' इति णत्वे 'तृणह् त्' इति जाते 'लुङ्लङ्' इत्यनेन अटि 'तृणह इम्' इत्यनेन इमागमे 'अ तृ ण इ त्' इति जाते 'आद्गुणः' इत्यनेन गुणे 'हो ङः' इति ङत्वे हल्ङ्वादिना तलोपे 'झलां जशोऽन्ते' इत्यनेन पदान्तत्वात् ङस्य ङत्वे 'वाऽवसाने' इति चत्वे 'अतृणेट्' इति।

अचूचुरत्—

स्तेयार्थक 'चुर' धातोः 'सत्यापपाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्ण-चुरादिभ्यो णिच्' इति सूत्रेण णिचि अनुबन्धलोपे 'पूगान्तलघुपधस्य च' इति गुणे 'चोरि' इति जाते 'सनाद्यन्ताधातवः' इति धातुसंज्ञायां धातुत्वाल्लुङि तिपि अडागमे 'ल्लि लुङि' इति ल्लौ 'णिश्चिद्रुचुभ्यः कर्त्तरि चङ्' इति च्लेश्चङि चङ्यो-रित्संज्ञायां लोपे च 'इतश्च' इति तिपः इकारलोपे 'अचोरि अ त्' इति जाते 'गेर-निटि' इति णेलोपे 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' इत्युपधाह्रस्वत्वे 'अचूर् अ त्' इति

जाते 'चङि' इत्यनेन द्वित्वे 'हलादिः शेषः' इति रलोपे 'दीर्घो लघोः' इति अभ्यासस्य दीर्घत्वे 'अचूचुरत्' इति सिद्धम् ।

भावयति—

भवन्तं प्रेरयति 'भावयति' । अयम्भावः—देवदत्तो यज्वा भवति, तं याजकः प्रेरयति, इत्याद्यर्थे भूधात्वर्थस्य मुख्यकर्त्ता यज्वा तस्य यज्वभवने प्रवर्तयिता योजकादिः प्रयोजकः, तन्निष्ठायां प्रेरणायां भूधातोः 'हेतुमति च' इति णिचि, वृद्धौ अवादेशे, 'भावि' इति णिजन्तम् । तस्य 'सनाद्यन्ताधातवः' इति धातुसंज्ञायां लटि तिपि इपावितौ शपि गुणे अयादेशे 'भावयति' इति सिद्धम् ।

अचीकमत—

उकारेःसंज्ञकात् 'कम्' धातोः 'कमेणिङ्' इति सूत्रेण णिङि अनुबन्धलोपे 'अत उपधायाः इत्यनेन वृद्धौ 'सनाद्यन्ताधातवः' इत्यनेन ण्यन्तस्य धातुसंज्ञायां लुङि तत्स्थाने आत्मनेपदस्य प्रथमपुरुषैकविवक्षायां तप्रत्यये 'काम् इ त' इति जाते 'च्लि लुङि' इति च्लौ तस्य 'णिश्चिदुत्तुभ्यः कर्त्तरि चङ्' इत्यनेन चङि अनुबन्धलोपे 'काम् इ अ त' इति स्थिते 'णेरनिटि' इत्यनेन णेलोपे 'काम् अ त' इति स्थिते 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' इति प्रत्ययलक्षणेन णेचश्चङपरत्वाद् उपधाया ह्रस्वत्वे 'कम् अ त' इति जाते 'चङि' इत्यनेन कमो द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यनेन अभ्याससंज्ञायां 'हलादिः शेषः' इत्यनेन मलोपे 'क कम् अ त' इति जाते 'कुहोश्चुः' इत्यनेन कस्य चत्वे 'सन्वल्गुनि चङ्परेऽनरलोपे' इत्यनेन सन्वद्भावे कृते 'सन्त्यतः' इत्यनेन अभ्यासाकारस्य इत्वे 'चिकम् अ त' इति जाते 'दीर्घोलघोः' इत्यनेन अभ्यासेकारस्य 'चि' इत्यस्य दीर्घे 'लुङ्लङ्लृङ्च्वङ्मुदात्त' इत्यनेन अङ्गस्य अङागमे टित्वादाद्यावयवे जाते 'अचीकमत' इति सिद्धम् ।

शिण्डि—

शिषधातोलोटि मध्यमपुरुषैकवचने सिपि 'रुधादिभ्यः शनम्' इति शनमि शमयोरित्संज्ञायां लोपे च 'सेर्द्धपिच्च' इति सेर्द्धित्वे 'हुश्चभ्यो हेर्धिः' इति हेर्द्धित्वे शनसोरञ्चोपः' इत्यल्लोपे 'सिन् ष् धि' इति जाते 'जलां जश् झसि' इति षस्य जश्त्वेन ङकारे 'ष्टुना ष्टुः' इति धस्य ङत्वे 'नश्चापदान्तस्य झलि' इति नस्यानुस्वारे 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' इति परसवर्णे 'शिण् ङ् ठि' इति जाते 'झरो झरिसवर्णे' इति ङस्य लोपे 'शिण्डि' इति । पठे 'झरो झरी'ति ङलोपाभावे शिण्डिङ् इति ।

अतिष्ठिपत्—

'ष्टा गतिनिवृत्तौ' इति धातुः । अत्र धात्वादेः षः सः' इति षस्य सत्त्वे 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' इति परिभाषया निमित्तस्थं पत्वस्य अपाये (नाशे) नैमित्तिकस्थं घृत्वस्याप्यपाये 'स्था' इति । तस्मात् 'हेतुमति च' इति णिचि ण्यन्त-

त्वात् 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायां लुङि तिपि इपावितौ 'लुङ्लङ्' इत्यङागमे मध्ये च्लौ 'णिश्चिद्रुभ्यः कर्तरि चङ्' इति चङि अनुबन्धलोपे 'णि-
च्यच आदेशो न स्यात्, द्वित्वे कर्तव्ये' इति निषेधात् इत्वापेक्षया पूर्वं 'चङि' इति
द्वित्वे अभ्यासत्वे 'शर्पूर्वाः खयः' इति सलोपे अभ्यासह्रस्वे चत्वे 'चङ्युपधाया
ह्रस्वः' इत्युपधाया ह्रस्वे 'गेरनिटि' इति णिलोपे 'सन्वल्लघूनि चङ्परेऽनलोपे'
इति इत्वे षत्वे टुत्वे 'तिष्ठतेरित्' इति इत्वे 'अतिष्ठित्' इति ।

चिकीर्षति—

कर्तुमिच्छति 'चिकीर्षति' । कृधातोः 'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा'
इति सनि अनुबन्धलोपे सनः आर्धधातुकत्वेन 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इङा-
गमे प्राप्ते 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति निषेधे 'अङ्गनगमां सनि' इति दीर्घे
'इको झल्' इति क्त्वात् गुणाभावे 'ऋत इङ्धातोः' इति इत्वे रपरत्वे 'किर् स' इति
भूते 'सन्त्यङोः' इति द्वित्वे अभ्यासकार्ये 'हलि च' इति दीर्घे षत्वे 'चिकीर्ष' इति
'सनाद्यन्ताधातवः' इति धातुसंज्ञायां लटि तिपि शपि अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे'
इति पररूपे च कृते 'चिकीर्षति' इति सिद्धम् ।

बोभवाञ्चकार—

भूधातोः 'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्' इति यङि 'यङोऽचि च'
इति लोपे प्रत्ययलक्षणेन यङन्तत्वात् 'सन्त्यङोः' इति द्वित्वे अभ्यासत्वे अभ्यास-
कार्ये 'गुणो यङ् लुङोः' इत्यभ्यासस्याचो गुणे 'बोभू' इति जाते प्रत्ययलक्षणेन
यङन्तत्वात् 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वात् 'परोच्चे लिट्' इति लिटि 'कास्य-
नेकाच आम्बक्तव्यः' इत्यामि तस्य 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकत्वे 'सार्वधातु-
कार्धधातुकयोः' इत्यनेन उकारस्य गुणे अवादेशे च कृते 'आमः' इति लिटो लुकि
'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिटपरकस्य कृञोऽनुप्रयोगे 'बोभवाम् कृ लिट्' इति
स्थिते लिटः स्थाने तिपि तिपः स्थाने 'परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणत्वमाः' इति
णलि अनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरेनभ्यासस्य' इति द्वित्वे अभ्यासत्वे 'उरत्' इति
उः स्थाने अत्वे पररूपे 'हलादिः शेषः' इत्यादिहलः शेषे 'कुहोश्चुः' इत्यभ्यासस्य
चुत्वे 'बोभवाम् च कृ अ' इति जाते 'अचो ङ्णिणिति' इति 'कृ' इत्यस्य वृद्धौ रपरे
मस्यानुस्वारे परसवर्णे च कृते 'बोभवाञ्चकार' इति सिद्धम् ।

वरीवृत्यते—

पुनः पुनरतिशयेन वा वर्तते इति विग्रहः । 'धातोरेकाचो हलादेः' इत्यादिना
वृत्-धातोर्यङि 'सन्त्यङोः' इति द्वित्वे 'उरत्' इत्यभ्यासञ्चकारस्यात्वे, रपरे, हलादि-
लोपे, 'रीगृहुपधस्ये'ति अभ्यासस्य रीगागमे सति 'वरीवृत्य' इत्यस्य 'सनाद्यन्ता'
इति धातुत्वे लटि आत्मनेपदे त-प्रत्यये शपि पररूपे टेरेत्वे 'वरीवृत्यते' इति ।

भूयते—

त्वया, यया, अन्यैश्च 'भूयते' । त्वत्कर्तृकं, मत्कर्तृकम्, अन्यकर्तृकं भवन-
मित्यर्थः । अत्र भूधातोः 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' इत्यनेन भावरूपार्थे
'वर्तमाने लट्' इति लटि 'भावकर्मणोः' इत्यनेन 'आत्मनेपदे तप्रत्यये 'तिङ्शित्सा-
वधातुकम्' इति सार्वधातुकसंज्ञायां 'सार्वधातुके यक्' इति यकि अनुबन्धलोपे
कित्वाद्गुणाभावे टेरेत्वे 'भूयते' इति सिद्धम् ।

घटयति—

घटं करोति आचष्टे वा इति विग्रहे घट-शब्दात् 'तत्करोति तदाचष्टे, इत्यनेन
णिचि 'अतो लोपः' इति अलोपे तस्य स्थानिवद्भावाद् उपधाया इति वृद्धभावे
धातुत्वाच्चटि तिपि 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणेऽयादेशे 'घटयति' इति ।

चिकीर्षा—

कृधातोः सनि अनुबन्धलोपे 'इको झल्' इति सनः कित्वे 'अज्जनगमां सनि'
इति धातोर्दीर्घे 'ऋत इद्धातोः' इति इत्वे रपरत्वे 'किर्स' इति दशायां 'सन्यङोः'
इति द्वित्वे अभ्याससंज्ञायां 'हलादिः शेषः' इत्यनेन रेफस्य लोपे 'कुहोश्चु.' इति
चुत्वे 'हलि च' इति दीर्घे सनः सस्य पत्वे 'चिकीर्ष' इति भूते 'सनाद्यन्ता धातवः'
इत्यनेन सन्नन्तस्य धातुसंज्ञायाम्, 'अप्रत्ययात्' इत्यनेन अप्रत्यये 'अतो लोपः'
इति सनोऽकारलोपे कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकत्वे स्त्रीत्वात् टापि अनुबन्धलोपे
सवर्णदीर्घे तस्मात् सौ 'हल्ङ्याभ्यः' इति तस्य लोपे 'चिकीर्षा' इति सिद्धम् ।

जीर्णः—

जृ वयोहानौ इत्यस्माद् धातोः क्तप्रत्यये ककारस्य इत्संज्ञालोपयोः, 'ऋत
इद्धातोः' इति इत्वे रपरत्वे दीर्घे च 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' इति सूत्रेण
नत्वे तस्य णत्वे स्वादिकार्ये 'जीर्णः' इति सिद्धम् ।

जग्धम्—

अद्-भक्षणे धातोः 'निष्ठा' इति सूत्रेण कर्मणि क्तप्रत्यये 'अदो जगित्पर्यसि किति'
इति जग्धादेशे, 'क्षपस्तथोर्धोऽधः' इति तकारस्य धत्वे, 'जग्धध' इत्यत्र 'झरो झरि
सवर्णे' इति पूर्वधकारलोपे नपुंसके सौ स्वरमि 'जग्धम्' इति रूपम् ।

शान्तः—

उपशमनार्थकात् 'शम्' धातोः क्तप्रत्यये 'वा दान्त-शान्त-पूर्णः शस्त-स्पष्टच्छ-
ज्ञप्ताः' इति निपातनादितोऽभावे 'अनुनासिकस्य क्तिञ्जलोः क्ति' इति दीर्घे मस्या-
नुस्वारे परसवर्णे स्वादिकार्ये च कृते 'शान्तः' इति सिद्धम् ।

उच्छूनः—

‘दुओश्चिगतिवृद्धयोः’ इति धातुः । अत्र दुरोकारश्चेत् । ततश्च उदुपसर्गक-श्चिधातोः वृद्धयर्थे ‘निष्ठा’ इति सूत्रेण निष्ठाप्रत्यये प्राप्ते, का नाम निष्ठा इति जिज्ञासायां ‘क्तवत्तुनिष्ठा’ इति निष्ठासंज्ञा क्तवत्तोरिति उभयोः प्राप्तौ, ‘तयोरेव कृत्यक्तख-लर्याः’ इति क्तप्रत्यये अनुबन्धलोपे ‘उत्श्चित्’ इति स्थिते ‘ओदितश्च’ इत्यनेन तकारस्य नत्वे ‘पूर्वत्राऽसिद्धम्’ इति तस्यासिद्धत्वात् ‘वचिस्वपियजादीनां किति’ इति सम्प्रसारणे ‘सम्प्रसारणाच्च’ इति पूर्वरूपे ‘उत् शु न’ इति जाते ‘हलः’ इत्यनेन दीर्घे ‘स्वदितो निष्ठायाम्’ इति इडभावे ‘शश्छोऽटि’ इति छत्वे उदः तकारस्य ‘श्चुत्वेन चकारे कृदन्तत्वात् सौ अनुबन्धलोपे सकारस्य रुत्वे विसर्गे ‘उच्छूनः’ इति ।

सुधां क्षीरनिधिं मथनाति—

अत्र सम्प्रदानत्वाविवक्षायाम् ‘अकथितं च’ इत्यनेन सुधायाः कर्मत्वे ‘कर्मणि द्वितीया’ इति द्वितीया । क्षीरनिधिस्तु मुख्यं कर्मास्त्येव इति तत्रापि द्वितीया ।

शत्रून् स्वर्गं गमयति—

शत्रवः स्वर्गं गच्छन्ति, तांश्च कश्चित् प्रेरयति इति शत्रून् स्वर्गं गमयति, अत्र ‘गतिबुद्धिप्रत्ययवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ’ इत्यनेन अप्यन्तावस्थायां कर्तारः शत्रवः प्यन्तावस्थायां कर्मत्वं भजन्ते । अत्र ‘कर्मणि द्वितीया’ इति द्वितीया । स्वर्गस्तु मुख्यमेव कर्म इति तत्रापि द्वितीया ।

उपराजम्—

राज्ञः समीपमिति विग्रहे सामीप्यवाचिनोपशब्देन ‘अव्ययं विभक्ति’ इत्यादिना समासे ‘प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्’ इत्युपशब्दस्योपसर्जनत्वे ‘उपसर्जनं पूर्वम्’ इति पूर्वनिपाते ‘उपराजन् ङस्’ इति जाते ‘सुपो धातुप्रातिपदिकयोः’ इति ङसो लुकि ‘अनश्च’ इति टचि अनुबन्धलोपे भसंज्ञायां ‘नस्तद्धिते’ इति टिलोपे समासत्वात् सौ ‘नाव्ययीभावादतोऽम्बपञ्चम्याः’ इति सोरमि पूर्वरूपे ‘उपराजम्’ इति ।

भूतपूर्वः—

‘पूर्वं अम्, भूत सु’ इत्यलौकिकविग्रहे ‘सह सुपो’ इत्यनेन समासे समासत्वात् ‘कृतद्धितसमासाश्च’ इति प्रातिपदिकसंज्ञायां ‘सुपो धातुप्रातिपदिकयोः’ इति सुपो लुकि ‘पूर्वभूत’ इति स्थिते ‘प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्’ इत्यनेन द्वयोरप्युपसर्जनसंज्ञायाम् ‘उपसर्जनं पूर्वम्’ इति विनिगमकाभावाद् उभयोरपि पूर्वनिपाते प्राप्ते ‘भूतपूर्वं चरट्’ इति निर्देशात् भूतशब्दस्य पूर्वनिपाते ‘एकदेशविकृत’ न्यायेन प्रातिपदिकत्वात् सौ रुत्वे विसर्गे च तत्सिद्धिः ।

सोमयाजी—

सोमेनेष्टवान् = सोमाख्यलताविज्ञेपरसेन यागं कृतवान्—सोमयाजी । सोमेनेति करणे उपपदे भूतार्थे कर्तर्यर्थे यजधातोः 'करणे यजः' इति सूत्रेण णिनिप्रत्यये अनुबन्धलोपे 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ उपपदसमासे सुपो लुकि 'सोमयाजिन्' इति भूते, तस्मात्सौ अनुबन्धलोपे 'सौ च' इत्यनेन नान्तस्योपधाया दीर्घे हल्ङ्यादिना सुलोपे 'सोमयाजी' इति ।

प्रकृत्य—

कृधातोः 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' इति क्त्वाप्रत्यये अनुबन्धलोपे क्त्वाद् गुणभावे 'क्त्वा' इति, ततः प्रकर्षार्थकस्य प्रशब्दस्य 'कुगतिप्रादयः' इति क्त्वान्तेन नित्यसमासे 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' इति ल्यपि अनुबन्धलोपे कृदन्तत्वात् सौ 'क्त्वातोऽसुनृकसुनः' इत्यव्ययत्वात् 'अव्ययादाप्सुपः' इति तस्य लुकि 'प्रकृत्य' इति ।

राजानति—

राजेवाचरतीति विग्रहे 'राजन्' इति प्रातिपदिकात् 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्त्वा वक्तव्यः' इति क्तिपि क्तिपो लुकि, प्रत्ययलक्षणेन क्तिवन्तत्वात् 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायाश्च 'अनुनासिकस्य क्तिश्लोः क्तिङिति' इत्यनेन उपधादीर्घे 'राजान्' इति जाते तस्मात्क्षट्स्तिपि शपि अनुबन्धलोपे 'राजानति' इति सिद्धम् ।

द्व्यङ्गुलम्—

द्वे अङ्गुलीप्रमाणमस्येति विग्रहे 'तद्धितार्थे द्विगुसमासे 'प्रमाणे लः' 'द्विगोर्नित्यम्' इति लुकि यणि 'द्व्यङ्गुलि' इति, तस्मात् तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याव्ययादेः' इति समासान्ते अचि तस्मिन्परे 'यस्येति च' इति इकारलोपे समासत्वात् सौ अमादेशे 'द्व्यङ्गुलम्' इति ।

राजन्यः—

राज्ञोऽपत्यमिति विग्रहे 'राजश्चशुराद्यत' इति जातिवाचिनो राजन्शब्दात् यत् प्रत्यये भसंज्ञायां 'नस्तद्धिते' इति प्राप्तस्य टिलोपस्य 'ये चाभावकर्मणोः' इति प्रकृतिभावे तद्धितान्तत्वात् सौ विभक्तिकार्ये 'राजन्यः' इति सिद्धम् ।

पटपटाकरोति—

'पट्' शब्दात् डाचिविवक्षिते 'डाचि बहुलं द्वे भवतः' इति द्वित्वे 'अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच्' इति डाचि प्रत्यये 'नित्यमाधेहिते डाचीति वक्तव्यम्' इति वार्तिकेन पूर्वपटत्सम्बन्धिनस्तकारस्य पररूपत्वं विधाय 'पट पट् डा' इति जाते डित्वाट्टिलोपे प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ विभक्तिकार्ये 'पटपटाकरोति' इति ।

मदीयः—

मम अयं 'मदीयः' इत्यत्र 'युष्मदस्मदोरन्यतस्यां खञ्ज' इति सूत्रेण चाच्छे सुपो लुकि छस्य ईयादेशे 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इत्यनेन अस्मदोर्मपर्यन्तस्य मादेशे 'म अद् ईय' इति जाते 'अतो गुणे' इति पररूपे विभक्तिकार्ये च कृते 'मदीयः' इति ।

अदिमा—

मृदोर्भावः अदिमेत्यत्र 'पृथ्वादिभ्य इमनिञ्वा' इति इमनिच्प्रत्यये इकारचकारयोलोपे 'मृदु इमन्' इति जाते 'रश्नतो हलादेर्लघोः' इति ऋकारस्थाने रकारे 'यच्चि-भम्' इति भसंज्ञायां 'टेः' इति दकारोत्तरवर्ति-उकारस्य लोपे 'अदिन्' इति जाते प्रादिपदिकत्वात् सौ 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' इति उपधादीर्घे हल्ङ्यादिलोपे नलोपे 'अदिमा' इति जातम् ।

सर्विका—

सर्वनाम्नः सर्वशब्दात् अकच्प्रत्यये 'सर्वक' इत्यस्मात्स्त्रीत्वविवक्षायां 'अजा-द्यतष्टाप्' इति टापि 'सर्वका' इति जाते 'प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यात् इदाप्यसुपः' इति सूत्रेण वकाराकारस्य इत्वे आवन्तत्वात् स्वाद्यत्पत्तौ सुलोपे 'सर्विका' इति सिद्धम् ।

पचन्ती—

पच्-धातोः शतृप्रत्यये 'पचत्' इति स्त्रीत्वविवक्षायां 'उगितश्च' इति ङीपि ङपावितौ लुप्तौ च 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति जुमि सौ 'हल्ङ्यावि'ति सुलोपे 'पचन्ती' इति ।

यादृशी—

'त्यदादिषु दशोऽन्तालोचने कञ् च' इति कञ्प्रत्यये 'यादृश' इति, ततः स्त्रीत्वे 'टिड्ढाणजि'त्यादिना ङीपि 'यस्येति च' इत्यनेन भस्याऽकारस्य लोपे विभक्त्यादि-कार्ये 'यादृशी' इति ।

कुमारी—

वाक्यवाचकात् कुमारशब्दात् स्त्रीत्वविवक्षायां 'वयसि प्रथमे' इति ङीपि 'ङ्याप्प्रातिपदिके'ति स्वाद्यत्पत्तौ हल्ङ्याविति तस्य लोपे कुमारीति ।

वामोरुः—

वामौ उरू यस्याः, इति विग्रहे वामोरुशब्दात् स्त्रीत्वविवक्षायां 'संहितशफलक्षण-वामादेश्च' इति ऊङ्प्रत्यये सवर्णदीर्घे विभक्तिकार्ये 'वामोरुः' इति रूपम् । अत्र प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्, इति स्वाद्यत्पत्तिर्वोऽध्या ।

इति श्रीरामचन्द्रज्ञाकृतप्रश्नोत्तरलेखनप्रकारः समाप्तः ।

प्रश्नपत्राणि

ई० १९५८

मध्यकौमुद्या भ्वाद्यन्तभागे कारकसमासप्रकरणयोश्च प्रश्नाः ।

- १ ई, ए, स, वर्णेषु कयोरपि द्वयोः स्थानमाभ्यन्तरवाह्यप्रयत्नौ च प्रदर्श्य-
धाग्रंशः । हरइह । गवाग्रम् । तन्मात्रम् । सन्नच्युतः । हरिस्फुरति ।
भो ! अच्युत । एष विष्णुः । एषु यथेच्छं पञ्च प्रयोगान् ससूत्रं साधयत । १०
- २ रामाणाम् । पूर्वस्मात् । पदा । नृणाम् । द्वितीयस्यै । स्त्रियम् । दधिनि ।
प्रराभ्याम् एषु यथेच्छं पञ्च प्रयोगाः साधनीयाः । ८
- ३ विश्वौहः । प्रशान् । यज्वनः । युष्मभ्यम् । तादृक् । अमी । तुदन्ती ।
एषु पञ्च प्रयोगान् विलिख्य मघवन् शब्दस्य द्वितीयापष्टीविभक्त्योः सन-
प्राणि रूपाणि प्रदर्शयत । ९
- ४ भविता । निपेधति । अगौप्सीत् । अदधत् । सप्ता । एधिताहे । अद्युतत् ।
क्लप्तासि । उवाह । एषु केचन पञ्चैव लेख्याः । १०
- ५ वलिं याचते वसुधाम् । अतिदेवान् कृष्णः । अक्षणा काणः । विप्राय गां
ददाति । गोषु दुह्यमानासु गतः । यथेच्छं केवपि चतुर्षु ससूत्रं विशेष-
कार्याणि लिखत । ५
- ६ भूतपूर्वः उन्मत्तगङ्गम् । मासपूर्वः । रूपवद्भार्यः । पाणिपादम् । पितरौ ।
आत्मनेपदम् । परीपाकः । एषु यथेच्छं पञ्चसु प्रयोगेषु ससूत्रं विशेष-
कार्याणि लेखनीयानि । ८

ई० १९५८

मध्यकौमुद्याः नियतभागे प्रश्नाः ।

- १ जञ्चतुः, ईयतुः, पिपूर्तः, अग्यास्सीत्, चिकाय, रुन्धः, अलुलोकत्—
केऽपि पञ्च प्रयोगाः, साधु साधनीयाः । १०
- अथवा
- अद्धि, अभीयात्, अहासीत्, दिदीये, आनशे, अतत, अशान—एषु
पञ्च साध्याः ।
- २ निजन्तस्य दुष्यतेः, सन्नन्तस्य हन्तेः, यङन्तस्य चरतेः,—लुङि प्रथम-
पुरुषैकवचने रूपाणि शास्त्रविशेषनिर्देशेन साध्यानि । १०

- ३ दध्यस्यति, इदामति, मुक्ताबुत्तिष्ठते, अध्यापयति, अशमि । एषु [कानपि चतुरः प्रयोगान् संसाध्य, 'अत्यन्तापह्वे लिङ्वक्तव्यः' 'आशंसावचने लिङ्' इत्यनयोरुदाहरणे लेख्ये । १०
- ४ वास्तव्यः, नर्तकः, विहङ्गमः, दूनः, वैकुण्ठमधिष्ठितः, कृपा भवताद् भूतिः, एतेषु केषामपि पञ्चानां साधुत्वं सशास्त्रोपन्यासं दर्शयत । १०
- ५ अत्रयः, मातामही, नड्वान्, वाराणसेयम्, त्रापुपन्, नस्यम्—एषु चतुरारणां साधुत्वं, 'न यासयोः', 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे'—इत्यनयोरुदाहरणे च लिखत । १७

अथवा

श्वेतवाः, तारिषत्, वसुभिर्नो अव्यात्—अत्र वैदिककार्याणि प्रदर्श्य, कौञ्जायनाः, क, नूनम्—इत्येतेषु शास्त्रनिर्देशेन स्वरान् निरूपयत ।

ई० १९५९

- १ उ, ज, ह, वर्णेषु यथेच्छं कयोरपि द्वयोर्वर्णयोर्वाह्याभ्यन्तरप्रयत्नान् विलिख्य गव्यम् । क्रय्यम् । गवाग्रम् । एतन्मुरारिः । पयस्पाशम् । हरिः शेते । शिवोऽर्च्यः । एषु केचन पञ्चैव प्रयोगाः साध्याः । ९
- २ सर्वस्मात् । पूर्वे । विश्वपः । त्रयाणाम् । तिसृणाम् । स्वसारौ । अनादये । दधि । एषु पञ्च प्रयोगान् साधयत । ८
- ३ अनड्वान् । एषाम् । प्रहण्यात् । युष्मान् । चेतसा त्वां समीक्षते । उपा- नत् । तुदन्ती । यथेच्छं पञ्च प्रयोगान् संसाध्य अस्मच्छब्दस्य पञ्चमीपष्ठी- विभक्तयो रूपाणि लिखत । ९
- ४ वभूविथ । गङ्गां विसेधति । अगादीत् । ववनतुः । जुगोपिथ । अद्युतत् । त्रेपे । ववतुः । केषाञ्चित् पञ्चानां सिद्धिं विलिख्य वह धातोर्लिटि मध्यमै- कवचने रूपाणि प्रदर्शयत । ११
- ५ हरिं भजति । अधिशेते वैकुण्ठं हरिः । पुत्रेण सहागतः पिता । हरये नमः । व्रजंगामी । मोक्षे इच्छास्ति । सूत्रनिर्देशपुरःसरं केवपि चतुर्षु विशेष- कार्याणि प्रदर्शयत । ५
- ६ अधिहरि । उपसमिधम् । शङ्कुलाखण्डः । सतां पष्ठः । पूर्वकायः । पाचि- काभार्यः । अहिनकुलम् । अर्थर्चः । यथेच्छं केवपि पञ्चसु सूत्रोपन्यास- पुरःसरं विशेषकार्याणि लिखत । ८

LIBRARY.

Jangamwadi Math, VARANASI

Acc No. (.....)

**SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR
LIBRARY**

Jangamawadi Math, Varanasi

Acc. No.1161.....

..... 409441 182
..... 409441 182
..... 409441 182
..... 409441 182
..... 409441 182

मध्यमा परीक्षोपयोगी ग्रन्थाः—

कारिकावली—मुक्तावली—‘मयूख’ संस्कृत-हिन्दी टीका प्रत्यक्षखण्ड	१-२५
कुमारसंभव—‘पुंसवनी’ संस्कृत-हिन्दी टीका, परीक्षोपयोगी	१-५ सर्ग ३-५०
अभिज्ञानशाकुन्तल—प्रो० कान्तानाथ शास्त्री एम. ए. सम्पादित नोट्स, शाकुन्तलसमीक्षा आदि मे सम्मिलित ‘किशोरकेलि’ संस्कृत हिन्दी टीका	६-००
छन्दोमञ्जरी—प्रभाकरचिरा संस्कृत-हिन्दी व्याख्या	२ ००
तर्कसंग्रह—न्यायबोधिनी, पदकृत्य, विरला, ‘इन्द्रकिला’ संस्कृत-हिन्दी टीका	१-००
रघुवंश—महिनाथी-सुधा संस्कृत-हिन्दी टीका सहित १ सर्ग १ तथा	१ ००
द्वि० सर्ग ००-७५	१-२ सर्ग १ २० २-१ सर्ग १ ००
	२-४ सर्ग २-२५ १-५ सर्ग ३-००
किरात—परीक्षोपयोगी ‘सुधा’ संस्कृत-हिन्दी टीका सहित	१-३ सर्ग २-२५
संस्कृत रचना श्रवण—प्रो० रामकान्त द्विवेदी । मध्यमा परीक्षा	
निर्द्धारित अनुवाद का पाठ्य स्वीकृत ग्रन्थ	१-१
मेघदूत—सजीवनी-चरित्रवर्द्धिनी भावबोधिनी सौदाभिः व्याख्या	
चतुष्टोपेत परीक्षोपयोगी सर्वोत्तम संस्करण	१-२५
खण्डालोक—पौर्णमासी कथाभट्टी संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित	२-००
काव्यमीमांसा—मधुसूदनरिभक्त संस्कृत-हिन्दी व्याख्या १-५ अध्याय	१-००
सम्पूर्ण	४-००
मध्यमोमुदी—सुधा-इन्दुसती संस्कृत-हिन्दी टीका सहित	१-००
महिकाव्य—चन्द्रकला-विद्योतिनी संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित	
१ से ११ सर्ग ७-०० १२ से २० सर्ग ४-००	
दशकुमार—‘रत्नविबोधिनी’ संस्कृत-हिन्दी टीका आचार्य चित्तान्त	३-००
पूर्वपीठिका १-२५, पूर्वपीठिका, प्रथम अष्टम उच्छ्वास	१-०० सम्पूर्ण ४-५०
अलङ्कारसारमञ्जरी—मध्यमा निर्धारित १६ अलङ्कारों का पाठ्य ग्रन्थ	०-४५
व्युत्पत्तिप्रदर्शन-गूढाशुद्धिप्रदर्शन—नवीन पारम्परिक संस्करण	०-४०
प्रबन्धपारिजात—मध्यमा परीक्षानिर्धारित संस्कृत निबन्ध ग्रन्थ	१-५०
भारतीयमतोत्सव—आचार्य पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी	२-००
महाकवियों की अमर रचनाएँ—चक्रधर शर्मा	१-००
जीवनदर्शन—डा० मुंशीराम शर्मा	२-५०
संस्कृतकविदर्शन—डा० भोलाशंकर व्यास	६-००